# THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186735
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—730—28-4-81—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 11294 S92 Accession No. G 11 1501

Author P18H

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिंदी

# श्रीमद्भागवत



1933

M.V.DHURANDHAR

# हिन्दी

# श्रीमद्भागवत

## सचित्र

पं० मदनमोहनजी मालवीय-लिखित
प्रस्तावना के साथ

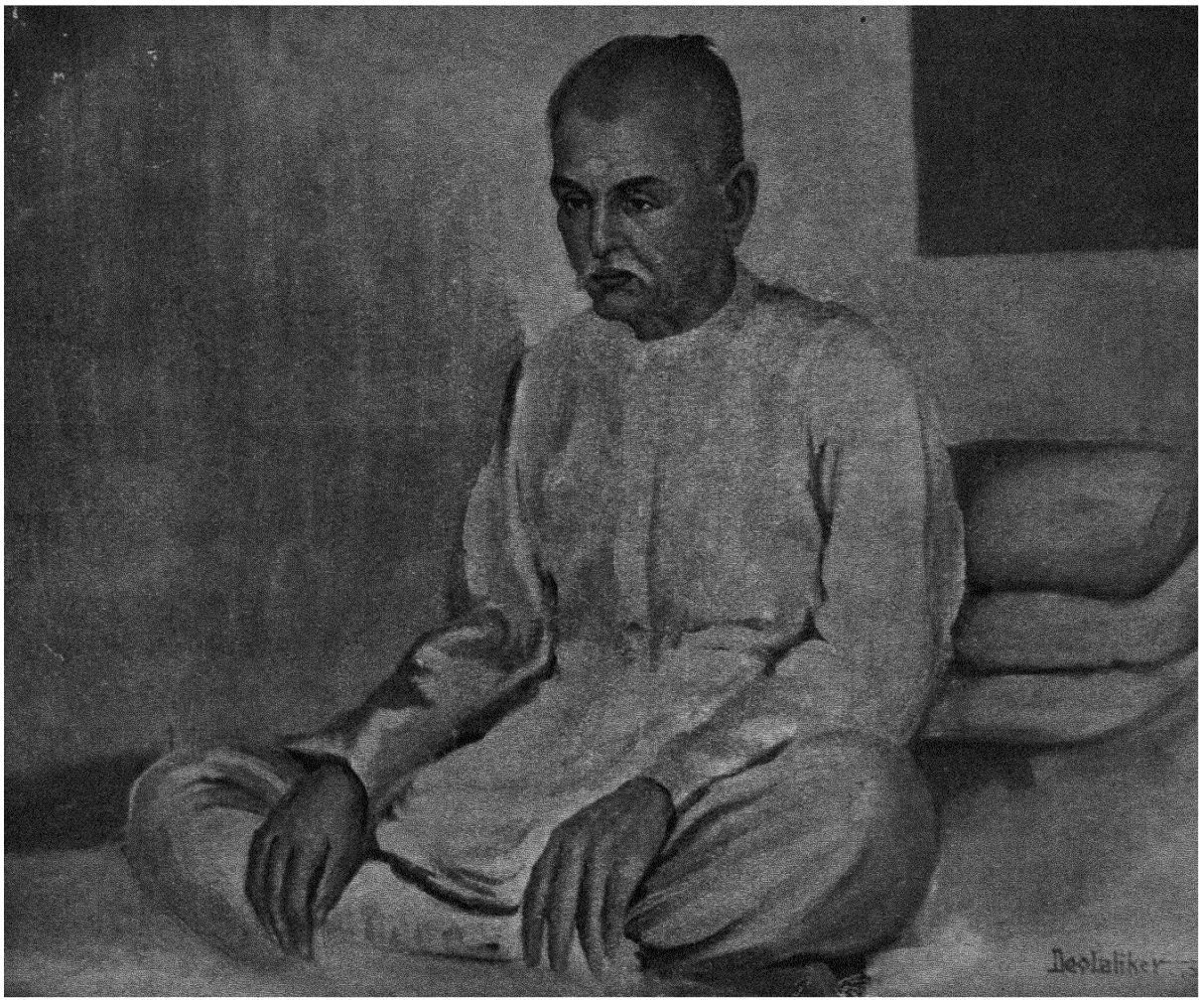
लेखक और सम्पादक
पं० रूपनारायण पाण्डेय
माधुरी-संपादक

प्रकाशक
पं० विष्णुनारायण भार्गव
अध्यक्ष-हिन्दुस्तानी बुकडिपो
लखनऊ

प्रकाशक
पं० विष्णुनारायण भार्गव
हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ.

दोनों खण्डों का मूल्य
**बीस रुपया**

मुद्रक—पं० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव अध्यक्ष—अवध प्रिंटिंग वर्क्स, लखनऊ.
तथा
पं० मन्नालाल तिवारी, शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ.



महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय

# प्रस्तावना

मुझको श्रीमद्भागवत में अत्यंत प्रेम है। मेरा विश्वास और अनुभव है कि इसके पढ़ने और सुनने से मनुष्य को ईश्वर का सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है और उनके चरण-कमल में अचल भक्ति होती है। इसके पढ़ने से मनुष्य को दृढ़ निश्चय हो जाता है कि इस संसार को रचने और पालन करनेवाली कोई सर्वव्यापक शक्ति है—

एक अनंत त्रिकाल सच, चेतन शक्ति विख्यात।
सिरजत, पालत, हरत जग, महिमा बरनि न जात॥

इसी एक शक्ति को लोग ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं। भागवत के पहले ही श्लोक में वेदव्यासजी ने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है कि जिससे इस संसार की सृष्टि, पालन और संहार होते हैं, जो त्रिकाल में सत्य है, अर्थात् जो सदा रहा भी, है भी और रहेगा भी, और जो अपने प्रकाश से अंधकार को सदा दूर रखता है, उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं। उसी स्थान में श्रीमद्भागवत का स्वरूप भी इस प्रकार से संक्षेप में वर्णित है कि इस भागवत में जो दूसरों की बढ़ती देखकर डाह नहीं करते, ऐसे साधुजनों का सब प्रकार के स्वार्थ से रहित परम धर्म और वह जानने के योग्य ज्ञान वर्णित है जो वास्तव में सब कल्याण का देनेवाला और आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार के ताप को मिटानेवाला है। और ग्रंथों में क्या, जिन सुकृतियों ने पुण्य कर्म कर रक्खा है और जो श्रद्धा से भागवत को पढ़ते या सुनते हैं, वे इसका सेवन करने के समय से ही अपनी भक्ति से ईश्वर को अपने हृदय में अविचल रूप से स्थापित कर लेते हैं। ईश्वर का ज्ञान और उनमें भक्ति का परम साधन, ये दो पदार्थ जब किसी प्राणी को प्राप्त हो गये तो कौन-सा पदार्थ रह गया जिसके लिये मनुष्य कामना करे और ये दोनों पदार्थ श्रीमद्भागवत से पूरी मात्रा में प्राप्त होते हैं। इसीलिये यह पवित्र ग्रंथ मनुष्यमात्र का उपकारी है। जब तक मनुष्य भागवत को पढ़े नहीं और उसको इसमें श्रद्धा न हो तब तक वह समझ नहीं सकता कि ज्ञान भक्ति-वैराग्य का यह कितना विशाल समुद्र है। भागवत के पढ़ने से उसको यह विमल ज्ञान हो जाता है कि एक ही परमात्मा प्राणी-प्राणी में बैठा हुआ है और जब उसको यह ज्ञान हो जाता है तब वह अधर्म करने का मन नहीं करता, क्योंकि दूसरों को चोट पहुँचाना अपने को चोट पहुँचाने के समान हो जाता है। इसका ज्ञान होने से मनुष्य सत्य धर्म में स्थिर हो जाता है, स्वभाव ही से दया धर्म का पालन करने लगता है और किसी अहिंसक प्राणी के ऊपर वार करने की इच्छा नहीं करता। मनुष्यों में परस्पर प्रेम और प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव स्थापित करने के लिए इससे बढ़कर कोई साधन नहीं। वर्तमान समय में, जब संसार के बहुत अधिक भागों में भयंकर युद्ध छिड़ा हुआ है, मनुष्यमात्र को इस पवित्र धर्म का उपदेश अत्यंत कल्याणकारी होगा। जो भगवद्भक्त हैं और श्रीमद्भागवत के महत्त्व को जानते हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि मनुष्य के लोक और परलोक दोनों के बनानेवाले इस पवित्र ग्रंथ का सब देशों की भाषाओं में अनुवाद कर इसका प्रचार करें।

मुझको इस बात से प्रसन्नता है कि हिंदी भाषा में श्रीमद्भागवत के कई अनुवाद छप चुके हैं और अब भी छप रहे हैं। किंतु किसी अनुवाद में वह रस नहीं आ सकता जो श्रीमद्भागवत के मूल में भरा हुआ है। इसमें अनुवादकर्त्ताओं का दोष नहीं है। वास्तव में, भाषा के अनुवाद में उस रस को लाना असंभव के समान है जो संस्कृत की ललित गभीर पदावली में भरा हुआ है। मेरी सम्मति में इन सब अनुवादक विद्वानों के सम्मिलित परिश्रम और भगवद्भक्ति से एक ऐसा अनुवाद छपना चाहिए, जिसमें एक-एक शब्द चुनकर रक्खा जाय और जिसको सब लोग प्रमाण माने। कहा जाता है कि बाइबिल का प्रामाणिक अनुवाद अनेक विद्वानों के बहुत समय के सम्मिलित परिश्रम से बना है। इसी रीति से हमको श्रीमद्भागवत का एक प्रामाणिक अनुवाद छापना उचित है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि इस कर्त्तव्य कार्य पर भागवत के प्रेमी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हो।

लगभग ३० वर्ष हुए, पंडित रूपनारायण पाण्डेय ने श्रीमद्भागवत का एक अनुवाद प्रकाशित कराया था। वह अच्छा था। अब उन्होंने हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ के अध्यक्ष पं० विष्णुनारायण भार्गव के लिए यह जो श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया है, वह नया है। यह पहले अनुवाद से अधिक सरल, रोचक और सुबोध है। इसमें कठिन दार्शनिक विषय सरल भाषा में सुचारु रूप से समझाये गये हैं। पं० रूपनारायण पांडेय ने इस अनुवाद को प्रकाशित कराकर सर्व साधारण की प्रशंसनीय सेवा की है और वह इसके लिए धन्यवाद के पात्र हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक के द्वारा सर्वसाधारण में श्रीमद्भागवत के ज्ञान का अच्छा प्रचार होगा और इस अनुवाद से बहुत प्राणियों को अनिर्वचनीय शान्ति, अकथनीय आनन्द और विपुल आध्यात्मिक ज्ञान और बल प्राप्त होगा।

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी
श्रावण कृष्ण ६, १९९७ वि०

मदन मोहन मालवीय

# भूमिका

श्रीमद्भागवत भगवान वेदव्यास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। अठारह महापुराणों में यह महापुराण सर्वोपरि है। केवल वैष्णव ही नहीं, समग्र हिन्दूजाति इसका आदर करती है। हिन्दूजाति के सर्वमान्य शास्त्रों और ग्रन्थों में वेदों और स्मृतियों के बाद आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण, इतिहासोपाख्यान महाभारत और परमहंसों की संहिता श्रीमद्भागवत महापुराण ही मुख्य हैं। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का ही एक अंश है, जिसके जोड़ की पुस्तक आजतक संसार की किसी भाषा में नहीं लिखी गई और न लिखी ही जा सकती है। श्रीमद्भागवत की रचना जितनी ही श्रुतिमधुर है, उतनी ही विद्वत्तापूर्ण। किसी ने सच कहा है—"विद्यावतां भागवते परीक्षा।" विद्वानों की परीक्षा भागवत में ही होती है। वेदव्यासजी महाराज पुराणों की रचना करके भी जब सन्तुष्ट नहीं हुए, तब श्रीनारदजी की प्रेरणा से उन्होंने भक्ति-प्रधान इस महापुराण की रचना की। भागवत में भक्ति को ही प्रधानता दी गई है और बिना भक्ति के वैराग्य, कर्मयोग और अन्य सभी साधनों को निष्फल कहा है। यथा—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

इसका आशय यह है कि मनोहर पद होने पर भी जिस वाक्यरचना में हरिके यश का वर्णन न हो, वह व्यर्थ है। वह अपवित्र कौओं के सेवन करने के जलाशय के समान है, जिसमें निर्मल मानसरोवर में विहार करनेवाले हंसों के समान साधुजन नहीं रमते। जिस वाणी में छन्द और वाक्यरचना का कोई चमत्कार न हो, पर हर श्लोक में भगवान् के नाम और गुण वर्णन किये गये हों, वह जनसाधारण के पापों को नष्ट करनेवाली और श्रेष्ठ है। ऐसी ही रचना को साधुजन भक्त लोग सुनते, गाते और कहते हैं। इसी तरह भागवत भर में भक्ति की प्रशंसा भरी पड़ी है। भागवत के माहात्म्य में ही यही भाव विद्यमान है। ज्ञान वैराग्य की माता भक्ति भागवत का सप्ताह सुनकर सफल काम होती है और ज्ञान वैराग्य का बुढ़ापा या क्षीणता भी जाती रहती है। इस रूपक का तात्पर्य भी यही है कि भक्ति से ही ज्ञान वैराग्य उत्पन्न होते हैं और भागवत में भक्ति के समन्वय से ज्ञान वैराग्य की पुष्टि की गई है। क्यों न हो, भक्ति-शास्त्र के आचार्य श्रीनारदमुनि की प्रेरणा से जब वेदव्यासजी ने भागवत की रचना की है, तब भागवत में भक्ति का प्राधान्य होना ही चाहिए।

जीव के लिए—मनुष्य के लिए सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है। मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं है। परन्तु मनुष्य सृष्टि के आदिकाल से ही मृत्यु के पार जाने की, अमृतलाभ की कामना करता आ रहा है। मनुष्य "अमृत" स्वरूप है इसीसे मृत्यु को जीतने की चेष्टा करता आ रहा है। रूप, रस, शब्द, गंध, स्पर्श के द्वारा मनुष्य सारे विश्व को अपने भीतर खींच लेना चाहता है—भोग करना चाहता है। किंतु वह चाहे जितना इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करे, कभी किसी तरह उनसे तृप्त नहीं हो सकता। उसका हृदय, उसका मन उन विषयों को और भी अधिक चाहता है। मनुष्य उस "भूमा" (ब्रह्म) का स्वरूप ठहरा,

थोड़े में उसकी तृप्ति कैसे हो सकती है? सैकड़ों दुःखों से घिरे रहने पर भी मनुष्य सुख की आशा नहीं छोड़ सकता। मनुष्य "आनन्द" का स्वरूप है, इसीसे वह सभी अवस्थाओं में आनन्द की कामना करता है।

जिस वस्तु को पाने की हम इच्छा करते हैं, उसी का नाम इष्ट है। असल में अमृतस्वरूप, सच्चिदानन्दमय परब्रह्म ही हमारा इष्ट है, हमारी यथार्थ सत्ता है। उसको प्राप्ति ही मोक्ष है, परमपुरुषार्थ है। ब्रह्मज्ञान से ही मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है; उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। प्रत्येक मनुष्य इसी इष्टवस्तु को पाने के लिए जाने या बिना जाने उसी ओर अग्रसर होता है। दार्शनिक पण्डितों—आचार्यों का कहना है कि माया या अज्ञान के कारण ही हम इष्ट को नहीं प्राप्त कर पाते, अपने यथार्थ रूप को नहीं जान पाते। मायाका आवरण हमारे इष्ट तक पहुँचने में बाधा डालता है। आचार्यों ने निश्चितरूप से आत्मरूप को जानने के—मोक्षप्राप्ति के चार साधन या मार्ग खोज निकाले हैं—योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति। इन चारों मार्गों में कोई छोटा या बड़ा नहीं है। देश, काल और अधिकार के भेद से प्रत्येक साधन या मार्ग की उपयोगिता बराबर है।

योग के आठ अंग हैं—आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा समाधि आदि। इसका विशेष विवरण पाठकों को इसी भागवत में कई जगह मिलेगा। इसलिए यहाँ पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

अब हम क्रमशः ज्ञान, कर्म और भक्ति के विषय में कुछ प्रकाश डालेंगे। पहले ज्ञान को लीजिए। ज्ञान का—आत्मज्ञान का भण्डार हमारे उपनिषद् हैं। उपनिषद् १८ हैं।

जर्मनी के दार्शनिक शोपेनहर कहते हैं—"उपनिषदों के समान मानसिक उत्कर्ष को बढ़ानेवाला और उपकार करनेवाला दूसरा ग्रन्थ संसार में नहीं है। उपनिषद् मेरे जीवन की शान्ति हैं और मरने पर भी इन्हींसे मुझे शांति मिलेगी।"* उपनिषदों के संबंध में शायद सभी पंडितों की यही राय होगी। उपनिषद् जितने प्राचीन हैं, उतने ही गम्भीर भाव और सत्य से परिपूर्ण हैं। दार्शनिक ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान के संबंध में भारत के मनीषियों ने जो चेष्टा की थी, उसी का फल ये उपनिषद् हैं। उपनिषद् वेद का अङ्ग हैं। प्राचीन उपनिषद् कम से कम बौद्ध धर्म के पहले रचे गये थे। वेद के साधारणतः तीन भाग किये जाते हैं—१ सूत्र, २ ब्राह्मण, ३ आरण्य और उपनिषद्। सूत्रभाग में सब मंत्र हैं। ब्राह्मणभाग में यज्ञों की विधि है, किस मंत्र का या सूत्र का किस यज्ञ में प्रयोग करना चाहिए, इसके संबंध में विधिव्यवस्था है। इस प्रकार वेद के इन दोनों अंशों में हमें कर्मकाण्ड या धर्मकर्म का विचार और व्यवस्था मिलती है। किन्तु आरण्यक और उपनिषद् इससे भिन्न हैं। उनमें ज्ञानकाण्ड या निवृत्ति मार्ग मिलता है। उनमें कर्मकाण्ड का झगड़ा नहीं है, योग यज्ञ के विधि-नियमों में उलझने की जरूरत नहीं है। उनमें ज्ञानपिपासु हृदय का ज्ञान के द्वारा सृष्टि के भीतर छिपे हुए तत्त्व को जानने का प्रयास देख पड़ता है। ब्राह्मण से उपनिषद् के जन्म के भीतर हम एक गंभीर और युगान्तकारी मानसिक दृष्टिकोण का परिवर्तन पाते हैं। ब्राह्मण यज्ञादि कर्मों की विधि-व्यवस्था से परिपूर्ण हैं। किन्तु आरण्यक में और ही सुर है। वृद्ध हो जाने पर जो लोग वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करते थे, उन्हीं के लिए ये आरण्यक रचे गये हैं। यहाँ यागयज्ञ का कुछ झगड़ा नहीं है। ध्यान या किसी खास मंत्र के अभ्यास को ही यागयज्ञ आदि का स्थान दिया गया है। इसका उदाहरण हम किसी-किसी उपनिषद् में भी पाते हैं; क्योंकि आरण्यक और उपनिषद् परस्पर ओत-प्रोत भाव से मिल गये हैं। उदाहरणस्वरूप हम छांदोग्य और बृहदारण्यक नाम के दो प्राचीन उपनिषदों का नाम ले सकते हैं। छांदोग्य उपनिषद् के आरंभ में ही उद्गीथ शब्द की व्याख्या है। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में, अश्वमेध यज्ञ के बदले अश्वमेध यज्ञ के रूप में उषा के ध्यान की व्यवस्था दी गई है। इस तरह हम ब्राह्मणभाग से आरण्यकभाग में आकर एक नवीन दृष्टिकोण देख पाते हैं। आरण्यक में संपूर्ण ज्ञान की उपासना प्रवर्तित न होने पर भी कर्मकाण्ड को छोड़कर एक नये ढंग की ओर आकृष्ट होने का आभास हमें स्पष्ट मिलता है। कर्मकाण्ड की जगह मानसिक कर्म और ध्यान ने ले ली है। इसके बाद उपनिषद् में हम देखते हैं, इस नये ढंग—ज्ञान मार्ग—ने पूर्ण रूप ग्रहण कर लिया है। उपनिषद् में स्पष्ट रूप से यागयज्ञ

*Welt, also wilte and vorcteilung serous, by Haldane and Kempr, Vol. I. P. XIII

आदि कर्मकाण्ड के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाया गया है। वेद के प्रथम अंश अर्थात् कर्मकाण्ड को इसमें अवज्ञा के साथ अपरा विद्या कहा गया है ( देखिए मुंडकोपनिषद्–१। १५ )। उपनिषद् में मानसिक यज्ञ या ध्यान की जरूरत नहीं है। उसमें स्वतन्त्र मानसिक शक्ति का विकास है, जो महती महीयाम् शक्ति इस संपूर्ण सृष्टि के पीछे अपने को छिपाये हुए है, उसके आवरण को हटाकर उसे जानने की चेष्टा है। उपनिषत्-काल के ऋषि यह प्रार्थना नहीं करते कि "हमें पुत्र दो, हमें गोधन दो, या हमारे शत्रुओं का नाश करो।" उस समय विश्वव्यापी शक्ति से यह प्रार्थना की जाती है—

"असतो मा सद्गमय। मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतगमय।" १।३।२८

अर्थात् असत् से मुझे सत्य के पास ले जाओ। अंधकार से मुझे प्रकाश में ले जाओ। मृत्यु से मुझे अमृत के पास ले जाओ।

उस समय के ऋषि कहते हैं—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।"

अर्थात् सुवर्णमय पात्र के द्वारा सत्य का मुख ढका हुआ है। हे सूर्यदेव, उसे तुम खोल दो, जिसमें हम सत्य और धर्म को देखें।

उपनिषद् में कर्म को नीचे छोड़कर ज्ञान की प्रधानता स्वीकार की गई है। उपनिषद् के ऋषि केवल यह प्रार्थना करके ही चुप नहीं रह गये; उन्होंने अपनी संपूर्ण मानसिक शक्ति को सृष्टि के भीतर छिपे हुए उस परम तत्त्व को जानने की चेष्टा में लगा दिया। उनकी इस सत्य-साधना का फल ये उपनिषद् हैं। ऐसी महती प्रेरणा और साधना के एकत्र समावेश से ही हमें ऐसे गूढ़ भावों से भरी हुई दार्शनिक भावना उपनिषदों की वाणी में देख पड़ती है। इसी का फल यह है कि केवल भारत के ही नहीं, संपूर्ण विश्व के दार्शनिक तत्त्वों के अंकुर खोजने से हमें उस अमृत वाणी में प्राप्त होंगे। तभी तो उपनिषदों में ऋषि कहते हैं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेवं विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

( श्वेताश्वतर उपनिषद् )

अर्थात् सभी अमृत के पुत्र, जो दिव्य लोकों में रहते हैं, सुनें। अंधकार ( अज्ञान ) के उस पार जो आदित्यवर्ण महान् पुरुष रहते हैं, उनको मैंने जान लिया है। उनको इस तरह जानकर ही मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। मृत्यु से बचने के लिए और कोई रास्ता नहीं है।

उपनिषद् शब्द का साधारणतः यह अर्थ किया जाता है कि गुरु के पास एकान्त में बैठकर जो शिक्षा प्राप्त की जाय, वह उपनिषद् है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह विद्या एकान्त में बैठकर गुरु की सहायता से ही प्राप्त की जा सकती है। यह अर्थ पहले पहल मैक्समूलर ने किया था*। डायसन ने उपनिषद् की व्याख्या रहस्यगत ज्ञान† की है। तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य के आरंभ में भगवान् शंकराचार्य ने उपनिषद् के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—"ब्रह्मज्ञान को उपनिषद् कहा जाता है। कारण, जो लोग ब्रह्मज्ञान में मन लगाते हैं, उनके जन्म-मृत्यु आदि के बन्धन शिथिल हो जाते हैं, अथवा जन्म-मृत्यु के बंधन एकदम नष्ट हो जाते हैं, अथवा ये उपनिषद् जिज्ञासु छात्र को ब्रह्म के निकट उपस्थित करते हैं, अथवा परब्रह्म इनमें सन्निविष्ट हैं, इसलिए इनको उपनिषद् कहते हैं।" इस प्रकार शंकराचार्यजी के मत से उपनिषद् का

*"Upanishad meant originally session, particularly a session consisting of pupils assembled at a respectable distance round their teacher."—Translation of Upanishads by Max Muller; Sacred Books of the East, Vol. I. P. LXXXI.

†Deussen Philosophy of the Upanishads. P. 14-15.

अर्थ दार्शनिक ज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। अष्टोत्तरशत उपनिषदों का संकलन करनेवाले पण्डित वासुदेव शर्मा ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—उप=गुरु के उपदेश से प्राप्त; नि=निश्चित रूप से ज्ञान; षद=जन्म-मृत्यु के बन्धन को काटनेवाला।

हम अब इन मतों की कुछ समालोचना करेंगे। डायसन की पूर्वोक्त व्याख्या का मूल यह है कि उपनिषदों में ही कई जगह उपनिषदों के तत्त्व को गोपनीय विषय कहा है और विशेष उपयुक्त या अधिकारी व्यक्ति के सिवा और किसी को उपनिषद् की शिक्षा देने का निषेध है। अधिकारी का जो प्रश्न यहाँ उठ खड़ा हुआ है, उसका कारण विषय की गोपनीयता नहीं है; उसका कारण है विषय की गंभीरता और जटिलता। दूसरे, उपनिषद् का ज्ञान केवल एकान्त में गुरु के पास बैठकर ही सीखना चाहिए, इस व्यवस्था का कोई प्रमाण हमें उपनिषदों में नहीं मिलता। बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे तीसरे अध्याय में हम देखते हैं, प्रकाश्य राजसभा में उपनिषद् के तत्त्व की विस्तृत आलोचना की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार की दार्शनिक आलोचना की व्यवस्था करने के लिए राजा जनक तो विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। बृहदारण्यक में उल्लेख है कि जनक राजा की इस प्रसिद्धि का समाचार सुनकर महाराज अजातशत्रु के मन में ईर्षा उत्पन्न हुई। उन्होंने इस तरह के दार्शनिक शास्त्रार्थ की व्यवस्था करके राजा जनक के साथ प्रतिद्वंद्विता शुरू कर दी थी (देखो बृहदारण्यक २।१।१)। ब्रह्मज्ञान या परा विद्या के प्रचारक ऋषियों की यह चेष्टा थी कि सभी विश्ववासी इस पवित्र ज्ञान को प्राप्त करके मोह से मुक्त हों। उनका कहना था कि जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं*। बृहदारण्यक में यह भी लिखा है कि जो मनुष्य अविद्या की उपासना करता है, वह मृत्यु के बाद आनन्द-नामक दुःखमय लोक में प्रवेश करता है÷। छान्दोग्य उपनिषद् में जबाला की एक कथा है। उसमें यह लिखा है कि वह अपने पुत्र सत्यकाम को उसके पिता का नाम या गोत्र नहीं बतला सकी थी। पिता का ठीक पता न बता सकने पर भी गौतम ऋषि ने सत्यकाम को अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया था। इसी तरह याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था। उपनिषद् के ज्ञान का भांडार सबके लिए खुला था। उपनिषदों का आलोच्य विषय ब्रह्म है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—"ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं, दो तरह की विद्याएँ हमें सीखनी चाहिए। एक परा दूसरी अपरा। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छंद और ज्योतिष है। और परा विद्या वह है, जिससे उस अक्षर (ब्रह्म) का ज्ञान होता है+।" छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में भी लिखा है—"विद्या और अविद्या दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। श्रद्धा के साथ विद्या के द्वारा उपनिषदों के अभ्यास से हमें क्षमता प्राप्त होती है और वही उस अक्षर ब्रह्म की व्याख्या होती है=। इन उक्तियों में हम देखते हैं, विद्या के साथ उपनिषद् को मिला दिया गया है और दोनों का व्यवहार एक ही अर्थ में हुआ है। मतलब यह कि उपनिषदों के अभ्यास से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

उपनिषद् का दूसरा नाम वेदान्त है। यह वेदान्त दर्शन, महर्षि वेदव्यासरचित उत्तर-मीमांसा, जिसे वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं, उसी के आधार पर संसंगठित हुआ है। इस प्रकार उपनिषदों

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। (ईशोपनिषद् ९)।

÷ आनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः॥

(बृहदारण्यक ४।४।११)

+ द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। मुण्डकोपनिषद् (१।१।४-५)

= नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा। तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति। (छान्दोग्य १।१।१०)

के आधार पर वेदान्त नाम के दार्शनिक मत की सृष्टि हुई है। असल में उपनिषद् को ही वेदान्त कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

"वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम्।"

उपनिषदों को वेदान्त नाम देने का कारण यह है कि वे वेद का अन्तिम भाग हैं। अब हम यहाँ पर भगवान् वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते हैं। महर्षि वेदव्यास ने जब ब्रह्मसूत्र की रचना की थी, तब उनका उद्देश्य यह था कि उपनिषद् में जो विचार इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, उनका एकत्र संग्रह करके उन्हें एक संपूर्ण दार्शनिक मत का रूप दे दिया जाय। उपनिषदों को भिन्न भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न ऋषियों ने रचा है। उनमें कोई शृंखला या नियम की व्यवस्था नहीं है। उन विचारों को सूत्र के रूप में व्यासजी ने सुसंगठित कर दिया। पर सूत्र के आकार में रूपान्तरित होने का फल यह हुआ कि ब्रह्मसूत्र दुर्बोध्य हो उठे। सूत्र रचना का मुख्य कारण यह था कि उस युग में पुस्तक का लिखना या उसे सुरक्षित रखना संभव नहीं था। सब कुछ कंठाग्र ही रक्खा जाता था। संक्षिप्त सूत्र को याद रखना सहज था। सूत्र का अर्थ ही यह है कि किसी विस्तृत भाव का अतिसंक्षिप्त रूप। इस अत्यन्त संक्षिप्त रूप के कारण प्रायः टीका या भाष्य के बिना सूत्रों का अर्थ करना आगे चलकर असंभव हो गया। सूत्ररचना का यह साधारण दोष ब्रह्मसूत्र में भी यथेष्ट रूप में था। इसलिये भाष्य के बिना उनका अर्थ करना असंभव हो गया। फल यह हुआ कि विभिन्न दार्शनिक महात्मा विद्वानों ने अपने-अपने मत का समर्थन करते हुए ब्रह्मसूत्र के भिन्न भिन्न भाष्य किये। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में निम्नलिखित पोच आचार्य विशेष प्रसिद्ध हैं—शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य और निम्बार्क। इन लोगों ने अद्वैत, द्वैत द्वैत आदि वेदान्तानुयायी विभिन्न मतों का प्रतिपादन अपने भाष्यों में किया है। यहाँ पर हम अपने पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि इस विषय में सभी उपनिषद् एक मत हैं कि विश्व की सृष्टि का कारण एकमात्र ब्रह्म है और प्रधान रूप से सभी भाष्यकारों ने इस मत को ग्रहण किया है। इन आचार्यों में मतभेद इस बात पर है कि इस सृष्टि के साथ ब्रह्म का कार्य-कारण सम्बन्ध किस प्रकार का है। यह कार्य कारण सम्बन्ध साधारणतः दो तरह का हो सकता है। उदाहरण के तौर पर आप घड़े को ले लीजिए। घट की उत्पत्ति मिट्टी से हुई है, इस हिसाब से मिट्टी ही उसका कारण है। पर कुँभार के बिना घट बन नहीं सकता। इसलिए कुँभार भी घट का कारण है। पहले प्रकार के कारण को दार्शनिक भाषा में उपादान कारण और दूसरे प्रकार के कारण को निमित्त कारण कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म सृष्टि का किस प्रकार का कारण है?

ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यों में शंकराचार्य का भाष्य ही निष्पक्ष और प्रामाणिक भाष्य है। श्रीमद्भागवत में जो ब्रह्म विवेचन है, वह इसी भाष्य से मिलता है। इसलिए हम शंकराचार्यजी के अनुसार ही इस प्रश्न का विवेचन यहाँ देते हैं। शंकराचार्यजी कहते हैं—साधारण दृष्टि से जान पड़ता है, ब्रह्म इस सृष्टि के केवल निमित्त कारण-मात्र हैं। कारण, उपनिषद् में अनेक ऐसी उक्तियाँ हैं कि सबसे पहले ब्रह्मा ने सृष्टि करने की इच्छा की और उसके बाद सृष्टि की। इस तरह का कारण-सम्बन्ध हम कार्य से भिन्न किसी शक्ति के ऊपर ही आरोपित करते हैं, जैसे अलंकार का कारण सोनार या घड़े का कारण कुँभार। किन्तु ब्रह्मा को इस प्रकार का कारण मानने पर एक बड़ी कठिनाई होती है। वह यह कि तब ब्रह्मा ही विश्व की सृष्टि का एकमात्र कारण नहीं हो सकते, और एक कारण अर्थात् उपादान कारण की जरूरत सामने आती है। इसलिए हमें ब्रह्मा को दोनों कारणों के रूप में देखना होगा। वह इस दृश्यमान विश्व के उपादान कारण भी हैं और निमित्त कारण भी हैं। ब्रह्मा तो ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं और इसलिए ब्रह्म ऐसा कारण है कि उसे इस सृष्टि के लिए किसी दूसरे उपादान या शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक रूप से वह उपादान भी है और उस उपादान को सृष्टि के रूप में परिणत करने का काम भी वह निमित्त कारण के रूप से करता है। इसी कारण इस जगह केवल कुँभार का निमित्तकारणत्व उस पर आरोपित नहीं किया जा सकता और

न केवल मिट्टी का उपादानकारणत्व ही उस पर आरोपित होता है।* ब्रह्म को इस तरह एक साथ ही उपादान कारण और निमित्त कारण कहने से ऐसी धारणा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि शायद ब्रह्म कारण रूप से एक है, पर कार्य रूप में जब वह रूपान्तरित होता है, तब वह बहुरूप हो जाता है। इस जगह साधारणतः ब्रह्म की एक वृक्ष के मूल के रूप में कल्पना की जाती है और सृष्टि को उसकी शाखा-प्रशाखा मान लेते हैं। फलतः एक हिसाब से वह समग्र को लेकर एक होता है और दूसरे पक्ष में वह बहुत सी शाखाओं की समष्टि भी है। इसी तरह कोई ब्रह्म को समुद्र और सृष्टि को उसकी असंख्य लहरें मानते हैं। इस स्थल में भी समग्र रूप से देखने में ब्रह्म एक है और व्यष्टि रूप से देखने में वह बहुरूप है। लेकिन शंकराचार्यजी इस मत को नहीं मानते। उनकी परिकल्पना यह है कि ब्रह्म कारणरूप में भी एक है और कार्यरूप में भी एक है। वह किसी भी अवस्था में अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। जो ब्रह्म कारणरूप से एक रहता है और कार्यरूप में बहु हो जाता है, वह तो चिर एक नहीं हो सकता। वह फिर निर्विकार कहाँ रहा? शंकर के मत में ब्रह्म सभी अवस्थाओं में एकरूप है। वह एकमात्र और अद्वितीय है। यहाँ पर विरोधाभास सा देख पड़ता है। ब्रह्म अगर सभी अवस्थाओं में एक रहता है और वह अगर कार्य कारण दोनों है तो फिर हम विश्व के रंगमंच में यह बहु की लीला कैसे देखते हैं? इसके उत्तर में भगवान् शंकर कहते हैं—यह दृश्यमान जगत निश्चय ही ब्रह्म है, यह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। हम जो विश्व में बहु की लीला देखते हैं, यह हमारी भूल है, भ्रम है। विश्व में कहीं अनेक नहीं है, बहु नहीं है, है केवल एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म। प्रश्न होता है, तो हम जो इन्द्रियों की अनुभूति की सहायता से नाना, बहु देखते हैं, सो क्या मिथ्या है? शंकर कहते हैं—हाँ, यही बात है। यह जो नाना की लीला है, बहु का खेल है, सो एक कल्पनामात्र है, आँखों का भ्रम है। यह जो ब्रह्म का कार्य के आकार में बहु और नाना का वेश विकार है, वह विकार भी नहीं है। यह नाम और रूप का भेद बिल्कुल मिथ्या है। दृश्यमान जगत् और ब्रह्म एक ही पदार्थ है। जगत् को जब हम बहुरूप में देखते हैं, तब गलत देखते हैं। असल में वह वही एकमात्र ब्रह्म है। यहाँ जो कार्य कारण सम्बन्ध है, उसमें विकार के लिए स्थान नहीं है। जो कार्य है, वही कारण है। मूलतः वे एक ही हैं। हम कारण को कार्यरूप में जो देखते हैं, वह आँखों का भ्रम है÷। अब यह सहज ही समझ में आ जायगा कि शंकराचार्यजी जिस अर्थ में ब्रह्म और जगत् को कार्य कारण-सम्बन्ध से सम्बन्धित करते हैं, वह साधारण अर्थ से भिन्न है। साधारणतः हम कार्य को कारण का परिणाम मानते हैं, अर्थात् कार्य को कारण का रूपान्तर स्वीकार करते हैं। किन्तु शंकराचार्यजी इस विश्वसृष्टि को ब्रह्म का परिणाम नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं—जगत् ब्रह्म का रूपान्तर नहीं है। सृष्टि और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। सृष्टि के भीतर हम जो एक को न पाकर बहु का अनुभव करते हैं, सो हमारी अनुभूति का दोष है। इस जगह परिणाम नहीं हुआ, हुआ है विवर्त या विकृति। हमारी अनुभवशक्ति के विकार के कारण ही ऐसा होता है, जसे पानी के भीतर डुबाई हुई सीधी लकड़ी को भी हम टेढ़ा देखते हैं। जब दूध जमकर दही हो जाता है, तब हम उसमें "परिणाम" देख पाते हैं, और जब रस्सी आँखों के भ्रम से साँप जान पड़ती है, तब हम "विवर्त" देख पाते हैं। यह जो आँखों के देखने

---

*निमित्तत्व तु अधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकं उपादानकारणं कुलालसुवर्णादीनधिष्ठात्रीनपेक्षत् प्रवर्तते नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य। (शारीरक भाष्य १। ४। २३)

÷अभ्युपगम्य चैवं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः, नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति, यस्मात्तयोः कार्यकारणयोः अनन्यत्वमेव गम्यते। कार्याकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परंब्रह्म, तस्मात्कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। यतो वाचारंभणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति। न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्तीति। (शारीरक भाष्य २। १। १४)

का भ्रम होता है, उसका कारण है माया। जैसे रस्सी को साँप समझने के भ्रम का कारण अन्धकार होता है। "माया" शक्ति की ऐसी क्षमता है कि वह असल चीज़ को ढककर उसका नकली रूप दिखाती है। फलतः हम असली रूप को नहीं देख पाते। ब्रह्म के सत्य रूप, असल अविकृत रूप को शंकर ने इस प्रकार बतलाया है—वह सत्, चित्, आनन्द और ज्ञाता-स्वरूप है। वह ज्ञाता है, पर ज्ञेय उसके लिए कुछ नहीं है। कारण, वह अद्वितीय है। एकमात्र, अद्वितीय, चिन्मय ब्रह्म एकमात्र रूप से विराजमान हैं। उनकी ज्ञानशक्ति का विलोप कभी नहीं होता। यह ज्ञातृत्व उनका गुण नहीं, स्वभाव है। इसी से शंकर ने ब्रह्म को निर्विशेष, चिन्मात्र कहा है। सूर्य जैसे महाशून्य में अपनी किरणों को फेंकता है, उन्हें ग्रहण करनेवाला वहाँ कोई हो चाहे न हो, वैसे ही ब्रह्म में भी ज्ञानशक्ति का स्फुरण होता रहता है, उसके लिए जानने का विषय चाहे हो चाहे न हो। इस असल रूप में ब्रह्म जो कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं भोगता, इसका कारण यही है कि उससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, जिसे वह देखे या भोग करे।

शंकराचार्य ने व्यावहारिक जगत् के प्रयोजन के लिए सगुण ब्रह्म की परिकल्पना भी की है। श्रीमद्-भागवत में निर्गुण ब्रह्म का वेदान्तानुकूल वर्णन बारम्बार आया है। उसी को समझने में सहूलियत के लिए हमने यहाँ पर उपनिषद् और शंकरभाष्य का संक्षिप्त परिचय दे दिया है। सगुण ब्रह्म के विवरण की विशेष आवश्यकता नहीं। अब हम ज्ञान और कर्म के तारतम्य पर यहाँ कुछ लिखते हैं। साथ ही जीवन्मुक्त परमहंसों के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालेंगे; क्योंकि भागवत परमहंसों की ही संहिता है।

कर्म से मुक्ति होती है, या ज्ञान से मुक्ति होती है, अथवा इन दोनों के समन्वय से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस संबंध में भगवान् शंकराचार्य और उनके पूर्ववर्ती एवम् परवर्ती अनेक विद्वान् यथेष्ट आलोचना कर गये हैं; पर इसकी सर्वसम्मत संपूर्ण मीमांसा अब तक नहीं हो सकी। वर्तमान काल में भी किसी किसी का मत है कि ज्ञान के द्वारा अगर जीव की मुक्ति हो सकती है तो कर्म के द्वारा क्यों नहीं हो सकती? कोई-कोई कहते हैं कि कर्म और ज्ञान, दोनों के सम्मिलन द्वारा ही मुक्ति संभव है; इसलिए दोनों में से कोई त्याज्य नहीं है। जैसे एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता, वैसे ही केवल कर्म या केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। उपनिषद्, वेदान्तदर्शन और गीता के जो भाष्य शंकराचार्यजी ने किये हैं और विवेकचूड़ामणि, उपदेश-साहस्री तथा आत्मानात्मविवेक आदि जो पारमार्थिक ग्रन्थ लिखे हैं, उनके पढ़ने से स्पष्ट यह जान पड़ता है कि उन्होंने मुक्ति चाहनेवाले निवृत्तिमार्गावलम्बी लोगों के लिए ही ये रचनाएँ की हैं। जो लोग इस लोक के सुख या स्वर्ग आदि के सुखभोग की चाह नहीं करते, जिनके हृदय में वैराग्य का उदय हो चुका है, जो लोग दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हैं, उन्हीं के लिए आचार्य शंकर के ये ग्रन्थ हैं। जो लोग सांसारिक सुख भोग करना चाहते हैं, दुःख का आत्यन्तिक नाश नहीं चाहते, स्वर्गसुख की कामना रखते हैं, वे यागयज्ञ, दान-पुण्य आदि करें और जन्म-मरण के आवर्त में पड़े रहें। ज्ञान के तो केवल वे ही अधिकारी हैं, जो विषय-वासना छोड़कर विरक्त हो चुके हैं। विरक्त हुए बिना शम, दम आदि गुण नहीं उत्पन्न होते और चित्त स्थिर नहीं होता और हृदय में ज्ञान नहीं स्थान पाता। जैसे प्रकाश के बिना अन्धकार दूर नहीं होता, वैसे ही ज्ञान के बिना अज्ञान का नाश नहीं होता। अज्ञान जब तक है, तब तक जीव की मुक्ति असंभव है। जो लोग इस लोक या परलोक में सुखभोग की कामना करते हैं या बैकुंठ आदि ऊपर के लोकों में जाना चाहते हैं, उन्हें भी मुक्ति नहीं मिलती। इसका स्पष्ट प्रमाण भागवत में ही मिलता है। भगवान् के पार्षद जय विजय को ब्रह्मशाप के कारण वहाँ से पृथ्वी पर आकर कई जन्म लेने पड़े। इसलिए केवल आत्मज्ञान के ही द्वारा मुक्ति सम्भव है। श्रुति कहती है—

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभय वै ब्रह्माभय हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद।"

अर्थात् यह आत्मा वही महान् अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय अद्वितीय ब्रह्म है। ब्रह्म अभय (मृत्यु के भय से रहित) है। जो ऐसा जानता है, उस अभय ब्रह्म को जानता है, वह वही ब्रह्म हो जाता है।

श्रुति यह भी कहती है—"अपाम सोममभता अभम" (अर्थात हमने यज्ञ में सोमरस का पान

किया है, इसीलिए अमर हो गए हैं); "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (अर्थात् चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को अक्षय स्वर्ग प्राप्त होता है।) स्मृति में कहा है—"निषेकादि श्मशानान्तो मंत्रैर्यस्योदितो विधिः," अर्थात् गर्भाधान से लेकर मसान में जलने के समय किये जानेवाले अन्त्येष्टि संस्कार तक सोलह संस्कार जिसके वेदमंत्रों के द्वारा किये जाते हैं, उस द्विज को ही इस कर्मकाण्ड का अधिकार है। किन्तु श्रुति स्मृति के सब वाक्य अविद्वान्, संसार में अनुराग रखनेवाले, प्रवृत्तिमार्ग के पथिक को ही कर्मकाण्ड में प्रवृत्त करते हैं। ब्रह्म को जानने की इच्छा रखनेवाले विद्वान् निवृत्तिमार्गगामी के लिए ये वचन नहीं हैं। कारण, उन्हीं श्रुतियों और स्मृतियों में कोरे कर्मकाण्ड या प्रवृत्ति मार्ग की निन्दा भी की गई है। यथा—"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते," अर्थात् जो लोग केवल कर्म या अविद्या की उपासना करते हैं, वे अन्धतम में प्रवेश करते हैं। और सुनिए—"तद् यथेह कर्मजिता लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते," अर्थात् जैसे इस लोक में काम करके पैदा या जमा किया हुआ अन्न-धन इत्यादि फल भोग के द्वारा क्षय को प्राप्त होता है। वैसे ही पुण्य कर्म-तप-यज्ञ आदि से प्राप्त किया हुआ स्वर्ग आदि का सुख भी परलोक में भोग करने से क्षीण हो जाता है। फिर श्रुति कहती है—"तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय," अर्थात् उस आत्मा को जानकर मनुष्य इस लोक में अमर—मृत्यु के भय से रहित हो जाता है। मुक्ति पाने का, मृत्यु भय—से जन्म मरण के चक्कर से—छुटकारा पाने का और कोई मार्ग नहीं है। श्रुति का और प्रमाण लीजिए—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्व मानुशः," अर्थात् कर्म के द्वारा, पुत्र आदि के द्वारा अथवा धन के द्वारा मुक्ति नहीं मिलती; केवल त्याग अर्थात् निवृत्ति मार्ग के द्वारा ही मुक्ति मिलती है। और सुनिए—"प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः," अर्थात् संसार सागर पार होने के लिए यज्ञरूप नाव दृढ़ नहीं है—यज्ञ के द्वारा कोई मुक्त नहीं हो सकता। शास्त्र में स्पष्ट लिखा है—"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।" अर्थात् जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त होता है और विद्या या ज्ञान के द्वारा उसकी मुक्ति होती है। और प्रमाण लीजिए—"उग्रैस्तपोभिर्विविधैर्दानैर्नानाविधैरपि। न लभन्ते तथात्मानं लभन्ते ज्ञानिनः स्वयम्॥" अनेक प्रकार की उग्र तपस्या या अनेक प्रकार के दान आदि के द्वारा मनुष्य को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानी लोग ज्ञान के द्वारा ही उसे प्राप्त करते हैं। स्पष्ट कहा है—"यत्कृतकं तदनित्यम्," अर्थात् जो क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता या मिलता है, वह कर्मफल अनित्य है। भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्णचन्द्र ने स्पष्ट ही कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है। अर्जुन ने कर्मयोग का उपदेश सुनकर कृष्ण भगवान् से पूछा—"ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥" अर्थात् हे जनार्दन, अगर कर्म से बुद्धि (ज्ञान) को ही आप श्रेष्ठ समझते हैं, तो फिर इस महासमर रूप घोर कर्म में प्रवृत्त होने की क्यों आज्ञा देते हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—"सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" अर्थात् हे अर्जुन, निःशेष रूप से सभी कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं। और सुनो—"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।" अर्थात् ज्ञान सभी कर्मों को भस्म कर देता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में, २४४वें अध्याय में श्री शुकदेवजी भगवान् वेदव्यास से पूछते हैं—"वेद में कर्म करो और कर्म को छोड़ो, दोनों बातें पाई जाती हैं। विधि और निशेष दोनों हैं। बतलाइए, विद्या (ज्ञान) के द्वारा जीव किस लोक को जाता है और कर्म करके उसे कौन लोक मिलता है। वेद में परस्पर-विरुद्ध दो मार्ग क्यों हैं?" इसके उत्तर में व्यासदेव कहते हैं—"पुत्र, कर्ममय नश्वरमार्ग और ज्ञानमय अविनश्वर मार्ग के विषय में मैं तुमको बतलाता हूँ—सुनो! वेद सब जिसपर अधिष्ठित हैं, वह धर्म या मार्ग दो प्रकार का है। एक प्रवृत्तिलक्षण धर्म और दूसरा निवृत्तिलक्षण धर्म। कर्म के द्वारा जीव बंधन को प्राप्त होता है, अर्थात् उसे धर्म का फल भोगने के लिए संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है और विद्या या आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष पाता है। इसलिए तत्त्वदर्शी विद्वान् कर्ममार्ग में प्रवृत्त नहीं होते। कर्मशील या प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी मनुष्य कर्म करके बारम्बार शरीर धारण कर जन्म मरण को प्राप्त होते हैं,

और विद्वान् लोग आत्मज्ञान के द्वारा नित्य अव्यय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है। कोई-कोई थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्य कर्म की प्रशंसा करते हैं। वे स्त्री-पुत्र-धन आदि परिवार में आसक्त होकर यज्ञ दान आदि कर्म ही करते रहते हैं, सो भी फल की कामना से। इसीलिए कर्मकाण्ड के अनुयायी मानवकर्म के फल सुख दुःख या जन्म-मरण के कष्ट भोगते हैं। और ज्ञानी मनुष्य विद्या या आत्मज्ञान के द्वारा ऐसे स्थान को जाते हैं, वहाँ न शोक है, न मोह है, न जन्म है, न मृत्यु है; जहाँ भेदज्ञान नहीं रहता, इसलिए जीव परमात्मा ही हो जाता है; क्योंकि वही उसका असली रूप है। वह वही स्थान है, जहाँ अव्यक्त, अचल, नित्य क्लेशरहित, अमृत, निर्विकार परब्रह्म की अवस्थिति है। उस स्थान को वे ही प्राप्त होते हैं, जो सब प्राणियों में समदृष्टि रखते हैं, सब प्राणियों का हित ही चाहते हैं"।

इस प्रकार हमारे पाठकों को मालूम हो गया होगा कि शास्त्रों में प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण दोनों प्रकार के धर्मों को स्वीकार किया गया है। अधिकारी के भेद से दोनों का समर्थन शास्त्रों ने किया है। जो लोग इस जगत् में उत्तरोत्तर स्वर्ग आदि लोकों का सुख भोगना चाहते हैं, वे यज्ञ, दान आदि कामना के साथ करें। जो लोग संसार से विरक्त हैं और मुक्ति चाहते हैं, वे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा आदि दैवी सम्पद् की सहायता से ज्ञान लाभ के अधिकारी होकर मोक्ष प्राप्त करें। श्रेष्ठ मार्ग यही है, क्योंकि मनुष्यजन्म का परम पुरुषार्थ यही है और मनुष्यजन्म में ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इन सब शास्त्रों का और श्रीमद्भागवत का भी यही गूढ़ अभिप्राय है। आचार्य भगवान् शंकर ने अपने गीता-भाष्य के प्रारम्भ में कहा है—"स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकिर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दादीनुत्पाद्य निवृत्तिधर्मं ज्ञान-वैराग्यलक्षणं ग्राहयामास।" अर्थात् भगवान् ने ब्रह्मा के रूप से पहले इस जगत् की सृष्टि करके इसे स्थायी करने की इच्छा से पहले मरीचि आदि प्रजापतियों को उत्पन्न किया और उन्हें वेदोक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश किया। इसके बाद सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार आदि को उत्पन्न करके उन्हें ज्ञान-वैराग्यरूप निवृत्तिलक्षण धर्म सिखलाया।

वेदान्त दर्शन का शारीरिक भाष्य लिखते समय भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के अथ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—"तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्।" अर्थात् अथ शब्द का अर्थ अनन्तर या 'बाद' ग्रहण करना चाहिए, 'अधिकार' नहीं। जैसे वेद पढ़ने के बाद धर्म की जिज्ञासा होती है, वैसे ही वैराग्य, शम दम, तितिक्षा आदि के उत्पन्न होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा भी होती है*। फिर आगे भगवान् शंकर लिखते हैं—"अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। भवेच्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति पुरुष-व्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञासं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतंत्रम्।" अर्थात् धर्मज्ञान के बाद उसके सम्यक् अनुष्ठान या आचरण से ही सांसारिक सुखस्वरूप अभ्युदयफललाभ की संभावना होती है; धर्म के आचरण या कर्मकाण्ड में कुछ भी त्रुटि न होने पर फल नहीं मिलता। किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल निश्रेयस या मोक्ष किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता। भ्रान्ति या देहाभिमानरूप अज्ञान दूर होने पर ही तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान के समय काम्य धर्म नहीं रहता, वह कर्म के सम्यक् अनुष्ठान से ही उत्पन्न होता है। किन्तु ब्रह्म स्वयंसिद्ध वस्तु होने के कारण, उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होने से अर्थात् अज्ञान का नाश होने से ही मोक्ष होता है। वह नित्य होने के कारण पुरुष के अधीन नहीं है, और सिद्ध वस्तु होने के कारण अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता। पर धर्म अनुष्ठान या आचरण के बाद उत्पन्न होता है, इसलिए पुरुष के अधीन है। जैसे मनुष्य इच्छा के अनुसार चल भी सकता है और नहीं भी चल सकता, वैसे ही वह इच्छा के अनुसार याग-यज्ञ, दान आदि धर्म कर्म कर भी सकता है

* तस्मादेव विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति।
बृहदारण्यक ४। ४। २३

और नहीं भी कर सकता। किन्तु विषयों और इन्द्रियों का योग होने पर ज्ञान अवश्य ही होगा। वह पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं है। विषयों के साथ इन्द्रियों का सामीप्य होते ही ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है, इसलिए ज्ञान वस्तुतंत्र है, और गति आदि क्रियाएँ अथवा याग यज्ञ दान आदि कर्म पुरुष की इच्छा की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए पुरुषतंत्र हैं। आत्मज्ञान का लाभ ही मोक्ष है। अतएव वह भी ज्ञान होने के कारण वस्तुतंत्र है। वह मोक्ष और किसी तरह नहीं मिल सकता। इसीलिए प्रजापति ने देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन को भोग ऐश्वर्य का त्याग कराकर उनसे ब्रह्मचर्य का पालन कराया था। प्रजापति अगर जानते कि ब्रह्मचर्य के अलावा और किसी साधन से भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होना संभव है तो वह निश्चय ही उनको उसका उपदेश करते। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए वैराग्य, ब्रह्मचर्य या शम-दम आदि गुणों का होना निश्चय ही आवश्यक होता है और किसी प्रकार के कर्म—याग यज्ञ या दान पुण्य इत्यादि में आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

कर्म चार प्रकार के होते हैं। १ उत्पाद्य, २ आप्य, ३ संस्कार्य और ४ विकार्य। उत्पाद्य वह है, जो उत्पन्न किया जाय; जैसे मिट्टी से घड़ा बनाना। आप्य वह है, जो प्राप्त किया जाय; जैसे कोई वस्तु कहीं और थी, इस समय पाई गई। संस्कार्य; जैसे जल छिड़ककर धान्य आदि पदार्थों को शुद्ध कर याग-यज्ञ के काम में आने योग्य बनाना। विकार्य; जैसे दूध का विकृत होकर दही बनना। आत्मज्ञान या मोक्ष पदार्थ इन चारों प्रकार के कर्मों से भिन्न है। मोक्ष को समझने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। अज्ञान के द्वारा जीव का स्वाभाविक ज्ञान—अपने यथार्थ रूप का ज्ञान—ढका हुआ रहता है; उस अज्ञान का नाश ही मोक्ष है। जैसे कोई आदमी गले में मोतियों की माला पहने है; पर भ्रमवश वह उसे भूल जाता है; उसे खोया समझकर दुःख से अधीर होता है। किसी के बतलाने से या आप ही हाथ से टटोलकर जब वह उस माला को पाकर आनन्द का अनुभव करता है। मोक्ष भी कुछ इसी प्रकार का है। "अप्राप्तमिव प्राप्नोति"—अप्राप्त वस्तु को जैसे पा जाता है।

निष्काम कर्म को सदा करना चाहिए, या छोड़ देना चाहिए, इस सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि निष्काम कर्मों का भी प्रयोजन तभी तक है, जब तक वैराग्य न हो, शम-दम आदि गुण उत्पन्न न हों। कारण, शम दम आदि छः गुणों की सहायता से ही जब ज्ञान का लाभ होता है, तब निष्काम कर्म करने की क्या जरूरत है? निष्काम कर्म करनेवाले को कर्त्ता, कर्म और करण, इस तीन प्रकार के भेद का ज्ञान होना जरूरी है। किन्तु श्रुति ने सब प्रकार के भेदों का निषेध किया है। यथा—"नेह नानाऽस्ति किंचन" (यहाँ नाना या अनेक कुछ नहीं है), "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव" (वह मृत्यु के भय से नहीं छूटता, जो भेदभावना रखता है) "अथ तस्य भयं भवति" (उसे भय होता है)। परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है। यही बात भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है—"शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्"—अर्थात् मुक्ति के लिए कर्म (निष्काम या सकाम, दोनों) की आवश्यकता न होने पर भी मुक्तिलाभ के साधन जो शम-दम आदि हैं, उनकी प्राप्ति के लिए पहले निष्काम कर्म की आवश्यकता है। आचार्य शंकर का मत है कि चित्तशुद्धि जब तक न हो, तब तक कर्म का प्रयोजन है। इसीलिए वह मुक्तिमार्ग के पथिक के लिए निष्काम कर्म या ज्ञान के साथ ही कर्म करना आवश्यक नहीं समझते। वह कहते हैं—

बोधोऽन्य साधनेभ्योहि साक्षान्मोक्षैकसाधनम्।
पाकस्य वह्निवत् ज्ञानं विनामोक्षो न सिध्यति॥

(आत्मबोध)

आग के बिना जैसे भोजन नहीं पकता, वैसे ही ज्ञान के बिना मोक्ष भी असम्भव है। और साधनों की अपेक्षा ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

श्रुति ने बारम्बार यह कहा है कि आत्मज्ञान के ही द्वारा मुक्ति होती है। यथा—"न तु द्वितीयमस्ति"; दूसरा कोई नहीं है। "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा"; जहाँ और कुछ नहीं देखता, और कुछ नहीं सुनता, और कुछ नहीं जानता, वही ब्रह्म की स्थिति है। "य आत्माऽपेतपाप्मा विजरो विमृर्तिर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" ; जो आत्मा निष्कलुष, जरा मरण रहित, शोकरहित, भूख प्यास से परे, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसी को खोजना चाहिए, उसी को जानना चाहिए। इन सब श्रुतियों ने यही बतलाया है कि ब्रह्म के सत्य स्वरूप के संबंध में स्वजातीय या विजातीय स्वगत कोई भेद नहीं है। इसलिए केवल ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म किसी प्रकार के कर्म से प्राप्त होनेवाली वस्तु कभी नहीं हो सकते। उन्हीं को प्राप्त होनेवाला पुरुष जीवनमुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत में जड़भरत, ऋषभदेव आदि अनेक जीवन्मुक्त परमहंसों का चरित्र वर्णन किया गया है जीवन्मुक्त के बारे में श्रुति कहती है—

आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्॥

अर्थात् जीव अगर अपने को सब संसार के धर्मों से रहित, परमपुरुष परमात्मा जान ले, तो फिर किस इच्छा से, किस वस्तु के लिए शरीर के साथ उसके धर्म दुःख कष्ट आदि का अनुभव करेगा? जीवन्मुक्त पुरुष सब संसार-धर्मों से रहित होने के कारण शास्त्र के विधि निषेध को नहीं मानते। उनके लिए शास्त्र कहता है—"यथाकामो यथाचारो भवति", अर्थात् जैसा चाहे वैसा आचरण करे। वह चाहे कर्म करे और चाहे न करे। महाराज जनक अश्वपति आदि जीवन्मुक्त राजा इसके उदाहरण हैं। वे लोकमर्यादा और लोकशिक्षा के लिए निष्काम कर्म करते रहे हैं।

ज्ञानलाभ के बाद भी लोक कल्याण के लिए कर्म करने की आवश्यकता को बहुत लोग स्वीकार नहीं करते। किन्तु जीवन्मुक्त अवस्था तो स्वीकार ही करनी पड़ेगी। इसे स्वीकार न करने से ब्रह्मज्ञान शब्द ही व्यर्थ हो जायगा। कारण, जीवित अवस्था में अगर कोई भी मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अनुभव न कर पावे तो ब्रह्मज्ञान का प्रमाण क्या रह जायगा? सिद्ध पुरुष के अभाव में ब्रह्मज्ञान का उपदेश कौन करेगा? दूसरे श्रुति स्मृति व्यर्थ हो जायगी। शास्त्र के व्यर्थ होने पर सारे जगत् में स्वेच्छाचार फैल जायगा। यह कोई न चाहेगा।

ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके याज्ञवल्क्य ऋषि जनक से पूछते हैं—तुम्हें अभय प्राप्त हुआ? अर्थात् मृत्यु का भय दूर हुआ? इसके उत्तर में जनक कहते हैं—भगवन्, आपकी कृपा से आपसे विद्या प्राप्त करके मैं गुरुदक्षिणा में आपको सारा विदेह राज्य दान करता हूँ और दान कर्म के अनुष्ठान के लिए अपने को भी अर्पण करता हूँ। इससे जान पड़ता है, मनुष्य इस जन्म में ही कृतकृत्य हो सकता है। श्रुति स्वयं उपदेश करती है—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।" इसका तात्पर्य यह है कि सब कामनाओं का त्याग करके मनुष्य इसी लोक में ब्रह्मलाभ कर सकता है। फिर एक जगह श्रुति कहती है—"विमुक्तश्च विमुच्यते" अर्थात् ज्ञान लाभ करके मुक्त होनेवाला पुरुष देह त्याग करके विशेष रूप से मुक्त होता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥

अर्थात् जिस आनन्दमय अवस्था को प्राप्त करके पुरुष उससे अधिक और कोई लाभ नहीं मानता, जिस अवस्था में अवस्थित जीव भारी से भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर जीव की कैसी अवस्था होती है। इस विषय को भागवत में विशद रूप से समझाया गया है—स्थान स्थान पर बतलाया गया है। अब हम ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का संक्षिप्त परिचय पाठकों को दे चुके। तीसरा मार्ग भक्तिमार्ग है और भागवत में विशेष रूप से ज्ञान-कर्म के समन्वय के साथ इसी भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया गया है। भक्तिमार्ग पर भगवान् तिलक ने अपने गीता रहस्य की

भूमिका में पर्याप्त प्रकाश डाला है। हमारे पाठकों को उसे अवश्य पढ़ना चाहिए। यहाँ पर संक्षेप में कुछ भक्तिमार्ग का भी परिचय दिया जाता है।

गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र ने स्वयं कहा है—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥

हे अर्जुन, सब धर्मों अर्थात् साधनों को छोड़कर तू एक मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। इसके लिए सोच-विचार न कर।

फिर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (गीता)

भक्ति ही के द्वारा मनुष्य मुझे, मेरे तत्त्व को पूर्ण रूप से जानता है। मुझे जानकर भक्त मुझ में मिल जाता है।

गीता में ही भगवान् ने यह भी कहा है कि—

मा हि पार्थव्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परागतिम्॥ (गीता)

हे अर्जुन, मेरा आश्रय लेकर, भक्ति के सहारे, नीच योनि में उत्पन्न स्त्री, वैश्य और भी परमगति को प्राप्त होते हैं।

इन तीनों श्लोकों से यही सिद्ध होता है कि परमार्थसाधन या मोक्षप्राप्ति का सहज उपाय भक्ति ही है। पर वह भक्ति होनी चाहिए—

अहैतुक्यव्यवहिता सा भक्तिः पुरुषोत्तमे। (भागवत)

निःस्वार्थ, निष्काम, सुदृढ़ और निरन्तर।

गीता में भक्त चार प्रकार के कहे हैं—उनमें एक वह है, जो कुछ पाने की इच्छा से भक्ति करता है। वह निकृष्ट श्रेणी का है। वह दूसरा है, जो परमेश्वर का ज्ञान होने से पूर्ण काम होकर अपने लिए कुछ प्रार्थना नहीं करता। वह "ज्ञानी" और कर्तव्य बुद्धि से भगवद्भजन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ भक्त है। ऐसे भक्त नारदजी हैं।

नारद-रचित भक्तिसूत्र नाम का ग्रन्थ प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ में १० अध्याय और ८४ सूत्र हैं। नारदजी ने भक्ति का लक्षण बतलाया है—"सा कस्मै परम प्रेम रूपा। अमृतस्वरूपा च।" (२ ३) अर्थात् ईश्वर के प्रति परम प्रेम का नाम भक्ति है। भक्ति अमृतस्वरूप है। शाण्डिल्यसूत्र भी एक भक्तिशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें भी भक्ति का लक्षण यही लिखा है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" वह (भक्ति) ईश्वर से परम अनुराग है। श्रीमद्भागवत में भक्ति नव प्रकार की कही है—

श्रवण कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान् की पूजा, नामकीर्तन, स्मरण, चरणसेवा करना, पूजा, वन्दना, दासभाव, सखाभाव और अपने को अर्पण कर देना। भक्तिसूत्र में नारद ने भक्ति के ग्यारह भेद कहे हैं।

अस्तु, नारदजी ने भक्ति का लक्षण भगवान् के प्रति परम प्रेम ही को कहा है। इससे अधिक भक्ति का प्रत्यक्ष वर्णन या व्याख्या उन्होंने नहीं की, या यों कहना चाहिए कि नहीं कर सके। इसके बाद ही उन्होंने कहा है कि गूँगा जैसे गुड़ के स्वाद का अनुभव करता है, पर उसे बतला नहीं सकता, वैसे ही प्रेम का स्वरूप भी वर्णन नहीं किया जा सकता, केवल उसका अनुभव ही किया जा सकता है। यथा—अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम। मूकास्वादनवत्। (५१।५२)

वर्णन या व्याख्या दो तरह से होती है—एक प्रत्यक्ष और दूसरी परोक्ष। भक्ति का प्रत्यक्ष वर्णन संभव न देखकर नारदजी ने उसका परोक्ष वर्णन इस प्रकार किया है—जिस वस्तु को पाकर मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता है, तृप्त होता है; उसी का नाम भक्ति है। जिसे पाकर मनुष्य फिर कुछ नहीं चाहता, किसी वस्तु के लिए शोक नहीं करता, किसी से द्वेष नहीं करता, संसार की किसी वस्तु को पाकर आनंदित नहीं होता, कुछ पाने के लिए उत्साहित नहीं होता, उसी का नाम भक्ति है। जिसे जानकर मनुष्य मस्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, आत्माराम होता है, उसी का नाम भक्ति है *।

आगे चलकर नारदजी कहते हैं—भक्ति में कोई कामना नहीं रहती। कारण, भक्ति निरोध स्वरूप है÷।

हमारा जीवन समाज और शास्त्र के अनुशासन के अनुसार चलता है। किन्तु मनुष्य जब भक्ति को प्राप्त कर लेता है, तब उसका मन समाज और शास्त्र के विधि-निषेध के बाहर चला जाता है। वह लोक और शास्त्र के व्यापारों को छोड़ देता है। नारदजी कहते हैं—इस लोक और शास्त्र के अनुष्ठानों के त्याग का ही नाम निरोध है। भक्ति को पाकर मनुष्य और सब आश्रयों का त्याग कर देता है, एकमात्र ईश्वर में ही अपने मन और हृदय को लगा देता है। और विषयों से वह उदासीन रहता है। हाँ, शास्त्र और लोक के अनुष्ठानों में से जितना अंश भक्तिमार्ग में सहायता पहुँचानेवाला होता है, उसे वह अवश्य ग्रहण करता है +।

भक्ति के लक्षण का वर्णन करते समय नारदजी ने कई और आचार्यों के मत का भी उल्लेख किया है। यथा—व्यासजी का मत है कि पूजा आदि में अनुराग ही भक्ति का लक्षण है। गर्गाचार्य कहते हैं कि भगवान् की कथाओं में अनुराग ही भक्ति का लक्षण है। शांडिल्य ऋषि कहते हैं कि विरोधहीन आत्मरति ही भक्ति का लक्षण है। किन्तु नारदजी स्वयं कहते हैं कि जगत् के सभी विषयों को ईश्वरार्पण कर देना और विस्मरण में परमव्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति का लक्षण है। ऐसा ही होता है। इसका उदाहरण व्रज की गोपियाँ हैं०।

इसके बाद और भी कई सूत्रों में नारदजी ने भक्ति के लक्षण वर्णन किये हैं। यथा—यद्यपि प्रेम का स्वरूप वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, तथापि किसी-किसी व्यक्ति में उसका प्रकाश देखने को मिल जाता है। भक्ति जो है, वह काया के तीनों गुणों से अतीत है। सच्ची भक्ति में कोई कामना नहीं रहती। भक्ति विरामहीन सूक्ष्म अनुभव रूप है। हर घड़ी उसकी गति, उसका वेग बढ़ता ही रहता है। भक्ति को प्राप्त कर साधक केवल भक्ति को देखता है, भक्ति को ही सुनता है, भक्ति की ही बातें करता है और भक्ति के ही विषय में सोचता है=।

जिस भक्ति के विषय में नारदजी ने यह सब कहा है, वह है भक्ति की एकदम चरम अवस्था। मनुष्य पहले ही इस अवस्था को पहुँच नहीं सकता। इस हद तक पहुँचने के लिए एकाग्र साधना की आवश्यकता

* यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यत् ज्ञानात् मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। ( ४। ६ )

÷ सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ( ७ )।

+निरोधस्तु लोकवेदव्यापार न्यासः। तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता। अन्याश्रयाणां त्यागेऽनन्यता। लोकवेदेषु तदनुकूलाचरण तद्विरोधिषूदासीनता ( ८। ११ )

० तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्। पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। कथादिष्विति गर्गः। आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। नारदस्तु तदर्पिताऽखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। अस्त्येवमेवम्। यथा व्रजगोपिकानाम् ( १५। २१ )

= प्रकाश्यते क्वापि पात्रे। गुणरहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। ( ५३ )

होती है। पहले मनुष्य को अत्यन्त साधारण अवस्था से ही आरंभ करना होता है। हम चाहे जहाँ से यात्रा शुरू करें, चरम अवस्था या आखिरी मंजिल पर पहुँचकर ही हमारी यात्रा समाप्त होती है। वही अवस्था, वही मंजिल हमारा लक्ष्य होती है। अगर लक्ष्य मन में स्पष्टरूप से अंकित न हो, तो सिद्धि के मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। इसी कारण उस लक्ष्य को स्पष्टरूप से अंकित करने के लिए नारदजी ने अपने ग्रन्थ में भक्ति की चरम अवस्था की ही विशद व्याख्या की है। लेकिन उच्च स्तर की भक्ति का वर्णन करते समय वह उसके निम्न स्तर को नहीं भूले। इसी कारण अनिर्वचनीय गुणातीत मुख्य भक्ति से कुछ उतरकर उन्होंने कहा—गुण भेद से या आर्त आदि भक्तों के भेद से गौण भक्ति के तीन भेद हैं; सात्विक भक्ति, राजस भक्ति, तामस भक्ति। भक्तों के भी तीन भेद इसी के अनुसार हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी। तामस भक्ति से राजस और राजस से सात्विक भक्ति श्रेष्ठ है* अर्थार्थी अर्थात् सकाम भक्ति की अपेक्षा जिज्ञासु ( जानने की इच्छा रखनेवाला ) और जिज्ञासु से आर्त भक्त श्रेष्ठ है÷। अर्थार्थी भक्त संसार के—गृहस्थी के सुख और सुविधा के लिए भगवान् को भजता है—पुकारता है। जिज्ञासु तत्त्वज्ञान की इच्छा से भगवान् का भजन करता है। आर्त भक्त दुःख और वेदना से पीड़ित होकर सच्चे हृदय से भगवान् को पुकारता है—जैसे ग्राह के पैर पकड़ने पर गजराज ने भगवान् को पुकारा था। भक्ति के सात्विक, राजस, तामस भेदों की व्याख्या परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने बड़े अच्छे ढंग से की है। वह कहते हैं—"भक्ति के भी तीन भेद हैं। जिस भक्ति में सात्विकी भक्ति है, वह छिपाकर भगवान् का ध्यान करता है। वह शायद मशहरी के भीतर पड़ा-पड़ा ही ध्यान कर रहा है। लोग समझते हैं, वह सो रहा है; रात को शायद ठीक तरह से नींद आई, इसी से उठने में देर हो रही है। ऐसे सात्विक भक्त खाने-पीने, पहनने में या घर के सजाने में कोई आडम्बर नहीं रखते। राजसी भक्तिवाला भक्त छापा-तिलक भी लगाता है, तुलसी या रुद्राक्ष की माला भी पहनता है और उस माला में एक आध सोने की गुरिया भी रहती है। पूजा करते समय पीतांबर पहनना भी उसके लिए जरूरी होता है। तामसी भक्तिवाले में विश्वास का बड़ा जोर होता है। वह भक्त ईश्वर से जबरदस्ती भी करता है, जैसे डाकू जबरदस्ती धन पर दावा करता है।" ( श्रीरामकृष्ण-कथामृत, प्रथम भाग, स० १३, पृ० ६६-६७ ) यह व्याख्या शास्त्र सम्मत न होने पर भी बहुत सुन्दर है।

इस गौण त्रिविध भक्ति के संबंध में नारदजी ने विशेष कुछ नहीं कहा। हम भूमिका के प्रथम अंश में लिख चुके हैं कि इष्ट प्राप्त के चार साधन हैं—कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति। नारदजी कहते हैं कि कर्म, ज्ञान और योग से भी भक्ति ही श्रेष्ठ है। अन्य तीन मार्गों में चलने से, साधना करने से साधक के मन में अभिमान उत्पन्न होता है। किंतु ईश्वर अभिमान से घृणा करते हैं; उन्हें दीनता प्रिय है। भक्ति साधक के मन में दीनता लाती है, इसीसे भक्ति श्रेष्ठ है। किसी-किसी का मत है कि ज्ञानसाधन से भक्ति प्राप्त होती है। किसी-किसी का कहना है कि ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के आश्रित हैं। किन्तु सनत्कुमार, नारद आदि ब्रह्माजी के पुत्रों का अभिमत यह है कि कर्म, ज्ञान या योगमार्ग की सहायता को छोड़कर भक्ति अकेली ही साधक को इष्ट फल दे सकती है। जैसे राजभवन देखने से ही राजा के दर्शन नहीं होते, राजा सन्तुष्ट नहीं होता, या खाने की सामग्री देखने से ही भूख नहीं मिटती, वैसे ही भक्ति के बिना अन्य मार्गों की साधना भी है। अतएव जो लोग मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें एकमात्र भक्ति का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

नारदजी के समय में भक्ति के संबंध में कई मत होंगे। उनमें से दो का उल्लेख नारदजी ने किया है—१ ज्ञानसाधना का फल भक्ति है। २ ज्ञान और भक्ति दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक से काम नहीं चल

---

* गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा। उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति। (५६-५७ )

÷ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। फलस्वरूपत्वात्। ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वादैन्यप्रियत्वाच्च। तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। अन्योन्याश्रयत्व मित्यन्ये। स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। राजगृहभोजनादिषु तथैव च दृष्टत्वात्। न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा। तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ( १५-२३ )

सकता। किन्तु नारदजी ने दोनों मतों का प्रतिवाद करके लिखा है कि भक्तिफल पाने के लिए किसी दूसरे साधन की सहायता आवश्यक नहीं।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अन्य साधन या मार्ग का आश्रय किए बिना केवल भक्ति के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है। बिल्कुल विचार न करके बिना ईश्वर के ज्ञान के क्या भक्ति के मार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है? इष्ट का ध्यान क्या मनके संयम के बिना किया जा सकता है? भक्ति की साधना में भगवान् के गुणों और नामों को कहने-सुनने का जो विधान है, वह क्या कर्म नहीं है? विचार करने से जान पड़ता है कि भक्ति की साधना में ज्ञान, कर्म और योग का कुछ-कुछ समावेश या अनुष्ठान अनिवार्य है। पर उन अनुष्ठानों को नारदजी ने शायद भक्तिमार्ग के ही अन्तर्गत मान लिया है।

कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति, कोई भी मार्ग सहज नहीं है। इन में भी ज्ञानमार्ग और योगमार्ग तो बहुत ही कठिन और कष्टसाध्य हैं। मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिस प्रवृत्ति की प्रेरणा के अनुसार मनुष्य हर घड़ी चलता है, उस प्रवृत्ति के विरुद्ध ज्ञानमार्ग और योगमार्ग के पथिक को आरम्भ से ही चलना पड़ता है। किसी-किसी व्यक्ति के लिए यह बात अपेक्षाकृत सहज हो सकती है, किन्तु अधिकांश मनुष्यों के लिए तो यह लोहे के चने चबाना ही है। ज्ञान और योग के मार्ग में जितने मनुष्य चल सकते हैं, उनसे कहीं अधिक मनुष्य कर्म के मार्ग में चल सकते हैं; और भक्ति के मार्ग में तो उनसे भी अधिक मनुष्य आसानी से चल सकते हैं। भक्ति का मार्ग प्रेम का मार्ग है। वह सूखा मरुस्थल का मार्ग नहीं है। संसार में देखा जाता है कि प्रेम ही अधिकांश मनुष्यों को परिचालित करता है; प्रेरणा, स्फूर्ति, शक्ति और और उत्साह देता है। नारदजी कहते हैं— अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्तिमार्ग से इष्ट का लाभ अति सहज है। इसके लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, भक्ति स्वयं इसका प्रमाण है। भक्ति की साधना में साधक शांति और परमानन्द पाता है। इसलिए भी भक्ति का मार्ग सहज है। तीन सत्यों (ज्ञान, योग और भक्ति) में भक्ति-मार्ग ही श्रेष्ठ है।*

इसका कारण यही है कि ज्ञान, योग और कर्म साधन हैं, साध्य या फल नहीं; किन्तु भक्ति आरम्भिक अवस्था में साधन होने पर भी चरम अवस्था में पहुँचने पर साध्य या फल बन जाती है। सच्चा भगवान् का भक्त मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति चार प्रकार की होती है—सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य,। भगवान् के समान गुणों की प्राप्ति सार्ष्टि है; भगवान् के समीप—वैकुण्ठ लोक में निवास सामीप्य है; भगवान् का सा रूप प्राप्त करना सारूप्य है और भगवान में लीन हो जाना सायुज्य है। भगवान का एकान्त भक्त केवल भक्ति ही चाहता है; किसी प्रकार की मुक्ति नहीं। उसे ज्ञानी का सोहऽम् (वह ब्रत मैं हूँ) भाव पसन्द नहीं; वह तवाहम् (हे भगवन् मैं तेरा हूँ) भाव को ही पसन्द करता है। उसे निर्गुण अद्वैत्य भावना से सगुण द्वैत भावना में अधिक आनन्द और शांति मिलती है। श्रीमद्भागवत पढ़ने से यह बात हमारे पाठकों को स्पष्ट मालूम हो जायगी।

रूखे और कठिन ज्ञानमार्ग या योगमार्ग की अपेक्षा सरस भक्तिमार्ग में चलना मनुष्य के लिए सहज है, यह बात पहले ही कह आये हैं। भक्तिमार्ग की विशेषता यह है कि साधक को आरम्भ से ही अपनी प्रवृत्ति के साथ जूझना नहीं पड़ता, और साधना के साथ-साथ सहज आनन्द या रस भी मिलता है। किंतु देश-काल और अधिकार के भेद की बात भी हम पहले कह आये हैं। यह समझना भूल होगी कि संसार के सभी साधकों के लिए एकमात्र भक्ति ही उपाय है। बहुत से लोग विचारप्रवण, ध्यानप्रवण या कर्मप्रवण हैं। उन्हें ज्ञान, योग या कर्म का पैदायशी अधिकार है—योग्यता है। उन लोगों के लिए भक्तिमार्ग की अपेक्षा ज्ञान, योग या कर्म का मार्ग ही सहज है। किंतु भागवत में भक्ति के बिना ज्ञान, योग या कर्म को अशोभन माना है। इसका कारण यही है कि भागवत प्रधानतः भक्तिमार्ग का ग्रन्थ है; इसमें भक्तों के भागवत धर्म का

* अन्यस्मा त्सो लभ्य भक्तौ। प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्। स्वयं प्रमाणत्वात्। शान्तिरूपात्परमानन्द रूपाच्च (५८। ३० ) त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी ( ५१ )।

ही प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए भागवत में भक्ति पर इतना जोर दिया गया है। ज्ञान, कर्म या योग को भक्ति का साधन मानकर ही उनका समर्थन किया गया है। भागवत में कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

भगवान् की भक्ति से रहित निर्गुण का ज्ञान भी पूर्ण रूप से शोभित नहीं होता। फिर यज्ञ आदि कर्म, जो ईश्वर को अर्पण न करने से अभद्र और सदैव अन्त में दुःखदायक ही होते हैं, वे कैसे शोभित हो सकते हैं, चाहे वे निष्काम भाव से ही क्यों न किये गये हों। भागवत भर में इसी भावना का प्रतिपादन किया गया है।

अब हम नारदजी के मतानुसार भक्त के लक्षण, भक्ति के साधन, भक्त के कर्तव्य आदि पर कुछ प्रकाश डालेंगे। भक्तों के सम्बन्ध में नारदजी का कहना है कि ऐकान्तिक या अनन्य भक्त ही श्रेष्ठ हैं। ये परस्पर भगवान् की कथाएँ कहते-सुनते हैं, उस समय आनन्दातिरेक से उनका गला रुँध जाता है, दोनों आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं, शरीर में रोमांच हो आता है। वे आप ही नहीं पवित्र होते, अपने वंश को, यहाँ तक कि सारे भूमण्डल को पवित्र करते हैं। वे तीर्थों में जाकर उन्हें यथार्थ तीर्थ (पावन) बनाते हैं, वे कर्म को सुकर्म और शास्त्र को सच्छास्त्र बनाते हैं, अर्थात् उनके संसर्ग से कर्म और शास्त्र भी धन्य होते हैं। वे सदैव भगवान् में तन्मय रहते हैं। उनके अस्तित्व से पितरों को प्रसन्नता होती है, वे खुशियाँ मनाते हैं, देवगण नृत्य करते हैं और यह पृथ्वीमण्डल सनाथ होता है। भगवान् के भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन या कर्म का कोई भेद नहीं होता; क्योंकि वे भगवान् के हैं।*

भक्ति के साधन के सम्बन्ध में नारदजी ने कहा है कि भक्तिलाभ का सबसे बड़ा उपाय साधु महात्माओं की कृपा या भगवान की थोड़ी सी भी करुणा का होना है। साधु महात्माओं का संग दुर्लभ, दुर्गम और अमोघ है। केवल भगवान् की कृपा से ही सत्संग मिल सकता है। कारण, भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं है÷।

भक्त के कर्तव्य नारदजी ने इस प्रकार कहे हैं—सर्वदा निरन्तर भगवान् का भजन करे। घड़ी भर भी व्यर्थ न गँवावे। दूसरों से भगवान् के गुण सुनना और दूसरों को भगवान् के गुण सुनाना भक्त का कर्तव्य है। भगवान् के नामों और गुणों का कीर्तन करते रहने से वह शीघ्र ही भक्त के आगे प्रकट होते हैं, और भक्त को अपने आविर्भाव का अनुभव करा देते हैं। भगवान् के विभिन्न रूपों या अवतारों में कोई भेद-भाव न रखना चाहिए। दासभाव या कान्ताभाव से भगवान् का भजन और प्रेम करना चाहिए। सर्वथा भक्ति ही की साधना करनी चाहिए। भक्तिशास्त्र का मनन करे और भक्तिभाव को बढ़ानेवाले कर्म—पूजन, वंदना आदि—बराबर करता रहे। भक्त को तर्क-वितर्क न करना चाहिए। कारण, तर्क करने से व्यर्थ ही बात का बतंगड़ हो जाता है। तर्क को संयत रखना भी असंभव होता है। अहिंसा, सत्य, सोच, दया, आस्तिक्य आदि नियमों का पालन करना चाहिए। अभिमान और दंभ आदि को छोड़ देना चाहिए। धन-संपत्ति की चर्चा, शत्रु, स्त्री और नास्तिक का चरित्र या प्रसंग न सुनना चाहिए। अगर संसारी लोग अपने समाज से अलग कर दें तो कोई चिन्ता न करे। कारण, भक्त अपने को और सब लौकिक तथा शास्त्रीय अनुष्ठानों को भक्त भगवान् को अर्पण कर देता है। लौकिक विषयों को और सब के संग को भक्त छोड़ दे। कुसंग को तो सर्वथा छोड़ ही देना चाहिए। कारण, कुसंग ही काम, क्रोध, मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धिनाश, यहाँ

* भक्ता एकान्तिनो मुख्याः। कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीञ्च। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। तन्मयाः। मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति। नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः यतस्तदीयाः (६७। ७१)

÷ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा। महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यते तत्कृपयैव। तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। (३८-४१)

तक कि सर्वनाश का मूल कारण है। पूर्वोक्त काम आदि दोष पहले जलकण के समान होने पर भी कुसंग के प्रभाव से बढ़कर अन्त को सागर के समान अपार हो जाते हैं ❀।

भक्त अपने सभी काम भगवान् को अर्पण करदे; इसलिए वह अगर काम, क्रोध, अभिमान आदि करे भी तो भगवान् के ही ऊपर करेगा ÷।

साधना के समय भक्त को भगवान् के साथ कोई संबंध अवश्य स्थापित करना होता है; कारण, ऐसा करने से भक्ति गाढ़ी होती है और साधना भी बहुत कुछ सहज और मधुर हो जाती है। अधिकारी के भेद के अनुसार आचार्यों ने साधना के पाँच भाव निश्चित किए हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें से कोई एक भाव ग्रहण करके भक्त साधक साधना करे। इनमें से किसी एक भाव को ग्रहण करके भगवान् की भक्ति करने का नाम नारदजी ने 'आसक्ति' रक्खा है। वह कहते हैं—यद्यपि भगवान् के प्रति आसक्ति एक ही पदार्थ है, तथापि उसके ग्यारह भेद किये जा सकते हैं। यथा—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति +।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नारदजी ने भक्तिलाभ के ये उपाय बतलाये हैं—१ महात्माओं की या भगवान की कृपा; २ भगवान् के विभिन्न रूपों में कोई भेदभाव न रखकर निश्चित मन से अनन्य भाव से भगवान् का भजन करना; ३ तर्क-वितर्क न करके भक्तिमार्ग का अनुशीलन और भक्ति के सहायक कार्य करना, अहिंसा और शौच आदि का पालन करना; ४ कुसंग, अभिमान, दंभ, काम, क्रोध आदि साधना के विघ्नों से बचना; ५ सब कर्मों को—अपने को भी कृष्णार्पण कर देना; ६ किसी एक भाव का आश्रय लेकर भगवान् में आसक्त होना।

भगवान् के प्रति अनुराग के उदाहरण में नारदजी ने व्रज की गोपियों का उल्लेख किया है। वह कहते हैं—व्रज की गोपियों के अनुराग में भगवान के माहात्म्य का बोध नहीं था, यह अपवाद मिथ्या है। अगर महात्म्य का ज्ञान न रहे तो वह प्रेम किसी उपपति के प्रेम के समान हो जाता है। प्रेमपात्र के सुख में ही सुखी होने का भाव उपपति के प्रेम में नहीं हो सकता; क्योंकि वह काम-वासनामात्र है =। गोपियाँ कृष्ण के परमात्म-स्वरूप को जानती थीं, इसका परिचय भागवत के कई स्थलों में मिलता है।

पहले ही कह चुके हैं कि साधना के मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न माया या अज्ञान है। नारदजी ने अपने भक्तिसूत्र में माया का भी उल्लेख किया है—माया के पार कौन जा सकता है? वही, जो महात्माओं का संग करता है—सेवा करता है और ममता को—देहाभिमान को छोड़ देता है; जो निर्जन स्थान में रहता है,

---

❀ अव्यावृतभजनात् ( ३६ )। लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ( ३७ )। स कर्मकुर्वन्नुभयं शीघ्रमेवाविर्भावयत्यनुभावयति भक्तान् ( ८७ )। विरुद्धभावपूर्वक नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मक वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यमिति ( ६६ )। भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक कर्माण्यपि करणीयानि ( ७६ )। वादो नावलम्ब्यः ( ७४ )। बाहुल्यावकाशादनियतत्वात् ( ७५ )। अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादि चाचरितव्यानि पालनीयानि। ( ७८ ), अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्। ( ६४ )। स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ( ६३ )। लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात् ( ६१ )। तत्तुविषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च ( ३४ )। दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ( ४३ )। कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ( ३४ ) तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रायन्ति ( ४५ )।

÷ तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ( ६५ )।

+ गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्ति सख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्तिआत्मनिवेदनासक्तितन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ( ८२ )।

= न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं जाराणामिव। नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ( २२-२४ )।

संसारी साधारण लोगों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखता ; जो तीनों गुणों से परे हो गया है, किसी वस्तु के संग्रह और रक्षणावेक्षण की इच्छा नहीं करता ; जो कर्मफल की कामना न रखकर सब कर्मों को कृष्णार्पण कर देता है ; जिसके मन में सुख-दुःख, मान-अपमान या विधि-निषेध की भावना नहीं रह गई है; जिसने भगवान् की नैष्ठिक भक्ति या प्रेम को प्राप्त कर लिया है। बस वही, केवल वही माया के पार हो सकता है। इतना ही नहीं, वह और को भी माया के पार ले जा सकता है*।

अक्षरशः यही बात भागवत में भी कही गई है। नारदजी ने भक्त के लिए कर्मों के त्याग और शास्त्र का विधि-निषेध न मानने की बात जो कही है, उसे तनिक स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है। हमारी जीवन-यात्रा लौकिक नियमों और शास्त्रीय विधान के अनुसार चलती है। अगर हरएक मनुष्य भक्ति का ढोंग रच-कर इनकी अवहेलना करने लगे तो समाज में घोर विशृंखला और विप्लव हो जायगा। इनके त्याग की बात प्रौढ़ावस्था को प्राप्त, सिद्धप्राय साधक के लिए ही कही गई है। ऐसे साधक इने-गिने ही होते हैं। नारदजी ने स्पष्ट कह दिया है कि जब तक भक्ति दृढ़ न हो, तब तक शास्त्र के विधि-निषेध को मानकर चलना चाहिए। नहीं तो पतन की आशंका है। इसी तरह जबतक अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण नहीं कर दिया जाता, तब तक लौकिक कर्म भी करते रहना चाहिए। हाँ, कर्मफल की आकांक्षा उस समय भी न रखनी चाहिए। भगवान् में दृढ़ भक्ति हो जाने पर फिर लौकिक कर्म नहीं आवश्यक होते ; किन्तु भोजन आदि शारीरिक स्वाभाविक कर्म तो जब तक शरीर नहीं छूटता, तब तक करने ही पड़ेंगे÷।

श्रीमद्भागवत महापुराण में इसी भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। कर्म, ज्ञान और योग मार्ग का भी विशद वर्णन कपिल-देवहूतिसंवाद तथा उद्धव-कृष्णसंवाद में किया गया है। अब हमारे पाठक समझ गये होंगे कि भागवत क्यों सर्वश्रेष्ठ महापुराण है। भागवत में सर्वत्र निर्गुण ब्रह्म का वर्णन है, विशेषकर वेद-स्तुति में। वेद-स्तुति तो समग्र वेद ( उपनिषद् ) का सारांश ही है। परन्तु भागवतकार ने भक्तों और साधकों के लिए सगुण ब्रह्म का भी उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक ही महत्त्व बतलाया है। भागवतकार के मत में निर्गुण ब्रह्म ही सृष्टि की रचना और पालन के लिए, शिष्टों की रक्षा, दुष्टों के दलन और भक्तों की उपासना के लिए सगुणरूप धारण करते हैं—अवतार लेते हैं। उन अवतारों में भी कृष्णावतार सर्वश्रेष्ठ है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

कुछ लोगों के—खासकर प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानंदजी के मत में भागवत की रचना वेदव्यास ने नहीं, प्रसिद्ध विद्वान् बोपदेव ने की है। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वथा भ्रममूलक है। बोपदेव तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। इनके पिता वैद्यवर केशव और गुरु धनेश मिश्र थे। यह देवगिरि के राजा महादेव के सभा-पंडित थे। महादेव का राज्यकाल सन् १२६० ई० से लेकर १२७१ ई० तक है। यही समय बोपदेव का है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—हरिलीला, मुक्ताफल, मुग्धबोध व्याकरण, परमहंसप्रिया, शतश्लोक चंद्रिका, कविकल्पद्रुम, काव्यकामधेनु और रामव्याकरण। परन्तु भागवत का अस्तित्व इस समय के बहुत पहले से है। शंकरांचार्यजी का समय बोपदेव से बहुत पहले का है। उन्होंने विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में तथा चतुर्दश-मत विवेक में भागवत का उल्लेख किया है। हनुमन् और चित्सुख आदि शंकराचार्य से भी प्राचीन थे। उन्होंने भागवत की टीका लिखी है। सिद्धान्तदर्पण में यह श्लोक है—

---

* कस्तरति कस्तरति माया यः सगं त्यजति यो महानुभाव सेवते यो निर्ममो भवति। यो विविक्तस्थानं सेवते यो [illegible] निस्त्रैगुण्यो भवति योगक्षेम त्यजति। यः कर्मफल त्यजति कर्माणि सन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति। वेदानपि सन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुराग लभते। स तरति स तरति स लोकास्तारयति ( ४६-५० )।

÷ भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्द्ध्वशास्त्ररक्षणम्। अन्यथा पातित्याशंकया। ( १२-१३ ) न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागः साधनञ्च कार्यमेव ( ६२ )। लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीर-धारणावधि ( १४ )।

बोपदेवकृतत्वे वै बोपदेवपुरा भवैः ।
कथ टीका कृता तस्याः हनुमच्चित्सुखादिभिः ॥

अर्थात् अगर भागवत की रचना बोपदेव ने की है तो बोपदेव के पहले के हनुमत्, चित्सुख आदि पंडितों ने भागवत् की टीका कैसे की ?

श्रीरामानुजाचार्य का समय सन् १०४६ निश्चित हुआ है। रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थ में भागवत का प्रमाण उद्धृत किया है। काश्मीर के महापंडित क्षेमेन्द्र ने भी भागवत की चर्चा की है। क्षेमेन्द्र भी बोपदेव से प्राचीन हैं। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भागवत बोपदेवकृत नहीं है। इसके रचयिता वेदव्यास ही हैं। वेद का विभाग करनेवाले के सिवा और कोई भी वेदों के सारतत्त्व भागवत महापुराण की रचना कर ही नहीं सकता था।

अब हम इस अनुवाद की आवश्यकता और विशेषता के विषय में कुछ थोड़ा-सा लिखकर अपने निवेदन को समाप्त करेंगे। एक समय, जब कि प्रेसों का अस्तित्व नहीं था, शास्त्रों और पुराणों का पठन-पाठन मौखिक ही होता था, उस समय गुरु शिष्य को ज़बानी ही पढ़ाते थे और शिष्य भी उसे कंठाग्र ही रखते थे। सर्वसाधारण जनता, जो संस्कृत नहीं पढ़ी थी, वह विद्वान् पंडितों के मुख से शास्त्रों की व्याख्या सुनती थी। कथा बाँचने की जड़ यही है। पहले कथा बाँचने का लक्ष्य पेट पालना नहीं था, ज्ञान दान करना था। व्यासगद्दी पर वही बैठने का साहस करता था, जो विद्वान्, बहुज्ञ और बहुश्रुत होता था। धीरे-धीरे यह प्रथा इतनी बिगड़ी कि साधारण पढ़े-लिखे लोग भी पेट पालने के लिए कथा बाँचने लगे। भागवत जसे कठिन ग्रन्थ की ठीक व्याख्या करनेवाले अब तो इने-गिने ही निकलेंगे। प्रेसों की कृपा से अनेक 'सुख-सागर' छप गये हैं, जो मूल भागवत की छाया भी नहीं कहे जा सकते। इसलिए भागवत के ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी, जिसमें अक्षरार्थ के साथ ही कठिन दार्शनिक स्थलों को सरल भाषा में समझाया गया हो। इसी उद्देश्य से यह भागवत का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अपनी समझ के अनुसार इसमें कोई त्रुटि नहीं रहने दी गई है। फिर भी मनुष्य का कोई काम भूल-चूक से ख़ाली नहीं होता। इस अनुवाद और प्रकाशन में भी अनेक त्रुटियों का होना सर्वथा संभव है। सुयोग्य पाठकों से हमारा यही नम्र निवेदन है कि उनको इसमें जो त्रुटियाँ देख पड़ें, उन्हें वे प्रकाशक को अवश्य सूचित करें। दूसरे संस्करण में उन्हें ठीक करने की अवश्य चेष्टा की जायगी।

अन्त में हम अपनी इस कृति को उन्हीं भगवान् कृष्णचन्द्र के श्रीचरणों में अर्पण करते हैं, जिनकी कृपा से यह महान् उद्योग सुसम्पन्न हुआ है।

ओंश्रीकृष्णार्पणमस्तु

रानीकटरा, लखनऊ
वैशाख शुक्ल १५, स० १९९७

रूपनारायण पांडेय

# प्रथम खण्ड

## विषय-सूची

### श्रीमद्भागवत-माहात्म्य


**पहला अध्याय**—नारद की भक्ति से भेंट १
**दूसरा अध्याय**—आकाशवाणी और नारद से सनकादिक की भेंट ६
**तीसरा अध्याय**—भक्ति का कष्ट दूर होना ९
**चौथा अध्याय**—धुन्धकारी और गोकर्ण की कथा का वर्णन १३
**पाँचवाँ अध्याय**—धुन्धकारी का मरकर प्रेत होना और सप्ताह सुनने के प्रभाव से प्रेतयोनि से छुटकारा १८
**छठा अध्याय**—सप्ताह सुनने की विधि २५


---

### पहला स्कन्ध


**पहला अध्याय**—मंगलाचरण १
**दूसरा अध्याय**—ऋषियों के प्रश्नों का उत्तर ६
**तीसरा अध्याय**—अवतारों का वर्णन ८
**चौथा अध्याय**—व्यासजी के समीप नारद का आना
**पाँचवाँ अध्याय**—श्रीनारद का व्यासजी को उपदेश देना और अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहना १३
**छठा अध्याय**—नारद के पूर्व जन्म का शेष वृत्तान्त १७
**सातवाँ अध्याय**—अश्वत्थामा के हाथ से पाँचों पाण्डवपुत्रों का वध और अर्जुन के हाथ से अश्वत्थामा का निग्रह १०
१९
**आठवाँ अध्याय**—अश्वत्थामा का फिर ब्रह्मास्त्र छोड़ना, परीक्षित् की रक्षा, श्रीकृष्ण-स्तुति और युधिष्ठिर का शोक करना २३
**नवाँ अध्याय**—भीष्मपितामह की मुक्ति २७
**दसवाँ अध्याय**—श्रीकृष्णचन्द्र की द्वारकायात्रा ३०
**ग्यारहवाँ अध्याय**—श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रवेश, उनकी स्तुति और गृहकृत्यों का वर्णन ३३
**बारहवाँ अध्याय**—परीक्षित् के जन्म का वर्णन ३५
**तेरहवाँ अध्याय**—धृतराष्ट्र और गान्धारी का स्वर्गवास तथा शोकाकुल युधिष्ठिर को श्रीनारद का समझाना ३८
**चौदहवाँ अध्याय**—अर्जुन का द्वारका से लौट आना ४३
**पन्द्रहवाँ अध्याय**—पाण्डवों का स्वर्गारोहण ४५

सोलहवाँ अध्याय—धर्म और पृथ्वी से परीक्षित् की बातचीत ४६
सत्रहवाँ अध्याय—परीक्षित् के हाथ से कलियुग का दमन ५२
अठारहवाँ अध्याय—परीक्षित् को मुनि के पुत्र का शाप ५६
उन्नीसवाँ अध्याय—गंगातट पर प्रायोपवेशन करके बैठे हुए राजा परीक्षित् को शुकदेव के दर्शन ५६

## दूसरा स्कंध

पहला अध्याय—भगवान् के विराट् रूप में मन लगाना ६५
दूसरा अध्याय—स्थूल रूप में मन के स्थिर हो जाने पर ईश्वर के सूक्ष्म रूप का ध्यान करने की विधि ६८
तीसरा अध्याय—सब देवताओं की उपासना के भिन्न-भिन्न फल कहकर अन्त में भगवान् की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाना ७३
चौथा अध्याय—राजा परीक्षित् का सृष्टि के विषय में प्रश्न करना ७५
पाँचवाँ अध्याय—सृष्टि का वर्णन ७७
छठा अध्याय—विराट् की विभूतियों का वर्णन ८१
सातवाँ अध्याय—भगवान् के अवतारों और उनके चरित्रों का संक्षिप्त वर्णन ८४
आठवाँ अध्याय—भागवत के विषय में परीक्षित् के प्रश्न ६०
नवाँ अध्याय—सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को भगवान् के दर्शन प्राप्त होना ६२
दसवाँ अध्याय—भागवत पुराण के दश लक्षण ६६

## तीसरा स्कंध

पहला अध्याय—उद्धव और विदुर का संवाद १०१
दूसरा अध्याय—श्रीकृष्णचन्द्र की बाललीलाओं का वर्णन १०६
तीसरा अध्याय—कंस-वध और कारागार में देवकी वसुदेव को छुड़ाने की कथा। १०६
चौथा अध्याय—मैत्रेयजी के पास विदुरजी का जाना ११२
पाँचवाँ अध्याय—मैत्रेय ऋषि का भगवान् की लीलाएँ वर्णन करना ११४
छठा अध्याय—विराट् रूप की सृष्टि ११६
सातवाँ अध्याय—मैत्रेयजी से विदुर के प्रश्न १२१
आठवाँ अध्याय—जलशायी नारायण की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति और उन्हें नारायण का दर्शन १२४
नवाँ अध्याय—ब्रह्म-स्तुति १२८
दसवाँ अध्याय—काल और प्रलय का निरूपण और दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन १३३
ग्यारहवाँ अध्याय—सूक्ष्म और स्थूल काल का निरूपण १३६
बारहवाँ अध्याय—ब्रह्माजी के मन और शरीर से उत्पन्न सृष्टि का वर्णन १४०
तेरहवाँ अध्याय—वाराह अवतार का होना १४६
चौदहवाँ अध्याय—विस्तार के साथ हिरण्याक्ष-वध की कथा का आरम्भ और उसके अन्तर्गत पहले दिति के गर्भ रहने का वृत्तान्त १५०

**पन्द्रहवा अध्याय**—जय-विजय पार्षदो को शाप १५४
**सोलहवाँ अध्याय**—जय और विजय का वैकुण्ठ से गिरना १६०
**सत्रहवाँ अध्याय**—हिरण्याक्ष की दिग्विजययात्रा १६४
**अठारहवाँ अध्याय**—हिरण्याक्ष के साथ बाराह भगवान् का घोर संग्राम १६७
**उन्नीसवाँ अध्याय**—हिरण्याक्ष का वध १७०
**बीसवाँ अध्याय**—फिर सृष्टिप्रकरण का वर्णन १७४
**इक्कीसवाँ अध्याय**—कर्दम प्रजापति के साथ मनु की कन्या देवहूति के विवाह का वर्णन १७८
**बाईसवाँ अध्याय**—कर्दम के साथ देवहूति का ब्याह १८३
**तेईसवाँ अध्याय**—कर्दम और देवहूति का विहार १८६
**चौबीसवाँ अध्याय**—श्रीकपिलदेवजी का अवतार १९०
**पचीसवाँ अध्याय**—श्रेष्ठ भक्ति के लक्षण १९३
**छब्बीसवाँ अध्याय**—साख्ययोग का वर्णन १९६
**सत्ताईसवाँ अध्याय**—प्रकृति और पुरुष की विवेचना से मोक्ष पाने की रीति का वर्णन २०२
**अट्ठाईसवाँ अध्याय**—अष्टाग योग का वर्णन २०५
**उन्तीसवाँ अध्याय**—भक्तिमार्ग के भेदो का वर्णन २११
**तीसवाँ अध्याय**—विषयी लोगो की तामसी अधोगति का वर्णन २१४
**इकतीसवाँ अध्याय**—पुण्य और पाप दोनो के मेल से मनुष्य-योनि की प्राप्ति अर्थात् राजसी गति का वर्णन २१७
**बत्तीसवाँ अध्याय**—सात्विक कर्म करने से सात्विकी गति प्राप्त करने, किन्तु तत्वज्ञान न होने के कारण फिर वहाँ से इस लोक मे आने का वर्णन २२१
**तेतीसवाँ अध्याय**—देवहूति को ज्ञानलाभ और मोक्ष की प्राप्ति २२४

---

## चौथा स्कन्ध

**पहला अध्याय**—मनु की दो अन्य कन्याओं का वश २२९
**दूसरा अध्याय**—शिवजी और दक्ष के विरोध का वर्णन २३४
**तीसरा अध्याय**—सतीजी और महादेव का सवाद २३७
**चौथा अध्याय**—सतीदेवी का शरीर-त्याग २४०
**पाँचवाँ अध्याय**—वीरभद्र के हाथ से दक्ष-यज्ञ-विध्वंस २४४
**छठा अध्याय**—ब्रह्माजी का देवतो के साथ जाकर शिवजी को मनाना २४७
**सातवाँ अध्याय**—यज्ञ मे विष्णु भगवान् का आविर्भाव २५२
**आठवाँ अध्याय**—ध्रुवचरित्र का आरम्भ २५८
**नवाँ अध्याय**—ध्रुवजी को वरदान मिलना २६४
**दसवाँ अध्याय**—यक्षो के साथ ध्रुव का विरोध २७०
**ग्यारहवाँ अध्याय**—स्वायंभुव मनु के कहने से ध्रुव का युद्ध से निवृत्त होना २७२
**बारहवाँ अध्याय**—ध्रुव का ध्रुवलोक को जाना २७५
**तेरहवाँ अध्याय**—ध्रुव के वंश में महाराज पृथु का जन्म २७९
**चौदहवाँ अध्याय**—वेन का राजगद्दी पर बैठना और ब्राह्मणो के शाप से उसका मर जाना २८३
**पन्द्रहवाँ अध्याय**—महाराज पृथु का जन्म और राज्याभिषेक २८७

**सोलहवाँ अध्याय**—राजा पृथु की स्तुति २८६
**सत्रहवाँ अध्याय**—पृथु का पृथ्वी को मारने के लिए उद्यत होना और पृथ्वी का पृथु की स्तुति करना २६२
**अठारहवाँ अध्याय**—पृथ्वी-दोहन २६४
**उन्नीसवाँ अध्याय**—राजा पृथु का अश्वमेध यज्ञ करना २६६
**बीसवाँ अध्याय**—विष्णु भगवान् का पधारना और महाराज पृथु को उपदेश देना ३००
**इक्कीसवाँ अध्याय**—प्रजा को उपदेश दान ३०४
**बाईसवाँ अध्याय**—परमहंस सनत्कुमारजी का महाराज पृथु को ज्ञानोपदेश करना ३०६
**तेईसवाँ अध्याय**—महाराज पृथु का वैकुण्ठवास ३१४
**चौबीसवाँ अध्याय**—रुद्रगीत ३१७
**पचीसवाँ अध्याय**—नारद और प्राचीनबर्हि का संवाद और पुरंजनोपाख्यान का आरम्भ ३२४
**छब्बीसवाँ अध्याय**—पुरंजन का शिकार खेलने जाना ३२८
**सत्ताईसवाँ अध्याय**—पुरंजन पर कालकन्या आदि का आक्रमण ३३१
**अट्ठाईसवाँ अध्याय**—पुरंजन की मुक्ति ३३३
**उन्तीसवाँ अध्याय**—पुरंजनोपाख्यान की व्याख्या ३३८
**तीसवाँ अध्याय**—प्रचेतागण को विष्णु का वरदान ३४५
**इकतीसवाँ अध्याय**—प्रचेताओं का वन-गमन और मुक्ति ३४६

---

## पाँचवाँ स्कन्ध

**पहला अध्याय**—प्रियव्रत का राज्यभोग और फिर ज्ञानमार्ग में निष्ठा ३५३
**दूसरा अध्याय**—आग्नीध्र का चरित्र ३५८
**तीसरा अध्याय**—नाभि राजा का चरित्र ३६१
**चौथा अध्याय**—ऋषभदेवजी का चरित्र ३६३
**पाँचवाँ अध्याय**—ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश ३६५
**छठा अध्याय**—ऋषभदेवजी का परमधाम-गमन ३७१
**सातवाँ अध्याय**—राजा भरत का उपाख्यान ३७३
**आठवाँ अध्याय**—भरत को मृगयोनि की प्राप्ति ३७५
**नवाँ अध्याय**—भरतजी का एक ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेना ३७८
**दसवाँ अध्याय**—राजा रहूगण और भरतजी ३८१
**ग्यारहवाँ अध्याय**—भरतजी का राजा को ज्ञानोपदेश करना ३८५
**बारहवाँ अध्याय**—राजा और ब्राह्मण का संवाद ३८७
**तेरहवाँ अध्याय**—भवाटवी-वर्णन ३८६
**चौदहवाँ अध्याय**—भवाटवी की व्याख्या ३६१
**पन्द्रहवाँ अध्याय**—भरतवंश का वर्णन ३६५
**सोलहवाँ अध्याय**—भूमण्डल का विस्तृत वर्णन ३६७
**सत्रहवाँ अध्याय**—संकर्षण-स्तोत्र ३६६
**अठारहवाँ अध्याय**—भिन्न-भिन्न खंडों में भगवान् की भिन्न भिन्न मूर्तियों की उपासना का वर्णन ४०१
**उन्नीसवाँ अध्याय**—भरतखंड की महिमा ४०५

**बीसवाँ अध्याय**—प्लक्ष आदि छः द्वीपों का वर्णन ४०७
**इक्कीसवाँ अध्याय**—राशि-संचार ४११
**बाईसवाँ अध्याय**—सोम, शुक्र आदि ग्रहों की स्थिति ४१३
**तेईसवाँ अध्याय**—शिशुमार चक्र का वर्णन ४१५
**चौबीसवाँ अध्याय**—अतल आदि सात लोक ४१६
**पचीसवाँ अध्याय**—विष्णु की विभूति शेष नाग का वर्णन ४२०
**छब्बीसवाँ अध्याय**—नरकों का वर्णन ४२१

---

## छठा स्कन्ध

**पहला अध्याय**—अजामिल की कथा ४२७
**दूसरा अध्याय**—अजामिल की मुक्ति ४३१
**तीसरा अध्याय**—यमराज और उनके दूतों की बातचीत ४३४
**चौथा अध्याय**—दक्ष की तपस्या ४३७
**पाँचवाँ अध्याय**—नारद को दक्ष का शाप ४४०
**छठा अध्याय**—दक्षकन्याओं का वंश ४४४
**सातवाँ अध्याय**—विश्वरूप से देवताओं की प्रार्थना ४४६
**आठवाँ अध्याय**—नारायण-कवच ४४९
**नवाँ अध्याय**—विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की उत्पत्ति ४५१
**दसवाँ अध्याय**—इन्द्र और वृत्रासुर का समर ४५६
**ग्यारहवाँ अध्याय**—वृत्रासुर की इन्द्र को फटकार ४५८
**बारहवाँ अध्याय**—वृत्रासुर का वध ४५९
**तेरहवाँ अध्याय**—इन्द्र को ब्रह्महत्या लगना ४६२
**चौदहवाँ अध्याय**—वृत्रासुर के पूर्वजन्म की कथा ४६४
**पन्द्रहवाँ अध्याय**—नारद और अंगिरा का राजा को उपदेश ४६७
**सोलहवाँ अध्याय**—नारद का राजा को मन्त्रोपदेश ४७०
**सत्रहवाँ अध्याय**—चित्रकेतु को पार्वती का शाप ४७४
**अठारवाँ अध्याय**—सविता आदि अन्य आदित्यों का वंश ४७६
**उन्नीसवाँ अध्याय**—पुंसवन व्रत की विधि का विस्तृत वर्णन ४८१

---

## सातवाँ स्कन्ध

**पहला अध्याय**—युधिष्ठिर और नारद का वार्तालाप ४८२
**दूसरा अध्याय**—हिरण्याक्ष का वध होने पर हिरण्यकशिपु का अपने भतीजों को समझाना ४८६
**तीसरा अध्याय**—हिरण्यकशिपु की तपस्या ४९०
**चौथा अध्याय**—हिरण्यकशिपु का अत्याचार ४९३
**पाँचवाँ अध्याय**—प्रह्लाद की हत्या के लिए हिरण्ययकशिपु का उद्योग ४९५
**छठा अध्याय**—प्रह्लादजी का सब बालकों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश ५००
**सातवाँ अध्याय**—प्रह्लाद का माता के गर्भ में नारद से उपदेश प्राप्त करने का वृत्तान्त ५०२

आठवाँ अध्याय—हिरण्यकशिपु का वध ५०५
नवाँ अध्याय—प्रह्लादकृत नृसिंहजी की स्तुति ५१०
दसवाँ अध्याय—त्रिपुर-संहार का वर्णन ५१५
ग्यारहवाँ अध्याय—मनुष्यधर्म, स्त्रीधर्म और वर्णाश्रमधर्म ५१६
बारहवाँ अध्याय—[illegible] ५२१
तेरहवाँ अध्याय—सिद्ध अवस्था ५२३
चौदहवाँ अध्याय—गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म और देशकाल आदि के भेद से अन्य-अन्य विशेष धर्मों का वर्णन ५२६
पन्द्रहवाँ अध्याय—मोक्ष का लक्षण ५२८

## आठवाँ स्कन्ध

पहला अध्याय—मन्वन्तरों का वर्णन ५३५
दूसरा अध्याय—गजराज की कथा ५३७
तीसरा अध्याय—गजेन्द्रमोक्ष ५३६
चौथा अध्याय—गजेन्द्र का स्वर्ग जाना ५४१
पाँचवाँ अध्याय—ब्रह्माकृत भगवान् की स्तुति ५४३
छठा अध्याय—अमृत के लिए देवतों और दैत्यों का समुद्र को मथना ५४६
सातवाँ अध्याय—समुद्र के मथने से कालकूट की उत्पत्ति ५४६
आठवाँ अध्याय—मोहिनी अवतार ५५२
नवाँ अध्याय—अमृत-बाँटा जाना ५५५
दसवाँ अध्याय—देवासुरसंग्राम ५५८
ग्यारहवाँ अध्याय—देवासुर संग्राम की समाप्ति ५६१
बारहवाँ अध्याय—मोहिनी रूप के दर्शन से महादेव का मोहित होना ५६४
तेरहवाँ अध्याय—वैवस्वत आदि मन्वन्तरों का वर्णन ५६८
चौदहवाँ अध्याय—मनु आदि के कर्म ५६६
पन्द्रहवाँ अध्याय—राजा बलि की स्वर्ग पर चढ़ाई ५७०
सोलहवाँ अध्याय—पयोव्रत का उपदेश ५७३
सत्रहवाँ अध्याय—वामन-अवतार की कथा ५७५
अठारहवाँ अध्याय—बलि के यज्ञ में वामनजी का जाना ५७७
उन्नीसवाँ अध्याय—वामनजी का बलि से तीन पग पृथ्वी माँगना ५७६
बीसवाँ अध्याय—वामन का विराट् रूप में प्रकट होना ५८२
इक्कीसवाँ अध्याय—बलि का बाँधा जाना ५८४
बाईसवाँ अध्याय—हरि का बलि पर प्रसन्न होना ५८६
तेईसवाँ अध्याय—बलि का सुतललोक को गमन ५८६
चौबीसवाँ अध्याय—मत्स्यावतार ५६१

# चित्र-सूची

## तिरंगे चित्र


१—नैमिषारण्य में अट्ठासी हज़ार ऋषियों के आगे सूतजी द्वारा श्रीमद्भागवत का वर्णन ६
२—सनकादि मुनियों के भागवत-सप्ताह-यज्ञ में भगवान् हरि के आगे माहात्म्यसंकीर्तन २६
३—शुकदेवजी से लज्जा न करके सरोवर में नग्न होकर स्नान कर रही स्त्रियों का व्यासजी को देखकर लज्जित होना ११
४—कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मपितामह का युधिष्ठिर आदि को उपदेश २८
५—हस्तिनापुर से लौटने पर भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारकापुरी में स्वागत ३४
६—पाण्डवों का स्वर्गारोहण ४६
७—कलियुग पर परीक्षित् का कोप ५४
८—शुकदेव जी द्वारा श्रीमद्भागवत कथा का आरंभ ६५
९—ब्रह्मा को शेषशायी नारायण का दर्शन १२५
१०—वाराह भगवान् और हिरण्याक्ष १४८
११—भगवान् विष्णु के पार्षद जय और विजय को सनकादिक कुमारों द्वारा शाप १५८
१२—भगवान कपिलदेव द्वारा माता देवहूति को आत्मज्ञान का उपदेश १६४
१३—सती का प्राणत्याग २४४
१४—शिव के गणों द्वारा दक्ष-यज्ञ-ध्वंस २४६
१५—ध्रुव का विमाता द्वारा अपमान २५६
१६—ध्रुव को हरिदर्शन २६६
१७—पृथु द्वारा गोरूप पृथ्वी का दोहन २६५
१८—पुरंजनी को देखकर पुरंजन की आसक्ति ३२६
१९—जड़भरत की बलि से रक्षा ३८१
२०—भवाटवी का दृश्य ३८६
२१—भगवान् संकर्षणदेव ४२०
२२—अजामिल का अंतकाल ४३१
२३—चित्रकेतु को पार्वती का शाप ४७४
२४—भगवान् नृसिंह का प्रकट होना ५०७
२५—गजेन्द्र-मोक्ष ५४१
२६—समुद्र-मंथन ५५०
२७—विश्वकल्याण के लिए शिवजी का हलाहलपान ५५२
२८—विष्णु का मोहिनी रूप धारण कर अमृतवितरण करना ५५७
२९—शुक्राचार्य के मना करने पर भी वामन को भिक्षा देने के लिए बलि का तैयार होना ५८१
३०—प्रलय-सागर में राजर्षि सत्यव्रत आदि की नौका को धारण किए हुए मत्स्यरूपधारी भगवान ५९३

## दोरंगे चित्र


१—सोते हुए द्रौपदी के पुत्रों की अश्वत्थामा द्वारा हत्या २०
२—पुरंजन की पुरी पर प्रज्वार, कालकन्या आदि का आक्रमण ३३२
३—नरकों का दृश्य ४२२


## एकरंगे ( हाफ़टोन ) चित्र


१—आधीरात के समय प्रेतरूप धुंधकारी का गोकर्ण के आगे प्रकट होना ( माहा० ) २०
२—व्यासजी को नारद के दर्शन १२
३—प्रलयसागर की लहरों की थपेड़ों से कंपित नाभिकमल पर स्थित ब्रह्मा की चिन्ता ६४
४—कर्दम और देवहूति का विहार के लिए विमान पर चढ़ना १८७
५—दक्ष की स्तुति २५४
६—ध्रुव का कठोर तप २६३
७—महाराज अंग के पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्नि से पायस का पात्र प्रकट होना २८१
८—महाराज पृथु का राज्याभिषेक २२८
९—पुरंजन का कुपित पुरंजनी को जाकर मनाना ३३०
१०—समुद्र के भीतर तप करते हुए प्रचेताओं को भगवान् हरि का दर्शन ३४५
११—राजर्षि प्रियव्रत का सूर्य के साथ-साथ पृथ्वी-परिक्रमा करना ३५७
१२—इन्द्र का दधीचि से हड्डियों के लिए प्रार्थना करना ४५६
१३—इन्द्र-वृत्रासुर- युद्ध ४६०
१४—प्रह्लाद पर अत्याचार ४६६
१५—अमृतकलश लेकर धन्वन्तरि का प्रकट होना और उसे छीन कर असुरों का भागना ५५५
१६—देवासुर-संग्राम ५५६
१७—वामन का विराट् रूप ५८३
१८—बलि का विमोचन ५८८


## एकरंगे ( लाइन ) चित्र


१—श्रीमद्भागवतकथा में देवतों का अमृतकलश लेकर प्रकट होना माहा० १
२—भक्ति की नारद से भेंट ४
३—नारद की सनकादि से भेंट ८
४—सनकादि मुनियों द्वारा वर्णित भागवतमाहात्म्य में भक्ति का अपने पुत्रों सहित आना १२
५—आत्मदेव ब्राह्मण को सन्यासी से पुत्रोत्पादक फल की प्राप्ति १४
६—गोकर्ण की उत्पत्ति १७
७—वेश्याओं द्वारा धुंधकारी की मृत्यु १६
८—धुंधकारी की मुक्ति-हेतु गोकर्ण का श्रीमद्भागवतकथाश्रवण २१
९—धुंधकारी को लेने के लिए स्वर्ग से विमान का आना २३
१०—गोकर्ण के सप्ताह पारायण में भक्तों सहित भगवान् विष्णु की उपस्थिति २४
११—सूतजी और शौनकादि मुनियों का मिलन ४
१२—खेदावस्था में व्यास जी १२
१३—बालक नारद की साधुसेवा १५

१४—अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा का बाँधा जाना २१
१५—ब्रह्मास्त्र से भयभीत देवी उत्तरा २४
१६—भगवान् कृष्ण का द्वारका में प्रवेश ३३
१७—परीक्षित् को गर्भावस्था में भगवान के दर्शन ३६
१८—विदुर का धृतराष्ट्र और गांधारी को ज्ञानोपदेश ३६
१६—धृतराष्ट्र और गांधारी का हिमालयगमन ४०
२०—युधिष्ठिर और अर्जुन का वार्तालाप ४४
२१—गोरूप पृथ्वी और बैलरूप धर्म में वार्तालाप ५१
२२—कलि परीक्षित् की शरण में ५५
२३—राजा परीक्षित् का शमीक ऋषि के गले में मृत सर्प डालना ५८
२४—शमीक ऋषि के शिष्य द्वारा परीक्षित् को मृत्यु-संदेश मिलना ६०
२५—परीक्षित् द्वारा शुकदेवजी का पूजन ६२
२६—नारद और ब्रह्मा में वार्तालाप ७८
२७—ब्रह्मा की तपस्या ६३
२८—विदुर का धृतराष्ट्र को उपदेश १०३
२६—उद्धव और विदुर का संवाद १०७
३०—विदुर और मैत्रेय की बात-चीत ११६
३१—नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति १२६
३२—सनकादिक मुनियों की उत्पत्ति १४०
३३—ब्रह्माजी से रुद्र की उत्पत्ति १४१
३४—ब्रह्मा का अपने पुत्र रुद्र के पास जाना १४१
३५—ब्रह्मा का सरस्वती पर मोहित होना १४२
३६—स्वायंभुव मनु और रानी शतरूपा की उत्पत्ति १४५
३७—वाराह भगवान् की उत्पत्ति १४७
३८—कामासक्त दिति का कश्यप से इच्छापूर्ति के लिये आग्रह १५२
३६—सनकादिक मुनि विष्णु के द्वार पर १५७
४०—हिरण्याक्ष की दिग्विजययात्रा १६६
४१—वरुण देवता को दानव हिरण्याक्ष की ललकार १६७
४२—हिरण्याक्ष-वध १७२
४३—कामासक्त दानवों द्वारा ब्रह्मा का पीछा १७५
४४—मोहिनीरूप भगवान् पर दानवों की आसक्ति १७६
४५—कर्दम को भगवान् विष्णु के दर्शन १७६
४६—कर्दम ऋषि के आश्रम में मनु का कन्या सहित उपस्थित होना १८२
४७—माता देवहूति को सिद्धि-प्राप्ति २२७
४८—अत्रि और अनुसूया को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के दर्शन २३१
४६—दक्ष द्वारा शिव का अपमान २३५
५०—सती का पिता के घर जाने के लिए आग्रह २३८
५१—सती का पिता के घर जाना २४१
५२—शंकर का दक्षयज्ञध्वंस के लिए वीरभद्र को आज्ञा देना २४५

५३—वट-वृक्ष के नीचे समाधिस्थ शंकर के पास देवतों का जाना २५०
५४—दक्ष प्रजापति द्वारा शंकर की स्तुति २५३
५५—बालक ध्रुव की नारद से भेंट २६०
५६—राजा उत्तानपाद का बालक ध्रुव से रास्ते में जाकर मिलना २६८
५७—यक्षों के साथ ध्रुव का विरोध २७०
५८—स्वायंभुव मनु का युद्धरत ध्रुव के पास जाना २७२
५९—हरि के प्रधान पार्षदों का ध्रुव से विमान पर बैठने के लिए अनुरोध २७७
६०—राजा वेन की मृत्यु २८५
६१—राजा वेन के शरीर से बौने की उत्पत्ति २८६
६२—राजा वेन की दोनों भुजाओं से महाराज पृथु और देवी अर्चि की उत्पत्ति २८७
६३—राजा पृथु का गोरूप पृथ्वी को मारने को उद्यत होना २९३
६४—राजा पृथु के अश्वमेध यज्ञ से इन्द्र द्वारा घोड़ा चुराया जाना २९७
६५—अश्वमेध यज्ञ में ब्रह्मा का आना २९९
६६—विष्णु भगवान् का यज्ञ में पधारकर पृथु को उपदेश देना ३०१
६७—उपस्थित समाज को महाराज पृथु का ज्ञानोपदेश ३०५
६८—परहंस सनत्कुमारजी का महाराज पृथु को ज्ञानोपदेश ३१०
६९—महारानी अर्चि का सती होना ३१६
७०—राजा प्राचीनबर्हि और शतद्रुति का विवाह ३१८
७१—पुरंजन का शिकार खेलने जाना ३२९
७२—काल-कन्या की नारद से भेंट ३३२
७३—काल-कन्या का यवनराज के पास जाना ३३३
७४—पुरंजन की अन्तिम क्रिया ३३६
७५—कण्डु ऋषि की कन्या को चन्द्रमा का अमृत पिलाना ३४६
७६—प्रचेतागणों के मुख से प्रचण्ड अग्नि और वायु का प्रकट होना ३४८
७७—गंधमादन पर्वत पर प्रियव्रत को ब्रह्मा का दर्शन ३५४
७८—पूर्वचित्ति अप्सरा का आग्नीध्र के पास जाना ३५९
७९—ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश ३६६
८०—परमहंस ऋषभदेवजी का विचरना और बालकों का तंग करना ३६९
८१ भरत और मृगी का बच्चा ३७५
८२—भरत का मृगी के बच्चे पर प्रेम ३७६
८३—बलि के लिए डाकुओं द्वारा भरत का पकड़ा जाना ३८०
८४—भरत का राजा रहूगण की पालकी में लगाया जाना ३८२
८५—राजा राहूगण का भरत के पैरों पड़ना ३८४
८६—अजामिल का वेश्या को देखकर मोहित होना ४३१
८७—यमराज और उनके दूतों की बातचीत ४३५
८८—प्रचेताओं का जंगल को जलाने के लिए अग्नि प्रकट करना ४३७
८९—दक्ष को हरि दर्शन ४३९
९०—दक्ष के पुत्रों को नारद का उपदेश ४४१
९१—दक्ष और नारद ४४३

९२—इन्द्र की सभा से गुरु बृहस्पति का लौटना ४४६
९३—इन्द्र का विश्वरूप के पास जाना ४४८
९४—इन्द्र द्वारा विश्वरूप का वध ४५१
९५—वृत्रासुर की उत्पत्ति ४५२
९६—वृत्रासुरवध ४६१
९७—ब्रह्म-हत्या का इन्द्र के पास पहुँचना ४६२
९८—महर्षि अंगिरा और चित्रकेतु ४६४
९९—विष के कारण चित्रकेतु के पुत्र की मृत्यु ४६६
१००—राजा चित्रकेतु को अंगिरा और नारद का उपदेश ४६८
१०१—इन्द्र का दिति के गर्भस्थ बालक को काटना ४७९
१०२—दिति का इन्द्र के साथ उनचास बालकों का देखना ४८०
१०३—हिरण्यकशिपु का प्रण ४८६
१०४—पतिवियोग से व्याकुल सुयज्ञ की स्त्रियों को बालकरूप यमराज का समझाना ४८८
१०५—हिरण्यकशिपु का कठोर तप और उसको ब्रह्मा के दर्शन ४९१
१०६—हिरण्यकशिपु का प्रह्लाद को समझाना ४९६
१०७—प्रह्लाद गुरुकुल में ४९७
१०८—प्रह्लाद का सहपाठियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश ५०१
१०९—प्रह्लाद की मा को लेकर इन्द्र का भागना और नारद द्वारा उसका छुटकारा ५०३
११०—हिरण्यकशिपु का सभा के खम्भे में घूसा मारना ५०६
१११—प्रह्लाद-कृत नृसिंह भगवान् की स्तुति ५११
११२—भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुर का संहार ५१८
११३—त्रिपुर के अन्दर जाकर गोरूप विष्णु और बछड़े रूप ब्रह्मा का अमृतपान ५१९
११४—लोकतत्त्व जानने की लालसा से प्रह्लाद का महामुनि के पास जाना ५२४
११५—ग्राह-ग्रसित-गज ५३९
११६—राजर्षि इन्द्रद्युम्न को अगस्त्य मुनि का शाप ५४२
११७—भगवान् नारायण की देवताओं द्वारा स्तुति ५४७
११८—देवताओं का मंदराचल उठाने का प्रयत्न ५४९
११९—भगवान् विष्णु द्वारा समुद्र-मन्थन ५५०
१२०—लक्ष्मी का श्रीनारायण को वर चुनना ५५४
१२१—मोहिनीरूप भगवान् का दैत्यों को विलमाना ५५६
१२२—मोहिनी द्वारा अमृतवितरण ५५७
१२३—भगवान् विष्णु द्वारा कालनेमि का वध ५६१
१२४—इन्द्र द्वारा जंभासुर का वध ५६२
१२५—मोहिनी पर शंकरजी का मोह ५६६
१२६—राजा बलि की स्वर्ग पर चढ़ाई ५७१
१२७—अदिति को भगवान् हरि के दर्शन ५७६
१२८—वामन का पग ५८४
१२९—वामन की बलिसे बातचीत ५८६
१३०—राजा सत्यव्रत की मछली से बातचीत ५९१

हिन्दी

# श्रीमद्भागवत

## प्रथम खण्ड



# श्रीमद्भागवत-माहात्म्य

## पहला अध्याय

### नारद की भक्ति से भेंट

जो पैदा होते ही संन्यास लेकर, सब कर्मों का त्याग कर, घर से निकलकर चल दिये, जिनके पीछे पुत्र के विछोह मे व्याकुल व्यासदेव "पुत्र! पुत्र!" कहकर बुलाते हुए दौड़े, तब जिनकी ओर से तन्मय वृक्षों ने उत्तर दिया, उन सब प्राणियों मे अपने को आत्मारूप से विराजमान माननेवाले ब्रह्ममय महामुनि श्रीशुकदेवजी को हम प्रणाम करते हैं। नैमिषारण्य क्षेत्र में व्यासगद्दी पर बैठकर सूतजी भगवान हरि की कथाओं का वर्णन कर रहे थे। महामति सूतजी को प्रणाम करके हरिकथारूप अमृतरस का स्वाद लेने में निपुण शौनक मुनि ने कहा—सूतजी, अज्ञान के घोर अन्धकार को मिटाने में आप करोड़ों सूर्यों के समान सुविज्ञ हैं। कानों को भला जान पडनेवाला, रसायन के समान यह सब कथाओं का सार तत्त्व आप मेरे आगे वर्णन करें कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्य मे जो विवेक उत्पन्न होता है, वह कैसे, किस उपाय से बढ़ता है? विष्णु के भक्तजन माया के मोह को कैसे छोड़ते हैं? यह घोर कलियुग आ गया है, जिससे रजोगुण और तमोगुण बढ़ गया है। इसी से आसुरी प्रकृति में पड़कर यह जीवात्मा बहुत-से कष्ट उठाता है। कृपा

करके यह भी कहिए कि आत्मा की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय क्या है ? ऐसा कोई उपाय बताइए, जो सर्वापरि श्रेय और सर्वोपरि पावन हो और जिससे सदा के लिए भगवान् मिल जायँ। चिन्तामणि से इस लोक के सुखभोग प्राप्त होते हैं, इन्द्र के प्रसन्न होने से स्वर्ग की संपत्ति मिलती है। पर गुरु की कृपा से और प्रसन्न होने से, जो योगियों के लिए भी दुर्लभ है, वैकुंठलोक सहज में मिल जाता है।

सूत बोले—शौनकजी, तुम्हारे हृदय में प्रेम और श्रद्धा है। इसलिए मैं खूब सोच-विचार कर सब सिद्धान्तों का सारांश तुमसे कहता हूँ। इसे सावधान होकर सुनो। यह भवभयभंजन है, भगवान् की भक्ति को बढ़ानेवाला है। इससे कृष्ण भगवान् संतुष्ट होते हैं। कराल काल एक भयानक अजगर है। इसके मुँह में जाने का भय मिटाने के लिए कलियुग में शुकदेवजी ने श्रीमद्भागवतशास्त्र कहा है। इससे बढ़कर मन को शुद्ध करनेवाला दूसरा पुराण नहीं है। जब जन्म-जन्मान्तर के पुण्य उदय होते हैं, तब कहीं भागवतपुराण सुनने को मिलता है। शुकदेवजी जिस समय राजा परीक्षित् की सभा में बैठकर उनको भागवत सुनाने लगे, उस समय सब देवता अमृत का कलश लेकर वहाँ आये। देवता अपना मतलब सिद्ध करने मे बडे चतुर हैं। उन्होंने प्रणाम करके शुकदेवजी से कहा—मुनिवर, भागवत की कथा का अमृत हमें पिलाइए, और उसके बदले में यह अमृत राजा परीक्षित् को दे दीजिए। महाराज इसे पीकर अमर हो जायँगे और हम भी भागवतरूपी अमृत को पीकर कृतार्थ होंगे। राजा परीक्षित् ने सोचा, कहाँ अमृत और कहाँ हरि की कथा! कहाँ काँच और कहाँ अनमोल मणि ! यह सोचकर राजा परीक्षित् देवगण की कपट-चातुरी पर हँसने लगे। देवगण में राजा की जैसी अनन्य भक्ति और श्रद्धा न देखकर शुकदेवजी ने उनको हरिकथारूप अमृत नहीं दिया। कहने का मतलब यह कि भागवत की कथा देवतों के लिए भी दुर्लभ है। भागवत सुनने के बाद राजा परीक्षित् की मुक्ति हुई देखकर ब्रह्माजी को भी आश्चर्य हुआ। उन्होंने सत्यलोक में तुला पर एक ओर सब तप, दान, व्रत आदि अन्य पुण्यकर्मों को और दूसरी ओर श्रीमद्भागवतपुराण को रक्खा। तौलने पर और सब साधन हलके निकले। तब उसके महत्त्व और गौरव को देखकर सब ऋषियों को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने समझ लिया कि भूमंडल पर यह भागवतशास्त्र साक्षात् भगवान् का ही रूप है।



इसे पढने और सुनने से वैकुंठलोक मिलता है। इसका सात दिन का पारायण (सप्ताह) सुनने से वैकुंठलोक प्राप्त होता है। सप्ताह सुनने से सर्वथा मुक्ति मिलती है। ब्रह्माजी के पुत्र सनक आदि ब्रह्मऋषियों ने पहले कृपा करके नारदजी को इसका सप्ताह-पारायण सुनाया था। यद्यपि उसके पहले भी ब्रह्माजी के मुख से नारदजी ने भागवतशास्त्र को सुना था, तथापि सात दिन में भागवत का पारायण सुनने की विधि सनकादिकों ने ही उनसे कही।

शौनक ने पूछा—सूतजी, नारदजी तो प्रायः लोगों में कलह ही कराते फिरते हैं, ऐसा प्रसिद्ध है। इसके सिवा वह किसी एक जगह स्थिर होकर रहते भी नहीं—घूमते ही रहते हैं। फिर उन्होंने सप्ताह की कथा कैसे सुनी ? सनक आदि से उनकी भेंट कहाँ हुई ?

सूतजी बोले—मैं यहाँ पर इसी प्रसंग में आपसे एक भक्तिमार्ग को पुष्ट करनेवाला इतिहास कहता हूँ। मुझे अपना अनन्य प्रिय और प्रधान शिष्य जानकर शुकदेवजी ने यह गूढ इतिहास बतलाया है। एक समय बदरिकाश्रम क्षेत्र में सनक आदि चारों पवित्र हृदयवाले परमहंस सत्संग के लिए पधारे। वहाँ उनको नारदजी देख पड़े। सनकादि ने नारद से पूछा—नारदजी, आपके मुख पर यह उदासी कैसी छाई है ? आपको किस बात की चिंता है ? इतनी तेज़ी के साथ कहाँ जा रहे हैं ? कहाँ से आ रहे हैं ? जो अपना सर्वस्व खो बैठा हो, उस मनुष्य के समान आप घबराये हुए देख पड़ते हैं। आप तो विरक्त हैं, फिर आपकी इस अनुचित चिन्ता का कारण क्या है ? हमसे कहिए।

नारदजी बोले—यह पृथ्वीमण्डल कर्मभूमि होने के कारण और सब लोकों से श्रेष्ठ है, यह समझकर मैं इस मनुष्यलोक में आया। यहाँ आकर पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरद्वार, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग, सेतुबंध रामेश्वर आदि अनेक तीर्थों में घूमता रहा। मगर कहीं मन को संतोष देनेवाला, कल्याणकारी धर्म मुझे नहीं देख पड़ा। इस समय अधर्म के मित्र कलियुग ने आकर सारे पृथ्वीमण्डल को दूषित कर डाला है। सत्य नहीं रहा; तप, शौच, दया, दान आदि का नाम नहीं है। सब जीव तुच्छ, क्षुद्र प्रकृति के, किसी तरह अपना पेट भर लेनेवाले, झूठे, मंद, मंदबुद्धि, मंदभाग्य, अनेक कष्टों से पीड़ित और पाखंडी देख पड़ते हैं। जो साधु-संत कहे जाते हैं, वे असल में पाखंडी है, साधु का वेष बनाकर जगत् को ठगते है। जो वैरागी बने है, वे वास्तव में घरबारवाले कुटुम्बी हैं। घर-घर स्त्रियों की प्रभुता फैली हुई है, साले ही सलाह देनेवाले है। लोग लोभ से लड़कियाँ बेचते हैं। प्रायः सर्वत्र सभी स्त्रियों और स्वामियों में लड़ाई-झगड़ा हुआ करता है। यवनतुल्य दुराचारी दुष्टों ने ठगने के लिए वेष बनाकर ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों को दूषित कर दिया है। तीर्थ, नदी और देवमन्दिरों में प्रायः दुष्ट लोग ही देख पड़ते हैं। उनके कुकर्मों को देखकर लोगों को तीर्थ आदि पर अश्रद्धा होती जाती है। आजकल कोई सच्चा योगी, सिद्ध, ज्ञानी अथवा सत्कर्म करनेवाला सदाचारी मनुष्य नहीं नज़र आता। कलियुग की आग ने योग, तप, व्रत आदि साधनों को भस्म कर डाला है। सब गाँव, पुर, नगर आदि में अन्न का अकाल देख पड़ता है। ब्राह्मण वेदों को पैसा कमाने के लिए पढ़ते हैं। स्त्रियाँ प्रायः कुलटा हो गई हैं, जो कुकर्म को अपनी जीविका बनाने में तनिक भी संकोच नहीं करतीं। सर्वत्र इसी तरह घोर कलिकाल का प्रभाव फैला हुआ है। इस तरह कलिकाल के दोषों को देखता हुआ मैं घूमते-घूमते यमुना नदी के तट पर पहुँचा, जहाँ साक्षात् नारायण कृष्णचन्द्र नें बाललीलाएँ की है। हे मुनीश्वरो, मैने वहाँ एक बड़ा ही आश्चर्य देखा; उसे सुनो। एक जवान स्त्री वहाँ बैठी थी। वह बहुत उदास और दुःखी थी। उसके पास दो बूढ़े आदमी पड़े हुए थे। वे बेहोश थे। खाली उनकी साँस चल रही थी। वह स्त्री उनकी सेवा करती, उन्हें जगाती और उनके आगे रोती जाती थी। साथ

खड़ी उसे बार-बार सान्त्वना दे रही थीं और उसके ऊपर पंखा झल रही थीं। उसे दूर से देखकर मैं उसके पास गया। मुझे देखकर वह बाला उठ खड़ी हुई और विह्वल भाव से यों कहने लगी। उसने कहा—हे साधु महाराज, क्षण भर ठहरो; मेरी चिन्ता को दूर करो। तुम्हारे दर्शन सब लोगों के पापों को दूर करने-



वाले है। मुझे विश्वास है कि तुम्हारे वाक्यों से मेरा दुःख दूर हो जायगा; क्योंकि जब मनुष्य के बहुत बड़े भाग्य उदय होते हैं, तभी आपके दर्शन होते हैं।

नारदजी कहते हैं—तब मैंने उस युवती से पूछा, देवी, तुम कौन हो? ये दोनों पुरुष कौन है? ये कमलनयनी स्त्रियाँ कौन है? विस्तार के साथ अपने दुःख का कारण भी कहो?

उस स्त्री ने कहा—मेरा नाम भक्ति है और ज्ञान व वैराग्य नाम के ये दोनों मेरे पुत्र है। काल ने इन्हे वृद्ध कर दिया है। ये सब स्त्रियाँ गंगा आदि नदियाँ हैं, मेरी सेवा के लिए आई है। देवगण मेरी सेवा करते हैं, तो भी मुझे चैन नहीं है, सुख नहीं है। हे तपोधन, अब मेरा हाल सुनो, जिसके लिए तुम चिन्तित हो रहे हो। मेरा वृत्तान्त बहुत विस्तृत है। उसे सुनकर सुख पाओ। मैं द्रविड़ देश मे पैदा हुई और कर्नाटक देश में जाकर इतनी बड़ी हुई। महाराष्ट्र में भी कहीं-कहीं मेरी वृद्धि हुई। पर गुर्जर देश मे जाकर मैं जीर्ण हो गई। गुर्जर देश में घोर कलियुग के प्रभाव से पाखंड ने मेरे अंगों को खंडित कर दिया। बहुत समय तक अपने पुत्रों के साथ मैं वहाँ दुर्बल और मंद बनी रही। इसके बाद वृन्दावन में पहुँचकर मै फिर नौजवान रूपवती हो गई। यह रूप मुझे यहीं मिला है। ये दोनों मेरे पुत्र श्रम से क्लेश पाते हुए यहाँ पड़े हुए हैं। मैं इस स्थान को छोड़कर विदेश को जाना चाहती हूँ। मेरे पुत्र वृद्ध हो गये हैं, इसी दुःख से मैं दुःखित हूँ।

मैं आपसे यह पूछना चाहती हूँ कि मैं जवान कैसे हो गई और मेरे पुत्र बूढ़े कैसे हो गये ? हम तीनों एक साथ रहनेवाले हैं; फिर हमारी अवस्था में यह विपरीत भाव कैसे देखा जाता है ? माता जवान हो और पुत्र बूढ़े ! यह क्या बात है ? इसीलिए मुझे बड़ा विस्मय है। मै अपने को शोचनीय समझ रही हूँ। हे योगेश्वर, माता के जवान और पुत्रों के बूढ़ा होने का क्या कारण है ? मुझे बतलाइए।

नारदजी ने कहा—देवी, मैं ज्ञानदृष्टि से अपने हृदय में विचारकर इसका कारण तुमको बतलाता हूँ। तुम दुःख न करो, हरि भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे।

सूतजी कहते हैं—ध्यान द्वारा दिव्य दृष्टि से नारद ने क्षण भर मे सब रहस्य जान लिया। उसके बाद मुनीश्वर नारद ने भक्ति से इस प्रकार कहा। नारदजी बोले—देवी, मन लगाकर सुनो। यह दारुण कलियुग है। कलियुग ने सदाचार, योगमार्ग, तप आदि को मिटा दिया है। आजकल के लोग घोर पापी हो रहे हैं। छल, धोखा आदि बुरे कर्म करने में बड़े प्रवीण हैं। कलियुग में साधुओं को कष्ट मिलता है और दुष्ट प्रसन्नता प्राप्त करते है। आजकल जो धैर्य धारण कर सके, वही धीर और पंडित है। यह पृथ्वी कलियुग के दोषों के कारण छूने और देखने योग्य नहीं रह गई है। क्रमशः प्रतिवर्ष यह शेषनाग के लिए भारस्वरूप होती जा रही है; क्योंकि इस पर पाप का भारी बोझ बढ़ता ही जा रहा है। कहीं मंगल नहीं दिखाई पडता। तुमको या तुम्हारे पुत्रों को कोई आजकल नहीं देखता। सब काम-क्रोध आदि के वशीभूत होकर भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की उपेक्षा कर रहे हैं। इसीसे तुम तीनों दुर्बल और जर्जर हो गये थे। तुम तो वृन्दावन के संयोग से फिर जवान हो गई। अहो, वृन्दावन धन्य है; जहाँ गली-गली में, घर-घर में भक्ति नृत्य करती है। तुम्हारे इन पुत्रों का—ज्ञान और वैराग्य का—कोई गाहक नहीं है, इसीसे ये इस तरह वृद्ध गये हैं और बेहोश पड़े हैं।

भक्ति ने कहा—भगवन्, राजा परीक्षित ने इस अपवित्र कलियुग को पकड़कर भी क्यों छोड दिया ? इस कलियुग के लगने पर सब वस्तुओं का सारांश कहाँ चला गया ? हरि तो करुणा के आगार हैं। फिर वह इस अधर्म को कैसे होने दे रहे हैं ? मेरे इस संशय को आप दूर कीजिए। आपके वचन सुनकर मैं बड़ा सुख पा रही हूँ।

नारदजी ने कहा—हे भक्ति, तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है, उसका उत्तर मैं देता हूँ। प्रेम के साथ सुनो। मैं सब बातें बतलाऊँगा, जिससे तुम्हारा यह दुःख दूर हो जायगा। जब भगवान् कृष्णचंद्र पृथ्वीतल को छोड़कर परमधाम को गये, उसी दिन से तप आदि सब पुण्यसाधनों में बाधा डालनेवाला कलियुग इस पृथ्वी पर आ गया। दिग्विजय करने के लिए जब राजा परीक्षित निकले, तब कलियुग दीन भाव से उनकी शरण आ गया। तब भ्रमर के समान सारांश को ग्रहण करनेवाले राजा ने अपने मन में विचारा कि इसे नहीं मारूँगा। कलियुग में तपस्या, योग और समाधि से जो फल नहीं मिलता, वही केवल भगवान् का नाम लेने से मिल जाता है। राजा ने कलियुग को सबको एकाकार करनेवाला और कलुषपूर्ण देखकर भी केवल इसी एक गुण के कारण कलिकाल के लोगों की भलाई के लिए रहने दिया। कलियुग मे कुकर्म करने के कारण सब लोग और कर्म सारहीन हो गये है। सब पदार्थ अन्नहीन मोटे धान के समान हो रहे है। ब्राह्मणों ने घर-घर हर एक मनुष्य के सामने अन्न के लोभ से हरिकथा बाँचना शुरू कर दिया है। इसलिए अब कथा का फल चला गया है। अनेक अति उग्र कर्म करनेवाले, नास्तिक और पापी लोग भी तीर्थों मे रहने लगे है। इससे तीर्थों का फल चला गया। काम, क्रोध, महालोभ और तृष्णा जिनके मन मे भरी हुई है, वे भी तपस्या करते है, इससे तप का फल चला गया। मन को वश में न करने से, लोभ से, दंभ से, पाखंड से और शास्त्रों का अभ्यास न करने से ध्यान-योग का फल चला गया। जो पंडित कहलाते है, वे भैंसों की तरह

स्त्रियों के साथ समय बिताते हैं। वे पुत्र पैदा करने में तो निपुण हैं, लेकिन मोक्ष के साधनों से दूर रहते हैं। संप्रदाय के अनुकूल वैष्णवधर्म का पालन कोई नहीं करता। इस तरह जगह-जगह सब वस्तुओं का सारांश चला गया है। यह इस युग का धर्म ही है। इसमें किसको दोष दिया जाय? इसीलिए पुंडरीकाक्ष भगवान निकट ही रहकर भी सब सहते हैं।

सूतजी कहते हैं—नारद के ये वचन सुनकर भक्ति को बड़ा विस्मय हुआ। इस पर भक्ति ने जो कुछ कहा, हे शौनकजी, उसे सुनो। भक्ति ने कहा—नारदजी, आप धन्य हैं। मेरे भाग्य से ही आप यहाँ आये हैं। संसार में साधुजनों के दर्शन से सभी काम सिद्ध हो जाते हैं। आपकी जय हो! आपके उपदेश को सुनकर, आपकी ही कृपा से ध्रुव ने हरि की आराधना की और अविनाशी ध्रुवलोक को गये। उन सब कल्याणों की खान ब्रह्माजी के पुत्र नारद को मैं प्रणाम करती हूँ।

# दूसरा अध्याय

## आकाशवाणी और नारद से सनकादिक की भेंट

नारदजी ने कहा—देवी, तुम क्यों खेद कर रही हो? इस प्रकार चिंतित क्यों हो रही हो? श्रीकृष्ण के चरणकमलों का स्मरण करो; सब दुःख दूर हो जायँगे। जिन्होंने कौरवों के अत्याचार से द्रौपदी की रक्षा की, गोपियों की कामना पूरी की, वह कृष्ण कहीं गये नहीं हैं। हे भक्ति, तुम तो उनको प्राणों से भी बढ़कर प्यारी हो। तुम्हारे बुलाने से तो भगवान् नीचों के घर भी दौड़े जाते हैं। देखो, सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में ज्ञान और वैराग्य से मुक्ति मिला करती है; किन्तु कलियुग में केवल भक्ति ही ब्रह्म से मिलानेवाली अर्थात् मोक्ष का एकमात्र साधन है। यही निश्चय करके सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् ने तुम्हारी सृष्टि की है। तुम भगवान् का ही स्वरूप हो। तुमने एक समय हाथ जोड़कर भगवान् से पूछा कि मैं क्या करूँ? तब कृष्ण ने तुमको आज्ञा दी कि मेरे भक्तों को पुष्ट करो। तुमने इस आज्ञा को अंगीकार कर लिया। तब हरि ने प्रसन्न होकर तुमको मुक्ति नाम की दासी दी। ये दोनों ज्ञान-वैराग्य भी तुम्हारे साथ रहते हैं। वैकुंठ में अपने रूप से तुम भक्तों का पोषण करती हो। भक्तों को पुष्ट करने के लिए पृथ्वी पर भी इस छाया-रूप से तुम आई हो। मुक्ति, ज्ञान और वैराग्य यहाँ भी तुम्हारे साथ रहते है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में तो तुम बड़े आनंद से रहीं; पर कलियुग मे जब मुक्ति पाखंडरोग से पीड़ित होकर क्षय को प्राप्त होने लगी तब तुम्हारी आज्ञा से वह शीघ्र ही फिर वैकुंठलोक को चली गई। तुम्हारे स्मरण करते ही वह फिर यहाँ आया-जाया करती है। इन ज्ञान और वैराग्य को अपना पुत्र बनाकर तुमने अपने पास रख छोड़ा है। कलियुग में लोग इनकी ओर ध्यान नहीं देते, इसी से ये तुम्हारे पुत्र बूढ़े हो गये हैं। तथापि इनके लिए तुम कुछ चिन्ता न करो। मैं इनका बुढ़ापा दूर करने का उपाय सोचूँगा। हे सुन्दरी, कलियुग के समान (थोड़े परिश्रम में या अनायास ही बहुत बड़ा फल देनेवाला) और कोई युग नहीं है। मैं इस कलियुग में घर-घर हर मनुष्य में तुम्हारा प्रचार करूँगा। और सब धर्मों को दबाकर तुम्हारे संबंध के उत्सवों का प्रचार करके अगर पृथ्वी पर तुम्हारा प्रचार न कर दूँ तो मैं हरि का दास नहीं। जो लोग तुम्हारा आश्रय ग्रहण करेंगे, वे चाहे महापापी भी क्यों न हों, निर्भय होकर विष्णुलोक को जायँगे। जिनके हृदय में प्रेम-रूपिणी भक्ति सदा बसेगी, वे पवित्र जन सपने में भी यमराज के दर्शन नहीं पावेंगे। प्रेत, पिशाच, राक्षस



नैमिषारण्य में अट्ठासी हज़ार ऋषियों के आगे सूत द्वारा श्रीमद्भागवत-वर्णन

या असुर, कोई भी भक्त के अंग को स्पर्श नहीं कर सकता। तप, वेद, ज्ञान या अच्छे कर्मों से हरि वश नहीं होते। उन्हें वश करने का एकमात्र साधन भक्ति है। इसका प्रमाण गोपियाँ हैं। हज़ारों जन्म की साधना से कहीं भक्ति के प्रति प्रीति या निष्ठा उत्पन्न होती है। कलियुग में भक्ति ही सब कुछ है; भक्ति ही हरि के मिलने का एकमात्र उपाय है। भगवान् कृष्ण सदा भक्त के आगे खड़े रहते हैं। जो लोग भक्त से द्रोह रखते हैं, वे तीनों लोक में कष्ट उठाते हैं। पहले समय में भक्त अंबरीष राजा को सतानेवाले महर्षि दुर्वासा को बड़ा दुःख मिला था। कलियुग में व्रत, तीर्थयात्रा, योगसाधना, यज्ञ, ज्ञानचर्चा आदि की कोई ज़रूरत नहीं। केवल भक्ति से ही मुक्ति मिलती है।

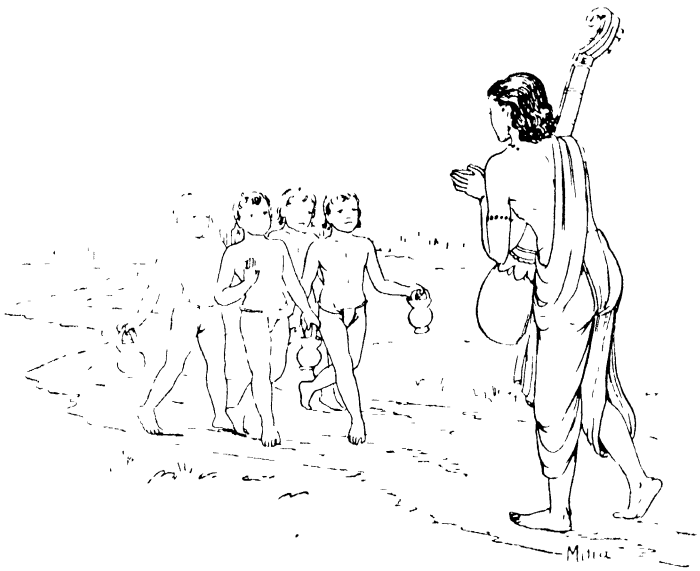
सूतजी कहते हैं—नारदजी के मुख से अपने माहात्म्य को सुनकर भक्ति के सब अंग परिपूर्ण और पुष्ट हो गये। भक्ति ने कहा—अहो नारदजी, तुम धन्य हो; क्योंकि मुझमें तुम्हारी अटल प्रीति है। मैं तुमको कभी नहीं छोड़ूँगी, तुम्हारे चित्त में सदा निवास करूँगी। हे साधुवर, तुम बड़े कृपालु हो। तुमने क्षण भर में ही मेरा सारा कष्ट दूर कर दिया। अब मेरे इन अचेत पुत्रों को भी जगा दीजिए।

सूतजी कहते हैं—भक्ति के ये वचन सुनकर नारदजी को करुणा आ गई। वह ज्ञान और वैराग्य को हाथों से हिलाकर जगाने लगे। उनके कान के पास मुँह ले जाकर ज़ोर से पुकारकर वह कहने लगे—हे ज्ञान, जल्दी जागो! हे वैराग्य, शीघ्र उठो। इसके बाद वेद-वेदान्त सुनाकर और गीतापाठ करके नारद ने उन्हें जगाने की कोशिश की। इस तरह बहुत चेष्टा करने पर ज्ञान और वैराग्य तनिक उठे भी तो उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। आलस्य के मारे वे बार-बार जम्हाई लेते रहे। उनके शरीर सूखे काठ-जैसे हो रहे थे। वे फिर लेट रहे। भूख से दुर्बल ज्ञान-वैराग्य को फिर निद्रा में अचेत होते देखकर नारद को बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगे, अब मुझे क्या करना चाहिए? इनका यह बुढ़ापा कैसे दूर हो? इनकी यह नींद कैसे दूर हो? इस तरह सोचते हुए नारद ने हरि को स्मरण किया। तब यह आकाशवाणी हुई—हे नारद, खेद न करो। तुम्हारा उद्यम सफल होगा, इसमें संदेह नहीं। हे नारद, इसके लिए तुम सत्कर्म करो। वह सत्कर्म क्या है, यह तुमको साधुओं में श्रेष्ठ जन बतलावेंगे। उस सत्कर्म के करने पर इनकी यह नींद और बुढ़ापा दूर हो जायगा। क्षण भर में भक्ति का सब ओर प्रचार भी हो जायगा। इस स्पष्ट आकाशवाणी को वहाँ के सभी लोगों ने अच्छी तरह सुन लिया। नारद को बड़ा विस्मय हुआ। उन्हें इस आकाशवाणी का मतलब कुछ समझ में नहीं आया। इस आकाशवाणी ने भी वह सत्कर्म स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया। वह कौन सत्कर्म है, जिससे ज्ञान-वैराग्य सचेत होंगे? वे साधु कौन हैं और कहाँ मिलेंगे, जो सत्कर्म बतलावेंगे। आकाशवाणी ने जो कुछ बतलाया है, उसके बारे में मुझे क्या करना चाहिए?

सूतजी कहते हैं—तब नारदजी ने भक्तिसहित ज्ञान-वैराग्य को वहीं छोड़कर साधुओं की खोज में तीर्थयात्रा शुरू की। वह एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाकर तीर्थों में और राह में भी उन मुनीश्वरों को पूछने और उनका पता लगाने लगे। सब लोग नारदजी से सब हाल सुन लेते थे, लेकिन कोई निश्चय करके कुछ बता नहीं सकता था। कोई कहता था, यह काम असाध्य है; कोई कहता था, इस विषय में कुछ जाना नहीं जा सकता। कुछ लोग सुनकर चुप हो रहे; कुछ भाग गये। त्रैलोक्य में विस्मयजनक हाहाकार-सा मच गया। लोग आपस में कहने लगे कि जब वेद-वेदान्त और गीता के पाठ से भी जगाने पर ज्ञान-वैराग्य को होश नहीं आया तब उन्हें जगाने का और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। योगी नारद भी जिसे स्वयं नहीं जान पाते, उसके बारे में और मनुष्य क्या कह सकते हैं (इस प्रकार सब श्रेष्ठ ऋषियों से प्रश्न करने पर भी जब कुछ ठीक उत्तर नहीं मिला, सबने इस काम को कठिन ही बतलाया, तब चिंतित होकर नारदजी बदरिकाश्रम में चले गये और उन्होंने वहीं तपस्या करने का निश्चय कर लिया। इतने ही में

उनको अपने सामने करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार नाम के चारों ऋषि देख पड़े।

नारद ने उनको देखकर प्रणाम किया और कहा—हे कुमारो, बड़े भाग्य से इस समय आपका समागम हुआ है। मुझ पर कृपा करके मैं जो पूछता हूँ, उसका उत्तर मुझे दीजिये। आप सब योगी, बुद्धिमान् है।



आपने बहुत कुछ देखा और सुना है। देखने मे पाँच वर्ष के बालक जान पडते हैं, लेकिन कश्यप, मरीचि आदि ऋषियों के भी पहले उत्पन्न हुए हैं। आप सदा वैकुंठ मे रहते है, हरि का कीर्त्तन किया करते हैं, भगवान के लीलामृत का रस पीकर उसी के नशे में मस्त रहते है। भगवत्कथा की चर्चा ही आपका एकमात्र काम है। आपके मुख से सदा "हरिः शरणम" ये शब्द निकला करते हैं। इसीलिए काल की दूती जरा (बुढ़ापा) आपको नहीं छू सकती। आपकी तनिक भौंह टेढ़ी होने से ही हरि के द्वारपाल जय-विजय को पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा और फिर आप ही की कृपा से वे हरिलोक को जा सके। बडे सौभाग्य से ही यहाँ मुझे आपके दर्शन प्राप्त हुए है। हे दयालु सज्जनो, मुझ दीन पर आप अनुग्रह करें। आकाशवाणी ने जिस सत्कर्म की बात कही है, वह क्या है? उसे किस तरह करना चाहिए? यह सब विस्तार के साथ मुझ से कहिए। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को कैसे सुखी बनाया जा सकता है? सब वर्णों में प्रयत्न और प्रेम के साथ इनकी स्थापना कैसे की जा सकती है?

सनक आदि कुमारों ने कहा—हे नारद, चिन्ता न करो, प्रसन्न होओ। इसका सहज उपाय पहले ही से यहाँ मौजूद है। अहो नारदजी, आप धन्य है। आप विरक्त पुरुषों के शिरोमणि, श्रीकृष्ण के दासों मे प्रधान और योगशास्त्र के सूर्य है। भक्ति के लिए जो आप इतनी चेष्टा कर रहे है, यह आपके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कृष्ण के दास सदैव भक्ति की स्थापना किया करते हैं। ऋषियों ने इस पृथ्वी पर कल्याण के अनेक मार्ग निकाले है। लेकिन वे सब श्रमसाध्य है और उनसे केवल स्वर्ग ही मिलता है। वैकुंठलोक पहुँचानेवाला मार्ग बहुत छिपा हुआ है। उसे बतलानेवाला पुरुष बड़े भाग्य से मिलता है। आकाशवाणी न तुमको जो सत्कर्म बतलाया है, वह हम अब तुमको बतलाते हैं। मन लगाकर प्रसन्न चित्त से सुनो। कर्ममार्ग मे हवन आदि सामग्री से यज्ञ किये जाते हैं। तप का यज्ञ, योग का यज्ञ, स्वाध्याय (वेद-शास्त्र का पाठ) और ज्ञान का यज्ञ, ये भी कर्ममार्ग हैं। इनमें ज्ञान-यज्ञ ही सत्कर्म कहलाता है। श्रीमद्-भागवत की चर्चा ज्ञान-यज्ञ के अन्तर्गत है। इसे श्रीशुकदेव आदि परमहंस आचार्यों ने किया है। इसी

भागवत के पारायण से ज्ञान और वैराग्य जागेंगे, उनका बल बढ़ेगा, कष्ट दूर होगा और भक्ति को सुख मिलेगा। भागवत के पाठ से कलियुग के सारे दोष उसी तरह दूर हो जायँगे, जिस तरह सिंह के गरजने से भेड़िये भाग जाते हैं। प्रेमरस को बढ़ानेवाली भक्ति ज्ञान और वैराग्य के साथ घर-घर फैल जायगी।

नारद ने कहा—वेद-वेदान्त के घोष और गीता के पाठ से जगाने पर भी जब ज्ञान और वैराग्य को होश नहीं हुआ और भक्ति को सुख नहीं मिला, तब भागवत के पारायण से यह काम कैसे होगा? आप लोग मेरे इस संशय को मिटाइए; क्योंकि आपका ज्ञान अमोघ है। आप शरणागतवत्सल हैं, इसलिए अब इसमें देर न कीजिए।

कुमारों ने कहा—वेद और उपनिषदों का सारांश भागवत की कथा में भर दिया गया है, इसी से इसका अपूर्व फल और प्रभाव है। किसी वस्तु में सर्वत्र रस फैला हुआ अगर हो तो उसके रस का स्वाद अच्छी तरह नहीं लिया जा सकता, पर वही रस अगर निकालकर अलग कर लिया जाय तो वह विशेष रूप से तृप्तिदायक होता है। उदाहरण के रूप में दूध को ले लीजिए। दूध में घी होता है, पर दूध पीने से घी का स्वाद नहीं मिलता; लेकिन उसी दूध से जब घी अलग निकाल लिया जाता है तो वह दिव्य पदार्थ परम सुगंधयुक्त और देवताओं को प्रसन्न करनेवाला होता है। इसी तरह ऊख में भी शक्कर होती है; पर अलग निकालने पर ही उसका असली स्वाद मिलता है। वैसे ही भागवत की कथा को समझो। यह भागवत नाम का पुराण ब्रह्मस्वरूप है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिए ही यह प्रकाशित हुआ है। वेद और वेदान्त के पूर्ण पंडित और गीता की भी रचना करनेवाले भगवान् वेदव्यास जब पछताते हुए खिन्न होकर अज्ञान के सागर में डूबते हुए मोह को प्राप्त हो रहे थे, तब तुम्हीं ने तो जाकर उनको चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश देकर भागवत महापुराण बनाने की प्रेरणा की थी और उसे सुनकर व्यासजी की सब चिन्ता दूर हो गई थी, सब मोह मिट गया था। फिर इस समय तुम श्रीमद्भागवत के माहात्म्य को सुनकर विस्मय के साथ ऐसा प्रश्न क्यों कर रहे हो? इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि भागवत के सुनने-सुनाने से सब शोक मिट जाते हैं, दुःख दूर हो जाते हैं।

नारद ने कहा—हे महानुभाव मुनियो, मैं आपकी शरण हूँ। आपके दर्शन से उसी समय सब अशुभ नष्ट हो जाते हैं और जन्म-मरण के दुःख-दावानल से जल रहे लोगों को शान्ति मिलती है। शेष भगवान के श्रीमुख से आप लोगों ने जो सरस भागवत की कथा सुनी है, वही भक्ति को बढ़ानेवाली और ज्ञान-वैराग्य को पुष्ट करनेवाली कथा मुझको सुनाइए। बहुत जन्मों के संचित भाग्य का उदय होने पर ही मनुष्य को सत्संग प्राप्त होता है और उसके प्रभाव से बहुत जल्दी अज्ञान से उत्पन्न मोह और मद के अंधकार को मिटानेवाले विवेक का उदय होता है।

# तीसरा अध्याय

## भक्ति का कष्ट दूर होना

नारद ने कहा—भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिए मैं यत्न के साथ भागवत का पारायण सुनूँगा, ज्ञानयज्ञ करूँगा। हे सज्जनो, अब आप इस यज्ञ के लिए योग्य स्थान बतलाइए। भागवतशास्त्र की महिमा भी मुझे सुनाइए। कारण, आप वेदशास्त्र को अच्छी तरह जानते हैं। आपसे कुछ छिपा नहीं है। कृपापूर्वक यह भी बतलाइए कि भागवत सुनने की विधि क्या है? कितने दिनों में कथा समाप्त होगी?

कुमारों ने कहा—नारदजी, तुम विनम्र और विवेकी हो, इसलिए तुमने जो पूछा, वह सब हम






बताते हैं, सुनो। हरद्वार के पास गंगा के किनारे आनंद नाम का एक पवित्र स्थान है। वहाँ अनेक ऋषि रहते है, देवता और सिद्ध लोग आया-जाया करते हैं। अनेक वृक्ष और सुहावनी लताएँ उस स्थान को सुशोभित करती हैं। उस जगह नई चमकीली कोमल बालू बिछी हुई है। जल मे सुनहले कमल फूल रहे है। उस एकान्त और रमणीय स्थान मे रहनेवाले गऊ, बाघ, हाथी, सिंह आदि जीव अपने स्वाभाविक वैर-भाव को छोड़कर शान्ति के साथ आनन्द से रहते हैं। वहीं पर तुम यह ज्ञानयज्ञ करो। उस जगह जब रसमयी अपूर्व भागवत की कथा होगी, तब पुर में पड़े हुए, जरा से जीर्णकलेवर महादुर्बल हो रहे ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर भक्ति भी उपस्थित होगी। जहाँ हरि की चर्चा होती है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, और वैराग्य आप से पहुँच जाते हैं। कथा का शब्द सुनते ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य जवान हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—शौनकजी, इतना कहकर चारों कुमार नारदजी को साथ लिये हुए कथारस पीने की लालसा से शीघ्रता के साथ उसी गंगातट को गये। इधर नारदसहित सनकादिक चारों परमहंस गंगा किनारे पहुँचे। और उधर यह सुसमाचार तीनों लोकों में फैल गया। भूलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक तक भागवतकथा के अमृत को पीने के लिए उत्कंठित होकर जल्दी-जल्दी दौड़ते हुए आ रहे लोगों का शोरगुल फैल गया। सबसे पहले सब वैष्णव लोग आ गये। फिर हरि के प्रेमी भक्त भृगु, वशिष्ठ, च्यवन, गौतम, मेधातिथि, देवल, देवरात, परशुराम, विश्वामित्र, शाकल्य, मार्कंडेय, दत्तात्रेय, दुर्वासा, पिप्पलाद, योगेश्वर वेदव्यास, उनके पिता पराशर, छायाशुक, जाजलि और जह्नु आदि मुनिगण अपने पुत्र, शिष्य, स्त्री आदि बन्धु-बान्धवों के साथ वहाँ आकर जमा हुए। सब वेद, वेदान्त, मंत्र, तंत्र, छः शास्त्र, सत्रह पुराण, गंगा आदि नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर, सब क्षेत्र, सब दिशाएँ, दंडक आदि वन, सब पर्वत, देवता, गंधर्व, किन्नर आदि साक्षात् शरीरधारी होकर वहाँ उपस्थित हुए। उन सबका स्वागत महर्षि भृगु ने किया और सबको ठीक जगह पर बिठलाया। हरिकथा सुनने की दीक्षा लेकर नारदजी ने सनक आदि कुमारों को बैठने के लिए सबसे ऊँचा व्यास का आसन दिया। विश्ववन्दित और कृष्ण के भक्त सनकादिक मुनि उस व्यासगद्दी पर विराजमान हुए। वैष्णव लोग, विरक्त लोग, संन्यासी लोग, ब्रह्मचारी लोग सबसे आगे बैठे। उन सबके आगे स्वयं नारदजी मुख्य श्रोता के रूप में बैठे। एक तरफ सब ऋषि, एक तरफ सब देवता, एक तरफ सब वेद और उपनिषद् आदि धर्मशास्त्र और एक तरफ सब स्त्रियाँ कथा सुनने को बैठ गईं। सब लोग "जय-जय", "नमो नमः", "साधु-साधु" कहते हुए फूल, अक्षत, खीलें आदि बरसाने लगे। शंख, नगाड़े, घंटे आदि बाजे बजने लगे। विमानों पर चढ़े हुए बहुत-से श्रेष्ठ देवगण आकाश से कल्पवृक्ष के फूल बरसाने लगे।

सूतजी कहते है—इस तरह पूजन-उत्सव के बाद जब सब लोग एकाग्र चित्त से कथा सुनने को अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये, तब सनक आदि ऋषिगण इस प्रकार भागवत की महिमा का बखान करने लगे। सनकादिक ने कहा—हे नारद, अब हम पहले भागवत-महापुराण के पढ़ने और सुनने का माहात्म्य तुमको सुनाते हैं, जिसके सुनने से ही मुक्ति हाथ में आ जाती है। भागवत की कथा को सदैव पढ़ना और सुनना चाहिए। इसके सुनने से ही भगवान् हरि हृदय में आ विराजते हैं। भागवतपुराण मे १८००० श्लोक है, १२ स्कंध हैं। वही परीक्षित् और शुकदेवजी के संवाद से युक्त भागवतशास्त्र हम तुमको सुनाते हैं। यह जीव तभी तक अज्ञानवश संसारचक्र में पड़कर भटका करता है, जब तक कल्याणदायक भागवत की कथा कान में नहीं पड़ती। भ्रम में डालनेवाले अन्य अनेक शास्त्र और पुराण सुनने से कोई लाभ नहीं। भागवतशास्त्र ही मुक्तिदायक होने के कारण सर्वोत्तम हैं। इसीको सुनाना चाहिए। जिस घर में नित्य भागवत की कथा बाँची जाती है, वह परमपावन तीर्थ के तुल्य है। उसमें रहनेवालों के सब पाप मिट जाते हैं। सैकड़ों वाजपेय यज्ञ और हजारों अश्वमेध यज्ञ इस भागवत-कथा के सोलहवें अंश के

बराबर भी नही हैं। हे तपस्वी मुनियो, इस पंचतत्त्वरचित शरीर और अन्तःकरण में तभी तक पाप रहते है, जब तक मनुष्य शुद्ध चित्त से मन लगाकर भागवत की कथा को नहीं सुनते। गंगा, गया, काशी, पुष्कर, प्रयागराज आदि में स्नान-दान करने से वह फल नहीं मिलता, जो भागवत की कथा पढ़ने-सुनने से प्राप्त होता है। अगर परमगति या मोक्ष चाहते हो तो नित्य भागवत के एक श्लोक, आधे श्लोक या चौथाई श्लोक का ही पाठ करते रहो। बुद्धिमान् पंडित लोग प्रणव (ॐकार), गायत्री, पुरुषसूक्त, तीनों वेद, भागवतशास्त्र, द्वादशाक्षर मंत्र ( ॐनमो भगवते वासुदेवाय ), द्वादशमूर्त्ति, सूर्यनारायण, प्रयागराज, संवत्सरस्वरूप काल, ब्राह्मण, गऊ, अग्निहोत्र, एकादशी, तुलसी, वसन्त ऋतु और पुरुषोत्तम मास को भगवान् का ही रूप समझते है। जो कोई धन खर्च करके नित्य किसी विद्वान् पंडित से भागवत की कथा कहलाता है, उसके करोड़ों जन्म के पाप दूर हो जाते है, इसमें कोई संदेह नहीं। जो मनुष्य भागवतशास्त्र का आधा या चौथाई श्लोक भी नित्य पढ़ता है, उसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। नित्य भागवतशास्त्र का पाठ, हरिचिन्तन, तुलसी के पेड़ की सेवा और गऊ को पालना, इन सुकृतों से समान ही फल मिलता है। जो कोई अन्त समय तक भक्ति के साथ भागवतशास्त्र को सुनता है, वह भगवान् की कृपा से वैकुंठलोक को जाता है। जो मनुष्य सोने के सिंहासन पर रखकर भागवत की पोथी किसी विद्वान् वैष्णव को दान करता है, उसे निस्सन्देह मुक्ति मिलती है। जिसने मन को हरि में लगाकर जन्म भर में एक बार भी हरि की कथा नहीं सुनी, वह महाशठ है। उसने चांडाल और गधे के समान अपने जन्म को व्यर्थ ही बिता दिया और जन्म लेकर व्यर्थ ही माता को गर्भ का कष्ट दिया। स्वर्गवासी इन्द्र, ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवगण कहते हैं कि वह पापी पुरुष जीते ही मुर्दे के समान है, जिसने कभी थोड़ी-सी भी भागवत की कथा नहीं सुनी। वह पृथ्वी के लिए बोझ के समान और पशुतुल्य है। उसे कोटिबार धिक्कार है। वास्तव में यह हरिकथा परम दुर्लभ है। करोड़ों जन्म के पुण्य जब उदय होते है, तब जाकर कहीं यह भागवत की कथा सुनने को मिलती है। इसलिए हे योगिराज बुद्धिमान नारदजी, यत्नपूर्वक एकाग्र चित्त से इसको सुनना चाहिए। इसे सुनने के लिए कोई खास दिन या समय नियत नहीं है। जब जी चाहे, सुन ले। इस कथा को सुनने के समय सत्य बोलना और ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। लेकिन यह कलियुग है। इसमें बहुत समय तक इन सब नियमों को कोई साध नहीं सकता। यही सोचकर श्रीशुकदेवजी ने इसके सुनने की एक विशेष विधि बतलाई है। भागवत सुनने की दीक्षा लेकर बहुत समय तक मन की प्रवृत्तियों को रोके रहना और नियमों का पालन करना इस कलिकाल में सबके लिए बहुत कठिन है। इसलिए सप्ताह-पारायण सुनना चाहिए। माघ महीने भर नित्य श्रद्धा के साथ भागवत की कथा सुनने से जो फल मिलता है, वही श्रीशुकदेवजी की कृपा से सप्ताह-पारायण सुनने से प्राप्त हो जाता है। कलियुग में अनेक दोष या विघ्न-बाधाएँ है, जिनसे मन को एकाग्र रखना सहज नहीं। फिर लोगों की आयु भी थोड़ी है, और वह प्रतिदिन क्षीण होती चली जाती है। जीवन का कुछ भरोसा नहीं। इसलिए सात दिन में सप्ताह सुन लेना ठीक है। जो फल तप, योग और समाधि में कठिन कष्ट सहने पर भी नहीं प्राप्त होता, वही फल अनायास सप्ताह सुनने से मिल जाता है। सप्ताह का सुनना सब यज्ञ, व्रत, तप, तीर्थयात्रा, योग, ध्यान, ज्ञान, आदि से बढ़कर है। और अधिक क्या कहें, सप्ताह का सुनना सर्वोपरि है; और सब सुकृत इससे नीचे हैं।

शौनकजी ने कहा—हे सूत, यह तो आपने आश्चर्यजनक अद्भुत कथा सुनाई। सनकादि के कथन से तो जान पड़ता है कि भागवत-महापुराण ही मुक्ति को देनेवाला है। इसके आगे ज्ञान आदि धर्म के सब साधन कोई चीज नहीं हैं। भगवन्, भागवत का ऐसा माहात्म्य कैसे हुआ? कृपापूर्वक हमसे कहिए।

सूत ने कहा—शौनकजी, कृष्णचन्द्र जब पृथ्वीतल को छोड़कर अपने परमधाम को जाने लगे,

तब उनके श्रीमुख से ( एकादश स्कंध में वर्णित ) ज्ञान को सुनकर भगवान के भक्त उद्धव ने कहा—हे गोविन्द, आप तो अपने भक्तों के काम को पूरा करके परमधाम को जा रहे हैं; पर मैं बहुत चिन्तित हूँ। कृपा करके मेरी उस चिन्ता को दूर कीजिए और मुझे सुखी बनाइए। यह घोर कलियुग आ गया है। इसमें फिर दुष्ट जनों का अभ्युदय होगा। उनके कुसंग में पड़कर जब साधु-संत भी उग्र प्रकृति के और कुकर्मी हो उठेंगे, तब उनके बोझ से पीड़ित-दुःखित यह पृथ्वी गाय का रूप रखकर किसकी शरण में जायगी ? हे कमलनयन, आपके सिवा दूसरा कोई इसका रक्षक मुझे नहीं देख पड़ता। इसलिए हे भक्तवत्सल, सज्जनों पर दया करके आप परमधाम को न सिधारिए। हे भगवन, आप चिन्मय और निराकार होकर भी भक्तों ही की रक्षा के लिए इस सगुण रूप से पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं। आपके बिना आपके भक्त इस पृथ्वी पर कैसे रहेंगे ? आपके निर्गुण रूप की उपासना कष्टसाध्य ही नहीं, बल्कि एक प्रकार से सर्वसाधारण के लिए असंभव भी है। इसलिए आप अपने इस रूप को न छिपाइए।

प्रभास-क्षेत्र में उद्धव के ये वचन सुनकर भगवान ने अपने मन में सोचा, भक्त जनों के अवलंबन के लिए मुझे अब क्या करना चाहिए ? तब भगवान् ने अपना सब तेज और प्रभाव इस भागवत में ही रख दिया। कृष्णचन्द्र जब इस लोक से परमधाम जाने लगे तो इसी भागवत के सागर में वह प्रवेश कर गये। इसलिए यह भागवत-महापुराण भगवान की साक्षात् शब्दमयी मूर्त्ति है। इसका पठन-पाठन, श्रवण, दर्शन और सेवन करने से सब पाप मिट जाते हैं। इसीलिए विधिपूर्वक भक्ति के साथ भागवत के सप्ताह-पारायण को सुनना धर्म के सभी साधनों में मुख्य माना गया है। कलियुग में सब अन्य साधनों को छोड़कर भागवत के पढ़ने-सुनने को ही परमधर्म माना है। दुःख, दारिद्र्य, दुर्भाग्य और पाप को दूर करने और काम तथा क्रोध को जीतने के लिए कलियुग में यही एक श्रेष्ठ कर्त्तव्य कहा गया है। अन्यथा विष्णु भगवान की माया देवतों को भी नहीं छोड़ती, तब साधारण मनुष्य कैसे उसे जीत सकते हैं ? इसीलिए उस माया को सहज में छुड़ा देनेवाला यह भागवत का सप्ताह-पारायण ही कलियुग में सर्वोत्तम धर्म माना गया है।



सूतजी कहते हैं—हे शौनक, जिस समय सनकादिक ऋषिगण उस महासमारोह की सभा में भागवत सुनने का माहात्म्य कह रहे थे, उस समय एक बहुत ही विस्मयजनक दृश्य देख पड़ा। अपने जवान और हृष्टपुष्ट दोनों ज्ञान-वैराग्य नाम के पुत्रों को साथ लिए हुए, मुख से "श्रीकृष्ण, गोविन्द, हरे, मुरारे, हे नाथ" आदि हरि के नामों को बारंबार कहती हुई प्रेममयी भक्ति एकाएक वहाँ पर प्रकट हो गई। भगवद्भक्तों का एकमात्र उत्तम आभूषणस्वरूप उस सुंदर वेषवाली भक्ति को वहाँ उपस्थित देखकर सब उपस्थित सन्तजन

आपस में विस्मय के साथ इस प्रकार तर्क करने लगे—"अहो, यह यहाँ कैसे प्रकट हो गई ? कैसे और कहाँ से आ गई ?"

तब सनक आदि कुमारों ने कहा—आप लोग आश्चर्य न करें ! ज्ञान और वैराग्य के साथ भक्ति का प्रकट होना इसी कथा का फल है। ज्ञान और वैराग्य सहित भक्ति ने ये वचन सुनकर विनय के साथ सनत्कुमार से यों कहा। भक्ति बोली —कलियुग ने मुझको मिटा दिया था, पर आप लोगों ने भगवान की कथा के अमृतरस से मुझे जिला लिया, मुझे परिपुष्ट कर दिया। अब कृपा करके यह बतलाइए कि मैं कहाँ रहूँ ? भक्ति की यह प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी के पुत्र कुमारों ने उससे कहा—हे भक्ति, तुम भक्तों के हृदय में हरि के रूप को बसानेवाली, प्रेम की एकमात्र अधीश्वरी और जन्म-मरण की पीडा को हरनेवाली हो। इसलिए तुम धैर्य के साथ स्थिर होकर बराबर वैष्णव जनों के चित्त मे सुखपूर्वक निवास करो। ये सब कलिकाल के दोष वहाँ तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकेंगे।

इस प्रकार सनकादिक की आज्ञा पाकर हरि की परम प्यारी भक्ति हरिभक्तों के चित्त मे जाकर बस गई। हे मुनिवर, तीनों लोकों और चौदहों भुवनों में वे मनुष्य निर्धन होने पर भी धन्य है; जिनके हृदय में नारायण की भक्ति निवास करती है। कारण, उस भक्ति के बन्धन मे बंधे हुए हरि भी अपने लोक को छोड़कर उनके हृदय मे ही आकर निवास करते है। हम अब इस पृथ्वी पर विराजमान, ब्रह्मस्वरूप भागवत-पुराण की और अधिक महिमा आपसे क्या कहे ! इसे सुनने और सुनाने से वक्ता और श्रोता, दोनों को कृष्ण की समता अर्थात् कृष्ण का रूप मिलता है। इसलिए और सब धर्मों को छोड़कर इसी को पढ़ना और सुनना चाहिए।

# चौथा अध्याय

## धुन्धुकारी और गोकर्ण की कथा का वर्णन

सूतजी कहते हैं— शौनकजी, वैष्णवों के मन मे अलौकिक भक्ति देखकर भक्तवत्सल भगवान अपने लोक को छोडकर उस वैष्णव-समाज के बीच प्रकट हुए, अर्थात् अपने भक्तों को उनके निर्मल हृदय में देख पड़े। वनमाला पहने, पानी से भरे मेघ के समान श्यामवर्ण, पीताम्बर से सुशोभित, कमर में सोने की कर्धनी की लड़ें पड़ी हुई, मुकुट और कुण्डल धारण किये, त्रिभंगललित नटवरवेष, सुंदर कौस्तुभ मणि के प्रकाश से शोभायमान, अपनी सुंदर छवि से करोड़ों कामदेवों को लजानेवाले, सब अंगों मे हरिचन्दन लगाये, मुरलीधर, परमानंदस्वरूप, चैतन्यमूर्त्ति, माधुरीमय नारायण को अपने हृदय मे देखकर हरि की कथा सुनने को आये हुए वैकुण्ठवासी उद्धव आदि वैष्णव लोग ( जो गुप्त रूप से उस समाज मे आकर संमिलित हुए थे ) आनन्दमग्न होकर जयजयकार करने लगे। उस समय उस मण्डली में अलौकिक भक्ति का भाव छा गया। उस सभा मे बैठे हुए सब लोग भक्तिभाव में डूबकर हरि के ध्यान में ऐसे लीन हो गये कि देह या गेह की कुछ भी सुध नहीं रही। यह दशा देखकर नारदजी बोले—हे मुनिवरो, आज मैंने सप्ताह-यज्ञ की यह असाधारण महिमा देखी कि महामूढ़ शठ, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी इस यज्ञ में पूर्ण रूप से पापहीन विशुद्ध हो जाते है। मै समझता हूँ, इस कलिकाल में भूमण्डल मे भागवत की

कथा से बढ़कर चित्त की शुद्धि और पापपुंज का विनाश करनेवाला और कोई साधन नहीं है। आप लोग कृपालु हैं; आपने कृपा करके लोकहित के विचार से यह कोई नई राह दिखाई है। कृपा करके यह भी बतला दीजिए कि इस सप्ताह-यज्ञ से कौन-कौन लोग पवित्र हो जाते हैं?

सनकादिक ने कहा—नारदजी, जो मनुष्य महापापी हैं, जो सदा कुकर्म किया करते हैं, जो कुमार्ग पर चलते हैं, जो क्रोध की आग से जला करते हैं, कुटिल और कामी है, वे भी कलियुग में इस सप्ताह-यज्ञ से पवित्र हो जाते हैं। जो मनुष्य कभी सच नहीं बोलते, मा-बाप के कुलों को दाग़ लगाते हैं, मा-बाप को कष्ट पहुँचाते है, अत्यन्त तृष्णा से व्याकुल रहते हैं, वर्णाश्रम के धर्मों का पालन नहीं करते, अर्थात् पतित है, दंभ और डाह से परिपूर्ण या हत्यारे हैं, वे भी कलियुग में सप्ताह सुनकर पवित्र हो जाते है। जो लोग मदिरा-पान, ब्रह्महत्या, चोरी, गुरु की स्त्री से भोग और विश्वासघात, इन पाँच महापातकों को करते है, छली और जालिये है, क्रूर और पिशाच के समान दया से हीन हैं, जो लोग सदैव ब्राह्मणों के धन को छीन या ठग लेते हैं, व्यभिचार करते या कराते हैं, वे भी कलियुग मे इस सप्ताह को सुनकर पवित्र हो जाते हैं। जो लोग शठता के कारण हठ करके नित्य मन, वाणी और काया से पाप करते हैं, जो लोग अन्याय के साथ पराये धन को हरकर उससे अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करते है, वे महामलिन और कलुषित हृदय के लोग भी कलियुग में सप्ताह-यज्ञ से पवित्र हो जाते हैं।

हम इस संबंध मे एक पुराना इतिहास तुमको सुनाते हैं। यह इतिहास सुनने से पाप छूट जाते हैं। पहले किसी समय में तुंगभद्रा नदी के किनारे एक बहुत बड़ा और अच्छा नगर बसा हुआ था। उसमे चारों वर्णों के लोग रहते थे। वे सब अपने-अपने धर्म का पालन और सत्कर्म करते थे। सब सत्यवादी थे। उस नगर मे आत्मदेव नाम के एक ब्राह्मण देवता थे। वह सब वेदों के ज्ञाता थे और श्रुति-स्मृति के विधान के अनुसार सब श्रौत और स्मार्त्त कर्म करते थे। वह सूर्य के समान तेजस्वी थे। उनकी वृत्ति भिक्षा ही थी; पर निपट दरिद्र न थे। उनकी स्त्री का नाम था धुन्धुली। वह सुन्दरी और ऊँचे कुल की कन्या होने पर भी सदा अपनी ही टेक रखती थी। उसका स्वभाव अच्छा नहीं था। उसकी प्रकृति क्रूर थी। वह सदा दूसरों के घर का परपंच किया करती थी। उसका मुँह कभी बंद नहीं होता था—हमेशा बकती ही रहती थी। बड़ी ही कृपण और कर्कशा होने पर भी एक गुण उसमें यह था कि घर का काम-काज बड़े उत्साह के साथ किया करती थी। यह सब होने पर भी पति और पत्नी में बड़ा प्रेम था। इस तरह वे बहुत दिन तक गृहस्थाश्रम में रहे; लेकिन उनके कोई सन्तान नहीं उत्पन्न हुई। इस कारण धन, कामभोग और गृहस्थी मे ब्राह्मण को कुछ भी सुख नहीं मिलता था। सन्तान की आशा करते-करते ही उनकी अवस्था ढल गई। तब वे सन्तान के लिए अनेक उपाय और धर्म-कर्म करने लगे। ग़रीबों को और दीनों को गऊ, पृथ्वी, सुवर्ण, वस्त्र, अन्न आदि दान करने में ब्राह्मण ने अपना आधे से अधिक धन खर्च कर डाला। तो भी कोई लड़का या लड़की नहीं हुई। अब तो ब्राह्मण और उसकी स्त्री को बड़ी चिन्ता हुई। दुःख और बेचैनी के मारे ऊबकर एक दिन वह ब्राह्मण घर छोड़कर जंगल को चले गये। चलते-चलते दोपहर हो गई। ब्राह्मण को बड़ी प्यास लगी। वह पानी पीने के लिए एक सरोवर के पास गये। वहाँ पहुँचकर पानी पीने के बाद वह ब्राह्मण सन्तान की चिन्ता से दुःखित और व्याकुल होकर सरोवर के किनारे बैठ गये। थोड़ी देर में एक संन्यासी भी वहाँ पानी पीने के लिए आ गया। संन्यासी जब पानी पी चुका, तब आत्मदेव ब्राह्मण उसके पास गये और संन्यासी के चरणों में सीस नवाकर उसके आगे खड़े हो गये। आत्मदेव को उदास और बड़ी-बड़ी साँसें लेते देखकर संन्यासी ने कहा—ब्राह्मण देवता,

तुम किस प्रबल चिन्ता से व्याकुल होकर इस तरह रो रहे हो ? तुम जल्दी अपने दुःख का कारण मुझसे कहो।

तब ब्राह्मण ने कहा—महात्माजी, मैं आपसे अपना दुःख क्या बतलाऊँ ? यह सब मेरे पिछले पापों का फल है ! मेरे पुरखे भी इस चिन्ता से गरम साँसें लेते रहते है कि इसके पीछे हमको पानी कौन देगा ? इसी कारण जब मै पुरखों का तर्पण करता हूँ, तो वह जल पितरों की गरम साँसों से गरम हो जाता है। मेरे दिये हुए अन्न और पानी से देवता और ब्राह्मण प्रसन्न नहीं होते। सन्तान न होने से मुझको बड़ा ही दुःख है। उसी दुःख से व्याकुल होकर मैं यहाँ मरने आया हूँ। जिसके कोई सन्तान न हो, उसके जीवन को धिक्कार है ! जिस घर में कोई लड़का या लड़की न खेलती हो, उस घर को धिक्कार है ! सन्तानहीन मनुष्य के धन और कुल को धिक्कार है ! संन्यासीजी, मैं अपने अभाग्य को कहाँ तक कहूँ। जिस गऊ को पालता हूँ, वह बाँझ निकल जाती है; जिस पेड़ को लगाता हूँ, वह भी नहीं फूलता-फलता ! जो फल मेरे घर आता है, वह उसी समय सूख जाता है। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि मुझ सन्तानहीन अभागे का जीवन ही व्यर्थ है।

संन्यासी के सामने खड़े हुए वह ब्राह्मण यों कहकर अत्यंत दुःख के मारे ऊँचे स्वर से रोने लगे। यह देखकर संन्यासी को ब्राह्मण पर बड़ी दया आई। करुणार्द्र होकर उस महायोगी संन्यासी ने अपने योगबल से ब्राह्मण के भाल मे लिखी हुई विधाता की बनाई हुई कर्मरेखा को देखा। फिर सब हाल जानकर वह इस तरह कहने लगे।

संन्यासी ने कहा—यह सन्तान न होने का शोक अज्ञान के कारण तुमको सता रहा है। तुम अपने कर्मफल को नहीं जानते, इसी से इस तरह शोक कर रहे हो। इस शोक को मेरे कहने से छोड़ दो। देखो, कर्म की गति बड़ी प्रबल है। उसे कोई किसी तरह टाल नहीं सकता। इसलिए विवेक का सहारा लेकर संसारसुख अर्थात् सन्तान की वासना को हृदय से निकाल दो। हे विप्रदेव, मैंने तुम्हारे प्रारब्ध को अभी देखा है। तुम्हारे भाग्य में सात जन्म तक पुत्र या कन्या, कुछ भी नहीं लिखा है। देखो, पुत्र के होने से सुख ही मिलने का कोई निश्चय नहीं है। राजा सगर को और राजा अंग को सन्तान से बड़ा दुःख मिला है। इसलिए कुटुम्ब के सुख की आशा छोड़कर अब तुम संन्यास ले लो। सच्चा सुख संन्यास में ही प्राप्त होगा।

आत्मदेव ने यह सुनकर कहा महात्माजी, आपके इस ज्ञान या विवेक के उपदेश से मुझे बोध नहीं हो सकता। मेरे भाग्य में सन्तान नहीं लिखी है तो आप अपने तपोबल से मुझको पुत्र दीजिए ; अगर आप मेरी प्रार्थना पूरी नहीं करेंगे तो शोक के मारे मैं आपके आगे ही अपने प्राण त्याग दूँगा। पुत्र आदि का सुख भोगे बिना संन्यास ले लेने में शान्ति नहीं मिल सकती। पुत्र-पौत्र से भरापुरा गृहस्थाश्रम ही सच्ची शान्ति और सुख दे सकता है।

पुत्र के लिए ब्राह्मण का ऐसा हठ देखकर उन तपोधन संन्यासी ने कहा—ब्राह्मण देवता, विधना के लिखे अंक मेटने के लिए हठ करने से राजा चित्रकेतु को बड़ा दुःख और कष्ट भोगना पड़ा था। वैसे ही तुम भी हठ कर रहे हो। अगर जबरदस्ती मैं तुमको पुत्र दूँगा, तो उससे तुमको भी सुख नहीं मिल सकेगा। जब भाग्य में पुत्र का सुख बदा ही नहीं, तो पुत्र मिलने पर भी सुख कभी नहीं मिल सकता। लेकिन तुम मानते ही नहीं, हठ ही किये जाते हो। अब मैं तुमसे और क्या कहूँ !

नारदजी, यों कहकर उन संन्यासी महाराज ने पुत्र के लिए हठ करनेवाले ब्राह्मण को एक फल अपने पास से देकर कहा—यह फल ले जाकर अपनी औरत को खिला दो; इसके खाने से उसके अवश्य एक पुत्र

उत्पन्न होगा। लेकिन तुम्हारी स्त्री को एक साल तक कुछ नियमों का पालन करना पड़ेगा। वे नियम ये हैं—सच बोले, पवित्र रहे, दया और दान करती रहे, एक ही बार भोजन करे। अगर वह इन नियमों का ठीक-ठीक पालन कर सकेगी तो उसके बड़ा ही बुद्धिमान और सच्चरित्र पुत्र उत्पन्न होगा। इतना कहकर वह योगी चले गये। ब्राह्मण ने घर पहुँचकर वह फल अपनी स्त्री को दे दिया। साथ ही सब नियम भी बतला दिये। फल देकर ब्राह्मण तो कहीं किसी काम से चले गये और कुटिल स्वभाववाली उनकी ब्राह्मणी अपने पड़ोस की एक सखी के पास जाकर रोती हुई यों कहने लगी। बोली—अरी सखी, मुझे एक बड़ी चिन्ता है; मैं तो इस फल को न खाऊँगी। देखो, फल खाने से मेरे गर्भ रहेगा; गर्भ से पेट बढ़ जायगा। फिर थोड़ा ही भोजन कर सकूँगी। तब कमजोर हो जाऊँगी। ऐसी दशा में घर का कामकाज कैसे होगा? अगर दैवयोग से कोई आफत आ जाय तो गर्भिणी स्त्री भाग भी नहीं सकती। गर्भ के भीतर बालक पिंजड़े में तोते की तरह रहता है। जब वह बालक जन्म लेता है तब तो प्रसव की पीड़ा जानलेवा हो जाती है, बड़ा ही कष्ट होता है। मैं सुकुमारी हूँ—उस दारुण प्रसव पीड़ा को कैसे सह सकूँगी? अगर गर्भ में बालक आड़ा हो गया तब तो मेरी मौत ही हो जायगी। बच्चा पैदा होने का समय निकट आ जाने पर मैं अशक्त होकर एक ही जगह पड़ी रहूँगी। उस समय मौका पाकर मेरी नंद मेरा घर काटकर अपना घर भर लेगी। फिर सच ही बोलने और पवित्र रहने आदि के नियम भी मुझसे सध नहीं सकते। बच्चेवाली औरत को बच्चे के लालन-पालन में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। बहन, मैं तो समझती हूँ कि बाँझ या विधवा औरतें ही बड़े मजे में हैं; क्योंकि उनको इस तरह के कष्ट नहीं सहने पड़ते।

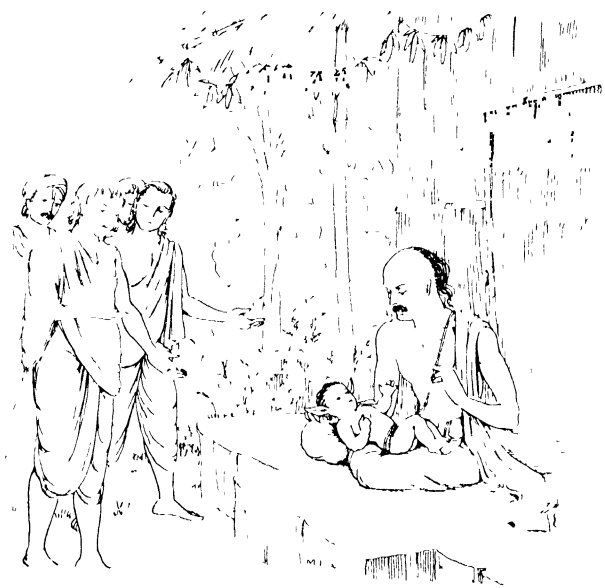


नारदजी, इस तरह के कुतर्क करके उस ब्राह्मणी ने वह फल नहीं खाया और पति के पूछने पर झूठ-मूठ कह दिया कि वह फल मैंने खा लिया है। कुछ दिन बाद ब्राह्मणी की छोटी बहन अपनी इच्छा से उसके घर आई। तब ब्राह्मणी ने सब हाल सुनाकर उससे कहा—बहन, इसी चिन्ता से दिन-दिन मैं दुबली होती जा रही हूँ कि फल तो मैंने नहीं खाया, फिर लड़का कहाँ से होगा और तब मैं अपने पति को क्या जवाब दूँगी? तब उसकी बहन ने कहा—तुम चिन्ता न करो, मेरे गर्भ है। उससे जो सन्तान होगी, वह मैं तुमको तत्काल छिपे तौर से दे दूँगी; कोई इस रहस्य को न जान पावेगा। तब तक तुम गर्भवती-सी बनकर अपने को छिपाये हुए सुख से अपने घर में रहो। तुम मेरे पति को धन दे देना और वह तुमको अपना बालक दे देगा। मैं तुम्हारे पति से यह कह दूँगी कि मेरा बालक छः महीने बाद मर गया। उसके बाद मैं तुम्हारे घर पर रहकर उस बालक को दूध पिलाऊँगी। रह गया यह फल सो इसको परीक्षा के लिए अपनी इस गाय को खिला दो।

स्त्रीस्वभाववश धुंधुली ने अपनी बहन के कहने के माफ़िक सब काम किया। ठीक समय पर धुंधुली की बहन के एक लड़का पैदा हुआ। धुंधुली की बहन का पति सूने में छिपाकर वह लड़का धुंधुली को दे गया। धुंधुली ने पति के बाहर से आने पर बतलाया कि मेरे क्षेमकुशल के साथ यह बच्चा पैदा हुआ है। आत्मदेव तो ख़ुश हुए ही, उनके पुत्र होने की ख़बर पाकर पास-पड़ोस के लोग भी बहुत प्रसन्न हुए। ब्राह्मण ने जातकर्म-संस्कार करके ग़रीबों को और ब्राह्मणों को बहुत कुछ दिया लिया। उनके दरवाज़े पर गाना-बजाना और मंगल-उत्सव हुआ।

धुंधुली ने अपने पति से कहा—मेरे स्तन में तो दूध है नहीं, और मैं अपने बालक को किसी ग़ैर औरत का दूध पिला नहीं सकती। सुना है, मेरी छोटी बहन के बालक हुआ था, वह मर गया है। उसी को बुलाकर घर में रक्खो। वह तुम्हारे बच्चे को दूध पिलाकर पाल देगी। पुत्र की रक्षा के लिए आत्मदेव ने ऐसा ही किया। माता ने उस बालक का नाम धुंधुकारी रक्खा।

उधर इस घटना के तीन महीने बाद उस गऊ के भी वह फल खाने के प्रभाव से एक बच्चा पैदा हुआ। वह बालक सर्वांगसुंदर, दिव्य, गोरे रंग का और बड़ा तेजस्वी था। उस बालक को देखकर आत्मदेव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका भी जातकर्म-संस्कार स्वयं किया।



गऊ के गर्भ से मनुष्य-बालक की उत्पत्ति सुनकर सब लोगों को बड़ा ही विस्मय हुआ। लोग उसे देखने के लिए आने लगे। जो कोई उस बालक को देखता था, वही कहता था—अहो, आत्मदेव के भाग जाग गये। उनके बालक तो पैदा हुआ ही, गऊ के भी ऐसा देवरूपी बालक उत्पन्न हुआ है। सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है।

नारदजी, सबने यही समझा कि यह बालक भी ईश्वर की एक विचित्र लीला है। किसी को उसका गुप्त रहस्य नहीं मालूम हो सका। गऊ के जो लड़का पैदा हुआ था, उसके कान गऊ के-से लंबे थे। यह देखकर आत्मदेव ने उसका नाम गोकर्ण रख दिया। समय पाकर दोनों ही लड़के जवान हुए। गोकर्ण तो पंडित और ज्ञानी हुए, लेकिन धुंधुकारी बड़ा दुष्ट निकला। वह ब्राह्मणों के कोई कर्म नहीं करता था। स्नान, शौच और संध्या आदि कर्मों से हीन, अखाद्य खानेवाला और महाक्रोधी था। दान-कुदान लेना, तेरहीं-सत्रहीं खाना उसका काम था। इतना ही नहीं, वह चोर भी था। सभी से द्वेष रखता था। पराये घरों में छिपाकर आग लगा देता था। दूसरों के बच्चों को खिलाने के लिए गोद में उठा ले जाता और किसी कुएँ में डाल देता था। उसे हिंसा करने में आनन्द आता था। वह सदा शस्त्र बाँधे रहता था। दीन, दुःखी

और अंधों को सताता था। चांडालों के साथ पाश हाथ में लिये शिकार की टोह में घूमता फिरता था। उसने वेश्याओं के कुसंग में पड़कर बाप का सारा धन लुटा दिया। एक दिन धन के लिए उसने मा-बाप को खूब पीटा और घर के सब बर्त्तन उठा ले गया। उसके पिता आत्मदेव धन न रहने से दीन दशा को प्राप्त होकर इस तरह रोने लगे –अहो, ऐसे दुःखदायक कुपुत्र के होने से तो पुत्र का न होना ही अच्छा! अब मैं कहाँ रहूँ, कहाँ जाऊँ? कौन मेरे दुःख को मिटावेगा? हाय, मुझे बड़ा ही कष्ट मिल रहा है। मैं अपने प्राण दे दूँगा।

तब ज्ञानी गोकर्ण ने आकर वैराग्य का उपदेश करते हुए इस तरह पिता को समझाना शुरू किया। गोकर्ण ने कहा—पिताजी, निश्चय ही यह दुःख बढ़ानेवाला, मोह में डालनेवाला संसार असार है। पुत्र किसका और धन किसका? यह सब भ्रमजाल है। जिसे यह विवेक नहीं है, वह स्नेह और ममता के कारण दिन-रात जला करता है। देखिए, एकान्त में रहनेवाले विरक्त मुनि को जो सुख है, वह सुख न तो इन्द्र को प्राप्त है और न चक्रवर्त्ती राजा को। मोह-ममता से मनुष्य को नरक में जाना पड़ता है, इसलिए पुत्र-स्नेह के इस अज्ञान को छोड़िए। एक दिन यह शरीर भी नहीं रह जायगा। इसलिए सब कुछ पहले ही से छोड़कर वन मे जाकर हरि का भजन कीजिए।

गोकर्ण के उपदेश को सुनकर आत्मदेव को भी वैराग्य हो गया। उन्होंने वन जाने के लिए तैयार होकर गोकर्ण से कहा—बेटा, वन में जाकर मै क्या करूँ, यह तुम विस्तार के साथ मुझे बताओ। मैं मूर्ख इस घर के अंधे कुएँ में स्नेह के पाश में जकड़ा हुआ अपाहिज-सा पड़ा हुआ हूँ। हे दयासागर, तुम मुझे इस कर्मबंधन से छुड़ाकर मेरा उद्धार करो।

गोकर्ण ने कहा—पिताजी, इस हड्डी, मांस और रुधिर से बने हुए शरीर को असार समझकर इसका मोह छोड़ दो। स्त्री, पुत्र आदि की ममता भी मन से दूर कर दो। दिन-रात यही सोचो कि यह जगत् पानी के बुल्ले की तरह क्षणभंगुर है। बस, भगवान की भक्ति के साथ वैराग्य-राग के रसिक बन जाओ। इन संसार के धर्मों को छोड़कर भगवद्भजन के सत्य धर्म को भजो; साधुजनों का संग करो, कामना और तृष्णा को हृदय से दूर कर दो। औरों के दोष-गुण देखना छोड़ दो, और हरि की सेवा करो, हरि की कथा सुनो।

नारदजी, आत्मदेव की अवस्था साठ वर्ष से अधिक हो गई थी। इसलिए वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करने का समय भी था। गोकर्ण के उपदेश से विवेक द्वारा बुद्धि को स्थिर करके वह वन को चल दिये। वहाँ नारायण मे मन लगाकर नित्य भागवत के दशम स्कंध का पाठ और हरि की सेवा करके अन्त समय आने पर वह श्रीकृष्णचन्द्र के परमधाम को चले गये।

## पाँचवाँ अध्याय

### धुंधुकारी का मरकर प्रेत होना और सप्ताह सुनने के प्रभाव से प्रेतयोनि से छुटकारा

सूतजी कहते हैं—शौनकजी, पिता की मृत्यु हो जाने के बाद धुंधुकारी ने एक दिन अपनी मा को बहत मारा-पीटा और कहा—बता, धन कहाँ रक्खा है? न बतावेगी तो मारे लातों के मार डालूँगा। पुत्र

की बातों से डरकर और नित्य उसके ऊधम से ऊबकर धुन्धुली रात को कुएँ में गिर पड़ी और उसी में मर गई। योगी गोकर्ण भी तीर्थयात्रा के लिए चल दिये। उनके लिए न कोई मित्र था न कोई शत्रु; सुख और दुःख भी उनकी दृष्टि में कुछ नहीं था। अब घर में अकेला धुन्धुकारी रह गया। तब उसने पाँच वेश्याओं को अपने घर में लाकर रक्खा। वेश्याओं के संग से उसकी बुद्धि और भी भ्रष्ट हो गई। पकड़े जाने पर क्या दशा होगी, इसका कुछ भी विचार न कर वह वेश्याओं के पालन-पोषण के लिए उनको प्रसन्न करने के लिए बड़े साहस के साथ चोरी, डाका, ख़ून आदि घोर कुकर्म करने लगा। एक दिन उन कुलटाओं ने अपने लिए गहने माँगे। धुन्धुकारी काम से अंधा हो रहा था, उसे अपना विनाश कहाँ से देख पड़ता? वह घर से चोरी करने के लिए चल दिया और कहीं से बहुत-सा धन ले आया। उसने आकर उन स्त्रियों को बहुत-से क़ीमती कपड़े और गहने दिये। धुन्धुकारी उस दिन बहुत-सा धन ले आया था। उसे देखकर उन वेश्याओं ने धुंधुकारी के सो जाने पर, आपस में यह सलाह की कि यह रोज़ चोरी करता है, इसलिए किसी दिन राजा के सिपाही ज़रूर इसे पकड़ लेंगे। राजा इसका सारा धन लेकर इसे मरवा डालेगा। इस-लिए हम ही क्यों न गुप्त रूप से इसे मार-कर सारी दौलत हज़म कर लें। इसे मारकर सब धन लेकर हम चाहे जहाँ चली जायँगी।



ऐसा निश्चय करके उन वेश्याओं ने पहले अचेत पड़े सो रहे धुधु-कारी के हाथ-पाँव रस्सी से कसकर बाँध दिये। फिर उसके गले में फाँसी लगाकर उसे मारने की चेष्टा करने लगीं। जब उन्होंने देखा कि धुधुकारी के प्राण जल्दी नहीं निक-लते तो वे बहुत घब-राईं। तब वेश्याओं ने जलते हुए आग के अंगारे धुधुकारी के मुँह में ठूँस दिये। आग की ज्वाला से घोर कष्ट पाकर धुंधुकारी तड़प-तड़पकर जल्दी से मर गया। तब उन साहसी वेश्याओं ने घर ही में गढ़ा खोदकर धुंधुकारी की लाश को गाड़ दिया। इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। अगर कोई उन वेश्याओं से पूछता था कि धुंधुकारी कहाँ गया, तो वे कह देती थीं कि "हमारा प्यारा किसी दूर

देश को धन कमाने के लिये गया है; कहीं साल भर के बाद लौटेगा।" नीतिशास्त्र में यह ठीक ही कहा है कि बुद्धिमान् पुरुष को ऐसी कुलटा स्त्रियों का विश्वास कभी न करना चाहिए। जो मूर्ख उन पर विश्वास करता है, उसे प्रतिदिन तरह-तरह के दुःख मिलते हैं। ऐसी स्त्रियों के बोल अमृत के समान मीठे होते है, जिन्हें सुनकर कामी पुरुष लट्टू हो जाते हैं; किन्तु उनका हृदय छुरे की धार के समान तीक्ष्ण होता है। ऐसी स्त्रियों को कोई प्यारा नहीं होता।

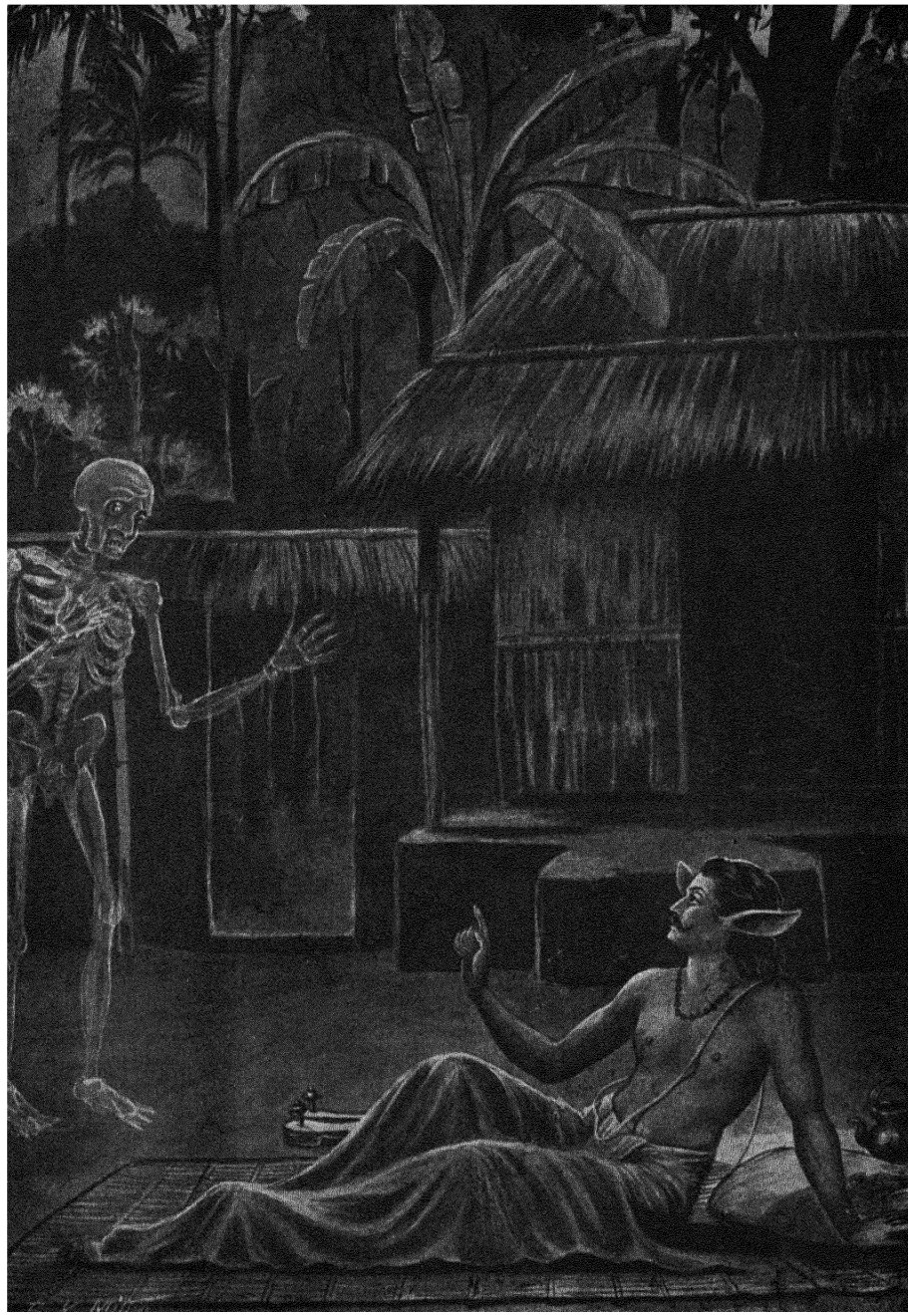
कुलटाओं का क्या ठिकाना; वे एक पुरुष की नहीं होतीं। उनके अनेक स्वामी होते हैं। कुछ दिन के बाद वे वेश्याएँ मौक़ा देखकर सारा धन लेकर रात को कहीं चल दीं। धुन्धुकारी एक तो महापापी था, दूसरे उसकी अकालमृत्यु और अपमृत्यु हुई थी; इसलिए मरने पर वह एक बड़ा ज़बरदस्त प्रेत हुआ। वायुरूप वह प्रेत दसों दिशाओं में दौड़ा-दौड़ा फिरता था। उसे कहीं चैन न मिलती थी। भूख-प्यास और घाम तथा जाड़े से घोर कष्ट पाकर बारंबार "हाय रे भाग्य!" कहकर वह रोता रहता था। कुछ समय के बाद लोगों के मुँह से गोकर्ण को धुन्धुकारी के मरकर प्रेत होने की ख़बर मिली। तब उसे अनाथ जानकर उसकी मुक्ति के लिए गोकर्ण ने गया में जाकर उसका श्राद्ध कर दिया। उसके बाद जहाँ जिस तीर्थ में गये, वहीं उसका श्राद्ध किया। इस तरह तीर्थयात्रा करते हुए वह लौटकर फिर अपने नगर में आये। जन्मभूमि में आकर वह अपने घर में ठहरे। रात को वह घर के आँगन में सो रहे थे। आधी रात को धुंधुकारी ने आकर सोते हुए अपने भाई गोकर्ण को बार-बार अपने कई महाघोर रूप दिखलाये। कभी भेंड़ा, कभी हाथी, कभी भयानक भैंसा, कभी इन्द्र और कभी अग्नि के रूप में प्रकट होने के उपरान्त अन्त को वह पुरुष के रूप में गोकर्ण के आगे खड़ा हो गया। ऐसे विचित्र और भयानक रूप बदलने का दृश्य देखकर गोकर्ण विचलित नहीं हुए। उन्होंने सोचा, अवश्य ही यह कोई दुर्गति को प्राप्त जीव है। यह निश्चय करके गोकर्ण ने उस प्रेत से कहा—भाई, अत्यन्त उग्र रूपवाला तू कौन है, जो रात को मुझे डराना चाहता है? तेरी यह दशा किस कारण से हुई है? तू प्रेत है, पिशाच है, या राक्षस है, मुझे बता।

सूतजी कहते हैं—गोकर्ण के यों पूछने पर वह प्रेत ऊँचे स्वर से बार-बार रोने लगा। वह केवल इशारे से अपना हाल बताने की चेष्टा करता था; क्योंकि वह बोल नहीं सकता था। तब गोकर्ण ने जल हाथ में लेकर उसे मंत्र से पवित्र करके एक छींटा उसके मारा। उस जल के स्पर्श से उस प्रेत के पाप नष्ट हो गये और वह बोलने की शक्ति पाकर इस प्रकार कहने लगा।

प्रेत बोला—मैं आपका भाई धुन्धुकारी हूँ। मैंने अपने कर्मों से ब्रह्मतेज मिटा दिया। मैं महामूढ़ हूँ। मेरे कुकर्मों की कोई गिनती नहीं है। मैंने लोगों की हिंसा की और अन्त में मुझे वेश्याओं ने धोखा देकर बड़ी दुर्दशा करके मार डाला। उस बुरी मौत से प्रेत होकर इस दुर्दशा में पड़ा हुआ घोर दुःख और कष्ट पा रहा हूँ। अपने कर्मों का फल भोगता हुआ मैं केवल हवा खाकर जी रहा हूँ। हे कृपा के सागर भाई, मुझे इस योनि से शीघ्र छुड़ाओ।

प्रेत की बातें सुनकर गोकर्ण ने कहा—भाई, तुम्हारे लिए तो मैंने गया में जाकर विधिपूर्वक पिण्डदान किया है, फिर भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई, यह देखकर मुझे बड़ा अचरज हो रहा है। अगर गया में पिण्डदान करने से भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई तो फिर और कोई उपाय तो मुझे देख नहीं पड़ता। अगर तुम कोई उपाय जानते हो तो मुझे बताओ।

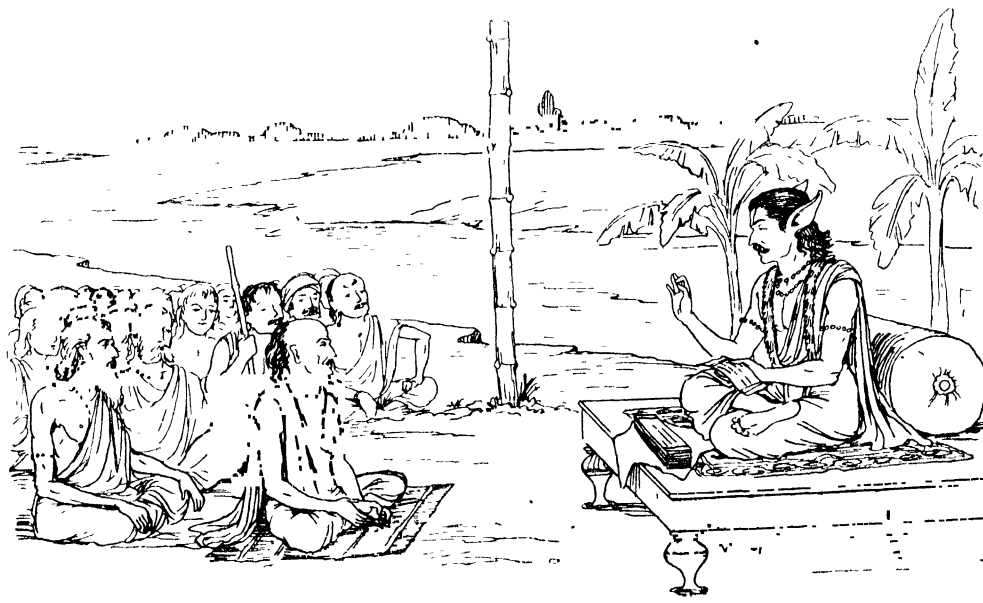
धुन्धुकारी ने कहा—एक क्या, सौ गया-श्राद्ध करने से भी मेरी मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए अब कोई और उपाय सोचिए।



आधी रात के समय प्रेतरूप धुंधुकारी का गोकर्ण के आगे प्रकट होना

धुन्धुकारी के ये वचन सुनकर गोकर्ण को बड़ा विस्मय हुआ। वह बोले—अगर सौ बार गया में श्राद्ध करने से भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती तो इस योनि से तुम्हारा छुटकारा पाना असाध्य ही है। अच्छा, अब तुम अपने स्थान में निर्भय होकर रहो। मैं विचार करके तुम्हारे मुक्त होने का कोई उपाय अवश्य करूँगा। गोकर्ण के यों कहने पर धुन्धुकारी प्रेत अपने स्थान अन्तरिक्ष में चला गया। गोकर्ण रातभर सोचते रहे, मगर उनकी समझ में कोई उपाय न आया। सबेरा होने पर पास-पड़ोस के लोगों को गोकर्ण का आना मालूम हुआ तो वे प्रसन्नतापूर्वक उनसे मिलने के लिए आये। रात को जो कुछ देखा था, सो सब गोकर्ण ने उन लोगों को बतलाया। बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी मुनीश्वरों से गोकर्ण ने इसका उपाय पूछा, मगर सब शास्त्रों में खोजने पर भी उनको धुन्धुकारी के प्रेतयोनि से छूटने का कोई उपाय नहीं देख पड़ा। तब सबने यही निश्चय किया कि सबके कर्मों के साक्षी सूर्यनारायण से इस विषय में पूछना चाहिए। वह जो बतलावें, वही करना ठीक है। तब गोकर्ण ने अपने तपोबल से सूर्यनारायण के रथ को आकाश में रोक दिया। वह बोले—हे जगत् के साक्षी सूर्यदेव, आपको प्रणाम है। कृपा करके मुझे मेरे भाई के प्रेतयोनि से छूटने का उपाय बतलाइए।

तब सुदूर सूर्यमंडल से ये वचन स्पष्ट सुन पड़े—भागवत का सप्ताह-पारायण सुनाने से प्रेत की मुक्ति अवश्य होगी। सूर्यनारायण की यह धर्मोपदेशरूप वाणी सुनकर सबने कहा कि यही करना चाहिए; यही सहज उपाय है। गोकर्ण ने सप्ताह बाँचने का निश्चय कर लिया और उसकी तैयारी करने लगे। यह ख़बर पाकर दूर-दूर के देशों और गाँवों से लोग आने लगे। अनेक लँगड़े, लूले, दीन, अंधे और बूढ़े लोग अपने पाप दूर करने के विचार से कथा सुनने को उपस्थित हुए। देवता लोग भी जिसे देखकर विस्मय को प्राप्त हुए, ऐसा भारी जमाव वहाँ हो गया। जब व्यासगद्दी पर बैठकर गोकर्णजी ने कथा कहना शुरू किया, तब वह

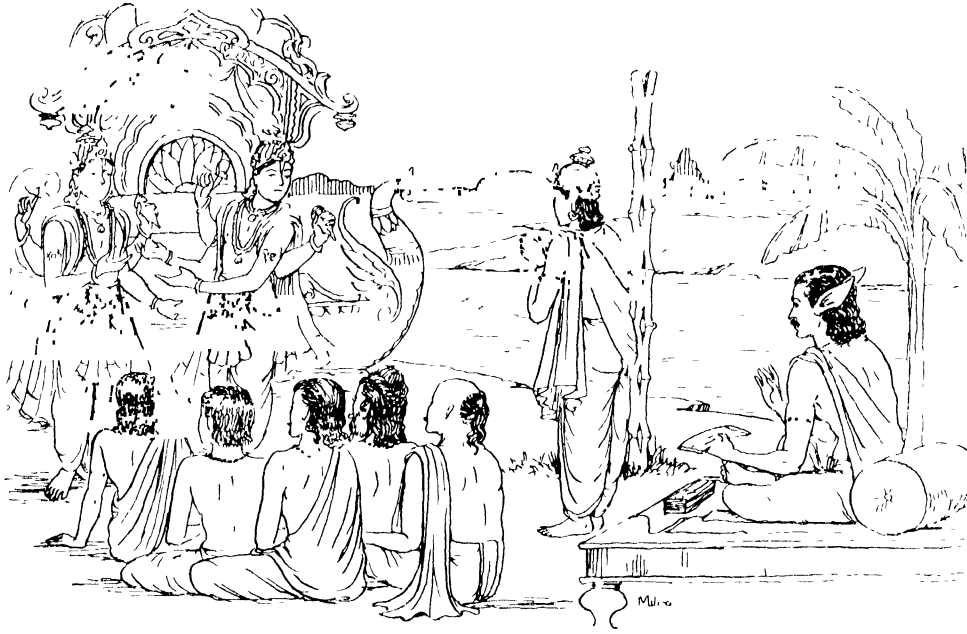


प्रेत भी वहाँ आकर उपस्थित हुआ। वह अपने बैठने के लिए इधर-उधर जगह खोजने लगा। इतने में उसे

एक सात गाँठवाला पोला बाँस वहाँ लगा हुआ देख पड़ा। वह प्रेत उसी की जड़ के छेद में घुसकर कथा सुनने लगा। वह वायुरूप होने के कारण और कहीं बैठ नहीं सकता था, इसलिए उस बाँस के भीतर बैठा। गोकर्णजी ने एक वैष्णव ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाकर बिठा लिया। पहले दिन प्रथम स्कंध से आरंभ करके सायंकाल को उचित स्थान पर कथा रोककर उन्होंने विश्राम किया। विश्राम के समय एक बड़े ही आश्चर्य की बात हुई। सब लोगों के सामने उस बाँस की वह नीचे की पोर, जिसमें प्रेत बैठा था, फट गई और उसके फटने का शब्द सब लोगों ने स्पष्ट सुना। ऐसे ही दूसरे दिन शाम को दूसरी और तीसरे दिन तीसरी पोर फट गई। सात दिन बाद जब कथा समाप्त हुई, तब बाँस की सातवीं पोर भी फट गई। बारहों स्कंध भागवत की संपूर्ण कथा सुनने से धुंधुकारी प्रेतयोनि से मुक्त हो गया। गले में तुलसी की माला पहने, पीतांबर धारण किये, घनश्याम, मुकुट और कुंडलों से सुशोभित दिव्यरूप धुंधुकारी ने गोकर्ण को प्रणाम करके कहा—भाईजी, आपने कृपा करके मुझको इस प्रेतयोनि के अपार कष्ट से छुडा दिया। यह भागवत की कथा धन्य है, जिससे प्रेतयोनि की दारुण पीड़ा भी मिट जाती है। भागवत का सप्ताह-पारायण भी धन्य है, जिसके प्रभाव से कृष्णलोक प्राप्त होता है। सप्ताह सुनने का विचार मन में आते ही सब पातक इस भय से काँप उठते हैं कि यह कथा शीघ्र ही हमारा विनाश कर डालेगी। आग जैसे लकड़ियों के ढेर को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही मन, वाणी और काया से किये गये सब तरह के छोटे-बड़े पातक इस सप्ताह के सुनने से नष्ट हो जाते हैं। वेद के पारदर्शी पंडितों का कहना है कि इस भारतवर्ष में जन्म लेकर जिसने भागवत की कथा नहीं सुनी, उसका जन्म लेना ही वृथा है। मोहवश इस अनित्य शरीर को अगर पुष्ट किया, बलवान् बनाया और इसकी रक्षा की; किन्तु कथा सुनकर अपना परलोक नहीं बनाया तो कुछ नहीं किया। विद्वान् लोगों का कहना है कि यह शरीर हड्डियों के खंभे पर खड़ा हुआ है और नसों के बंधन से बँधा हुआ है। इसमें मांस और रक्त का लेप चढ़ा हुआ है और उस पर चमड़ा मढ़ा हुआ है। मल-मूत्र भरा रहने के कारण यह दुर्गन्ध का घर है। यह रोगों की खान है। बुढ़ापा और तरह-तरह के शोक इसे पीड़ा पहुँचाते रहते हैं; क्योंकि यही इसके परिणाम हैं। यह क्षणभंगुर है। इसकी आवश्यकताएँ कभी पूरी नहीं होतीं। इसमें अनेक दोष हैं। इसकी रक्षा करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। पर अन्त को प्राणान्त हो जाने पर इसकी तीन ही गतियाँ होती हैं—गाड़ देने से कीड़े हो जाते हैं, प्रवाह कर देने पर किसी पशु के खा लेने पर विष्ठा बन जाता है और जला डालने पर राख का ढेर हो जाता है। वह मनुष्य बड़ा मूर्ख है, जो इस अनित्य शरीर से नित्य धर्म का उपार्जन नहीं कर लेता। देखो, प्रातःकाल का पकाया हुआ अन्न शाम को ही बिगड़ जाता है। फिर उसी अन्न से पला हुआ यह शरीर कैसे नित्य या अविनाशी हो सकता है? इसमें संदेह नहीं कि सप्ताह के सुनने से हरि भगवान् सहज ही मिल जाते हैं। इसलिए सब दोषों अथवा पातकों को मिटानेवाला यही एक सहज और उत्तम उपाय है। जो लोग सप्ताह की कथा नहीं सुनते, वे पानी के बुल्ले या मच्छड़ों की तरह केवल मरने के लिए ही व्यर्थ जन्म लेते हैं। जिससे जड़ और सूखे बाँस की गाँठ फूट गई, उस कथा के सुनने से अगर हृदय की अज्ञान की गाँठ खुल जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सप्ताह के सुनने से मनुष्य के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय मिट जाते है और सब कर्मों का क्षय हो जाता है। पंडितों का कहना है कि चित्त में जो सांसारिक वासनाओं की कीचड़ का लेप लगा हुआ है, उसे यह कथा धो बहाती है। इस कथारूप तीर्थ को चित्त में धारण करने पर अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है।

दिव्यरूप धारण किये धंधुकारी इस तरह सप्ताह की महिमा का बखान कर ही रहा था कि इसी

समय वैकुंठवासी नारायण के पार्षदोंसहित एक विमान आकाशमार्ग से आकर वहाँ उपस्थित हुआ। वह विमान सूर्यनारायण के मंडल के समान प्रकाशमान था। सबके सामने धुंधुकारी उस विमान पर चढ़ गया।



उस विमान पर विराजमान विष्णु के पार्षदों को देखकर गोकर्ण ने कहा—महाशयो, यहाँ अनेक लोगों ने निर्मल चित्त से मेरी कथा सुनी है। उनके लिए आप लोग विमान क्यों नहीं लाये? सबने एक ही भाव से कथा सुनी है, फिर यह फल में भेद कैसा? हे नारायण के प्रिय पार्षदो, आप मेरे इस संदेह को निवृत्त कीजिए।

हरि के पार्षदों ने कहा—गोकर्णजी, सब श्रोताओं ने एक ही भाव से कथा नहीं सुनी, इसी से फल भी एक-सा नहीं हुआ। सुना तो सबने, पर इस धुंधुकारी के समान किसी ने उसका मनन नहीं किया—उसमें मन नहीं लगाया। इसीसे सबकी मुक्ति नहीं हुई। देखिए, प्रेत ने सात दिन निर्जल-व्रत रखकर कथा को सुना और स्थिर चित्त से बार-बार उसका मनन भी किया। जो ज्ञान दृढ़ नहीं, वह निष्फल है। जो कुछ मन लगाकर नहीं सुना जाता, वह सुनना भी व्यर्थ हो जाता है। ऐसे ही, संदेह से मंत्र का फल जाता रहता है। चित्त एकाग्र न होने से जप का फल नहीं होता। विष्णु का कोई भक्त जहाँ नहीं, वह देश नष्ट समझिए। जिस श्राद्ध में कुपात्र, कुलक्षणी ब्राह्मण को न्योता दिया जाता है, वह श्राद्ध भी व्यर्थ है। धर्म-शास्त्र का ज्ञान न रखनेवाले ब्राह्मण को दिया गया दान व्यर्थ होता है। सदाचार का त्याग करने से कुलीन का कुल नष्ट हो जाता है। अतएव जो कोई गुरु के वचनों में विश्वास करके, अपने को दीन समझता हुआ, मन को वश में रखकर एकाग्र बुद्धि से कथा सुनता है, उसीको उसका संपूर्ण फल प्राप्त होता है। हे गोकर्णजी, आपके ये सब श्रोता फिर से मन लगाकर कथा सुनें तो कथा समाप्त होने पर अवश्य ही

वैकुण्ठलोक को जायँगे। और, आपको तो भगवान् नारायण आप आकर अपने साथ गोलोक को ले जायँगे।

इतना कहकर हरि का भजन करते हुए वे पार्षद विमानसहित वैकुण्ठलोक को चले गये। इधर गोकर्ण ने फिर कथा कहने का विचार किया। सावन के महीने में वैसे ही उत्साह और समारोह के साथ गोकर्ण ने फिर कथा बाँची। लोगों ने फिर मन लगाकर वह सप्ताह-पारायण सुना। नारदजी, कथा के समाप्त होने पर बड़ी ही अद्भुत घटना हुई। उस समय अपने श्रेष्ठ भक्तों के साथ नारायण भगवान् वहाँ प्रकट हुए। उनके साथ हजारों विमान थे। यह देखकर सब लोग बड़े आनन्द से जयजयकार करने और नमोनमः कहने लगे। प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने अपना पाँचजन्य शंख बजाया, और गोकर्ण को गले लगाकर अपने ही समान चतुर्भुजरूप कर दिया। और भी सब श्रोता उसी समय भगवान् की कृपा से घनश्याम, पीताम्बरधारी, मुकुट और कुंडलों से सुशोभित हरि के समान हो गये। उस नगर में रहनेवाले कुत्ते और चाण्डाल तक सब प्राणी गोकर्ण की कृपा से नारायण का रूप पाकर, विमानों पर बैठकर उस विष्णुलोक को गये, जहाँ योगी लोग जाते हैं। कथा सुनने से भक्तवत्सल भगवान् नारायण बहुत ही प्रसन्न हुए। वह अपने प्यारे भक्त गोकर्ण को साथ लेकर गोलोकधाम को गये, जहाँ वृन्दावन के गोप-गोपी और गायें रहती हैं। पहले त्रेतायुग में जैसे श्रीरामचंद्र के साथ सभी अयोध्यावासी वैकुंठ-लोक को गये थे, वैसे ही भगवान् कृष्णचंद्र के साथ गोकर्ण और उनके नगर में रहनेवाले सभी जीव योगियों के लिए भी दुर्लभ गोलोक को गये। जहाँ सूर्य, चंद्रमा और सिद्ध जनों की भी पहुँच नहीं है, उसी गोलोक को वे लोग भागवत का सप्ताह-पारायण सुनकर सहज में ही चले गये। सूतजी शौनक आदि ऋषियों से और सनकादिक परमहंस नारदजी से कहते हैं कि सप्ताह-यज्ञ में हरिकथा सुनने का अत्यन्त पावन महाफल कहाँ तक कहें, जिनके कानों में गोकर्ण के मुख से निकला हुआ हरिकथा का एक अक्षर भी पहुँचा, वे फिर इस संसार में नहीं आये, उन्हें गर्भ का कष्ट नहीं भोगना पड़ा। वायु, जल और सूखे पत्ते खाकर, शरीर सुखाकर चिरकाल तक किये गये उग्र तप और योगाभ्यास से भी वह गति नहीं मिलती, जो सप्ताह के सुनने से सहज में ही मिल जाती है। नारदजी, इस पवित्र इतिहास को चित्रकूट पर्वत पर महामुनि शांडिल्यजी ब्रह्मानन्द में मग्न होकर पढ़ा करते हैं। यह उपाख्यान बहुत ही पवित्र और पावन है। इसको एक बार सुनने से भी महापातकों के समूह नष्ट हो जाते हैं। श्राद्ध के अवसर पर इसे पढ़ने से पितरों को अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है। जो कोई इसे नित्य पढ़ता है, उसे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है।



# छठा अध्याय

## सप्ताह सुनने की विधि

सनत्कुमार आदि ऋषियों ने कहा—नारदजी, अब हम तुमसे सप्ताह सुनने की विधि कहते है। सज्जनों की सहायता और धन से इस विधि का पूर्ण होना सहज-साध्य है। पहले किसी ज्योतिषी को बुलाकर उससे शुभ मुहूर्त्त पूछना चाहिए। फिर विवाह की-सी धूमधाम और तैयारी करनी चाहिए। व्याह में जैसे धन खर्च किया जाता है, वैसे ही अपनी शक्ति के अनुसार इस अवसर पर भी धन खर्च करना चाहिए। कारण, यह सबसे बढ़कर उत्तम और मंगल का काम है। भादों, कुआँर, कार्तिक, अगहन, असाढ़ अथवा सावन के महीने मे कथा का आरंभ होना चाहिए। ये शुभ महीने है। इनमे कथा सुनने से अवश्य मोक्ष मिलता है। जिन महीनों मे महामारी आदि उपद्रव हों, उनमे सप्ताह न सुनना चाहिए। जो हरि के भक्त और श्रद्धालु हों, उन्हे इस यज्ञ मे सहायक बनाना चाहिए। इसके बाद देश-देश मे यह समाचार भेजे कि हमारे यहाँ कथा होगी, आप लोग उसे सुनने के लिए कुटुब के साथ पधारिए। मूर्ख रहने के कारण हरि की कथा और हरिकीर्त्तन से दूर रहनेवाले मनुष्य तथा स्त्री और शूद्र आदि अपढ़ों को भी सप्ताह के सुनने से ज्ञान होता है। देश-देश मे जो हरिभजन के प्रेमी विरक्त और भगवान् के भक्त हों, उनके पास यह लिखकर पत्र भेजना चाहिए कि यहाँ सात दिन तक अति दुर्लभ सत्सग और सज्जनों का समागम होगा। उसमे अपूर्व भक्तिरस से परिपूर्ण भागवत की कथा होगी। हे कथारस के रसिक और हरि के प्रेमी लोगो, आप लोग हरिकथामृत पान करने के लिए जल्दी आइए। अगर इतने दिन का अवकाश न हो तो एक ही दिन आकर सुन जाइए। कारण, क्षणभर कथा सुनने को मिलना भी बहुत दुर्लभ है।

इस तरह विनय के साथ सबको बुलाना चाहिए। फिर जो लोग आवें, उनके रहने का भी प्रबंध करना चाहिए। किसी तीर्थस्थान में, एकान्त वन में अथवा अपने घर पर कथा सुननी चाहिए। बड़े भारी मैदान मे, जहाँ पृथ्वी समतल हो, कथा बाँचने का स्थान नियत करना चाहिए। पहले पृथ्वी को शोधकर बराबर करे। फिर पानी छिड़ककर, गोबर से लीपकर उस जगह को गेरू आदि धातुओं के रंग से अलंकृत करे। घर के भीतर कथा हो तो घर का सब सामान उठाकर एक कोने मे रख दे। चारों ओर बैठने के लिए आसन बिछावे। पाँच हाथ दीवार से हटा हुआ ऊँचा मण्डप बनावे। चारों कोनों पर और सामने केले गाड़कर फल-फूलों के गुच्छे, माला और बंदनवार आदि से उस मण्डप को सजावे। उसके ऊपर रंगीन चँदोवा तानकर चारों दिशाओं मे ध्वजाएँ बाँधे। इस तरह अनेक सामानों से मण्डप को सजावे। उसके ऊपर विस्तार के साथ सात लोकों की रचना करे। उनमें विरक्त ब्राह्मणों को यथाक्रम कल्पित आसनों पर सजग करके बिठावे। फिर कथा बाँचनेवाले व्यास के लिए दिव्य सिंहासन पर उत्तम आसन बिछावे। अगर कथा बाँचनेवाला उत्तरमुख होकर बैठे तो प्रधान श्रोता को पूर्वमुख होकर बैठना चाहिए। अगर वक्ता (व्यास) पूर्वमुख हो तो श्रोता उत्तरमुख होकर बैठे। अथवा देश और काल को अच्छी तरह जाननेवाले शास्त्रकारों की सम्मति के अनुसार, वक्ता और श्रोता के बीच पूर्व दिशा ही होनी चाहिए। मतलब यह कि दोनों पूर्व की ओर मुँह करके बैठें। विरक्त, विष्णु का भक्त, ब्राह्मण, वेद और शास्त्रों को स्पष्ट रूप से अच्छी तरह समझाने की शक्ति रखनेवाला, दृष्टान्त देने में चतुर, धीर और निस्पृह, सुशील कथावाचक होना चाहिए। जो अनेक संप्रदाय या मत-मतान्तर के झगड़ों से

भ्रान्ति में पड़े हों, कामी और पाखंडी हों, वे चाहे जितने बड़े पंडित क्यों न हों, भागवत की कथा बाँचने के योग्य कभी नहीं हैं। उनसे कभी भागवत की कथा न सुननी चाहिए।

व्यास के पास उसकी सहायता के लिए एक और वैसा ही विद्वान् ब्राह्मण बिठलाना चाहिए। वह विद्वान ब्राह्मण स्वयं सत् और असत् का विवेक रखता हो और सुननेवालों के सब संदेहों को निवृत्त करके उन्हें सब कठिन विषय समझाता रहे। कथा बाँचनेवाले व्यास को चाहिए कि व्रत-ग्रहण के पहले ही बाल बनवा ले। कथा बाँचने के दिनों में बाल बनवाना निषिद्ध है। नित्य अरुणोदय के समय शौच आदि नित्य-कर्म से निबटकर स्नान और संध्या-तर्पण-हवन आदि कर्मों को संक्षेप में कर डाले। श्रोता भी पहले दिन स्नान-पूजन-तर्पण आदि नित्य कर्मों से छुट्टी पाकर कथा के निर्विघ्न समाप्त होने के लिए सबसे पहले श्रीगणेश भगवान् का पूजन करे। फिर नवग्रह आदि देवतों की पूजा के उपरान्त आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करे। इसके बाद एक मंडल बनावे और उस पर नारायण की प्रतिमा स्थापित करे। उसी मूर्त्ति में द्वादशाक्षर मंत्र से विधिपूर्वक हरि की पूजा, प्रदक्षिणा और प्रणाम करके इस प्रकार भगवान की स्तुति करे—"हे करुणासागर स्वामी, मैं संसारसागर में गोते खा रहा हूँ; कर्म-मोह के मगर ने मुझे पकड़ रक्खा है; इससे मेरा उद्धार कीजिए।"

इसके बाद विधिपूर्वक भागवत की पुस्तक का पूजन करे। धूप-दीप करने के बाद एक नारियल चढ़ाकर प्रणाम करे। फिर हाथ जोड़कर प्रसन्न चित्त से यों स्तुति करे। कहे—"हे श्रीमद्भागवत महाशास्त्र, तुम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र की मूर्त्ति हो। मैं अज्ञानी भवसागर में पड़ा हुआ हूँ। मैं मुक्ति के लिए आपकी शरण में आया हूँ। मुझको अपनाइए।" फिर कहे—"हे नाथ, हे केशव, आप मेरे इस मनोरथ को अवश्य सफल कीजिए। मैं आपका अनन्य दासानुदास हूँ।"

इस प्रकार दीन वचनों से स्तुति और प्रार्थना करने के उपरान्त कथा बाँचनेवाले व्यास की पूजा करनी चाहिए। चंदन, माला, आभूषण आदि चढ़ाने के बाद हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—हे शुकदेवजी के स्वरूप, हे ज्ञानदान में निपुण, हे सब शास्त्रों के ज्ञाता, इस कथा को सुनाकर मेरे अज्ञान को दूर कीजिए।

इसके बाद कथा बाँचनेवाले व्यास और हरि की मूर्त्ति के आगे अपने कल्याण के लिए सप्ताह सुनने का नियम लेकर सात दिन तक आनन्द से यथाशक्ति उसका पालन करे। कथा का आरंभ होने के समय "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षर मंत्र का जप करने के लिए पाँच ब्राह्मणों का वरण करना चाहिए, जिससे कथा में किसी तरह का विघ्न न हो। फिर और सब ब्राह्मणों, वैष्णवों और हरिकीर्त्तन करनेवालों को प्रणाम करके कथा सुनने की आज्ञा माँगे, और उनके आज्ञा देने पर अपने आसन पर बैठना चाहिए। कथा सुनते समय संसार, संपत्ति, धन, घरबार, स्त्री और पुत्र की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। जो कोई इस तरह विशुद्ध बुद्धि से कथा सुनने में मन लगाता है, उसे उसका उत्तम फल ( मुक्ति ) मिलती है। सूर्योदय से लेकर साढ़े तीन पहर तक धीमे स्वर से बुद्धिमान व्यास को कथा बाँचनी चाहिए। दोपहर के समय दो घड़ी के लिए कथा बाँचना बंद करके विश्राम करना चाहिए। उस समय विष्णु के भक्त लोगों की सुनी हुई कथा से संबंध रखनेवाले भजन आदि गाने चाहिए। वक्ता और श्रोता दोनों को सात दिन तक थोड़ा ही भोजन करना चाहिए। केवल एक बार हविष्य खाकर रहना चाहिए। यह इसलिए कि जिसमें सुखपूर्वक कथा कही-सुनी जा सके, कोई व्याधि न उठ खड़ी हो, और बार-बार मल-मूत्र-त्याग के लिए उठना न पड़े। शक्ति के अनुसार सात दिन तक उपवास रखकर, या घी पीकर अथवा दूध पीकर, जिस प्रकार सुख से रह सके, कथा सुननी चाहिए। या फलाहार करके, अथवा एक बार रोटी-दाल आदि साधारण आहार करके सुने। मतलब यह कि जिस तरह सध सके और कथा सुनने में मन लगे, वही करना चाहिए। भोजन

करना अच्छा, अगर उसमे मन लगाकर कथा सुनी जा सके और उपवास करना नहीं अच्छा, अगर उससे कथा सुनने में कोई विघ्न पड़ने की संभावना हो।

हे नारद, अब सप्ताह को जो लोग सुनना चाहें, उनके नियम भी हम तुमसे कहते है, सुनो। जिन्होंने विष्णुमंत्र की दीक्षा नहीं ली, उनको भागवत की कथा सुनने का अधिकार नहीं है। नियम से कथा सुननेवाले को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, धरती पर सोना चाहिए, नित्य कथा समाप्त होने पर पत्तल में भोजन करे। दो दल के अन्न ( उर्द, चने आदि ), महुआ, तेल आदि का खाना वर्जित है। गरिष्ठ अन्न, भाव से दूषित अन्न और बासी अन्न भी न खाना चाहिए। काम, क्रोध, घमंड, तेहा, डाह, लोभ, दंभ, मोह और द्वेष को मन में न आने दे। वेद की, विष्णु के भक्तों की, ब्राह्मणों की, गुरु की, गऊ की, अन्य कथा सुननेवालों की, स्त्रियों की, राजा की और बड़े लोगों की निन्दा न करनी चाहिए और न सुननी चाहिए। रजस्वला स्त्री, चाण्डाल आदि अस्पृश्य अंत्यज, म्लेच्छ, पतित, व्रात्य ( जिन द्विजों का ठीक समय पर जनेऊ नहीं होता और जो गायत्री से रहित होते हैं, वे व्रात्य कहलाते हैं ), विप्रद्रोही, वेद की निन्दा करनेवाले लोगों से बात न करनी चाहिए। नियम लेकर कथा सुननेवाला मनुष्य सत्य बोले; शरीर और मन से पवित्र रहे, वृथा बात न करे। इस तरह उदार मन से दया, सरलता और विनय के साथ कथा सुने। जो पुरुष कृपण या दरिद्र हो, क्षयरोगी या और किसी रोग से पीड़ित हो, अभागा हो, पापी हो, निःसन्तान हो या मोक्ष की कामना रखता हो, उसे अपने कल्याण के लिए नियम के साथ सप्ताह की कथा सुननी चाहिए। जिस स्त्री के मासिकधर्म न होता हो, जो स्त्री साधारण बाँझ या वन्ध्र बाँझ हो, जिसके बच्चे जीते न हों, जिसका गर्भ गिर जाया करता हो, उसे मन लगाकर नियम के साथ सप्ताह की कथा सुननी चाहिए। विधिपूर्वक सुनने से ये सब दोष दूर हो जाते हैं और अक्षय फल प्राप्त होता है। यह कथा अत्यन्त उत्तम और दिव्य है। इसे सुनने से कोटि यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। पूर्वोक्त विधि से सप्ताह सुनकर फिर उसका उद्यापन करना चाहिए। जो मनुष्य किसी कामना से कथा सुनें, उन्हीं के लिए उद्यापन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। उद्यापन के दिन जन्माष्टमी-व्रत की तरह व्रत रखना चाहिए। जो अकिंचन भक्त हैं, उन्हें उद्यापन करने की कोई जरूरत नहीं। वे चाहे करें और चाहे न करें। कारण, वे निष्काम वैष्णव होने के कारण केवल कथा सुनने से ही पवित्र हो जाते है।

इस प्रकार सप्ताह-यज्ञ के समाप्त होने पर श्रोता लोगों को बड़ी भक्ति के साथ व्यास की और पुस्तक की पूजा करनी चाहिए। व्यास को चाहिए कि श्रोतागण को प्रसाद, तुलसीदल और चढ़ी हुई मालाएँ देकर आशीर्वाद दें। फिर मृदंग और मँजीरे बजाकर ताल-लय के साथ हरिकीर्त्तन करना चाहिए। लोग शंख बजावें, जयजयकार और नमस्कार करें। ब्राह्मणों और याचकों को धन और अन्न देकर सन्तुष्ट करना चाहिए। श्रोता अगर कोई विरक्त साधु हो तो कथा-समाप्ति के दूसरे दिन गोता बाँचनी चाहिए और अगर श्रोता गृहस्थ हो तो कर्म-पूर्त्ति के लिए हवन करना चाहिए। विधि के साथ दशम स्कन्ध के एक-एक श्लोक को पढ़कर खीर, मिठाई, घी, तिल, चावल और जव मिलाकर अग्नि में आहुति छोड़नी चाहिए। अथवा गायत्री मंत्र से हवन करना चाहिए। कारण, गायत्री परमतत्त्व परमेश्वर का रूप है और यह भागवत पुराण भी तन्मय है। अगर पूरा होम करने की शक्ति न हो तो बुद्धिमान श्रोता को चाहिए कि थोड़ा-सा हवन करके सप्ताह-यज्ञ की पूर्त्ति और हवन का फल प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण को यथाशक्ति कुछ धन दे दे। इसके बाद अनेक त्रुटियों की और न्यूनाधिक दोष की शान्ति के लिए पीछे से विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना चाहिए। सहस्रनाम के पाठ से सब सफल और परिपूर्ण हो जाता है; क्योंकि विष्णुसहस्रनाम सर्वोपरि है। इसके साथ भक्तिपूर्वक १२ ब्राह्मणों को खीर-मिठाई आदि उत्तम भोजन कराकर व्रत की पूर्त्ति

के लिए व्यास को एक सोने की गऊ देनी चाहिए। अगर शक्ति हो तो तीन पल सोने का सिंहासन बनवाकर उस पर सुंदर अक्षरों में लिखी हुई भागवत की पोथी रखकर उसका क्रम से आवाहन और पूजा करे। फिर वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला आदि से कथावाचक आचार्य का पूजन करके दक्षिणा के साथ वह पुस्तक आचार्य को दान कर देनी चाहिये। इस प्रकार विधिपूर्वक आचार्य की पूजा और पुस्तक का दान करने से श्रोता के सब पातक दूर हो जाते हैं, वह भवबंधन से छुटकारा पा जाता है, भागवत-महापुराण का सुनना सफल होता है। इस तरह सप्ताह सुनने से श्रोता को निःसन्देह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चारों फल प्राप्त होते हैं।

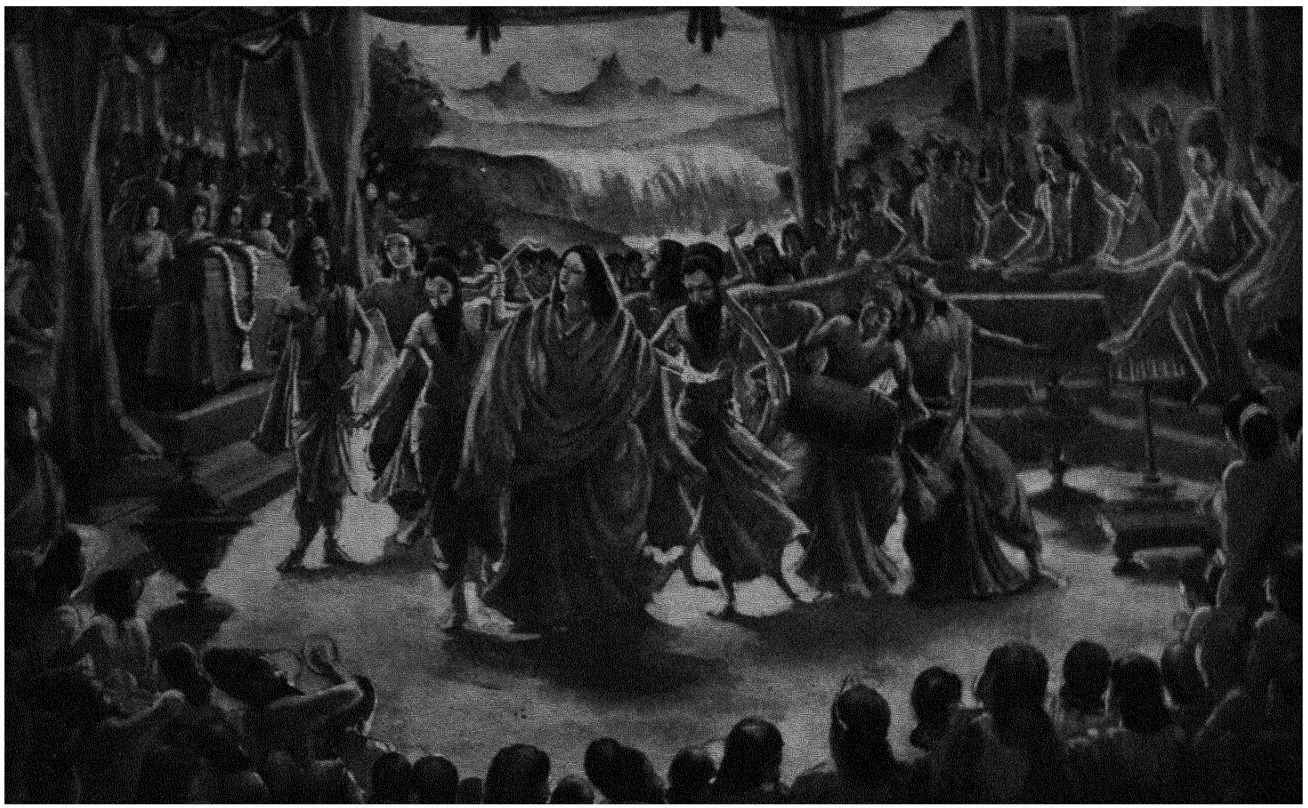
चारों कुमारों ने नारद से कहा—हे नारद, भागवत के सुनने की यह संपूर्ण विधि हमने तुमको सुना दी। अब कहो, और क्या सुनना चाहते हो? इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमद्भागवत से भोग और मोक्ष, दोनों की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—हे शौनकजी, इस प्रकार माहात्म्य का वर्णन करके महात्मा मुनिवर सनकादिक ने विधिपूर्वक सात दिन तक एकाग्र चित्त से सुननेवाले सब श्रोताओं के आगे भोग और मोक्ष देनेवाली और सब पापों का नाश करनेवाली भागवत की कथा कही। कथा समाप्त होने पर उन्होंने विधिपूर्वक पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् की स्तुति की।

कथा के समाप्त होने पर ज्ञान, वैराग्य और भक्ति, तीनों परिपुष्ट और सबके मन को हरनेवाले सुन्दर जवान हो गये। मनोरथ सफल होने से नारद ने भी अपने को कृतार्थ समझा। वह परम प्रसन्न हुए। परमानन्द के कारण उनके शरीर में रोमांच हो आया। हे शौनक, भगवान् विष्णु के परम प्रिय और अनन्य भक्त नारदजी कथा सुनने के उपरान्त सनकादिक परमहंसों के आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और प्रेमपूर्ण गद्गद वाणी से कहने लगे—आप लोगों के अनुग्रह से मैं धन्य हो गया। करुणा के सागर आप लोगों ने मुझको कृतार्थ कर दिया। आज आप लोगों की कृपा से मुझको सब पापों के हरनेवाले हरि भगवान् मिल गये। हे तपोधनो, मेरी समझ में श्रीभागवत की कथा सुनना ही सब धर्मों और साधनों से श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे वैकुण्ठवासी भगवान् कृष्णचंद्र साक्षात मिल जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—वैष्णवों में श्रेष्ठ नारदजी इस तरह कह रहे थे, इतने में अपनी इच्छा से घूमते हुए महायोगेश्वर श्रीशुकदेवजी उस जगह आकर उपस्थित हुए। देखने में सोलह वर्ष के मालूम पड़नेवाले, ज्ञान-सागर के निर्मल निष्कलंक चन्द्रमा, आत्मलाभ से परिपूर्णकाम, महातेजस्वी, व्यासजी के पुत्र श्रीशुकदेवजी को कथा-समाप्ति के बाद धीरे-धीरे प्रेम से भागवत का पाठ करते हुए वहाँ उपस्थित देखकर सभा में बैठे हुए सब लोग आदर दिखाने के लिए उठ खड़े हुए। नारद ने प्रसन्नतापूर्वक बैठने के लिए आसन देकर उनका पूजन किया। सुखपूर्वक आसन पर बैठकर श्रीशुकदेवजी ने निर्मल वाणी से वहाँ जो पवित्र उपदेश किया, उसे सुनो।

शुकदेवजी बोले—हे भाव के मर्मज्ञ रसिक लोगो, वेदरूप कल्पवृक्ष से पृथ्वीतल पर गिरे हुए और शुक-मुख के द्वारा प्रकट अमृत-प्रवाह से परिपूर्ण इस भागवत-रस ( अर्थात रसमय फल ) को मुक्ति-पर्यन्त बारम्बार पीते रहो। इसमें मत्सर से रहित साधुजनों का निष्कपट परमधर्म कहा गया है, और कल्याण करनेवाला, तीनों तापों की जड़ को उखाड़ डालनेवाला, जानने योग्य वास्तव अर्थात सत् पदार्थ ब्रह्म विद्यमान है। महामुनि वेदव्यास-रचित इस श्रीमद्भागवत के सिवा क्या और किसी साधन से भी इतनी जल्दी हरि भगवान् हृदय में लाकर रक्खे जा सकते हैं? कभी नहीं। इसे सुनने की इच्छा करते ही उसी समय उन सुकृती जनों के हृदय में आकर हरि बस जाते हैं। यह महापुराण सब पुराणों का तिलक अर्थात सर्वोपरि



सनकादि मुनियों के भागवत-सप्ताहयज्ञ में भगवान् हरि के आगे महाकीर्त्तन

है। यह वैष्णव जनों का धन या सर्वस्व है। इसमें परमहंसधर्मरूप निर्मल ज्ञान का वर्णन किया गया है और ज्ञान-वैराग्य-भक्तिसहित निष्कर्म धर्म या निवृत्ति-मार्ग दिखलाया गया है। भक्ति के साथ जो कोई इस को पढ़ता, सुनता और मनन करता है, वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। यह रस स्वर्ग में, ब्रह्मलोक में, कैलास में, यहाँ तक कि वैकुण्ठ में भी नहीं है। इसलिए हे उत्तम भाग्यशाली लोगो, इसे पियो, किसी तरह न छोड़ो, न छोड़ो।

सूतजी कहते हैं—हे शौनक, श्रीशुकदेवजी इस तरह भागवत की महिमा का बखान कर ही रहे थे कि इतने में उस सभा के बीच प्रह्लाद, राजा बलि, उद्धव, अर्जुन आदि श्रेष्ठ भक्तों के साथ विष्णु भगवान् आकर प्रकट हो गये। नारद ने हरि की और उनके भक्तों की पूजा की। दिव्य आसन पर विराजमान प्रसन्न-मुख नारायण को देखकर वे सब भक्तजन उनके आगे कीर्त्तन करने लगे। उस महाकीर्त्तन को देखने के लिए उस समय वहाँ पर गौरीसहित शंकर और ब्रह्माजी भी आ गये। प्रह्लादजी चंचल गति से चल-चलकर ताल देने लगे; उद्धवजी मँजीरे और नारदजी अपनी वीणा बजाने लगे। स्वरचतुर अर्जुन अनुराग से राग अलापने लगे। इन्द्रदेव मृदंग बजाने लगे, सनकादिक ऋषि जय-जयकार करने लगे और रस-रचना में प्रवीण व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी भाव बताने लगे। इन सब तेजस्वी भक्तजनों के बीच में हृष्ट-पुष्ट भक्ति, ज्ञान और वैराग्य नटों के समान नाचने लगे। इस अलौकिक कीर्त्तन को देखकर हरि भगवान् परमप्रसन्न हुए और कहने लगे—हे अनुरक्त भक्तगण, तुम इस समय मुझसे मनमाना वर माँगो। मैं भागवत की कथा और इस कीर्त्तन से बहुत प्रसन्न हूँ।

प्रेमरस में मग्न हो रहे भक्तों ने हरि के इन वचनों से प्रसन्न होकर कहा—भगवन्, सप्ताह की कथाओं में आप अपने इन भक्तों के साथ सदैव उपस्थित रहें, यही हमारा मनोरथ है। इसे आप पूर्ण करें। "तथास्तु" कहकर भगवान् विष्णु सबके सामने वहाँ अन्तर्द्धान हो गये। तब नारदजी ने भगवान् के चरणों को प्रणाम करके शुकदेव आदि तपस्वियों को भी प्रणाम किया। इस प्रकार कथामृत के पान से जिनके मन का मोह मिट गया है, वे सब श्रोता प्रसन्नचित्त होकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

श्रीशुकदेवजी ने उस समय ज्ञान-वैराग्य-सहित भक्ति को अपने श्रीभागवतशास्त्र में स्थापित कर दिया। इसी कारण भागवत के पढ़ने-सुनने से वैष्णव भक्तों के चित्त में हरि भगवान् तुरन्त आ जाते है। दारिद्र्य, दुःख आदि के ताप से पीड़ित, माया-पिशाची के सताये हुए और संसार-सागर में डूब रहे लोगों का कल्याण करने के लिए यह श्रीभागवतशास्त्र गरज रहा है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी, श्रीशुकदेवजी ने परीक्षित् को, गोकर्ण ने धुंधुकारी को और सनकादिक ने नारद को कब, किस महीने में यह भागवतशास्त्र सुनाया था? यह बताकर हमारे संशय को दूर कीजिए।

सूतजी ने कहा—कृष्णचंद्र के परमधाम सिधारने के बाद, कलियुग के और तीस वर्ष बीतने पर, भादों सुदी नवमी के दिन शुकदेवजी ने परीक्षित् के आगे भागवत की कथा का आरंभ किया था। परीक्षित् के कथा सुनने के २०० वर्ष बाद असाढ़-सुदी नवमी को गोकर्ण ने सप्ताह बाँचना शुरू किया था। उसके बाद कलियुग के और तीस वर्ष बीतने पर कातिक सुदी नवमी के दिन सनकादिक ने सप्ताह-पारायण का आरंभ किया था। हे निष्पाप, तुमने जो कुछ पूछा था, सो मैंने तुमको बता दिया। कलिकाल में यह भागवत ही भवरोग को मिटानेवाली एकमात्र महौषधि है। हे ऋषियो, और सब सांसारिक पदार्थों के लिए यत्न करने से क्या भला होगा? ऐहिक सुख की कामना छोड़कर कृष्ण की प्यारी, कलिकाल के कलुष को मिटानेवाली, मुक्ति देनेवाली और हर घड़ी भक्ति को बढ़ानेवाली इस भागवत की कथा को बारंबार सादर सुनते रहो। हाथों में कालपाश पकड़े हुए अपने दूतों को देखकर यमराज उनके कान में कहते हैं कि देखो जो कोई हरिकथा

के अमृतरस को पीकर मस्त रहता हो, उसके पास कभी भूलकर भी न जाना। मैं और सबका शासक हूँ; किंतु वैष्णवजन मेरे शासन से परे हैं—मैं उनका प्रभु नहीं हूँ। हे मनुष्यो, इस असार संसार में विषयरूप विषम विष ने तुम्हारी बुद्धि को आकुल कर रक्खा है; तुम अपने सच्चे कल्याण के लिए क्षण या आधे क्षण ही भागवत-कथा का अमृत पियो। कुकथाओं के कुपथ में क्यों जा रहे हो? भागवत की कथा के मुक्तिदायक होने का प्रमाण महाराज परीक्षित् हैं। अकेले एकान्त में विचरण करनेवाले परमहंस श्रेष्ठ श्रीशुकदेवजी के मुख से निकली हुई यह भागवत की कथा एक अनमोल मणि है। इसे जो कोई अपने कंठ में धारण करता है, वह साक्षात् वैकुण्ठ का स्वामी नारायण हो जाता है। यह परम गुह्य तत्त्व सब सिद्धान्तों से सिद्ध है। मैंने सब शास्त्रों को मथकर उनका यह सारांश निकाला है कि जगत् में भागवत की पावन कथा से बढ़कर पवित्र और उत्तम और कुछ भी नहीं है। परमसुख ( मुक्ति अथवा ब्रह्मानन्द ) के लिए बारह स्कंधों में विस्तृत इस कथारस को पियो। इस भागवत-महापुराण को जो मनुष्य नित्य नियमपूर्वक भक्ति के साथ सुनता है और जो कोई विष्णु के भक्त को सुनाता है, वे दोनों अच्छी तरह विधिपूर्वक सुनने-सुनाने के कारण पूर्ण फल के भागी होते हैं। यथार्थ रीति से चेष्टा करने पर संसार में कुछ भी असाध्य नहीं होता।





# पहला स्कंध

## पहला अध्याय

### मंगलाचरण

यह महापुराण भागवत कल्पवृक्ष के समान मनचाहे फल को देनेवाला और सभी को अत्यन्त सहज में मिल जानेवाला है। यह सबके ऊपर विराजमान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। सत् ( ब्रह्म अथवा साधु-सज्जन ) से इसकी उत्पत्ति हुई है। संसार से तारनेवाला बृहत् ( ब्रह्म का ज्ञान ) या तारक महामंत्र ओंकार इसका अंकुर है। भक्ति के थाल्हे मे लगकर यह फैला है। इसके स्कंध ( मोटी शाखाएँ ) बारह हैं। छोटी डालियाँ तीन सौ बत्तीस अध्याय, और पत्ते अठारह हजार श्लोक है ॥ १ ॥

अनेक शास्त्र-पुराण और महाभारत की रचना करने से भी जब चित्त को शान्ति न मिली, पूर्ण सन्तोष न हुआ, तब श्रीनारद मुनि के उपदेश के अनुसार पूर्ण शान्ति के लिए वेदव्यासजी मुख्य रूप से श्री-हरि के गुण-वर्णन से अलंकृत भागवत महापुराण का प्रारंभ करते समय पहले उस पुराण के प्रतिपादनीय परम इष्टदेव परब्रह्म का स्मरण करके मंगल का आचरण इस प्रकार करते है—

मोक्ष पदार्थ वाक्य अर्थात् वेद के अर्थ-ज्ञान पर निर्भर है। वह ज्ञान पद ( ब्रह्मपद ) के अर्थ-ज्ञान

पर निर्भर है। इस कारण इस मंगलाचरण में पहले 'वाक्य' के अर्थ और 'पद' के अर्थ का निरूपण करते हैं।

पदार्थ का लक्षण तटस्थ-लक्षण और स्वरूप-लक्षण के भेद से दो प्रकार का है, और पद का अर्थ भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के भेद से दो तरह का है। मायायुक्त चैतन्य ( सगुण ब्रह्म ) उस पद का वाच्यार्थ है और मायामुक्त चैतन्य ( निर्गुण ब्रह्म ) लक्ष्यार्थ।

वेदव्यासजी कहते हैं—हम परब्रह्म का ध्यान करते हैं [ वह परब्रह्म क्या है, यह पहले स्वरूप-लक्षण से बताकर फिर तटस्थ-लक्षण से बतावेंगे ]। वह ब्रह्म सत् ( त्रिकाल में विद्यमान ) है। [ अब उसकी सत्यता को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। ] जैसे मिट्टी के रूपान्तर या विकार जो काँच आदि हैं, उनमें होनेवाला तेज का और मैदान में चमक रहे सूर्य के तेज की चमक में होनेवाला जल का विनिमय या भ्रम ( अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भासित होना ), वास्तव में असत्य होने पर भी, अधिष्ठान या आधार की सत्यता से सत्य-सा जान पड़ता है, वैसे ही उस ब्रह्म में अधिष्ठित माया के तीनों गुणों ( सत्व, रज, तम ) का सर्ग या प्रपंच ( इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता सूर्य आदि, और शब्द, रूप, रस आदि पाँच तन्मात्रा अर्थात् आकाश आदि तत्त्वों के गुण या सूक्ष्म रूप ), वास्तव में असत् होने पर भी, उस ब्रह्म की सत्यता से सत्य-सा जान पड़ता है। मतलब यह कि उसी चैतन्य ब्रह्म की सत्ता से यह जड़ सृष्टि-प्रपंच चेतन-सा भासित होता है। या यों कहिए कि जिस तरह काँच में तेज का और धूप में पानी का भ्रम वास्तव मे मिथ्या है, उसी तरह उस ब्रह्म के सिवा पूर्वोक्त सब त्रिगुणात्मक प्रपंच असत् है। एक वही परमार्थरूप ब्रह्म सत है। अपनी उपाधियों के कारण वह ब्रह्म, एक होने पर भी, अनेकरूप प्रतीत होता ह और यही कारण है कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी उसके स्वरूप का निर्णय करने में भ्रम हो जाता है, वे धोखा खा जाते है। किन्तु वह ब्रह्म स्वयं सदा अपने स्वयंसिद्ध तेज अर्थात् अखण्ड ज्ञान से मायाजनित भ्रम को अपने निकट नहीं आने देता।

इस प्रकार स्वरूप-लक्षण से निरूपण करके अब तटस्थ-लक्षण से ब्रह्म का निरूपण करते है—हम उस सत्यरूप परम इष्टदेव का ध्यान करते हैं, जिसके द्वारा इस दिखाई दे रहे जगत् की सृष्टि, पालन और संहार होता है। मतलब यह कि वही जगत् की सृष्टि, पालन और संहार का आदि कारण है। सृष्टि के सब कार्यों में सत् रूप से उसका अन्वय ( संबंध ) और अकार्यों में व्यतिरेक ( अलगाव ) है। मतलब यह कि सब सृष्टि के पदार्थों या कार्यों में वह सत् रूप से वर्तमान या व्याप्त है, इसीसे उनकी सत्ता स्वीकृत होती है, और 'आकाश-कुसुम', 'बाँझ का पुत्र', 'चौगड़े के सींग' आदि अकार्यों से उसका कुछ भी संबंध नहीं है, इसीसे इनका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। या जैसे मिट्टी, सोना आदि कारणों का घड़ा, कुण्डल आदि कार्यों से संबंध भी है और व्यतिरेक ( अलगाव ) भी है, अर्थात् मिट्टी आदि कारण सत हैं, इसलिए घट आदि कार्य उनमें अधिष्ठित हैं, परन्तु वे ( कारण ) इन कार्यों से अलग हैं; क्योंकि घट-कुण्डल आदि नाम-रूपमय कार्यों के न रहने पर भी वे सत् कारण ( मिट्टी और सोना ) बने रहते हैं, वैसे ही कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप विश्व-प्रपंच से संबंध भी है और व्यतिरेक भी। मतलब यह कि कारणरूप ब्रह्म सत् है, इसलिए कार्यरूप विश्व-प्रपंच इसमें अधिष्ठित है; परन्तु वह ब्रह्म इस प्रपंच से अलग है, क्योंकि विश्व-प्रपंच के न रहने पर भी कारणरूप ब्रह्म बना ही रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि तो क्या जगत् का कारण 'प्रधान' तत्त्व तुम्हारा वह इष्टदेव है ? कहते हैं—नहीं, 'प्रधान' में परिपूर्ण ज्ञान नहीं है। पर ब्रह्म सर्वज्ञ है। फिर प्रश्न होता है—तो क्या जीवात्मा का तुम ध्यान कर रहे हो ? कहते हैं—नहीं, जीव में स्वतः प्रकाश या ज्ञान नहीं है; परंतु ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है,

अर्थात् उसका अखण्ड ज्ञान स्वतःसिद्ध है; उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं। फिर प्रश्न होता है—तो क्या तुम स्वयंभू ब्रह्मा का ध्यान कर रहे हो? कहते हैं—नहीं, आदिकवि ब्रह्मा के हृदय में उसी ब्रह्म ने वेद का ज्ञान उत्पन्न किया है। यहाँ पर अगर कोई यह शंका करे कि प्रलयकाल में निश्चेष्ट होने से लीन, ज्ञानमय वेद को ब्रह्मा ने स्वयं मनन करके अपने हृदय में पाया होगा, तो इस शंका का समाधान करते हैं कि ब्रह्मा का भी ज्ञान स्वयंसिद्ध नहीं, पराधीन है। ज्ञानरूप वेदविद्या के आविष्कार का मूल कारण वही स्वतःसिद्ध ज्ञान से परिपूर्ण ब्रह्म है; क्योंकि उस वेद का तात्पर्य समझने में बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वान् ( ब्रह्मा आदि ) भी मोह को प्राप्त होते है—उनकी बुद्धि भी चकरा जाती है।

हम उसी बुद्धि-वृत्ति के प्रवर्त्तक, सत्व एवं असत् को भी अपनी सत्ता से सत्व देने के कारण परमार्थ सत्य इष्टदेव ब्रह्म का ध्यान करते हैं॥ २॥

जिनके हृदय में मत्सर ( पराये उत्कर्ष को न सह सकना ) नहीं है, उन शुद्ध सज्जनों का स्वर्ग आदि फलों की कामना ( 'प्र' से मोक्ष की कामना भी ) के कपट से रहित ईश्वराराधनारूप परम धर्म इस परम रम्य भागवत महापुराण में कहा गया है। इसके पढ़ने-सुनने और मनन करने से सहज में ही यथार्थ परमार्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे परम सुख मिलता है; क्योंकि आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, इन तीनों प्रकार के तापों की जड़ ही उखड़ जाती है।

ऐसे उत्तम इस महामुनिकृत श्रीमद्भागवत के सिवा क्या अन्य किसी शास्त्र या पुराण के पढ़ने-सुनने से भी शीघ्र अनायास ही श्रीहरि हृदय में बसाये जा सकते हैं? नहीं, कभी नहीं। किंतु ज्ञानकाण्ड-कर्मकाण्ड-देवकाण्ड-विषयक सब शास्त्रों से श्रेष्ठ इस परम पवित्र पुराणशास्त्र के सुनने की इच्छा करते ही उसी घड़ी हरि भगवान् हृदय में बस जाते है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अगर ऐसा ही है तो इसे सभी लोग क्यों नहीं सुनते? कहते हैं कि इसके सुनने की इच्छा या रुचि होना ही दुर्लभ है। जिन्होंने बहुत पुण्य किये हैं, उन्हीं लोगों के हृदय में बड़े भाग्य से इस पुराण को सुनने को प्रवृत्ति होती है॥ ३॥

यह महापुराण केवल सब पुराणों से श्रेष्ठ ही नहीं है, बल्कि यह सब शास्त्रों का फल (अर्थात् सारांश) है। इस कारण बड़े आदर और श्रद्धा से इसका सेवन करना चाहिए। यह पुराण सब पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले कल्पवृक्षतुल्य वेद का फल ( निचोड़ ) है। इस वैकुण्ठलोक में स्थित फल को नारद ने लाकर मुझे दिया। मैंने शुकदेव को पढ़ाया और शुकदेव के मुख से निकलकर यह पृथ्वीतल में फैल गया। मतलब यह कि यह फल शिष्यों की परम्परा द्वारा अखण्ड ( अविकल ) रूप से ही पृथ्वी पर उतर आया है, इतने ऊँचे से गिरने के कारण फूट नहीं गया। यह फल अमृत( परमानंद )-रसमय है। लोक में यह बात प्रसिद्ध भी है कि शुक ( तोता, दूसरे पक्ष में मुनि ) का मुख जिसमें लग जाता है, वह फल अमृत-जैसा मीठा होता है। हे रसिकजनो, रसिकों में भी भावुक ( रसविशेष के समझने में निपुण ) लोगो, यह तुम्हारे लिए अलभ्य लाभ है कि यह भागवतशास्त्र पृथ्वीतल में आ गया है। अतएव इस केवल रसमय ( मतलब यह कि इसका कोई भी अंश और फलों के छिलके, गुठली आदि की तरह फेक देने योग्य नहीं है ) फल के रस को प्रलय तक बराबर पीते रहो। अर्थात् भागवत-रस का पीना जीवन्मुक्त हो जाने पर भी छोड़ने योग्य नहीं है। जीवन्मुक्त परमहंस भी अन्य स्वर्ग आदि फलों के समान इसकी उपेक्षा नहीं करते, बल्कि आग्रह के साथ सदा इसका सेवन करते रहते हैं॥ ४॥

## सूत और शौनक का संवाद

श्रीविष्णु भगवान् के क्षेत्र नैमिषारण्य में अट्ठासी हजार शौनक आदि तपस्वी ऋषियों ने कलिकाल के दोषों से बचने के लिए, स्वर्गलोक पाने की इच्छा से, ज्ञानयज्ञ का आरंभ किया। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, एक कर्मयज्ञ, दूसरा ज्ञानयज्ञ। जिसमें घी, साकल्य आदि से कर्मकांड की विधि से होम किया जाता है, वह कर्मयज्ञ है, और जिसमें शास्त्र की आलोचना या ज्ञान की चर्चा होती है, उसे ज्ञानयज्ञ कहते हैं। शौनक आदि ऋषियों ने ज्ञान की चर्चा करके श्रीहरि की आराधना करने को हजार वर्ष की दीक्षा ली थी। वे मुनिगण एक दिन प्रातःकाल में अग्निहोत्र आदि कर्मों से छुट्टी पाकर बैठे थे, इसी समय व्यासजी के शिष्य



सूतजी वहाँ आ गये। मुनियों ने उनका यथोचित सत्कार किया। सूतजी जब सुखपूर्वक उत्तम आसन पर विराजमान हुए, तब ऋषियों ने आदर के साथ उनसे कहा— हे सूत, आप निष्पाप है। आपने व्यासजी से सब पुराण, इतिहास और शास्त्र पढ़े है, और श्रोताओं को सुनाये भी है। श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी भगवान् व्यासदेव और सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान रखनेवाले और मुनि लोग जो कुछ जानते है, सो सब अपने गुरु वेदव्यास की कृपा से आप अच्छी तरह जानते है। जो शिष्य सुशील और नम्र होता है, उसे उसके गुरु गुप्त से गुप्त विषय भी बतला देते है। आपने उन सब ग्रन्थों को पढ़कर परिश्रमपूर्वक लोगों के लिए परम कल्याण की जो बात निश्चित की हो, वह हमको बतलाओ। हे सभ्य सूत, इस कलियुग में उत्पन्न होनेवाले सभी प्राणियों की आयु थोड़ी होती है, उस पर उनकी बुद्धि भी मंद होती है। वे भाग्यहीन होते है और रोग आदि उपद्रव उन्हें घेरे रहते हैं। इस कारण न तो उनमें शक्ति ही इतनी होती है और न समय ही उन्हें इतना मिलता है कि वे सब ग्रन्थों को पढ़ सके या पढ़कर उनमें से अपने परम कल्याण का उपाय निश्चित कर सकें। बड़े-बड़े यज्ञ, तप, दान आदि करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। इनका फल भी बहुत दिनों में प्राप्त होता है। इधर ऊपर लिखे कारणों से मनुष्य का जीवन चिरस्थायी नहीं है। इसलिए हे परोपकारी सूत! आपने अनेक ग्रन्थों को पढ़कर अपनी बुद्धि से उनका जो तत्त्व ( सार ) निकाला हो सो अपने जनों के कल्याण के लिए हमसे कहो, जिसके सुनने से हमारी आत्मा को अच्छी तरह से प्रसन्नता प्राप्त हो। सूतजी, आपका कल्याण हो। सज्जनों की सहायता और रक्षा करनेवाले भगवान् ने जो कार्य

करने के लिए वसुदेव के वीर्य से देवकी के गर्भ में आकर अवतार लिया, उसे आप जानते हैं। हम सुनना चाहते हैं, इसलिए आप हमारे आगे भगवान के वे चरित्र और लीलाएँ कहिए। परमेश्वर प्राणियों के पालन और उन्नति के लिए ही अवतार लिया करते हैं। इस संसार में घोर कष्ट या संकट पड़ने पर विवश होकर भी, जो कोई भगवान् के नाम का उच्चारण करता है, उसे उसी क्षण उस संकट से छुटकारा मिल जाता है। क्यों न हो, भगवान् के नाम से स्वयं भय भी डरता है। जिन मुनियों ने भगवान के चरणों का सहारा पकड़ा है और मन को शान्त बना लिया है, वे भी जब अपने दर्शन और स्पर्श से उसी क्षण बड़े-बड़े पापियों को भी पवित्र कर देते है, तब यदि भगवान् का नाम लेने से पापी पवित्र हो जायँ तो कौन आश्चर्य की बात है। गंगा आदि तीर्थों में तो जब स्नान कीजिए, कुछ दिन उनकी सेवा कीजिए, तब जाकर देर में वे पवित्र करते हैं; किंतु साधु-सज्जन तो दर्शन करते ही तत्काल पवित्र करते हैं, देर ही नहीं लगती। पवित्र कीर्तिवाले लोग ही उन भगवान् की पूजनीय लीलाओं का कीर्त्तन करते हैं। अपनी शुद्धि चाहनेवाला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो उन परमेश्वर के कलि-दोष-दहन गुणों की गाथा को न सुनेगा? भगवान् लीला करने के लिए कलावतार और अंशावतार लेकर समय-समय पर जो उदार अर्थात् लोकहित के काम करते हैं, और पंडित बुद्धिमान लोग भक्ति के साथ जिन्हें गाते है, वे भगवान् के चरित्र आप हमे सुनाइए। ईश्वर की लीला सुनन क लिए हम बहुत उत्सुक हैं, हमारे मन में बड़ी आकांक्षा है, श्रद्धा है। इच्छापूर्वक अपनी माया के द्वारा लीलाएँ करन के लिए भगवान् ने जितने अवतार लिये है, उन सबकी शुभ कथाएँ आप हमसे कहिए। पवित्र कीर्त्तिवाले भगवान् के चरित्र सुनने से हमारा जी नहीं भरता; यही जी चाहता है कि और सुनें। इन कथाओं के सुनते समय रसिकजनों को अक्षर-अक्षर में नया ही स्वाद और आनन्द मिलता है। मनुष्य की शक्ति जिन्हें नहीं कर सकती, ऐसे जिन अलौकिक चरित्रों को माया-मनुष्यरूप भगवान् कृष्ण ने बलभद्र के साथ पृथ्वीतल पर किया है, वे सब हमसे कहिए। अगर आप कहे कि हम लोग तो यज्ञ की दीक्षा लेकर बैठे हैं, भगवान् की कथा कब और कैसे सुनेंगे, तो यह यज्ञ तो एक बहाना है, हमारा उद्देश तो केवल हरिकथा सुनना ही है। हमने देखा, पृथ्वीतल पर कलिकाल आ गया है, अब इसके दोषों से बचने का केवल यही उपाय है। इसीसे श्रीविष्णु के इस पवित्र क्षेत्र में इकट्ठे होकर हमने बहुत दिनों के लिए ज्ञानयज्ञ की दीक्षा ली है। लोगों के सत्व को हरनेवाले दुर्जय दुस्तर कलियुग को इस प्रकार बिताने के लिए हम यहाँ एकत्र हुए थे। इसी समय विधाता ने तुमको यहाँ भेज दिया। जैसे समुद्र पार जानेवाले को कर्णधार (मल्लाह) मिल जाय, वैसे ही इस काम में हमारी सहायता करनेवाले आप पधारे हैं। अतएव कृपा करके हमको बतलाइए कि इस समय, जब कि धर्म की रक्षा करनेवाले, ब्राह्मणभक्त, योगेश्वर श्रीकृष्ण-चन्द्र परमधाम को पधारे और अपने पूर्वरूप को प्राप्त हुए, तब धर्म किसकी शरण में गया, अर्थात् धर्म की रक्षा करने को कौन प्रस्तुत हुआ?

# दूसरा अध्याय

## ऋषियों के प्रश्नों का उत्तर

व्यासजी कहते हैं—ऋषियों के इन उचित और उत्तम प्रश्नों को सुनकर रोमहर्षण सूत के पुत्र उग्रश्रवा नाम के सूत को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ऋषियों के प्रश्नों की और ऋषियों की सराहना करके इस प्रकार कहना आरंभ किया।

सूतजी पहले परमहंस शुकदेवजी की वन्दना और मंगलाचरण करके ऋषियों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ करते हैं।

जो जन्म लेते ही आत्माभिमान को छोड़कर परमहंसभाव से वन की ओर चल दिये थे, और उस समय जब पुत्र के वियोग से विह्वल होकर उनके पिता व्यासजी ने "हे पुत्र" यों कहकर पुकारा, तब जिन्होंने सर्वत्र ब्रह्म-भावना रखने के कारण वृक्षों के द्वारा उसका उत्तर दिया, उन ब्रह्मभूत महामुनि शुकदेवजी की मैं वन्दना करता हूँ। यह संसार एक अंधकारपूर्ण दुर्गम मार्ग है, इसके पार पहुँचने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों के ऊपर कृपा करके जिन्होंने स्वयंप्रकाशपूर्ण, संपूर्ण वेदों का सारांश, पुराणों में श्रेष्ठ, गूढ़, अध्यात्ममय दीपक-रूप भागवतशास्त्र प्रकट किया, उन वेदव्यास-नंदन मुनिवर श्रीशुकदेव के मैं शरणागत हूँ। पहले नर, नरोत्तम नारायण, देवी सरस्वती और व्यासदेव की वन्दना करके शास्त्र का प्रारंभ करना चाहिए। हे मुनिगण, तुमने मुझसे यह बहुत ही अच्छा प्रश्न किया। सारे संसार के लिए कल्याणदायक श्रीकृष्ण भगवान् का चरित्र जो तुमने पूछा है, उसके कहने और सुनने से आत्मा को बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है। हृदय शुद्ध होता है। सभी प्राणियों का वही श्रेष्ठ धर्म है, जिससे श्रीनारायण भगवान् में कामनारहित अटल भक्ति हो और आत्मा को पूर्ण प्रसन्नता मिले। वासुदेव की भक्ति का प्रत्यक्ष फल यह है कि तत्काल चित्त में वैराग्य का उदय और ब्रह्मज्ञान का आविर्भाव होता है। हे ऋषिगण, अच्छी तरह किया गया धर्म तभी सफल है, जब उससे श्रीभगवान् की कथाओं में अनुराग उत्पन्न हो। यदि ऐसा नहीं होता तो उस धर्म का आचरण व्यर्थ परिश्रममात्र है। कुछ लोगों का कहना यह है कि धर्म के आचरण का फल धन की प्राप्ति है और धनोपार्जन का फल कामना को विषय-भोग से तृप्त करना है। काम-भोग से इन्द्रिय-सुख प्राप्त होता है। परंतु ज्ञानी की दृष्टि में यह प्रवृत्ति-मार्ग अनित्य होने के कारण तुच्छ और हेय है। ज्ञानी तो जानता है कि धर्म, अर्थ, काम जीवन भर ही सुख देनेवाले हैं; इनके द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी कारण ज्ञानी मुक्ति अर्थात् माया से छुटकारा चाहता है, निवृत्ति-मार्ग को पकड़ता है। प्रयोजन यह कि ज्ञानी के मत में धर्म, अर्थ, काम का फल ब्रह्म की जिज्ञासा है। यही मुक्ति का कारण है। इससे बढ़कर और कोई जीवन का फल नहीं है। ज्ञानीजन इसी ज्ञान को तत्त्व कहते हैं। किसी के मत में यही "अद्वैत ज्ञान" है। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि नामों से इसी ज्ञान का बोध होता है। मुनि लोग इसी तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा के साथ मोक्षसंबंधी शास्त्र सुनते हैं। शास्त्र के सुनने से ज्ञान होता है। ज्ञान होने पर इस असत् संसार से वैराग्य हो जाता है, और सत्य भगवान् के प्रति प्रेम या भक्ति का उदय होता है। तब ज्ञान, वैराग्य और भक्ति इन तीनों के मिलने से आप ही हृदय के भीतर आत्मदर्शन हो जाता है। फिर आत्मा के सहारे परमात्मा का अनुभव होता है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्ब देख पाकर मनुष्य उसी के सहारे असल सूर्य-बिम्ब को देख सकता है, उसी प्रकार उपाधियुक्त आत्मा के ही द्वारा निरुपाधि परमात्मा तक पहुँच होती है। हे मुनियो, कोई भी

वर्ण या आश्रम हो, सबका एक ही धर्म श्रीभगवान् की भक्ति है। चित्त को एकाग्र करके भगवान् हरि के गुणों की गाथा सुन उनके नामों का कीर्त्तन करना, ध्यान और पूजा करना ही सब शरीरधारियों का एकमात्र नित्य धर्म है। हरि के ध्यान का फल ज्ञान है। जो लोग बुद्धिमान और विद्वान् हैं, वे ज्ञान की तलवार से कर्मों के बन्धन को काट डालते हैं। ऐसे ईश्वर की कथा सुनना किसे न रुचेगा! देखो, श्रीभगवान् के चरित्रों का कीर्त्तन और श्रवण परम दुर्लभ है, सबको सहज ही में प्राप्त नहीं होता। पवित्र तीर्थों में जाकर महापुरुष सज्जनों की सेवा करने से श्रीभगवान् के चरित्रों को श्रद्धा के साथ सुनने की रुचि होती है।

यह भक्ति का मार्ग बहुत ही सहज और सुगम है। श्रीहरि की कथा का कीर्त्तन और श्रवण परम पावन है। वही सज्जनों के बन्धु श्रीकृष्णचन्द्र अपनी कथा सुननेवालों के हृदय में प्रवेश करके अज्ञान के कुतर्क को दूर कर देते हैं। नित्य भगवद्भक्तों का संग करने से जब हृदय शुद्ध हो जाता है, तब उत्तम यशवाले हरि में कामनारहित विशुद्ध भक्ति उत्पन्न होती है। उस समय रजोगुण तथा तमोगुण के विकार काम, क्रोध, लोभ आदि भाव चित्त में नहीं रहते। शान्त और निर्मल चित्त में सतोगुण का ही अधिकार हो जाता है। इस प्रकार सबका संग छोड़कर श्रीभगवान् का ध्यान करने से श्रीभगवान के तत्त्व का ज्ञान होता है। अपने ही हृदय में ईश्वर का दर्शन होने पर हृदय की सब गाँठें खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं, और अंत में सब कर्म क्षीण हो जाते हैं—मुक्ति अर्थात् संसार से छुटकारा मिल जाता है। इसीसे जो चतुर और विद्वान् लोग हैं, वे श्रीभगवान् की भक्ति करते है। वह भक्ति परमानन्द देकर आत्मा को प्रसन्न या विशुद्ध कर देती है। हे ऋषियो, वही निर्गुण निराकार परब्रह्म इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करने के लिए अपनी माया के तीनों गुण ग्रहण करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम स्वीकार करते हैं। ये तीनों सगुण मूर्त्तियाँ ईश्वर ही की हैं, किन्तु इनमें सतोगुणमयी विष्णु-मूर्त्ति ही परम सुख और कल्याण देनेवाली है। जैसे लकड़ी से पहले धुआँ और उस धुएँ से अग्नि, जो कि कर्मकांड को चलानेवाली है, प्रकट होती है, वैसे ही तमोगुण से रजोगुण और उससे सतोगुण प्रकट होता है। सतोगुण से ही ब्रह्म का दर्शन या अनुभव होता है। पहले जो सब मुनि हुए हैं, उन्होंने अपने कल्याण के लिए शुद्ध सतोगुणमय विष्णु का ही भजन किया है। जो लोग उन मुनियों के अनुगामी होंगे, अर्थात् उन्हीं की भाँति श्रीविष्णु का भजन करेंगे, वे मुक्त हो जायँगे। जिनके चित्त में ईर्ष्या नहीं है और जो मोक्ष की कामना रखते हैं, वे लोग रजोगुणमय और तमोगुणमय घोर रूपवाले भूत, प्रेत, पिशाच आदि को छोड़कर श्रीनारायण की शान्त मूर्त्तियों को भजते हैं। जो लोग रजोगुणी या तमोगुणी हैं, वे लक्ष्मी, ऐश्वर्य, पुत्र आदि पाने की इच्छा से पितर, भूत, प्रजापति आदि रजोगुणी और तमोगुणी देवताओं को भजते हैं। चारों वेद, सब यज्ञ, सब योग और सब कर्म श्रीविष्णुमय हैं। ज्ञान, तप, धर्म, गति सब श्रीविष्णुमय हैं। इस कारण सबको वासुदेव ही की आराधना और पूजा करनी चाहिए। श्रीभगवान् स्वयं निर्गुण है; किन्तु केवल इस संसार की उत्पत्ति, पालन और नाश के लिए सगुण रूप ग्रहण करते हैं। उन्होंने ही सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मरूप से यह विश्व उत्पन्न किया है। अपनी माया के गुणों को ग्रहण करने से वह सगुण जान पड़ते हैं, परन्तु यथार्थ में वह स्वयं प्रकाशित एक हैं। जैसे एक अग्नि अनेक रूप और आकार की लकड़ियों में उनके अनेक आकारों के अनुसार अनेक जान पड़ता है, वैसे ही अनेक आकार के शरीरों में अनेक आत्माएँ प्रतीत होती हैं। सब एक, उसी एकमात्र परब्रह्म का प्रतिबिम्ब हैं। सब प्राणियों में अवस्थित वह श्रीहरिरूप परमेश्वर निज-निर्मित इन्द्रियों और उनके विषय आदि पदार्थों के द्वारा आप ही यथायोग्य रूप से अपनी माया का भोग करते हैं। लोकरक्षक वही श्रीभगवान् सतोगुण से सब लोकों का पालन करते हैं। वही देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में लीला के लिए समय-समय पर अवतार लेते हैं।

# तीसरा अध्याय

## अवतारों का वर्णन

अब उन्हीं अवतारों का वर्णन करते हैं। पहले लोकसृष्टि करने की इच्छा से श्रीभगवान् ने महत्तत्त्व अहंकार, पंचतन्मात्रा अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि से संयुक्त होकर सोलह कला ( ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ तत्त्व—आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी—और १ मन ) वाला विराट् पुरुष का रूप धारण किया। प्रलय के अंत में योगनिद्रा से निद्रित और प्रलय-समुद्र में लेटे हुए जिन श्रीभगवान की नाभि से कमल हुआ—जिस कमल से प्रजापतियों के पति ब्रह्मा उत्पन्न हुए—जिन विराट् पुरुष के अंगों में संपूर्ण चौदह लोकों का निर्माण हुआ है, उन भगवान् का यह पुरुष-रूप शुद्ध सतोगुणी है। इस सात्विक विराट् रूप को योगी लोग ज्ञान के नेत्रों से इस प्रकार देखते हैं कि वह बहुत ही अद्भुत है। उसके हजारों चरण, ऊरु, भुजा, मुख, सिर, कान, नेत्र, नाक और मस्तक हैं। प्रति अंग में यथायोग्य कुंडल, मुकुट आदि आभूषण और वस्त्र सुशोभित है। यह आदिविराट् रूप अनेक अवतारों का निधान और अविनाशी बीज है; अर्थात् सभी अवतार अपना काम पूरा हो चुकने पर इसी में लय हो जाते हैं और इसी से उनका उद्भव भी होता है। इसी रूप के अंश के अंश ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापति है, जिनसे देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि की सृष्टि हुई है।

उसी देवदेव ने पहले सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ( ये चारों ब्रह्मा की मानसी सन्तान हैं ) अवतार लेकर अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया, जिसे कोई नहीं कर सकता। दूसरा वाराह अवतार हुआ। इस अवतार में संसार के कल्याण के लिए यज्ञेश्वर भगवान् ने पाताल से पृथ्वी को लाकर जल के ऊपर रक्खा। तीसरा अवतार ऋषियों की सृष्टि में देवर्षि नारद है। नारदजी ने वैष्णवतन्त्र अर्थात् नारद-पंचरात्र की रचना की है। इसके पढ़ने और सुनने से कर्मों का बन्धन छूट जाता है। चौथा अवतार धर्म की पत्नी से उत्पन्न नर और नारायण ऋषि है। इन्होंने आत्मा को शान्तिदायक अर्थात् आत्मा की शान्ति के लिए घोर तपस्या की। पाँचवाँ अवतार सिद्धेश्वर कपिलदेव हैं। इन्होंने आसुरि नाम के ऋषि को बहुत समय बीत जाने से लुप्त हो गये सांख्यशास्त्र का उपदेश किया। इस दर्शनशास्त्र में तत्त्वों का निर्णय किया गया है। छठा अवतार दत्तात्रेय है। अत्रि ऋषि की प्रार्थना के अनुसार श्रीभगवान् ने उनके पुत्र के रूप में यह अवतार लेकर राजा अलर्क और दैत्यराज प्रह्लाद आदि को आत्मविद्या बतलाई। सातवाँ अवतार श्रीयज्ञ भगवान हैं। रुचि प्रजापति की स्त्री आकूति के गर्भ से श्रीयज्ञ भगवान् का जन्म हुआ। स्वायंभुव मन्वन्तर में इन्द्र होकर यम आदि देवताओं के साथ इन्होंने जगत् की रक्षा की। आठवाँ अवतार ऋषभदेवजी हुए। इनका जन्म नाभि राजा की मेरुदेवी नाम की रानी के गर्भ से हुआ। इन्होंने परमहंस धर्म का उपदेश किया। इस धर्म की सब आश्रम वन्दना करते हैं। नवाँ अवतार राजा पृथु हुए। ऋषियों की प्रार्थना से महाराज पृथु ने पृथ्वी को गऊ बनाकर उससे सब ओषधियों आदि को दुह लिया। यह अवतार बड़ा उपयोगी हुआ। दसवाँ अवतार मत्स्य हुआ। चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में समुद्र ने बढ़कर जब पृथ्वी को डुबो दिया, तब श्रीभगवान ने मत्स्यरूप रखकर अपने भक्त वैवस्वत मनु को पृथ्वी-रूप नाव पर बिठाकर उनकी रक्षा की। ग्यारहवाँ कच्छप अवतार है। देवता और दैत्य मिलकर अमृत निकालने के लिए जब सागर को मंदराचल की मथानी से मथने लगे, तब कुछ सहारा न होने के कारण मंदराचल नीचे धँसने लगा। उस समय श्रीभगवान् ने कच्छप-रूप रखकर उस पर्वत को अपनी

पीठ पर धारण किया था। बारहवाँ अवतार धन्वन्तरि हैं। यह अमृत का कलश लेकर सागर से निकले थे। जब उस अमृत के लिए देवता और दैत्य झगड़ने लगे, तब दैत्यों को मोहित करने के लिए श्रीभगवान ने मोहिनी-रूप धारण किया। यह तेरहवाँ अवतार है। मोहिनी ने अपने हाव-भाव से दैत्यों को वश करके देवताओं को अमृत पिला दिया। चौदहवाँ नृसिंह अवतार हुआ। बली और अहंकारी दानवेन्द्र हिरण्य-कशिपु को पकड़कर उसके हृदय को श्रीनृसिंह भगवान् ने अपने तीक्ष्ण नखों से उसी प्रकार फाड़ डाला, जिस प्रकार चटाई बनानेवाला नरकुल को चीरता है। पन्द्रहवाँ वामन अवतार लेकर श्रीहरि राजा बलि के यज्ञ में पहुँचे। वहाँ बलि से तीन पग पृथ्वी के बहाने से स्वर्ग का साम्राज्य छीनकर अपने भाई इन्द्र को दिया। सोलहवाँ परशुराम अवतार है। ब्राह्मणों से द्रोह करनेवाले राजाओं पर कुपित होकर परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी के क्षत्रियों का संहार किया। उन्होंने पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया। सत्रहवाँ अवतार व्यासजी है। इनके पिता श्रीपराशर ऋषि और माता सत्यवती थीं। मनुष्यों की बुद्धि मन्द और थोड़ी देखकर व्यासजी ने वेदरूपी वृक्ष को अनेक शाखाओं में विभक्त कर दिया। अठारहवाँ अवतार महाराज श्रीरामचन्द्र हुए। यह अवतार देवताओं का कार्य करने को हुआ। इन्होंने समुद्र में सेतुबन्धन आदि दुष्कर कार्य किये। उन्नीसवाँ और बीसवाँ अवतार वृष्णि नाम की यादव-वंश की शाखा में उत्पन्न श्रीकृष्ण और बलदेवजी हुए। इन्होंने दुष्ट राजाओं को मारकर पृथ्वी का भार उतारा। इक्कीसवाँ अवतार कलियुग के आरम्भ में बुद्धदेव का होगा। ब्राह्मणविरोधी दुष्टों को भ्रम में डालने के लिए कीकट देश (मगध) में यह जिन-सुत बुद्धदेव होंगे। कलियुग का अन्त और सत्ययुग का आरम्भ जब होनेवाला होगा, तब विष्णुशर्मा ब्राह्मण के यहाँ जगदीश्वर का बाईसवाँ कल्कि अवतार होगा। जब राजा लोग प्रजा के रक्षक होने के स्थान में भक्षक बन जायँगे और चोरों के समान कुकर्मी हो उठेंगे, तभी उनके विनाश के लिए श्रीहरि यह अवतार लेंगे।

हे ऋषियो, सत्वमूर्त्ति भगवान् के ये कुछ मुख्य-मुख्य अवतार हमने तुम्हारे आगे कहे हैं। अवतार तो उनके ऐसे-ऐसे असंख्य हैं। जैसे अक्षय अथाह सरोवर से हजारों छोटे-छोटे सोते फूट निकलते हैं, वैसे ही श्रीभगवान् के अवतार भी समझो। देखो, ऋषि, मनुष्य, देवता, महापराक्रमी मनुष्यों के पुत्र और सभी प्रजापति, ये सब श्रीनारायण की कला हैं। अन्य सब तो उस परमपुरुष परमेश्वर की कला और अंशावतार है, जो प्रत्येक युग में दानवों के सताये हुए जगत् को सुखी बनाते हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं भगवान् अर्थात् पूर्णावतार हैं।

जो मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल पवित्र होकर, चित्त को एकाग्र करके भगवान् के इन गुप्त अवतारों का कीर्त्तन करता है, उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं। रूपहीन, सत्, चित् आनन्दमय श्रीभगवान् का यह विराट् रूप भगवान् ने अपनी माया के गुण, महत्तत्त्व आदि के द्वारा आप अपने में रचा है; अर्थात् निर्गुण ब्रह्म का यह सगुण रूप महत्तत्त्व आदि के द्वारा कल्पित है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि भला जो निर्गुण है, वह सगुण कैसे हो सकता है? इसी का उत्तर देते हैं कि जैसे शून्य आकाश में मेघ का और वायु में धूल का होना मूर्खों ने मान रक्खा है, वैसे ही केवल साक्षी और विशुद्ध आत्मा में शरीर आदि के संबंध का आरोप किया जाता है। यथार्थ में आत्मा तो केवल साक्षी है। वायु और आकाश से जैसे धूल और बादल का कुछ भी संबंध नहीं है, वैसे ही शरीर आदि से आत्मा का भी कुछ संबंध नहीं। इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त अव्यक्त वासनामय लिंगशरीर की कल्पना कर रक्खी है। इसी को जीव भी कहते हैं। इसी वासनामय लिंग-शरीर से फिर जन्म होता है। जब अविद्या या अज्ञान के द्वारा कल्पित ये दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीर, निज यथार्थ रूप के संपूर्ण ज्ञान के द्वारा, पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तब जीव अपना सच्चा रूप ब्रह्म हो जाता है। यही ब्रह्मज्ञान या मुक्ति है। माया के ये दोनों स्थूल और सूक्ष्म रूप नष्ट हो जाने पर जब जीव

अपने रूप में लीन हो जाता है, तब माया आप वैसे ही शान्त हो जाती है, जैसे ईंधन के बिना आग। यही परमात्मा की जीवन्मुक्त दशा है। इसी को तुरीय अवस्था भी कहते हैं।

कवि लोग इसी रीति से जन्म-कर्म-रहित अंतर्यामी ईश्वर के जन्म और कर्म वर्णन करते हैं, जो कि वेदों में भी गुप्त हैं।

यहाँ यह शंका होती है कि जो यही बात है तो परमात्मा में जीव से क्या विशेषता है? इसी के समाधान के लिए कहते हैं—जीवात्मा परतन्त्र है और परमात्मा स्वतन्त्र। अव्यर्थ लीला करनेवाला वह परमात्मा इस विश्व की सृष्टि, पालन और नाश करता है। और, वह प्राणियों के हृदय में स्थित जीवात्मा के रूप से गंध आदि इन्द्रियों के विषय का भोग भी करता है; पर स्वतन्त्र, अन्तर्यामी तथा सबमे अलग ही है, माया के गुणों में लिप्त नहीं होता।

फिर प्रश्न होता है कि तो ऐसे निरीह ईश्वर को सृष्टि आदि कर्म या विषय-भोग से क्या प्रयोजन? इसी का उत्तर देते हैं कि कुबुद्धि पुरुष उस जगत् की रचना करनेवाले जगदीश की लीलाओं को तर्क-वितर्क करके नहीं जान सकता, जैसे नट के करतबों को मूर्ख नहीं समझ पाते। वह ईश्वर मन और वचनों से अनेक नाम-रूपों का विस्तार करते हैं। अनन्त शक्तिवाले श्रीचक्रपाणि भगवान् की पदवी या तत्त्व को वही जन जान सकता है, जो निश्चल और सरल भाव से निरंतर भक्ति के साथ उनके चरणकमलों को भजता है। तात्पर्य यह कि भक्ति-मार्ग ही श्रीभगवान् से मिलने का एकमात्र मुख्य और सरल मार्ग है और भक्त ही श्रीभगवान् के तत्त्व को अच्छी तरह जान सकता है। इसीलिए आप लोग धन्य हैं; क्योंकि श्रीवासुदेव विश्वनाथ में मन लगाये हैं। ऐसा करनेवाले फिर घोर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ते। हे ऋषियो, यह वेदतुल्य श्रीमद्भागवत नाम का पुराण मैं तुम लोगों को सुनाऊँगा। इसमें पूर्ण रूप से ईश्वर के चरित्रों का ही वर्णन किया गया है। इसे श्रीभगवान् वेदव्यास ने कहा है। व्यासजी ने, लोक-कल्याण के लिए, श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी अपने पुत्र श्रीशुकदेवजी को यह मंगलमय शास्त्र पढ़ाया था। यह सब वेद और इतिहासों का निकाला हुआ सारांश है। श्रीशुकदेवजी ने अन्त समय गंगा तट पर ऋषि-मंडली के बीच बैठे महाराज परीक्षित् को यह अपूर्व शास्त्र सुनाया। धर्म और ज्ञान आदि अपनी विभूतियों के साथ श्रीकृष्णचन्द्र जब परमधाम को पधारे, तब लोगों में अज्ञान छा गया। कलिकाल के प्रभाव से ज्ञान-चक्षुहीन उन्हीं लोगों को सुमार्ग दिखाने के लिए इस पुराणरूप सूर्य का उदय हुआ है। जिस समय परम तेजस्वी ब्रह्मर्षि श्रीशुकदेवजी यह शास्त्र राजा को सुना रहे थे, उस समय मैं भी वहाँ पहुँच गया। वहाँ मुनि की कृपा से बैठकर श्रीभागवत की कथा मैंने सुनी। वही शास्त्र अपनी बुद्धि और शिक्षा के अनुसार मैं आप लोगों को सुनाऊँगा।

---

# चौथा अध्याय

## व्यासजी के समीप नारद का आना

व्यासजी कहते हैं—मुनियों की प्रशंसा करके भागवतशास्त्र सुनाने की बात जब श्रीसूतजी ने कही, तब मुनियों में बूढ़े और वेदपाठी शौनक मुनि ने उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार से कहा।

शौनकजी बोले—हे भाग्यशाली सूत, वक्ता लोगों में हम तुमको श्रेष्ठ समझते हैं। श्रीशुकदेव ने परीक्षित् से जो श्रीभगवान् की पवित्र कथा कही है, वह तुम हमसे अवश्य कहो। हम यह भी सुनना चाहते हैं कि किस युग में, किस स्थान में, किसकी प्रेरणा से श्रीवेदव्यास ने इस संहिता की रचना की।



शुकदेवजी से लज्जा न करके सरोवर में नग्न होकर स्नान कर रही स्त्रियो
का व्यासजी को देखकर लज्जित होना

उनके पुत्र तो महायोगी, समदर्शी, भेदभाव से रहित, ब्रह्मलीन, बुद्ध ( मायारूप निद्रा से जगे हुए ) और छिपे हुए हैं, अर्थात् उनको देखकर कोई यह नहीं जान सकता कि यह इतने बड़े ज्ञानी और महापुरुष हैं। कारण, वह देखने में जड़ और उन्मत्त-जैसे प्रतीत होते हैं। जिस समय वह परमहंसभाव से वन की ओर चल दिये थे, उस समय मार्ग में कुछ स्त्रियाँ नंगी होकर स्नान कर रही थीं। स्त्रियों ने शुकदेवजी को देखकर वस्त्र नहीं धारण किये। पीछे से व्यासदेव पुत्र को लौटाने के लिए पुकारते हुए आये। उन्हें देखते ही सहसा स्त्रियों ने लज्जित हो अपने कपड़े पहन लिये। यह देखकर आश्चर्य से व्यासजी ने उन स्त्रियों से इसका कारण पूछा कि तुमने मेरे पुत्र से लज्जा नहीं की, परंतु मुझसे क्यों की ? तब स्त्रियों ने कहा—भगवन, आपकी दृष्टि में स्त्री और पुरुष का भेद बना हुआ है; किंतु आपके पुत्र परमज्ञानी परमहंस हैं। वह आत्मज्ञानी हैं; उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है। हे सूतजी, इस प्रकार के समदर्शी और कोई इच्छा न रखनेवाले शुकदेवजी कुरुजांगल देश में, जहाँ राजा परीक्षित् अन्न-जल छोड़कर प्राण-त्याग करने बैठे थे, क्यों आये ? पुरवासियों ने कैसे पहचाना कि यही शुकदेवजी हैं ? शुकदेवजी तो हस्तिनापुर में उन्मत्त, गूँगे और बौरे की भाँति विचरते होंगे। फिर राजर्षि परीक्षित् और शुकदेवजी का समागम और संवाद कैसे हुआ और मुनि ने राजा को भागवतसंहिता किस प्रकार सुनाई ? कारण, वह तो गृहस्थों के भवनों को अपनी चरण-रज से पवित्र भी करते हैं तो केवल उतनी ही देर वहाँ ठहरते हैं, जितनी देर में गऊ दुही जाती है।

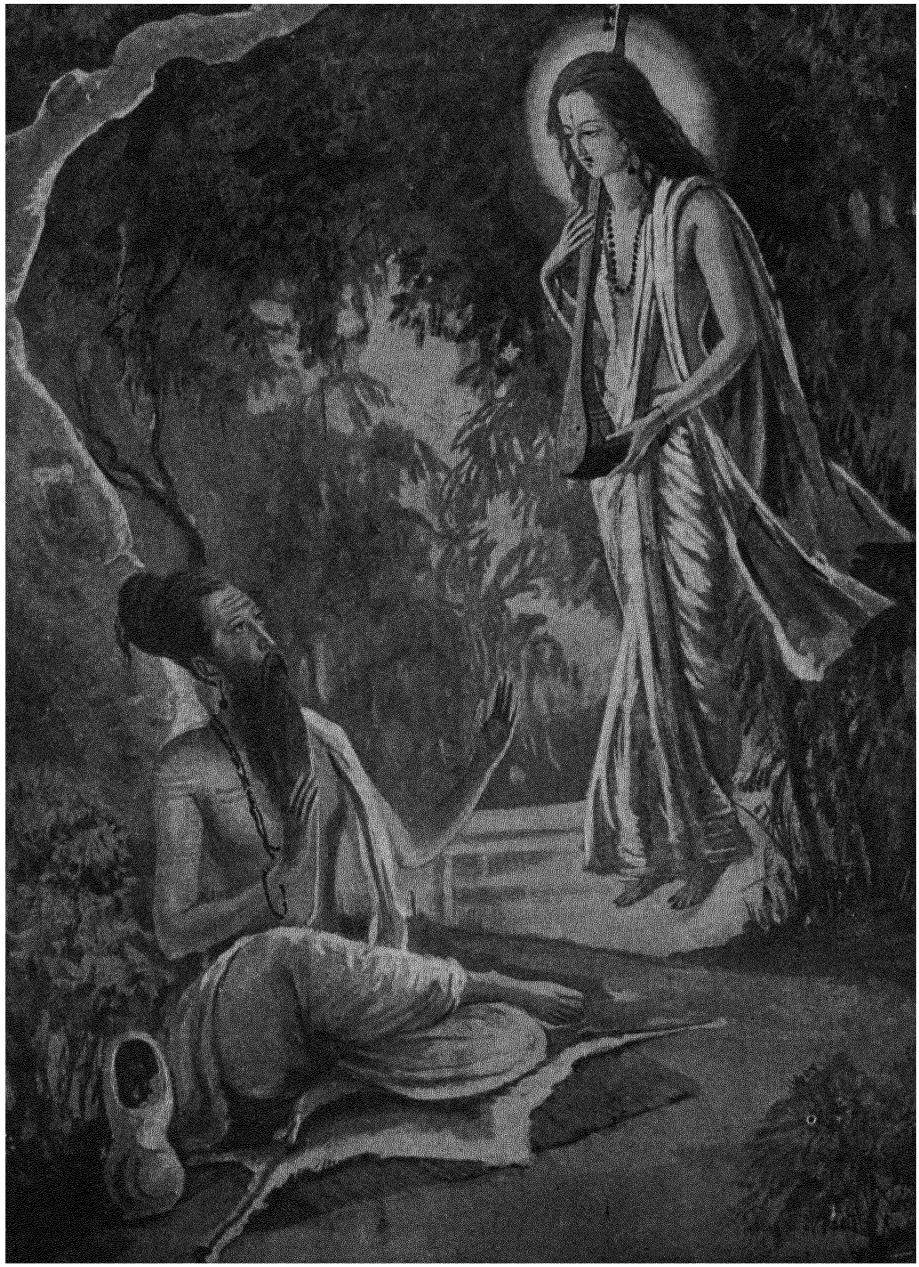
हे सूत, अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित् श्रेष्ठ भगवद्भक्त थे। इसलिए उनके आश्चर्यजनक जन्म के वृत्तान्त और श्रेष्ठ कर्म हमको सुनाओ। पांडु के वंश का यश और मान बढ़ानेवाले सम्राट् राजा परीक्षित् अपने चक्रवर्ती राज्य और राजलक्ष्मी को त्यागकर इस विरक्तभाव से श्रीगंगातट पर प्राणत्याग करने को क्यों उद्यत हुए ? शत्रुपक्ष के राजा लोग शरणागत हो उनके चरण रखने की चौकी पर अपने कल्याण के लिए मुकुटमंडित मस्तक रखते और भेंट देते थे। उन वीर राजा ने दुस्त्यज ( अर्थात् जिसे कोई छोड़ नहीं सकता ) लक्ष्मी और प्राणों को तरुण अवस्था में ही क्यों तृण की भाँति तज दिया ? यदि कहो कि वह संसार से विरक्त हो गये थे, और विरक्त को धन आदि से क्या प्रयोजन ? तो जो श्रीभगवान् के भक्तजन इस दुःखपूर्ण अनित्य संसार से विरक्त तथा जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, वे भी अपने लिए न सही, औरों ही के हित, सुख, उन्नति और ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए जीवन धारण करते हैं। फिर राजा परीक्षित् ने अपनी प्रजा की रक्षा और परोपकार करनेवाले शरीर को असमय में ही क्यों छोड़ दिया ? हे सूतजी, हमने जो कुछ तुमसे पूछा है और इस सम्बन्ध में जो कुछ पूछने को रह गया है सो सब भली भाँति कहो। कारण, हमारी समझ में वेद के अतिरिक्त और सभी विषयों की तुम्हें पूरी जानकारी है।

सूतजी ने कहा—हे महर्षियो, जब त्रेतायुग समाप्त होने लगा और द्वापरयुग का आरंभ हुआ, उस सन्धिकाल में व्यासजी का जन्म हुआ। वे श्रीहरि के कला-अवतार हैं। व्यासजी के पिता का नाम श्रीपराशर और माता का नाम सत्यवती है। पराशर ऋषि की उत्पत्ति उपरिचर वसु के वीर्य से हुई थी। वही व्यासजी एक समय सूर्योदय के समय सरस्वती नदी के पवित्र जल में स्नान, संध्या, पूजा आदि नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठे थे। उन्होंने दिव्यज्ञान की दृष्टि से जब यह देखा कि अलक्ष्यगति काल के प्रभाव से सब युग-धर्म उलट-पलट गये हैं, धर्म का नाश हो रहा है और दिन-दिन मनुष्यों का शक्ति, बुद्धि, तेज, सौभाग्य, आयु तथा श्रद्धा घट रही है, तब वह सब वर्णों और आश्रमों के कल्याण का उपाय सोचने लगे। त्रिकालज्ञ, अमोघदृष्टि ऋषि ने देखा कि समग्र वेद पढ़ने और उसका तात्पर्य समझने के योग्य बुद्धि आदि की योग्यता इन मनुष्यों में नहीं पाई जाती, तब वेद-विधि के अनुसार चातुर्होत्र यज्ञ-कर्म का प्रचार करने के लिए वेद के चार विभाग कर दिये। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वे

बनाने के पश्चात् व्यासजी ने वेद के पढ़ने-सुनने का अधिकार न रखनेवाले स्त्री, शूद्र आदि के लिए पाँचवें वेद के समान इतिहास-पुराण ( अर्थात् महाभारत संहिता और अन्य पुराणों ) की रचना की। इसके पश्चात् अपने शिष्यों को वे वेद इस प्रकार बाँट दिये। पैल ऋषि को ऋग्वेद पढ़ाया, जैमिनि ऋषि को सामवेद की शिक्षा दी, वैशंपायन ऋषि को यजुर्वेद दिया। अभिचारमूलक ( जादू-टोना या मोहनमारण आदि के सहायक ) अथर्ववेद के आचार्य अंगिरा के वंशज सुमंतु मुनि हुए। भारत इतिहास और अन्यान्य पुराण मेरे पिता रोमहर्षण ने पढ़े। इन ऋषियों ने अपने-अपने वेद की अनेक शाखा या विभाग करके उन्हें अपने शिष्यों को पढ़ाया। इस प्रकार शिष्यपरंपरा से चार वेदों की अनेक शाखाएँ बन गईं। दीन-बन्धु व्यासदेव ने कठिन वेदों को ऐसा सुगम कर दिया कि आधुनिक थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्य भी उनका अध्ययन कर सकें। स्त्री, शूद्र और अन्त्यज, इनको वेदत्रयी के पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं है। इन मूढ़ों अर्थात् अज्ञजनों के कल्याण के लिए व्यासजी ने कृपापूर्वक महाभारत-उपाख्यान की रचना की। उसमें सब वेदों का सारांश भर दिया गया है। इस प्रकार सब छोड़कर प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त होने पर भी जब चित प्रसन्न न हुआ, अर्थात् आत्मा को संतोष नहीं हुआ, तब सरस्वती के पवित्र तट पर एकान्त में बैठकर धर्म के ज्ञाता भगवान् वेद-व्यासजी मन में सोचते हुए आप ही आप यों कहने लगे—"दृढ़व्रत होकर मैंने वेद पढ़े, नियमित अग्निहोत्र किया, गुरु की सेवा की और निष्कपट होकर श्रद्धा के साथ उनकी आज्ञा का पालन किया। भारत की रचना करके उस इतिहास में मैंने वेदों का सारा सारांश रख दिया। वेद के पढ़ने-सुनने का अधिकार न रखनेवाले स्त्री, शूद्र आदि भी उसे पढ़कर अपने धर्म को जान सकते है। तो भी मेरी यह आत्मा, जो ब्रह्म का अंश है, अपने रूप ( आनन्द या संतोष ) को अप्राप्त-सी जान पड़ती है। इसका क्या कारण है? क्या मैंने इतिहास और पुराणों में भागवत-धर्म ( भक्ति ) का निरूपण भली भाँति अधिक मात्रा मे नहीं किया? भागवत धर्म ही परमहंसों को प्यारा है और वे परमहंस श्रीभगवान् को प्यारे हैं।"



इस प्रकार अपने को आनन्दहीन मानकर व्यासजी बैठे हुए खेद कर रहे थे। इसी समय व्यासजी के आश्रम मेंदेवर्षि नारद ने आकर दर्शन दिये। नारदजी को देखते ही व्यासजी आसन से उठ खड़े हुए और आदर के साथ विधिपूर्वक आसन पर बिठाकर देवपूजित नारद की उन्होंने पूजा की।



व्यासजी को नारद का दर्शन

# पाँचवाँ अध्याय

## श्रीनारद का व्यासजी को उपदेश देना और अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहना

सूतजी कहते हैं—इसके उपरान्त सुख से बैठे हुए वीणा हाथ में लिये देवर्षि नारद ने पास बैठे हुए ब्रह्मर्षि व्यास से कुछ मुसकराते हुए यों कहा। नारद बोले—हे पराशर के पुत्र महाभाग व्यासजी, आपका शरीराभिमानी जीवात्मा शरीर से और मनोमय परमात्मा मन से प्रसन्न है न? आपको जानने योग्य धर्म आदि का ज्ञान अच्छी प्रकार अर्थात् पूर्ण रूप से है। कारण, सब धर्म और लोक-व्यवहार का आदर्श अर्थात् इनकी शिक्षा देनेवाला महाभारतशास्त्र आपने बनाया है। आपने सनातन ब्रह्म-तत्त्व का विचार किया और उसे जाना है। तो भी मुझे जान पड़ता है, आप किसी अकृतार्थ मनुष्य की भाँति खेद कर रहे हैं। यह किसलिए?

व्यासजी बोले—भगवन्, आपका कहना सत्य है। मैंने यद्यपि धर्म को जाना है, उसका आचरण भी किया है, ब्रह्मतत्त्व को भी विचारा और जाना है, तो भी मेरी आत्मा प्रसन्न या सन्तुष्ट नहीं होती। मैं नहीं जानता, इसका कारण क्या है? इसीलिए आपसे पूछता हूँ। कारण, आप ब्रह्मा के पुत्र हैं; आपके ज्ञान की कोई सीमा नहीं। आपको वे भी सब बातें विदित है, जो कि गुप्त हैं। आपने उन माया और संसार के स्वामी पुराणपुरुष परमेश्वर की आराधना की है, जो केवल संकल्पमात्र से, अपनी माया के गुणों द्वारा, इस सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और नाश करके भी संसार या माया के विषयों, अथवा प्रपंचों में नहीं फंसते। आप सूर्य की भाँति ज्ञान का प्रकाश फैलाते हुए तीनों लोकों में घूमते रहते हैं। भीतर और बाहर रहनेवाले वायु की भाँति आप सबके हृदयों का वृत्तांत जानते हैं। इसलिए आप यह विचारिए कि धर्म, व्रत, योग आदि के द्वारा सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने पर भी मुझे आत्मा को प्रसन्न करनेवाला कौन कर्म करना बाकी है?

नारदजी बोले—मैं तो आपकी आत्मा को सन्तोष न होने का कारण यही समझता हूँ कि आपने परमेश्वर के निर्मल यश का वर्णन अधिक मात्रा में भली भाँति नहीं किया। जो कहिए कि अनेक धर्म, व्रत, तप, योग आदि का आचरण तो किया है, केवल श्रीभगवान का यश या उनके चरित्र अधिक मात्रा में नहीं कहे तो न सही, तो मेरा कहना यह है कि जिससे अपनी आत्मा को संतोष न हो, वह कितना ही अच्छा कर्म क्यों न हो, निष्फल है। और देखिए, आपने अपनी रचना में श्रीभगवान की कीर्त्ति का कीर्त्तन किया है, तो उस प्रकार अधिकता से या मुख्य रूप से नहीं, जिस प्रकार विशेष रूप से और-और धर्मों का वर्णन किया है। वाणी चाहे जितनी कोमल, मधुर और विचित्र हो, पर यदि वह सारे संसार को पवित्र करनेवाली श्रीहरि की कीर्त्ति अर्थात् श्रीभगवान् के चरित्रों का कीर्त्तन नहीं करती तो ज्ञानी लोग उसे काक-तीर्थ समझते हैं। तात्पर्य यह कि उस वाणी में उन्हीं कामियों का मन रमता है, जो विष्ठा खानेवाले कौए की भाँति गंदे विषयों का भोग करनेवाले हैं। मानससरोवरवासी हंसों के समान निर्मल ब्रह्मज्ञानी परमहंसों को वह हरिचरित्र-वर्जित वाणी नहीं भाती। इसके विपरीत जो वाणी हरि का नाम लेती है, हरि की चर्चा करती है, वह सुनने में कितनी ही कठोर और असम्बद्ध क्यों न हो, वास्तव में परमरम्य और पापनाशिनी है। श्रीहरि के चरित्र और नाम साधु-महात्माजनों को प्रिय हैं। वे उन्हें कहते, सुनते और गाते हैं। अब नारदजी यह बतलाते हैं कि भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म बन्धनरूप हैं। नारद कहते हैं—सुनिए व्यासजी, माया की उपाधि जिससे छूट जाती है, वह ब्रह्मज्ञान भी यदि अच्युत भगवान् की भक्ति से रहित है, तो

पूर्णरूप से नहीं शोभित होता। फिर साधन के समय यम-नियम के पालन का और फल के समय पूर्ण क्षय होने पर स्वर्ग से नीचे गिरने का दुःख-कष्ट देनेवाले अन्य यज्ञ आदि कर्म—वे चाहे निष्काम होकर किये गये हों, और चाहे सकाम होकर—जो ईश्वर को अर्पण नहीं किये गये तो कैसे शोभित हो सकते हैं? तात्पर्य यह कि बिना भगवद्भक्ति के सभी कर्म व्यर्थ हैं। व्यासजी, आपकी ज्ञानदृष्टि अकुंठित है, अर्थात ऐसा कोई विषय नहीं, जिसे आप न जान सकते हों या जो आपके ज्ञान की सीमा के बाहर हो। आपका पवित्र यश जगत् में फैला है। आप सत्यवादी और दृढ़व्रत हैं। सारांश यह कि आपमें सब प्रकार की योग्यता है। अब आप संसार के सब बन्धनों से छुटकारा ( मोक्ष ) पाने के लिए एकाग्रचित्त होकर श्रीभगवान् का ध्यान करके उनके यश का वर्णन कीजिए। श्रीहरि का यश कलि-कलुष को मिटानेवाला है। देखिए, जो कवि श्रीभगवान् के चरित्रों को छोड़ और विषय का वर्णन करना चाहता है, उसकी बुद्धि अन्य विषय के वक्तव्यरूप से उपस्थित रूप, नाम आदि से चंचल होकर, पानी में वायु के थपेड़ों से चंचल नाव की भाँति, स्थिर नहीं रहती। अर्थात् वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि किस विषय का वर्णन करूँ। व्यासजी, प्राणियों की प्रवृत्ति तो जन्म से ही प्रवृत्तिमार्ग ( यज्ञ आदि विविध कर्म या विषय-भोग ) की ओर होती है। आपने उन्हें वही धर्म बतलाकर उसी नित्य प्रवृत्तिमार्ग का लोगों को उपदेश दिया। यह बड़ा व्यतिक्रम हुआ। ब्रह्मज्ञानी या और कोई पंडित यदि यह कहकर लोगों से प्रवृत्तिमार्ग छुड़ाना चाहे, कि "प्रवृत्तिमार्ग मोक्षदायक नहीं है," तो साधारण जन न मानेंगे। वे कहेंगे—"व्यासजी परमज्ञानी होकर भी महाभारत आदि अपने ग्रन्थों में प्रवृत्तिमार्ग को ही मुख्य बतलाते हैं। उनका कहना असंगत नहीं हो सकता।" हे व्यासजी, विचक्षण ज्ञानी पुरुष ही निवृत्तिमार्ग ( मुक्ति ) के आनन्द और सुख को जानता है, अज्ञानी नहीं। अब आप साधारण अज्ञजनों के कल्याण के लिए निर्गुण और अनन्त-पार ईश्वर के सगुण रूप के चरित्रों का वर्णन कीजिए। [ नारदजी के कहने का भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्म का अनुभव हुए बिना सगुण ईश्वर का वर्णन कोई नहीं कर सकता। और, निर्गुण का अनुभव आपके समान ज्ञानी और विद्वान पुरुषों को ही हो सकता है। इसलिए साधारण अज्ञजनों को सुगम भक्ति-मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए, उनके कल्याणार्थ, सगुणरूप, निर्गुण ब्रह्म की गुणगाथा का वर्णन कीजिए। ] भक्ति-मार्ग ही सबसे बढ़कर श्रेयस्कर है। जो लोग अपने वर्ण या आश्रम के नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों को छोड़कर केवल श्रीभगवान् की भक्ति करते हैं, और दैवयोग से सिद्धिप्राप्ति के पहले ही इस शरीर को छोड़ने के लिए विवश होते हैं, उन्हें वर्णाश्रम-धर्म छोड़ने से अधर्म नहीं होता, और न किसी प्रकार उनका अमंगल ही होता है—कर्म के बन्धन में वे नहीं फँसते। पुनः जन्म लेने पर भक्ति-मार्ग में ही उनकी रुचि होती है। इसी प्रकार अन्त को वे मोक्षपद के अधिकारी होते है। परन्तु जो लोग भक्ति-मार्ग के अनुगामी न होकर निष्फल और बन्धन में डालनेवाले धर्म, अर्थात् काम्य कर्मों का आचरण करते-करते मरते हैं, उन्हें क्या फल प्राप्त होता है? वे उस धर्म के फलस्वरूप स्वर्ग आदि लोकों में कुछ दिन सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हैं। इस कारण चतुर और बुद्धिमान् लोगों को वही मोक्षरूप परमसुख पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मोक्षसुख ऐसा है कि तीन लोक चौदह भुवन मे कहीं नहीं प्राप्त हो सकता। वास्तव में देखा जाय तो अन्य विषय-सुख दुःख ही हैं। कारण, अन्त में उनसे दुःख ही प्राप्त होता है। फिर उनके लिए यत्न करना भी मूर्खता है; क्योंकि जैसे दुःख अनायास (आपसे) प्राप्त होता है, वैसे ही वे भी मिलते हैं। सुनिए व्यासजी, जो लोग श्रीभगवान् के भक्त हैं, वे औरों की भाँति जन्म-मरण के चक्र में कभी नहीं पड़ते। वे दैवात् यदि किसी कुयोनि में भी चले गये तो उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण बना रहता है और इसीलिए वे श्रीहरि के अमृतमय चरणों को नहीं छोडते; क्योंकि पूर्वजन्म में वे भगवद्भक्ति की

प्रपूर्व सुधा का स्वाद चखे होते हैं। आप स्वयं जानते हैं, मैं केवल आपको स्मरण कराता हूँ कि यह सारा संसार ईश्वरमय है, और वह ईश्वर इस संसार से अलग निर्लिप्त है। सारांश यह कि ईश्वर से अलग इस संसार की सत्ता नहीं है, परंतु वह ईश्वर इस संसार में व्याप्त होने पर भी इससे भिन्न ही है। जिस प्रकार दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का अस्तित्व नहीं होता, और दर्पण प्रतिबिम्ब का कारण होने पर भी उससे अलग है, उसी प्रकार यह संसार ईश्वर के द्वारा ही प्रकाशित होता है और ईश्वर उससे अलग है। जैसे दर्पण ही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति और नाश का कारण होता है, वैसे वह ईश्वर इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है। व्यासजी, आप अपने हृदय में ब्रह्म का विचार कीजिए। विश्व के कल्याण के लिए आपकी उत्पत्ति हुई है। आप उस परमपुरुष के अंशावतार हैं। संसार के उद्धार के लिए आप श्रीहरि की लीलाओं का वर्णन करें। ईश्वरावतार होने के कारण आपकी ज्ञानदृष्टि के लिए कोई विषय अगम्य या अज्ञेय नहीं है। तात्पर्य यह कि आप अपने हृदय में अपने रूप का विचार करके श्रीहरिचरित्र कहिए। कवि-पंडित लोगों ने यह निश्चय किया है कि केवल भक्तिभाव के साथ श्रीहरि के गुणों का वर्णन करना ही मनुष्य के तपस्या करने, पुराण सुनने, नित्यधर्म का आचरण करने या तीक्ष्णबुद्धि होने का श्रेष्ठ फल है। अर्थात् हरि-गुण-वर्णन से ही मनुष्य की ये सब बातें सफल होती हैं।



हे मुनिवर, मैं कल्पान्तर में, पहले जन्म में, एक दासी का पुत्र था। मेरे ग्राम में वर्षाकाल के चार महीने बिताने के लिए एक साल बहुत-से ज्ञानी योगी आकर टिके। मैं उस समय बालक ही था। मेरी माता ने मुझे उन महात्मा लोगों की सेवा-टहल करने में लगा दिया। मैं उन लोगों की सेवा में रहने लगा। वहाँ मैं कुछ भी लड़कपन, चंचलता या उपद्रव नहीं करता था। शान्त-भाव से खेल-कूद छोड़ उन्हीं के पास रहता, सेवा करता और बहुत थोड़ा बोलता-चालता था। वे महात्मा समदर्शी होने पर भी इसी कारण प्रसन्न होकर मुझ पर विशेष कृपा रखने लगे। वे मुनि जब आज्ञा देते थे, तब मैं उनकी बची हुई जूठन खा लेता था। इसका प्रभाव यह हुआ कि मेरे सब पाप नष्ट हो गये। कुछ दिनों बाद मेरा चित्त शुद्ध हो गया। और उन भगवद्भक्त साधुजनों के धर्म अर्थात् ईश्वर-भजन में मेरी रुचि बढ़ने लगी। वे साधु नित्य बैठकर मानो मुझ पर अनुग्रह करने के लिए ही मेरे आगे श्रीभगवान् के चरित्र कहते थे। मैं श्रद्धा के साथ उन मनोहर कथाओं को सुनने लगा। मेरी भी परमेश्वर में अचल भक्ति हो गई। ईश्वर के चरित्रों में रुचि होने के कारण जब ईश्वर में दृढ़ भक्ति हो गई, तब मैं

देखने लगा कि यह सब सत् और असत् प्रपंच मुझ परब्रह्म में माया के द्वारा कल्पित है। मैं इस प्रपंच से परे और निर्लिप्त हूँ।

इस प्रकार वर्षा और शरद् ऋतु के चार महीने मैंने उन्हीं महानुभावों के समीप बिताये। वे नित्य त्रिकाल श्रीभगवान् के यश का कीर्त्तन करते रहे और मैं सुनता रहा। नित्य श्रीभगवत्कथा सुनते रहने से तमोगुण और रजोगुण को दूर करके सतोगुण को बढ़ानेवाली निष्काम भक्ति मेरे हृदय में उत्पन्न हुई। उन दीनदयाल महापुरुषों ने दृढ़, अनुरक्त, विनीत, श्रद्धायुक्त, निष्पाप और शान्त देखकर अपने दास मुझ बालक पर यह कृपा की कि वहाँ से जाते समय मुझे उस बहुत ही गुप्त और श्रेष्ठ ज्ञान भागवत-शास्त्र का उपदेश किया, जिसे साक्षात् श्रीभगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है। वह ज्ञान पाकर मुझको श्रीभगवान् वासुदेव की प्रबल माया का प्रभाव विदित हो गया। वह ज्ञान परमपद देनेवाला है। व्यासजी, तीनों तापों को मिटानेवाली यही श्रेष्ठ ओषधि है कि जो कर्म करो, उसे कृष्णार्पण कर दो। जो पदार्थ खाने-पीने से रोग उत्पन्न हो, उसी पदार्थ का सेवन करने से वह रोग कभी दूर नहीं होता, प्रत्युत बढ़ता ही है। वैसे ही जो कर्म, यज्ञ आदि कर्मफल की अपेक्षा करके किये जाते हैं, वे जन्म-मरण का कारण होते हैं; उनसे मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु यदि वे ही कर्म ईश्वर को अर्पण कर दिये जाते हैं तो मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं। [ यहाँ मुक्ति पाने का क्रम इस प्रकार दिखलाया है कि पहले महापुरुषों की सेवा, फिर उनकी कृपा, उससे धर्म के ऊपर श्रद्धा, फिर श्रीभगवान् की कथाओं को सुनना, उससे श्रीभगवान् में रति, उससे स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का विवेकरूपी आत्मज्ञान, उससे दृढ़ भक्ति, उससे श्रीभगवान् के तत्त्व का ज्ञान और फिर श्रीभगवान् की कृपा से सर्वज्ञत्व आदि श्रीभगवान् के गुणों का आत्मा में आविर्भाव। वही कहते हैं कि] श्रीभगवान् को प्रसन्न या संतुष्ट करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं, ज्ञान और भक्ति-योग उन्हीं के अधीन है, अर्थात् उन्हीं से प्राप्त होता है। श्रीभगवान् को अर्पण किये हुए कर्म भक्तियोग को उत्पन्न करते हैं, यह बात सदाचार से दिखलाते हैं कि जब भक्तिमार्ग में प्रवृत्त भक्त लोग श्रीभगवान् की शिक्षा के अनुसार सब कर्म करते हैं, जैसा कि श्रीभगवान ने गीता मे अर्जुन से कहा है—जो करते हो, जो खाते हो, जो होम करते हो, जो देते हो, जो तप करते हो, सो सब मुझे अर्पण करो; तब वे श्रीकृष्ण के गुणों और नामों का कीर्त्तन करते है और श्रीकृष्ण का स्मरण करते हैं। [कीर्त्तन-स्मरणरूप भक्ति का कारण कहकर अब ज्ञान का कारण कहते हैं।] तुम वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण को, जो मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकाररूप अंतःकरण के स्वामी हैं, हम प्रणाम करते है—इस प्रकार जो मूर्त्तिहान, मंत्रमूर्त्ति यज्ञपुरुष श्रीभगवान् को इन मूर्त्तियों के नाम से भजता है, वही पुरुष परमज्ञानी या ठीक-ठीक जाननेवाला है। हे ब्रह्मन, मैंने इस प्रकार जब सब कर्म कृष्णार्पण करके श्रीभगवान् की उपासना की, तब केशव भगवान् ने अपना ज्ञानरूप ऐश्वर्य और अपनी भक्ति मुझे दी। हे बहुश्रुत व्यासजी, तुम भी श्रीभगवान् का प्रसिद्ध यश वर्णन करो, जिसके जानने से बुद्धिमान पुरुषों की जानने का इच्छा शान्त हो जाती है, अर्थात् वे सब कुछ जान जाते हैं, उन्हें जानने के लिए कुछ बाकी नहीं रहता। संसार के घोर दुःखों से बारंबार जिनकी आत्मा पीड़ित हो रही है, उनका वह क्लेश इसी उपाय से शान्त हो सकता है, और किसी प्रकार से नहीं।

# छठा अध्याय

## नारद के पूर्वजन्म का शेष वृत्तान्त

सूतजी कहते हैं—नारद के जन्म और कर्म इस प्रकार सुनकर श्रीभगवान् व्यास ने फिर उनसे प्रश्न किया। व्यास ने कहा—नारदजी, आपको उत्तम ज्ञान का उपदेश करनेवाले वे महापुरुष जब वहाँ से चले गये, तब अपनी बाल्यावस्था में फिर आपने क्या किया ? आपकी आगे की आयु किस प्रकार बीती, और समय आने पर आपने दासी के गर्भ से उत्पन्न उस शरीर को कैसे छोड़ा ? पूर्व कल्प में आपका वह जन्म हुआ था। उस जन्म की याद आपको कैसे बनी रही ? यह काल तो सभी का लोप कर देता है। फिर उस काल ने पूर्वकल्प की स्मृति कैसे बनी रहने दी ?

नारदजी ने उत्तर देते हुए कहा—मुनिवर, सुनिए। मुझको ज्ञान का उपदेश करनेवाले वे महापुरुष जब चले गये, तब बाल्यावस्था में मैंने यह किया। मेरी माता एक तो स्त्री और नीच जाति की होने के कारण मूर्ख तो थी ही, उस पर मैं ही उसके एकमात्र पुत्र था, इसलिए यह समझकर कि उसके सिवा मेरा और कोई नहीं है, मेरे ऊपर वह अत्यन्त अधिक स्नेह या ममता रखने लगी। वह यद्यपि मेरे खाने-पीने, पहनने और मेरी रक्षा करने का पूरा प्रबन्ध अपनी ओर से रखती थी, उसमें कुछ भी त्रुटि नहीं होने देती थी, तथापि दासी, अतएव पराधीन होने के कारण वह इसमें असमर्थ ही थी। जैसे कठपुतली अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकती, पराये हाथ के उठाने पर नाचती है, वैसे ही सब लोग ईश्वर के अधीन हैं, अपनी इच्छा से वे कुछ नहीं कर सकते। वे चाहते कुछ हैं और होता कुछ है। मेरी अवस्था केवल पाँच वर्ष ही की थी। मुझे यह भी नहीं ज्ञात था कि कौन दिशा किधर है। दिशाओं की या देश-काल की जानकारी न होने के कारण मैं उस समय उन्हीं ब्राह्मणों के बीच, जिनकी मेरी माता दासी थी, रहकर यह प्रतीक्षा करने लगा कि देखूँ, कब यह माता के स्नेह का बन्धन छूटता है। इसी बीच में एक दिन रात को मेरी माता गऊ दुहने के लिए घर से निकली तो उसका पैर एक सर्प के ऊपर पड़ गया। काल के द्वारा प्रेरित उस सर्प ने मोह-बन्धन में पड़ी हुई मेरी माता को काट खाया, मेरी माता की मृत्यु हो गई। मैंने इस घटना को भक्तों का कल्याण चाहनेवाले ईश्वर की अपने ऊपर कृपा समझा। उसके पश्चात् मैं वहाँ से उत्तर दिशा को चल दिया। उस दिशा में मैंने खूब बसे हुए जनपद ( बस्तियाँ ), पुर, गाँव, व्रज, रत्नों और धातुओं की खानें, किसानों के गाँव, खर्वट ( वह बस्ती, जहाँ नदी और पर्वत हों और एक ओर नगर तथा एक ओर गाँव हो ), वन, उपवन, वाटिका, विचित्र धातुओं से युक्त पर्वत, हाथियों के तोड़े हुए वृक्ष, पवित्र जल से भरे जलाशय, सुरसेवित सरसों देखीं। विचित्र मधुर शब्द से जिनमें मनोहर भ्रमर गूँज रहे थे, ऐसे कमलों के कुंज देखता हुआ मैं एक वन में घुसा। उस वन में बाँस, सेंठा, नरकुल, कुश, काश के झुरमुट और अनेकों जंगली वृक्ष थे। घोर सर्प, उल्लू और भयावने सियार बोल रहे थे। वह वन मन में भय उत्पन्न करनेवाला था। बहुत चलने के कारण थककर मैं शिथिल हो गया। भूख और प्यास भी बहुत लग आई। मैंने वहाँ एक नदी देखी। स्नान करके पानी पिया। मेरी थकन मिट गई, तब मैं उस शून्य वन में एक पीपल के नीचे पालथी मारकर बैठ गया और जैसा सुना था, वैसे ही अपने हृदय में स्थित, आत्मारूप ईश्वर का चिन्तन करने लगा। भक्ति के साथ चित्त एकाग्र करके श्रीभगवान् के चरणों का ध्यान जब मैं करने लगा, तब प्रेम की उमंग और उल्लास से मेरी आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ आये। धीरे-धीरे मेरे हृदय में श्रीहरि ने दर्शन दिये। प्रेम और भक्ति के आवेश

से मेरे शरीर में रोमाञ्च हो आया। मुझे परमानन्द प्राप्त हुआ। आनन्द-सागर में मैं मग्न हो गया। मुझे अपनी या संसार की कुछ भी सुध न रही, और जैसे बिजली चमक जाती है, वैसे ही एकाएक श्रीभगवान् का वह मन को मोहनेवाला, शोक को मिटानेवाला रम्य रूप मेरे हृदय में एक झलक दिखाकर अंतर्हित हो गया—छिप गया। तब वह रूप न देख पाने से मुझे बड़ा ही खेद हुआ, मैं उदास हो गया। फिर श्रीहरि का वह रूप देख पाने की इच्छा से मन को एकाग्र करके मैं ध्यान करने लगा। पर फिर उन बूँदों भेंट कहाँ। बड़ी चेष्टा करने पर भी फिर दर्शन नहीं हुए। मैंने वह रूप जी भर नहीं देखा था, आँखें तृप्त नहीं हुई थीं। मैं अत्यन्त आतुर हो गया। इस प्रकार निर्जन वन में ध्यान लगाकर मैं बार-बार श्रीहरि के दर्शन पाने का उद्योग करने लगा। तब गंभीर, मधुर और कोमल स्वर से मेरे खेद और शोक को मिटाती हुई यह आकाशवाणी हुई कि हे बालक, इस जन्म में अब तुझे मेरे दर्शन नहीं हो सकते। जिनका अन्तःकरण अच्छी तरह शुद्ध अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारों से रहित नहीं हुआ, उन कुयोगियों को मेरे दर्शन मिलना बड़ा कठिन है। यह एक बार मेरा दर्शन जो तुझे हुआ, सो केवल इसलिए कि तुझमें तेरा प्रेम बढ़े। मेरी भक्ति या प्रेम जिसके हृदय में जड़ जमा लेता है, उस मेरे प्रेमी भक्त का हृदय धीरे-धीरे काम, क्रोध आदि विकारों से रहित हो जाता है। थोड़े ही समय सत्संग करने से तुझमें दृढ़ भक्ति तुझे प्राप्त हुई है। इस शरीर को छोड़ने पर तू मेरा जन बन जायगा। तुझमें तेरी अचल निष्ठा रहेगी। मेरी कृपा से तुझे कल्प का अन्त होने पर भी इस जन्म का स्मरण बना रहेगा।

हे व्यासजी, यह कहकर वह परम तत्त्व, निराकार, शून्यरूप आकाशवाणी बंद हो गई। इस प्रकार श्रीभगवान् के अनुग्रह को पाकर मैंने मस्तक नवाकर उन देवदेव को प्रणाम किया। फिर तो मैं लोकलज्जा त्यागकर ईश्वर के परम गुप्त कल्याणप्रद नामों और लीलाओं का उच्चारण, कीर्त्तन, स्मरण करने लगा। सब प्रकार की कामनाएँ छोड़कर, अहंकार और ईर्ष्या से हीन होकर, संतुष्ट रहकर इस पृथ्वी पर विचरने और शरीर-त्याग की राह देखने लगा। श्रीकृष्ण में मन लगाकर, संसार का संग छोड़कर, विशुद्धचित्त होकर मैं घूमने-फिरने लगा। समय आने पर सहसा मृत्यु प्रकट हुई, जैसे अकस्मात् बिजली चमकती है। मेरा वह पंचतत्त्व का शरीर गिर पड़ा, साथ ही मेरे पहले के किये कर्मों का भी अन्त हो गया। उस समय मुझे शुद्ध और नित्य यह पार्षद शरीर प्राप्त हुआ।

अब नारदजी उस दिव्य शरीर की प्राप्ति का क्रम कहते हैं।

हे व्यासजी, कल्प के अन्त में इस जगत् को अपने में समेटकर प्रलय-समुद्र में व्यापक ब्रह्माजी* शयन करने की इच्छा कर रहे थे। उसी समय श्वास के साथ मैंने उनके प्राण या हृदय में प्रवेश किया। एक सहस्र युग बीतने पर योगनिद्रा से उठकर ब्रह्माजी ने जब सृष्टि की रचना आरम्भ की, तब उनके श्वास से मैं उत्पन्न हुआ। उनके और अंगों से मरीचि आदि अन्य पुत्र उत्पन्न हुए। इस समय अखंड ब्रह्मचर्य ग्रहण करके मैं इस त्रिभुवन के भीतर और बाहर घूमता हूँ। श्रीमहाविष्णु के अनुग्रह से कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ मेरी गति न हो। यह वीणा उन्हीं ईश्वर की दी हुई और स्वरमय ब्रह्म से भूषित है ( खर्ज, निषाद, ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत और पंचम ये सातों स्वर ब्रह्म का रूप हैं )। यही वीणा बजाता और श्रीहरि के चारु चरित्र गाता हुआ मैं सब लोकों में घूमता हूँ। जब मैं प्रेमपूर्वक परमेश्वर के चरित्र गाता हूँ, तब मंगलमय कीर्त्तिवाले जगदीश्वर तुरन्त हृदय के भीतर मुझे ऐसे दर्शन देते हैं, जैसे किसीके बुलाने से उसी

* प्रलय के समय श्रीनारायण सागर में सोते हैं, यह प्रसिद्ध है। यहाँ पर ब्रह्माजी के शयन की जो बात लिखी है, उसका तात्पर्य भी यही है। ब्रह्मा नारायण का ही रूप है। कूर्म पुराण में स्पष्ट लिख दिया है—

ततोवतीर्य विश्वात्मा देहमाविश्य चक्रिणः।
अवाप वैष्णवीं निद्रामेकीभूयाथ विष्णुना॥

इसका तात्पर्य यह है कि विश्व की आत्मा ब्रह्मा श्रीविष्णु से उत्पन्न हुए और फिर श्रीविष्णु के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं में सम्मिलित होकर उन्होंने योगनिद्रा में शयन किया।

समय कोई आकर उपस्थित हो। विषय-भोग की कामना से जिनका चित्त बारंबार व्यग्र हो उठता है, जो संसार के विषयों में आसक्त है, उनके लिए संसार-सागर के पार पहुँचानेवाली नाव केवल श्रीहरि के भजन और उनके गुणों की चर्चा ही है। तात्पर्य यह कि इसी कारण संसार के हित और अपनी संतुष्टि के लिए मैं श्रीहरि के गुण गाता फिरता हूँ। देखिए, काम, लोभ आदि की सताई और विषयों में आसक्त जीव की आत्मा जैसे श्रीहरि की सेवा और भजन से शांति पाती है, वैसे यम, नियम, संयमवाले योग-मार्ग में चलने से नहीं। हे निष्पाप व्यासजी, आपने मेरे जन्म और कर्म का वृत्तान्त जो कुछ पूछा था, सो सब यह मैंने आपको सुना दिया। आपकी आत्मा जिस प्रकार संतुष्ट होगी, वह भी मैं आपसे कह चुका।

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार संभाषण करके और व्यासजी से विदा होकर इच्छानुसार पर्यटन करनेवाले नारदजी वीणा बजाते श्रीनारायण के गुण गाते वहाँ से चल दिए। अहो, देवर्षि नारदजी धन्य हैं, जो इस भवपीड़ित संसार के कल्याण के लिए श्रीनारायण की कीर्त्ति को गाते, वीणा बजाते और इसीमें आनंद पाते हुए विचरते हैं।

# सातवाँ अध्याय

## अश्वत्थामा के हाथ से पाँचो पांडव-पुत्रों का वध और अर्जुन के हाथ से अश्वत्थामा का निग्रह

शौनकजी ने पूछा—नारदजी के चले जाने पर भगवान् व्यास ने नारद का अभिप्राय या उपदेश सुनकर फिर क्या किया? यह आप मुझसे कहिए।

सूतजी ने कहा—हे मुनिवर, ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिम तट पर व्यासजी का आश्रम है। उसे शम्याप्राम कहते है। वहाँ तपस्वी लोग विविध प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान किया करते है। उस आश्रम के चारों ओर बदरी-बन अर्थात् बेर के वृक्ष बहुत है। उसी अपने आश्रम में बैठे हुए व्यासजी नारदजी के चले जाने पर आचमन करके अपने मन में आत्मरूप का ध्यान करने लगे। भक्तियोग के द्वारा निर्मल अपने मन को अच्छी तरह श्रीभगवान् में लगाने पर उन्हें प्रत्यक्ष के सदृश पहले पूर्णपुरुष परमेश्वर और फिर उसी ईश्वर के अधीन उसकी माया देख पड़ी। उसी माया के प्रपंच में पूर्णरूप से मोहवश होकर यह जीव, स्वयं परमेश्वर का अंश होने पर भी, अपने को त्रिगुणात्मक शरीरधारी मानता है, और उस त्रिगुणाभिमान से प्राप्त अनर्थ अर्थात् सुख-दुःख के भोग या जन्म-मरण को प्राप्त होता है। तब उस अनर्थ की जड़ जो जन्म-मरण है, उसे मिटानेवाले भक्तिमार्ग से अनभिज्ञ लोगों की भलाई के लिए विद्वान् ( अर्थात् उसे जाननेवाले ) व्यासजी ने इस भागवत-संहिता की रचना की। इस भागवत-संहिता को जब कोई सुनने लगता है, तब परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है। वह भक्ति जीव के शोक, मोह और भय को दूर कर देती है। व्यासजी यह भागवत-संहिता जब बना चुके, तब संशोधन करने के उपरान्त निवृत्ति-मार्ग में निरत अपने पुत्र शुकदेवजी को इसका अध्ययन कराया।

यहाँ पर शौनक ऋषि ने फिर यह प्रश्न किया कि मुनिवर शुकदेवजी तो निवृत्तिमार्गगामी, अतएव विरक्त परमहंस थे। उन्हें तो किसी बात की चाह नहीं थी। वह आत्माराम अर्थात् ब्रह्मानंद में ही मग्न रहनेवाले थे। तब उन्होंने किसलिए इतने बड़े ग्रन्थ का अभ्यास किया? इस ग्रंथ के अभ्यास का फल मोक्ष तो उन्हें प्राप्त ही था, वह जीवन्मुक्त थे, फिर यह परिश्रम उन्होंने व्यर्थ क्यों किया?

सूतजी बोले—देखिए, आत्मा में रमनेवाले और जिनके हृदय की संशय की गाँठ खुल गई है, ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष भी श्रीभगवान् की अहैतुकी अर्थात् निष्काम भक्त अथवा भगवद्भजन करते हैं। श्रीहरि के गुण ही ऐसे मनोहर हैं। श्रीहरि के गुणों ने श्रीशुकदेवजी के चित्त को अपनी ओर ऐसा खींच लिया था कि उन्होंने इस महान् आख्यान या संहिता का अध्ययन और अनुशीलन किया।

अब सूतजी इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि महाराज परीक्षित् युवावस्था में ही चक्रवर्ती राज्य और परमप्रिय परोपकारी अपना शरीर छोड़ने को क्यों उद्यत हो गये। इस उत्तर के प्रसंग में पहले राजा परीक्षित के जन्म का उपाख्यान कहते हैं।

अब मैं आप लोगों के आगे राजर्षि परीक्षित् के जन्म-कर्म और शरीर-त्याग की कथा तथा पाँचों पांडवों के महाप्रस्थान का वृत्तांत कहूँगा, जिसमें श्रीकृष्ण-कथा का प्रसंग भी आवेगा। जब भारत महायुद्ध में कौरव और संजय पक्ष के वीर मारे जा चुके और भीमसेन ने गदा के प्रहार से धृतराष्ट्र के पुत्र की जाँघ तोड़ दी, तब द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने सोचा कि मेरे इस काम से मेरे स्वामी दुर्योधन को प्रसन्नता होगी। सोते हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काटकर उन्होंने दुर्योधन के सामने उपस्थित किये; परन्तु उनके इस काम से दुर्योधन को संतोष नहीं हुआ। इस अप्रिय कर्म से वह असंतुष्ट ही हुआ। सच है, निन्दित कर्म की सभी निंदा करते हैं। चाहे शत्रु हो चाहे मित्र। माता द्रौपदी को जब यह समाचार मिला कि सोते में उनके पाँचों पुत्र मार डाले गये, तब इस बुकर्म से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वह आँसू बहाती हुई विलाप करने लगी। तब उन्हें सान्त्वना देते हुए अर्जुन ने कहा—हे कल्याणी, मैं तभी आकर तुम्हारे आँसू पोछूँगा, जब उस अधम और आततायी* ब्राह्मण का सिर इस गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों से काटकर लाऊँगा। उसपर पैर रखकर या बैठकर तुम स्नान करना। तभी तुम्हारा यह पुत्रशोक शान्त होगा। इस प्रकार मनोहर, विचित्र वाक्यों से द्रौपदी को धीरज बधाकर, कवच पहनकर, उग्र धनुष हाथ में लेकर, रथ पर बैठकर अर्जुन ने अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामा का पीछा किया। अर्जुन के मित्र और सारथी श्रीकृष्णचन्द्र रथ हाँककर ले चले। कुमारों का हत्या करनेवाले अश्वत्थामा ने जब दूर से अर्जुन को रथ पर आते देखा, तब वह घबराये। उनका हृदय भय से धड़कने लगा। वह भी प्राण बचाने के लिए रथ पर बैठकर यथाशक्ति, अर्थात् जहाँ तक भागने की शक्ति थी, भागे। जैसे रुद्र के भय से एक समय सूर्यनारायण भागे थे†; अश्वत्थामा ने देखा, रथ के घोड़े थक गये, आगे भाग नहीं सकते और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। तब उन्होंने ब्रह्मास्त्र को ही अपना रक्षक समझा। यद्यपि अश्वत्थामा को ब्रह्मास्त्र का उपसंहार या लौटाना नहीं ज्ञात था, तथापि प्राणों पर संकट आया देख घबराकर उन्होंने ब्रह्मास्त्र को छोड़ दिया। आचमन करके एकाग्र होकर अश्वत्थामा ने जब धनुष पर ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित किया हुआ बाण चढ़ाया, तब उस अस्त्र से प्रचंड तेज प्रकट हुआ और वह चारों ओर फैलने लगा। तब प्राणों पर संकट आया देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्णचन्द्र से कहा—हे कृष्णजी, हे महाभाग, आप भक्तों को अभयदान करनेवाले हैं। संसार के ताप से जलते हुए जीवों को उससे छुटकारा दिलानेवाले एकमात्र आप ही हैं। आप साक्षात् ईश्वर हैं, क्योंकि प्रकृति से परे पुरुष और उसके आदि कारण हैं। कारण होने पर भी आप

* आग लगाने वाला, किसी को विष देनेवाला, शस्त्र हाथ में लिये मारने को जो आ रहा हो, चोर या डाकू, पराया खेत छीन लेनेवाला और पराई स्त्री को हर ले जानेवाला ये, छः मनुष्य आततायी कहलाते हैं।

† यह कथा वामनपुराण में इस प्रकार लिखी है। शिवजी का भक्त विद्युन्माली नाम का एक राक्षस था। शिवजी ने प्रसन्न हो उसे स्वर्ग का एक विमान दिया। वह राक्षस उस विमान पर बैठकर सूर्य के पीछे पीछे चलने लगा। फल यह हुआ कि रात्रि का लोप हो गया। सूर्य के अस्त हो जाने पर भी दिन का सा प्रकाश बना रहता था। तब सूर्य ने अपना तेज प्रचंड करके उस राक्षस के विमान को जला डाला। इस पर अपना अपमान समझकर कुपित रुद्र सूर्य को मारने के लिये दौड़े। सूर्य भय से भाग खड़े हुए। अन्त को उन की क्रूर दृष्टि से जल रहे सूर्यनारायण अपने प्राण बचाने के लिए काशीक्षेत्र में आकर गिरे और वहाँ लोलार्क नाम से प्रसिद्ध हुए।

विकाररहित हैं; क्योंकि आप चित्शक्ति से माया को निरस्त करके अपने कैवल्य ज्ञानमय रूप में नित्य अवस्थान करते है। अर्थात् उपासना करने पर अपने प्रभाव से धर्म आदि फलों का विधान करते हैं। वैसे ही आपका यह अवतार भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए हुआ है। और पृथ्वी का भार तो आप केवल इच्छामात्र से उतार सकते है। आपके सजातीय बन्धु-बान्धव और अनन्य भक्त आपके इस रूप का ध्यान करें, इसीलिए आपका यह अवतार हुआ है। यही इसका मुख्य उद्देश है। हे देवदेव, यह बड़ा दारुण तेज किसका है ? यह क्या और इसे किसने इसे प्रकट किया है ? यह चारों ओर बढ़ता चला आ रहा है। मै नहीं जानता, कृपाकरके बतलाइए।

श्रीकृष्णचन्द्र बोले— हे अर्जुन, यह अश्वत्थामा का छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र है। उपसंहार या इसे शान्त करने की विधि न जानने पर भी प्राणसंकट उपस्थित हुआ देखकर अश्वत्थामा इस अस्त्र का प्रयोग कर बैठा है। तात्पर्य यह कि अश्वत्थामा ने यद्यपि यह अस्त्र चलाया है, पर वह इसके प्रयोग मे निपुण नहीं है। कारण, इसके उपसंहार को नहीं जानता। तुम इसका उपसंहार भी जानते हो। इस अस्त्र के तेज को निवृत्त करने की शक्ति और किसी अस्त्र मे नहीं है। हे अस्त्रविद्या के जाननेवाले अर्जुन, तुम इसी अस्त्र के द्वारा इस अस्त्र के बढ़े हुए भयंकर तेज को शान्त करो।

सूतजी कहते है—भगवान् के ये वचन सुनकर शत्रुपक्ष के वीरों का विनाश करनेवाले अर्जुन ने पहले आचमन किया। फिर श्रीकृष्णचन्द्र की प्रदक्षिणा करके ब्रह्मास्त्र को निवृत्त करने के विचार से ब्रह्मास्त्र ही छोड़ा। ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित दोनों बाण आकाश मे एक दूसरे से जाकर टकराये। दोनों का तेज बढ़कर आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी मे व्याप्त होने लगा। प्रलयकाल मे नीचे शेषनाग के मुख से निकली हुई अग्नि और ऊपर प्रलयकाल के सूर्य का प्रचंड तेज जैसे बढ़कर लोकों को जलाने लगता है, वैसे ही दोनों ब्रह्मास्त्रों का तेज बढ़कर त्रिभुवन को पीड़ित करने लगा। अर्जुन और अश्वत्थामा के छोड़े हुए अस्त्रों के तेज को त्रिभुवन को जलाते देखकर जल रही संपूर्ण प्रजा ने समझा, यह प्रलयकाल की अग्नि संसार का संहार करनेवाली है। अर्जुन ने देखा, सब प्रजा व्याकुल हो उठी है, और थोड़ी ही देर में लोकों का विनाश हो जायगा, तब भगवान् वासुदेव की इच्छा के अनुसार उन्होंने दोनों अस्त्रयुक्त बाण खींच लिये। इसके उपरान्त क्रोध से लाल अर्जुन दौड़कर दारुण कर्म करनेवाले अश्वत्थामा के पास पहुँच गये।



जैसे बलिदान का पशु रस्सी से बाँधा जाता है, वैसे ही अर्जुन ने अश्वत्थामा को बाँध लिया। इस प्रकार

...क रस्सी से बाँधकर शत्रु को अपने डेरे पर ले जाने के लिए जब अर्जुन उद्यत हुए, तब ब्राह्मण अपमान से कुपित होकर कमललोचन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये वचन कहे।

भगवान् ने कहा—हे कुन्ती के पुत्र, इसकी रक्षा करना उचित नहीं। यह अधम ब्राह्मण है; क्योंकि इसने रात्रि को सोये हुए निरपराध बालकों की हत्या की है। इसलिए तुम इसे अभी मार डालो। धर्म को जो लोग जानते हैं, वे अपने ऐसे शत्रु को भी, जो मतवाला, असावधान, पागल, सो रहा, बालक, स्त्री, निहत्था या निरुद्योग, शरणागत, रथहीन या डरा हुआ होता है, नहीं मारते। जो निष्ठुर दुष्ट पराये प्राणों से अपने प्राणों का पोषण करता है, उसे मार डालना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। कारण, राजदंडरूप प्रायश्चित्त के बिना वह पापी नरकगामी होता है। जैसा कि स्मृति में भी लिखा है कि पाप करनेवाले मनुष्यों को राजा जब दण्ड देता है, तब उनके पाप नष्ट हो जाते हैं और फिर वे पुण्यात्मा लोगों की भाँति स्वर्ग को जाते हैं। इसके सिवा तुमने मेरे सामने ही द्रौपदी से यह प्रतिज्ञा की है कि हे प्रिये, जिसने तुम्हारे पुत्रों की हत्या की है, उसका सिर काट लाऊँगा। इसलिए भी इसे मार डालना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। इस कारण इस पापी आततायी, अपने बन्धुओं, गुरुभाई के लड़कों की हत्या करनेवाले अश्वत्थामा को तुम अवश्य मार डालो। इस कुलकलंक ने अपने स्वामी दुर्योधन का भी अप्रिय ही किया है, अर्थात् दुर्योधन को भी इसके इस क्रूरकर्म से प्रसन्नता नहीं हुई। तात्पर्य यह कि इसने यह पापकर्म व्यर्थ ही किया है।

इस प्रकार अर्जुन की धर्मनिष्ठा की परीक्षा लेने की इच्छा से कह रहे कृष्णचन्द्र ने यद्यपि अर्जुन को अश्वत्थामा का वध करने के लिए बारंबार प्रेरणा की, तथापि उन्होंने अपने गुरुपुत्र को मारने का विचार नहीं किया। यद्यपि अश्वत्थामा ने उनके पुत्रों को मारकर उन्हें बड़ा दुःख दिया था, तो भी अर्जुन अपने धर्म पर अटल ही रहे। इसके उपरान्त अपने प्रिय सारथी गोविन्द के साथ अपने शिविर में पहुँचकर अर्जुन ने मरे हुए पुत्रों के शोक में रो रही अपनी प्रिया द्रौपदी के आगे अश्वत्थामा को उपस्थित किया। पशु की तरह पाश में बंधे और अपने निन्दित कर्म की लज्जा के कारण कुछ सिर नीचा किये हुए अपकारी अपने गुरुपुत्र को उस दशा में देखकर द्रौपदी को दया आ गई। सुन्दर स्वभाववाली द्रौपदी ने अश्वत्थामा को देखकर प्रणाम किया। सती द्रौपदी अश्वत्थामा का इस प्रकार बाँधकर अपमान के साथ लाया जाना नहीं सहन कर सकी। उन्होंने संभ्रम के साथ अर्जुन से कहा - छोड़ दो, छोड़ दो, यह ब्राह्मण हैं और जन्म से ही हम क्षत्रियों के गुरु अर्थात् मान्य है। फिर तुमने तो जिन भगवान द्रोणाचार्य से रहस्ययुक्त अर्थात् अस्त्रविद्या के साथ प्रयोग और उपसंहारसहित संपूर्ण धनुर्वेद सीखा है, उनके यह पुत्र है। पुत्ररूप से यह वही गुरुवर द्रोणाचार्य साक्षात् उपस्थित है। इससे अधिक उन द्रोणाचार्य का आधा अंश उनकी पत्नी कृपी इन्हीं वीर पुत्र के कारण सती नहीं हुई है। हे धर्म के जाननेवाले स्वामी, तुम्हारे हाथ से गुरु के वंश को दुःख न पहुँचना चाहिए। गुरुपत्नी और गुरुपुत्र, दोनों हमारे पूजनीय और वन्दनीय है। इनकी माता पतिव्रता गौतमी उस प्रकार न रोवे, जिस प्रकार मेरे पुत्रों के मारे जाने से दुखित होकर बारंबार आँसू बहाती हुई रो रही हैं। इसीमें हमारा कल्याण है। जो अजितेन्द्रिय अर्थात् काम, क्रोध, आदि विकारों के वशीभूत राजा ब्राह्मणों को क्रोधित करते हैं, उनका सारा कुल शोकपीड़ित ब्राह्मणों के कोप की अग्नि से भस्म हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—धर्मसंगत, न्यायानुमोदित, करुणापूर्ण, स्पष्ट, पक्षपातशून्य और महत्त्व से युक्त द्रौपदी के इस कथन को सुनकर वहाँ उपस्थित महाराज धर्मपुत्र युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, भगवान् कृष्णचन्द्र, अन्य स्त्रियाँ और पुरुष सब सन्तुष्ट हुए। सबने द्रौपदी के कथन का समर्थन और अभिनन्दन किया। केवल भीमसेन कुपित होकर कहने लगे—इसने सोते हुए बालकों की व्यर्थ ही हत्या की है, उससे न कुछ इसका प्रयोजन सिद्ध हुआ और न इसके स्वामी दुर्योधन का ही कुछ भला हुआ। इसलिए इसे मार

डालना ही उचित है। द्रौपदी और भीमसेन, दोनों की बातें सुनकर श्रीकृष्णचंद्र ने चतुर्भुज रूप धारण करके दोनों हाथों से मारने के लिए उद्यत भीमसेन को रोककर और उन्हें रोकने के लिए दो हाथों से उद्यत द्रौपदी को अलग हटाकर अपने सखा अर्जुन की ओर देखा। फिर मुसकराते हुए यों कहा।

श्रीभगवान बोले- हे अर्जुन, मैंने ही शास्त्रों में यह व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण को प्राणदण्ड न देना चाहिए। और मेरा ही यह भी वचन है कि चाहे वेदवेदान्त का ज्ञाता ब्राह्मण ही क्यों न हो, अगर वह शस्त्र हाथ में लेकर मारने के लिए आ रहा हो, तो अवश्य उसे मारना चाहिए। इससे ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगता। अब तुम ऐसा करो, जिससे मेरे दोनों वचनों की रक्षा हो। तुमने प्रिया को सान्त्वना देते समय जो प्रतिज्ञा की थी, उसे सत्य करो। साथ ही यह बात भी है कि भीमसेन, द्रौपदी और मैं तीनों अप्रसन्न न हों। तब अर्जुन ने विचारा तो सहसा श्रीहरि का अभिप्राय उनकी समझ में आ गया। अर्जुन ने तलवार से अश्वत्थामा के सिर की मणि केशों के साथ ही निकाल ली। यह मणि जन्म से ही अश्वत्थामा के सिर में थी। इसके उपरान्त बालहत्या करने के कारण तेज से हीन हो रहे अश्वत्थामा के हाथ-पैर खोलकर अपने शिविर से उन्हें निकाल दिया। मणि और तेज दोनों गवाँकर केवल प्राण लेकर अश्वत्थामा वहाँ से चले गये। इस प्रकार मणि लेकर और सिर के थोड़े बाल काटकर अर्जुन ने कृष्णचन्द्रजी के दोनों वचनों की रक्षा की। कारण, सिर मुंडा देना, धन ले लेना, स्थान से निकाल देना, यही ब्राह्मण के लिए प्राणदंड के तुल्य है। ब्राह्मण के लिए ताड़ना या वध का दैहिक दंड नहीं विहित है।

फिर पुत्रशोक से दुःखित द्रौपदी सहित पाँचो पांडवों ने अपने पुत्रों और युद्ध में मरे हुए जाति भाइयों के दाहकर्म आदि प्रेतकृत्य सम्पन्न किये।

# आठवाँ अध्याय

## अश्वत्थामा का फिर ब्रह्मास्त्र छोड़ना, परीक्षित् की रक्षा, श्रीकृष्ण-स्तुति और युधिष्ठिर का शोक करना

सूतजी बोले- युद्ध में मरे हुए बन्धु-बान्धवों को तिलांजलि देने के लिए पाँचो पांडव द्रौपदी आदि स्त्रियों को आगे करके गंगातट पर गये। वहाँ सबने तिलांजलियाँ दीं और रो-रोकर गंगाजी के पवित्र जल में डुबकी लगाई। इस प्रकार इन कर्मों से छुट्टी पाकर जब एक स्थान पर कुरुपति धृतराष्ट्र, उनके भाई विदुर, पुत्रशोक से व्याकुल गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदी आदि सब स्त्री-पुरुष बैठे, तब मुनियों सहित श्रीकृष्णचन्द्र ने उन सबको समझाया-बुझाया। बन्धुओं के मारे जाने से शोकाकुल हो रहे धृतराष्ट्र, गान्धारी, युधिष्ठिर आदि सबको यह कहकर भगवान ने सान्त्वना दी कि ऐसा होना ही था, इसे कोई नहीं टाल सकता था। काल बड़ा बली है। उससे किसीकी नहीं चलती। चाहे जितना पराक्रमी या प्रतापी देहधारी हो, काल किसी को नहीं छोड़ता। काल को टालने का कोई उपाय नहीं है।

धूर्त दुर्योधन आदि ने छल-कपट से जो ले लिया था, वह राज्य फिर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को दिला दिया। द्रौपदी के केश पकड़ने से जिनकी आयु क्षीण हो गई थी, उन दुष्ट दुःशासन, दुर्योधन आदि का वध कराकर कृष्ण भगवान् ने उत्तम रीति से तीन अश्वमेध यज्ञ युधिष्ठिर से कराये और इन्द्र के समान उनका पवित्र यश विश्वविख्यात कर दिया। इसके उपरान्त व्यास आदि ब्राह्मणों और पूज-

नीय ऋषियों की श्रीकृष्णचन्द्र ने पूजा की। उन लोगों ने भी कृष्ण भगवान का सत्कार किया। तब पांडवों से अनुमति लेकर सात्यकि और उद्धव के साथ रथ पर बैठकर वह द्वारका जाने को उद्यत हुए।

उसी समय कृष्णचन्द्र ने देखा, भय से विह्वल हो रही उत्तरा दौड़ी चली आ रही है। उत्तरा कहने लगी—महायोगी जगदीश्वर, देवदेव रक्षा करो, रक्षा करो। आपके सिवा इस लोक में और कोई मुझे ऐसा नहीं देख पड़ता, जो अभय अर्थात् भय से रहित हो। और सभी मृत्यु के वशीभूत है, इसलिये दूसरे की रक्षा नहीं कर सकते। आपको मृत्यु के भय से रहित जानकर ही मैं आपकी शरण में आई हूँ। हे ईश, यह लोहे का तीक्ष्ण बाण मेरे सामने आ रहा है। यह मुझे भले ही भस्म कर दे, परन्तु मेरा गर्भ न नष्ट होने पावे।



उत्तरा की यह प्रार्थना सुनकर भक्तवत्सल भगवान् ने यह जान लिया कि अपने अपमान से कुपित होकर अश्वत्थामा ने इस संसार से पांडवों का नाम मिटा देने के विचार से फिर यह ब्रह्मास्त्र छोड़ा है। इसी समय पाँचो पांडवों ने भी देखा कि ब्रह्मास्त्र के तेज से प्रज्ज्वलित हो रहे अग्नि के समान पाँच बाण उनकी ओर भी आ रहे हैं। तब पांडवों ने उन बाणों से बचने के लिए अपने अपने अस्त्र हाथ में लिये। अपने अनन्य भक्त पांडवों को इस प्रकार संकट में पड़े देखकर कृष्णचन्द्र ने अपने अस्त्र सुदर्शनचक्र से उनकी रक्षा की। अर्थात् सुदर्शन के तेज से ब्रह्मास्त्रयुक्त उन बाणों को शान्त या निष्फल कर दिया। उसके उपरान्त सबके भीतर अन्तर्यामी आत्मा के रूप में स्थित योगेश्वर कृष्णचन्द्र ने पांडवों और कौरवों के वंश को चलानेवाले उस उत्तरा के गर्भ को अपनी माया से गर्भ के भीतर प्रवेश करके बचा लिया। हे भार्गव, यद्यपि ब्रह्मास्त्र कभी खाली नहीं जाता और उससे बचने का कोई उपाय नहीं है, तथापि विष्णु के तेज से वह भी शान्त हो गया। उसने न तो गर्भ को ही कुछ हानि पहुंचाई और न पांडवों का ही कुछ अनिष्ट किया। हरि को सभी आश्चर्यों का आधार जानकर ब्रह्मास्त्र के यों शान्त हो जाने को कोई आश्चर्य की बात न समझे। जो भगवान् जन्मरहित होकर भी सदा निर्लिप्त रहकर इस जगत् को उत्पन्न करते, पालते और इसका संहार करते हैं, उनके लिए कुछ भी आश्चर्य नहीं है। वह सब कुछ कर सकते है। ब्रह्मास्त्र के तेज से छुटकारा पाये हुए अपने पुत्रों के साथ द्रौपदी को साथ लिये हुए कुन्ती देवी जाने के लिए तैयार कृष्णचन्द्र के पास आकर यों कहने लगी।

कुन्ती बोली—मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप आदिपुरुष, ईश्वर और प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया से परे हैं। सब प्राणियों के भीतर और बाहर आप रहते हैं, तो भी कोई आपको नहीं लख पाता।

आप माया के पर्दे में छिपे हुए है। आप ही से इन्द्रियों को विषयों का ज्ञान होता है। आप अविनाशी या सर्वव्यापक हैं। इन्द्रियों के विषयों ने अथवा माया के प्रपंच ने जिनकी दृष्टि ( ज्ञान ) को मूढ़ बना रक्खा है, उन मेरे समान अज्ञजनों को आप वैसे ही नहीं दिखाई पड़ते, जैसे अभिनय कर रहे नट के असली रूप को दर्शक लोग नहीं पहचान सकते। भक्तियोग से अनभिज्ञ मैं इसलिए आपको केवल नमस्कार करती हूँ। आपके यथार्थ तत्त्व का वर्णन करना मेरे लिए असंभव है। आपने निर्मल अन्तःकरणवाले मननशील परमहंसों ( सत् व असत् या आत्मा अनात्मा का विवेक रखनेवालों ) के भक्तियोग के लिए यह अवतार लिया है। अथवा ऐसे परमहंस भी आपके रूप को नहीं देख पाते। तब हम स्त्रियाँ भला कैसे देख सकती हैं? आप कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्द गोप के पुत्र गोविन्द हैं। आपको प्रणाम है। जिनकी नाभि से सृष्टि-मय कमल उत्पन्न हुआ, उन कमलनाभ को प्रणाम है। कमलों की माला धारण करनेवाले कमलनयन और कमलरेखायुक्त चरण कमलोंवाले कृष्ण को प्रणाम है। हे हृषीकेश, जैसे दुष्ट कंस ने देवकी माता को जब बहुत समय तक कारागार में कैद रक्खा और पुत्रों को मारकर उन्हें अत्यंत शोक पहुँचाया, तब उन्हें आप नाथ ही ने दुःख-कष्ट से छुड़ाया, वैसे ही मुझे और मेरे पुत्रों को भी आपने बारंबार विपत्तियों से बचाया है। जब दुर्योधन ने मेरे पुत्रों को विष देकर मार डालना चाहा, जब उसने लाक्षाभवन में हमें आग लगाकर जला डालना चाहा, जब हिडिम्ब राक्षस ने प्राणसंकट उपस्थित किया, जब दुष्ट कौरवों की सभा में द्रौपदी पर आपत्ति आई, जब वनवास के समय अनेक कष्ट मेरे पुत्रों पर पड़े, और जब युद्ध में अनेक महारथियों ने मेरे पुत्रों पर प्राणघातक अस्त्र चलाये और अभी जब अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब इन आपत्तियों से आपने ही मेरी, मेरे पुत्रों की और मेरी बहू की रक्षा की है। हे जगद्गुरु, मैं तो यही कहती हूँ कि हम पर बारंबार विपत्तियाँ आवें, क्योंकि विपत्ति के समय हमें संसार के बन्धन से छुड़ानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन प्राप्त होता है। संपत्ति तो श्रेय की प्राप्ति में विघ्न डालनेवाली है। सुख-संपत्ति के अवसर पर मनुष्य को सत्कुल में जन्म, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि का अभिमान होता है और उस अंधकार से मतवाला होकर वह अंधा-सा हो जाता है। उस समय वह आपका नाम लेने योग्य भी नहीं रहता। कारण, आपको तो अकिंचन लोग अर्थात् जिनके कुछ भी नहीं है, वे ही देख पाते है। वे ही आपको प्रिय है। आप अकिंचन जनों की संपत्ति है। निर्गुण और अपने ही में रमनेवाले हैं। आप शान्त और कैवल्य मोक्ष के स्वामी हैं। आपको प्रणाम है। मैं तो समझती हूँ, आप साक्षात् कालरूप, अर्थात् समय पर सबका संहार करनेवाले हैं। आप सबके नियामक और संचालक हैं। आपका न आदि है न अन्त। आप सबके प्रभु हैं और सबको समदृष्टि से देखते है। जब काल आता है, तभी प्राणी परस्पर लड़कर मरते मारते हैं। हे भगवन्, आप मनुष्य-लीला कर रहे हैं। आप क्या करना चाहते हैं, यह कोई नहीं जान सकता। आपका न कोई मित्र है न शत्रु। आप में लोगों की निग्रह-अनुग्रहरूपी विषम बुद्धि भले ही हो, पर आप वास्तव में समदर्शी हैं। आप जन्म और कर्म से हीन हैं। आपका पशु (वराह), पक्षी (हंस), मनुष्य (राम-कृष्ण) ऋषि (वामन), जल-जन्तु (मत्स्य-कच्छप) आदि योनियों में जन्म लेना केवल अनुकरणमात्र है, केवल लीला के लिए है। जब आपने दही की मटकी तोड़ डाली और इस अपराध के कारण गोपी यशोदा एक रस्सी लेकर पकड़ने और बाँधने के लिए दौड़ी, तब जिनसे भय अर्थात् मृत्यु भी डरती है, वह आप, एक साधारण बालक की तरह भय का नाट्य करते हुए, काजल के आँसू बहाते हुए, सिटपिटाये से खड़े होकर, घबराई हुई दृष्टि माता की ओर डालते हुए, मुँह लटकाये कनखियों से देख रहे थे। आपकी वह छवि आज भी मुझे विमोहित करती है। कोई कहते हैं, आप जन्म-रहित ईश्वर हैं और अपने प्यारे पवित्र यशवाले युधिष्ठिर की कीर्त्ति बढ़ाने के लिए मलयाचल में चन्दन की तरह यादवों के कुल में उत्पन्न हुए हैं। कोई कहते हैं कि पूर्वजन्म में सुतपा और पृश्नि के नाम से प्रसिद्ध

देवकी और वसुदेव की प्रार्थना से आप अजन्मा ईश्वर इस जगत् का कल्याण और दुष्ट दानवों का विनाश करने के लिए वसुदेव की स्त्री देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। किसी-किसी का कहना है कि नदी मे बहुत लदी हुई नाव की तरह डूब रही या भार से दबी जा रही पृथ्वी का भार उतारने के लिए ब्रह्मा की प्रार्थना से आपने यह अवतार लिया है। कोई कहते हैं कि अज्ञान, कामना और कर्मबन्धन से क्लेश पा रहे लोगों के क्लेश की निवृत्ति के लिए सुनने और स्मरण करने योग्य चरित्र करने के उद्देश्य से आपने यह अवतार लिया है। भगवन्, जो सज्जन तुम्हारी लीलाओं को सुनते हैं, गाते हैं, उनका कीर्त्तन करते हैं, बारंबार उन्हे स्मरण करके प्रसन्न होते हैं, वे ही संसारचक्र को निवृत्त करनेवाले आपके चरणकमलों को शीघ्र देख पाते हैं। हे अपने लोगों की इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले स्वामी, आप जो इस समय हमें छोड़कर जाना चाहते हैं, सो उचित नहीं। हम आपके आत्मीय और अनुगत अर्थात् आप ही के आश्रित हैं। आपके चरण-कमलों के अतिरिक्त हमारे लिए और कोई आश्रय नहीं है। इसके सिवा इस समय हमने सब राजों को दुःख और शोक दे रक्खा है, जिससे सब हमारे वैरी बन बैठे हैं; अर्थात् इन कारणों से इस समय हमें अकेला छोड़कर आपका द्वारका जाना ठीक नहीं है। जैसे जीवात्मा के बिना सब इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, वैसे आपके बिना हम पांडव और यादव कुछ भी नहीं हैं। अत्यन्त तुच्छ हैं। अर्थात् पांडवों और यादवों की प्रसिद्धि और समृद्धि सब आप ही से है। हे गदाधर, आपके यहाँ रहने पर विलक्षण वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि रेखाओं से युक्त आपके चरण पड़ने से इस समय इस पृथ्वी की जैसी शोभा हो रही है, वैसी उस समय न होगी, जब आप यहाँ से चले जावेंगे। ये पके हुए अन्न के पौदे, लता और वृक्ष आदि से शोभित समृद्धिशाली नगर और वन, पर्वत, नदी, सागर आदि से युक्त प्रदेश केवल आपकी कृपादृष्टि से ही उन्नति और ऐश्वर्य को प्राप्त हो रहे हैं। हे विभो, आपके यहाँ से जाने में पांडवों की और न जाने से यादवों की कुशल न होगी, और अपने सगे होने के कारण दोनों ही मेरे स्नेहपात्र है। इसलिए हे जगदीश, हे विश्व की आत्मा, हे विश्वरूप, अपने स्वजनों अर्थात् यादवों और पांडवों के प्रति यह जो सुदृढ़ स्नेह का बन्धन है, उसे आप काट दीजिए। हे यादवों के नाथ, आप में मेरी अनन्य दृढ़ भक्ति हो, और जैसे गंगा की धारा जाकर सागर में समाती है, वैसे ही मेरी मति आप में लीन रहे। हे श्रीकृष्ण, अर्जुन के मित्र, यादवों मे श्रेष्ठ, आप पृथ्वी के लिए भाररूप राजों के वंश को जलानेवाले अग्नि हैं। आपका प्रभाव कभी क्षय को प्राप्त नही होता। हे गोविन्द, आप गऊ, ब्राह्मण और देवतों के दुःख और कष्ट दूर करने के लिए ही अवतार लेते है। हे जगत् के ईश्वर, हे जगद्गुरो, हे ऐश्वर्यसम्पन्न, आपको प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं, कुन्तीदेवी ने जब इस प्रकार मधुर शब्दों द्वारा स्तुति करके संपूर्ण महिमा का वर्णन किया, तब अपनी अनन्त माया से फिर उन्हें मोह में डालते हुए कृष्णचन्द्र मृदु मन्द मुसकरा दिये। अच्छा ऐसा ही होगा, यह कहकर भगवान् कृष्णचन्द्र ने यात्रा स्थगित कर दी और हस्तिनापुर मे फिर प्रवेश किया। कारण, उत्तरा आदि स्त्रियों से अनुमति लेकर भगवान् जब अपने पुर को जाने लगे, तब राजा युधिष्ठिर ने प्रेमवश उन्हें द्वारका नहीं जाने दिया।

ईश्वर कृष्णचन्द्र की क्या करने की इच्छा है, इसे न जान सकनेवाले व्यास आदि मुनियों ने और अद्भुत कर्म करनेवाले स्वयं कृष्ण भगवान् ने भी पुराने इतिहास उपाख्यान सुनाकर राजा युधिष्ठिर को सान्त्वना दी, परन्तु बन्धुवध के शोक से व्याकुल युधिष्ठिर को किसी प्रकार प्रबोध नहीं हुआ। कृष्ण भगवान् की इच्छा यह थी कि भक्त भीष्मपितामह को मृत्यु के समय अपने दर्शन देकर कृतार्थ करें और उन्हीं के मुख से युधिष्ठिर को उपदेश दिलाकर शान्त करें, परन्तु इसे व्यास आदि भी नहीं जानते थे। धर्म के पुत्र राजा युधिष्ठिर मित्रों के वध को स्मरण करके अविवेक के कारण शोक और मोह से व्याकुल होकर कहने

लगे—अहो, मुझ दुरात्मा के हृदय में छाये हुए अज्ञान को तो देखो। कुत्ते सियार आदि का आहार जो यह अनित्य शरीर है, उसके सुख के लिए मैंने कई अक्षौहिणी* सेना का विनाश कर डाला। मैंने बालक, ब्राह्मण, सुहृद्, मित्र, पिता, पितामह, भाई, गुरु आदि से द्रोह किया है। इनकी हत्या कराई है। सहस्रों वर्ष नरक भोगने पर भी मेरा उद्धार न होगा। यह जो वेदवाक्य का शासन है कि प्रजापालक राजा यदि धर्मयुद्ध में शत्रुओं का वध करे तो उसे पाप नहीं होता—सो मुझे शान्ति नहीं देता। इससे मेरे हृदय को प्रबोध नहीं होता। तात्पर्य यह कि उक्त वेदवाक्य का भाव यह है कि अपनी प्रजा पर अगर कोई शत्रु चढ़ाई करे तो उस समय युद्ध में हिंसा करने से राजा को पाप नहीं होता, किन्तु मैंने तो केवल राज्य के लोभ से दुर्योधन आदि बान्धवों की हत्या कराई, और असंख्य वीरों का विनाश कराया है। मैं तो अवश्य ही पाप का भागी हुआ। मैंने जिन स्त्रियों के बन्धुबान्धवों और पतियों की हत्या कराई है, उनके दुःखित होने से जो कलंक मुझे लगा है, उसे मैं गृहस्थाश्रम में विहित यज्ञ आदि कर्मों से मिटा नहीं सकता। जैसे कीचड़ में सना हुआ कपड़ा गन्दे पानी से धोने से शुद्ध नहीं होता, अथवा मदिरा की अशुद्धता मदिरा से धोने से शुद्ध नहीं होती, वैसे ही बलिदान आदि हिंसा जिनमें की जाती है, उन अश्वमेध आदि यज्ञों को करके प्राणियों की हत्या के पाप से छुटकारा नहीं मिल सकता।

# नवाँ अध्याय

## श्रीभीष्मपितामह की मुक्ति

सूतजी कहते हैं, प्रजा के द्रोह से डरे हुए राजा युधिष्ठिर सब धर्मों अर्थात् कर्त्तव्यों के जानने की इच्छा से कुरुक्षेत्र को चले, जहाँ रण-भूमि थी, और भीष्म लड़ते-लड़ते गिरकर शरशय्या पर शयन कर रहे थे। तब सुवर्णभूषित सुन्दर घोड़ों से युक्त रथों पर बैठकर पाँचों पांडव और श्रीवेदव्यास, योग्य पांडवों के पुरोहित आदि ब्राह्मण भी, उनके पीछे अर्जुन सहित भगवान् कृष्णचंद्र भी उनके साथ रथ पर बैठकर चले। यज्ञों के बीच कुबेर जैसे शोभायमान होते हैं, वैसे ही अपने भाइयों और ब्राह्मणों के बीच युधिष्ठिर की शोभा हुई। कुरुक्षेत्र में जाकर सबने देखा, स्वर्ग से भ्रष्ट अर्थात् पुण्य क्षीण होने से पृथ्वी पर गिरे हुए देवता के समान भीष्मपितामह पड़े हुए हैं। उन्हें देखकर श्रीकृष्ण ने और अपने अन्य साथियों सहित पांडवों ने प्रणाम किया। उस समय ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि लोग भीष्मजी को देखने के लिए वहाँ उपस्थित हुए। उन्हीं में से कुछ के नाम यहाँ बतलाते हैं। पर्वत मुनि, नारद, भीष्म, भगवान् बादरायण व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्यों सहित परशुराम, वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी निष्पाप कश्यप, अंगिरा, शुकदेव, बृहस्पति आदि मुनि ऋषि और उनके शिष्य उस स्थान में आये।

सब महाभाग्यशाली ऋषियों और मुनियों को देखकर जिस देश और काल में किसकी किस प्रकार

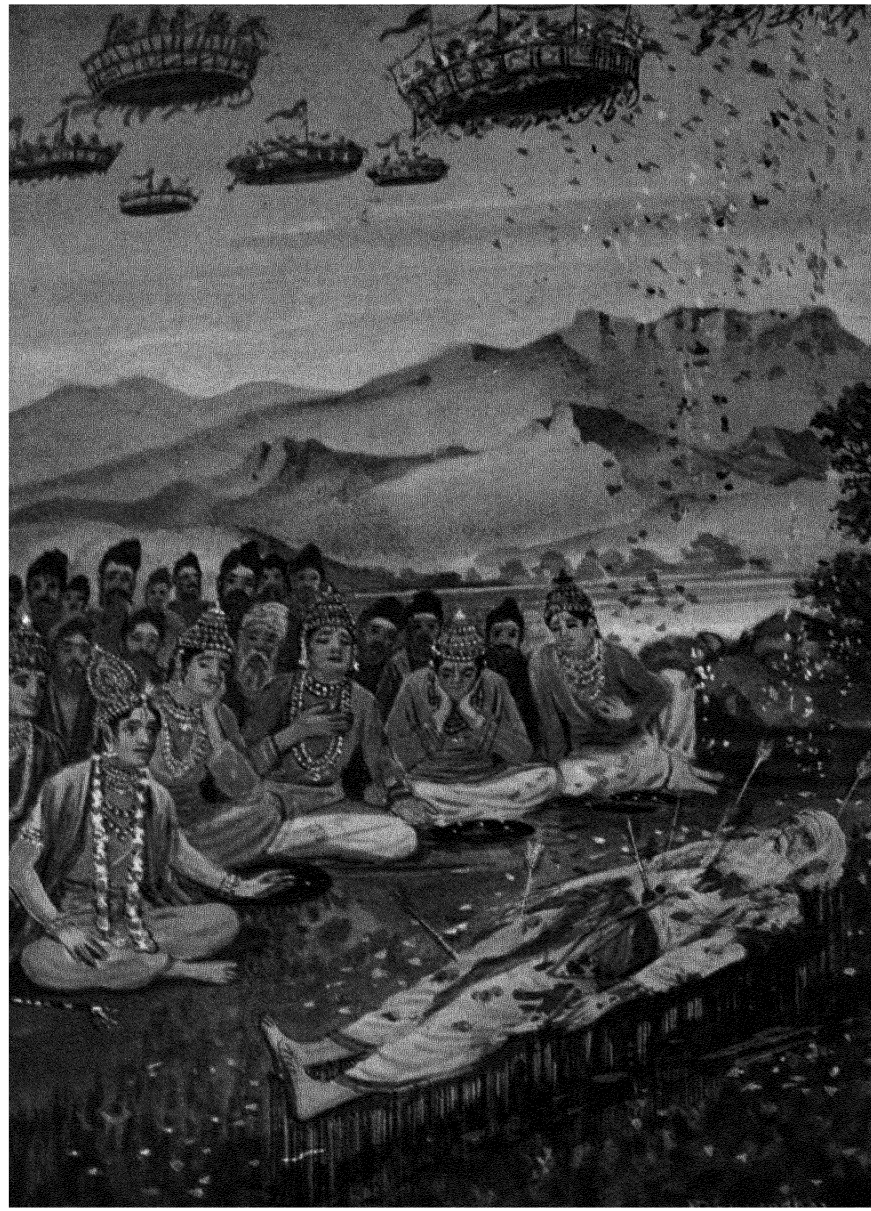
* अक्षौहिणी की संख्या व्यासजी ने यों की है, २१८७० रथ, २१८७० हाथी, १०९३५० पैदल और ६५००० घोड़े एक अक्षौहिणी में होते हैं। ११ अक्षौहिणी सेना कौरवों की और ७ अक्षौहिणी सेना पांडवों की थी। अक्षौहिणी प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तम। संख्यागणनतत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः। गजानां च प्रसंख्यानमेतावद्धि प्रकीर्तितम्। त्रेयं शत सहस्रंतु सहस्राणि नवैव तु। नराणामपि पंचाशत् शतानि त्रीणि चैवहि। पचषष्टि सहस्राणि तथाश्वानां शतानि च। तथोत्तराणि षट् प्राहुः संख्या तत्त्वविदो जनाः। एतामक्षौहिणीं प्राहुर्यथावदितह संख्यया।

से पूजा करना चाहिए, यह जाननेवाले भीष्मपितामह ने उठने की शक्ति न होने के कारण पड़े पड़े ही आदर-सत्कार कुशल-प्रश्न और प्रणाम आदि के द्वारा सबका यथोचित पूजन किया। उसके पश्चात माया से मनुष्यरूपधारी जगदीश्वर श्रीकृष्णचंद्र को, जो उनके हृदय में भी स्थित थे, सामने बैठे देखकर उनके प्रभाव को जाननेवाले भीष्मजी ने उनकी पूजा की। स्नेह और प्रेम से पास आये हुए विनीत पांडवों को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखकर भीष्मजी बोले।

श्रीभीष्म ने कहा—यह बड़े कष्ट की बात है और यह बड़ा अन्याय है कि तुम पांडवों को भी क्लेशमय जीवन बिताना पड़े। अथवा तुमको भी इस प्रकार दुःख हो। कारण तुम धर्मात्मा, विप्रभक्त और श्रीकृष्ण के आश्रित हो। तुम्हारे पिता महारथी पांडु का जब देहान्त हुआ था, उस समय तुम बालक ही थे। तभी से कुन्ती ने तुम्हारे कारण अनेक कष्ट सहे है। तुम धर्मात्मा सज्जनों को इस प्रकार का कष्ट होना मेरी समझ मे काल ही का प्रभाव है। जैसे मेघ वायु के वश होते हैं, अर्थात् वायु जब चाहे तब उन्हे छिन्नभिन्न कर देता है, और जब चाहे तब एकत्र कर देता है, वैसे ही वह प्रबल काल संसार के सब जीवों को वश में किये हुए है, वही सबको सुख और दुःख देता है। नहीं तो जहां साक्षात् धर्म के पुत्र राजा हों, गदा हाथ में लिये भीमसेन सा योद्धा भाई हो, अर्जुन सा अजेय धनुर्द्धर हो, गाण्डीव जैसा धनुष हो, और श्रीकृष्ण के समान स्वजन सहायक हो, वहाँ किसी विपत्ति का होना कभी संभव हो सकता है? हे राजा युधिष्ठिर, कोई भी पुरुष इन काल-रूप श्रीकृष्ण की इच्छा को नहीं जानता कि यह क्या करना चाहते है। उसे जानने की इच्छा करके बड़े-बड़े विद्वान् भी मोह को प्राप्त होते है। इसलिए हे राजन्, यह सब जो कुछ हुआ, उसे ईश्वराधीन समझो, और इन्हीं ईश्वर की इच्छा के अनुगामी होकर अब इन अनाथ प्रजाओं की रक्षा करो। कारण, अब तुम्हीं इन असमर्थ प्रजाओं के नाथ हो। तुम्हीं इनकी रक्षा कर सकते हो। यह कृष्णचंद्र ही साक्षात् आदिपुरुष नारायण भगवान् हैं। यह अपनी माया से लोगों को मोहित करते हुए यादवों में गुप्त रूप से स्थित है। इनकी महिमा या प्रभाव परम गुप्त है। उसे केवल भगवान् शंकर, देवर्षि नारद, या नारायण का अवतार भगवान् कपिलदेव जानते है। जिन्हे तुम अपने मामा वसुदेव का पुत्र, प्रेय मित्र और स्वजन जानते हो, जिनको तुमने सखाभाव से अपना सचिव, दूत और सारथी तक बनाया है, वह साक्षात् भगवान् है। यदि कहो कि यदि यह ईश्वर है तो सारथी आदि के नीच कर्म क्यों किये तो भैया, यह बुद्धि की विषमता कि अमुक नीच कर्म है, यह काम मेरे करने योग्य नहीं है, इससे मेरी अप्रतिष्ठा होगी, मनुष्यों मे ही होती है, सर्वव्यापी, समदर्शी, अद्वितीय, अहंकारशून्य, निर्लिप्त सबके आत्मा ईश्वर में यह भाव कभी नहीं हो सकता। यह यद्यपि समदर्शी है, तथापि अपने अनन्य भक्तों पर इनकी कृपा का प्रत्यक्ष उदाहरण देखो। मेरा अन्त समय निकट जानकर साक्षात् आकर इन्होंने मुझे अपने दुर्लभ दर्शन दिये। जिनमे भक्ति-भाव के साथ मन लगाकर वाणी से जिनके नामों का उच्चारण करते हुए कलेवर को छोड़नेवाला योगी संसार में आनेवाले कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, वह देवदेव भगवान् कृष्णचंद्र तब तक प्रसन्न हास्य से शोभित और कमलसम अरुण विशाल लोचनों से युक्त मुख कमल से अलंकृत चतुर्भुजी रूप से मेरे ध्यान मे स्थित रहें, जब तक मैं अपने इस शरीर को न छोड़ दूं।

सूतजी कहते है, शरशय्या पर शयन कर रहे भीष्मजी के ये वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर ने उनसे तब ऋषियों के सामने राजधर्म, समाजधर्म, वर्णाश्रमधर्म आदि विविध धर्मों के विषय मे पूछा।

भीष्म ने पुरुष-स्वभाव के अनुकूल जिनका विधान किया गया है, ऐसे मनुष्यमात्र के साधारण धर्म कहे। संसार के अनुराग के अनुगत प्रवृत्तिमार्ग और वैराग्य के अनुगत निवृत्तिमार्ग का वर्णन किया। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्म कहे। दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म, भगवत्सम्बन्धी धर्म आदि सब



कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर लटे हुए भीष्मपितामह का युधिष्ठिर
आदि को उपदेश

धर्म और उनके विभाग संक्षेप और विस्तार से वर्णन किये। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का रूप और उनकी प्राप्ति के उपाय बतलाये। धर्म के जाननेवाले पितामह भीष्म ने राजा युधिष्ठिर से अनेक उपाख्यान और इतिहास कहकर पूर्वोक्त धर्मों का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार धर्म का वर्णन करते करते सूर्य के उत्तरायण में जाने का समय आ गया। अपनी इच्छा के अनुसार शरीरत्याग करनेवाले योगीजन इसी समय की प्रतीक्षा किया करते हैं। भीष्मदेव भी इसी काल में प्राण त्याग करना चाहते थे। इसीसे उत्तरायण काल आने पर युद्ध में सहस्र रथी योद्धाओं की रक्षा करने की शक्ति रखनेवाले भीष्मदेव मौन हो गये। अपने निश्चल संगहीन मन को उन्होंने सब ओर से हटाकर पीताम्बरधारी और सम्मुख चतुर्भुज रूप से स्थित श्रीकृष्ण में लगा दिया और आँख मूद ली। इस विशुद्ध धारणा अर्थात् ध्यान से उनके सब अशुभ कष्ट दूर हो गये। श्रीकृष्ण की कृपादृष्टि पड़ते ही उनके अंगों में शस्त्रों के लगने की जो पीड़ा हो रही थी, वह जाती रही। उस समय इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर सावधान होकर शरीर त्याग करने के लिए उद्यत भीष्मजी इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र की स्तुति करने लगे।

भीष्मजी ने कहा—क्रीड़ा के लिए योगमाया को स्वीकार करने पर जिन आनन्दमय परम महाब्रह्म से यह सृष्टि उत्पन्न होती है, उन यादवपति सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में इस प्रकार निष्काम बुद्धि लगाता हूँ। त्रिभुवन सुन्दर और तमालतरु के समान श्याम शरीर में सूर्य की किरणों के समान पीताम्बर धारण किये हुए और अलकावलि से आवृत्त सुन्दर मुखकमलवाले अर्जुन के मित्र श्रीकृष्णचन्द्र में मेरी निष्काम विशुद्ध भक्ति हो। युद्ध में घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल उड़कर पड़ने से मटमैली और इधर उधर अस्तव्यस्त हो रही अलकों तथा परिश्रम से उत्पन्न पसीने की बूँदों से जिनका मुख अलंकृत हो रहा है, और मेरे पैने बाणों से कवच कट जाने के कारण फट गई है त्वचा जिनकी, ऐसे श्रीकृष्ण में मेरा मन रमण करे। अपने मित्र अर्जुन के कहने से शीघ्र ही कौरवों और पांडवों की सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करके शत्रुपक्ष के वीरों की ओर देखकर अपनी दृष्टि से उनकी आयु को हरनेवाले कालस्वरूप अर्जुन के मित्र श्रीकृष्ण में मेरा मन रमण करे। सामने खड़ी हुई शत्रुओं की सेना में अपने आगे मरने मारने के लिए उद्यत स्वजनों को देखकर जब स्वजनों के वध को बुरा समझकर अर्जुन ने धनुष-बाण हाथ से रख दिया और स्वजनों को मारना अस्वीकार कर दिया, तब जिन्होंने आत्मविद्या गीताज्ञान का उपदेश करके अर्जुन की उस कुबुद्धि को हर लिया, उन परमेश्वर के चरणकमलों में मेरी रति हो। भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध में मैं शस्त्र हाथ में न लूँगा, और मैंने भी यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं भी उन्हें शस्त्र पकड़ाकर छोड़ूँगा। किन्तु भक्तवत्सल भगवान् ने मुझ भक्त की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए अपनी प्रतिज्ञा का कुछ ध्यान नहीं किया, और रथ से फाँदकर रथ का चक्र हाथ में लेकर मुझे मारने के लिए इस वेग से दौड़े कि पग पग पर पृथ्वी काँपने लगी। कंधे से पीताम्बर गिर गया। उस समय भगवान् वैसे ही शोभायमान हुए, जैसे गजराज पर झपटनेवाले सिंह की शोभा होती है। उन्हीं भक्तवत्सल भगवान् की मैं शरण हूँ। मेरे तीक्ष्ण बाणों की चोट से कवच छिन्नभिन्न हो गया, श्याम शरीर से रक्त बहने लगा। उस समय क्रोध करके मुझ सशस्त्र को मारने के लिए वेग से दौड़नेवाले मुकुंद भगवान् मेरी गति हों। अर्जुन के रथ पर बैठकर एक हाथ से छड़ी उठाये और दूसरे हाथ से घोड़ों की रास पकड़े हुए दर्शनीय शोभावाले कृष्ण भगवान् में मरते समय मेरा मन लगे। भगवान् की उस छवि को देखते हुए महाभारत युद्ध में मरनेवाले सब वीरों को वह मुक्ति प्राप्त हुई, जिसमें भगवान् के सदृश ही रूप हो जाता है। ललित गति, विलास, मनोहर मुसकान, और प्रणय दृष्टि को देखकर मन में गुरु मान लेनेवाली गोपियाँ भी

श्रीकृष्णचन्द्र के अन्तर्द्धान हो जाने पर उनके विरह से व्याकुल हो उठी थीं, और उस समय तन्मय होकर उन प्रियतम की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। ऐसे भक्तिभाव के द्वारा सहज में मिलनेवाले कृष्णचन्द्र में मेरी दृढ़ भक्ति हो। बस, मैं यही चाहता हूँ। राजा युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ किया था, तब अनेकानेक ऋषियों, मुनियों और राजों से सुशोभित सभा के बीच जिनकी अग्रपूजा हुई, अर्थात् सबके पहले अर्घ्य दिया गया, वह सर्वश्रेष्ठ और सम्पूर्ण जगत् के पूज्य परमेश्वर इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं। मेरे अहोभाग्य है। मैं कृतकृत्य हूँ। यह जन्म और कर्म से रहित हैं। जैसे एक ही आकाश में स्थित सूर्य जलभरे अनेक पात्रों में पड़नेवाले प्रतिबिम्बों के द्वारा अनेक प्रतीत होते हैं, वैसे ही यह एक परमेश्वर अपने उत्पन्न किये हुए प्राणियों के हृदय में अनेकरूप जान पड़ते हैं। इन ईश्वर को भेददृष्टि और मोह से शून्य चित्त के द्वारा मैंने प्राप्त कर लिया है।

सूतजी कहते हैं, इस प्रकार आत्मरूप कृष्ण भगवान् में मन, वाणी और दृष्टि के द्वारा आत्मा को लीन करके भीष्मपितामह चुप हो रहे। अर्थात् उनके प्राण निकलकर श्रीकृष्ण मे लीन हो गये। भीष्मदेव को पूर्णब्रह्म में सम्मिलित देखकर सब लोग चुप हो गये, जैसे सायंकाल में बसेरे के समय पक्षी मौन हो जाते हैं। देवता और मनुष्य उस समय नगाड़े बजाने लगे। साधु-सज्जन, राजा लोग पितामह की प्रशंसा करने लगे। आकाश से भीष्मजी के ऊपर फूल बरसने लगे। राजा युधिष्ठिर ने इसके उपरान्त पितामह भीष्म के शव का दाह और प्रेतकृत्य किया और कुछ देर शोक मनाया। प्रसन्नचित्त मुनियों ने वेदोक्त गूढ़ नामों से श्रीकृष्णचन्द्र की स्तुति की। श्रीकृष्णचन्द्र जिनके हृदय में बसे हुए हैं, वे मुनि वहाँ से अपने आश्रमों को गये। इधर श्रीकृष्ण के साथ युधिष्ठिर हस्तिनापुर को लौट गये। उन्होंने फिर पुत्रशोक से पीड़ित पिता-माता अर्थात् चाचा धृतराष्ट्र और दुःखित गान्धारी देवी को सान्त्वना दी। फिर वासुदेव की आज्ञा के अनुसार धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की अनुमति लेकर धर्मपूर्वक पिता-पितामह के राज्य का शासन करने लगे।

# दसवाँ अध्याय

## श्रीकृष्णचन्द्र की द्वारका-यात्रा

शौनक ने पूछा—अपने हिस्से को हड़प कर लेने के लिए तैयार और शस्त्र लेकर मारने को उद्यत दुर्योधन और उसके साथियों को युद्ध में मारकर धर्मात्मा पुरुषों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ किस प्रकार ऐश्वर्य भोग करते हुए राज्य का शासन और प्रजा का पालन करने लगे? भीष्मजी की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने क्या किया, यह आप हमसे कहिए।

सूतजी बोले—वंश के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न क्रोध की आग में जले हुए कुरुवंश के अंकुर परीक्षित् की रक्षा करके सृष्टि का पालन करनेवाले श्रीहरि कृष्णचन्द्र राजा युधिष्ठिर को राजसिंहासन पर बिठाकर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। भीष्म के उपदेश और श्रीकृष्ण के समझाने से युधिष्ठिर के हृदय में यह यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ कि जगत स्वतंत्र नहीं, ईश्वर के अधीन है, जिससे उनका यह मोह दूर हो गया कि मैं करनेवाला कर्त्ता हूँ। वह आज्ञापालक छोटे भाइयों की सहायता से श्रीकृष्णचन्द्र के आश्रित होकर इन्द्र के समान समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करने लगे। उनके राज्यकाल में ठीक समय पर यथेष्ट

जल की वर्षा होती थी, पृथ्वी सभी वस्तुओं को उत्पन्न करती थी। बड़े बड़े स्तनवाली गउएँ इतना दूध देती थीं कि घी-दूध की नदियाँ बहती थीं। नदी, समुद्र, पहाड़ आदि वनस्पति और घास चारे से भरे रहते थे। हर ऋतु में ओषधियाँ फलती थीं। युधिष्ठिर के शासनकाल में लोगों को मानसिक चिन्ता या रोग नहीं सताते थे। प्रजा को दैवकृत जाड़े, गर्मी, वर्षा का कष्ट या प्राणियों के द्वारा होनेवाली आधिभौतिक पीड़ा अथवा मानसिक व्यथा आदि आध्यात्मिक सन्ताप नहीं होता था।

भगवान् कृष्णचन्द्र अपने सुहृद् पांडवों का शोक कम करने के लिए और अपनी बहन सुभद्रा को प्रिय करने को कई महीने और हस्तिनापुर में रहे। इसके उपरान्त युधिष्ठिर आदि से पूछकर उनसे आज्ञा पाकर कृष्णचन्द्र ने द्वारका जाने को प्रस्थान कर दिया। श्रीकृष्ण ने चलते समय राजा युधिष्ठिर को प्रणाम किया। युधिष्ठिर ने प्रेम से उनको गले लगा लिया। अर्जुन आदि उनके गले लगे। छोटों ने उनको प्रणाम किया। यों सबसे विदा होकर जाने के लिए भगवान् रथ पर सवार हुए। उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु ( वैश्या से उत्पन्न धृतराष्ट्र का बेटा। युद्ध में यही बचा था; क्योंकि यह युधिष्ठिर की ओर हो गया था ), कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, पुरोहित धौम्य आदि सब नर-नारी श्रीकृष्णचन्द्र का विरह न सह सकने के कारण व्याकुल हो उठे। यह कोई आश्चर्य नहीं है, जो वे प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण का विरह न सह सकते थे। देखो, सज्जनों या हरिभक्तों का संग होने पर बन्धनस्वरूप स्त्री-पुरुष आदि के दुस्संग को भक्तजन आदि छोड़ देते हैं। और श्रीकृष्ण के मनोहर यश या चरित्र को जो कोई एक बार भी सुन लेता है, वह फिर उसे नहीं छोड़ सकता। उन्हीं ईश्वरस्वरूप कृष्ण को अपना आत्मीय माननेवाले पांडव भला उनके विरह को कैसे सह सकते थे। वे तो उन विश्वबान्धव हरि के नित्य दर्शन करते, उनका स्पर्श करते, उनसे बातचीत करते, उनके साथ बैठते-उठते, खाते-पीते और सोते थे। यों नित्य के सहवास से श्रीकृष्ण के प्रति उनका स्नेह बहुत बढ़ गया था। उनका मन श्रीकृष्ण का दास हो रहा था। वे नित्य नन्दनन्दन का मुखकमल देखते और स्नेह की डोर में बँधे उनके पीछे पीछे डोलते थे। श्रीकृष्ण को यात्रा के लिए घर से बाहर निकलते देखकर पांडवों और कौरवों की स्त्रियों ने उत्कंठा और स्नेहाधिक्य के कारण उमड़े हुए आँसुओं को यह सोचकर जहाँ का तहाँ रोक लिया कि कृष्णचन्द्र का अकल्याण या असगुन न हो। यात्रा के समय आँसू गिराना अच्छा नहीं होता। राजभवन और राजमार्ग में कृष्णचन्द्र की यात्रा के समय लोग मृदंग, शंख, भेरी, वीणा, पणव, गोमुख, पटल, दुंदुभी, घंटा आदि मंगलसूचक बाजे बजाने लगे। श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा से कुरुवंश की नारियाँ ऊँचे भवनों के ऊपर चढ़ गईं, और प्रेम-लज्जा-मिश्रित मंद मुसुकान के साथ कृष्णचन्द्र की ओर देखकर उनपर फूल बरसाने लगीं। रत्नजड़ी डंडीवाला और मोतियों की झालर से अलंकृत श्वेत छत्र अर्जुन ने श्रीकृष्ण के ऊपर लगाया। उद्धव और सात्यकि परम विचित्र चँवर लेकर दोनों ओर चले। इस प्रकार मार्ग में जा रहे यदुपति कृष्ण की परम शोभा हुई।

राह में जगह जगह ब्राह्मण लोगों के मुख से कृष्णचन्द्र के लिए सच्चे आशीर्वाद सुनाई पड़ने लगे, जो कि निर्गुण परमात्मा के लिए उनके अनुरूप न थे, किन्तु मायामनुष्यरूप सगुण ईश्वर कृष्ण के लिए सर्वथा अनुरूप या संगत थे। श्रीकृष्ण ने जिनके चित्त को हर लिया है, वे युधिष्ठिर के पुर की नारियाँ आपस में इस प्रकार सब के मन को मोहनेवाली बातें करने लगीं।

स्त्रियाँ कहने लगीं—सुनो सखियो, यह वही अद्वितीय पुरातन पुरुष हैं, जो प्रलय के समय भी अपने रूप में स्थित थे, जिस समय ईश्वर या ब्रह्म में जीव की उपाधि का मूल महत्तत्व (गुणक्षोभ) आदि शक्तियाँ लीन थीं और तीनों गुण भी न थे। अतएव इनका ऐसा रूप, पराक्रम और तेज देखकर आश्चर्य न

करना चाहिए, क्योंकि यह साक्षात् परमेश्वर हैं। सृष्टि के आदि में इन्होंने ही अपनी शक्ति काल के द्वारा प्रेरणा को प्राप्त माया को नाम रूप ग्रहण करने की इच्छा से स्वीकार किया। वह माया जीव को मोह में फँसानेवाली और इस संसार की सृष्टि का कारण है। यही वेद आदि शास्त्रों को प्रकट करनेवाले हैं; जितेन्द्रिय योगीजन पहले भक्ति से चित्त को शुद्ध करके यम, नियम, प्राणायाम, समाधि आदि अष्टांग योग का अभ्यास करते रहने पर बहुत दिनों में जिनके चरणकमलों को देख पाते है। इसे तुम निश्चय जानो कि बुद्धि की शुद्धि भी यही कर सकते हैं। केवल योग आदि उपाय नहीं उसे शुद्ध कर सकते। सखी, यह वही एकमात्र ईश्वर है, जिनकी सत्कथाओं को व्यास आदि तत्त्वज्ञानियों ने वेद और शास्त्रों में गाया है। यह इस सृष्टि की सृष्टि, पालन और संहार करके भी संसार के प्रपंच से निर्लिप्त ही रहते है। जब तमोगुणी प्रकृति के नरपतिगण अधर्म का आचरण करने लगते है, तब जगत् के अभ्युदय के लिए सात्विक अवतार लेकर यही युग युग में ऐश्वर्य, सत्य, ऋत ज्ञान, दया और यश को फैलाते है। अहो यादवकुल प्रशंसनीय और धन्य है, जिसमें इन श्रीपति पुरुषोत्तम ने जन्म लिया है। वह मधुवन भी परमश्लाघा के योग्य है, जहाँ यह जगदीश्वर खेले-कूदे और रहे हैं। अहो, पृथ्वी के यश और सौभाग्य को बढ़ानेवाली और अपने वैभव से स्वर्ग को भी नीचा दिखानेवाली द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ की प्रजा नित्य अनुग्रहसूचक मंद मुसकान के साथ शोभायमान अपने स्वामी इन कृष्ण के मनोहर मुख को देख पाती है। उन स्त्रियों ने अवश्य ही व्रत, स्नान, होम आदि अच्छे पुण्यकर्मों से ईश्वर की आराधना की है, जो इनकी स्त्री होकर इनके सुधामधुर अधररस को बारंबार पीती रहती हैं। वह अधररस ऐसा मोहक है कि व्रज की स्त्रियों को भी उसने मोहित कर लिया। शिशुपाल आदि दुष्ट विरोधियों को परास्त करके बाहुबलरूप मूल्य चुकाकर स्वयंवरों से जिन्हे यह हर लाये, वह रानी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ और नरकासुर को मारकर उनके यहाँ से छुड़ाकर लाई गई अन्य सोलह हज़ार एक सौ रानियाँ धन्य हैं। साधारणतः स्त्रीजाति स्वतंत्रता या विशेषता और पवित्रता से शून्य समझी जाती है। उसी स्त्रीजाति को उन रानियों ने अपने सौभाग्य से प्रशंसा के योग्य बना दिया। कारण, यह कमललोचन उनके पति कृष्णचन्द्र उनके गुणों पर ऐसे कुछ रीझे हैं कि उन्हे छोड़कर उनके घरों से कभी नहीं जाते और उनकी इच्छाएं पूरी करके वांछित वस्तु देकर उन्हे प्रसन्न करते है।

इस प्रकार आपस में बाते कर रही पुरनारियों की ओर कृपादृष्टि से देखकर उन्हे प्रसन्न करते, और मुसकाते हुए कृष्ण भगवान् राजमार्ग से जा रहे थे। शत्रु लोग आक्रमण न करे, इस आशंका से कृष्ण की रक्षा के लिए युधिष्ठिर ने अपनी चतुरंगिणी सेना उनके साथ कर दी। दृढ़ स्नेह के कारण पांडव लोग स्वयं भी बहुत दूर तक कृष्ण को भेजने के लिए उनके साथ चले आये। फिर कृष्ण भगवान् ने अपने विछोह से व्याकुल पांडवों को सान्त्वना देकर वहाँ से लौटा दिया और अपने प्रिय उद्धव आदि सचिवों के साथ द्वारका को चले। रास्ते में कुरुजांगल, पांचाल, शूरसेन, यमुना प्रदेश, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य देश, सारस्वत देश, मरुदेश, सौवीर और आभीर देश होकर आनर्त देश में द्वारका के समीप कृष्णचन्द्र पहुँच गये। उस समय उनके रथ के वाहन कुछ थक गये थे। ऊपर जो देश गिनाये, उनमें पहुँचने पर वहाँ के अधीश्वरों ने अनेक उपहार कृष्ण को दिये। मायामानवरूप श्रीकृष्णचन्द्र सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा मे सूर्य के समान पहुँचे।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रवेश, उनकी स्तुति और गृहकृत्यों का वर्णन

सूतजी कहते हैं— ऋद्धि-सिद्धि से भरे-पुरे अपने आनर्त्त देश की सीमा में पहुँचते ही भगवान् ने मानो अपने देश के लोगों के वियोग-दुःख को शान्त करने के लिए श्रेष्ठ पाञ्चजन्य नाम का अपना शंख बजाया।



वह उजले रंग का शंख कृष्ण के अरुणवर्ण करकमलों के बीच उनके अरुण अधरों की आभा से कुछ लाल रंग का होकर ऐसा शोभित हुआ, जैसे कमल के फूले फूल पर कोई हंस का बच्चा बैठा हो। संसार के भय मृत्यु को भी भयभीय करनेवाला वह अधर-सुधा से पूर्ण शंख का नाद सुनकर स्वामी के दर्शनों के लिए उत्कंठित सब प्रजा उन्हें देखने के लिए दौड़ पड़ी। अपने रूप में रमनेवाले अर्थात् सन्तुष्ट और नित्य आत्मज्ञान से पूर्ण-मनोरथ कृष्ण को सारी प्रजा ने सादर अनेक वस्तुएँ भेंट के रूप में अर्पण कीं, जैसे जगत् को प्रकाश देनेवाले सूर्य-नारायण को कोई दीपक दिखावे! प्रेम से उनके मुखकमल खिल उठे और हर्षपूर्ण गद्‌गद वाणी से वे सबके रक्षक और हितैषी कृष्णचन्द्र से, जैसे बालक अपने पिता से प्रार्थना करते हैं, यों कहने लगे—

स्वामी, जिनकी वन्दना ब्रह्मा और उनके पुत्र सनक आदि ऋषि करते हैं, जो इस संसार में क्षेम या आश्रय चाहनेवालों के लिए एकमात्र आश्रय हैं, और जिनमें स्थान पाने पर ब्रह्मा आदि के प्रभु काल का भी वश नहीं चलता, उन आपके चरणों को हम सदा प्रणाम करते हैं। हे विश्वपालक, आप हमारा कल्याण करिए। आपको ही हम अपना पिता-माता, मित्र, स्वामी, सच्चा गुरु और परम पूज्य देव मानते हैं। हम लोग आपके अनुगत होकर कृतार्थ हुए। अहो, हमें आपने सनाथ किया है। कारण, देवतों को भी जिसका दर्शन होना दुर्लभ है, वह प्रेममयी मुस-कान और स्नेहमयी दृष्टि से सुशोभित आपका सर्वांगसुंदर श्यामसुंदर स्वरूप हम सदा देख पाते है। हे कमललोचन, जब कभी आप अपने मित्रों और बन्धुओं को देखने, उनसे मिलने हस्तिनापुर या मथुरा को जाते हैं, तब एक-एक क्षण हमारे लिए करोड़-करोड़ वर्ष का हो जाता है, बीतने नहीं आता, जैसे सूर्य को देखे बिना नेत्र व्याकुल हो उठते हैं, वैसे ही वही दशा आपको न देख पाकर हमारी भी होती है।

अपनी प्रजा के मुख से ऐसी बातें सुनकर उनकी ओर कृपादृष्टि से देखते हुए भक्तवत्सल भगवान् ने अपनी पुरी में प्रवेश किया। कृष्ण के समान ही बली मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, कुक्कुर, अंधक और वृष्णि-वंश के यादव वैसे ही उस पुरी की रक्षा करते हैं, जैसे भोगवतीपुरी की रक्षा नाग करते हैं, सभी ऋतुओं के पुष्पों और फलोंवाले वृक्ष, लतामंडप आदि से अलंकृत उद्यान (फलवाले वृक्षों के वन), उपवन (फूलवाले

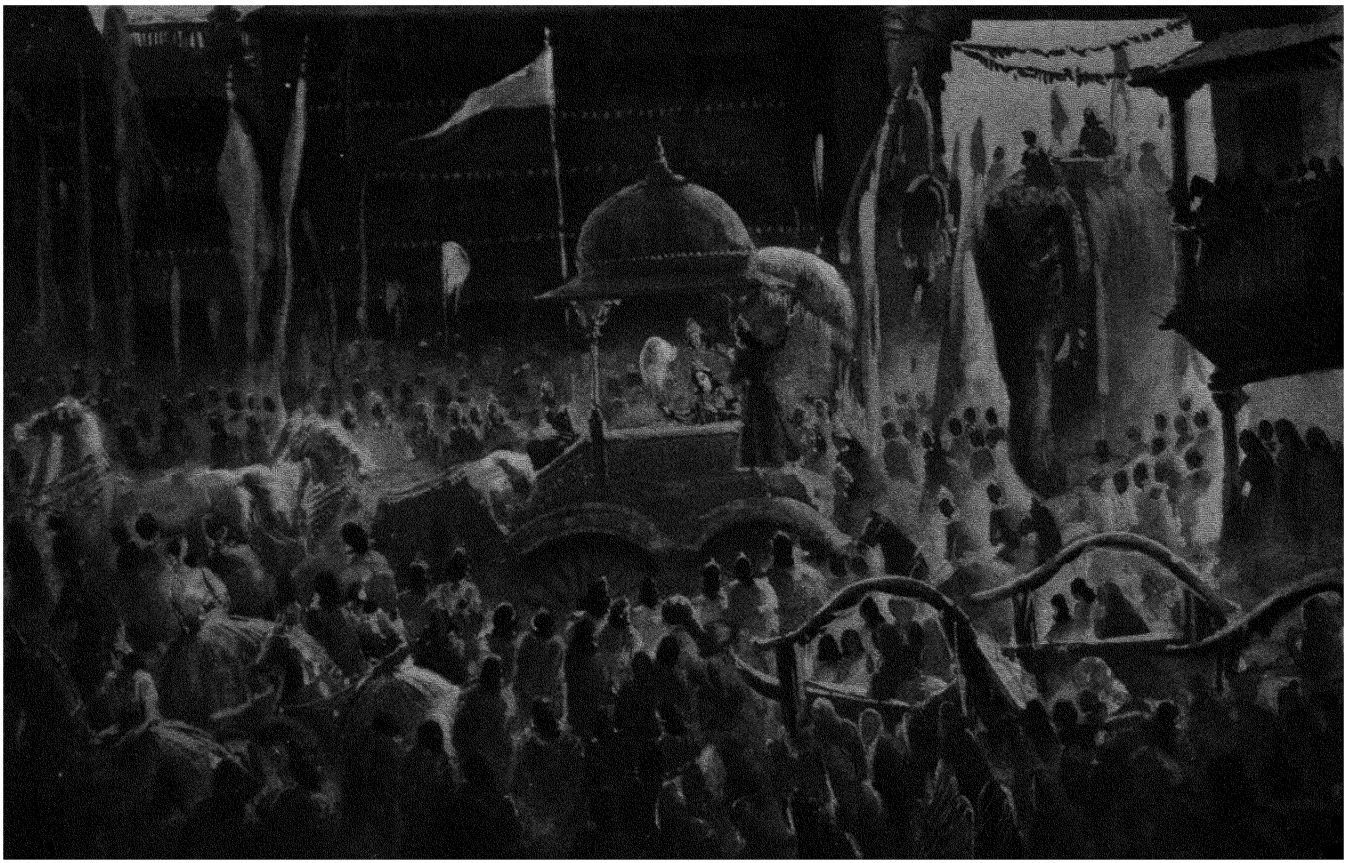
वृक्षों के वन), और आराम (क्रीडावन), तथा स्वच्छ जलवाले सरोवर उस द्वारकापुरी की शोभा बढ़ा रहे थे। पुर के द्वार, घरों के द्वार और मार्गों में उत्सवसूचक तोरण (साधारण फाटक) बनाये गये थे। विचित्र गरुडादि के चिह्न और विजयदायक यंत्र जिनमें बने हुए हैं, ऐसी विचित्र ध्वजा-पताकाएँ धूप को उसके भीतर नहीं आने देतीं। बड़ी सड़कें, छोटी गलियाँ, प्राकार (बाज़ार), चौक आदि बुहारे-झाड़े पड़े हैं। उनमें सुगंधित जल का छिड़काव किया जा चुका है, और फल-फूल अक्षत, अंकुर, खीलें आदि मांगलिक पदार्थ बरसाये गये है। घरों के द्वार दही, अक्षत, फल, रस, जलभरे कलश, भेंट-पूजा की वस्तुओं और धूप-दीप आदि से अलंकृत किये गये हैं।

अपने प्रिय श्रीकृष्णचंद्र के आने का समाचार पाकर महामनस्वी वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, महापराक्रमी बलराम, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, जांबवती के पुत्र सांब आदि सब सोना, खाना, पीना छोड़कर उस समय श्रीकृष्ण के स्वागत के लिए चल खड़े हुए। बड़े गजराज और वेदपाठी मंगलमूल ब्राह्मणों को आगे करके, शंख, तुरही, डंका बजाते, यादव रथों पर बैठकर श्रीकृष्ण से सादर मिलने के लिए चले। श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए उत्सुक सैकड़ों वेश्याएँ पालकियों पर बैठकर आगे-आगे चलीं। हिल रहे कुंडलों की आभा पड़ने से उनके गोरे-गोरे गाल और भी झलक रहे थे। पवित्र कीर्त्तिवाले श्रीकृष्ण के पावन चरित्र गाते हुए नट, नचनिये, गंधर्व, सूत, मागध और बन्दीजन भी साथ चले।

भगवान् ने भी बन्धुओं और अपने अनुगत पुरवासियों से मिलकर सबका यथोचित सम्मान किया। श्रीकृष्ण ने उनमें से किसी को सिर नवाकर प्रणाम किया, किसी को वाणी से प्रणाम किया, किसी को गले लगाया, किसी से हाथ मिलाया, किसी को मंद मुसकाकर कृपादृष्टि से कृतार्थ किया। किसी से कुशल प्रश्न पूछा, और ब्राह्मणों से चांडाल तक सभी को अभीष्ट वस्तुएँ देकर उनका सम्मान किया। सपत्नीक वृद्ध ब्राह्मणों और बड़े-बूढ़ों के सच्चे आशीर्वाद और बन्दीजनों का जयजयकार ग्रहण करते हुए श्रीकृष्ण ने पुरी में प्रवेश किया।

श्रीकृष्णचन्द्र जब राजमार्ग में पहुँचे, तब द्वारका की स्त्रियाँ उस श्यामसुन्दर रूप को देखने के लिए मन में उत्सुक होकर अपने-अपने घरों का छता, छज्जा और अटारियों पर चढ़ गईं। यद्यपि द्वारका के नर-नारी सदा अच्युत के शरीर की शोभा देखा करते हैं, तो भी उनका जी उससे नहीं भरता, देखने की लालसा बनी ही रहती है। जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मी के रहने का स्थान है, जिनका मुख आँखों का सौन्दर्यामृत भरकर पीने का पात्र है, जिनकी बाहु लोकपालों का आश्रयस्थल है और जिनके चरणकमलों पर भक्त भ्रमर न्योछावर है, उन श्रीकृष्ण के मनोहर रूप को देखने के लिए सदा निकटवर्ती नर-नारी यदि इस तरह दौड़ पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दोनों ओर श्वेत चँवर, सिर पर श्वेत छत्र, ऊपर फूलों की वर्षा, और उसके बीच पीताम्बर और वनमाला धारण किये हुए कृष्ण भगवान् की ऐसी अपूर्व शोभा हुई जैसे जलपूर्ण नीले बादल पर सूर्य का प्रतिबिम्ब हो, बादल के दोनों ओर चन्द्रबिम्ब, चारों ओर नक्षत्र-मंडली, बीच में मिले हुए दो इन्द्रधनुष और उस घनघटा में स्थिर बिजली चमक रही हो।

श्रीकृष्णचन्द्र पहले माता-पिता के घर में गये। देवकी आदि सातों माताओं को भगवान् ने उनके चरणों पर सिर रखकर सानन्द प्रणाम किया और माताओं ने उन्हें छाती से लगा लिया। स्नेह के कारण माताओं के स्तनों से दूध बहने लगा। वे हर्ष से विह्वल हो श्रीकृष्ण को गोद में बिठाकर आनन्द के आँसुओं से उन्हें नहलाने लगीं। वहाँ से भगवान् अपने भवन में गये, जो संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं से सजा हुआ था और जहाँ सभी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त थीं। उस भवन में सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के भवन अलग-अलग बने हुए थे। परदेश में रहकर आये हुए अपने पति श्रीकृष्णचन्द्र को देखकर रानियों को भी



हस्तिनापुर से लौटने पर भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका में स्वागत

प्रसन्नता हुई। वे भगवान् से मिलने के लिए सहसा अपने आसनों से और हृदय से उठ खड़ी हुईं और लजीली दृष्टि से स्वामी के मुखारविन्द को निहारने लगीं। पति के परदेश जाने पर स्त्री के लिए जो नियम बतलाये गये हैं, उनके साथ ही वे श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित हुईं। [ याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि क्रीड़ा, शरीर की शुद्धि और शृंगार ( सजाना ), समाज के उत्सवों को देखना, हँसना, पराये घर में जाना, ये छः बातें उस स्त्री के लिए वर्जित हैं, जिसका पति परदेश गया हो। ] गंभीर अभिप्रायवाली वे स्त्रियाँ दर्शन से पहले मन के द्वारा और सम्मुख आने पर दूर से दृष्टि के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र से मिलीं। फिर जब वह निकट आ गये, तब पुत्रों के द्वारा मिलीं, अर्थात् उनके पुत्र जो श्रीकृष्ण के गले से जा लिपटे सो मानो वे ही अपने पति से मिलीं। उस समय यद्यपि संकोचवश स्त्रियों ने आँसुओं को बहुत रोका, तथापि कुछ आनन्द के आँसू गिर ही पड़े। यद्यपि भगवान् कृष्ण अपनी प्रियाओं के समीप ही एकान्त में रहते थे, तथापि उनके चरणकमल पत्नियों को नित्य नवीन ही जान पड़ते थे, अर्थात् उन्हें पति-दर्शन की उत्कण्ठा वैसी ही बनी रहती थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। कौन सी स्त्री उनके चरणों की सेवा के लिए उत्सुक न बनी रहेगी। देखो, इतनी चंचल लक्ष्मी भी उनके चरणों को नहीं छोड़तीं!

जैसे वायु बाँसों की रगड़ से आग उत्पन्न करके उसमें उन्हें जला डालता है, वैसे ही कृष्णचन्द्र ने पृथ्वी के लिए भारस्वरूप हो रहे प्रभावशाली दुष्टात्मा राजों को कई अक्षौहिणी सेना के साथ परस्पर के वैर से नष्ट करा दिया और आप युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं किया। नरलोक में अपनी माया से अवतार लेनेवाले भगवान् ने साधारण मनुष्यों की नाईं उत्तम स्त्रियों में रमण किया। जिनकी गंभीर हाव-भाव को बतानेवाली हँसी और लजीली चितवन से हारकर मोह को प्राप्त कामदेव ने भी अपने धनुष को रख दिया, वे रमणी-रत्न रानियाँ भी अपनी लीलाओं से जिनके हृदय को अपने वश में नहीं कर सकीं, उन मुक्तसंग परमेश्वर कृष्णचन्द्र को मूर्ख अज्ञ लोग अपने समान संसार में आसक्त मानते हैं; क्योंकि वे उनके स्वरूप को जानते ही नहीं। ईश्वर की यही ईश्वरता है कि माया में स्थित होकर भी उसके गुण, सुख-दुःख उन्हें नहीं व्यापते, जैसे आत्मा के आश्रय में रहकर भी बुद्धि आत्मा में स्थित आनन्द को नहीं पाती। उन्हें और मूर्खजन तो जानते ही नहीं, उनकी रानियों ने भी उनके यथार्थ रूप को नहीं जाना। मूढ़ अबला रानियाँ स्वामी की महिमा को न जानने के कारण समझती थीं कि वह उनके वश में कामी पुरुष हैं। जैसे क्षेत्रज्ञ ईश्वर को अहंवृत्तियाँ अपने अधीन मानती हैं, वैसे ही रानियाँ श्रीकृष्ण को अपने अधीन समझती थीं।

# बारहवाँ अध्याय

## परीक्षित् के जन्म का वर्णन

शौनक ने पूछा, अश्वत्थामा ने क्रोध करके जो ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, उसके तेज से नष्ट हुए उत्तरा के गर्भ को भगवान् कृष्ण ने बचा लिया, उसे फिर जिला दिया। यहाँ तक आप वर्णन कर चुके। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि उस गर्भ से उत्पन्न महात्मा बालक का जन्म कैसे हुआ, उसने कौन-कौन से कार्य किये और अन्त में शरीर त्याग करके कैसे परमधाम की यात्रा की। अगर आप उचित समझें तो हम श्रद्धा से युक्त श्रोताओं के आगे यह सब वर्णन कीजिए। जिन परीक्षित् को स्वयं महायोगी शुकदेवजी ने ज्ञान का उपदेश किया, उनका चरित्र हम सुनना चाहते हैं।

सूतजी बोले—श्रीकृष्ण-चरण-सेवा से तुष्ट और सब विषय-भोगों से निस्पृह राजा युधिष्ठिर पिता की तरह प्रजाओं की रक्षा और पालन करने लगे। धर्मराज के पास अतुल संपत्ति थी। उन्होंने अनेक यज्ञ किये। उनकी पत्नी परम सुन्दरी सुशीला थीं। आज्ञाकारी परम पराक्रमी चार भाई थे। सारी पृथ्वी वश में थी। जंबूद्वीप के वह अधिपति थे। उनका यश स्वर्ग तक फैल गया था। किन्तु कृष्ण भगवान् में जिनका मन लग गया था, उन राजा युधिष्ठिर को ये सब देवताओं के योग्य ऐश्वर्य-वैभव वैसे ही सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे जैसे भूखे मनुष्य को वस्त्र, भूषण, सुगन्ध आदि भोग के पदार्थ नहीं रुचते।

हे शौनक, माता के गर्भ में स्थित वीर बालक जब ब्रह्मास्त्र के तेज से जलाया जा रहा था, तब उसने एक पुरुष को अपने निकट देखा। वह पुरुष अँगूठे के बराबर था, उसके सिर पर सोने का मुकुट था। वह देखने में सुन्दर श्यामवर्ण पुरुष बिजली के रंग का पीतपट पहने था। उसके सुशोभित चार भुजाएँ थीं। कानों में स्वर्ण के कुंडल झलक रहे थे। आँखें लाल और विशाल थीं। वह बालक के चारों ओर गदा घुमाता हुआ घूम रहा था। उल्का के समान घूम रही वह गदा वैसे ही अस्त्र के तेज को हटा रही थी, जैसे सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को दूर करते हैं। वह बालक उस पुरुष अर्थात् अपने रक्षक श्रीकृष्ण को देखकर अपने मन में सोचने लगा कि यह कौन हैं?

धर्म की रक्षा करनेवाले, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान् उस अस्त्र को शान्त करके दस महीने पूरे होने पर बालक के सम्मुख ही वहाँ से अन्तर्द्धान हो गये। तब सब गुणों की उत्तरोत्तर अधिकता से युक्त और अनुकूल श्रेष्ठ ग्रहों से अलंकृत शुभ लग्न में महाराज पांडु के वंश को चलानेवाले पराक्रमी परीक्षित् का जन्म हुआ, जैसे दुबारा प्रतापी पांडु ने ही जन्म लिया। उस समय प्रसन्न होकर राजा युधिष्ठिर ने धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को बुलाकर उनके द्वारा मंगलस्वस्त्ययन के साथ बालक का जातकर्म संस्कार कराया। दान के समय को जाननेवाले राजा ने उस समय प्रजातीर्थ में ब्राह्मणों और याचकों को सुवर्ण, गऊ, पृथ्वी, गाँव, हाथी, घोड़ा, वस्त्र, रत्न, उत्तम भोजन आदि दिये। विनय से सिर झुकाये खड़े हुए राजा से ब्राह्मणों ने कहा—हे राजन्, तुम्हारा वंश दुर्निवार्य कालगति से नष्ट हो रहा था, किन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने इस बालक की रक्षा की और इसे अनुग्रह करके

तुम्हें दिया, इसलिए इसका नाम विष्णुरात होगा। लोक में इसका बड़ा यश फैलेगा। यहा बड़ा भगवद्भक्त होगा, इसमें संदेह नहीं।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन्, यह अपने यशस्वी पूर्वजों के समान ही यशस्वी और प्रशंसा का पात्र होगा न?

ब्राह्मणों ने कहा—हे राजन्, निःसंदेह यह बड़ा प्रतापी और यशस्वी होगा। यह मनु के पुत्र राजा इक्ष्वाकु के समान ही प्रजा का पालक होगा। दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र की भाँति ब्राह्मणों का भक्त और सत्यवादी होगा। दान देने और शरणागत की रक्षा करने में यह उशीनर के बेटे राजा शिवि के तुल्य होगा। यज्ञ करने में राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत के समान अपने वंश के यश को बढ़ावेगा। यह धनुर्द्धरों में अग्रगण्य और अपने पितामह अर्जुन तथा सहस्रबाहु अर्जुन के समान होगा। यह समुद्र के समान दुस्तर और अग्नि के समान दुर्द्धर्ष होगा। सिंह-सा पराक्रमी, हिमाचल-सा शीतल, शान्त और सेवनीय होगा। पृथ्वी के समान क्षमा करनेवाला और पिता-माता के समान सहनशील, ब्रह्मा के समान समदर्शी और शंकर के समान शीघ्र प्रसन्न होनेवाला होगा। भगवान् विष्णु की तरह यह सब प्राणियों का आश्रयस्थल होगा। श्रीकृष्ण के समान सब अच्छे गुण इसमें होंगे। यह राजा रन्तिदेव के समान उदार और राजा ययाति के समान धर्मात्मा होगा। धैर्य में बलि के समान, श्रीकृष्ण की अटल भक्ति में प्रह्लाद के समान यह बालक वृद्धों का सेवक होगा और अनेक अश्वमेध यज्ञ करेगा। इसके पुत्र जनमेजय आदि राजर्षि होंगे। यह कुमार्गगामियों को दंड देगा। पृथ्वी और धर्म की रक्षा के लिए यह कलियुग का दमन करेगा। अन्त को मुनिपुत्र के शाप से तक्षक नाग के काटने से अपनी मृत्यु का होना जानकर यह सबका संग छोड़ विरक्त हो हरिभजन में लग जायगा। व्यासनन्दन शुकदेवजी के उपदेश से अपने रूप ब्रह्म को जानकर गंगा-तट पर प्राकृत शरीर छोड़ यह निश्चय ही अकुतोभय पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होगा।

जातक अर्थात् ज्योतिष की गणना में निपुण ब्राह्मणों ने इस प्रकार राजा युधिष्ठिर को बालक का भविष्य बतलाया। राजा ने उन सबकी यथायोग्य पूजा की, उन्हें दक्षिणा दी। फिर वे लोग अपने-अपने भवनों को गये। उस बालक का परीक्षित् नाम इसलिए पड़ा कि वह उत्पन्न होने पर लोगों की परीक्षा किया करता था कि वह पुरुष कौन है, जिसे उसने गर्भ में देखा था। वह राजकुमार युधिष्ठिर आदि के द्वारा लालन-पालन को प्राप्त होकर चौंसठ कला-विद्या की शिक्षा के साथ ऐसे बढ़ने लगा, जैसे पन्द्रह कलाओं से पूर्ण हो रहा चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में वृद्धि को प्राप्त होता है।

फिर जातिवध अर्थात् जातिभाइयों की हत्या के पाप को दूर करने के लिए राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया। किन्तु कर या दण्ड के धन को छोड़कर और धन उनके पास न था, इसलिए वह सोच में पड़ गये। राजा के विचार को जानकर कृष्णचन्द्र के बतलाने से अर्जुन आदि भाई उत्तर दिशा में गये। वहाँ राजा मरुत् के यज्ञ में छोड़ दिये गये सुवर्णपात्र आदि तथा बहुत-सा धन पड़ा हुआ था। उसे पांडव वहाँ से उठा लाये। इच्छा पूर्ण होने से प्रसन्नचित्त युधिष्ठिर ने उसीसे यज्ञ किया। सब सामग्री इकट्ठी करके श्रीमन्नारायण को प्रसन्न किया। निमंत्रण पाकर श्रीकृष्णचन्द्र भी आये और तीनों यज्ञ निर्विघ्न रूप से पूर्ण कराकर पांडवों की प्रसन्नता के लिए कई महीने हस्तिनापुर में रहे। फिर राजा से आज्ञा लेकर द्रौपदी और अन्य बन्धुओं से मिलकर यादवों के साथ उन्होंने द्वारका के लिए यात्रा की। उनके साथ इस बार अर्जुन भी गये।

# तेरहवाँ अध्याय

## धृतराष्ट्र और गान्धारी का स्वर्गवास तथा शोकाकुल युधिष्ठिर को श्रीनारद का समझाना

सूतजी कहते हैं—विदुरजी तीर्थयात्रा करने गये थे। युद्ध के समय हस्तिनापुर में नहीं रहे थे। कारण, समझाने पर दुर्योधन ने उनको बहुत-से कटु वचन कहे थे। तीर्थयात्रा में विदुर की मैत्रेय ऋषि से भेंट हो गई। विदुर ने मैत्रेय से ज्ञानोपदेश करने की प्रार्थना की। मैत्रेय ने उन्हें जानने योग्य आत्मविद्या का रहस्य बतलाया। गोविन्द में अनन्य भक्ति उत्पन्न हो जाने पर विदुर ने पहले मैत्रेय से जो कर्मयोग व्रत आदि के विषय में प्रश्न किये थे, उन्हें फिर नहीं पूछा। कारण, जो जानने योग्य तत्त्व की बात थी, सो तो वह जान ही चुके थे। वहाँ से विदुर हस्तिनापुर आये। परमबन्धु और हितैषी विदुर को देखकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे प्राण से शरीर मिले, वैसे ही राजा युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, उत्तरा, द्रोणाचार्य की भार्या कृपी तथा अन्य सब कुरुवंश की स्त्रियाँ अपने बालकों को लेकर विदुर के स्वागत के लिए उनसे मिलने चलीं। यथायोग्य सम्बन्ध के अनुसार कोई विदुर से गले मिला और किसी ने पैर छुए। सब लोग इतने दिन के विछोह की उत्कण्ठा से व्याकुल हो रहे थे। वे प्रेम के आवेश में आँसू बहाने लगे। राजा युधिष्ठिर ने बड़े आदर के साथ विदुरजी को सुन्दर आसन पर बिठाया और उनका सत्कार किया। विदुरजी जब भोजन और विश्राम करके सुखपूर्वक आसन पर बैठे, तब सबके सम्मुख नम्र भाव से राजा युधिष्ठिर ने यों कहा—

चाचाजी, जैसे पक्षी अपने बच्चों को अपने पंखों की छाँह में रखकर पालते हैं, वैसे ही हम आपकी छाया में रहकर बड़े हुए। आपने ही हमें और हमारी माता को विष, अग्नि तथा अन्य विपत्तियों से बचाया। कभी भला आप हमें याद करते थे? आप पृथ्वीपर्य्यटन करने गये थे। वहाँ आप कैसे रहे? आपने किन-किन तीर्थों और मुख्य क्षेत्रों के दर्शन किये? आपके समान भगवान् के भक्त तो स्वयं ही तीर्थ के समान औरों को पवित्र करनेवाले होते हैं, उन्हें तीर्थों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। आप भक्तों के तीर्थसेवन का प्रयोजन तो यह होता है कि पापीजनों के संपर्क से मलिन हो गये तीर्थों को अपने हृदय में स्थित श्रीमन्नारायण के द्वारा फिर पवित्र बना दे। सार यह कि आप सरीखे भगवद्भक्त तो तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले हैं, तीर्थ आपको क्या पवित्र करेंगे! हे तात, आप द्वारकापुरी में भी अवश्य ही गये होंगे। बतलाइए, श्रीकृष्णचन्द्र के अनुगत हमारे बांधव यादवों से भी आप मिले थे? उन्हें देखा-सुना था? अपनी पुरी में वे सब सुख से हैं न? कुछ न कुछ उनके कुशल समाचार तो आपने सुने ही होंगे।

इस प्रकार धर्मराज के पूछने पर विदुरजी ने जो कुछ यादवों का वृत्तान्त उन्हें विदित था, और जिन-जिन तीर्थों में वह गये थे, सो सब कह सुनाया। केवल यही नहीं कहा कि सब यादव आपस में लड़कर मर गये, यदुवंश का विनाश हो गया। इसका कारण यही है कि जो कोई अप्रिय समाचार हो, जिसका शोक सहा न जा सकता हो पर जो आप ही कुछ समय पाकर विदित हो जानेवाला हो, उस वृत्तान्त को दयालु पुरुष कभी नहीं कहते; क्योंकि वे किसी को दुःखित नहीं देख सकते।

देवताओं के समान आदर-सत्कार पाते हुए विदुरजी बड़े भाई का कल्याण करने के विचार से सबको प्रसन्न करते हुए कुछ समय तक सुखपूर्वक वहाँ रहे। जब तक सौ बरस तक यमराज माण्डव्य मुनि के

शाप से शूद्र योनि को प्राप्त कर विदुर के रूप से मनुष्यलोक में रहे, तब तक अर्यमा देवता पापियों को दंड देने का यमराज का काम करते रहे*।

राज्य पाकर राजा युधिष्ठिर परम लक्ष्मी और ऐश्वर्य के अधिपति हुए। उनके भाई लोकपालों के समान प्रतापी थे और वह वंश पालनेवाले सुयोग्य पोते का मुँह भी देख चुके थे, इससे उन्हें परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। इस प्रकार गृहस्थी के सुख में आसक्त होने के कारण काल की ओर से असावधान पांडवों की आयु समाप्त हो गई और वह परम प्रबल अन्तकाल आ गया, जिसे निवृत्त करने का कोई उपाय नहीं है। यह जानकर विदुरजी अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के पास गये और उनसे कहने लगे—हे राजन, अब आप शीघ्र घर से निकल चलिए। देखिए, यह मृत्युरूप बड़ा भारी भय उपस्थित है। हे प्रभो, जिसे रोकने का कोई उपाय



नहीं है, जिसको कोई टाल नहीं सकता, वही यह हम सब लोगों का काल (मृत्यु का समय) निकट आ गया है, जिस काल के आने पर लोगों के अत्यन्त प्रिय प्राण भी छूट जाते हैं, अन्य धन आदि की तो कोई बात नहीं! देखिए, आपके पिता, भाई, सुहृद् और पुत्र आदि सब मारे जा चुके हैं। अवस्था भी बीत गई, शरीर को वृद्धावस्था ने शिथिल कर दिया है। फिर भी आप पराये घर में पड़े हुए हैं! अहो, मनुष्य की जीवन की आशा बड़ी प्रबल है। उसी के कारण तो आप भीमसेन का दिया हुआ अन्न द्वार की रखवाली करनेवाले कुत्ते की नाईं खा रहे हैं। यदि कहो कि वे कोई अन्य थोड़े ही हैं, मेरे भतीजे ही तो हैं, तो जिन्हें आग में जलाना चाहा, भोजन में विष देकर मार डालने का उद्योग किया, जिनकी स्त्री का भरी सभा में अपमान किया, जिनका राज्य छल से छीन लिया, उन्हीं के दिये हुए अन्न से पलकर जीने से क्या सुख है? फिर आप लाख जीते रहना चाहें, पर यह असंभव है। आपकी इच्छा न रहने पर

---

* इसका कथा यों है कि माण्डव्य ऋषि तप कर रहे थे। उधर चोरों का पीछा करते हुए राजा के सैनिक (सिपाही) उनके आश्रम में पहुंचे। वहां धनपहुंचे चोरों को देखकर उनके साथ ही मुनि को भी वे पकड़कर ले गये। राजा ने सबको सूली पर चढ़वा दिया। पीछे जब राजा को विदित हुआ कि माण्डव्य ऋषि तो हैं, चोर नहीं हैं, तब उन्हें सूली से उतारकर राजा ने बड़ी विनय की। मुनि ने कहा, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं, दोष यमराज का है। तब मुनि क्रोध करके यमलोक को गये और यमराज से अपने सूली चढ़ाये जाने का कारण पूछा। यमराज ने कहा, तुम लड़कपन में एक टिड्डों को कुशा की नोक में छेदकर खेल रहे थे, उसीका तुम्हें यह दंड मिला। तब मुनि ने यह कहकर उन्हें शाप दिया कि बाल्यावस्था में बिना जाने मुझसे यह पाप बन पड़ा था। उस समय का पाप-पुण्य एक तो माना नहीं जा सकता दूसरे छोटे पाप का इतना कठोर दंड तुमने मुझे दिया। इससे तुमको शूद्र योनि में जन्म लेना पड़ेगा। वही यमराज मनुष्यलोक में आकर दासी के पुत्र विदुर हुए।

भी यह शरीर जरा से जर्जर होकर आप ही आप काल के आने पर फटे-पुराने वस्त्र की नाईं छूट जायगा। जो कोई पहले ही अभिमान-बन्धन को काटकर स्वार्थ साधने में असमर्थ वृद्ध शरीर को छोड़ने के लिए वन मे जाकर ईश्वर का भजन करता है, वही धीर पुरुष कहलाता है। जो मनुष्य अपने हृदय में आप ही उत्पन्न हुए ज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त कर संसार से विरक्त हो जाय और हृदय में श्रीहरि को बसाकर घर से चल दे, वही श्रेष्ठ पुरुष है। इसलिए अब आप शीघ्र यहाँ से निकलकर उत्तर दिशा को हिमालय की ओर जाइए। आपने जो कुछ अब तक किया, उसका फल आपने देख लिया और यह भी जान लिया कि जितना समय बीतेगा, उतना ही काल आपक बुद्धि, धैर्य आदि गुणों को नष्ट कर देगा। अब आपके जानने के लिए कुछ शेष नहीं है।

अन्धे राजा धृतराष्ट्र को छोटे भाई विदुर ने जब इस प्रकार ज्ञान का उपदेश किया, तब वह बन्धु-बान्धवों के स्नेहरूप दृढ़ बन्धन को उसी समय काटकर विदुर के दिखलाये हुए मोक्ष के मार्ग में चल दिए। पति को जाते देखकर पतिव्रता गान्धारी भी साथ ही हिमालय को चल दीं। यद्यपि हिमालय के मार्ग मे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु जैसे वीर लोगों को युद्ध के प्रहार हर्ष ही देते हैं, वैसे ही संन्यासी निःसंग पुरुषों को वहाँ के कष्ट हर्षदायक ही होते हैं।



इधर सबेरे उठकर सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से छुट्टी पाकर ब्राह्मणों को प्रणाम करके उन्हें तिल, गऊ, भूमि, सुवर्ण आदि दान देकर राजा युधिष्ठिर जब नित्य की भाँति चाचा और चाची के चरण छूने को गये, तब उन्हें वहाँ धृतराष्ट्र या गान्धारी कोई न देख पड़ा। तब वहाँ पहले ही से उपस्थित संजय को देखकर घबराये हुए युधिष्ठिर पूछने लगे—हे संजय, हमारे वृद्ध और अन्धे चाचा और पुत्रों के मारे जाने से दुःखित माता गान्धारी कहाँ हैं? हमारे हितैषी चाचा विदुर भी तो नहीं देख पड़ते। वह कहाँ गये? मुझ दुष्टबुद्धि ने उनके पुत्रों को मार डाला, इसी कारण शोक के मारे चाचा और चाची ने गंगा में गिरकर आत्महत्या तो नहीं कर ली! पिता पांडु का स्वर्गवास होने पर मेरी और मेरे भाइयों की स्नेहपूर्वक सब कष्टों से रक्षा करनेवाले मेरे दोनों चाचा यहाँ से कहाँ चले गये?

सूतजी कहते हैं—संजय पर धृतराष्ट्र की बड़ी कृपा और स्नेह था। उसे स्मरण करके संजय स्वयं धृतराष्ट्र के वियोग से खिन्न और व्याकुल हो रहे थे। इस कारण कुछ देर तक तो वह युधिष्ठिर को कुछ भी उत्तर न दे सके। उसके उपरांत हाथों से आँसू पोंछकर और धैर्य धारण करके अपने को सँभालकर अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों को स्मरण करते हुए संजय ने युधिष्ठिर से कहा—हे कुरुनन्दन, मुझे नहीं विदित कि आपके चाचा-चाची किस प्रकार से, कब और कहाँ चले गये। महाराज, मुझे तो इन महात्माओं ने बड़ा धोखा दिया।

इस प्रकार संजय और युधिष्ठिर शोक कर ही रहे थे कि इसी समय तुम्बुरु गन्धर्व के साथ देवर्षि

भगवान् नारदजी वहाँ आकर उपस्थित हुए। युधिष्ठिर ने उठकर नारदजी का स्वागत-सत्कार और पूजन किया। उसके अनंतर कहा, भगवन्, मुझे नहीं मालूम कि मेरे दोनों चाचा यहाँ से कहाँ चले गये। पुत्रों के वध से दुःखित तपस्विनी चाची का भी कुछ पता नहीं है। अपार नदी के बीच नाविक के समान आप ही इस शोकसागर से मुझे उबार सकते हैं।

यह सुनकर मुनिवर नारद ने कहा—राजन्, यह सारा जगत् ईश्वर के अधीन है। इस कारण तुम किसी के लिए शोक न करो। ये सब लोक और लोकपाल उसी ईश्वर की इच्छा के अनुसार काम करते हैं। ऐसा करने के लिए वे विवश हैं। वही कालरूप भगवान् सबका परस्पर संयोग और वियोग कराते हैं। जैसे नथे हुए बैल अपनी छोटी रस्सियों में बँधे होते हैं और उसी रस्सी के संकेत पर स्वामी की इच्छा के अनुसार चलते हैं, वैसे ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विधान करनेवाली वेदवाणी में ब्राह्मण और ब्रह्मचारी आदि वर्णाश्रमरूप नामों से बँधे जीव उसी परमेश्वर की इच्छा और वेद की प्रेरणा से कर्म करते हैं। जैसे खेलनेवाले बालक की इच्छा से खिलौने कभी एक जगह मिल जाते हैं, कभी अलग-अलग हो जाते हैं, और कभी टूट-फूट जाते हैं, वैसे ही ईश्वर की इच्छा से प्राणियों का संयोग और वियोग होता है। फिर यदि आप जीवरूप से इस मनुष्य को नित्य मानते हैं, अथवा देहरूप से अनित्य मानते हैं, या शुद्ध ब्रह्मरूप से नित्य-अनित्य दोनों नहीं मानते, तो किसी भी रूप से आपको इसका शोक नहीं करना चाहिए। नित्य का नाश नहीं, अनित्य का शोक ही क्या! ब्रह्मरूप में शोक के लिए स्थान ही नहीं और जीव को ईश्वराधीन मानने पर अपना कुछ वश ही नहीं, इसलिए शोक करना व्यर्थ है। इसलिए सर्वथा तुम्हें अपने चाचा-चाची के लिए शोक न करना चाहिए। यह तो केवल अज्ञान से उत्पन्न मोह तुम्हें स्नेह के वश करके इस प्रकार शोक से व्याकुल कर रहा है। इसलिए आत्मा को माया-मोह में फँसानेवाले इस अज्ञानजनित भाव को त्याग दो कि हाय मेरे अनाथ अंधे चाचा और चाची वन में मेरे बिना कैसे रहेंगे। राजन्, यह पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों से बना हुआ जड़ स्थूल शरीर काल, कर्म और माया के गुणों के अधीन है। काल के गुणों का क्षोभ होता है, कर्म जन्म का कारण है और गुण इसका उपादान कारण है। यह स्वयं नाशशील है, फिर औरों की क्या रक्षा करेगा! जैसे अजगर साँप ने जिसे पकड़ लिया है, वह दूसरे को क्या बचावेगा! जिनके हाथ नहीं उन्हें हाथोंवाले, जिनके पैर नहीं उन्हें चार पैरोंवाले जीव, और जो छोटे हैं, उन्हें बड़े जीव खा जाते हैं। जीव ही जीव के जीवन का उपाय या आहार है। निदान यह कि सबकी वृत्ति ईश्वर ने बना दी है, उसका सोच वृथा है। और सभी का नाश होता है, इस कारण इसका भी सोच व्यर्थ है। [अब राजा के मोह को दूर करने के लिए द्वैत की अयथार्थता बतलाते हैं।] आप माया के भय से इस जगत् और जीव को ईश्वर से भिन्न देखने के कारण इस प्रकार शोक और मोह को प्राप्त हैं। यह सब ईश्वर ही है। ये जो हाथ-पैर आदि से युक्त और हीन छोटे-बड़े जीव हैं, सो सब एक ईश्वर ही हैं। वह ईश्वर एक ही है, अनेक नहीं। अपनी माया से वह अनेक जान पड़ता है। हे महाराज, उन्हीं कालरूप भूत-भावन भगवान् ने देवद्वेषी दुष्टों का विनाश करने के लिए इस पृथ्वी पर अवतार लिया है। वह देवताओं का सब कार्य कर चुके हैं। अब केवल यदुकुल का संहार शेष है। उसी की प्रतीक्षा में हैं। जब तक ईश्वर कृष्णचन्द्र इस लोक में हैं, तब तक तुम पांडव भी इस पृथ्वी पर रहो। आपके चाचा धृतराष्ट्र अपने भाई विदुर और पत्नी गान्धारी के साथ हिमवान् पर्वत के दक्षिण ओर, जहाँ ऋषियों के आश्रम हैं, गये हैं। उस स्थान का नाम सप्तस्रोत है। सप्तर्षियों की प्रसन्नता के लिए गिरकर गंगाजी सात धाराओं से वहाँ आई हैं, इसीसे उसको सप्तस्रोत कहते हैं। वहाँ शांतचित्त होकर वह नित्य स्नान करके विधिपूर्वक अग्नि में हवन करते हैं। केवल जल पीकर रहते हैं। अर्थात् यम-नियम का पालन कर रहे हैं। अष्टांग

योग* के अभ्यास में लगे हैं। उन्होंने पहले आसन को साधकर प्राणायाम से श्वास को वश में कर लिया है। मनसहित छः इन्द्रियों को रूप, रस आदि विषयों से हटा लिया है। श्रीहरि के ध्यान से तीनों गुणों के विकार काम-क्रोध आदि को मिटा दिया है। अहंकार के आधार मन को स्थूल देह से अलग करके विज्ञानात्मक बुद्धि में मिला दिया है। बुद्धि को दृश्य अंश से अलग करके द्रष्टा क्षेत्रज्ञ आत्मा में मिला लिया है, जैसे घटाकाश को घट की उपाधि से अलग करके महाकाश में मिला दिया जाता है। [ तात्पर्य यह है कि पदार्थ दो हैं—दृक् और दृश्य। दृक् आत्मा और दृश्य जड़ शरीर है। वह तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। अज्ञान से चित् और जड़ का तादात्म्य वैसे ही हो गया है, जैसे आग में तप्त (उष्ण) करने से लाल होकर लोहा अग्नि हो जाता है। इसीको अहंकार कहते हैं। योगी को चाहिए कि 'देह में हूँ' इस अहंकार को विवेकबुद्धि से छोड़ कर 'मैं देह का साक्षी जीव हूँ' ऐसा सोचे। फिर इस भावना को भी छोड़ दे और सोचे कि 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ'। फिर इसे भी छोड़कर सोचे कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ'। यही क्रम ऊपर नारदजी ने कहा है।] राजन्, धृतराष्ट्र ने माया के गुणों से होनेवाले कर्मों को छोड़ दिया है, अतएव माया के साथ उसकी वासना भी जाती रही है। जब वासना (लिंग शरीर) जाती रही, तब वह मुक्ति के योग्य हो गये। इस समय सब इन्द्रियाँ उनके वश में हैं, और वह इन्द्रियों को विषयों से हटाकर निश्चल पत्थर के सदृश अटल समाधि में स्थित हैं। मेरी बात मानो, इस समय सब कर्म से निवृत्त पूर्ण संन्यासी धृतराष्ट्र के निकट जाकर उनकी मुक्ति में विघ्न न डालना। [ नारदजी ने यहाँ अन्तिम दोष को कहा है। योगी जब समाधिस्थ हो, तब उसमें विघ्न डालने से निम्नलिखित नव दोष उपस्थित होते हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकता और चंचलता। इनका विशेष विवरण पातंजल योगसूत्र में मिलेगा। इसीसे नारदजी कहते हैं कि तुम इस समाधि अवस्था में जाकर उनसे मिलने या उन्हें घर लौटाने की चेष्टा न करना। इस अवस्था में तनिक भी अन्यमनस्क होने या वार्तालाप करने से उसी दम उक्त नव दोष उपस्थित होते हैं, जिनके कारण योगी योगभ्रष्ट हो जाता है।] आज के पाँचवें दिन धृतराष्ट्र अपने शरीर को छोड़ देंगे, और वह भस्म हो जायगा। बाहर से, पतिव्रता गान्धारी जब देखेंगी कि कुटी के साथ योगाग्नि से उनके पति का शरीर जल रहा है, तब वह भी उसी अग्नि में प्रवेश करके सती हो जायँगी। इस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर विदुर भी हर्ष और शोक से युक्त होकर तीर्थयात्रा के लिए चल खड़े होंगे।

यह कहकर तुम्बुरु के साथ नारदजी स्वर्गलोक को चले गये। धर्मराज ने भी नारद मुनि के समझाने से शोक त्याग दिया।

---

*यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अंग हैं। इन्हीं के करने से मनुष्य पूर्ण योगी होता है। ममता-माया का त्याग 'यम', स्नान-हवन आदि 'नियम' कहलाते हैं। हाथ पैर आदि को भिन्न-भिन्न प्रकार से जोड़कर बैठने को 'आसन' कहते हैं। श्वास के चढ़ाने, रोकने और उतारने की क्रिया 'प्राणायाम' कहलाती है। इन्द्रियसहित मन के दमन को 'प्रत्याहार' और ईश्वर की भावना को 'धारणा' कहते हैं। धारणा को विषयरूप से गुणातीत करने को 'ध्यान' कहते हैं, अर्थात् इसमें अपने को ईश्वरमय विचारना होता है और गुणों का त्याग करना पड़ता है। आत्मा को परमात्मा जानकर शरीर को केवल आधार-स्वरूप मानना 'समाधि' है। इस अवस्था में भूख-प्यास आदि का कुछ बाहरी ज्ञान नहीं रहता; बुद्धि भीतर ही आनन्द में लीन हो जाती है। यही परमानन्द है। इस अवस्था में इन्द्रियाँ अपना काम बन्द कर देती हैं, केवल प्राणवायु शरीर में रुका रहता है।

# चौदहवाँ अध्याय

## अर्जुन का द्वारका से लौट आना

सूतजी कहते हैं, अर्जुन अपने बन्धु यादवों से मिलने और कृष्णचन्द्र अब क्या करना चाहते हैं, यह जानने के लिए द्वारका को गये थे। वहाँ अर्जुन को सात महीने बीत गये। इधर धर्मराज उनके न लौटने से चिन्ता में पड़े हुए थे। इसी समय उन्हें हस्तिनापुर में घोर उत्पात देख पड़ने लगे। उन्होंने देखा कि जिस समय जो ऋतु होनी चाहिए, वह ऋतु नहीं होती, अर्थात जाड़े में गर्मी, गर्मी में जाड़ा हो रहा है। क्रोध, लोभ, और मिथ्या के वश होकर लोग अन्याय और पाप से जीविका चलाने लगे हैं। व्यवहार में कपट छा गया है। मित्रता में लोग वंचना करने लगे है। माता-पिता, संबंधी, भाई और पति पत्नी परस्पर लड़ते-झगड़ते है। इस प्रकार अत्यन्त अशुभ लक्षण और लोगों की लोभ आदि अधर्म की ओर झुकती हुई प्रवृत्ति को देखकर राजा युधिष्ठिर ने अपने भाई भीमसेन से यों कहा—

देखो भाई, अर्जुन को मैंने यादवों से मिलने और श्रीकृष्णचन्द्र अब क्या करना चाहते हैं, यह जानने के लिए द्वारका भेजा था। सात महीने बीत गये, पर अभी तक अर्जुन लौटकर नहीं आये। इसका क्या कारण है, मुझे तो कुछ विदित नहीं होता। मुझे तो जान पड़ता है कि नारदजी का बतलाया हुआ वह समय आ गया, जब कृष्ण भगवान् अपने लीला-शरीर को छोड़ेंगे। उन्हीं श्रीकृष्ण की कृपा और सहायता से हमें ऐसी संपत्ति, राज्य, जीवन, स्त्री, कुल, प्रजा और वैभव प्राप्त हुआ, हमने शत्रुओं पर विजय पाई, और स्वर्गगति देनेवाले यज्ञ हम कर सके। हे पुरुषसिंह, आकाश और पृथ्वीतल पर अनेक उत्पात दिखाई पड़ रहे हैं। शरीर में अनेक असगुन हो रहे हैं। ये किसी घोर भय की सूचना दे रहे है। मेरी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। देखो, मेरी बाईं आँख, जाँघ और भुजा बार-बार फड़क रही है, और हृदय धड़क रहा है। इससे विदित होता है कि शीघ्र ही मेरा कुछ अकल्याण होनेवाला है, कुछ अप्रिय घटना होगी। वह सियारी उदय हो रहे सूर्यमंडल की ओर मुख करके रो रही है। उसके मुख से आग की ज्वालाएँ निकल रही है। देखो भाई, वह कुत्ता निडर होकर मेरी ओर मुख करके रो रहा है। शुभ पशु गऊ आदि मुझे बाईं ओर करके जाते हैं और अशुभ पशु गधे आदि मुझे दक्षिण ओर करके जाते दिखलाई पड़ते हैं। मुझे अपने वाहन घोड़े आदि रोते हुए दिखाई पड़ते हैं। मृत्यु के दूत कबूतर, उल्लू और कौआ ये तीनों पक्षी दिनरात कठोर शब्द से बोलकर मेरे हृदय को भय से कंपा रहे हैं। कारण, इनके यों बोलते रहने का फल यह है कि सारा जगत् शून्य हो जाय। सब दिशाओं में जैसे धुआँ छाया हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा के बिम्बों में घेरा पड़ा दिखाई पड़ता है। पर्वतों सहित सारी पृथ्वी काँप रही है, अर्थात भूचाल हो रहा है। बिना बादल के बिजली गिरती और कड़कती है। शरीर के लिए कठोर स्पर्शवाली दारुण आँधी चलती है, जिससे उड़नेवाली धूल दशों दिशाओं को अंधकार से ढक देती है। मेघों से रुधिर की बूँदें बरसती है। चारों ओर वीभत्स दृश्य देख पड़ता है। सूर्य का तेज सर्वशः (बिल्कुल) फीका पड़ गया है। आकाश में ग्रह परस्पर लड़ते देख पड़ते हैं। आकाश और अन्तरिक्ष में भूतगण, यक्ष और राक्षस एकत्र हैं। आकाश और अन्तरिक्ष में जैसे आग लग गई हो, ऐसा जान पड़ता है। नदी, नद, सरोवर और मनुष्यों के मन क्षोभ को प्राप्त और चंचल हो रहे हैं। घी डालने पर भी आग नहीं जलती, जैसे बुझी जाती है। यह काल क्या अनर्थ करेगा! गउओं के बछड़े मा का थन नहीं पीते, और गउओं के थनों में दूध ही नहीं उतरता। गउएँ रो रही

हैं, उनकी आँखों में आँसू भरे हुए हैं। गोशाला में बैल नहीं प्रसन्न देख पड़ते। देवतों की मूर्त्तियाँ जैसे रो रही हैं। पाषाण-मूर्त्तियों के पसीना छूट रहा है। वे पसीज रही हैं। वे मानो सजीव होकर चलना चाहती हैं। देखो, इन जनपद, गाँव, पुर, वाटिका, आश्रम आदि की शोभा जैसे जाती रही है, कहीं भी आनन्द नहीं देख पड़ता। भाई, ये पृथ्वी, आकाश और शरीर में प्रकट उत्पात हमें किस आनेवाले घोर दुःख की सूचना दे रहे हैं ? मैं तो इन दारुण उत्पातों को देखकर यह अनुमान करता हूँ कि निश्चय ही वे वज्र, अंकुश, आदि की अद्वितीय रेखाओं से अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्र के चरणकमल अब इस पृथ्वीतल पर नहीं हैं। इस पृथ्वी का वह सौभाग्य नष्ट हो गया।

हे मुनिवर, घोर उत्पात देखकर राजा युधिष्ठिर इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि इसी समय द्वारका से लौटकर अर्जुन आ गये। अर्जुन आतुर की भाँति निश्चल भाव से अपने बड़े भाई के पैरों पर गिर पड़े। सिर झुकाये हुए आँसू बहा रहे अर्जुन की ऐसी अपूर्व दशा देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर को नारदजी की बातें याद आ गईं। तब वह घबराकर सुहृद्गण के बीच तेज से हीन भाई अर्जुन से यों प्रश्न करने लगे—

हे भाई अर्जुन, मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, सात्वत, अंधक और वृष्णि वंश के यादव, जो हमारे आत्मीय स्वजन हैं, द्वारकापुरी में सुखपूर्वक निवास करते हैं न ? हमारे मातामह (नाना) शूरसेन और माननीय मातुल (मामा) वसुदेवजी अपने भाइयों के साथ कुशल से हैं न ? वसुदेव की पत्नियाँ हमारी मामी देवकी आदि सातों बहनें, उनके पुत्र और बहुएँ कुशल से हैं न ? उग्रसेन तो अभी जीवित हैं, जिनका पुत्र दुष्ट स्वभाववाला पापी कंस था ? उग्रसेन के भाई देवक और वीर कृतवर्मा, जयन्त, गद, सारण, अक्रूर, शत्रुजित आदि सब यादव सुखी तो है न ?



सब यादवों के स्वामी भगवान् बलभद्र कुशल और सुख से है न ? सब यादवों में श्रेष्ठ महारथी वीर प्रद्युम्न तो कुशल से हैं ? गंभीर वेगवाले अनिरुद्ध की कुशल कहो। सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती के पुत्र साम्ब, श्रीकृष्ण के पुत्रों में श्रेष्ठ ऋषभ और उनके पुत्र सब सुख से हैं न ? श्रीकृष्ण के परमभक्त उद्धव, श्रुतसेन, यादवों में मुख्य सुनन्द, नन्द, और श्रीकृष्ण-बलदेव की भुजाओं के आश्रित हमारे सुहृद् सब यादव कुशल से है न? ये सब कभी हमें भी याद करते हैं ? ब्राह्मणों के भक्त और रक्षक भक्तवत्सल भगवान् कृष्णचन्द्र तो द्वारका नगरी की सुधर्मा-सभा में सुखपूर्वक विराजमान हैं न ? संसार के मंगल, कल्याण, और उन्नति के लिए जो आदिपुरुष अनन्त भगवान् बलदेव के साथ यादवकुल में शोभायमान हैं, जिनके बलशाली बाहुओं द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरी में यादव लोग महापराक्रमी वीर पुरुषों की तरह बड़े आनन्द से स्वतन्त्रता के साथ विहार करते हैं, उन कृष्ण भगवान् से बढ़कर और कौन इस संसार में प्रशंसा अथवा पूजा के योग्य है ! जिन श्रीकृष्ण के चरणों की सेवारूप मुख्य कर्म के करने से सत्यभामा आदि सोलह हज़ार रानियाँ इन्द्राणी से अधिक सौभाग्यशालिनी हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण की सहायता से रण में इन्द्र आदि देवतों को परास्त करके कल्पवृक्ष आदि देवभोग्य वस्तुएँ छीन लाती हैं; जिन कृष्ण के बाहुबल के अभ्युदय से

निर्भय यादव लोग इन्द्र की सुधर्मा सभा में बैठते हैं, देवतों के बैठने के योग्य सुधर्मा सभा को जिन श्रीकृष्ण ने बलपूर्वक उग्रसेन के लिए मँगा लिया है, वह गोविन्द तो कुशलपूर्वक हैं न ? और भैया, तुम तो कुशल से हो ? मुझे इस समय तुममें वह तेज नहीं देख पड़ता, जो पहले था। बहुत दिन रहने के कारण द्वारका में तुम्हारा अनादर तो नहीं हुआ ? या क्या वहाँ तुम्हारा सम्मान नहीं हुआ ? किसी ने तुम्हें कठोर वचन तो नहीं कहे, या ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने किसी याचक को विमुख लौटा दिया, अथवा किसी याचक को उसकी आशा के अनुरूप देने का वादा करके उसे पूरा नहीं कर सके या पूरा नहीं किया ? तुमने अपनी शरण मे आये हुए ब्राह्मण, बालक, गऊ, वृद्ध, रोगी या स्त्री अथवा अन्य किसी प्राणी को यों ही तो लौटा नहीं दिया ? शरणागत की रक्षा करना तुम्हारा प्रण था, उसे तो तुमने नहीं तोड़ा ? अर्जुन, तुमने स्वीकार करने के योग्य स्त्री को तो अस्वीकार नहीं कर दिया, या अगम्यागमन तो नहीं कर बैठे ? अपने से नीच या बराबर के बली से तो युद्ध में तुम्हें नीचा नहीं देखना पड़ा ? जिन्हें पहले भोजन कराना चाहिए ऐसे किसी वृद्ध, बालक या ब्राह्मण को पहले भोजन कराये बिना तो तुमने भोजन नहीं कर लिया ? अथवा तुमने ऐसा कोई निन्दित कार्य तो नहीं कर डाला जो तुम्हारे योग्य न था ? कहीं अपने परमप्रिय एकहृदय अर्थात् अन्तरंग मित्र और हितकारी श्रीकृष्ण का वियोग तो तुमको नहीं हुआ ? तुम्हारे यों चिन्तित और तेज से हीन होने का और कोई कारण नहीं हो सकता।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## पांडवों का स्वर्गारोहण

सूतजी कहते हैं, कृष्ण के सखा अर्जुन श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग-दुःख से पीड़ित थे ही, इधर उनकी चेष्टा और आकृति देखकर राजा युधिष्ठिर ने तरह-तरह के सन्देह प्रकट किये, जिससे उनका शोक और भी बढ़ गया। उनका मुखकमल और हृदयकमल सूख रहा था। मुखमंडल का तेज नष्ट हो गया था। अपने स्वामी श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान करके वह रोने लगे। आँसुओं से कंठावरोध हो जाने के कारण कुछ समय तक तो वह भाई को कुछ भी उत्तर न दे सके। उमड़े हुए आँसुओं के वेग को कठिनता से रोककर अर्जुन ने निकले हुए आँसुओं को पोंछा। श्रीकृष्ण के प्रेम और उनके दर्शन की उत्कण्ठा से व्याकुल हो रहे अजुन ने किसी तरह अपने को सँभाला। श्रीकृष्णचन्द्र की उस मित्रता, सुहृद्भाव और सारथी आदि के काम करने की सरलता को स्मरण करते हुए वीर अर्जुन ने गद्गद वाणी में अपने बड़े भाई के आगे यों कहना शुरू किया—

हे महाराज, बन्धुरूपी हरि ने मुझे बड़ा धोखा दिया। मेरे जिस प्रचण्ड तेज और पराक्रम को देखकर शंकर, इन्द्र आदि देवतों को विस्मय होता था, वह तेज उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र के साथ चला गया। जिन आत्मारूप श्रीकृष्ण का वियोग होने पर क्षण ही भर में यह दशा हो जाती है कि लोग उस शव की ओर देखना भी नहीं चाहते—जिस शरीर को पत्नी अपना प्रिय पति और पुत्र अपना पूज्य पिता मानता है उसीको प्राण निकल जाने पर मृतक कहकर वे ही लोग जल्दी से जल्दी जला डालते हैं—जिन श्रीकृष्ण के बल से हाथ में धनुष लेते ही मैंने राजा द्रुपद के यहाँ आये हुए राजों के तेज और प्रभाव को हर लिया और धनुष चढ़ाकर मछली के निशाने को बेधकर द्रौपदी सी पत्नी प्राप्त की, वह श्रीकृष्णचंद्र

मुझे धोखा देकर चले गये। जिन श्रीकृष्ण के पास रहने पर मैंने अग्नि को खाण्डववन जलाने के लिए दे दिया और देवगणसहित इन्द्र को बलपूर्वक युद्ध में जीत लिया, जिन श्रीकृष्ण की कृपा से खाण्डववन में जलने से मयासुर को बचाकर मैंने आपके लिए अद्भुत कारीगरीवाली सभा बनवा ली और आपके यज्ञ में सब दिशाओं से राजों ने आकर आपको भेटें दीं और आपकी अधीनता स्वीकार की, वही श्रीकृष्णचन्द्र मुझे धोखा देकर चले गये। जिनके तेज की सहायता से राजसूय यज्ञ पूर्ण करने के लिए दस हज़ार हाथी का बल रखनेवाले आपके अनुज आर्य भीमसेन ने राजों के मुकुटमणि जरासन्ध को मारा, तथा जरासन्ध ने महा-भैरव की बलि देने के लिए जिन राजों को पकड़कर क़ैद कर रक्खा था, उन्हें छुड़ाया, और वे राजा भेटें ले लेकर आपके यज्ञ में उपस्थित हुए, वह श्रीकृष्ण मुझे धोखा देकर चले गये। राजन्, आपके राजसूय यज्ञ में महाभिषेक में देवी द्रौपदी ने जो अपूर्व सुन्दर वेणी बाँधी थी, उसे जिन कपटी दुष्ट दुःशासन आदि ने भरी सभा में खोलकर द्रौपदी का और हमारा अपमान किया था, उन्हें मारकर जिन्होंने पैरों पर पड़कर रो रही द्रौपदी को सांत्वना देने के लिए उनकी विधवा स्त्रियों को ऐसा कर दिया कि वे बाल खोले हुए छाती पीटती रोने लगीं, वह श्रीकृष्ण मुझे धोखा देकर चले गये। वन में जब हम रहते थे, तब दुष्ट दुर्योधन के भेजे हुए परम क्रोधी दुर्वासा मुनि अपने दस हज़ार शिष्यों के साथ हमारे यहाँ अतिथि होकर उपस्थित हुए। उस समय जिन्होंने पात्र में लगे हुए शाककण को खाकर त्रिलोकी को तृप्त कर दिया, और जल में शिष्यों सहित स्नान कर रहे दुर्वासा उधर ही से तृप्त होकर लौट गये और उस दुरन्त संकट से हमारी रक्षा हो गई,* वह कृष्णचन्द्र मुझे धोखा देकर चले गये। जिनके तेज या प्रताप से मैंने पार्वती के साथ किरात का वेष किये हुए भगवान् शंकर को युद्ध करके विस्मित कर दिया और उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे अपना पाशुपत अस्त्र दिया, साथ ही और-और देवतों ने भी अपने-अपने अस्त्र दिये; जिनकी कृपा से मैं इसी शरीर से इन्द्रलोक पहुँच गया और इन्द्र ने अपने बराबर अपने आधे सिंहासन में मुझे बिठलाया, वह श्रीकृष्ण मुझे धोखा देकर चले गये। इन्द्रलोक में इन्द्र का अतिथि होकर कुछ दिन तक जब मैं विहार करता रहा, तब जिनके प्रताप से इन्द्र आदि देवतों ने भी अपने शत्रु निवाच-कवच नाम के दानवों को मारने के लिए गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी भुजाओं का सहारा लिया था, उन्हीं कृष्णचन्द्र ने आज मुझे धोखा दिया। महाराज, राजा विराट् के यहाँ जब कौरवों ने जाकर उनकी

* यह कथा महाभारत में है। एक समय दुर्वासा को दुर्योधन ने शिष्यों के साथ भोजन कराया। दुर्वासा ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तो दुर्योधन ने कहा—भगवन्, युधिष्ठिर हमारे कुल में बड़े हैं। इन शिष्यों के साथ आप उनके भी अतिथि हों। पर जब द्रौपदी भोजन कर चुके, तब जाइएगा, जिसमें उन्हें बहुत देर तक भूख का कष्ट न उठाना पड़े। 'तथास्तु' कह कर दुर्वासा युधिष्ठिर के पास गये। युधिष्ठिर ने कहा, आप स्नान कर आइये, यहाँ आपके भोजन की तैयारी होती है। दुर्वासा और उनके शिष्य स्नान करने गये। द्रौपदी बहुत चिन्तित हुई, क्योंकि दुर्वासा को भोजन न करा सकने में यह डर था कि वह शाप दे देंगे। और भोजन इतने आदमियों को करा सकना भी असंभव था। कारण, सूर्य ने प्रसन्न होकर जो अक्षय पात्र दिया था, उससे जब तक द्रौपदी भोजन न करे, तब तक तो यथेष्ट भोजन-सामग्री प्राप्त हो सकती थी। परन्तु द्रौपदी के भोजन कर चुकने पर फिर कुछ भी नहीं मिल सकता था। इस समय द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं। द्रौपदी ने इस संकट के समय कृष्ण का स्मरण किया। कृष्ण भी रुक्मिणी को छोड़कर उसी समय वन में युधिष्ठिर के समीप पहुँचे। द्रौपदी से सब वृत्तान्त सुनकर भगवान् ने कहा, ख़ैर, यह सब पीछे देखा जायगा, पहले मुझे भोजन के लिए कुछ दो। बड़ी भूख लगी है। द्रौपदी ने लजाकर कहा, भगवन्, क्या दूँ अब तो कुछ भी नहीं है। भगवान् के बहुत हठ करने पर द्रौपदी वह पात्र उठा लाईं। उसमें एक शाककण लगा हुआ था। कृष्ण ने उसे ही खाकर कहा, इससे त्रैलोक्य की आत्मा भगवान् तृप्त हों। यह कहते ही दुर्वासा और उनके शिष्यों की भूख जाती रही। इधर कृष्णचन्द्र के कहने से भीमसेन दुर्वासा को बुलाने गये और उधर दुर्वासा ने शिष्यों से कहा, अरे भाग चलो, हमें तो तनिक भी भूख नहीं है। भीमसेन आता ही होगा। हमने वृथा ही युधिष्ठिर का इतना अन्न ख़राब कराया। अब हम उन्हें क्या मुँह दिखायेंगे! किस मुँह से कहेंगे कि अब हमको भूख नहीं है! यह कह-कर शिष्यों सहित दुर्वासा उधर ही से चले गये। पांडवों का संकट टला और इस कथा का [illegible]

गउओं का अपहरण किया, तब जिनकी कृपा से अकेला रथ पर बैठकर मैं कौरव पक्ष की अपार सेना के पार पहुँच गया, अर्थात् अकेले ही मैं भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरों को हराकर उनसे विराट् की गउएँ छीन-कर हाँक लाया; यही नहीं, मोहन अस्त्र से मोहित कौरव पक्ष के वीरों के सिरों से मणिरत्नमय मुकुट और पगड़ियाँ भी मैंने उतार लीं—मुकुट नहीं उतार लिये मानो उनके तेज हर लिये—वही श्रीकृष्ण मुझे अकेला छोड़कर चले गये। महाभारत के युद्ध के समय असंख्य वीर राजों के रथों से अलंकृत भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि के द्वारा सुरक्षित कौरव सेना के आगे मेरे रथ को ले जाकर जिन कृष्णचन्द्र ने अपनी दृष्टि के द्वारा शत्रुपक्ष के वीरों की आयु, उत्साह, बल और अस्त्र आदि के कौशल को हर लिया था, वह कृष्ण आज मुझे छोड़कर चले गये। जिनके बाहुबल से सुरक्षित होने के कारण द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, त्रिगर्तदेश के राजा सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ, वाह्लीक आदि वीरों के अमोघ अर्थात् कभी व्यर्थ न जानेवाले दिव्य अस्त्र भी मेरे अंग को वैसे ही नहीं छू सके, जैसे नृसिंह के भक्त प्रह्लाद को असुर नहीं मार सके थे, वह श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर चले गये। मेरी कुमति को तो देखिए, श्रेष्ठ जन मुक्ति की इच्छा से जिनके चरणों को भजते हैं, उन ईश्वर कृष्ण को मैंने सारथी बनाया। महायुद्ध में जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा के समय जब मेरे रथ के घोड़े थक गये और उनके विश्राम के लिए मैं रथ से नीचे उतर आया तब जिनके प्रभाव से सब शत्रुओं की मति मोहित हो गई तथा उन्होंने मौक़ा पाकर भी मुझ निहत्थे पर प्रहार नहीं किया, उन्हीं कृष्ण ने आज मुझे ठग लिया। हे आर्य, सदा उदार और सुंदर मृदु मंद मुसकान के साथ वह जो मुझसे हँसते-बोलते थे, तथा कभी 'हे पार्थ, हे अर्जुन, हे मित्र, हे कुरुनन्दन' आदि मनोहर सम्बोधनों से बुलाते थे, सो वे ही मधुर वाक्य आज रह रहकर मुझे याद आते हैं, और मैं विह्वल हो उठता हूँ। सदा साथ उठने-बैठने, सोने-घूमने, खाने-पीने और बातचीत करने के कारण मेरा और उनका ऐसा सहज व्यवहार हो गया था कि मैं कभी-कभी उनके सामने ही अपने गुणों का बखान करने लगता था और कभी 'मित्र, तुम बड़े सच्चे हो' इस प्रकार के व्यंग्य वाक्य भी कह उठता था, परन्तु जैसे पिता अपने पुत्र के या मित्र अपने मित्र के अपराधों को सह लेता है, बुरा नहीं मानता, वैसे ही महानुभाव प्रभु कृष्णचन्द्र मुझ कुमति के सब अपराधों को सहते, क्षमा करते रहे। भाई, उन पुरुषोत्तम और हितकारी प्रिय मित्र के बिना आज मैं तेज, शक्ति और उत्साह सबसे शून्य हो रहा हूँ। कृष्ण की सोलह सहस्र स्त्रियों को लेकर मैं आ रहा था। राह में नीच गोपों ने एक अबला स्त्री की तरह मुझे हरा दिया। हा, वही यह गाण्डीव धनुष है, वे ही ये अमोघ बाण हैं। वही रथ और वे ही घोड़े हैं। वही योद्धा भी मैं हूँ, जिसे बड़े-बड़े राजा सिर नवाते थे। पर देखिए, एक ईश्वर कृष्ण के बिना सब उसी तरह प्रभावहीन हो गये, जिस प्रकार राख में मंत्र पढ़कर विधि-पूर्वक भी किया गया हवन अथवा ऊसर में अच्छी तरह जोतकर भी बोया गया बीज निष्फल होता है। राजन्, आपने द्वारका के जिन सुहृद् यादवों की कुशल पूछी, वे तो ब्राह्मणशाप से मोहित होकर वारुणी मदिरा पीकर ऐसे मतवाले हो गये कि उन्हें यह ज्ञान नहीं रहा कि कौन अपना है और कौन पराया। वे लोह-चूर्ण से उत्पन्न सरकंडों को मुट्ठी-मुट्ठी उखाड़कर उन्हीं से लड़ते-भिड़ते मर कट गये। केवल चार-पाँच यादव बचे होंगे। पर इसमें उनका कुछ दोष नहीं, यह सब उन्हीं सर्वशक्तिमान् कालरूप भगवान् का अगम्य चरित्र है कि प्राणी कभी एक दूसरे को मारते हैं और कभी परस्पर एक दूसरे का पालन या रक्षा करते हैं। जैसे जल में रहनेवाले अपेक्षाकृत बड़े जीव छोटों को, मोटे जीव पतलों को, और बलवान् जीव दुर्बलों को खा जाते हैं, वैसे ही भगवान् कृष्ण ने बलवान् प्रतापी पांडवों के द्वारा पहले जरासन्ध-दुर्योधन आदि का विनाश कराया, फिर महान् यादवों के द्वारा शाल्व आदि का संहार कराया और अन्त को प्रचंड, उद्दण्ड यादवों को आपस ही में लड़ाकर पृथ्वी के भारी भार को हटा दिया। इससे अधिक कुछ कहने की शक्ति मुझमें

इस समय नहीं है। देश-काल के उपयुक्त, अर्थ से युक्त और हृदय के ताप को शान्त करनेवाले गोविन्द के मधुर वचन स्मरण हो आने से मेरे चित्त को व्याकुल कर रहे है।

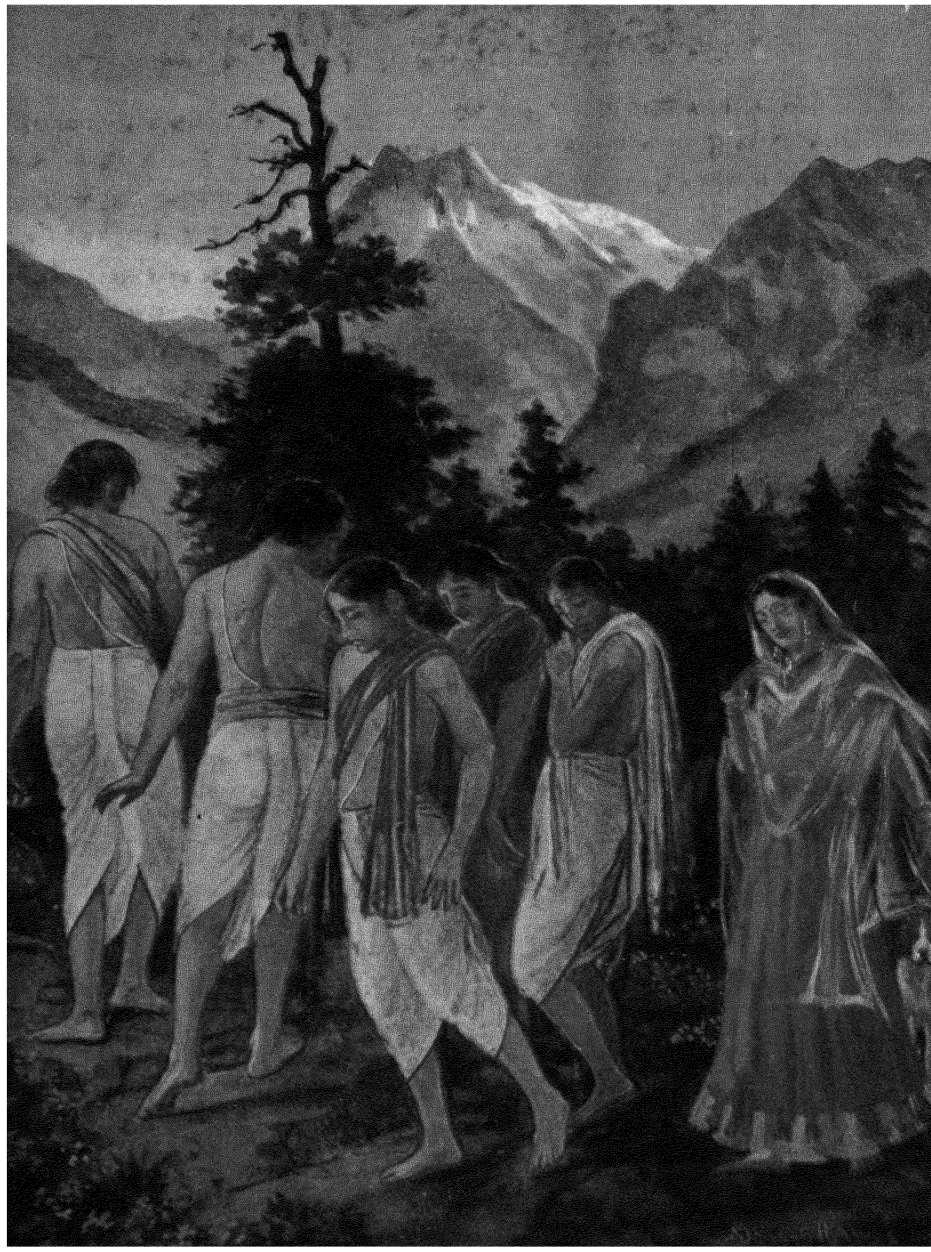
सूतजी कहते है, बहुत गहरी मित्रता के कारण कृष्ण के चरणकमलों का स्मरण करते-करते अर्जुन की बुद्धि शान्त और निर्मल हो गई, अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न उनका शोक दूर हो गया। वासुदेव के चरणकमलों का ध्यान करते-करते बढ़ी हुई भक्ति के वेग से अर्जुन के हृदय से काम आदि विकार दूर हो गये। उनकी शुद्ध बुद्धि उस ज्ञान को प्राप्त हुई, जो भगवान् ने महायुद्ध के आरम्भ में अर्जुन को बतलाया था। समय बहुत बीत जाने से और विषयभोग मे लग जाने के कारण अर्जुन का वह ज्ञान धुँधला पड़ गया था। इस समय भगवद्भक्ति के बढ़ने से उस ज्ञान की वे रुकावटे दूर हो गईं, वह ज्ञान फिर ताज़ा हो गया। उस ज्ञान का फल बतलाते है। शोक का कारण द्वैत का भ्रम है। द्वैत के भ्रम का कारण देह, देह का कारण लिंगशरीर, लिंग शरीर का कारण माया के गुण और गुणों का कारण माया या अविद्या है। वेदान्त के सुनने से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अद्वैत ज्ञान हुआ। इस ज्ञान ने अविद्या या माया को दूर कर दिया, जिससे निगुण अवस्था या तुरीय अवस्था प्राप्त हुई। इस तुरीय अवस्था मे अविद्या का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। गुणों के अभाव से गुण के कार्य लिंगशरीर का नाश हुआ। लिंगशरीर के अभाव मे स्थूल देह का भेद नहीं रहा। इस प्रकार द्वैत भ्रम दूर होने पर अर्जुन का शोक और संशय नष्ट हो गया।

भगवान् के परमधाम-गमन और यदुकुल-संहार का समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिर ने भी निर्लिप्त निश्चल चित्त से स्वर्ग जाने का विचार पक्का कर लिया। कुन्ती ने भी जब अर्जुन से सुना कि यादव आपस मे लड़कर मर गये और भगवान् कृष्ण परमधाम को प्राप्त हुए, तब उन्होंने भी भगवान् में अनन्य भक्ति के द्वारा मन लगाकर शरीर छोड़ दिया।

जन्मरहित कृष्ण भगवान ने जिस शरीर से पृथ्वी का भार उतारा था, उसे छोड़ दिया। उन ईश्वर के लिए तो दोनों शरीर—जिससे पृथ्वी का भार उतारा वह यादव शरीर, और सर्वात्मा होने के कारण जो पृथ्वी के लिए भार हो रहा था, वह दुष्ट नरपतियों का शरीर—समान थे। जैसे काँटे से काँटा निकालकर फिर उसे फेंक देते है, वैसे एक शरीर से अन्य अनावश्यक शरीरों का संहार कराकर भगवान् ने उस शरीर को भी छोड़ दिया। जैसे नाटक करनेवाला नट अनेक रूप रखकर अभिनय करता है, और आवश्यकता न रहने पर उन्हें त्याग देता है, वैसे भगवान् भी मत्स्य आदि अनेक अवतार लेते और फिर उन शरीरों को छोड़ देते है। यही कारण था कि हरि ने जिस शरीर से भूभार उतारा, उसे भी छोड़ दिया। जिनके श्रेष्ठ चरित्र श्रवण करने योग्य है, उन हरि ने जिस दिन इस पृथ्वी को छोड़ा, उसी दिन अविवेकी लोगों को अधर्म में लगानेवाले कलियुग ने इस पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया।

धर्मराज युधिष्ठिर ने जब देखा कि पुर में, राष्ट्र में, घर में और अपने में भी कलियुग का प्रभाव फैल गया है, लोभ, झूठ, कुटिलता, छल, हिंसा आदि अधर्म की सेना चढ़ आई है तो उसी समय उन्होंने स्वर्गगमन का निश्चय कर लिया। युधिष्ठिर ने विनय से युक्त और गुणों में अपने ही समान पोते परीक्षित् को हस्तिनापुर में सिंहासन पर बिठाकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का राजा बना दिया। इसी प्रकार अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को मथुरा की गद्दी मे शूरसेन देश का राजा बना दिया।

इसके उपरान्त उन्होंने ईश्वर मे सम्मिलित या ब्रह्मलीन होने के लिए प्राजापत्य यज्ञ करके अग्नियों को आत्मा में लीन कर लिया। [ज्ञानपूर्वक ब्रह्म में लीन होकर देहत्याग करने की इच्छा ही प्राजापत्य यज्ञ है।] उन्होंने अपने शरीर के बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतार डाले। ममता और अहंकार का त्याग करके सब संसारबन्धन काट दिये। धर्मराज ने वाणी आदि सब इन्द्रियों को उनके विषयों सहित मन में लीन कर दिया,



पाण्डवों का स्वर्गारोहण

अर्थात् अहंबुद्धि के साथ सब इन्द्रियों के कर्म तज दिये। मन को योगबल से प्राणवायु में, प्राण को अपानवायु में, अपानवायु को मृत्यु में और मृत्यु को पंचतत्त्वमय स्थूल शरीर में लीन कर दिया। अर्थात् यह भावना कर ली कि शरीर ही को मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। फिर शरीर को माया के गुणों में, उन गुणों को माया या अविद्या में, सबके आरोप का कारण उस अविद्या को आत्मा अर्थात् जीव में लीन करके उस विशुद्ध आत्मा को अविनाशी कूटस्थ ब्रह्म में लीन कर दिया। अर्थात् यह अनुभव करने लगे कि 'मैं ब्रह्म हूँ'।

वह केवल एक वस्त्र पहने, निराहार, मौन, बाल खोले, अपने को जड़, उन्मत्त, पिशाचग्रस्त सा दिखलाते हुए उत्तर दिशा को चल दिये, जहाँ पहले और महात्मा लोग भी जा चुके हैं। उन्होंने न किसी की ओर देखा, न भाई, स्त्री आदि किसी के साथ आने की प्रतीक्षा की। बहरे आदमी की तरह वह जैसे किसी की बात सुनते ही न थे। हृदय में परब्रह्म का ध्यान करते हुए राजा युधिष्ठिर उसी ओर चले, जिधर जाकर कोई नहीं लौटता।

युधिष्ठिर के चारों भाई भी अधर्म के मित्र कलियुग का प्रजा पर प्रभाव पड़ा देखकर स्वर्गारोहण का निश्चय करके उनके पीछे सब कुछ छोड़कर चल दिये। वे अच्छी तरह धर्म, अर्थ और काम का सेवन कर चुके थे। उन्होंने विचार कर यह निश्चय कर लिया था कि संसार के सब विषय अनित्य हैं। केवल ब्रह्म ही सत् है, और ईश्वर का भजन ही सबसे श्रेष्ठ है। यह जानकर उन्होंने अपने मन को मुकुन्द भगवान् के चरणों में दृढ़ रूप से लगा दिया। भगवान् के चरणों का ध्यान करके पांडवों की बुद्धि निर्मल हो गई। नारायण के चरणों में अनन्य भक्ति रखकर अन्तकाल में उन्हें वह दुर्लभ गति प्राप्त हुई, जिसे असत् और अविवेकी लोग कभी नहीं पा सकते।

महात्मा और ज्ञानी विदुर ने भी कृष्ण में मन लगाकर प्रभास क्षेत्र में इस शरीर को छोड़ दिया, और उस समय लेने को आये हुए पितृगण के साथ वह अपने यमलोक को गये। द्रौपदी ने भी अपनी अपेक्षा न करके स्वर्ग को जा रहे पतियों को देखकर वासुदेव भगवान् में अनन्य भाव से मन लगाकर इस शरीर को छोड़ दिया, और उन्हीं को प्राप्त हुई।

जो कोई श्रद्धा के साथ कृष्ण के प्रिय पांडवों के परमधामगमन की इस मंगलदायक पवित्र कथा को मन लगाकर सुनता है, वह हरि की भक्ति पाकर मोक्ष का अधिकारी होता है।

# सोलहवाँ अध्याय

## धर्म और पृथ्वी से परीक्षित् की बातचीत

सूतजी कहते हैं, हे शौनक, राज्य पाकर भगवान् के बड़े भारी भक्त राजा परीक्षित् ब्राह्मणों की शिक्षा के अनुसार पृथ्वी का पालन करने लगे। जन्म के समय विद्वान् ज्योतिषियों ने उनमें जिन-जिन श्रेष्ठ और अनेक गुणों का होना बतलाया था, वे सब गुण उनमें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। राजा उत्तर ( राजा विराट् के पुत्र ) की कन्या इरावती से इनका विवाह हुआ, और उसके गर्भ से इनके जनमेजय आदि चार पुत्र भी उत्पन्न हुए। गंगा के तट पर परीक्षित् ने तीन अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों को दक्षिणा में बहुत धन दिया। यज्ञ करानेवाले आचार्य कृपाचार्य हुए। देवतों ने प्रत्यक्ष सामने आकर अपना भाग लिया। राजा परीक्षित् इसके उपरान्त दिग्विजय के लिए निकले और वहाँ उन्होंने राजवेषधारी शूद्र कलियुग को बलपूर्वक अपने

अधीन कर लिया, क्योंकि वह गोरूपधारिणी पृथ्वी और बैल का रूप धारण किये हुए धर्म को लातों से मार रहा था।

शौनक ने पूछा, राजा ने दिग्विजय में कलियुग को किसलिए पकड़ा, और राजचिह्न धारण करनेवाला वह शूद्र कौन था, जो नीच की तरह गऊ को लात मार रहा था? यदि इस वृत्तान्त में कृष्ण की अथवा उनके चरणकमलों के प्रेमी भक्तों की कथा हो तो विस्तार के साथ कहिए। अन्य असत् आलाप अथवा वृथा बातों से कुछ फल नहीं, क्योंकि उनमें व्यर्थ ही आयु का अपव्यय होता है। हमारा यह यज्ञ भी हरिकथामृत ही पीने के लिए आरंभ हुआ है। थोड़े दिन जीनेवाले होने पर भी जो मनुष्य मोक्ष पाने की इच्छा रखते हैं, उनके कल्याण के लिए ही हम यह यज्ञ करने बैठे हैं। हमने भगवान् मृत्यु को इस यज्ञ में बलिदान कर्म के लिए बुला लिया है। हम ऋषियों ने मृत्यु को इसलिए यहाँ निमन्त्रित किया है कि इस यज्ञ के अवसर में जब तक यहाँ मृत्युदेव है, किसी की मृत्यु न होगी। हे सूत वह बड़ा भाग्यशाली मनुष्य है, जो हरि-लीला के अमृत से परिपूर्ण वाणी को सुनता है। जो हरि के चरित्र नहीं कहता-सुनता, वह आलसी अल्पमति है। उसकी यह स्वल्प आयु रात को सोने में और दिन को संसार के वृथा काम करने में ही बीत जाती है। तात्पर्य यह है कि हम लोग केवल हरि के चरित्र सुनना चाहते हैं और इसीलिए हमने यह यज्ञ रचा है।

सूतजी अब कलियुग के दमन की कथा का आरम्भ करते हैं। सूत ने कहा, राजा परीक्षित् जब अपने कुरुजांगल देश में रहकर अच्छी तरह राज्य-शासन कर रहे थे, तब एक समय उन्हें मालूम हुआ कि उनके द्वारा शासित पृथ्वीतल में कलियुग ने प्रवेश किया है। इस अप्रिय और असह्य समाचार को सुनकर उसी समय कलियुग को पकड़ने के विचार से पराक्रमी और युद्धप्रिय परीक्षित् ने धनुष हाथ में लिया और दिग्विजय की तैयारी कर दी। वह सुंदर सजे हुए रथ पर सवार हुए। उस रथ में काले घोड़े जुते हुए थे, और सिंह के चिह्न की ऊँची ध्वजा फहरा रही थी। चतुरंगिणी सेना उनके साथ चली। परीक्षित् ने भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर कुरु, किंपुरुष वर्ष आदि पृथ्वी के खंडों को जीतकर वहाँ के राजों से भेंट और कर लिया।*

इन खंडों में वहाँ के निवासियों के मुख से परीक्षित् ने अपने पुरखे महात्मा अर्जुन का यश सुना, जो कृष्णचन्द्र के अपूर्व प्रताप का सूचक था। उन्होंने अश्वत्थामा के छोड़े हुए ब्रह्मास्त्र के तेज से अपनी रक्षा का वृत्तान्त सुना। यह भी सुना कि यादवों और पांडवों का परस्पर अपूर्व स्नेह था, और पांडव लोग कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इन चरित्रों के कहनेवाले लोगों को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखते हुए परीक्षित् ने बहुमूल्य वस्तु और अलंकार देकर उनका सत्कार किया। इस प्रकार सम्मानित होने पर वे लोग कहने लगे कि अहो, पांडवों का यश धन्य है, जिस पर प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण कभी उनके सारथी, कभी सभासद, कभी सेवक, कभी सुहृद्, कभी दूत, कभी रक्षक और कभी अनुगामी बने। कृष्ण ने स्वयं जगत्‌जित होकर भी पांडवों को प्रणाम करके उन्हें सारे संसार से प्रणाम कराया। यह सुनकर परीक्षित् के हृदय में कृष्ण के चरणों की भक्ति और भी बढ़ गई। राजा परीक्षित् अपने पूर्वजों की रीति के अनुसार दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करते घूम रहे थे। इसी अवसर में एक दिन उनके निकट ही एक आश्चर्यजनक घटना हुई। वह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिए।

* भद्राश्व आदि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की ओर समुद्र से मिले हुए खंड हैं। मेरु के चारों ओर इलावृत खंड है। मेरु के उत्तर ओर हिरण्मय खंड है, और दक्षिण ओर हरिवर्ष और किंपुरुष खंड हैं। पुराणों के अनुसार भद्राश्व आदि खंड पुण्यात्मा लोगों के पुण्यफल भोग के स्थान हैं। एक विद्वान् के मत से भद्राश्व खंड वर्तमान अफ्रीका है। इलावृत, जिसे केवल किंपुरुष खंड भी कहते हैं, वर्तमान अमेरिका है। पहले भारत को 'एकवर्ष', रूस-तातार आदि को 'उत्तरकुरु', और ब्रह्मा-चीन आदि को 'किरातवर्ष' कहते थे। पर टीकाकार इससे सहमत नहीं है।

बैल के रूप में स्वयं धर्म सत्यरूप एक ही पैर से खड़ा था। उसने गऊ का रूप रक्खे हुए, तेज से हीन और रो रही पृथ्वी को देखा। जैसे पुत्र-शोक से पीड़ित कोई माता हो, वैसे ही पृथ्वी आँसू बहा रही थी। तब उससे धर्म पूछने लगा, हे भद्रे, तुम्हारा शरीर तो कुशल से है? हे माता, तुम्हारे शरीर में बाहर तो कोई पीड़ा नहीं जान पड़ती, किन्तु भीतर कोई मानसिक व्याधि अवश्य प्रतीत होती है, क्योंकि तुम्हारा मुखमंडल मलिन हो रहा है, तुम शोभाहीन हो रही हो। इस तुम्हारे शोक का क्या कारण है? दूर देश गये हुए किसी अपने हितैषी बंधु के वियोग से क्या तुम दुःखी हो रही हो? या मेरे तीन चरणों के न रहने का शोक कर रही हो? या अब आगे चलकर अपने ऊपर शूद्रों के प्रभुत्व की संभावना से अपने लिए शोक कर रही हो? या यज्ञों के न होने से अपने भाग को न पानेवाले देवताओं के लिए शोक करती हो? या इसलिए शोक कर रही हो कि अब इन्द्र के वर्षा न करने से अकाल पड़ेगा और प्रजा भूखों मरेगी? अथवा हे पृथ्वी देवी, क्या यह सोचकर व्यथित हो रही हो कि अब पति स्त्रियों की रक्षा नहीं करेंगे और पिता बालकों का पालन नहीं करेंगे, बल्कि उलटे पति और पिता पत्नियों और पुत्रियों को अपने राक्षसी स्वभाव के कारण कष्ट देंगे? या यह सोच कर शोक करती हो कि अब सरस्वती देवी कुकर्म करनेवाले ब्राह्मणों के अधीन होकर उनके कुकर्मों की सहायता करेगी? अथवा यह तुम्हें शोक है कि पढ़े-लिखे ब्राह्मण सदाचार का पालन नहीं करेंगे? या तुम उन उत्पथगामी ब्राह्मणों के लिए शोक कर रही हो, जो ब्राह्मणों पर भक्ति न रखनेवाले क्षत्रिय आदि वर्णों की सेवा करके अपना पेट पालेंगे? या इसका तुमको शोक है कि क्षत्रियों पर कलियुग का प्रभाव छा रहा है, और वे अपने दुर्व्यवहार से या लोभ से लूट मचाकर राष्ट्रों को उजाड़े डाल रहे हैं? या तुम इसलिए शोकाकुल हो कि कलियुग के वशीभूत सभी लोग स्वल्पसुखों के लोक-लज्जा को छोड़ कर स्नान, भोजन, मैथुन, द्यूतक्रीड़ा, मद्य-पान आदि ही में लिप्त हो रहे हैं, इसी को सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझने लगे हैं? हे माता, तुम्हारा भार हरने के लिए अवतार लेनेवाले कृष्णचन्द्र तुमको छोड़कर परमधाम को चले गये हैं। क्या उनके आदि से अब तक के सब चरित्रों को याद करके तुम शोकाकुल हो रही हो? तुम्हारे शोक के इस प्रकार अनेक कारण देख पड़ते हैं। बतलाओ, इनमें से तुम्हारे दुःख का कारण क्या है? अथवा महाबली काल ने तुम्हारा वह सौभाग्य हर लिया है, जिसकी प्रशंसा देवता लोग करते थे, क्या इसी-लिए तुम दुबली हो रही हो, शोक मना रही हो?



धर्म के प्रश्न को सुनकर पृथ्वी देवी ने कहा—हे धर्मदेव, जो तुम मुझसे पूछते हो, सो सब तुम्हें मालूम है, कुछ छिपा नहीं है, तथापि मैं कहती हूँ, सुनो। जिन कृष्ण के आश्रित तुम अब तक चारों चरणों—तप, शौच, दया और सत्य—से पूर्ण थे, वह भगवान् इस लोक को छोड़ गये हैं। मैं उन लोगों के लिए शोक कर रही हूँ, जिन्हें पापमूर्ति कलियुग ने अपने वश में कर लिया है। सत्य, दया, शौच, क्षांति (क्रोध होने पर भी चित्त का संयम), त्याग, दानशीलता, सन्तोष, सरलता, शम (मन का दमन), दम (इन्द्रियों को वश में रखना), तप (अपने धर्म का आचरण), समभाव (मित्र-शत्रु का भाव न होना), तितिक्षा (पराये अपराध

ा सह लेना ), उपरति (लाभ-हानि की परवा न करना), श्रुति (शास्त्र का ज्ञान), ज्ञान (आत्मज्ञान), वैराग्य नेर्लिप्त भाव), ऐश्वर्य (सब पर प्रभुत्व या नियंत्रण रखना), शौर्य (मन का उत्साह), तेज (प्रभाव), बल (दक्ष ना), स्मृति (कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार और निर्णय करने की योग्यता), स्वतन्त्रता, कौशल (काम करने की पुणता), कान्ति (सौन्दर्य), धैर्य, चित्त की कोमलता, प्रगल्भता (प्रतिभा की विशेषता), विनय, शील (अच्छा भाव), सहन (मन की पटुता), ओज (ज्ञानेन्द्रियों का सशक्त होना), बल (कर्मेन्द्रियों की निपुणता), भग योग की शक्ति या पात्रता), गंभीरता (क्षोभ को न प्राप्त होना), स्थिरता, आस्तिक्य (श्रद्धा), कीर्त्ति, मान (पूज्यता), हंकार का अभाव, तथा ब्रह्मण्यता शरणागत की रक्षा) इत्यादि बहुत श्रेष्ठ गुण ऐसे है कि महत्व चाहनेवाले ोग इन्हे सदा चाहते है । भगवान् कृष्णचन्द्र मे ये गुण नित्य वर्त्तमान है अथवा स्वाभाविक होने के कारण भी उनसे अलग नही होते । उन्ही महागुणवान श्रीनिवास भगवान् से रहित इस लोक के प्राणियों के लिए मै शोक कर रही हूँ कि अब इनकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा ! देवतों मे श्रेष्ठ तुमको, पने को, और देवता, पितर, ऋषि, साधु, वर्ण, तथा आश्रमों को भी कलियुग से पीड़ित देखकर उनके लिए ो शोक कर रही हूँ । ब्रह्मा आदि देवगण ने जिन लक्ष्मीदेवी के कृपाकटाक्ष को पाने की कामना से घोर स्या की, वही लक्ष्मी उत्तम पुरुषों के आश्रित होकर भी अपने निवासस्थल फूले हुए कमलों के वन को ोड़कर अत्यन्त अनुराग से जिनके चरणों को भजती है, उन लक्ष्मी के स्वामी भगवान् कृष्णचन्द्र के ोभायमान ध्वजा, वज्र, कमल, अंकुश, यव आदि अद्भुत आश्चर्यसूचक रेखाओं से अलंकृत श्रीचरणों पड़ने से मेरी त्रिभुवन से अधिक शोभा हो रही थी । हा, मेरे उस घमंड को देख कर मदमोचन कृष्ण उस विभूति के अन्त में मुझे छोड़ दिया, मेरी संपूर्ण शोभा और अभिमान मिटा दिया ! हे धर्मदेव, उन मपुत्र ने मुझे भारपीड़ित देखकर मेरा भार उतारने के लिए भार हो रहे और राक्षसों जैसे क्रूर कर्म रनेवाले नरपतियों की अनेक अक्षौहिणी सेनाओं को नष्ट कर दिया । तुम्हे तीन चरणों से हीन और दुःखी खकर स्वयं यदुकुल मे जन्म लेकर अपने पौरुष से तुम्हारे चारों चरण पूर्ण करके उन्होंने यदुकुल मे हार किया । कौन ऐसी स्त्री है, जो उन पुरुषोत्तम के वियोगदुःख को सह सके ! अपनी प्रेमपूर्ण दृष्टि, सुंदर मकान, और मधुरवाणी से जो सत्यभामा आदि मानिनी स्त्रियों का मान दूर करके उन्हे मोहित और स्मित बनाते थे, और जिनके चरणकमलों का स्पर्श पाकर आनन्द के कारण मेरे रोमांच हो आता था, न्ही कृष्णचन्द्र के विरह से आज मेरी यह दशा हो रही है, मैं व्याकुल हो रही हूँ ।

इस तरह पृथ्वी और धर्म, गऊ और बैल के रूप मे, बातचीत कर रहे थे, इसी समय राजर्षि परीक्षित् र्यवाहनी सरस्वती से युक्त कुरुक्षेत्र में आकर उपस्थित हुए ।



# सत्रहवाँ अध्याय

## परीक्षित् के हाथ से कलियुग का दमन

सूतजी कहते हैं, वहाँ पहुँचकर राजा ने देखा कि एक बैल और गऊ, दोनों अनाथ की तरह खड़े रो रहे । उन्हे एक शूद्र, जो मुकुट आदि राजों के चिह्न धारण किये है, एक डंडा हाथ में लिये मार रहा है । बैल का ा कमल की जड़-सा उज्ज्वल है । वह भय के मारे मूत रहा है । एक पैर से खड़ा काँप रहा है । शूद्र उसे डे से मार रहा है । ऐसे ही यज्ञ आदि धर्म के कार्यों में अपने घी-दूध आदि से सहायता करनेवाली वह गऊ

दीनभाव से खड़ी आँसू बहा रही है। बिना बछड़े की वह दुर्बल गऊ चारा खाना चाहती है, किन्तु वह शूद्र उसे भी बार-बार लात मारकर सता रहा है। [ यहाँ वेदव्यास ने बैल और गऊ के रूपक से धर्म और पृथ्वी की दशा का ठीक-ठीक वर्णन किया है। बैल के मूतने और काँपने का भाव यह है कि जैसे मनुष्य का शरीर क्षीण होता है, वैसे ही कलिकाल की ताड़ना से जिसका केवल एक चरण बचा रह गया है, वह धर्म भी क्षीण हो रहा है। और धर्म के उस बचे हुए चरण—सत्य—को भी कोई ग्रहण नहीं करता। इसी से निराश्रय होकर वह काँप रहा है। इसी प्रकार गोरूप पृथ्वी को भी अन्नरूपी सन्तान के क्षय से बिना बछड़े की, यज्ञ के अभाव से दुबली, तथा यज्ञ के भाग की इच्छा कर रही होने से भूखी समझना चाहिए। ]

गऊ और बैल की दुर्दशा कर रहे शूद्ररूप कलियुग को देख कर सुवर्ण के सामान से सजे हुए रथ पर बैठे और धनुष चढ़ाये हुए राजा ने मेघ के समान गंभीर स्वर में कहा, अरे नट के समान राजवेष धारण करके शूद्रों के समान नीच कर्म करनेवाले, तू कौन है, जो बली होकर मेरे राज्य में निर्बलों को मार रहा है? गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन के साथ कृष्ण भगवान के परमधाम चले जाने से क्या तू ऐसा निर्भय हो गया है कि यहाँ सुनसान जगह में इन निरपराधों को मारने का अपराध करते नहीं डरता? मैं तुझे इसका दंड दूंगा। तू मार डालने के योग्य है। यही तेरे लिए उचित दंड है। कलियुग से यों कहकर राजा ने धर्म से कहा, हे कमलनालधवल वृष, तीन पैरों से हीन तुम कौन हो? तुम्हारे एक ही पैर देखकर मुझे बड़ा खेद हो रहा है। बैल के रूप में क्या तुम कोई देवता हो? कौरवकुल के नरपति की प्रचंड बल-वाली भुजाएँ इस समय भी पृथ्वी का पालन कर रही हैं। तुम्हारे सिवा इस पृथ्वी पर और किसी प्राणी को शोक के आँसू बहाते मैंने नहीं देखा। हे सुरभी की सन्तान, अब तुम शोक न करो। इस शूद्र से अब तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। तदुपरान्त राजा ने पृथ्वी से कहा, हे गोमाता, दुष्टों को दंड देनेवाला मैं आ गया। अब तुम भी न रोओ। मैं अपने ही धर्म की रक्षा और कर्तव्य का पालन करने के लिए इस दुष्ट शूद्र को मारूंगा। कारण, जिस असावधान राजा के राज्य में दुष्ट लोग सज्जन प्रजा को पीड़ा पहुँचाते हैं, सताते हैं, उस राजा की कीर्त्ति, आयु, भाग्य और परलोक का विनाश होता है। सताई जानेवाली प्रजा के दुःख को दूर करना ही राजा का परम धर्म है। अतएव अकारण प्राणियों को कष्ट देनेवाले इस महानीच को मैं अवश्य मार डालूँगा। फिर बैल से राजा ने कहा, हे वृष, बैलों के चार पैर होते हैं, बतलाओ, तुम्हारे तीन पैर किसने काट लिये हैं? कृष्ण के अनुगामी राजा के राज्य में तुम्हारे समान दुःख पानेवाला कोई न होना चाहिए। हे सुरभीसुत, तुम्हारा कल्याण हो, बतलाओ, किस दुष्ट ने तुम्हारा रूप बिगाड़ दिया है? निरपराध साधुओं को सताकर पांडवों की कीर्त्ति में बट्टा लगानेवाला वह दुष्ट कौन है? अपराध न करनेवाले को अकारण पीड़ा पहुँचानेवाला मेरे राज्यकाल में चैन से नहीं रह सकता। उसे हर घड़ी, हर जगह, मुझसे दंड पाने का भय है। दुष्टों का दमन करने से सज्जनों का कल्याण ही होता है। यह न समझना कि मैं उसे दंड दे न सकूँगा। देखो, जिसने निरंकुश होकर निरपराध प्राणियों को मेरे राज्य में पीड़ा पहुँचाई है, वह चाहे कोई देवता ही क्यों न हो, मैं उसका वह अलंकारयुक्त हाथ काट लूँगा, जिससे उसने अन्याय किया है। राजा का परम धर्म अपने धर्म या कर्त्तव्य का पालन करना ही है। राजा को चाहिए कि आपत्तिकाल के बिना जो लोग अपना शास्त्रोक्त मार्ग छोड़ देते हैं, उन्हें शास्त्र की व्यवस्था के अनुसार कठोर दंड दे, जिसमें और लोग वैसा करने का साहस न करें, अधर्माचरण के लिए उद्यत न हों।

धर्म ने कहा—राजन्, आप पांडवों के प्रशंसनीय कुल में उत्पन्न हुए हैं। पीड़ितों के भय को दूर करनेवाले ये जो वाक्य आपने कहे, सो आपके योग्य ही हैं। आप उन्हीं पांडवों के तो वंशधर हैं, जिनके गुणों पर रीझ-कर भगवान कृष्ण स्वयं उनके दूत और सारथी तक बने। आपने जो मुझसे पूछा कि तुमको कष्ट देनेवाला

कौन है, सो मैं क्या बतलाऊँ। जीवों को क्लेश देनेवाला कौन है, यह ठीक-ठीक मैं स्वयं नहीं जानता। कारण, वाद करनेवालों के भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्यों ने हमें उलझन में डाल रक्खा है, हम कुछ निश्चय नहीं कर पाते कि असल में क्लेश का बीज क्या है। योगी, वेदान्ती लोग, या नास्तिक जन अपने आत्मा को ही सुख या दुःख का कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं, देवता आदि सुख-दुःख देने की शक्ति नहीं रखते; क्योंकि वे कर्म के अधीन हैं। कर्म भी परतन्त्र और अचेतन होने के कारण सुख-दुःख देने में असमर्थ है। इसलिए स्वयं आत्मा ही अपने को सुखी या दुःखी बनानेवाला है। इसी प्रकार दैवज्ञ अर्थात् ज्योतिषी लोग ग्रह आदि देवतों को या दैव को सुख दुःख का दाता कहते हैं। मीमांसा शास्त्र के अनुगामी कर्म से और प्रकृतिवादी चार्वाकगण स्वभाव या प्रकृति से ही सुख या दुःख का मिलना मानते हैं। ईश्वरवादी बड़े-बड़े लोगों का यह सिद्धान्त है कि सुख-दुःख का कारण या देनेवाला अतर्क्य है, अर्थात् तर्क से उसे कोई जान नहीं सकता। वह अनिर्देश्य है अर्थात् वाणी से कोई उसका निर्देश नहीं कर सकता। मतलब यह कि मन और वाणी के लिए अगोचर परमेश्वर ही से सब कुछ होता है। अब आप ही अपनी बुद्धि से विचार कर लीजिए कि यथार्थ बात क्या है।

हे द्विजश्रेष्ठ, इस प्रकार जब धर्म ने कहा, तब सम्राट् राजर्षि परीक्षित् ने एकाग्र मन से विचार करके धर्म के कथन की यथार्थता समझकर मोह त्यागकर धर्म से कहा—हे धर्म के जाननेवाले, तुम पातक को जानकर भी उसे नहीं बतलाते और धर्म के अनुसार कह रहे हो, इसलिए निश्चय ही तुम धर्म हो। तुम अपने को कष्ट पहुँचानेवाले को जानकर भी उसका इस कारण नाम नहीं लेते कि अधर्म करनेवाले की सूचना देने से भी अधर्मी के समान पाप का भागी होना पड़ता है। अथवा यह भी हो सकता है कि वास्तव में दुःख देनेवाले को न जानने के कारण ही तुम यों कह रहे हो। कारण, ईश्वर की माया को मनुष्य न मन से विचार सकते हैं, न वाणी से कह सकते हैं। वही लोगों के सताने और सताये जाने की प्रवृत्ति का कारण है। मैं समझ गया, तुम धर्म ही हो। सत्ययुग में तप, शौच, दया और सत्य ये चार चरण तुम्हारे थे, इस समय कलियुग में अधर्म के अंश अहंकार, मगदोष और मद ने तुम्हारे तीन चरण नष्ट कर दिये हैं, केवल चौथा चरण 'सत्य' शेष है। उसी के सहारे तुम किसी तरह खड़े हो। उसे भी यह कलियुग अधर्म की सहायता से बढ़कर झूठ के द्वारा नष्ट कर देना चाहता है। और यह गऊ के रूप में साक्षात् भगवती पृथ्वी है। भगवान ने अवतार लेकर इनके भारी भार को उतारा और अपने श्रीयुक्त चरणकमलों से इन्हें अलंकृत किया। अब इस पृथ्वी देवी का वह सौभाग्य नष्ट हो गया है। इसलिए यह उन श्री चरणों से हीन और शोभा से रहित होकर अपने अभाग्य को सोच-सोच कर रो रही है। इन्हें यही शोक है कि ब्राह्मणद्रोही शूद्र लोग राजा होकर अब मुझे भोगेंगे।

इस प्रकार धर्म और पृथ्वी को सान्त्वना देते हुए महारथी वीर परीक्षित् ने अधर्म के मित्र कलियुग को मारने के लिए म्यान से अपनी पैनी तलवार खींच ली। परीक्षित् को मारने के लिए उद्यत देखकर भय से विह्वल कलियुग राजों के चिह्न मुकुट आदि त्यागकर उनके पैरों पर गिर पड़ा। उसे पैरों पर गिरा देखकर दीनवत्सल और शरणागत की रक्षा करनेवाले परीक्षित् को दया आ गई। उन्होंने अपना हाथ रोक लिया, उसे मारा नहीं। हँसते हुए राजा परीक्षित् ने कलियुग से कहा, रे शूद्र, तू मेरे पैरों पर गिर पड़ा, और हाथ जोड़े खड़ा है, अतएव तुझे अब अर्जुन के वंश में उत्पन्न और उनके यश के रखवाले राजों से कुछ भी भय नहीं है, अर्थात् मैं अब तुझे नहीं मारूँगा। किन्तु अब तू मेरे राज्य से निकल जा। मेरे राज्यक्षेत्र में कदापि न रहना। कारण, तू अधर्म का मित्र अर्थात् सहायक है। तू जिस राजा के शरीर में समा जाता है, उसे अधर्म के अनुचर लोभ, मिथ्या, चोरी, दुर्जनता, पाप, अलक्ष्मी, कपट, कलह और दंभ पाखंड घेर लेते हैं। धर्म और सत्य के निवासस्थान इस ब्रह्मावर्त्त में तू निकल जा। अब यहाँ तू भूलकर भी पैर न रखना।

इस ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र में यज्ञविधि के ज्ञाता याज्ञिक लोग यज्ञेश्वर नारायण का यजन, भजन और पूजन आदि क्रिया करते हैं और उनके यज्ञों की रक्षा के लिए स्वयं यज्ञमूर्त्ति हरि भगवान् यहाँ रहकर अपने भक्तों का कल्याण करते हैं, उनकी कामनाएँ पूरी करते हैं। वह भगवान् चराचर प्राणियों के भीतर और बाहर वायु के समान व्याप्त हैं।



सूतजी कहते हैं, भय के मारे कलियुग का कलेजा काँप रहा था। यह आज्ञा सुनकर कालदण्ड ताने हुए काल के समान खड्ग उठाये हुए परीक्षित् से कलियुग ने कहा—महाराज, आपकी आज्ञा के अनुसार इस ब्रह्मावर्त्त को छोड़कर इस पृथ्वीतल में जहाँ कहीं मैं रहने का विचार करता हूँ, वहीं धनुष पर बाण चढ़ाये आपको अपने पीछे आता देख पाता हूँ, इसलिए आप स्वयं मेरे रहने के लिए स्थान ठीक कर दीजिए, जहाँ मैं रह सकूँ।

कलियुग की प्रार्थना सुनकर राजा ने उसे रहने के लिए चार स्थान बतलाये। राजा ने कहा, जहाँ द्यूत, पान, स्त्री और हिंसा हो, वहाँ तू रह, क्योंकि यह चार प्रकार का अधर्म है। [जिन कामों में छल का व्यवहार हो, वे सब द्यूत कहलाते हैं। जिसे पीने से बुद्धि बिगड़े, उसे पान कहते हैं। स्त्री का तात्पर्य स्त्रीभोग में लिप्त हो जाना है। प्राणियों के वध को हिंसा समझना चाहिए। ये ही चार मुख्य अधर्म के कारण हैं। द्यूत में असत्य, पान में मद, स्त्री-संग में अपवित्रता और हिंसा में निर्दयता का निवास है।]

कलियुग ने राजा से फिर प्रार्थना की कि मेरे रहने के लिए और भी कोई स्थान दीजिए। तब राजा ने उसे सुवर्ण और दिया। इस सुवर्ण में मिथ्या, काम, मद, वैर और रजोगुण में प्रवृत्ति, ये पाँचों अधर्म के दोष मौजूद हैं। राजा परीक्षित् के बताये हुए अधर्म के मूल पाँच स्थानों में रहकर कलियुग उनकी आज्ञा का पालन करने लगा। जो पुरुष अपना अभ्युदय चाहता हो, वह—विशेष कर धर्मात्मा लोगों का स्वामी और गुरु राजा—कभी इन कलियुग के निवासस्थानों का सेवन न करे, अर्थात् इनसे बचा रहे। इसके उपरान्त परीक्षित् ने धर्म के नष्ट हुए तप, शौच और दया, इन तीनों चरणों को पूर्ण किया, और आश्वासन देकर वह पृथ्वी की श्रीवृद्धि में तत्पर हुए। आजकल वही राजा परीक्षित् उस राजसिंहासन पर विराजमान हैं, जिस पर बन जा समय उनके पितामह राजा युधिष्ठिर उन्हें बिठा गये थे। चक्रवर्त्ती, महायशस्वी, महाभाग्यशाली

राजर्षि परीक्षित् हस्तिनापुर में कौरवेन्द्रों अर्थात् पांडवों की उपार्जित राजलक्ष्मी का भोग कर रहे हैं। अभिमन्यु के पुत्र उन राजा परीक्षित् का ऐसा ही महाप्रताप है कि उनके शासनकाल में आप लोग इस प्रकार निर्विघ्न रूप से यज्ञ कर रहे हैं।

---

# अठारहवाँ अध्याय

## परीक्षित् को मुनि के पुत्र का शाप

सूत ने कहा. जो अद्भुत कर्म करनेवाले कृष्णचन्द्र की कृपा से अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जलकर भी माता के गर्भ में नहीं मरे उन परीक्षित् का और भी चरित्र सुनो। ब्राह्मण के शाप से काटने को आये हुए तक्षक नाग के द्वारा अपनी मृत्यु का होना जानकर भी वह घबराये नहीं और न मोह को प्राप्त हुए। कारण, उन्होंने कृष्ण भगवान् में अपना चित्त लगा दिया था। सबका संग छोड़कर गंगा के किनारे पहुँचकर उन्होंने व्यास के पुत्र श्रीशुकदेवजी से धर्मोपदेश सुना और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके इस अनित्य शरीर को छोड़ दिया। भगवान् हरि के गुणों को गानेवाले भक्त लोग सदैव भगवत्कथारूप अमृत को पीते और हरि के चरणों का ध्यान करते रहते हैं। इसी से अन्य समय उन्हें मोह नहीं होता। यद्यपि पहले ही इस पृथ्वी पर कलियुग आ गया था, तो भी जितने दिन राजा परीक्षित् राज्य करते रहे, उतने दिन तक कलियुग का पूरा प्रभुत्व नहीं हो सका। जिस दिन भगवान् कृष्णचन्द्र इस पृथ्वी को छोड़कर अपने परमधाम को पधारे, उसी दिन अधर्म का साथी कलियुग भूमंडल में व्याप्त हो गया था, किन्तु परीक्षित् के प्रभाव से वह दबा रहा। सम्राट् परीक्षित् भ्रमर के समान सारांश अर्थात् अच्छाई के ग्रहण करनेवाले थे, इसी से उन्होंने पकड़कर भी कलियुग को नष्ट नहीं कर दिया। कलियुग में अच्छाई यह है कि इसमें पुण्यकर्म तो शीघ्र ही संकल्पमात्र से फलदायक होते हैं, किन्तु पापकर्मों का फल उनका आचरण किये बिना नहीं होता। यदि कोई कहे कि कलियुग में गुण की अपेक्षा दोष अधिक है, इस कारण वह द्वेष के ही योग्य था, रक्षा के योग्य नहीं, तो इसके उत्तर में सूतजी कहते हैं कि कलियुग धीर और ज्ञानी पुरुषों का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह मूर्ख अज्ञानी लोगों के लिए ही शूर है, धीर ज्ञानी पुरुषों के आगे नहीं ठहरता। वह स्वयं सावधान रहकर असावधान जनों को भेड़िये के समान ग्रस लेता है, अर्थात् उनकी धर्मबुद्धि और ज्ञान को ढक लेता है। शौनकजी, आपने जो पूछा था, सो वासुदेव की कथा से युक्त पवित्र परीक्षित् का उपाख्यान मैंने वर्णन किया। कहने योग्य गुण और चरित्रवाले कृष्ण के गुण और कर्मों से युक्त जो कथाएँ हैं, उन्हें मुक्ति तथा अभ्युदय की इच्छा रखनेवाले भक्तजन सदा कहते सुनते हैं, यही सब शास्त्रों का सारांश है।

ऋषियों ने कहा– हे सूत, तुम चिरकाल तक जीते रहो। तुम्हारा निर्मल यश चारों ओर फैले। यह हम तुमको आशीर्वाद देते हैं; क्योंकि तुम हमें मृत्यु के वशीभूत मनुष्यों को अमर कर देनेवाला श्रीकृष्ण-कथारूप अमृत पिलाते हो। फल का निश्चय न होने के कारण हमारा यह यज्ञकर्म विश्वास के योग्य नहीं है, अर्थात् इस पर हमको श्रद्धा नहीं है। हवन के धुएं से हमारा शरीर मलिन हो रहा है। ऐसे हम लोगों को तुम अवश्य ही निश्चित रूप से मुक्ति देनेवाली कृष्ण के चरणकमलों की सुधा कृष्ण-कथा पिला रहे हो, जिससे हम परम आप्यायित (तृप्त और कृतार्थ हैं। भगवद्भक्तों के एक क्षण भर के भी सत्संग की तुलना में हम स्वर्ग और मोक्ष को भी तुच्छ समझते हैं, फिर मनुष्यों के अन्य साधारण पुत्र, राज्य-संपत्ति

आदि की तो कुछ गिनती ही नहीं। कौन रसज्ञ रसिक महात्मा भक्तों के एकमात्र अवलम्ब कृष्ण की कथा सुनने से तृप्त हो जायगा, फिर उसे सुनना न चाहेगा! उन निर्गुण या गुणातीत हरि के गुणों का पार बड़े-बड़े योगेश्वर ब्रह्मा, शिव आदि भी नहीं पाते। सूतजी, तुम भगवान् के अनन्य भक्त हो, इसलिए सज्जनों के एकमात्र आश्रयस्थल भगवान कृष्ण के उदार, पवित्र, विचित्र चरित्र हमें सुनाओ, हम उन्हें श्रद्धापूर्वक सुनना चाहते हैं। वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त निर्मल बुद्धिवाले परीक्षित जिस प्रकार शुकदेवजी के बतलाये हुए ज्ञान के द्वारा मुक्त होकर हरि के चरणकमलों में लीन हुए, वह परम पवित्र, सहज, अद्भुत योगयुक्त हरिकथा से अलंकृत और इस कारण हरिजनों का मनोरंजन करनेवाली परीक्षित की कथा हमसे कहिए।

सूतजी ने कहा—अहो, यद्यपि हमारी उत्पत्ति विलोम (उलटी, अर्थात वैश्य पिता से क्षत्रिय माता में) हुई है, तो भी हम धन्य हैं, क्योंकि आप सरीखे पूजनीय और वृद्ध ऋषि हमारी प्रशंसा और आदर कर रहे हैं। सच है, साधुजनों से केवल संभाषणमात्र करना भी ऐसा है कि उससे नीच कुल में जन्म होने से उत्पन्न मानसिक पीड़ा शीघ्र शान्त हो जाती है। कारण, उससे वह ज्ञान होता है, जो ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटा देता है। किन्तु जो सज्जन भक्तों के एकमात्र आधार कृष्ण के गुणों का कीर्त्तन, श्रवण और स्मरण करते हैं, उनके लिए क्या कहना! जो अनन्त शक्तिवाले अनन्त भगवान हैं, जिन्हें महत् गुणों से युक्त होने के कारण भी अनन्त कहते हैं, उन हरि के गुणों का निरूपण केवल इतना ही कहकर किया जा सकता है कि गुणों में न तो कोई उनके बराबर है, और न उनसे अधिक। अपने को चाहनेवाले ब्रह्मा आदि देवतों को छोड़कर चंचल लक्ष्मी इसीलिए अपनी चाह न रखनेवाले नारायण के चरणों को नहीं छोड़तीं। जिनके चरणों के नख से निकली हुई गंगा को ब्रह्मा ने आदर के साथ कमडलु में धारण किया, और वह गंगा तीनों लोकों के साथ भगवान् शंकर को पवित्र करती हैं, उनके सिवा विश्व में और कौन भगवान हैं, अर्थात वही सबके ईश्वर हैं। उनके भक्त लोग धैर्य के साथ सहसा शरीर आदि के मोह को छोड़कर उस अंतिम परमहंस धर्म को ग्रहण करते हैं, जिसमें शांतिमय अहिंसा ही स्वाभाविक धर्म मानी गई है। हे ऋषियो, आपके प्रश्न का उत्तर मैं जितना जानता हूँ और जितनी मेरी बुद्धि है, उसके अनुसार देता हूँ; क्योंकि पक्षी जैसे अपनी शक्ति के अनुसार अनन्त अपार आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपनी बुद्धि के अनुसार ही हरि के अनन्त गुणों का कीर्त्तन करते हैं।

एक समय राजा परीक्षित धनुष लेकर वन में शिकार खेलने गये। वह मृगों का पीछा करते-करते थक गये। उन्हें भूख ने सताया और प्यास भी बड़े जोर से लग आई। उन्हें आसपास कोई जलाशय नहीं देख पड़ा, जहाँ जाकर वह पानी पीते। इतने में एक ऋषि का आश्रम देख पड़ा। राजा ने उस आश्रम में प्रवेश किया। आश्रम के भीतर उन्हें निर्विकल्प समाधि लगाकर आँखें मूंदे बैठे हुए शमीक ऋषि देख पड़े। उनकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण और बुद्धि ब्रह्म में लीन हो जाने के कारण उन्हें संसार की कुछ भी खबर नहीं थी। वह तीनों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—से परे तुरीय अवस्था में पहुँचकर निर्विकार ब्रह्मरूप हो रहे थे। इधर-उधर बिखरी हुई बड़ी-बड़ी जटाओं में उनका शरीर छिप रहा था। वह मृगचर्म ओढ़े हुए थे। प्यास के मारे राजा का तालू सूख रहा था। उन्होंने बाह्यज्ञानशून्य मुनि की दशा पर ध्यान न देकर उनसे पीने के लिए पानी माँगा। मुनि को तो उनके आने की खबर भी नहीं हुई थी, इसलिए उन्होंने न तो आसन या पृथ्वी पर बैठने के लिए राजा से कहा, न मीठी वाणी से आदर-सत्कार किया, और न पीने के लिए पानी ही दिया। इससे अपना अपमान समझकर परीक्षित् को क्रोध चढ़ आया। जो बात पहले कभी नहीं हुई थी, वही उस समय हुई। भूख और प्यास से व्याकुल राजा का विवेक और धैर्य नष्ट हो गया। उनके मन में

मुनि के प्रति ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न हो आया। पास ही एक मरा हुआ साँप पड़ा था। राजा ने क्रोध के मारे कुटी से निकलते समय धनुष से उस साँप को उठाकर मुनि के गले में डाल दिया। उनका तात्पर्य यह था कि अगर यह बहाने के लिए झूठी समाधि लगाकर बैठे होंगे, तो साँप के स्पर्श से डरकर आँखें खोल देंगे। राजा ने अपने मन में सोचा कि क्या यह ब्राह्मण सब इन्द्रियों का व्यापार बंद करके सचमुच समाधिस्थ हो रहे हैं, या यह सोचकर कि यदि हम सत्कार न करेंगे तो क्षत्रिय हमारा क्या कर लेगा, इन्होंने झूठ-मूठ ही आँखें मूँदकर समाधि का ढोंग रचा है!



इधर राजा चले गये, उधर शमीक ऋषि के पुत्र महातेजस्वी शृंगी ऋषि अपनी हमजोली के लड़कों के साथ कुछ दूर पर खेल रहे थे। उन्हें वहीं ख़बर मिली कि राजा परीक्षित् उनके पिता के गले में साँप चढ़ाकर उनका अपमान कर गये हैं। यह सुनकर उस तपस्वी बालक ने वहीं इस प्रकार कहा—अहो, इस अधम को तो देखो! काए के समान ब्राह्मणों की जूठन खानेवाले और कुत्ते के समान यज्ञशाला के द्वारपाल इन क्षत्रियों की यह करतूत कि ये दास होकर अपने स्वामी ब्राह्मणों का निरादर करें! ब्राह्मणों ने क्षत्रिय को कुत्ते की तरह अपने घर का चौकीदार नियत किया है। वह अधम क्षत्रिय कैसे ब्राह्मणों की रसोई के बर्त्तन में मुँह डाल सकता है। ऐसे उच्छृङ्खल दुष्टों को दंड देनेवाले भगवान् कृष्ण यदि परमधाम को चले गये हैं, तो अब मैं धर्म की मर्यादा को तोड़नेवाले दुष्टों को दंड दूँगा। मेरा तपोबल देखो।

क्रोध से लाल आँखें करके उस मुनिकुमार ने अपने साथी बालकों से यों कहकर कौशिकी नदी का पवित्र जल हाथ में लेकर परीक्षित् पर यह वाणी का वज्रप्रहार किया। शृंगी ने कहा, मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले कुलांगार परीक्षित् को मेरे पिता से द्रोह करने के कारण आज के सातवें दिन तक्षक नाग डस लेगा।

इस प्रकार राजा को शाप देकर बालक आश्रम में आया। उसने दूर ही से पिता के गले में साँप देखकर यह समझा कि राजा का डाला हुआ साँप जीवित है। उसने उसके पिता को डस लिया है, अथवा अब उन्हें वह डस लेगा, यह समझकर वह बालक ऊँचे स्वर से रोने लगा। पुत्र के रोने-चिल्लाने का शब्द कान में पड़ने से अंगिरा ऋषि के वंश में उत्पन्न शमीक ऋषि की समाधि उचट गई। उन्होंने धीरे-धीरे आँखें खोल दीं। अपने कंधे में मरा हुआ साँप देखकर उसे अलग फेंककर मुनि ने अपने पुत्र से पूछा, बेटा, तुम क्यों रो रहे हो? तुमको किसने सताया या कष्ट पहुँचाया है? पिता के पूछने पर पुत्र ने आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त कह सुनाया। सब हाल सुनकर पिता अपने पुत्र के इस कृत्य पर प्रसन्न नहीं हुए। कारण, राजा परीक्षित् शाप देने के योग्य नहीं थे।

मुनि ने कहा, हे नासमझ बालक, तूने बड़ा अपराध किया, जो थोड़ा अपराध करने पर राजा को

इतना कठोर दंड दिया। तेरी बुद्धि अभी कच्ची है, इसीसे तू नहीं समझता। राजा और साधारण मनुष्यों में बड़ा अंतर होता है। राजा के ही असह्य तेज से सुरक्षित होकर सारी प्रजा निर्भय रहती है, वह अपने मंगल के काम कर सकती है, और धर्म का पालन करती है। राजा इस लोक में रक्षक होने के कारण नारायण का रूप है। राजा के न देख पड़ने पर चोर-लुटेरे बढ़ जाते हैं। रक्षक के न होने से बिना सेनापति की सेना के समान सारी प्रजा लूटी और मारी जाती है। राजा के न रहने पर लोगों को दंड का डर नहीं रहता। धन लूटनेवाले चोर अनाथ प्रजा का धन लूटते हैं। लोग परस्पर एक-दूसरे को मारते, गाली देते, लूटते, और पशु, धन, स्त्री आदि का अपहरण करते हैं। इस समय तेरे शाप से राजा की मृत्यु होने पर यही सब अधर्म होगा, और उस पाप के भागी हम होंगे। राजा के अभाव में वर्णाश्रम का आचरण अर्थात् वेदविदित आर्यों का धर्म सदाचार लोप को प्राप्त होता है। धर्म के नष्ट होने पर केवल धन और काम में लिप्त लोग कुत्ते और बानरों के समान वर्णसंकर आचार करने लगते हैं। राजा परीक्षित् सम्राट् और राजर्षि हैं। वह धर्मात्मा, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, भगवान् के भक्त और बड़े यशस्वी हैं। भूख और प्यास से अधीर होकर अगर उन्होंने यह छोटा सा अपराध कर ही डाला था तो उन्हें हमको ऐसा घोर शाप न देना चाहिए था। नारायण सबके अन्तर्यामी हैं। उनके निर्दोष भक्त और सेवक को शाप देकर इस कच्ची बुद्धि के बालक ने जो अपराध किया है, उसे वह क्षमा करें। उन भगवान् के भक्त स्वयं बदला लेने में समर्थ होने पर भी दूसरों के किये हुए तिरस्कार, निन्दा, बिडंबना, अनादर, अभिशाप, यहाँ तक कि मार-गाली तक को सह लेते हैं।

पुत्र के अपराध के लिए उन महामुनि ने पश्चात्ताप किया। स्वयं राजा के द्वारा अपमानित होने पर भी उन्होंने राजा के अपराध का विचार नहीं किया। प्रायः देखा जाता है कि जो साधुजन हैं, वे दूसरों के दिये सुख-दुःख से प्रसन्न या व्यथित नहीं होते। कारण, यह समझकर कि आत्मा को माया के गुणों से होनेवाले सुख या दुःख नहीं होते, वे आत्मा को सुख या दुःख का भोगनेवाला नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में आत्मा निर्गुण ब्रह्म ही है।

# उन्नीसवाँ अध्याय

## गंगातट पर प्रायोपवेशन* करके बैठे हुए राजा परीक्षित् को शुकदेव के दर्शन

सूतजी कहते हैं, परीक्षित ने रास्ते में जब अपने निन्दित कार्य पर विचार किया, जब उनका क्रोध शान्त हुआ और चित्त स्वस्थ हुआ, तब वह इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगे—अहो, गुप्त तेजवाले उन निरपराध ब्राह्मण के साथ अनार्य पुरुष की तरह मैंने बड़ा ही नीच व्यवहार किया। निश्चय ही मुझको इस पूजनीय पुरुष के तिरस्कार का फल शीघ्र ही मिलेगा। अवश्य ही कोई ऐसी विपत्ति मुझ पर आवेगी, जिसका कोई प्रतिकार नहीं। मैं यही चाहता हूँ। ऐसा ही हो कि मेरे पाप का प्रायश्चित्त हो जाय, जिसमें फिर कभी ऐसा निन्दित कर्म मुझसे न हो। अभी प्रज्वलित ब्राह्मण-क्रोध की आग, मुझ पापी के इस भरे-पुरे राज्य, सेना और खजाने को जलाकर नष्ट कर दे, जिसमें फिर कभी, ब्राह्मण, देवता और गउओं के प्रति मेरी ऐसी नीच बुद्धि न हो, मैं उनका अपमान न करूँ।

* वह अनशन व्रत, जो प्राण त्यागने के लिए किया जाय।

राजा परीक्षित् इस प्रकार सोच ही रहे थे कि शमीक ऋषि के भेजे हुए एक शिष्य ने आकर बतलाया कि ऋषिपुत्र के शाप से आज के सातवें दिन तक्षक नाग के काटने से उनकी मृत्यु होगी। यह सुनकर



राजा ने अपने मन में कहा, चलो, यह बहुत अच्छा हुआ कि ऋषिपुत्र ने मुझे यह शाप दे दिया। मैं संसार में आसक्त हो रहा था। मुनिपुत्र ने शाप नहीं दिया, बल्कि मुझ पर बड़ी कृपा की। इसी बहाने अब मुझे संसार से वैराग्य तो हो गया। राजा पहले ही राज्य और स्वर्ग को तुच्छ समझते थे, इस कारण इस समय अनायास ही कृष्ण के चरण-कमलों की सेवा को सर्वोत्तम समझकर स्वजन, राज्य, पुत्र, परिवार आदि सब कुछ छोड़कर अन्नजल का त्याग करके पतितपावनी गंगा के किनारे जा बैठे। भूख और प्यास को जीतकर एकाग्र मन से वह ईश्वर का ध्यान करने लगे। जिन गंगा की धारा तुलसीदलमिश्रित कृष्ण-चरण की रज के संसर्ग से पवित्र होकर सब लोकों, लोकपालों और ब्रह्मा, शंकर आदि ईश्वरों को भी पवित्र करती है, ऐसा कौन मनुष्य है जो अन्तकाल में भी उसका सेवन न करेगा! इस प्रकार गंगा के किनारे प्राण-त्याग का निश्चय करके सब इन्द्रियों को जीतकर सबका संग छोड़कर पांडवकुलदीपक राजा परीक्षित् निश्चल मन से हरि के चरणों का ध्यान करने लगे। धर्मात्मा राजा परीक्षित् प्राणत्याग करने के लिए अन्नजल छोड़कर गंगा के किनारे बैठे हैं, यह सुनकर शिष्योंसहित बड़े-बड़े महात्मा-मुनि वहाँ आकर जमा होने लगे। स्वयं तीर्थस्वरूप सज्जन तीर्थयात्रा के बहाने तीर्थों को पवित्र करने जाते हैं। राजा परीक्षित् को देखने के लिए अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इन्द्रबाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कश्यप, अगस्त्य, भगवान् द्वैपायन व्यास, नारद, ऋषियों में श्रेष्ठ अरुण आदि देवर्षि, महर्षि, राजर्षि और अन्यान्य ऋषिगण आकर वहाँ उपस्थित हुए। परीक्षित् ने सबको सिर झुकाकर प्रणाम और यथाविधि सबका पूजन किया।

जब सब मुनि लोग सुख से बैठ गये, तब शुद्धचित्त राजा परीक्षित् ने फिर सबको प्रणाम किया और उनके सामने हाथ जोड़े खड़े होकर अपनी जो करने की इच्छा थी, उसे यों कहा—हे पूजनीय मुनिगण, मैंने जो निन्दित कर्म किया, उससे मेरे कुल की कीर्त्ति और गौरव नष्ट हो गया, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक कि मैं ब्राह्मणों के चरणोदक के निकट भी नहीं उपस्थित हो सकता; फिर ब्राह्मण के पास बैठने और संभाषण करने की कौन कहे। परन्तु फिर भी मेरी समझ में मैं ही इस समय सब राजों में श्रेष्ठ और धन्य

हूँ, कारण, आप सब महानुभाव महर्षि मुझ पातकी पर अनुग्रह करने के लिए उपस्थित हुए हैं। मेरे लिए तो मुनि के पुत्र का दिया हुआ दण्ड भी अनुग्रह हो गया। मैं बड़ा पापी हूँ। मैं संसार में गृहस्थाश्रम में लिप्त हो रहा था। मैं तो जानता हूँ कि संसार से विरक्त करके अपने प्रति अनुरक्त करने के लिए चराचर जगत के स्वामी भगवान् हरि ने ही कृपा करके ब्राह्मणकुमार के द्वारा मुझको यह शाप दिलाया है, जिससे मेरे हृदय में सहसा विराग उत्पन्न हो आया। जिसे संसार से वैराग्य हो गया, और जिसका मन भगवान् में लग गया, फिर उसे मृत्यु आदि किसी का भय नहीं रहता; क्योंकि वह शीघ्र ही निर्भय पद को पहुँच जाता है। मैं आप लोगों की शरण में आया हूँ। आप लोग और गंगादेवी मुझ पर कृपा करके मेरी इच्छा का अनुमोदन करें। मैंने ईश्वर के चरणों में अपना मन लगा दिया है। अब चाहे ब्राह्मण का शाप मुझे भस्म कर दे, और चाहे ब्राह्मण का भेजा हुआ तक्षक आकर मुझे डस ले, मुझे किसी की परवा नहीं। बस, अब आप लोग नारायण की कथाएँ कहिए। मैं फिर आप सब ब्राह्मणों की वंदना करके यही प्रार्थना करता हूँ कि अब जो जन्म मिले, उसमें फिर भगवान् वासुदेव की दृढ़ भक्ति मुझे प्राप्त हो। मैं जिस-जिस योनि में जहाँ-जहाँ जन्म लूँ, वहाँ-वहाँ मुझे भगवान् के भक्तों का संग और मित्रता अवश्य प्राप्त हो।

दृढ़ निश्चय किये हुए धीर और ज्ञानी राजा ने अपने पुत्र जनमेजय को राजगद्दी दे दी थी। उसके बाद यों कहकर वह गंगा के दक्षिण तट पर पूर्वाभिमुख बिछे हुए कुशासन पर उत्तरमुख होकर बैठ गये। ईश्वर में दृढ़ रूप से मन लगाकर राजा परीक्षित् जब इस प्रकार प्राणत्याग करने बैठे, तब स्वर्गलोक में देवता लोग राजा की बड़ाई और उनके ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे। आकाश में देवताओं के शंख, नगाड़े आदि बाजे बजने लगे। जो ऋषि-मुनि उस समय वहाँ एकत्र हुए थे, वे 'वाह वाह', 'धन्य धन्य' कहकर राजा की सराहना और उनकी इच्छा का अनुमोदन करने लगे।

ऋषियों ने राजा परीक्षित् से कहा, हे श्रेष्ठ राजर्षि, भगवान् कृष्ण के सेवक महात्मा पांडवों के वंश में आपका जन्म हुआ है, आपके लिए ऐसा करना कुछ आश्चर्य नहीं। आपके पुरखे पांडव सदा प्रजा का पालन करते रहे, और उन्होंने अन्त समय मुक्ति के लिए उस श्रेष्ठ चक्रवर्त्तियों के राजसिंहासन को क्षण भर में तृण के समान त्याग दिया, जिसे अन्य राजों के मुकुटों में लगी हुई मणियाँ अपने प्रकाश से चमकाया करती थीं।

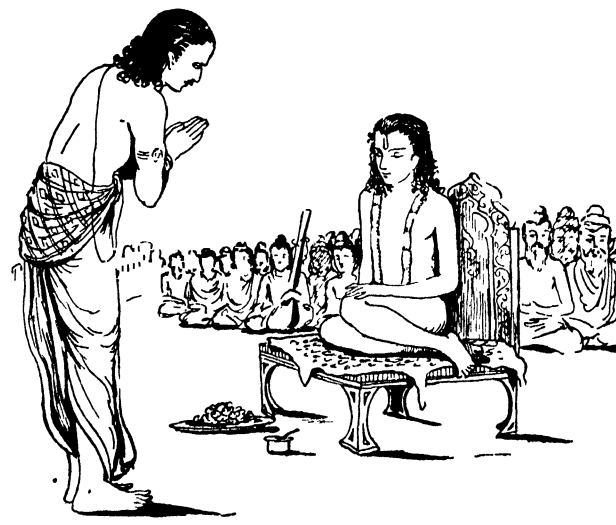
फिर सब ऋषि आपस में कहने लगे कि जब तक यह भगवान् के भक्तों में श्रेष्ठ राजा इस अनित्य शरीर को छोड़कर माया के विचार से रहित शोकशून्य परमपद को जायँ, तब तक हम सबको यहीं ठहरना चाहिए।

ऋषियों के ये पक्षपातहीन, गंभीर अर्थवाले, सत्य और अमृत के समान मधुर वचन सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर सबको सादर प्रणाम करके विष्णु के चरित्र सुनने की इच्छा से राजा ने कहा—ब्रह्मलोक में विराजमान वेदों के समान आप लोग सब लोकों से यहाँ आये हैं। दूसरों पर अनुग्रह करने के सिवा आप सज्जनों का इस लोक या परलोक में कोई स्वार्थ नहीं है। मतलब यह है कि साधुजन पराये ही उपकार के लिए घूमते हैं। परोपकार ही उनका स्वभाव है। आप लोग ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हैं। मुझे इस समय क्या करना चाहिए, इस विषय का निर्णय आप लोग ठीक ठीक करेंगे, यह विश्वास करके मैं आपसे पूछता हूँ कि जिनकी मृत्यु का समय निकट आ गया है, उनका सब तरह से निर्दोष कर्त्तव्य क्या है, उन्हें अपने कल्याण के लिए क्या करना चाहिए? आप लोग आपस में विचार करके मुझे बतलाइए।

उस समय सब ऋषि-मुनि अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार यज्ञ, योग, तप, दान इत्यादि को मरनेवाले का श्रेष्ठ कर्त्तव्य बतलाकर आपस में तर्क करने लगे। इसी बीच में भगवान् व्यासदेव के पुत्र परमहंस

श्रीशुकदेवजी अपनी इच्छा से पृथ्वीतल में विचरते हुए उस स्थान में आकर उपस्थित हुए। वह निष्काम अर्थात् सब कामनाओं से रहित अतएव आत्मज्ञान के आनन्द में ही मग्न रहते हैं। उन्हें कोई पागल या सिड़ी समझकर स्त्री-बालक आदि उनके पीछे ताली पीटते, हाहा हूहू करते चले आते थे। उनकी अवस्था सोलह वर्ष की जान पड़ती थी। उनके पैर, हाथ, जाँघें, भुजा, कंधे, कपोल आदि सब अंग सुकुमार और सुडौल थे। सुंदर विशाल आँखें थीं। नासिका ऊँची थी। कान समान आकार के थे। भौंहें सुंदर थीं। कंठ शंख के समान, तीन रेखाओं से युक्त, दर्शनीय और घुमावदार था। दोनों कंधे भरे हुए थे। कंधों की हड्डियाँ मांस में छिपी हुई थीं। वक्षःस्थल चौड़ा और ऊँचा था। नाभि घूमी हुई और गहरी थी। उदर सुंदर त्रिवली से अलंकृत था। वह दिगंबर थे। उनके केश घुँघराले और बिखरे हुए थे। दोनों हाथ घुटनों तक लंबे थे। वह देवदेव नारायण के समान सुंदर और तेजस्वी देख पड़ते थे। उनका रंग श्याम था। अनंत यौवन और सौन्दर्य से स्त्रियों के मन को हरनेवाले और हर घड़ी मंद मुसकान से सुशोभित श्रीशुकदेवजी को सहसा वहाँ उपस्थित देखकर बड़े-बड़े महर्षि अपने आसनों से उनके प्रति आदरभाव दिखाने के लिए उठ खड़े हुए। यद्यपि श्रीशुकदेव का तेज गुप्त था, हरएक देखकर नहीं जान सकता था कि यह कोई महाज्ञानी, महातेजस्वी, महापुरुष होंगे, तथापि मुनियों ने उन्हें पहचान लिया, क्योंकि उन्हें मालूम था कि श्रीशुकदेवजी के ये लक्षण हैं, वह ऐसी दशा में रहते हैं।

अतिथि के रूप में स्वयं आये हुए श्रीशुकदेवजी को देखकर राजा परीक्षित् भी उनके स्वागत के लिए अपने आसन से उठ खड़े हुए। राजा ने सिर झुकाकर प्रणाम और पूजन किया। यह देखकर जो मूर्ख बालक-स्त्री आदि श्री शकदेवजी के पीछे लगे हुए थे, वे लौट गये। राजा की पूजा ग्रहण करके शकदेवजी सर्वश्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए।



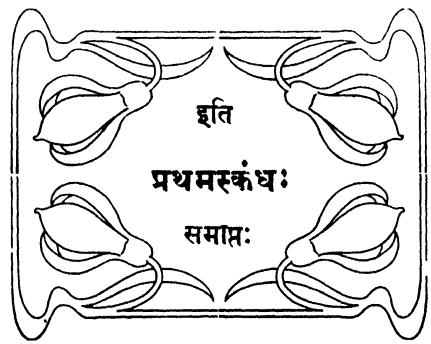
बड़े-बड़े तेजस्वी ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि की मंडली में महापुरुष शुकदेव की वैसी ही शोभा हुई, जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागण के बीच चन्द्रमा की शोभा होती है।

जिनकी बुद्धि किसी विषय में कुंठित नहीं होती, वह गूढ़ विषय को जाननेवाले सर्वज्ञ शुकदेवजी जब शान्त भाव से आसन पर विराजमान हुए, तब नारायण के परम भक्त राजा परीक्षित् ने उनके सामने बैठकर उन्हें प्रणाम किया, और फिर चित्त को एकाग्र करके हाथ जोड़कर मधुर वाणी से यों कहा—

अहो, हमारे अहोभाग्य हैं! भगवन्, आज हम सज्जनों के समाज में बैठने योग्य हुए, क्योंकि कृपा करके आज आप अतिथिरूप से पधारे, और अपने चरणों की पावन रज से हमें पवित्र कर दिया। महात्माओं का स्मरण करने ही से लोगों के घर पवित्र हो जाते हैं। और यदि कहीं उन महात्माओं के दर्शन, स्पर्श, पैर धोने, पूजा करने का सौभाग्य प्राप्त हो तब तो फिर कुछ कहना ही नहीं। आप महायोगी हैं। आपके पास आने से मनुष्यों के बड़े से बड़े पाप

भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे विष्णु भगवान् के निकट पहुँचने पर राक्षसों का विनाश हो जाता है। मैं समझता हूँ, पांडवों के प्यारे और हितकारी कृष्ण भगवान् अपनी बुआ के लड़कों पांडवों की प्रसन्नता के लिए अवश्य ही पांडवों के गोत्र में उत्पन्न मुझ दास पर प्रसन्न हुए हैं। अर्थात् मैं समझता हूँ कि भक्तवत्सल कृष्ण ने ही मुझपर कृपा करके इस समय आपको यहाँ भेज दिया है। नहीं तो आपका दर्शन हम-जैसे मनुष्यों को—वह भी अन्त समय में—कैसे हो सकता था! क्योंकि आप अव्यक्तगति हैं, कब कहाँ जाते और रहते हैं, यह कोई नहीं जानता। साथ ही आप पूर्ण सिद्ध और अनपेक्ष भी हैं। अर्थात् आपको किसी बात की अपेक्षा या चाह भी नहीं है। तात्पर्य यह कि पता न रहने के कारण न तो कोई आपको बुला ही सकता है, और निष्काम-सिद्ध होने के कारण न आप कहीं किसी के बुलाने से जा ही सकते हैं। अतएव आपका यहाँ आना ईश्वर की प्रेरणा से ही हुआ है। इसलिए मेरा आपसे यही प्रश्न है कि जिसका मरणकाल निकट आ गया हो, जो शीघ्र ही मरनेवाला हो, वह उस थोड़े से समय में अपने कल्याण के लिए क्या करे? आप सिद्ध और योगियों के भी गुरुओं के गुरु हैं, इसलिए मैं आपसे यह दुर्ज्ञेय प्रश्न करता हूँ कि मुझ सरीखे आसन्नमृत्यु व्यक्ति को क्या सुनना, क्या जपना, क्या करना, क्या ध्यान करना या भजना चाहिए? अथवा क्या न सुनना, न करना, न भजना चाहिए? इसमें सन्देह नहीं कि आप गृहस्थों के यहाँ उतने समय भी नहीं ठहरते, जितने समय में एक गऊ दुही जाती है। यह तो मेरा सौभाग्य है कि आपके दर्शन मुझे हो गये।

इस प्रकार सुंदर, मधुर, कोमल वाणी में राजा ने जब प्रश्न किया, तब धर्मतत्त्व के ज्ञाता भगवान् बादरायण व्यास के पुत्र श्रीशुकदेवजी ने राजा के प्रश्न का उत्तर देना आरंभ किया।





# दूसरा स्कंध

## पहला अध्याय

### भगवान् के विराट् रूप में मन लगाना

श्रीशुकदेव ने कहा—राजन्, यह तुम्हारा प्रश्न बहुत अच्छा है; क्योंकि इससे केवल तुम्हारा ही नहीं संसार भर का कल्याण होगा। मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ रूप से क्या सुनना, क्या करना आदि चाहिए, यह प्रश्न आत्मज्ञानी लोगों के द्वारा भी अनुमोदित है। हे राजेन्द्र, जो गृहस्थ लोग आत्मा के रूप को नहीं जानते और घर, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक विषयों में फँसे हैं, उनके लिए सुनने या करने योग्य हज़ारों विषय हैं। ऐसे लोगों की आयु व्यर्थ ही बीत जाती है। रात्रि का समय तो सोने में या युवावस्था हुई तो स्त्री के संग विषय-भोग करने में बीत जाता है और दिन का समय धन कमाने में या कुटुम्ब के भरण-पोषण में नष्ट होता है। देह, पुत्र, स्त्री आदि अपने साथी एक दिन छूटनेवाले होने के कारण असत् हैं। परन्तु यह असावधान प्राणी उनका नष्ट होना देखकर भी जैसे नहीं देखता, अर्थात् उसे यह विचार नहीं होता कि इनमें आसक्त होने से कोई लाभ नहीं। हे परीक्षित्, इसलिए जो कोई अभयपद मोक्ष की इच्छा रखता हो या यह चाहता हो कि मुझे मृत्यु का भय न रहे, उसे चाहिए कि वह सर्वव्यापक भगवान् हरि

ईश्वर का ही कीर्त्तन और स्मरण करे और उनके चरित्रों को सुने। सांख्य (आत्मा और अनात्मा का अथवा सत् और असत् का विवेक) और अष्टांग योग का यही निचोड़ है और अपने धर्म की निष्ठा का यही परम लाभ है कि अन्त समय नारायण का स्मरण किया जाय। मनुष्य-जन्म का यही श्रेष्ठ फल है। इसीलिए निर्गुण ब्रह्म के उपासक अथवा ब्रह्मलीन और शास्त्रोक्त विधि-निषेध या पाप-पुण्य से निवृत्त मुनि भी प्रायः हरि के चरित्रों को कहते-सुनते हैं। मैं अब जो तुम्हारे आगे कहूँगा, यह भागवत नाम का महापुराण है। यह सब वेदों के समान है अथवा इसमें वेदों के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है। इसे मैंने द्वापरयुग के आरम्भ में अपने पिता द्वैपायन व्यास से पढ़ा था। व्यासजी निर्गुण के उपासक जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, तथापि हरि के गुणों ने उनके मन को ऐसा मोह लिया कि उन्होंने इस आख्यान को कहा, जिसे मैंने उनसे पढ़ा। वही पुराण-शास्त्र अब मैं तुमसे कहता हूँ; क्योंकि तुम विष्णु के अनन्य भक्त और श्रद्धायुक्त होने के कारण इसके सुनने के अधिकारी हो। इस भागवत के सुनने के लिए जिसके मन में श्रद्धा होती है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही शुद्ध (निष्काम) होकर भगवान् के चरणों का आश्रय लेती है। महाराज, जो लोग इस संसार से विरक्त होकर अकुतोभय मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे योगियों अर्थात् ज्ञानियों के लिए हरि के नाम का कीर्त्तन करना ही मुख्य कर्त्तव्य है, और यही सब शास्त्रों ने निर्णय किया है। विषय-भोग में लगे हुए और परलोक बनाने की ओर से असावधान व्यक्ति बहुत दिन जीकर भी क्या अपना उपकार कर सकता है? मैं तो समझता हूँ कि वह दो घड़ी की आयु भी बहुत है, जिसमें ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति अथवा पारलौकिक कल्याण के लिए यत्न किया जाय। एक खट्वांग नाम के राजा थे। वह देवतों की ओर से दैत्यों से लड़ने के लिए स्वर्गलोक गये। दैत्यों को परास्त करने के बाद देवतों ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने के लिए कहा। राजा ने कहा—पहले यह बताइए कि मेरी आयु अब कितनी बाक़ी है? देवतों ने कहा—आपकी आयु अब केवल दो घड़ी बाक़ी है। राजा अत्यन्त शीघ्र विमान पर बैठकर पृथ्वीतल पर आये और सब कुछ त्याग करके, विरक्त होकर, दो ही घड़ी में हरि का भजन करके मुक्त हो गये। पृथ्वी पर आकर उनके हरिभजन करने का कारण यह था कि पृथ्वी कर्मभूमि है और स्वर्ग भोगभूमि। पृथ्वी पर कर्म करने से उसका बहुत शीघ्र फल मिलता है। जब खट्वांग राजा ने दो ही घड़ी के समय में अपना परलोक बना लिया, तब तुम्हें तो सात दिन का अवकाश है। सात दिन अभी तुम और जियोगे। इतने समय में तो तुम बहुत अच्छी तरह अपनी मुक्ति का उपाय कर सकते हो।

सुनो, जब अन्तकाल आ जाय, तब चाहिए कि मन से मृत्यु के भय या घबराहट को दूर कर दे और अपने शरीर तथा उसके साथी स्त्री-पुत्र आदि के माया-मोह अथवा ममता के बन्धन को वैराग्य की तलवार से काट डाले। [तात्पर्य यह कि उस समय सांसारिक सुख की इच्छा तथा शरीर और परिवार की ममता से मन को हटा ले।] इस प्रकार विरक्त होकर घर से निकल खड़ा हो [कारण, घर में रहने से फिर आसक्त होने की संभावना रहेगी।] धीर भाव से किसी पवित्र तीर्थ के जल में स्नान करे, फिर एकान्त स्थान में विधिपूर्वक आसन लगाकर बैठे। [पहले कुशासन, उस पर मृगछाला और उस पर कोई वस्त्र बिछाना चाहिए। यही आसन की विधि है। यहाँ शुकदेवजी अष्टांग योग की विधि कहते हैं। धीर भाव और ब्रह्मचर्य आदि यम, पुण्यतीर्थ में स्नान आदि नियम, और उसके उपरान्त आसन का वर्णन कर चुके। अब योग के चौथे अंग प्राणायाम का वर्णन करते हैं।] उस साधक को चाहिए कि मन को एकाग्र करने के लिए विशुद्ध अन्तःकरण में पहले तीन अक्षरों से बने हुए ब्रह्मबीज प्रणव अर्थात् ॐकार का अभ्यास करे। इस प्रकार इन्द्रियसहित मन को वश में कर, ॐकार का जप करता हुआ, प्राणायाम से श्वासा को जीते अर्थात् अपने वश में करे। [अब पाँचवें अंग प्रत्याहार का वर्णन करते हैं।] निश्चया-

त्मिका बुद्धि को सारथी बनाकर मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से हटाकर अपने वश मे कर ले। [ अब छठे अंग धारणा का वर्णन करते हैं। ] फिर विषय-वासना की ओर खिचे हुए मन को उधर से खींचकर बुद्धि के द्वारा भगवान के रूप में लगा दे। [ अब सातवें अंग ध्यान की बात कहते हैं। ] फिर भगवान् के चरण आदि एक-एक अंग को समग्र मूर्त्ति से संयुक्त रखकर ही उसका ध्यान करे। इस प्रकार एकाग्र और निर्विषय मन को भगवान् के रूप में लगाकर और कुछ भी स्मरण न करे। इस प्रकार जब भगवान् के ध्यान में मन स्थिर हो जाता है, तब वह केवल परमानन्दमय हो जाता है; उसकी चंचलता बिल्कुल जाती रहती है। [ यही समाधि की अवस्था है, जिसे योग का आठवाँ अंग कहते हैं। ] यदि बीच में कभी रजोगुण या तमोगुण के द्वारा मन क्षोभ को प्राप्त हो तो साधक को चाहिए कि पहले कहे गये उपाय से, अर्थात् धारणा के द्वारा, मन को फिर स्थिर करे। इस प्रकार बारम्बार चित्त को धारणा में नियुक्त करते रहने से योग में विघ्न डालनेवाले रजोगुण और तमोगुण की मलिनता मन से दूर हो जाती है और मन शुद्ध और स्थिर हो जाता है। चित्त को इस प्रकार ध्यान में स्थिर कर लेने पर साधक योगी के हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस भक्तियोग के सिद्ध होने पर उसी भगवान् के रूप के प्रति प्रीति बढ़ती है, अर्थात् साधक को फिर और कोई चाह नहीं रह जाती, उसकी सब कामनाओं का अन्त हो जाता है।

राजा ने पूछा—भगवन्, जैसे यह धारणा की जाती है और जिस प्रकार की धारणा शीघ्र ही पुरुष के मन को निर्मल बनाती है, सो आप कृपा करके कहिए।

शुकदेवजी कहते हैं—जैसे यह धारणा ( ध्यान ) की जाती है, सो सुनो। सबसे पहले आसन को जीते, फिर श्वासा को जीते। उसके बाद निःसंग और जितेन्द्रिय होकर भगवान् के स्थूल विराट् रूप में अपने मन को बुद्धि के द्वारा एकाग्र करके लगावे। राजन, यह जो सारा ब्रह्माण्ड तुम देखते हो, यही नारायण का विराट् शरीर है। यह विराट् शरीर बहुत बड़ा और अत्यन्त स्थूल है। इस रूप मे भूत, भविष्य और वर्त्तमान सब विश्व दिखाई पड़ता है। इस ब्रह्माण्डमय शरीर के पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व ये सात आवरण हैं। इस विराट् शरीर में व्याप्त जो भगवान पुराण-पुरुष हैं, उन्हीं के ध्यान में प्रथम मन लगाना चाहिए। [ अब विराट् पुरुष के अंगों का वर्णन करते हैं। ] वेद के तत्त्व को जाननेवाले विद्वान् लोग कहते हैं कि विराट् पुरुष के पैरों के तलवे पाताललोक है। पैरों के अगले और पिछले हिस्से रसातललोक है। उस विश्वस्रष्टा ईश्वर के पैरों के गुल्फ ( गट्टे ) महातल-लोक है। उस महापुरुष की जाँघें तलातललोक है। दोनों जानु सुतललोक है। दोनों ऊरु वितल और अतललोक हैं। जघन या नितम्ब पृथ्वीतल है। आकाश उनकी नाभि है। उनका वक्षःस्थल स्वर्गलोक है। गर्दन महर्लोक है। मुख जनलोक है। ललाट तपलोक है। उस सहस्र सिरवाले आदिपुरुष का सिर सत्यलोक है। इन्द्र आदि सब लोकपाल उनके हाथ हैं। दिशाएँ कान हैं। शब्द उनकी श्रवणेन्द्रिय है। अश्विनीकुमार देवता नासिका है, और गन्ध घ्राणेन्द्रिय है। प्रज्ज्वलित अग्नि उनका मुख है। उनके नेत्र-गोलक यह अन्तरिक्ष है। सूर्य चक्षु इन्द्रिय है। दिन और रात्रि उन विराट् पुरुष विष्णु की पलकें हैं। ब्रह्मलोक उनकी भौंहें हैं। जल उनका तालू, और रस ही रसना है। वेद उन अनन्त भगवान् का ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्माण्ड हैं। यमराज उनकी दाढ़ें हैं। पुत्रस्नेह आदि सब स्नेह उनके दाँत हैं। लोगों को मोहित करनेवाली माया उनकी हँसी है। यह अनन्त सृष्टि ही उनका कटाक्ष या देखना है। लज्जा ऊपर का होंठ, लोभ नीचे का होंठ, धर्म हृदय, अधर्म पीठ, प्रजापति लिंगेन्द्रिय, मित्रावरुण देवता अंडकोष, समुद्र कोख और ये सब पहाड़ हड्डियाँ हैं। नदियाँ उनकी नाड़ी और वृक्ष उनके रोएँ हैं। हे राजेन्द्र, महापराक्रमी वायु विश्वमूर्त्ति विराट् पुरुष की साँस है। परम प्रबल काल उनकी गति या चलना है। यह गुणकर्मप्रवाहरूप संसार

उनकी क्रीड़ा या कर्म है। ये बादल उन ईश्वर के केश हैं। उन भूमा के वस्त्र संध्या है। अव्यक्त मूलवस्तु, जिसे दर्शनशास्त्रों में प्रधान तत्त्व कहा है, उनका हृदय है। उनका मन चन्द्रमा है। मन ही सब विकारों का आधार माना गया है। महत्तत्त्व उनकी विज्ञानशक्ति अर्थात् चित्त है। श्रीरुद्र उनका अहंकार हैं। घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी विराट् पुरुष के नख हैं। सब मृग और पशु उनकी श्रोणी या कमर हैं। पक्षीगण उनका नाम या शब्द का प्रकाशक विचित्र व्याकरण अर्थात् शिल्पनैपुण्य ( कारीगरी ) हैं। स्वायंभुव मनु बुद्धि हैं। सब मनुष्य उनका निवासस्थान हैं। गंधर्व, चारण, विद्याधर और अप्सरा स्वर हैं, और दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद आदि उनकी स्मरणशक्ति हैं। ब्राह्मण उनका मुख और क्षत्रिय भुजा हैं। वैश्य ऊरु और कृष्णवर्ण शूद्र पैर हैं। राजन्, जगत् में जो अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते हैं, जिनमें विविध देवतों का आवाहन और पूजन करके हवि का भाग दिया जाता है, वे कर्मकाण्डमय यज्ञ उन हरि का अभिप्राय हैं। यह जो मैंने इतना बड़ा ईश्वर का विराट् स्वरूप वर्णन किया, इसी स्थूल रूप में पहले मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक लोग बुद्धि के द्वारा एकाग्र करके अपने मन को लगाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सो सब इस रूप के अन्तर्गत है। महाराज, जैसे सोते समय जीव सपने में कभी अपने बहुत से शरीरों की कल्पना करके उनकी इन्द्रियों से सब देखता-सुनता है, वैसे ही वह जगदीश्वर स्वयं आत्मारूप से सब जीवों के शरीरों में व्याप्त होकर विभिन्न नामों और रूपों को ग्रहण करता है, पर ज्ञानमय होने के कारण बंधन में नहीं पड़ता। अतएव देह और जीव को एक ईश्वर मे लीन करके, तन्मय होकर, उसी सत्स्वरूप, आनन्द-घन ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। अन्य किसी विषय में अपने मन को न आसक्त होने दे; क्योंकि उससे अधःपतन के सिवा और कुछ लाभ नहीं हो सकता।

---

# दूसरा अध्याय

## स्थूल रूप में मन के स्थिर हो जाने पर ईश्वर के सूक्ष्म रूप का ध्यान करने की विधि

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, प्रलय हो जाने के उपरान्त यथासमय सृष्टि का आरंभ होने के समय ब्रह्मा ने इसी धारणा के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करके अपनी नष्ट हुई सृष्टि करने की स्मरणशक्ति को प्राप्त किया। उद्योगशील ब्रह्मा ने उसके उपरान्त फिर उसी पहले के क्रम से इस जगत् की रचना की। [ इस धारणा के अवान्तर फल का वर्णन करके अब यह बतलाने के लिए कि जो उपासना का कुछ फल नहीं प्राप्त करना चाहते उन विरक्तों को भी विशुद्ध आत्म-धारणा का अधिकार है, शुकदेवजी वैराग्य के लिए सभी कर्मफलों की निन्दा करते हैं। ] राजन्, स्वर्गलाभ आदि फल के लिए वेदोक्त कर्मकाण्डमार्गी यज्ञ करनेवाले लोग व्यर्थ ही परिश्रम करते हैं। उनको यदि नष्ट होनेवाले स्वर्गादि के जो तुच्छ सुख कुछ समय के लिए मिल जाते है, तो उन्हें यथार्थ सुख नहीं कहा जा सकता। यज्ञ करके स्वप्न में मिलनेवाले क्षणभंगुर सुखों के समान असत् स्वर्गादि सुख के फेर में पड़कर ऐसे कर्मकाण्डी लोग बराबर जन्म-मरण के फेर मे पड़े रहते हैं। यथार्थ सुख तो ब्रह्मानन्द में ही है और वह इसी निवृत्तिमार्ग में मिल सकता है। इसलिए चतुर विद्वान् पुरुष को चाहिए कि भोग की सामग्री से उतना ही मतलब रक्खे, जितना कि शरीर बनाए रखने के

लिए आवश्यक हो। परन्तु उतना भी संबंध अनासक्त होकर ही रक्खे और अपने मन में यह दृढ़ निश्चय बनाए रहे कि यह सुख नहीं है। और, यदि वह प्रयोजन भी आप ही पूरा हो तो उतने विषय-भोग के लिए भी यत्न न करे; क्योंकि वह व्यर्थ का परिश्रम है। मतलब यह कि कर्मानुसार सांसारिक सुख-दुःख तो स्वयं प्राप्त होते रहते हैं, इस कारण केवल ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए ही यत्न करना उचित है। [ अब यह बतलाते हैं कि देहनिर्वाह का प्रयोजन बिना प्रयत्न के आप ही आप कैसे सिद्ध हो सकता है। ] देखो, जब ईश्वर का दिया हुआ सुलभ पलंग या बिछौना यह पृथ्वी प्राप्त है, तब फिर अन्य शय्या या बिछौने के लिए प्रयास करने की क्या आवश्यकता है? सिरहाने रखने के लिए स्वाभाविक तकिया अपना हाथ जब पास है, तब और तकिया ढूँढ़ने की क्या जरूरत है? खाने की सामग्री रखने के लिए अपने हाथों की अंजलि है ही, फिर थाली, कटोरी, कटोरे आदि की क्या आवश्यकता है? और, यदि दिशाएँ ही वस्त्र का काम देती हैं अर्थात् दिगंबर भी रह सकते हैं तो फिर कपड़े-लत्तों की फ़िक्र करना व्यर्थ है। रास्ते में पड़े हुए फटे-पुराने वस्त्र या वृक्षों के वल्कल क्या नहीं मिल सकते? वृक्ष क्या खाने के लिए फलों की भिक्षा नहीं देते? नदियों का जल क्या सूख गया है? रहने के लिए क्या पहाड़ों की कन्दराएँ बंद हो गई हैं? और यदि यह कुछ भी न प्राप्त हो तो क्या विष्णु भगवान् अपनी शरण में आए लोगों की रक्षा नहीं करेंगे? जो इस प्रकार फटे-पुराने कपड़े या वल्कल पहनकर, वृक्षों के फल खाकर, नदियों का पानी पीकर और कन्दराओं में रहकर जीवन बिताया जा सकता है, तो फिर भगवद्भक्त परमहंस लोग धन के मद में अंधे हो रहे धनी लोगों की आराधना क्यों करें? महाराज, इस तरह मन मे सन्तोष रखकर यथाशक्ति स्वयंसिद्ध अपने आत्मा हरि का ही भजन करना चाहिये। वही प्रिय अर्थात् सेवनीय, सत्य, भजनीय और अनन्त हैं। आत्मानुभव के आनन्द से युक्त होकर, अपने आत्मा के स्वरूप को जानकर, उसी को भजना चाहिए। इसी से संसार अर्थात् जन्म-मरण का कारण अविद्या शान्त हो जाती है। पशु के सिवा मनुष्य भला ऐसा कौन होगा, जो ऐसे परमेश्वर का चिन्तन अथवा भगवद्भक्ति को छोड़कर असत् विषयों का आदर करेगा, उनके चिन्तन में मन लगावेगा? इस संसाररूप वैतरणी ( यमलोक की एक भयानक नदी, जिसमें रुधिर, पीप, मल-मूत्र आदि भरा है और पापियों को उसके पार जाने की यातना भोगनी पड़ती है ) में गिरकर अपने कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोग रहे प्राणियों को देखकर भी जो सचेत नहीं होता, भगवद्भजन नहीं करता, जन्म-मरण के चक्र मे डालनेवाले विषयों के भोग में ही लिप्त रहता है, वह अवश्य ही नरपशु है।

[भगवान् का पूर्वोक्त स्थूल रूप मन में बस जाने पर भगवान् के जिस सूक्ष्म रूप मे मन को क्रमशः लगाना चाहिए, उसका अब वर्णन करते हैं। ] कोई साधक इस प्रकार भगवान् का ध्यान करते हैं कि वह परमपुरुष हमारे ही शरीर के भीतर हृदय के सिंहासन पर विराजमान है। उनकी वह मूर्त्ति प्रादेश ( एक नाप, जो अँगूठा और तर्जनी उँगली को फैलाने से बनती है ) भर ऊँची है। उन भगवान् के चार हाथ हैं, जिनमें वह शंख, चक्र, गदा और कमल का फूल लिये हुए हैं। मन लगाकर हरि की ऐसी मूर्त्ति का वे ध्यान करते हैं। उनके मुख पर प्रसन्नता की झलक है। कमलदल के समान विशाल नेत्र हैं। कदम्ब-कुसुम की केसरों के समान पीताम्बर वह पहने हुए हैं। श्रेष्ठ रत्नों के जड़ाऊ सुवर्ण के अंगद ( बाजूबंद ) भुजाओं में और रत्नजटित किरीट-मुकुट तथा कुण्डल सिर और कानों में शोभायमान हैं। भक्तों के प्रफुल्लित हृदय-कमल के ऊपर चरण रक्खे हुए हैं। लक्ष्मी के चिह्न से चिह्नित वह भगवान् कण्ठ में कौस्तुभ मणि और हृदय में कभी न मुरझानेवाली वनमाला धारण किये हैं। उनके अंगों में मेखला ( कर्धनी ), अँगूठी, बजते हुए नूपुर और कंकण आदि आभूषण शोभित हो रहे हैं। चिकने, साफ़ और घुँघराले केशों के बीच सदा हास्य से युक्त उनका मुखमण्डल बहुत ही सुन्दर देख पड़ता है। उदार लीलामय हास्यसहित दृष्टि से

उल्लसित हो रही भ्रुकुटियों के इशारे से वह भगवान् भक्तों पर अपना अत्यन्त अनुग्रह सूचित कर रहे हैं। जब तक धारणा के द्वारा मन स्थिर रह सके, तब तक ऐसे ध्यान करते ही हृदयकमल पर दर्शन देनेवाले ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करनेवाले साधक को चाहिए कि पहले क्रमशः पैरों से लेकर मुख के हास्य तक भगवान की मूर्त्ति के एक-एक अंग का ध्यान करे। इसका क्रम यह है कि जो-जो अंग ध्यान में जमता जाय उसे-उसे छोड़कर आगे के दूसरे अंग में मन को लगावे। जो अंग बिना किसी प्रयत्न के ध्यान करते ही हृदय में मानस-चक्षु के आगे प्रकट हो जाय, उसे ध्यान में जमा हुआ समझकर आगे बढ़ना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि के शुद्ध अर्थात् निश्चल हो जाने पर एक साथ भगवान के पूर्ण रूप का ध्यान किया जा सकता है। जब तक ब्रह्मा आदि के भी स्वामी, विश्व के ईश्वर, इस सृष्टिप्रपञ्च के द्रष्टा अथवा साक्षी भगवान् में परमप्रेमरूप भक्तियोग ( भक्ति का सम्बन्ध ) न उत्पन्न हो, अर्थात् साधक जब तक इस सूक्ष्म रूप का ध्यान करने की योग्यता या अधिकार न प्राप्त करले, तबतक उसे चाहिए कि वह नित्य आवश्यक कर्म कर चुकने के बाद नियमपूर्वक ईश्वर के पूर्वोक्त विराट् रूप का ध्यान करता रहे। कारण, वैराग्य की उत्पत्ति और चित्त की एकाग्रता या बुद्धि की शुद्धि के लिए पहले विराट् रूप का ध्यान करने की ही आवश्यकता है।

[ यहाँ तक तो जिसका मृत्युकाल निकट आ गया है उसका कृत्य कहा, अब उसका कृत्य कहते हैं जो स्वयं अपनी इच्छा से चाहे जब शरीर-त्याग करना चाहे। ] शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, जब यति अर्थात भक्तियोग के द्वारा जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त योगी इस लोक को छोड़ने के लिए देहत्याग करना चाहे, तब वह स्थिर और कष्ट न देनेवाले आसन से बैठकर मन के द्वारा इन्द्रियों को जीतकर प्राणायाम द्वारा श्वासा को ऊपर चढ़ा ले जाय। उसे पुण्यक्षेत्र या उत्तरायण आदि उत्तम काल की प्रतीक्षा न करनी चाहिए; क्योंकि योगी की सिद्धि का कारण देश और काल नहीं होते। उसे योग से ही सिद्धि या मुक्ति मिलती है। वह अपनी निश्चयात्मक निर्मल बुद्धि से मन को वश में करके अर्थात् विषयों सहित संकल्प-विकल्पात्मक मन को निश्चयात्मक बुद्धि में लीन करके, उस बुद्धि को बुद्धि आदि के साक्षी या द्रष्टा क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा में लीन कर दे। जीवात्मा को विशुद्ध आत्मा में मिलाकर फिर विशुद्ध आत्मा को परमात्मा या ब्रह्म में मिला दे, अर्थात् यह समझे कि वह ब्रह्म ही मैं हूँ। तब सब कृत्यों से निवृत्त होकर वह पूर्ण शान्ति पाता है; क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति के बाद और कुछ पाने के लिए बाकी नहीं रहता। इस तल्लीन अवस्था मे देवतों के प्रभु काल का भी भय नहीं रहता, फिर काल के वशीभूत देवतों या देवतों के वशीभूत अन्य प्राणियों के भय की तो कोई बात ही नहीं। यह माया, गुण आदि सब उपाधियों से शून्य अवस्था है, इसीलिए इस अवस्था में काल, देवता आदि का प्रभुत्व नहीं चलता। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, अहंकार और प्रधान महत्तत्त्व आदि कोई भी उपाधि इस अवस्था में विकार नहीं ला सकती। जो आत्मा के सिवा अन्य असत् वस्तुओं को 'नेति-नेति' कहकर त्याग करना चाहते हैं, वे भगवान के अनन्य भक्तजन देहादि में आत्मबुद्धि न रखकर, पूजनीय विष्णु भगवान् के चरणों को अपने हृदय में स्थापित करके, उन्हीं ब्रह्मरूप विष्णु को परमपद अर्थात् सर्वश्रेष्ठ परम-तत्त्व स्वीकार करते हैं। इसलिए इस प्रकार शास्त्र से आत्मज्ञान प्राप्त करके उसके बल से विषय-वासना का विनाश करके जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन अवस्था में पहुँचकर साधकजन संसार से निवृत्त हो जाते हैं।

[ अब उसके शरीर-त्याग करने की विधि या क्रम कहते हैं। ] थकावट या कष्ट को जीतकर योगी बैठकर एँड़ी से मलद्वार के मूलाधार को दबाकर प्राणवायु को धीरे-धीरे छः स्थानों में ऊपर को चढ़ावे। यथा वायु को गुह्यस्थान से ऊपर लाकर नाभि ( मणिपूरक चक्र ) में स्थापित करे। वहाँ से हृदय ( अनाहत चक्र ) में लाकर उदानगति से उरःस्थल अर्थात् कण्ठ के नीचे ( विशुद्ध चक्र में ) उपस्थित करे। वहाँ से सद्बुद्धि की सहायता से जितेन्द्रिय योगी उसे धीरे-धीरे अपने तालू के मूल ( उसी चक्र के अग्रभाग ) में

पहुँचावे। वहाँ से उस वायु को दोनों भौंहों के बीच ( आज्ञाचक्र मे ) ले जाय। फिर मुख, कान, नेत्र और नासिका के सातों छिद्र, जो प्राणवायु अर्थात् श्वासा के निकलने के द्वार हैं, बंद करके वह अनपेक्ष ( किसी वस्तु की चाह न रखनेवाला ) ब्रह्मभूत योगी प्राणवायु को ब्रह्माण्ड में चढ़ा ले जाय। तब घड़ी भर मे ही ब्रह्माण्ड को फोड़कर प्राणवायु उस ज्ञानी के देह से निकल जायगी और वह योगी स्थूल शरीर तथा लिंगशरीर को छोड़कर ब्रह्म मे लीन हो जायगा। इसे सद्योमुक्ति कहते है। [ अब क्रममुक्ति का क्रम बतलाते हैं। ] हे राजन, यदि योगी आकाशविहारी सिद्धों के क्रीड़ा करने के स्थान परमेष्ठी के पद अर्थात् ब्रह्मलोक में जाना चाहता हो अथवा अणिमा आदि आठ सिद्धियों * का ऐश्वर्य भोगने के लिए ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विचरना चाहता हो तो उसे चाहिए कि शरीर का त्याग करते समय मन और इन्द्रियों ( लिंगशरीर ) को न छोड़े। ऐसे परमात्मा में लीन योगेश्वरों की गति वायु की तरह त्रिलोकी के भीतर और बाहर सब जगह होती है। विद्या ( उपासना ), तप ( भगवद्धर्म ), योग और समाधि ( ज्ञान ) से युक्त इन योगेश्वरों की गति यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती। अब उसी गति का वर्णन करते हैं कि ऐसा योगी आकाश मे सुषुम्ना नाड़ी ( जो कि शरीर के भीतर तो है ही, बाहर ब्रह्माण्ड में भी फैली है ) रूप ब्रह्मलोक-मार्ग से ज्योतिर्मय वैश्वानर † ( अग्नि की अभिमानिनी देवता ) में जाकर मिलता है। वहाँ से वह निर्मल योगी ऊपर स्थित नारायण का अधिष्ठान जो तारामय शिशुमार-चक्र है, उसमें जाता है। सूर्य से लेकर ध्रुव तक सब ग्रह, नक्षत्र और तारा इस शिशुमारचक्र के अन्तर्गत हैं। तात्पर्य यह कि वह योगी लिंगशरीर द्वारा सूर्यलोक से ध्रुवलोक तक सब लोकों में जाता है। [ शिशुमारचक्र का वर्णन पाँचवें स्कंध में विस्तार से किया जायगा। ] वह जो विश्व की नाभि ( आधाररूप ) अर्थात् सूर्य आदि का आधार शिशुमारचक्र है, उसे नाँघकर निर्मल आत्मा के द्वारा पूर्वोक्त योगी महर्लोक में जाता है। वह ब्रह्मज्ञानी और कल्प भर जीनेवाले भृगु आदि महर्षियों के रहने का स्थान है। अन्य लोकों के निवासी उस लोक को सादर प्रणाम करते है। कल्प का अन्त होने पर जब संकर्षण भगवान् के मुख से निकली हुई प्रलय करनेवाली आग में सारा विश्व जलने लगता है, तब वह मुक्त योगी वहाँ भी अधिक ताप पहुँचने के कारण वहाँ से ऊपर दो परार्द्ध तक रहनेवाले परमेष्ठी के पद ब्रह्मलोक को चला जाता है। उसमें सिद्धेश्वरों के आकाशविहारी विमान दिखाई पड़ते हैं। उस लोक में न शोक है, न बुढ़ापा है, न मृत्यु है, न दुःख है, न किसी से कुछ भय है। केवल भगवान के ध्यान को न जाननेवाले अर्थात् भक्ति-योग से विमुख प्राणियों को दुरन्त दुःख जो जन्म है, उसका भय वहाँ भी रहता है। ब्रह्मलोक में गए हुए योगियों की तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं। जो लोग पुण्य के उत्कर्ष से वहाँ जाते हैं, वे कल्पान्तर में अपने पुण्य की कमीबेशी के अनुसार अन्य लोकों के अधिकारी होते हैं और पुण्य क्षीण होने पर फिर जन्म लेते हैं। जो लोग हिरण्यगर्भ आदि की उपासना करके गए हैं, वे ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति को प्राप्त होते

---

* निम्न आठ सिद्धियाँ कही गई हैं— १. अणिमा ( अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर अगोचर होने तथा अभेद्य पदार्थ में भी प्रवेश करने की शक्ति ); २. महिमा ( अपने को चाहे जितने बड़े आकार का बना लेने की शक्ति ); ३. गरिमा ( अपना बोझ चाहे जितना भारी कर लेने की शक्ति ); ४. लघिमा ( अपने आपको चाहे जितना हलका बना लेने की शक्ति ); ५. प्राप्ति ( मन चाहे पदार्थ को पाने की शक्ति ); ६. प्राकाम्य ( कभी इच्छा का व्याघात न होने की शक्ति ); ७. ईशित्व ( सब पर शासन होने की शक्ति ); ८. वशित्व ( सब को वश में करने की शक्ति )।

† जो अग्नि प्राणियों के शरीर के भीतर अन्न को पचाती है और जो ब्रह्माण्ड के भीतर तपती है वही वैश्वानर है। वह देवता और पितरों का मार्ग है। पिंगला नाड़ी के द्वारा दिन में होकर देवयान मार्ग है। सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा रात्रि में पितृयान मार्ग है।

हैं। किन्तु जो भगवान की भक्ति करके अपनी इच्छा से, पूर्वोक्त रीति से, ब्रह्माण्ड को फोड़कर वहाँ जाते हैं, वे विष्णु के परमपद को जाते हैं। *

[ अब यह बतलाते हैं कि भगवद्भक्त योगी किस प्रकार ब्रह्माण्ड को फोड़कर मुक्ति को प्राप्त करता है। इसमें पहले ब्रह्माण्ड की सृष्टि जानना आवश्यक है, इसलिए उसे बतलाते हैं। ] ईश्वराधिष्ठित प्रकृति के किसी अंश से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व के अंश से अहंकार की उत्पत्ति होती है। उसके अंश से शब्दतन्मात्रा के द्वारा आकाश, उसके अंश से स्पर्शतन्मात्रा द्वारा वायु, उसके अंश से रूपतन्मात्रा द्वारा तेज, उसके अंश से रसतन्मात्रा द्वारा जल, उसके अंश से गंधतन्मात्रा द्वारा पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये सब मिलकर चौदह भुवनोंवाले विराट् शरीर या ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। वह ब्रह्माण्ड पचास करोड़ योजन के घेरे में है। यह पृथ्वी, जिसे अंडकटाह, कहते हैं, उस ब्रह्माण्ड का पहला आवरण है। यह करोड़ योजन के घेरे मे है। किसी-किसी के मत में यह पृथ्वी का आवरण पचास करोड़ योजन का है। इस आवरण के ऊपर जल आदि तत्त्वों के जो परिणत अंश हैं, वे उत्तरोत्तर दस गुने बड़े आवरण हैं। इस प्रकार इन तत्त्वों के सात आवरणों के ऊपर आठवाँ प्रकृति का आवरण है, जो सबसे बड़ा और व्यापक है। योगी इन पृथ्वी आदि के आवरणों को भेदकर परमपद को जाता है। [ इसी गति का वर्णन आगे करते हैं। ] ऐसे योगी शंकाशून्य होकर पहले अपने को पृथ्वीरूप, फिर जलरूप, फिर तेजोरूप, फिर वायुरूप, फिर आकाशरूप मानकर तदात्मक होने के कारण जलने, डूबने आदि की आशंका न होने से यथेष्ट भोगों का उपभोग करते हैं। इस प्रकार ज्योतिर्मय होकर काल अर्थात् भोगों के अन्त में बृहत आत्मरूप आकाश में ( जिसे उपासना में परमात्मा की मूर्त्ति कहा है ) वे जाकर मिल जाते हैं। [ इस प्रकार स्थूल तत्त्वों के आवरण के अतिक्रमण का वर्णन करने के बाद अब इन्द्रियों और उनके विषयों के अतिक्रमण की विधि कहते हैं।] हे राजन्, योगी क्रमशः घ्राणेंद्रिय द्वारा गंध को, रसना के द्वारा रस को, चक्षु इन्द्रिय से रूप को, त्वचा के द्वारा स्पर्श को और श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा शब्द को ग्रहण करता हुआ प्रत्येक इन्द्रिय में उसके कर्म अर्थात् उसके विषय को लीन कर दे। [ इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों के अतिक्रमण का वर्णन करके उनके आवरणभूत अहंकार की प्राप्ति द्वारा महत्तत्त्व और प्रधान प्रकृति मे लय होने का वर्णन करते हैं।] वह योगी पूर्वोक्त प्रकार से इन्द्रियों

*विराट् की उपासना से लेकर यहाँ तक जो कुछ कहा गया, वह संक्षेप में यह है कि पहले विराट् का ध्यान जो कहा गया, वह प्रतीक की उपासना है। जैसे शालग्राम को विष्णु समझकर उनकी पूजा की जाती है, वैसे ही विराट् शरीर, उसका अभिमानी जीव और उसका अन्तर्यामी ईश्वर; इन तीनों का एक रूप में ध्यान करे। इससे मन की शुद्धि होती है। उसके बाद देह और जीव को ईश्वर में लीन करके ध्यान करे। पहले अध्याय में सबके अन्तर्यामी परमेश्वर की सगुण उपासना के अन्तर्गत विराट् पुरुष की उपासना कही गई है। उसके बाद प्राणायाम-परायण योगी जो स्वयं देह को छोड़ना चाहे तो उसका कृत्य कहा गया है। वह इस प्रकार कि मन से प्राण की गति को रोककर मन की वृत्ति को बाकी रक्खे। संकल्प-विकल्परूप मन को निश्चयात्मक बुद्धि से नियंत्रित करके त्वं पद के वाच्यार्थ क्षेत्रज्ञ में, उसे त्वं पद के लक्ष्यार्थ आत्मा मे और उसे विशुद्ध ब्रह्म में मिला दे, अर्थात् मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ, ऐसा निश्चय करके सब कृत्यों को छोड़ दे। उसके बाद नाभि आदि छः स्थानों में क्रमशः प्राणवायु को चढ़ाता हुआ उसे ब्रह्मरंध्र में ले जाय और अगर निरपेक्ष हो अर्थात् कोई चाह न रखता हो तो देह और इन्द्रियों को छोड़ दे। यह सद्योमुक्ति हुई। किन्तु जो भोग की इच्छा होती है तो वह योगी क्रमशः ऊपर के लोकों में चढ़ता हुआ ब्रह्मलोक तक जाता है। ब्रह्मलोक में तीन तरह के लोग तीन प्रकार से जाते हैं। जो इन्द्रपद आदि पाने की इच्छा से अश्वमेध यज्ञ आदि करके जाते हैं, वे कल्प के अन्त में इन्द्र आदि होते हैं। उन्हें फिर जन्म लेना पड़ता है। जो हिरण्यगर्भ आदि की उपासना करके जाते हैं, वे ब्रह्मा के साथ ही ईश्वर में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं और जो भगवान् की भक्तिरूप योग के द्वारा जाते हैं वे स्वयं ब्रह्माण्ड को फोड़कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। यही बात नीचे के श्लोक में कही है कि "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।" अर्थात् ब्रह्मलोक तक जन्म-मरण पीछा नहीं छोड़ता।

के विषयों को इंद्रियों में लीन करने के बाद उन इंद्रियों को अहंकार में लीन कर देता है। अहंकार तीनों गुण के अनुसार सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। तामस अहंकार से जड़ भूतसूक्ष्म या विषय उत्पन्न होते हैं। राजस अहंकार से दसों इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सात्विक अहंकार से मन और इन्द्रियों के देवता उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से योगी इन सबको अहंकार में लीन करके उस अहंकार को महत्तत्त्व में लीन करता है। अन्त में त्रिगुणमय महत्तत्त्व को प्रधान में ( जिसे मूल प्रकृति और पुरुष या आत्मा भी कहते हैं ) लीन करके उसे शान्त, विकारहीन, आनन्दमय परमात्मा में लीन कर दिया जाता है। इस भगवद्भक्ति अर्थात् भक्तियोग द्वारा भगवान में लीन होने की गति में जो जाता है, उसे फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।

राजन, ये दोनों मुक्ति के प्रकार या मार्ग ( सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति ) सनातन हैं; क्योंकि वेदों में इनका वर्णन किया गया है। ब्रह्मा की आराधना से प्रसन्न होकर उनके पूछने पर भगवान् वासुदेव ने उनसे इन गतियों का वर्णन किया था। तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने इनका वर्णन किया है। संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए लोगों के लिए तप, योग आदि अनेक मोक्ष पाने के मार्ग हैं; किन्तु इससे बढ़कर अच्छा कल्याणदायक मार्ग और नहीं है। इसका अनुष्ठान करने से वासुदेव भगवान् में भक्तियोग होता है। भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्रचित्त होकर तीन बार समग्र वेद को बुद्धि से विचार कर यही निश्चय किया कि जिससे आत्मारूप हरि में रति या भक्ति हो, उससे श्रेष्ठ और कोई कल्याण का उपाय नहीं है। यहाँ यह शंका होती है कि जिसका अनुभव नहीं हुआ, उसमें रति कैसे हो सकती है ? परमात्मा ऐसा ही तत्त्व है। इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं कि भगवान् हरि सब प्राणियों के हृदय में आत्मारूप से स्थित हैं। आत्मा के अनुभव से ही हरएक उनका अनुभव कर सकता है। एक तो स्वयंप्रकाश द्रष्टा के बिना जड़ दृश्य पदार्थों का दर्शन नहीं हो सकता, दूसरे बुद्धि आदि का प्रयोग करनेवाला उनसे स्वतन्त्र कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। इन दोनों लक्षणों से उस ईश्वर की सिद्धि होती है। वह स्वप्रकाश, स्वतन्त्र और अन्तर्यामी है, और मायातीत विशुद्ध आत्मा में भी ये लक्षण मिलते हैं।

इसलिए हे राजन्, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यही है कि मनुष्यों को सर्वदा, सर्वत्र, सब तरह से उन हरि के गुणों का श्रवण, स्मरण और कीर्त्तन करना चाहिए। जो लोग सज्जनों के हृदय में आत्मारूप से प्रकाशमान भगवान् की अमृतरूपिणी कथा को सुनते हैं, वे अपने विषय-वासना से विदूषित अन्तःकरण को शुद्ध करके उनके श्रीचरणों की शरण में जाते हैं, विष्णुपद को प्राप्त होते हैं।

# तीसरा अध्याय

## सब देवतों की उपासना के भिन्न-भिन्न फल कहकर अन्त में भगवान् की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाना

श्री शुकदेव ने कहा—महाराज, तुमने मुझसे पूछा था कि दैवयोग से सुकृत द्वारा मनुष्ययोनि में जिन्होंने जन्म पाया है, उनमें भी जो बुद्धिमान् हैं और जिनकी मृत्यु निकट आ गई है, उन्हें क्या करना चाहिए, उसका उत्तर मैंने तुमको दे दिया। यह तो निष्काम भक्तों की बात मैंने कही, अब सकाम उपासकों को किस-लिए किसकी उपसना करनी चाहिए, सो कहता हूँ, सुनिए।

ब्रह्मतेज या वेदों में पांडित्य की इच्छा हो तो ब्रह्मा की आराधना करनी चहिए। इन्द्रिय-पटुता की कामना हो अथवा इन्द्रिय-सुख भोगने की चाह हो तो इन्द्र को भजे। सन्तान की चाह हो तो दक्ष आदि प्रजापतियों की उपासना करे। लक्ष्मी या संपत्ति चाहे तो देवी माया अर्थात् दुर्गा को भजे। तेज की कामना हो तो अग्नि की, धन की चाह हो तो वसुदेवों की, और प्रभाव की कामना हो तो यत्नपूर्वक रुद्रों की सेवा करे। भक्ष्य-भोज्य अन्न आदि प्राप्त करना चाहे तो देवमाता अदिति की आराधना करे। स्वर्ग की कामना हो तो अदिति के पुत्र आदित्यों का पूजन करे। राज्य की कामना से विश्वेदेवा की, प्रजा को वश करने की कामना से साध्य देवतों की और आयु की कामना से अश्विनीकुमार देवों की आराधना करनी चाहिए। पुष्टि की कामना हो तो पृथ्वी देवी की उपासना करे। प्रतिष्ठा ( स्थानभ्रष्ट न होना ) चाहे तो लोकमातारूप द्यावाभूमि ( स्वर्ग और पृथ्वी ) की उपासना करे। सुन्दर रूप की इच्छा से गंधर्वों की और सुन्दरी स्त्री की चाह से उर्वशी अप्सरा की आराधना करे। संसार का अधिपति होना चाहे तो परमेष्ठी का भजन करे। यश चाहे तो यज्ञावतार विष्णु को, भारी कोष ( खज़ाना ) जमा करना चाहे तो प्रचेता को, विद्या प्राप्त करना चाहे तो शंकर को, और दाम्पत्यप्रेम बढ़ाने की अभिलाषा हो तो सती उमादेवी की आराधना करे। धर्म की वृद्धि चाहे तो उत्तमश्लोक उपाधिवाले विष्णु की, और वंश बढ़ाना चाहे तो पितृगण की आराधना करे। किसी बाधा की निवृत्ति अभीष्ट हो तो यक्षों को और बल की कामना हो तो मरुद्गण को सन्तुष्ट करे। राज्य की इच्छा हो तो मन्वन्तर के पालक देवतों की उपासना करनी चाहिए। शत्रु को मारने की कामना हो तो निर्ऋति राक्षस की आराधना करे। कामभोग की कामना हो तो चंद्रमा को भजे। अगर कोई कामना न हो, वैराग्य की इच्छा हो तो परमपुरुष ( मायोपाधिहीन आत्मा ) को भजे। चाहे कोई कामना न हो, चाहे उक्त और अनुक्त सभी कामनाएँ हों और चाहे मोक्ष की कामना हो, चतुर पुरुष को चाहिए कि वह अनन्य भक्ति के साथ उपाधिरहित परमपुरुष नारायण का भजन करे। अब यह बतलाते हैं कि पहले कही गई अनेक देवतों की पूजा का फल भी भक्तियोग ही है। इन्द्र आदि देवतों की आराधना करनेवालों की आराधना का भी यही श्रेष्ठ फल या परम पुरुषार्थ है कि भगवान् में अटल भक्ति हो और भगवान के अनन्य भक्तों की संगति प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि और सब स्वर्गप्राप्ति आदि फल तुच्छ हैं; क्योंकि वे चिरस्थाई नहीं हैं। महाराज, यह भक्तियोग भगवान् की कथाएँ कहने-सुनने से पक्का होता है। ऐसा करने से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है, रजोगुण और तमोगुण के विकार जो काम, क्रोध आदि हैं, वे दूर होते हैं, आत्मा को प्रसन्नता या शान्ति मिलती है, तथा माया के गुणों से छुटकारा या वैराग्य होता है। यह भगवान् के अनन्य भक्तों का प्रिय मार्ग है। कौन विद्वान् ऐसी हरि की कथाओं को न सुनना चाहेगा!

शौनक ने पूछा—शुकदेवजी की ये बातें सुनकर परीक्षित् ने उनसे फिर और क्या पूछा? हे विद्वान् सूत, हम इस प्रसंग को सुनना चाहते हैं, इसलिए आप हमसे कहिए। हम जानते हैं कि साधुओं और भक्तों के समाज में वही संवाद होता है, जिसमें हरि के चरित्र कहे-सुने जाते हैं। भगवान् के श्रेष्ठ भक्त राजा परीक्षित् धन्य हैं! उनकी भक्ति का वर्णन कौन कर सकता है! वह बचपन में खेल खेलते समय भी कृष्ण की लीलाओं का ही अनुकरण करते थे। उधर व्यास के पुत्र शुकदेव भी वासुदेव के अनन्य भक्त थे। इन दोनों का संवाद अवश्य ही सुनने योग्य होगा। कारण, ऐसे सज्जनों के समागम में पतितपावनी हरिकथा ही की चर्चा होती है। यह सूर्यनारायण नित्य उदय और अस्त होकर लोगों की आयु को हरते हैं। केवल उतनी ही आयु व्यर्थ नहीं जाती जितनी हरि की चर्चा में बिताई जाती है। शायद कोई कहे कि जीवित रहना ही जीवन का फल है। इसका खण्डन करते हैं कि जीवन तो वृक्षों में भी है; पर उस जीवन से पुरुषार्थ की

सिद्धि नहीं होती, इसलिए वह व्यर्थ है। अगर कहो कि वृक्ष साँस तो नहीं लेते, तो कहते हैं कि साँस तो लोहार की धौंकनी से भी निकलती है। अगर कहो कि वे मनुष्य की भाँति भोजन-मैथुन आदि कर्म नहीं करते, मनुष्य के जीवन की यही विशेषता है, तो कहते हैं कि गाँव के पशु कुत्ते आदि भी तो खाते, पीते और मैथुन करते हैं। मनुष्य की विशेषता केवल ज्ञान और भगवद्भजन मे ही है। जिस मनुष्य के कान हरि की कथा नहीं सुनते, वह कुत्ते, सुअर, ऊँट और गधे के समान ही हैं। मतलब यह कि कुत्ता जैसे द्वार-द्वार घूमता और दुरदुराया जाता है, सुअर जैसे मल-भोजन करता है, ऊँट जैसे केवल काँटे खाकर रहता है और गधा जैसे बोझ ढोता है, वैसे ही हरिभक्तिहीन मनुष्य कुत्ते की भाँति तिरस्कार का पात्र बनता है, शूकर के समान केवल पेट पाल लेता है, ऊँट के समान कंटकसदृश विषयभोग मे आसक्त रहता है और गधे के समान संसार का भार लादता है। उसके वे कान बिल के समान व्यर्थ हैं, जो कृष्ण के चरित्रों को कभी नहीं सुनते। वह जीभ मेंढक की जीभ के समान वृथा है, जो कभी हरि की चर्चा नही करती। पगड़ी और मुकुट धारण करने-वाला होकर भी यदि सिर भगवान् को प्रणाम नहीं करता तो वह व्यर्थ का बोझ ही है। सोने के कंगन पहने वे हाथ मुर्दे के हाथ के समान व्यर्थ हैं, जो हरि की पूजा नहीं करते। वे मनुष्यों की आँखें मोर के पंखों की आँखों के समान बेकार हैं, जो भगवान् की मूर्तियों का दर्शन नहीं करतीं। वे पैर वृक्ष के समान जड़ हैं, जो हरि के मन्दिर या तीर्थों में कभी नहीं जाते। जो मनुष्य भगवान् के चरणों की रज को अपने शरीर में नहीं लगाता, वह जीते ही मरे के समान है। जो हरि के चरणों पर चढ़ी हुई तुलसी की सुगंध को सूँघ-कर प्रसन्न नहीं होता, उसका साँस लेना ही व्यर्थ है। वह हृदय पत्थर का बना है, जो हरिकीर्त्तन को सुनकर गद्‌गद् नहीं हो उठता, जिसके शरीर में रोमांच नहीं होता और आँखों में आनन्द के आँसू नहीं उमड़ आते। इसलिए अब तक जो तुमने हमें सुनाया, वह हमें अत्यन्त प्रिय लगा। अब कृपा करके वह सब हमारे आगे वर्णन करो, जो ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीशुकदेव ने राजा परीक्षित के पूछने पर उनसे कहा।

# चौथा अध्याय

## राजा परीक्षित् का सृष्टि के विषय में प्रश्न करना

सूतजी ने कहा—आत्मा के तत्त्व अर्थात् रूप का निश्चय करानेवाले शुकदेव के वचन सुनकर परी-क्षित् ने यह निश्चय कर लिया कि कृष्ण भगवान् का ही भजन करना चाहिए। उनके हृदय में अनन्य भक्ति का उदय हुआ। उन्होंने शरीर, पत्नी, पुत्र, घर, पशु, सम्पत्ति, बन्धु-बान्धव और साम्राज्य में सुदृढ़ ममता को अपने हृदय से दूर कर दिया। उन्होंने भी शुकदेव से यही पूछा, जो तुम लोग मुझसे पूछ रहे हो। उन्हें भी तुम्हारी ही तरह कृष्ण के चरित्र सुनने की परम श्रद्धा उत्पन्न हुई। मृत्यु नहीं टाली जा सकती, यह जानकर वह धर्म, अर्थ, काम के कर्मों को छोड़कर मुक्ति का उपाय पूछने लगे; क्योंकि दृढ़ अनन्य भक्ति के द्वारा वह भगवान् में तन्मय हो गए थे।

राजा ने कहा—भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं। आपका यह कहना बहुत ठीक है। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आपके श्रीमुख से हरि की कथाएँ सुनने से मेरे हृदय का अज्ञान दूर होता जा रहा है। मैं फिर यह जानना चाहता हूँ कि भगवान किस प्रकार अपनी माया से इस विश्व के प्रपञ्च की सृष्टि करते है। बड़े-बड़े ब्रह्मा, शिव आदि देवता भी इस विश्व की सृष्टि के रहस्य को सोच भी नहीं पाते। वह परम शक्तिशाली सर्वव्यापक ईश्वर जैसे इस विश्व का पालन और संहार करते हैं और जिस-जिस शक्ति को ग्रहण करके एक रूप से अनेक

रूप रखते हैं, क्रीड़ा करते हैं, सो सब आप कृपा करके मुझे सुनाइए। अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् के ये जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करने के कर्म ऐसे हैं कि उन्हें बड़े-बड़े बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग भी नहीं जान पाते। कम से कम मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। मुझे यह सन्देह हो रहा है कि वह भगवान् प्रकृति ( माया ) के तीनों गुणों को अकेले पुरुषरूप से एक साथ या ब्रह्मा आदि रूपों से क्रमशः अलग-अलग कैसे ग्रहण करते हैं ? वह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप रखकर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार कैसे करते हैं ? मैं स्वयं इस रहस्य की विवेचना नहीं कर पाता और ब्रह्मवस्तु के जानने में असमर्थ हो रहा हूँ। आपको शब्दब्रह्म वेद का पूर्ण ज्ञान है; क्योंकि आप उसका अच्छी तरह विचार और मनन कर चुके हैं, और अनुभव के द्वारा परब्रह्म के तत्त्व को भी जान चुके है। इसलिए आप ब्रह्म का निरूपण और सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन करके मेरे पूर्वोक्त सन्देह को निवृत्त कीजिए।

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार हरि के गुणों का वर्णन करने के लिए राजा ने जब प्रेरणा की, तब भगवान् का स्मरण करके शुकदेवजी इस प्रकार कहने लगे।

[ शुकदेवजी राजा के प्रश्नों का उत्तर देने के पहले ईश्वर की और अपने गुरु व्यासजी की वन्दना करते है। ] शुकदेव ने कहा—वह भगवान् पुरुषोत्तम हैं। उनकी महिमा अपार है। वही इस संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार की लीला करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप से माया के रज, सत्त्व और तम, इन तीनों गुणों को ग्रहण करते हैं। वह सबके हृदय में आत्मारूप से रहनेवाले अन्तर्यामी हैं। उनके मार्ग को या उन्हें सब लोग नहीं देख सकते। उन हरि को प्रणाम है। वह धर्मात्मा सज्जनों के कष्ट दूर करनेवाले और अधर्मी दुष्टों का विनाश करनेवाले है। भिन्न-भिन्न देवता सब उन्हीं के रूप है। परमहंस आश्रम में स्थित जीवन्मुक्त पुरुष जिस आत्मतत्त्व की खोज मे लगे रहते हैं, उसका ज्ञान उन्हें उन्हीं हरि की कृपा से प्राप्त होता है। उन ईश्वर को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। भक्तों का पालन करनेवाले प्रभु को प्रणाम है। भक्तिहीन कच्चे योगियों को जिनकी दिशा या पता भी दुर्ज्ञेय है,उन हरि को प्रणाम है। न कोई उनसे अधिक ( बड़ा ) है और न उनके समान ही है। ऐसे अपने ऐश्वर्य से युक्त होकर अपने ब्रह्मस्वरूप में रमण करनेवाले ईश्वर को प्रणाम है। जिनके गुणों का कीर्त्तन, स्मरण, जिनकी मूर्त्तियों के दर्शन और प्रणाम, जिनके गुणों का श्रवण और पूजन करना तुरन्त ही लोगों के पाप या अज्ञान को दूर कर देता है, उन पवित्र कीर्त्तिवाले जगदीश्वर को प्रणाम है। विद्वान् ज्ञानी लोग उनके चरणों की शरण लेकर इस लोक और परलोक दोनों की चिन्ता छोड़ देते हैं और बिना प्रयास के ही ब्रह्मगति अर्थात् मुक्ति प्राप्त करते हैं। उन मंगलमय यशवाले वासुदेव को प्रणाम है। तपस्वी, दानी, यशस्वी योगी, सदाचारपरायण वेद-मंत्रों के ज्ञाता ब्राह्मण आदि जिन्हें अपने तप आदि अर्पण किये बिना कल्याण ( मुक्ति ) को नहीं पाते उन पवित्र यशवाले हरि को प्रणाम है। [इस श्लोक का भाव यही है कि भक्ति के बिना तप आदि सब साधन निष्फल हैं। अब यह बतलाते हैं, कि भक्ति सबसे बढ़कर है, वह सबको शुद्ध कर देती है। ] उन भगवान् भक्तों का पल्ला पकड़ने से किरात, हूण, आंध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि वर्णसंकर और नीच जातियों के लोग तथा और भी बड़े-बड़े पातकी शुद्ध हो जाते हैं। उन्हीं भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। वह सभी आत्मज्ञानी लोगों के आत्मरूप से उपास्यदेव हैं। वही तीनों वेदों के प्रतिपाद्य यज्ञ रूप, धर्मरूप और तपरूप हैं। निष्कपट भक्त ब्रह्मा, शंकर आदि भी अत्यन्त आश्चर्य के साथ उनके रूप को देखते हैं। वह भगवान मुझ पर प्रसन्न हों। वह लक्ष्मी के पति, यज्ञ के स्वामी, प्रजापति, सबकी बुद्धि के संचालक, लोकपति, पृथ्वी के पालक, अंधक और वृष्णि आदि यादवों के पति और गति ( सब आपत्ति

के ध्यान से जब बुद्धि निर्मल होती है, तब बुद्धिमान् ज्ञानी लोग आत्मा के तत्त्व या रूप को देख पाते हैं और कवि लोग अपनी रुचि के अनुसार सगुण, निर्गुण आदि भेदों से उनके रूप का वर्णन करते हैं। वही मुकुन्द भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों। कल्प के आरंभ में ब्रह्मा के हृदय मे सृष्टि के विषय की स्मृति उत्पन्न करते समय उन्हीं भगवान की प्रेरणा से सरस्वती अर्थात् वेदरूप वाणी ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुई थी। वह वेदरूप वाणी छः लक्षणों से—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद आदि से—युक्त थी। वह ज्ञान देनेवालों में श्रेष्ठ भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों। पृथ्वी आदि पाँच महातत्त्वों से सब प्राणियों के शरीरों की सृष्टि करके उन पुरों में अन्तर्यामी आत्मा के रूप से शयन करने के कारण उन हरि का नाम पुरुष है। वह मन, दस इन्द्रिय और रूप आदि पाँच विषय इन सोलह गुणों को प्रकाशित करते हैं। वही इन सोलहों गुणों को चेतन अर्थात् कार्यक्षम बनाते हैं। वही भगवान् मेरी वाणी को अलंकृत करें। सज्जन लोग या वैशम्पायन आदि भक्तजन जिनके मुखकमल से निकले हुए ज्ञानरूप रस को पीकर अमर हो गये, उन भगवान व्यासदेव ( या वासुदेव ) को मैं प्रणाम करता हूँ।

महाराज, आपने सृष्टि के विषय में मुझसे जो प्रश्न किया, वही नारद ने ब्रह्माजी से पूछा था। ब्रह्मा ने भी नारायण के मुख से इस सम्बन्ध में पहले जो कुछ सुना था, सो नारद से कहा। ( वही सम्वाद शुकदेवजी अब आगे कहते हैं। )

# पाँचवाँ अध्याय

## सृष्टि का वर्णन

शुकदेवजी कहते हैं—एक समय नारद ने ब्रह्माजी से कहा, हे देवतों के देवता, आपको प्रणाम है। आप सब प्राणियों की सृष्टि करनेवाले पूर्वज अर्थात् अनादि हैं। इसलिए विस्तार के साथ वह ज्ञान मुझे बतलाइए, जिससे आत्मा के तत्त्व का निर्णय होता है। इस विश्व का प्रकाशक अर्थात् इसे प्रकाशित करनेवाला कौन है ?:यह विश्व किसमें अधिष्ठित है अर्थात इसका आधार क्या है ? इस विश्व की सृष्टि किसने की है अर्थात् इसका कर्त्ता कौन है ? यह विश्व किसमें अन्त को लीन होता है ? यह विश्व किसके अधीन है अर्थात इसका स्वामी कौन है ? यह विश्व किसका रूप है ? यह सब आप मेरे आगे कहिए। आप भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रभु हैं, इसलिए यह सब आपको अच्छी तरह विदित होगा। इस विश्व को अपने हाथ में रक्खे हुए आँवले के समान आप अपने विशेष ज्ञान से जानते हैं। खैर, इस विषय को पीछे कहिएगा, पहले आप अपने ही विषय में बतलाइए कि आप कौन हैं ? आपको यह विज्ञान किससे प्राप्त हुआ ? आपका आधार क्या है ? आप किसके अधीन हैं, किसका स्वरूप हैं ? मैं तो समझता हूँ कि आप ही स्वतन्त्र परमेश्वर हैं। ऊपर जो मैंने प्रश्न किये, उसका कारण यही है कि आपके तपश्चरण को देखकर यह शंका हुई कि आपसे भी बड़ा क्या कोई है, जिसे आप तपस्या से सन्तुष्ट करना चाहते हैं ? इसी बात को विस्तार से कहते हैं कि मेरी धारणा तो यही थी कि आप अकेले, बिना किसी की सहायता के, अपनी माया के द्वारा पंचतत्त्वों से सब प्राणियों की सृष्टि करते हैं। जैसे मकड़ा अपनी शक्ति द्वारा जाले को उत्पन्न कर उसमें क्रीड़ा करता और उसे अपने में समेट लेता है, पर थकता नहीं, वैसे ही आप भी देव-मनुष्य-असुर आदि की उत्तम-मध्यम-अधम सृष्टि करके उसका पालन और संहार करते हैं; किन्तु उसमें लिप्त नहीं होते। इसलिए मैं तो यही जानता हूँ कि मनुष्य आदि नाम, द्विपद-चतुष्पद आदि रूप, गोरे-काले आदि गुणों से युक्त यह स्थूल और सूक्ष्म सारी

सृष्टि आप ही से उत्पन्न होती है। इसका रचनेवाला और स्वामी आपके सिवा और कोई नहीं है। किन्तु ऐसे सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान परमेश्वर होकर भी आपने जो एकाग्र होकर घोर तप किया, उससे मेरे मन को मोह हो रहा है, अर्थात् यह शंका हो रही है कि शायद आपसे बड़ा कोई और भी है। हे सर्वज्ञ और सबके स्वामी, इस प्रश्न का उत्तर देकर मेरी शंका दूर कीजिए। आपका उपदेश सुनकर जिसमें मैं इस गूढ़ तत्त्व को समझ सकूँ, ऐसी कृपा कीजिए।

प्रश्न सुनकर ब्रह्मा ने नारद से कहा—बेटा, तुम्हारा यह सन्देह और प्रश्न, दोनों ही ठीक हैं। तुमने जिज्ञासु होकर भी अपने दयालु स्वभाव से यह प्रश्न करके मुझ पर और संसार पर बड़ी कृपा की—मेरा और संसार का बड़ा उपकार किया। कारण, मैं तुम्हारी प्रेरणा से पतितपावन परमेश्वर की लीला का वर्णन करूँगा जो कि मेरा परम धर्म है। मतलब यह कि मेरे मुख से भगवान् की महिमा का वर्णन कराकर तुमने मुझे कृतार्थ किया। नारद, तुमने जो मुझे इस सृष्टि का विधाता, भगवान् या ईश्वर कहा, वह भी एकदम मिथ्या नहीं है। मुझसे बड़े ईश्वर को न जानकर समानता के कारण तुम इस भ्रम में पड़ गये हो। जिस ईश्वर की शक्ति से मैं इस सृष्टि का विधाता हूँ, उसे तुम नहीं जानते। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरा भी शासक या स्वामी दूसरा है। उसी की इच्छा से मैं इस जगत् की सृष्टि करता हूँ। वही मेरा पूज्य पिता या इष्टदेव है। जैसे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, तारागण और अग्नि उस मूल चैतन्य से प्रकाशित इस विश्व को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही उन स्वयं-प्रकाशमान भगवान् के द्वारा प्रकाशित इस विश्व को मैं भी सृष्टि के द्वारा प्रकट करता हूँ और सृष्टिकर्त्ता विधाता कहलाता हूँ। उन भगवान् वासुदेव को नमस्कार है। हम उनका ध्यान करते हैं, जिनकी दुर्जय माया से मोहित होकर तुम लोग मुझे जगद्गुरु अर्थात् इस जगत् का कारण कहते हो वह दुर्जय माया उन भगवान् की दृष्टि के सामने "मेरे कपट या रूप को यह जानते हैं" यह सोचकर लज्जित हो नहीं ठहर सकती, अर्थात् अपने प्रभाव को नहीं फैला सकती, परन्तु उसी माया से ज्ञान आवृत्त ( ढका हुआ ) होने के कारण हम सब लोग "मैं हूँ, मेरा है" इस कुबुद्धि का शिकार बने रहते हैं। [ अपने से अन्य ईश्वर का निरूपण करके नारद के पूर्वोक्त नव प्रश्नों का उत्तर क्रमशः देते हैं। ] तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो पंचतत्त्व ( जो इस सृष्टि के उपादान कारण या सामग्री हैं ), कर्म ( जन्म का कारण ), काल, स्वभाव ( उसके परिणाम या रूपान्तर का कारण ), जीव



( भोग करनेवाला ), ये सब वासुदेव से भिन्न नहीं हैं। वेद उन नारायण की ही महिमा का वर्णन और प्रतिपादन करते हैं। सब देवता उन्हीं नारायण के अंश से उत्पन्न हैं। स्वर्ग आदि लोक उन्हीं नारायण के आनन्द का अंश हैं। यज्ञ आदि कर्म उन्हीं नारायण की प्राप्ति के साधन हैं। योग ( प्राणायाम आदि ), तप, ज्ञान और गति, सबका कारण और लक्ष्य नारायण ही हैं। अतएव सब नारायणमय हैं। वह द्रष्टा, ईश्वर, कूटस्थ ( माया के पर्दे में छिपे हुए ) और सर्वात्मा सर्वव्यापक हैं। वह मुझे उत्पन्न करते हैं और मैं उन्हीं की इच्छा और प्रेरणा से कटाक्षमात्र से इस सारी सृष्टि की रचना करता हूँ।

अब जीव और ईश्वर के विभाग का कारण बतलाते हैं। वह निर्गुण, निराकार ईश्वर उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करने के लिए अपनी इच्छा से सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को माया के द्वारा ग्रहण करते हैं। उन मायाधारी किन्तु नित्यमुक्त ईश्वर को वे माया के गुण, जो कि पंचतत्त्व, इन्द्रिय और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों की उत्पत्ति के कारण हैं, कार्य ( अधिभूत ), कारण ( अध्यात्म ) और कर्त्ता ( अधिदैवत ) के भाव से बाँधते हैं। तभी वह ईश्वर जीव कहलाता है। वह इन्द्रियों के ईश्वर भगवान् इन तीनों गुणों से ( जो जीव के आवरण हैं ) युक्त होकर इनके आवरणों में ऐसे छिपे हैं कि उनके भक्तों के सिवा और कोई उनके रूप को नहीं देख पाता। वही सारे संसार के और मेरे भी ईश्वर हैं। उन्हीं सर्वव्यापी ईश्वर ने जब एक से बहुरूप होने की इच्छा की तो इसके लिए अपने में स्वतःप्राप्त काल ( गुणों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाले सृष्टिकाल ), कर्म ( जीव के अदृष्ट ) और स्वभाव ( उसके रूपान्तर के कारण ) अपने में धारण अथवा ग्रहण या प्रकट किया। उसी परमपुरुष में अधिष्ठित 'काल' के द्वारा माया में अवस्थित तीनों गुण जब क्षोभ को प्राप्त हुए, तब 'स्वभाव' के द्वारा रूपान्तर ग्रहण करके 'कर्म' के द्वारा सम्मिलन भाव में प्रकाशित होकर 'महत्तत्त्व' नाम को प्राप्त हुए। [ यह कारण-सृष्टि का वर्णन है। इसके उपरान्त कार्य-सृष्टि कही जायगी। काल, कर्म, स्वभाव आदि नित्य वस्तुओं की उत्पत्ति दिखाकर अब यह बतलाते हैं कि ये किस तरह अपने कार्य में लग गये। यहाँ पर ब्रह्माजी ने महत्तत्त्व की उत्पत्ति दिखाई है। माया से जैसे तीनों गुण प्रकट होते हैं, सो कहा जा चुका है। वे ही गुण जब काल द्वारा क्षोभ को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी साम्यावस्था सृष्टिकाल में दूर होकर जब वे न्यूनाधिक होते हैं, तब ईश्वरीय स्वभाव में इन सब गुणों का रूपान्तर होता है। वही रूपान्तर ईश्वर की इच्छा के अनुसार अदृष्ट-नामक कर्म के द्वारा दूसरे एक रूप या अवस्था में प्रकाशित होता है। इसी को महत्तत्त्व कहते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि जैसे क्षुद्र वस्तु की उत्पत्ति होती है, वैसे ही महत् वस्तु की भी। दोनों की उत्पत्ति का क्रम एक ही है। हमारे यहाँ भी कहा है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड ( शरीर ) की उत्पत्ति का क्रम एक ही है। ]

महत्तत्त्व जब विकार को प्राप्त हुआ तब उससे तमोगुणप्रधान अहंकार की उत्पत्ति हुई। महत्तत्त्व में क्रिया-ज्ञान-शक्तिरूप तीनों गुण होने पर रजोगुण और सतोगुण का अंश अधिक है। अहंकार आवरण करनेवाला होने के कारण तमोगुण-प्रधान है। इसीलिए अहंकार के कार्यों में तामस आकाश आदि का अंश अधिक होगा। वह अहंकार अपने त्रिविध रूपों से पंचतत्त्वों, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों और इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। वह अहंकार सात्विक, राजस और तामस, तीन प्रकार का है। पंचतत्त्वों, इन्द्रियों और इन्द्रियों के देवतों में उसी की शक्ति काम करती है। तामस अहंकार जब रूपान्तर को प्राप्त हुआ तब उससे आकाश ( अवकाश या शून्य ) उत्पन्न हुआ। उस आकाश की मात्रा अर्थात् सूक्ष्म रूप और गुण अर्थात् असाधारण धर्म शब्द है। वह शब्द ही द्रष्टा और दृश्य दोनों का बोधक है। जैसे दीवार आदि की आड़ में खड़े होकर यदि कोई "हाथी-हाथी" कहता है तो उससे उस पुरुष ( द्रष्टा ) और हाथी ( दृश्य ) दोनों का ज्ञान होता है। उस आकाश के विकार से वायु उत्पन्न हुआ। इसका गुण स्पर्श है। उसके सिवा

वायु में आकाश का गुण शब्द भी है। वह वायु ही प्राण ( देह को अविकृत या जीवित रखनेवाला ) है। उसी से इन्द्रिय, मन और शरीर अपना-अपना काम ठीक तौर से करते रहते हैं। काल, कर्म और स्वभाव के द्वारा रूपान्तर को प्राप्त होकर वह वायु तेज को प्रकट करता है। इस तेज का गुण रूप है। साथ ही उसमें शब्द और स्पर्श गुण भी हैं। तेज-तत्त्व जब विकार को प्राप्त हुआ तब उससे जल-तत्त्व प्रकट हुआ। जल का गुण रस है। इसमें भी पहले के तत्त्वों के शब्द, स्पर्श और रूप, ये तीनों गुण रहते हैं। फिर जल के रूपान्तर से पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुआ। इसका गुण गन्ध है। इसमें भी पहले के शब्द, स्पर्श, रस, रूप, ये चारों गुण हैं। इस प्रकार तामस अहंकार से इन पाँचों तत्त्वों की सृष्टि हुई, जिनका सूक्ष्म रूप या गुण पाँचों ज्ञानेंद्रियों के विषय शब्द आदि है।

सात्विक या वैकारिक अहंकार से मन ( उसका अधिष्ठाता चंद्रमा भी ) और दसों इन्द्रियों के अधिष्ठाता या संचालक देवता उत्पन्न हुए। वे देवता ये हैं—दिशाएँ, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनीकुमार ( श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, इन ज्ञानेंद्रियों के अधिष्ठाता ) और अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र ( विष्णु ), मित्र और प्रजापति ( वाणी, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इन कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता )।

राजस अहंकार के विकार से दस इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। ज्ञान-शक्ति ( बुद्धि ) और क्रिया-शक्ति ( प्राण ) दोनों की सृष्टि राजस अहंकार से हुई है, इसीलिए ज्ञान और कर्म के विशेष रूप ये दसों इन्द्रियाँ भी उसीसे उत्पन्न हुईं—श्रोत्र ( कान ), त्वक् ( खाल ), घ्राण ( नासिका ), चक्षु ( आँख ), जिह्वा, वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय, मल-द्वार। [यह कारण-सृष्टि हुई। अब कार्य-सृष्टि कहते हैं।] अलग-अलग अर्थात् असम्मिलित अवस्था में स्थित ये इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता, पञ्चतत्त्व, उनके गुण, रूप आदि और मन कोई आयतन अर्थात् शरीर नहीं बना सके। [जैसे घड़ी के कल-पुर्ज़ों को अलग-अलग तले-ऊपर ढेर कर देने से घड़ी तब तक नहीं बनती और चलती, जब तक कोई कारीगर उन पुर्ज़ों को नियमानुसार यथास्थान लगाकर उनमें चलने की शक्ति नहीं पैदा कर देता, वैसे ही जीव या चैतन्य के बिना ये तत्त्व भी असमर्थ ही रहते हैं।] तब भगवान की शक्ति से प्रेरित होकर ये सब कारण-तत्त्व एकत्र अर्थात् सम्मिलित हुए और अपने प्रधान गुण-भाव को स्वीकृत करके इन्होंने समष्टि ( स्थूल ) और व्यष्टि ( स्थूल ) रूप दोनों प्रकार के शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों की सृष्टि की। फिर काल-कर्म-स्वभाव से आबद्ध जीव ( अर्थात परमात्मा की सचेतन शक्ति जीवात्मा ) ने सहस्र (असंख्य ) वर्षों के उपरान्त जल में शयन कर रहे उस तत्त्वमय निर्जीव अण्ड में प्रवेश करके उसे जीवित किया। उस महान अण्ड को फोड़कर हज़ारों हाथ, पैर, सिर, मुख और नेत्रोंवाला वह ( विराट् ) पुरुष निकला, जिसके अंगों में ज्ञानी जन इन सब लोकों की रचना देखते हैं। उस विराट् पुरुष की कमर के नीचे अतल आदि सात लोकों की और कमर के ऊपर भूः भुवः आदि सात लोकों की कल्पना की गई है। उस पुरुष का मुख ब्राह्मण हैं, बाहु क्षत्रिय हैं, ऊरु वैश्य हैं और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। उपासना में सात लोक और चौदह लोक के दो पक्ष हैं। पहले सात लोकों की कल्पना कहते हैं। उस विराट् के पैरों में भूर्लोक, नाभि में भुवर्लोक ( अन्तरिक्ष ), हृदय में स्वर्गलोक, छाती में महर्लोक, गरदन में जनलोक, दोनों स्तनों में तपलोक, ललाट में सत्यलोक की रचना हुई। उसके ऊपर ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठ है। वह सनातन अर्थात् नित्य है।

अब चौदह लोक के पक्ष के अनुसार लोक-कल्पना का वर्णन करते हैं। विराट् पुरुष की कमर में अतललोक, ऊरुओं में वितललोक, जानुओं में सुतललोक और जंघाओं में तलातललोक, गुल्फों में महातललोक, प्रपदों में रसातललोक और पैरों के तलवों में पाताललोक स्थित है। ऊपर के सात लोकों का वर्णन पहले किया ही जा चुका है। इस प्रकार वह पुरुष लोकमय है।

एक पक्ष तीन लोक का भी है। उसके अनुसार भूर्लोक विराट् पुरुष के पैर, भुवर्लोक उनकी नाभि और स्वर्गलोक उनका सिर है। यह भी लोक-कल्पना है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार लोकनिर्माता, लोकों का आधार और लोकमय वह विराट् पुरुष उपासना करने योग्य है।

# छठा अध्याय

## विराट् की विभूतियों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—हे नारद, हमारी वाक् इन्द्रिय और उसका अधिष्ठाता देवता अग्नि उस पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ। गायत्री आदि सातों वैदिक छन्द उस पुरुष की मेदा, मज्जा आदि सात धातुएँ हैं। हव्य (देवों का अन्न), कव्य (पितृगण का अन्न), अमृत (मनुष्यों का अन्न) तथा मीठे, खट्टे आदि छहों रस उस पुरुष की जिह्वा से उत्पन्न हुए। पाँचों प्राणवायु और उनका अधिष्ठाता वायु पुरुष की नासिका से उत्पन्न हुए। अश्विनीकुमार (घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता), ओषधियाँ तथा साधारण और विशेष गन्ध उनकी घ्राणेन्द्रिय से प्रकट हुए। रूप और उसे प्रकट करनेवाला तेज उनकी चक्षु इन्द्रिय से और सूर्य और उनकी प्रभा उनके नेत्रगोलक से उत्पन्न हुई। दिशाएँ और तीर्थ उनके कानों से और आकाश तथा शब्द उनके श्रोत्र इन्द्रिय से उत्पन्न हुए। उस पुरुष का शरीर ही सब वस्तुओं के सार अंश की उत्पत्ति का स्थान है। स्पर्शगुण, वायु और यज्ञ विराट् की त्वचा से उत्पन्न हुए। संपूर्ण वृक्ष अथवा यज्ञकर्म में काम आनेवाले कुश आदि उनके रोमों से उत्पन्न हुए। उनके केशों से बादल, श्मश्रुओं (दाढ़ी-मूछ के बालों) से बिजली, हाथ-पैरों के नखों से शिला, लोहा आदि उत्पन्न हुए। लोकों का पालन करनेवाले इन्द्र आदि लोकपाल उनकी भुजाओं से उत्पन्न हुए। भूः,भुवः, स्वः लोक विराट् की गति या चरण-विन्यास से उत्पन्न हुए। क्षेम (मिले हुए की रक्षा), शरण (भय से रक्षा) और सब वरों (कामनाओं) की उत्पत्ति का स्थान उस पुरुष के चरण हैं। जल, वीर्य, सर्ग (सृष्टि), वर्षा और प्रजापति की उत्पत्ति विराट् पुरुष के लिंग से हुई। सन्तान के लिए संभोग करने से जो आनन्द या सन्तोष प्राप्त होता है, वह विराट् पुरुष के भोगेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ। मित्र देवता, यम और मलत्यागकर्म विराट् पुरुष के पायु इन्द्रिय से उत्पन्न हुए। हिंसा, अलक्ष्मी और मृत्यु की उत्पत्ति का स्थान उनकी गुदा है। पराभव, अधर्म और अज्ञान उनकी पीठ से उत्पन्न हुए। विराट् की नाड़ियों से नद और नदियाँ तथा हड्डियों से पहाड़ प्रकट हुए। अव्यक्त (प्रधानतत्त्व), रस (अन्न आदि का सारांश), सागर और सब तत्त्वों की लय-अवस्था विराट् के उदर से उत्पन्न हुई। हम लोगों के मन (लिंग शरीर) की उत्पत्ति का स्थान उनका हृदय है। हे नारद, स्वयं धर्म, मैं, तुम, सनक आदि मेरे चारों पुत्र, रुद्र, विज्ञान और सत्व (चैतन्य), इनकी उत्पति उस परमपुरुष के आत्मा अर्थात् चित्त से हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि मैं, तुम, शिव, तुम्हारे अग्रज ये सनकादि, सब देवता, असुर, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, रेंगकर चलनेवाले जीव, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस,भूतगण, सर्प, पशु, पितृगण, सिद्धगण, विद्याधर, चारण, वृक्ष, अन्य सब जल, स्थल और आकाश में रहनेवाले विविध जीव,ग्रह, नक्षत्र, केतु,तारागण, बिजली आदि जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान यह विश्व है, सो सब वही पुरुष है, उससे अलग कुछ भी नहीं। वही इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त होकर सर्वत्र सब में स्थित है। यह सूर्यदेव जैसे अपने मण्डल को प्रकाशित करते हुए बाहर भी प्रकाश पहुँचाते हैं, वैसे ही यह पुरुष भी विराट् देह को सचेतन करते हुए ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर सचेतन करता है। वह पुरुष मरणधर्मवाले अन्न अर्थात् कर्मफल से मुक्त है, इसलिए केवल सर्वात्मक ही नहीं, किन्तु ब्रह्मानन्द

का भी स्वामी है। हे नारद, वह पुरुष सगुण होकर भी निर्गुण है; यही उसकी महिमा है, जिसे समझ पाना कठिन है। उस सर्वलोकमय भगवान् के शरीर के अंश जो पूर्वोक्त भूः आदि लोक हैं, उनमें इस विश्व के सब प्राणी स्थित हैं। उसने ऊपर के जन, तप और सत्य लोकों में क्रमशः अमृत, क्षेम और अभय को स्थापित किया है। [इसका खुलासा यह है कि त्रिलोकी का जो सुख है, वह नश्वर है। त्रिलोकी के ऊपर महर्लोक क्रम-मुक्ति का स्थान है। पर वह कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है, इसलिए वहाँ का सुख अविनाशी नहीं है। जनलोक में अमृत अर्थात् अविनाशी सुख है; क्योंकि वहाँ से पुनः पतन नहीं होता। उसके ऊपर तपलोक में क्षेम है; क्योंकि वहाँ कल्पान्त में त्रिलोक-दाह की गर्मी से पीड़ित लोग जाकर गड़बड़ नहीं मचाते। अन्त में सत्यलोक में अभय अर्थात् मोक्ष है। इसी वैचित्र्य को आगे अधिकारी के भेद से सिद्ध करते हैं।] नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, इन तीनों के स्थान त्रिलोकी के बाहर (महः, जन, तप आदि) हैं। ब्रह्मचर्यरूप महाव्रत से रहित गृहस्थों के लोक इस त्रिलोकी के भीतर हैं। भोग और मोक्ष के साधन जो दक्षिण और उत्तर मार्ग अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग हैं, उनमें यह क्षेत्रज्ञ पुरुष विचरता है। इन मार्गों को विद्या और अविद्या भी कहते हैं। कर्मरूप प्रवृत्ति मार्ग अविद्या है और ईश्वरोपासनारूप निवृत्ति मार्ग विद्या है। यह पुरुष या जीवात्मा दोनों के आश्रित है।

जिससे यह अण्ड या ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ और उस अण्ड में पंचभूत-इन्द्रिय-गुणमय विराट् उत्पन्न हुआ, वह ईश्वर उस विश्व और विराट् को अपनी चैतन्यशक्ति से प्रकाशित करता हुआ अपने ही में स्थित है, अर्थात् ब्रह्माण्ड और विराट् दोनों से परे है, जैसे सूर्यदेव अपनी किरणों से सर्वत्र प्रकाश फैलाते हुए अपने ही मण्डल में स्थित हैं।

जब मैं उन महान् विराट् के अन्तर्यामी ईश्वर की नाभि से उत्पन्न कमल से प्रकट हुआ, तब उस पुरुष के अंगों से भिन्न यज्ञ की सामग्री (पशु, यूप आदि) मुझे नहीं देख पड़ी। तब उसी पुरुष के अंगों से यज्ञीय पशु, यूप के वनस्पति, कुश, यह यज्ञभूमि, बहुगुणयुक्त वसन्त आदि यज्ञ का काल, यज्ञ के पात्र, धान आदि ओषधियाँ, घृत आदि, अनेक रस, सुवर्ण आदि धातुएँ, मिट्टी, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चातुर्होत्र कर्म (ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और ऋत्विज मिलकर जिसे करते हैं), ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के नाम, स्वाहा आदि मन्त्र, दक्षिणा, व्रत (दीक्षा), देवताओं का उद्देश, बौधायन आदि कर्मपद्धति के ग्रन्थ, संकल्प, यज्ञ के अनुष्ठान का प्रकार, विष्णुलोक आदि गतियाँ, देवतों के ध्यान, प्रायश्चित्त और ईश्वर को कृत कर्म का समर्पण, यह सब यज्ञ की सामग्री मैंने प्रस्तुत की। इसके उपरान्त यज्ञ के द्वारा मैंने उस यज्ञपुरुष की आराधना की। फिर तुम्हारे भाई मरीचि, कश्यप आदि इन नव प्रजापतियों ने भी एकाग्र होकर इन्द्र आदि के रूप से प्रकट और स्वतः अव्यक्त उस पुरुष का यजन किया। उसके उपरान्त समय-समय पर मनुओं, ऋषियों, पितरों, देवतों, दैत्यों और मनुष्यों ने पूर्वोक्त सामग्री से यज्ञ के द्वारा यज्ञपुरुष भगवान् का पूजन किया।

इस प्रकार, हे नारद, यह संपूर्ण विश्व उन्हीं भगवान् में अवस्थित है। वह स्वयं निर्गुणरूप परमेश्वर सृष्टि के आरंभ में माया के गुणों को ग्रहण करके सगुण होते हैं। वास्तव में, वह गुणों से परे परमानन्दरूप हैं। उन्हीं के द्वारा नियुक्त होकर मैं इस जगत की सृष्टि करता हूँ और उन्हीं के अधीन रुद्र सबका संहार करते हैं। और वह स्वयं विष्णुरूप से इस जगत का पालन करते हैं। इस प्रकार वही तीनों शक्तियों को धारण करते हैं।

वत्स, तुमने मुझसे जो प्रश्न किये थे, उनका उत्तर यह मैंने तुमसे कह दिया। तुम्हारे सब प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर यह है कि जो कुछ कार्य-कारण-रूप सृष्टि है सो सब उन वासुदेव से भिन्न नहीं है। यह उन्हीं ईश्वर की कृपा और भक्ति का फल है कि मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती मेरे मन की गति

कभी मिथ्या की ओर नहीं होती और मेरी इन्द्रियाँ कभी असत् के मार्ग में नहीं जातीं। कारण, मेरे हृदय में भक्ति के द्वारा सदा ईश्वर की इच्छारूप चैतन्यशक्ति का प्रकाश रहता है। मैं वेदमय, तपोमय और प्रजापतियों का भी वन्दनीय स्वामी हूँ। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ होकर भी मैं एकाग्रभाव से सर्वोत्तम योग के द्वारा भी उसे अच्छी तरह नहीं जान सका, जिससे मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं केवल इतना ही जान सका हूँ कि उसकी महिमा अनन्त है। जब वह परमेश्वर स्वयं अपनी माया के अनन्त वैभव का अन्त नहीं पा सके तब और कोई क्या पा सकता है। जैसे आकाश स्वयं अपने ओर-छोर को नहीं जानता, वैसे ही ईश्वर भी स्वयं अपनी माया के पसारे की इयत्ता ( सीमा ) को नहीं जानता। शरणागत लोगों के जन्म-मरण के बंधन को काटनेवाले, मंगलमय और सेवनीय जो उन ईश्वर के चरण हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। उन परमेश्वर के परमार्थस्वरूप को मैं, तुम ( मेरे पुत्र ) और शंकर भी नहीं जानते, तब और देवता क्या जान सकते हैं! उनकी माया से हम लोगों की बुद्धि मोहित हो रही है, इसीलिए हम लोग केवल उनकी माया से निर्मित इस प्रपचरूप को ही जानते हैं। सो भी अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप थोड़ा-बहुत, संपूर्ण नहीं। हम लोग जिन ईश्वर के अवतारों की लीलाओं या कथाओं को ही गाते हैं, किन्तु उनके यथार्थ तत्त्व को नहीं जानते, उन भगवान् को प्रणाम है।

वह सबको उत्पन्न करनेवाले आदिपुरुष अनादि भगवान् प्रत्येक कल्प में अपने को अपने द्वारा अपने में आप उत्पन्न करते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं। अर्थात् सृष्टि आदि कर्मों का कर्त्ता, कर्म, अधिकरण और साधन वह स्वयं ही है। वह भगवान् केवल विशुद्ध ज्ञानमय सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। वह सबमें विराजमान है। सत्यस्वरूप, निर्गुण, पूर्ण, अनादि, अनन्त, अखण्ड, नित्य और अद्वितीय, इन विशेषणों से कुछ-कुछ उनके तत्त्व का आभास मिल सकता है। जिनके मन, इन्द्रियाँ और विषय के विकार शान्त हो जाते हैं, वे मुनि ही उस ईश्वर के यथार्थ रूप को अनुभव से जान सकते हैं। अन्यथा जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, जो युक्ति-तर्क से ईश्वर को जानना चाहते हैं, वे कभी उसे नहीं जान पाते। [ तात्पर्य यह कि ईश्वर को देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। ]

[ अब प्रत्येक कल्प में होनेवाले ईश्वर के अवतारों का वर्णन करते हैं, जैसा कि पहले कह आये हैं कि प्रत्येक कल्प में वह भगवान् अपने को आप उत्पन्न करते हैं। ]

उन परमपुरुष का आदि-अवतार पुरुष है, जो प्रकृति का प्रवर्त्तक है। [ जैसा कि कहा है—विष्णु के तीन रूपों को पुरुष कहते हैं। एक तो महत्तत्त्व को उत्पन्न करनेवाला, दूसरा ब्रह्माण्ड में स्थित विराट् पुरुष और तीसरा सब प्राणियों में स्थित आत्मा। ] उसके उपरान्त काल, स्वभाव, सत् और असत् ( कार्य-कारणरूपिणी प्रकृति ), मन ( महत्तत्त्व ), पञ्चतत्त्व, अहंकार, तीनों गुण, इन्द्रियाँ, विराट् ( समष्टिरूप ), स्वराट् ( वैराज ), जड़ और जंगम जीव ( व्यष्टि शरीर ), ये सब उन्हीं परमपुरुष के अवतार हैं। [ इनमें काल, स्वभाव और दोनों प्रकार की प्रकृति, ये शक्तियाँ हैं। मन आदि कार्य हैं। आगे वर्णित ब्रह्मा आदि गुणावतार हैं और दक्ष आदि विभूतियाँ। ] मैं, शिव, यज्ञ ( विष्णु ), दक्ष आदि प्रजापति, तुम सब देवर्षि और स्वर्गलोक, खगलोग, मनुष्यलोक, पाताल आदि तले के लोकों के अधिपति, सब उसी ईश्वर के अवतार हैं। गन्धर्वपति, विद्याधरपति, चारणों के अधिपति, यक्षपति, राक्षसराज, सर्पों और नागों के अधिपति, ऋषीश्वर, पितरों में श्रेष्ठ, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवेन्द्र तथा प्रेतपति, पिशाचराज ( वण्टाकर्ण आदि ), भूतेश ( भैरव आदि ), कूष्माण्डेश ( भृंगी आदि ), जलजन्तुओं में श्रेष्ठ ( तिमिंगिल मछली आदि ), मृगराज ( सिंह ), पक्षिराज ( गरुड़ आदि ), सब उसी ब्रह्म के अवतार या रूप हैं। संक्षेप में यह समझ लो कि इस सृष्टि में जो कुछ ऐश्वर्य, तेज, ओज ( इंद्रियों की शक्ति ), सह ( मन की शक्ति ),

बल, क्षमा, शोभा, ह्री ( कुकर्म से घृणा ), संपदा, बुद्धि, उत्तमवर्ण और प्रशस्त रूप या सौन्दर्य से युक्त है, सो सब उसी परमेश्वर का अवतार या विभूति है। इन सब साधारण अवतारों के अतिरिक्त उस परमेश्वर के लीला के लिए जो प्रधान अवतार होते हैं, उनको भी सुनो।

---

# सातवाँ अध्याय

## भगवान् के अवतारों और उनके चरित्रों का संक्षिप्त वर्णन

ब्रह्मा कहते हैं—हे नारद, इस पृथ्वी को जल के भीतर से ऊपर लाने के लिए भगवान् ने वाराह अवतार लिया। उन्हें यज्ञपुरुष भी कहते हैं; क्योंकि यज्ञ की सब सामग्री उन्हीं के शरीर से प्रकट हुई है। समुद्र के भीतर आदिदैत्य हिरण्याक्ष ने उनसे लड़ना चाहा और वाराह ने अपनी दाढ़ से उसके हृदय को वैसे ही फाड़ डाला, जैसे इन्द्र अपने वज्र से पहाड़ को फाड़ दें।

फिर रुचि प्रजापति के वीर्य से रुचि की स्त्री आकूति के गर्भ में भगवान् ने दूसरा अवतार लिया। उन्हें यज्ञ कहते हैं। यज्ञ भगवान् ने दक्षिणा नाम की स्त्री में सुयम नाम के देवता उत्पन्न किये। उन्होंने ही इन्द्रपद प्राप्त होने पर त्रिभुवन के दुःखों को दूर किया, हर लिया, इसीसे उनके नाना स्वायंभुव मनु ने उनका 'हरि' नाम रक्खा।

तदनन्तर कर्दम प्रजापति के घर उनकी स्त्री देवहूति के गर्भ से कपिल अवतार हुआ। कपिलदेव के नव बहनें भी थीं। उन्होंने अपनी मा को आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। उस ज्ञान की बदौलत इसी जन्म में आत्मा को मलिन करनेवाली माया-ममता की कीचड़ को धोकर शुद्ध हो वह मुक्त हो गईं।

हे नारद, चौथा अवतार सुनो। अत्रि ऋषि ने हरि से प्रार्थना की कि आप हमारे पुत्र हों। नारायण ने प्रसन्न होकर कहा, अच्छा, मैंने अपने को तुम्हें दिया। बस, भगवान् ने अत्रि के यहाँ जन्म लिया और दत्तात्रेय कहलाये। महाराज यदु और सहस्रबाहु अर्जुन आदि योगी उनसे उपदेश प्राप्त करके भुक्ति और मुक्ति, दोनों के अधिकारी हुए।

मैंने पहले विविध लोकों की सृष्टि करने के लिए जो कठिन तप किया, उससे प्रसन्न होकर वह भगवान् सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार नाम से मेरे मानस पुत्र हुए। उन्होंने इस कल्प में पूर्व-कल्प के प्रलय में नष्ट हुए आत्मज्ञान का उपदेश इतने अच्छे ढंग से किया कि उनके मुख से सुनते ही मुनियों को अपने हृदय में भासित हो उठा।

दक्ष की कन्या मूर्त्ति धर्म को ब्याही थी। उसके गर्भ से नर-नारायणरूप भगवान् प्रकट हुए। नर-नारायण की तपस्या और प्रभाव असाधारण है। कामदेव की सेना अप्सराएँ उनके तप में विघ्न करने के लिए आईं; किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनसे भी अधिक सुन्दर उत्तम उर्वशी आदि अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही हैं, तब वे आश्चर्यचकित होकर स्वर्ग को लौट गईं और भगवान को मोहित न कर सकीं। [ यह कथा एकादश स्कंध में विस्तार से कही गई है। ] रुद्र आदि ईश्वर अर्थात् समर्थ लोग भले ही कामदेव को क्रोध की दृष्टि से जला दें, पर वे भी क्रोध को नहीं जला सकते, बल्कि असह्य क्रोध ही उनको जलाता है। किन्तु वही क्रोध हरि के निर्मल हृदय में प्रवेश करते डरता है। तब भला कामदेव कैसे उन हरि के चित्त पर अधिकार कर सकता है?

फिर ध्रुव अवतार हुआ। उसमें अपने पिता राजा उत्तानपाद के आगे सौतेली माता सुरुचि के वाक्य-बाणों से घायल होकर वह बाल्यावस्था में ही तप करने के लिए वन को चले गये। उन्होंने स्वयं तो ध्रुवलोक प्राप्त ही किया, किन्तु पिता की प्रार्थना से प्रसन्न होकर उनको भी ध्रुवलोक में स्थान दिया। ऊपर भृगु आदि ऋषि और नीचे सप्तर्षि उस ध्रुवलोक की स्तुति करते हैं।

राजा बेन जब कुराह में चलकर धर्म में बाधा डालने लगा, तब ब्राह्मणों के शाप ने वज्र की तरह गिरकर उसके ऐश्वर्य और प्राणों का संहार कर डाला। राजा बेन का नरक में जाना आवश्यक था। परन्तु ऋषियों की प्रार्थना से भगवान् ने पृथु नाम से उसके यहाँ जन्म लिया और नरक से पिता बेन की रक्षा या उद्धार करके पुत्र* शब्द को सार्थक कर दिया। उन्होंने गऊरूप पृथ्वी से सब वस्तुएँ दुह लीं अर्थात् प्राप्त कीं।

फिर ईश्वर ने आग्नीध्र राजा के लड़के नाभि की रानी सुदेवी के गर्भ से ऋषभ अवतार लिया। वह स्वस्थ ( आत्मज्ञानी ), जितेन्द्रिय, निःसंग होकर परमहंस भाव से रहते और देखने में जड़ ( सिड़ी ) से प्रतीत होते थे।

उन्हीं भगवान् ने मेरे यज्ञ में हयग्रीव अवतार लिया। वह सुवर्णवर्ण साक्षात् यज्ञपुरुष थे। उन वेदमय, यज्ञमय, सर्वदेवमय भगवान् की नासिका से जो साँस निकलती थी, उसीसे पवित्र वेदवाणी का उद्भव हुआ।

कल्प के अन्त में प्रलय के समय वैवस्वत मनु ने अपनी अंजली में ही मत्स्यरूप भगवान् को देख पाया। वह पृथ्वीमय और सब जीवों के आश्रयस्वरूप भगवान् मेरे मुख से निकले हुए वेदों को लेकर जल में विहार करते रहे।

देवता और दानव अमृत प्राप्त करने के लिए जब क्षीरसागर को मथने लगे, तब आदिदेव विष्णु भगवान् ने बड़े भारी कच्छप का रूप रखकर अपनी पीठ पर मन्दराचल को रोका। पर्वत के घूमने से पीठ में खुजलाने का सुख पाकर उनकी आँखों में नींद आ गई।

देवगण के भारी भय को दूर करनेवाले भगवान ने नरसिंहरूप धारण किया और गदा लेकर अपने ऊपर झपट रहे दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु को पकड़कर उसका हृदय पैने नखों से फाड़ डाला। उस समय वह दैत्य उनके हाथ से छूटने के लिए फड़क रहा था। नृसिंह भगवान् का मुख उस समय टेढ़ी भौहों और निकली हुई दाढ़ों से बहुत ही भयानक देख पड़ रहा था।

उन्हीं भगवान् ने सरोवर के भीतर ग्राह के मुख में पड़े हुए गजराज का उद्धार करने के लिए हरि नाम का अवतार लिया। वह वृत्तान्त यों है कि एक बड़े सरोवर के भीतर किसी बड़े बलवान ग्राह ने गजराज का पैर पकड़ लिया। गजराज जब ग्राह से अपने को न छुड़ा सका और थक गया, तब अपनी सूँड़ में उपहार-स्वरूप कमल का फूल लेकर आर्त्तस्वर से उसने पुकारा—"हे आदिपुरुष, हे सब लोकों के स्वामी, हे पावन यशवाले, आपका नाम कानों में पड़ते ही मंगलकारी होता है।" शरणागत गजराज की यह दीन पुकार सुनते ही चक्रपाणि हरि भगवान् गरुड़ के ऊपर सवार होकर दौड़ पड़े। हरि ने उस स्थान में पहुँचकर कृपापूर्वक गजराज का उद्धार किया और अपने सुदर्शन चक्र से उस ग्राह का सिर अलग कर दिया।

अदिति के पुत्र जो बारह आदित्य हैं, उनमें यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु को ही वामन और उपेन्द्र कहते हैं। वह यद्यपि अदिति के पुत्रों में सब से छोटे हैं, परन्तु गुणों में सबसे बड़े हैं। उन्होंने अपने तीन पग में त्रिभुवन को नाप लिया और वामन से विराट् बन गये। वामनरूप विष्णु ने राजा बलि के यज्ञ में जाकर तीन

*पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः। पुत् नाम के नरक से पिता की रक्षा करता है, इसीलिए बेटे को संस्कृत में 'पुत्र' कहते हैं।

पग पृथ्वी पहले माँगी और बलि के दे चुकने पर सारी पृथ्वी उन्हीं तीन पगों में नापकर ले ली। अगर कोई शंका करे कि ईश्वर होकर दुर्बल की तरह भगवान् ने भिक्षा क्यों माँगी, क्या वह यों बलपूर्वक बलि को परास्त करके उससे त्रिभुवन नहीं ले सकते थे, जो यों छलकौशल से काम लिया ? तो इसी का समाधान करने के लिए कहते हैं कि भगवान् सबके स्वामी अवश्य हैं, किन्तु धर्मपथ में चलनेवाले को याचना के सिवा और किसी उपाय से ऐश्वर्य-भ्रष्ट करना उचित और न्याय्य नहीं है। यही कारण है कि सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी होकर भी वामनरूप विष्णु ने राजा बलि से याचना की। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अगर यही बात है तो याचना के द्वारा भी धर्मात्मा को ऐश्वर्य से भ्रष्ट करना उचित नहीं माना जाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि भगवान् ने राजा बलि को त्रिभुवन-राज्य से भी अधिक ऐश्वर्य देने के लिए ही उससे पृथ्वी का आधिपत्य ले लिया। राजा बलि की दृष्टि में भी त्रैलोक्य का राज्य कुछ अधिक महत्व नहीं रखता था। जिस महामनस्वी बलि ने भगवान् के पवित्र चरणोदक को सिर पर धारण किया, गुरु शुक्राचार्य के मना करने और शाप देने पर भी तीन पग पृथ्वी दान करने की अपनी प्रतिज्ञा से मुख नहीं मोड़ा और अन्त को वामनजी का तीसरा पग पूरा करने के लिए अपना शरीर तक अर्पण कर दिया, उसे त्रिलोकी का राज्य, जिसे उसने बाहुबल से प्राप्त किया और श्रद्धापूर्वक दान कर दिया, परम पुरुषार्थ न प्रतीत हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वह घाटे ही में क्या रहा ? जो दिया उससे कहीं बढ़कर पा गया !

हे नारद, भगवान् ने अपने ऊपर तुम्हारी अनन्य भक्ति से सन्तुष्ट होकर हंस-अवतार में तुमको भक्तियोग और आत्मज्ञान का उपदेश किया। वह भागवत ज्ञानदीपक के समान आत्मतत्त्व को दिखानेवाला है, और वासुदेव की शरण में पहुँचे हुए भक्त लोग ही उसे सहज में जान सकते हैं।

ये सब मनु भी उन्हीं भगवान् के अवतार हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में वही भगवान् मनुवंश को चलाते हैं, तीनों लोकों के ऊपर स्थित इस सत्यलोक तक अपने चरित्रों द्वारा कमनीय कीर्त्ति फैलाते हुए अपने तेज सुदर्शन चक्र से दुष्ट राजों का दमन करते हैं और उनकी आज्ञा, उनके बनाये नियम, दसों दिशाओं में सर्वत्र अप्रतिहत रूप से माने जाते हैं।

महायशस्वी भगवान् धन्वन्तरि भी ईश्वर का अवतार हैं। वह बड़े-बड़े रोगियों के रोगों को केवल अपने नाम का उच्चारण करने से ही शीघ्र नष्ट कर देते हैं। वह देवतों को अमृत देनेवाले और स्वयं अमर हैं। दैत्यों ने पहले यज्ञ में उन्हें भाग देना बंद करा दिया था, उसे उन्होंने प्राप्त किया और वह आयुर्वेद का प्रचार करके प्रसिद्ध हुए।

एक समय क्षत्रिय लोग ऐसे उच्छृङ्खल हो गये कि वेदमार्ग को छोड़कर ब्रह्मद्रोही बन बैठे। मानो विधाता ने जगत् के विनाश के लिए ही उनकी इतनी बढ़ती की थी। वे जैसे जानबूझकर नरक-यातना भोग करना चाहते थे। उस समय भगवान् ने प्रचण्ड पराक्रमशाली परशुराम-अवतार लिया और अपने तीक्ष्ण फरसे से उन पृथ्वीतल के कण्टक क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया।

वही माया के स्वामी ईश्वर हम ( ब्रह्मा आदि ) देवतों पर कृपा करके, अर्थात् रावण-बध-रूप देवकार्य करने के लिए, अपनी कला लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के साथ इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए। उन रामचन्द्र ने पिता दशरथ की आज्ञा का पालन करने के लिए भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ बन की यात्रा की। राम से विरोध करने के कारण ही दशमुख रावण मारा गया। पहले भगवान् शंकर जैसे त्रिपुर को जलाने के लिए उद्यत हुए थे, वैसेही रामचन्द्र जब अपने शत्रु रावण की लंकापुरी को नष्ट करने के लिए प्रस्तुत हुए, तब समुद्र भय से काँपता हुआ प्रकट हुआ और उसने रामचन्द्र को लंका तक जाने के लिए राह दे दी। दुष्ट रावण रामचन्द्र की प्यारी सीता को हरकर उनसे दूर ले गया था, इस कारण रामचन्द्र के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे।

उस कोप की दृष्टि से समुद्र के भीतर रहनेवाले मगर, नाग, ग्राह आदि जलजन्तु जलने लगे। रावण कोई साधारण व्यक्ति नहीं, बड़ा पराक्रमी था। इन्द्र से युद्ध करते समय इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथी के श्वेतवर्ण दाँत रावण की सुदृढ़ छाती से टकराकर टूट गये थे उन दाँतों की चमक से प्रकाशित होने-वाली सब दिशाओं को दिग्विजय मे जीतकर रावण को बड़ा अभिमान हो गया था। वह समझता था कि उसके समान पराक्रमी त्रिभुवन में कोई नहीं हैं। इस घमंड से हँसनेवाले, अपनी और पराई सेना के बीच विचरण करके पराक्रम दिखला रहे, अपनी स्त्री के चोर, रावण के प्राणों को रामचन्द्र ने रणभूमि में अपने धनुष की प्रत्यंचा के शब्द से ही हर लिया अर्थात् उसे मार डाला और उसका घमंड मिटा दिया।

इसके बाद द्वापर में जब दानव लोग राजों के रूप से पृथ्वी पर उत्पन्न होकर अपनी सेना से पृथ्वी के लोगों को सतावेंगे, तब पृथ्वी का वह भार उतारने के लिए भगवान् कृष्ण और बलभद्र नाम से पृथ्वीतल पर उत्पन्न होंगे। भगवान् के काले केश से कृष्ण और श्वेत केश से बलभद्र * उत्पन्न होंगे। वह अपनी महिमा को प्रकट करनेवाले अनेकानेक अलौकिक कृत्य करेंगे। उनके रहस्य और चरित्र को साधारण लोग नहीं समझ सकेंगे। अब उन्हीं अलौकिक कर्मों का वर्णन करते हैं। यदि वह परमेश्वर न होंगे तो बाल्यावस्था में ही पूतना राक्षसी को कैसे मारेंगे ? इसके सिवा तीन महीने की अवस्था में छकड़े को पैर से उलट देना तथा घुटनों के बल रेंगते-रेंगते बीच में ओखली फँसाकर बहुत ऊँचे और पुराने यमलार्जुन के वृक्षों को जड़ से उखाड़कर गिरा देना आदि अद्भुत कर्म ईश्वर के सिवा क्या कोई मनुष्य का बालक भी कर सकता है ? व्रज में जब सब गउएँ और ग्वालबाल यमुना के ज़हरीले जल को पीकर असमय में ही मौत के मुँह में चले जाँयगे, तब कृष्णचन्द्र अमृत बरसानेवाली कृपादृष्टि से उनको जीवित कर देंगे। उसके बाद यमुना के जल को शुद्ध करने के लिए यमुना में फाँदकर कालीदह के भीतर रहनेवाले महाविषधर कालिय नाग को खेल-ही-खेल में परास्त करके वहाँ से निकाल बाहर करेंगे। ईश्वर के सिवा भला ऐसे कर्म और कौन कर सकता है ? उसी रात को गर्मियों के दिनों में सूखे हुए मूँज के वन में दावानल के लगने से जब सोये हुए गो-गोप-गोपीगण जलने लगेंगे, सब प्राण-संकट में पड़ जायेंगे, तब सबसे आँखें मूँद लेने के लिए कहकर बलरामसहित कृष्णचन्द्र उस दावानल को पी जायेंगे, और इस प्रकार व्रजवासियों के प्राण बचा लेंगे। सचमुच उनके पराक्रम की, उनकी महिमा की थाह नहीं है। उनका यह कार्य भी अलौकिक ही होगा। एक दिन दही का माठ फोड़ डालने के कारण क्रोध करके माता यशोदा कृष्ण को बाँधने का विचार करेंगी। वह जितनी रस्सियाँ बाँधने के लिए लावेंगी, सब छोटी पड़ जायेंगी। उस समय जम्हाई लेते में कृष्ण के मुख के भीतर तीनों लोकों को देखकर शंकित हो उठेंगी कि यह कैसा आश्चर्य है ! कृष्णचन्द्र इस प्रकार अपने ऐश्वर्य का ज्ञान उन्हें करावेंगे। वह समझ जायेंगी कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। फिर कृष्णचन्द्र अपने पिता नन्द को वरुण के पाश से छुड़ा लावेंगे। मयासुर का पुत्र व्योमासुर ग्वालबालों को ले जाकर एक बिल में बंद कर देगा। उसे मारकर कृष्णचन्द्र अपने साथियों की रक्षा करेंगे। कामकाज में दिन और निद्रा में रात बितानेवाले ( अर्थात् वैकुंठ जाने का कोई भी अनुष्ठान न करनेवाले ) गोकुलनिवासियों को भगवान् कृष्णचन्द्र अपने वैकुण्ठ-

---

* यही बात विष्णुपुराण और भारत में भी कही है कि भगवान् ने भूभार उतारने के लिए अपने काले और श्वेतवर्ण के दो केश उखाड़े। उन्हीं केशों ने देवकी और रोहिणी के गर्भ मे प्रवेश किया, जिनसे केशव (कृष्ण) और बलभद्र का जन्म हुआ। केश उखाड़ने की कथा का अभिप्राय यहां है कि मेरे केश ही यह पृथ्वी का भार उतार सकते हैं, मेरे पूर्णावतार को कोई आवश्यकता नहीं। दूसरे श्वेत-कृष्ण केश की कथा कृष्ण और बलभद्र के वर्ण की सूचना देने के लिए कही गई है। अन्यथा, यह जो कहा गया है कि "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" अर्थात् कृष्ण स्वयं भगवान् का रूप है, उसमे विरोध आता है। कृष्ण कलावतार नहीं, पूर्णावतार ही है।

लोक की सैर करावेंगे ! इसके बाद इन्द्र का अभिमानभंजन करने के लिए जब भगवान् कृष्णचन्द्र इन्द्र की पूजा बंद करा देंगे और गोपों के द्वारा अपने यज्ञ का बंद किया जाना देखकर इन्द्र को बड़ा क्रोध होगा, तब वह ( इन्द्र ) ब्रज को बहा देने के लिए घोर वर्षा करेंगे। उस समय सात वर्ष की अवस्था में कृष्णचन्द्र कृपापूर्वक ब्रजवासी गोपों और पशुओं की रक्षा करने के लिए गोवर्धन पर्वत को हाथ पर उठा लेंगे। जैसे बालक धरती के फूल को ( जो बरसात में निकलता है और जिसे कुकरमुत्ता भी कहते हैं ) सहज ही उखाड़ लेता है, वैसे सात दिन और सात रात तक वह गोवर्धन को हाथ पर लिये खड़े रहेंगे। उसी पर्वत के नीचे सब ब्रजवासी रहेंगे। फिर शरद ऋतु की सुन्दर चाँदनी रात में रासलीला करने की इच्छा से मधुर मुरली की तान सुनाकर गोपियों के हृदय में काम का उद्दीपन करेंगे। कुबेर का सेवक चन्द्रचूड यक्ष जब गोपियों को हरकर भागेगा, तब भगवान् उस दुष्ट का वध करेंगे। इसके उपरान्त प्रलंबासुर, बकासुर, धेनुकासुर, केशी, अरिष्टासुर, कंस के मल्ल चाणूर आदि, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, द्विविद बानर, भौमासुर, पौंड्रक, शाल्व, दन्तवक्त्र, बल्वल, सात दुर्दान्त बैल, शम्बरासुर, विदूरथ, रुक्मी तथा धनुष चढ़ाये हुए रणभूमि में उपस्थित काम्बोज, मत्स्य, कुरु, केकय, सृंजय आदि देशों के नरपतियों को कृष्णचन्द्र ही बलभद्र, भीमसेन, अर्जुन, प्रद्युम्न, मुचकुंद आदि के रूप से मारेंगे और अपने लोक को भेजेंगे।

सत्ययुग के उपरान्त आगे के प्रत्येक युग में क्रमशः मनुष्यों की बुद्धि और आयु क्षीण होते देखकर अपने रचित वेदों के तत्त्व को जानना उनके लिए कठिन समझकर, भगवान् सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न होंगे। उस समय वेद-वृक्ष के शाखा-विभाग करके वेदव्यास कहलावेंगे।

देवतों से द्वेष रखनेवाले असुर जब वेदोक्त मार्ग पर चलेंगे, और मय दानव की बनाई हुई आकाश में अलक्ष्य रूप से उड़नेवाली पुरियों में बैठकर विश्ववासी प्रजा का विनाश करने लगेंगे, तब भगवान् उनकी बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए बुद्ध अवतार लेंगे। इस अवतार में भगवान् पाखण्डवेष से उन असुरों को पाखण्डधर्म की शिक्षा देंगे, जिसमें वे वेदमार्ग को छोड़ दे और फिर वे सहज में नष्ट किये जा सके।

अन्त को जब घोर कलियुग के होने से सत्पुरुषों के घरों में भी हरि की चर्चा न होगी, ब्राह्मण आदि द्विज पाखण्डी अथवा नास्तिक हो जायँगे, शूद्र राज्य शासन करेंगे, कहीं स्वाहा, स्वधा, वषट्कार की वाणी न सुन पड़ेगी, तब भगवान् युगान्त में कल्कि अवतार लेंगे और कलियुग का विनाश करेंगे।*

हे नारद, सृष्टिकाल में मेरा तप, स्वयं मैं, मरीचि आदि नव प्रजापति ऋषि, स्थितिकाल में धर्म, विष्णु, मनु, देवगण और राजा लोग, तथा प्रलय-काल में अधर्म, रुद्र, असुर, सर्प आदि, ये सब उन्हीं सर्वशक्तिमान् ईश्वर की माया-विभूतियाँ हैं।

ये विष्णु के अवतार और विभूतियाँ मैंने संक्षेप में कही हैं। विस्तार के साथ इनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। चाहे कोई चतुर और समर्थ पुरुष पृथ्वी के परमाणुओं को गिन डाले, परन्तु विष्णु भगवान् की अनन्त विभूतियों को नहीं गिन सकता। उन्हीं विष्णु भगवान् ने सत्यलोक पर्यन्त सृष्टि को धारण कर रक्खा है अथवा सृष्टि का आदिकारण जो त्रिगुणविकाररहित माया अर्थात् "प्रधान" तत्त्व है, उसमें क्षोभ

---

* ब्रह्मा और नारद का यह संवाद जिस समय हुआ, वराह आदि अवतार उसके पहले हो चुके थे। मन्वन्तरावतारों में से कुछ हो चुके थे और कुछ होने को बाक़ी थे। धन्वन्तरि और परशुराम उस समय वर्त्तमान थे। राम, कृष्ण आदि अवतार आगे होनेवाले थे। रामावतार का वर्णन भूतकाल की क्रिया में किया गया है, उसे भविष्य ही समझना चाहिए। यहां पर यह भी जान लेना चाहिए कि भगवान् के अवतार दो प्रकार के होते हैं—एक अनुप्रवेशावतार या अंशावतार और दूसरे साक्षात् अवतार। जिनमें प्रविष्ट होकर भगवान् अपनी ज्ञान, बल आदि शक्तियों को प्रकट करते हैं, वे अंशावतार हैं, जैसे पृथु, परशुराम आदि। इनके अतिरिक्त नृसिंह, राम,

उत्पन्न करके इस सत्यलोक पर्यन्त सारी सृष्टि को उत्पन्न और उसका पालन करनेवाले वही विष्णु है। मतलब यह कि उनकी अनन्त विभूतियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे विद्यमान हैं। हे नारद, तुम्हारे अग्रज (पहले उत्पन्न) ये सब सनकादि मुनिगण और मैं भी उन परमपुरुष के माया-बल का अन्त नहीं जान पाया हूँ। तब पीछे से उत्पन्न और लोग कैसे उसे जान सकते हैं! आदिदेव शेष भगवान् भी अपने सहस्र मुखों से नित्य हरि के गुणों का कीर्त्तन करके आज तक उनका अन्त नहीं पा सके। तात्पर्य यह कि फिर एक मुखवाले कैसे कीर्त्तन करके उनका पार पा सकते हैं! बस, जिन सज्जनों के ऊपर भगवान् ही दया करते हैं, वे निष्कपट और एकाग्र भाव से भगवान् के चरणों की शरण लेकर उस अति दुस्तर देवमाया के पार पहुँच सकते हैं। मृत्यु के उपरान्त कुत्तों और सियारों का भोजन जो यह क्षणभंगुर शरीर है, उसमें वे "मैं हूँ", "मेरा है" ऐसा अभिमान नहीं रखते। मैं, सनक आदि परमहंस, तुम लोग, भगवान् शिव, दानवों में श्रेष्ठ प्रह्लाद, स्वायंभुव मनु, उनकी पत्नी शतरूपा, मनु के पुत्र और कन्याएँ, प्राचीनबर्हि राजा, ऋभु, अंगिरा, ध्रुव, इक्ष्वाकु, पुरूरवा, मुचुकुंद, जनक, गाधि, अंबरीष, रघु, सगर, गय, ययाति, मांधाता, अलर्क, शतधनु, अनु, रंतिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, सौभरि, उतंक, शिवि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, सुरिषेण, विभीषण, हनुमान्, शुकदेव, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, दत्तात्रेय, विदुर और श्रुतदेव आदि जो अन्य महात्मा भगवद्भक्त ऋषि, राजा, असुर हुए हैं और होंगे, वे भगवान् की कृपा से उनकी योगमाया को जानते हैं। मतलब यह कि माया के रहस्य का ज्ञान होने पर भी "यह माया है" ऐसा ज्ञान भगवत्कृपा से बहुतों को प्राप्त हुआ है और आगे होगा।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं; स्त्री, शूद्र और हूण, शबर आदि नीच जातिवाले भी उन अद्भुत पराक्रमवाले हरि की एकनिष्ठ भक्ति करके और साधु-चरित्र की शिक्षा पाकर हरि की माया को जान सकते हैं; जान ही नहीं सकते, उससे उनकी मुक्ति भी हो जाती है। तात्पर्य यह कि भगवान् के अनन्य भक्त साधुजन नीच से नीच जाति में उत्पन्न होने पर भी जब माया से छुटकारा पा जाते हैं, तब जो लोग विद्वान्, ज्ञानी, भक्त और महात्मा हैं, उनके लिए तो कुछ कहना ही नहीं। भक्ति की ऐसी ही महिमा है।

अब भगवान् के स्वरूप का संक्षेप में परिचय देते हैं। मुनि लोग जिसे नित्यशान्त, नित्यसुखमय, शोकशून्य, निर्भय, ज्ञानस्वरूप, निर्मल, विषयों और इन्द्रियों के संग से हीन परमार्थतत्त्व कहते हैं, जो चतुर्विध क्रियाफल* से रहित है, जिसका ज्ञान शब्द के द्वारा नहीं कराया जा सकता और जिसके आगे खड़े होते माया लज्जित होती है और दूर हट जाती है, जिसको ब्रह्म कहते हैं, वही भगवान् का स्वरूप है। जैसे कोई निर्धन मनुष्य धन पाने के लिए पृथ्वी खोदकर धन पा चुकने पर धनाधीश होकर उसके साधन फावड़े का त्याग कर देता है, या जैसे जल के लिए कुआँ खोदनेवाला आदमी कुआँ खोदकर जल पा जाने के बाद जल प्राप्त करने के साधन खनित्र को फेंक देता है, अर्थात् उसे फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही मुक्ति के लिए यत्न करनेवाले योगीजन भी जब भगवान् के रूप में निश्चलरूप से मन को स्थिर कर लेते हैं, तब भेदभ्रम का निवारण करनेवाले साधनस्वरूप ज्ञान की भी उन्हे आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वे स्वयं ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

वही भगवान् सब फलों के दाता और सब कर्मों के प्रवर्त्तक हैं। ब्राह्मण आदि वर्णों के मनुष्य जिन शम, दम आदि शुभ कर्मों का आचरण करते हैं, उनके प्रवर्त्तक वही प्रसिद्ध हैं। यदि कोई कहे कि कर्म करने-

*उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य, ये चार क्रियाफल हैं। उत्पाद्य, जैसे घड़ा बनाना; आप्य, जैसे गाव बसाना; विकार्य, जैसे दही जमाना; संस्कार्य, जैसे कपड़ा रंगना या धोना। ब्रह्म उत्पाद्य नहीं है; क्योंकि वह अजन्मा है। वह आप्य नहीं है; क्योंकि वह सर्वगत, सर्वव्यापी है। निर्विकार होने के कारण विकार्य और निर्मल होने के कारण संस्कार्य भी नहीं है।

वाले के मर जाने पर उन कर्मों का स्वर्ग आदि फल कैसे उसे प्राप्त होता है ? इसका समाधान करते हैं कि मृत्युकाल में जैसे स्थूल शरीर की धातुएँ और तत्त्व नष्ट होने पर भी उसके भीतर स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, वैसे ही आत्मारूप ईश्वर भी इस देह के साथ नष्ट नहीं होता। कारण, वह अविनाशी और अज है।

हे पुत्र, मैंने यह संक्षेप में तुमको भगवान् का स्वरूप बतला दिया। स्मरण रक्खो, इस जगत् में कार्य और कारण के रूप में जो कुछ देख पड़ता है, वह उन नारायण से भिन्न नहीं है। वह नारायण कार्य ( शरीर ) से अलग कारण ( जीवात्मा ) हैं। यही भागवत है; क्योंकि इसे स्वयं भगवान् ने मुझसे कहा है। यह भगवान् की विभूतियों का संग्रह मैंने संक्षेप में कहा है। तुम विस्तार के साथ इसका वर्णन करो। सबके आत्मा, सबके आधार भगवान् में मनुष्यों की भक्ति * हो, ऐसा विचार करके उसी प्रकार हरि-लीलाओं की प्रधानता के साथ श्रीभागवत का वर्णन तुम करो। तात्पर्य यह कि उसमें केवल रूखा तत्त्वज्ञान ही न हो, किन्तु हरि की सरस लीलाओं का विशेष समावेश भी हो, जिससे पढ़ने-सुननेवालों के चित्त में भक्ति-रस का उद्रेक अवश्य हो।

जो लोग ईश्वर की माया का वर्णन करते हैं, जो उसे श्रद्धा से सुनकर प्रसन्न होते हैं, उनका आत्मा माया-मोह से मुक्त हो जाता है।

# आठवाँ अध्याय

## भागवत् के विषय में परीक्षित् के प्रश्न

परीक्षित् ने कहा—हे मुनिवर, आप वेद के जाननेवालों में श्रेष्ठ है। नारद ने ब्रह्मा से निर्गुण ईश्वर के गुणों का वर्णन करने की आज्ञा पाने के उपरान्त किस-किस से अद्भुत चरित्रवाले हरि की मंगलदायक कथाओं का वर्णन किया, यह मैं जानना चाहता हूँ। हे महाभाग, आप कृपा करके मुझसे कहिए। मैं चाहता हूँ कि अपने मन को संसार से हटाकर भगवान् कृष्ण में लगाऊँ और उसी अवस्था में मेरी मृत्यु हो। श्रद्धा के साथ जो कोई हरि के चरित्रों को कहता या सुनता है, उसके हृदय में शीघ्र ही हरि भगवान् प्रकट होकर निवास करते हैं। शरदृतु जैसे जल को निर्मल कर देती है, वैसे ही कानों के द्वारा साधुओं और भक्तों के हृदय में प्रवेश करके वह उसे पूर्णरूप से निर्मल बना देते हैं। बटोही जैसे अपने घर लौट आकर, प्रवास के सब क्लेशों से छुटकारा पाकर, फिर उसे छोड़ना नहीं चाहता, वैसे ही जो लोग इस प्रकार आत्मा के निर्मल हो जाने पर रागद्वेष आदि क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं, वे फिर कृष्ण के चरणों को कभी नहीं छोड़ते।

इस प्रकार सुनने की उत्सुकता प्रकट करके राजा परीक्षित् अपने सदेह के विषय में प्रश्न करते हैं। राजा ने कहा—ब्रह्मन्, आपके कथनानुसार पंचतत्त्वों के साथ इस आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर पंचतत्त्व-रचित स्थूल शरीर के साथ इस जीवात्मा का जो सम्बन्ध देख पड़ता है, वह अकारण ही होता

---

* भक्ति का लक्षण इस प्रकार कहा है:—
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा॥
माहात्म्य के ज्ञान से उत्पन्न, सुदृढ़, सबसे अधिक स्नेह का नाम भक्ति है। उसीसे मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।

है अथवा कर्मफल आदि इसका कोई कारण भी है ? आप इस विषय को ठीक-ठीक जानते हैं, अतएव कृपा करके मुझसे कहिए।

आप कह चुके हैं कि जिस महापुरुष की नाभि से लोकों की रचना का उपादान-कारण कमल उत्पन्न हुआ, उसके भी, इन लौकिक पुरुषों की तरह, अपने परिमाण ( डीलडौल ) के अनुरूप सब वे ही अंग-प्रत्यंग है। फिर उस महापुरुष मे और साधारण पुरुषों में अन्तर क्या है ?

ब्रह्मा जिसके अनुग्रह से प्राणियों की सृष्टि करते है, और जिसकी नाभि से उत्पन्न होकर जिसकी कृपा से पहले-पहल जिसके रूप को देख और जान सके, वह माया के ईश्वर, विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सबके अन्तर्यामी परमपुरुष अपनी माया को अलग करके सच्चिदानन्दस्वरूप से जहाँ शयन किये हैं, वह भी मुझसे कहिए।

आपने पहले कहा कि उस महापुरुष के अंगों से सब लोकों की रचना और लोकपालों की सृष्टि हुई है, फिर आप ही ने बतलाया कि लोकों और लोकपालों से उस महापुरुष के अंगों की सृष्टि हुई। इसका क्या तात्पर्य है ?

इसके सिवा यह भी बतलाइए कि महाकल्प और अवान्तरकल्प कितना बड़ा होता है ? भूत, भविष्य, वर्तमान शब्दों से सूचित काल का परिमाण क्या है ? स्थूलशरीराभिमानी मनुष्य, देवता और पितरों की आयु कितनी होती है ? काल की स्थूल और सूक्ष्म गति जो देख पड़ती हैं, उन्हें कहिए। कर्मों के अनुसार जितनी और जैसी गतियाँ होती हैं, उनका भी वर्णन कीजिए।

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम जो देवता आदि की योनियाँ हैं, उन्हें पाने की इच्छा रखनेवाले लोग किस ( पाप अथवा पुण्य ) कर्म को किस प्रकार करने से किस योनि को पाते हैं, यह भी मैं जानना चाहता हूँ।

पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र और द्वीप कैसे उत्पन्न हुए और इनमें रहनेवाले प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई, यह बतलाइए।

यह ब्रह्माण्ड भीतर और बाहर कितना बड़ा है, कहिए। महापुरुषों के चरित्र सुनाइए और ब्राह्मणादि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों का वर्णन कीजिए। भगवान् के अवतारों का अद्भुत वृत्तान्त कहिए। प्रत्येक युग और उसके धर्म कहिए। युगों का परिमाण वर्णन कीजिए।

मनुष्यों का साधारण धर्म क्या है ? वर्णों और आश्रमों के विशेष धर्म क्या हैं ? भिन्न-भिन्न व्यवसाय से जीविका चलानेवाली जातियों के धर्म ( व्यवहार और नियम ) क्या हैं ? राजर्षियों का धर्म और आपत्काल का धर्म क्या है ? यह सब मेरे आगे कहिए।

प्रकृति आदि तत्त्वों की संख्या, स्वरूप और लक्षण भी बतलाइए। पुरुष की आराधना अर्थात् देव-पूजा और अष्टांग योग की विधि क्या है ? योगेश्वरों के ऐश्वर्य्य और गति का वर्णन कीजिए। योगियों के सूक्ष्म लिंगशरीर का लय जिस रीति से होता है, वह भी बतलाइए। वेद, उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणों का स्वरूप कहिए।

सब प्राणियों का अवान्तरप्रलय और महाप्रलय कैसे होता है ? सब प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति का वर्णन कीजिए। वैदिक और स्मार्त्त कर्म, अग्निहोत्र आदि काम्य कर्म और धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की विधि कहिए।

जिनकी उपाधि लय को प्राप्त हो गई है, उन जीवों की फिर जिस प्रकार सृष्टि होती है, उसका वर्णन कीजिए। पाखण्ड की उत्पत्ति, जीवात्मा का बन्धन और मोक्ष तथा उसकी अपने रूप ( ब्रह्म ) में अवस्थिति ( लय ) कहिए।

स्वतन्त्र परमेश्वर अपनी माया से किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं और प्रलयकाल में किस प्रकार माया को छोड़कर साक्षी की भाँति रहते हैं ?

भगवन्, यह सब मैं आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। अतएव आप क्रमशः मेरे इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। मैं आपके शरणागत हूँ।

इन सब विषयों को स्वयंभू ब्रह्मा के ही समान प्रामाणिक रूप से आप जानते हैं। ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को और व्यास ने आपको उपदेश किया है। मतलब यह कि आपको ब्रह्मा के ही समान इन विषयों का साक्षात् और यथार्थ ज्ञान है। अन्य लोग केवल सुनी-सुनाई बातें ही कह सकते हैं।

मुनिवर, अनशन से मुझे कुछ भी व्याकुलता या कष्ट नहीं है; और न ब्रह्मशाप के भय से मेरा चित्त ही चंचल है। इसका कारण यही है कि मैं इस समय आपके मुख से निकले हुए हरिकथारूप अमृत को पी रहा हूँ। मैं मृत्यु और क्षुधा को कुछ भी नहीं समझता, केवल ब्रह्मकोप को ही डरता हूँ।

सूत कहते हैं, योगिराज शुकदेव से राजा परीक्षित् ने जब इस प्रकार प्रश्न किये और भगवत्कथा कहने के लिए प्रेरणा की, तब वह बहुत प्रसन्न हुए। शुकदेव ने परीक्षित् के आगे वही वेदतुल्य भागवत पुराण कहना आरंभ किया, जिसे ब्रह्मकल्प में स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा से कहा था।

पाण्डवों में श्रेष्ठ परीक्षित् ने जिस क्रम से जो प्रश्न किए थे, उनका उत्तर उसी क्रम से आगे शुकदेवजी देते हैं।

---

# नवाँ अध्याय

## सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को भगवान् का दर्शन प्राप्त होना

शुकदेव ने कहा—राजन्, स्थूल शरीर के साथ आत्मा के संबंध के विषय में जो पहला प्रश्न तुमने किया, उसका उत्तर सुनो। जैसे स्वप्न में कोई देखे कि वह घोड़े के रूप में किसी पहाड़ पर चला जा रहा है तो वास्तव में उस स्वप्नदृष्ट घोड़े के शरीर से उसका कोई सबंध नहीं रहता, वैसे ही विष्णु की माया के सिवा और किसी कारण से शरीर के साथ अनुभव-स्वरूप आत्मा का यथार्थ संबंध नहीं घटित हो सकता। बहुरूपिणी माया के साथ क्रीड़ा करने से यह एक आत्मा बाल, युवा, देवता, मनुष्य आदि रूपों से बहुरूप जान पड़ता है और माया के गुण देह आदि में रमण करने पर देह आदि के सबंध में "मैं हूँ, मेरा है" ऐसा मानता है। अर्थात् यह संसार भी माया से ही है। अतएव भक्तियोग से उस माया के हट जाने पर मोक्ष भी होता है। यही बात आगे कहते हैं कि जब आत्मरूप परमात्मा प्रकृति और पुरुष से परे जो अपनी महिमा है, उसमें अवस्थित होकर रमण करता है, तब "मैं हूँ, मेरा है" इस मायाकृत मोह को छोड़कर पूर्ण (सच्चिदानन्दमय) अवस्था को प्राप्त होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि परमेश्वर का भी जबतक देह से संबंध नहीं होता, तब तक उनकी भक्ति कैसे हो सकती है, जिसे तुम मोक्षदायक कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि जीव को अविद्या के कारण मिथ्यारूप देह-संबंध होता है और ईश्वर योगमाया को अंगीकार करके चिद्घन लीला-विग्रह को प्रकट करते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर के शरीर-संबंध में बड़ा भारी अन्तर है। इसी ईश्वर के लीला-विग्रह का वर्णन आगे करते हैं। आगे के वर्णन का यह भी तात्पर्य है कि भगवद्भजन से ही तत्त्वज्ञान होता है; आदि-देव ब्रह्मा को भी उन्हीं की आराधना से तत्त्व का ज्ञान हुआ।

भगवान् ने ब्रह्मा की निष्कपट तपस्यारूप सेवा से प्रसन्न हो, अपना ज्ञानमय रूप दिखाकर, उनको जो उपदेश किया, वह तत्त्वज्ञान के लाभ के लिए जीव को अवश्य जानना चाहिए।

सृष्टि के आदिकाल में जगद्गुरु आदिदेव ब्रह्मा अपनी उत्पत्ति के स्थान नाभि-कमल पर बैठकर सृष्टि के विषय में यह सोचने लगे कि अब मैं कैसे सृष्टि करूँ ? पहले वह उस कमल के आधार को खोजने के लिए जल के भीतर गये थे; पर उस अधिष्ठान का कुछ पता न लगने पर लौटकर अपने स्थान में बैठकर पूर्वोक्त विचार करने लगे, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु जिस ज्ञान से निश्चय ही ठीक-ठीक सृष्टि के प्रपञ्च को कर सकें और सृष्टि की उत्पत्ति का प्रकार जाना जाय, वह अव्यभिचारी दृष्टि या प्रज्ञा उन्हें किसी प्रकार नहीं प्राप्त हो सकी। यों सृष्टि के विषय में सोचते-सोचते एक समय जल के भीतर अपने निकट ही दो अक्षरों का एक शब्द दो बार सुना। वह दो अक्षरों का शब्द था "तप", जो कि अकिंचन योगियों का परम धन है ( अर्थात् वे तपोधन कहलाते हैं )। इस शब्द का अर्थ था "तप करो, तप करो"।



ब्रह्मा ने जब यह शब्द सुना तो यह देखने के लिए कि किसने यह शब्द कहा, वह चारों ओर देखने लगे; परन्तु उन्हें कोई भी न देख पड़ा। तब तप को ही अपने कल्याण अथवा इच्छापूर्त्ति का साधन समझकर उसी पद्मासन पर बैठे-बैठे वह एकाग्रमन हो तपस्या करने लगे। उन्हें जान पड़ा, जैसे किसी ने साक्षात् होकर ही उन्हें तप करने की आज्ञा दी है।

अमोघ दृष्टिवाले तपस्वियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा प्राणवायु, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को वश में करके, एकाग्रमन होकर दिव्य सहस्र वर्षों तक वह तप करते रहे, जिसके बल से उन्होंने फिर सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि की।

उस तपस्या से भगवान् नारायण ब्रह्मा पर प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको अपने परमश्रेष्ठ वैकुण्ठधाम का दर्शन कराया। उस वैकुण्ठधाम में क्लेश, मोह या भय का लेश नहीं है। आत्मज्ञानी या पुण्यात्मा लोग उसकी सदा प्रशंसा करते हैं। उससे श्रेष्ठ और कोई लोक नहीं है। वहाँ विशुद्ध सतोगुण का अस्तित्व है, रजोगुण या तमोगुण का नाम नहीं है। वहाँ काल का वश नहीं चलता, अर्थात् जन्म-मृत्यु का चक्र नहीं है। राग, द्वेष, लोभ आदि की कौन कहे, वहाँ माया भी नहीं रह सकती। वहाँ सुरासुरपूजित भगवान् के भक्त पार्षद निवास करते हैं। वे पार्षद उज्ज्वल श्यामवर्ण और कमलनयन हैं तथा पीताम्बर धारण किये रहते

हैं। उनके शरीर की कान्ति महामनोहर और अंग अत्यन्त कोमल हैं। सबके चार भुजायें हैं। वे उत्तम प्रभायुक्त मणिमय अनेक सुवर्णालंकारों से अलंकृत और अनन्त तेज से सुशोभित हैं। उनकी प्रभा विद्रुम, वैडूर्य और कमलनाल के रंग की है। कानों में दीप्तिशाली कुण्डल और मस्तक में माला शोभायमान हैं। वैकुण्ठलोक में रहनेवाले महात्मा पुरुषों के सुन्दर विमानों की पंक्तियाँ मेघमाला-सी जान पड़ती हैं और उन विमानों में रहनेवाली श्रेष्ठ दिव्य ललनाओं की शरीर-कान्ति बिजली-सी चमकती है। तात्पर्य यह कि जैसे आकाशमण्डल बादलों और बिजलियों से शोभित होता है, वैसे ही वह वैकुण्ठलोक विमानों और उनमें स्थित देवियों की कान्ति से शोभायमान रहता है।

वैकुण्ठधाम में लक्ष्मीदेवी अपनी विविध विभूतियों ( ऋद्धि-सिद्धि आदि विविध विभव ) के साथ साक्षात् मूर्त्तिमती होकर अनेक प्रकार से प्रसिद्धकीर्त्ति नारायण के श्रीचरणों की सेवा करती है। वह वसन्त के साथी भ्रमरों के गुजन को सुनती और हिंडोले पर झूलती हुई हरिगुणगान करती हैं।

ब्रह्मा ने उस वैकुण्ठधाम में सब भक्तों के स्वामी, लक्ष्मीपति, यज्ञपति, जगत्पति ईश्वर हरि को विराजमान देखा। नंद, सुनंद, प्रबल, अर्हण आदि मुख्य पार्षद उनकी सेवा में चारों ओर उपस्थित हैं। भगवान् के मुख की प्रसन्न मुद्रा देखने से जान पड़ता था वह अपने जनों पर कृपा करने के लिए प्रस्तुत हैं। उनकी दृष्टि आसव के समान भृत्यों के चित्त को हर्षित करनेवाली है। प्रसन्नहास्य और अरुणवर्ण लोचन उनके मुखारविन्द को सुशोभित कर रहे है। सिर पर किरीट मुकुट, कानों में मकराकृति कुण्डल और पीतपट धारण किये हुए हैं। चतुर्भुज भगवान् के विशाल वक्षःस्थल में लक्ष्मीदेवी का निवास है।

वह परमपुरुष विष्णु भगवान् चार शक्तियों [ प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार ], सोलह शक्तियों [ दस इन्द्रियाँ, मन, आकाश आदि पाँच तत्त्व ], पाँच शक्तियों [ शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ये पाँच तन्मात्रा ], अपने स्वाभाविक विशेष ऐश्वर्य और योगियों के आगन्तुक साधारण ऐश्वर्य्यों से परिवृत होकर परमोत्तम सिंहासन पर विराजमान हैं और अपने ही रूप ( नित्य ब्रह्मानन्द ) में रमण कर रहे हैं। यही उनकी ईश्वरता है।

ईश्वर के ऐसे परमोत्तम स्वरूप को देख पाकर ब्रह्मा का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। आनन्द के कारण शरीर में रोमाञ्च हो आया। नेत्रों में आनंद के आँसू भर आये। विश्वविधाता ब्रह्मा ने भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम किया। परमहंस-मार्ग अर्थात ज्ञान-मार्ग से ही उन चरणों तक पहुँच हो सकती है। प्रसन्नचित्त, उपदेश देने योग्य, प्रजाओं की सृष्टि करने के लिए उद्यत, अपने प्रिय, विनयावनत ब्रह्मा का हाथ पकड़कर सबके प्रिय नारायण ने सन्तुष्ट होकर मन्द मुसकान के साथ मधुरवाणी में कहा—हे वेदगर्भ ब्रह्मा, सृष्टि करने की इच्छा से बहुत समय तक कठिन तपस्या करके तुमने मुझे सन्तुष्ट किया है। कपट-योगी या कच्चे योगी मुझे कभी प्रसन्न नहीं कर सकते। तुम्हारा कल्याण हो। मैं सब प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो। लोगों के परिश्रम की अन्तिम अवधि मेरा दर्शन ही है, अर्थात् तभी तक पुरुष को कल्याणरूप फल पाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, जब तक मेरा दर्शन नहीं मिलता। यह जो तुममें सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई और तुमने "तप-तप" ये मेरे शब्द सुनकर तपस्या की, यह सब मेरी ही इच्छा या प्रेरणा समझो। यह जो तुमको मेरे लोक का दर्शन हुआ, सो उसे भी मेरी ही इच्छा का प्रभाव जानो। कारण, शून्य में मेरे आदेश को सुनकर तुमने यह श्रेष्ठ तप किया और उसीसे तुम्हें इस वैकुण्ठलोक के दर्शन हुए। हे निष्पाप, तप मेरा हृदय अर्थात् मेरी ही अन्तरंग शक्ति है और तप का आत्मा या स्वरूप मैं ही हूँ। मैं भी तपोबल से ही इस सम्पूर्ण विश्व

की उत्पत्ति, पालन और संहार करता हूँ। तपोबल से ही मैं संसार को धारण किये रहता हूँ। दुष्कर तप ही मेरी शक्ति है।

नारायण के ये वाक्य सुनकर ब्रह्मा ने कहा—प्रभो, आप सब प्राणियों के स्वामी और उनके हृदयों म अन्तर्यामीरूप से स्थित हैं। अथवा आप ऐश्वर्य से युक्त और सब तत्त्वों के अधिष्ठाता और सबकी बुद्धि में स्थित हैं। इसीसे अपनी अप्रतिहत प्रज्ञा के बल से अपने उद्देश्य या कर्त्तव्य को अच्छी तरह जानते हैं। तथापि हे नाथ, मैं तो उसे नहीं जानता। इसीलिए आपसे तप के द्वारा मैं यही प्रार्थना करता हूँ अर्थात् वर माँगता हूँ कि रूपरहित जो आप हैं, उनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप जिस तरह मुझे ज्ञात हों, वही उपदेश आप मुझे दीजिए। हे माधव, आपका संकल्प अमोघ है, कभी अन्यथा नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला तानकर उससे अपने को ढक कर क्रीड़ा करती है, वैसे ही आप भी ब्रह्मा आदि विविध रूप अपनी माया से रखकर इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। मैं जिससे यह सब रहस्य जान सकूँ, वह निर्मल बुद्धि या ज्ञान मुझे दीजिए। आपसे उपदेश पाकर, आलस्य त्यागकर मैं सृष्टिकार्य करने में प्रवृत्त हूँगा। आपकी कृपा होने पर प्रजा-सृष्टि करने के समय अहंकार आदि मुझे मोहित न कर सकेंगे। हे परमेश्वर, लौकिक व्यवहार में सखा जैसे सखा का सम्मान करता है, वैसे ही आपने भी हाथ पकड़कर मेरे साथ व्यवहार किया है। अतएव जब मैं चित्त को स्थिर करके प्रजा-सृष्टिरूप आपकी सेवा (आपकी इच्छा की पूर्त्ति) करूँ, उस समय "मैं जगत् का विधाता हूँ" यह अहंकार मुझे न हो। यही कृपा मैं चाहता हूँ। हे प्रभो, यह स्वतन्त्र ईश्वर होने का गर्व मुझे न हो, यही वर मैं माँगता हूँ।

श्रीभगवान् ने कहा—हे ब्रह्मा, मेरे रूप या तत्त्व का शास्त्रोक्त ज्ञान, विज्ञान (अनुभव) और रहस्य (भक्ति) यद्यपि परम गुप्त है, तथापि मैं सब साधनों सहित अपना ज्ञान, विज्ञान और रहस्य तुमसे कहता हूँ। उसे सावधान होकर सुनो और समझो। मैं जितना हूँ, मेरा जो भाव है, मेरे जो रूप, गुण और कर्म हैं, उन स्वरूप, सत्ता, रूप, गुण और कर्म के तत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान और अनुभव तुमको मेरे अनुग्रह से प्राप्त होगा।

[अब भगवान् इन्हीं सब विषयों का विस्तृत उपदेश करते हैं।] पहले स्वरूप का वर्णन करते हुए नारायण कहते हैं—देखो सृष्टि के पहले केवल एकमात्र मै ही था। उस समय सूक्ष्म या स्थूल कोई पदार्थ अथवा उनका कोई कारण "प्रधान" तत्त्व कुछ भी नहीं था। यह देख पड़नेवाला सारा विश्व का प्रपंच भी मैं ही हूँ और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलयकाल में भी केवल मैं ही बच रहता हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। मैं अनादि, अनन्त, अद्वितीय, अतएव पूर्णस्वरूप हूँ।

[अब माया का निरूपण करते हैं।] हे स्वयंभू, जैसे वास्तव में दो चंद्रमा नहीं होते, चंद्रमा एक ही होता है; परंतु जल में प्रतिबिम्ब पड़ने पर दो चंद्रमा जान पड़ते हैं, वैसे ही जिसकी प्रतीति हो, और जैसे राहु ग्रहमण्डली में स्थित होने पर भी दिखलाई नहीं पडता, वैसे ही जिसका अस्तित्व अलग न जान पड़े, वही मेरी माया है। अर्थात् यही मेरी माया का स्वरूप है।

[अब परमात्मा की सत्ता या भाव का निरूपण करते हैं।] जैसे आकाश आदि पंचतत्त्व भौतिक पदार्थों में उनके भीतर प्रविष्ट हैं (क्योंकि उनके भीतर वे मिलते हैं) और अप्रविष्ट भी हैं (क्योंकि "कारण" होने के कारण उनमें वे पहले से ही विद्यमान थे), वैसे ही मैं उन तत्त्वों और उनसे बने भौतिक पदार्थों में अवस्थित हूँ और नहीं भी हूँ।

[अब साधन कहते हैं।] जो आत्मा के तत्त्व को जानना चाहता है, उसे इतना ही जानना या

विचारना चाहिए कि अन्वय* और व्यतिरेक† के द्वारा ( अर्थात कार्य-कारण और विशुद्ध कारणरूप से ) जो सर्वदा सर्वत्र विराजमान है, वही आत्मा है। यही आत्मा का तत्त्व है। तुम एकाग्रचित्त होकर इस मेरे मत ( उपदेश ) को ध्यान में रक्खो। ऐसा करने से फिर कल्पकल्पान्तर में विविध सृष्टि रचने पर भी तुमको कभी अपने कर्त्ता होने का अभिमान अथवा मोह नहीं होगा।

शुकदेवजी कहते हैं, इस प्रकार अज परमेश्वर ने लोकों के अधिपति ब्रह्मा को ज्ञान का उपदेश करके उनके देखते-ही-देखते अपने उस रूप को छिपा लिया। भगवान् और उनका वैकुण्ठधाम फिर ब्रह्मा को नहीं देख पड़ा! भगवान् के अन्तर्द्धान हो जाने पर ब्रह्मा ने उस प्रत्यक्ष रूप को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उसके उपरान्त उन्होंने पहले कल्पों की भाँति इस संपूर्ण जगत् की रचना और इसमें रहनेवाले प्राणियों की सृष्टि की।

[ अब नारद और ब्रह्मा के संवाद का वर्णन करते हैं। ] इसके उपरान्त एक समय धर्म के स्वामी प्रजापति ब्रह्मा प्रजाओं के कल्याण की कामना से, इसी अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए यम और नियम आदि का अनुष्ठान करने लगे। इसी अवसर में ब्रह्मा के प्रिय पुत्र नारद माया के अधिपति विष्णु भगवान् की माया का रहस्य जानने की इच्छा से शील, प्रश्रय और अपनी जितेन्द्रियता से उनकी सेवा करने लगे।

जब सब लोगों के प्रपितामह ब्रह्माजी प्रसन्न हुए, तब देवर्षि नारद ने उन अपने पिता से यही प्रश्न किये, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर नारद से यही दश लक्षणों ( विषयों ) से युक्त भागवतपुराण उनसे कहा, जो चार श्लोकों में भगवान् ने उनसे कहा था ( यह चतुःश्लोकी भागवत इसी अध्याय में ऊपर कह आये हैं ) और अब मैं तुमसे विस्तार के साथ कहूँगा।

हे राजन्, मेरे पिता महातेजस्वी महर्षि व्यासदेव जिस समय सरस्वती नदी के किनारे अपने आश्रम में परब्रह्म का ध्यान कर रहे थे, उसी समय वहाँ जाकर नारद ने उन्हें इस भागवतशास्त्र का उपदेश किया था। उन्हीं व्यासदेव से मैंने इस पुनीत पुराण को प्राप्त किया है।

तुमने मुझसे पूछा है कि विराट् पुरुष से इस विश्व की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इसके साथ ही और भी अनेक प्रश्न किये हैं। अब मैं क्रम से तुम्हारे उन सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देता हूँ। मन लगाकर सुनो।

# दसवाँ अध्याय

## भागवतपुराण के दश लक्षण

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, इस पुराण के दश लक्षण या विषय ये हैं—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊतियाँ, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इस पुराण में इन्हीं दस विषयों का वर्णन किया है। किन्तु दस विषय होने पर भी प्रधानता एक ही की है। दसवें विषय "आश्रय" ( परब्रह्म ) के तत्त्व को जानने के लिए ही महात्मा लोग अन्य नव विषयों का वर्णन करते हैं। स्तुति आदि में श्रुति के द्वारा और उपाख्यानों में अर्थ अर्थात् तात्पर्यवृत्ति से साक्षात् उसी दसवें पदार्थ "आश्रय" का निरूपण किया गया है।

---

* कार्य में कारणरूप से रहना अन्वय है। जाग्रत् आदि अवस्थाओं में उनके साक्षीरूप से आत्मा का अन्वयसंबंध है।

† कारणावस्था में कार्य से अलग रहना व्यतिरेक है। आत्मा सब अवस्थाओं में उनसे निर्लिप्त रहता है।

[ अब सर्ग आदि की व्याख्या करते हैं। ] आकाश आदि पंचतत्त्व, शब्द आदि तन्मात्रा, इन्द्रियाँ, महत्तत्त्व और अहंकार, इनकी गुण-परिणाम द्वारा परमेश्वर से विराट् रूप में और अलग-अलग अपने रूप में जो सृष्टि होती है, उसका नाम "सर्ग" है। इसे कारण-सृष्टि भी कहते हैं। विराट् पुरुष अथवा ब्रह्मा से जो चराचर जीवों की सृष्टि होती है, उसका नाम "विसर्ग" है। ईश्वर की उत्पन्न की हुई सब वस्तुएँ अपनी मर्यादा या धर्म का पालन करके जो उत्कर्ष प्राप्त करती हैं, उसका नाम स्थिति या "स्थान" है। अपने भक्तों के ऊपर ईश्वर के अनुग्रह को "पोषण" कहते हैं। ईश्वर के अनुगृहीत अर्थात् कृपापात्र मन्वन्तरों के स्वामी मनुओं का चलाया धर्म ( सदाचार के नियम ) "मन्वन्तर" है। कर्मवासना का नाम "ऊति" है। भगवान् के अवतारों का वर्णन और ईश्वर के भक्तों की पवित्र कथा "ईशानुकथा" कहलाती है। इसके अन्तर्गत अनेक उपाख्यान हैं। अपनी प्रकृति आदि शक्तियों और उपाधियों के साथ योगनिद्रा का अवलम्बन करके हरि के शयन करने पर उनमें जीव के लय होने को "निरोध" कहते हैं। अविद्या के द्वारा जिसका अध्यास होता है, उस अपने कर्तृत्व आदि अन्यथा रूप को त्याग करके अपने यथार्थ रूप ब्रह्मरूप में जीव के स्थित होने का नाम "मुक्ति" है। जिससे इस जगत् की सृष्टि और संहार प्रकाशित होता है, जिसे परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, उसका नाम "आश्रय" है।

[ अब "आश्रय" के स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभव से स्पष्ट दिखलाने के लिए अध्यात्म आदि विभागों का वर्णन करते हैं। ] यह जो आध्यात्मिक पुरुष (अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव ) है, वही आधिदैविक ( अर्थात् चक्षु आदि के अधिष्ठाता या प्रकाशक देवता सूर्य आदि ) है। और जिससे इन दोनों रूपों का विभाग होता है, वही आधिभौतिक ( अर्थात् चक्षु अदि इन्द्रियों से उपलक्षित दृश्य देह ) पुरुष है। यही जीव की "उपाधि" है। इन आध्यात्मिक आदि तीनों अंशों या विभागों में से एक का अभाव होने पर हमें अन्य दोनों की उपलब्धि नहीं होती। तात्पर्य यह कि दृश्य के बिना उसकी प्रतीति से अनुमेय इन्द्रिय और द्रष्टा की सिद्धि नहीं होती, द्रष्टा के बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति से अनुमेय इन्द्रियाधिष्ठाता सूर्य आदि की सिद्धि नहीं होती, सूर्य आदि अधिष्ठाता देवतों के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने काम में प्रवृत्त नहीं होतीं और इन्द्रियों के बिना दृश्य का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ये तीनों अन्योन्याश्रयपूर्वक परस्पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार जब तीनों में से एक का अभाव होने पर अन्य दोनों को हम नहीं देख पाते, उस समय जो इन तीनों को साक्षीरूप से अलग रहकर देखता या जानता है, वही परमात्मा है। वह अपना और इन आध्यात्मिक आदि तीनों उपाधियों का भी आश्रय है। मतलब यह कि उसका आश्रय कोई नहीं है, वही सबका आश्रय है।

[ अब विराट् पुरुष से सारी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करने के लिए विराट् की उत्पत्ति का क्रम कहते हैं। ] विराट् पुरुष जब कारणतत्त्वों से बने हुए अंडे को फोड़कर निकला, तब उस पवित्र विराट् पुरुष ने अपने रहने के लिए पवित्र जल की सृष्टि की। उस विराट् पुरुष को 'नर' कहते हैं। जल उसी नर से उत्पन्न होने के कारण 'नार' कहलाता है। वैराज पुरुष ने उसी जल को अपना अयन ( स्थान ) बनाया, इसलिए उस पुरुष का 'नारायण' नाम पड़ा। उस जल में वह पुरुष सहस्र वर्षों तक निवास करता रहा। ये पाँचों तत्त्व, काल, कर्म ( निमित्त ), स्वभाव ( प्रकृति ) और जीव ( भोग करनेवाला ), ये सब उसी के अनुग्रह से अपना-अपना काम करने में समर्थ होते हैं और उसकी उपेक्षा से निकम्मे हो जाते हैं।

उस अकेले एकमात्र पुरुष ने जब एक से अनेकरूप होना चाहा, तब योगनिद्रा से उठकर माया-बल से सुवर्ण के समान प्रकाशमान अपने गर्भरूप वीर्य के तीन भाग किये। वे तीन भाग अधिभूत ( रस-रूप आदि विषय ), अध्यात्म ( चक्षु आदि इन्द्रियाँ ) और अधिदैव ( इन्द्रियों के अधिष्ठाता ) हैं। एक पुरुष के वीर्य के ये

तीन रूप कैसे हुए, सो सुनो। उस पुरुष के भीतर जो आकाश था, उससे क्रियाशक्ति के द्वारा विविध चेष्टाएँ करने से ओज ( इन्द्रियों की शक्ति ), सह ( मन की शक्ति ) और बल ( शरीर की शक्ति ) प्रकट हुए। फिर इन तीनों शक्तियों को जगानेवाला मुख्य अंशरूप प्राण प्रकट हुआ। जैसे राजा के पीछे-पीछे उसके सेवक चलते हैं, वैसे ही जब प्राण चेष्टा ( हरकत ) करता है, तब प्राणियों की सब इन्द्रियाँ भी चेष्टा करती अर्थात् अपने-अपने काम में प्रवृत्त होती हैं, और जब वह चेष्टा नहीं करता, तब इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। इसीलिए प्राण ही मुख्य और महान् है।

[यहाँ उपासना के लिए विराट् पुरुष और जीव को अभिन्न मानकर अधिष्ठानरूप सब अंगों, इन्द्रियों, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों और इन्द्रियों के विषयों की उत्पत्ति वर्णन की जाती है। अतएव जीव और विराट् दोनों के विषय में यह आगे का वर्णन समझना चाहिए। ] प्राण का संचार होने पर विराट् पुरुष के भूख और प्यास लगी। तब खाने और पीने की इच्छा करने पर पहले उसके मुख प्रकट हुआ। फिर मुख से तालू, जिह्वा और कई प्रकार के रस उत्पन्न हुए। जिह्वा से उन सब रसों का स्वाद लिया जाता है। यहाँ तालू अधिष्ठान, जिह्वा इन्द्रिय, अनेक रस विषय और वरुण को इस इन्द्रिय का अधिष्ठाता देवता समझना चाहिए। इसी तरह इन चारों वस्तुओं की उत्पत्ति का क्रम आगे भी लगा लेना चाहिए। उस पुरुष ने बोलने की इच्छा की। तब उसके मुख से वाक् इन्द्रिय, अग्नि देवता और भाषण की उत्पत्ति हुई। पुरुष के जल में शयन करते समय इनका बहुत दिनों तक निरोध रहा। फिर प्राणवायु के बहुत ज़ोर करने पर पुरुष के दो नासिका के छेद फूटे। जब उसने सूँघने की इच्छा की, तब नासिका से गंध और गंध को पहुँचानेवाले वायु देवता उत्पन्न हुए। पहले यह सब जगत् प्रकाशशून्य था। उस समय जब पुरुष ने अपने शरीर को और अन्य सब वस्तुओं को देखना चाहा, तब उसके दो आँखों के गोलक, चक्षु इन्द्रिय और ज्योति अर्थात् सूर्य देवता उत्पन्न हुए। ऋषि लोग जब उस पुरुष को वेद के वाक्यों से जगाने लगे, तब उस स्तुति को श्रवण करने की इच्छा होने पर पुरुष के कान उत्पन्न हुए। उन कानों से श्रवण इन्द्रिय और उसकी अधिष्ठात्री दिशाएँ ( देवता ) उत्पन्न हुईं। श्रवण इन्द्रिय का विषय जो सुनना है, वह भी उत्पन्न हुआ। जब पुरुष ने सब पदार्थों की कोमलता, कठिनता, हलकापन, भारीपन, गरमी और ठण्डक का अनुभव करना चाहा, तब उसके त्वचा ( खाल ), त्वक् इन्द्रिय, रोम और उनसे वृक्ष देवता उत्पन्न हुए। उस त्वचा के भीतर और बाहर स्पर्श को ग्रहण करनेवाला वायु व्याप्त है। जब पुरुष ने भाँति-भाँति के कर्म करने की इच्छा की, तब उसके हाथ निकले। उनसे इन्द्र देवता और बल इन्द्रिय उत्पन्न हुई। उन हाथों से वस्तुओं का लेना-देना होता है। जब पुरुष ने चलना चाहा, तब पैर निकले। गतिशक्ति इन्द्रिय और यज्ञरूप विष्णु उस इन्द्रिय के देवता उनमें स्थित हैं। उन्हीं से चल-फिरकर मनुष्यगण यज्ञ आदि कर्म करते हैं। पुरुष ने जब पुत्र-कन्या आदि सन्तानों की उत्पत्ति और स्त्रीसंभोग करना चाहा, तब उसके शिश्न अंग, उससे उपस्थ इन्द्रिय और प्रजापति देवता की उत्पत्ति हुई। मूत्रत्याग और स्त्रीसंभोग, दोनों इस इन्द्रिय के कर्म हैं। जब पुरुष ने मलत्याग करना चाहा, तब उसके गुदा का छिद्र प्रकट हुआ। उससे पायु इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवता मित्र उत्पन्न हुए। पुरुष ने जब एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने की इच्छा की, तब उसके नाभि द्वारा मृत्यु देवता के साथ अपान इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। नाभि में प्राणवायु और अपानवायु की जो गाँठ है, उसके खुल जाने पर मृत्यु हो जाती है। पुरुष ने जब रस, अन्न और पीने के पदार्थ ग्रहण करना चाहा, तब उसके कोख, आँत और नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं। आँतों की अधिष्ठात्री नदियाँ और नाड़ियों का अधिष्ठाता देवता समुद्र है। तुष्टि और पुष्टि इनके विषय हैं। जब पुरुष ने अपनी माया का चिन्तन या विचार करना चाहा, तब उसके हृदय और मन उत्पन्न हुए। उनसे संकल्प और अभिलाषा नाम के विषय और उनका अधिष्ठाता

देवता चंद्रमा उत्पन्न हुआ। फिर पृथ्वी, जल और तेज से पुरुष के सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। वे धातुएँ ये हैं—त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, मज्जा और हड्डी। उसका प्राणवायु आकाश, जल और वायु से उत्पन्न हुआ। सब इन्द्रियाँ स्वभाव से ही अपने विषयों अर्थात् शब्द, रस, रूप आदि की ओर आकृष्ट होती हैं। ये सब विषय अहंकार से उत्पन्न और अहंकार ही के कारण अच्छे जान पड़ते हैं, वास्तव में अच्छे नहीं हैं। इसका कारण यही है कि मन सब विकारों का स्वरूप है और बुद्धि अर्थ-विज्ञानरूपिणी है, स्वतः परमार्थ का ग्रहण करनेवाली नहीं है। बुद्धि और मन का यही स्वरूप है।

महाराज, मैंने भगवान् का यह स्थूल रूप आपको बतला दिया। यह भगवान् का विराट् रूप बाहर प्रकृतिसहित पृथ्वी आदि आठ आवरणों ( प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार और पंचतत्त्व ) से घिरा हुआ है। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक अत्यन्त सूक्ष्मरूप भी है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है; क्योंकि अव्यक्त है। वह विशेषणशून्य है, किसी विशेषण से उसका बोध नहीं कराया जा सकता; क्योंकि उसका आदि, मध्य, अंत, उत्पत्ति, स्थिति या लय नहीं है। वह नित्य अर्थात् सदा एक रूप है। इसीलिए वाणी और मन के लिए अगम्य है। मैंने ये दोनों रूप तुमसे वर्णन कर दिये। ये माया के द्वारा कल्पित और माया के योग से प्रकाशित हैं। माया का त्याग करने पर निराकार, निर्गुण ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण विद्वान् पंडित केवल उपासना के लिए इन रूपों को स्वीकार करते हैं, वास्तव में इन्हें सत्य नहीं मानते।

अब भगवान् ने ब्रह्मा से जो अपने रूप, गुण और कर्म कहे हैं, उन्हीं के अनुसार शुकदेवजी भगवान के रूप, गुण और कर्मों का वर्णन करते हैं। वह भगवान ब्रह्मा आदि रूप धारण करके उनके वाचक नाम और उनके वाच्यरूप धारण करते और कर्मों को करते हैं। वह माया को ग्रहण करने पर कर्म करनेवाले होते हैं; किन्तु वास्तव में कर्महीन निर्गुण ब्रह्म हैं। वही ईश्वर प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितृगण, सिद्ध, चारण, गंधर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किंपुरुष, उरग ( छाती के बल रेंगकर चलनेवाले जीव ), मातृगण, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप आदि भिन्न-भिन्न नाम और रूप ग्रहण करके उनके कर्म करते हैं।

चल और अचल अथवा जरायुज ( मनुष्य आदि ), अंडज ( पक्षी आदि ), स्वेदज ( जूँ, चिलवे आदि ) और उद्भिज ( वृक्ष आदि ) प्राणी तथा जल, स्थल और आकाश में रहनेवाले जितने जीव हैं, उनके नाम, रूप और कर्म भी वही भगवान् धारण करते हैं। पूर्वोक्त योनियाँ उत्तम, मध्यम और अधम कर्मों ( पाप-पुण्य ) की गतियाँ हैं अर्थात् कर्मानुसार ये योनियाँ प्राप्त होती हैं। राजन्, सब कर्मों की उत्तम, मध्यम और अधम गतियों के अनुसार सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से क्रमशः देवता, मनुष्य और राक्षसों की सृष्टि होती है। इनमें भी प्रत्येक गति के तीन भेद हैं; क्योंकि प्रत्येक गुण में अन्य दो गुणों का न्यूनाधिक संमिश्रण रहता है। वही जगत् के विधाता भगवान् मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि रूपों से अवतार* लेकर इस विश्व को धर्मरूप से धारण करते हुए सम्पूर्ण विषयों के भोग से इसका पोषण करते हैं। फिर जब संहार का समय आता है, तब वही परमेश्वर कालाग्नि-रुद्ररूप से इस अपनी पैदा की हुई सृष्टि का वैसे ही सहार करते हैं, जैसे वायु मेघमाला को छिन्न-भिन्न एवं अदृश्य कर देता है।

हे राजन्, मैंने आपके आगे, समझने के लिए, भगवत्श्रेष्ठ भगवान् का रूप इस रूप मे वर्णन किया है; किन्तु ज्ञानी सिद्ध लोग परमेश्वर को इस सगुण रूप में नहीं देखते। वे भगवान् के निर्गुण रूप का ही

* पशु-पक्षी अवतार—मीन, वराह, कच्छप, हंस आदि; नरावतार—राम, कृष्ण, परशुराम आदि; सुरावतार—वामन, यज्ञ, हरि आदि।

चिन्तन करते हैं। वेद ने जो ईश्वर को इस विषय की सृष्टि आदि कार्यों का कर्त्ता कहा है, उसका भी तात्पर्य यही है। केवल कर्तृत्व के प्रतिषेध के लिए ही अर्थात् सगुणरूप के द्वारा निर्गुणरूप का प्रतिपादन करने के लिए ही इस रूप की कल्पना की गई है। कारण, भगवान् का निर्गुण रूप तो ऐसा है कि मन और वाणी की वहाँ तक पहुँच ही नहीं है! वह माया अर्थात् सगुण रूप से ही प्रकाशित होता है।

मैंने उदाहरण के तौर पर ब्रह्मा के महाकल्प और अवान्तरकल्प का वर्णन संक्षेप में कर दिया है। महाकल्प में प्राकृत सृष्टि अर्थात् महत्तत्त्व आदि की कारण सृष्टि और अवान्तरकल्प में वैकृत सृष्टि अर्थात् इस संपूर्ण चराचरजगत् की सृष्टि होती है। हर एक महाकल्प और अवान्तरकल्प का यही साधारण क्रम है।

अब मैं आपसे काल के स्थूल और सूक्ष्म रूप अथवा परिमाण, कल्प और अवान्तरकल्प का लक्षण और मन्वन्तरादिरूप विभाग-विस्तार से आगे ( तृतीय स्कंध में ) कहता हूँ। पहले पाद्मकल्प: का वर्णन सुनिए।

शौनक ने सूत से कहा—आप पहले कह चुके हैं कि भगवान् के श्रेष्ठ भक्त विदुर अपने बन्धु-बान्धवों को, जिन्हें छोड़ना सहज नहीं, छोड़कर पृथ्वीतल के सब तीर्थों का पर्यटन करते फिरे। उनसे और मैत्रेयजी से एक स्थान पर अध्यात्मज्ञान के विषय में बातचीत भी हुई। अब हम उसी प्रसंग को सुनना चाहते हैं। विदुर ने मैत्रेयजी से कौन प्रश्न किये और मैत्रेयजी ने उनका क्या उत्तर दिया? यह भी आप कहिए कि विदुर अपने बान्धवों को और बड़े भाई को छोड़कर क्यों चल दिये थे? और फिर क्यों घर लौट आये? यह सब विस्तार के साथ हमें सुनाइए।

सूतजी ने कहा—मुनिवर, राजा ने भी यही प्रश्न श्रीशुकदेवजी से किये थे। श्रीशुकदेवजी ने इस विदुर-मैत्रेय के संवाद का आरम्भ करते हुए राजा परीक्षित् के प्रश्नों का उत्तर दिया। मैं भी राजा के प्रश्न के अनुसार ही आपके इन प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। आप सब मन लगाकर सुनें।





# तीसरा स्कंध

## पहला अध्याय

### उद्धव और विदुर का संवाद

अब पाद्मकल्प आदि विषयों का विस्तार के साथ वर्णन करने के लिए श्रीशुकदेवजी उनसे सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास का आरम्भ करते हैं।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—हे राजन्, आपने मुझसे जो प्रश्न किये हैं, ये ही प्रश्न पहले महात्मा विदुर ने मैत्रेय ऋषि से उस समय किये थे, जब वह सब वैभवों से भरे हुए अपने घर को छोड़कर वन में चले गए थे। उसी समय उन्हें मैत्रेयजी मिले थे। वह विदुर भगवान् कृष्णचन्द्रजी के परम भक्त थे। यही कारण था कि जब तुम्हारे पितामह पाण्डवों की ओर से दूत बनकर भगवान् हस्तिनापुर पधारे थे, तब दुर्योधन के यहाँ न ठहरकर उन्होंने विदुर को अपना समझा और उनके घर में जाकर टिके।

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्, मैत्रेयजी से विदुरजी की भेंट कहाँ हुई थी? इन दोनों सज्जनों का संवाद कब हुआ था? हे प्रभो, यह हमसे आप वर्णन करिए। शुद्धबुद्धि विदुरजी का प्रश्न कोई साधारण प्रश्न न होगा। अवश्य ही उस प्रश्न का सम्बन्ध भगवान् की कथा से होगा और वह प्रश्न इसीलिए

साधु, ज्ञानी भक्तजनों की दृष्टि में प्रशंसा के योग्य होगा। मैत्रेयजी बड़े भारी ज्ञानी हैं। अतएव विदुरजी-जैसे भक्त और मैत्रेयजी-सरीखे ज्ञानी का सम्वाद सुनने योग्य है।

सूतजी कहते हैं—इस तरह जब राजा ने श्रीशुकदेवजी से पुनः प्रश्न किया, तब प्रसन्न होकर उन महान् ज्ञानी ऋषि ने राजा से कहा—सुनो। विदुर ने देखा कि प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) राजा धृतराष्ट्र अधर्म से अपने दुष्ट लड़कों का पक्ष लेते हैं। उन्होंने लाक्षागृह में छोटे भाई पाण्डु के अनाथ लड़कों को कुन्ती के साथ रखकर आग लगाकर उसी लाख के घर में उन सबको जलाने की अनुमति दे दी और दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र ने अपनी जान में कुन्तीसहित पाण्डवों को जला दिया। फिर विदुर ने देखा कि भरी सभा में दुष्ट दुर्योधन ने धृतराष्ट्र की बहू महारानी द्रौपदी को दुःशासन के द्वारा बलपूर्वक बाल पकड़कर खींचते हुए मँगवाकर घोर अन्याय किया, और द्रौपदी ने इतने आँसू बहाए कि उनके कुचों में लगा हुआ कुंकुम धुल गया, परन्तु विवेकहीन धृतराष्ट्र ने अपने लड़कों को यह निन्दनीय कर्म करने से नहीं रोका। विदुर ने देखा कि सत्यवादी, धर्मात्मा, छल-कपट-हीन सीधे-सादे युधिष्ठिर को अपने यहाँ बुलाकर द्यूत (पाँसों के खेल चौसर) में बेईमानी से जीतकर दुर्योधन ने वनवास के लिए भेज दिया, पर धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा। पाण्डव जब वनवास और अज्ञातवास की शर्त पूरी करके लौट आए और उन्होंने अपना राज्य का हिस्सा माँगा, तब धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों से पाण्डवों का भाग नहीं दिलाया। सच तो यह है कि धृतराष्ट्र की हृदय की आँखें भी फूट गई थीं—वह पुत्रस्नेह के मोह में पड़कर अपने कर्त्तव्य को भुला बैठे थे। विदुर ने देखा कि पाण्डवों के भेजे हुए जगद्गुरु कृष्ण भगवान् ने आकर अमृततुल्य शान्ति देनेवाली जो बातें कहीं, और भीष्मपितामह आदि बड़ों ने जो समझाया कि पांडवों से विरोध न करो—उनका हिस्सा दे दो—इसी में भलाई है, सो सब व्यर्थ गया। धृतराष्ट्र या दुर्योधन ने एक न मानी। मानते कैसे? उनका तो जो कुछ थोड़ा-बहुत पुण्य का लेश था, वह नष्ट हो चुका था—उनके बिगड़ने के दिन आ गये थे! एक दिन बड़े भाई धृतराष्ट्र ने सलाह के लिए, परामर्श करने के लिए, विदुरजी को जब बुलाया, तब सभा में उपस्थित होकर महामति नीतिज्ञ और श्रेष्ठ मंत्री विदुरजी ने उन्हें बहुत अच्छी सलाह दी। विदुर की सलाह का क्या कहना! विदुर की नीति प्रसिद्ध है।

विदुर ने धृतराष्ट्र को सलाह देते हुए कहा—महाराज, आप युधिष्ठिर का हिस्सा उन्हें दे दीजिए। यही न्याय है और इसी में कुशल है। वह आपके असह्य अपराध अर्थात् अन्याय को अब तक सहते आये हैं; परन्तु अब नहीं सहेंगे। देखिए, उधर अर्जुन और भीम, ये दोनों विषधर नाग क्रोध से भरे फुफकार रहे हैं। भीमसेन को आप बहुत डरते हैं। ब्राह्मणों के, यादवों के, राजों के और इन्द्र आदि सब देवतों के देवता भगवान् कृष्णचन्द्र पाण्डवों के पक्ष में हैं और वह कहीं गये नहीं हैं, अपनी पुरी में ही विराजमान हैं। आप जानते हैं कि उन भगवान् ने सब राजों को जीत लिया है और महावीर यादव सब उनके अनुगत हैं। तात्पर्य यह कि पाण्डवों का पक्ष बड़ा शक्तिशाली है। केवल कृष्णचन्द्र के ही उनके पक्ष में होने से सब ब्राह्मण, राजा, यादव लोग और इन्द्र आदि देवता भी पाण्डवों के सहायक हैं। इस कारण पाण्डवों से वैर करने में आप अपने कुल की कुशल न समझें। आप कदाचित् यह कहें कि मैं क्या करूँ? मेरी तो चलती नहीं। दुर्योधन मेरे कहे में नहीं है, तो मेरी सलाह यही है कि अपने सारे कुल की भलाई के लिए इस एक अमंगलमूल श्रीहत का त्याग कर दो; क्योंकि नीति में कहा है—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे*, अर्थात् कुल भर के कल्याण के लिए एक का त्याग करना पड़े तो वह चाहे जैसा प्रिय क्यों न हो, उसका त्याग कर दे। यह साक्षात् दोषों की खान तुम्हारे घर में है। जिस दुर्योधन को तुम अपत्य (पुत्र) समझकर पाल रहे हो,

* त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

वह वास्तव में अपत्य कहलाने योग्य नहीं है। कारण, अपत्य वही है, जिसके आचरण से मनुष्य का, अर्थात् पिता का, अधःपतन नहीं होने पाता। यह मंगलमय कृष्ण से विमुख ही नहीं, बल्कि उनसे द्वेष भी रखता है! इसलिए इसका त्याग ही श्रेयस्कर है।

सज्जनोचित स्वभाववाले विदुर ने देखा कि उनके धृतराष्ट्र को यों सलाह देने पर कर्ण, दुःशासन और शकुनि के साथ दुर्योधन के भी होंठ क्रोध के मारे फड़कने लगे। दुर्योधन विदुर का तिरस्कार करते हुए यों कहने लगा—"इस दुष्ट और कुटिल दासीपुत्र को यहाँ किसने बुलाया है? इसकी कुटिलता तो देखो, जिसके टुकड़ों से पलना, उसी का विरोध करके शत्रु का भला चेतना! और कोई होता तो उसके लिए मृत्यु ही उचित दंड था। ख़ैर, इसे अभी पुर के बाहर निकाल दिया जाय और इसकी सब घर-बार संपत्ति छीन ली जाय।" कानों में बाण के समान लगनेवाले ये कठोर वाक्य कहकर दुर्योधन ने धृतराष्ट्र के सामने ही अपने चाचा विदुर के हृदय को चोट पहुँचाई; परन्तु ज्ञानी विरक्त विदुर इससे खिन्न या व्यथित नहीं हुए। उन्होंने सोचा, "श्री भगवान् की माया अर्थात् होनी बड़ी प्रबल है, उसे कोई टाल नहीं सकता।"



विदुरजी उसी समय अपने आसन से उठ खड़े हुए, सभाभवन के दरवाज़े पर अपना धनुष रख दिया* और दुर्योधन के द्वारा निकाले जाने के पहले ही आपसे घर-बार सब छोड़कर नगर से निकल गये। सच तो यह है कि बड़े पुण्य और भाग्य से कौरवों ने विदुर-जैसे हितैषी बन्धु को पाया था†। हस्तिनापुर से चलकर पुण्यसंचय की इच्छा से विदुरजी हरि भगवान् के क्षेत्रों में पर्यटन करने लगे। उन क्षेत्रों में ब्रह्मा, शिव आदि अनेक देव-मूर्त्तियों से पृथ्वीतल पर भगवान् निवास करते हैं। पवित्र पुरों, उपवनों, पर्वतों, कुंजों, निर्मल जलवाले

* धनुष रख जाने का भाव यह है कि दुर्योधन को यह आशंका न हो कि विदुर पाण्डवों के पक्ष में जाकर हमसे युद्ध न करें।

† इससे यह सूचित होता है कि विदुर नहीं गये, कौरवों का भाग्य ही उनसे रूठ गया।

स्वच्छ सरोवरों और नदियों तथा भगवान् की मूर्त्तियों से अलंकृत तीर्थ-क्षेत्रों में विदुरजी अकेले विचरने लगे। विदुर ने केवल हरि को प्रसन्न करने का व्रत ग्रहण कर रक्खा था। वह पवित्र और साधारण भोजन करते थे, हर एक तीर्थ में नहाते, पृथ्वी पर सोते और अवधूतों के वेश से घूमते थे। उस समय उनका कोई आत्मीय भी उन्हें देखकर पहचान न सकता।

इस प्रकार विचरते हुए विदुरजी ने सारे भरतखण्ड की परिक्रमा कर डाली। जब वह पृथ्वी-पर्यटन से लौटकर पुनः प्रभास-तीर्थ में पहुँचे, तब अजातशत्रु युधिष्ठिर कृष्णचन्द्र की सहायता से एकछत्र निष्कण्टक राज्य का शासन कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर विदुर ने अपने आत्मीय कौरवों के विनाश और यादवों को ब्रह्मशाप होने का समाचार सुना। उन्होंने जब सुना कि जैसे बाँसों के परस्पर के संघर्ष ( रगड़ ) से पैदा होनेवाली आग में सारा जंगल जलकर भस्म हो जाता है, वैसे ही आपस की लागडाँट या डाह से लड़कर सब कौरवकुल नष्ट हो गया, तब उन्हें बड़ा शोक हुआ। वह कौरवों के लिए शोक करते हुए वहाँ से सरस्वती के तट पर आये। वहाँ से त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गो, गुह और श्राद्धदेव, इनके नामों से प्रसिद्ध ग्यारह क्षेत्रों में जाकर विदुरजी ने स्नान, दान आदि के द्वारा भगवान् की सेवा की। इनके सिवा पृथ्वीतल पर और जितने देवतों और ऋषियों के स्थापित विष्णु भगवान् के स्थान हैं—जिनके शिखरों पर सोने की कल्सियाँ लगी हैं और भगवान् का मुख्य शस्त्र चक्र बना हुआ है, जिसको देखकर भक्तजन भगवान् का स्मरण करते हैं—उनमें जाकर विदुरजी ने भगवान् के दर्शन किये। इस प्रकार समृद्धिशाली सौराष्ट्र ( गुजरात ), सौवीर ( सिंध और झेलम के बीच का देश ), मत्स्यदेश ( जयपुर से अलवर तक ), कुरुजांगल ( हस्तिनापुर के पश्चिम और दिल्ली के दक्षिण-पूर्व में स्थित देश, जिसमें जंगल बहुत थे ) देशों में होते हुए विदुरजी यमुना नदी के तट पर आये। वहाँ उन्हें भगवान् के परमभक्त उद्धव दिखाई दिये। हरि के भक्त, शांतस्वभाव, नीतिशास्त्र में पूर्वजन्म के बृहस्पतिजी के शिष्य, प्रसिद्ध उद्धवजी से विदुरजी बड़े प्रेम से मिले। उसके बाद वह श्रीकृष्ण के आश्रित अपने आत्मीय यादवों और कौरवों-पाण्डवों की कुशल इस प्रकार पूछने लगे।

विदुर ने उद्धव से कहा—ब्रह्माजी की प्रार्थना से पृथ्वीतल पर अवतार लेनेवाले पुराणपुरुष श्रीकृष्ण और बलदेवजी दुष्टों के वध से पृथ्वी का संताप हरकर शूरसेन के भवन में सबको आनन्द देते हुए कुशल से हैं न? मेरे बहनोई* हम कौरवों के मित्र, हितचिंतक, सुहृद और पूज्य वसुदेवजी सुखपूर्वक हैं न? वह उदार वसुदेवजी अपनी बहनों और उनके पतियों को पिता की भाँति सब अभिलषित वस्तुएँ देकर प्रसन्न रखते हैं। यादवों के सेनापति वीर प्रद्युम्नजी तो सुखी हैं न? वह पूर्वजन्म के कामदेव हैं और उन्हें रुक्मिणी देवी ने ब्राह्मणों की आराधना करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से प्राप्त किया है। सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्ह ( वंशों के ) यादवों के स्वामी उग्रसेन तो कुशल से हैं? कमलनयन कृष्ण भगवान् ने स्वयं राज्य-कामना न करके उन्हें राजसिंहासन पर बिठाया और उनका राज्याभिषेक किया है। हे सौम्य, रूप और गुणों में कृष्णजी के ही समान, उनके पुत्र, प्रधान योद्धा साम्ब की कुशल कहिए। जांबवती ने अनेकों व्रत करके उनको पाया है। वह पूर्वजन्म में पार्वती देवी के पुत्र स्कंद भगवान् थे। धनुर्विद्या में अर्जुन के शिष्य और कृष्णचन्द्र की सेवा करके सहज ही में योगियों और यतियों को भी कठिनता से प्राप्त होनेवाला कृष्ण भगवान् का रहस्य या तत्त्व जाननेवाले सात्यकि तो सुखपूर्वक हैं? ज्ञानी, निष्पाप, हरिचरण-शरणागत अक्रूरजी तो कुशल से हैं? वह प्रेम-भक्ति से अधीर होकर व्रज पहुँचने पर कृष्णचरणांकित व्रजवीथियों

*कुन्ती वसुदेव की बहन थीं। इस व्यवहार से देवकी पाण्डु की बहन हुई। इसी नाते से विदुर ने वसुदेव को बहनोई कहा है।

की धूल में लोटने लगे थे। भोजवंशी राजा देवक की बेटी देवकी देवी तो कुशलपूर्वक हैं? उन्होंने अदिति के समान ही विष्णु भगवान् की माता होने का सौभाग्य प्राप्त किया है। वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) यज्ञसामग्रीस्वरूप मंत्रों अथवा यज्ञ के कर्मकांड को प्रकाशकरूप से धारण करती है, वैसे ही देवकीजी ने भी अपने गर्भ में यज्ञपुरुष कृष्णचन्द्र को धारण किया है। उपासकों की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले अनिरुद्ध भगवान् तो सुख से हैं? वेद उन्हें शब्दब्रह्म (वेद) का कारण (ब्रह्मा) बतलाते हैं अर्थात् वह ब्रह्माजी का अवतार हैं। वह मन के प्रवर्त्तक * और चार प्रकार के अन्तःकरण (चित्त, अहङ्कार, बुद्धि और मन) में से चतुर्थ तत्त्व मन के अधिष्ठाता हैं। अपने स्वामी श्रीकृष्ण भगवान् के अनन्य भाव से अनुगामी और जो हृदीक, सत्यभामा के पुत्र, चारुदेष्ण, गद आदि यादव हैं, वे भी सब कुशल से हैं न? जिनकी सभा में जिनकी साम्राज्य-लक्ष्मी, अर्जुन की सेवा अथवा विजयलक्ष्मी का अनुकूल होना देखकर दुर्योधन जल मरा, वह धर्मावतार अजातशत्रु युधिष्ठिर अपनी भुजाओं के समान कृष्णचन्द्र और अर्जुन के सहारे धर्म से धर्म की मर्यादा का पालन अर्थात् राज्य-शासन कर रहे हैं न? सर्प के समान क्रोधी स्वभाववाले भीमसेन ने क्या अन्याय करनेवाले अपकारी कौरवों के प्रति बढ़े हुए पुराने वैरभाव को छोड़ दिया है? कारण, वैर का अन्त मृत्यु के बाद स्वयं हो जाता है। उनके पैर रखने की धमक को गदायुद्ध में विचित्र पैंतरे बदलते समय युद्धभूमि नहीं सह सकती थी। बड़े-बड़े रथी, महारथी और योद्धा जिनकी कीर्ति का कीर्त्तन (बखान) करते हैं, वह गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन अब सब शत्रुओं का संहार करके सुख से हैं न? उनके बाणों की वर्षा में छिप गये माया से किरात-वेष धारण किये हुए शिव भगवान् उनकी अपूर्व युद्ध-निपुणता देखकर बहुत प्रसन्न हुए थे। कुन्ती के पुत्र अर्जुन वैसे ही जिनकी रक्षा करते हैं, जैसे पलकें आँखों की रक्षा करती हैं, वह माद्री के यमज पुत्र नकुल और सहदेव कुशल से हैं न? गरुड़ ने जैसे इन्द्र से अमृत का कलश बलपूर्वक छीन लिया था, वैसे ही उन्होंने लड़कर शत्रुओं से अपना राज्य-भाग छीन लिया। और कुन्ती की कुशल क्या पूछें? वह तो राजर्षि पाण्डु के स्वर्गवास से प्राणहीन शरीर के समान हो गई हैं; परन्तु केवल अपने लड़कों के लिए स्वामी का वियोग होने पर भी अब तक जी रही हैं। जिन महावीर ने अकेले रथ पर बैठकर केवल एकमात्र धनुष की सहायता से चारों दिशाओं को अपने वश में कर लिया, उन यशस्वी महाराज पाण्डु के बिना उनका जीवित रहना क्या कुछ कम कष्ट की बात है! मैं तो उन धृतराष्ट्र के लिए शोक करता हूँ, जिन्होंने अन्याय करके अपने को बहुत नीचे गिरा दिया है या अपने लिए नरक का द्वार खोल लिया है। आह, उन्होंने मरे हुए छोटे भाई पाण्डु से, उनकी स्त्री और पुत्रों को कष्ट पहुँचाकर, ऐसी शत्रुता की! उनकी नासमझी कहाँ तक कहूँ! उन्होंने अपने दुष्ट पुत्रों का पक्ष लेकर मुझे, अपने हितचिन्तक को, पुरी से निकाल बाहर किया। परन्तु मुझे इस अपने अपमान के लिए कुछ भी शोक नहीं है। न धृतराष्ट्र के इस आचरण पर विस्मय ही है। मैं जानता हूँ कि मनुष्यलीला का अनुकरण करके अपने ऐश्वर्य और प्रभाव को छिपाये हुए वही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मनुष्यों के चित्त में भ्रम और मोह उत्पन्न करते हैं। उनकी ही कृपा से मैं उनके माहात्म्य को जानता हूँ और इसी कारण इस पृथ्वी पर शोक-मोह-विस्मय से रहित होकर विचर रहा हूँ। और कोई मुझे पहचान नहीं सकता। भगवान् कृष्णचन्द्र चाहते तो उसी समय कौरवों का विनाश कर देते, जब वे पाण्डवों के साथ अनेक प्रकार के अन्याय

* जैसा शिक्षा में कहा है कि आत्मा बुद्धि के द्वारा पदार्थों तक पहुँचकर बोलने की इच्छा से मन का प्रयोग करता है। कायाग्नि को सचेष्ट करके वायु को प्रेरित करता है। वायु हृदय में विचरकर मंद (अव्यक्त) शब्द को प्रकट करता है। इसीसे अनिरुद्ध को शब्द की उत्पत्ति का कारण कहा है। वह मन का अधिष्ठाता है। चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन के क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अधिष्ठाता हैं। इन्हें उपासनाविधि में चतुर्व्यूह भी कहा है।

और उन पर विविध अत्याचार कर रहे थे। परन्तु उस समय कौरवों को न मारने का निश्चय ही यह कारण था कि भगवान् कौरवों के साथ उन दुष्ट राजों का भी संहार कराना चाहते थे, जो मदोन्मत्त* होकर कुमार्ग पर चल रहे थे और बारम्बार भारस्वरूप अपनी सेना से इस पृथ्वी को पीड़ा पहुँचाते थे। इसीलिए भगवान् पहले कौरवों के अत्याचारों की उपेक्षा करते रहे। भगवान् के अवतार का मुख्य उद्देश्य ही पृथ्वी के लिए भार हो रहे दुष्ट राजों को उनकी सेना के साथ मरवाकर शरणागत भक्तों के दुःखों को दूर करना है। जन्मरहित भगवान् का जन्म ऐसे कुमार्गगामी दुष्टों का विनाश करने के लिए हुआ करता है। उन अकर्मा ईश्वर के कर्म सब जीवों को शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए ही होते हैं। मायामुक्त भगवद्भक्त लोग भी जब गुणातीत अवस्था को प्राप्त करके जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, तब स्वयं भगवान् के जन्म और कर्म स्वीकार करने का कारण सिवा इसके और क्या हो सकता है ? हे मित्र उद्धव, शरणागत लोकपालों और अपनी आज्ञा पर चलनेवाले भक्तों का काम बनाने के लिए यादवकुल में उत्पन्न उन जन्म-रहित और कीर्त्तनीय-कीर्त्ति कृष्णचन्द्र की कथा अब तुम कहो।

# दूसरा अध्याय

## श्रीकृष्णचन्द्र की बाललीलाओं का वर्णन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुर ने भगवान् के अनन्य भक्त उद्धव से उनके परमप्रिय कृष्ण के सम्बन्ध की बातें पूछीं, तब प्रेम की उमंग से और हृदय में ईश्वर का स्मरण करने के कारण उद्धवजी बाह्य-ज्ञानशून्य हो गये अर्थात् उन्हें बाहरी ज्ञान नहीं रहा। अपने स्वामी का स्मरण करा देने से उनके विरह-दुःख से उद्धवजी व्याकुल हो उठे। थोड़ी देर तक उनके मुँह से बोल ही नहीं निकले। उद्धवजी बचपन ही से कृष्ण के अनन्य भक्त थे। जब उनकी अवस्था पाँच ही वर्ष की थी, तब वह खेल खेलते समय कृष्ण की ही मूर्त्ति बनाकर कल्पित ( मानसिक ) पूजा की सामग्री से कृष्ण भगवान की पूजा करते थे। उस समय उनकी माता यदि भोजन करने के लिए उन्हें बुलाती थी तो वह पूजा का खेल पूरा किये बिना नहीं उठते थे। तात्पर्य यह कि बचपन से ही उद्धव कृष्णचंद्र के ऐसे स्वाभाविक भक्त थे कि खेल-कूद में भी कृष्ण की सेवा, उपासना और पूजन-ध्यान करते रहते थे। वह उद्धव अब तो कृष्णचन्द्र की सेवा करते-करते वृद्ध हो गये थे। विदुर के प्रश्न करने से उन्हें इस समय अपने स्वामी श्रीकृष्णचंद्र के चरणों का स्मरण हो आया था, अतएव कृष्ण-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर वह शीघ्र नहीं दे सके। उद्धवजी कृष्ण-चरणों के सुधा-सागर में मग्न होकर बेसुध बना देनेवाले तीव्र भक्तियोग के आवेश से दो घड़ी तक चुप ही रहे। उनके अंगों में रोमाञ्च हो आया, ध्यान में आधे मुँदे हुए नयनों से आनन्द के आँसू बहने लगे। विदुर ने भगवत्प्रेम के प्रवाह में निमग्न उद्धव को कृतार्थ और महाभाग्यशाली माना।

धीरे-धीरे अपने मन को भगवान् के ध्यान से इस लोक में लाकर उद्धवजी ने अपनी आँखों के आँसू पोंछे

* मद तीन तरह के होते हैं—विद्या का मद, धन का मद, और कुटुम्ब का मद। दुष्टों के लिए ये तीनों बातें मद का कारण होती हैं, पर सज्जन इन तीनों वस्तुओं को पाकर लोकोपकार करते हैं। जैसा कि नीति में कहा है कि दुष्टों को विद्या मिलती है तो विवाद करते हैं, धन मिलता है तो वे घमंड के मारे ऐंठ जाते हैं और शक्ति मिलती है तो वे औरों को सताते हैं। किन्तु इसके विपरीत सज्जन विद्या से ज्ञानोपार्जन करते हैं, धन को दान में लगाते हैं और शक्ति होने पर उससे और निर्बलों की रक्षा करते हैं।

और यदुकुल-संहार आदि कठिनतर कामों के संपादन में कृष्णचन्द्र भगवान् की चतुरता को स्मरण करके कुछ विस्मित होकर उन्होंने विदुरजी से यों कहा—कृष्णरूप सूर्य अस्त हो गये हैं और कालरूप अजगर ने हम यादवों को ग्रस लिया है। अब अपने श्रीहत घरों अर्थात् यादवों की कुशल मैं क्या बताऊँ! सच तो यह है कि ये मनुष्य भाग्यहीन हैं। उनमें भी यादवगण अत्यन्त अभागे थे; क्योंकि वे समीप रहकर भी कृष्णचन्द्र को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्र के भीतर रहनेवाले जल के जीव अपने बीच रहनेवाले चंद्रमा को नहीं पहचान सके अर्थात् उन्होंने यही समझा कि यह भी कोई हमारे ही समान जल का सुंदर जीव है, यह नहीं जाना कि यह अमृत की खानि है। अभागे नहीं तो और क्या कहें? नहीं तो उनमें ज्ञान का अभाव न था, वे लोगों के मन के अभिप्राय को जानने की शक्ति रखते थे और अत्यन्त चतुर भी थे। किन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि वे यादवगण आठों पहर कृष्ण के साथ एक ही जगह रहने पर भी उन्हें सब प्राणियों का ईश्वर न जानकर केवल यादवों में श्रेष्ठ समझकर उनका सम्मान करते थे। भगवान् की माया में मोहित होने के कारण यादव लोग कृष्ण को अपना बन्धु जानते थे और इसके विपरीत शत्रु की भावना रखनेवाले शिशुपाल आदि नरपति उनकी निन्दा करते थे; पर इन बातों से हरि में मन लगानेवाले मुझ-सरीखे लोगों की बुद्धि मोह को नहीं प्राप्त होती। जिन्होंने तपस्या नहीं की और इसी कारण कृष्णचंद्र के रूप को देखकर जिनके नेत्र तृप्त नहीं हुए, ऐसे लोगों को इतने दिनों तक अपनी श्रीमूर्त्ति दिखाकर भगवान् इस लोक से अन्तर्द्धान हो गये। वह अपने परमधाम को क्या गये, अपने साथ ही लोगों के नेत्रों को भी लेते गये। तात्पर्य यह कि अब भगवान् की श्रीमूर्ति के समान दर्शनीय अन्य कोई पदार्थ नहीं रहा, जिसे देखकर लोगों के नेत्रों को आनन्द प्राप्त हो।



भगवान् की यह श्रीमूर्त्ति बहुत ही अद्भुत थी। श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने योगमाया-बल को दिखाने और नरलीला करने के लिए इस विग्रह (शरीर) को धारण किया था। यह मूर्त्ति सौभाग्यातिशय की पराकाष्ठा थी। इस अपनी अलौकिक ऐश्वर्यशालिनी मूर्ति को देखकर स्वयं भगवान् को विस्मय होता था, फिर यदि वह औरों के लिए आश्चर्यजनक हो तो कौन बड़ी बात है? भगवान् के श्याम (शरीर के) अंगों को आभूषण नहीं अलंकृत करते थे, किन्तु आभूषणों की ही शोभा उनसे होती थी! महाराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में जो त्रिभुवन के रहनेवाले सब प्राणी आये थे, उन्होंने नयनों को आनन्ददायक श्रीकृष्ण भगवान् के सुंदर शरीर को देखकर अपने मन में यही सोचा कि सृष्टि के बनाने में विधाता ने जो कुछ अपनी चतुरता दिख-

लाई है, वह सब इस मूर्त्ति की सुन्दरता के आगे तुच्छ है ! अर्थात् भगवान् के शरीर में जो सौन्दर्य देख पड़ता है, वैसा सौन्दर्य ब्रह्मा की सारी सृष्टि में कहीं नहीं नजर आता, अथवा ब्रह्मा ने अपना सारा सृष्टि-कौशल इस मूर्त्ति के निर्माण में खर्च कर दिया है ! कृष्णचन्द्र के सानुराग हास-परिहास, रासनृत्य और सलील दृष्टिपात आदि से सम्मान पाकर व्रज की गोपियाँ घर के सब काम-काज भूलकर यमुनातट पर उन्हीं के पास बनी रहीं। गोपियों की दृष्टि और अन्तःकरण पूर्ण रूप से कृष्ण में ही लग गये थे। अतएव ऐसे अपार सौन्दर्य का वर्णन भला कौन कर सकता है ? अपने शान्त रूपों अर्थात् सज्जनों को जब अपने ही अशान्त घोर रूप अर्थात् दुष्टगण सताने लगे,तब जन्मरहित होकर भी चराचर के स्वामी परमेश्वर सब लोकों पर अनुग्रह करके अपने पूर्ण अंश से शरीर धारण कर वैसे ही पृथ्वी पर प्रकट हुए, जैसे महातत्त्वरूप से नित्यसिद्ध अग्नि लकड़ियों में, उनके रगड़े जाने पर, प्रकट होता है। जन्म से रहित होकर भी भगवान् का वसुदेव के घर में जन्म लेना, अनन्त पराक्रमवाले होकर भी कृष्णचन्द्र का कंस के भय से डरे हुए की भाँति व्रज-मण्डल में छिपकर रहना और कालयवन आदि के भय से मथुरापुरी को छोड़कर भाग जाना, ये सब कृष्णचन्द्र की लीलाएँ स्मरण करके आज भी मेरी भी बुद्धि चकरा जाती है ! कृष्णचन्द्र ने कंस को मारने के उपरान्त अपने पिता और माता के पास जाकर उन्हें बंधन से मुक्त करके उनके चरण छुए और कहा कि "हे पिताजी, हे माताजी, हम कंस के भय से व्रज में अब तक रहे और आप लोगों की कुछ भी सेवा नहीं कर सके। हमारे इस अपराध को आप क्षमा करें और हम पर प्रसन्न हों।" भगवान् के इन वचनों को स्मरण करके भी मेरा हृदय व्यथित होता है। भगवान् की यह कैसी विचित्र लीला थी ! किन्तु भगवान् के ऐसे चरित्रों को देख-सुनकर भी मैं अपने मन में यह शंका नहीं ला सकता कि वह ईश्वर नहीं, एक साधारण मनुष्य ही थे। अपनी भौंहों के संकेतमात्र 'काल' के द्वारा जिन्होंने पृथ्वी का भार उतारा, उनके चरणकमलों की सेवा करनेवाला ऐसा कौन होगा, जो उनकी ईश्वरता के विषय में संदेह करे या उन्हें भूल जाय ? हे विदुर, तुमने तो अपनी आँखों से देखा है कि युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में भगवान् कृष्णचन्द्र से शत्रुता रखने और उन्हें कुवाक्य कहनेवाले शिशुपाल को वह मुक्ति प्राप्त हुई, जिसे पाने के लिए योगी लोग योगाभ्यास आदि अनेकों यत्न या उपाय करते हैं। ऐसे कृपालु कृष्णचन्द्र के वियोग को कौन सह सकता है ? केवल शिशुपाल ही नहीं, महाभारतयुद्ध में जो वीरपुरुष कृष्ण के नयनाभिराम मुखारविन्द को देखते हुए अर्जुन के अस्त्रप्रहार से पवित्र होकर मारे गये, वे भी मरकर हरि के परमधाम को गये—उनकी भी मुक्ति हो गई ! वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं त्रिलोकी के ईश्वर अथवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश के भी स्वामी हैं। अतएव उनके समान या उनसे बड़ा और कोई नहीं है। सब बड़े बड़े लोकपाल उन्हें भेंट चढ़ाते हैं, उनकी पूजा करते और अपने किरीटमुकुटों से उन हरि के चरण रखने की चौकी को सुशोभित करते हैं ! उन्हीं जगदीश्वर को किंकरों के काम करते देखकर सचमुच हम उनके किंकरों को खेद होता था। राजसिंहासन पर बैठे हुए उग्रसेन से उनके पास खड़े होकर जब भगवान् कृष्णचन्द्र यह कहते थे कि "हे देव, सुनिए," तब हम सेवकों को बड़ी ग्लानि होती थी।

अहो ! पूतना राक्षसी ने अपने स्तनों में कालकूट विष लगाकर प्राण लेने के इरादे से भगवान् को दूध पिलाया था; परन्तु हमारे स्वामी ऐसे दयालु थे कि उन्होंने उस दुष्टा को भी माता के योग्य उत्तम गति दी ! उनसे बढ़कर और कौन दयासिन्धु है, जिसकी शरण में हम जायँ ? मेरी समझ में तो असुर भी भगवान् के भक्त हैं। कारण, वैर-भाव के कारण उनका मन सदा भगवान् ही में लगा रहता था। इसके सिवा युद्ध में मरते समय वे गरुड़ की पीठ पर बैठे और हाथ में सुदर्शनचक्र लेकर अपनी ओर आते हुए त्रिलोकपति हरि के दर्शन पाते थे। अन्त समय भगवान् के दर्शन होना बड़े सौभाग्य और पुण्य का फल

है। [ यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकारान्तर से बालि के मुख से मरते समय कहलाई है—"कोटि-कोटि मुनि जतन कराही। अन्त राम कहि आवत नाहीं।" ]

ब्रह्माजी की प्रार्थना से, पृथ्वी का कल्याण करने के लिए, कंस के कारागार में पड़े हुए वसुदेव-देवकी के यहाँ कृष्ण भगवान ने जन्म लिया। वहाँ से उनके पिता वसुदेवजी ने कंस के भय से उन्हें व्रज में अपने मित्र नंद के घर पहुँचा दिया। वहाँ बलदाऊ के साथ भगवान कृष्णचन्द्र अपने तेज को गुप्त रक्खे हुए ग्यारह वर्ष रहे। बलदेवजी और ग्वालबालों के साथ भगवान् ने वन में बछड़ों को चराया और पक्षीगण जिन पर बैठकर बोला करते थे, ऐसे वृक्षों से सुशोभित यमुनातीर के कुंजों में क्रीडा की। मुग्ध बालसिंह की-सी दृष्टि-वाले कृष्णचन्द्र ने रोते और हँसते हुए व्रज में अनेक बाललीलाएँ कीं, और उन्हें देखकर व्रजवासी धन्य हुए।

और बड़े होने पर उन्होंने ही श्वेतवर्णशोभित साँड़ों सहित गउएँ चराईं, और गोपों के साथ बाँसुरी बजाते हुए वृन्दावन में क्रीडा की। इस प्रकार व्रज में रहते समय भगवान् को मारने के लिए कंस ने अनेक कामरूपी मायावी असुरों को भेजा। परन्तु बच्चा जैसे खिलौनों को पटककर तोड़-फोड़ डालता है, वैसे ही हरि ने खेलते ही खेलते उन असुरों को ही यमलोक भेज दिया। कालीदह में यमुना के ज़हरीले जल को धोखे से पीकर जब गउएँ और ग्वालबाल मर गये, तब भगवान् ने अपने प्रभाव से उन सबको पल भर में जिला दिया। साथ ही दुष्ट कालिया नाग को, जिसने यमुना के जल को अपने विष से दूषित कर रक्खा था, परास्त करके वहाँ से निकाल दिया और गो-गोपबालकों को शुद्ध यमुनाजल पिलाया। फिर जब नन्दराज ने बहुत-सा धन खर्च करके इन्द्र की पूजा करने का आयोजन किया, तब भगवान् ने इन्द्र का अभिमान मिटाने और उस धन का सद्व्यय कराने के लिए इन्द्रयाग बंद कराकर उसी सामग्री से गोवर्द्धन और गउओं की पूजा कराई। इस प्रकार अपनी पूजा बंद हो जाने पर अपने अनादर से अत्यन्त क्रोध करके इन्द्र ने व्रज का विनाश कर डालने के लिए उद्यत होकर लगातार कई दिन तक मूसलधार पानी बर-साया, तब अपनी शरण में आए हुए अनुगत व्रजवासियों की रक्षा करने को श्रीकृष्णचन्द्र ने छतरी के समान अनायास बाएँ हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया। उसी के नीचे सारे व्रज की रक्षा करके भगवान् ने इन्द्र का दर्प चूर्ण कर दिया। इसके उपरान्त शरद ऋतु में चंद्रमा की उज्ज्वल किरणों से अनुरंजित चाँदनी रात में रास रचकर भगवान ने व्रजबालाओं की मण्डली में सुन्दर गान गाते हुए रमण किया।

# तीसरा अध्याय

## कंस-वध और कारागार से देवकी-वसुदेव को छुड़ाने की कथा

उद्धवजी कहते हैं— हे विदुर, इसके बाद अपनी माता और पिता को बन्दीगृह के कष्टों से छुड़ाने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भाई बलभद्र के साथ मथुरापुरी पहुँचे और कंस की रंगभूमि में उपस्थित हुए। वहाँ कंस को सबसे ऊँचे बने हुए राजमंच से नीचे गिराकर मार डाला और माता-पिता को सुखी करने के लिए मुख्य शत्रु कंस के मृत शरीर को क्रोध से पृथ्वी पर ज़ोर से घसीटा। फिर सांदीपिनि गुरु से एक ही बार सुनकर भगवान् कृष्णचन्द्र ने सब सांगोपांग वेद-शास्त्र पढ़े। गुरुदक्षिणा में गुरु को उनका मरा हुआ पुत्र ला दिया और गुरुपुत्र को लाते समय समुद्र के भीतर रहनेवाले पंचजन दैत्य के पेट को फाड़ डाला;

क्योंकि वही गुरुपुत्र को लील गया था। लक्ष्मी के समान रूपवती रुक्मिणी को व्याहने के लिए उनके भाई रुक्मी ने शिशुपाल को बुलाया। उसके साथ बराती और सहायक बनकर जरासंध आदि अनेक बली राजा भी आए। उन सबकी आँखों के आगे ही, गरुड़ जैसे देवतों से अमृत छीन लाए थे वैसे, श्रीकृष्णचन्द्र भी अपना भाग अर्थात् लक्ष्मी का अवतार रुक्मिणी को गान्धर्व रीति से हर लाए।

फिर स्वयंवर में सात बड़े दुष्ट साँड़ों को एक साथ एक ही रस्सी में नाथ कर नाग्नजिती नाम की राजकुमारी को भगवान् हर लाए। तब जो इस कठिन कार्य को नहीं कर पाए थे, वे मूर्ख राजा अपना अपमान मानकर भगवान् से लड़ने के लिए उद्यत हुए। भगवान् ने उन सबको मार भगाया और स्वयं उनके शरीर में एक घाव भी नहीं लगा।

फिर भगवान जब भौमासुर को मारकर उसके यहाँ मिले हुए देवमाता अदिति के कुण्डल लेकर इन्द्र को देने स्वर्गलोक गये, तब अपनी प्रिया सत्यभामा के कहने से, सांसारिक विषयी पुरुषों की भाँति प्रिया को प्रिय करने के लिए, वहाँ से कल्पवृक्ष ले आए। उस समय इन्द्राणी के कहने से कल्पवृक्ष न ले जाने देने के लिए देवगणसहित कुपित इन्द्र भगवान् के पीछे दौड़े। प्रभु ने उनको भी परास्त करके नीचा दिखाया। सचमुच इन्द्र स्त्री के हाथ की कठपुतली है। तभी तो उन्होंने कुछ विचार नहीं किया और तत्काल ही माता के कुण्डल देकर भगवान् ने जो उपकार किया था, उसे भुलाकर लड़ने को तैयार हो गए।

भौमासुर बड़ा बली था। उसका डीलडौल देखने से जान पड़ता था, मानों आकाश को छू लेगा। परन्तु भगवान् ने अनायास ही अपने सुदर्शनचक्र से उसका सिर काट डाला। वह असुर पृथ्वी का पुत्र था। माता पृथ्वी अपने पुत्र को मरा देखकर भगवान् की शरण में आई। पृथ्वी की प्रार्थना से भगवान् ने भौमासुर के पुत्र भगदत्त को उसके पिता का राज्य दे दिया। फिर उसकी प्रार्थना से भगवान् भौमासुर के भवन में पधारे। भौमासुर बलपूर्वक कई हज़ार परमसुन्दरी राजकुमारियों को हर लाया था। उसका इरादा एक लाख की संख्या पूरी होने पर उन्हें अपनी स्त्री बनाने का था। भगवान् दीनबन्धु कृष्ण के पधारने पर उन सोलह हज़ार एक सौ कुमारियों ने हर्ष, लज्जा और अनुराग से युक्त दृष्टिपात करके हरि को अपने पति के रूप में ग्रहण किया। तब कृष्णचन्द्र उन कुमारियों को द्वारका में ले आये और एक ही साथ अलग-अलग भवनों में अपनी माया से उतने ही, उनके अनुरूप, भिन्न-भिन्न रूप रखकर विधिपूर्वक सबका पाणिग्रहण किया। फिर अपनी माया का विस्तार करने की इच्छा से भगवान् ने प्रत्येक पत्नी के गर्भ से सर्वथा अपने तुल्य रूप-गुणवाली दस-दस सन्तानें उत्पन्न कीं।

फिर कालयवन, जरासन्ध, शाल्व, शंबरासुर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल, दन्तवक्र आदि दुष्टों का विनाश किया। इनमें से कुछ ने सेना के साथ भगवान् पर चढ़ाई की और उन्हें भगवान् ने स्वयं अपने हाथ से मारा, और कुछ को मुचुकुंद, भीम, प्रद्युम्न, बलराम आदि दूसरे अपने जनों के हाथ से मरवाया, और पूर्वोक्त स्वजनों को यश दिया। वास्तव में मुचुकुंद आदि ने कालयवन आदि का जो संहार किया सो भगवान् के ही तेज या प्रभाव से।

इसके उपरान्त तुम्हारे भाई धृतराष्ट्र और पाण्डु के बेटे कौरवों और पांडवों में परस्पर विरोध उठ खड़ा हुआ। दोनों ओर से लड़ने के लिए बड़े-बड़े सब राजा अपनी भारी सेनाओं के साथ आकर एकत्र हुए। उनकी सेना के भार से युद्धस्थल कुरुक्षेत्र की पृथ्वी काँप उठी। कर्ण, दुःशासन, शकुनि की बुरी सलाह में पड़ने से दुर्योधन की आयु और राजलक्ष्मी नष्ट हो गई। भीमसेन ने गदायुद्ध में उसकी जाँघ तोड़ डाली और वह अपने सचिवों के साथ मरकर रणभूमि में सो गया। इतना भार कम होने पर भी अभी पृथ्वी हलकी नहीं हुई थी, इसीलिए दुर्योधन और उसके साथियों के मारे जाने पर भी भगवान् को पूर्ण सन्तोष

नहीं हुआ। भगवान् ने अपने मन में कहा कि यद्यपि द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, अर्जुन और भीमसेन के हाथों ये अठारह अक्षौहिणी मारी गईं, तथापि इससे पृथ्वी का भारी भार अभी कितना क्षय को प्राप्त हुआ है ? अभी मेरे अंश प्रद्युम्न आदि सहित यादवों की उच्छृङ्खल शक्ति बनी हुई है। तात्पर्य यह कि अभी तो मैं हूँ और यादवों को उच्छृङ्खल नहीं होने देता; किन्तु मेरे परमधामगमन के बाद उन्हें कौन सँभालेगा ? इसलिए अपने आगे ही यादवकुल का भी विनाश कराकर पृथ्वी का भार पूर्णरूप से मिटा देना बाक़ी है। यादवों का विनाश तभी हो सकता है, जब ये मदिरा पीकर उसके नशे में लाल-लाल आँखें करके आपस ही में लड़-भिड़कर कट मरें। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि इन्हें मारने की शक्ति और किसी में नहीं है। यद्यपि इन यादवों में आपस में बड़ा मेल है, तथापि जब मैं इनका विनाश कराने को उद्यत हूँ, तब ये अवश्य ही आपस में लड़कर नष्ट हो जायँगे, बच नहीं सकते।

इस प्रकार अपने मन में सोचकर भगवान् ने युधिष्ठिर को उनके राजसिंहासन पर बिठाया और अपने चरित्र से सज्जनों को शिक्षा देते हुए अपने सुहृद यादवों को सब प्रकार से आनन्द देने लगे। कुरुवंश का अङ्कुर अर्थात् विनाश से बचकर आगे कुरुवंश को चलानेवाला बालक अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में था। अश्वत्थामा ने उसे भी मारकर कुरुवंश को समाप्त कर देने के विचार से ब्रह्मास्त्र छोड़ा। परन्तु भगवान कृष्णचन्द्र ने अपने तेज से उसको बचा लिया, नष्ट नहीं होने दिया।

फिर भगवान् ने राजा युधिष्ठिर से बड़ी धूमधाम के साथ तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। युधिष्ठिर ने भी कृष्णचन्द्र के अनुगत रहकर अपने प्रतापी भाइयों के साथ पृथ्वी का पालन किया। विश्व के आत्मा भगवान कृष्णचन्द्र भी लोक और वेद के अनुकूल आचरण करते हुए द्वारकापुरी में रहकर विषय-भोग करते रहे। किन्तु सांख्य ( प्रकृति-पुरुष-विवेचन ) योग के अनुसार उस विषय-भोग में कभी आसक्त नहीं हुए।

उन्होंने स्निग्ध मुसकान के साथ देखकर, अमृत-सी मधुरवाणी सुनाकर, अपने शुद्ध-चरित्र और श्रीसम्पन्न शरीर की शोभा से मनुष्य, देवता और यादवों को रिझा रक्खा था। वह निर्लिप्त भाव से रात्रियों में पत्नियों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए उनसे रमण करते और उन्हें आनन्द देते थे। इस प्रकार बहुत वर्षों तक भोग-विलास करते-करते भगवान् कृष्णचन्द्र को गृहस्थी और विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह भी लोक-शिक्षा के लिए था। जब स्वाधीन भगवान् को भी काम-भोग में वैराग्य हो गया, तब उन मनुष्यों के विषय में क्या कहना है, जो स्वयं दैव अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के अधीन हैं और जिन्हें काम-भोग की सामग्री प्राप्त होना भी दैव के अधीन है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को योगेश्वर कृष्णचन्द्र को अपना आदर्श बनाकर यथासमय काम-भोगों से विरक्त हो जाना और अपना परलोक बनाना चाहिए।

एक समय द्वारकापुरी में कुछ ऋषि-मुनि आकर ठहरे थे। यादवों के कुछ बालकों को उनसे हँसी करने की सूझी। उन बालकों ने जाकर मुनियों को कुपित कर दिया। भगवान् की इच्छा को जाननेवाले उन मुनियों ने यदुवंश के विनाश का शाप दे दिया। इसके कई महीने बाद वृष्णि, भोज और अन्धक आदि घरानों के सब यादव सूर्यग्रहण के पर्व में रथों पर बैठकर प्रसन्नता के साथ प्रभास-तीर्थ को गये। होनी ने उनको मोहित कर रक्खा था। वहाँ उन्होंने स्नान किया, दान दिये, देवतों और पितरों का तर्पण किया, ब्राह्मणों को दुधार और गुणवती गउएँ दीं। यादवों ने उस सूर्यग्रहण के अवसर पर सोना, चाँदी, कपड़े, पलंग, अजिन, कम्बल, सवारियाँ, रथ, हाथी, कन्याएँ, जीविका के लिए यथेष्ट पृथ्वी और तरह-तरह के रसीले बढ़िया भोजन भगवान् को अर्पण करके ब्राह्मणों को दिये। उसके बाद गउओं और ब्राह्मणों की सेवा और रक्षा में प्राण भी अर्पण कर देनेवाले उन शूरवीर यादवों ने चरणों पर सिर रखकर ब्राह्मणों को प्रणाम किया।

# चौथा अध्याय

## मैत्रेयजी के पास विदुरजी का जाना

उद्धवजी कहते हैं—फिर ब्राह्मणों की आज्ञा से यादवों ने भोजन किया। साथ ही वारुणी नाम की बहुत तीव्र मदिरा पी। उसके नशे में वे इतने मतवाले हो गये कि उन्हें अपने या पराये का कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। तब वे परस्पर एक दूसरे को मर्म में चोट पहुँचानेवाले कटुवचन कहने लगे। मदिरा के दोष से यादवों की मति भ्रष्ट हो गई। सूर्यास्त के समय वे आपस ही मे मार-काट करने लगे। जैसे परस्पर के घर्षण से बाँसों से आग निकलती है और वे उसी मे जलकर भस्म हो जाते है, वैसे ही वे लड़कर मर गये। अपनी माया के प्रभाव को देखकर कृष्ण भगवान् सरस्वती-तट पर गये और आचमन करके एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गये। शरणागतों की पीड़ा हरनेवाले भगवान् ने जब अपने कुल का संहार करने की इच्छा की थी, तब पहले ही द्वारकापुरी में मुझसे कहा था कि तुम बदरिकाश्रम को चले जाओ। तथापि भगवान् के अभिप्राय को जानकर अर्थात् यह जानकर कि भगवान् अपने कुल का सहार करके परमधाम पधारना चाहते है, मैं बदरिकाश्रम नहीं गया, उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्र ही को गया। कारण, मै भगवान् के श्रीचरणों का वियोग सहने में असमर्थ था।

वहाँ अपने प्यारे स्वामी को मैं खोजने लगा। सरस्वती के किनारे उसी वृक्ष के पास जाकर मैने देखा, वहाँ पर श्री ( शोभा अथवा लक्ष्मी ) के निवासस्थल भगवान् कृष्णचन्द्र विराजमान हैं। विशुद्ध सत्वमय श्रीभगवान् के श्याम शरीर पर रेशमी पीताम्बर शोभायमान था। अरुण लोचनों मे प्रशान्त भाव झलक रहा था। चतुर्भुज रूप से भगवान् बाईं जाँघ पर दाहिना चरणकमल रक्खे, पद्मासन से कोमल पीपल के पेड़ का सहारा लिये बैठे थे। यद्यपि उन्होंने विषय-सुख छोड़कर वैराग्य ग्रहण कर लिया था, तथापि आनन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण हो रहे थे।

इसी समय उस जगह अपनी इच्छा के अनुसार घूमते-फिरते पराशर के शिष्य और व्यासजी के मित्र सिद्धश्रेष्ठ मैत्रेय ऋषि भी आकर उपस्थित हो गये। आनन्द, अनुराग और भक्तिभाव से सिर झुकाकर मैने प्रभु को प्रणाम किया। तब प्रेमपूर्ण मुसकान और मनोहर कृपादृष्टि से मेरे मार्गश्रम और मानसिक खेद को हरते हुए भगवान् ने मैत्रेय मुनि के सामने ही मुझसे यों कहा—हे पूर्वजन्म के वसु उद्धवजी, मैं सब प्राणियों के हृदयों में आत्मारूप से स्थित हूँ। अतएव अन्तर्यामी होने के कारण तुम्हारी इच्छा को जानता हूँ। मैं तुमको वह ज्ञान देता हूँ, जो मेरे मिलने का एकमात्र उपाय है और मेरे भक्तों के सिवा और कोई जिसका अधिकारी नहीं होता। अर्थात् भक्तों के सिवा और लोगों को वह ज्ञान सर्वथा दुर्लभ ही है। तुमने पहले जन्म में प्रजापतियों और वसुओं के संमिलित यज्ञ में मुझे पाने के लिए मेरी आराधना की थी। यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है, अब तुम्हारा जन्म नहीं होगा। इस जन्म में मेरी कृपा से तुम मुक्त हो जाओगे। यह तुम्हारा बड़ा भारी सौभाग्य है कि मनुष्यलोक छोड़कर जब मैं अपने धाम वैकुण्ठ को जा रहा था, उस समय तुमने अनन्यभक्ति के साथ आकर मेरा दर्शन किया! यह बहत ही अच्छा हुआ। पहले सृष्टि के आदिकाल में मेरे नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्माजी जब उस कमल पर बैठे हुए सृष्टि उत्पन्न करने की चिन्ता में थे, उस समय मैंने अपनी महिमा को प्रकट करनेवाला जो ज्ञान ब्रह्मा को दिया था और विद्वान् लोग जिसे 'भागवत' कहते हैं, वही ज्ञान मैं तुमको इस समय देता हूँ।

हे विदुरजी, मैं सब समय हर घड़ी उन परमपुरुष कृष्णचन्द्र का कृपापात्र था। उस समय इस

भाँति आदर के साथ भगवान् ने जब यों कहा, तब मुझे अपार आनन्द हुआ। स्नेहातिरेक से मेरे शरीर के रोएँ खड़े हो गये, आँखों से आँसू बहने लगे। मैं हाथ जोड़कर टूटे-फूटे अक्षरों में गद्गदवाणी से इस प्रकार कहने लगा। मैंने कहा—हे ईश्वर, जो भक्त आपके चरणकमलों का भजन करते हैं, उन्हे धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष, कुछ भी दुलभ नहीं। तो भी मैं इन चारों पदार्थों मे से कुछ भी नहीं चाहता। मुझे तो केवल आपके चरणकमलों के दर्शन और सेवन की उत्कण्ठा या अभिलाषा है। प्रभो, आपने वास्तव में निःस्पृह अथवा निष्क्रिय होकर भी कर्म किये, जन्महीन होकर भी जन्म लिया, स्वयं कालरूप होकर भी शत्रु के भय से भागकर दुर्ग (क़िले) का आश्रय लिया और स्वयं आत्माराम होकर भी बहुत-सी रमणियों के साथ क्रीड़ा की, गृहस्थाश्रम के धर्म का आचरण किया, यह देखकर बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि चकरा जाती है, उन्हें आपके ईश्वरत्व में संशय होने लगता है। अथवा जब आप स्वयं अकुंठित अखंड आत्मज्ञान से परिपूर्ण और सदा सर्वथा सावधान होकर भी परामर्श के अवसरों पर मुझे बुलाकर जैसे कोई भोलाभाला अजान हो वैसे मुझसे पूछते थे कि "कहो उद्धव, इसमें क्या करना चाहिए? तुम्हारी क्या सलाह है?" तब मेरा भी मन मोह को प्राप्त होने लगता था। आपकी माया और लीला ऐसी ही अद्भुत है। हे स्वामी, आपने अपने आत्मतत्त्व को, उसके गूढ रहस्य को प्रकट करनेवाला जो श्रेष्ठ ज्ञान ब्रह्माजी को बतलाया था, वह यदि मेरे जानने योग्य हो, मुझे यदि आप उसका अधिकारी समझते हों, तो अवश्य बतलाइए। उसे पाकर मै सहज में ही संसार-सागर के पार हो जाऊँगा।

हे विदुरजी, इस प्रकार मेरे हृदय का अभिप्राय प्रकट करने पर परब्रह्म कमलनयन कृष्णचन्द्र ने अपना परमतत्त्व वह ज्ञान मुझसे कहा। इस तरह परमगुरु हरि के चरणों की आराधना करके उनसे परमार्थरूप आत्मा के तत्त्व का ज्ञान पाकर मैंने उनकी प्रदक्षिणा की और उन्हें प्रणाम किया। भगवान् के वियोग से व्यथित मैं वहाँ से चलकर यहाँ आया हूँ। मुझे हरि के दर्शन से आनन्द और उनके वियोग से व्यथा हो रही है। अब मैं अपने प्रभु के प्रिय बदरिकाश्रम को जाऊँगा। वहाँ भगवान् नर-नारायण ऋषि लोकों पर अनुग्रह करने के लिए कल्प भर कठोर तपस्या करते हैं। परन्तु उनके उस तप से किसी को कोई असुविधा या कष्ट नही होता।

श्री शुकदेवजी कहते है—उद्धवजी के मुख से आत्मीयों के विनाश का दुस्सह समाचार सुनकर विदुरजी को शोक अवश्य हुआ, किंतु उसे उन्होंने ज्ञान अर्थात् विवेक से बढ़ने नही दिया। इसके उपरान्त कृष्ण भगवान् के परम भक्त और आत्मीय उद्धवजी विदुर से विदा होकर बदरिकाश्रम को जाने लगे। तब प्रेमपूर्वक विदुर ने उनसे कहा—उद्धवजी, योगेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र ने वह जो आत्मरहस्य को प्रकट करनेवाला श्रेष्ठ ज्ञान आपको बतलाया है, उसे मैं भी जानना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे उस ज्ञान का उपदेश करते जाइए। भगवान् के भक्त लोग अपने सेवकों का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ही विचरते हैं। कृतार्थ भगवद्भक्तों के लिए इसके सिवा अपने लिए करने को और कुछ नहीं रह जाता।

उद्धवजी ने कहा—हे विदुरजी, आप वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के लिए महात्मा मैत्रेयजी से मिलिए; क्योंकि मनुष्यलोक छोड़कर परमधाम को पधारते समय साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र ही मैत्रेयजी से आपको उस ज्ञान का उपदेश करने के लिए कह गये हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महाराज, इस प्रकार विदुर के साथ विश्वमूर्त्ति भगवान् के अमृतमय गुणों के संबंध में वार्तालाप करने से उद्धव के मन का सारा सन्ताप और खेद मिट गया। उस रात को वह विदुर के साथ वही यमुनातट पर रहे। एक क्षण के समान वह रात भगवान् की चर्चा करने में उन्होंने बिता दी। प्रातःकाल उद्धवजी उठकर वहाँ से बदरिकाश्रम को चल दिए।

यह सुनकर राजा परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से पूछा—भगवन्, ब्राह्मणों ने तो सम्पूर्ण यादववंश को शाप दिया था, जिसके कारण वृष्णि, भोज आदि वंशों के सब रथी और महारथी सेनापति वीर यादव आपस में लड़भिड़कर मर गये। यहाँ तक कि उस शाप को सत्य करने के लिए त्रिभुवन के स्वामी साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र ने भी अपने माया-विग्रह को त्यागकर परमधाम के लिए प्रस्थान किया। तब उसी यादवकुल में उत्पन्न उद्धवजी कैसे बच रहे ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा—जिनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती, उन कालरूपी भगवान् ने ब्रह्मशाप के मिस से अपने कुल का विनाश करके परमधाम जाते समय यह सोचा कि मैं तो जा रहा हूं। यह ज्ञान जो मेरे पास है, वह भी मेरे साथ ही चला जायगा। इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी इस लोक में उद्धव के सिवा और कोई नहीं है। कारण, वह आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है। मेरी इच्छा यही है कि यह ज्ञान मेरे बाद भी इस लोक में बना रहे और इससे मेरे भक्तों का उपकार हो। उद्धव मुझसे कुछ भी कम नहीं हैं। जो विशेषता मुझमें है, वह उद्धव में भी है। जैसे मैं निर्लिप्त होकर विषय-भोग करता रहा, वैसे ही उद्धव के चित्त को भी ये संसार के विषय चलायमान नहीं कर सकते। इसलिए यह उद्धव इस मृत्युलोक में रहकर लोगों को इस ज्ञान का उपदेश करें, यही ठीक होगा। जगदीश्वर, त्रिलोकगुरु और वेद के विधाता भगवान् कृष्णचन्द्र ने ऐसा विचार करके उद्धव को अपने ज्ञान का उपदेश करके इसी लोक में रहने की आज्ञा दी। तात्पर्य यह कि भगवान् की इच्छा से ही उस ब्रह्मशाप से उद्धवजी बच गये और बदरिकाश्रम में जाकर समाधि लगाकर हरि की आराधना करने लगे।

उद्धव के मुख से क्रीड़ा अर्थात् लीला करने के लिए नरशरीरधारी परमात्मा कृष्णचन्द्र के प्रशंसनीय चरित्र सुनकर तथा धीरजनों के धैर्य को बढ़ानेवाला और अधीरचित्त पशुतुल्य व्यक्तियों के लिए अति कष्टकर कृष्ण के परमधामगमन का वृत्तान्त सुनकर एवं यह जानकर कि भगवान् ने अपने धाम को जाते समय अपना (अर्थात् विदुर का) भी स्मरण किया था, विदुरजी उद्धव के चले जाने पर प्रेम से विह्वल होकर श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान करके रोने लगे। इसके उपरान्त भरतवंश में श्रेष्ठ और सिद्ध विदुरजी यमुना-तट से चलकर कुछ दिनों में गंगाजी के किनारे पहुँचे। वहाँ उन्होंने मैत्रेय मुनि को देखा।

---

# पाँचवाँ अध्याय

## मैत्रेय ऋषि का भगवान् की लीलाएँ वर्णन करना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् की भक्ति से शुद्धहृदय विदुरजी हरिद्वार-तीर्थ में बैठे हुए मैत्रेयजी से मिले। मैत्रेयजी के ज्ञान की थाह नहीं थी। मैत्रेय के सुशीलता, सरलता और करुणा आदि गुणों से विदुरजी को बड़ा सन्तोष हुआ। तब विदुरजी ने विनयपूर्वक मैत्रेयजी से यह प्रश्न किया।

विदुर ने कहा—हे मुनिवर, इस संसार में मैं देखता हूँ कि लोग सुख पाने के लिए ही सब काम करते हैं। परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि उनसे न सुख मिलता है और न दुःख का नाश होता है। बल्कि उलटे बारम्बार दुःख ही प्राप्त होता है! अतएव कृपाकर आप यह बतलाइए कि इस संसार में हम लोगों को क्या करना चाहिए ? आप सर्वज्ञ हैं, इसीलिए मैं आपसे यह प्रश्न कर रहा हूँ। हे प्रभो, पूर्वजन्म के

कर्मफल के कारण जो लोग भगवान् से विमुख हैं और अधर्मी होने के कारण दारुण दुःख भोगते हैं, उन पर अनुग्रह करने के लिए ही आपके समान परोपकारी मंगलमूल भगवद्भक्त इस जगत् में विचरते रहते हैं। हे परमपरोपकारी, जिस तरह आराधना करने से भगवान् हरि हमारे भक्ति से शुद्ध हृदय में स्थित होकर हमें अनादि और वेदोक्त ज्ञान देते हैं, वही कल्याणदायक मार्ग बतलाइए। हरि भगवान् त्रिगुणात्मिका माया के नियामक हैं। वह माया के द्वारा पुरुषरूप से अवतार लेकर जिन कर्मों को करते हैं, वे हमसे कहिए। उन ईश्वर ने क्रिया से रहित होकर भी कल्प के आदि में जिस प्रकार इस जगत् की सृष्टि की, सो हमें सुनाइए। वह इस अपनी सृष्टि को सुस्थिर या स्थापित करके जैसे इसका पालन करते हैं, सो भी कहिए। प्रलय के समय जिस प्रकार इस जगत् को अपने हृदयाकाश में लीन करके निश्चेष्ट होकर योग-माया द्वारा शयन करते है, सो भी हम सुनना चाहते हैं। वह योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् एकमात्र होकर भी जैसे इस संसार में प्रवेश करके ब्रह्मा आदि अनेक रूपों से प्रकट हुए, सो हमसे कहिए। गो, ब्राह्मण और देवगण के कल्याण के लिए अनेक अवतार लेकर क्रीड़ा करनेवाले जगदीश्वर के चरित्र हमसे कहिए। यशस्वियों में सर्वश्रेष्ठ कृष्ण भगवान् के अमृततुल्य चरित्र बारम्बार सुनकर हमारा जी नहीं भरता। ब्रह्मा, इन्द्र आदि लोकपालों के भी स्वामी भगवान् ने तत्त्व-भेद से जिस प्रकार लोक, अलोक ( लोकालोक पर्वत के बाहर के लोक, जहाँ सूर्य-चन्द्र का प्रकाश नहीं जाता ) और लोकपाल बनाये, सो भी कहिए। इन्हीं सब लोकों में अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणी उत्पन्न होकर रहते हैं। इस संसार के विधाता, किन्तु स्वयं स्वयंसिद्ध नारायण ने जिस प्रकार जीवों के भिन्न-भिन्न स्वभाव, कर्म, रूप और नाम आदि की कल्पना की है, वह भी कहिए। मैंने भगवान् व्यासदेव के मुख से अनेक बार चारों वर्णों के धर्म सुने हैं। किन्तु वह कथा तुच्छ सुख को देनेवाली है, इस कारण उधर मेरी रुचि नहीं है। अब तो मुझे केवल कृष्णकथा का अमृत पीने की इच्छा है। इससे मेरा जी ही नहीं भरता। भगवन्, सज्जनों की मण्डली में नारद आदि मुनिवर हरि के गुणों का कीर्त्तन करते है और सुननेवाले लोग उनकी परम प्रशंसा करते हैं। ऐसी भगवान् के गुणों की गाथा सुनकर भला किसका जी भर जायगा ? वे हरि के गुण लोगों के कानों में प्रवेश करके जन्म-मरण के जंजाल में फँसानेवाली विषय-भोग की वासना को मिटा देते हैं अर्थात् हरिगुण सुनते-सुनते मनुष्य का चित्त संसार से विरक्त हो जाता है। आपके मित्र महामुनि व्यासजी ने भगवान् के गुणों का वर्णन करने की अभिलाषा से महाभारत-ग्रंथ की रचना की है। यह सच है कि महाभारत में सांसारिक विषयों का विशद वर्णन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे सुनने से विषय के वशीभूत लोगों की बुद्धि धीरे-धीरे भगवान् की कथाओं की ओर आकृष्ट होती है। फिर वह कथा अथवा भक्ति क्रमशः बढ़कर ऐसा कर देती है कि मनुष्य को संसार के और विषयों से वैराग्य हो जाता है। हरि के चरणों की भक्ति से आनन्द पानेवाले मनुष्य के सारे दुःख शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जो लोग जान-बूझकर हरि की कथा से विमुख हैं, उनके लिए शोचनीय लोग भी शोक करते हैं। मैं भी उन लोगों के लिए खेद करता हूँ। उनके मन, वाणी और काया के सभी व्यापार वृथा होते हैं और काल उनकी आयु को नित्य क्षीण करता जाता है। हे मैत्रेयजी, आप दीनबंधु हैं। इसलिए भौंरा जैसे फूलों का सारांश निकाल लेता है, वैसे ही हमारे कल्याण के लिए हरि की कथाओं में सारांशरूप उत्कृष्ट कथाएँ चुनकर आप हमसे कहिए। हरि की कीर्त्ति तीर्थों से बढ़कर पतितपावनी है। उन भगवान् ने अनेक बार संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश के लिए माया-शक्ति के द्वारा अनेक अवतार लिये हैं। किन्तु भगवान् ने कृष्णावतार में जो अलौकिक चरित्र किये हैं, उन्हें ही आप विशेष रूप से विस्तार के साथ मेरे आगे कहिए।

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, विदुर ने जब इस प्रकार प्रार्थना की, तब मैत्रेय मुनि ने पहले उनकी बड़ी बड़ाई की, उसके बाद लोक-कल्याण के लिए यों प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया।

मैत्रेय ने कहा—विदुरजी, आप सच्चे साधु हैं। साधु का अर्थ ही परोपकारी होता है। आप धन्य हैं क्योंकि आपने लोकोपकार के लिए ये प्रश्न मुझसे किये हैं। आपने ये प्रश्न बहुत अच्छे किये हैं। इनसे आपकी कीर्ति संसार में फैलेगी। आपके चित्त में भगवान् सदा बसते हैं। आप भगवान् वेदव्यास की सन्तान हैं, इस कारण यह कुछ आश्चर्य नहीं कि आपने अनन्य भक्ति के साथ हरि भगवान् का आश्रय लिया है। आप साक्षात् यमराज हैं, जो इस जगत् के लोगों को उनके पाप पुण्य का फल देते हैं। आपको माण्डव्य ऋषि ने शाप दिया था, इसी कारण आपको व्यासजी के भाई विचित्रवीर्य की स्त्री दासी के गर्भ से उत्पन्न होना पड़ा। आप भगवान् के प्यारे भक्त हैं, इसीलिए भगवान् के भक्त भी आपको अपना प्रिय समझते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमधाम जाते समय आपको भागवत-ज्ञान का उपदेश करने के लिए मुझको आज्ञा दे गये हैं। अब मैं आपसे भगवान् की वे ललित लीलाएँ कहता हूँ, जिन्हें योगमाया के द्वारा भगवान् करते हैं और जिनका प्रयोजन इस संसार की उत्पत्ति, पालन और नाश करना ही होता है। वह भगवान् इस सृष्टि के आदि में केवल एकमात्र अर्थात् अकेले वही थे। वही सब जीवात्माओं के आत्मा और स्वामी थे, द्रष्टा या दृश्य अर्थात् देखनेवाला या देखने की वस्तु और कुछ नहीं था। मतलब यह कि कारणरूप से ईश्वर में सृष्टि की सत्ता रहने पर भी पृथक् प्रतीति नहीं थी। कारण, उस समय एक रूप रहने की ही उसकी इच्छा थी। [अब माया के उद्भव का प्रकार कहते हैं।] उस समय जब एक ब्रह्म ही था, तब उस द्रष्टा ने दृश्य को न देखकर यह माना कि मैं भी नहीं हूँ; क्योंकि वास्तव में द्रष्टा के होने पर भी दृश्य के अभाव से द्रष्टा का अभाव स्वयंसिद्ध है। किन्तु उस समय ब्रह्म की अन्य माया आदि शक्तियाँ सोई हुई रहने पर भी उसकी चित्शक्ति या ज्ञान नहीं सोया हुआ था। इस कारण "मैं भी नहीं हूँ" ऐसा विचार नहीं हो सका। द्रष्टा परमेश्वर को वही चित्शक्ति अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का अनुसंधान करनेवाली शक्ति कार्य और कारण (अथवा दृश्य और अदृश्य) स्वरूप से सत् और असत् है। उसी का नाम माया है। उसी से सर्वव्यापक ईश्वर ने इस जगत् को उत्पन्न किया। वास्तव में उस माया को ग्रहण करने ही से परब्रह्म को एक से बहुत होने की इच्छा होती है। इस प्रकार काल-शक्ति के द्वारा माया के गुणों में क्षोभ (न्यूनाधिकता) उत्पन्न होने पर चित्शक्ति से युक्त परमात्मा ने अपने अंश और प्रकृति के अधिष्ठाता 'पुरुष' के द्वारा वीर्य अर्थात् चित्शक्ति का आभास धारण किया। फिर काल के द्वारा प्रेरित अव्यक्त माया से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। सत्त्वप्रधान होने के कारण विज्ञानस्वरूप और तम का नाश करने-



वाले महत्तत्त्व ने अपने में स्थित इस विश्व को वैसे ही प्रकाशित किया, जैसे बीज से अंकुररूप वृक्ष की व्यंजना होती है। इसके बाद इस विश्व की सृष्टि करने के लिए उस महत्तत्त्व ने गुण, चिदाभास और काल के अधीन और सबके स्वामी या संचालक भगवान् के दृष्टिगोचर होकर दूसरा रूप धारण किया। इस प्रकार महत्तत्त्व जब विकार को प्राप्त हुआ, तब उससे अहंतत्त्व या अहंकार की उत्पत्ति हुई। वह अहंकार कार्य, कारण और कर्त्ता है; पंचतत्त्व, इन्द्रियाँ और मन उसी के विकार हैं। अर्थात् माया के गुणों के अनुसार अहंकार के सात्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद हुए। सात्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति हुई। सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता भी इसी सात्विक अहंकार से प्रकट हुए, जो शब्द आदि विषयों को प्रकाशित करते हैं। राजस अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। तामस अहंकार से 'शब्द' की उत्पत्ति हुई। शब्द से आकाश प्रकट हुआ, जो आत्मा अर्थात् ब्रह्म का शरीर है। जैसा कि श्रुति में लिखा है—"आकाशशरीरं ब्रह्म"। अर्थात् ब्रह्म का शरीर आकाश है। फिर काल और माया के अंशयोग से ईश्वर ने आकाश को जब देखा, तो उस आकाश से उत्पन्न 'स्पर्श' के द्वारा वायु की उत्पत्ति हुई। बहुत बली वायु ने आकाश के साथ रूपान्तर को प्राप्त होकर 'रूप' को उत्पन्न किया। उससे ज्योति या तेज की उत्पत्ति हुई। वही ज्योति सब लोकों को दिखानेवाला नेत्र है। ईश्वर से देखे गये तेज ने वायु के साथ रूपान्तर को प्राप्त होकर काल और माया के द्वारा 'रस' को उत्पन्न किया। उससे जल की उत्पत्ति हुई। ईश्वर ने जब जल को देखा, तब काल और माया के द्वारा तेज में विकार हुआ और उससे गंधगुणवाली पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन आकाश आदि पाँचों तत्त्वों में क्रमशः जो पीछे हुआ है, उसमें अपने कारणरूप पहले तत्त्वों के भी गुण विद्यमान हैं। जैसे आकाश का गुण शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श दोनों गुण हैं। तेज में शब्द, स्पर्श, और रूप तीन गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण है। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पाँचों गुण हैं। इन महत्तत्त्व आदि कारणतत्त्वों के अधिष्ठाता अथवा अभिमानी सब देवता विष्णु ही की कला हैं। वे काल के चिह्न विकार, माया के चिह्न विक्षेप, और अंश के चिह्न चेतना धारण किये थे। सब समान और अलग-अलग थे, किसी का परस्पर संबंध न था। इसी कारण ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सके। परस्पर स्पर्धा रखनेवाले देवता आपस में न मिलने के कारण जब विश्वरचना-रूप अपने काम में असमर्थ ही रहे, तब वे हाथ जोड़कर विनय के साथ अपने स्वामी परमेश्वर की स्तुति करने लगे।

देवगण बोले—हे देव अर्थात् सब के प्रकाशक, आपके चरणकमल हम शरणागत जनों के ताप को शान्त करने के लिए छत्र के समान हैं। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। उन चरणों का आश्रय लेकर योगी लोग अनायास ही इस घोर संसार के दुःखों से छुटकारा पा जाते है। आप ही विधाता ( हमारे पिता ), आत्मा और ईश्वर हैं। इस संसार में ये सब जीव तीन प्रकार के तापों से सताए जाकर यथार्थ कल्याण या सुख नहीं पाते। इसीलिए हम आपके चरणों की छाया के आश्रित हैं। वह ज्ञान देनेवाली है और ज्ञान से ही कल्याण प्राप्त होता है। मन को संगहीन करके एकान्त में आपका ध्यान करनेवाले ऋषि लोग आपके ही मुखकमल में जिनका नीड़ ( घोसला ) है, उन वेदरूप पक्षियों का आश्रय लेकर या अनुगमन करके जिनको खोजते हैं, उन पतितपावनी श्रेष्ठ नदी गंगा को जन्म देनेवाले, तीर्थरूप आपके श्रीचरणों के हम शरणागत हैं। [ यहाँ पर इस उपमा का भाव यह है कि जैसे पक्षी अपने घोसले से निकलकर घूम-फिरकर फिर शाम को उसी में आ जाते हैं, वैसे ही वेद भी परमेश्वर के श्रीमुख से निकली हुई वाणी हैं और वे परब्रह्म ही में आकर ठहरते हैं अर्थात् उसी के तत्त्व का प्रतिपादन करते है। ]

संसार में लिप्त विषयी लोग भी श्रद्धा के साथ अच्छी तरह मन लगाकर आपकी कथा सुनते हैं तो

आपके प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और वे भक्ति से निर्मल हृदय में वैराग्ययुक्त ज्ञान के द्वारा आपके चरणों को स्थापित करके धीर हो जाते हैं अर्थात् चंचल मन को अपने वश में कर लेते हैं। आपके श्रीचरणों की ऐसी ही महिमा है। हम आपके उन्हीं चरणों का आश्रय लेते हैं।

हे ईश, आप विश्व की उत्पत्ति, पालन और संहार के लिए ही अवतार लेते हैं। आपके चरणों की शरण में आने अथवा उनका स्मरण करने से आपके जन निर्भय हो जाते हैं अर्थात् उन्हें संसार का भय नहीं रहता। हम आपके उन्हीं चरणकमलों की शरण में आए हैं। हे प्रभो, मूर्ख लोग स्त्री, पुत्र, परिवार, शरीर आदि असत् अर्थात् नाशवान् वस्तुओं को "मैं हूँ, मेरा है" ऐसा मानकर व्यर्थ का आग्रह करते हैं। वे ऐसे मूर्ख हैं कि अन्तर्यामीरूप से अपने ही शरीर में विद्यमान आपको नहीं पाते। हम आपके चरणों की शरण में आए हैं।

हे परमेश्वर, आप अन्तर्यामीरूप से सबके हृदय में निवास करते हैं, तथापि बहिर्मुख अर्थात् विषय-वासना के वशीभूत इन्द्रियाँ जिनके मन को दूर खींच ले गई है, वे अज्ञजन आपके चरणसेवक भक्तों का भी संग नहीं करते। तात्पर्य यह कि सत्संग के अभाव से हरिकथा न सुनने के कारण ऐसे लोगों के हृदय में स्थित होने पर भी आप उनसे दूर ही रहते हैं। हे देव, आपकी कथा अमृत के समान है। उस अमृत को पीकर भक्ति बढ़ती है। भक्ति से अन्तःकरण निर्मल होता है। जिन लोगों का अन्तःकरण आपकी भक्ति से शुद्ध हो गया है, वे लोग वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले ज्ञान के सहारे अनायास आपके परमधाम को पहुँच जाते हैं। कोई लोग मन को स्थिर करके उस उपाय के बल से प्रबल प्रकृति को जीतकर 'पुरुष' जो आप हैं, उनमें लीन होते अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् केवल ज्ञान-मार्ग से भी मुक्ति मिलती है। किन्तु उन्हें बहुत श्रम होता है और आपकी सेवा अर्थात् भक्तियोग से नहीं होना। मतलब यह कि ज्ञानयोग के मार्ग में श्रम से मुक्ति मिलती है; भक्तियोग अर्थात् सत्संग तथा हरि-कथा के श्रवण द्वारा अनायास ही मुक्ति मिल जाती है; किन्तु अहं-ममता जिन्हें व्यापी हुई है, उन्हें किसी तरह मुक्ति नहीं मिलती।

हे सब के आदि, हम आपके ही अंश हैं और आपने लोकों की सृष्टि करने के लिए अर्थात् ब्रह्माण्ड रचने की इच्छा से सत्व आदि स्वभावों ( प्रकृति के गुणों ) से हमें उत्पन्न किया है। परन्तु परस्पर विरुद्ध-स्वभाव होने के कारण हम अलग-अलग हैं और इसी कारण आपकी क्रीड़ा की सामग्री ब्रह्माण्ड रचकर आपको उपहार देने में असमर्थ हो रहे हैं। हे जन्मरहित ईश्वर, समय पर हम सब जैसे आपको सब भोग के पदार्थ पहुँचा सकें, जैसे हममें विषयों को भोग करने की शक्ति उत्पन्न हो, और जहाँ रहकर ये जीव निःसंशय या निर्विघ्नरूप से अपने और आपके भोग की वस्तुएँ लाकर आपको अर्पण करें और स्वयं भी भोग कर सकें, यह सब जानने और करने के लिए आप हमें अपना ज्ञान और शक्ति दीजिए ; क्योंकि उसके बिना हम कुछ नहीं कर सकेंगे। प्रभो, आपको अवश्य ही हमारी और कार्योपाधि जीवों की वृत्ति की कल्पना करनी चाहिए ; क्योंकि आप हम सबको उत्पन्न करनेवाले हैं। हम और हमारे सब कार्यों या कारणों के आदिकारण आप ही हैं। कारण, आप विकार से रहित, अधिष्ठाता और पुरातन हैं। देव, आप ही ने सत्व आदि गुणों और कर्मों ( जन्म आदि ) का कारण शक्तिरूपिणी माया में पहले सर्वज्ञ महत्तत्त्वरूप वीर्य की स्थापना की है। हे परमात्मा, महत्तत्त्व आदि हम सब जिस कार्य के लिए उत्पन्न हुए हैं, वह क्या है ? उसके लिए हमें क्या करना होगा ? अगर वह कार्यसृष्टि है, तो आप उसके लिए हमें अपना ज्ञान और शक्ति दीजिए। आपके ज्ञान और शक्ति से ही हम उस कार्य को कर सकेंगे, स्वतंत्रभाव से नहीं। इस कार्य के लिए आपका इतना ही अनुग्रह हम चाहते हैं।

# छठा अध्याय

## विराट् रूप की सृष्टि

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, भगवान् ने अपनी शक्ति महत्तत्त्व आदि को अलग-अलग रहकर विश्व की रचना करने में असमर्थ जब देखा, तब कार्यों में हलचल पैदा करनेवाली काल नाम की शक्ति के साथ प्रकृति से उत्पन्न उन तेईस तत्त्वों में एक साथ ही प्रवेश किया। वे तेईस तत्त्व ये है—महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच आकाश आदि तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, मन, पाँच तन्मात्रा ( शब्द आदि विषय )। चेष्टारूप से इन तत्त्वों में प्रवेश करके भगवान् ने अपने में लीन जीवों के प्राक्तन कर्म या अदृष्ट को प्रबुद्ध करके सब भिन्न-भिन्न स्थित तत्त्वों को एक मे मिला दिया। जब उन तत्त्वों की क्रियाशक्ति जगी तब उन्होंने ईश्वर की ही प्रेरणा से अपने-अपने अंश से विराट् शरीर को उत्पन्न किया। अर्थात् अपने मे प्रवेश करनेवाले चैतन्यरूप ईश्वर के संबंध से परस्पर मिलित महत्तत्त्व आदि तत्त्व विश्व की उत्पत्ति के लिए अपने-अपने अंश से क्षोभ को प्राप्त हुए, पूर्ण रूप से नहीं। उनके परिणाम से विराट् शरीर की सृष्टि हुई। उसी विराट् शरीर में यह संपूर्ण चराचरजगत् की कल्पना हुई है। उस अधिपुरुष नाम के हिरण्मय पुरुष ने हज़ार वर्ष तक अपने साथ सोए हुए जीवों के साथ बढ़ते रहकर इस ब्रह्माण्ड के भीतर जल में निवास किया। विश्व के उत्पन्न करनेवाले महत्तत्त्व आदि का कार्य जो वह गर्भ अर्थात् विराट् पुरुष था, उसने दैवशक्ति, क्रिया-शक्ति और आत्मशक्ति से युक्त होकर अपने ही द्वारा अपने एक, दस और तीन विभाग किये। अर्थात् दैवशक्ति या ज्ञानशक्ति के द्वारा हृदयस्थित चैतन्यरूप से एक विभाग, क्रियाशक्ति के द्वारा प्राण-भेद से दस विभाग ( नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नाम के पाँच प्राण और उनकी वृत्तियाँ प्राण, समान, व्यान, उदान, अपान नाम के पाँच प्राणवायु ) और आत्मशक्ति के द्वारा अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत ये तीन विभाग किये। यह परमेश्वर का प्रथम अवतार है। कारण, इसी में नारायण का आविर्भाव हुआ। इसी से सब तत्त्व प्रकाशित होते है। सारी सृष्टि इसी विराट् पुरुष से होती है। यही सब प्राणियों का आत्मा है। जीव इसी का अंश है। यह पुरुष अध्यात्म अर्थात् इन्द्रियाँ, अधिदैव अर्थात् इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और अधिभूत अर्थात् शब्द आदि विषय, इनके साथ मिलित होने से तीन प्रकार का, प्राण आदि का स्वरूप होने से दस प्रकार का और हृदय में स्थित चैतन्य के रूप से एक प्रकार का हुआ, जैसा कि ऊपर कह आये हैं।

फिर ईश्वर ने (पिछले अध्याय में की गई) महत्तत्त्व आदि की प्रार्थना को स्मरण करके उनके विविध व्यापारों में लगने के लिए अपनी चित्शक्ति के द्वारा तपस्या की, अर्थात् "मैं ऐसा करूँगा" यह आलोचना की। यही बात श्रुति में भी कही है—यस्य ज्ञानमयं तपः। अर्थात् जिसका तप ज्ञान ही है। हे विदुर, भगवान् ने जब इस प्रकार सोचा, तब भिन्न-भिन्न कर्म करने के लिए इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों के कौन-कौन स्थान प्रकट हुए, यह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिए।

विराट् पुरुष के पहले मुख फूटा। उसमें अग्नि देवता वाक् इन्द्रियरूप अपनी शक्ति के साथ स्थित हुए। जीव इसी इन्द्रिय से शब्द का उच्चारण करता है। फिर पुरुष के तालू फूटा। उसमें रसना इन्द्रिय के साथ वरुण देवता स्थित हुए। रसना से जीव को रस का बोध होता है। फिर पुरुष के शरीर में नाक के छेद फूटे। उनमें घ्राण इन्द्रिय के साथ अश्विनीकुमार देवता स्थित हुए। घ्राण इन्द्रिय से गंध सूँघी जाती है। फिर पुरुष के दो नेत्र प्रकट हुए। उनमें चक्षु इन्द्रिय के साथ सूर्य देवता स्थित हुए। चक्षु से रूप देखा जाता है। फिर पुरुष के त्वचा ( खाल ) प्रकट हुई। प्राणवायु के समान सब अंगों में व्याप्त त्वक्

इन्द्रिय के साथ वायु देवता उसमें स्थित हुए। त्वक् इन्द्रिय से जीव को स्पर्श का अनुभव होता है। फिर पुरुष के कान प्रकट हुए। उनमें श्रोत्र इन्द्रिय के साथ दिशा देवता स्थित हुई। श्रोत्र इन्द्रिय से जीव शब्द को सुनता है। फिर पुरुष के शरीर का ऊपरी मोटा चमड़ा प्रकट हुआ। सब ओषधियाँ अपने-अपने अंश के सहित अधिष्ठात्री देवता के रूप से रोमछिद्रों में प्रविष्ट हुईं। इन्हीं रोमों के द्वारा खुजली और स्पर्श का अनुभव होता है। फिर पुरुष के लिंग इन्द्रिय उत्पन्न हुई। उसमें प्रजापति देवता ने वीर्य अंश के साथ प्रवेश किया। इसी के द्वारा रति के सुख का अनुभव होता है। फिर गुदा का छिद्र उत्पन्न हुआ। पायु इन्द्रिय के साथ मित्र देवता उसमें स्थित हुए। इस इन्द्रिय से मल का त्याग किया जाता है। फिर पुरुष के हाथ निकले। क्रय-विक्रय आदि कर्मशक्ति के साथ स्वर्ग के स्वामी इन्द्र उनमें अधिष्ठाता देवता के रूप में स्थित हुए। इसी शक्ति से जीव अपनी जीविका प्राप्त करता है। फिर उस पुरुष के दोनों पैर निकले। उनमें गतिरूप कर्म के साथ अधिष्ठाता देवता के रूप में विष्णु स्थित हुए। इसी इन्द्रिय के द्वारा जीव एक जगह से दूसरी जगह जाता है। फिर पुरुष के बुद्धि उत्पन्न हुई। उसमें ज्ञानशक्ति के साथ ब्रह्मा देवता ने प्रवेश किया। इसी के द्वारा सब विषयों की निष्पत्ति या निश्चय किया जाता है। पुरुष के हृदय प्रकट हुआ, उसमें मननशक्ति के साथ चन्द्रमा स्थित हुए। उसी मन से यह जीव "यह करूँ या न करूँ" इस प्रकार सोचता या संकल्प-विकल्प करता है। पुरुष के अहंकार प्रकट हुआ। उसमें अहंवृत्ति के साथ रुद्र देवता स्थित हुए। इसी अहंभाव से जीव अपने कर्त्तव्य-कर्म को करता है। भगवान् के चित्त प्रकट हुआ। उसमें चेतना अंश के साथ ब्रह्मा देवता स्थित हुए। इस चित्त से ही जीव विशेष ज्ञान का अनुभव करता है। [ बुद्धि और चित्त दोनों के अधिष्ठाता ब्रह्मा बतलाए गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों अभिन्न हैं। अब उस पुरुष से तीनों लोकों की उत्पत्ति कहते हैं।] भगवान् के सिर से स्वर्गलोक, पैरों से धरातल और नाभि से आकाश ( अथवा अंतरिक्ष, जिसे भुवर्लोक भी कहते हैं ) उत्पन्न हुआ। इन लोकों में तीनों गुणों की गति के अनुसार देवता आदि निवास करते हैं। अर्थात् स्वभाव में सत्वगुण अधिक होने के कारण देवता लोग स्वर्गलोक में रहे। इसी तरह रजोगुण अधिक होने के कारण यज्ञ आदि जीविका के साधनों का व्यवहार करनेवाले मनुष्य और यज्ञ की सामग्री-स्वरूप गऊ आदि पशु पृथ्वी पर स्थित हुए। कारण, यज्ञ ही अन्न आदि की उत्पत्ति का कारण है; क्योंकि यज्ञ से मेघ बनते हैं और वे वर्षा करते हैं, तब अन्न उत्पन्न होता है और उसी से मनुष्यों और पशुओं की जीविका चलती है। तमोगुण की अधिकता के कारण भगवान की नाभि अंतरिक्ष में रुद्र के गण भूत, प्रेत, पिशाच आदि निवास करते हैं। [अब सबकी जीविका का निरूपण करते हैं।] फिर पुरुष के मुख से वेद प्रकट हुआ। वर्णों में मुख्य ब्राह्मण भी भगवान के मुख से उत्पन्न हुए। मतलब यह कि वेद पढ़ाना ब्राह्मण की वृत्ति है और उस वृत्ति के साथ ब्राह्मण भगवान् के श्रीमुख से प्रकट हुए। भगवान् की भुजाओं से क्षत्रियवर्ण और उसकी वृत्ति पालन करने की वृत्ति प्रकट हुई। ये क्षत्रिय विष्णु के अंश हैं और चोर आदि के उपद्रवों से सबकी रक्षा करते हैं। भगवान की उरुओं से विश अर्थात् खेती, गोपालन आदि धंधों के साथ वैश्यवर्ण की उत्पत्ति हुई। यह वर्ण अपने व्यवसाय से सब वर्णों की जीविका चलाता है। पुरुष के पैरों से सेवाधर्म के साथ शूद्र उत्पन्न हुआ। वह सेवा करके तीनों वर्णों को निश्चिन्त होकर अपने धर्म का पालन करने में सहायता पहुँचाता है। शूद्र जो तीनों वर्णों की सेवा करते हैं, इसी से हरि उन पर प्रसन्न होते हैं। ये चारों वर्ण अपने साथ उत्पन्न अपनी वृत्ति या धर्म के द्वारा अपनी शुद्धि या कल्याण के लिए अपने को उत्पन्न करनेवाले हरि की श्रद्धापूर्वक आराधना करते हैं। तात्पर्य यह कि जिसने हमें इस पृथ्वी पर उत्पन्न किया, हमारी जीविका नियत की, उस ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ही हमारा परम धर्म है। उसी में हमारा कल्याण है।

हे विदुर, काल, कर्म और स्वभाव, इन शक्तियों से युक्त परमेश्वर ने अपने योगमाया के बल से इस विराट् रूप की कल्पना की है। इसका पूर्ण रूप से निरूपण करने की इच्छा भी कोई नहीं कर सकता, वाणी से वर्णन करना तो बहुत दूर है। तो भी जैसा कि गुरु के मुख से सुना है, जितनी अपनी बुद्धि है, उसी के अनुसार मैं अन्य विषयों की चर्चा से अपवित्र अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए हरि की कीर्त्ति का कीर्त्तन करता हूँ। वाणी होने का सबसे बढ़कर लाभ यही है कि उससे पुण्यकीर्त्ति हरि के गुणों का कीर्त्तन किया जाय। भगवान् की अमृतमयी कथा विद्वानों को अत्यन्त प्रिय है। उस कथा से जो परिपूर्ण हों, वे ही काम सार्थक हैं। भगवान् के गुणों को कहने-सुनने से अवश्य ही कैवल्य मोक्ष मिलती है। देखो विदुर, आदिकवि ब्रह्माजी कल्प के आदि में योग के द्वारा शुद्ध बुद्धि के बल से हज़ारों वर्ष तक ध्यान करके भी उन भगवान् की महिमा या तत्त्व को नहीं जान सके। इसलिए यह निश्चय समझो कि भक्ति के बिना, केवल ज्ञान से कैवल्य मोक्ष नहीं मिल सकती। भगवान् की माया को जानना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि उसका अंत नहीं है। वह बड़े-बड़े शक्तिशाली ब्रह्मा, विष्णु आदि को भी मोहित करनेवाली है। भगवान् स्वयं अपनी माया की गति "अर्थात् वह इतनी ही है" इस बात को नहीं जान सके, तब और कौन जान सकते हैं? माया अनन्त है। अनन्त के अन्त का ज्ञान न होने से ईश्वर की सर्वज्ञता में बट्टा नहीं लगता। जिसके ज्ञान के लिए प्रवृत्त वाणी और मन उस तक न पहुँचकर लौट आते हैं, यहाँ तक कि मैं तथा अन्य रुद्रादि देवता भी जिसे पूर्ण रूप से नहीं जान पाते, उन अज्ञेय और अवितर्क भगवान् को प्रणाम है। तात्पर्य यह कि भगवान् के दुर्ज्ञेय होने के कारण उन्हें केवल नमस्कार ही करते हैं।

# सातवाँ अध्याय

## मैत्रेयजी से विदुर के प्रश्न

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजी के मुख से यह वर्णन सुनकर वेदव्यास के पुत्र परमज्ञानी विदुरजी अपनी वाणी से उन्हें प्रसन्न करते हुए यों कहने लगे। विदुर ने कहा—भगवन्, आपने परमेश्वर को सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, विकाररहित और निर्गुण बतलाया है। तब वह लीला के लिए भी कैसे सगुण होते हैं और कर्म करते हैं? मतलब यह कि निर्गुण को गुण ग्रहण करने या निष्क्रिय को कर्म करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। निर्गुण के लिए सगुण या निष्क्रिय के लिए कर्त्ता कहने में तो वैसा ही वदतोव्याघात होता है, जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है। अगर लीला को उसका प्रयोजन मान भी लें तो पूर्वापर-विरोध करने का तो समाधान उससे नहीं होता। फिर आपने जो कहा कि ईश्वर लीला के लिए सृष्टि आदि कर्म करते हैं तो बालक आदि जो क्रीड़ा करते हैं सो अपनी अभिलाषा अथवा किसी अपने साथी बालक की प्रेरणा से करते हैं; किन्तु ईश्वर के लिए तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, वह अपने ही बोध से तृप्त, कामनाहीन, संगहीन और अद्वितीय हैं। उनको बालक की भाँति स्वतः या परतः क्रीड़ा की कामना होना संभव नहीं। यदि कहो कि अविद्योपाधि जीव के भोग के लिए ईश्वर सृष्टि आदि करते हैं तो यह भी ठीक नहीं जान पड़ता। भगवान् अपनी गुणमयी अर्थात् जीव को कर्त्ता और भोक्ता होने के मोह में डालनेवाली माया के द्वारा इस विश्व को उत्पन्न करते, पालते और इसका संहार करते हैं। किन्तु यह तो तब घटित होता जब जीव का अविद्या के आश्रित होना संभव होता। पर वैसा होना संभव नहीं जान पड़ता; क्योंकि जीव ब्रह्म का ही अंश या स्वरूप है। परन्तु देश, काल, अवस्था से अपने से या अन्य किसी के द्वारा ब्रह्म के बोध का लोप नहीं होता। इस कारण ब्रह्मस्वरूप जीव का अविद्या से युक्त होना कैसे संभव है? [ अब विदुरजी

यह कहते हैं कि ब्रह्मरूप होने के कारण जीव जैसे अविद्या में नहीं फँस सकता वैसे ही उसे संसार का बंधन भी नहीं हो सकता। कारण, वह ब्रह्म ही जीव के रूप से सब शरीरों में स्थित है।] जीव भोक्ता होने पर भी वास्तव में ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि चित्‌रूप से वह भगवान् से अभिन्न है। फिर जब जीव का कर्म से संबंध ही नहीं, तब उस नित्यानन्दमय ब्रह्म के अंश जीव के स्वरूपबोधानन्द का नाश या कर्मों के द्वारा उसे जन्म-मरण का क्लेश कैसे हो सकता है? हे मुनिवर, इस अज्ञान के सङ्कट में पड़ा हुआ मेरा मन इन संदेहों से क्षोभ को प्राप्त हो रहा है। आप मेरे इन संदेहों को कृपा करके दूर कर दीजिए। *

शुकदेवजी कहते हैं—तत्त्व की जिज्ञासा से विदुर ने जब इस प्रकार प्रश्न किया, तब अहंकाररहित और भगवान् के भक्त मैत्रेयजी मुसकराते हुए बोले। मैत्रेयजी ने कहा—सुनो विदुर, यही तो सब माया है। जीव और ईश्वर का भेद, ईश्वर की सृष्टि आदि करना अथवा जीव का बन्धन आदि जो कुछ यह परस्परविरुद्ध प्रतीत होता है, वह माया ही है। वास्तव में यह कुछ नहीं है। विमुक्तस्वरूप परमेश्वर का जीवरूप से अविद्या में बँधना या आनन्दरूप आत्मज्ञान से भ्रष्ट होना आदि तर्क-विरुद्ध बातें वास्तव में वैसी ही हैं, जैसे स्वप्न में सिर का कट जाना। जैसे स्वप्न देखनेवाला साक्षी जीव उस अज्ञानमयी स्वप्नावस्था में मिथ्या प्रिय या अप्रिय को भी सत्य मानकर सुख या दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही जीव का अविद्याबन्धन, दुर्भाग्य या संसारकृत क्लेश आदि वास्तव में मिथ्या होने पर भी माया के कारण सत्य-से जान पड़ते हैं। परन्तु जैसे पानी में चन्द्रमण्डल की जो परछाहीं देख पड़ती है, वह जल के हिलने से काँपती-सी जान पड़ती है। परन्तु वास्तव में जलोपाधि के कंपन आदि धर्मों से या जलोपाधि से चन्द्रमण्डल का कुछ भी संबंध नहीं होता। वैसे ही आत्मा से भिन्न जो देह है, उसके धर्म मिथ्या होने पर भी देहाभिमानी जीव में आरोपित होते हैं। देहाभिमानहीन ईश्वर में वे धर्म आरोपित नहीं होते। देहाभिमान ही इस अविद्या या मोह का कारण है। वह अनर्थ की जड़ देहाभिमान तभी धीरे-धीरे दूर होता है, जब वासुदेव की कृपा होती है और जीव निवृत्ति-मार्ग पर चलकर भगवान् की भक्ति करता है। जब सब इन्द्रियाँ साक्षीरूप आत्मा में लय को प्राप्त होकर सो रहे मनुष्य की इन्द्रियों के समान बिलकुल निश्चल हो जाती है, तभी सब क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। आप निश्चय जानिए, मुरारि के गुणानुवाद को सुनने से ही अविद्याजनित सब क्लेश शान्त हो जाते हैं। फिर यदि भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रति हो और प्रेमपूर्वक उनके ध्यान में मन लग जाय तो उसका क्या कहना!

यह सुनकर विदुर ने कहा—प्रभो, आपने अपने इन युक्तियुक्त वचनों के खड्ग से मेरे संशय को छिन्नभिन्न कर दिया। अब ईश्वर की स्वतन्त्रता और उसी के अंश जीव की परतन्त्रता अर्थात् जीव और ईश्वर के भेद का रहस्य अच्छी तरह समझ गया। आपका यह कहना बिलकुल सच है कि जीव के बन्धन और क्लेशभोग का कारण अविद्या (अज्ञान) ही है और वह सपने में सिर कटने के समान मिथ्या तथा निर्मूल है। संसार की जड़ यह अज्ञान भी माया के बिना नहीं हो सकता, अर्थात् माया में ही उसकी भी गणना है। मेरी बुद्धि और ज्ञान थोड़ा है, इसीलिए पहले मुझे यह संशय हुआ था। मुनिवर, मैं तो समझता हूँ कि इस

---

* ईश्वर या ब्रह्म सर्वव्यापी है, इसलिए किसी देश में दीपक की प्रभा के समान उसका लोप नहीं हो सकता। वह स्मरणशक्ति के समान विकार को नहीं प्राप्त होता, इसलिए किसी अवस्था में अविद्यमान नहीं है। ब्रह्म नित्य है, इसलिए किसी काल में बिजली के समान उसका लोप नहीं होता। वह सत्य है, इसलिए स्वप्न के समान स्वतः अविद्यमान नहीं होता। वह अद्वितीय है, इस कारण घट की तरह किसी दूसरे के द्वारा उसका विनाश नहीं होता। इन देश, काल आदि कारणों से जिसके बोध का लोप नहीं होता, उस ब्रह्म का अंश होकर जीव कैसे अविद्या से युक्त हो सकता है? यह प्रश्न या सशय विदुरजी का है।

संसार में जो बिलकुल ही मूढ़ अर्थात् देह आदि में आसक्त मूर्ख है और जो ब्रह्मज्ञानी पूर्ण विद्वान् है, इन दोनों का जीवन सुख से पूर्ण है। कारण, मूढ़ को संशय नहीं होता और विद्वान् को क्लेश की प्रतीति नहीं होती। मरण उसी का है, जो न बिलकुल मूढ़ ही है और न पूर्ण ज्ञानी ही है। वह दुःख का अनुभव करने से संसार के प्रपंच को छोड़ना चाहता है, परन्तु यथार्थ आत्मानन्द कैसे मिले, यह न जानने के कारण संसार को छोड़ नहीं सकता। आपके चरणों की सेवा के फल से आज मुझे ऐसा ज्ञान हुआ है, जिससे जन्म, मृत्यु, जीव के भोक्ता होने आदि को मैं मिथ्या जानने लगा हूँ। संशय तो दूर हो गया, मैं कृतार्थ हो गया, अब केवल मिथ्या की प्रतीतिमात्र रह गई है, उसे भी आपके चरणों की सेवा से दूर कर सकूँगा। आप जैसे भगवद्भक्तों के चरणों की सेवा करने से सब समय सर्वत्र व्याप्त भगवान् के चरणों में अनन्य भक्ति उत्पन्न होती है। वह दृढ़ और स्वाभाविक अर्थात् कभी न मिटनेवाली भक्ति ( भगवान् का प्रेम ) इस संसार अर्थात् जन्म-मरण के बंधन या संकट को काट देती है। हरि से मिलानेवाले साधु भक्तों की सेवा थोड़े पुण्यवाले लोगों को बहुत ही दुर्लभ है। मैं जो आपकी सेवा कर सका, यह मेरे बड़े भाग्य का फल है! सज्जन भक्तों के संग में देवदेव जनार्दन भगवान् के चरित्रों की नित्य चर्चा होती है। उनका सत्संग सबको नहीं प्राप्त होता।

[ अब विदुरजी अन्य अनेक प्रश्न करते हैं। ] हे मैत्रेयजी, आप कह चुके हैं कि सबसे पहले उस व्यापक ईश्वर ने इन्द्रिय, अधिष्ठाता देवता, शब्द आदि विषय आदि के साथ महत्तत्त्व आदि तत्त्वों को क्रम से उत्पन्न किया। फिर उनके द्वारा विराट् शरीर की रचना करके पीछे से उसमें पुरुषरूप से प्रवेश किया। कहते है, विराट् आदिपुरुष के हजारों ऊरु, चरण, हाथ और मुख हैं। सब लोक उसी से प्रकट होकर उसी के शरीर में स्थित होते हैं। ब्रह्मन्, उसके शरीर में दस प्रकार का प्राण, इन्द्रियाँ, अधिष्ठाता देवता और शब्द आदि विषय हैं। वही पुरुष त्रिविध प्राण से युक्त है। उसी पुरुष ने वर्णों को उनकी जीविका के साथ उत्पन्न किया है। अब मैं उस विराट् पुरुष की विभूतियों का वर्णन सुनना चाहता हूँ। अर्थात् ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति कहिए। उसी आदिपुरुष की ब्रह्मा आदि विभूतियों से पुत्र, पोते, नाती, गोत्रज आदि भेदवाली विविध विभिन्न आकृति की प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने इस विश्व को भर दिया है। यह भी बतलाइए कि प्रजापतियों के पति ब्रह्मा ने किन प्रजापतियों को उत्पन्न किया? इसके बाद नव प्रकार की सृष्टि और अनुसृष्टि कहिए। मनु, मन्वन्तरों के स्वामी, उनका वंश और उनके वंश में उत्पन्न होनेवाले राजों का चरित्र भी वर्णन कीजिए। इस पृथ्वीतल के ऊपर और नीचे कौन लोक है? पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई? उसका परिमाण क्या है? देवता, मनुष्य, सर्प, पशु, पक्षी और गर्भ से पैदा होनेवाले, पसीने और अंडे से उत्पन्न होनेवाले तथा पृथ्वी को फोड़कर निकलनेवाले चारों प्रकार के प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई? सगुण अवतारों से जिस प्रकार इस ब्रह्मांड के विधाता श्रीनिवास भगवान् संसार को उत्पन्न कर उसका पालन और संहार करते हैं, वे उदार हरि-चरित्र विस्तार के साथ मुझसे कहिए। चिह्न, आचार और स्वभाव से वर्णों और आश्रमों का विभाग वर्णन कीजिए। ऋषियों के जन्म और कर्म वर्णन कीजिए। वेदों का विभाग कैसे हुआ, यह भी कहिए। यज्ञ-विस्तार, योग-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग अथवा ज्ञान का मार्ग और ज्ञानप्राप्ति के उपाय सांख्यशास्त्र का वर्णन कीजिए। पाखंडियों द्वारा चलाए गये वेदमार्ग के विपरीत मार्ग का वर्णन कीजिए। प्रतिलोम सृष्टि का वर्णन कीजिए। गुण ( प्रकृति ) और कर्म के अनुसार जीव को जो उच्च-नीच गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें भी मैं सुनना चाहता हूँ। जिस प्रकार परस्पर विरोध न हो, उस रीति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के मिलने के उपाय बतलाइए। कृषि, वाणिज्य, दण्डनीति और शास्त्र की विधि से अलग-अलग वर्णन कीजिए। श्राद्ध की विधि, पितरों की सृष्टि और कालचक्र में ग्रह, नक्षत्र, तारागण की स्थिति भी बतलाइए। दान, तप, इष्ट अर्थात् अग्निष्टोम आदि यज्ञ और पूर्त ( अर्थात् बावली, कुएँ, तालाब खुदवाना और बाग

लगाना ) का क्या फल मिलता है ? वानप्रस्थ का धर्म और आपत्ति के समय वर्णाश्रम का धर्म कृपा करके कहिए। मेरा प्रयोजन यह है कि धर्म के चलानेवाले जनार्दन भगवान् किस काम के करने से प्रसन्न होते हैं अथवा किस पर प्रसन्न होते हैं, यह सब मुझसे कहिए। हे मुनिवर, अपने अनुगत पुत्र या शिष्य ने जो बात न पूछी हो, या जो बात उसके पूछने से रह गई हो, उसे भी दीनों पर दया करनेवाले गुरुजन बतला देते हैं। आशा है, आप भी ऐसा ही करेंगे।

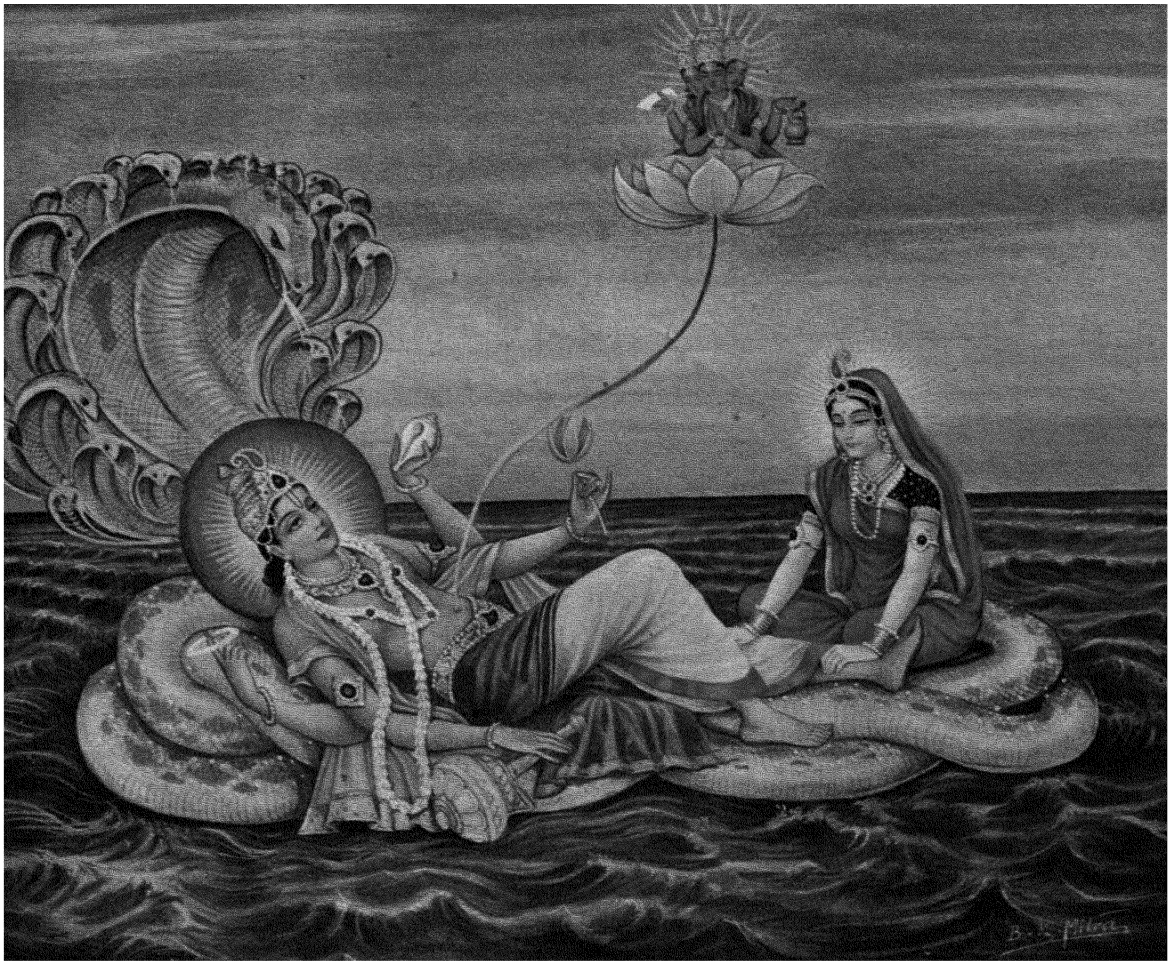
भगवन्, आप अभी जिन तत्त्वों का वर्णन कर चुके हैं, उनका प्रलयकाल में लय कितने प्रकार से होता है ? योगशय्या के ऊपर प्रलयकाल में जब परमेश्वर शयन करते हैं, तब कौन तत्त्व अलग रहकर उनकी सेवा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार सेवक लोग सो रहे स्वामी के चँवर डुलाकर उसकी सेवा करते हैं ? और कौन-कौन तत्त्व परमेश्वर में लीन होकर उन्हीं के साथ शयन करते हैं ? जीव का तत्त्व और परमेश्वर का स्वरूप मुझसे कहिए। यह भी बतलाइए कि किस अंश में जीव और ब्रह्म की एकता है। उपनिषद् में वर्णित ज्ञान भी मुझे बतलाइए। गुरु के निकट शिष्य को यथार्थ में अपने प्रयोजन की जो-जो बात पूछनी चाहिए अथवा गुरु-शिष्य का संबंध जिस बात के जानने के लिए आवश्यक होता है, वह सब कहिए। गुरु के बिना आप ही से किसी को भक्ति, ज्ञान या वैराग्य नहीं होता। इसलिए जानकार लोग भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के जो साधन बता गये हैं, सो सब मुझे बतलाइए। मैं हरि की लीला और चरित्र जानने की इच्छा से ही यह सब पूछ रहा हूँ। अविद्या से मेरे ज्ञान के नेत्र नष्ट हो गये हैं। मैं अज्ञ हूँ। आप वैसे ही मुझे ये सब बातें बतलाइए, जैसे विद्वान् मित्र अज्ञानी मित्र को ज्ञान का उपदेश करता है। मुझे उपदेश करने से केवल मेरा ही उद्धार न होगा, आप भी पुण्य के भागी होंगे। कारण, तत्त्व का उपदेश करके आप मुझे अभयदान करेंगे। जीव को तत्त्वोपदेश के द्वारा मृत्यु के भय से मुक्त कर देने में जो पुण्य होता है, उसके एक अंश की समता भी यज्ञ, देवपूजा, तप और दान का पुण्य नहीं कर सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महाराज परीक्षित्, विदुरजी के ये प्रश्न पुराण के पूर्वोक्त दश लक्षणों का निरूपण करने से संबंध रखनेवाले थे। इन प्रश्नों के द्वारा विदुर ने जब भगवान् की कथा कहने के लिए प्रेरणा की, तब प्रसन्न होकर हँसते हुए मैत्रेयजी इस प्रकार कहने लगे।

## आठवाँ अध्याय

### जलशायी नारायण की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति और उन्हें नारायण का दर्शन

मैत्रेयजी ने कहा—अहो, अवश्य ही महाराज पुरु का वंश, जिसमें प्रधान लोकपाल और श्रेष्ठ भगवद्भक्त तुम उत्पन्न हुए हो, धन्य और परम पवित्र है। सज्जन लोग इस वंश के लोगों का संग और आदर करते हैं। तुम भी धन्य हो, जो भगवान् के चरित्रों को सुनकर तुम्हारा जी नहीं भरता और बारंबार हरि की कीर्त्ति को सुनकर उसके सम्बन्ध में नए-नए प्रश्न करके उसे नई-सी बनाते जा रहे हो। ये संसार के लोग इस लोक के या स्वर्ग आदि लोकों के अल्प सुख पाने के लिए जन्म-मरण के महादुःख को प्राप्त होते हैं। उनके उसी अविद्याजनित दुःख की निवृत्ति के लिए यह भागवत महापुराण तुमसे कहता हूँ। भगवान् के अवतार शेषजी ने स्वयं अपने श्रीमुख से सनकादिक ऋषियों को यह पुराण सुनाया है। पाताल में संकर्षण भगवान् ( शेषनाग ) विराजमान थे। उनका ज्ञान अप्रतिहत है, अर्थात् वह सर्वज्ञ हैं। उनसे परे जो वासुदेव भगवान् हैं, उनका तत्त्व जानने की इच्छा से सनत्कुमार आदि ऋषियों ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर प्रश्न किया। शेषजी अपने ही वासुदेव-नामक परमानन्दरूप का ध्यान कर रहे



ब्रह्मा को शेषशायी नारायण का दर्शन

थे—उसी को सर्वश्रेष्ठ समझ उसकी उपासना कर रहे थे। उन्होंने सनकादिक ऋषियों का अभिनन्दन करने के लिए अपने अंतर्मुख नेत्रकमलों को कुछ खोलकर कृपादृष्टि से उन ऋषियों की ओर देखा। सनकादि ऋषियों की जटाएँ गंगाजल से गीली हो रही थीं। कारण, वे भागवत सुनने के लिए सत्यलोक से पाताल तक गंगा के बीच होकर ही गये थे। शेषजी के चरण जिस पर रक्खे थे, उस पादपीठरूपी पद्म पर सिर रखकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया। सुन्दरी नागकन्याएँ वर पाने की इच्छा से प्रेमपूर्वक अनेक सामग्रियों से उस पादपीठ की पूजा किया करती हैं। शेषजी के हज़ार फन अपनी मणियों और मुकुटों में जड़ी हुई मणियों की आभा से प्रकाशित हो रहे थे। शेष भगवान् के प्रताप को जाननेवाले ऋषियों ने पहले प्रेम के साथ गद्गदवाणी से उनकी स्तुति की, उनकी महिमा और चरित्रों का बखान किया; उसके बाद ये ही प्रश्न किये, जो तुम मुझसे कर रहे हो। तब भगवान् के श्रेष्ठ भक्त शेषजी ने निवृत्तिमार्ग के अनुगामी परमहंस सनत्कुमार से भागवतपुराण कहा। उसके उपरान्त मोक्ष की इच्छा रखनेवाले सांख्यायन ऋषि के पूछने पर उनसे वही भागवत सनत्कुमार ऋषि ने कही। परमहंसों में श्रेष्ठ सांख्यायन ने भगवान् की विभूतियों का वर्णन करने की इच्छा से अपने अनुगत शिष्य बृहस्पतिजी और मेरे गुरु पराशरजी से वही भागवत कही। दयानिधान पराशर मुनि ने पुलस्त्य मुनि के कहने से* वही आदिपुराण मुझे बतलाया। वत्स विदुर, तुम भी श्रद्धा के साथ सुनना चाहते हो और मोक्ष की इच्छा रखते हो, इसलिए वही महापुराण अब मैं तुमसे कहता हूँ। [ इस प्रकार संकर्षण से लेकर अपने तक संप्रदाय का चलना बतलाकर अब भगवान् की विभूति की उत्पत्ति वर्णन करने के लिए नाभिकमल की उत्पत्ति से आरम्भ करते हैं। ]

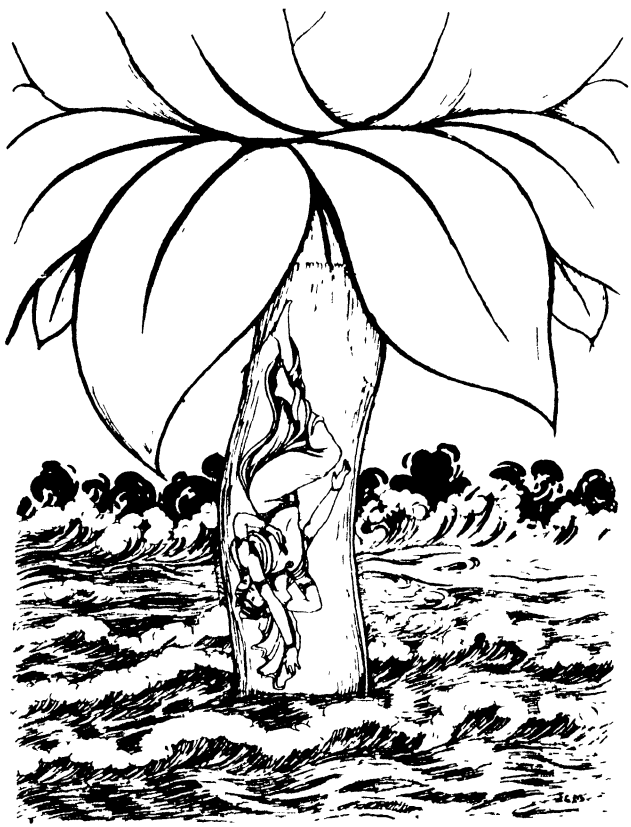
जब योगनिद्रा को स्वीकार करके, संपूर्ण सृष्टि को अपने में लीन करके भगवान् शेषशय्या पर सोये, तब यह सब विश्व प्रलयसागर के जल में डूबा हुआ था। उस समय भगवान् नारायण केवल नेत्र मूँदे हुए थे, उनकी चित्शक्ति नष्ट नहीं हुई थी, अर्थात् वह सोयें हुए नहीं थे। मतलब यह कि माया-विनोद को छोड़कर स्वरूपानन्द में ही मग्न होने के कारण वह निश्चेष्ट निष्क्रिय हो रहे थे। भगवान् उस समय अपने लोकमय शरीर के भीतर पंचतत्त्वों के सूक्ष्म अंशों को रखकर 'काल' नाम से प्रसिद्ध अपनी शक्ति को फिर सृष्टि के समय अपने को जगाने के लिए धारण किये हुए थे। जैसे अग्नि अपनी जलाने की शक्ति को निरुद्ध करके लकड़ी के भीतर रहती है, वैसे ही वह ईश्वर अपने अधिष्ठान उस जल में बाहरी चेष्टाओं को अपने में लीन करके शयन किये हुए थे। एक हज़ार चौजुगी † तक वह भगवान् अपनी चित्शक्ति के साथ योग-निद्रा में शयन करते रहे। उसके उपरान्त पहले ही से सृष्टिकाल में जगाने के लिए नियुक्त कालशक्ति ने प्रकट होकर वैसा ही किया अर्थात् सृष्टिकर्म के लिए ईश्वर को प्रबुद्ध किया। तब स्वतन्त्र ईश्वर ने सब लोकों को अपने शरीर में लीन देखा। फिर ईश्वर ने सृष्टिरचना की सामग्री पंचतत्त्वों के उन सूक्ष्म अंशों को अपने शरीर से अलग दृश्यरूप में देखना चाहा। उस समय भगवान् की दृष्टिरूप कालशक्ति के साथ रजोगुण ने उन पंचतत्त्वों के सूक्ष्म अंशों में क्षोभ ( हलचल ) उत्पन्न किया। तब उन्हीं विश्वकार्य के प्रकाशक तत्त्व-मय सूक्ष्म अंशों से युक्त एक पद्मकोष नारायण की नाभि से निकल आया। जीव के कर्म अर्थात् अदृष्ट को जगानेवाले काल की प्रेरणा से विस्तृत होकर नारायण की नाभि से उत्पन्न वह कमल-कोष सूर्य के समान अपने तेज से बहुविस्तृत जलराशि को प्रकाशित करने लगा, अर्थात् उसके तेज से वह प्रलयसागर का जल जग-

---

* पराशर ऋषि के पिता को राक्षस खा गया। इस पर पराशर ने उस राक्षस को राक्षससत्र करके मारना चाहा, पर वसिष्ठ के मना करने से वह निवृत्त हो गये। अपनी सन्तान की रक्षा से प्रसन्न होकर पुलस्त्य ऋषि ने पराशर को वर दिया कि तुम पुराण के वक्ता होओगे।

† सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की एक चौजुगी होती है।

मगा उठा। सब गुणों अर्थात् जीव के भोग्य पदार्थों को प्रकट करनेवाले उस लोकमय कमल के भीतर स्वयं नारायण ने अपनी शक्ति के साथ अंतर्यामीरूप अंश से प्रवेश किया। इस प्रकार स्वयं नारायण ही उस कमल से विधाता ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुए। ब्रह्मा स्वयं वेदमय हैं, अर्थात् उन्हें वेद पढ़ने नहीं पड़े। और कोई उत्पन्न करनेवाला दिखाई न पड़ने के कारण उन्हें स्वयंभू भी कहते हैं। पूर्वकल्प के अंत में वह ब्रह्मा नारायण में लीन होकर उनके साथ शयन कर रहे थे; अब पाद्मकल्प में नारायण के जगने पर वह भी पद्म के द्वारा प्रकट हुए। [ अब ब्रह्मा के चार मुख होने का कारण कहते हैं। ] प्रकट होकर ब्रह्मा उसी कमल के ऊपर स्थित हुए तो उन्होंने अपने आसपास किसी लोक या प्राणी को नहीं देख पाया। तब उसी शून्य में नेत्र फैलाकर गरदन घुमाकर लोक या प्राणी की खोज करने से उनके चारों ओर चार मुख हो गये। प्रलयकाल की प्रचण्ड पवन के झोंकों से जल में बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं, और जल से निकला हुआ वह कमल उन लहरों से काँप रहा था। उसके ऊपर बैठे हुए आदिदेव ब्रह्मा बहुत विचार करने पर भी यह न जान सके कि वह कमल कहाँ से उत्पन्न हुआ है, वह स्वयं कौन हैं, उनकी उत्पत्ति किससे हुई है और सब लोकों का तत्त्व क्या है, अर्थात् किस प्रकार, किस सामग्री से लोकों की रचना की जा सकती है।



तात्पर्य यह कि नारायण की उपासना से ही ब्रह्मा में जब ज्ञान और क्रियाशक्ति का आविर्भाव हुआ, तभी वह उससे लोकों की रचना कर सके, स्वतः नहीं। [ यही बतलाने के लिए पहले ब्रह्मा के मोह का वर्णन करते हैं। ] तब मोहमग्न ब्रह्माजी अपने मन में सोचने लगे कि इस कमल के ऊपर बैठा हुआ मैं कौन हूँ? इस जल में केवल अकेला यह कमल ही कैसे उत्पन्न हुआ? इस कमल का अधिष्ठान इसके नीचे अवश्य कुछ होना चाहिए। इस प्रकार विचार करके ब्रह्माजी कमल की डंडी के भीतर जो छेद थे, उनकी राह से नीचे उतरकर जल के भीतर पहुँचे। परन्तु बहुत खोजने और परिश्रम करने पर भी ब्रह्मा को वह आधार नहीं मिला, जिस पर वह कमल उगा था। जिसे भगवान् का सुदर्शनचक्र कहते हैं और जो मनुष्यों की आयु को क्षीण करता हुआ उनके भय का कारण होता है, वह काल अर्थात् समय बहुत-सा बीत गया अर्थात् सौ वर्ष बीत गये, और ब्रह्माजी उस अपार अन्धकारमय जल में इधर-उधर भटकते ही रहे। उन्हें अपने उत्पन्न करनेवाले का पता नहीं मिला। इस प्रकार जब सफलता नहीं मिली, तब व्यर्थ-मनोरथ होकर ब्रह्मा फिर अपने स्थान को लौट

आये। तब अपने आसन पर बैठकर धीरे-धीरे प्राणायाम से श्वासा को जीतकर उन्होंने मन को एकाग्र किया और समाधि लगाकर ध्यान करने लगे। सौ वर्ष तक ध्यानावस्था में रहने से उनका योग सिद्ध हुआ और उससे बोध उत्पन्न होने पर ब्रह्माजी ने उसी वस्तु को अपने हृदय के भीतर देख पाया, जिसे पहले वह बहुत खोजने पर भी नहीं देख सके थे। ब्रह्माजी ने देखा, कमल की डंडी के समान गौरवर्ण और चौड़े शेषनाग के शरीर की शय्या पर एक पुरुष शयन कर रहा है, छत्र के समान ऊपर छाये हुए शेषजी के हज़ार फणों की मणियों का प्रकाश प्रलयकाल के जल पर फैले हुए अंधकार को दूर कर रहा है। उस पुरुष के श्याम शरीर की कान्ति नीलमणि या पन्ने के पर्वत की शोभा को भी लज्जित कर रही है। मरकतमणि के पर्वत पर चादर के समान पड़ी हुइ सन्ध्याकाल के बादल की शोभा को जैसे उस पुरुष के श्यामशरीर पर शोभायमान पीताम्बर हँस रहा है। पर्वत के स्वर्णमय शिखरों की शोभा को उस पुरुप के शिर के किरीट-मुकुट लज्जित कर रहे हैं। पर्वत के ऊपर रत्न, झरने, ओपधियाँ और विविध पुष्प होते हैं तो उस पुरुष के शरीर में वनमाला, रत्नमाला, मुक्तामाला, तुलसी की माला आदि शोभायमान थीं। पर्वत पर बाँस और वृक्ष होते हैं तो उस पुरुष के बाहु और चरण थे। उँगलियाँ ही उनके सुन्दर पत्ते थे। इस प्रकार वह पुरुष पूर्ण रूप से मरकत-मणि के पर्वत की शोभा को लज्जित कर रहा था। उस पुरुष के शरीर की लम्बाई और चौड़ाई में ही तीनों लोकों की कल्पना की गई है। उस स्वाभाविक सुडौल सुन्दर शरीर में दिव्य और अद्भुत अनेक गहने, वस्त्र आदि शोभायमान हो रहे थे। मतलब यह कि उस शरीर की स्वाभाविक शोभा ऐसी थी कि मानों सब वस्त्र और आभूषण उसी से शोभा पा रहे थे*। अपनी कामना अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति और आत्मज्ञान के लाभ के लिए वेदोक्त मार्गों से आराधना करनेवाले परमहंस योगी भक्तों को कृपा करके सब कामनाएँ पूर्ण करने-वाले अर्थात् वरदायक श्रीचरण को कुछ उठाकर दिखा रहे हैं, अर्थात् दे रहे हैं। उन चरणों के नख चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त हैं। उसी कान्ति से अलग-अलग पत्तों की तरह उँगलियाँ दिखाई पड़ रही हैं। भगवान् के श्रीमुख में लोगों के कष्ट हरनेवाली मंद मुसकान विराज रही है। हिलने से चमक रहे कुंडल उस मुखमंडल में शोभायमान हैं। अरुण अधरों की आभा भी अलग झलक रही है। सुन्दर नासिका और भौंहों से युक्त ऐसे मुखारविन्द से अपने उपासकों को सम्मानित कर रहे हैं अर्थात् उन पर अनुग्रह प्रकट कर रहे हैं †। नितम्बस्थल कदंब के फूलों की भाँति पीले रेशमी वस्त्र और मेखला से सुशोभित है। श्रीवत्स के चिह्न से युक्त वक्षःस्थल में बहुमूल्य हार विहार कर रहा है‡। वह महापुरुष चन्दन के वृक्ष की× भाँति शोभायमान

---

* चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, वन, पर्वत, नद, नदी, समुद्र, सरोवर, वृक्ष, लता, फूल, फल, तृण, घास, पत्ते, सोना, हीरा, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि की शोभा जो देख पड़ती है, सो उसी शोभामय ईश्वर की शोभा से शोभित होती है। वही ईश्वर इस प्रकार के विचित्र और सुसज्जित ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहकर सभी शोभायुक्त वस्तुओं को शोभित करते हैं। इसलिए ईश्वर के सिवा और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ईश्वर को शोभित कर सकती हो। यहाँ अलंकार के रूपक से यही दिख-लाया गया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सो ईश्वर की ही चैतन्यसत्तारूप शोभा से शोभित है। यहाँ रूपक के रूप में ईश्वर की आनन्दमयी मूर्ति की कल्पना की गई है। उनका विशाल शरीर यह अपरिमेय अनन्त ब्रह्माण्ड जानना चाहिए।

† यह मुख शान्ति का रूपक है। तात्पर्य यह है कि श्रीचरणों के मिलने पर आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है। फिर कुण्डल और हास्य की शोभा से दुःख दूर होता है। इसके बाद भौंहों के अनुग्रहसूचक संकेत से शान्ति मिलती है।

‡ यह लोक भगवान् का नितम्बदेश है। उसे मेखला या कर्धनी की तरह माया घेरे हुए है। महत्तत्त्व आदि कारण-तत्त्व ही पीताम्बर हैं। शुद्ध अवस्था को प्राप्त जीव, चैतन्य और ज्ञान की लड़ी ही अमूल्य हार है। ये कर्त्तव्य-कर्म के अनुभव की जगह वक्षःस्थल में स्थित हैं। अर्थात् चैतन्य और ज्ञान से युक्त जीव सदानन्द में निमग्न हो आनंदमय हो रहा है।

× चन्दन का वृक्ष सब वृक्षों से श्रेष्ठ होता है, और भगवान् भी सब लोकों के ईश्वर तथा सर्वश्रेष्ठ हैं।

हैं। उनका मूल अव्यक्त ( प्रधान तत्त्व या ब्रह्म ) है। श्रेष्ठ मणिजटित अंगद आदि आभूषणों से अलंकृत उनकी भुजाएँ ही अनन्त शाखाएँ हैं। चन्दन के वृक्ष की डालें भी फल-पुष्प आदि से अलंकृत होती हैं। चन्दन के वृक्ष में जैसे नीचे-ऊपर साँप * लिपटे रहते हैं, वैसे ही उन महापुरुष के श्याम शरीर को शेषनाग के सहस्र फन घेरे हुए हैं। वह ईश्वर नारायण समुद्र में डूबे हुए पहाड़ के समान जान पड़ रहे हैं। पहाड़ पर भी चराचर जीव रहते हैं और वह सर्पों का प्रिय निवास-स्थान है, वैसे ही नारायण भी सर्प ( शेषनाग ) पर पड़े हुए और चराचर जगत् का निवास-स्थान हैं। उनके सहस्र शिरों पर जो सुवर्ण-मणि-मण्डित मुकुट हैं, वे ही सुवर्णमय शिखर जान पड़ते हैं। पर्वत के भीतर खान से रत्न निकलते हैं तो भगवान् के वक्षःस्थल पर कौस्तुभ-मणि है। भगवान् नारायण कंठ से पैरों तक विस्तृत अपनी कीर्तिरूप वनमाला से शोभित हैं। उस वनमाला पर वेदरूप भ्रमर रम रहे हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि भी वहाँ तक नहीं जा सकते। तीनों लोकों में उनकी रक्षा के लिए घूमनेवाले सुदर्शनचक्र आदि शस्त्र सेवा में उपस्थित हैं और उनके कारण नारायण के निकट तक पहुँचना या उन्हें पाना बहुत कठिन है। ब्रह्माजी ने जब हरि को अपने हृदय में इस प्रकार देख पाया, तभी उन्हें यह ज्ञान हुआ कि लोकों की सृष्टि करने के लिए इन्हीं नारायण से मैं उत्पन्न हुआ हूँ। उसी समय उन्होंने वहीं भगवान् के नाभि-सरोवर में उस कमल को जिस पर आप बैठे थे, अपने को, प्रलयकाल के सागर को, और पवन तथा आकाश को भी देख पाया। इन पाँच पदार्थों के सिवा और कुछ भी उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ। रजोगुण से युक्त विधाता ने प्रजाओं की सृष्टि करने के लिए उद्यत होकर सामग्रीस्वरूप इन्हीं पाँच पदार्थों को जब पाया ‡ तब कैसे सृष्टि करनी चाहिए, यह सूझ न पड़ने के कारण वह उन्हीं पूजनीय, अव्यक्ततत्त्व भगवान् नारायण की स्तुति करने लगे।

## नवाँ अध्याय

### ब्रह्मस्तुति

भगवान् को जानने के कारण अपने को कृतार्थ मानकर अज्ञ जनों के लिए खेद प्रकट करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—भगवन्, बहुत समय तक उपासना करने पर आज मैं आपको जान सका हूँ। अहो, देहधारियों में यही दोष है कि आप भगवान् की गति या रूप को नहीं जान पाते। किन्तु जानने योग्य आप ही हैं। कारण, आप सत्य हैं, और अन्य सब प्रपञ्च असत् है। हे स्वामी, आपसे भिन्न और कुछ नहीं है। अन्य जो कुछ दिखलाई पड़ता है अर्थात् जिसका अस्तित्व प्रतीत होता है, वह शुद्ध सत्व नहीं है, अर्थात् उसकी वह प्रतीति भ्रम है। अगर कहो कि जो है नहीं, उसकी प्रतीति कैसे होती है, तो आप ही माया के गुणों को ग्रहण करके भिन्न-भिन्न

* सर्प का रूपक माया के लिये है। माया के संस्पर्श में आकर ही ब्रह्म व्यक्त होता है। इसीसे शेष के ऊपर नारायण लेटे हैं। सर्पवेष्टित चन्दन-वृक्ष की तरह संसार विषयुक्त माया के लिपटे रहने पर भी भगवान् को उसका विष नहीं व्यापता। भगवान् ज्ञानरूप हैं। ज्ञान चन्दन की सुगंध के समान विकार से रहित है।

‡ सृष्टि के उपादान ये ही पाँच तत्त्व हैं। इन्हीं से सारे संसार की रचना हुई है। इन पाँच तत्त्वों की विशेष व्याख्या इस प्रकार है—नाभिकमल अर्थात् भगवान् में पहले लीन हुआ सूक्ष्म ब्रह्माण्ड—मिट्टी या पृथ्वी; अहंभाव, अर्थात् मैं हूँ, यह भावना और तेज या ज्योति; जल का स्थूलरूप अर्थात् तरल हुई भूतसमष्टि; वायु अर्थात् पूर्व-सृष्टि का बीज; आकाश या अवकाश अर्थात् शून्य।

ब्रह्मा आत्मा को कहते हैं। रजोगुण का अर्थ है, ईश्वर के नियमाधीन होकर नियत कर्म करना।

अनेक रूपों में देख पड़ते हैं। इस कारण मोहवश आपसे भिन्न जो कुछ ( संसार का प्रपंच ) प्रतीत होता भी है तो वह असत् है। अगर यह कहो कि तुम भी मेरे यथार्थ रूप को अच्छी तरह नहीं जानते; यह जो रूप तुमने देखा है, वह भी सगुण ही है; सत्य तो निर्गुण ब्रह्मरूप ही है तो यह मैं जान गया हूँ कि आप विशुद्ध ज्ञानरूप हैं और सदा चित्-शक्ति के आविर्भाव से अविद्या या माया के तमोगुण या रजोगुण का लेश भी आपमें नहीं रहता। आपने स्वतन्त्र रहकर अपनी ही इच्छा से उपासक भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए यह विशुद्ध सत्वमय सगुणरूप ग्रहण किया और मुझे दिखाया है। यही रूप सैकड़ों अवतारों का बीज है। इसी मूर्त्ति की नाभि से प्रकट कमल से मैं उत्पन्न हुआ हूँ। हे परमात्मा, आपका जो रूप अनावृत ज्ञानमय, अद्वितीय, आनन्दमय अर्थात् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म कहलाता है, वह इस रूप से भिन्न नहीं है। वह यही है। आपके इसी रूप से विश्व की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह विश्व भिन्न है, मायामय संसार के धर्म इसे नहीं व्यापते। इसी की विभूति सब इन्द्रियों और तत्त्वों की उत्पत्ति का कारण है। एकमात्र यही उपासना के योग्य है। इसीलिए मैंने इस रूप का आश्रय लिया है, इसकी शरण में आया हूँ। हे त्रिभुवन का मंगल करनेवाले, आपने अपने उपासक मुझको मेरे मंगल के लिए ध्यान में यह रूप दिखाया। आप बड़े दीनदयालु और भक्तवत्सल हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। जो लोग निरीश्वरवाद के कुतर्क करते हैं और इसीलिए नरक के भागी हैं, वे आपका अनादर करने के कारण बड़े ही भाग्यहीन हैं। जो लोग वेदरूपी वायु के द्वारा पहुँचाई गई आपके चरणारविन्दों की सुगंध अर्थात् भगवत्कथा को कानों के द्वारा ग्रहण करते हैं, मतलब यह कि आपकी वेदवर्णित महिमा को अत्यन्त आदर से सुनते हैं और परम भक्ति से आपके चरणों को पकड़े रहते हैं, उन अपने जनों के हृदयों से आप कभी नहीं हटते। अभयदायक आपके चरणों की शरण में जब तक जीव नहीं आता, तभी तक उसे धन, स्त्री, पुत्र, परिवार के लिए ( इनके होने पर वियोग का ) भय, ( इनके छूटने पर ) शोक, ( फिर इनके पाने के लिए ) आकांक्षा, ( उसके पूर्ण न होने पर ) पराभव और भारी लोभ एवं ( इनके फिर किसी तरह मिल जाने पर ) ममता का असत् आग्रह घेरे रहता है। यह ममता ही भय-शोक आदि का कारण है। दैव ने निश्चय ही उनकी बुद्धि हर ली है, जो सब प्रकार के अकल्याण को दूर करनेवाली आपकी चर्चा के सुनने और स्वयं करने से विमुख रहकर विषय-भोगरूप अत्यन्त तुच्छ सुख के लोभ से अमंगलमूल काम्यकर्म ( स्वर्ग आदि लोकों के सुख पाने की कामना से याग-यज्ञ आदि ) करते हैं। हे अच्युत, लोगों को भूख, प्यास, कफ, वात, पित्त, जाड़ा, गर्मी, आँधी-पानी, परस्पर के लड़ाई-झगड़े या ममता-मोह, कामदेव की आग और अजेय क्रोध से पीड़ित देखकर करुणा से मेरे मन को बड़ा खेद होता है—इन मूर्खों पर तरस आता है*। यदि कहो कि यह संसार असत् होने के कारण उसके दुःख भी मिथ्या हैं, फिर उनके लिए विषाद क्यों करते हो? तो हे ईश्वर, यद्यपि यह माया का प्रपञ्च मिथ्या है, तथापि जब तक यह जीव इन्द्रिय, शरीर और अविद्या से उत्पन्न भेदबुद्धि के रहस्य को नहीं जान लेता अथवा देह आदि को आपसे भिन्न देखता रहता है और देहाभिमान को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ देता, तब तक यह अज्ञान के कारण दुःख पहुँचानेवाली कर्मफलरूपिणी माया व्यर्थ होने पर भी नहीं निवृत्त होती। मतलब यह कि तब तक यह जीव संसार-चक्र में पड़कर देहाभिमान से कर्म करता और उनके फल भोगता ही रहता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अच्छा अविवेकियों की यह दशा होती है; लेकिन जो विवेकी हैं, वे तो मुक्त ही हैं। उन्हें भक्ति करके क्या करना है? इसी का समाधान करते हुए कहते हैं कि हे नाथ, जिनकी इन्द्रियाँ दिन के समय घरगृहस्थी के कामकाज और अनेक

*यही त्रिविध ताप हैं। भूख-प्यास आदि आध्यात्मिक ताप हैं। जाड़ा-गर्मी आदि आधिदैविक ताप हैं। परस्पर लड़ाई-झगड़े या मोह-ममता आधिभौतिक ताप हैं।

मनोरथों को पूरा करने के उद्योग में लगी रहकर क्लेश पाती हैं, जो रात सोकर बिताते हैं, किन्तु स्वप्न आदि के कारण वह नींद भी बार-बार उचट जाती है, रात को विषय-सुख का लेश भी नहीं मिलता, जिनके कामों को दैव पूर्ण नहीं होने देता, वे आपकी चर्चा या भक्ति से विमुख लोग चाहे बड़े भारी विद्वान् ज्ञानी भी क्यों न हों, इस संसार से छुटकारा नहीं पाते। परन्तु आपके भक्त अनायास इस संसार से मुक्त हो जाते हैं। कारण, आप अपने भक्तों के भक्तियोग से शुद्ध हुए हृदयकमल पर विराजते हैं। आपके आने का मार्ग आपकी गुणगाथा को कहना, सुनना, पढ़ना और विचारना ही है। आप भक्तों पर इतनी कृपा करते हैं कि वे अपनी इच्छा से जिस-जिस रूप में आपका ध्यान करते हैं, वही-वही रूप आप उन पर अनुग्रह करने के लिए प्रकट करते हैं। निष्काम भक्तों को तो आप अत्यन्त सुलभ हैं, औरों ( कोरे ज्ञानी आदि ) को नहीं। हृदय में कामना रखकर पुष्पोपहार आदि विविध सामग्रियों के द्वारा पूजा करने से देवतों पर भी आप उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना कि सब प्राणियों पर दया करने से प्रसन्न होते हैं। यह सब प्राणियों पर दया का भाव उन लोगों को सर्वथा दुर्लभ है, जो आपके भक्त नहीं हैं। एक आप ही सब प्राणियों में अन्तरात्मारूप से स्थित हैं और उनके सुहृत् अर्थात बिना किसी स्वार्थ के बन्धु हैं। यही कारण है कि आप सब प्राणियों पर दया करने से अत्यन्त संतुष्ट होते हैं। कामना रखनेवालों पर आप अत्यन्त प्रसन्न नहीं होते, इसलिए कामना की प्राप्ति ही यज्ञ आदि कर्मों का उत्तम फल नहीं है, आपको प्रसन्न करना ही उनका उत्तम फल है। कामना-पूर्त्ति तो गौण फल है और जहाँ कामना-पूर्त्ति का उल्लेख है, वहाँ यह समझना चाहिए कि उधर प्रवृत्ति दिलाने के लिए ही वैसा किया गया है। यही बात स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि हे भगवन्, यज्ञ आदि अनेक प्रकार के वेदोक्त कर्म, दान, उग्र तपस्या और विविध व्रत करके उनके द्वारा आपकी आराधना करना ( अर्थात् उन कर्मों का फल आपको अर्पण कर देना ) ही उन कर्मों का श्रेष्ठ फल या परम धर्म है। कारण, इस प्रकार निष्काम भाव से करके आपको अर्पण किया हुआ धर्म-कर्म कभी क्षय को नहीं प्राप्त होता, और सकाम कर्म कामना पूरी करके अर्थात् फल भोगने के उपरान्त नष्ट हो जाता है। इसलिए मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप परमेश्वर हैं। स्वरूपबोध से ही सर्वदा भेदभ्रम को आपने निरस्त कर रक्खा है—मिटा रक्खा है। स्वरूपबोध अथवा आत्मज्ञान ही आपका आधार है। विश्व की उत्पत्ति, पालन और नाश का कारण जो माया है, उसका विलास अर्थात् उसे प्रकट करना ही आपकी क्रीड़ा है। प्राण निकलते समय विवश अवस्था में भी जो लोग आपके अवतारों के गुण और कर्म के अनुरूप सर्वज्ञ, भक्तवत्सल, दीनबंधु, देवकीनन्दन, गोवर्द्धनधारी आदि नामों का उच्चारण कर लेते हैं, वे भी तत्काल उसी जन्म के नहीं, अनेक जन्मों के पापों से छुटकारा पाकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि अचानक मुख से केवल नाम का उच्चारण हो जाने से ही आप कैवल्य मोक्ष दे देते हैं। हे अज, मैं आपके शरणागत हूँ। आप त्रिभुवनाकार महावृक्ष हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप ब्रह्मरूप से स्वयं उस विश्ववृक्ष का मूल हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारणस्वरूप हम ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसकी तीन मोटी शाखाएँ हैं। मरीचि आदि प्रजापति और मनु उसकी अनेक छोटी शाखाएँ हैं। वह प्रधान ( साम्यावस्था ) तत्व को त्रिगुणरूप से फोड़कर उगा और बढ़ा है। हे भगवन्, काल भी आप ही का रूप है। अपनी भलाई के करने में असावधान और व्यर्थ के कामों में लगा हुआ जीव जब तक आपके बतलाए हुए * आपकी पूजारूप कर्म में

---

* गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को उपदेश किया है कि तुम जो कुछ करते हो, भोजन करते हो, हवन करते हो, दान देते हो, तप करते हो, सब मुझे अर्पण कर दो। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

दत्तचित्त हो, तब तक उसके जीवन की आशा को एकाएक प्रकट होकर जल्दी से काट देनेवाले महाप्रबल दुर्निवार कालरूप जो आप हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। उस काल का भय साधारण मनुष्यों को ही नहीं, मुझे भी रहता है। सब लोकों के देहधारी मेरे लोक की वन्दना करते हैं और वह दो परार्ध* के बहुत लंबे समय तक रहनेवाला है। किन्तु उस पद में स्थित होने पर भी मुझे काल का भय रहता है। इसी कारण काल के भय को मिटाने के लिए आपमें मिलने की इच्छा से मैंने बहुत वर्षों तक तपस्या की, अनेक यज्ञ किये। आप ही यज्ञपुरुष और यज्ञ आदि कर्मों के अधिष्ठाता हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अपनी बनाई धर्म की मर्यादा को बचाने के लिए अपनी इच्छा से पशु, पक्षी, जलजन्तु, मनुष्य, देवता आदि जीव-योनियों में अवतार लेकर लीला करनेवाले पुरुषोत्तम† को मैं प्रणाम करता हूँ। अपने आनन्दरूप के अनुभव से विषय-सुख की चाह न रखने अथवा पूर्णकाम आत्माराम होने पर भी उन योनियों के धर्मों से निर्लिप्त रहकर आप लीलाएँ करते हैं, इसी से आप पुरुषोत्तम है। मैं आपके इस शेषशायी रूप को प्रणाम करता हूँ। तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह, महातम, ये अविद्या की पाँच वृत्तियाँ हैं। इसलिए निद्रा का कारण अविद्या ( आलस्य ) ही है। किन्तु निद्रा के कारण अविद्या से दूर होने पर भी आप योगनिद्रा को स्वीकार करके, अपने उदर में सब लोकों को रक्खे, नागशय्या पर भयानक लहरोंवाले जल के भीतर शयन कर रहे हैं। मानों आप अपने दृष्टान्त से यह दिखला रहे हैं अथवा उपहास कर रहे हैं कि अविवेकी जनों को निद्रा का सुख ऐसा ही मिलता है‡। तीनों लोकों की रचना की सामग्री के साथ, अथवा सृष्टिकार्य्य से तीनों लोकों का उपकार करनेवाला, मैं आपके अनुग्रह से ही इस नाभिकमल से प्रकट हुआ हूँ। अपने उदर में संसार-प्रपञ्च को लीन करके रखनेवाले आप योगनिद्रा के अन्त में अपने नयनकमलों को कुछ खोलकर कृपा-दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं। मैं आपकी वन्दना करता हूँ। हे सर्वव्यापक, आप सबके आत्मा, अन्तर्यामी, प्रणतपाल और सब जगत् के हितकारी ईश्वर हैं। आप जिस मोक्ष के साधन ज्ञान और भोग के साधन ऐश्वर्य से इस विश्व को सुखी करते हैं, वही अपना ज्ञान और ऐश्वर्य मुझे भी दीजिए, जिसमें मैं पहले की भाँति फिर इस विश्व की सृष्टि करूँ। हे ईश्वर, आप शरणागत जनों को उनकी इच्छा के अनुसार वर देते हैं। आप ही की आज्ञा के अनुसार मैं विश्व की सृष्टि करना चाहता हूँ। आप अपनी शक्ति लक्ष्मी देवी के साथ सगुण अवतार लेकर जो जो चरित्र करेंगे, उन सब कर्मों में मेरा मन नियुक्त हो अर्थात् आप जो कुछ करना चाहते हैं, वही मैं कर सकूँ। किन्तु मेरी प्रार्थना यह भी है कि वे कर्म करने पर मुझे यह अभिमान न हो कि मैं विश्व का विधाता हूँ, अथवा कर्मफलरूप माया का बंधन मुझे न हो। जलशायी अनन्तशक्तियुक्त आपके नाभिसरोवर से महत्तत्त्व-स्वरूप चित्त का अभिमानी देवता मैं प्रकट हुआ हूँ। मैं आपके इस विचित्र रूप ( विश्वमय विराट् शरीर )

---

* एक हजार चौजुगी में ब्रह्मा का एक दिन होता है। इसी हिसाब से ब्रह्मा की आयु के पहले पचास साल पूर्वार्द्ध और पिछले पचास साल परार्द्ध कहलाते हैं। यहाँ दो परार्द्ध से मतलब ब्रह्मा की पूर्ण आयु से है। ब्रह्मा का कहना यह है कि मेरा इतनी बड़ी परमायु होने पर भी मुझे काल का भय है।

† गीता में भगवान् ने कहा है कि मैं क्षर अर्थात् नाश होनेवाले देह से अतीत हूँ और अक्षर अर्थात् जीवात्मा से उत्तम परमात्मा हूँ। इसीलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। यथा—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिलोके वेदेच प्रथितः पुरुषोतमः॥

‡ अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि अपने जन ब्रह्मा आदि जो पूर्वकल्प में थक गये थे, उनके विश्राम के लिए उन्हें अपने में लीन करके आप यों शयन कर रहे थे। ऐसा अर्थ करने पर यह समझना चाहिए कि ब्रह्माजी कह रहे हैं—आप अपने उदाहरण से यह दिखला रहे हैं कि परोपकार के लिए दुःसह दुःख भी सह लेना चाहिए।

का विस्तार अर्थात् लोकों की रचना करूँगा। उस समय आपकी कृपा से मेरे वेदवाक्यों का लोप न हो। तात्पर्य यह कि जिनसे आपकी महिमा का ज्ञान होता है वे वेद सृष्टि-रचना में लिप्त रहने पर भी मुझे विस्मृत न हों*। मेरी अंतिम प्रार्थना यही है कि यह कृपासागर पुराणपुरुष भगवान् प्रेमपूर्ण मंद मुसकान के साथ अपने नयनकमल खोलकर, इस विश्व की सृष्टि और मुझ दास पर अनुग्रह करने के लिए योगनिद्रा से उठकर अपनी मधुर वाणी से मेरे इस विषाद या मोह को दूर करें कि "मैं सृष्टि कैसे करूँ?"

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, इस प्रकार शारीरिक तप, उपासना और समाधि ( एकाग्रता ) के द्वारा अपने जनक परमेश्वर को देखकर मन और वाणी की गति के अनुसार उनकी स्तुति करके थके हुए ब्रह्माजी चुप हो गये। भगवान् मधुसूदन ने जब देखा कि ब्रह्माजी प्रलयसागर के अनन्त जल को देखकर विषाद को प्राप्त हो रहे हैं और लोकों की रचना के संबंध में अपने अज्ञान के कारण उन्हें खेद हो रहा है, तब उनके अभिप्राय को जानकर अपनी गंभीर वाणी से उनके संपूर्ण मोह को मिटाते हुए नारायण ने कहा—हे वेदगर्भ विधाता, इस विषाद से उत्पन्न आलस्य को छोड़ो और सृष्टि के लिए उद्योग करो। तुम्हारे चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। जिसके लिए तुम मुझसे प्रार्थना कर रहे हो, उसे मैं पहले ही पूर्ण कर चुका हूँ। यदि कहो कि 'फिर मैं क्यों नहीं उसे जान पाता' तो उसके लिए अभी और तप करने की आवश्यकता है। तुम फिर तपस्या करके मुझसे संबंध रखनेवाली विद्या को प्राप्त करो, अर्थात् तप से मेरा ज्ञान प्राप्त करो। तब तप और उस विद्या के बल से तुम अपने हृदय के भीतर मुझमें लीन सब लोकों को स्पष्ट देख पाओगे। भक्ति से युक्त और एकाग्र होकर तुम अपने सहित जीवों तथा सब लोकों को मुझमें लीन और मुझको सब लोकों में तथा अपने में व्याप्त देखोगे। जैसे लकड़ियों में अग्नि रहती है, वैसे ही मुझे सब प्राणियों में जब जीव देख पाता है, तब उसका सारा मोह या अज्ञान मिट जाता है। जब यह जीव पंचतत्त्व, इन्द्रिय, उनके विषय तथा देह की उपाधि से रहित अपने को शुद्ध ब्रह्मरूप में देख पाता है, तभी उसकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि तुम अनेक प्रकार के कर्मों के विस्तार अर्थात् जीवों के अदृष्ट के अनुसार बहुविध प्रजाओं की सृष्टि करोगे, तथापि मेरे असीम अनुग्रह से तुम्हारा आत्मा कभी मोह को न प्राप्त होगा। हे ब्रह्मा, तुम सब देहधारियों में श्रेष्ठ और आदिऋषि हो। इसके सिवा तुमने मुझमें मन लगाया है, इस कारण प्रजाओं की सृष्टि करने पर भी यह पापरूप रजोगुण तुमको नहीं व्यापेगा, अपने वश में नहीं कर सकेगा। देहधारी जीव मुझे नहीं जान सकते। परन्तु अब तुमने मुझे जान लिया है। कारण, तुम मुझे पंचतत्त्व, इन्द्रिय, अहंकार और माया के गुणों से अतीत मानते हो। वास्तव में यही मेरा रूप है। मैं निर्गुण और निराकार ही हूँ। जब तुम्हारे मन में यह विचार आया कि इस कमल का आधार कुछ होना चाहिए और तुम उस आधार को खोजने के लिए कमल की डंडी के छेदों से जल के भीतर पहुँचकर खोजते-खोजते थक गये, तब ऊपर आकर अपने स्थान पर बैठकर यह शंका करने लगे कि इस कमल का आधार तो दिखाई नहीं पड़ता; वह वास्तव में है भी या नहीं। उस समय मैंने यह अपना रूप तुम्हारे हृदय के भीतर ही तुमको दिखाया। उस समय मेरे अनुग्रह और इच्छा से ही तुमने मेरी कथा और महिमा से पूर्ण यह स्तुति की। तप में तुम्हारी निष्ठा होने का कारण भी मेरी इच्छा और अनुग्रह ही है। [भगवान के कहने का तात्पर्य यह है कि यह माया का बन्धन न होना, मुझमें मन लगना, मेरा ज्ञान, मेरे रूप हृदय में दिखाई देना, मेरी स्तुति करना और तप में निष्ठा आदि सब घटनाएँ मेरी ही प्रेरणा और कृपा का फल हैं।] तुमने लोकों की सृष्टि करने की इच्छा से मेरे सगुण रूप को देखकर भी निर्गुण ब्रह्मरूप से ही मेरा

* जैसे वेदवेदांग का ज्ञाता ब्राह्मण भी अगर खेती करता और हल चलाता है तो उसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस विचित्र जगत् की रचना करने से मेरा वेदज्ञान या वेदोच्चारण अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिए, यह समझकर ही ब्रह्माजी ऐसी प्रार्थना करते हैं।

वर्णन किया, इस कारण मै तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो अर्थात् सृष्टि करने का ज्ञान और शक्ति तुम्हें प्राप्त हो। जो पुरुष नित्य इस स्तोत्र का पाठ करके मेरा भजन करेगा, उस पर सब अभिलषित वरों को देने में समर्थ मै शीघ्र ही अत्यन्त प्रसन्न होऊँगा। तत्त्व के जाननेवाले लोगों का मत यही है कि पुरुषों के कुआँ, बावली खुदवाने का, वृक्ष लगाने का, तपस्या, यज्ञ, दान, समाधियोग आदि सब सुकृतों का एकमात्र फल मुझे प्रसन्न करना है। हे विधाता, अहंकारोपाधि से युक्त सब जीवों का मैं ही आत्मा और इसीलिए अत्यन्त प्रिय वस्तुओं में भी सबसे बढ़कर प्रिय हूँ। मुझ आत्मा के रहने पर ही देह आदि वस्तुएँ प्यारी होती हैं*। मर जाने पर वही परमप्रिय शरीर भी अप्रिय हो जाता है, उसे घर से हटा देने की जल्दी पड़ती है। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि मुझसे ही प्रेम अर्थात् मेरी ही भक्ति करे। [अब भगवान् कहते है कि इसलिए तुम मेरी प्रसन्नता के लिए सृष्टि करो।] हे ब्रह्मा, तुम कृतार्थ हो गए हो, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि मेरा ज्ञान तुम्हें हो गया है, मेरी भक्ति भी तुम प्राप्त कर चुके हो। अब तुम्हे कुछ करना नहीं रह गया है। तथापि, बिना किसी और की सहायता के, पूर्वकल्पों के समान, मुझमें लीन त्रिलोकी और उसमें रहनेवाले प्राणियों की सृष्टि करो। इस कार्य में तुमको और किसी के ज्ञान या शक्ति की सहायता नहीं चाहिए; क्योंकि तुम स्वयं सर्ववेदमय और मुझसे उत्पन्न हो। तात्पर्य यह कि तुमको मेरा ज्ञान और शक्ति प्राप्त है, इसलिए ज्ञान और शक्ति में तुम सबसे अधिक हो।

मैत्रेयजी कहते हैं—जगत् की सृष्टि करनेवाले विधाता से यों कहकर और अपने रूप में इस जगत् को उनके आगे प्रकट करके उन प्रधानपुरुष कमलनाभ श्रीनारायण ने अपनी उस मूर्त्ति को छिपा लिया।

# दसवाँ अध्याय

## काल और प्रलय का निरूपण और दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन

विदुरजी ने पूछा—हे मुनिवर, भगवान् के छिप जाने पर सब लोकों के पितामह ब्रह्माजी ने अपने शरीर और मन से कितने प्रकार की प्रजाएँ उत्पन्न कीं? भगवन्, पहले मैं जो अनेक विषयों के प्रश्न आपसे कर चुका हूँ, उनका उत्तर भी क्रम से कहिए और मेरे सब संशयों को दूर कीजिए।

श्रीसूतजी कहते हैं—इस प्रकार विदुरजी के प्रेरणा करने पर प्रसन्न होकर महामुनि मैत्रेयजी अपने हृदय में स्थित उन प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देते हुए इस प्रकार कहने लगे। मैत्रेयजी ने कहा—भगवान् के अन्तर्द्धान होने पर ब्रह्माजी ने उन्हीं श्रीनारायण में अपना मन लगाकर दिव्य सौ वर्ष तक तप किया; क्योंकि भगवान् उनसे ऐसा ही करने के लिए कह गये थे। उसके बाद कमलयोनि ब्रह्मा ने अपने अधिष्ठान कमल को और जल को प्रलयकाल के प्रबल वायु की थपेड़ों से काँपते देखकर तपोबल और अपने में स्थित विद्या के द्वारा विज्ञान और शक्ति के बढ़ने से उस वायु को और जल को पी लिया अर्थात् अपने में लीन कर लिया। तात्पर्य यह कि ज्ञान से उन्होंने जाना कि सृष्टि के पहले ऐसा करने की आवश्यकता है और तपोबल की शक्ति से वैसा ही कर भी डाला। उसके उपरान्त आकाश अर्थात् शून्य में फैले हुए उस अपने अधिष्ठान कमल को देखकर ब्रह्माजी ने अपने मन में विचार किया कि प्रलयकाल में नष्ट हुए लोकों

*जैसा कि श्रुति में लिखा है—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। अर्थात् आत्मा के लिए ही सब प्रिय होता है।

की कल्पना मैं इसी कमल से करूँगा। तब भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं उस कमल-कोष के भीतर प्रवेश किया औ तीन लोकों के रूप में उसके तीन विभाग कर दिये। एक कमल से तीनों लोकों की कल्पना कोई आश्च की बात नहीं है। कारण, वह कमल इतना लंबा-चौड़ा था कि उससे चौदह भुवनों की, बल्कि और भ अधिक लोकों की कल्पना हो सकती थी। इन तीन ही लोकों की रचना करने का कारण कहते हैं कि तीन लोक नित्य उत्पन्न होने और मरनेवाले जीवों के कर्मफलभोग के लिए बनाये गये हैं। यहाँ पर य प्रश्न होता है कि ब्रह्मा भी तो देहधारी जीव है, इसलिए ब्रह्मलोक आदि और लोक भी हर एक कल्प अर्थो ब्रह्मा के प्रत्येक दिन के आदि में उत्पन्न और अन्त में नष्ट क्यों नहीं होते? इसी शंका का समाधा करने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मा का सत्यलोक और अन्य महर्लोक आदि लोक निष्काम कर्म करने का फ हैं, इसलिए इनकी सृष्टि हर कल्प में नहीं होती। यह त्रिलोकी सकाम कर्म का फल है, इसीलिए हर कल में इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है। यह त्रिलोकी ब्रह्मलोक आदि के समान अविनाशी नहीं है ब्रह्मलोक आदि लोक ब्रह्मा की पूरी आयु ( ब्रह्मा की आयु के सौ वर्ष अर्थात् दो पराद्ध ) तक बने रहते हैं उसके बाद महर्लोक आदि लोकों के निवासियों की मुक्ति हो जाती है, अर्थात् उन्हें फिर इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। [महर्लोक आदि की गति कैसे प्राप्त होती है, यह विस्तार के साथ द्वितीय स्कन्ध में बतलाय जा चुका है।]

विदुरजी बोले—आपने अद्भुत कर्म करनेवाले बहुरूप हरि का 'काल' नाम का रूप बतलाया है जिसकी प्रेरणा से सब काम होते हैं, उसका वर्णन कीजिए। उस काल की कल्पना कैसे होती है? का का स्थूल और सूक्ष्म रूप क्या है?

[ यहाँ साधारण रूप से काल के स्वरूप का वर्णन करके अगले अध्याय में विशेष रूप से वर्ण करेंगे। ] श्रीमैत्रेयजी ने कहा—सुनो विदुर, गुणों के रूपान्तर महत्तत्त्व आदि के होने में जो व्यक्त होता है वही काल है। वह आदि और अन्त से रहित और निर्विशेष है। परमपुरुष नारायण ने उसी काल को निमित्तरूप से स्वीकार करके लीला के लिए अपने को ही विश्व के रूप में उत्पन्न किया है। कारण, नारायण या ब्रह्म के सिवा और कोई उत्पन्न करने योग्य वस्तु ही नहीं थी। यही बात पुष्ट करने के लिए काल को सृष्टि का निमित्त ( कारण ) होना दिखलाते हैं कि यह जगत् प्रलय के समय भगवान् की इच्छारूपिणी माया से संहार को प्राप्त होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसके उपरान्त सृष्टि का समय आने पर अव्यक्त स्वरूप काल को कारण बनाकर भगवान् उस विश्व को अपने से अलग करके प्रकट करते हैं। काल अव्यक्त रूप है, इसीसे उसकी निर्विशेषता सिद्ध हुई। तात्पर्य यह कि किसी विशेषण या लक्षण से काल का बो नहीं कराया जा सकता; क्योंकि उसका रूप व्यक्त नहीं है। अब काल के अनादि और अनन्त होने की ब को सिद्ध करने के लिए इस विश्व का भी अनादि और अनन्त होना बतलाते हैं। यह विश्व जैसा अब वैसा ही प्रलय के पहले भी था, और आगे भी होगा।

इस प्रकार साधारणतः काल का निरूपण करके विशेष रूप से उसका निरूपण करने के लिए उस द्वारा उत्पन्न होनेवाली सृष्टि ( सर्ग ) का वर्णन करते हैं। यह सृष्टि नव प्रकार की है और प्राकृत त वैकृत अर्थात् प्रकृति और उसकी विकृति से उत्पन्न उभयात्मक दसवीं सृष्टि सनत्कुमार आदि की उत्प है। उसी काल के द्वारा होनेवाले तीन प्रकार के प्रलय का अब वर्णन करते हैं। इस विश्व का प्रलय त तरह का होता है। एक नित्य प्रलय, दूसरा नैमित्तिक प्रलय और तीसरा प्राकृतिक प्रलय या महाप्रलय काल द्वारा नित्य जो प्राणियों की मृत्यु होती है, यह नित्य प्रलय है। संकर्षण भगवान् के मुख से निक हुई अग्नि जब पाताल से चलकर केवल स्वर्ग तक तीनों लोकों को भस्म कर देती है, तब हर कल्प

नैमित्तिक प्रलय होता है। तीसरा प्राकृतिक प्रलय या महाप्रलय ब्रह्मा की आयु के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर होता है। इसमें ब्रह्मलोक तक का संहार हो जाता है।

अब नव प्रकार की सृष्टि का वर्णन करते हैं। पहली सृष्टि महत्तत्त्व की है। हरि की कालरूपिणी इच्छा से माया के गुणों में न्यूनाधिकता होने को महत्तत्त्व कहते हैं। दूसरी सृष्टि अहंकार की है। जिस अवस्था में द्रव्य ( तत्त्व-सामग्री ), ज्ञान ( मनोमय अंश ) और क्रिया ( इंद्रिय-शक्ति ) का उदय ( बोध ) हो, उसे अहंकार कहते हैं। तीसरी सृष्टि पंचतन्मात्राओं ( शब्द आदि भूतसूक्ष्मों ) की है। ये पंचतन्मात्राएँ ही पृथ्वी आदि स्थूल पाँच तत्त्वों को प्रकट करती हैं। चौथी सृष्टि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की है। पाँचवीं सृष्टि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों की और मन की है। ये देवगण मनोमय हैं। छठी सृष्टि पाँच विभागवाला अविद्या की है। यही अविद्या ( मोह ) जीवों की बुद्धि ( स्वरूप-ज्ञान ) का आवरण और उसे भटकानेवाली है। ये छः प्राकृत ( प्रकृति की ) सृष्टियाँ हैं।

अब वैकृत अर्थात् प्रकृति के विकार से उत्पन्न सृष्टि मुझसे सुनो। वह सृष्टि रजोगुण को स्वीकार करनेवाले, नारायण के उपासक और नारायण के ही स्वरूप ब्रह्माजी की लीला या रचना है। सातवीं मुख्य सृष्टि स्थावर वृक्षों की है। इन स्थावरों के छः भेद हैं—१. वनस्पति ( बिना फूले फलनेवाले गूलर आदि ), २. ओषधि ( फल के पकते ही सूख जानेवाले, जैसे धान, गेहूँ आदि ), ३. लता ( वृक्षों पर चढ़कर या किसी सहारे से फैलनेवाली, जैसे ब्राह्मी आदि की बेल ), ४. त्वक्सार ( जिनका सार त्वचा ही होती है, जैसे बाँस ), ५. वीरुध ( केवल फूलनेवाले, जैसे जूही-बेला-चमेली ), ६. द्रुम ( साधारण पेड़, जैसे आम आदि )। ये स्थावर जड़ से अपना आहार ग्रहण करते हैं और उसका संचार ऊपर की ओर होता है। इनका चैतन्य प्रकट नहीं है; ये केवल स्पर्श का ही अनुभव करते हैं, सो भी भीतर ही, बाहर उसे प्रकट नहीं कर सकते। इनके अनेकों भेद हैं।

आठवीं सृष्टि तिर्यक्योनि के जीवों ( पशु-पक्षियों ) की है। इनका लक्षण यह है कि इन्हें आज, कल, परसों आदि काल का ज्ञान नहीं होता। इनमें तमोगुण बहुत अधिक रहता है, इसलिए केवल भोजन-मैथुन आदि में तत्पर रहते हैं। इन्हें सूँघने से ही इष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है। इनके हृदय में विचारने की शक्ति अथवा दूरदर्शिता का अभाव होता है*। इनके मुख्य अट्ठाईस भेद माने गये हैं। गऊ, बकरा, भैंसा, कृष्ण-सारमृग, सुअर, गवय, रुरु ( एक मृग ), भेंड़ा और ऊँट, ये पशु "द्विशफ" कहलाते हैं। कारण, इनके खुर बीच से फटे होते हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर ( एक मृग ), शरभ, चमरी गाय, ये "एकशफ" कहलाते हैं; क्योंकि इनके खुर फटे नहीं होते। अब "पंचनख" पशु-पक्षियों के नाम सुनो। पृथ्वी पर रहनेवाले कुत्ता, सियार, भेड़िया, बाघ, बिल्ली, खरगोश, स्याही, सिंह, भालू, बंदर और हाथी, जल में रहनेवाले कछुआ, गोह और मगर तथा आकाश में उड़नेवाले कंक, गिद्ध, बटेर, बाज, भास, मोर, हंस, सारस, कौआ, चकवा और उल्लू, इनके पैरों में या पंजों में पाँच नख होते हैं। अन्य तिर्यक्योनि के जिन जीवजन्तुओं, कीड़े-पतंगों का उल्लेख नहीं किया गया, उनको भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत समझ लेना चाहिए।

नवीं सृष्टि मनुष्यों की है। इनका एक ही भेद है। ये मुख से खाते-पीते हैं और उसका संचार नीचे शरीर में होता है। इन मनुष्यों में रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। ये कर्म करने में लगे रहते हैं और दुःख को सुख मानते हैं। ये तीनों सृष्टियाँ वैकृतसर्ग हैं। वैकारिक देवतों की सृष्टि पहले प्राकृत सृष्टि में कही जा चुकी है। उनसे न्यून अन्य देवतों की सृष्टि वैकृत सृष्टि के अन्तर्गत है; किन्तु देवसर्ग होने के

* यही बात इस श्रुति में भी कही है—अथतरेषां पशूनामशनपिपासे एवाभिज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः स्वस्तनं लोकालोकौ इति।

कारण उसकी भी गणना प्राकृत सर्ग के ही अन्तर्गत की जाती है। सनत्कुमार आदि के सर्ग की गणना प्राकृत और वैकृत दोनों सृष्टियों में होती है अर्थात् उनकी गणना देवता और मनुष्य दोनों में है। यह दसवीं सृष्टि है।

वैकृतसृष्टि के अन्तर्गत देवसृष्टि के आठ भेद हैं—१. देवगण, २. पितृगण, ३. असुर, ४. गन्धर्व और अप्सराएँ, ५. यक्ष और राक्षस, ६. भूत, प्रेत और पिशाच, ७. सिद्ध, चारण और विद्याधर, ८. किन्नर किंपुरुष ( घुड़मुँहे ) आदि।

हे विदुर, विश्वविधाता ब्रह्मा की यह दस प्रकार की सृष्टि तुमको सुना चुका। अब इसके उपरान्त वंशों और मन्वन्तरों का वर्णन करूँगा। स्वयंभू ब्रह्माजी इसी प्रकार प्रत्येक कल्प के आदि में सृष्टिकर्त्ता होकर रजोगुण को ग्रहण करके अपने द्वारा अपने को आप ही उत्पन्न करते हैं। कारण, उनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती।

---

# ग्यारहवाँ अध्याय

## सूक्ष्म और स्थूल काल का निरूपण

इस प्रकार साधारणतः काल के उपलक्षण दशविध सर्ग का वर्णन करके उसी काल के विशेषण का निरूपण करने के लिए उससे मापी जानेवाली वस्तु 'परमाणु' और 'परम महान्' का वर्णन पहले करते हैं।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, कार्यस्वरूप जगत् के पृथ्वी आदि अंशों का जो अंतिम अंश है, अर्थात् जिसका विभाग या टुकड़ा नहीं किया जा सकता, वही "परमाणु" है। वह अनेक अर्थात् कार्यावस्था को अप्राप्त और असंयुक्त अर्थात् समष्टिरूप को अप्राप्त है। इसीलिए कार्य और समष्टि अवस्था के न रहने पर भी वह बना रहता है। उसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत् अंश के परस्पर मिलने से प्रत्येक पदार्थ दृष्टिगोचर होता है। बहुत सूक्ष्म परमाणुओं का मिलन होने से उसी पदार्थ को देखकर मनुष्यों को यह भ्रम होता है कि यह एक विशेष पदार्थ या उसका अंग है। परमाणु का वर्णन करके अब परम महान् का निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जिस कार्यरूप पदार्थ का अंत्य भाग अथवा अविभाज्य अंश परमाणु है, वह जब दूसरी अवस्था को नहीं प्राप्त होता, अपने ही रूप में अवस्थित रहता है, तब उसका जो ऐक्य है, उसी का नाम "परम महान्" है। यदि कहो कि कार्य अर्थात् पदार्थ तो परस्पर भिन्न होते हैं, उनमें बहुत-सी विलक्षणता होती हैं, उनमें ऐक्य कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ विशेषता और भेद का ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए यह सारा प्रपञ्च या कार्य परम महान् है। इस प्रकार जैसे सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ का अनुमान किया गया, वैसे ही उसी के द्वारा सूक्ष्म और स्थूल काल का भी अनुमान किया जा सकता है। यह काल परमेश्वर की शक्ति है, आप अव्यक्त होकर भी व्यक्त पदार्थों का भोग करता है अर्थात् उनकी उत्पत्ति और नाश करता है और व्यापक या उत्पत्ति आदि कार्यों के करने में चतुर है। सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म-स्थूल काल का अनुमान कैसे किया जाता है, यही आगे बतलाते हैं। जो काल इस जगत् के प्रपञ्च की परमाणु अवस्था को भोगता है, उसकी संज्ञा परमाणु है और जो काल इस प्रपञ्च की संपूर्णावस्था का भोग करता है, वह परम महान् है। इसको सूर्य की गति से यों समझिए कि सूर्य जितने समय में परमाणु देश को नाँघते हैं, उतने समय को परमाणु और जितने समय में बारह राशियों के अन्तर्गत भुवनकोष की परिक्रमा करते हैं, उतने समय को वर्ष कहते हैं। इसी प्रकार उस वर्ष की आवृत्ति से क्रमशः युग,

मन्वन्तर और दो परार्द्ध तक परम महान् काल का अनुमान किया जाता है। [आगे चलकर पंचम स्कन्ध में सूर्य की गति से ही काल-विभाग का निर्देश करेंगे।]

सूक्ष्म और स्थूल काल का निरूपण कर चुके। अब परमाणु से ऊपर काल की मध्यमावस्था का निरूपण करते हैं। दो परमाणुओं का एक 'अणु' और तीन का 'त्रसरेणु' होता है। परमाणु और अणु आँखों से देख नहीं पड़ते; किन्तु त्रसरेणु प्रत्यक्ष देख पड़ता है। किसी जाली या झरोखे में देखो, तुम्हें सूर्य की किरणों में ऊपर ही को उड़ता हुआ त्रसरेणु देख पड़ेगा। तीन त्रसरेणु को भोगनेवाले काल को 'त्रुटि' कहते हैं। सौ त्रुटि का एक 'वेध' होता है। तीन वेध का एक 'लव' होता है। तीन लव का एक 'निमेष' (जितनी देर में पलक झपकती और खुलती है) होता है*। तीन निमेष का एक 'क्षण' कहलाता है। पाँच क्षण की एक 'काष्ठा' होती है। पंद्रह काष्ठा का एक 'लघु' होता है। पंद्रह लघु की एक 'नाड़ी' होती है। दो नाड़ी का एक 'मुहूर्त्त' होता है। छः या सात नाड़ी का एक 'प्रहर' (पहर) होता है। दिन या रात के घटने में छः नाड़ी का और बढ़ने में सात का पहर समझना चाहिए। दो मुहूर्त्त जो संध्याकाल के होते हैं, उनकी गणना इसमें नहीं की जायगी। प्रहर दिन या रात का चौथाई भाग होता है अर्थात् चार प्रहर का दिन और चार प्रहर की रात होती है। प्रहर का ही दूसरा नाम 'याम' है। अब एक नाड़ी का परिमाण कहते हैं। छः पल ताँबे की बनी कटोरी में चार अंगुल लंबी चार माष† भर सोने की बनी सलाई से छेद करके उसे एक प्रस्थ जल में डाल दे। उस सलाई के बने छेद से जितनी देर में पानी कटोरी में भर जाय और वह कटोरी पानी में डूब जाय, उतने समय की एक नाड़ी होती है। मनुष्यों का चार प्रहर का दिन और चार प्रहर की रात होती है। पंद्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास (महीना) होता है। एक महीने में जो दो पक्ष होते हैं, उन्हें क्रमशः शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष कहते हैं। शुक्लपक्ष पितरों का दिन और कृष्णपक्ष उनकी रात है। दो मास की एक ऋतु और छः मास का एक अयन होता है। बारह मास का एक वर्ष होता है। वर्ष में जो दो अयन होते है, वे दक्षिणायन और उत्तरायण कहलाते हैं। उत्तरायण देवतों का दिन और दक्षिणायन उनकी रात्रि है। ऐसे ही सौ वर्ष की मनुष्यों की पूर्ण आयु मानी गई है। यह काल की प्रत्यक्ष मूर्त्ति सूर्यनारायण ग्रह, नक्षत्र, तारागण की मंडली अर्थात् ज्योतिश्चक्र मे स्थित हैं और परमाणु से लेकर एक वर्ष तक के समय मे बारह राशियों में बँटे हुए भुवनकोश की परिक्रमा करते हैं। इसी प्रकार कालरूप भगवान् सूर्य नित्य अपने उदय और अस्त से सब प्राणियों की आयु को घटाते रहते है, अर्थात् क्षीण करते जाते हैं।

इस वर्ष के संवत्सर, परिवत्सर, इड़ावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर ये पाँच भेद हैं। ये भेद सौर, बार्हस्पत्य, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र गणना के मास-भेद से होते हैं। सौर मास का आरंभ संक्रान्ति से होता है। ऐसे बारह महीनों का वर्ष संवत्सर कहलाता है। बारहों राशियों में बृहस्पति जितने समय में घूम आते हैं, उसके बारहवें अंश को परिवत्सर कहते हैं। चन्द्रमा सत्ताईस नक्षत्रों को जितने समय में भोगते हैं, वह चान्द्र मास कहलाता है। ऐसे बारह महीनों का इड़ावत्सर होता है। चान्द्र वर्ष चैत्र से आरंभ होता है। उसे अनुवत्सर कहते हैं। तीन सौ साठ दिन का सावन वर्ष होता है। उसी को वत्सर कहते हैं। किसी-किसी का मत यह है कि जब शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि को सूर्य की संक्रान्ति होती है, तब सौर और चान्द्र‡ दोनों महीनों का एक साथ आरंभ होता है। वही संवत्सर है। अब सौर मान से वर्ष में छः दिन बढ़ेंगे और चान्द्र मान से छः दिन घटेंगे। इस प्रकार वर्ष में बारह दिन का अंतर पड़ जायगा और दोनों

*इसी को पल या अँगरेजी में 'सेकंड' कहते हैं।

† पाँच घुघची भर तौल का एक माष होता है।

‡ सौर मास की गणना सक्रान्ति से है और चान्द्र मास की गणना शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से होती है।

मास आगे पीछे हो जायँगे। इसी अंतर को मिटाने के लिए पाँच वर्ष में दो अधिक मास (मलमास) जोड़ कर दोनों मासों का आरंभ एक ही दिन कर दिया जाता है। तब फिर छठा वर्ष संवत्सर होता है। हे विदुर, इन पाँच प्रकार के वर्षों के प्रवर्त्तक सूर्यनारायण का पूजन करो। यही अपनी कालरूप शक्ति से विविध कर्म करने की शक्ति को बहुधा प्रवृत्त करते अर्थात् उसके कार्यों की ओर लगाते हुए अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं। तात्पर्य यह कि यही उदय होकर चराचरजगत् को कार्य में प्रवृत्त करते हैं। यह तेजोमंडलरूपी सूर्य महाभूत (अर्थात् तेज नाम का तत्त्व) हैं। कारण, संसार में जितना तेज, गर्मी और प्रकाश देख पड़ता है, उसका मूल यही है। यह पुरुषों के मोह की निवृत्ति के लिए आकाश में पर्यटन करते हैं। तात्पर्य यह है कि इनके उदयास्त से अपनी आयु के क्षय का अनुमान करके मनुष्य विषयों की आसक्ति को छोड़ परलोक बनाने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। यही सकाम लोगों को भी यज्ञ आदि के अनुष्ठान और उनके स्वर्गादि फल की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इसलिए यह सर्वथा पूजनीय हैं।

विदुर ने कहा—भगवन, आपने यह बतलाया कि पितर, देवता और मनुष्यों की आयु अपने-अपने दिनमान से सौ वर्ष की होती है। अब आप उन पुण्यात्मा ज्ञानी जीवों की गति बतलाइए, जो इस त्रिलोकी के बाहर महर्लोक आदि में रहते हैं। कारण, उन लोकों के निवासी और वे लोक साधारण प्रलय में नष्ट नहीं होते, इसलिए उनकी आयु का परिमाण इससे कहीं अधिक होगा। आप सरीखे ज्ञानी जन योगसिद्ध दृष्टि से संपूर्ण विश्व को देख पाते हैं, इस कारण निश्चय ही भगवान के रूप काल की गति आपको पूर्ण रूप से विदित होगी।

मैत्रेयजी ने कहा—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये चार युग हैं। युग-सन्ध्या और अंश* को मिलाकर इन चारों युगों का परिमाण दिव्य (देवतों के) बारह हज़ार वर्ष है। अब उसी का विशेष विवरण कहते हैं। सत्ययुग चार हज़ार वर्ष का है और उसकी संध्या तथा अंश आठ सौ वर्ष का। त्रेतायुग तीन हज़ार वर्ष का है और उसकी संध्या और अंश छः सौ वर्ष का। द्वापरयुग दो हज़ार वर्ष का है और उसकी संध्या तथा अंश चार सौ वर्ष का। कलियुग एक हज़ार वर्ष का है और उसकी संध्या तथा अंश दो सौ वर्ष का। प्रत्येक युग की संध्या और अंश के समय का परिमाण बराबर-बराबर होता है। संध्या और अंश के बीच का समय युग कहलाता है। इसी में गोमेध आदि प्रत्येक युग के विशेष धर्मों का विधान है। सत्ययुग में धर्म चारों चरणों से अर्थात् पूर्ण रूप से मनुष्यों में वर्तमान रहता है। अन्य तीन युगों में क्रमशः बढ़ते हुए अधर्म के चरण एक-एक करके धर्म के चरणों को नष्ट कर देते हैं। इन तीनों लोकों के बाहर जो महर्लोक आदि लोक हैं, उनमें ब्रह्मा के दिन और रात्रि से वर्ष की गणना होती है। एक हज़ार चतुर्युगी में ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है। रात्रि में ब्रह्माजी शयन करते हैं। रात्रि का अन्त होने पर फिर त्रिलोक का कार्य आरंभ होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनु का काल कुछ अधिक ७१ दिव्य युग है। इसी काल को मन्वन्तर कहते हैं†। प्रत्येक मन्वन्तर में एक मनु और उसके वंश के राजा उत्पन्न होकर राज्य करते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में अलग-अलग सप्तऋषि, देवता, इन्द्र और उनके अनुगामी गन्धर्व आदि साथ ही उत्पन्न होते हैं। यह चौदह मन्वतर की सृष्टि ब्रह्माजी प्रतिदिन अर्थात् हर कल्प में करते हैं। तात्पर्य यह कि प्रतिदिन त्रिलोकी की सृष्टि और हर रात को उसका संहार होता है। हर कल्प में अपने कर्मों के अनुसार जीवगण तिर्यक् (पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि), मनुष्य, पितर, देवता, गन्धर्व आदि अनेक योनियों में जन्म लेते हैं। हर एक मन्वन्तर में भगवान् नारायण

*युग के आरंभ का अंश 'सन्ध्या' और अंत का अंश 'अंश' कहलाता है।

†यही बात कोष में भी लिखी है। यथा—मन्वन्तरन्तु दिव्यानां युगानामेक सप्ततिः।

मनु आदि के रूप में सात्विक अवतार लेकर अपने पौरुष के अभ्युदय से इस विश्व की रक्षा करते हैं। जब ब्रह्मा की रात आती है, तब हरि भगवान तमोगुण की मात्रा योगनिद्रा को स्वीकार करके, अपने विक्रम को समेटकर, निश्चेष्ट हो अर्थात् जगत् के व्यापार को निवृत्तकर, शयन करते हैं। उस समय भगवान् की कालरूप शक्ति त्रिलोकी का संहार करके उसके साथ आप भी भगवान में लीन हो जाती है। यही बात अन्य पुराणों में यों लिखी है कि हरि भगवान रात को कालनामधारी ब्रह्मा के साथ शयन करते हैं*। इसलिए इसे प्रलय नहीं, दिन का अन्त ही समझना चाहिए।

जैसे अँधेरी रात चंद्रमा और सूर्य के बिना अंधकारमयी होती है, वैसे ही ब्रह्मा की रात में भी भूः आदि तीनों लोक तमोमय होकर भगवान् में लीन हो जाते हैं। उस समय भगवान की ही शक्ति संकर्षण भगवान् के मुख से आग निकलती है और वह तीनों लोकों को जलाती है। तब उसकी गर्मी महर्लोक में पहुँचती है और उस गर्मी से पीड़ित होकर महर्लोक के निवासी भृगु आदि मुनि वहाँ से जनलोक को चले जाते हैं। जब त्रिलोकी जलकर राख का ढेर हो जाती है, तब उसे चारों ओर से बढ़ते हुए समुद्र एकार्णव बनकर जल में बोर देते हैं। समुद्रों के जल में प्रचण्ड वायु के झकोरों से बड़ी हलचल होती है और बड़ी भयानक लहरें उठने लगती हैं। तब उसी जल के भीतर अनन्त अर्थात् शेष की शय्या पर योगनिद्रा से नेत्र मूँदकर भगवान् हरि ब्रह्मा के साथ शयन करते हैं। जनलोकवासी भृगु आदि मुनि हरि की स्तुति करते रहते हैं। इस प्रकार काल की गति ( अर्थात् सूर्य की गति ) से उपलक्षित दिन और रातें अपने-अपने मान से सौ वर्ष में सभी की आयु क्षीण कर देती हैं। स्वयं सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी भी नहीं बचते। ब्रह्मा की आधी आयु अर्थात् पचास वर्ष का एक परार्द्ध होता है। पहला परार्द्ध बीत चुका है, अब यह दूसरा परार्द्ध बीत रहा है। ब्रह्मा के पहले अर्थात् महाप्रलय के अन्त में ब्राह्म नाम का महाकल्प हुआ था। उसमें शब्दब्रह्म अर्थात् वेदरूप ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी। उसी परार्द्ध के अन्त में जो कल्प हुआ, उसका नाम पाद्मकल्प है। इसी कल्प में हरि की नाभि से वह कमल उत्पन्न हुआ, जिससे ब्रह्मा ने त्रिलोकी की रचना की। ब्रह्मा के दूसरे परार्द्ध के आदि में यह वाराहकल्प हुआ। इसी में हरि ने वाराह अवतार लिया। किन्तु यह दो परार्द्ध का काल अर्थात् ब्रह्मा की पूरी आयु उन निर्विकार, अनन्त, अनादि और जगत् के अन्तर्यामी नारायण का एक निमेषमात्र है। अर्थात् उनके एक पल में ब्रह्मा की आयु बीत जाती है। परन्तु यह एक पल भी भगवान् नारायण की सत्ता को तनिक भी क्षीण नहीं कर सकता। परमाणु से लेकर दो परार्द्धपर्यन्त परिमित यह काल ब्रह्मा तक सभी देहधारियों पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ है; परन्तु परिपूर्ण परमेश्वर पर इसकी कुछ भी प्रभुता नहीं चलती—इसका प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में यह काल तो देह और गेह के अभिमानी तथा माया से मोहित जीवों पर ही अपनी प्रभुता दिखा सकता है; ज्ञानमय ईश्वर पर नहीं।

हे विदुर, आठ प्रकार की प्रकृति ( प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्रा ) तथा सोलह प्रकार के उसके विकारों (दस इन्द्रियाँ, मन और पंचतत्त्व) से बने हुए इस ब्रह्माण्ड का भीतरी भाग पचास करोड़ योजन † विस्तृत है। बाहर पृथ्वी आदि सात स्थूल आवरण इसे घेरे हुए हैं। ये आवरण भी ब्रह्माण्ड के परिमाण से क्रमशः उत्तरोत्तर दसगुने बड़े हैं। इतने-इतने बड़े करोड़ों ब्रह्माण्ड उस ईश्वर के विराट् शरीर के भीतर परमाणु के समान छोटे देख पड़ते हैं। विद्वान् लोग उसी परमेश्वर को अविनाशी ब्रह्म, सब कारणों का कारण कहते हैं। परम-पुरुष महात्मा विष्णु-भगवान् का वही साक्षात् धाम या श्रेष्ठ स्वरूप है।

---

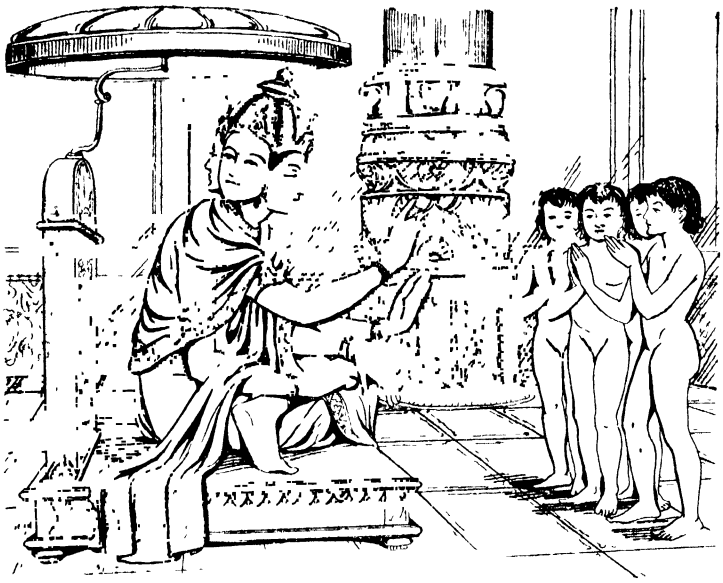
* ब्रह्मणा कालनाम्नातु सहशेते हरिर्निशि।

† एक योजन चार कोस का होता है।

# बारहवाँ अध्याय

## ब्रह्माजी के मन और शरीर से उत्पन्न सृष्टि का वर्णन

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुर, यह मैंने तुमसे परमात्मा की 'काल' नाम से प्रसिद्ध महिमा का वर्णन किया। अब वेदगर्भ ब्रह्मा ने जिस प्रकार प्रजाओं की सृष्टि की, वह भी सुनो। विधाता ने पहले अंधतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तमस* नाम की पाँच अज्ञान की वृत्तियाँ या अविद्या के रूप उत्पन्न किये। परन्तु इस सृष्टि को तमोगुणी देखकर ब्रह्माजी ने अपने को कृतार्थ नहीं माना, अर्थात् प्रसन्न नहीं हुए। तब भगवान् का ध्यान करके मन को पवित्र किया और फिर सृष्टि करने लगे। अबकी विधाता ने अपने पवित्र



मन से सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार के नाम के चार मुनियों को उत्पन्न किया†। ये जन्म से ही निवृत्तिमार्ग के अनुरागी और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हुए। ब्रह्मा ने इन पुत्रों से सृष्टि उत्पन्न करने को कहा; किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। कारण, वे जन्म से ही भगवान् के निष्काम भक्त और परमहंस थे। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग पर चलना नहीं चाहा। इस प्रकार आज्ञा न मानकर जब पुत्रों ने अनादर किया, तब ब्रह्माजी के मन में असह्य क्रोध उत्पन्न हुआ; परन्तु ब्रह्माजी ने अपने विवेक से उस क्रोध के वेग को रोक लिया। यद्यपि ब्रह्माजी ने क्रोध को बहुत रोका, पर वह भीतर रुका नहीं; दोनों भौंहों के

*अपने रूप को न जानने का नाम तम है। देह आदि में "मैं हूँ, मेरा है," इस अहं-भावना का नाम मोह है। विषय-भोग की इच्छा का नाम महामोह है। उस इच्छा मे बाधा पडने से जो क्रोध उत्पन्न होता है, वही तामिस्र है। भोग की इच्छा या शक्ति का नाश होने पर "मैं ही मर गया," इस भावना का नाम अंधतामिस्र है। यथा—

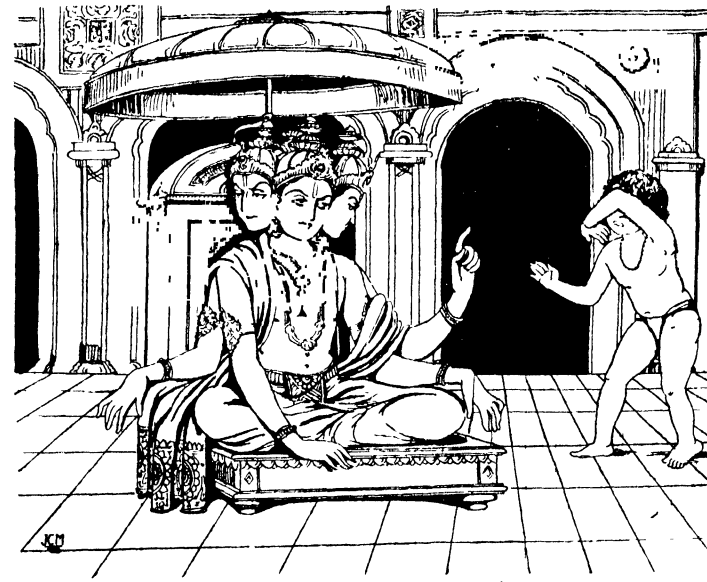
तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखेषणा॥
मरणंह्यन्धतामिस्रं तामिस्रक्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

पतंजलि ने भी अपने योगशास्त्र मे लिखा है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाच क्लेश है। इनका भी भाव वही है, जो ऊपर कह आए है। सूत्र—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

श्रीविष्णुस्वामी ने भी इन्हीं को अज्ञान, विपर्यास, भेद, भय, शोक कहा है।

†यद्यपि प्रत्येक कल्प मे सनक आदि मुनियों की सृष्टि नहीं होती, तथापि ब्रह्मा से ये भी उत्पन्न हुए है, यही बताने के लिए यहाँ इनका उल्लेख कर दिया गया है। इनकी सृष्टि ब्राह्म महाकल्प में ही होती है और अन्य कल्पों में ये बने रहते हैं।

बीच से शीघ्र ही एक नीले-लाल रंग के कुमार के रूप में वह निकल पड़ा। इन्द्र आदि सब देवतों के पूवज भगवान् भव वही हैं। वह कुमार रोता हुआ ब्रह्मा से बोला—'हे विधाता, हे जगत् के गुरु, मेरा नामकरण करो और मेरे रहने के लिए स्थान बताओ।' उस कुमार के ये वचन सुनकर उसकी प्रार्थना पूरी करने की इच्छा से मधुर वाणी में ब्रह्माजी ने कहा—तुम रोओ नहीं, मैं तुम्हारी इच्छा अभी पूरी करता हूँ। हे देवतों में श्रेष्ठ, उत्पन्न होते ही तुम घबराए हुए बालक की भाँति रोने लगे, इसलिए सब प्रजा तुम्हें रुद्र कहेगी। हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप, ये स्थान मैंने पहले ही तुम्हारे लिए नियत कर दिये हैं। इन्ही में तुम निवास करो।



मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत, ये तुम्हारे नाम होंगे। हे रुद्र, धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा, ये तुम्हारी स्त्रियाँ होंगी। इन रुद्राणियों के साथ ये नाम और ग्रहण करके बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो; क्योंकि तुम प्रजापति हो। जगद्गुरु पितामह की यह आज्ञा पाकर रुद्र भगवान् आकृति और स्वभाव में अपने ही समान प्रजा उत्पन्न करने लगे। रुद्र की सन्तान वे असंख्य रौद्र रुद्र अपने तेज और तीव्रता से सारे जगत् को जब ग्रसने अर्थात् भरने लगे, तब ब्रह्माजी बहुत घबराए। घबराने का कारण यह था कि उन रुद्रों को देखकर ब्रह्माजी ने सोचा, मैंने जगत् को बसाने के लिए सृष्टि करनी चाही थी, पर ये तो उसे उजाड़ ही डालेंगे। तब ब्रह्मा ने अपने पुत्र रुद्र से कहा—हे सुरश्रेष्ठ, अब ऐसी तामसी प्रजाओं को न



उत्पन्न करो। ये तो अपनी तीव्र दृष्टि से मुझे और दसों दिशाओं को जैसे जलाए देती हैं। हे रुद्र, तुम्हारा कल्याण हो। तुम अब पहले जाकर सब प्राणियों को सुख देनेवाला तप करो। तप से ही तुम इस जगत् को उसी रूप में उत्पन्न कर सकोगे, जैसा कि यह पहले था। परमज्ञानमय, ज्योतिःस्वरूप, सबके हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित और इन्द्रियों के स्वामी भगवान् को तप करके ही अनायास पाया जा सकता है।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्मा का आदेश पाकर भगवान् रुद्र ने उनकी परिक्रमा की और फिर "बहुत अच्छा" कहकर तप करने के लिए वन में प्रवेश किया। अब फिर ब्रह्माजी सृष्टि के लिए चिन्ता करने लगे। तब भगवान् की शक्ति से युक्त ब्रह्माजी के शरीर से दस पुत्र उत्पन्न हुए। ये प्रजापति हुए। इन्हीं से तीनों लोकों में सृष्टि फैली। उन दस पुत्रों के नाम ये हैं—१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. भृगु, ८. वशिष्ठ, ९. दक्ष, १०. नारद। ब्रह्माजी की गोद से नारदजी, अँगूठे से दक्ष प्रजापति, प्राण अर्थात् श्वास से वशिष्ठ, त्वचा से भृगु, हाथ से क्रतु, नाभि से पुलह, कान से पुलस्त्य, मुख से अंगिरा, आँखों से अत्रि और मन से मरीचि का जन्म हुआ। इसके उपरान्त ब्रह्मा के दाहिने स्तन से धर्म उत्पन्न हुए, जिसमें स्वयं नारायण स्थित हैं। धर्म से नारायण की उत्पत्ति जो आगे चलकर कहेंगे, उसका यही रहस्य है। ब्रह्मा की पीठ से अधर्म की उत्पत्ति हुई। सब लोकों के लिए भयंकर मृत्यु उसी से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मा के हृदय से काम, भौंहों से क्रोध, नीचे के होंठ से लोभ, मुख से वाणी या सरस्वती, लिंगेन्द्रिय से सब सागर और गुदा से पाप का आधार निर्ऋति उत्पन्न हुआ। प्रजापति ब्रह्मा की छाया से कर्दम प्रजापति का जन्म हुआ। यह देवहूती नाम की मनुकन्या के पति हुए। इस प्रकार ब्रह्माजी के शरीर और मन से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ।



पहले कह आये हैं कि ब्रह्मा के एक वाक् या सरस्वती नाम की सुंदरी कन्या उत्पन्न हुई। हमने सुना है कि उस इच्छा न रखनेवाली मनोहर कन्या को देखकर ब्रह्माजी मोहित हो गये और काम से उन्मत्त हो उसकी ओर चले*। इस प्रकार पिता की बुद्धि अधर्म में प्रवृत्त देखकर मरीचि आदि ब्रह्मा के पुत्र विनयपूर्वक इस प्रकार उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा—पिताजी, आप जो काम करना चाहते है, आपसे

*यह एक रूपक है। इसका तात्पर्य यह है। ब्रह्मा नाम आत्मा का है। मरीचि आदि ज्ञान के नाम हैं। आत्मारूप ब्रह्मा जब अपने से उत्पन्न अपनी कर्मशक्ति अथवा मायास्वभावरूप कन्या की ओर आकृष्ट होकर उसमें भोग करने के लिए उन्मत्त-से हो उठे और स्वभावशक्ति मे मिलित होने लगे, तब सृष्टि-चैतन्याभिमानी होने के कारण ज्ञानरूप उनके मरीचि आदि पुत्र उन्हें उसे कार्य से निवृत्त करते हुए समझाने लगे कि आत्मा का यह पूर्व-स्वभाव नहीं है। आत्मा किसी में मिलनेवाला नहीं है। आत्मा अगर माया या प्रकृति के वश हो जाय तो उसकी सभी शक्तियाँ माया मे लिप्त होगी। तब मुक्ति अर्थात् आत्मा के स्वभाव का नाश होना स्वयंसिद्ध है। तात्पर्य यह कि ज्ञान, विवेक आदि आत्मा को माया में लिप्त होने से भोग से निवृत्त करते हैं। मरीचि आदि के विष्णु-स्मरण का मतलब यह है कि ज्ञान आदि शक्तियाँ जीवात्मा को परमात्मा के चैतन्य से चैतन्यमय रखने के लिए ही हैं। वे आत्मा के हित की चेष्टा करने लगीं।

पहले अन्य महाकल्पों में उत्पन्न होनेवाले अन्य ब्रह्मा आदि ने न किया होगा और न अब आगे ही कोई करेगा। आप समर्थ होकर काम का दमन नहीं करते, और कन्या से रमण करना चाहते हैं, यह सर्वथा अनुचित है। हे जगत्पिता, आप सरीखे तेजस्वी महापुरुषों की भी बड़ाई इस काम से नहीं हो सकती। कारण, आप सरीखे महापुरुषों के चरित्र को आदर्श मानकर लोग उसी के पीछे चलते हैं और उनका कल्याण होता है। यदि आप जैसे आदर्श महापुरुषों का ही चरित्र निकृष्ट या दूषित होगा तो सारा संसार उसे देखकर कुमार्ग पर चलने लगेगा। इस प्रकार ब्रह्मा से प्रार्थना करके उनके क्रुद्ध होने से डरकर मरीचि आदि प्रजापति भगवान् नारायण से प्रार्थना करते हैं—जो भगवान् अपने ज्ञान अर्थात् चित्शक्ति से इस विश्व को प्रकट करते हैं, वही इस समय धर्म की रक्षा करें।

अपने आगे खड़े होकर इस प्रकार कह रहे अपने पुत्र प्रजापतियों को देखकर प्रजापतियों के पति ब्रह्माजी ने लज्जित होकर उस शरीर अर्थात् वासना को छोड़ दिया। उस घोर शरीर को दिशाओं ने ले लिया। वही कुहरे के तमोमय रूप से दिशाओं में देख पड़ता है।

उसके बाद ब्रह्माजी अन्य एक समय में बैठे हुए यह सोच रहे थे कि ये सब लोक अर्थात् प्रजाएँ जैसी पहले कल्प में थीं, वैसी ही कैसे उत्पन्न करूँ? उस समय ब्रह्माजी के चारों मुखों से चारों वेद उत्पन्न हुए। वेदों के साथ ही चातुर्होत्र (होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इन चारों के कर्म), विविध यज्ञ-विधि अर्थात् कर्मकाण्ड, चार उपवेद, नीतिशास्त्र, धर्म के चार चरण, चारों आश्रम और उनकी वृत्तियाँ भी उत्पन्न हुईं।

विदुर ने पूछा—हे तपोधन, ब्रह्माजी ने किस मुख से किस वेद आदि की सृष्टि की, यह आप मुझे बतलाइए। उन्होंने इनमें से जिस-जिस वस्तु को जिस मुख से उत्पन्न किया हो, सो अलग-अलग कहिए।

मैत्रेयजी ने कहा—ब्रह्मा के पूर्वमुख से ऋग्वेद, आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक और शास्त्र * की उत्पत्ति हुई। दक्षिणमुख से यजुर्वेद, धनुर्वेद अर्थात् युद्धशास्त्र और इज्या † की उत्पत्ति हुई। पश्चिममुख से सामवेद, गान्धर्ववेद अर्थात् गान-विद्या और स्तुतिस्तोम ‡ की उत्पत्ति हुई। उत्तरमुख से अथववेद, स्थापत्यशास्त्र अर्थात् विश्वकर्मा का शास्त्र अथवा सब तरह की कारीगरियाँ और प्रायश्चित्त § की उत्पत्ति हुई। सर्वज्ञ ब्रह्माजी ने इतिहास-पुराणरूप पाँचवे वेद को सभी मुखों से उत्पन्न किया। विधाता के पूर्व-मुख से षोड़शी और उक्थ, दक्षिण मुख से पुरीषी और अग्निष्टोम, पश्चिममुख से आप्तोर्याम तथा अतिरात्र और उत्तरमुख से वाजपेय और गोसव नाम के § यज्ञ के कर्म और भेद उत्पन्न हुए। इसी प्रकार ब्रह्माजी के पूर्व आदि मुखों से विद्या (शौच), दान (दया), तप और सत्य ÷ ये धर्म के चार चरण और वृत्तियों के साथ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ये चारों आश्रम भी उत्पन्न हुए। ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में से प्रत्येक की चार-चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं। सावित्र, प्राजापत्य, ब्राह्म और बृहत्, ये चार ब्रह्मचारी के

*वे स्तुति के वेदमन्त्र, जो सामवेद की तरह गाये नहीं जाते। इन्हें यज्ञ में होता पढ़ता है।

†देवताओं की पूजा। यह काम यज्ञ में अध्वर्यु करता है।

‡गाकर पढ़ी जानेवाली सामवेद की ऋचा। इन्हें यज्ञ में उद्गाता पढ़ता है।

§यह कर्म यज्ञ में ब्रह्मा का होता है।

$षोड़शी और उक्थ यज्ञ के अंगरूप प्रधान कर्म हैं। पुरीषी अग्निचयन कर्म का नाम है। अग्निष्टोम आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे-बड़े यज्ञ हैं।

÷ईश्वर के ज्ञान से आत्मा की शुद्धि का नाम शौच या विद्या है। प्राणियों को अभय देने का ही दूसरा नाम दया है। जैसा कि स्मृति कहती है—

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमामता।

और—

भूताभयप्रदानस्य कलां नार्हन्तिषोडशीम्।

व्रत ब्रह्मचर्य की वृत्तियाँ है। ब्रह्मचर्य व्रत सावित्र व्रत कहलाता है। गायत्री पढ़ते समय ब्रह्मचारी जो तीन रात्रि का व्रत करता है, वह प्राजापत्य व्रत कहलाता है। वर्ष भर व्रतों का आचरण या नियमों का पालन ब्राह्म व्रत है। वेदपाठ पर्यन्त व्रत का नाम बृहत् या नैष्ठिक व्रत है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम की चार वृत्तियाँ वार्ता, संचय, शालीन और शिलोंछ हैं। जिसका निषेध नहीं किया गया, उस खेती करने को वार्ता कहते हैं। यज्ञ कराने, पढ़ाने और दान लेने की वृत्ति का नाम संचय है। अयाचित वृत्ति का नाम शालीन है और कटे हुए खेत में से गिरे हुए अन्न को बीन लाकर उससे जीविका चलाने का नाम शिलोंछ वृत्ति है। वैखानस बालखिल्य, औदुम्बर और फेनप, ये चार प्रकार के वानप्रस्थ होते हैं। संन्यासियों के भी कुटीचक, बह्वोद हंस और निष्क्रिय, ये चार भेद हैं। ब्रह्मदर्शन की इच्छा से तप करने के लिए वन में जाकर रहनेवाले साधक वानप्रस्थ कहलाते हैं। वास्तव में यह आश्रम संन्यासाश्रम की तैयारी के लिए बीच में बनाया गया है। वानप्रस्थों की पूर्वोक्त चार श्रेणियों में वैखानस वे कहलाते हैं, जो गिरे हुए अन्न को या बिना जोते बोये तिन्नी के चावल आदि जंगली अन्न को खाकर उसी में सन्तुष्ट रहकर ब्रह्म का चिन्तन करते हैं। बालखिल्य वे हैं, जो आहार जमा नहीं करते, नया अन्न मिल जाने पर पूर्वसंचित अन्न को फेंक देते हैं। औदुम्बर वे है, जो सबेरे उठकर जिधर दृष्टि गई उधर ही जाकर वन के कंद-मूल, फल आदि ले आते और उन्हीं को खाकर जीते हैं। फेनप वे हैं, जो अत्यन्त हिंसावृत्तिहीन होने के कारण अपने हाथ से फलों को भी नहीं तोड़ते, आपसे पककर पृथ्वी पर गिर पड़े फल आदि बटोर लाकर उनसे अपनी जीविका चलाते हैं। संन्यासाश्रम सिद्ध आश्रम है। इसके भी चार संप्रदाय ऊपर बतला चुके हैं। इनमें कुटीचक वे हैं, जो कुटी बनाकर एक जगह रहते और अपने आश्रम के कर्मों को प्रधान मानते हैं। बह्वोद वे हैं, जो कर्म का त्याग करके ज्ञान को प्रधान मानते हैं। हंस वे हैं, जिनमें देहाभिमान नहीं रह जाता, केवल ज्ञानाभ्यास की निष्ठा रहती है। निष्क्रिय वे हैं, जो आत्मा में परमात्मा का दर्शन करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं। ये चारों उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

इसके उपरान्त ब्रह्माजी के चारों मुखों से क्रमशः आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कविद्या, मोक्ष-धर्म-अर्थ काम की देनेवाली त्रयीविद्या, वार्ता ( व्यवहार-शास्त्र ) और दण्डनीति उत्पन्न हुई। फिर भूः, भुवः, स्वः ये तीनों व्याहृतियाँ * अलग-अलग तथा तीनों मिलकर एकत्र पूर्व आदि चारों मुखों से उत्पन्न हुई। प्रणव अर्थात् ओंकार ब्रह्माजी के हृदय से उत्पन्न हुआ। वेद के सातों छन्द और सब अक्षर भी ब्रह्माजी के शरीर से उत्पन्न हुए। पहले कह आये हैं कि ब्राह्म महाकल्प में ब्रह्माजी शब्दब्रह्मरूप से प्रकट हुए थे। उसीको दिखाते हुए अब ब्रह्मा के शरीर से वैदिक छन्दों और अक्षरों की उत्पत्ति कहते हैं। उष्णिक् छंद ब्रह्माजी के रोमों से, गायत्री छंद त्वचा से, त्रिष्टुप् छंद मांस से, अनुष्टुप् छंद स्नायुओं से, जगती छंद हड्डियों से पंक्ति छंद मज्जा से, बृहती छंद प्राणवायु से उत्पन्न हुआ। स्पर्श-संज्ञक अक्षर ( कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ) ब्रह्माजी का जीव हुए। अकार आदि स्वर उनकी देह हुए। ऊष्मसंज्ञक वर्ण ( श, ष, स, ह ) उनकी इन्द्रियाँ हैं। अंतःस्थ अक्षर ( य, र, ल, व ) उनका बल हैं। निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज मध्यम, धैवत् और पंचम ये गानविद्या के सातों स्वर प्रजापति ब्रह्मा की क्रीड़ा से उत्पन्न होते हैं। व्यक्त अर्थात् वैखरी वाणी और अव्यक्त अर्थात् प्रणव शब्दब्रह्मरूप ब्रह्माजी के ही रूप हैं। अव्यक्त रूप ( प्रणव

---

*किसी-किसी का मत यह है कि चौथे मुख से 'महः' यह चौथी व्याहृति उत्पन्न हुई। पर आश्वलायन का मत यही है कि तीन व्याहृतियाँ व्यस्त और समस्तरूप से चारो मुखों से उत्पन्न हुई। यथा—"एवं व्याहृतयः प्रोक्ताः व्यस्ता समस्ता इति।" किन्तु श्रु पहले ही मत का समर्थन करती है। यथा—

"भूर्भुवःस्वरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयस्तासामुहस्मैतां चतुर्थीमाह। वाचमस्य प्रवेदयते महः इति।"

से परिपूर्णस्वरूप ब्रह्म और व्यक्त स्वरूप ( वैखरी ) से अनेक इन्द्र आदि शक्तियों से विस्तृत सर्वव्यापी नारायण प्रकाशित होते हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्ताव्यक्तरूप शब्दब्रह्ममय ब्रह्मा मे ही निर्गुण और सगुण परमेश्वर का बोध होता है।

ब्रह्मा का शब्दब्रह्ममय रूप तो सदा रहता ही है, उसका तो प्रसंगवश यहाँ वर्णन कर दिया गया है। उसके अतिरिक्त पहले के कामासक्त शरीर को, जिससे कुहरा बना, छोड़कर ब्रह्माजी ने सृष्टि के लिए अनिषिद्ध कामासक्त शरीर ग्रहण करके मरीचि आदि ऋषियों की सृष्टि की। किन्तु उससे भी सृष्टि का विस्तार न होते देखकर ब्रह्माजी ने अन्य शरीर धारण किया और सृष्टि की वृद्धि के लिए सोचते हुए अपने मन में विचारने लगे कि अहो प्रभावशाली ऋषियों को मैंने सृष्टि बढ़ाने के लिए उत्पन्न किया; पर वे भी सृष्टि को नहीं बढ़ा सके। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं हर घड़ी सृष्टि को बढ़ाने के काम में तत्पर हूँ, फिर भी प्रजाओं की वृद्धि नहीं होती। निश्चय ही दैव इसमें बाधा डाल रहा है—सब काम बिगाड़ रहा है। ब्रह्माजी जब इस प्रकार दैव की ओर देखकर यथोचित विचार कर रहे थे, उसी समय उनके उस शरीर के दो भाग हो गये। आश्चर्य से ब्रह्मा का शरीर दो खंड हो गया, इसीसे शरीर को अब भी "काय" कहते है। उन दोनों खंडों से स्त्री और पुरुष का एक जोड़ा उत्पन्न हुआ। पुरुष तो स्वयंसिद्ध राजा स्वायंभुव मनु हुए और स्त्री उन्हीं महात्मा की रानी शतरूपा कहलाई। तब से मैथुन के द्वारा प्रजाओं की उत्पत्ति और वृद्धि होने लगी।



स्वायंभुव मनु के शतरूपा रानी में पाँच सन्तानें हुईं। प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नाम की तीन कन्याएँ हुईं। मनु ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से, मँझली लड़की देवहूति का विवाह कर्दम प्रजापति से और प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति से कर दिया। मनु की इन तीनों कन्याओं के वंश से सारा जगत् परिपूर्ण हो गया।

# तेरहवाँ अध्याय

## वाराह अवतार का होना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित, मैत्रेय मुनि के श्रीमुख से यह सृष्टि का वर्णन सुनकर वासुदेव की कथाओं का आदर करनेवाले विदुर ने फिर यों पूछा।

विदुर ने कहा—हे मैत्रेयजी, ब्रह्माजी के प्रिय पुत्र स्वायंभुव मनु ने अपनी प्रिय पत्नी शतरूपा को पाकर फिर क्या किया? इन आदिराजा और राजर्षि का चरित्र आप मुझे सुनाइए। यह भगवान् के भक्त थे, इसीलिए इनके चरित्र सुनने की मुझे श्रद्धा है। जिनके हृदय में भगवान् के चरणकमल निवास करते हैं, उन भक्त महापुरुषों के गुण अर्थात् चरित्र सुनना सर्वथा श्रेयस्कर है। बहुत दिन तक परिश्रम करके जो कुछ शास्त्र-पुराण आदि सुने जाते हैं, उनका मुख्य फल यही है कि उनके द्वारा भगवद्भक्त सज्जनों की चर्चा हो।

शुकदेवजी कहते हैं—श्रीकृष्ण भगवान् जिनकी गोद में चरण रखकर शयन करते थे, उन महाभाग्यशाली भगवद्भक्त और कृष्णचन्द्र के चरणसेवक विदुरजी ने नम्रतापूर्वक इस प्रकार जब भगवान् से संबंध रखनेवाली कथा कहने के लिए प्रवृत्त किया, तब मैत्रेय मुनि आनन्द से पुलकित होकर यों कहने लगे।

मैत्रेयजी ने कहा—हे विदुर, अपनी पत्नी के साथ उत्पन्न स्वायंभुव मनु ने हाथ जोड़कर प्रणत होकर ब्रह्माजी से कहा—हे वेदगर्भ पिताजी, आप ही हम सबके जन्मदाता पिता और वृत्तियों की कल्पना करके हमारा पोषण करनेवाले हैं। यद्यपि आपको हमसे कोई आकांक्षा नहीं हो सकती, तथापि हमें आज्ञा दीजिए कि हम आपकी सेवा के लिए क्या काम करें? हमारी शक्ति जिन कामों को करने में समर्थ है, उनमें कौन ऐसा काम है, जिससे आपकी सेवा होगी? हम जानते हैं कि आपकी सेवा करने से ही इस लोक में हमारा यश होगा और परलोक में हमारी सद्गति होगी; क्योंकि पिता की सेवा करना ही पुत्र का एकमात्र धर्म या कर्त्तव्य है—उसीसे उसका यह लोक और परलोक बनता है। हे सर्वव्यापक स्वामी, आपको मैं प्रणाम करता हूँ।

ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्र, हे पृथ्वीपति, मैं तुम पर प्रसन्न हुआ। तुम दोनों ( पति और पत्नी ) का कल्याण हो। कारण, तुमने स्वयं शुद्ध हृदय से यह प्रार्थना की कि हमें आज्ञा दीजिए। हे वीर, पुत्रों को पिता के प्रति ऐसा ही व्यवहार, ऐसी ही भक्ति करना उचित है। यही सबसे बढ़कर पिता की पूजा है कि सावधान होकर सादर यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन किया जाय। अब मेरी यही आज्ञा है कि इस अपनी पत्नी में तुम अपने ही समान सुशील और गुणी सन्तान उत्पन्न करके धर्म से पृथ्वी का पालन और यज्ञ आदि से परमपुरुष नारायण की आराधना करो। हे राजन्, प्रजा की रक्षा और पालन करके ही तुम मेरी सर्वोपरि सेवा करोगे। प्रजा का पालन करने से हृषीकेश भगवान् भी तुम पर सन्तुष्ट होंगे। हे पुत्र, हरि को प्रसन्न करना ही सब प्राणियों का श्रेष्ठ कर्त्तव्य अथवा धर्म है। जिनके ऊपर यज्ञपुरुष भगवान् नहीं प्रसन्न होते, उनका सारा परिश्रम ही व्यर्थ है। कारण, वे स्वयं अपने आत्मा ( परमात्मा ) का निरादर करते हैं। फिर उनका कल्याण कैसे हो सकता है?

स्वायंभुव मनु ने कहा—हे पापनाशन पिताजी, मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। परन्तु हे प्रभो, मेरे और मेरी प्रजाओं के बसने के लिए स्थान तो बतलाइए। सब प्राणियों का निवासस्थान पृथ्वी तो जल में डूबकर नीचे चली गई है। हे देव, पृथ्वीदेवी को जल के ऊपर लाने का कोई यत्न कीजिए तो काम चले।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, ब्रह्माजी ने जब पृथ्वी को जल में डूबा देखा, तब बहुत समय तक

अपने मन में विचार करते रहे कि 'इसे कैसे ऊपर लाया जाय। एक बार तो मैंने योगबल से प्रलयसागर का जल पी लिया था। किन्तु फिर सृष्टि करते समय यह जलराशि उत्पन्न हो गई है, और पृथ्वी डूबकर रसातल में चली गई। अब मुझे क्या करना चाहिए? कारण, ईश्वर ने हम सबको (मुझे और मेरी सन्तानों को) सृष्टि उत्पन्न करने के लिए नियुक्त किया है, और उस सृष्टि के बसने के लिए पृथ्वी की अत्यन्त आवश्यकता है। मुझे तो कुछ उपाय नहीं सूझता। जिन नारायण के हृदय से मेरा जन्म हुआ है, वही ईश्वर मेरे द्वारा इसका उपाय करें।' हे कुरुश्रेष्ठ, जिस समय ब्रह्माजी इस प्रकार अपने मन में विचार कर रहे थे, उसी समय उन्हें छींक आई और उनकी नाक के छेद से सहसा अँगूठे भर के आकार का एक वराह का बच्चा निकल पड़ा *। ब्रह्माजी के देखते-ही-देखते क्षण भर में वह शूकर-शिशु आकाश में ही हाथी के बराबर बन गया। यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात हुई। मरीचि आदि विप्र, चारों सनकादि कुमार और मनु के साथ ब्रह्माजी उस अद्भुत शूकररूप को देखकर अनेक प्रकार की तर्कणा करने लगे। वह कहने लगे—यह शूकर का रूप रक्खे हुए कौन है? यह अवश्य ही कोई दिव्य जीव मेरे आगे खड़ा है। अहो! बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि यह मेरी ही नाक के छेद से निकला है। पहले अँगूठे की पोर भर के डील का देख पड़ा, और क्षण ही भर में एक मोटी और बड़ी शिला के आकार का बन गया! कदाचित् यह यज्ञपुरुष भगवान् ही इस रूप में प्रकट होकर मुझे आश्चर्य में डाल रहे हैं।



ब्रह्माजी अपने पुत्रों के साथ इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि इतने में पर्वताकार होकर भगवान् यज्ञपुरुष गरजे। वह गरजने का शब्द दसों दिशाओं में गूँज उठा और अब हमारी प्रार्थना पूरी हुई, यह जानकर ब्रह्माजी और उनके मरीचि आदि पुत्रों को हर्ष हुआ। अपनी चिन्ता को मिटानेवाली मायामय वराह भगवान् की वह घुरघुराहट सुनकर जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के निवासी मुनि ऋक्, यजु और सामवेद के पवित्र मंत्रों से उनकी

*यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्रह्माजी में क्या पृथ्वी को जल के ऊपर लाने की शक्ति नहीं थी? या भगवान् उन्हींके द्वारा यह कार्य क्या नहीं करा सकते थे। इसका समाधान यह है कि ब्रह्मा ईश्वर की रजोगुणी मूर्त्ति हैं। उनका काम केवल सृष्टि करना है। सृष्टि की रक्षा करना सतोगुणमय नारायण का ही कार्य है। इसी से नारायण ने शूकरावतार लेकर पृथ्वी का उद्धार किया और लोकों को उस पर बसाया। भागवत के अनेक स्थलों में इस बात को कहा है कि रजोगुणी ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, सतोगुणी विष्णु उसकी रक्षा या पालन और तमोगुणी रुद्र संहार करते हैं।

स्तुति करने लगे। मुनियों के मुख से अपने गुणों का वर्णन करनेवाले वेद का उच्चारण सुनकर देवतों के अभ्युदय के लिए भगवान् यज्ञपुरुष वराहजी फिर गरजकर उस प्रलय के महाजल में कूद पड़े। जैसे गजराज जलविहार के लिए जल में प्रवेश करता है, वैसे ही भगवान् ने भी उस जलराशि के भीतर प्रवेश किया! [ जल में फाँदते समय वराह भगवान् के रूप का वर्णन करते हैं। ] उस समय कठोर शरीर, रोम और त्वचावाले, आकाश में स्थित वराहजी गर्दन के बाल फटकारकर, पूँछ उठाए, अपने खुरों से मेघों को छिन्न-भिन्न करते हुए, कुछ निकली हुई श्वेतवर्ण दाढ़ों को चमकाते हुए पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उद्यत दिखाई पड़े। उनकी ज्योतिर्मय दृष्टि ही उनके आगे के अन्धकार को दूर कर रही थी। शूकररूपधारी स्वयं यज्ञपुरुष नारायण सूँघकर पृथ्वी को खोज रहे थे। शूकर का यही स्वभाव होता है कि वह सूँघकर ही प्रत्येक वस्तु को पहचानता है। कराल दाढ़ोंवाले भगवान् प्रसन्न कृपा-दृष्टि से उन स्तुति कर रहे ब्राह्मणों की ओर देखकर जल में जब फाँदे, तब बड़े वेग से फाँदने के कारण भगवान् के वज्रतुल्य अंगों की चोट से समुद्र का जल जो फटा सो मानों उसकी कोख फट गई और जल फटने का जो घोर शब्द हुआ सो मानों वह सागर लहरों की बड़ी-बड़ी भुजाएँ ऊपर उठाकर पीड़ा के मारे चिल्लाने लगा कि हे यज्ञेश्वर, मेरी रक्षा करो, रक्षा करो!

यज्ञमूर्त्ति वराह भगवान् आगे चौड़े क्षुरप्र नाम के बाणों के समान बने हुए खुरों से जल को चीरते हुए अपार समुद्र के पार अर्थात नीचे के तल तक पहुँच गये और वहाँ उन्होंने पृथ्वी को पाया। पहले प्रलयकाल में जल के भीतर योगनिद्रा में शयन करते समय जिस जीवों के रहने के स्थान पृथ्वी को अपने उदर में भगवान् धारण किये रहे, उसे यदि वह अनायास उठा लावें तो कौन आश्चर्य की बात है? वराहजी ने उस पृथ्वी को रसातल से अपनी दाढ़ पर उठा लिया। उस समय जल के भीतर वह बहुत ही शोभायमान हुए। इतने में गदा ताने हुए हिरण्याक्ष दानव राह रोककर सामने से आता दिखाई पड़ा। यह देखकर भगवान् बहुत ही कुपित हुए। कोप के कारण वराहजी का मुख सुदर्शनचक्र के समान लाल दिखाई पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय उस दैत्य को मार डाला। उसका रक्त भगवान् के थूथन और गालों में लगा हुआ था, जिससे उनकी ऐसी शोभा हुई, जैसी गेरू के पहाड़ की पृथ्वी को दाँतों से खोदनेवाले हाथी की गेरू से रँग जाने पर शोभा होती है। तमाल के दल के समान नीलवर्ण वराहजी हाथी की तरह लीलापूर्वक श्वेतवर्ण दाढ़ की नोक पर अनायास पृथ्वी को उठाए हुए जल के ऊपर आए। उन्हें देखकर हाथ जोड़कर ब्रह्मा और उनके पुत्र मुनिगण इस प्रकार वैदिक सूक्तों के भाव से परिपूर्ण स्तुति करने लगे।

ऋषिगण कहने लगे—हे अजित, हे यज्ञमय, आपकी जय हो, जय हो। वेदमय अपने शरीर को हिला रहे जो आप हैं, उन्हें प्रणाम है। आपके रोमछिद्रों में सब यज्ञ भरे पड़े हैं। भूमि का उद्धार करने के लिए शूकरावतार हरि को प्रणाम है। हे देव, आपके इस यज्ञमय पवित्र रूप को पापी लोग नहीं देख पाते। सब छंद आपके इस शरीर की खाल हैं, कुश रोमावलि हैं, आज्य दोनों नेत्र और चातुर्होत्र कर्म चारों चरण हैं। हे, ईश्वर आपका तुण्ड अर्थात् थूथन स्रुक् है। नाक के दोनों छेद स्रुव हैं। उदर इड़ा अर्थात् यज्ञ का भोजनपात्र है। कानों के छेद चमस नाम के यज्ञ के पात्र हैं। मुख प्राशित्र अर्थात् ब्रह्मा के भाग का पात्र है। मुख के भीतर का छिद्र सोमपात्र है। आपका भोजन ही अग्निहोत्र है। आपका बारम्बार प्रकट होना ही दीक्षा के समय की इष्टि है। आपकी गरदन उपसद नाम की तीन इष्टियाँ हैं। प्रायणीया अर्थात् दीक्षा के उपरान्त की जानेवाली इष्टि और उदयनीया अर्थात् यज्ञ-समाप्ति की इष्टि आपकी दोनों दाढ़ें हैं।

---

*कुत्ता, शूकर, आदि सभी पशुओं का यह स्वभाव होता है कि वे भीग जाने पर शरीर को फटकारकर पानी झाड़ डालते हैं।

प्रवर्ग्य अर्थात् हरएक उपसद-इष्टि के पहले किया जानेवाला महावीर नाम का कर्म आपकी जिह्वा है। सभ्य अर्थात् होमरहित अग्नि और आवसथ्य अर्थात् उपासना की अग्नि आपका सिर हैं। इष्टकाचयन कर्म आपके पाँचों प्राणवायु हैं। सोमलता आपका वीर्य है। प्रातःसवन आदि सवनकर्म आपका आसन अथवा बाल्यावस्था हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम, ये सात संस्था या यज्ञविशेष आपकी मांस, मेदा, मज्जा आदि सात धातुएँ हैं। द्वादशाह याग आदि सब सत्र आपके शरीर की संधियाँ या जोड़ हैं। असोम ( यज्ञ ) और ससोम ( क्रतु ) कर्म आप ही के रूप हैं। इष्टि अर्थात् पूजन-यजन का अनुष्ठान आपके शरीर का बन्धन है। सब मंत्र, देवता और यज्ञ की सामग्री आप ही हैं। सब यज्ञकर्म और साधारण कर्म आप ही का रूप हैं। आपको नमस्कार है। वैराग्ययुक्त अर्थात् निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि, उससे भक्ति, भक्ति से मन पर विजय, मन वश होने से चित्त की स्थिरता या एकाग्रता होती है। उस अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके देनेवाले गुरु आप ही हैं। अतएव आपको प्रणाम है। हे भगवन्, आपको दाढ़ के अग्रभाग पर धरा हुआ यह भूधरसहित धरातल वैसे ही शोभित हो रहा है, जैसे वन से निकल रहे गजराज के दाँत पर पत्तोंसहित पद्मिनी की शोभा होती है। दाँत पर रक्खे हुए पृथ्वीमण्डल से आपके इस वाराहरूप की वैसी ही शोभा हो रही है, जैसी शोभा शिखर पर बादल के बैठने से किसी बड़े भारी पर्वतराज की होती है। भगवन्, आप जगत् के जनक हैं। यह पृथ्वी आपकी पत्नी है; क्योंकि आपने वैसे ही इस धरा में अपना तेज ( धारणशक्ति ) स्थापित किया है, जैसे याज्ञिक लोग मंत्र पढ़कर अरणि ( जिसे मथकर आग निकाली जाती थी ) काष्ठ में अग्नि का आधान करते हैं। इसलिए यह हमारी माता हुई। अब आप इस पृथ्वी को चराचरजगत् की स्थापना के लिए इसी जल पर स्थापित कीजिए। जिसमें इसके ऊपर बसकर हम सब प्रजा आप पिता के साथ इस पृथ्वी माता को प्रणाम करें—अपने पिता और माता की परिचर्या कर सकें। हे प्रभो, आपके सिवा पाताल से पृथ्वी को ऊपर लाने का विचार भी कोई और नहीं कर सकता। परन्तु आपने जो अनायास यह दुष्कर कर्म कर डाला, सो आपके लिए कुछ अद्भुत नहीं है। कारण, संसार में जितनी विस्मय की बातें हैं, सब आप ही हैं। अपनी माया से आपने अत्यन्त विस्मयजनक इस विश्व ही की सृष्टि की है। भगवन्, आपने बारंबार अपनी गरदन के बालों को फटकारकर उनसे उड़नेवाले पावन जलकण डालकर हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के निवासियों को अत्यन्त पवित्र कर दिया। निश्चय ही उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जो अनन्त कर्म करनेवाले आपके कर्मों की सीमा जानना चाहता है, अर्थात् आपकी शक्ति का पार पाना चाहता है। आपकी शक्ति योगमाया ने ही अपने गुणों के प्रपञ्च से सारे जगत् को मोह में डाल रक्खा है। इसलिए आप इस विश्व का मंगल करें अर्थात् जिसमें आपको अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से युक्त जानकर संसार के जीव आपको भजें, वही अनुग्रह कीजिए।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, उन वेदपाठी मुनियों के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए वाराहरूप नारायण ने अपने खुरों से मँझाए गये उस जल के ऊपर पृथ्वी को रख दिया। इस प्रकार लीलापूर्वक पृथ्वी को रसातल से लाकर जल के ऊपर रखकर विश्वरक्षक भगवान् यज्ञपुरुष अन्तर्द्धान हो गये। जो कोई वर्णनीय मायावाले जनार्दन हरि की इस कल्याणकारिणी कथा को भक्तिपूर्वक सुनता और सुनाता है, उसके हृदय में अन्तर्यामी आत्मा के रूप से स्थित वह भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। सर्व मनोरथ पूर्ण करनेवाले उन भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार का कौन पदार्थ नहीं मिल सकता ? किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके नाश होनेवाले अतएव तुच्छ सांसारिक सुख या स्वर्ग आदि के भोग कभी न माँगने चाहिए। अनन्य भक्ति से भजनेवाले लोगों पर प्रसन्न होकर वह हृदय में स्थित परमेश्वर उनको स्वयं

श्रेष्ठ गति अर्थात् अपना परमपद देते हैं। अहो! इस लोक में नरपशु के सिवा और कौन परमपुरुषार्थ को पहचाननेवाला पण्डित पुरुष सब कथाओं में श्रेष्ठ और भवभय को मिटानेवाली अमृतमयी भगवान की कथा को एक बार कानों से सुनकर फिर उसे सुनना न चाहेगा?

# चौदहवाँ अध्याय

## विस्तार के साथ हिरण्याक्षवध की कथा का आरंभ और उसके अन्तर्गत पहले दिति के गर्भ रहने का वृत्तान्त

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—पृथ्वी का उद्धार करने के लिए शूकरावतार हरि की कथा मैत्रेय मुनि के मुख से सुनकर विदुरजी ने हाथ जोड़कर फिर उनसे इस प्रकार पूछा। कारण, वह संक्षिप्त कथा सुनकर अत्यन्त तृप्त नहीं हुए थे, इसलिए विस्तार के साथ सुनना चाहते थे।

विदुर ने पूछा—मुनिवर, आपके मुख से मैंने अभी सुना है कि उन्हीं यज्ञमूर्ति हरि ने आदिदैत्य हिरण्याक्ष को मारा। सो हे भगवन्, लीलापूर्वक वराहजी जब पृथ्वी को दाढ़ पर उठाए ला रहे थे, तब दैत्यराज हिरण्याक्ष से उनका युद्ध किसलिए हुआ? यह मैं सुनना चाहता हूँ।

मैत्रेयजी बोले—विदुरजी तुम सच्चे साधु* हो, इसीसे तुमने यह हरि के अवतार की कथा पूछी। हरि की कथा मनुष्यों को मृत्युपाश से छुड़ानेवाली है। तुम उसी कथा को बारम्बार पूछकर संसार के लोगों का उपकार कर रहे हो। तात्पर्य यह कि संसार के लोग भी तुम्हारी बदौलत इस कथा को सुनें-सुनावेंगे और इससे उनकी मुक्ति हो जायगी। इस कथा को बाल्यावस्था में ही नारदजी के मुख से सुनकर उत्तानपाद राजा के प्रतापी पुत्र ध्रुवजी उसी के प्रभाव से अन्त को मृत्यु के सिरपर पैर रखकर † विष्णुपद अर्थात् ध्रुवलोक को चले गये। हे विदुर, देवतों के पूछने पर ब्रह्माजी ने पहले हिरण्याक्ष के वध से संबंध रखनेवाला यह इतिहास कहा था। वहीं ब्रह्मलोक में मैंने भी इसे सुना था। वही अब मैं तुमसे कहता हूँ। दक्ष प्रजापति की कन्या दिति का विवाह मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि से हुआ था। एक दिन पुत्र की कामना से कामपीड़ित दिति ने सन्ध्या के समय कश्यप से रति की इच्छा प्रकट की। उस समय महर्षि कश्यपजी अग्नि में हवन के द्वारा यज्ञपुरुष की आराधना करके सूर्यास्त के समय समाधिस्थ होकर एकाग्रमन से अग्निहोत्रशाला में बैठे ईश्वर का ध्यान कर रहे थे।

दिति ने कश्यप के समीप जाकर कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ, यह कामदेव धनुष पर बाण चढ़ाकर आपसे रमण करने के लिए मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है। जैसे मस्त हाथी केले के वृक्ष हिला डाले, वैसे ही यह मुझ अबला पर अपना पौरुष दिखा रहा है। हे देव, मेरी सौतों के पुत्र हैं। सब ऐश्वर्यभोग उन्हें प्राप्त हैं। उनके इस सौभाग्य से मैं जली जाती हूँ। कारण, इन सुखों से वञ्चित हूँ। इसलिए आप मुझ पर पुत्र देने का अनुग्रह कीजिए। आपका कल्याण हो। जिन स्त्रियों का पति आदर करते हैं, उनका यश सर्वत्र फैलता है, उनकी बड़ाई होती है। आपके समान पति स्त्री में सन्तानरूप से उत्पन्न होकर ही पति शब्द को सार्थक करते

---

* साध्नोति परकार्यमिति साधुः। अर्थात् जो पराए काम को सिद्ध करे, परोपकार करे, वही साधु है।

† मृत्यु के सिर पर पैर रखने का भाव यह है कि बाल्यावस्था में ही तप की सिद्धि होने पर सुनंद आदि पार्षद ध्रुव के लिए विमान लाए थे। किन्तु उस समय उन्होंने शरीरत्याग नहीं किया। इस प्रकार मृत्यु के आने पर भी उसकी परवा न करके अपनी जब इच्छा हुई, तब जैसे सीढ़ी पर पैर रखकर ऊपर चढ़ते हैं, वैसे ही मृत्यु के सिर पर पैर रखकर विमान पर बैठकर विष्णुपद को चले गये।

हैं*। हमारे पिता भगवान् दक्ष प्रजापति हम सब कन्याओं को बहुत चाहते थे। उन्होंने ब्याह के पहले ही हम सब कन्याओं से अलग-अलग पूछा था कि तुम किसे अपना पति बनाना चाहती हो? हम कन्याओं के मन का भाव जानकर पिताजी ने हम तेरहों कन्याओं का विवाह आप ही के साथ कर दिया। हम सब आपके स्वभाव के अनुकूल हैं, अर्थात् आपकी इच्छा के अनुसार चलनेवाली हैं। [ दिति का तात्पर्य यह है कि हम तेरहों बहनें एक समान आपको चाहती हैं, इसलिए आपको भी हम सब के साथ एक-सा ही बर्ताव करना चाहिए।] हे कमलनयन, मेरी पुत्र पाने की इच्छा को पूरा कीजिए। हे कल्याणरूप, आपके समान तेजस्वी महात्मा की शरण में मुझ कामपीड़ित अबला का आना निष्फल न होना चाहिए।

मैत्रेयजी कहते हैं—बढ़े हुए कामदेव की पीड़ा से मोह को प्राप्त होने के कारण दिति को समय-कुसमय का कुछ विचार नहीं रहा और वह इस प्रकार दीनभाव से बहुत कुछ कह गई। तब कश्यपजी संध्याकाल को टालने के विचार से भार्या की प्रशंसा करते हुए उसे अपनी मधुर वाणी से यों समझाने लगे। कश्यप ने कहा—हे भीरु, अर्थात् काम की वेदना से डरी हुई प्रिये, धैर्य धारण करो, अर्थात् ठहरो। मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हारी प्रार्थना अभी पूरी करूँगा। जिस अर्द्धाङ्गिनी से मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं, उसका कहा कौन नहीं करेगा? गृहस्थ पुरुष अपनी स्त्री की ही सहायता से अन्य तीनों आश्रमों को भोजन आदि के दान से आश्रय देता है और जैसे जहाज़ के सहारे यात्री सागर के पार चले जाते हैं, वैसे ही विपत्ति और कष्ट के समुद्र को तर जाता है। हे मानिनी, पत्नी कल्याण की कामना रखनेवाले पुरुष का आधा अंग है; क्योंकि यज्ञ, दान, पुण्य आदि सब कर्म स्त्री को साथ लिये बिना अकेला पुरुष नहीं कर सकता। पुरुष स्त्री के ऊपर गृहस्थाश्रम का सारा भार डालकर आप निश्चिन्त होकर सुख से विचरता है। गढ़ के भीतर बैठा हुआ राजा जैसे लुटेरों को हरा देता है, वैसे हम गृहस्थ लोग स्त्री का ही आश्रय लेकर उन इन्द्रियरूप शत्रुओं को सहज में जीत लेते हैं, जिन्हें अन्य आश्रम के व्यक्ति कठिनाई से जीत पाते हैं। [ मतलब यह कि जो सपत्नीक हैं, उनकी इन्द्रियाँ उचित विषय-भोग से तृप्त होने के कारण वश में रहती हैं, इधर-उधर डावाँडोल नहीं होतीं। ] हे घर की स्वामिनी, हम गृहस्थ लोग ऐसी तुम स्त्रियों के ऋण से एक जन्म में तो क्या, अनेक जन्मों में भी उद्धार नहीं पा सकते। जो गुणग्राहक स्वामी हैं, वे पत्नी की बात टालकर उसका अपमान कभी नहीं करते। देवी, यद्यपि मैं अभी गर्भाधानरूप तुम्हारी इच्छा पूरी कर सकता हूँ; किन्तु इस कुसमय में ऐसा करने से लोग मुझे बुरा कहेंगे। इसलिए तुम मुहूर्त्त भर ठहर जाओ, सन्ध्याकाल निकल जाने दो। जब कामांध होने के कारण दिति ने लोकनिन्दा की पर्वा नहीं की, तब रुद्र के कोप का भय दिखाकर कश्यपजी उसे डराने लगे। कश्यपजी बोले—यह घोररूप घोर जीवों अर्थात् राक्षसों, पिशाचों आदि के विचरने की महाघोर वेला है। यह सन्ध्याकाल स्वयं देखने में भयानक है। इस समय भूतेश रुद्र के अनुचर भूत, प्रेत, पिशाच आदि प्राणी चारों ओर घूमते हैं। हे साध्वी, इस संध्याकाल में भूतभावन भगवान् भवानी के पति भूतराज शंकर नन्दीश्वर पर सवार होकर अपने गणों के साथ अन्तरिक्ष में घूमते हैं। यदि कहो कि उनके सामने उपस्थित होने पर उनका ख़याल करना चाहिए, तो मसान के बवंडर से उठी हुई धूल से सने चमकते और बिखरे हुए जटा-कलाप को सिर पर धारण किये और भस्मभूषित सुवर्णवर्ण गौर शरीरवाले तुम्हारे देवर † देव रुद्र चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि, इन

---

*यही बात प्रकारान्तर से इस श्रुति में भी कही है—तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः। अर्थात् पत्नी को जाया इसी से कहते हैं कि पति उसमें फिर सन्तानरूप से उत्पन्न होता है।

† साढ़ू-साढ़ू में भाई भाई का नाता माना जाता है। कश्यप और रुद्र दोनों दक्ष के दामाद हैं। सती दिति की छोटी बहन थी, इसीलिए कश्यप ने रुद्र को उनका देवर कहा। इस नाते का उल्लेख इसीलिए किया कि लोकलज्जा से ही दिति अपना दुराग्रह छोड़ दें।

अपने तीनों नेत्रों से सर्वत्र देखते हैं। यदि कहो कि वह तो हमारे अपने हैं, उनसे हमें कोई भय नहीं, तो यह समझना ठीक नहीं। उनके लिए इस संसार में न कोई अपना है न पराया। न कोई अत्यन्त आदरणीय है और न निरादर के योग्य। वह समदर्शी ईश्वर हैं। हम लोग अनेक प्रकार के कठिन व्रतों का पालन और आराधना करके उसी लक्ष्मी, सुख, भोग आदि माया-विभूति को उनका महाप्रसाद मानकर सिर पर धारण करने और पाने की आशा करते है, जिसे उन्होंने लात मारकर निर्माल्य की तरह त्याग दिया है। उनके वेष और अनिषिद्ध सुख के त्याग को देखकर उन्हें पिशाच समझ उनका उपहास या अनादर कभी न करना! वह सज्जनों की एकमात्र गति ईश्वर है। उनके समान या उनसे अधिक इस लोक में और कोई नहीं है। अविद्या के आवरण को तोड़ने की इच्छा रखनेवाले योगीजन उनके निर्दोष अर्थात विषयासक्ति से रहित चरित्र को गाते है। उन्होंने अपनी इच्छा से ही लोकशिक्षा के लिए पिशाचों का-सा वेष बना रक्खा है। लोकशिक्षा यह कि यह देह क्षणभंगुर है, इसलिए उसी के लालन-पालन और सँवारने-सिंगारने में लगे रहना और अपने रूप को पहचानने की चेष्टा न करना मूर्खता है। हे दिति, इसी कारण जो मूर्ख उन आत्मचिन्तन में निरत शंकर के लोकशिक्षारूप अभिप्राय को न जानकर उनका उपहास करते हैं, वे अत्यन्त अभागे हैं। वे मूर्ख वस्त्र, माला, अलङ्कार, अंगराग, अतर आदि अनेक सामग्रियों से शरीर के लालन-पालन में ही लगे रहते हैं। अन्त में मर जाने पर कुत्ते जिसे अपना आहार बनावेंगे, उस शरीर को ही आत्मा समझकर उस पर आसक्ति या ममता रखनेवाले सचमुच महामूर्ख हैं। सच तो यह है कि उन देवदेव महादेव के आचरण हर एक की समझ में आना ही बहुत कठिन है। देखो न, ब्रह्मा आदि देवता जिनकी बाँधी हुई धर्म की मर्यादा का पालन करते हैं, जिन्होंने इस विश्व को कारणरूप से प्रकट किया है, और अजेय माया जिनकी आज्ञा का पालन करती है, उन परमेश्वर का आचरण (रहन-सहन) देखने में पिशाचों का-सा है! उनका चरित्र अज्ञेय, अतर्क्य है।



मैत्रेयजी कहते हैं—पति के यों कहने पर भी दिति निवृत्त नहीं हुई। कामदेव के वशीभूत दिति वेश्या की तरह निर्लज्ज हो गई। वह महर्षि कश्यप के वस्त्र को पकड़कर खड़ी हो गई। कुसमय होने के कारण निषिद्ध मैथुन के लिए पत्नी का हठ देखकर कश्यपजी ने समझ लिया कि यह भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यों सोचकर दैवरूप ईश्वर को प्रणाम करके महर्षि कश्यप दिति के साथ एकान्त में पहुँचे।

दिति की इच्छा पूर्ण करने के उपरान्त कश्यपजी ने स्नान किया। फिर वह मौन भाव से, प्राणायाम करके विशुद्ध ज्योतिर्मय सूर्यनारायण अथवा परब्रह्म का ध्यान करते हुए, गायत्री या ओंकार का जप करने लगे। उधर जब काम का नशा उतर जाने पर दिति को चेत हुआ, तब उन्हें अपने निंदित हठ के लिए बड़ी लज्जा हुई। वह पछताती हुई कश्यपजी के पास फिर उपस्थित हुई, और लज्जा से सिर झुकाए हुए कहने लगी—हे स्वामी, मैं चाहती हूँ कि जिनकी मैं अपराधिनी हूँ, वह भूतनाथ भूतश्रेष्ठ महादेव मेरे इस गर्भ को अपने कोप से नष्ट न कर दें। मैं रुद्र ( दुःख दूर करनेवाले ), महान्, देव, उग्र ( जिनका अनादर नहीं किया जा सकता ), मीढुष ( सकाम भक्तों को भोगफल देनेवाले ), शिव ( निष्काम भक्तों को कल्याण अर्थात् मुक्ति देनेवाले ), दुष्टों को दण्ड देनेवाले, वास्तव में न्यस्तदण्ड और मन्यु ( प्रलयकाल में संहार करनेवाले ) शंकर को बारम्बार प्रणाम करती हूँ। मेरी बहन के स्वामी वह परमकृपालु शंकर मुझ पर प्रसन्न हों। वह सती के पति होने के कारण स्त्री-जाति के हठ का स्वयं अच्छी तरह अनुभव रखते है। तात्पर्य यह है कि हठ करना स्त्री-जाति का स्वाभाविक दोष है, यह उन्हें अनुभव है, इस कारण वह मेरे अपराध को क्षमा कर सकते हैं। हम स्त्रियों पर तो निष्ठुर व्याध भी दया करते हैं, फिर वह तो भगवान् महादेव हैं।

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, संध्या के कृत्य से छुट्टी पाकर कश्यपजी ने अपने पुत्र के दोनों लोक के कल्याण की कामना से ईश्वर की स्तुति कर रही और भय से काँपती हुई अपनी पत्नी से यों कहा—हे चण्डी ( अर्थात् बात-बात पर कोप करनेवाली ), उस समय तुम्हारा चित्त काम के विकार से अपवित्र हो रहा था। वह संध्याकाल की घोर वेला भी थी। फिर मेरी आज्ञा तुमने नहीं मानी और देवतों का भी अनादर किया। इन चार कारणों से, विशेषकर तुम्हारी अभद्रता से तुम्हारे दो अधम प्रकृति के पुत्र होंगे। वे इन्द्र आदि लोकपालों सहित तीनों लोकों को बार-बार पीड़ा पहुँचावेंगे। जब वे निरपराध दीन प्राणियों को मारेंगे, सतावेंगे, स्त्रियों को हर लावेंगे, तब उन पर महात्मा ब्राह्मण कोप करेंगे। सज्जन महात्मा पुरुषों के कोप करने पर विश्व के ईश्वर और त्रिलोकी के रक्षक भगवान् विष्णु अवतार लेकर जैसे इन्द्र पर्वतों को अपने वज्र से विदीर्ण कर देते हैं, वैसे ही उनका वध करेंगे।

यह सुनकर दिति ने कहा—भगवन्, सुदर्शनचक्र के धारण करनेवाले विष्णु भगवान् के हाथों से अपने पुत्रों का मारा जाना सुनकर मुझको उतना दुःख नहीं है; क्योंकि तब उनकी मुक्ति हो जायगी। मैं तो यही चाहती हूँ कि कुपित ब्राह्मणों के शाप से उनकी मृत्यु न हो। कारण, सब प्राणियों को सतानेवाले और ब्रह्मदण्ड की आग में जले हुए अभागे जिस-जिस योनि में जाते हैं, उस-उस योनि के नरक के-से कष्ट भोगनेवाले प्राणी भी उनसे घृणा करते है, उन पर दया नहीं दिखाते।

कश्यपजी ने कहा—तुमने अनुचित दुराग्रह का अपराध करने के बाद ही उसके लिए शोक किया। पश्चात्ताप भी तुम्हें हुआ। शीघ्र ही तुमने भले-बुरे का विचार करके उसके प्रतिकार का उपाय भी किया, अर्थात् अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ भगवान् नारायण से प्रार्थना की, शिवजी से क्षमा माँगी और मेरे आगे सम्मान दिखाते हुए खेद प्रकट किया। इन सब कारणों से तुम्हारे पुत्रों में से एक का पुत्र अर्थात् तुम्हारा पोता बड़ा सज्जन अथवा सच्चरित्र होगा। भगवान् की गुणगाथा और चरित्र के साथ ही उसके निर्मल यश को भी लोग गावेंगे। जैसे बदरंग दागी सोने को शुद्ध करने के लिए आग में तपाया, गलाया या जलाया जाता है, वैसे ही तुम्हारे पोते के शील-स्वभाव को ग्रहण करने के लिए, उसका अनुगामी बनने के लिए, साधुजन निर्वैर, समदर्शिता आदि उपायों से अपने आत्मा को शुद्ध करेंगे। जिन जगदीश्वर के सन्तुष्ट होने से यह उनका ही रूप सारा जगत् सन्तुष्ट या प्रसन्न होता है, वह सबके अन्तर्यामी भगवान् उस बालक की सब प्राणियों में अनन्य ईश्वर को देखनेवाली दृष्टि से उस पर अत्यन्त सन्तुष्ट होंगे। वह

बड़ा भारी भगवान् का भक्त होगा। सबमें और अपने में एकमात्र ईश्वर को देखेगा। बड़ा प्रभावशाली और महापुरुषों का भी महापुरुष होगा। बढ़ी हुई भगवद्भक्ति से शुद्ध अपने हृदय में हरि भगवान् को स्थापित करके वह मिथ्या देहाभिमान को छोड़ देगा। वह विषयासक्त न होकर परम विरक्त भक्त होगा। वह सुशील, धैर्य आदि गुणों की खान पराई बढ़ती देखकर प्रसन्न और पराए दुःख को देखकर दुःखी होगा। संसार भर में उसका कोई शत्रु नहीं होगा। धूप की गर्मी को जैसे चंद्रमा मिटा देते हैं, वैसे ही वह सारे संसार के शोक को हरेगा। भक्तों की इच्छा के अनुसार बारंबार अवतार लेनेवाले लक्ष्मी के स्वामी को वह तुम्हारा पोता अपने में और सारे विश्व में व्याप्त देखेगा। कमललोचन, अमलस्वरूप, कुण्डल-मण्डित गण्डस्थल से अलंकृत मुखारविन्द की शोभा से मन को मोहनेवाले भगवान् उसे अपने भीतर और बाहर सर्वत्र देख पड़ेंगे।

मैत्रेयजी कहते हैं—दिति ने जब जाना कि उनका पोता भगवान् का अनन्य भक्त होगा और उनके पुत्रों को भी भगवान् नारायण अपने हाथ से मारेंगे, तब वह बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई। उन्होंने सोचा कि हरि के साथ युद्ध में मरने से पुत्रों को कीर्त्ति और सद्गति का लाभ होगा। यही दिति के प्रसन्न होने का कारण हुआ।

---

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## जय-विजय पार्षदों को शाप

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—दूसरों के तेज को नष्ट करनेवाले उन महर्षि कश्यप के तेज अर्थात् वीर्य को दिति देवी सौ वर्ष तक अपने गर्भ में धारण किये रहीं। इसका कारण यही था कि उन्हें यह आशंका थी कि मेरे इस गर्भ से उत्पन्न होनेवाले लड़के देवतों को पीड़ा पहुँचावेंगे और तब विष्णु भगवान् उन्हें मार डालेंगे। दिति के गर्भ का तेज इतना बढ़ा कि सूर्य आदि का तेज भी उसके कारण नष्टप्राय हो गया। त्रिलोकी में अँधेरा छा गया और अन्धकार के कारण यज्ञ आदि कर्म न हो सकने से तथा उस गर्भ के तेज के मारे सब लोकपालों का प्रभाव हत हो गया। तब सब देवगण ब्रह्मलोक में विधाता के निकट जाकर इस त्रिभुवन की गड़बड़ का वृत्तान्त बतलाते हुए इस प्रकार कहने लगे।

देवतों ने कहा—हे हम सब के स्वामी ब्रह्माजी, यह घोर अन्धकार क्यों है? इसका कारण क्या है? इसे देखकर हम लोग बहुत घबरा रहे है। इसका कारण आपको अवश्य ही विदित है। कारण, आप-का ज्ञान अविनाशी है। वह किसी काल में और कहीं कुंठित नही होता। कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। हे देवदेव, आप जगत् के विधाता और सब लोकपालों में श्रेष्ठ है। उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी प्राणियों के भाव को आप जानते हैं। तात्पर्य यह कि दिति का गर्भ क्यों बढ़ता जा रहा है, यह आपसे छिपा नहीं है। विज्ञान आपका बल है। माया के द्वारा आपने यह ब्रह्मा का शरीर धारण किया है और सृष्टिकारक रजोगुण को अपनाया है। आपको प्रणाम है। आप इस प्रकट भवप्रपञ्च का कारण हैं, अथवा आपका कारण (उत्पत्तिस्थान) ब्रह्म अव्यक्त है, प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से वह नहीं जाना जा सकता। आपको हम प्रणाम करते है। भगवन्, जो लोग यह जानकर कि इस त्रिभुवन को आपने अपने में सूत में फूलों की तरह ओतप्रोत कर रक्खा है, सब जीव आप ही से प्रकट हुए है और आप स्वय

इस चेतन-अचेतन जगत्प्रपञ्च का कारण हैं, निष्काम होकर अनन्य भक्ति से आत्मरूप आपको भजते हैं, वे श्वासा, मन और इंद्रियों को जीतनेवाले पक्के योगी आपकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं और उनको माया या उसके गुणों का बन्धन नहीं होता। सब प्राणी आपकी आज्ञारूप वेदवाणी के अधीन हैं। वे रस्सी में नथे हुए बैल आदि पशुओं के समान आपकी सेवा करते हैं, आपकी इच्छा के अनुसार चलते हैं। उन सबके शासक, स्वामी अथवा संचालक परमपुरुष को हम प्रणाम करते हैं *। हे भूमा, इस अन्धकार के कारण दिन और रात का ज्ञान नहीं होता, जिससे यज्ञ आदि सब कर्म अथवा लोक के व्यवहार लुप्त हो रहे हैं। आप इस जगत का कल्याण कीजिए। हम लोग महाविपत्ति में पड़े हैं। इसलिए अपनी अपार दया-दृष्टि से हमारी ओर निहारिए। हे देव, महर्षि कश्यप के तेज से परिपूर्ण यह दिति का गर्भ सब दिशाओं को अन्धकारपूर्ण करके लकड़ी के भीतर आग की तरह बढ़ रहा है, तात्पर्य यह कि जैसे सुलग रही लकड़ी का धुआँ चारों ओर छा जाता है और उससे दम घुटने लगता है, वैसे ही इस गर्भ के कारण चारों ओर अँधेरा छा रहा है।

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, देवतों की स्तुति सुनकर और दिति की कुचेष्टा को जानकर भगवान् ब्रह्मा हँसे और फिर अपनी मधुर मनोहर वाणी से प्रसन्न करते हुए यों बोले। ब्रह्माजी ने कहा—हे देवगण, मैं आदि से इस रहस्य का कारण तुमको बतलाता हूँ, सुनो। तुम सबसे पहले मेरे मानसपुत्र चारों सनकादि उत्पन्न हुए थे। वे संसार से विरक्त परमहंस हैं और आकाशमार्ग से अपनी इच्छा के अनुसार सब लोकों में घूमा करते हैं। एक समय वे विशुद्ध भगवान् नारायण के वैकुण्ठलोक को गये। वह वैकुण्ठधाम सब लोकों के ऊपर है और सब लोकों के निवासी उसकी वन्दना करते हैं। उस लोक में जो लोग रहते हैं, उन सबका स्वरूप विष्णु भगवान् के तुल्य है। वहाँ वे ही लोग सारूप्य मुक्ति पाकर जाते हैं, जो निष्काम धर्म के आचरण से हरि की आराधना करते हैं। उस परमधाम में वह भगवान् रहते हैं, जिनका प्रतिपादन वेदवेदान्त करते हैं। नारायण ने धर्म की और हम अपने सब जनों की रक्षा के लिए वह विशुद्ध सत्वमूर्त्ति प्रकट कर रक्खी है। उस वैकुण्ठलोक में नैश्रेयस नाम का बाग़ है। वह बहुत ही रम्य है। उस बाग़ में सभी वृक्ष सभी ऋतुओं में फूलों-फलों से शोभायमान और सब कामनाएँ पूरी करनेवाले हैं। वह बाग़ साक्षात् कैवल्य-मोक्ष का रूप जान पड़ता है। वैकुण्ठधाम में विमानवासी नर-नारी अपने स्वामी हरि के पापहारी चरित्रों को गाते रहते है। उन्हें भगवान् के गुण गाने में इतना अनुराग है कि जल के भीतर फूल रही मकरन्दयुक्त माधवी लता† की सुगंध को लेकर चलनेवाली वायु से चित्त चंचल होने पर भी उस वायु का अनादर करते हुए भगवद्भजन में लगे रहते हैं, उसे नहीं छोड़ते। [ इससे भगवान् के पार्षदों में विषय-सुख के रहने पर भी भगवद्भजन के आनंद में आसक्ति दिखलाई गई है।] वहाँ जब भौंरे अपने गुजन के द्वारा मानों हरिकथा का गान करने लगते हैं, तब उतनी देर कबूतर, कोकिला, सारस, चकवा, चातक, हंस, तोता, तीतर, मोर आदि अन्य सब पक्षी अपना कोलाहल बंद करके जैसे उसे सुनने लगते है। तात्पर्य यह कि वहाँ के पक्षियों को भी हरि की कथा में इतना अधिक अनुराग है। तुलसी को धारण करनेवाले भगवान् तुलसी की गंध का आदर करते हैं, यह देखकर वहाँ के मंदार और पारिजात ( ये कल्पवृक्ष के भेद है ), कुंद, तिलक, उत्पल ( रात को फूलनेवाला कमल ), अंबुज ( दिन को फूलनेवाला कमल ), चंपा, करवीर, पुन्नाग, नाग और मौलसिरी आदि फूल आप बहुत सुगंधवाले होने पर भी तुलसी की तपस्या को बहुत मानते हैं; क्योंकि हरि

---

* यही भाव इस श्रुति का भी है—
"तस्य वाक् तन्तिर्नामानि दामानि।"

† वसन्त में फूलने के कारण इसका नाम माधवी है।

उसका सबसे अधिक आदर करते हैं। इससे वैकुण्ठ में ईर्षा का अभाव और गुणग्राहकता का होना दिखाया गया है। वहाँ भगवद्भक्तों के असंख्य दर्शनीय विमान हैं, जिनकी रचना सुवर्ण और पन्ना, वैडूर्य, हीरा आदि रत्नों से की गई है। केवल हरि के चरणों में प्रणाम अर्थात् भगवान् की भक्ति करने ही से वे विमान प्राप्त होते हैं, अन्य यज्ञादि कर्मों से नहीं। उनमें रहनेवाले भगवद्भक्त पार्षदों का चित्त भगवान के चरणों में ऐसा लगा रहता है कि बड़े विशाल नितम्बोंवाली परमसुन्दरी उनकी नारियाँ अपनी मन्द मुसकान या हँसी-दिल्लगी आदि विलासों से उन्हे काम के वशीभूत नहीं कर पातीं। देखो, जिन लक्ष्मीदेवी की तनिक-सी कृपादृष्टि पाने के लिए और सब देवता अनेकों यत्न करते है, वही मनोहर मूर्त्ति धारण किये हुए, अपने चँचलतारूप दोष को छोड़कर, वहाँ सदा रहती, और इधर-उधर विचरती है। लक्ष्मीजी के चरणनूपुरों से कानों को मोहित करनेवाली ध्वनि होती है। वहाँ यह जैसे स्पष्ट देख पड़ता है कि लक्ष्मीदेवी हाथ का लीला-कमल घुमाकर विनय और भक्ति के साथ श्रीनारायण के मंदिर का स्वयं सम्मार्जन करती रहती है। [ इसका तात्पर्य यह है—भगवान् के भवन की दीवारें बिल्लौर की हैं, उनमे बीच-बीच में सोने का भी काम है। इस कारण वहाँ धूल का कहीं लेश भी नहीं रहता। लक्ष्मीजी इधर-उधर विचरती हैं तो उस भवन की दीवारों मे उनकी मूर्त्ति के अनेक प्रतिबिम्ब देख पड़ते है। जब वह हाथ का लीला-कमल नचाती है, तब ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे वह मंदिर को चारों ओर साफ कर रही हैं। ] हे देवतो, उस वैकुण्ठलोक में अमृततुल्य, शीतल और निर्मल जल से भरी हुई बावलियाँ बनी हैं। उनके किनारे विद्रुम या मूँगे की भूमि है। लक्ष्मीदेवी वहीं लक्ष्मीवन में अपनी सखियों के साथ बैठकर तुलसीदलों से जब अपने स्वामी हरि की पूजा करती हैं, तब पूजा करते-करते उस जल में अपने सुन्दर अलकोंवाले और मनोहर उन्नत नासिका से युक्त मुखारविन्द का प्रतिबिम्ब देखकर इस विचार से कि "स्वयं श्रीपति ने मेरे इस मुख को चूमा है, तभी यह अति सुन्दर है; अन्यथा इसकी सब शोभा व्यर्थ ही थी;" अपने को परमसौभाग्यशालिनी समझ आनन्दित होती हैं। तात्पर्य यह कि लक्ष्मी का सौभाग्य-सुख भी भगवान् के अनुग्रह से ही है। पापहारिणी हरि-गुण-गाथा को छोड़ मति को भ्रष्ट करनेवाली अन्य विषयों अर्थात अर्थ, काम आदि की चर्चा किया करनेवाले लोग उस लोक में नहीं जाते। उस विषय-चर्चा को वे ही लोग सुनते हैं, जो भाग्यहीन हैं। कारण, वह चर्चा सुननेवालों के पूर्वसंचित सुकृत को नष्ट करके उन्हें घोर निराश्रय नरक में गिरा देती है। इस मनुष्ययोनि में धर्म का आचरण और तत्त्व का ज्ञान दोनों ही बातें हो सकती हैं, यही कारण है कि हम देवता भी मनुष्य का जन्म पाने की लालसा रखते है। किन्तु हाय, वह मनुष्ययोनि पाकर भी जो लोग हरि की आराधना नहीं करते, वे अवश्य ही नारायण की प्रबल माया में मोहित और भाग्यहीन हैं। अहंकाररहित होने के कारण हम लोगों से भी श्रेष्ठ जन ही उस परमपावन वैकुण्ठलोक में जा सकते हैं। उन निरन्तर नित्य हरि के चरित्र कहते-सुनते रहने से शुद्धहृदय लोगों के पास भी यमराज नहीं फटक सकते। वे भक्तजन अपनी मण्डली में बैठकर हरि के गुणानुवाद गाने में ऐसा अनुराग प्रकट करते हैं कि प्रेम और भक्ति के कारण उनके शरीर विवश हो जाते हैं, नयनों से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और रोमाञ्च हो आता है। उन भक्तों के दया, प्रेम आदि स्वभाव को पाने के लिए हम देवता भी लालायित रहते है।

हे सुरगण, मेरे मानसपुत्र सनक आदि मुनि योगबल से उसी वैकुण्ठलोक में पहुँचकर परम आनन्द को प्राप्त हुए। देवश्रेष्ठ पार्षदों के विमानों से प्रकाशमान, दिव्य अर्थात् अलौकिक उस लोक में स्वयं जगद्-गुरु नारायण निवास करते हैं और इसीलिए वह सब लोकों में श्रेष्ठ है—सब लोकों के निवासी उसकी वन्दना करते हैं। हरि भगवान् के दर्शनों के लिए अत्यन्त उत्सुक उन मुनियों का मन वैकुण्ठलोक की इस अद्भुत शोभा को देखने में आसक्त नहीं हुआ। वे क्रम से भगवान् के भवन की छः ड्योढ़ियाँ विना किसी

रोकटोक के नाँघ गये। सातवीं ड्योढ़ी पर उन्हें दो द्वारपाल देवता देख पड़े। दोनों एक ही अवस्था के थे और गदा हाथ में लिये थे। बहुमूल्य केयूर, कुंडल, किरीट आदि अलंकारों से अलंकृत उन महापुरुषों का वेष परम सुन्दर था। दोनों के गले में वनमाला पड़ी हुई थी और श्यामवर्ण चारों भुजाओं के बीच में पड़ी हुई उस वनमाला पर सुगंध से मतवाले भौंरे गुंजार कर रहे थे। कुछ फूली हुई नासिका से, अरुणवर्ण नेत्रों से और टेढ़ी हो गई भौंहों से उनका मुखमण्डल कुछ क्षोभ अर्थात् कोप प्रकट कर रहा था। दोनों द्वारपाल उन मुनियों की ओर यों देखते ही रहे और उन मुनियों ने द्वारपालों से बिना पूछे ही, पहले की छः ड्योढ़ियों की तरह, सुवर्णमण्डित हीरे के बने किवाड़ों को खोलकर भीतर प्रवेश किया। उन्हें द्वारपालों से पूछने की आवश्यकता ही न थी। कारण, वे समदर्शी हैं और इसीलिए उन्हें कहीं जाने की रोक नहीं है। आत्मतत्त्व के ज्ञाता वे मुनिगण वृद्ध अर्थात् बड़ों के भी बड़े हैं; किन्तु देखने में पाँच वर्ष के बालक जान पड़ते हैं। वे परमहंस सदा दिगम्बर ही रहते हैं। यद्यपि वे मुनि रोकने के योग्य न थे, तथापि अपने स्वामी ब्रह्मण्य-देव भगवान् के विरुद्ध स्वभाववाले द्वारपालों ने हँसकर* मुनियों के तेज का अनादर करके, द्वार में बेत अड़ाकर, उन्हें भीतर जाने से रोका। वैकुण्ठवासी सब देवतों के सामने जब उन सर्वश्रेष्ठ पार्षदों ने भीतर प्रवेश नहीं करने दिया, तब अपने सुहृत्तम श्रीहरि के दर्शन में विघ्न पड़ने पर उन परमपूज्य मुनियों के भी हृदय में सहसा कुछ क्रोध उत्पन्न हो आया और उसने उनके अन्तःकरण को हिला दिया।



तब उन मुनियों ने कहा—भगवान की बहुत बड़ी सेवा अर्थात् निष्काम भक्ति करके उसके प्रभाव से जो लोग इस परम-धाम में आते हैं, वे सब भगवान् के समान ही भेदभाव से रहित समदर्शी होते हैं। तुम भी उन्हीं पुरुषों में हो; किन्तु तुम्हारा यह विषम स्वभाव क्यों है? कोई भीतर जाने पावे और कोई नहीं, यह भेदभावना तुम क्यों रखते हो? जो कहो कि स्वामी की रक्षा के लिए द्वारपालों का यह स्वभाव होना ही चाहिए, यह तो द्वारपालों का गुण है, तो यह भी ठीक नहीं। रक्षा की आवश्यकता तो उसके लिए होती है, जो किसी से विरोध रखता है। तुम्हारे स्वामी

* द्वारपाल यह सोचकर हँसे कि ये तेजस्वी होने पर भी नग्न और बालक हैं। यहाँ भगवान् के मंदिर में भी यह ढिठाई दिखा रहे हैं कि हमसे पूछने या भगवान् की आज्ञा लेने की अपेक्षा नहीं रखते।

भगवान् विष्णु तो प्रशान्त पुरुष और समदर्शी हैं ; उनका किसी से विरोध नहीं है । हम समझ गये, तुम आप कपटी हो, इसीसे अपने समान औरों को भी कपटी समझकर कपट की आशंका करते हो। [ तात्पर्य यह कि यहाँ भगवद्भक्त के सिवा कोई और आ ही नहीं सकता और ईश्वर में विरोध का भाव न होने के कारण उन्हें भी किसी से भय या शंका नहीं है । फिर तुम्हारा हमें रोकना इसके सिवा और कुछ अर्थ नहीं रखता कि तुम स्वयं धूर्त हो और अपने ही समान औरों को भी समझते हो । ] हा ! तुम क्या यह भी नहीं समझते कि इस धाम में भगवद्भक्त के सिवा किसी धूर्त या भेदभाव रखनेवाले के आने की संभावना नहीं है ? अरे, भय का कारण तो भेद की भावना ही है ! परन्तु भगवान् में तो किसी की भी भेद-बुद्धि नहीं हो सकती । यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड इन्हीं परमेश्वर के उदर में स्थित है । ज्ञानी लोग महाकाश में घटाकाश की भाँति इन्ही परमात्मा में अपने आत्मा को भी देखते हैं । तात्पर्य यह कि वे परमात्मा और आत्मा में भेद नहीं देखते । इस कारण जैसे अन्य राजा आदि को अपने विरोधियों का भय होता है, वैसे भगवान् को किसी से भय नहीं है । वही सब में व्याप्त हैं, उनके सिवा और कोई दूसरा है ही नहीं, जिससे उनको भय हो । हम देखते हैं, तुम दोनों का वेष भगवान् के पार्षदों का-सा है ; किन्तु जैसे अन्य साधारण भृत्य किसी कपटी शत्रु के द्वारा अपने साधारण स्वामी के अनिष्ट की शंका करके डरते है, वैसे ही तुम्हारे मन मे भी खटका देख पड़ता है । यह क्यों ? अस्तु, वह चाहे जो कुछ हो तुम वैकुण्ठ-नाथ महामहिम, महापुरुष नारायण के सेवक हो, इस कारण तुम्हारे मन्दमति होने पर भी तुम्हारा बुरा हम नहीं चाहते । तुम्हारा अत्यन्त कल्याण करने के लिए तुम्हारे इस अपराध के विषय में उचित कर्त्तव्य हम सोचते है । अच्छा, तुम दोनों अपनी इस भेद-भावना के कारण इस परमपवित्र वैकुण्ठधाम से गिरकर उस योनि में जाकर जन्म लो, जहाँ काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रबल शत्रु सदा घेरे रहते हैं ।

उन मुनियों के मुख से निकले हुए इस घोर शाप को सुनते ही यह जानकर कि इस ब्रह्मदण्ड को सारे दिव्य अस्त्र भी निष्फल नहीं कर सकते, वे हरि के अनुचर जय और विजय अत्यन्त कातर हो उठे । उन्होंने गिरकर उन महामुनियों के चरण पकड़ लिये । जय-विजय को मुनियों से बढ़कर अपने स्वामी से भय हुआ कि ब्रह्मण्यदेव भगवान ब्राह्मणों का अपराध करने के कारण उनसे अत्यन्त असन्तुष्ट होंगे ।

जय और विजय ने अत्यन्त दीनभाव से नम्रता के साथ कहा—हे परम पूजनीय मुनियो, हम जैसे अपराधी को आप लोगों ने यह उचित ही दण्ड दिया । इसमें आपका कोई दोष नहीं, यह हमारे ही कर्म का फल है । इस दण्ड से हमारा भला ही होगा ; क्योंकि हमने जो ईश्वर की आज्ञा का अनादर किया और आप ब्राह्मणों को रोका, उस पाप को यह दण्ड नष्ट कर देगा और हम शुद्ध हो जायँगे । हमारी आप-से प्रार्थना यही है कि हम चाहे नीच-से-नीच योनियों में भी जन्म लें, पर आपकी कृपा से हमको उन नीच योनियों में भी भगवान की याद बनी रहे और मोह न हो । कारण, मोह से भगवान की स्मृति भूल जाती है ।

अपने सेवकों के किये हुए मुनियों के अपराध को जानकर उसी समय आर्यों के इष्टदेव कमलनाभ भगवान उसी स्थान पर उपस्थित हुए । परमहंस महामुनि जिनके चरणों को ढूँढते हैं, वह भगवान् लक्ष्मी-देवी के साथ जल्दी के मारे पैदल ही मुनियों के समीप सातवीं ड्योढ़ी में आ पहुँचे । भगवान् पैदल ही इसलिए दौड़े आए कि मेरे चरणों के दर्शन में विघ्न पड़ने से मुनियों को क्रोध हुआ है, अतएव उन चरणों के दर्शन देकर उनके क्रोध को शीघ्र शान्त करूँगा । भगवान् नारायण के वहाँ पधारने पर समाधि के फल-स्वरूप ब्रह्म को साक्षात् प्रत्यक्ष पाकर मुनिगण अतृप्त भाव से एकटक उधर ही देखने लगे । उन्होंने देखा,

पार्षदगण भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं। कोई छत्र लगाए है, कोई हंस के समान उज्ज्वल चँवर डुला रहे हैं। छत्र में मोतियों की झालर टँकी हुई है। चँवरों की अनुकूल वायु से चंद्रमा के समान वह छत्र हिलता है और चन्द्रकिरणों के समान मोतियों की झालर से सुधाबिंदु के समान जलकण गिरते है। नारायण का श्रीमुख देखने से जान पड़ता है, वह सब पर प्रसन्न हैं—मुनियों पर भी और द्वारपाल पार्षदों पर भी। वह सब गुणों का एकमात्र आधार हैं। स्नेहपूर्ण दृष्टि से वह सबके हृदयों को सुखी कर रहे हैं, अपनी ओर खींच रहे हैं। अपने श्यामवर्ण विशाल वक्षःस्थल में जो लक्ष्मीदेवी विराजमान हैं, उनसे ऊपर के सातों स्वर्गों या लोकों का चूड़ामणि-सा जो अपना धाम वैकुण्ठलोक है, उसे शोभायमान कर रहे हैं। [ तात्पर्य यह कि भगवान् के हृदय में स्थित लक्ष्मीदेवी के कारण वैकुण्ठलोक सचमुच सब लोकों का शिरोमणि हो रहा है। ] भगवान् के विशाल नितम्ब पर पीताम्बर की अपूर्व शोभा हो रही है। उसके ऊपर कांचन की कांची पड़ी हुई है। हृदय में वनमाला विराज रही है। उस पर सुगंध के लोभी मस्त भौंरे मँडला रहे हैं। सुन्दर सुडौल कलाइयों में मणियों के जड़ाऊ कड़े पड़े हैं। भगवान् एक हाथ गरुड़जी की पीठ पर रक्खे हैं और दूसरे से संसाररूप लीला-कमल को नचा रहे हैं। भगवान् के कपोलों पर, बिजली को भी अपनी कान्ति से लजानेवाले मकराकृत कुण्डल शोभायमान हैं। ऊँची नुकीली नासिका की अपूर्व शोभा है। शिर पर मणिमय किरीट शोभित है। भगवान् की चारों भुजाओं के बीच में यज्ञोपवीत की भाँति पड़ा हुआ बहुमूल्य रत्नहार और कण्ठ मे कौस्तुभमणि अपूर्व छबि दिखा रहा है।

भगवान् की ऐसी परम सुन्दरता की खान मूर्त्ति को देखकर भक्त-शिरोमणि सनकादि मुनि अपने मन में यह विचारने लगे कि लक्ष्मीदेवी का जो यह अहंकार था कि मैं ही सब प्रकार के सौन्दर्य का कोष हूँ, सो यहाँ भगवान् के सौन्दर्य के आगे मिट गया। अस्तु, उन मुनियों ने श्रीहरि को सामने उपस्थित देखते ही परम प्रसन्नतापूर्वक शिर नवाकर सादर प्रणाम किया। यद्यपि वे बराबर भगवान् के दर्शन कर ही रहे थे, तथापि वह रूप उन्हें घड़ी-घड़ी भर पर नवीन ही जान पड़ रहा था, उनका जी नहीं भरता था, उधर से आँखें हटाने को जी नहीं चाहता था। हे देवगण, वही भगवान नारायण मेरे, शंकर के और तुम सब देवतों के लिए भजने योग्य अनेक रूप प्रकट करते रहते हैं—अवतार लेते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वही हम सबके स्वामी और रक्षक हैं। वे मुनिगण ब्रह्मानुभव के द्वारा सदैव ब्रह्मानन्द में मग्न रहनेवाले थे। किन्तु उस समय भगवान् के चरणों में जब उन्होंने प्रणाम किया, तब कमलनयन भगवान् के चरणारविन्द के मकरन्द से युक्त और तुलसी-मंजरी की महक लिये हुए पवन ने नासिका-द्वार के द्वारा उनके अन्तर में प्रवेश करके उनके हृदय में हर्षातिरेक से क्षोभ उत्पन्न कर दिया। उनके शरीर में रोमांच हो आया। तात्पर्य यह कि स्वरूपानंद या ब्रह्मानंद से भी बढ़कर भजनानन्द है अथवा निर्गुणब्रह्म के आनन्द का अनुभव सगुणरूप के दर्शन-भजन के आनन्द से बढ़कर नहीं है।

मुनियों ने एक बार ऊपर नेत्र उठाकर भगवान् के नीलकमल के फूल के समान, अरुणवर्ण, अति सुन्दर अधरों से मनोहर और कुन्द-कुसुम-सम कमनीय हास-विलास से शोभित मुखारविन्द को निहारा, फिर एक बार उनकी दृष्टि अरुण मणियों के समान सुन्दर नखों से अलंकृत चरणों पर चली गई। वे बारम्बार इस प्रकार कभी ऊपर और कभी नीचे देखकर जब एक साथ सब अंगों के लावण्य को न देख सके, तब आँखें मूँदकर अपने हृदय में ही उस मूर्त्ति का ध्यान करने लगे। हे देवगण! सनकादि मुनियों का मनोरथ पूरा हो गया; क्योंकि जिन्हें योगीजन योग-मार्ग से खोजकर पाते हैं, उन्हीं पुरुष-देहधारी, अत्यन्त आदरणीय, ध्यान करने की वस्तु, नयनाभिराम और असाधारण स्वाभाविक नित्य अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यों ( सिद्धियों ) से युक्त भगवान् नारायण के उन्हें दर्शन प्राप्त हो गये। तब वे मुनि इस प्रकार श्रीहरि की स्तुति करने लगे।

सनकादिक कहने लगे—हे अनन्त ईश्वर, आप सबके हृदय में आत्मारूप से स्थित हैं; परन्तु दुरात्मा विषयासक्त लोग आपको नहीं देख पाते। आपसे उत्पन्न हमारे जनक श्रीब्रह्माजी ने जिस समय आपके संपूर्ण तत्त्व का उपदेश दिया था, उसी समय आप कानों की राह से हमारे अन्तःकरण में उपस्थित हो गये थे, अर्थात् हमने ब्रह्मरूप से आपका अनुभव प्राप्त कर लिया था; किन्तु आपके साक्षात् दर्शन आज ही हमने पाए। आज तक हम जिसका ध्यान अपने हृदय में करते थे, वही आप आज हमारे नेत्रों के आगे खड़े हैं! निःसन्देह हमारे अहोभाग्य हैं। राग, अभिमान आदि विकारों से रहित मुनिगण दृढ़ भक्तियोग के द्वारा जिस गूढ़ तत्त्व ( ब्रह्म) का हृदय में अनुभव करते हैं, आप वही आत्मतत्त्व या परमात्मा हैं, यह हमें अच्छी तरह मालूम है। आप इसी विशुद्ध सत्वमूर्त्ति से भक्तों के हृदय में सब समय अपनी भक्ति उत्पन्न करते हैं। अर्थात् केवल भक्तों के भजन के लिए आप यह रूप धारण किये हुए हैं। आपका यश अर्थात् चरित्र परम रम्य, पवित्र, तीर्थरूप, पावन और कीर्त्तनीय है। जो चतुर लोग आपकी कथा के रस का स्वाद पा चुके हैं, वे उसके आगे सर्वोत्तम फल मोक्ष को भी लेना नहीं चाहते, इन्द्र आदि के पद तो अत्यन्त तुच्छ हैं। कारण, इन्द्र आदि के पद में आपका कुटिल कटाक्ष जो काल है, उसका भय बना रहता है। आपके भक्त काल के भय को भी जीत लेते हैं। इसलिए सबसे सुखी वे ही हैं। हे नारायण, अब से पहले हमसे कोई पाप नहीं हुआ था, किन्तु इस समय आपके भक्त द्वारपालों को शाप देने से अवश्य ही हम पाप के भागी हुए हैं। इसके लिए हमें नरक में भी भले ही जन्म लेना पड़े; किन्तु हमारी प्रार्थना यही है कि उस योनि में भी हमारा मन भौंरे के समान आपके चरणारविन्दों को न छोड़े, अर्थात् भौंरा जैसे काँटे आदि के चुभने का कष्ट भूलकर फूलों पर जा बैठता है, वैसे ही हमारा मन संसार के सब विघ्न-कष्टों को झेलता हुआ आपके श्रीचरणों को न छोड़े। हमारी वाणी आपके श्रीचरणों में तुलसी के समान स्थित रहे। [तात्पर्य यह कि तुलसी में कोई विशेषता न रहने पर भी केवल हरिचरणों के संबंध से ही उसकी शोभा होती है और उसे इतनी महिमा प्राप्त है, वैसे ही हमारी, विशेषताहीन वाणी आपके श्रीचरणों की स्तुति में लगी रहकर धन्य हो।] आपके गुणों से हमारे कानों के छिद्र पूर्ण हों। भगवन्, आपने यह रूप हमारे आगे प्रकट करके हमारे नेत्रों को सफल और सुखी बनाया। हम कृतार्थ हो गये। हे देवदेव, आप भगवान अजितेन्द्रिय व्यक्तियों के आगे प्रकट नहीं होते; किन्तु हम पर परम अनुग्रह करके आपने अपने ज्ञान-गोचर रूप को हमारे दृष्टिगोचर किया, ऐसे आप भक्तवत्सल हैं। हम आपको बारम्बार प्रणाम करते हैं।

# सोलहवाँ अध्याय

## जय और विजय का वैकुण्ठ से गिरना

ब्रह्माजी कहते हैं—हे देवगण, भक्तियोगी उन मुनियों के ये वचन सुनकर उनका अभिनन्दन करते हुए वैकुण्ठवासी भगवान् ने यों कहा। भगवान् बोले—जय और विजय नाम के इन मेरे पार्षदों ने मेरी अवहेलना करके आप लोगों का बहुत बड़ा अपराध किया है। आप मेरे प्रिय अनुगामी भक्त हैं। आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, उसी का मैं भी अनुमोदन करता हूँ। इन्होंने आपका नहीं, मेरा ही निरादर किया है। हे ब्राह्मणो, मैं स्वयं ब्राह्मण को अपना परमपूजनीय इष्टदेव मानता हूँ। मैं इस अपराध के लिए आप लोगों से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप प्रसन्न हों। मेरे यों क्षमा-प्रार्थना करने का कारण यही है कि इनके अपराध को मैं अपना ही

समझता हूँ। लोकरीति यह है कि नौकर जब कोई अपराध करता है, तब पहले उसका स्वामी ही पूछा जाता है। तात्पर्य यह कि यह अमुक का नौकर है, यों कहकर लोग स्वामी का ही नाम धरते हैं। सफेद कोढ़ जैसे खाल को बिगाड़ देता है, वैसे ही नौकर के अपराध का असाधुवाद उसके स्वामी की कीर्त्ति में बट्टा लगाता है। मेरा नाम विकुण्ठ इसीलिए है कि मेरे अमृतसम उज्ज्वल यश को सुनकर जगत् में चांडाल तक तुरन्त ही पवित्र हो जाते हैं। परन्तु वह तीर्थरूप पावन यश मुझे आप ब्राह्मणों की ही कृपा से प्राप्त हुआ है। इसलिए आप ब्राह्मणों के प्रतिकूल आचरण करनेवाली चाहे मेरी अपनी भुजा ही क्यों न हो, मैं उसे तुरन्त काट डालूँगा। [भगवान की भुजा इन्द्र आदि लोकपाल हैं। भगवान के कहने का प्रयोजन यही है कि ब्राह्मणों के अपराधी लोकपाल को भी मैं क्षमा नहीं कर सकता, और का तो कहना ही क्या!] हे मुनियो, यह आप ही लोगों की सेवा का माहात्म्य है कि मेरी चरण-रज तीनों लोकों को पवित्र करती है और मुझमें इतने उत्तम गुणों का एकत्र समावेश हुआ है कि मेरी इच्छा न रहने पर भी वह लक्ष्मी, जिसके किञ्चित् कृपाकटाक्ष के लिए ब्रह्मा आदि देवता अनेक प्रकार के नियमों के साथ कठिन तपस्या करते हैं, कभी मुझे नहीं छोड़ती। ऐसे ब्राह्मणों के विरोधी अपराधी पर प्रसन्न होना कैसा, मैं स्वयं उसे नष्ट कर देता हूँ। मैं यज्ञ में अग्निमुख से चरु, पुरोडाश आदि हवि भोजन करके उससे उतना तृप्त या संतुष्ट नहीं होता, जितना कि निष्काम कर्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण के मुख से घी से तर उत्तम खीर आदि खाकर तृप्त होता हूँ। उस ब्राह्मण के हर कौर में मुझे अत्यन्त तृप्ति प्राप्त होती है। मेरी योगमाया की विभूति सर्वव्यापिनी और अप्रतिहत है। मेरा पादोदक (अर्थात् गंगाजी) भगवान् चन्द्रमौलि शंकरसहित त्रिभुवन को स्पर्शमात्र से शीघ्र ही पवित्र कर देता है। ऐसा परमपावन परमेश्वर मैं भी जिनके चरणों की रज अपने शिर पर धारण करता हूँ, वे परमपूज्य ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण चाहे अपकार भी करें तो उनका विरोध कौन कर सकता है? अर्थात् उनके निग्रह को अनुग्रह समझकर स्वीकार करना ही सबके लिए श्रेयस्कर है। उनका विरोध किसी को नहीं करना चाहिए; क्योंकि सबका स्वामी मैं भी उनकी पूजा और आदर करता हूँ। ब्राह्मण, गउएँ और असहाय अनाथ लोग, ये तीनों मेरे ही रूप हैं। जो लोग भेदबुद्धि से इनके विरुद्ध आचरण करते हैं, इनको पीड़ा पहुँचाते हैं, वे क्रूर और पापी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मुझसे पापियों को दण्ड देने का अधिकार पाए हुए यमराज के दूत, गिद्ध के रूप से, विषधर सर्प के समान कोप करके, अपनी वज्र के समान कठोर चोंच से उनकी उन आँखों को निकाल लेंगे, जिन लाल-लाल आँखों से वे इस लोक में गऊ, ब्राह्मण और अनाथों को घूरते हैं। ब्राह्मण जो कभी कोई कड़ी या कड़वी बात भी कहे तो भी जो लोग उन्हें मेरा ही रूप समझकर उनका आदर और पूजा करते हैं, सन्तुष्ट मन से हास्ययुक्त, उत्फुल्ल मुख-कमल से स्नेहपूर्ण मधुरवाणी उच्चारण करके पुत्र की तरह उन्हें सांत्वना देते हैं, शान्त करते हैं, वे मुझे अपने वशीभूत कर लेते हैं। [तात्पर्य यह कि मैंने जैसे भृगु के लात मारने पर भी क्रोध न करके उनके पैर को सहलाया था, मधुर वचन कहकर उनको शान्त किया था और इस समय आप लोगों से प्रार्थना कर रहा हूँ, वैसे ही सबको अपकार करनेवाले ब्राह्मण के साथ व्यवहार करना चाहिए। इसी में मैं प्रसन्न होता हूँ।] हे मुनिवरो, इन पार्षदों ने मेरे इस अभिप्राय को न जानने के कारण आप लोगों का अपराध किया है। इसलिए जिसमें ये आपके दिए दण्ड के अनुसार गति को पाकर फिर शीघ्र ही मेरे निकट आ जायँ, वही आप करें। यह आप मुझ पर परम अनुग्रह करेंगे। मैं चाहता हूँ कि इनका यह वैकुण्ठलोक से निर्वासन का दण्ड शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

ब्रह्माजी कहते हैं—भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई ऐसी मनोहर, मधुर, प्रभावशालिनी, मंत्रप्रवाहरूप अथवा ऋषियों के योग्य वाणी को सुनकर उन ऋषियों के चित्त से क्रोधरूप सर्प का विष उतर गया अर्थात् वे शान्त हो गये। उनका यही जी चाहने लगा कि और भी वह मधुर वाणी सुनने को मिले।

उन्होंने मन लगाकर, कान फैलाकर वह थोड़े अक्षरों में अधिक अथवा गंभीर भाव को व्यक्त करनेवाली भगवान् की वाणी सुनी। उस गंभीर अभिप्रायवाली वाणी को सुनकर मुनि लोग ठीक-ठीक भगवान् का अभिप्राय न समझ सके कि भगवान् इस शाप के लिए हमारी निंदा या भर्त्सना कर रहे है अथवा उस शाप के लिए हमारा अभिनन्दन कर रहे हैं या हमारे दिये दंड को कम करने के लिए कह रहे हैं। इसके उपरान्त यह निश्चय करके कि भगवान् सचमुच हमारे दिये दंड का अनुमोदन ही कर रहे हैं, * वे परम प्रसन्न हुए, उनके शरीर में रोमांच हो आया। वे हाथ जोड़कर योगमाया के द्वारा परम ऐश्वर्य का चरम उत्कर्ष प्रकट करनेवाले भगवान् को प्रणाम करके यों कहने लगे।

ऋषियों ने कहा— भगवन्, आप परमेश्वर अर्थात् सबके स्वामी होकर भी जो यह कह रहे हैं कि "इसे मैं अपना ही अपराध मानता हूँ" अथवा "आप लोग मुझ पर अनुग्रह करें" इससे हमारी बुद्धि चकरा रही है। आप क्या करना चाहते हैं, यह कुछ हमारी समझ में नहीं आ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे आप ब्रह्मण्यदेव और ब्राह्मणों का हित करनेवाले हैं, ब्राह्मण ही आपके इष्टदेव हैं, वैसे ही देवतों के भी पूज्य जो ब्राह्मण हैं, वे भी आपको अपना आत्मा और देवता मानते है। आप सदैव अवतार लेकर समय-समय पर सनातनधर्म की रक्षा करते हैं। उस धर्म की उत्पत्ति भी आप ही से होती है। उस धर्म के आचरण का निर्विकार श्रेष्ठ फल भी आप ही हैं। इसलिए आपका यों कहना केवल लोगों को धर्म की शिक्षा देने के लिए ही है। हे देव, आपके अनुग्रह को पाकर संसारत्यागी विरक्त योगीजन अनायास ही मृत्यु-भय से छुटकारा पा जाते हैं। आप पर और कौन अनुग्रह कर सकता है? अन्यान्य अर्थ की कामना रखनेवाले लोग जिनके चरणों की रेणु को अपने शिर पर धारण करते हैं, वही सम्पत्तिरूपिणी लक्ष्मी नित्य आपकी सेवा में लगी रहती हैं। यह देखकर हमें जान पड़ता है, पुण्यात्मा धन्य पुरुष आपके जिन श्रीचरणों में नव तुलसीदलों की माला अर्पण करते हैं, और गंधलोभी सारग्राही भौंरे जिन पर मँडलाया करते हैं, उन चरणों में स्थान पाने की कामना लक्ष्मी भी करती हैं, यद्यपि उन्हें आपने अपने वक्षःस्थल में स्थान दे रक्खा है। [इसका तात्पर्य यह है कि भौंरा बड़ा चंचल और सारग्राही होता है, पर वह भी चरण-स्थित तुलसी में सपरिवार स्थिर होकर रहता है। लक्ष्मी यह देखकर सोचती हैं कि अवश्य ही प्रभु के चरणों का लावण्य अधिक है, तब तो चंचल भ्रमर भी वहाँ से नहीं हटता। मैं भगवान के हृदय में रह-कर उसमें रहनेवाले अन्य अनेक भक्तों के संघर्ष को सहती हूँ, पर श्रीचरणों में रहने के अलभ्य लाभ से वंचित ही हूँ। अब यदि श्रीचरणों में मुझे भी स्थान मिले तो अपनी सौत तुलसी के साथ रहना भी मुझे स्वीकार है।] इस प्रकार अत्यन्त उत्सुकता के साथ सेवा करनेवाली लक्ष्मी का भी आप उतना आदर नहीं करते। कारण, परम भागवत भक्तों का संग ही आपको अत्यन्त प्रिय है। आप ऐसे परम सौभाग्यशाली हैं। आपको ब्राह्मणों के चरणों की रज अथवा भृगु का चरण-चिह्न (श्रीवत्स) क्या पवित्र कर सकता है! आप जो कहते हैं "कि ब्राह्मणों की कृपा से ही लक्ष्मी मुझे नहीं छोड़ती" या आप जो ब्राह्मण के चरण-चिह्न को हृदय में धारण किये हुए है सो केवल लोक-शिक्षा के लिए। आप स्वयं स्वाभाविकरूप संपूर्ण भजनीय गुणों के एकमात्र आधार और परम पवित्र हैं। हे जगदीश, ब्राह्मणों और देवतों के प्रयोजन के लिए धर्मरूप आपने अपने असाधारण तप, शौच, दया इन तीन चरणों से इस चराचरजगत् को धारण कर रक्खा है। हे तीनो युगों मे अवतार लेनेवाले ईश्वर, आप अपनी इस वर देनेवाली सत्वमय मूर्त्ति से धर्म के नाशक रजोगुण और तमोगुण को हमारे हृदय से दूर करो। हे धर्ममूर्त्ति, आप ही ब्राह्मणों की

---

*अर्थात् ऋषियो ने समझ लिया कि राजाधिराज भगवान् राजा को शिक्षा देने के लिए हम ब्राह्मणों का ऐसा मान कर रहे हैं।

रक्षा करनेवाले हैं। हे देव, जो आप श्रेष्ठ ब्राह्मणों की रक्षा न करें, इस प्रकार उनका सम्मान और आदर न करें, तो आपका बनाया हुआ कल्याणमय वेदमार्ग बहुत शीघ्र लुप्त हो जाय। कारण, संसार के लोग श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण को ही प्रमाण मानकर उसी के आदर्श पर चलते हैं*। आप यदि इस प्रकार ब्राह्मणों का आदर न करें तो फिर और लोग कैसे करेंगे? आप धर्म का नाश होने देना नहीं चाहते, इसीलिए जब-जब दुष्ट लोग आपकी इच्छा के विरुद्ध धर्म के शत्रु बनकर वेदमार्ग को मिटाते हुए बढ़ने लगते हैं, तब-तब आप राजा या अवतार आदि अपनी शक्ति से उन दुष्टों का संहार और अपने जनों की रक्षा करते हैं। धर्म और उसका प्रचारक वेदमार्ग आपको इतना प्रिय होने के कारण ही उस धर्म के सेवक ब्राह्मणों का आप इतना सम्मान करते हैं और उनके आगे हीनता प्रकट करते हैं। यदि कहो कि बड़े का छोटों के आगे झुकना उसके तेज की हानि करता है तो हमारे आगे यों झुकने से आपकी तेजोहानि नहीं हो सकती। कारण, आपके ऐसा करने का प्रयोजन केवल धर्म की रक्षा करना है। और फिर हमारे निकट हीनता स्वीकार करने से कुछ आप हीन ही नहीं हो गये। आप जैसे त्रिभुवनपति और विश्वकर्त्ता थे, वैसे ही बने हैं। यह हमें प्रणाम करना, क्षमा-प्रार्थना और हीनता प्रकट करना आदि तो लोकशिक्षा के लिए आपका लीला-विनोदमात्र है। हे स्वामी, अन्त में आपसे हमारा निवेदन यही है कि आप अगर अपने इन अनुचरों को अन्य कोई दण्ड देना चाहें अथवा इनको दण्ड न देकर इनका पद और बढ़ाना चाहें तो आप वैसा ही करें। हम सब में सहमत हैं अथवा आप यदि यह समझें कि हमने इन निरपराधियों को वृथा ही शाप देने का अपराध किया है तो हमें आप अपनी इच्छा से उचित दण्ड दीजिए। हमें वह भी शिरोधार्य होगा।

श्रीनारायण ने कहा—इन जय-विजय को यह शाप तुमने मेरी ही इच्छा से दिया है। इसमें तुम्हारी कुछ भी लाग नहीं है। ये दोनों मेरे पार्षद असुर-योनि में उत्पन्न होंगे और क्रोधवश विरोध का भाव रखकर एकाग्र मन से सदा मेरा ही ध्यान किया करेंगे। इस कारण शीघ्र ही (अर्थात् तीन ही जन्मों में) असुर-योनि से मुक्त होकर मेरे पास चले आवेंगे।

ब्रह्माजी कहते हैं—हे देवगण, इसके उपरान्त उन मुनियों ने नयनानन्ददायक नारायण के दर्शन करके स्वयंप्रकाशमान वैकुण्ठलोक की सैर की। फिर उन्होंने भगवान् की प्रदक्षिणा की, उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर भगवान् से आज्ञा लेकर आनन्द के साथ भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हुए वे मुनि वहाँ से चल दिये। सनकादि मुनियों के जाने पर भगवान् ने अपने पार्षदों से कहा—तुम दोनों वैकुण्ठ से भूलोक को जाओ। डरो नहीं। तुम्हारा कल्याण हो। मैं ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मशाप को मेट सकता हूँ; किन्तु ऐसा करना नहीं चाहता। कारण, यह सब मेरी ही इच्छा से हुआ है†। देखो, पहले मैं जब योगनिद्रा में

---

* भगवान् ने भी गीता मे यही कहा है

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
सयत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

† एक तो सनकादि परमहंसों को क्रोध आना संभव नहीं। दूसरे भगवान् के पार्षदों से ब्राह्मणों का अनादर का होना असंभव था। फिर भगवान् अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। साथ ही वैकुण्ठ पहुँच जानेवालों का पुनर्जन्म होना भी असंगत था। इसीसे भगवान् कहते हैं कि मेरी इच्छा से ही ये सब असंभव बातें हुई हैं। यहां यह समझ लेना चाहिए कि सृष्टि की इच्छा के समान कभी भगवान् को युद्ध करने की इच्छा हुई। और कोई भगवान् से लड़ नहीं सकता। पार्षद ही रूप और बल में तुल्य थे। पर वे भगवान् के प्रतिपक्षी नहीं बन सकते थे। इसीलिए भगवान् ने अपनी इच्छारूप माया से मोहित करके पार्षदों से ऋषियों के प्रतिकूल काम कराया, ऋषियों के हृदय में क्रोध प्रकट करके शाप दिलाया और फिर युद्ध-कौतुक किया। भगवान् ने जो यह कहा कि मेरी ही इच्छा से यह सब कौतुक हुआ, उसका यही तात्पर्य है।

शयन कर रहा था, तब भीतर प्रवेश कर रही लक्ष्मीदेवी को इसी तरह तुमने रोका था, और उसी समय उन्होंने ही क्रोध करके कह दिया था कि तुमको ब्रह्मशाप भोगना पड़ेगा। तुम दोनों घोर वैरभाव से हर घड़ी मुझमें मन लगाकर शीघ्र ही ब्राह्मणों के निरादर से मिलनेवाले इस शाप से छुटकारा पा जाओगे और कुछ ही समय में फिर मेरे लोक में आकर रहने लगोगे।

इस प्रकार अपने द्वारपालों को आदेश देकर विमानावलियों को शोभित करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट शोभा से युक्त अपने भवन में श्रीभगवान् पधार गये। इसके उपरान्त वे श्रेष्ठ देवता, जय और विजय, दुस्तर ब्रह्मशाप के कारण तेज और शोभा से हीन होकर उस वैकुण्ठधाम से नीचे गिरे। जब जय-विजय वैकुण्ठलोक से गिरने लगे, तब श्रेष्ठ विमानों पर से देवगण हाहाकार करने लगे।

हे देवतो, वे ही दोनों विष्णु भगवान् के श्रेष्ठ पार्षद जय-विजय इस समय कश्यप के वीर्य द्वारा दिति के गर्भ में स्थित हैं। उन्हीं एक साथ दिति के गर्भ में प्रवेश करनेवाले असुरों के तेज ने इस समय तुम्हारे और अग्नि, सूर्य आदि के तेज को छिपा लिया है और जगत् में अन्धकार छा जाने से हलचल मच गई है। इसका कुछ और प्रतिकार या उपाय नहीं हो सकता; क्योंकि भगवान् की ही इच्छा से यह सब हो रहा है। पर तुम लोग घबराओ नहीं। वह विश्व की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाले, आदिपुरुष, त्रिलोकीनाथ भगवान् सतोगुण के उत्कर्ष का समय जब आवेगा, तब इन असुरों को मारकर हमारा कल्याण करेंगे। उनकी योगमाया का पार बड़े-बड़े योगी नहीं पा सकते। इस संबंध में हम लोगों का चिन्तित होना या सोचना-विचारना व्यर्थ ही है।

# सत्रहवाँ अध्याय

## हिरण्याक्ष की दिग्विजय-यात्रा

मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्माजी के मुख से दिति के अपूर्व गर्भ के घोर तेज का कारण सुनकर सब देवतों की शंका दूर हो गई और तब वे अपने स्वर्गलोक को लौट गये। उधर अपने पति कश्यपजी के मुख से यह सुनकर कि तुम्हारे पुत्र तीनों लोकों के निवासियों और लोकपालों को पीड़ा पहुँचावेंगे, दिति ने शंका के मारे सौ वर्ष तक गर्भ को अपने उदर में रोक रक्खा। सौ वर्ष पूरे होने पर अधिक रोकना असंभव होने के कारण उन्होंने दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न किये। दिति के पुत्र उत्पन्न होने के समय पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष में अनेक घोर उत्पात होने लगे, जिन्हें देखकर तीनों लोकों के प्राणी बहुत ही भयभीत और उद्विग्न हो उठे। बड़े ज़ोर से विकट आँधी चलने लगी। उस आँधी के झोंकों से घोर शब्द होने लगा। चारों ओर धूल उड़ाते हुए और वृक्षों को जड़ से उखाड़कर गिराते हुए उस कठोर पवन का स्पर्श अत्यन्त दुःसह था। बारंबार भूचाल होने लगे, जिनसे बड़े-बड़े पहाड़ हिलने लगे। सब दिशाओं में दिग्दाह होने लगा अर्थात् लाली छा गई। उल्काएँ आकाश से गिरने लगीं। वज्रपात होने लगे। जगत् को कष्ट देनेवाले केतु आकाश में दिखाई पड़ने लगे। अट्टहास-सा कर रही चमकती हुई बिजलियों के साथ घोर घनघटा घिर आई और उन्होंने सूर्य आदि को छिपा लिया। आकाश में ऐसा अँधेरा छा गया कि कुछ भी नहीं सूझता था। समुद्र बढ़ आया। उसके जल में ऊँची लहरें उठने लगीं। उसके भीतर रहनेवाले जीव-जन्तुओं में हलचल मच गई। समुद्र की लहरों के टकराने से जो घोर शब्द होता था, सो जान पड़ता था, जैसे उदास होकर सागर

आर्त्तनाद कर रहा है। बावली, कुओं, सरोवर और नदियों का जल क्षुब्ध हो उठा। उनमें खिले हुए कमल के फूल आप से सूख गये। चंद्रमा और सूर्य में एक साथ ग्रहण लग गया और उनके बिम्बों के चारों ओर "मंडल" पड़ने लगे। बिना बादल के बिजली कड़कने लगी। पर्वतों की कंदराओं में रथ चलने की-सी घरघराहट सुन पड़ने लगी। मुख से घोर आग की ज्वालाएँ उगलती हुई अमंगलरूपिणी सियारियाँ गाँवों में अर्थात् बस्तियों में इधर-उधर घूमती और बोलती दिखाई पड़ने लगीं। सियार और उल्लू पक्षी घोर चीत्कार करने लगे, जो कानों में शूल-सा लगता था। कुत्तों के झुंड ऊपर गरदन उठाए जगह-जगह पर कभी रोने का-सा और कभी गाने का-सा विविध प्रकार का शब्द करते दिखाई देने लगे। गधों के झुंड पागल-से होकर अपने कठोर खुरों से धरती को खोदते और "सीपों-सीपों" करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। उन गधों के भयंकर नाद से डरे हुए पक्षी घबराकर अनेक प्रकार के शब्द करते हुए अपने घोसलों से निकलकर आकाश में उड़ने लगे। अपनी जगहों में बँधे हुए और जंगल मे चरते-विचरते हुए गऊ-बैल आदि पशु भय के मारे एक साथ ही मल-मूत्र का त्याग करने लगे। गउएँ डर गईं। उनके स्तनों से दूध की जगह रक्त निकलने लगा। बादलों से रक्त और पीब की वर्षा होने लगी। देवतों की मूर्त्तियाँ रोने लगीं। बिना वायु के ही वृक्ष जड़ से उखड़-उखड़कर गिरने लगे। शनि, मंगल, राहु, केतु आदि क्रूर ग्रह शुक्र, चन्द्र, बृहस्पति, बुध आदि ग्रहों को वक्री होकर दबाने लगे। प्रज्वलित हो उठे ग्रहों में परस्पर युद्ध होने लगा।

इस प्रकार के अनेकानेक महान् उत्पातों को देखकर ब्रह्माजी के पुत्र सनक आदि के सिवा अन्य सब तीनों लोकों के प्राणी, जो इन उत्पातों के कारण को नहीं जानते थे, भयभीत हो उठे। उन्होंने समझ लिया कि आज ही विश्व का प्रलय होनेवाला है। उधर उत्पन्न होते ही वे दोनों आदिदैत्य पर्वत के समान सहसा बढ़ने लगे। उनका पहले का पौरुष प्रकट दिखाई पड़ने लगा। उनके अंग पत्थर के समान कठोर थे। वे इतने ऊँचे थे कि उनके शिरों के किरीट मुकुट स्वर्गलोक को छू रहे थे। उनके विशाल शरीर से सब दिशाएँ व्याप्त हो गईं। उनकी भुजाओं मे अंगद आदि अलंकार शोभायमान थे। वे जब चलते थे, तब पग-पग पर पृथ्वीतल को कँपाते थे। कमर मे पड़ी हुई सोने की करधनी की कान्ति से वे सूर्य से भी बढ़कर शोभायमान देख पड़ते थे। तब प्रजापति कश्यप ने उनका नामकरण-संस्कार इस प्रकार किया। वे दोनों जुड़वाँ पैदा हुए थे, इसलिए गर्भ से जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम हिरण्याक्ष रक्खा और गर्भाधान के समय वीर्यपात के क्रम से जिसने पहले गर्भ मे प्रवेश किया और पीछे जन्म लिया, उसका नाम हिरण्यकशिपु रक्खा *।

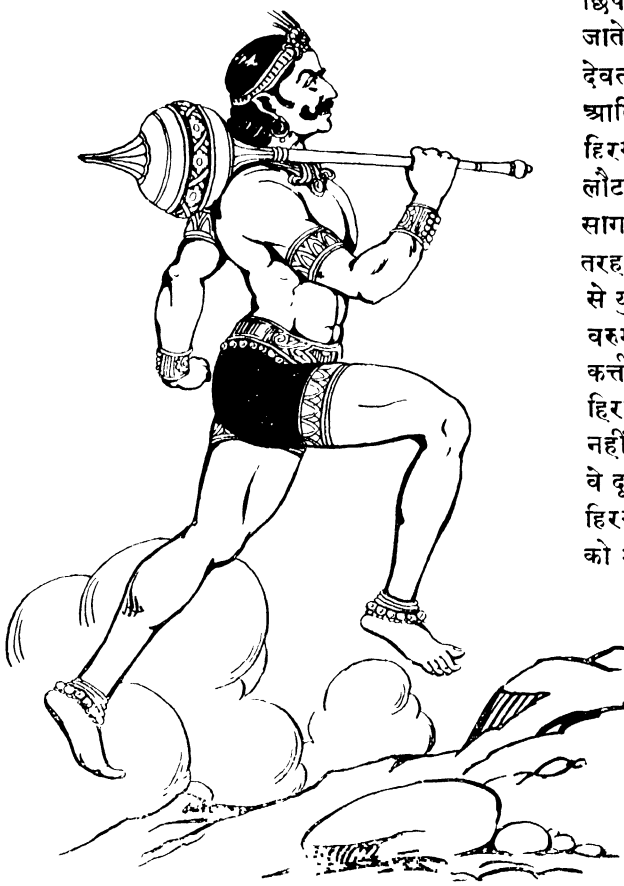
बड़ा भाई हिरण्यकशिपु का बाहुबल यों ही बहुत अधिक था, उस पर ब्रह्मा से उसे ऐसा वरदान मिल गया, जिससे उसे कोई मार नहीं सकता था। वह ऐसा उद्धत हो गया कि किसी को भी दबता न था। उसने तीनों लोकों और लोकपालों को जीतकर अपने वश मे कर लिया। छोटा भाई हिरण्याक्ष भी कम बली नहीं था। दोनों भाइयों मे बड़ा प्रेम था। छोटे भाई को बड़ा भाई बहुत चाहता था और छोटा भाई सदा बड़े भाई के प्रिय कार्य करने को तैयार रहता था। इसीलिए वह एक समय गदा हाथ में लेकर युद्ध

---

*हिरण्यकशिपु का जन्म पीछे होने पर भी इसी से वह बड़ा भाई माना गया। जब माता के गर्भ मे कुछ वीर्य पहले और कुछ बाद को पड़ता है, तभी जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न होते है। उत्पत्ति के समय वीर्य के पहले अंश से उत्पन्न बालक पीछे और पिछले अंश से उत्पन्न बालक पहले जन्म लेता है। यथा—

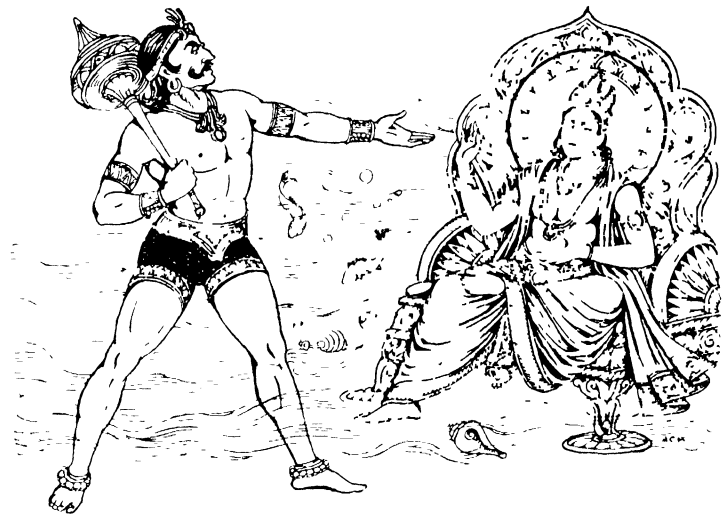
यदा विशेद्द्विधाभूतं बीजं पुष्पं परिक्षरत्।
द्वौ तदा भवतो गर्भौ सूतिर्वेशविपर्ययात्॥ (पिण्डसिद्धि)

करने की इच्छा से अपने से लड़ने योग्य बली योद्धा को खोजते हुए स्वर्गलोक को गया। चलते समय उसके दोनों पैरों में सोने के नूपुर बजते थे, गले में वैजयन्ती माला शोभायमान थी, कंधे पर भारी लोहे की गदा रक्खी थी और वह दुःसह वेग से दौड़ता चला जाता था। वीरता, बल और वरदान के पाने से गर्वित, निरंकुश और अकुतोभय हिरण्याक्ष को आते देखकर सब देवतों में हलचल मच गई और वे भय के मारे छिप रहे। वैसे ही, जैसे गरुड़ को देखकर नाग छिप जाते हैं। अपने तेज और भय के मारे छिप गये देवता जब स्वर्ग में कहीं न देख पड़े, तब इन्द्र आदि सब देवतों को पौरुष से हीन जानकर हिरण्याक्ष सिंह की तरह गरजने लगा। वहाँ से लौटते समय हिरण्याक्ष की इच्छा हुई कि महासागर में जल-विहार करें। तब मस्त हाथी की तरह महाबली हिरण्याक्ष गंभीर और भयंकर शब्द से युक्त समुद्र के भीतर घुस पड़ा। उस समय वरुण की सेना जल के जीव भय के मारे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। यद्यपि तुच्छ समझकर हिरण्याक्ष ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया, उन्हें नहीं मारा, तथापि उसके तेज (रोब) से डरकर वे दूर-दूर इधर-उधर भागने लगे। महाबलशाली हिरण्याक्ष इस प्रकार हज़ारों वर्षों तक* महोदधि को मँझाता और वायु के वेग से उठी हुई बड़ी-बड़ी लहरों को लोहे की गदा से तोड़ता जल-विहार करता रहा। इसके उपरान्त विचरता हुआ वह वरुणदेव की विभावरी नाम की पुरी में पहुँचा। उस पुरी में जलचर जीवों के राजा लोकपाल वरुण देवता को देखकर उस नीच असुर ने हँसकर आदर के भाव से नहीं, प्रत्युत् उनका उपहास करने के लिए, उन्हें प्रणाम किया और बोला—राजाधिराज, मैं तुम-से द्वन्द्व-युद्ध करना चाहता हूँ। कारण, तुम असुरलोक पाताल के लोकपाल, जल में रहनेवाले जीवों के राजा और बड़े यशस्वी हो। अपने को वीर माननेवाले अनेकों अभिमानियों को तुमने हराया है। हे प्रभो, मैंने सुना है कि तुम सब दैत्यों और दानवों को जीतकर पहले कल्प में राजसूय यज्ञ कर चुके हो।



*संस्कृत के एक टीकाकार ने लिखा है कि ये दोनों दैत्य पाद्मकल्प में ही उत्पन्न हो चुके थे। हिरण्याक्ष को भगवान् ने वाराह-कल्प में मारा, यही इन हज़ारों वर्ष के कथन से जानना चाहिए। यह शंका ठीक नहीं कि दनन्दिन प्रलय में वे कैसे बने रहे, क्योंकि भगवान् के बिना उनकी मृत्यु का होना असंभव था। पर यह बात विचारणीय है। हमारी समझ में वाराहकल्प में ही इन्होंने जन्म लिया और हरि के हाथों से मारे गये।

हे विदुर, घमंडी दैत्य ने जब इस प्रकार उपहास किया, तब जलपति भगवान् वरुण को बड़ा क्रोध चढ़ आया। परन्तु बुद्धिमान् वरुणदेव ने यह सोचकर कि इस दैत्य को भगवान् के सिवा और कोई नहीं जीत सकता, अपने क्रोध को रोककर शान्त स्वर में कहा—भैया, हम तो अब युद्ध आदि कौतुक को छोड़ चुके हैं। तुम युद्ध-विद्या में निपुण हो, दानवों में श्रेष्ठ, बली और उत्साह तथा साहस से परिपूर्ण हो। तुम्हारे हौसले बड़े हैं। पुराणपुरुष भगवान् विष्णु के सिवा तुमको युद्ध में सन्तुष्ट करने की शक्ति रखनेवाला और कोई मुझे नहीं देख पड़ता। तुम्हारे-जैसे मनस्वी वीर उनकी वीरता के गुण गाया करते हैं, प्रशंसा करते हैं। बस, तुम उन्हीं सर्वश्रेष्ठ वीर नारायण के निकट जाओ, उनसे युद्ध करके अवश्य ही तुम्हारा यह घमंड मिट जायगा, तुम वीर-गति को प्राप्त होकर ( मरकर ) वीरों के शयन करने योग्य शय्या (रणभूमि) में सो जाओगे और कुत्ते तुम्हारा मांस खाने के लिए तुम्हारे चारों ओर खड़े होंगे। हे दैत्यराज, वह भगवान् तुम जैसे अधम दुष्टों को मारने के लिए और सज्जनों पर अनुग्रह करने के लिए समय-समय पर अनेक अवतार लिया करते हैं—वराह आदि अनेक रूप धारण किया करते हैं।



# अठारहवाँ अध्याय

## हिरण्याक्ष के साथ वराह भगवान् का घोर संग्राम

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी, वरुण के ये तीखे वचन सुनकर महामनस्वी और घमंडी असुर ने उन पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वरुण ने जो यह कहा कि "भगवान् से लड़कर तू मारा जायगा, तेरा घमंड मिट जायगा" इत्यादि, इसे उस असुर ने कुछ नहीं समझा ; क्योंकि उसे अपने बल का इतना घमंड था कि वह किसी को अपने से अधिक शक्तिशाली मानने के लिए तैयार न था। उसने जब यह जाना कि विष्णु भगवान् में इतना बल है कि वह उससे युद्ध कर सकते हैं; तब वह उनका पता लगाने के लिए चला। इतने ही में नारदजी से उसकी भेंट हो गई। नारद ने बतलाया कि भगवान् इस समय रसातल में मिलेंगे, वहाँ वह वराहरूप से पृथ्वी का उद्धार करने गये है। यह सुनते ही हिरण्याक्ष ने वेग से रसातल में प्रवेश किया। वहाँ उसे वराहरूप भगवान् के दर्शन हुए। हिरण्याक्ष ने धरा को धारण करनेवाले वराहजी को देखा। वह अगली

दाढ़ की नोक पर पृथ्वी को रक्खे हुए ऊपर लिये आ रहे हैं। उनके अरुण नेत्रों की ज्योति ऐसी थी कि आँख से आँख मिलते ही हिरण्याक्ष चौंधिया गया और उसका तेज हत हो गया। हिरण्याक्ष ने हरि को देखते ही हँसकर कहा—अहो, कैसा आश्चर्य है, यह जल के भीतर रहनेवाला मृग अर्थात् शूकर है! *

फिर हिरण्याक्ष भगवान् वराहजी से कहने लगा—अरे अज्ञ, तू नहीं जानता, विश्व के विधाता ब्रह्मा ने यह पृथ्वी हम रसातल के निवासी दैत्यों को दे डाली है, तभी तो यह पाताल में चली आई है। हे सुराधम! हे शूकर का रूप रखनेवाले विष्णु! इस पृथ्वी को लेकर तू कुशल-क्षेम के साथ मेरे आगे से न जा सकेगा। इसलिए इसे ले जाने का विचार छोड़ दे †। हम दैत्यों के परमशत्रु देवता लोगों ने हमें मारने के लिए क्या तेरा आश्रय लिया है? तुझमें पौरुष तो उतना है नहीं कि सामने आकर लड़कर हमें जीत सके, इसलिए तू छिपकर माया से असुरों को मारता है। तुझमें पौरुष या बाहुबल कम है, केवल योगमाया का ही बल है। हे मूढ, आज तुझे परलोक पहुँचाकर अपने उन सुहृद्गण के आँसू पोंछूँगा, जिनके बन्धु-बान्धवों को तूने कपट-युद्ध करके मारा है ‡। मेरे हाथ से छूटी हुई यह गदा तेरे सिर के टुकड़े कर डालेगी, तेरे प्राण निकल जायँगे। तब तेरी सेवा-पूजा करनेवाले सब ऋषि और देवता आप न रह जायँगे, उनका विनाश हो जायगा। कारण, उन सबकी जड़ अथवा रक्षक तो तू ही है §।

शत्रु इस प्रकार जब कटुवचन-रूप बाणों से मर्मस्थल को चोट पहुँचाने लगा, तब अपनी दाढ़ की नोक पर रक्खी हुई पृथ्वी को भय से व्याकुल देखकर भगवान् उन दुर्वचनों की व्यथा ¶ को सहते हुए, अंकुश का आघात सह रहे हथनी सहित हाथी के समान शोभायमान होते हुए, उस जल के ऊपर निकल आए। अर्थात् जल के भीतर उन्होंने न तो हिरण्याक्ष को कुछ उत्तर दिया और न युद्ध ही किया—उसकी ललकार और कटु वचन सुनते, सहते चुपचाप चले आए। वह दैत्य भी जल से निकल रहे वराहजी का पीछा करता हुआ ऊपर चला आया। जैसे गजराज का पीछा ग्राह या मगर कर रहा हो, वैसे ही वह सुनहले बालोंवाला असुर भगवान् के पीछे-पीछे आ रहा था। उसकी कराल और पैनी दाढ़ें मुख के बाहर निकली हुई थीं। वह वज्र-गर्जन

---

* दैत्य के कठोर वचनों का दूसरा अर्थ भगवान् की स्तुति है। सरस्वती देवी दैत्य के कटु वचनों से जो भगवान् की स्तुति का अर्थ करती हैं, वह भी यहा पाठकों के जानने के लिए दिया जा रहा है। इन कटु वचनों का सरस्वती-कृत अर्थ यह है—यह जल में शयन करनेवाले श्रीनारायण हैं। योगी लोग इन्हीं को खोजते हैं अथवा यह दुष्टों को मारने के लिए खोजते हैं। यथा—योगिभिर्मृग्यते दुष्टान्वा हन्तुं मृगयते इति मृगः।

† इस अंश का सरस्वती-कृत अर्थ इस प्रकार है—हे सुराधम (अर्थात् सब सुर आपसे नीचे हैं, आप ही सबसे श्रेष्ठ हैं), हे अज्ञ (अर्थात् सबसे बढ़कर ज्ञानी सर्वज्ञ), आपने लीला के लिए यह शूकर अवतार लिया है। आप निःसंदेह मेरे सामने ही इस पृथ्वी को कुशलपूर्वक ले जायँगे। किंतु हम पातालवासियों पर कृपा करके आप इसे हमारे लिए छोड़ दें, क्योंकि विधाता ने जीविका के लिए हमें यह पृथ्वी दी है।

‡ इस अंश का सरस्वती-कृत अर्थ यह है—क्या हमारे शत्रु देवतों ने अभय अर्थात् मुक्ति के लिए आपका आश्रय लिया है? आप परोक्ष रहकर हम-जैसे दुष्टों को मारते हैं, अपनी माया से उनका नाश करते हैं। योगमाया आपका बल है। आपकी अपेक्षा और सभी का बल अल्प है। आप मूढ लोगों को भी संसार से उबारते या उनकी कामना पूरी करते हैं। मैं आपको शत्रुभाव से हृदय में रखकर अपने हृदय के अथवा सुहृद्गण के संसार के दुःखों को मिटाऊँगी। तात्पर्य यह कि आप भजनेवालों के बंधु-बान्धवों को भी तार देते हैं।

§ इस अंश का अर्थ सरस्वती यों करती हैं कि मेरे हाथ की चलाई हुई गदा के प्रहार से आपका मस्तक नहीं फटेगा, आप ऐसे ही सुखपूर्वक खड़े रहेंगे। तब आपके सेवक और पूजक देवता और ऋषि आप ही, अनायास ही, निर्मूल न होंगे। मेरे मरने से उनकी जड़ और भी दृढ़ हो जायगी।

¶ भगवान् को व्यथा कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान यह है कि देवता, ब्रह्मा आदि हरि की निंदा सुनकर व्यथित हुए और उनकी व्यथा पहुँचना ही हरि का व्यथित होना है; क्योंकि भगवान् सर्वरूप हैं। या ब्रह्मा नारायण का ही दूसरा रूप है, इसलिए अथवा भक्त के सुख-दुःख को भगवान् अपना ही समझते हैं, अर्थात् भक्त के पीड़ा होने से उन्हें भी पीड़ा पहुँचती है।

के समान कठोर वाणी से तिरस्कार करता हुआ कहता आ रहा था कि "अहो ! नीच निर्लज्ज के लिए कोई भी काम निन्दनीय नहीं होता *;" तात्पर्य यह कि तुझे निन्दा का भय नहीं है, इसलिए तेरा यों भागना भी ठीक ही है।

भगवान् वराहजी ने उस दैत्य के सामने ही पृथ्वी को जल के ऊपर लाकर रख दिया और फिर उस पृथ्वी में आधार-शक्ति अर्थात् लोगों को और अन्य सब पदार्थों को धारण करने की शक्ति स्थापित की। उस समय ब्रह्माजी उनकी स्तुति कर रहे थे और देवगण उन पर फूल बरसा रहे थे। उधर सब अंगों में सोने के गहने पहने, लोहे का सुवर्णजटित सुदृढ़ अभेद्य कवच धारण किये, हाथों में बड़ी भारी लोहे की गदा लिये वह दैत्य भी वारम्वार दुर्वचनों की चोट करता हुआ पीछे-पीछे आकर उसी स्थान पर उपस्थित हुआ। तब भगवान् का कोप और अधिक प्रचण्ड हो गया और वह क्रोधातिरेक से हँसते हुए यों कहने लगे †।

श्रीवराहजी ने कहा—सच है, हम जल में रहनेवाले मृग या वराह हैं; परन्तु याद रख, तुझ-जैसे कुत्तों को अपने शिकार के लिए सदा ढूँढा करते हैं। मृत्यु का फंदा जिनके गले में पड़ा हुआ है, उन तुझ-जैसे कोरे बकवादियों के प्रलाप या आत्मश्लाघा को सच्चे वीर तुच्छ समझते हैं, उस पर ध्यान नहीं देते। निःसन्देह हम रसातलवासी दैत्यों की धरोहर ( पृथ्वी ) को ले भागनेवाले है, निर्लज्ज हैं, तेरी गदा के डर से भाग खड़े हुए है। ले भाई, अब हम खड़े हैं, क्योंकि चाहे जिस तरह हो, विवश होकर हमें युद्ध के लिए खड़े होना ही पड़ेगा ! तुझ-जैसे बली से वैर-विरोध बढ़ाकर भागना भी चाहें तो हम भागकर कहाँ जा सकते हैं ? कहीं भी प्राण नहीं बच सकते ! अस्तु, अब हमें मारकर शीघ्र अपने आत्मीयों के आँसू पोंछ डाल। देख, जो कोई अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं करता, वह असभ्य है, वीरों की सभा या मण्डली में बैठने योग्य नहीं है।

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार ताने देकर कुपित भगवान् ने जब उपहास किया, तब वह दैत्य भी वैसे ही अत्यन्त कुपित हुआ, जैसे छेड़ने पर विषधर सर्प क्रोध करता है। क्रोध के मारे वह लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगा। उसकी सब इन्द्रियों को क्रोध ने विचलित कर दिया, अर्थात् इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रहीं। तब उस दैत्य ने वेग से दौड़कर पास आकर हरि के ऊपर गदा का प्रहार किया। शत्रु ने ताककर भगवान् की छाती में गदा मारी, परन्तु भगवान् पैंतरा बदलकर, कुछ आड़े होकर वैसे ही उस प्रहार को बचा गये, जैसे योग-समाधि लगाये योगी मृत्यु के आक्रमण से अपने को बचा लेता है। वह दैत्य फिर अपनी गदा उठाकर प्रहार करने का अवसर ढूँढ़ता हुआ उसे वारंवार वेग से घुमाने लगा। क्रोध से होंठ चबा रहे दानव पर प्रहार करने के लिए कुपित वराहजी भी फिर झपटे। उन्होंने शत्रु की दाहनी भौंह में गदा मारी। गदा-युद्ध में चतुर दैत्य ने हरि की गदा को अपनी गदा की चोट से राह में ही रोक दिया। क्रोध के वश होकर श्रीहरि और हिरण्याक्ष, दोनों ही विजय पाने के लिए इस तरह बड़ी-बड़ी भारी गदाओं से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। दोनों वीरवर विजय की स्पर्द्धा से परस्पर गदा-प्रहार कर रहे थे। उन पैनी और भारी गदाओं की चोट से दोनों घायल हो रहे थे। दोनों के घावों से रुधिर बह रहा था। उस रुधिर की गंध से दोनों को क्रोध और लड़ने का नशा-सा चढ़ता जा रहा था। दोनों ही एक दूसरे को नीचा

---

*दूसरा अर्थ—आप जैसे लज्जा और निन्दा से अतीत कृपालु परमेश्वर के लिए कुछ भागना भी निन्दित नहीं है। कारण, आपका यह कार्य आश्रित पृथ्वी पर कृपा करके उसकी रक्षा के लिए है।

† वास्तव में तो भगवान् का पार्षद असुर उनकी स्तुति ही कर रहा था, इसलिए और इसलिए भी कि क्रोध आदि विकार सत्व-मय भगवान् में होना संभव नहीं, भगवान् का कोप वास्तविक नहीं, दिखावटी था। भगवान् ने जो कोप प्रकट किया या तिरस्कार के लिए अनुकरण करते हुए व्यंग वचन कहे, सो केवल दैत्य से डरे हुए देवता का भय दूर करने और उन्हें सांत्वना देने के लिए समझना चाहिए।

दिखाने के लिए विविध विचित्र पैंतरे बदल रहे थे। जैसे गऊ के लिए दो मस्त साँड़ सींग से सींग और सिर से सिर भिड़ाए युद्ध कर रहे हों, वैसे ही पृथ्वी के लिए उन दोनों वीरों में युद्ध हो रहा था। उस दैत्य के साथ माया से वराह-रूप धारण किये हुए साक्षात् यज्ञरूप महापुरुष नारायण का पृथ्वी के लिए वह घोर युद्ध देखने के लिए ऋषियोंसहित ब्रह्माजी आकर उस स्थान पर उपस्थित हुए। ब्रह्माजी ने जब देखा कि दैत्यराज हिरण्याक्ष वीरता के मद से उन्मत्त, निर्भय होकर भगवान् के प्रहारों को बचाकर उन पर विकट प्रहार कर रहा है, उसका पराक्रम घटने की जगह उग्र रूप से बढ़ता ही जा रहा है, तब वह आदिवराह-रूप नारायण से यों कहने लगे।

श्रीब्रह्माजी ने कहा—हे देव, यह दैत्य बड़ा दुष्ट है। इसके साथ आप जो यह युद्ध का खेल कर रहे हैं, सो ठीक नहीं। देखिए, यह दैत्य आपके चरणों का आश्रय लेनेवाले देवता, गऊ, ब्राह्मण, और अन्य निरपराध असहाय प्राणियों को सताता है। धन आदि छीनकर उनका अप्रिय करनेवाला है, प्राण-हरण करके भय देनेवाला है और अग्निहोत्र आदि वेदोक्त कर्मों का लोप करके दुष्कृत करनेवाला है। मुझसे वरदान पाकर यह और भी उच्छृंखल हो गया है। त्रिभुवन में कोई इसका सामना करनेवाला शक्तिशाली योद्धा नहीं है। यह अपनी जोड़ के बली योद्धा को खोजता हुआ सर्वत्र घूमता है। यह लोककण्टक है। इसलिए हे नाथ, जैसे बालक किसी कुपित विषधर साँप के साथ उसकी पूँछ पकड़कर खींचकर खेल करे, वैसे इस दुष्ट असुर के साथ आप युद्ध का खेल न कीजिए; क्योंकि यह मायावी, निरंकुश, महादुष्ट और बड़ा अहंकारी है। देखिए, संध्याकाल आसुरी वेला है। उस समय असुरों का बल और भी बढ़ जाता है; क्योंकि अन्धकार में मायाओं के लिए अच्छा अवसर मिल जाता है। सो आप इस पापरूप दानव को अपनी योगमाया द्वारा संध्या होने के पहले ही मार डालिए, जिसमें आसुरी वेला पाकर यह और भी अपनी माया के बल से बली न हो उठे। हे अच्युत, हे सर्वव्यापी, लोकविनाशकारिणी संध्या शीघ्र ही होनेवाली है, उसके पहले ही इसे मारकर देवपक्ष को विजयी बनाइए। भगवन्, अभिजित् अर्थात् विजय का समय मध्याह्नकाल बीता जा रहा है। हम स्वजनों, अपने भक्तों की भलाई के लिए इस दुर्जय दानव को शीघ्र मार डालिए। आपने ही शाप से उद्धार करने के लिए इसकी मृत्यु अपने हाथ से होना निश्चित कर दिया था। बड़ी बात जो यह दुष्ट आप ही अपनी मृत्यु जो आप हैं, उन्हें खोजता हुआ आपके आगे आ गया है! बस, अब आप अपना पराक्रम प्रकट करके युद्ध में इसे मारिए और सब लोकों को सुखी बनाइए, उनकी चिन्ता दूर कीजिए।

---

# उन्नीसवाँ अध्याय

## हिरण्याक्ष का वध

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, ब्रह्माजी के ये सत्य और अमृततुल्य मधुर वचन सुनकर भगवान् हसे और प्रेमपूर्ण कृपाकटाक्ष से उनकी ओर देखा, जिससे यह सूचित हुआ कि मैंने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार की। वराहजी के हँसने का अभिप्राय यही था कि काल तो मैं हूँ अथवा काल तो मेरी इच्छामात्र है; ब्रह्मा मुझे मुहूर्त्त के बल की आवश्यकता बतलाते हैं!

हिरण्याक्ष निर्भय भाव से भगवान् के आगे पैंतरे बदल रहा था। वराहजी ने वेग से झपटकर उस दैत्य की ठोढ़ी में गदा मारी। पराक्रमी दुर्जय दैत्य ने भी उस प्रहार से बचने के लिए जिस समय भगवान्

के हाथ में ही गदा थी, उसी समय अपनी गदा से उस पर चोट की। दैत्य की गदा लगने से भगवान् की गदा उनके हाथ से छूटकर घूमती हुई धरती पर गिर पड़ी, जिससे उस दैत्य का पराक्रम और भी चमक उठा। भगवान् के हाथ से गदा का छूटकर गिर जाना सचमुच एक आश्चर्य की बात थी। उस समय भगवान् के हाथ में कोई शस्त्र नहीं था, इसलिए प्रहार करने का अच्छा अवसर पाकर भी उस दैत्य ने वराहजी पर वार नहीं किया और युद्ध के इस नियम का पालन किया कि निहत्थे शत्रु पर प्रहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उसने भगवान् के क्रोध को और भी बढ़ा दिया। जब भगवान् के हाथ से गदा छूट पड़ी तब युद्ध देखने के लिए आए हुए देवगण हाहाकार करने लगे। भगवान् ने दैत्य के युद्ध-धर्म के पालन की प्रशंसा की और उसे मार डालने के लिए उद्यत होकर अपने सुदर्शनचक्र को याद किया। चक्र तुरन्त सेवा में उपस्थित हो गया। भगवान् चक्र को हाथ में लेकर घुमाने लगे। पहले के प्रधान पार्षद दितिपुत्र हिरण्याक्ष के साथ युद्ध-क्रीड़ा कर रहे भगवान् वराहजी को देखकर आकाशचारी देवगण, सिद्ध, गन्धर्व आदि चारों ओर से यही विचित्र वाक्य उच्चारण करने लगे कि "हे ईश्वर! इस दुष्ट को मारिए; आपका कल्याण हो! जय हो!" इसका कारण यही था कि वे भगवान् के प्रभाव को पूर्ण रूप से जानते न थे अथवा उन्हें यह नहीं विदित था कि यह भगवान् का ही पार्षद है, सनक आदि मुनियों के शाप से असुर-योनि में उत्पन्न हुआ है और इसकी मृत्यु अवश्य ही वराहजी के हाथ से होगी। चक्र ताने हुए सामने खड़े कमललोचन वराहजी को देखकर हिरण्याक्ष को इतना क्रोध चढ़ आया कि वह लंबी साँसें छोड़ता हुआ अपने होंठ चबाने लगा। कराल दाढ़ोंवाला वह दैत्य लाल-लाल आँखों से भगवान् को ऐसे देख रहा था, मानों उन्हें भस्म ही कर डालेगा। उसने उछलकर "बस, तू मरा!" यों कहकर भगवान् के ऊपर गदा का प्रहार किया। हे विदुरजी, जब शत्रु की गदा पास आई, तब भगवान् यज्ञपुरुष ने उस भयंकर शत्रु के सामने ही वायु-वेग से आई हुई गदा को लीलापूर्वक बाएँ पैर की ठोकर से व्यर्थ कर दिया। उसके बाद भगवान् ने शत्रु से कहा कि ले, अपनी गदा उठाकर युद्ध करने की और मुझे जीतने की चेष्टा कर ले।

भगवान् के ये वचन सुनकर दैत्य ने गदा उठाकर भगवान् के ऊपर फिर प्रहार और सिंहनाद किया। अपनी जगह पर खड़े रहकर भगवान् ने उस आ रही गदा को जैसे कोई खेल करे वैसे ही अनायास पकड़ लिया। जैसे गरुड़ चोट करने के लिए आ रही नागिन को पकड़ ले, वैसे ही भगवान् ने जब उस गदा को पकड़ लिया, तब अपना पौरुष व्यर्थ होने के कारण उस महादैत्य का गर्व चूर्ण हो गया, वह बहुत लज्जित हुआ। भगवान् फिर उसे उसकी गदा देने लगे; किन्तु उसने उसे नहीं लेना चाहा। उसके मुख का और शरीर का तेज नष्ट हो गया। गदा न लेकर हिरण्याक्ष ने फिर एक त्रिशूल हाथ में लिया, जो जलते हुए अग्नि की ज्वालाओं के समान तीन शिखाओं से ग्रसने के लिए उद्यत-सा जान पड़ता था। जैसे कोई ब्राह्मण पर जादू-टोना करे, वैसे ही उसने वह त्रिशूल वराह भगवान् के ऊपर चलाया। ब्राह्मण पर किया गया जादू निष्फल ही होता है, (बल्कि वह उलटकर जादू करनेवाले ही को नष्ट कर देता है) वैसे ही हिरण्याक्ष का त्रिशूल भी वराहजी पर व्यर्थ ही गया। बड़े वेग से, पूरे बल से दैत्यराज ने वह त्रिशूल फेंका। आकाश-मार्ग में उस त्रिशूल का प्रकाश फैल गया। भगवान ने बीच ही में पैनी धारवाले सुदर्शनचक्र से उस त्रिशूल को काट गिराया—वैसे ही, जैसे इन्द्र ने गरुड़ के छोड़े हुए पंख को वज्र से काट डाला था*।

हरि ने जब इस प्रकार त्रिशूल के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, तब उस दैत्य ने अत्यन्त क्रोध करके, सामने

---

*एक समय अमृत के लिए गरुड़ और इन्द्र में युद्ध हुआ था। गरुड़ देवसेना को जीतकर अमृत का कलश ले चले तब इन्द्र ने उनके वज्र मारा। इन्द्र का वज्र खाली नहीं जाता और गरुड़ भी मर नहीं सकते थे। तब वज्र का मान रखने के लिए गरुड़ ने अपना एक पंख वहाँ गिरा दिया था, उसी को वज्र ने काट डाला।

आकर, भगवान् के विशाल वक्षःस्थल में, जिसमें लक्ष्मीदेवी सदा निवास करती हैं, एक कठोर मुष्टि अर्थात् घूँसा मारा। उसके बाद गरजता हुआ माया-बल से वह अन्तर्द्धान हो गया, अर्थात् छिप गया। माला की मार से जैसे गजराज नहीं हिलता, वैसे ही उस घूँसे के प्रहार से आदिवराह भगवान् को भी कुछ भी पीड़ा नहीं हुई।

तब वह दैत्य योगमाया के ईश्वर हरि को जीतने अथवा मोहित करने के लिए भाँति-भाँति की मायाएँ प्रकट करने लगा। उन्हें देखकर संसार के सब लोग बहुत डरे और उन्होंने समझा, अब प्रलय ही हो रहा है। उसने क्या-क्या मायाएँ प्रकट कीं, यह बतलाते हैं। धूल उड़ाती, बड़ी प्रचंड और कठोर आँधी चलने लगी, जिससे सब ओर अँधेरा छा गया। जैसे कोई यंत्र से पत्थरों की वर्षा करे, वैसे ही चारों दिशाओं से पत्थर बरसने लगे। घटाएँ घिर आईं। उनमें बिजलियाँ चमकने और कड़कने लगीं। नक्षत्र और तारे छिप गये। बादलों से पीव, केश, रक्त, विष्ठा, मूत्र और हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओं की वर्षा होने लगी। थोड़ी देर में ऐसे पहाड़ उड़ते देख पड़ने लगे, जिनसे असंख्य अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा हो रही थी। बाल खोले, त्रिशूल ताने राक्षसियाँ दौड़ती दिखाई देने लगीं। फिर देख पड़ा कि अनेकों यक्ष और राक्षस पैदल, रथों पर, घोड़ों पर, हाथियों पर बैठे, शस्त्र हाथों में लिये "मारो-मारो, काटो-काटो" आदि अति उग्र वाक्य उच्चारण करते चले आ रहे हैं।

यह देखकर असुर की मायाओं को नष्ट करने के लिए यज्ञपुरुष वराहजी ने अपने प्रिय शस्त्र सुदर्शन-चक्र का प्रयोग किया। उस समय सहसा हिरण्याक्ष की माता दिति को पति का यह आदेश कि 'तुम्हारे पुत्रों को हरि भगवान् मारेंगे' स्मरण हो आया, उनका हृदय काँपने लगा और स्तनों से दूध की जगह रक्त निकलने लगा। सब मायाओं के निष्फल और नष्ट हो जाने पर दानव फिर हरि के सामने प्रकट हुआ और क्रोध के मारे उसने चाहा कि दोनों हाथों से भगवान् को पकड़ कर छाती के दबाव से चूर-चूर कर डाले; किन्तु भगवान् उसको बाहु-बन्धन से बाहर खड़े दिखाई पड़े। यह प्रयत्न भी व्यर्थ हो जाने पर वह दैत्य वज्र के समान कठोर घूँसे भगवान् के बारंबार मारने लगा। तब वराहजी ने एक हलका-सा तमाचा उसके मारा। जैसे इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर के वज्र मारा था, वैसे ही भगवान् का एक साधारण-सा तमाचा खाकर ही हिरण्याक्ष की मृत्यु हो गई। उसका प्राणहीन शरीर चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। आँखें बाहर निकल आईं। वायु के उखाड़े पेड़ की तरह हाथ, पैर और बिखरे हुए बाल फैलाकर उस दैत्य के गिर पड़ने पर भी उसका तेज नष्ट नहीं हुआ। उसकी कराल दाढ़ें निकली हुई थीं और वह दाँतों से होठों को दबाए हुए था।



युद्ध देखने के लिए आए हुए ब्रह्मा आदि देवता उसकी ऐसी दुर्लभ प्रशंसनीय मृत्यु देखकर कहने लगे—अहो! यह दैत्य धन्य है! ऐसी मृत्यु भला किसे मिल सकती है? योगी लोग योग-समाधि लगाकर असत् और माया की उपाधि शरीर से छुटकारा अर्थात् मोक्ष पाने के लिए जिनका ध्यान करते हैं, उन्हीं भगवान् के अगले पैरों अर्थात् हाथों के प्रहार से मारा जाकर उनका मुख देखते-देखते इस अधम दैत्य ने शरीर छोड़ा। इससे बढ़कर भाग्यशाली कौन है? वास्तव में यह असुर और इसका भाई हिरण्यकशिपु, दोनों ही भगवान विष्णु के पार्षद जय और विजय है। सनकादि के शाप से इस अधम असुर-योनि मे इनका जन्म हुआ है। ये कुछ दिनों में ऐसे ही तीन जन्म लेकर, भगवान के हाथों से मरकर, फिर वैकुण्ठधाम को चले जायँगे।

इसके उपरान्त सब देवता मिलकर आदिवराह भगवान् की स्तुति करने लगे। देवता बोले—सब यज्ञों का विस्तार जिनसे हुआ है, उन आप यज्ञपुरुष नारायण को नमस्कार है, नमस्कार है। सब लोकों की स्थिति अर्थात् रहने के लिए पृथ्वी का उद्धार करने को यह सत्वमूर्त्ति वराह-अवतार लेनेवाले हरि को प्रणाम है। बड़े सौभाग्य की बात है कि आपने सब लोकों को पीड़ा पहुँचानेवाले इस दैत्य को मार डाला और आपके श्रीचरणों का आश्रय लेने से हम भक्तजन सुखी हुए, हमारा कल्याण हुआ।

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—उस असह्य पराक्रमवाले दुर्जय असुर को इस प्रकार मारकर, ब्रह्मा आदि के मुख से अपनी स्तुति सुनकर, भगवान् आदिवराहजी अखण्ड सुख से परिपूर्ण अपने आनन्दधाम वैकुण्ठ-लोक को चले गये। विदुरजी, मैंने यह वराह-अवतार और उस अवतार का उत्तम चरित्र आपको सुना दिया। जैसे महायुद्ध मे भगवान् ने महापराक्रमी हिरण्याक्ष को अनायास मारा, सो सब आपने सुन लिया।

सूतजी कहते हैं—मैत्रेयजी के मुख से भगवान् की यह कथा सुनकर भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ विदुरजी अत्यन्त आनन्दित हुए। अन्य पुण्यश्लोक और कीर्त्तिशाली सज्जनों के यश अर्थात् उनके द्वारा किए गए दुष्टों के निग्रह और परोपकार की चर्चा सुनकर साधुजनों को आनन्द होता है, फिर यह तो श्रीभगवान की कथा है। इसे सुनकर विदुर को आनन्द होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। ग्राह के ग्रसे हुए गजराज ने जब चरणकमलों का ध्यान करके पुकारा, तब भगवान ने चिल्लाती हुई हथनियों के बीच खड़े हुए अपने भक्त और शरणागत गजराज को बहुत शीघ्र आकर उस संकट से छुड़ाया। भगवान् ऐसे ही अपने सरल और अनन्य भक्तों पर अनायास प्रसन्न हो जाते हैं। हाँ, असाधुजनों के लिए वह अवश्य दुराराध्य है। भला कौन कृतज्ञ व्यक्ति ऐसे हरि की सेवा और भजन नहीं करेगा! हे मुनियो, जो कोई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए वराह-अवतार लेनेवाले हरि के इस चरित्र को, हिरण्याक्ष-वध की इस लीला को सुनता है, गाता है और सुनकर प्रसन्न होता है, वह अनायास ही ब्रह्महत्या के महापाप से भी मुक्त हो जाता है। यह चरित्र स्वर्ग आदि लोकों की गति देनेवाला, परमपावन, धनदायक, यश बढ़ानेवाला, आयुर्बलवर्द्धक और सब मनोरथ पूरे करनेवाला है। युद्ध में इसके कीर्त्तन से उत्साह बढ़ता है, वीरता बढ़ती है, प्राण और इंद्रियों का बल बढ़ता है। इसे जो लोग भक्तिभाव से सुनते हैं, वे अन्त समय नारायण की गति अर्थात् सायुज्य मुक्ति पाते है।

# बीसवाँ अध्याय

## फिर सृष्टि-प्रकरण का वर्णन

श्रीशौनक ऋषि ने कहा—हे सूत, प्रजा के रहने के लिए पृथ्वीतल का स्थान पाकर स्वायंभुव मनु ने उसके पीछे उत्पन्न होनेवाले प्राणियों की सृष्टि के लिए कौन उपाय किये?

इसमें संदेह नहीं कि विदुरजी बहुत बड़े भगवद्भक्त थे। यही नहीं, वह कृष्ण भगवान् के घनिष्ठ मित्र भी थे। इसका प्रमाण यही है कि कृष्ण भगवान् का कहा न मानने पर बड़े भाई धृतराष्ट्र और उनके दुर्योधन आदि पुत्रों को अर्थात् अपने आत्मीयों को भी भगवान् का अपराधी मानकर उन्होंने तुरंत तज दिया। महात्मा वेदव्यास के वीर्य से उत्पन्न विदुरजी महत्त्व में व्यासजी से कम न थे। वह संपूर्ण रूप से श्रीकृष्णचंद्र के आश्रित और उनके भक्तों के प्रेमी थे। तीर्थयात्रा से उनका अन्तःकरण और भी विशुद्ध हो गया था। हम यह सुनना चाहते हैं कि हरद्वार में लौटकर उन्होंने वहाँ विराजमान तत्त्व-ज्ञानियों में श्रेष्ठ मैत्रेयजी से क्या-क्या प्रश्न किए? इन दोनों महापुरुषों के संवाद में अवश्य ही ऐसी चर्चा हुई होगी, ऐसी कथाओं का प्रसंग चला होगा, जो गंगाजल के समान भगवान् के श्रीचरणों से संबंध रखनेवाली और पाप मिटानेवाली होंगी। आप कीर्त्तनीय उदार चरित्रवाले भगवान् की वे सब कथाएँ हमसे कहिए। आपका कल्याण हो। ऐसा कौन रसिक पुरुष होगा, जो हरिलीला-पीयूष को पीकर तृप्त हो जायगा, और न सुनना चाहेगा!

नैमिषारण्य-निवासी ऋषियों के यों प्रश्न करने पर भगवान् का ध्यान करके उग्रश्रवा सूत ने कहा—सुनिए। मैत्रेयजी के मुख से अपनी योगमाया के बल से रसातल से पृथ्वी को ऊपर ले आना और लीला-पूर्वक हिरण्याक्ष को मारना इत्यादि वराहरूप हरि के चरित्र सुनकर विदुरजी बहुत हर्षित हुए। विदुर ने मैत्रेयजी से कहा—भगवन्, अव्यक्त सृष्टि या ब्रह्म के मार्ग (तत्त्व) को जाननेवाले प्रजापतियों के भी पति ब्रह्माजी ने प्रजाओं की सृष्टि में पहले प्रजापतियों को उत्पन्न करके फिर कौन-सी या किसकी सृष्टि की? यह आप कहिए। यह भी बतलाइए कि ब्रह्माजी के पुत्र मरीचि आदि दस प्रजापतियों ने और स्वायंभुव मनु ने ब्रह्माजी की आज्ञा से इस चराचरजगत् को कैसे उत्पन्न किया? इन सबने अपनी स्त्रियों के साथ मैथुन-धर्म के द्वारा अलग-अलग इस जगत् को उत्पन्न किया, या अकेले ही संकल्पमात्र से सृष्टि की अथवा सब-ने मिलकर इस जगत् की रचना की, यह मैं जानना चाहता हूँ।

इसके उत्तर में यक्ष, राक्षस आदि की अगली सृष्टि का वर्णन करने के पहले उसका सिलसिला मिलाने के लिए मैत्रेयजी पूर्वोक्त सृष्टि का फिर से सिंहावलोकन करते हैं। मैत्रेयजी ने कहा—यह हम पहले कह आए हैं कि परमेश्वर की त्रिगुणरूपिणी निर्विकार प्रकृति में, जिसे प्रधान तत्त्व भी कहते हैं, दैव (जीवों के सुप्त अदृष्ट), महापुरुष (प्रकृति के अधिष्ठाता) और काल की प्रेरणा से जब हलचल, चेष्टा या विकार उत्पन्न हुआ, तब तीनों गुणों के क्षोभ से महत्तत्त्व की सृष्टि हुई। महत्तत्त्व रजोगुण-प्रधान तत्त्व है। दैवरूप ईश्वर की प्रेरणा से महत्तत्त्व का विकार अहंकार उत्पन्न हुआ। महतत्त्व वास्तव में सत्वगुण-प्रधान है; परन्तु अहंकार की उत्पत्ति के समय कार्य के अनुरूप वह रजोगुण-प्रधान हो जाता है। अहंकार त्रिगुणात्मक हुआ। उस त्रिविध अहंकार से पाँच आकाश आदि तत्त्व, रूप आदि पञ्च तन्मात्राएँ, दशों इंद्रियाँ और सूर्य आदि उनके अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए। ये सब अलग-अलग रहकर जब भौतिक

हेममय अण्ड ( जीवात्मा के अधिष्ठान ) की रचना न कर सके, तब दैवयोग अर्थात् परमेश्वर की इच्छा से सब तत्त्व मिल गये और भौतिक अण्ड की रचना हुई। जीवात्मा से हीन वह अण्ड हज़ार वर्ष से भी अधिक समय तक उस समुद्र के जल में पड़ा रहा। इसके उपरान्त ईश्वर ने उस हिरण्मय अण्ड में प्रवेश किया। फिर उस अण्ड के मुख आदि सब अंग बने और उसकी नाभि से हज़ारों सूर्यों के समान तेज से युक्त कमल उत्पन्न हुआ। वह कमल सब जीवों का निवासस्थान था। सब लोकों की रचना उसी से हुई है। स्वयंभू भगवान् ब्रह्मा भी उसी से प्रकट हुए। जलशायी नारायण ने ब्रह्मा में शक्तिरूप से जब प्रवेश किया, तब ब्रह्मा ने पहले के नाम और रूप आदि के क्रम से सब लोकों की रचना की। ब्रह्माजी ने अपनी छाया ( ज्ञान की विरोधिनी अबुद्धि ) से मोह, महामोह, तम, तामिस्र और अंधतामिस्र नाम से पाँच प्रकार की अविद्या उत्पन्न की। इस तमोमयी सृष्टि से ब्रह्माजी को प्रसन्नता नहीं हुई। तब उन्होंने उस काया अर्थात् तमोगुण के क्षोभ से मन में प्राप्त उस विकार को छोड़ दिया। वही भूख-प्यास उत्पन्न करनेवाली रात्रि हो गई। उसे यक्षों और राक्षसों ने ले लिया*। जब यक्षों और राक्षसों को भूख-प्यास ने सताया, तब वे ब्रह्माजी को ही भक्षण करने चले। वे भूख और प्यास के मारे कहने लगे—इसे 'जक्षत' अर्थात् खा लो, इसकी रक्षा न करो। तब ब्रह्माजी ने घबराकर उनसे कहा—मुझे भक्षण न करो, मेरी रक्षा करो। अहो, तुम दोनों यक्ष और राक्षस नाम से मेरी प्रजा होगे। इस प्रकार उग्र स्वभाववाले यक्षों और राक्षसों की उत्पत्ति हुई।

इसके उपरान्त प्रभा अर्थात् ज्ञान से प्रकाशमान होकर ब्रह्माजी ने जो सतोगुणी प्रधान सृष्टि की, वे देवता कहलाए। ब्रह्माजी ने देवतों को उत्पन्न करने के बाद उस शरीर या वासना को छोड़ दिया। वही प्रकाशपूर्ण दिन हो गया। उसे प्रसन्न होकर क्रीड़ा करने के लिए देवतों ने ग्रहण कर लिया। फिर ब्रह्माजी ने अपनी जाँघ से असुरों को उत्पन्न किया†। वे बड़े ही लंपट अर्थात् कामासक्त हुए। अत्यन्त कामवश होकर मैथुन की इच्छा से वे ब्रह्माजी की ओर दौड़े। पहले उनकी इस मूर्खता पर ब्रह्माजी हँस पड़े; पर जब वे निर्लज्ज होकर ब्रह्माजी की ओर बढ़ते ही गये तो ब्रह्माजी को क्रोध हो आया। अन्त को उन्हें रोकना असंभव जानकर ब्रह्माजी डरकर उस स्थान से भागे, और दीनों का दुःख हरनेवाले, भक्तों की इच्छा के अनुरूप रूप रखनेवाले, उनकी सब कामना पूरी करनेवाले, भक्तवत्सल भगवान् के शरणागत होकर कहने लगे—हे परमात्मा, हे प्रभो, आपकी आज्ञा से मैंने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया है; पर ये



* श्रुति भी कहती है—"या अस्य सा तनूरासीत्तामपोहत सा तामिस्राऽभवत्।"

† इसका भी प्रमाण वेद में है—"सजघनादसुरानसृजत्।"

पापी मुझसे ही मैथुन करने को उद्यत हैं। इनसे मेरी रक्षा कीजिए। एक आप ही कष्ट में पड़े हुए लोगों के क्लेश हरनेवाले हैं और जो लोग आपके चरणों को नहीं भजते, उन्हें क्लेश देनेवाले भी आप ही हैं।

अन्तर्यामी हरि ने ब्रह्मा का संकट देखकर उनके अन्तःकरण में यह आदेश दिया कि इस अपनी घोर देह ( वासना ) को छोड़ दो। ब्रह्माजी ने तुरन्त उस शरीर को छोड़ दिया। वही दिन और रात्रि की संधि संध्या हो गई। असुरों ने उसी संध्या को स्त्री मानकर ग्रहण कर लिया*। कारण, संध्या काम को जगानेवाली वेला है और असुरगण रजोगुणी होने के कारण अत्यन्त कामी थे, इसलिए वे मोह को प्राप्त हो गये और संध्या को ही उन्होंने स्त्री मान लिया। हे विदुर, उस स्त्रीरूपिणी संध्या के चलने में पैरों के नूपुर छमाछम बजते थे। उसके नेत्र मद से विह्वल हो रहे थे। उसके नितंब पर रेशमी सूक्ष्म वस्त्र पड़ा था और करधनी की लड़ें शोभायमान थीं। उठे हुए ऊँचे स्तन एक से एक भिड़े हुए थे, उनके बीच में थोड़ा भी अंतर नहीं था। उसकी नाक और दाँत सुन्दर सुडौल थे। वह स्निग्ध हँसी के साथ लीलासूचक कटाक्ष कर रही थी। उसकी नीलवर्ण घनी अलकावली पीठ पर पड़ी थी और वह लज्जा-संकोच के मारे अपने को वस्त्राञ्चल की आड़ में जैसे छिपा रही थी। ऐसी स्त्रीरूपिणी संध्या को देखते ही सब असुर मोह को प्राप्त हो गये। वे आपस में कहने लगे—अहो, कैसा अनूप रूप है! कैसा अपूर्व धैर्य है! अहो, कैसा इसका नया यौवन है! हम लोग इसकी कामना कर रहे हैं; पर यह जैसे हम लोगों की ओर ध्यान ही नहीं देती, इस तरह इधर आ रही है!

वे दुर्बुद्धि असुर इस प्रकार संध्या के संबंध में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करके जब कुछ निश्चय नहीं कर सके, तब उन्होंने उचित अभ्यर्थना करके प्रेम जताते हुए उसीसे इस प्रकार पूछा—हे केले के खम्भे के समान सुडौल और गोल जंघावाली सुन्दरी, तुम कौन जाति की हो? किसकी कन्या हो? तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? हे भामिनी, तुम्हारा यह रूप एक अपूर्व और खरीदने की चीज़ है? उसे हमें न देकर हम अभागों को क्यों सता रही हो? हे सुन्दरी, तुम चाहे जो हो, हमें जो तुम्हारा दर्शन प्राप्त हुआ, उसे हम अपना बड़ा



* सब जगह ब्रह्मा के शरीर-त्याग का अर्थ उस मनोभाव का त्याग समझना चाहिए। उस शरीर का ग्रहण उस मनोभाव को स्वीकार करना है।

† श्रुति कहती है—"साऽहोरात्रयोः सन्धिरभवत्।"

सौभाग्य समझते हैं। तुम यह कंदुक-क्रीड़ा करके—गेंद उछालकर—हमारे मन को मथे डाल रही हो। हे सुन्दरी, तुम्हारा यह रूप प्रशंसनीय है। तुम बार-बार गेंद उछालती हो और जब वह गिरने लगता है, तब फिर दौड़कर उसमें थपकी मारती हो, इसलिए तुम्हारे चरण एक जगह स्थिर नहीं रहने पाते। दौड़ने के कारण स्तन-भार से दबी हुई तुम्हारी यह पतली कमर लचक-लचक जाती है। तुम थक गई हो, तुम्हारी दृष्टि से भी थकावट झलकती है। तुम्हारे सुन्दर केश इधर-उधर बिखर रहे हैं।*

इस प्रकार स्त्री के समान चेष्टाओं से मन को लुभा रही उस सायंकाल की संध्या को उन मूढ़मति असुरों ने स्त्री समझकर ग्रहण कर लिया। इसके उपरान्त ब्रह्माजी ने हँसकर अपनी कान्ति से गंधर्वों और अप्सराओं को उत्पन्न किया। फिर उस शरीर को ब्रह्माजी ने छोड़ दिया। वही चाँदनी हो गई। उसे विश्वावसु आदि गन्धर्वों ने प्रसन्नतापूर्वक ले लिया। फिर ब्रह्माजी ने अपने आलस्यमय शरीर से भूतों और पिशाचों की सृष्टि की। बाल खोले और नंगे उन भूत-पिशाचों को देखकर ब्रह्माजी ने अपनी आँखें मूँद लीं। ब्रह्माजी के छोड़े हुए उस शरीर को उन भूत-पिशाच-प्रेत आदि ने ले लिया। यह ब्रह्मा का शरीर तन्द्रा (आलस्य या खुमारी) है। इसीसे जम्हाइयाँ आती है, नींद आती है, प्राणियों की सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अगर कोई इस अवस्था में अशुद्ध रह जाता है तो भूत-प्रेत-पिशाच आदि आक्रमण करते हैं। उसी को उन्माद कहते हैं। ब्रह्माजी ने अपने को बलवान् मानकर अदृश्यरूप से साध्यगण और पितृगण को उत्पन्न किया। उस शरीर को भी ब्रह्माजी ने छोड़ दिया और उसे पितृगण ने ले लिया। कर्मकाण्डी लोग उसी शरीर अर्थात् भावना से श्राद्ध आदि में अपने पितरों को और साध्यगण को हव्य-कव्य देते हैं। इसके उपरान्त ब्रह्माजी ने तिरोधान (अर्थात् दिखाई देते-देते अन्तर्द्धान हो जाने की शक्ति)-रूप शरीर से सिद्धों और विद्याधरों को उत्पन्न करके उन्हें वह अपना अद्भुत शरीर दे दिया।

फिर ब्रह्माजी ने अपना अनुभव करने की इच्छा से अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस वासना से किन्नरों और किंपुरुषों की सृष्टि की। उस शरीर को भी ब्रह्माजी ने छोड़ दिया और उसे किन्नरों व किंपुरुषों ने ले लिया। ये किन्नर-किंपुरुष प्रातःकाल मिलकर भगवान् ब्रह्मा की लीला और महिमा गाते हैं। इतनी सृष्टि करने पर भी जब सृष्टि न बढ़ी, तब ब्रह्माजी पैर फैलाकर शयन करके इस विषय में सोचने लगे और अन्त को क्रोध के मारे उस शरीर को भी छोड़ दिया। उस शरीर के गिरे हुए केशों से अहि† उत्पन्न हुए। सर्प, नाग, भोगी‡ आदि इन्हीं के नाम हैं। ये बहुत ही क्रूर प्रकृति के और क्रोधी होते हैं। इनके कंधे फन के कारण बड़े चौड़े होते हैं।

इसके उपरान्त अपने को कृतकृत्य-सा मानकर उसी भावना द्वारा मन से ब्रह्माजी ने अन्त में मनुओं की सृष्टि की, जिन्होंने मानव-सृष्टि से सृष्टि को बहुत बढ़ाया। उन्हें ब्रह्माजी ने अपना वह पुरुषाकार शरीर दे दिया। इन मनुओं को देखकर उनसे पहले ब्रह्माजी ने जिन्हें उत्पन्न किया था, वे ब्रह्माजी की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—हे जगत् की रचना करनेवाले विधाता, आपने यह बहुत अच्छी मनुष्यों की

---

* यहाँ यों समझना चाहिए कि संध्याकाल में एक ओर उदय हो रहा चन्द्रमा उसका मुख, तारागण उसकी दृष्टि, बढ़ रहा अंधकार उसके केश, नीचे गिर रहा सूर्य उसका गेंद था। बसेरे को जा रहे पक्षियों का कलरव उसके नूपुरों का शब्द समझना चाहिए। उसी संध्या को असुरों ने स्त्री समझा।

† अहीयंत (अर्थात् गिर पड़े) इति अहयः।

‡ प्रसर्पतः इति सर्पाः अर्थात् सिमटकर चलते है, इससे सर्प कहलाए। अगाः न न्ति इति नागाः अतिवेगवन्तः अर्थात् बड़े वेग से चलते है, इससे नाग नाम पड़ा। भोगः अस्य अस्ति इति भोगी; अर्थात् फन होने के कारण भोगी कहलाए। 'भोग' फन को कहते हैं।

सृष्टि की अर्थात् मनुष्यों को उत्पन्न किया। ये जिन मनुष्यों की सृष्टि करेंगे, वे अग्निहोत्रादि कर्मों के द्वारा हमको भी अन्न अर्थात् भोजन देंगे।

फिर ब्रह्माजी ने इन्द्रियों को अपने वश मे करके तप, उपासना ( विद्या ), योग, वैराग्य तथा ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न शरीर के द्वारा ऋषियों को उत्पन्न किया। यह सृष्टि ब्रह्माजी की इच्छा के अनुरूप हुई। ब्रह्माजी ने एक-एक करके अपने उस शरीर के अंश तप, विद्या, वैराग्य, योग की सिद्धियाँ आदि उन ऋषियों को दीं।

# इक्कीसवाँ अध्याय

## कर्दम प्रजापति के साथ मनु की कन्या देवहूति के विवाह का वर्णन

विदुरजी ने कहा—भगवन्, अब आप सज्जनों के द्वारा प्रशंसनीय स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन कीजिए, जिसमे मैथुन अर्थात् स्त्री और पुरुष के संयोग से प्रजाओं की उत्पत्ति और वृद्धि हुई। आप कह चुके है कि मनु के दो पुत्र थे, प्रियव्रत और उत्तानपाद। उन्होंने राजधर्म का पालन करते हुए सातों द्वीप पृथ्वी का शासन और रक्षा की। हे ब्रह्मन्, उन स्वायंभुव मनु की कन्या देवहूति का विवाह कर्दम प्रजापति के साथ हुआ, यह भी आप कह चुके है। महायोगी कर्दमजी ने यम-नियम आदि का पालन करनेवाली अपनी पत्नी देवहूति से कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं, यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझसे कहिए। यह भी बतलाइए कि मनु की कन्या आकूति के पति रुचि प्रजापति ने और प्रसूति के पति दक्ष प्रजापति ने अपनी पत्नियों से कितने पुत्र या कन्याएँ उत्पन्न कीं।

मैत्रेयजी ने कहा—सुनो विदुर, ब्रह्माजी ने कर्दम को आज्ञा दी कि प्रजा उत्पन्न करो। तब वह सरस्वती नदी के किनारे जाकर इसके लिए तप करने लगे। दस हज़ार वर्ष तक वह तप करते रहे। वह समाधियुक्त अर्थात एकाग्र होकर पूजा की सामग्री से भक्ति के साथ भगवान हरि की आराधना करते रहे; क्योंकि वह भगवान् शरणागत जनों को उनकी इच्छा के अनुसार वर देनेवाले हैं। सत्ययुग मे कर्दम प्रजापति की उस कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् कमललोचन विष्णु ने उसी रूप से उन्हें दर्शन दिया, जिसका वर्णन वेदों में किया गया है। कर्दम प्रजापति ने ऊपर आँख उठाकर देखा तो उन्हे आकाश में स्थित सूर्य के समान तेजस्वी भगवान् के दर्शन हुए। कर्दम ने देखा, विशुद्ध सत्वमूर्त्ति भगवान् के मुखकमल को स्निग्ध नीली अलकें घेरे हुए हैं। वह उज्ज्वल वस्त्र धारण किये हुए हैं। मस्तक पर किरीट, कानों में कुण्डल, चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान हैं। श्वेत कमलों की माला गले में पड़ी है। एक हाथ में श्वेत लीला-कमल लिये उसे नचा रहे हैं। गरुड़ के कंधे पर चरणारविन्द विराजमान हैं। हृदय में लक्ष्मी और कण्ठ में कौस्तुभ मणि विराजमान है। मंद मुसकान से युक्त कृपाकटाक्ष से मन को अपनी ओर खींच रहे है। भगवान् के इस सुन्दर मनोहर स्वरूप को देखकर कर्दम बहुत प्रसन्न हुए; क्योंकि उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने पृथ्वी पर सिर रखकर भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर स्वाभाविक प्रसन्नतापूर्ण चित्त से वह इस प्रकार स्तुति करने लगे।

कर्दमजी ने कहा—हे ईश्वर, हे स्तुति करने योग्य, आप संपूर्ण सतोगुण की मूर्त्ति हैं। आपके दर्शन करके आज मेरे नेत्र सफल हो गये। योगी लोग क्रमशः उन्नति करते हुए इसीलिए अनेक जन्म तक

योगाभ्यास किया करते हैं कि आपके दर्शन मिलें। हे ईश्वर, जिनकी बुद्धि को आपकी माया ने भ्रम में डाल दिया है, वे मूढ़ संसार-सागर के पार पहुँचानेवाली नाव के समान जो आपके चरणकमल हैं, उनकी सेवा करके भी तुच्छ विषय-सुख ही आपसे माँगते हैं। आप उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें वे ही भोग देते हैं। किन्तु वे इन्द्रिय-सुख तो नरक में भी मिल जाते हैं; उनके लिए आपके चरणों की सेवा करने से बढ़कर मूर्खता और क्या होगी! परन्तु मैं भी वैसा ही सकाम उपासक हूँ। मैं कुमति के कारण निष्काम न होकर गृहस्थाश्रम को ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझे अपने ही समान शील-स्वभाववाली, धर्म-अर्थ-कामरूप दूध देनेवाली गृहस्थाश्रम की गऊ अर्थात् पत्नी चाहिए। इसीलिए मैं कल्पवृक्ष के समान सब मनोरथ पूर्ण करनेवाले आपके चरणों की शरण में आया हूँ।





मैं और कुछ न माँगकर स्त्री ही माँगता हूँ और इसका कारण यही है कि सब पुरुषार्थ स्त्री से ही प्राप्त होते हैं। मेरे सकाम होकर स्त्री के लिए प्रार्थना करने का कारण यही है कि आप ही ने प्रजापति ब्रह्मा के रूप से मुझे ऐसा करने के लिए आज्ञा दी है। केवल मैं ही नहीं, हे ईश्वर, प्रजापतिरूप आपकी आज्ञा की रस्सी में पशुओं की तरह बँधे हुए संसार के सभी लोग काम के वश होकर सृष्टि का काम चलाते हैं। हे विशुद्ध धर्मरूप, मैं भी इस लोक के अनुगत हूँ, इसीसे आपकी सेवा करके आपकी आज्ञा का पालन करने को श्रेष्ठ स्त्री प्राप्त करना चाहता हूँ। हे कालरूप, विषय-भोग की इच्छा से नहीं, किन्तु दक्षता,

ऋषि और पितरों के ऋण को चुकाने के लिए मैं विवाह करना चाहता हूँ। हे विभु, कालरूप आपके भय से हम सब कर्म करते हैं। किन्तु आपके निष्काम भक्तों को उस काल का भी भय नहीं रहता। कारण, वे निष्काम भक्त कामवश पशुसदृश और अन्धपरम्परा का अनुकरण करके प्रवृत्तिमार्ग में चलनेवाले लोगों का, अथवा विवेक के रहने पर भी मेरे समान जो कर्मजड़ अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग के अनुयायी हैं उनका, अनुगमन नहीं करते। वे तो आपके श्रीचरणरूप छत्र के नीचे रहते हैं और परस्पर कहकर आपके गुणानुवादरूप अमृत को पीते है। इसीसे उन्हें न तो काल का भय रहता है और न देह के धर्म भूख-प्यास आदि ही उन्हें सताते हैं। यह आपका संवत्सररूप कालचक्र अत्यन्त अद्भुत है। यह ब्रह्मरूप अक्ष ( चक्र के बीच का कीला ) के आधार पर बड़ी तेज़ी से घूमता रहता है। मलमास-सहित तेरह महीने इसके अर ( चक्र के भीतरी भाग में लगनेवाली आड़ी लकड़ियाँ ) हैं। तीन सौ साठ दिन-रात इसके पर्व हैं। छः ऋतुएँ ही इसकी नेमियाँ हैं। अनन्त क्षण, लव, मुहूर्त्त आदि काल के सूक्ष्म भेद इसके छद अर्थात् पत्राकार धारा हैं। तीन चौमासे ही इसकी नाभि अर्थात आधारभूत वलय हैं। इसका वेग बहुत ही कराल है। यह सारे जगत् को अपने साथ चलाता हुआ, विनाश की ओर खींचता हुआ चल रहा है। किन्तु यह भी आपके अनन्य भक्तों की आयु को बलपूर्वक हर नहीं सकता; क्योंकि वे आपमें लीन होकर अविनाशी बन जाते हैं और इस लोक में देहाभिमान न रहने के कारण वे जीवन्मुक्त रहते है, इसलिए उन पर काल का कुछ वश नहीं चलता। हे ईश्वर, आप एकमात्र होकर भी विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि करने की इच्छा से अपनी विशुद्ध योगमाया के द्वारा त्रिगुणरूप तीन शक्तियाँ स्वीकार करके उन्हीं से इस जगत् की सृष्टि, पालन और नाश करते हैं। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकालकर फैलाती है, उसमें विहार करती है, और जब चाहती है, तब उसे समेटकर लील लेती है, वैसे ही आप यह सब करते हैं। हे जगदीश, हम आपके भक्त हैं, इसलिए आप हमें ये मायामय तुच्छ विषय-सुख देना न चाहेंगे। तथापि आप मुझ पर अनुग्रह करके मेरी यह इच्छा पूरी करें। तीनों ऋणों से छुटकारा पाने पर जिसमें मैं विषय-भोग छोड़कर निवृत्तिमार्ग में चल सकूँ, वही अनुग्रह कीजिए। प्रभु, आपने माया से आवृत-सा तुलसीमाला से अलंकृत यह रूप दिखलाया है, इसलिए आप भोग और मोक्ष दोनों के दाता हैं। मै आपको प्रणाम करता और आपसे दोनों ही माँगता हूँ। आप मुक्ति के दाता है; क्योंकि आपके अनुभव से कर्मफलभोग की निवृत्ति हो जाती है। आप भोग के भी देनेवाले हैं; क्योंकि आप ही अपनी माया के द्वारा इस सृष्टि के चक्र का चलाते है। इसलिए सकाम और निष्काम, दोनों प्रकार के भक्त आप ही के चरणकमलों की सेवा और वन्दना करते है। आप थोड़ा-सा भी भजन करने से सकाम भक्तों की कामनाएँ पूर्ण करते हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

मैत्रेयजी कहते हैं—गरुड़ के ऊपर विराजमान कमलनाभ नारायण ने प्रणत कर्दम प्रजापति के ये निष्कपट वचन सुनकर उनकी ओर प्रेमपूर्ण मुसकान के साथ भ्रूभंगयुक्त कृपाकटाक्ष करके ये अमृत-से मधुर वचन कहे।

श्री भगवान् ने कहा—हे प्रजापति, तुम्हारे मनोरथ को मैं जानता था, इस कारण पहले ही से मैंने उसकी योजना कर रक्खी है। जिसके लिए तुमने नियमपूर्वक मेरी आराधना की है, वह पहले ही से प्रस्तुत है। हे कर्दम, मेरी पूजा कभी निष्फल नहीं होती। फिर तुम-जैसे अनन्यभक्तों की की हुई मेरी आराधना के पूर्ण रूप से सफल होने में तो कुछ संदेह ही नहीं है। देखो, प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र सम्राट् स्वायंभुव मनु ब्रह्मावर्त्त में रहकर सातों सागरों से युक्त संपूर्ण पृथ्वीमण्डल का शासन करते हैं और अपने सदाचार आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध हैं। हे प्रजापति, वह धर्मात्मा और धर्मज्ञ राजर्षि अपनी रानी शतरूपा को साथ लेकर परसों

तुम्हें देखने के लिए आवेंगे। उनके विवाह के योग्य अवस्थावाली सुशील और श्रेष्ठ गुणों से युक्त, परमसुंदरी, कमलनयनी एक कन्या है, जो अपने योग्य वर को खोज रही है। तुम उसके योग्य वर हो, इसलिए महाराज मनु तुम्हारे ही साथ उस कन्या का व्याह कर देंगे। इतने वर्षों से तुम जिस अपने अनुरूप पत्नी की इच्छा कर रहे हो, वह राजकन्या शीघ्र ही आप आकर तुमको अपना पति बनावेगी। उस राजकन्या के गर्भ से तुम्हारे नव सन्तानें उत्पन्न होंगी। उस स्त्री से तुम्हारे जो कन्याएँ होंगी, वे भी ऋषियों को व्याही जायँगी। वे ऋषि भी उन पत्नियों के गर्भ से उत्तम सन्तान उत्पन्न करेंगे। तुम सन्तान उत्पन्न करके और तीनों ऋणों से छुटकारा पाकर प्रजा उत्पन्न करने की जो मेरी आज्ञा है, उसका पालन करने के उपरान्त सब कर्मफल मुझे अर्पण करके अन्त को मुझे पाओगे, अर्थात् मुक्त हो जाओगे। गृहस्थाश्रम मे सब जीवों पर दया करना और फिर संन्यासाश्रम में आत्मज्ञान के द्वारा सबको अभयदान करना। तब ऐसा हो जायगा कि तुम सारे जगत् को और अपने को मुझमें देखोगे और अपने आत्मा में ही मुझ परमात्मा को देख पाओगे। मैं तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारी अर्धांगिनी देवहूति के गर्भ से अवतार लूँगा। वह मेरा अंश कला का अवतार होगा। उस अवतार से मैं सांख्य-दर्शन की रचना करूँगा।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, कर्दम ऋषि से यों कहकर सबके आत्मा सर्वव्यापक नारायण उस सरस्वती नदी से घिरे हुए आश्रम से अपने लोक को चले गए। तप और मंत्र आदि से सिद्ध सिद्धेश्वर जिनके वैकुण्ठधाम की स्तुति करते हैं, वह भगवान् पक्षियों के राजा गरुड़ के पंखों से उच्चारण की गई सामवेद के स्तुति-संबंधी मंत्रों का गान सुनते हुए कर्दम ऋषि के देखते-ही-देखते वहाँ से चले गये। भगवान् के चले जाने पर मुनिवर कर्दमजी अपने आश्रम बिन्दुसर में नारायण के बतलाए हुए समय की अर्थात् मनु के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर उसी समय में स्वायंभुव मनु अपनी रानी और कन्या के साथ सोने से अलंकृत रथ पर बैठकर कन्या के वर की खोज में पृथ्वी-पर्यटन करने को निकले। जिस दिन उनके आने की बात भगवान् ने कर्दमजी से कही थी, उसी दिन वह तपस्या से निवृत्त कर्दमजी के आश्रम में आकर उपस्थित हुए। हे विदुर, उस आश्रम का नाम बिंदुसर था। यह नाम इसलिए पड़ा कि शरणागत भक्त कर्दमजी पर अत्यन्त कृपा करने के कारण भगवान् के नेत्र से वहाँ आँसुओं के बूँद गिर पड़े थे। सरस्वती के किनारे वही महापवित्र बिंदुसर नाम का तीर्थ हो गया। इस सरोवर का जल अमृत के समान मीठा, स्वच्छ और सब रोग दूर करनेवाला है। महर्षि लोग सदा उसे पीते और उसमें स्नान करते हैं। पवित्र पेड़ और लताएँ उस स्थान को घेरे रहती है। वृक्षों पर पक्षी बोलते हैं और आसपास के वन में मृग आदि पशु विचरते है। सदा सब ऋतुओं के फूल वहाँ की शोभा बढ़ाते रहते है। आदिराजा मनु ने वहाँ पहुँचकर देखा, कि प्रसन्न पक्षियों का शब्द चारों ओर गूँज रहा है। सुगंध से मस्त भौरे गुंजार कर रहे हैं। मस्त मोर वन के अन्धकार को मेघमाला जानकर पंख फैलाकर नटों की तरह नाच रहे हैं। मतवाली कोयलें अपने मीठे बोल से मानों राहचलतों को उधर बुला रही हैं। कदंब, चंपा, अशोक, करंज, मौलसिरी, असन, कुन्द, मंदार, कुटज और आमों के पौदे उस स्थान की शोभा को बढ़ा रहे है। कारंडव, लव (बत्तक), हंस, कुरर, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक, चकोर आदि पक्षी मनोहर शब्द कर रहे हैं। हरिण, शूकर, स्याही, बंदर, लंगूर, सिंह, कस्तूरी-मृग, नीलगाय, हाथी, न्योले आदि पशु चारों ओर क्रीड़ा कर रहे हैं।

महाराज मनु ने उस तीर्थरूप आश्रम में अपनी कन्या के साथ प्रवेश किया और प्रातःकाल अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्य से छुट्टी पाकर बैठे हुए कर्दम ऋषि के दर्शन किये। उनके शरीर का तेज ऐसा था कि वह साक्षात् सशरीर अग्निदेव जान पड़ते थे। यद्यपि बहुत समय तक उग्र तप कर चुके थे, तथापि भगवान् की

कृपादृष्टि पड़ने से उनका शरीर बहुत क्षीण नहीं था। भगवान के श्रीमुख से अमृतमय वचन सुनते ही उनके शरीर की सारी शिथिलता और दुर्बलता दूर हो गई थी। उनका डीलडौल सुडौल और कंधे ऊँचे थे। नेत्र कमलदल के समान विशाल थे। सिर पर जटाजूट शोभायमान था। वह वल्कल के चीर धारण किये थे। मनु ने निकट जाकर देखा, जैसे खान से निकला हुआ महामूल्य रत्न सान पर चढ़ने के पहले मलिन देख पड़ता है, वैसे ही धूल आदि पड़ने से उनके शरीर पर मैल जम गया है।



अपने आश्रम में आकर सामने खड़े होकर प्रणाम कर रहे मनुमहाराज का मुनिवर ने स्वागत किया, उन्हें आशीर्वाद दिया और आसन आदि देकर उनके योग्य पूजा-सत्कार भी किया। पूजा ग्रहण करके जब मनु स्वस्थचित्त होकर बैठे, तब भगवान् के वचनों को स्मरण करके कर्दमजी सुन्दर मधुर वाणी से यों बोले। कर्दमजी ने कहा—हे देव, आप निश्चय ही सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को दण्ड देने के लिए, मारने के लिए चारों ओर विचरते हैं। राजा लोकों का पालन करनेवाली भगवान् की शक्ति है। अर्थात् राजा ईश्वर का रूप होता है। इसीलिए मैं ब्राह्मण होकर भी आपको प्रणाम करता हूँ। राजा समय-समय पर सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, वायु, यमराज, धर्म और वरुण के रूप रखकर उनके कार्य करता है; जैसे सूर्य के समान तपता है, चंद्रमा के समान अपनी प्रजा के कष्ट-ताप मिटाता है, इन्द्र के समान धन-पारितोषिक आदि की वर्षा करता है. धर्म के समान राज्य को धारण करता है अर्थात् उसकी रक्षा करता है, अग्नि के समान तेजस्वी और दुर्धर्ष होता है, वायु के समान भीतर और बाहर की सब खबर रखता है, यमराज की तरह दुष्टों को दण्ड देता है, और वरुण की तरह अपने रत्नकोष को गुप्त रखता है। आप-जैसे राजा यदि मणिमंडित विजयदायक रथपर बैठकर, चढ़े हुए धनुष की प्रचंड ध्वनि और रथ के शब्द से पापियों को डराते और अपनी सेना के चलने से खुद रही पृथ्वी के मंडल को कँपाते हुए, चतुरंगिणी सेना के साथ, सूर्य के समान अन्याय का अन्धकार मिटाने के लिए न घूमते रहें, तो निश्चय ही अधर्मी दस्युगण भगवान की बनाई हुई वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा को तोड़ डालें अर्थात् चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोग निर्विघ्न रूप से अपने-अपने धर्म का पालन न करने पावें, लोग निरंकुश और उच्छृङ्खल हो उठें, अधर्म बढ़ने लगे। राजा यदि प्रजा की ओर से निश्चिन्त होकर सुखभोग करने में लग जाता है तो दुष्ट दस्युओं के अत्याचार और उत्पात से प्रजा का विनाश होता जाता है। हे वीर, यद्यपि धर्मरक्षा के लिए आपका विचरना स्वाभाविक ही है,

तथापि मैं आपसे पूछता हूँ कि यदि आप किसी विशेष कार्य के लिए मेरे पास आए हों तो बतलाइए। हमारे करने के योग्य जो काम हो, उसे हम सहर्ष करने के लिए प्रस्तुत हैं।

# बाईसवाँ अध्याय

## कर्दम के साथ देवहूति का ब्याह

मैत्रेयजी कहते है—हे विदुर, इस प्रकार महर्षि कर्दम ने जब मनु के असीम गुणों और कर्मों की श्रेष्ठता का बखान और बड़ाई की, तब अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ संकुचित और लज्जित-से होकर मनु ने कहा—भगवन, वेद का प्रचार करने के लिए वेदगर्भ प्रजापति ब्रह्माजी ने आप ब्राह्मणों को अपने मुख से उत्पन्न किया है। आप लोग तप, विद्या और योग आदि गुणों से परिपूर्ण और विषयभोग की आसक्ति से रहित है। उन्हीं ब्राह्मणों की रक्षा और पालन करने के लिए ईश्वर ने अपनी भुजाओं से हम क्षत्रियों को उत्पन्न किया है। इसीलिए ब्राह्मण ईश्वर का हृदय और क्षत्रिय उनका अंग कहलाते है। ब्राह्मण अपने तपोबल से क्षत्रिय की रक्षा करता है और क्षत्रिय अपने बाहुबल से ब्राह्मण की रक्षा या पालन करता है। इस प्रकार इन दोनों वर्णों के द्वारा सत् ( आत्मा ) और असत् ( जगत्प्रपंच ) रूपवाले होने पर भी निर्विकार अच्युत भगवान सब चराचरजगत् की रक्षा करते है। तात्पर्य यह कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों परस्पर एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं और भगवान् को अत्यन्त प्रिय है, इसलिए आप अवश्य मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मेरी कन्या को ग्रहण करें। हे भगवन्, आपके दर्शन से ही मेरे सब संशय निवृत्त हो गये *। कारण, प्रसन्न होकर आपने स्वयं अपने श्रीमुख से मेरी प्रशंसा के बहाने मुझे रक्षा करनेवाले राजा के धर्म की शिक्षा दी है। इससे जान पड़ता है, आप संसारचक्र के चलने में सहायता देने के लिए गृहस्थाश्रम के पक्षपाती है और मुझ पर आपकी बड़ी कृपा है। अपने चित्त को जो वश मे नहीं कर सकते, वे आपके दर्शन नहीं पा सकते। मेरे धन्य भाग्य हैं, जो मैंने आपके दर्शन पाए। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मै आपके कल्याणदायक चरणरज को अपने शिर पर धारण करके धन्य हुआ। आपने मुझे शिक्षा देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया। आपकी अमृतमयी पवित्र वाणी को मैंने सुना, यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। भगवन, कन्या के स्नेह से उसके उपयुक्त वर के लिए मै बहुत चिन्तित हूँ। हे मुनिवर, मुझ दीन की प्रार्थना को आप कृपा करके सुनिए। यह मेरी पुत्री है। प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के इसके दो भाई भी है †। यह अवस्था, शील-स्वभाव, गुण आदि से युक्त अपने योग्य वर को चाहती है। नारद ऋषि के मुख से जब से इसने आपके शील, अवस्था, विद्या, रूप और गुणों का बखान सुना, तब से आप ही को पति बनाने का इसने दृढ़ निश्चय कर लिया। इसलिए हे विप्रवर, श्रद्धापूर्वक उपहार के रूप मे यह कन्यारत्न मै आपकी सेवा मे अर्पण करता हूँ।

---

* संशय यही कि यह निवृत्तिमार्ग के अनुयायी हैं या प्रवृत्तिमार्ग के ? यदि प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेवाले हैं तो भी मेरी कन्या से विवाह करना स्वीकार करेंगे या नहीं ? फिर यदि यह स्वीकार भी कर लें तो मेरी कन्या इन्हें पति बनाना अंगीकार करेगी या नहीं ?

† भाइयों का उल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि इसके बड़े पुत्र को मै अपना पुत्र बनाने के लिए ले लूंगा, यह आशंका आप न करें। पहले यह रीति थी कि जिसके पुत्र न होता था, वह अपनी कन्या का विवाह इसी शर्त पर करता था कि उसके बड़े बेटे को वह अपना पुत्र बनावेगा।

आप इसे अंगीकार करिए। यह सब प्रकार से आपके योग्य है। इसके साथ आप गृहस्थाश्रम के सब कर्म सुचारुरूप से सम्पन्न कर सकेंगे। देखिए, अपनी अभिलाषा पूरी होने की सामग्री यदि आप से अपने समीप आकर उपस्थित हो तो उसका प्रत्याख्यान करना, उसे स्वीकार न करना निष्काम निःसंग व्यक्ति के लिए भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता, फिर सकाम अर्थात् भोग की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के लिए क्या कहना। जो व्यक्ति पहले दी हुई वस्तु का अनादर करके फिर उसी को किसी और समय आवश्यकता पड़ने पर अन्य किसी कृपण मनुष्य से माँगता है, उसका उपहास होता है, उसके यश में बट्टा लगता है और उसका मान भी पराया अनादर करने से नष्ट हो जाता है *। हे महर्षि, मैंने सुना है, आप ब्रह्मचर्य समाप्त करके अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह करना चाहते हैं। इसलिए आप मेरा उपकार करने के लिए मेरी दी हुई कन्या को ग्रहण कीजिए।

कर्दमजी बोले—हे राजन, मुझे स्वीकार है। मैं विवाह करना चाहता हूँ और आपकी कन्या भी मुझे ही पति बनाने का निश्चय कर चुकी है, इसलिए आपने उसे देने का और किसी को वचन नहीं दिया होगा अर्थात् वह सर्वथा निर्दोष होने के कारण मेरे योग्य पत्नी है। हम दोनों का यह विवाह-संस्कार संसार में सर्वप्रथम होगा। हे नरदेव, विवाह-संस्कार में वर के द्वारा पढ़े जानेवाले प्रसिद्ध मंत्र † के अनुसार आपकी कन्या की कामना पूर्ण हो। आपकी कन्या अपने अंगों की कान्ति से आभूषणों की शोभा अथवा साक्षात् लक्ष्मीदेवी को भी लज्जित करनेवाली अर्थात् परम सुन्दरी है। कौन पुरुष उसे आदर के साथ अंगीकार न करेगा? एक समय आपकी रूपवती कन्या अपने भवन में गेंद उछालकर क्रीडा कर रही थी, गेंद ही की ओर दृष्टि रहने से इसके नेत्र चंचल हो रहे थे और इधर-उधर गेंद रोकने के लिए उसके पीछे दौड़ने से इसके चरणों के नूपुर बज रहे थे। उधर से आकाश-मार्ग से होकर विमान पर बैठा हुआ विश्वावसु गंधर्व जो निकला तो इसकी अपूर्व सुन्दरता देखकर मोहित हो गया और मूर्च्छित होकर विमान से गिर पड़ा! जिन्होंने लक्ष्मी के चरणों की सेवा नहीं की, वे इसके दर्शन भी नहीं पा सकते। यह आप-जैसे

---

* इसका एक दृष्टान्त सुनिए। एक महात्मा थे। उन्हें लोग त्यागी बाबा कहते और बहुत मानते थे। शिष्य भी उनके अनेक थे। एक शिष्य के घर बड़ा भारी ब्रह्मभोज हुआ। उसने गुरु बाबा को भी न्योते की चिट्ठी भेजी। बाबाजी ने अपने त्याग की सनक में वह चिट्ठी लौटा दी। शिष्य ने समझा, गुरुजी एक साधारण पत्तल की चिट्ठी देखकर नाराज हो गये होंगे। उसने बहुत-सी बढ़िया मिठाई एक थाल में रखवाई और आप बाबाजी की कुटिया में हाज़िर हुआ। मिठाई का थाल देखकर बाबाजी की लार टपक पड़ी; परन्तु अपनी टेक रखने के लिए उन्होंने उसे भी लौटा दिया। कहा, "हम तपस्वियों की जीभ बिगाड़ने आया है? ले जा, ले जा। यहाँ रूखे-सूखे चने चाबकर ही भगवान् का भजन करते हैं।" बेचारा शिष्य शर्माकर चला गया। मिठाई का थाल भी लेता गया। बाबा की कुटिया के पास रहनेवाले और बाबा लोग जब ब्रह्मभोज से खा-पीकर लौट आए, तब वे त्यागी बाबा की धूनी के पास बैठकर मिठाइयों के स्वाद का बखान करने लगे। त्यागी बाबा की आँखों के आगे वह मिठाइयों का थाल नाचने लगा। वह मन में अपनी मूर्खता पर पछताने लगे। पर अब हो क्या सकता था, तीर हाथ से निकल गया था। ज्यों-त्यों कर दिन बीता, रात हुई। अब बाबाजी से रहा न गया। रह-रहकर उस चूक के लिए अपने मुँह में तमाचे मारने को जी चाहता था। अन्त को इन्द्रिय की ही जय हुई। बाबा ने सोचा, अँधेरी रात है, कमली ओढ़कर चलूँ और चुपचाप भोजन कर आऊँ। हजारों की भीड़ में कौन पहचानेगा। बाबाजी कमली में मुँह छिपाकर छिपकर चेले के घर पहुँचे। द्वार पर बेशुमार भीड़ थी। वृद्ध बाबाजी उसमें घुसने लगे। धक्का चल रहा था। बाबाजी उस रेले में खड़े न रह सके, गिर पड़े। प्रबन्धकर्त्ता लोगों ने भीड़ में एक आदमी को गिरते देखा तो इस डर से कि वह कुचल न जाय, आकर बाबाजी को उठाया। चेला भी वहीं आ गया था। गुरु को पहचानकर उसने कहा—वाह महाराज, वह मिठाई तो लौटा दी थी आपने! अब इस धक्के खाने में कौन-सी मिठाई रक्खी थी? बाबा कट गये। लज्जा से सिर झुकाए चुपचाप चले आए। यश भी गया और चार आदमियों में हँसी भी हुई।

† "गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या" इत्यादि अथवा "दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि" इत्यादि मंत्र।

प्रतापी मनु की कन्या और उत्तानपाद की बहन स्त्री-रत्न है और स्वयं आकर आपके द्वारा प्रार्थना कर रही है। ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान पुरुष इसे अंगीकार नहीं करेगा ? इसलिए मैं इसे अवश्य स्वीकार करूँगा। पर एक शर्त से। वह यही कि जब तक यह मेरे वीर्य से पुत्र नहीं उत्पन्न करेगी, तभी तक मैं इसके साथ गृहस्थाश्रम में रहूँगा। इसके गर्भ से सन्तान उत्पन्न करने के उपरान्त परमहंसों का धर्म जो ज्ञान का या निवृत्ति का मार्ग है, जिस पर चलने की आज्ञा स्वयं भगवान की वाणी वेद ने दी है, उसे मैं ग्रहण करूँगा। मैं गृहस्थाश्रम का मुख्य प्रयोजन सन्तान उत्पन्न करना समझता हूँ। उस प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर गृहस्थ को क्रमशः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में रहकर शम, दम आदि का आचरण करके मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह विचित्र विश्व जिनसे उत्पन्न हुआ है और प्रलयकाल में जिनमें लीन हो जायगा, वह इस विश्व का पालन करनेवाले और ब्रह्मा आदि प्रजापतियों के स्वामी भगवान ही इस विषय में प्रमाण हैं, अर्थात हम ब्राह्मणों के लिए तीनों ऋणों से छुटकारा पाने के बाद संन्यास ग्रहण करना ही ईश्वरोक्त धर्म है।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, स्वायंभुव मनु से इतना कहकर कर्दमजी मौन हो गये। वह अपने मन में भगवान् विष्णु को स्मरण करने लगे। मंद मुसकान से शोभित उनके मुख को देखकर देवहूति का चित्त और अधिक लुभा गया। स्वायंभुव मनु ने अपनी रानी की अनुमति और उनके मुख से कन्या का निश्चय स्पष्ट रूप से जानकर हर्ष के साथ सब गुणों की खान कर्दम मुनि को उनके समान गुणवती अपनी कन्या दे दी। कन्यादान के उपरान्त महारानी शतरूपा ने प्रीतिपूर्वक अपनी कन्या और दामाद को बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र और गृहस्थी की सामग्री के साथ बहुत-सा धन भी दिया। इस प्रकार सुपात्र और सुयोग्य वर को अपनी कन्या देकर स्वायंभुव मनु ने चिन्ता से छुटकारा पाया। फिर विदा के समय कन्या को दोनों हाथों से हृदय से लगाकर वह रोने लगे। कन्या के वियोग की वेदना से उनके हृदय में हलचल मच गई, स्नेह का सागर उमड़ आया। कन्या के विछोह को सहने में असमर्थ मनु महाराज "प्यारी बेटी! मेरी बच्ची!" आदि कहकर आँसू बहाने लगे। उनके आँसुओं से देवहूति के सिर के केश भीग गये। फिर सादर सम्भाषण के उपरान्त मुनिवर से विदा होकर, आज्ञा लेकर, स्वायंभुव मनु शतरूपा रानी के साथ रथ पर सवार हुए और अपने अनुचरों के साथ अपनी पुरी को लौट चले।

ऋषियों की नदी सरस्वती के सुशोभित दोनों तटों पर स्थित, शान्तिनिकेतन आश्रमों की अपूर्व शोभा देखते हुए मनु महाराज अपनी राजधानी पहुँचे। प्रजा ने जब अपने राजा के आने की सूचना पाई तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। सब लोग गाते, बजाते और स्तुति करते हुए महाराज मनु का स्वागत करने के लिए चले। जिस स्थान पर सब प्रकार की सम्पत्ति से परिपूर्ण स्वायंभुव मनु की बर्हिष्मती पुरी थी, वही ब्रह्मावर्त्त है। बर्हिष्मती पुरी उसी स्थान पर बसी थी, जिस स्थान पर यज्ञपुरुष आदिवराह ने जल गिराने के लिए अपने शरीर को हिलाया था और उनके शरीर से रोएँ झड़ पड़े थे। यज्ञपुरुष के अंग से गिरे हुए वे रोएँ ही सदा हरे रहनेवाले कुश और काश हो गये। उन्हीं कुशों से यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षस आदि को परास्त करके ऋषियों ने यज्ञ के द्वारा यज्ञपुरुष भगवान् की आराधना की थी। कुशों का एक नाम बर्हि भी है। बर्हि जहाँ अधिक उत्पन्न होते हों, उस भूमि को बर्हिष्मती कहते हैं। मनु महाराज ने वराह भगवान् की कृपा से रहने के लिए पृथ्वीरूप स्थान पाकर वहाँ कुश-काश बिछाकर यज्ञपुरुष की आराधना की अर्थात यज्ञ किये, इसीलिए उस पुरी का नाम बर्हिष्मती हो गया। उसी अपनी बसाई हुई राजधानी में लौट आकर वह तीनों तापों को मिटानेवाले अपने भवन में रहने लगे। वहाँ रहकर वह अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ यथोचित रूप से धर्म का आचरण, अर्थ (धन) का उपार्जन और काम का सेवन अर्थात संसार के सुख भोगने

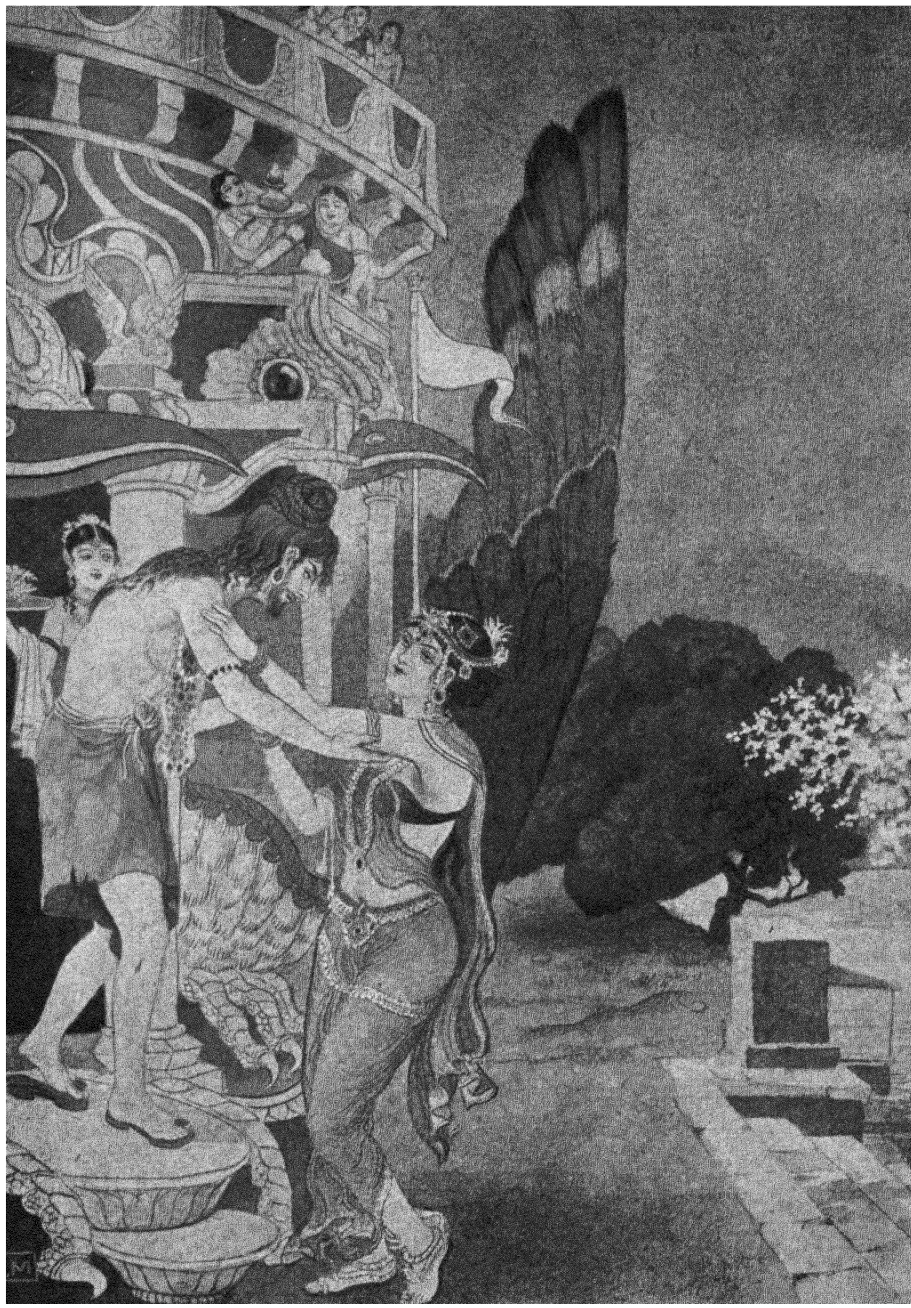
लगे। नित्य प्रातःकाल अपनी स्त्रियों के साथ गन्धर्व लोग उनकी कीर्त्ति का गान करते थे। स्वायंभुव मनु नित्य एकाग्रचित्त होकर भक्ति के साथ हरि की कथाएँ सुना करते थे। भगवान् के अनन्य भक्त मनु महाराज अपनी इच्छा के अनुसार निर्लिप्त रहकर सांसारिक सुख भोगते थे, इसी कारण वे विषय-भोग तनिक भी उनके चित्त को अपने वश में नहीं कर सके। वह सदैव हरि की कथा सुनते थे, हरि का ध्यान करते थे, स्वयं हरि-चरित्रों का वर्णन अपने वाक्यों में करते थे। इस कारण उनकी आयु के समय का कोई छोटा-सा अंश भी व्यर्थ नहीं जाता था। इस प्रकार वासुदेव की चर्चा से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से अतीत तुरीय अवस्था प्राप्त करके स्वायंभुव मनु ने कुछ अधिक ७१ चौजुगी के समय को, अर्थात् अपनी संपूर्ण आयु को, बिताया। मनु को कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं हुआ। कारण, शरीर के कष्ट, मन का कष्ट, देवतों या मनुष्यों से प्राप्त होनेवाला कष्ट या जाडा-गर्मी आदि से मिलनेवाले भौतिक कष्ट, कोई भी कष्ट हरि भगवान् के भक्तों को नहीं सताता। मुनियों ने मनु महाराज से जब धर्म के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने संसार के हित के लिए अनेक प्रकार के कल्याणदायक धर्म, मनुष्यों के साधारण धर्म और वर्णों तथा आश्रमों के विशेष धर्म उनसे वर्णन किये। हे विदुर, यह मैंने आदिराजा मनु का वर्णन करने योग्य अद्भुत चरित्र तुमको सुनाया। अब उनकी कन्या देवहूति का वृत्तान्त कहता हूँ, सुनो।

# तेईसवाँ अध्याय

## कर्दम और देवहूति का विहार

मैत्रेयजी कहते हैं—माता-पिता के चले जाने पर पतिव्रता राजकुमारी देवहूति अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार नित्य वैसे ही उनकी सेवा करने लगीं, जैसे भवानी ने भगवान् शंकर की सेवा की थी। वह अभिमान, कपट, द्वेष, लोभ, निषिद्ध आचरण और विषय-भोग की इच्छा को त्यागकर सदा सावधान और सब सेवाओं के लिए प्रस्तुत रहकर विश्वास, पवित्रता, आदर, इन्द्रिय-दमन, सुहृद्भाव और मधुर वाणी आदि के द्वारा अत्यन्त तेजस्वी अपने पति को प्रसन्न करने लगीं। मनु की कन्या देवहूति सब प्रकार से अनुगत आज्ञाकारिणी होकर पुत्र की अभिलाषा से प्रेमपूर्वक अपने पति की सेवा करती थीं। वह जानती थीं कि उनके स्वामी अपने तपोबल से होनी को भी अन्यथा कर सकते है। देवर्षियों में श्रेष्ठ कर्दमजी ने जब देखा कि मनु की कन्या देवहूति बहुत दिनों तक पतिसेवा के लिए व्रतचर्य्या करके ( अपने आहार-विहार की ओर ध्यान न देकर ) बहुत दुबली हो गई है, तब उन्हें देवहूति के ऊपर बड़ी दया आई। पत्नी के कष्ट सहने को देखकर उन्हें पीड़ा पहुँची। वह कृपा करके प्रेमवश गद्गद वाणी से यों कहने लगे।

कर्दमजी ने कहा—हे राजकुमारी, तुम्हारी अपूर्व सेवा और भक्ति देखकर इस समय मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न, तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। संसार में देखा जाता है कि यह शरीर ही सब प्राणियों को सबसे अधिक प्यारा होता है। इससे बढ़कर प्रिय और कोई वस्तु नहीं होती। तुमने मेरे लिए अर्थात् मेरी सेवा में अपने उसी शरीर को क्षीण कर दिया, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। पतिव्रता स्त्री का यही धर्म है। हे प्रिये, अपने धर्म का पालन करके और तप, समाधि, उपासना, ज्ञान आदि में एकाग्रचित्त होकर भगवान् की कृपा से जिन-जिन दिव्य भोगों को भोगने का अधिकार प्राप्त किया है, वे सब भोग मेरी सेवा करने के कारण तुमको प्राप्त होंगे। मैं तुमको दिव्य दृष्टि देता हूँ। उस दृष्टि के प्रभाव से तुम भय और



कर्दम और देवहूति का विहार के लिए विमान पर चढ़ना

शोक से रहित उन भोगों को देख पाओगी। कालरूप महाशक्तिशाली परमेश्वर की तनिक भौंह टेढ़ी होने से नष्ट हो जानेवाले स्वर्गलोक आदि के सुख-भोग तो अत्यन्त तुच्छ हैं। तुम मेरी सेवा करने से सिद्ध हो गई हो। पातिव्रतधर्म से प्राप्त होनेवाले वे दिव्य भोग तुम्हें प्राप्त होंगे, जो साधारण मनुष्यों की कौन कहे, बड़े-बड़े चक्रवर्ती महाराजों को भी नहीं प्राप्त होते।

योग के संपूर्ण ऐश्वर्यों के अधिकारी और योगविद्या की उपासना में निपुण अपने पति महर्षि कर्दम के मुख से ये वचन सुनकर देवहूति की चिन्ता जाती रही। उन्हें विश्वास हो गया कि अब मेरी पुत्र पाने की अभिलाषा पूरी हुई। वह मुसकाती हुई कुछ लज्जा से युक्त दृष्टि से पति की ओर देखकर यों बोलीं। उनका स्वर विनय और प्रेम के आवेश से गद्‌गद हो गया।

देवहूतिजी ने कहा—हे स्वामी, हे विप्रवर, यह मैं भली भाँति जानती हूँ कि आपकी योगमाया का अर्थात् योगबल का ऐश्वर्य अमोघ है। आप सब सिद्धियों के अधिकारी हैं और इसीलिए मुझे सब प्रकार के दिव्य भोग देने में समर्थ हैं। मै चाहती हूँ कि मेरे विवाह के समय आपने जो कहा था, उसे पूरा कीजिए। एक बार आपका संग मैं चाहती हूँ, जिससे मेरे सन्तान उत्पन्न हो। श्रेष्ठ पति से पुत्र प्राप्त करना ही सती स्त्रियों के लिए सबसे बढ़कर लाभ है। उसके लिए आप पहले कामशास्त्र की शिक्षा के अनुसार सब सामग्री और उसके योग्य उत्तम भवन की कल्पना कीजिए। आपके संग की इच्छा से कामदेव मुझे सता रहा है; किन्तु मेरा शरीर अत्यन्त दुर्बल होने के कारण रति के योग्य नहीं है। इसलिए आप शृंगार, भोजन-पान आदि का ऐसा प्रबंध कीजिए, जिसमें मेरा यह शरीर रति करने के योग्य और समर्थ बन जाय।

हे विदुर, तब प्रिया का प्रिय करने के लिए महर्षि कर्दम ने अपने योगबल से उसी समय एक ऐसा विमान प्रकट कर दिया, जो सब स्थानों में जा सकता था। वह विमान कल्पवृक्ष के समान सब कामनाएँ पूरी कर देता था, और दिव्य अर्थात् अलौकिक था। उसमें सब रत्नों अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं का संग्रह था। उसकी सब सामग्री दिव्य थी। वह सब ऋतुओं में सुखदायक था। सब प्रकार की समृद्धि या वैभव अखण्ड रूप से उसमें देख पड़ता था। रंगबिरंगी विचित्र झंडियाँ और झंडे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके सब खंभे मणियों के बने थे। दिव्य भोग की सामग्रियाँ उसमें जगह-जगह पर रक्खी हुई थीं। विचित्र पुष्पों की मालाएँ लटकी हुई थीं और उनमें मस्त भौंरे मधुर स्वर से गुंजार कर रहे थे। सूती, ऊनी और रेशमी रंगीन और सादे वस्त्रों के ढेर लगे थे। कई खंडों के बने हुए भवनों में अलग-अलग बढ़िया पलंग पड़े थे। उन पर कोमल और उजले बिछौने बिछे थे। पंखे रक्खे थे। आसन पड़े थे। स्थान-स्थान पर अर्थात् सभी जगह अनेक प्रकार की शिल्पकारी ( बेल-बूटे आदि की कारीगरी ) देख पड़ती थी। पन्ने की पृथ्वी ( फ़र्श ) बनी थी, मूँगे की वेदियाँ ( चबूतरे ) बनी थीं। द्वारों में मूँगे की चौखट और चौखटा तथा हीरे के किवाड़े शोभायमान थे। घरों के शिखर नीलम के बने थे और उनमें सोने की कलसियाँ लगी थीं। नेत्रों के समान चमकनेवाले पुखराज के नग हीरे की दीवारों में जड़े थे। जान पड़ता था, उन मणिरूप नेत्रों से अपनी अद्भुत शोभा देखकर वह विमान प्रसन्न हो रहा है। विचित्र वितान ( चँदोवे ) तने हुए थे। बहुमूल्य सुवर्णरांचित तोरण उस विमान की शोभा को बढ़ा रहे थे। घरों में हंसों और कबूतरों के झुंड बैठे बोल रहे थे। कृत्रिम ( नक़ली ) हंस, कबूतर आदि जो उन भवनों में शोभा के लिए बने थे, उन्हें अपना सजीव सजातीय समझकर वे पक्षी उनके ऊपर चढ़-चढ़कर अपनी बोली बोलते थे, अर्थात् अपनी बोली में उन्हें बुलकारते थे। उस विमान मे ठीक स्थानों पर केलिकुंज, शयनगृह, क्रीड़ामन्दिर, आँगन और द्वार के बाहर टहलने के मैदान बनाए गए थे। उनकी कारीगरी देखकर बड़े-बड़े चतुर शिल्पी भी विस्मय-विमूढ़ हुए बिना नहीं रह सकते थे।

ऐसे सुन्दर विमान-भवन को देखकर भी देवहूति को कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। तब सबके मन

का भाव जानने की शक्ति रखनेवाले सर्वज्ञ महामुनि कर्दम ने पत्नी के मन का भाव जानकर स्वयं कहा—प्रिये, मै तुम्हारे निरानन्द रहने का कारण जानता हूँ। तुम पहले इस बिन्दुसरोवर मे जाकर स्नान करो, उसके बाद इस विमान पर चढ़ना। यह तीर्थ स्वयं भगवान विष्णु ने उत्पन्न किया है। यह मनुष्यों की सब अभिलाषाएँ पूरी कर देता है।

कमलनयनी देवहूति ने पति की आज्ञा सुनकर वैसे ही मैले कपड़े पहने और चिकटी हुई चोटी बँधे बाल लिये हुए उस सरोवर के जल में प्रवेश किया। उनके शरीर मे मैल जमा हुआ था और स्तन भी विवर्ण हो रहे थे। सरस्वती नदी के भीतर स्थित उस पवित्र जलाशय मे गोता लगाने पर देवहूति ने अपने को एक सुदर भवन के भीतर खड़े पाया। वहाँ एक हज़ार कन्याएँ उन्हे अपनी सेवा और शृंगार करने के लिए उपस्थित देख पड़ीं। सब किशोरी थीं। उनके शरीर से कमल की सुगंध निकल रही थी। देवहूति को देखते ही वे सब स्त्रियाँ सहसा उठ खड़ी हुईं और हाथ जोड़कर कहने लगीं—देवी, आपकी सेवा करने के लिए हम सब दासी उपस्थित है। हमे आज्ञा दीजिए, हम आपकी क्या सेवा करें ?

यों कहकर देवहूतिजी की इच्छा जानकर उन कन्याओं ने उबटन और तेल लगाकर उन्हे नहलाया और बढ़िया नवीन उजले कपड़े पहनने के लिए दिए। बहुमूल्य श्रेष्ठ और जगमगा रहे सोने के जड़ाऊ आभूषण भी देवहूति के अंगों मे उन्होने पहनाए। फिर सब गुणों से युक्त अन्न भोजन कराया और अमृत के समान बल-वीर्य बढ़ानेवाला मधुर आसव पीने को दिया। इसके उपरान्त देवहूति ने शीशे के सामने खड़े होकर अपने रूप और शृंगार को देखा। उन्होंने देखा, उनके गले मे फूलों की माला और शरीर मे उज्ज्वल सुंदर वस्त्र शोभायमान हैं। देह मे मैल का कहीं नाम नहीं रहा। कन्याओं ने बड़े आदर के साथ शृंगार किया है और खड़ी उनके रूप की बड़ाई कर रही है। तेल लगाकर सिर से स्नान करके, सब आभूषण पहनकर वह अत्यन्त शोभायमान हो रही है। कंठ मे कंठी, हाथों मे कंगन, कड़े और पैरों में बजनेवाले सुवर्ण के नूपुर शोभित हो रहे है। कमर में कंचन की बनी करधनी पड़ी है और उसमे बहुत-से रत्न जड़े है। छाती मे बहुमूल्य रत्नहार विराजमान है। मस्तक मे कुकुम की बिंदी लगी है। सुन्दर दाँत, सुन्दर भौंह, स्निग्ध कटाक्ष से मनोहर आँख सुन्दर मुखमंडल मे शोभायमान है। काले केशों से आवृत मुख भ्रमरों से अलंकृत कमल-कुसुम की शोभा को लज्जित कर रहा है।

इस प्रकार अपने सुन्दर रूप और शृंगार को देखकर देवहूतिजी ने अपने प्रिय पति महर्षि कर्दमजी को याद किया। वैसे ही उन्होंने अपने को उन कन्याओं के साथ प्रजापति कर्दमजी के पास उपस्थित देखा। महर्षि के योगबल के प्रभाव से उन हज़ारों कन्याओं के साथ तुरंत पति के पास अपने को देखकर देवहूति को बड़ा विस्मय हुआ। वह सोचने लगी, कहीं मैं यह स्वप्न तो नही देख रही हूँ। ऐसी अद्भुत घटना कैसे घटित हुई ?

कर्दमजी ने स्नान के उपरान्त अपूर्व शोभा से युक्त देवहूति को विवाह के पहले जैसा रूप और अवस्था थी, उसी रूप और अवस्था में खड़ी देखा। वह वस्त्र के अंचल से अपने मनोहर स्तनों को ढके हुए थीं। सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुशोभित और हज़ार विद्याधरियों से सुसेवित देवहूति को कर्दमजी ने प्रेमपूर्वक हाथ पकड़कर उस अद्भुत विमान में चढ़ा लिया। विषय-भोग में स्वतन्त्र अर्थात् निर्लिप्त मुनि जब प्रिया के साथ विमान में विराजमान हुए, तब उन विद्याधरियों ने देवहूति की तरह उन्हें भी नहलाया-धुलाया और उनका भी शृंगार किया। उस समय पत्नी के साथ उन कन्याओं के बीच विमान में वह वैसे ही शोभायमान हुए, जैसे आकाश में तारागण के बीच रोहिणी के साथ खिली हुई कोकाबेली के फूलों से

पूर्ण चन्द्रमा की शोभा होती है। मुनि को चन्द्रमा, देवहूति को रोहिणी, विद्याधरियों को तारागण, उनके नेत्रों को कोकाबेली के फूल और विमान को आकाश समझना चाहिए।

कर्दमजी अपनी पत्नी के साथ उस विमान पर बैठकर सुमेरु पर्वत पर गये और उसकी उन कन्दराओं में, जिनमें आठों लोकपाल विहार किया करते हैं, कामदेव का मित्र अर्थात् उसे जगानेवाला शीतल सुगंधयुक्त पवन चलता है, तथा गंगाजी के आकाश से गिरने का पवित्र और मनोहर शब्द सुन पड़ता है, वह कुबेरजी की तरह बहुत दिनों तक विहार करते रहे। विद्याधरियाँ उनकी सेवा करती थीं और सिद्धगण स्तुति करते थे। उसी विमान पर बैठकर उन्होंने वैश्रंभक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, चैत्ररथ आदि लोकपालों के उद्यानों (बागों) में और मानसरोवर में भी जाकर अपनी प्रिया के साथ सैर की और विहार किया। सुन्दर शोभाशाली, प्रकाशमान और यथेष्ट स्थान में जाने की शक्ति रखनेवाले विमान पर बैठकर वायु के समान बिना बाधा के विचरण कर रहे कर्दमजी सब विमानवासी देवता आदि से बढ़ गये। पर यह उनके लिए कोई बड़ी बात न थी। जिन भक्तों ने संसार से मुक्त करनेवाले भगवान् के तीर्थ के समान पावन श्रीचरणों का आश्रय लिया है, उनके लिए कौन ऐसा काम है, जिसे वे न कर सकते हों?

इस प्रकार देवहूतिजी को अनेक आश्चर्यजनक अद्भुत वस्तुओं से युक्त संपूर्ण भूगोल के द्वीपों और खंडों की सैर कराकर महायोगी महर्षि कर्दमजी फिर अपने आश्रम में लौट आए। रति के लिए उत्सुक मनु की कन्या को बहुत दिनों तक रमाते हुए महामुनि ने बहुत वर्षों तक संसार के सुख भोगे। अन्त में देवहूति के गर्भ से नव सन्तानें उन्होंने उत्पन्न कीं। बहुत-से वर्षों का वह समय घड़ीभर के समान बीत गया। उस विमान में उत्तम रति-शय्या के ऊपर परमसुन्दर पति के साथ रमण कर रही देवहूति को यह नहीं मालूम पड़ा कि इसमें कितना समय बीत गया। इस प्रकार योगबल से सुन्दर वस्तुओं का उपभोग और कामसुख की लालसा से विहार करने में उन दोनों पति-पत्नियों ने सौ वर्ष बिता दिये।

योगबल से सबके मन की बात जाननेवाले महर्षि कर्दम को देवहूति की भी यह इच्छा विदित थी कि बहुत सन्तानें हों, इसलिए उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी अर्द्धांगिनी की इच्छा पूरी करने के लिए अपने वीर्य के नव भाग करके गर्भाधान किया। परन्तु आत्मज्ञानी कर्दमजी तो अनासक्त भाव से देवहूति की इच्छा पूर्ण कर रहे थे, इसलिए देवहूतिजी के गर्भ से सब कन्याएँ ही उत्पन्न हुईं *। वे सब कन्याएँ परमसुन्दरी हुईं। उनके शरीर से कमल के फूलों की-सी महक आती थी। इसके उपरान्त अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सन्तान उत्पन्न करके जब महर्षि कर्दम संन्यास ग्रहण करने को उद्यत हुए, तब देवहूतिजी पुत्र न होने के कारण हृदय में बहुत खिन्न हुईं। घोर चिन्ता के कारण सिर झुकाए, आँखों में आँसू भरे, पाँव के नखों से पृथ्वी को कुरेदती हुई देवहूति ने अपने को सँभालकर, आँसुओं को रोककर, मुसकिराकर मधुर वाणी से धीरे-धीरे यों कहा।

देवहूतिजी ने कहा—भगवन्, आप अपने कथन के अनुसार अवश्य ही अपने वचन पूरे कर चुके। तथापि मैं आपसे कुछ और चाहती हूँ। मैं आपकी शरण में आई हूँ। मुझे अभय दीजिए। देखिए, अभी आपको बहुत कुछ करना बाकी है। पहले तो इन कन्याओं के योग्य वर खोजकर उनके साथ इनका ब्याह कर देना है। यह कार्य पुरुष ही अच्छी तरह कर सकते हैं। दूसरे जब आप संन्यास लेकर चले जायँगे, तब मेरे शोक को हरनेवाला कोई नहीं देख पड़ता। उस समय मुझे ज्ञान का उपदेश देकर मेरे शोक को कौन दूर करेगा? संसार के भय से कौन छुड़ावेगा? स्वामी, इतना समय तो मैंने विषय-भोग में पड़कर

* यह कामशास्त्र की बात है कि पुरुष जब आसक्त अधिक होता है, तब उसका वीर्य अधिक गिरता है। तभी पुत्र सन्तान होता है। इसी प्रकार स्त्री के अधिक कामासक्त होने से उसके रज का अंश अधिक गिरता है और तब कन्या होती है। यही बात स्मृति में भी लिखी है। यथा—"पुमान्पुंसोऽधिके वीर्ये स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।"

व्यर्थ बिता दिया, परमार्थ की चिन्ता नहीं की। मैंने इन्द्रियों के अधीन होकर विषय-वासना पूर्ण करने के लिए आपका संग किया। मैं आपके श्रेष्ठ प्रभाव को नहीं जान सकी। तात्पर्य यह कि आपको ब्रह्मज्ञानी जानकर आपसे ज्ञान का उपदेश नहीं लिया। तथापि अब आप कृपापूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश करके मेरा संसार-भय निवृत्त कीजिए। संग ही संसार की जड़ है। किन्तु अज्ञानवश किया हुआ असत्संग ही संसार का कारण होता है। यदि वही संग भगवद्भक्त ज्ञानियों का हो, तो उस सत्संग का फल वही होता है, जो फल संग त्याग करने से होना चाहिए। तात्पर्य यह कि असत्संग से बंधन और सत्संग से मुक्ति होती है। हे स्वामी, वह व्यक्ति जीते ही मृतक के समान समझा जाता है, जिसकी प्रवृत्ति धर्म के कर्म करने की ओर नहीं होती, फिर निष्काम कर्म करके भी जिसे वैराग्य नहीं होता और उस वैराग्य के कारण जिसका चित्त हरि के चरणों की सेवा अर्थात् भक्ति में नहीं लगता। तात्पर्य यह कि मनुष्यजन्म का परम पुरुषार्थ यही है। भगवन्, निश्चय ही भगवान् की प्रबल माया मे मेरी बुद्धि मोहित हो गई थी, इसी से मैंने मोक्ष देने की शक्ति रखनेवाले आप-सरीखे स्वामी को पाकर भी उनसे विषय-भोग प्राप्त करने की अभिलाषा की, संसार-बन्धन से छुटकारा पाने की चेष्टा नहीं की!

# चौबीसवाँ अध्याय

## श्रीकपिलदेवजी का अवतार

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, मनु की पुत्री देवी देवहूति के ये वैराग्य से युक्त वचन सुनकर दयालु महर्षि को अपनी प्रशंसा के योग्य पत्नी पर दया आ गई। वह विष्णु भगवान् के इस कथन को कि मैं तुम्हारे यहाँ अवतार लेकर सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा, स्मरण करके बोले।

कर्दमजी ने कहा—हे अनिन्दनीय राजपुत्री, तुम इस प्रकार अपने को भाग्यहीन कहकर खेद न करो। तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो; क्योंकि स्वयं भगवान् नारायण बहुत शीघ्र तुम्हारे गर्भ में आवेंगे। अब तक तुमने स्त्री-धर्म का पालन किया। अब तुम इन्द्रियों को जीतकर अपने उचित धर्म का आचरण करो, तप करो, दान-व्रत आदि से ईश्वर को प्रसन्न करो। तुम्हारी आराधना से प्रसन्न होकर मेरे यश को बढ़ाने के लिए भगवान् विष्णु तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होंगे। वही ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर तुम्हारे हृदय के अज्ञान और देहाभिमान को मिटावेंगे।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—देवी देवहूति ने महर्षि कर्दम के वचनों को आदर और श्रद्धा के साथ सुना। वह विषय-भोग की वासना छोड़कर विश्वासपूर्वक अपने हृदय में ही स्थित अथवा माया के पर्दे में छिपे हुए जगद्गुरु भगवान् का भजन करने लगीं। इस प्रकार बहुत समय तक आराधना करने पर भगवान् नारायण ने कर्दम के वीर्य से देवहूति के गर्भ में वैसे ही प्रवेश किया, जैसे काष्ठ में अग्नि उत्पन्न होती है*।

---

* अर्थात् देवहूति मे अंतर्यामीरूप से प्रकट हुए। इस दृष्टान्त का भाव यह है कि हरि के जो अवतार होते है, उनमे उनका शरीर साधारण जीवो की तरह शुक्र या वीर्य से नही बनता। यही बात इन श्लोको मे कही गई है—

नावतारेष्वपि हरेर्देहः शुक्रादिसंभवः। तथापि शुक्रसंस्थः सन्मातृदेहं प्रविश्य च॥
विलाप्य तत्र शुक्रं च केवलं ज्ञानरूपतः। उदेति भगवान्विष्णुः काले लोकं विडम्बयन्॥

अर्थात् अवतारो में भी भगवान् का शरीर पिता के शुक्र या माता के रज से नही बनता। तथापि पिता के शुक्र में स्थित होकर माता के शरीर मे वह प्रवेश करते हैं। शुक्र को वही लीन करके केवल ज्ञानमय सात्विक शरीर से वह समय पर लौकिक नियम का अनुकरण करके प्रकट होते हैं।

उस समय आकाश में मेघ बाजे बजाने लगे। गन्धर्वगण आनन्द से गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। देवता लोग स्वर्गलोक से फूलों की वर्षा करने लगे। सब दिशाएँ स्वच्छ हो गईं। जलाशयों के जल निर्मल हो गये। सज्जनों के चित्त में प्रसन्नता छा गई। सरस्वती-तट पर स्थित महर्षि कर्दम के आश्रम में मरीचि आदि मुनियों के साथ स्वयं ब्रह्माजी आकर उपस्थित हुए। स्वयंसिद्ध ज्ञानवाले ब्रह्माजी जान गये कि विशेषरूप से सांख्यदर्शन का उपदेश देने के लिए भगवान् परमब्रह्मरूप नारायण ने अपने सत्वमय अंश से देवहूतिजी के गर्भ में प्रवेश किया है। भगवान् के इस अभिप्राय का अभिनन्दन करते हुए प्रसन्नचित्त ब्रह्माजी ने कर्दम ऋषि से यों कहा।

ब्रह्माजी बोले—हे पुत्र, तुमने निष्कपट भाव से श्रद्धा के साथ मेरी आज्ञा को ग्रहण किया और उसका पालन किया। यह मेरी परमपूजा और सत्कार हुआ। पुत्र के लिए पिता की सबसे बड़ी सेवा और पूजा यही है कि वह अपने गुरुस्वरूप पिता की आज्ञा को "बहुत अच्छा" कहकर सादर ग्रहण करे। हे कर्दम, तुम्हारी ये परमसुन्दरी कन्याएँ अपने वंश से इस सृष्टि को बहुत बढ़ावेंगी। इस प्रकार तुम्हारे द्वारा मेरी सृष्टि उत्पन्न करने की आज्ञा का पालन हो जायगा। अब तुम अपनी रुचि के अनुसार कन्याओं के शील-स्वभाव के अनुरूप वर देखकर इन मरीचि आदि आदिऋषियों के साथ इन कन्याओं को व्याह दो। इससे पृथ्वीतल पर तुम्हारा निर्मल यश फैलेगा। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पुत्र साक्षात् नारायण ही होंगे। सब प्राणियों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए अपनी माया से आदिपुरुष तुम्हारे यहाँ अवतार लेंगे। इनका नाम कपिलदेव होगा।

फिर ब्रह्माजी ने देवी देवहूति से कहा—हे मनु की पुत्री, तुम्हारे इस गर्भ से हिरण्यकेश (सुनहले केश-वाले), कमलनयन, सुन्दर मुखकमलवाले नारायण जन्म लेंगे। उनके चरणों में भी कमल की रेखा होगी। यह शास्त्रोक्त ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान से कर्ममूलक वासनाओं की जड़ उखाड़ डालेंगे। अर्थात् सांख्य के उपदेश से मोक्ष का मार्ग दिखावेंगे। यह तुम्हारे हृदय में जो अविद्या (अपने विशुद्ध रूप को न जानना) और संशय अर्थात् मिथ्या ज्ञान की गाँठ पड़ी है, उसे ज्ञानोपदेश की तलवार से काट देंगे और फिर पृथ्वीमण्डल में विचरण करेंगे। यह सब सिद्ध योगियों में श्रेष्ठ होंगे। बड़े-बड़े सांख्यशास्त्र के आचार्य इनका आदर करेंगे। इनके द्वारा जगत् में तुम्हारी भी कीर्त्ति बढ़ेगी। इनको लोग कपिलदेव कहेंगे।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, ब्रह्मरूप ब्रह्माजी इस प्रकार कर्दम और देवहूति को आश्वासन देकर सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारदजी को साथ लेकर अपने हंसयुक्त विमान पर बैठकर सब लोकों के ऊपर स्थित सत्यलोक को चले गये। मरीचि आदि पुत्रों को विवाह करने के लिए पृथ्वी पर ही छोड़ गये। ब्रह्माजी के जाने पर उनकी प्रेरणा के अनुसार कर्दम ऋषि ने मरीचि आदि ऋषियों के साथ अपनी कन्याओं का व्याह कर दिया। कला का व्याह मरीचि के साथ हुआ। अनसूया का व्याह अत्रि ऋषि के साथ हुआ। श्रद्धा का व्याह अंगिरा के साथ, हविर्भू का व्याह पुलस्त्य ऋषि के साथ, गति का व्याह पुलह ऋषि के साथ, क्रिया का व्याह क्रतु ऋषि के साथ, ख्याति का व्याह भृगु ऋषि के साथ, अरुन्धती का व्याह वशिष्ठ ऋषि के साथ और शान्ति का व्याह अथर्वा ऋषि के साथ हुआ। शान्ति यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता हुई। इसके उपरान्त कर्दमजी ने कन्याओं और दामादों को कुछ समय तक प्रीतिपूर्वक अपने आश्रम में ही रक्खा।

हे विदुर, कुछ समय के बाद वे ऋषि प्रसन्न चित्त से कर्दम ऋषि से विदा हुए और अपनी-अपनी स्त्री को साथ लेकर अपने-अपने आश्रम को चले गये। इधर जब कपिलदेवजी ने जन्म लिया, तब उन्हें देवतों में श्रेष्ठ विष्णु भगवान् का अवतार जानकर, एकान्त में मिलकर, कर्दम ऋषि ने उन्हें प्रणाम किया और कहा—अहो, अपने पापों से नरक-यातना भोग रहे प्राणियों पर बहुत काल के बाद कभी देवता

प्रसन्न होते हैं, अर्थात् जब भोग के द्वारा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं, तब उन पर देवतों की कृपा होती है। योगी लोग अच्छी तरह चित्त को शुद्ध करके एकान्त में योगसमाधि लगाकर, अर्थात् कई जन्मों में सुसिद्ध हुए भक्तियोग में एकाग्र होकर, जिनके चरणकमलों के दर्शन पाने का यत्न करते हैं, आप वही हैं। हे भक्तवत्सल, विषय-सुख के भोग में आसक्त रहने के कारण हम अज्ञानी आपकी ओर आकृष्ट नहीं होते। परन्तु हमारे इस अपराध का विचार न करके हमारे घर में आपने अवतार लिया, इसलिए हम धन्य हैं! हमारे अहोभाग्य हैं! अपने वचन को पूरा करने और भक्तों को सांख्य-ज्ञान का उपदेश देने के लिए आपने मेरे घर मे यह अवतार लिया है। सचमुच आप भक्तों का मान बढ़ाते है। भगवन्, वास्तव मे तो आप नाम-रूप से रहित है। तथापि आप अलौकिक चतुर्भुज रूप अथवा भक्तों की रुचि के अनुसार अन्य अनेक रूप धारण करते है। सभी रूप आप के अनुरूप हैं। ज्ञानीजन आत्मतत्त्व जानने की इच्छा से सदैव आपके चरण रखने की चौकी की वंदना करते है। आपमे ऐश्वर्य, वीर्य (धर्म), यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, ये छः ऐश्वर्य अखण्ड रूप से रहते हैं। मैं आपके शरणागत हूँ। आप स्वाधीन शक्तिवाले परमेश्वर हैं। आप ही प्रधान अर्थात् प्रकृति और उसके अधिष्ठाता पुरुष है। महत्तत्त्व, उसमे क्षोभ उत्पन्न करनेवाला काल, कवि (सूत्र-तत्त्वरूप ब्रह्मा *), त्रिविध अहङ्कार, सब लोक और लोकपाल आप ही के रूप है। चित्शक्ति अर्थात् आत्मानुभव से आप इस जगत् के प्रपञ्च को अपने में लीन कर लेते हैं। हे कपिलदेव, मैं आपके शरणागत हूँ। आपने पुत्र-रूप से मेरे घर में प्रकट होकर मुझे तीनों ऋणों से मुक्त कर दिया, इसलिए मेरा गृहस्थाश्रम का प्रयोजन सिद्ध हो गया। अब मैं आपसे आज्ञा माँगता हूँ और चाहता हूँ कि संन्यासाश्रम ग्रहण करके आपका ध्यान करता हुआ शोकरहित होकर विचरण करूँ।

कपिलदेवजी ने कहा—हे मुनिवर, लौकिक और वैदिक सभी कामों में मेरा वचन ही प्रमाण है। इसीलिए अपने वचन को सत्य करने के लिए मैं तुम्हारे घर मे उत्पन्न हुआ हूँ। जो मुनिगण सूक्ष्म शरीर के भी बन्धन से छुटकारा पाना चाहते है, उन मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को आत्मा का ज्ञान कराने के लिए यह तत्त्वों की संख्या बतानेवाला सांख्यशास्त्र सिखाना ही मेरे इस अवतार का उद्देश्य है। आत्मज्ञान का यह सूक्ष्म मार्ग अनादिकाल से स्वयंसिद्ध रूप मे चला आ रहा है अर्थात् कोई नया मार्ग नहीं है। किन्तु बहुत काल बीत जाने के कारण यह बीच मे लुप्त-सा हो गया था। संसार मे फिर उसका प्रचार करने के लिए मैंने यह शरीर धारण किया है। तात्पर्य यह कि मैने तो ज्ञान का उपदेश करने के लिए ही तुम्हारे घर में अवतार लिया है, इसलिए घर में रहकर भी तुम मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। किन्तु जो जाने के लिए ही तुम्हारा आग्रह है तो मैं तुमको आज्ञा देता हूँ, तुम अपनी इच्छा के अनुसार जाओ। सब कर्म मुझे अर्पण करके अत्यन्त दुर्जय मृत्यु को तुम जीत लोगे। अमृतभाव प्राप्त करने के लिए भक्ति के साथ मेरा भजन करो। मैं आत्मा, स्वयंप्रकाशमान, सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। इस रूप से मुझ परमात्मा में मन लगाकर, मुझे अपने भीतर देखकर, तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। माता (देवहूति) को भी मैं सब कर्मों के बन्धन से छुड़ानेवाली आत्मविद्या का उपदेश दूँगा। उसके प्रभाव से यह मृत्युभय से मुक्ति पाकर संसार-सागर के पार पहुँच जायेंगी, परमानन्द को पा जायेंगी।

मैत्रेयजी कहते हैं—कपिलजी के यों कहने पर कर्दम प्रजापति को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उनकी प्रदक्षिणा करके वन को चले गए। अहिंसा-व्रत लेकर, आत्मरूप के चिन्तन में मन लगाकर, सबका संग छोड़कर वह पृथ्वी-पर्यटन करने लगे। गृहस्थाश्रम के साथ ही उन्होंने अग्निहोत्र आदि कर्मों को भी

---

* यहाँ कवि का अर्थ सर्वज्ञ अर्थात् प्रधान आदि के आविर्भाव और लय का साक्षी है।

छोड़ दिया। उनका कहीं रहने का स्थान न था। जहाँ सन्ध्या हुई, वहीं पड़ रहे। सत् (आत्मा) और असत् (शरीर) से परे परब्रह्म में उनका मन लग गया था। अनन्य भक्ति से उन्होंने उस निर्गुण ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कर लिया था। अहंभाव और ममता से रहित, समदर्शी होकर कर्दमजी अपने रूप का चिन्तन करते थे। जाड़ा-गर्मी, सुख-दुःख आदि से वह सुखी या दुःखी नहीं होते थे। उनकी बुद्धि शान्त और स्थिर थी। लहरों से रहित, स्थिर, गंभीर, प्रशान्त सागर के समान वह निश्चल और निःशब्द देख पड़ते थे। उनका मन सर्वज्ञ, परमात्मा, भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति के साथ लग गया। इससे अज्ञान का बंधन देहाभिमान जाता रहा। उन्होंने देखा कि स्वयं अपना आत्मा परमात्मा के रूप से सब प्राणियों में स्थित है, और सब प्राणी परमात्मा का रूप होने के कारण अपने ही में स्थित है। अर्थात् उनमें यह भावना उत्पन्न हो गई कि मुझमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। मैं ब्रह्मरूप से सबमें व्याप्त हूँ और सब मुझमें अवस्थित हैं। इस प्रकार राग-द्वेष-रहित, सर्वत्र समदर्शी और भगवान् की भक्ति से युक्त होकर वह भगवान् का रूप हो गए।

# पचीसवाँ अध्याय

## श्रेष्ठ भक्ति के लक्षण

शौनकजी कहते हैं—हे सूत, तत्त्वों की संख्या (गणना) करके सांख्यशास्त्र का प्रचार करनेवाले कपिलदेवजी साक्षात् भगवान का अवतार थे। लोगों को उनके आत्मरूप का ज्ञान कराने के लिए जन्म आदि से रहित भगवान् ने ही अपनी माया के द्वारा इस रूप में अवतार लिया था। पुरुषोत्तम योगिराज कपिलदेव के चरित्र को सुनकर मेरा जी नहीं भरता, और भी सुनने को जी चाहता है। भगवान् के चरित्र ऐसे ही हैं कि जितना सुनो उतना ही और सुनने की लालसा बढ़ती है। वह ईश्वर भक्तों की रुचि और इच्छा के अनुसार अवतार लेकर योगमाया के द्वारा जो-जो कर्म करते हैं, वे सब कीर्त्तनीय चरित्र आप मुझसे कहिए। मुझे उनके सुनने की बड़ी श्रद्धा है।

सूतजी कहते हैं—शौनकजी, जैसे आप मुझसे पूछ रहे हैं, वैसे ही यही प्रश्न विदुरजी ने मैत्रेयजी से किया। मैत्रेयजी ने प्रीतिपूर्वक इस अध्यात्मविद्या के वर्णन से संबंध रखनेवाले प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा, सो मैं आपसे कहता हूँ। सुनिए।

मैत्रेयजी ने कहा—जब पिता संन्यास लेकर वन को चले गए, तब भगवान कपिलदेवजी माता की प्रसन्नता के लिए उनके निकट उसी बिंदुसर तीर्थ में रहने लगे। तत्त्वमार्ग के पारदर्शी होने के कारण कपिलदेवजी सदैव निष्क्रिय होकर बैठे रहते थे; अर्थात् किसी काम-काज में लगने से मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं रहती, पर उनकी बुद्धि सदा तत्त्व-ज्ञान में लगी रहने के कारण स्थिर रहती थी। एक समय इस प्रकार बैठे हुए कपिलदेव के समीप जाकर ब्रह्मा के वचनों* को स्मरण कर रही देवहूतिजी ने उनसे यों कहा।

देवहूति ने कहा—हे देव, इन दुष्ट अर्थात् चंचल इंद्रियों की विषय-भोग की लालसा कभी तृप्त होनेवाली नहीं है। इनकी विषय-भोग की अभिलाषा से मैं ऊब गई हूँ, मुझे वैराग्य हो गया है। यह

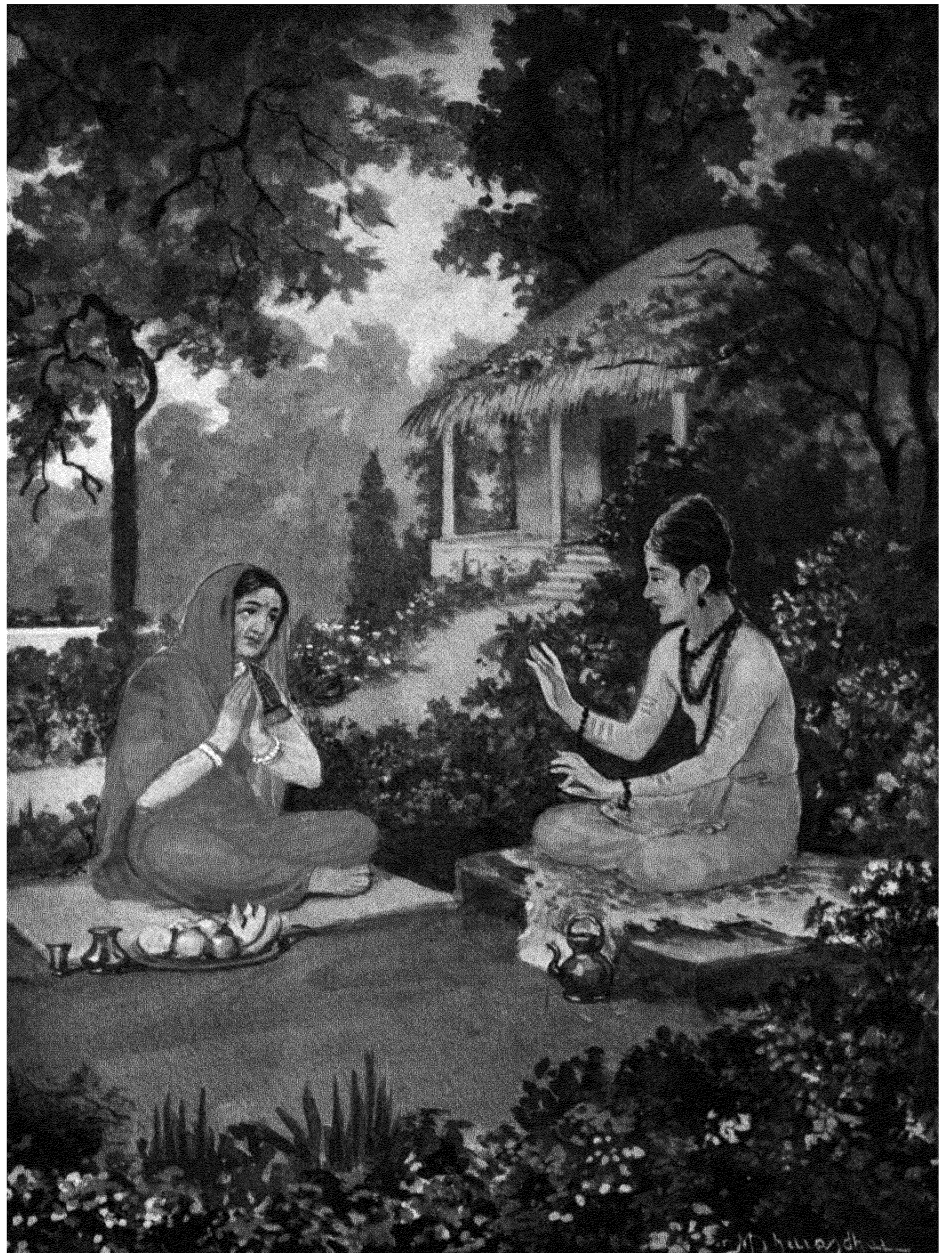
* ब्रह्माजी ने देवहूति से कहा था कि तुम्हारे गर्भ से नारायण जन्म लेंगे और तुमको तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

विषय-भोग की अभिलाषा पूरी करने के फेर में पड़कर मैं घोर अज्ञान के अन्धकार में भटक रही हूँ। किन्तु अब उस अपार अन्धकार के पार पहुँचानेवाले उत्तम नेत्ररूप आप मुझे कई जन्मों के बाद मिल गए है। यह भी आप ही की कृपा का फल है। आप आदिपुरुष और सब प्राणियों के ईश्वर हैं, इसमें संदेह नहीं। अज्ञान के अंधकार में अंधे होकर भटक रहे लोगों को आत्मा का यथार्थ रूप दिखलाने के लिए, उनके ज्ञानरूप नेत्र खोलने के लिए, सूर्य के समान आपका उदय हुआ है। हे देव, मनुष्यों को इन देह आदि में "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार का दुराग्रह या अभिमान जो होता है, उसका कारण आपकी माया है। आप ही ने उनके पीछे यह मोह-ममता लगा दी है। इसलिए कृपा करके मेरे इस मोह-पाश को आप हटा लीजिए। आप शरणागत भक्तों की रक्षा करनेवाले और अपने सेवकों के जन्म-मरणरूप वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। मै प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध मे जानना चाहती हूँ। श्रेष्ठ धर्म के जाननेवालों मे आपका स्थान सबसे ऊँचा है। मैं आपको प्रणाम करती हूँ। मेरे निवेदन को स्वीकार करके मुझे ज्ञान का उपदेश कीजिए।

मैत्रेयजी कहते है—भगवान् कपिलदेवजी अपनी माता के इस प्रश्न को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। आत्मज्ञानी सज्जनों को मुक्ति के दाता भगवान् ने माता की इस निष्कपट और निर्दोष प्रार्थना को मोक्षमार्ग मे चलने के लिए लोगों को उत्साहित करनेवाली समझकर मंद मुसकान के साथ सुमधुर वाणी मे यों उत्तर दिया।

कपिलदेवजी बोले—माता, आत्मज्ञान में निष्ठा उत्पन्न करनेवाला सांख्ययोग ही मेरे मत में मोक्ष देनेवाला है; क्योंकि इसमें सुख और दुःख, दोनों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् आत्मज्ञान होने पर न तो विषय-भोग के सुख की चाह रहती है और न भोग-सुख का नाश होने पर उससे होनेवाला दुःख ही होता है। यम-नियम आदि सब अंगों के साथ यह योग मै आपके आगे कहूँगा। पहले ऋषियों ने इसी सांख्ययोग को सुनने की इच्छा जब प्रकट की थी, तब मैंने उनसे इसका वर्णन किया था। हे माता, ध्यान देकर इसे सुनो।

इस जीव का चित्त ही उसके बन्धन और मोक्ष, दोनों का कारण है। चित्त जो विषयों में आसक्त होता है तो बन्धन होता है और यदि परमेश्वर में एकाग्र भाव से लग जाता है तो संसार से मुक्ति मिल जाती है। "मै हूँ, मेरा है" की भावना से उपजनेवाले काम, लोभ, क्रोध, मद, मोह आदि मैल या विकार जब मिट जाते हैं और मन शुद्ध हो जाता है, तब सुख या दुःख नहीं होता, अर्थात् सुख और दुःख दोनों को यह मन समान मानता है। तब इस प्रकार चित्त की एकाग्रता या मन का संयम होने पर ज्ञान, वैराग्य और भगवद्भक्ति से युक्त चित्त के द्वारा यह जीव अपने को प्रकृति से परे, भेदरहित, स्वयंप्रकाशमान, अद्वितीय, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और सुख-दुःख दोनों में उदासीन (उनके साक्षीरूप से अवस्थित) देख पाता है। उसे बलहीन प्रकृति (माया) भी देख पड़ती है। अर्थात् प्रकृति को वह जीत लेता है; उससे प्रकृति का कुछ जोर नहीं चलता। मन की शुद्धि के लिए यम, नियम आदि बाहरी साधन अवश्य हैं, किन्तु भीतरी और मुख्य उपाय भक्ति ही है। यही बतलाते हैं कि सर्वव्यापी और सबके अन्तर्यामी भगवान की भक्ति ही ब्रह्मज्ञान की सिद्धि का सुगम सहज मार्ग है। योगियों के लिए इसके समान या इससे बढ़कर कल्याण का मार्ग और नहीं है। उस भक्ति और भक्ति से चित्त की शुद्धि का मूल सत्संग ही है। विद्वान् पंडितों का कहना है कि विषयों में आसक्ति आत्मा को माया में फँसानेवाला अक्षय पाश है; किन्तु वही आसक्ति जो सत्संग में हो तो वह खुला हुआ मोक्ष का द्वार है। [अब सज्जनों के लक्षण कहते हैं।] साधु-सज्जन शास्त्र के अनुगामी होते हैं। वे सहनशील, दयालु, सबके हितैषी, शुभचिन्तक और शान्त होते हैं। उनका कोई शत्रु नहीं होता। सुशील ही उनका आभूषण



भगवान् कपिलदेव द्वारा माता देवहूति को आत्मज्ञान का उपदेश

होता है। वे अनन्य भाव से मुझमें दृढ़ भक्ति रखते हैं, मेरे लिए स्वजनों और बान्धवों को छोड़ देते हैं और अपने सब कर्मों का फल मुझे अर्पण कर देते हैं। वे मेरी ही चर्चा किया करते हैं, मेरे ही चरित्रों को कहते और सुनते रहते है। हर घड़ी मुझमें ही उनका चित्त लगा रहता है। इसलिए संसार के विविध ताप उन्हे व्यथा नही पहुँचा पाते। हे माता, ऐसे निःसंग साधुजन संग के दोष बंधन को हर लेते हैं। इसलिए आपको ऐसे ही सज्जनों का संग सदा करना चाहिए। कारण, ऐसे महात्मा पुरुषों का समागम होने पर उनकी सभा में हृदय और कानों को सुखदायक मेरी चर्चा होती है। उसे सुनने से शीघ्र ही क्रमशः मुक्ति-मार्ग में श्रद्धा, रति और भक्ति उत्पन्न होती है। मेरी लीला अर्थात् सृष्टि आदि की रचना का अनुशीलन करने से साधक के हृदय में इन्द्रिय-सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है; क्योंकि वह समझ लेता है कि यह सब सुख तुच्छ और एक दिन आप से आप छूट जानेवाला है। उसे इस लोक के पारिवारिक सुख और परलोक के स्वर्गभोग आदि लुभा नहीं सकते; क्योंकि वह जान लेता है कि इन सबका एक दिन विनाश हो जायगा। तब वह सरल भक्तियोग के मार्ग से चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार माया के गुणों से बने हुए विषयों का सेवन न करने से, वैराग्य के द्वारा बढ़े हुए ज्ञान से और योग तथा मेरी अनन्य दृढ़ भक्ति से अपने हृदय में ही मुझ परमात्मा को देख पाता है।

देवहूतिजी ने कहा—भगवन, आपकी कैसी भक्ति करनी चाहिए? मैं स्त्री-जाति हूँ, इसलिए मुझे आपकी कैसी भक्ति करने का अधिकार है? जिस भक्ति के द्वारा आपके मोक्षपद को मैं सहज में भली-भाँति पा सकूँ, उस भक्ति का तत्त्व आप मुझसे कहिए। हे मोक्षस्वरूप, जिस योग का एकमात्र लक्ष्य परमेश्वर को ही आपने कहा है, वह तत्त्वज्ञान देनेवाला योग क्या है? उसके अंग कितने है? देव, मैं मंदमति स्त्री जिस प्रकार सहज मे इस दुर्बोध तत्त्वज्ञान और योग के विषय को समझ जाऊँ, उसी प्रकार सरल करके कहने की कृपा कीजिए।

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, तत्त्वज्ञानी कपिलदेवजी यद्यपि हर्ष, शोक आदि मानसिक विकारों से रहित थे, तथापि माता पर उन्हे करुणा आ गई, स्नेह उत्पन्न हो आया। इसका कारण यही था कि देवहूति के गर्भ से उनका यह जन्म हुआ था। वह माता का मोक्षप्राप्ति का प्रयोजन जानकर उसे सिद्ध करने के लिए उन्हें भक्ति को बढ़ानेवाले सांख्ययोग का उपदेश देने लगे। [ माता के प्रश्न के अनुसार उत्तम भक्ति का लक्षण कहते हैं। ]

श्रीभगवान् बोले—हे माता, रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों की सत्वमूर्त्ति हरि भगवान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं। अर्थात् जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, उस भक्त की सब इन्द्रियाँ विना किसी यत्न के निष्काम भाव से भगवान् के भजन में लगी रहती हैं। भगवान् की ऐसी निष्काम भक्ति मुक्ति से भी बढ़कर है। भक्तजन इस भक्ति के आगे मुक्ति नहीं माँगते। मुक्ति तो उनकी स्वयं हो जाती है। जैसे पेट के भीतर की आग आप से, बिना किसी यत्न के, भोजन को पचा देती है, वैसे ही यह भक्ति शीघ्र ही वासनामय लिंग-शरीर को नष्ट कर देती है। हे माता, मेरे चरणों की सेवा मे लगे रहनेवाले, सब कर्म मुझको ही अर्पण कर देनेवाले, सब समय एकत्र होकर प्रेम के साथ मेरी चर्चा करने में आनन्द पानेवाले मेरे अनन्य भक्त कैवल्य मोक्ष को भी नहीं चाहते। उन्हे ब्रह्मलीन होने की अभिलाषा नहीं होती; वे मेरी सेवा और भक्तिभाव के साथ मेरा भजन करने को ही परम लाभ समझते हैं। वे संतजन प्रसन्नमुख और अरुण लोचनों से सुशोभित मेरे वरदायक दिव्य रूपों के दर्शन और स्तुति करने को ही अपना बड़ा भारी सौभाग्य समझते हैं। दर्शनीय अंगों से युक्त मेरे रूपों की उदार लीला, हँसी, कृपादृष्टि और मधुर मनोहर वचनों को देख-सुनकर उन भक्तों के हृदय और इन्द्रियाँ रीझ जाती हैं, मुझमें लग जाती हैं, उचट-

कर और किसी विषय या वस्तु की ओर आकृष्ट नहीं होतीं। वे यद्यपि भजनानन्द को छोड़कर मुक्ति पाने की इच्छा नहीं करते, तथापि मेरी भक्ति उन्हें मुक्ति देती है। कारण, जैसे अग्नि का धर्म जलाना है, वैसे ही भक्ति का फल मुक्ति है; वह स्वयं प्राप्त हो जाता है। वे जीवन्मुक्त निष्काम भक्त अविद्या की निवृत्ति के उपरान्त प्राप्त सत्यलोक आदि की भोगसंपत्ति को और भक्ति के पीछे आप से अपने निकट आई हुई अणिमा आदि आठों योग-सिद्धियों के ऐश्वर्य को भी नहीं लेना चाहते। यहाँ तक कि मेरे वैकुण्ठधाम के अलौकिक अतुल अद्भुत वैभव की भी चाह उन्हें नहीं होती। तथापि ये सब ऐश्वर्य और भोग उन्हें वैकुण्ठलोक में स्वयं प्राप्त होते हैं। यहाँ पर यह शंका न करनी चाहिए कि यदि ऐसा है तो स्वर्ग आदि लोकों की तरह कभी इन भोगों और भोग करनेवालों का विनाश भी हो जाता होगा। हे माता, वे मेरे भक्त जीवन्मुक्त पुरुष मेरी भक्ति के प्रभाव से वैकुण्ठ में जाकर अनासक्त भाव से औरों के लिए दुर्लभ ऐश्वर्य-सुख भोगते हैं। मेरे वैकुण्ठलोक में काल का भय नहीं है। तात्पर्य यह कि वैकुण्ठलोक अविनाशी है, वहाँ के भोग अविनाशी हैं और वहाँ निवास करनेवाले मेरे भक्तजन भी अविनाशी हैं। मुझे ही जो अपना गुरु ( उपदेश देनेवाला ), सुहृद् ( हितकारी ), इष्टदेव ( पूज्य ), प्रिय आत्मा, पुत्र ( स्नेहपात्र ) और सखा, सब कुछ समझते हैं, उन अनन्य भक्तों को मेरा कालरूप चक्र नहीं स्पर्श करता। जो लोग इस लोक में रहनेवाले स्थूल शरीर और परलोक में साथ जानेवाले वासनामय सूक्ष्म शरीर की ममता छोड़कर, इस शरीर के साथी स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, पशु, घरबार आदि के मोह में न पड़कर, एकाग्र भक्ति से केवल मुझ विश्वव्यापी परमेश्वर की आराधना में लगे रहते हैं, उनको मैं मृत्यु के भय से मुक्त कर देता हूँ। माता, मैं ही भगवान् हूँ; मैं ही प्रकृति और पुरुष, दोनों का स्वामी परमात्मा हूँ; मैं ही सब प्राणियों का आत्मा हूँ। अर्थात् मैं समर्थ, निरपेक्ष और हितकारी हूँ। मेरे सिवा और कोई मृत्यु के घोर भय से रक्षा करनेवाला नहीं है। मेरे ही भय से अर्थात् मेरी बनाई मर्यादा का पालन करने के लिए यह वायु चला करता है। मेरे ही भय से सूर्य तपते हैं, इंद्र समय पर वर्षा करते हैं, अग्नि जलाता है और मृत्यु सब प्राणियों का संहार करता है *। योगी लोग ज्ञान और वैराग्य से युक्त भक्तियोग के द्वारा अपने कल्याण के लिए मेरे अकुतोभय चरणों का आश्रय लेते हैं।

# छब्बीसवाँ अध्याय

## सांख्ययोग का वर्णन

मुक्ति आत्मा के ज्ञान से ही होती है, तत्त्वों के लक्षणमात्र जान लेने से नहीं, यही बतलाने के लिए कपिलदेवजी कहते हैं--हे माता, सांख्यज्ञान के साथ भक्ति और योग का समावेश होने से ही मुक्ति होती है†। भक्ति का रूप मैं कह चुका, अब संख्या के साथ सब तत्त्वों के अलग-अलग लक्षण तुमसे कहता हूँ, जिनका ज्ञान प्राप्त करके पुरुष अर्थात् देहोपाधि से युक्त जीवात्मा प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। तत्त्वों को जानने से उत्पन्न आत्मदर्शनरूप ज्ञान देहाभिमान को मिटा देता है। अब मैं आपसे उसी मोक्षदायक ज्ञान का वर्णन करता हूँ। यह पुरुष ( आत्मा ) अनादि है। इसका जन्म या मरण नहीं

* यही बात इस श्रुति में भी कही गई है—
"भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।"

† यही बात श्रुति कहती है—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।"

होता । यह प्रकृति से परे और प्रकृति के गुणों से अलग है। इसकी स्फूर्त्ति रोएँ-रोएँ में है। यह स्वयं-प्रकाशमान अर्थात् ज्ञान का आधार है। यह विश्व इसी के संयोग से प्रकाशित होता है। विष्णु की शक्ति अर्थात् अप्रकट गुणों को अपने में लीन किए हुए माया* जब इसी आत्मा के निकट लीला-विस्तार के लिए उपस्थित होती है, तब यह उसे अपनी इच्छा से ग्रहण करता है। अपने गुणों से विचित्र और समान रूपवाली प्रजाओं अर्थात् विषयों की सृष्टि कर रही उस ज्ञान को ढकनेवाली अनादि प्रकृति† को देखकर यह पुरुष शीघ्र ही मोह को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अपने रूप को भूल जाता है। इस प्रकार प्रकृति के आरोप या अध्यास का फल यह होता है कि प्रकृति के सत्व आदि गुण जिन कार्यों को करते हैं, पुरुष अपने ही को उनका करनेवाला मान लेता है, अर्थात् प्रकृति के गुणों में "मैं हूँ, मेरा है" यह अहं-भावना रखकर सुख-दुःखरूप कर्मफल भोगता है। यद्यपि पुरुष केवल कर्मों का साक्षी है, स्वयं कर्त्ता नहीं है, ईश्वर और आनन्दरूप है, तथापि वह प्रकृति के अविवेक से कर्म के बन्धन में पड़ जाता है, सुख-दुःख के भोग में परवश हो जाता है और संसार अर्थात् जन्म-मृत्यु के फेर में पड़कर कष्ट उठाता है। कार्य, कारण, कर्त्ता, अर्थात् देह, इंद्रियाँ और उनके अधिष्ठाता सूर्य आदि देवता जो कुछ करते है, उसका कारण पुरुष की प्रकृति ही है। अर्थात् कूटस्थ (साक्षी) पुरुष में अपने से विकार का अभाव होने के कारण प्रकृति के परिणाम जो देह आदि है, उन्हीं के अहंभाव से कर्तृत्व का आरोप होता है। और विषयों का भोग जो होता है, उसका करनेवाला प्रकृति से परे पुरुष है। इसका भाव यह है कि यद्यपि कर्तृत्व आदि और भोग करना अहंकारगत ही है, तथापि जड़ में अवसान होने के कारण विकार उपाधि-प्रधान है और भोग का चैतन्य में अवसान होने के कारण वह उपहित-प्रधान है। और खुलासा यह है कि कर्म करने-वाली प्रकृति है और भोग करनेवाला चैतन्य पुरुष है।

देवहूतिजी ने कहा—हे पुरुषोत्तम, इस विश्व के स्थूल और सूक्ष्म जितने कार्य हैं, वे सब प्रकृति और पुरुष के संयोग से होते हैं। संसारी पुरुष और उस संसार का कारण प्रकृति तो आपने बतलाई, अब आप जगत् के कारण ईश्वर और उसकी प्रकृति के लक्षण कहिए।

कपिलदेवजी बोले—हे माता, जो प्रधान तत्त्व है, वही प्रकृति है। वह स्वयं अविशेष है और विशेष की तरह अन्य सब विशेषों का आश्रय है। वह तीन गुणों से युक्त है, इसलिए ब्रह्म नहीं है; क्योंकि ब्रह्म में कोई गुण नहीं है, वह निर्गुण है। प्रकृति अव्यक्त है, इसलिए महत्तत्त्व भी नहीं है। कारण, महत्तत्त्व व्यक्त है। यह काल भी प्रकृति नहीं है; क्योंकि वह कार्य-कारणरूप है। काल का कोई रूप नहीं है। यह

---

* आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति के भेद से प्रकृति दो प्रकार की है। आवरणशक्ति से वही जीव की उपाधि अविद्या और विक्षेपशक्ति से वही परमेश्वर की माया कहलाता है। जब उसमें गुणों का आविर्भाव होता है तब वह आवरण अर्थात् जीव के स्वरूपज्ञान को ढकने का काम करती है और जिस अवस्था में उसके गुण प्रकट नहीं रहते, उस अवस्था में वही अव्यक्त या प्रधान कहलाती है। इसी प्रकार पुरुष भी जीव और ईश्वर के रूप से दो प्रकार का है। जब प्रकृति के अविवेक से संसार के बन्धन में पड़ जाता है, तब उसे जीव कहते हैं और जब प्रकृति को वश में करके विश्व की सृष्टि आदि करता है, तब वही ईश्वर कहलाता है। कपिलदेवजी पहले यही बतलाते हैं कि प्रकृति के अविवेक या अविद्या से जीव को संसार का बन्धन कैसे होता है।

† यही भाव इस श्रुति का है—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" अर्थात् एक अजा (बकरी) है। अजा से यहां अनादि प्रकृति समझना चाहिए। उसका रंग लाल, श्वेत और काला है। इन रंगों से रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण, ये प्रकृति के तीनों गुण कहे गये हैं। दो अज (बकरे) हैं। अज से अनादि पुरुष और ईश्वर समझना चाहिए। एक अज अर्थात् पुरुष अपने ही रूप की बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न कर रही उस अजा (प्रकृति) का संग करके उससे भोग करता है और दूसरा अज अर्थात् ईश्वर उस भोगी हुई प्रकृति अर्थात् अविद्यारूप उपधि को छोड़ देता है

जीव भी प्रकृति नहीं है; क्योंकि प्रधान-रूपिणी प्रकृति नित्य ( अनादि ) है। इस प्रधान प्रकृति के कार्यस्वरूप चौबीस तत्त्व हैं। पाँच, पाँच, चार और दस अर्थात् चौबीस तत्त्व ये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच महातत्त्व; गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पाँच महातत्त्वों के गुण, विषय या तन्मात्रा; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण और वाक्, पाणि, पायु, चरण, उपस्थ, ये दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ये चार भीतर की इन्द्रियाँ अर्थात् अंतःकरण; ये ही चौबीस तत्त्व हैं। हे माता, यद्यपि अन्तःकरण एक ही है, तथापि वृत्तियों के भेद से उसके ये चार भेद देख पड़ते है। यही चौबीस तत्त्वों का "प्रधान" कहलाता है। यही सगुण ब्रह्म अर्थात् जीव के रहने का स्थान है। इन चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त अर्थात् प्रधान से अलग पचीसवाँ तत्त्व काल है। कुछ तत्त्वज्ञानी लोग काल को प्रकृति की ही एक अवस्था मानते है और कुछ तत्त्वज्ञानियों का मत यह है कि काल पुरुष अर्थात् ईश्वर का प्रभाव (पराक्रम) या शक्ति) है। अहंभाव में विमूढ़ होकर प्रकृति के वशीभूत जीव को इस काल से भय प्राप्त होता है; क्योंकि काल उसका संहार करता है। उस काल के दो कार्य हैं। वह संहार भी करता है और सृष्टि का कारण भी बनता है। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही जिसका रूप है, उस निर्विशेष प्रकृति में क्षोभ अर्थात् चेष्टा उत्पन्न करना उस भगवान की शक्ति काल का लक्षण है। भगवान अपनी माया से सब प्राणियों के भीतर पुरुष अर्थात् आत्मा के रूप से देह, इन्द्रिय आदि के संचालक होकर रहते है और बाहर कालरूप से सब का संचालन करते है। इस प्रकार प्रकृति के भेद चौबीस तत्त्व हैं। काल को अलग मानने से पचीस तत्त्व होते हैं। किन्तु यदि काल को प्रकृति या पुरुष के ही अन्तर्गत मान लें, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है तो चौबीस ही तत्त्व रहते है। जीव और ईश्वर को एक मानने से पुरुष को मिलाकर २५ तत्त्व होते है। यदि जीव और ईश्वर को अलग-अलग माना जाय तो २६ तत्त्व हो जाते हैं।

[अब पूर्वोक्त तत्त्वों की उत्पत्ति और लक्षण कहते हैं।] जीव के अदृष्ट ने जब प्रकृति के गुणों को क्षुब्ध किया, तब उस परमपुरुष ने अपनी योनि ( अर्थात अभिव्यक्ति के स्थान ) प्रकृति में अपने वीर्य ( अर्थात चित्‌शक्ति ) को स्थापित किया। तब उस प्रकृति ने हिरण्मय ( अर्थात बहुत प्रकाश से युक्त ) महत्तत्त्व को उत्पन्न किया। लय-विक्षेप-रहित उस जगत् के अंकुररूप महत्तत्त्व ने अपने मे सूक्ष्म रूप से स्थित विश्व ( अर्थात् अहंकार आदि प्रपंच ) को व्यक्त करने की इच्छा से अपने तेज के द्वारा उस घोर अन्धकार को पी लिया अर्थात मिटा दिया। वह तम महत्तत्त्व को सुलानेवाला था,अर्थात् प्रलयकाल में पहले उस अन्धकार ने महत्तत्त्व को प्रकृति मे लीन कर दिया था, निश्चेष्ट कर दिया था। सतोगुण-युक्त, स्वच्छ, शान्त ( रागद्वेषादि-शून्य ) चित्त ही महत्तत्त्व का स्वरूप है। उसी में भगवान् की उपलब्धि या अनुभव होता है, इसीसे उसे वासुदेव भी कहते हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि अधिभूतरूप से वही चित्त 'महत्तत्त्व' कहलाता है और अध्यात्मरूप से उसकी 'चित्त' संज्ञा है। उपास्यरूप से वासुदेव ही चित्त हैं। चित्त का अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा है। [ ऐसे ही आगे चलकर अहंकार के अधिष्ठाता रुद्र और उपास्य संकर्षण, मन के अधिष्ठाता चंद्रमा और उपास्य अनिरुद्ध तथा बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा और उपास्य प्रद्युम्न है, ऐसा जानना चाहिए।] स्वच्छता अर्थात् भगवान् के बिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति, अविकारी होना अर्थात् लय और विक्षेप का न होना और शान्तभाव ही चित्त का स्वरूप या लक्षण हैं। जैसे जल की असली प्रकृति फेन, तरंग आदि से रहित अवस्था है और पृथ्वी के संसर्ग से वही जल मीठा, स्वच्छ और शान्त ( ठंडा ) होता है, वैसे ही चित्त के भी वृत्तिभेद से ये भिन्न-भिन्न लक्षण हैं।

भगवान् के वीर्य से उत्पन्न इस चित्तरूप महत्तत्त्व में जब विकार हुआ, तब उससे कर्मशक्तिप्रधान अहंकार उत्पन्न हुआ। प्रकृति के गुणों के अनुसार उसके तीन भेद हैं। वैकारिक, तैजस, तामस अथवा सात्विक,

राजस, तामस। इसी त्रिविध अहंकार से मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और पंच महातत्त्वों की उत्पत्ति हुई। पंचतत्त्वों की तन्मात्रा ( विषय ) शब्द आदि, मन और इन्द्रियों का मुख्य प्रवर्त्तक अर्थात् अपने-अपने काम में लगानेवाला यह त्रिविध अहंकार ही है। इस अहंकार को ही पण्डितगण संकर्षण, सहस्र शिरवाला और अनन्त कहते है। यह अहंकार ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवतों के रूप से कर्त्ता, इन्द्रियरूप से करण और पंचतत्त्वरूप से काय है। सात्विक अहंकार का लक्षण शान्तता है, राजस अहंकार का लक्षण घोरता है, और तामस अहकार का लक्षण विमूढ़ता है।

वैकारिक अहंकार जब विकार को प्राप्त हुआ, तब उससे मन नाम के तत्त्व की उत्पत्ति हुई। संकल्प ( चिन्तन ) और विकल्प ( विशेष चिन्तन ) इसके कार्य है, जिनसे कामनारूप वृत्ति उत्पन्न होती है। इस मन को ही अनिरुद्ध कहते है। यह निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था में सब इन्द्रियों का स्वामी है। शरद्-ऋतु के नीलकमल के समान इसका श्याम वर्ण है। योगी लोग धीरे-धीरे अभ्यास से इसे वश करते है, क्योंकि यह अत्यन्त चंचल है।

इसी प्रकार तैजस अहंकार जब विकार को प्राप्त हुआ, तब उससे बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न हुआ। यह बुद्धि द्रव्य-स्फुरणरूप विशेष ज्ञान का स्वरूप है और सविकल्प ज्ञान की अवस्था म इन्द्रियों को अपने पीछे चलाती है। संशय, विपर्यास ( मिथ्या ज्ञान ), निश्चय ( प्रमाण-ज्ञान ), स्मृति और निद्रा*, ये पाँच द्रव्य-स्फुरण के प्रपञ्च वृत्तिभेद से अलग-अलग बुद्धि के कार्य या लक्षण हैं। हे माता, तैजस अहंकार से ही कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उत्पन्न हुई है। प्राण मे कर्मशक्ति और बुद्धि मे ज्ञानशक्ति है, इसलिए बुद्धि के तैजस होने के कारण उसकी ज्ञानशक्ति से युक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी तैजस अहंकार से उत्पन्न हुई हैं, वैकारिक अहंकार से नहीं।

इसी प्रकार तामस अहंकार जब विकार को प्राप्त हुआ, तब उससे शब्द उत्पन्न हुआ। उस शब्द से आकाश और शब्द को ग्रहण करनेवाली श्रोत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुई †। अर्थवाचकता और द्रष्टा के साथ दृश्य के संबंध का बोध कराना शब्द का लक्षण है। शब्द आकाश की तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म रूप है। यह भी शब्द का एक लक्षण है। इसी प्रकार सब तत्त्वों को अवकाश या आश्रय देना, उन तत्त्वों के गठन के लिए उनके भीतर और बाहर वर्त्तमान रहना, मन, प्राण, आत्मा आदि को स्थान देना ही आकाश के कार्य और लक्षण है। शब्द-गुणवाले आकाश मे जब कालगति से विकार उत्पन्न हुआ, तब उससे स्पर्श तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई। स्पश से वायु और स्पर्श को ग्रहण करनेवाली त्वक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई। कोमलता, कठिनता, शीतलता, उष्णता ही स्पर्श क स्वभाव-लक्षण है। स्पर्श-गुण का होना वायु का लक्षण है। हिलाना ( वृक्ष की शाखा आदि को ), मिलाना ( तृण आदि को ), सुगंध आदि को घ्राण इन्द्रिय तक उड़ाकर ले जाना, शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय तक पहुँचाना, शीतलता आदि का अनुभव त्वक् इन्द्रिय को कराना और प्राणवायुरूप से सब इन्द्रियों में चेष्टा बनाए रखना, ये सब वायु के कार्य है। स्पर्श-गुणवाले वायु मे जब काल की प्रेरणा से विकार हुआ, तब उससे रूप की उत्पत्ति हुई। फिर उससे तेज तत्त्व और चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। किसी वस्तु की आकृति का गठन, वस्तु के भेद का बोध या प्रत्यक्ष प्रतीति कराना‡, किसी पदार्थ का निश्चय कराना और तेज का तेजस्त्व

---

* यही बात पातजल योगशास्त्र भी कहता है। यथा—
"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।"

† यहां पर विषयों की उत्पत्ति क बाद तत्त्वों की उत्पत्ति जो कही गई है, उसका तात्पर्य यही है कि तत्त्वो का उनके विषयों से सम्बन्ध हुआ, न कि विषयों से पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए; क्योंकि पचतत्त्वों की उत्पत्ति तो पहले ही हो चुकती है।

‡ शब्द और स्पर्श अप्रत्यक्ष विषय हैं। उनकी प्रतीति अन्य प्रकार से हो जाती है। किन्तु रूप की प्रतीति उस प्रकार नहीं होती। इसीलिए रूप मे यह विशेषता बतलाई गई है।

अर्थात् असाधारणता दिखाना, ये रूप के स्वभाव-लक्षण हैं। प्रकाशित करना, पकाना, पचाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना, सुखाना, शीतलता को मिटाना, ये तेज के कार्य हैं। फिर काल की प्रेरणा से रूपगुणयुक्त तेज में जब विकार हुआ, तब उससे रस तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई। रस से जल और रस को ग्रहण करनेवाली जिह्वा इन्द्रिय उत्पन्न हुई। कसैला, नमकीन, मीठा, तीता, कड़वा, खट्टा ये रस के जो छः भेद देख पड़ते हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। रस वास्तव में एक ही है और वह मधुर रस है। भौतिक पदार्थों के संसर्ग से उसके पूर्वोक्त छः भेद हो जाते हैं। गीला करना, मिट्टी आदि को सानकर पिंड बना देना, तृप्ति देना, जीवन की रक्षा करना, प्यास को बुझाना, नरम कर देना और ताप को मिटाना, बारम्बार काम में लाने पर भी कुएँ आदि में बराबर बढ़ते रहना, ये जल के कार्य या लक्षण हैं। रसगुणयुक्त जल में जब काल की प्रेरणा से विकार हुआ, तब उससे गंध, गंधगुणयुक्त पृथ्वी और गंध को ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई। गंध गुण अर्थात् सूक्ष्म गंध एक ही है; किन्तु रस की तरह भौतिक पदार्थों के भेद से उसके भी अनेक भेद प्रतीत होते हैं—जैसे हींग आदि के मेल से व्यंजनों की मिश्रगंध, दुर्गन्ध, कपूर आदि की सुगंध, कमल आदि की शान्त गंध, लहसुन आदि की उग्र गंध, इमली आदि की खट्टी गंध। ब्रह्म की भावना अर्थात् प्रतिमा आदि के रूप से निराकार ब्रह्म की साकारता का संपादन, जल आदि अन्य तत्त्वों के आश्रय की अपेक्षा न करके स्थित रहना, और जल आदि तत्त्वों तथा मनुष्य आदि प्राणियों का धारण करना, आकाश आदि का अवच्छेदक होना और सब चराचर प्राणियों को और उनके पुरुषत्व आदि गुणों को परिणामविशेषों से प्रकट करना, ये पृथ्वी के कार्य और लक्षण हैं। शब्द आदि विषयों को ग्रहण करना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियों का लक्षण है। आकाश का गुण शब्द जिसका विषय है, वह श्रोत्र इन्द्रिय है। वायु का गुण स्पर्श जिसका विषय है, वह त्वक् इन्द्रिय है। तेज का गुण रूप जिसका विषय है, वह चक्षु इन्द्रिय है। जल के गुण रस का ज्ञान जो कराती है, वह रसना इन्द्रिय है। पृथ्वी के गुण गंध का अनुभव जिसके द्वारा होता है, वह घ्राण इन्द्रिय है। एक दूसरे का कारण होने से वायु आदि में अपने गुण के साथ ही अपने कारणरूप पहले के तत्त्व का भी गुण पाया जाता है। यही कारण है कि आकाश आदि चारों तत्त्वों के गुण या धर्म शब्द आदि भी पृथ्वी में मिलते हैं। इसे यों समझना चाहिए कि आकाश आदितत्त्व है, उसका कारण और कोई तत्त्व नहीं है, इसलिए उसका गुण केवल शब्द है। वायु आकाश से उत्पन्न है, इसलिए उसमें आकाश का गुण शब्द और अपना गुण स्पर्श है। इसी प्रकार तेज में अपना गुण रूप और शब्द और स्पर्श गुण भी हैं। जल में अपना गुण रस तथा शब्द, स्पर्श, रूप गुण भी हैं। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और अपना गुण गन्ध है।

इस प्रकार मूल कारण-तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाकर अब उनके कार्य की उत्पत्ति कहते हैं। ये महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतत्त्व, सातों अलग-अलग रहकर सृष्टिकार्य को न कर सके, तब जगत् के स्रष्टा आदि-पुरुष ईश्वर ने काल, कर्म और गुण से युक्त होकर इनमें प्रवेश किया। उस समय इन तत्त्वों में क्षोभ या चेष्टा उत्पन्न हुई, जिससे एक अचेतन अण्ड या पिण्ड बन गया। इस अण्ड का नाम 'विशेष' है; क्योंकि इसमें सब तत्त्वों की अपेक्षा पृथ्वी का अंश विशेष था। इसी अण्ड से यह विराट् पुरुष प्रकट हुआ। इस अण्ड को बाहर से जल, अग्नि, वायु, मन, अहंकार और महत्तत्त्व, ये प्रधान प्रकृति के आवरण रे हुए हैं। जल आदि उत्तरोत्तर दसगुने बड़े परिमाण में हैं। अर्थात् जल से दसगुना तेज, तेज से दसगुना वायु, वायु से दसगुना आकाश इत्यादि। इसी अण्ड मे भगवान हरि के रूप इस त्रिभुवन की कल्पना या विस्तार है।

जल में शयन कर रहे उस हिरण्मय अर्थात् प्रकाशमान अण्डकोप में अधिष्ठित महादेव अर्थात सबके

प्रकाशक, सबमें सजीवता लानेवाले ईश्वर ने अपनी निश्चेष्टता छोड़कर विविध चेष्टाएँ करने के लिए उस अपने अधिष्ठान अण्ड में अनेक छिद्र फोड़ दिये। पहले उस अण्ड में मुख का छिद्र प्रकट हुआ। उससे वाणी उत्पन्न हुई। उसमें वाक् इन्द्रिय के साथ अग्नि देवता ने प्रवेश किया। फिर नाक के दो छेद प्रकट हुए। उनमें प्राणवायु से युक्त घ्राण इन्द्रिय के साथ प्राणयुक्त अधिष्ठाता देवता * वायु ने प्रवेश किया। फिर दो आँखों के गोलक प्रकट हुए। उनमें देखनेवाली चक्षु इन्द्रिय के साथ अधिष्ठाता देवता सूर्य का तेज अधिष्ठित हुआ। फिर कानों के छेद प्रकट हुए। उनमें शब्द को सुननेवाली श्रोत्र इन्द्रिय स्थित हुई और अधिष्ठाता देवता के रूप में दिशाएँ प्रकट हुईं। फिर विराट् के शरीर में त्वचा उत्पन्न हुई। उसमें त्वक् इन्द्रिय प्रकट हुई और अधिष्ठाता देवता के रूप में ओषधियाँ अधिष्ठित हुईं। उसी त्वचा में रोएँ, सिर के और दाढ़ी-मूछ के बाल निकले। फिर शिश्न या लिंग प्रकट हुआ। उसमें वीर्य इन्द्रिय ( रतिशक्ति ) और जल देवता अधिष्ठित हुए। फिर गुदा का छिद्र प्रकट हुआ। उससे अपान इन्द्रिय ( मलत्याग आदि कर्म ) और लोक-भयंकर मृत्यु देवता का आविर्भाव हुआ। फिर हाथ निकले। उनमें बल नाम की इन्द्रिय ( शक्ति ) के साथ इन्द्र देवता अधिष्ठित हुए। फिर पैर प्रकट हुए। उनमें गति इन्द्रिय के साथ विष्णु देवता अधिष्ठित हुए। फिर उस अण्ड-शरीर में नाड़ियाँ या नसें प्रकट हुईं। उनमें रक्त के स्रोत को बहाने की शक्ति ( इन्द्रिय ) और नदियाँ ( देवता ) अधिष्ठित हुईं। फिर उदर या पेट प्रकट हुआ। उसमें भूख-प्यास और समुद्र ( देवता ) अधिष्ठित हुआ। फिर विराट् के हृदय प्रकट हुआ। उसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-नामक चार वृत्तियों या अवस्थाओं का अर्थात् अन्तःकरण का आविर्भाव हुआ। मन में आनन्दशक्तिरूप चंद्रमा, बुद्धि में संकल्पकर्त्ता ब्रह्मा, अहंकार में तमोगुणी रुद्र और चित्त में क्षेत्रज्ञ ( आत्मा ), ये देवता ( इन वृत्तियों के प्रकाशक ) अधिष्ठित हुए।

अब अन्वय और व्यतिरेक, दोनों प्रकार से क्षेत्रज्ञ आत्मा का विवेचन करने के लिए सब देवतों का अपने अधिष्ठान-स्थानों में प्रवेश कहते हैं। ये सब अधिष्ठाता देवता चेष्टा करके भी जब विराट् शरीर को नहीं उठा सके, अर्थात् सचेष्ट नहीं कर सके, तब फिर उसे उठाने के लिए अपनी-अपनी शक्ति या इन्द्रिय के साथ अपने-अपने अधिष्ठान मुख आदि छिद्रों में उन्होंने प्रवेश किया। अग्नि ने वाक् इन्द्रिय द्वारा मुख में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा †। वायु ने घ्राण इन्द्रिय द्वारा नासिका के छेदों में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। सूर्य ने चक्षु इन्द्रिय के साथ आँखों में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। दिशाओं ने श्रोत्र इन्द्रिय के साथ कानों में प्रवेश किया; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। ओषधियों ने रोमों के द्वारा त्वचा में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। जल ने वीर्य के साथ शिश्न में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। मृत्यु ने अपान के साथ गुदा में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। इन्द्र ने बल के साथ हाथों में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। विष्णुदेव ने गति के साथ पैरों में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। नदियों ने रक्तप्रवाह के साथ नाड़ियों में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। समुद्र ने भूख-प्यास के साथ उदर में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। चंद्रमा ने मन के साथ हृदय में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। ब्रह्मा ने बुद्धि के साथ हृदय में प्रवेश किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। रुद्र ने अहंकार के साथ हृदय में प्रवेश

---

* अधिष्ठाता देवता से तात्पर्य यह है कि उसी की सहायता से वह इंद्रिय अपना काम करती है। जैसे सूर्य की सहायता से ही देखने का कार्य होता है। वाणी की उत्पत्ति भीतर स्थित अग्नि से ही होती है।

† अर्थात् नहीं बोला। इसी प्रकार सर्वत्र 'नहीं उठा' का अर्थ यही समझना चाहिए कि उसकी वह इंद्रिय अपना काम नहीं कर सकी, अर्थात् विराट् शरीर में सजीवता नहीं आई।

किया ; पर विराट् पुरुष नहीं उठा। हे माता, अन्त को चित्त के अभिमानी क्षेत्रज्ञ आत्मा ने चित्त के साथ हृदय में प्रवेश किया, तब वह विराट पुरुष जल के भीतर से उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार विराट् पुरुष के समष्टि देह का वर्णन करके उसके व्यष्टि शरीर का दृष्टान्त देकर सांख्य के अनुकथन का प्रयोजन कहते हैं कि जैसे सोए हुए पुरुष को प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि शक्तियाँ क्षेत्रज्ञ ( शरीर के कर्मों के साक्षी ) आत्मा के बिना नहीं जगा सकतीं, वैसे ही ये सब देवता अपनी शक्तियों के द्वारा विराट् पुरुष के समष्टि शरीर को नहीं उठा सके। वही क्षेत्रज्ञ आत्मा चित्त का अधिष्ठाता, सबका नियामक भगवान् और अपनी इच्छा से सर्वत्र व्याप्त है। हे माता, आप उसी का चिन्तन करें। अर्थात् पहले परमेश्वर में भक्ति करें। उससे अन्य विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा। तब योग के द्वारा चित्त को एकाग्र करने से जो ज्ञान होगा, उससे क्षेत्रज्ञ आत्मा की पूर्वोक्त प्रकार से इस कारण-कार्य-समष्टि मे विवेचना करके हृदय में उसका चिन्तन कीजिए। ऐसा करने से फिर आपको मोह न होगा। मुक्ति हो जायगी।

# सत्ताईसवाँ अध्याय

## प्रकृति और पुरुष की विवेचना से मोक्ष पाने की रीति का वर्णन

श्री कपिलदेवजी कहते हैं—हे माता, यह पुरुष (आत्मा) परमात्मा का रूप होने के कारण निर्गुण है, इसी से यह न तो कुछ करता है और न इसकी विकृति होती है। यह निर्विकार आत्मा केवल साक्षीरूप से इस प्रकृति की उपाधि शरीर में स्थित है और जैसे पानी में प्रतिबिम्ब पड़ने से जल में स्थित जान पड़ रहा सूर्य उसमें लिप्त नहीं होता, अर्थात् चंचलता, हिलना आदि जल के धर्म प्रतिबिम्ब में दिखाई पड़ने पर भी वास्तविक सूर्य को नहीं व्यापते, वैसे ही शरीर में स्थित आत्मा भी प्राकृत गुण अर्थात् प्रकृतिनिर्मित शरीर-गत सुख-दुःख आदि में लिप्त नहीं होता। यह तो उसकी वास्तविक स्थिति है। किन्तु वही जब प्रकृति के चौबीस गुणों ( सात्विक मन आदि, राजस इन्द्रिय आदि और तामस शब्द आदि ) में आसक्त होकर अहंकार के कारण विमूढ़ बन जाता है, तब अपने ही को प्रकृतिकृत कार्यों का करनेवाला मान बैठता है। यही इसके संसार-बन्धन का मुख्य कारण है। इसी अहंभाव के कारण विवश होकर इसे प्रकृति के संग से प्राप्त कर्मों के अनुसार सत् ( देवता ), असत् ( तिर्यक्योनि, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि ) तथा मिश्र ( मनुष्य ) आदि विविध योनियों में जाकर जन्म-मरण के दुःख भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि इस भ्रम से आत्मा का उद्धार किये बिना संसार ( जन्म-मरण के चक्र ) की निवृत्ति नहीं होती। जैसे स्वप्न मिथ्या होता है, परन्तु उसी स्वप्न की अवस्था में जैसे सिर का कटना आदि अनिष्ट घटनाओं को देखकर उन्हें सत्य मानकर लोग दुःख का अनुभव करते हैं, वैसे ही संसार मिथ्या है, उसके सुख-दुःख भी वास्तविक नहीं हैं; किन्तु संसार के विषयों का ध्यान जो किया करता है, उनमें आसक्त रहता है, वह भ्रमवश संसार को सत्य मानकर उससे मिलनेवाले दुःखों को भोगता है*। ऐसी अवस्था मे जब तक उसे आत्म-विवेक

* स्वप्न एक ऐसी आच्छन्न अवस्था है, जिसमे मिथ्या भी सत्य-सा जान पड़ता है। वैसे ही प्रकृति के संगवश अहंभावकृत संसार ( जन्म-मरण ) भी ऐसी अवस्था है, जिसमें सुख-दुःख के भोग मिथ्या ( अर्थात् शरीर को ) होने पर भी देहाभिमान के कारण उन्हे सत्य ( अर्थात् अपने को ) मानकर आत्मा भोगता है। भोग का अर्थ है विषयों का उपभोग। उदाहरणस्वरूप रति को ही ले लीजिए। रति केवल पुत्र उत्पन्न करने के लिए होनी चाहिए। यह भोग कर्त्तव्य कहलाता है। कर्त्तव्य की सीमा को छोड़कर उस भोग मे आसक्त हो जाना ही मोह है। वही मिथ्या भोग कहलाता है। इस मिथ्या भोग के द्वारा विषयों मे मन के आसक्त होने पर आत्मा भी आसक्त हो जाता है। कर्त्तव्यभोग करनेवाला अनासक्त होने के कारण शीघ्र अपना उद्धार कर सकता है।

नहीं होता, तब तक संसार की निवृत्ति भी नहीं होती। तात्पर्य यह कि विषय-भोग न करके भी विषयों का ध्यान करते रहने से संसार की निवृत्ति नहीं होती।

विषयों का चिन्तन ही सारे अनर्थ की जड़ है। इसलिए पहले उस मन को अपने वश में करना चाहिए। हे माता, इन्द्रियभोग्य विषयों में आसक्त मन को दृढ़ भक्ति और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे उधर से हटाकर अपने वश करना चाहिए। [अब भक्ति और वैराग्य के दृढ़ होने के उपाय बतलाते हैं।] यम, नियम, प्राणायाम आदि योग-मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धा के साथ मुझमें निष्कपट प्रेम बढ़ावे। यह प्रेम मेरी कथाएँ सुनने से प्राप्त होता है। सब प्राणियों को एक दृष्टि से अपने ही समान देखे। किसी से वैर न करे। असत्संग से दूर रहे। ब्रह्मचर्य का पालन करे। मौन रहे अर्थात् प्रयोजन भर ही बोले। अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करके उसका फल ईश्वर को अर्पण कर दे, अथवा ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही उसका आचरण करे। जो कुछ आप से अन्न-वस्त्र मिल जाय, उसी में सन्तोष करे अथवा जो सुख या दुःख प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट रहे। सुखी या दुःखी न हो। थोड़ा आहार करे, जिससे योगाभ्यास में विघ्न न पड़े और शरीर नीरोग रहे। मुनिव्रत ग्रहण करके एकान्त स्थान में रहे। शांत अर्थात् स्वस्थचित्त या एकाग्र रहे अथवा अपने से उत्कृष्ट लोगों से ईर्षा न रक्खे, समान लोगों से मित्रता का भाव रक्खे और अपने से अपकृष्ट या दीन-हीन लोगों पर दया रक्खे। धीरभाव से आत्मचिन्तन में लगा रहे। प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को दिखानेवाले ज्ञान को प्राप्तकर उसके द्वारा इस शरीर और उसके साथी स्त्री-पुत्र आदि में "मैं हूँ, मेरा है" इस असत् आग्रह को छोड़ दे। बुद्धि की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं को निवृत्त करके इनसे अतीत "तुरीय" अवस्था में स्थित हो। अपने से भिन्न और कुछ न देखे, अर्थात् सबमें अपने को और अपने में सबको देखे। तब वह तत्त्वदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को उसी प्रकार देख पाता है, जिस प्रकार चक्षु में स्थित उसके अधिष्ठाता सूर्य ( अर्थात् ज्योति ) से आकाश के सूर्यबिम्ब को देखते हैं। [इसका तात्पर्य यही है कि जैसे नेत्रों की ज्योति से आकाशस्थित सूर्य की प्राप्ति होती है, वैसे ही इन उपायों से अहंकारयुक्त सोपाधि आत्मा में ही परमात्मा की उपलब्धि होती है। सबका सारांश यह हुआ कि यम आदि के अभ्यास से, योगाभ्यास द्वारा, मन को वश और एकाग्र करके उससे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करो, और फिर उसी आत्मा के द्वारा सबमें अनुस्यूत ( प्रविष्ट ) सर्वव्यापी, अद्वितीय परमात्मा को पा जाओगी।]

हे माता, इस अवस्था में पहुँचकर साधक व्यक्ति उस ब्रह्म को पा जाता है, जो प्रकृति की उपाधि लिंग-शरीर से मुक्त रहता है, जो असत् अर्थात् मिथ्या अहंभाव में सत्रूप से भासित होता है, जो सत् अर्थात् कारण-रूप अनादि 'प्रधान' प्रकृति का आधार है, जो नेत्र की भाँति असत् अर्थात् प्रकृति के प्रपंच का प्रकाशक है, जो कारण ( प्रधान तत्त्व प्रकृति ) और कार्य ( उसके प्रपंच ) में वैसे ही अनुस्यूत है जैसे माला में सूत्र, और जो अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है।

[अब दृष्टान्त के द्वारा अहंकारयुक्त अर्थात् देहाभिमानी आत्मा से शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति बतलाते हैं।] सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ने पर उसका आभास या चमक जब किसी पास की दीवाल आदि में चमकती है, तब उस घर में रहनेवाले लोग पहले दीवाल में प्रतिबिम्ब का आभास देखकर यह विचारते हैं कि यह चमक कहाँ से आई और उस समय उनकी दृष्टि पानी में पड़नेवाले सूर्य के प्रतिबिम्ब पर जाती है। इसके उपरान्त जल के प्रतिबिम्ब द्वारा उनका ध्यान आकाश के सूर्यबिम्ब की ओर जाता है और उसको वे देख पाते हैं। इसी प्रकार पहले देह, इन्द्रिय और मन में ब्रह्म का आभास देखकर उसके द्वारा अहंकार में ब्रह्म की सत्ता का अनुभव होता है और फिर उसके द्वारा साक्षीरूप परमात्मा परब्रह्म की उपलब्धि होती है। [ इसका भावार्थ यह है कि उस ब्रह्म के तीन आवरण या आधार हैं। एक आवरण इन्द्रिय, मन, देह आदि

हैं और दूसरा आवरण अहंकार है। इन्द्रियमय देह में आत्मा का तेज जितना है, उसकी अपेक्षा अहंकार या चैतन्यमय देह मे उससे अधिक है। तीसरा आवरण प्रकृति है। आत्मा की पूर्ण ज्योति प्रकृति मे ही पूर्ण रूप से देख पड़ती है, जैसे आकाश में सूर्य। क्रमशः पहले आत्मा ( ब्रह्म ) के प्रतिबिम्ब को देह, इन्द्रिय आदि में देखे, फिर आत्मा की सत्ता को अहंकार ( मैं हूँ—इस भावना ) में देखे; क्योंकि अहंकारस्थ आभास के बिना विषयाभास की उत्पत्ति नही होती। इसके बाद साधक स्वाभाविक प्रकृति से आवृत आत्मा के दर्शन पाता है और फिर उसे उसी के द्वारा शुद्ध ब्रह्म के दर्शन होते है। ]

[ अब सुषुप्ति अवस्था के साक्षीरूप में शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करते है। ] सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जब निद्रा की अवस्था में असत्-तुल्य अव्याकृत प्रकृति मे लीन ( जड़ता को प्राप्त, निश्चेष्ट ) हो जाते है, अर्थात् ये तत्त्व रहने पर भी न रहने के समान अपना-अपना काम नहीं करते, तब जो कर्त्ता होने के अहंकार से रहित होकर जागता रहता है, वही आत्मा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वह जागता रहता है तो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं मे जैसे स्पष्ट भासित होता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्था मे भी क्यों नही भासित होता है ? इसी शंका का समाधान करते हैं कि पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं मे तो वह विषयों को देखनेवाला होता है, इसलिए द्रष्टा अर्थात् साक्षी के रूप में सविकल्प भाव से उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है; किन्तु सुषुप्ति में अहंकार के विषय पंचतन्मात्रा, इंद्रिय आदि के लीन हो जाने से उनका अहंभाव अर्थात् "मैं हूँ, मेरा है" यह भाव भी नष्ट हो जाता है, और तब वह आत्मा स्वयं नष्ट न होकर भी उनके नाश से झूठ ही अपने को भी नष्ट-सा मान लेता है और नष्ट-सा हो जाता है। इसी से सुषुप्ति अवस्था मे उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। और के नाश से अपने नाश की प्रतीति को दृष्टान्त देकर समझाते हैं—जैसे किसी का धन जब नष्ट हो जाता है, तब वह शोकाकुल होकर यह समझने लगता है कि मानो उसी का नाश हो गया। वह कहता है—हाय, मैं मर गया !

यदि कहो कि सुषुप्ति में कुछ भी अनुभव नहीं होता, तो यह बात नही है। "मैं आज खूब सोया" इस प्रकार का विशेष ज्ञान या अनुभव अवश्य होता है और उसी से उस केवल आत्मा का पता चलता है। अगर कहो कि "मै आज खूब सोया" इसमें तो अहंभाव से युक्त प्रतीति है, फिर कैसे कहते हो कि सुषुप्ति में अहंभाव नष्ट हो जाता है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह केवल आत्मा ही कार्य-कारण के समूह का, जो कि साहंकार पदार्थ है, प्रकाशक और आधार है। तात्पर्य यह कि अहंकार भी एक तत्त्व और दृश्य है, इसलिए उस अहंकार का द्रष्टा या साक्षी आत्मा उससे अलग है और इसीलिए सुषुप्ति मे "मैं आज खूब सोया" इस साहंकार अनुभूति का साक्षी आत्मा जागता रहता है, यह मानना पड़ता है।

देवहूतिजी ने कहा—भगवन, प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं। दोनों परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा भी रखते है; क्योंकि पुरुष के बिना प्रकृति को स्वरूप का लाभ नहीं होता और प्रकृति के बिना पुरुष की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस कारण प्रकृति पुरुष को कभी नहीं छोड़ती और पुरुष अकर्त्ता, उदासीन होने के कारण 'छोड़ना' आदि क्रियाओं का कर्त्ता नहीं हो सकता। तब भक्ति और विरक्ति के द्वारा आत्मा का विवेक होने पर भी मुक्ति कैसे हो सकती है ? जैसे भूमि और गंध या जल और रस एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते, एक साथ ही रहते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष भी एक दूसरे से अलग होकर नहीं रह सकते। अकर्त्ता पुरुष को जिन प्रकृति के गुणों के आश्रय से यह कर्म-बन्धन होता है, उन गुणों के बने रहने पर पुरुष की मुक्ति या पुरुष का केवल अर्थात् अकेला रह जाना कैसे संभव है ? इसीलिए संसार का भय यदि कभी तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्त भी हो जाय तो जब तक उस संसार-भय का कारण निवृत्त नहीं होता, अर्थात् प्राकृतिक गुणों के प्रपञ्च का नाश नहीं होता, तब तक वह संसार-भय फिर आकर उपस्थित हो जाता है।

कपिलजी ने कहा—माता, यह बात नहीं है। प्रकृति का केवल संबंध ही बंधन का कारण नहीं है, किन्तु सतोगुण आदि प्राकृतिक गुणों के विषयों मे आसक्ति ही बंधन में डालती है। उस आसक्ति के न रहने पर मोक्ष हो जाती है। जैसे अग्नि लकड़ी से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे उसे जला देता है, वैसे ही निष्काम धर्म के आचरण, निर्मल मन, मेरी कथा सुनते रहने से परिपुष्ट मेरी भक्ति, तत्त्वज्ञान, प्रबल वैराग्य, तपस्यासहित योग और निरन्तर आत्मचिन्तन के द्वारा दिन-रात जलते-जलते अर्थात् क्षीण होते-होते, परास्त होते-होते किसी समय यह प्रकृति पूर्ण रूप से अदृश्य हो जाती है। जब पुरुष प्रकृति के भोग भोगकर विरक्त हो जाता है और तत्त्वज्ञान के द्वारा उसके दोषों को देखकर उन पर सदा लक्ष्य रखता है, तब उस स्वतंत्र और अपने आनन्दरूप मे अवस्थित पुरुष की त्यागी हुई यह प्रकृति फिर उसे मोह में नहीं फँसा सकती, उसके लिए संसार का भय नहीं उपस्थित कर सकती। अविवेक की अवस्था में संसाररूप अनर्थ का कारण होने पर भी विवेक हो जाने के उपरान्त फिर यह प्रकृति कुछ अनर्थ नहीं कर सकती, इस बात को अब दृष्टान्त देकर समझाते है। जैसे निद्रा की अवस्था मे मनुष्य को अनेकों अनर्थ होने के सपने देख पड़ते है और वह उनसे दुःख-कष्ट भी पाता है, किन्तु जाग जाने पर पूर्वसंस्कारवश वे स्वप्न के अनर्थ याद आने पर भी दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाते, वैसे ही जिसने तत्त्व अर्थात् अपने रूप को जान लिया है और जो मुझ परमेश्वर में योगाभ्यास के द्वारा मन लगा चुका है, उस आत्मा में रमनेवाले पुरुष का यह प्रकृति फिर कुछ भी अपकार नहीं कर सकती, उसको हानि नहीं पहुँचा सकती।

इस प्रकार जब जन्म-जन्मांतर की साधना से अध्यात्मनिरत पुरुष को ब्रह्मलोक तक के सभी ऐश्वर्यों की इच्छा नहीं रह जाती, सर्वत्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब वह आत्मतत्त्व का ज्ञाता मेरा भक्त मेरी परमकृपा से कैवल्यमोक्ष प्राप्त करता है, मुझमें लीन हो जाता है। वह देह आदि से रहित ज्योतिर्मयस्वरूप है। वह सबसे बढ़कर आनन्द है। आत्मज्ञान से सब मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाने पर लिंगशरीर ( वासनामय सूक्ष्म शरीर ) छोड़कर योगी उस गति को शीघ्र प्राप्त कर लेता है। उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

यह सिद्धावस्था है। यह अवस्था प्राप्त होने के समय अणिमा आदि योग की सिद्धियाँ ( ऐश्वर्य ) विघ्न डालने के लिए आप से उपस्थित होती हैं। परन्तु वह योगी इन्हे स्वीकार नहीं करता। वह अपने मन मे सोचता है कि मै इन तुच्छ ऐश्वर्यों मे लुभाकर अपने को योगभ्रष्ट नहीं करूँगा। मेरा तो लक्ष्य वह परमगति है, जिसके उपरान्त फिर और कहीं नही जाना पड़ता और न मृत्यु का उपहास सहने की आवश्यकता होती है अर्थात् जन्म-मृत्यु का भय नहीं है। तात्पर्य यह कि सब विघ्न-बाधाओं से बचने पर इस प्रकार मेरा परमपद या कैवल्यमोक्ष प्राप्त होती है।

# अट्ठाईसवाँ अध्याय

## अष्टांग योग का वर्णन

[भक्ति, तत्त्वज्ञान और योग, इन तीनों मुक्ति के उपायों का पहले संक्षेप में वर्णन किया, फिर विस्तार से सांख्यतत्त्व का ज्ञान कराया। अब इस अध्याय में अष्टांग योग का वर्णन करते हैं।]

श्रीकपिलदेवजी ने कहा—माता, अब मैं बीज अर्थात् आलंबन* सहित योग का लक्षण कहता हूँ।

* आलबन का अर्थ है आश्रय। बिना किसी वस्तु का आश्रय लिये मन को वश मे किया नहीं जा सकता। इसलिए आलंबन की आवश्यकता होती है। वह आलंबन ( यहा विष्णु भगवान् के रूप का ध्यान ) आगे बतलाया जायगा।

इस योग का अभ्यास करने से यह मन प्रसन्न, निर्मल अथवा एकाग्र होकर ब्रह्म के मार्ग में जाता है। [अब योग के पहले और दूसरे अंग, यम और नियम, का वर्णन करते हैं।] यथाशक्ति श्रद्धा के साथ अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का आचरण करना; विधर्म अर्थात् विरुद्ध या निषिद्ध कर्म से निवृत्त होना; प्रारब्ध अथवा दैव के द्वारा जो कुछ प्राप्त हो, उसी में संतोष करना; आत्मा के तत्त्व को जाननेवाले महापुरुषों के चरणों की सेवा करना; धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग के साधनों अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग को छोड़ देना; मोक्षधर्म अर्थात् निवृत्तिमार्ग में मन लगाना; शुद्ध और मित भोजन* करना; बाधारहित निर्जन स्थान में रहना; मन, वाणी और माया से अहिंसाव्रत का पालन; सत्य बोलना; अस्तेय (अन्याय के द्वारा पराया धन या वस्तु न लेना); जितनी आवश्यक हो, उतनी ही वस्तु का संग्रह करना; ब्रह्मचर्य (अष्टांग मैथुन† का त्याग का) पालन करना; तपस्या करना; शौच (भीतरी और बाहरी पवित्रता से रहना); स्वाध्याय (नित्य नियम के साथ वेद का पाठ और शास्त्रों का अध्ययन करना); विष्णु भगवान् की पूजा करना; मौन (प्रयोजन से अधिक न बोलना)—ये यम और नियम हैं। फिर आसन को वश में करके स्थिर होकर एक आसन से यथेष्ट समय तक बैठने का अभ्यास करना चाहिए। यह योग का तीसरा अंग है। फिर क्रमशः प्राणवायु अर्थात् श्वासा को रोकने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया को प्राणायाम कहते है। यह योग का चौथा अंग है। फिर मन के द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियों को उनके रूप आदि विषयों से खींचकर उन्हें अन्तर्मुखी करना चाहिए। इसका नाम प्रत्याहार है। यह योग का पाँचवाँ अंग है। फिर मूलाधार आदि प्राण के स्थानों में से किसी एक स्थान में मन के साथ प्राण को धारण करना चाहिए। इसका नाम धारणा है। यह योग का छठा अंग है। फिर मन में भगवान् विष्णु की लीलाओं का ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान योग का सातवाँ अंग है। फिर अन्त में आत्मा को परमात्मा में एकाकार करके देखना चाहिए, अर्थात् समाधिस्थ हो जाना चाहिए। यह समाधि योग का आठवाँ अंग है। इन सब उपायों के अतिरिक्त व्रत, दान आदि अन्य उपाय भी करते रहना चाहिए। इस प्रकार प्राणवायु को जीतकर, आलस्य छोड़कर, बुद्धि की सहायता से धीरे-धीरे, इस विषयासक्त, चंचल, दुर्जय मन को अपने वश में लाकर एकाग्र किया जा सकता है। साधक योगी को इसी प्रकार योग की साधना करनी चाहिए।

[अब प्राणायाम आदि की विधि बतलाते हैं।] हे माता, पहले आसन को जीतकर योगी को चाहिए कि किसी पवित्र और एकान्त स्थान में आसन बिछावे। इसका क्रम यह है कि सबके नीचे कुशासन, उस पर मृगछाला और उस पर ऊन या वस्त्र बिछावे उस पर सुखपूर्वक स्वस्तिकासन से बैठे‡। शरीर

---

* मित भोजन का लक्षण यह है:— द्वौ भागौ पूरयेदन्नैः तोयेनैकं प्रपूरयेत।
मारुतस्य प्रचारार्थं, शेषमेवं चावशेषयेत्॥

पेट के दो भाग अन्न से और एक भाग जल से पूर्ण करे। शेष एक भाग वायु के आने-जाने के लिए खाली रक्खे। ऐसा करने से स्वास्थ्य ठीक रहता है और आलस्य भी नहीं आता। इसी कारण योगाभ्यासी के लिए मित भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है।

† मैथुन के आठ अंग ये हैं— स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणंगुह्यभाषणम्।
एतन्मैथुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिणः॥

अर्थात् स्त्री का स्मरण और कीर्त्तन करना, उसके साथ केलि (रति) करना, उसे देखना, एकान्त में उससे बातचीत करना, ये मैथुन के आठ अग विद्वानों ने माने हैं।

‡ ऊरुओं को जाघ के भीतर और पाँवों के अग्रभाग को जानु के भीतर करके जो योगी की बैठक होती है, उसे स्वस्तिकासन कहते है। यथा— ऊरू जघान्तराधाय पादाग्रे जानुमध्यमे।
योगिनो यदवस्थान स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः॥

को सीधा या तना हुआ रखकर प्राणायाम का अभ्यास करे। पूरक, कुंभक और रेचक* प्राणायाम के अनुलोम या प्रतिलोम† क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध कर ले कि वह अपने दोष (चंचलता) को छोड़कर बिलकुल शान्त हो जाय, अर्थात् एक बार स्थिर होकर फिर न उचट जाय। जिस प्रकार हवा और आग के ताव से सुवर्ण का मैल जल जाता है और वह खरा निकल आता है, उसी प्रकार बार-बार प्राणायाम करके श्वासा को वश में कर लेने से योगी का चित्त भी शीघ्र ही निर्मल हो जाता है, उसके सब विकार दूर हो जाते हैं। प्राणायाम आदि योग के और अंग समाधि के द्वार हैं। पहले प्राणायाम के द्वारा कफ, पित्त आदि देह के दोषों को जलावे, फिर धारणा अर्थात् वायु के साथ ही मन को स्थिर करके विषय-वासना को नष्ट करे। इसके उपरान्त प्रत्याहार अर्थात् सब विषयों से चित्त को हटाकर ईश्वर के ध्यान अथवा चिंतन में लगाकर विषयों के संसर्ग को मिटा दे। फिर ध्यान के द्वारा राग-द्वेष आदि से रहित बने। चित्त की वृत्ति का निरोध समाधि है। जब इस प्रकार अष्टांग योग के द्वारा मन स्थिर हो जाय, तब नाक की नोक में दृष्टि स्थिर रखकर चित्त के लय और विक्षेप का परिहार करने के लिए इस प्रकार अपने हृदय में ही भगवान् की सुन्दर मूर्त्ति का ध्यान करे।

अपने हृदय में ध्यान करे कि भगवान् का मुखारविन्द प्रसन्नता के भाव से परिपूर्ण है। दोनों नेत्र विशाल और कमलदल के समान लाल हैं। शरीर का रंग नील इंदीवर कमल के समान श्याम है। चार भुजाएँ हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा और लीला-कमल शोभायमान है। उनकी रेशमी धोती और उत्तरीय कमलकिंजल्क के रंग का अर्थात् पीला है। वक्षःस्थल मे श्रीवत्स (भृगु के चरण का चिह्न) शोभायमान है। गले में कौस्तुभमणि चमक रही है। हृदय में वनमाला विराजमान है। वनमाला पर महक से मस्त भौंरे गुंजार कर रहे है। हृदय, हाथ, मस्तक, बाहु, चरण आदि अंगों में बहुमूल्य जड़ाऊ हार, वलय, किरीट, अंगद, नूपुर आदि आभूषणों की अपार शोभा मन को मोह रही है। कमर में करधनी की लड़ें पड़ी हुई नितम्बस्थल को अलंकृत कर रही हैं। भक्तों का हृदयकमल ही भगवान् के विराजमान होने का सिंहासन है। भगवान का शान्त रूप सब दर्शनीय वस्तुओं से बढ़कर है। उसे देखकर भक्तों के नेत्र और मन कृतार्थ हो जाते हैं। उनकी किशोरावस्था है। उनकी झाँकी परमसुन्दर है। भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह करने में तत्पर देख पड़ते हैं। उनका यश परमपावन और कीर्त्तनीय है। वह ध्रुव, बलि, प्रह्लाद आदि अपने पुण्यश्लोक भक्तों की कीर्त्ति को बढ़ानेवाले हैं। भगवान् के संपूर्ण अंगों की अर्थात् समग्र मूर्त्ति की इस प्रकार अपने मन में कल्पना करके जब तक मन लगे, उसमें एकाग्र रहे, तब तक साधक को नित्य उसका ध्यान करना चाहिए। हे माता, इस प्रकार से शुद्ध भाव से युक्त मन से सबके अन्तर्यामी भगवान् हरि की मूर्त्ति का ध्यान (बैठी हुई, टहल रही या लेटी हुई, जैसी इच्छा हो वैसी स्थिति में) करे। भगवान की सभी चेष्टाएँ या लीलाएँ मनोहर हैं। इस प्रकार जब भगवान् की समग्र मूर्त्ति में मन लग जाय, तब उसे क्रमशः अलग-अलग एक-एक अंग के ध्यान में लगावे ‡।

[अब अलग-अलग प्रत्येक अंग का ध्यान कहते हैं।] सबके पहले भगवान के चरणारविन्दों का ध्यान

---

* नासिका के छेदों से बाहर के वायु को खींचकर भरना 'पूरक', उस वायु को भीतर रोकना 'कुंभक' और बाहर निकाल देना 'रेचक' कहलाता है।

† 'अनुलोम' सीधे क्रम को और 'प्रतिलोम' उलटे क्रम को कहते है। पहले पूरक, फिर कुंभक और फिर रेचक यह अनुलोम हुआ, और पहले रेचक, फिर कुंभक और फिर पूरक, यह प्रतिलोम। या इड़ा से वायु भरकर पिंगला से निकालना और पिंगला से भरकर इड़ा से निकालना क्रमशः अनुलोम और प्रतिलोम होगा।

‡ कारण, लिखा हुआ है कि समग्र मूर्त्ति का एक साथ ध्यान करने में अशक्त हो तो एक-एक अंग का ध्यान करना चाहिए। यथा—
सर्वं स्मर्त्तुमशक्तः सन्नेकांग चिन्तयेद् बुधः

करे, कि उनमें ऐश्वर्य के सूचक वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों की रेखाएँ शोभायमान हैं। उनके उभरे हुए गोल-गोल अरुणवर्ण नखों की कान्ति से साधक भक्तों के हृदय का अज्ञानरूप महा अन्धकार मिट रहा है। उन चरणों के धोवन के जल अर्थात् पादोदक से निकली हुई पतितपावनी तीर्थरूपिणी गंगा को सिर पर धारण करने से श्री शंकरजी सचमुच शिव (कल्याणरूप) हो गए, अर्थात् उनका शिव यह नाम सार्थक हो गया। वे चरण ध्यान करनेवाले के पापरूप पहाड़ को तोड़ने के लिए वज्र के समान हैं। ऐसे भगवान् के चरणारविन्द का अपने हृदय में चिरकाल तक, अर्थात् जब तक मन लगे, ध्यान करना चाहिए।

फिर जन्म-मरण की निवृत्ति के लिए भगवान की दोनों जानुओं का ध्यान करे। देवगण जिनकी वन्दना करते हैं, वह जगत् के विधाता ब्रह्माजी की माता कमलनयनी लक्ष्मीदेवी अपने हाथों से उन जानुओं को दबाने की सेवा कर रही है।

फिर बल की खान, अलसी (अरसी) के फूल के समान श्यामवर्ण और गरुड़ की भुजाओं (कंधों) पर रक्खी हुई ऊरुओं का ध्यान करे।

फिर गुल्फदेश तक लम्बायमान पीताम्बर से लिपटे हुए कांचीकलाप से सुशोभित नितम्बस्थल का ध्यान करना चाहिए।

तदनन्तर सरोवरसदृश गहरी नाभि का ध्यान करे। वह नाभि भुवनकोश के लय होने का स्थान जो उदर (पेट) है, उसमें शोभायमान है। उसी नाभि से आत्मयोनि ब्रह्माजी के रहने का स्थान सर्वलोकमय पद्म निकला है।

फिर भगवान् के वक्षःस्थल में स्थित मरकतमणि के रंग के दोनों स्तनों का ध्यान करना चाहिए, जो कि उज्ज्वल मणिरत्नमय हार की कान्ति से प्रकाशित हो रहे हैं।

फिर भगवान् के वक्षःस्थल का ध्यान करे, जिसमें महाविभूति लक्ष्मीजी सदा निवास करती हैं, और जिसके दर्शन करके भक्तजनों के नयन और मन आनन्दित होते हैं।

फिर सर्वलोकवन्दित नारायण के कंठ का ध्यान करना चाहिए। वह कंठ स्वयं मानो कौस्तुभमणि को अलंकृत कर रहा है।

फिर भगवान् की उन भुजाओं का ध्यान करना चाहिए, जिनमें सब लोकपाल देवतों का निवास है। उन्हीं भुजाओं से मन्दराचल को पकड़कर भगवान् ने समुद्र को मथा था। मन्दराचल के घूमने से रगड़ खाने के कारण उन भुजाओं के मणिमय वलय नाम के आभूषण और भी उज्ज्वल होकर चमकने लगे। साथ ही एक हाथ में शोभायमान सहस्रधार सुदर्शनचक्र और दूसरे कमलसम हाथ में राजहंस के समान सुशोभित पाञ्चजन्य शंख का ध्यान करना चाहिए। तीसरे हाथ में विपक्षी (विरोधी) वीरों के रक्तपंकरूप लाल चन्दन से चर्चित और अर्चित हरि की प्यारी कौमोदकी गदा का ध्यान करना चाहिए। चौथे हाथ की अभय मुद्रा से भगवान् भक्तों को अभयदान कर रहे हैं, ऐसा ध्यान करे।

तदनन्तर भगवान् के वक्षःस्थल में वनमाला का ध्यान करना चाहिए। उस वनमाला के ऊपर भौंरों के झुंड गुंजार कर रहे हैं। भगवान् के कंठ में जीवतत्त्व स्वरूप उज्ज्वल कौस्तुभमणि* का ध्यान करे।

---

* यही बात वैष्णवतंत्र में लिखी है—

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्।
बिभर्त्ति कौस्तुभमणि स्वरूपं भगवान् हरिः॥

अर्थात् निर्लेप, निर्गुण, निर्मल भाव को प्राप्त जो अपना स्वरूप इस जगत् का विशुद्ध जीवात्मा है, उसी को कौस्तुभमणि के रूप भगवान् हरि अपने कंठ में धारण किए हुए हैं।

फिर भक्तों पर करुणा करके उन पर अनुग्रह करने के लिए सगुणरूप से प्रकट भगवान् के मुखारविन्द का ध्यान करना चाहिए। हिल-डुल रहे मकराकृति मणिमय कुण्डलों की झलक से श्रीहरि के अमल कपोलों की कान्ति और भी अधिक उज्ज्वल हो रही है। ऊँची, सुडौल, नुकीली नासिका की अपूर्व शोभा है। भौंरे फूले हुए नील कमल के भ्रम से उस शोभा की खान मुखारविन्द के आसपास मँडला रहे हैं। घुँघराली अलकें कमल पर भौंरों की भीड़ की शोभा का निरादर कर रही हैं। उस श्रीमुख मे दोनों विशाल नेत्र ऐसे शोभायमान है, जैसे दो मछलियाँ जिसमें खेल रही हों वह कमल का फूल सुशोभित होता है। ऐसे उल्लास-सूचक भ्रुकुटियों से युक्त श्रीमुख की मन में कल्पना करके आलस्यहीन होकर उसका ध्यान करे।

फिर अपने हृदय में बहुत देर तक भक्ति के साथ मन लगाकर भगवान् नारायण की सुस्निग्ध हास्य से युक्त कृपादृष्टि का ध्यान करना चाहिए। उसके विषय में यह कल्पना करे कि भगवान की यह कृपादृष्टि संसार के अति घोर तीनों तापों को हरने के लिए भक्तों पर पड़ रही है और अत्यन्त अनुग्रह के भाव से परिपूर्ण है।

फिर भगवान् के मंद मधुर हास्य का ध्यान करे। वह हास्य प्रणत होनेवाले सभी लोगों के तीव्र शोक या कष्ट से निकलनेवाले आँसुओं के सागर को सुखानेवाला और अत्यन्त उदार है। अर्थात् सभी दीन दुःखी शरणागतों को सुलभ है।

फिर भगवान् की परमसुन्दर भ्रुकुटी के विलास का ध्यान करे कि मुनियों का उपकार करने के लिए, उनके तप में विघ्न डालनेवाले कामदेव को मोहित करने के लिए ही मानो भगवान् ने अपनी माया से उसे प्रकट किया है। तात्पर्य यह कि मुनियों को भी मोहित कर देनेवाला कामदेव उस मायामय भ्रूविलास से मोह के वश हो जाता है।

भगवान् के मंद हास्य के उपरान्त उनके उच्च हास्य का भी ध्यान करना चाहिए। वह अत्यन्त सुन्दर होने के कारण अनायास ही भक्तों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। ऊपर और नीचे के अत्यन्त अरुणवर्ण दोनों होठों की आभा पड़ने मे मुख के भीतर सूक्ष्म और समान कुंदकली के सदृश दाँतों की पंक्तियाँ भी उस उच्च हास्य के समय अरुणवर्ण देख पड़ती हैं।

इस प्रकार अपने शरीर के हृदयाकाश में ही स्थित जानकर प्रेमरस में डूबी हुई भक्ति के भाव से हरि का ध्यान करे। उन्हीं में मन लगाकर और कुछ देखने की इच्छा न करे, अर्थात् मन को विचलित न होने दे।

[ अब ध्यान और धारणा का वर्णन करके समाधि की अवस्था बतलाते हैं। ] इस प्रकार ध्यानमार्ग से हरि में प्रेम होता है। भक्ति से परिपूर्ण हृदय द्रवित हो उठता है, आनन्द के कारण रोएँ खड़े होने लगते हैं, उत्कंठा के कारण आनन्द के आँसू आँखों में भर आते हैं और वह साधक बारंबार आनन्द के सागर में गोते लगाने लगता है। ऐसी अवस्था में कठिनता से ग्रहण करने योग्य निराकार भगवान के उस रूप को ग्रहण करने का साधन जो मछली को फँसाने के साधन काँटे के समान चित्त है, उसे भी वह साधक धीरे-धीरे उक्त ध्येय से हटा लेता है। अर्थात् चित्त को भगवान् के उक्त कल्पित रूप में लगाये रहने का उसका प्रयत्न शिथिल हो जाता है।*

---

* योग दो प्रकार का होता है, सबीज और निर्बीज अथात् सावलबन और निरवलबन। निर्बीज योग का उपाय गीता मे यह लिखा है कि "यतो यतो निश्चरति मनश्चचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वश नयेत्॥" अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ जाय वहा-वहाँ से उसे खीचकर आत्मचिंतन मे ही लगावे और इस प्रकार उसे वश करे। किन्तु इस उपाय से समाधि अति दुष्कर और कठिन है। वही सावलम्ब योग मे, जिसका वर्णन कपिलदेवजी कर रहे हैं, सहज होती है। परमानन्दमूर्त्ति हरि का ध्यान करने से मन को वश करके समाधि की अवस्था प्राप्त करना सहज है। हरि के ध्यान करने से बिना यत्न के स्वयं चित्त का उपरम या लय हो जाता है। यही बात इस श्लोक मे भगवान् ने कही है—

"हृतात्मनो हृतप्राणस्य भक्तिरनिच्छतो मे गतिमणुंप्रयुंक्ते।"

हे माता, जब इस प्रकार साधक का चित्त अपने आश्रयरूप मेरी पूर्वोक्त मूर्त्ति को भी छोड़ देता है, निर्विषय हो जाता है, अर्थात् विरक्त होने के कारण शब्द आदि विषयों से अतीत और निराधार हो जाता है, तब परमानन्द (ब्रह्मानन्द) का अनुभव करने से निर्वाण* या लय को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् वृत्तिरूप को छोड़कर ब्रह्माकार हो जाता है। जैसे अग्नि की ज्वाला अपने आश्रयरूप काष्ठ के जल जाने पर विशुद्ध तेजतत्त्व हो जाती है, वैसे ही इस अवस्था में ध्याता और ध्येय का विभाग नहीं रहता, देह आदि उपाधि से रहित आत्मा अपने को ही परमात्मा के रूप में देखने लगता है। योगाभ्यास के कारण होनेवाली इस अविद्या-रहित मन की निवृत्ति से ब्रह्मरूप को प्राप्त योगी की स्थिति सुख और दुःख दोनों से अतीत होती है। वह जीवन्मुक्त पुरुष प्रकृति और पुरुष के विवेक से आत्मतत्त्व को देख चुकने के कारण यह जानता है कि सुख-दुःख का हेतु अविद्याकृत अहंकार ही है। इसका तात्पर्य यही है कि निरवलम्ब जीवन्मुक्त पुरुष योगाभ्यास के द्वारा मन को प्रकृति के विषय-भोग से सर्वथा निवृत्त करके अपने को संपूर्ण रूप से ब्रह्मरूप देखता है। इसी कारण उसके सुख-दुःख दोनों की निवृत्ति हो जाती है।† अविद्या के संयोग से उसे जो 'कर्त्ता','भोक्ता' ('मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ' इत्यादि) होने का अभिमान है, वह भी प्रकृति और पुरुष के विवेक से नष्ट हो जाता है। अन्त को वह पूर्ण रूप से आत्मतत्त्व का ज्ञाता होकर ब्रह्मलीन अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। उसको फिर संसार नहीं होता।

[ अब जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हैं। ] हे माता, जैसे मदिरा पीकर मतवाले हो गये व्यक्ति को इसका चेत नहीं रहता कि उसकी धोती खुलकर गिर गई है, या कमर में बँधी हुई है, वैसे ही जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन सिद्ध योगी को इसका होश नहीं रहता कि उसका शरीर आसन पर है, या आसन से उठकर अन्यत्र गया है, या जाकर फिर वहीं चला आया है। वह बाह्यज्ञानशून्य सिद्ध जब देहाध्यास ही नहीं रखता, तब सुख-दुःख का अनुभव क्या करेगा!

[अब प्रश्न यह होता है कि फिर देह की किसी कार्य में प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति कैसे होती है? उसका जीना ही कैसे होता है? इसी शंका का समाधान करते हैं कि] पूर्वसंस्कार के वश या प्राक्तनकर्म के अधीन रहकर यह शरीर तब तक उसका फल भोगने के लिए बना ही रहता है, अर्थात् इसमें प्राण और इन्द्रियों का अस्तित्व रहता है। वह काल आने पर ही छूटता है। इसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति या जीवन का हेतु प्राक्तन-कर्म या संस्कार ही है। [यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि देह के बने रहने पर फिर उसमें आसक्ति भी हो सकती है। इसका उत्तर देते हैं कि] समाधि-पर्यन्त योगपद में अधिरूढ़ और आत्मतत्त्व को जान लेनेवाला सिद्ध योगी इस शरीर के रहने पर भी उसे और उसके साथी स्त्री-पुत्र आदि को स्वप्न के शरीर, स्त्री-पुत्र आदि के समान ही मिथ्या मानकर फिर नहीं भजता, अर्थात् "मैं हूँ, मेरा है" यह अहंभावना नहीं रखता।

[ अब इस बोध का प्रकार कहते हैं। ] इस संसार में प्राणी जिस प्रकार अत्यन्त स्नेह और ममता के कारण पुत्र, धन आदि को अपना मानकर भी अपने से अलग देखता है, वैसे ही देह आदि के साक्षी आत्मा को आत्मज्ञानी लोग शरीर, इन्द्रिय आदि से अलग देखते हैं। जैसे जल रही लकड़ी, धुआँ और

---

* तेल और बत्ती के न रहने पर दीपशिखा जैसे बुझ जाती है, वैसे ही देहाध्यास के न रहने पर यह निर्वाण अवस्था प्राप्त होती है।

† इसका और खुलासा यह है कि योगाभ्यास के द्वारा भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी, सुख, दुःख आदि को जीतना प्रकृति को जीतना कहलाता है। इन सबको जीतकर अर्थात् इनका प्रभाव अपने चित्त पर न होने देकर ब्रह्म-भावना-पूर्वक प्रकृति और पुरुष का विवेक जाना हुआ होने के कारण इस अवस्था को प्राप्त योगी फिर माया में मोहित नहीं होता। काल द्वारा देह छूटने पर वह एकदम ब्रह्म में लीन हो जाता है।

चिनगारी, ये तीनों मिलकर अग्नि का स्वरूप जान पड़ते हैं, तथापि अत्यन्त विवेकी लोग जानते हैं कि काष्ठ को जलानेवाला और धुएँ और चिनगारी को प्रकट करनेवाला अग्नि इन तीनों से अलग पदार्थ है, वैसे ही पंचतत्त्व, इन्द्रिय और अन्तःकरण से उनका साक्षी जीवात्मा* अलग है और उस देहाभिमानी जीवात्मा से निर्गुण ब्रह्म अलग है। इसी भाँति प्रधान या प्रकृति से पुरुष अर्थात् प्रकृति के प्रवर्त्तक ब्रह्म के सगुणरूप भगवान् अलग हैं।

[ इस प्रकार उपाधि के द्वारा आत्मा और परमात्मा का विवेक बतलाकर वस्तुस्थिति में उनकी एकता कहते है। ] जैसे स्वेदज, अंडज, उद्भिज और जरायुज ( जूँ, पक्षी, वृक्ष, पशु, मनुष्य आदि ) चारों प्रकार के प्राणियों में वायु आदि पाँचों तत्त्व व्याप्त हैं, वैसे ही सिद्ध पुरुष को चाहिए कि सब प्राणियों को ब्रह्मरूप अपने में और ब्रह्मरूप अपने को सब प्राणियों में व्याप्त देखे। अर्थात् समझ ले कि यह सब ब्रह्म† ही है। उसके सिवा अन्य किसी की सत्ता नहीं है। जैसे एक ही अग्नि अपनी उपाधि और प्रकट होने के स्थान काष्ठ आदि की छुटाई, बड़ाई, स्थूलता, सूक्ष्मता आदि गुणों की विषमता से अनेक आकार-प्रकार का अर्थात् छोटा-बड़ा या स्थूल-सूक्ष्म देख पड़ता है, वैसे ही देह में स्थित आत्मा भी देह की गुण-कृत विषमता से अनेक आकार-प्रकार का प्रतीत होता है। इस कारण योगीजन जानते है कि यह प्रकृति विष्णु की ही शक्ति है और वही ब्रह्मरूप विष्णु के अंश जीव के बंधन का कारण है। इस प्रकार सत्-असत् रूपवाली अर्थात् कार्य-कारण-रूपिणी दुर्जेय, दुर्जय प्रकृति को उन्ही विष्णु की कृपा से जीतकर योगी अपने रूप अर्थात् ब्रह्म के सच्चिदानन्द ज्ञानघनरूप मे स्थित होता है, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है।

# उन्तीसवाँ अध्याय

## भक्तिमार्ग के भेदों का वर्णन

देवहूतिजी ने कहा—हे प्रभो, आपने कृपा करके मुझसे सांख्ययोग शास्त्र का वर्णन किया। इस शास्त्र से जिनके स्वरूप का ज्ञान होता है, उन प्रकृति, पुरुष और महत्तत्व आदि के लक्षण भी आपने अलग-अलग कहे। आपने कहा है कि सांख्यज्ञान का प्रयोजन भक्तियोग ही है। अतएव अब आप विस्तार के साथ उस भक्तियोग का मार्ग मुझसे कहिए। जीवों की भिन्न-भिन्न विचित्र गतियों का भी वर्णन कीजिए, जिन्हें सुनकर लोगों को संसार से वैराग्य उत्पन्न हो। जिसके भय से लोग पुण्य करते है, उस महाप्रभावशाली सबसे बढ़कर प्रबल काल का स्वरूप भी वर्णन कीजिए। वह काल भी आप ही का रूप है। वही परमेश्वर है। बड़ों के बड़े ब्रह्मा आदि भी उसे टाल नहीं सकते। हे देव, अज्ञानी होने के कारण देह आदि असत् पदार्थों में मिथ्या ममता और अहंकार रखनेवाले लोगों की बुद्धि कर्ममार्ग में सुख की आशा से भटकती रहती है, और इसीलिए वे अपार संसार ( जन्म-मरण ) मे चिरकाल के लिए सोया करते है। उन्हें जगाने के लिए ही योग का प्रकाश फैलानेवाले सूर्य के रूप मे आपका उदय हुआ है।

---

* एक लकड़ी के टुकड़े में चारों तत्त्व रहते है, इसलिए उसमे अग्नि का संसर्ग होते ही उसका वायु और जल का अंश धुएँ के रूप से और तेज का अंश चिनगारी के रूप से तथा पृथ्वी का अंश अंगारे के रूप से प्रकट होता है। किन्तु इनको प्रकाशित करनेवाला एक अग्नि ही है। ऐसे ही इस सिद्धावस्था मे स्थित योगी आत्मा को प्रधानसंज्ञक तत्त्वों से अलग और उनका साक्षी एवं प्रवर्त्तक ब्रह्मस्वरूप देखते हैं।

† 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन', इस श्रुति का यही भाव है।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, माता के इन सुन्दर वचनों को सुनकर महामुनि कपिलदेवजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनका अभिनन्दन करते हुए यों कहा।

श्रीकपिलदेव बोले—हे माता, भक्तियोग कई प्रकार का है। प्रकृति के गुणों के अनुसार लोगों के स्वभाव होते हैं। स्वभाव की वृत्तियों के भेद से उनके भाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं, और भावभेद के अनुसार भक्ति के भी भेद होते है। तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न भाव अथवा फल-संकल्प के भेद से भक्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। क्रोध के वश होकर भेददृष्टि से प्रतिमा आदि में जो हिंसा, दंभ, पाखंड या ईर्ष्या के कारण मेरी भक्ति या उपासना की जाती है, वह तामसी भक्ति है। भेददृष्टि के साथ विषय-भोग, यश या ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रतिमा आदि में जो मेरी पूजा या भक्ति की जाती है, वह राजसी भक्ति है। अपने पापों के नाश के लिए या मेरी प्रसन्नता के लिए अथवा शास्त्रविधि का पालन करने के लिए भेददृष्टि से सांग प्रतिमा आदि में जो मेरी पूजा-आराधना की जाती है, वह सात्विकी भक्ति है*।

किन्तु निष्काम भक्ति एक ही है। जिसमें मेरे गुणों या चरित्रों को सुनते ही सबके हृदय में अन्तर्यामी आत्मा के रूप से स्थित मुझमे वैसे ही मन जा मिलता है, जैसे गंगा किसी बाधा को न मानकर सागर में जा मिलती है, वह आसक्ति निष्काम भक्तियोग है। निष्काम भक्तियोग का यही लक्षण कहा है कि मुझ पुरुषोत्तम मे फल की कामना से रहित और अभिन्न दृष्टि से युक्त आसक्ति हो। माता, ऐसे निष्काम भक्त मेरी सेवा को ही सर्वोपरि लाभ समझते हैं। मैं उन्हें सालोक्य ( अपने वैकुण्ठधाम में वास ), सार्ष्टि ( अपने समान ऐश्वर्य ), सामीप्य ( अपने निकट निवास ), सारूप्य ( अपने समान रूप ) और सायुज्य ( अपनी एकता ) यह पाँचों प्रकार की मुक्ति देता हूँ। तब भी वे उसे लेना नहीं चाहते। यही आत्यन्तिक भक्ति कहलाती है। यही परम पुरुषार्थ है। इसी भक्तियोग से मेरे सेवक अनन्य भक्त तीनों गुणों के प्रपंच को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। किन्तु यह ब्रह्म की प्राप्ति भी वे नहीं माँगते, स्वयं उन्हें प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि मोक्ष तो इस निष्काम भक्ति का प्रासंगिक फल है, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो उसका मेरी सेवा, मेरी भक्ति ही रहती है।

[ अब इस भक्ति को पाने के साधन बतलाते हैं। ] माताजी, श्रद्धापूर्वक किसी फल की आशा न करके अपने नित्य नैमित्तिक धर्म का अच्छी तरह आचरण करे। निष्काम होकर पंचरात्र आदि ग्रंथों में वर्णित विधि से नित्य मेरी पूजा करे। बलिदान आदि अतिहिंसा के भाव आदि उस पूजा में न आने दे। मेरे मंदिरों में जाकर मेरी प्रतिमा आदि के दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति, वन्दना आदि करता रहे। सब प्राणियों में मेरी भावना रक्खे। धैर्य और वैराग्य से युक्त रहे। अपने से श्रेष्ठ महापुरुषों का बहुत सम्मान करे। दीनों पर दया का भाव रक्खे। समान लोगों से मैत्री का भाव रक्खे। यम और नियम का पालन करे। आत्मज्ञान की चर्चा जिनमें हो, उन ग्रंथों को सुने। मेरे नामों का कीर्त्तन करे। कपट और अहंकार को छोड़कर आर्य अर्थात् श्रेष्ठ जनों का संग करे। मेरे भागवत धर्म के ये गुण हैं। इनसे जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब मेरे गुण सुनते ही अनायास मुझमें मन लग जाता है। जैसे गंध वायु के साथ मिलकर स्वयं अपने स्थान से चलकर घ्राण इंद्रिय के पास, नाक के निकट, उपस्थित होती है, वैसे ही ऐसे भक्तियोग के अधिकारी व्यक्ति का विकारशून्य, समदर्शी, विशुद्ध चित्त मुझ परमात्मा में आकर लग जाता है। मैं आत्मा के रूप से सब प्राणियों के हृदयों में नित्य विराजमान हूँ। जो कोई सब प्राणियों में मेरी सेवा-पूजा न करके प्राणियों में मेरा अपमान करता है, उसका प्रतिमा में मेरी पूजा करना विडम्बनामात्र है, व्यर्थ है। तात्पर्य

*सात्विक, राजस और तामस भेदों के ये तीन-तीन भेद हुए। इन भेदों में उत्तरोत्तर भेद श्रेष्ठ है। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, दर्शन आदि नवधा भक्ति में से प्रत्येक के भावभेद से इस प्रकार ये नव-नव भेद करने से सगुण या सकाम भक्ति के ८१ भेद होते हैं।

यह कि चित्त की शुद्धि केवल प्रतिमा में मेरी पूजा करने मे नहीं होती। वह तो सब प्राणियों में मुझे स्थित जानकर उनका उपकार आदि करने से ही होती है। जो कोई सब प्राणियों में आत्मारूप से स्थित मुझ ईश्वर को छोड़कर मूढ़तावश केवल प्रतिमा की पूजा-अर्चा करता है, अर्थात् सब प्राणियों की उपेक्षा करके केवल ठाकुरद्वारे में प्रतिमा की पूजा करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है, वह मानो राख के ढेर में हवन करता है। जो भेददृष्टि रखकर अभिमान के वशीभूत होकर पराए शरीर में स्थित मुझ आत्मा से द्वेष रखता है, सब प्राणियों से वैर बाँधता है, उसके मन को शान्ति नहीं मिलती। जो सब प्राणियों का अनादर और निन्दा करता है, वह प्रतिमा में अनेक प्रकार की सामग्री और क्रियाओं से चाहे मेरी जितनी पूजा करे, मैं उस पर कभी प्रसन्न नहीं होता। [ इस प्रकार सब प्राणियों की अवज्ञा, उपेक्षा, द्वेष और निन्दा न करने का उपदेश करके भगवान कपिलदेव प्रतिमा-पूजन भी अनावश्यक नहीं है, यह बतलाते है। ] अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ प्रतिमा आदि में मुझ ईश्वर की तभी तक पूजा करना चाहिए, जब तक यह बोध न हो कि इश्वर मेरे हृदय मे और उसी तरह सभी प्राणियों में आत्मा के रूप मे स्थित हैं। कर्मानिष्ठा और प्रतिमा-पूजन की यही अवधि है। इस बोध के हो जाने पर फिर प्रतिमा मे मेरी पूजा करने की आवश्यकता नही रह जाती। जो व्यक्ति अपने मे और अन्य प्राणियों में थोड़ा-सा भी भेदभाव रखता है, उस असमदर्शी व्यक्ति को मै मृत्युरूप से दारुण भय देता हूँ। इसलिए मुझे सब प्राणियों में अन्तर्यामी आत्मा के रूप से स्थित जानकर दान, मान, मित्रता तथा समदृष्टि के द्वारा सब प्राणियों में मेरी पूजा करनी चाहिए।

हे जननी, जिनमें चेतना नहीं है, उनसे सचेतन प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनसे वे श्रेष्ठ है, जिनके साँस चलती है। उनसे वे श्रेष्ठ है, जिनमे ज्ञान का अंश है। उनसे वे श्रेष्ठ है, जिनमें इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करने की शक्ति है। इस श्रेणी में पहला विभाग स्पर्श आदि अनुभव करनेवाले वृक्ष आदि का है। यद्यपि इनमें सूक्ष्मरूप से सभी इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं*, पर मुख्य या प्रसिद्ध स्पर्शेन्द्रिय ही की वृत्ति है। इनसे रस का ज्ञान रखनेवाले मछली आदि जीव श्रेष्ठ है। उनसे गंध का ज्ञान रखनेवाले भौंरे आदि श्रेष्ठ है। उनसे शब्द का ज्ञान रखनेवाले सर्प, मृग आदि श्रेष्ठ है। उनसे रूप-भेद का ज्ञान रखनेवाले कौए आदि श्रेष्ठ है। उनसे वे श्रेष्ठ है, जिनके मुख में दोनों ओर दाँत होते हैं। उनसे वे श्रेष्ठ हैं, जिनके बहुत पैर होते हैं। उनसे चार पैरोंवाले जीव श्रेष्ठ हैं। उनसे दो पैरोंवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं। उन मनुष्यों में वर्णसंकरों से चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र श्रेष्ठ हैं। चारों वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणों में भी वेद का अध्ययन करनेवाला श्रेष्ठ है। वेदपाठियों मे वेद का अर्थ जाननेवाला श्रेष्ठ है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो संशय को दूर करनेवाला ( मीमांसक ) है। केवल मीमांसक से वह श्रेष्ठ है, जो अपने शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण भी करता है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो कर्मफल की आकांक्षा रखकर धर्माचरण नहीं करता, धर्म को दुहता नहीं, अर्थात् निष्काम धर्म का आचरण करता है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो सब कर्म, उनका फल तथा अपने को भी मुझे अर्पण कर देता है। जिसने अपने को मुझे अर्पण कर दिया है, वह कर्त्तव्य का अभिमान न रखने के कारण प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर मुझमें ही मिल जाता है। उस समदर्शी से श्रेष्ठ मुझे और कोई नहीं देख पड़ता। जो मनुष्य ऐसे समदर्शी हैं, वे मेरे वैकुण्ठलोक को जाते हैं। ईश्वर अपनी कला जीव के रूप से अन्तर्यामी होकर सब प्राणियों में विराजमान हैं, इस दृष्टि से सब प्राणियों को बड़े सम्मान के साथ मन में प्रणाम करना चाहिए। हे माता, इन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ प्राणियों को यथायोग्य अधिकाधिक मानना और उनका आदर-सत्कार करना चाहिए।

* जैसा कि महाभारत मे कहा है— तस्मात्पश्यन्ति पादपाः तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः अर्थात् इससे वृक्ष देखते हैं, वृक्ष सूघते हैं।

हे माता, यह भक्तियोग और योग मैंने तुम्हारे आगे कहा है। इनमें से एक का अनुष्ठान करने से यह जीव परमपुरुष को पा जाता है। [अब जीव की गतियाँ और काल का स्वरूप कहते है।] हे जननी, परब्रह्म परमात्मा भगवान् का रूप दैव ही सबका नियन्ता है। यह रूप ही प्रधान प्रकृति और पुरुष अर्थात् भगवान् है, और यही उनसे परे परब्रह्म या परमात्मा है। इसी को दैव और काल कहते हैं। इसी की प्रेरणा से विविध कर्मों की चेष्टा होती है। यही सब वस्तुओं के रूपान्तर का कारण काल कहलाता है। इसका प्रभाव अद्भुत और अनिवार्य है। मंददर्शी महत्तत्त्व के अभिमानी ब्रह्मा आदि सब प्राणियों को इससे भय है। सबका आश्रय यह काल सब प्राणियों के भीतर प्रवेश करके उनके भौतिक शरीर को महाभूतों के द्वारा नष्ट करता है। यही यज्ञ के फल का दाता विष्णु है। संचालन करनेवालों या वश करनेवालों का भी संचालक अथवा उन्हें अपने अधीन करनेवाला यह काल सभी का प्रभु है। इसे न कोई प्रिय है, न कोई इसका शत्रु है, और न कोई अपना है। यह सबका अन्त करनेवाला काल स्वयं सदा सावधान रहकर सब असावधान प्राणियों का संहार करता है। इसी के भय से सूर्य तपते हैं, हवा चलती है, इन्द्र वर्षा करते हैं और नक्षत्र, तारागण चमकते हैं। इसी के भय से सब ओषधियाँ, लताएँ, वृक्ष आदि अपने-अपने समय पर स्वयं फूलते और फलते हैं। नदियाँ इसी के भय से बहती हैं। इसी के भय से सागर अपनी मर्यादा ( हद ) को नहीं छोड़ता। इसी के भय से अग्नि जलता है और यह पृथ्वी पर्वतों सहित नीचे जल में डूब नहीं जाती। इसी के नियम या आज्ञा से आकाश प्राणियों को अवकाश या स्थान देता है। इसी के नियम से महत्तत्त्व अपने अंकुरात्मक शरीर को सब लोगों के रूप में विस्तृत करता है। इसी के भय से रजोगुण आदि गुणों के नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिनके वश में यह सब चराचरजगत् है, बारम्बार इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार-रूप अपने-अपने काम में प्रवृत्त होते हैं। यही काल पिता के द्वारा पुत्र को उत्पन्न करता है और मृत्यु के द्वारा सबके प्राण हरनेवाले यमराज को भी मारता है। वह काल स्वयं अनन्त है, पर सबका अन्त कर देता है। स्वयं अनादि है, पर औरों को उत्पन्न करनेवाला है। काल अव्यय है, अर्थात् उसका क्षय नहीं होता।

# तीसवाँ अध्याय

## विषयी लोगों की तामसी अधोगति का वर्णन

कपिलदेवजी कहते हैं—हे माता, जैसे वायु बादलों को इधर-उधर चलाता और छिन्न-भिन्न कर देता है, पर बादलों को उसके वेग का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही संसार के सब प्राणी प्रबल काल के द्वारा संचालित होकर भी उसके महान पराक्रम को नहीं जान पाते। संसार के लोग सुख पाने के लिए बहुत प्रयास करके बड़े कष्ट उठाकर जिस काम को पूरा करना चाहते हैं, उसी को भगवान् काल अपने विक्रम से बिगाड़ देते हैं। तब मनुष्य उस काम के सिद्ध न होने पर उसके लिए शोक करता है। उसके शोक करने का कारण यही है कि यह जीव कुमति के कारण अपने अनित्य शरीर को और उससे संबंध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, परिवार, घर, धन, रत्न, पृथ्वी आदि को मोहवश नित्य अथवा चिरस्थायी मान बैठता है। इस जीव की कुमति यही है कि इस संसार के बीच जन्म लेकर यह जिस योनि में जाता है, उसी में रम जाता है, अपने को सुखी समझ लेता है। उससे विरक्त नहीं होता। इसी से उसे यथार्थ शान्ति नहीं मिलने आती। देखो, ईश्वर की माया से यह जीव ऐसा मोहित है कि शूकर, कीट, पतंग आदि अधम से अधम नारकीय योनि

पाकर भी उसे छोड़ना नहीं चाहता, उसी में ममता रखकर यह अपने को कृतार्थ समझने लगता है। यह जीव मूर्खतावश स्त्री, बेटा, बेटी, देह, घर, पशु, बन्धु-बान्धव, धन को अपना मानकर उनमें अत्यन्त आसक्ति रखकर उनसे सुख पाने की कामना करता और अपने को कृतार्थ या धन्य समझता है। स्त्री, पुत्र, परिवार के पालन-पोषण की चिंता आग की तरह इसके शरीर को जलाती रहती है। यह मूढ़ जीव दुर्मति के वशीभूत हो इन्हीं सबके लिए निरन्तर बुरे काम या पाप करता है। असती (कुलटा) स्त्रियाँ अपनी माया (हाव-भाव और प्रेम-प्रदर्शन) से उसकी इन्द्रियों को और मन को ऐसा अपनी ओर आकृष्ट और अपने अधीन कर लेती हैं कि उसके विवेक और बुद्धि पर मोह का पर्दा पड़ जाता है। एकान्त मे उन स्त्रियों की प्यार दिखलानेवाली बातें, केलि और छोटे-छोटे बच्चों की मीठी-मीठी तोतली बातें मन को मोह लेती है। मनुष्य इसी को परमसुख समझ बैठता है, और कालरूप ईश्वर के भय को भी भूल जाता है। कपट-कौशल आदि से धन कमाकर चलाई जानेवाली और प्रधान रूप से दुःख ही देनेवाली गृहस्थी चलाने के लिए, आ पड़नेवाले दुःखों को मिटाने के लिए, आलस्य छोड़कर प्राणपण से यत्न करता है, और गृहस्थाश्रम में स्त्री, पुत्र आदि के लिए दुःख-कष्ट उठाकर उसी में अपने को सुखी मानता है। जिनके भरण-पोषण की चिंता मे कुकर्म करके नरक जाना पड़ता है, उन्हीं स्त्री, पुत्र, परिवार आदि का पालन-पोषण करने के लिए यह मोह से अधा हो रहा जीव सांसारिक अभाव दूर करने की इच्छा से हिंसा, चोरी आदि कुकर्म करने में भी नहीं हिचकता। और इस प्रकार के असत् उपायों द्वारा इधर-उधर से धन लाकर उन्हीं को खिला-पिला देता है। इस प्रकार कुटुम्ब के पालन-पोषण से जो कुछ बच रहता है, वही वह स्वयं खाता, पीता, पहनता है। तात्पर्य यह कि औरों के लिए कुकर्म करके आप अधोगति को प्राप्त होता है। एक जीविका जब नही रहती, तब दूसरी की खोज करता है। दूसरी नहीं रहती, तब तीसरी की और तीसरी नहीं, तब चौथी की खोज करता है। इस प्रकार जब तक शक्ति रहती है, तब तक बारम्बार जीविका के लिए परिश्रम और उद्योग करता है। परिवार के भरण-पोषण में ही लगा रहता है। अन्त को जब बुढ़ापे के कारण शक्ति नहीं रहती, तब लोभ के वश होकर पराया धन लेने की इच्छा करता है। यह जीव जब वृद्धावस्था होने के कारण कुटुम्ब का पालन करने मे असमर्थ हो जाता है, तब अभागा कहलाने लगता है। उसके सब उद्यम वृथा हो जाते है। उस समय शोभा अथवा धन से हीन, दीन, मंदमति मनुष्य चिंतित होकर बड़ी-बड़ी साँसें लेता है। परिवार के लोग (स्त्री, पुत्र, आदि) जब देखते है कि बुड्ढा हमारा अब भरण-पोषण नहीं कर सकता, तब वे पहले का-सा उसका आदर नही करते, जैसे किसान लोग काम करने मे अशक्त देखकर बूढ़े बैल का आदर नहीं करते। परन्तु तब भी उसे गृहस्थी से वैराग्य नही होता। जिन्हे उसने पाल-पोस कर इतना बड़ा किया, वे ही अनादर के साथ उसका भरण-पोषण करते है। बुढ़ापा उसके रूप को भी बिगाड़ देता है। मौत के दिन गिनता हुआ वह मूर्ख घर मे ही पड़ा रहता है। घर के लोग अनादर के साथ जो कुछ खाने-पीने के लिए रख जाते हैं, उसी को घर की रखवाली करनेवाले कुत्ते के समान द्वार पर पड़ा हुआ वह बुड्ढा खा-पी लेता है। वह भी पेट भरकर खाया नही जाता; कारण, उस अवस्था मे प्रायः रोग ही घेरे रहते है। पेट की पाचक अग्नि मंद पड़ जाती है। इसीलिए भोजन बहुत कम किया जाता है। धीरे-धीरे चलने-फिरने और उठने-बैठने की भी शक्ति बहुत घट जाती है।

ऐसे ही धीरे-धीरे उसके मरने का काल निकट आ जाता है। तब ऊर्ध्वश्वास के वेग से उसकी आँखे बाहर निकल आती है। आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ जाती है। नाड़ियाँ बढ़े हुए कफ से रुँध जाती हैं, और खाँसने या साँस लेने में भी कष्ट होता है। कफ से रुँधे हुए कंठ मे घुरघुर होने लगता है। वह मरणोन्मुख मनुष्य मृत्युशय्या पर पड़ा होता है। शोक से व्याकुल उसके परिवार के लोग और बन्धु-बान्धव पलंग

के आसपास उसे घेरकर बैठे होते हैं। वे लोग बापू, काका, बाबा आदि कहकर उसे बुलकारते हैं, परन्तु कालपाश के फन्दे में पड़ा हुआ वह रोगी कुछ भी नहीं बोलता। उसके मुँह से बोल ही नहीं फूटता। जन्म भर कुटुम्ब के ही भरण-पोषण मे लगा रहनेवाला वह अजितेन्द्रिय पुरुष उस समय स्वजनों के भारी शोक और रोने-धोने को देख-सुनकर बहुत व्यथित होता है। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, अर्थात् किस तरह वह अपने परिवार के लोगों के शोक को दूर करे, यह उसे नहीं सूझता। मुँह से बोल न निकलने के कारण वह उन्हे सान्त्वना भी नहीं दे सकता। इसके उपरान्त उसका ज्ञान ( होश-हवास ) जाता रहता है। बस इसी अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाती है। मरने पर पुण्य और पाप के अनुसार दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। [ पहले पाप की गति का वर्णन करते हैं। ] प्राणत्याग करते समय लाल-लाल आँखों से क्रोध की दृष्टि से देखते हुए यमराज के दो दूत आकर उपस्थित होते हैं। उन्हें देखकर प्राणी भय के मारे एक साथ मल और मूत्र का त्याग कर देता है। वे दूत बलपूर्वक उस जीव के गले में यमपाश डाल देते हैं और इस स्थूल शरीर से निकालकर नरक-यातना भोगने के योग्य सूक्ष्म शरीर से आवृत करके खींचते हुए बड़ी दूर यमपुरी को वैसे ही घसीटते ले जाते हैं, जैसे इस लोक में राजा के सिपाही दण्डनीय अपराधी को पकड़ ले जाते हैं। उन दूतों की डाँट-डपट से उस पापी का हृदय धड़कने और फटने-सा लगता है, सारा शरीर काँपने लगता है। तीक्ष्ण दाँतोंवाले कुत्ते उसके शरीर को नोच-नोच कर खाते हैं। तब कष्ट से पीड़ित होकर वह प्राणी अपने किये पापों का स्मरण करता और पछताता है। एक तो भूख और प्यास बहुत सताती है दूसरे, नीचे दावानल और ऊपर सूर्य की कड़ी धूप जलाती है। राह में तपी हुई बालू पर चलना पड़ता है। पीछे से यमदूत पीठ में कोड़े मारते है। वह राह ऐसी है कि उसमे न तो विश्राम करने योग्य शीतल स्थान है और न कहीं पानी ही पीने को मिलता है। चलने की शक्ति न होने पर भी उस पापी को बड़े कष्ट से चलना ही पड़ता है। थकन और असह्य कष्ट के मारे वह राह में गिर-गिर पड़ता है, अचेत हो जाता है, फिर चेत होने पर उठता और चलता है। इस प्रकार यमराज के दूत उस पापी पुरुष को पापियो के जाने के अंधकारमय मार्ग से यमपुरी को ले जाते है। यमपुरी मनुष्यलोक से निन्नानवे हज़ार योजन दूर है। इतनी दूर दो या तीन मुहूर्त्त के समय मे पापी को यमदूत ले जाते है। तात्पर्य यह कि यदि बड़ा भारी पापी है तो उसे दो ही मुहूर्त्त मे इतनी दूर ले जाते हैं। [वहाँ पहुँचकर पापी को जो यातनाएँ भोगनी पड़ती है, उनका अब वर्णन करते हैं।] यमदूत किसी पापी के अंगों को लकड़ियों मे रखकर जलाते है। किसी के अपना मांस नोच-नोच कर खाने के लिए विवश करते हैं। किसी के मांस को वे स्वयं काट-काटकर उसी को खिलाते हैं। यमपुरी में किसी पापी की आँते जीते ही मे कुत्ते और गिद्ध निकाल लेते है। किसी को साँप बिच्छू, डाँस आदि काटकर पीड़ा पहुँचाते हैं। कहीं किसी पापी के अंगों को काटकर यमदूत कष्ट देते है किसी को हाथी के पैरों से रौंदवाते है। किसी को पहाड़ की चोटी पर ले जाकर नीचे ढकेल देते है। किसी को पानी में डुबाते है। किसी को गढ़े में डालकर उसी में बंद कर देते है। स्त्री या पुरुष परस्पर के संगदोष से जो पाप करते हैं, उसके अनुसार उन्हे यमलोक में तामिस्र, अंधतामिस्र और रौरव आदि नरकों में घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

हे माता, नरक और स्वर्ग इसी लोक में हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं, क्योंकि नरक की जो यातनाएँ हैं, वे यहाँ भी चोर आदि अपराधियों को मिलती देख पड़ती है। और वैसे ही स्वर्ग के सुख भी पुण्यात्म लोग भोगते हैं। इस प्रकार जो केवल अपना ही पेट पालता है, अथवा कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए कुकर्म करता है, वह मरने पर उस शरीर और शरीर के साथी कुटुम्ब को यहीं छोड़कर परलोक में अपने पापों का फल भोगता है। प्राणियों से द्रोह करके जिस शरीर को मनुष्य पालता है, उसको यहीं छोड़कर

अपने पापों को साथ लिये हुए अकेला ही नरक-यातनाएँ भोगता है। तात्पर्य यह कि अधर्म से कमाये हुए धन को भोगनेवाले तो सभी हो जाते हैं, किन्तु उस अधर्म या पाप का फल जीव अकेले आप ही भोगता है। जीव अन्याय करके जो कुटुम्ब का पोषण करता है, उस पाप का फल उसे परलोक में ईश्वर या दैव देता है। धन गँवाकर जैसे मनुष्य व्याकुल होता है, वैसे ही व्याकुल होकर जीव अपने पाप का फल भोगता है। जो मनुष्य केवल अधर्म करके कुटुम्ब का भरण-पोषण करता रहता है, वह अंधतामिस्र नरक में जाता है। यह नरक सब नरकों से बढ़कर भयानक है। इससे उद्धार होना बड़ा कठिन है। पापी मनुष्य नर-योनि के नीचे की योनियों मे जितनी यातनाएँ हैं, उन्हे क्रमशः भोगता है, और जब नरक-यातना भोगने से पापों का क्षय हो जाता है, तब निष्पाप होकर फिर वह मनुष्य-योनि में जन्म लेता है।

# इकतीसवाँ अध्याय

## पुण्य और पाप दोनों के मेल से मनुष्य-योनि की प्राप्ति अर्थात् राजसी गति का वर्णन

श्री कपिलदेवजी कहते हैं—हे माता, पूर्वकृत कर्म के अनुसार ईश्वर की प्रेरणा से यह जीव यातना-भोग से शुद्ध होकर मनुष्य-शरीर प्राप्त करने के लिए पुरुष के वीर्य के कणों में मिलकर उन्हीं के साथ स्त्री के उदर अर्थात् गर्भ में प्रवेश करता है। वह पुरुष का वीर्य गर्भ में पहुँचकर एक रात में स्त्री के रज से मिलता है। पाँच रात में पानी के बुल्ले के समान गोल आकार का बन जाता है। दस रात में बेर के फल के बराबर और कड़ा हो जाता है। उसके उपरान्त एक महीने के भीतर ही अंडे के बराबर मांसपिंड बन जाता है। एक महीने बाद उस पिंड में सिर निकलता है। दो महीने में हाथ-पैर आदि अंगों की उत्पत्ति होती है। तीन महीने में नख, रोएँ, हड्डियाँ, खाल, लिंग और अन्य गुदा, कान, मुख आदि के छिद्र प्रकट होते हैं। चार महीने में रक्त आदि सातों धातुएँ बनने लगती हैं। पाँच महीने में भूख और प्यास की उत्पत्ति होती है। छः महीने में जरायु नाम की झिल्ली उसे ऊपर से लपेट लेती है और वह स्त्री की दाहिनी कोख में घूमता है। उस समय माता जो कुछ खाती-पीती है, उसी से उसका पोषण होता है और उससे शरीर की धातुएँ बढ़ती हैं। इस प्रकार अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे उस मल-मूत्र के गढ़े ( गर्भ ) में शयन करना पड़ता है*। कारण, उसी से सब जन्तुओं की उत्पत्ति होती है। उसकी खाल बहुत कोमल होती है। गर्भ में भूखे कीड़े हर घड़ी काट-काट-कर उसके अंगों में घाव कर देते हैं। अत्यन्त कष्ट के साथ वह मूर्च्छित हो हो जाता है। माता जो कुछ तीखे, गरम, नमकीन, खारी, खट्टे रस के पदार्थ खाती-पीती है, उसके दुःसह स्पर्श से बच्चे के अंगों में बड़ी वेदना होती है। गर्भ में बच्चा भीतर जरायु नामक झिल्ली से और बाहर माता की आँतों से घिरा रहता है। उसका सिर कोख मे लगा रहता है और जरायु के खिचाव से गरदन और पीठ मुड़ी रहती है। पिंजड़े में पड़े पक्षी की तरह वह कोई चेष्टा नहीं कर सकता, कोई अंग फैला नहीं सकता। उस समय गर्भ में पूर्वकर्मवश उसे सौ जन्म के कर्मों का स्मरण हो आता है। स्वतंत्रता से साँस भी लेने में असमर्थ जीव को किसी प्रकार कल

* जैसा कि मार्कण्डेयपुराण मे लिखा है—

नाड़ी चाप्यायनी नाम नाभ्यां तस्य निबद्ध्यते।
स्त्रीणां तथांत्रसुषिरे सा निबद्धोपजायते॥

नहीं पड़ती। हे माता, गर्भवास के समान दुःख या कष्ट न हुआ है, न होगा। ज्ञान होने पर भी सातवें महीने से प्रसूतिवायु उसे एक जगह स्थिर नहीं रहने देता। विष्ठा के कीड़े के समान वह भी मल-मूत्र के गढ़े मे लुढ़कता रहता है। देह और आत्मा के विवेक से अभिज्ञ वह जीव उस समय सात धातुओं के बन्धन में पड़ा हुआ होता है। तब वह हाथ जोड़कर अपने को गर्भ मे डालनेवाले ईश्वर से उस कष्ट से छूटने की याचना करता हुआ व्याकुल वाणी से इस प्रकार स्तुति करता है।

जीव कहता है—शरणागत जगत् की रक्षा करने के लिए अपनी इच्छा से अनेक रूप रखकर जो इस पृथ्वीतल पर प्रकट होते है, और जिन्होंने मुझ सरीखे पापीजनों की मुक्ति के लिए मेरे योग्य गर्भवास की गति का विधान किया है, उन्हीं भगवान के पृथ्वीतल पर विचरण करनेवाले चरणकमलों की शरण मे मै उपस्थित होता हूँ। कारण, उन चरणों का आश्रय ग्रहण करने पर फिर किसी का, काल का भी भैय नहीं रहता। [ यदि कहो कि वह कौन है, जिसकी शरण में तुम जाते हो अथवा उसमे तुमसे क्या विशेषता है, जो इस प्रकार उससे सेव्य-सेवक का सम्बन्ध दिखा रहे हो, तो उसी के उत्तर मे जीव कहता है कि ] पंचतत्त्वों, इंद्रियों और अन्तःकरण से बनी हुई शरीररूप जिसकी माया को स्वीकार कर मै कर्मों के बंधन मे बंध गया हूँ, मेरा स्वरूप अर्थात् ज्ञान माया के गुणों से ढक गया है, वह विशुद्ध माया के गुणों से रहित, अविकार, अखंड ज्ञान का आधार, अन्तर्यामी और प्रेरक परमात्मा आत्मारूप से मेरे इस संतप्त हृदय मे ही स्थित है। मै उसको प्रणाम करता हूँ। उसी के शरणागत हूँ। मुझमे और उसमे ऊपर लिखा हुआ अन्तर है। इसीलिए वह सेव्य है और मैं सेवक हूँ। यद्यपि मैं उसी का रूप हूँ, पर मुझमें और उसमें विद्या और अविद्या ( ज्ञान और अज्ञान ) की विशेषता है। वह परमेश्वर जो इस पंचतत्त्व-रचित शरीर से ढका हुआ-सा प्रतीत होता है, सो भ्रम-मात्र है। वास्तव मे वह शरीर से रहित, निर्लिप्त और निःसंग है। उसके इंद्रिय, गुण, अर्थ और चिदाभासस्वरूप प्रतीत होने का कारण अविद्या ही है। वह इन सबसे भिन्न और इनका प्रवर्त्तक है। उस देहाभिमान के साक्षी सर्वज्ञ परमात्मा की महिमा अर्थात् ज्ञान कभी माया से आवृत्त नहीं होता। वह प्रकृति और पुरुष दोनों से परे अर्थात् उनका नियन्ता है। मै सोपाधि जीव अविद्या के कारण अपने रूप को भूला हुआ हूँ और वह निरुपाधि परमात्मा नित्य ज्ञानमय है। मुझमे और उसमें यही भेद है। मै उसी परमात्मा को प्रणाम करता हूँ। [ यदि कहो कि तो फिर परमेश्वर की वन्दना क्यों करते हो, ज्ञान से ही यह बन्धन निवृत हो जायगा, अविद्या दूर हो जायगी, तो यह बात नहीं है। ] ईश्वर की कृपा के बिना ज्ञान की प्राप्ति या अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए उसी की आराधना करने की आवश्यकता है। मैं उसी ईश्वर की प्रबल माया के वश होकर अपने रूप को भूलकर इस ससार ( जन्म-मरण ) के मार्ग में भटक रहा हूँ। यह संसार-मार्ग बड़ा कठिन है। इसमें माया के तीनों गुणों के अनुसार त्रिविधकर्म ही बन्धन हैं, जो इस मार्ग से निकलने नहीं देते। इस मार्ग में कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम योनियों में बारम्बार आने-जाने के श्रम ( अर्थात् कष्ट ) से मैं ऊब गया हूँ। परमेश्वर की कृपा और अनुग्रह के सिवा और कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, जिससे कर्म-बन्धन से मेरा छुटकारा हो जाय और मैं अपने यथार्थ रूप परब्रह्म या ज्ञान को पा सकूँ। इस कारण मैं उन्ही प्रभु के शरणागत हूँ। [ परमेश्वर ही ज्ञान के देनेवाले हैं, इसका प्रतिपादन करता हुआ जीव अब आगे कहता है।] हम सब 'जीव' नाम से प्रसिद्ध कर्म की पदवी अथवा उपाधि को प्राप्त हुए हैं। इसलिए मुझे

---

* क्रमते मुक्तपीतानि स्त्रीणां गर्भोदरे तथा। तैराप्यायित देहो सौ जन्तुर्वृद्धिमुपैति वै। अर्थात् उसकी नाभि और माता की आँतों से मिली हुइ आप्यायनी नामक एक नाड़ी होती है। उसी के द्वारा गर्भ में रहते समय माता की खाई-पी हुई वस्तुओं का रस बालक के पेट मे पहुँचता है, और उसी से पलकर उसका शरीर बढ़ता है।

जो यह त्रिकाल का ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे इस समय उस अन्तर्यामी परमेश्वर के सिवा और किसने मुझे दिया है, अथवा और कौन दे सकता था ? मुझसे उत्तम गति को प्राप्त अन्य श्रेष्ठ जीव देवता आदि भी यह ज्ञान नहीं दे सकते, क्योंकि वे भी अपने कर्मों का फल भोगनेवाले सोपाधि जीव ही है। इसी कारण तीनों तापों की शांति के लिए चराचर प्राणियों के भीतर अन्तर्यामीरूप से स्थित उसी ज्ञानमय जगदीश्वर को भजता हूँ। [ अब जीव भगवान् से अपने दुःख को कहता है। ] हे भगवन्, कर्मानुसार मिला हुआ यह मेरा शरीर रुधिर, मल, मूत्र के कूप-रूप माता के उदर ( गर्भ ) में पड़ा हुआ है, और जठरानल से बहुत ही तप रहा है। मैं यहाँ से निकलने की इच्छा से अपने महीने गिन रहा हूँ कि दस महीने कब पूरे हों और मैं बाहर निकलूँ। कब आप कृपा करके मुझे यहाँ से बाहर निकालिएगा ? हे स्वामी, मुझ दस महीने के बच्चे के हृदय में यह ज्ञान उत्पन्न करनेवाले आप बड़े दयालु हैं। आपके समान करुणानिधि और कौन होगा ! आप दीनों के नाथ है, इसलिए आप अपने ही किये उपकार से प्रसन्न हों। हाथ जोड़ने के सिवा आपके उपकार का बदला कौन चुका सकता है ! यह जो ज्ञान आपने मुझे दिया है, सो और किसी योनि में नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए यह नर-देह देकर आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। हे स्वामी, आपकी कृपा और महिमा का बखान कहाँ तक किया जा सकता है ! अन्य पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि की योनियों में उत्पन्न होनेवाले जीव उन योनियों में केवल शरीर के सुख-दुःख का ही ज्ञान रखते हैं, और उच्च कोटि का ज्ञान नहीं रखते। किन्तु मुझे आपने ऐसा यह नर-शरीर दिया है कि मैं इसमें आपके दिये विवेक (ज्ञान) से शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणों का संचय कर सकता हूँ और पूर्ण परमात्मा आपको अपने भीतर और बाहर सब प्राणियों में शरीराभिमानी अथवा अहंभाव के अधिष्ठान आत्मा के रूप में प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। हे विभो, विवेक (ज्ञान) के द्वारा मैं संसार से उद्विग्न हो उठा हूँ, इसलिए मुक्तिमार्ग को ही ग्रहण करना चाहता हूँ। यद्यपि यह गर्भवास मेरे लिए बहुत ही दुःखदायक है, तथापि अब मैं यहाँ से निकलकर बाहर के भयानक मोहमय अंधकूप में नहीं गिरना चाहता। कारण, संसार में जन्म लेते ही आपकी प्रबल माया पीछे लग जाती है। उस माया से मिथ्या मति अर्थात् देहाभिमान होता है, और उसी देहाभिमान से यह जन्म-मरण का चक्र चलता है। इसलिए, हे ईश्वर, मैं यहीं रहकर, व्याकुलता छोड़कर इस संसार से अपना उद्धार करूँगा। सारथीरूप बुद्धि ही मुझे इस मुक्ति के मार्ग पर ले चलेगी। अब मुझे आपके चरणकमल मिल गये है, अब ऐसा यत्न करूँगा, जिसमे फिर मुझे यह अनेक बार गर्भ में रहने का कष्ट न हो। अब तक मैं अनेक बार अनेक योनियों में जन्म लेकर अनेक यातनाएँ भोग चुका हूँ। अब उनका अन्त कर दूँगा।

कपिलदेवजी कहते हैं—हे माता, वह दस महीने का गर्भ में स्थित त्रिकालदर्शी जीव इस प्रकार मुक्ति का निश्चय करके भगवान् की स्तुति करता है। इसी समय प्रसूतिवायु उसको अधोमुख करके गर्भ के बाहर शीघ्र ही ढकेल देता है। वायु के वेग से व्याकुल वह जीव सिर नीचे किये बड़े कष्ट से बाहर निकलता है। उस समय उसका वह ज्ञान नष्ट हो जाता है और साँस भी रूँध जाती है। मूत्र और रुधिर में सना हुआ वह जीव विष्ठा के कीड़े के समान पृथ्वी पर अंग-संचालन करता है। उस ज्ञान के न रहने से अज्ञानमय होकर रोने लगता है। उसको पालनेवाली माता उसके अभिप्राय को तो जानती नहीं कि वह क्यों रो रहा है, उसे भूखा समझकर उसकी इच्छा के विरुद्ध दूध पिलाकर या हिला-डुला कर वह चुप करना चाहती है। बच्चा भी उसका विरोध नहीं कर सकता। जैसे माता रखती है, वैसे ही पराधीन बच्चे को रहना पड़ता है। अशुद्ध गंदे पलंग पर वह लिटा दिया जाता है। उस पलंग और बिछौने में खटमल, जूँ, मच्छड़ आदि जीव रह-रह कर बच्चे को काटते हैं। अंगों में खुजली उठती है, पर बच्चा अपने हाथ

से खुजला नहीं सकता। वह केवल रोने लगता है। उसमें उठने-बैठने या करवट बदलने की शक्ति नहीं होती। उसकी कोमल खाल में डाँस, मच्छड़ आदि जीव काटते हैं, जैसे कीड़े कीड़े को काटें। गर्भ का ज्ञान गँवाकर वह बच्चा बारम्बार कष्ट से रो उठता है। हे माता, बचपन में यों दुःख भोग करके पौगण्ड अवस्था (पाँच वर्ष के बाद) से जवानी का आरंभ होने तक पढ़ने में मार-पीट सहकर परिश्रम करके कष्ट उठाना पड़ता है। उसके बाद जवानी आती है और उसमें भी मनमानी वस्तु न मिलने पर अज्ञानवश वह शोक और क्रोध करता है। देह के साथ ही अभिमान और अभिमान के कारण क्रोध बढ़ता है। तब वह विषयी मनुष्य अपने ही समान कामी जनों से वैर-विरोध करता है, जिससे अन्त में उसका सर्वनाश होता है। वह मूर्ख कुबुद्धि पुरुष पंचतत्त्व के बने देह और पुत्र आदि में "मैं हूँ, मेरा है," ऐसा मिथ्या आग्रह करता है। फिर अविद्या और उसके कारण किये जानेवाले कर्मों के बंधन में वह ऐसा जकड़ जाता है कि उसी शरीर और स्त्री-पुत्र आदि के भरण-पोषण के लिए सदैव वे ही कर्म करता है, जिनके कारण संसार-बंधन में पड़कर जन्म-मरण के प्रवाह में बहा करता है, और क्लेशदायक शरीर की उपाधि उसके पीछे ही लगी रहती है। यदि सत् मार्ग में स्थित होकर भी भोजन और मैथुन को ही सब कुछ समझनेवाले असत् लोगों के सग में पड़ जाता है, तो फिर उसे पहले ही की तरह तमोमय नरक में जाकर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। स्त्रियों के हाथ की कठपुतली विषयी लोगों का जन्म पृथ्वी के लिए भाररूप और वृथा होता है, इसीलिए वे शोचनीय हैं। उनका मन शान्त नहीं रहता। कारण, मिथ्या देह को ही आत्मा समझकर वे सदा उसी के लालन-पालन के लिए चिंतित रहते हैं। इसीलिए वे असाधु होते हैं, अर्थात् उनसे परोपकार नहीं होता। उनके संग से मनुष्य के सत्य, पवित्रता, दया, मौन (वृथा बकवाद न करना), परम पुरुषार्थ जो मुक्ति या आत्मतत्त्व का ज्ञान है, उसे प्राप्त करने की बुद्धि, श्री (धन-धान्य), लज्जा-संकोच, यश, सहनशीलता, शम (बाहरी इन्द्रियों को वश में रखना), दम (मन का निग्रह) और उन्नति, तेज आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। इस कारण ऐसे जनों का संग कभी भूलकर भी न करना चाहिए।

हे माता, औरों के संग से पुरुष को वैसा मोह और बंधन नहीं होता, जैसा कि स्त्री और उसमें आसक्त कामी पुरुषों के संग से होता है। साक्षात् प्रजापति पितामह ब्रह्मा भी अपनी रूपवती कन्या को देखकर ऐसे मोहित हो गये कि लज्जा छोड़कर मृगरूप रखकर मृगीरूप से भाग रही अपनी कन्या के पीछे दौड़ पड़े। जब सबके आदिपुरुष ब्रह्मा की यह दशा स्त्री ने कर दी, तब उनके पुत्रों और पौत्रों की सृष्टि* में महर्षि भगवान् नारायण को छोड़कर ऐसा कौन जितेन्द्रिय है, जिसके मन को स्त्रीरूप भगवान् की माया विचलित नहीं कर सकती? यह स्त्री मेरी ही माया है। इसका बल देखो कि यह केवल एक भौंह के संकेत से बड़े-बड़े दिग्विजय करनेवाले वीरों को पैर के नीचे कर लेती है। इसलिए जो मुक्ति की इच्छा रखता हो, और मेरी सेवा से जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका हो, वह कभी स्त्रियों का संग न करे। कारण, ज्ञानी लोग इस स्त्री को योगी के लिए खुला हुआ नरक का द्वार बतलाते हैं। यह स्त्रीरूपिणी मेरी माया सेवा आदि के मिस से धीरे-धीरे पास आकर अपने वश में कर लेती है। वह हरी घास से छिपा हुआ अंधा कुआँ है। मनुष्य उसे अपनी मृत्यु अर्थात् अधःपतन का कारण समझकर उससे दूर ही रहे। यही बात मोक्ष की इच्छा रखनेवाली स्त्री के लिए भी है। स्त्री जिसे धन और सुख-भोग देनेवाला पति समझती है, वह भी पुरुषसदृश आचरण करनेवाली मेरी माया है। कारण, पूर्वजन्म में स्वयं पुरुष स्त्री-संग करते-करते अंतकाल में भी स्त्री का ही ध्यान करने के कारण स्त्री-योनि में उत्पन्न होता है। उस दशा में वह पुरुष को अपने बंधन का मूल मुक्ति-मार्ग का विघ्न जानकर उसका संग छोड़ दे। स्त्री-योनि में उत्पन्न जीव जो माया

*ब्रह्माजी के पुत्र मरीचि आदि, उनके पुत्र कश्यप आदि, उनकी सृष्टि देवता, मनुष्य आदि।

से मुक्त होकर मुझे प्राप्त करना चाहे, जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहे, तो वह पति, पुत्र, गृह आदि ईश्वर की माया को वैसे ही अपनी मृत्यु समझे, जैसे बहेलिये का संगीत मृग को फँसाने और मारनेवाला होता है।

[ यहाँ यह शंका होती है कि जीव को जब व्यापक कहते हो, तब उसका एक लोक से दूसरे लोक मे जाना कैसे संभव है ? वह नित्य है, तब उसका जन्म-मरण कैसे होता है ? फिर कर्म का फल भोग लेने पर कर्मक्षय हो जाना चाहिए, अतः फिर क्यों वह जन्म लेता और मरता है ? इन्हीं शंकाओं का निवारण करते हुए कपिलदेवजी कहते है ] हे माता, जीव का एक लोक-योनि से दूसरे लोक-योनि में जाना असंभव नहीं है। स्थूल शरीर छूट जाने पर भी वह जीव अपनी उपाधि ( आवरण ) लिंगशरीर के साथ एक योनि से दूसरी योनि मे जाकर प्रारब्ध-कर्मों का फल भोगता है, और निरंतर कर्म करता रहता है। तात्पर्य यह कि कर्मों का प्रवाह बन्द नही होता। लिंगशरीर नाम का सूक्ष्म शरीर जीव की उपाधि है। वह इस आत्मा के साथ-ही-साथ जाता है और पंचतत्त्व, इन्द्रिय, और मन से बना हुआ स्थूल शरीर भोग करने का साधन है। इन दोनों शरीरों का अपने काम में असमर्थ होना ही जीव का मरना और अहंभाव से स्थूल शरीर का प्रकट होना ही जीव का जन्म होना है। [ इसी बात को दृष्टान्त देकर समझाते है। ] जैसे रूप की उपलब्धि का स्थान नेत्रगोलक जब चक्षुदोष अर्थात् आँखों की पुतली में कोई दोष उत्पन्न हो जाने से अपने विषय ( रूप ) की उपलब्धि नहीं कर पाता, तब चक्षु इन्द्रिय भी अपना काम करने में असमर्थ होती है, और अक्षिगोलक तथा इन्द्रिय की असमर्थता का फल यह होता है कि देखनेवाला अर्थात् देखने का अभिमान रखनेवाला जीव अर्थात् जीव की उपाधि लिंगशरीर भी अपना काम नहीं कर सकता*। यही बात सभी इन्द्रियों के संबंध में समझ लेनी चाहिए। यही जीव की मृत्यु है। वास्तव में जीव का नाश नहीं होता, इसलिए यह समझकर कि वास्तव में जीव अजन्मा और अविनाशी है, न तो मृत्यु से डरना चाहिए, न दीन भाव धारण करना चाहिए और न घबराना ही चाहिए। हे माता, जब तक प्राक्तन संस्कार या पूर्वकृत कर्मों के फल का भोग अवशिष्ट है, तब तक संसार में जीव को अवश्य ही रहना पड़ेगा। किन्तु जीव को चाहिए कि सम्यक् दर्शन अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेक से युक्त बुद्धि के साथ विरक्त भाव से योगाभ्यास करता हुआ देहाभिमान से रहित होकर देह-गेह में अनासक्त रहे, अर्थात् जीवन्मुक्त होकर विचरण करे।

# बत्तीसवाँ अध्याय

## सात्विक कर्म करने से सात्विकी गति प्राप्त करने, किन्तु तत्त्वज्ञान न होने के कारण फिर वहाँ से इस लोक में आने का वर्णन

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—जो जीव गृहस्थाश्रम में रहकर कामना के साथ यज्ञ, दान, व्रत, पूजा आदि कर्म करता है और उनको दुहता है, अर्थात् धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति चाहता है, वह कामनाओं से विमूढ़ जीव भगवान् के धर्म अर्थात् निष्काम धर्म से विमुख होने के कारण मुक्त नहीं होता। हाँ, सत्कर्म करने के कारण उच्चगति अवश्य प्राप्त होती है। वह जीव देवता और पितरों पर श्रद्धा रखने के कारण देवलोक

*इसी को खुलासा करके यो समझाया जा सकता है कि जब आँख के तिल मे मोतियाबिन्द या माड़ा फूली आदि कोई रोग हो जाने पर वह देख नहीं सकती, अर्थात् वह बेकार हो जाती है, तब आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के बेकाम हो जाने से 'मुझे नहीं दिखाई देता' ऐसा सोचता है।

और पितृलोक की कामना करके बारंबार यज्ञ आदि से देवता और पितरों की पूजा करता है। अन्त को यह शरीर छोड़ने पर वह चन्द्रलोक को जाकर सोमपान करता है और पुण्य का क्षय होने पर फिर लौटकर मनुष्यलोक मे जन्म लेता है। जब भगवान् नारायण प्रलयकाल मे शेषशय्या पर शयन करते है, तब इन गृहाश्रमी लोगों के लोक लय को प्राप्त हो जाते है। तात्पर्य यह कि ये सकाम कर्म करनेवाले जीव पुण्यक्षीण होने पर बीच ही मे अपने लोकों से गिर पड़ते है, और यदि किसी का पुण्य बीच मे न भी क्षीण हुआ तो दैनन्दिन प्रलय मे उस लोक के नष्ट हो जाने पर तो अवश्य ही उस जीव को पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

परन्तु जो विवेकी पुरुष धर्म से अर्थ और काम पाने की कामना नहीं करते, अपने धर्म को नहीं दुहते, अनासक्त रहकर अपने सब धर्म-कर्म ईश्वर को अर्पण कर देते हैं, शान्त भाव से चित्त को शुद्ध करके निवृत्ति-धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग के अनुगामी होते है, ममता और अहंकार से दूर रहते है, अपने सात्विक धर्म के आचरण से अन्तःकरण को निर्मल बना लेते है, वे सूर्य के मण्डल को भेदकर विश्वव्यापी परमपुरुष को प्राप्त होते है*। वह परमपुरुष जगत् और जीव दोनों का ईश्वर है। इस जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण भी वही है। कारण, उसीसे इस विश्व की उत्पत्ति, पालन और अन्त होता है और जो लोग परमेश्वर की बुद्धि से हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे भी क्रमशः उसी सत्यलोक या ब्रह्मलोक को जाते है। ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाने पर जब ब्रह्मलोक का नाश हो जाता है, तब तक अर्थात् महाप्रलय तक वे उस लोक में निवास करते हैं। दो परार्द्ध का समय बीतने पर पंचतत्त्व, मन, इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय और अहंकार आदि से बने हुए इस विश्व का संहार करने के लिए जब प्रकृतिरूप त्रिगुणमय स्वयंभू ब्रह्माजी निर्गुण परब्रह्म में लीन हो जाते हैं, तब जो योगी लोग वायु तथा मन को वश में करके, संसार से विरक्त हो, शरीर छोड़कर पहले ब्रह्माजी में लीन हो गए थे, वे भी ब्रह्माजी के साथ ही परमानन्दमय परमपुरुष में लीन होते है, उसके पहले नहीं; क्योंकि तब उन्हे भेदभाव का अभिमान बना रहता है†। तात्पर्य यह कि अभिमान बने रहने के कारण हिरण्यगर्भ के उपासक योगी सीधे ब्रह्मलीन नहीं हो पाते, किन्तु जो भगवद्भक्त या परब्रह्मरूप नारायण के उपासक हैं, वे सीधे ब्रह्मपद को पा जाते है।

हे जननी, वह ब्रह्म सभी प्राणियों के हृदयों में निवास करते है। उनके प्रभाव को तुम सुन चुकीं। तुम शुद्ध भक्ति के भाव से उन्हीं को भजो। उनके शरणागत होने से तुम्हारी एकदम मुक्ति हो जायगी। चर और अचर जगत् की सबसे पहले सृष्टि करनेवाले वेदगर्भ प्रजापति ब्रह्माजी भी मरीचि आदि ऋषियों, सनत्कुमार आदि परमहंसों और योग के प्रवर्त्तक योगेश्वरों और सिद्धों के साथ बारंबार जन्म लेते है। इसका कारण भेददृष्टि अर्थात् अभिमान और कर्मों का फल है। ब्रह्मपद तथा अन्य विविध ऐश्वर्य भोगकर प्रलयकाल में माया के गुणों के अधिष्ठाता और प्रथमावतार सगुण ब्रह्म नारायण में लीन हो जाते है। तात्पर्य यह कि ये सब यद्यपि निष्काम कर्म करते हैं, तथापि अहंभाव अर्थात् 'हम' इस भेददृष्टि से उपासना करने के कारण इन्हे भी ईश्वर के रूप-काल के प्रभाव से सत्व आदि तीनों गुणों की सृष्टि होने पर, पहले की भाँति जन्म लेकर, फिर अपने-अपने अधिकार मे स्थित होकर अपना-अपना काम करना पड़ता है। हे माता, जब भेददृष्टि और अभिमान के कारण ब्रह्म के उपासकों को भी जन्म लेना पड़ता है, तब सकाम कर्म करने वालों के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। जो लोग कर्मासक्त होकर श्रद्धा के साथ स्वर्ग आदि की कामना से

---

*जसा कि श्रुति कहती है—सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषोह्यव्ययात्मा।

† यही बात इस स्मृति के वचन मे भी कही गई है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

यज्ञ आदि काम्य कर्म और संध्या-वंदन आदि नित्य कर्म करते हैं, उन अजितेन्द्रिय, कामनावश लोगों का मन रजोगुण से मलिन रहता है, उनका चित्त विषय-सुख के भोग में लगा रहता है, इसी से वे नित्य पितरों और देवतों की उपासना किया करते हैं। वे मोक्ष की कामना न करके त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। इसलिए कहने योग्य चरित्रवाले भगवान हरि की कथा सुनने या पढ़ने में उनका मन नहीं लगता। निश्चय ही दैव ने उन्हें नष्ट कर दिया है। जो लोग अच्युत भगवान् की कथा के अमृत को छोड़कर अन्य असत् गाथाओं को कहते सुनते है, वे शूकर के समान है। जैसे शूकर अच्छे भोजन को छोड़कर विष्ठा ही खाता है, वैसे ही वे भगवत्कथा को छोड़कर और बातों मे रमते है। हे माता, वे सकाम कर्म करनेवाले और भगवान् से विमुख लोग मरने के बाद सूर्य के दक्षिण मार्ग अर्थात् प्रवृत्तिपथ होकर पितृलोक को जाते है। पुण्य क्षीण होने पर फिर वहाँ से आकर अपने पुत्र-पौत्र आदि के वंश मे वे जन्म लेते है। फिर गर्भाधान से लेकर श्मशान की अन्त्येष्टि क्रिया तक के कर्म करने मे फँसे रहते है। उनका स्वल्प पुण्य बहुत शीघ्र क्षीण हो जाता है। तब भोग के साधन भी उनसे छीन लिये जाते है। उनको देवता लोग देवलोक से इस लोक मे ढकेल देते है। वे विवश होकर फिर इसी लोक में आते है।

इसलिए हे माता, तुम मोक्ष के लिए अपने सब भाव भगवान् मे लगाओ, भगवान् के चरित्रों को कहो-सुनो और हरि का भजन करो। भगवान् के चरण-कमल ही भजने योग्य है। क्योंकि उन्हीं के भजन से मुक्ति मिलती है। वासुदेव भगवान् की विशुद्ध निष्काम भक्ति से शीघ्र ही मन मे विराग उत्पन्न होता है, और वह ज्ञान मिलता है, जिससे ब्रह्म के दर्शन होते है। जब भक्त का मन हरिगुण-भजन और भगवद्भक्ति के द्वारा भगवान् मे स्थिर भाव से लग जाता है, और इन्द्रियों के विषयों मे प्रिय या अप्रिय भी भावना नहीं रहती, अर्थात् ईश्वर के सिवा अन्य पदार्थों से मन तटस्थ रहता है, तब वह भक्त शुद्ध चित्त मे प्रकाशमान आत्मा को निःसंग और हेय (त्याग के योग्य) तथा उपादेय (ग्रहण क योग्य), विषयों से रहित अर्थात् निर्लिप्त एवं सर्वत्र समान मानकर "मैं ही परमानन्द हूँ" इस निश्चय को प्राप्त होता है। केवल ज्ञान ही परमेश्वर का रूप है। उसी को परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर और परमपुरुष कहते हैं। वह ज्ञान एक होने पर भी दृश्य, द्रष्टा और देखने के साधन से रूपों के भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। [यदि कोई कहे कि ज्ञानमात्र ही जब आत्मा का स्वरूप है, तब वह नित्य प्राप्त ही है। फिर कष्टसाध्य योग से क्या मिलता है? इसी के उत्तर मे कहते हैं कि] पूर्णरूप से संगहीन आत्मा की प्राप्ति ही योगी के समग्र योग का अभीष्ट प्रयोजन है। अर्थात् प्रपंच के संग की निवृत्ति ही योग का फल है। इस प्रकार भ्रम मे पड़ी हुई और शब्द आदि धर्मों से युक्त इन्द्रियाँ भी इस निःसंग ज्ञान के द्वारा सर्वत्र प्रकाशित निर्गुण ब्रह्म का अनुभव कर सकती हैं। अर्थात् इस असत्संगहीन ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों से भी उनके सब विषय ब्रह्ममय ज्ञात होते हैं। [इन्द्रियाँ ब्रह्म का अनुभव कैसे कर सकती हैं, इसको उदाहरण देकर समझाते है।] एक प्रकृति और पुरुष के संयोग से पहले महत्तत्त्व और उससे अहंतत्त्व प्रकट होता है। अहंतत्त्व से रजोगुण, सतोगुण, और तमोगुण के भेद से पंचतत्त्व, जीव और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। और इन सब के मेल से जीव के शरीर की और ब्रह्माण्ड की रचना होती है। महत्तत्त्व आदि के द्वारा जैसे इस शरीर अथवा जगत् की प्रतीति होती है, वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों में ज्ञानमय निर्गुण ब्रह्म भी सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि तत्त्व की दृष्टि से ब्रह्म और ब्रह्माण्ड में कोई भेद नही है, क्योंकि ब्रह्म कारणरूप से कार्यरूप ब्रह्माण्ड या पिण्ड मे अवस्थित है। उसे ब्रह्ममय जानना ही इन्द्रियों के द्वारा ब्रह्म का अनुभव है। जो कोई श्रद्धा के साथ भक्ति प्राप्ति करके भक्ति के साथ योगाभ्यास में लगा रहकर संसार में आसक्त नहीं होता, अर्थात् उससे विरक्त होकर आत्मा के रूप का चिन्तन करता है, वही ब्रह्मांड में और अपने शरीर में व्याप्त ब्रह्म को योग के द्वारा देख पाता है।

माता, तुमने मुझसे ब्रह्म को दिखलानेवाले ज्ञान का वर्णन करने के लिए कहा था। वह ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। इस ज्ञान की साधना में सिद्ध होने से प्रकृति और पुरुष के तत्त्व अर्थात् यथार्थ रूप का बोध होता है। निर्गुण ज्ञानयोग और भक्ति का मार्ग दोनों का प्रयोजन एक ही है। दोनों से उस ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिसे भगवान् कहते हैं। [ यहाँ यह शंका होती है कि शास्त्र तो कहता है कि ज्ञानयोग का फल आत्मलाभ है और भक्तियोग का फल भजनीय ईश्वर की प्राप्ति है। फिर दोनों का फल एक कैसे हुआ ? इसीका उत्तर देते हैं कि ] रूप, रस आदि कई गुणों से युक्त गुड़, दूध आदि पदार्थ जैसे एक ही वस्तु होने पर भी भिन्न-भिन्न मार्ग से अनुभव करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतीत होते है, अर्थात् आँख दूध को उजला देखती है, जीभ उसे मीठा समझती है, त्वचा को वह ठंडा जान पड़ता है, वैसे ही एक परमेश्वर भिन्न-भिन्न मार्गावलंबी शास्त्रों के द्वारा अनेक प्रतीत होता है। आत्मा और परमात्मा एक ही है। कुआँ, बावली, तालाब खुदवाना, बाग़ लगाना, धर्मशाला खोलना, यज्ञ, दान, तप, वेदपाठ, आत्म-विचार, आत्मा, मन और इन्द्रियों को वश में करना अर्थात् निषिद्ध का वर्जन, कर्मसंन्यास, अष्टांग योग, भक्तियोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से सकाम और निष्काम धर्म, आत्मा के रूप को जानने की चेष्टा, दृढ़ वैराग्य आदि विविध उपायों या मार्गों से स्वयंप्रकाशित सगुण (स्वर्ग आदि लोक) और निर्गुण (मोक्ष) ब्रह्म ही को साधक पहुँचता है। तात्पर्य यह कि सकाम कर्मों से मिलनेवाले स्वर्ग आदि लोक भी भगवान् के ही सगुण रूप हैं।

जननी, मैंने यह त्रिगुण और निर्गुण के भेद से चार प्रकार का भक्तियोग तुमसे कहा। जिसकी गति जानी नहीं जाती, उस सबको उत्पन्न और नष्ट करनेवाले काल का स्वरूप मैंने बतलाया। अविद्या ( अज्ञानकृत कर्मों ) से मिलनेवाली कर्मफलरूप की अनेक गतियाँ भी मैंने तुमसे कही हैं, जिनमें जाकर यह जीव अपने रूप को भूल जाता है। प्राणियों से द्रोह करनेवाले, दुष्ट, अविनीत, दुराचारी, घमंडी, पाखंडी, लोभी, विषयी, मुझसे और मेरे भक्तों से विमुख अथवा द्वेष रखनेवाले को कदापि इस मेरे कहे हुए सांख्ययोग का उपदेश न करना चाहिए। जो श्रद्धा रखता हो, मेरा भक्त हो, विनीत हो, ईर्ष्या न रखता हो, अर्थात् दूसरे के गुणों में दोष न निकालता हो, सब प्राणियों का मित्र और सेवक हो, विषयों से विरक्त हो, शांतचित्त हो, मत्सर से शून्य हो, पवित्र हो, और मुझे सबसे बढ़कर प्रिय मानता हो, उसी को इस शास्त्र का उपदेश करना चाहिए।

हे माता, जो कोई श्रद्धा के साथ इसे एक बार भी सुनता है, या मुझमें मन लगाकर इस सांख्ययोग का अभ्यास करता है, वह निश्चय मेरे पद को पाता है।

# तेतीसवाँ अध्याय

## देवहूति को ज्ञानलाभ और मोक्ष की प्राप्ति

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कपिलजी के उपदेश से कर्दमजी की स्त्री और कपिलदेवजी की माता देवहूति देवी की बुद्धि पर जो मोह का आवरण पड़ा था, सो हट गया। वह सांख्यशास्त्र के आचार्य कपिलमुनि को प्रणाम करके उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं।

देवहूति ने कहा—भगवन्, आपका व्यक्त शरीर पंचतत्त्व, इंद्रिय, शब्दादि विषय और मन इन तत्त्वों से व्याप्त है। उसमें गुणों का प्रवाह विद्यमान है। वह संपूर्ण कार्य और कारण का बीज अर्थात्

कारण है। प्रलयकाल में जल के भीतर आपके नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने आपके ऐसे ही शरीर का केवल ध्यान किया था, किन्तु साक्षात् देख नहीं पाया था। वह आप गुण-प्रवाह के अनुसार विभिन्न शक्तियों ( ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप ) से इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, अर्थात् शक्तियों या विभूतियों के द्वारा आप ये कार्य करते हैं, साक्षात् या स्वयं नहीं। कारण, आप निष्क्रिय हैं। [ यदि निष्क्रिय हैं तो शक्तियों के द्वारा ही कैसे करते हैं ? इसी के समाधान के लिए देवहूतिजी कहती हैं कि ] आप सत्यसंकल्प हैं। [ जगत् की सृष्टि करने का प्रयोजन क्या है, इस शंका का समाधान करने के लिए कहती हैं कि ] आप जीवों के कर्मफल-भोग के लिए जगत् की रचना, पालन और संहार करते हैं। [ यदि कहो कि विचित्र भोगों का विधान अकेले एकमात्र ईश्वर कैसे करते है तो उसका उत्तर यह है कि ] आपकी हज़ारों शक्तियाँ हैं और वे अतर्क्य है। हे नाथ, प्रलय के समय अपने उदर में इस विश्व को लीन करने-वाले उन्हीं आपको मैंने अपने गर्भ मे धारण किया। आपकी इच्छा-रूपिणी माया की लीलाएँ बड़ी अद्भुत हैं। जैसे प्रलय में माया के द्वारा शिशुरूप बालगोविंद बनकर आप अपने श्रीचरण का अँगूठा चूसते हुए वटपत्र पर शयन करते हैं, वैसे ही मेरे बच्चे के रूप में प्रकट होना भी आपकी माया ही है। अथवा और साधारण बालकों की तरह आपने मेरे गर्भ में निवास नही किया, किन्तु जैसे अपनी इच्छा से वराह आदि अवतारों में आप तत्काल प्रकट हो गये हैं, वैसे ही इस रूप में आप अज्ञानियों को आत्मा का मार्ग दिखाने के लिए, आज्ञा के अनुवर्त्ती भक्तजनों की समृद्धि या अभ्युदय के लिए प्रकट हुए हैं। आपके नाम को कहने-सुनने से ( हरे नारायण, गोविंद आदि कहकर पुकारने से ) अथवा भूलकर कभी स्मरण कर लेने से महा अपवित्र चांडाल भी तत्काल पवित्र हो जाता है, सोमयाग करनेवाले ब्राह्मण के समान लोकपूज्य बन जाता है। तब जिसे आपके साक्षात् दर्शन मिल जायँ, उसके पवित्र हो जाने में क्या सन्देह है ! इसलिए जिसकी जीभ आपके नामों का कीर्त्तन करती रहती है, वह चांडाल भी पवित्र और श्रेष्ठ है। आपके नाम का कीर्त्तन करनेवाले आर्य श्रेष्ठ जनों ने अवश्य ही पूर्वजन्म में बड़ा तप किया है, हवन किया है, तीर्थों में स्नान किया है, और वेदों का अध्ययन किया है। आपके नाम को लेना बड़े भारी भाग्योदय का काम है। [अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि आपका नाम लेनेवाला सब तप, हवन, यज्ञ, तीर्थयात्रा, वेदपाठ आदि सुकृत कर चुका।] आप ही परमपुरुष परब्रह्म है। योगीजन मन को विषयों से हटाकर एकाग्र करके आप ही का चिंतन करते हैं, आप ही की कृपा से भक्तों को आवागमन से छुटकारा मिलता है। अथवा आपके आत्मज्ञानरूप तेज के आगे गुण-प्रवाह नहीं ठहरता। आप वेदगर्भ, विष्णु और कपिलमुनि हैं। आपको मैं प्रणाम करती हूँ।

मैत्रेयजी विदुर से कहते हैं, इस प्रकार स्तुति करने पर कपिलदेव नाम से प्रसिद्ध परमपुरुष नारायण ने लौकिक रीति से माता के प्रति स्नेह प्रकट करते हुए गंभीर वाणी से कहा—माता, मेरा बतलाया हुआ यह मुक्ति का मार्ग सुखसेव्य है, इस मार्ग को ग्रहण करके योगाभ्यास, वैराग्य और भक्तियोग के द्वारा तुम शीघ्र ही परमपद अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लोगी। मेरा यह मत ब्रह्मज्ञानी लोग मानते हैं और इसी मार्ग पर चलते हैं। तुम भी श्रद्धापूर्वक इसको ग्रहण करो। इसी के अनुसार चलने से तुम मेरे अपुनर्भव पद को पाओगी, अर्थात् फिर तुम्हें जन्म नहीं लेना पड़ेगा। तुम ब्रह्मलीन हो जाओगी। इस सांख्यज्ञानयोग को न जाननेवाले लोगों को मृत्यु का भय बना रहता है।

मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार अपनी माता सतीशिरोमणि देवहूतिजी को अपनी गति दिखाकर, ब्रह्मज्ञान पाकर ब्रह्मवादिनी बनी हुई माता से अनुमति लेकर, कपिलदेवजी अपनी इच्छा के अनुसार वहाँ से चल दिए। देवी देवहूति भी पुत्र के बतलाये हुए मार्ग से योगाभ्यास करने लगीं। सरस्वती नदी के सिर पर पुष्पमुकुट के समान सुशोभित उस विन्दुसरोवर के आश्रम में ही एकाग्र मन से वह समाधिस्थ हो

गई। त्रिकाल स्नान करने से उनकी घुँघराली अलकें पीली पड़ गईं, तेल आदि न लगाने के कारण जटाएँ बन गईं। वह वल्कल धारण किये थीं। उन्होंने उग्र तप करके शरीर को दुर्बल कर डाला। प्रजापति कर्दमजी के योगबल से प्राप्त गृहस्थाश्रम की सम्पत्ति और सुखभोग को तत्काल सहज में ही तज दिया। वह सुखभोग और संपत्ति ऐसी थी कि विमानवासी देवगण भी उसे पाने के लिए लालायित रहते थे। उन भोगों का और ऐश्वर्यों का क्या कहना! दूध के फेन के समान उज्ज्वल और कोमल पलंग थे। उनके पाये और अन्य सामग्री सुवर्ण और हाथीदाँत की थी। उन पर बढ़िया बिछौने बिछे थे। स्थान-स्थान पर सुवर्ण की चौकियाँ और आसन पड़े थे। स्वच्छ बिल्लौर की और पन्ने की दीवारोंवाले भवनों में रत्न-द्वीप जलते थे, प्रकाश करते थे। स्त्रीरत्न सुन्दरियाँ उन भवनों की शोभा बढ़ाती थीं। घर के बाग में फूले हुए अनेक कल्पवृक्ष शोभायमान थे, जिनमें बैठे हुए पक्षी कलोलें करते और बोलते थे, जिनके फूलों पर मस्त भौंरे गुंजार करते हुए मँडलाते थे। उस बाग में जब देवहूतिजी पधारती थीं, तब देवगण के अनुचर गंधर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि सब उनकी स्तुति करते थे। इंद्राणी के लिए भी प्रार्थनीय, अर्थात् उन्हें भी दुर्लभ, ऐसी परम आकांक्षा की वस्तु सम्पत्ति और सुखभोग को तृण की भाँति अनायास ही उन्होंने त्याग दिया। परन्तु इस समय पुत्र का वियोग होने के कारण वह कुछ व्याकुल हो उठीं, उनका मुख मलिन हो गया। एक तो पति कर्दमजी संन्यास लेकर वन को चले गये थे, दूसरे कुछ ही समय पीछे पुत्र का विछोह हो गया। इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर भी बछड़े से बिछुड़ी हुई गऊ के समान देवहूतिजी विह्वल हो उठीं।

इसके उपरान्त उन्हीं पुत्ररूप, हरि के अवतार कपिलदेव का ध्यान करते-करते बहुत शीघ्र देवहूति-जी को विषयों से वैराग्य हो गया, वैसे भोगों से युक्त घर की चाह नहीं रही। हे विदुर, कपिलदेवजी के उपदेश के अनुसार वह भगवान के प्रसन्नमुख रूप का समस्त संपूर्ण और व्यस्त एक-एक अंग का क्रम से ध्यान करने लगीं। भगवान के ध्यान में दृढ़ अनुराग होने के कारण पहले देवहूतिजी के हृदय में दृढ़ वैराग्य का उदय हुआ। फिर उस वैराग्य के साथ युक्तानुष्ठान* पूर्वक योगाभ्यास करने से उन्हें वह ज्ञान प्राप्त हुआ, जो ब्रह्म का बोध या अनुभव कराता है। उस ज्ञान के द्वारा उनका हृदय भलीभाँति शुद्ध हो गया। तब उन्होंने पहले ब्रह्माण्ड में व्याप्त आत्मा का अनुभव किया। फिर आत्मा की उपाधि जो प्रकृति के गुणत्रयमय प्रपंच का प्रवाह है, उसका अनुभव किया। उसके उपरान्त सब उपाधि त्यागकर अपने आत्मा को ब्रह्म में अवस्थित या ब्रह्मरूप विचारकर वह माया के गुणों के आवरण से मुक्त हो गईं। अर्थात् अपने को शुद्ध ब्रह्म जानकर सोऽहम् का अनुभव करके जीवन्मुक्त हो गईं। हे विदुर, जन्म-मरणरूप प्राकृतिक क्लेश से वह निस्तार पा गईं; क्योंकि उनकी जीव-उपाधि निवृत्त हो गई। नित्य ईश्वर की चिंता अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ,' इस भाव में मग्न रहने के कारण उनका मायाकृत भ्रम और अज्ञान सदा के लिए दूर हो गया। जिस प्रकार स्वप्न देखने के उपरान्त जाग उठने पर मनुष्य को स्वप्न के देखे सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने के कारण देवहूतिजी को स्वप्न के समान मिथ्या देह का अध्यास नहीं रहा, अर्थात् वह ब्रह्मानन्द में मग्न हो गईं। उन्हें यद्यपि देहाध्यास नहीं था, किन्तु कर्दमजी ने तपोबल से जिनकी सृष्टि की थी, वे विद्याधरियाँ बराबर उन्हें खिलाती-पिलातीं और उनके देह की देखभाल रखती थीं। इसी से वह शरीर योगसाधना करने में समर्थ बना रहा और मन में ग्लानि न रहने से अर्थात आनन्दमय हो जाने से जर्जर नहीं हुआ। मैल से ढका हुआ उनका शरीर धुएँ से आवृत्त अग्नि-सा प्रतीत होता था।

---

* 'युक्तानुष्ठान' गीता में इस प्रकार कहा है—"युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।" अर्थात् जो उचित मात्रा में आहार-विहार तथा कर्मचेष्टा करता है, उचित मात्रा में ही सोता और जागता है, उसे योग दुःख का नाशक होता है।

तप, योग और देवप्राक्तनकर्म से उनका शरीर जब तक बना रहा, तब तक उसका होना न होना उनके लिए एक-सा ही रहा। यहाँ तक कि उन्हें यह भी देहाध्यास न था कि केश खुल गये है या वस्त्र गिर गया है। वासुदेव में चित्त लग जाने के कारण देवहूतिजी को शरीर की धारणा ही नहीं रही। इस प्रकार कपिलजी के बतलाए हुए मार्ग से देवी देवहूतिजी थोड़े ही समय में परब्रह्म, परमात्मा, नित्यमुक्त भगवान् को प्राप्त हुई। हे विदुर, जिस स्थान में देवहूतिजी को सिद्धि प्राप्त हुई, वह परमपावित्र क्षेत्र सिद्धपद के नाम से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुआ। सिद्ध देवहूतिजी ने ब्रह्मलीन होने के समय जिस स्थूल शरीर को छोड़ा, वह योग से पवित्र शरीर नदी हो गया। उस नदी के किनारे सिद्ध लोग निवास करते हैं और उसके तट पर साधना करने से साधकों को बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।



महायोगी भगवान् कपिलदेव माता से आज्ञा लेकर पिता कर्दम के आश्रम से पूर्व-उत्तर के कोने में चले गये। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ उनकी स्तुति कर रही थीं। जब वह समुद्र के तट पर पहुँचे, तब सागर ने भी उनकी पूजा और स्तुति की। समुद्र ने अपने निकट ही उन्हें रहने का स्थान दिया। वह सांख्यशास्त्र के आचार्यों में श्रेष्ठ भगवान् कपिलमुनि वहीं रहकर तीनों लोकों के हित की कामना से समाधिस्थ हो योग का अनुष्ठान कर रहे है। हे निष्पाप, हे वत्स, तुम्हारे प्रश्न के अनुसार यह देवहूति और कपिलदेव का पवित्र संवाद मैंने तुमको सुना दिया। जो व्यक्ति आत्मयोग के रहस्य से युक्त कपिलमुनि के इस मत को सुनता है या इसका अनुष्ठान करता है, उसका चित्त भगवान् गरुड़वाहन विष्णु में लगता है, वह शीघ्र ही भगवान् के चरणारविन्दों को पाता है।

इति
तृतीय स्कंधः
समाप्तः




# चौथा स्कंध

## पहला अध्याय

### मनु की दो अन्य कन्याओं का वंश

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, स्वायंभुव मनु के रानी शतरूपा के गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपा (पुत्रों) के अतिरिक्त तीन कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं, यह हम कहं चुके हैं। उन कन्याओं के नाम थे आकूति देवहूति और प्रसूति। यद्यपि आकूति के दो भाई थे, तथापि मनु ने रुचि प्रजापति के साथ उनका विवा इस शर्त पर किया कि इस कन्या के जो पुत्र होगा, उसे मैं ले लूँगा, वह मेरा पुत्र होगा *। मनु ने यह का शतरूपा रानी के अनुमोदन से किया। भगवान् प्रजापति रुचि बड़े तेजस्वी थे। उन्होंने ईश्वर की आराधन

---

* इसे 'पुत्रिका धर्म' कहते हैं। पर जिसके पुत्र न हो, केवल कन्या हो, उसी के लिए शास्त्र ऐसा करने की आज्ञा देता है। म के तो दो पुत्र थे, फिर उन्होंने यह शास्त्र-विरुद्ध आचरण क्यों किया? इसका समाधान यह है कि मनु वास्तव मे भगवान् विराट् व मन है और शतरूपा रानी मनु की सहचारिणी शक्ति। मनु को विदित था कि आकूति के गर्भ से नारायण का यज्ञ नाम का अवता होगा। ब्रह्माजी ने मनु का प्रजापालन की आज्ञा दी थी। भगवान् की सहायता के बिना प्रजापालन का कार्य अच्छी तरह नहीं स सकेगा, यह सोचकर शतरूपा की सलाह से मनु ने आकूति का विवाह इस शर्त पर किया था। इन्हीं सब कारणों से यह कार्य दो नहीं माना गया।

पुत्रिका धर्म का विवरण इस श्लोक मे है—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति॥

अर्थात् पिता यह कहकर कन्या दे कि बिना भाई की यह अलंकृत कन्या मैं तुमको देता हूँ। इसके जो पहला लड़का होगा, व मेरा पुत्र होगा।

करके आकूति के गर्भ से एक कन्या और एक पुत्र उत्पन्न किया। उनमें पुत्र तो यज्ञस्वरूपधारी साक्षात् भगवान् विष्णु थे और कन्या दक्षिणा साक्षात् लक्ष्मी देवी का अंश थी। प्रसन्नचित्त होकर स्वायंभुव मनु उस परम तेजस्वी पुत्री के पुत्र को अपने घर ले आये। उस कन्या को रुचि प्रजापति ने अपने पास रक्खा। लक्ष्मी का अवतार होने के कारण दक्षिणा से ही यज्ञ भगवान् ने विवाह किया। दक्षिणा उन्हीं से विवाह करना चाहती थी। इसीलिए एक ही माता-पिता से उत्पन्न होने पर भी यह विवाह शास्त्र या रीति के विरुद्ध नहीं हुआ। फिर यज्ञजी तो मनु के पुत्र हो गये थे। इस कारण भी यह विवाह अनुचित नहीं कहा जा सकता। यज्ञ के स्वामी यज्ञ भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक दक्षिणा के गर्भ से बारह पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम ये हैं—तोष, प्रतोष, संतोष, भद्र, शान्ति, इड़स्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव और रोचन। स्वायंभुव मन्वन्तर मे ये तुषित नाम देवता हुए*। मरीचि आदि सप्तऋषि हुए। यज्ञ भगवान ही हरि का अशावतार थे और इंद्र भी। मनु के पुत्र महाबली प्रियव्रत और उत्तानपाद थे। उन्हीं के पुत्रों, पोतों और नातियों ने स्वायंभुव मन्वन्तर में पृथ्वी का पालन किया।

हे विदुर, दूसरी कन्या देवहूति का विवाह मनु ने कर्दम प्रजापति से किया। इनके सम्बन्ध की कथा तुम बहुत कुछ सुन ही चुके हो। अर्थात् केवल देवहूति की कन्याओं का वंश सुनना बाक़ी है। तीसरी कन्या प्रसूति का विवाह मनु ने ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति के साथ कर दिया। उन्ही प्रसूति का वंश त्रिलोकी मे व्याप्त है।

पहले मै जिन कर्दम की कन्याओं का उल्लेख कर चुका हूँ, उनका वंश पहले कहता हूँ, सुनो। कर्दम की नव कन्याएँ थीं—कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धती और शान्ति। इनके पति क्रमशः ये है—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, भृगु, वशिष्ठ और अथर्वा। इनमे पहले के आठ ब्रह्माजी के पुत्र है और नवें एक वेदज्ञ मुनि। मरीचि की पत्नी कला ने कश्यप और पूर्णिमान नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये, जिन्होंने अपनी सन्तानों से जगत् भर को भर दिया। [ कश्यप के वंश का वर्णन छठे स्कंध मे किया जायगा। यहाँ दूसरे पुत्र का वंश कहते हैं। ] पूर्णिमान ने पूर्णिमा नाम की पत्नी में विरज और विश्वग नाम के दो पुत्र और देवकुल्या नाम की एक कन्या उत्पन्न की। हरि के चरणों का प्रक्षालन करने से यही कन्या जन्मान्तर में स्वर्ग की नदी गंगा हुई।

अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया ने तीन यशस्वी पुत्रों को उत्पन्न किया। वे पुत्र हैं दत्तात्रेय, दुर्वासा और सोम ( चंद्रमा )। ये तीनों क्रमशः विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुए।

विदुर ने पूछा—भगवन्, सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले ये तीनों देवेश्वर क्या करने के लिए उत्पन्न हुए? कृपा करके यह मुझे बतलाइए।

मैत्रेयजी कहते है—ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ अत्रि ऋषि से जब ब्रह्माजी ने सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहा, तब वह अपनी पत्नी अनसूया क साथ ऋक्ष नाम के कुलपर्वत † पर तप करने के लिए गये। वहाँ

* प्रसंगवश यहाँ मन्वन्तर के छहों विभागों का वर्णन कर दिया गया है। हर मन्वन्तर मे मनु, मनु के पुत्र, इन्द्र, सप्तऋषि, देवता और हरि का अंशावतार, ये भिन्न-भिन्न होते है। इन्हीं छहों को मन्वन्तर कहते हैं। जैसा कि इस श्लोक में लिखा है—

मन्वन्तर मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥

† सात कुलपर्वत या बड़े पर्वत हैं। महेंद्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्याचल और पारियात्र, उनके नाम हैं। महेंद्र पर्वत गंजाम जिले मे दक्षिण मे है। मलयाचल का चंदन प्रसिद्ध है। यह भी दक्षिण मे है। सह्यपर्वत भी उधर ही है। शुक्तिमान् उज्जैन के पास विन्ध्यपर्वतमाला का पश्चिमी हिस्सा है। ऋक्ष पर्वत विन्ध्यपर्वतमाला का पूर्वी अंश है। विन्ध्याचल मिर्जापुर मे प्रसिद्ध ही है। पारियात्र विंध्यपर्वतमाला का पश्चिमी अंश है। यह नर्मदा से खंभात की खाड़ी तक चला गया है और अरावली पर्वतमाला मे मिला हुआ है।

पलाश और अशोक के वन फूलों के गुच्छों से लदे थे और निर्विन्ध्या नदी का जल कलोलें करता हुआ बह रहा था। नदी में झरनों से जल गिरने का मनोहर शब्द सुन पड़ रहा था। वहाँ प्राणायाम से अपने मन को वश में करके जाड़ा-गर्मी आदि के कष्ट सहते हुए अत्रि मुनि एक पैर से खड़े रहकर सौ वर्ष तक तपस्या करते रहे। उनकी यही प्रार्थना थी कि मैं उस परमेश्वर के शरणागत हूँ, जो सबका स्वामी है। वह अपने ही समान पुत्र मुझको दे।

मुनि के प्राणायाम से बढ़ी हुई योग की अग्नि उनके ब्रह्माण्ड अर्थात् खोपड़ी से निकलने लगी और उससे तीनों लोक जलने लगे। यह देखकर तीनों प्रभु, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश, मुनिवर के निकट उपस्थित हुए। उनमें से प्रत्येक ने यही समझा कि मुनि मेरी ही आराधना कर रहे हैं। अप्सरा, मुनि, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर और नाग उनके यश का गान (स्तुति) कर रहे थे। आश्रम में उन देवदेवों के आगमन से मुनिवर का मन प्रसन्न हो उठा। एक पैर से खड़े हुए मुनि ने बैल, हंस और गरुड़* पर सवार और अपने-अपने चिह्नों से युक्त † उन देववरों को देखा। तीनों देवतों के मुख कृपादृष्टि और हँसी से युक्त थे, जिससे उनकी प्रसन्नता प्रकट होती थी। उन्हें देखते ही दण्डवत् प्रणाम करके मुनि ने पूजा की। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तेज से मुनि की आँखें बन्द हो गईं, चौंधिया गईं। अत्रिजी अपने मन को तीनों देवतों के ध्यान में लगाकर, हाथ जोड़कर, इस प्रकार मधुर और गंभीर अर्थ से युक्त वाणी के द्वारा उन जगद्-गुरुओं की स्तुति करने लगे।



अत्रिजी ने कहा—आप तीनों सब देवतों में श्रेष्ठ हैं। विश्व की उत्पत्ति, पालन और संहार करने के लिए माया के रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण को ग्रहण करके प्रत्येक कल्प में आप लोग शरीर धारण करते हैं। अतएव ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनों ईश्वरों को मैं प्रणाम करता हूँ। पर मैंने तो एक ही की आराधना करने के लिए तपस्या की थी और आप तीन पधारे हैं। कृपा करके आप ही बतलावें कि आपमें से मैंने किसे अपनी कामना पूरी करने के लिए बुलाया है? मैंने पुत्र उत्पन्न करने की अभिलाषा से एक ही ईश्वर की आराधना की है; फिर आप तीनों यहाँ कैसे पधारे हैं? आप तीनों को तो मनुष्य ध्यान में नहीं देख पाता, साक्षात् देखने की कौन

---

*धर्मरूप बैल शिव का वाहन है। ज्ञानरूप हंस ब्रह्मा का वाहन है। भक्तिरूप गरुड विष्णु का वाहन है। इन वाहनों पर बैठकर तीनों देवतों के आने से यह सूचित हुआ कि मुनि का धर्म, ज्ञान और भक्ति, तीनों पुष्ट हो गये।

†त्रिशूल, डमरू, नाग, गंगा आदि शिव के चिह्न हैं। कमंडल, कुश, चार मुख आदि ब्रह्मा के चिह्न हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्म, चार भुजा, कौस्तुभमणि, श्रीवत्स आदि विष्णु के चिह्न हैं।

कहे ! मुझे बड़ा विस्मय हो रहा है। आप ही कृपा कर इस रहस्य को बतलाइए। मुझ-जैसा साधारण मनुष्य आप ईश्वरों की इच्छा नहीं जान सकता।

अत्रि ऋषि के ये वचन सुनकर वे तीनों देवश्रेष्ठ हँसकर मधुर वाणी से उन ऋषि से यों बोले। देवतों ने कहा—ब्रह्मन्, तुम सत्यसंकल्प हो, इसलिए तुमने जो इच्छा की है, वही होगा। तुमने जिस एक ईश्वर की आराधना की है, उसी के हम तीनों तीन रूप हैं। अर्थात् देखने में अलग-अलग तीन होने पर भी वास्तव में हम एक ही हैं। इसलिए तुम्हारा संकल्प अन्यथा न होगा। हम तीनों के अंश से तुम्हारे तीन पुत्र होंगे। वे जगत्प्रसिद्ध व्यक्ति होंगे और तुम्हारे यश को संसार में फैलावेंगे। तुम्हारा कल्याण हो।

इस प्रकार अत्रि ऋषि को उनकी इच्छा के अनुसार वरदान देकर, मुनि और मुनि-पत्नी की पूजा स्वीकार करके, उनके सामने ही तीनों देवता जैसे आए थे, वैसे ही वहाँ से चले गये। इसके उपरान्त यथासमय अत्रि मुनि के अनसूया के गर्भ से ब्रह्माजी के अंश से चंद्रमा, विष्णु भगवान् के अंश से योगी दत्तात्रेयजी और शंकर के अंश से महाक्रोधी दुर्वासा मुनि उत्पन्न हुए।

अब अंगिरा ऋषि की सन्तानें सुनो। अंगिरा की पत्नी श्रद्धा से सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति* नाम की चार कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अंगिरा ऋषि के स्वरोचिष नाम के दूसरे मन्वंतर में साक्षात् भगवान् का अंश उतथ्य ऋषि और ब्रह्मज्ञानी बृहस्पति, ये दो पुत्र भी उत्पन्न हुए।

पुलस्त्य ऋषि ने हविर्भू नाम की अपनी पत्नी के गर्भ से अगस्त्यजी और बड़े तपस्वी विश्रवा को उत्पन्न किया। यही अगस्त्य अन्य जन्म में जठर ( पेट ) में रहनेवाली अर्थात् भोजन को पचानेवाली अग्नि हुए। इसीसे अब भी लोग भोजन के बाद उसे पचाने के लिए अगस्त्य का नाम लेकर कई बार अपने पेट पर हाथ फेर लेते हैं। विश्रवा के इड़विड़ा नाम की स्त्री के गर्भ से यक्षों के राजा कुबेरजी उत्पन्न हुए। उन्हीं के केशिनी नाम की दूसरी स्त्री के गर्भ से रावण, कुंभकर्ण और विभीषण, ये तीन पुत्र हुए।

पुलह की भार्या गति ने कर्मश्रेष्ठ, वरीयान और सहिष्णु नाम के तीन पुत्र उत्पन्न किये।

ऋतु की भार्या क्रिया के साठ हज़ार बालखिल्य नाम के ऋषि उत्पन्न हुए। इनका शरीर अंगूठे की पोर के बराबर है; पर ब्रह्मतेज से अग्नि के समान प्रदीप्त रहते हैं।

वशिष्ठ के ऊर्जा ( अरुन्धती दूसरा नाम है ) नाम की पत्नी में चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान, ये सात पुत्र हुए। ये सातों अन्य मन्वन्तर में सप्तऋषि हुए। वशिष्ठ के अन्य स्त्री में शक्ति आदि सौ पुत्र हुए।

अथर्वा की पत्नी चित्ति के परम प्रसिद्ध दानी दधीचि हुए। इनका नाम अश्वशिरा भी है।

अब भृगु ऋषि का वंश सुनो। भृगु के ख्याति नाम की पत्नी में धाता और विधाता नाम के दो पुत्र और सदा भगवान् नारायण के निकट रहनेवाली श्री ( लक्ष्मी ) नाम की कन्या उत्पन्न हुई। मेरु पर्वत ने आयति और नियति नाम की सुंदरी कन्याएँ धाता और विधाता को ब्याह दी। धाता के आयति के गर्भ से मृकंड और विधाता के नियति के गर्भ से प्राण नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। मृकंड के पुत्र चिरजीवी मार्कण्डेय ऋषि हुए। प्राण के पुत्र वेदशिरा हुए। भृगु के अन्य पत्नी से एक पुत्र और थे। उनका नाम कवि था। कवि के पुत्र भार्गव भगवान् उशना हुए। इन्हीं को शुक्राचार्य्य भी कहते हैं।

हे विदुर, इन मुनियों ने प्रजा उत्पन्न करके इस त्रिभुवन को बसाया। यह कर्दमजी की कन्याओं का

---

*सिनीवाली कृष्णपक्ष की चौदस को, कुहू अमावस को, अनुमति शुक्लपक्ष की चौदस को और राका पूर्णिमा को कहते हैं। अर्थात् ये इन तिथियों की अभिमानिनी या अधिष्ठात्री देवता हैं।

वंश हमने तुमसे कहा है। श्रद्धापूर्वक जो कोई इसे सुनता है, उसके सब पाप दूर हो जाते हैं। अब मनु की तीसरी कन्या प्रसूति का वंश सुनो।

प्रसूति का विवाह स्वायंभुव मनु ने ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति से किया। दक्ष ने प्रसूति के गर्भ से सोलह कमलनयनी कन्याएँ उत्पन्न कीं। उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक पितरों को और एक भवबन्धन के मिटानेवाले भगवान् महादेव को ब्याही गईं। धर्म के साथ दक्ष की जिन तेरह कन्याओं का ब्याह हुआ, उनके नाम ये हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्त्ति। श्रद्धा के शुभ, मैत्री के प्रसाद, दया के अभय, शान्ति के सुख, तुष्टि के मुद, पुष्टि के स्मय, क्रिया के योग, उन्नति के दर्प, बुद्धि के अर्थ, मेधा के स्मृति, तितिक्षा के क्षेम और ह्री के प्रश्रय नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सब गुणों की खान मूर्त्ति के गर्भ से महर्षि नर-नारायण उत्पन्न हुए। नर-नारायण के जन्म के समय यह सारा विश्व बहुत प्रसन्न हुआ, सर्वत्र शान्ति छा गई। साधुजनों के मन एकदम प्रसन्न हो उठे। दिशाएँ प्रकाश से पूर्ण हो उठीं। शीतल, मंद, सुगंध पवन चलने लगा। नदियों का जल निर्मल हो गया, उसमें कमल आदि खिल उठे। पर्वतों ने अपनी खानों के गर्भ में छिपी हुई मणियाँ और रत्न प्रकट करके अपनी प्रसन्नता सूचित की। स्वर्गलोक में, आकाश में नगाड़े बजने लगे। देवगण पृथ्वी पर फूल बरसाने लगे। प्रसन्नचित्त मुनिगण भगवान् की स्तुति करने लगे। गंधर्व और किन्नर मंगल-गीत गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। ब्रह्मा आदि देवता आकर इस प्रकार दिव्य स्तोत्रों से नारायण की स्तुति करने लगे।

देवगण बोले—भगवन्, आपने अपनी माया के द्वारा अपने में, आकाश में गंधर्वनगर के समान, इस विश्व को रचा है। उसी अपने को प्रकाशित करने के लिए इस ऋषिरूप से धर्म के भवन में प्रकट करनेवाले परमपुरुष नारायण भगवान् को हम प्रणाम करते हैं। शास्त्रों की सहायता से हम सब आपके तत्त्व (रूप) का अनुमान कर सकते हैं। आपने अपने सत्व से अथवा माया के सतोगुण से जगत की मर्यादा को बनाए रखने के लिए हम देवगण की सृष्टि की है। हमारी प्रार्थना यही है कि आप लक्ष्मी के निवासस्थान कमल की शोभा को भी लज्जित करनेवाले अपने नयनारविन्दों की करुणापूर्ण दृष्टि से हमारी ओर देखिए।

इस प्रकार देवताओं की की हुई अपनी स्तुति सुनकर और उनकी की हुई अपनी पूजा स्वीकार करके भगवान् नारायण और नर दोनों ने अपनी कृपादृष्टि से देवताओं को कृतार्थ किया और फिर तपस्या करने के लिए गन्धमादन* पर्वत को चले गये। हे विदुर, वे ही हरि के अंश नर-नारायण पृथ्वी का भार उतारने के लिए यादवों और कौरवों में कृष्ण और अर्जुन नाम से प्रकट हुए थे।

अग्नि (लौकिक अग्नि) के अभिमानी अग्निदेवता की पत्नी स्वाहा ने पावक, पवमान और शुचि नाम के तीन पुत्र उत्पन्न किये। ये तीनों यज्ञ में डाली हुई आहुतियों को भोजन करते हैं। इन तीनों अग्नियों के पैंतालीस पुत्र हुए। वे भी सब यज्ञ में भाग पानेवाले अग्नि हैं। इस प्रकार एक पिता, तीन पुत्र और पैंतालीस पोते मिलाकर ४९ अग्नि हुए। ये अग्नि लौकिक नहीं हैं। वैदिक यज्ञों में वेदपाठी ब्राह्मण इन्हीं अग्नियों की इष्टि करते हैं। इष्टि एक वैदिक कर्म का नाम है।

अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, सोमप, आज्यप† आदि भिन्न-भिन्न नामोंवाले दिव्य पितर दो प्रकार के हैं—

---

* रुद्र-हिमालय का एक हिस्सा। यह गंधमादन पर्वतमाला बदरिकाश्रम के पास ही दक्षिण-पूर्व ओर है।

† अग्निरूप अग्निष्वात्ता कहलाते हैं। कुशा में स्थित बर्हिषद कहलाते हैं। सोमरस पान करनेवाले सोमप और घृत-पान करनेवाले आज्यप कहलाते हैं। ये पितरों के भेद या जातियाँ हैं। एक मत यह भी है कि अग्नि में मंत्र द्वारा यजन आदि करनेवाले अग्निष्वात्ता, कुशा आदि से केवल तर्पण आदि से यजन करनेवाले बर्हिषद, सोम से यज्ञ में देवताओं की अर्चा करनेवाले सोमप और घृत आदि से यजन करनेवाले आज्यप कहलाते हैं। अर्थात् इस लोक में विभिन्न कर्मकाण्ड के अनुसार यजन करनेवाले सकाम जीव पितृलोक में जाकर उक्त विभिन्न श्रेणियों में जन्म लेते हैं।

एक साग्नि और दूसरे निरग्नि। जिनका अग्नौकरण कर्म श्राद्ध में होता है, वे साग्नि कहलाते हैं और जिनका अग्नौकरण नहीं होता, वे निरग्नि। इन पितरों की पत्नी दक्ष की कन्या स्वधा थीं। स्वधा के पितरों से दो कन्याएँ हुईं। वयुना और धारिणी इनका नाम था। ये दोनों कन्याएँ ज्ञान-विज्ञान में पण्डिता, ब्रह्मवादिनी होने के कारण जीवन्मुक्त हो गईं। अतएव इन्होंने विवाह नहीं किया। इनके कोई सन्तान भी नहीं हुई।

दक्ष की कन्या सती का विवाह शिव भगवान् के साथ हुआ। उनके कोई पुत्र नहीं हुआ; क्योंकि गुण और शील-स्वभाव में अपने अनुरूप स्वामी को पाकर भी पिता के अपराध पर कुपित होकर थोड़ी ही अवस्था में उन्होंने शरीर-त्याग कर दिया। उनके पिता दक्ष प्रजापति ने अभिमान के वशीभूत होकर निर्दोष महादेव भगवान् की अकारण निन्दा की, उनका अपमान किया। अपने स्वामी के अपमान से क्रुद्ध होकर भगवती सती ने जवानी में ही योग की अग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया।

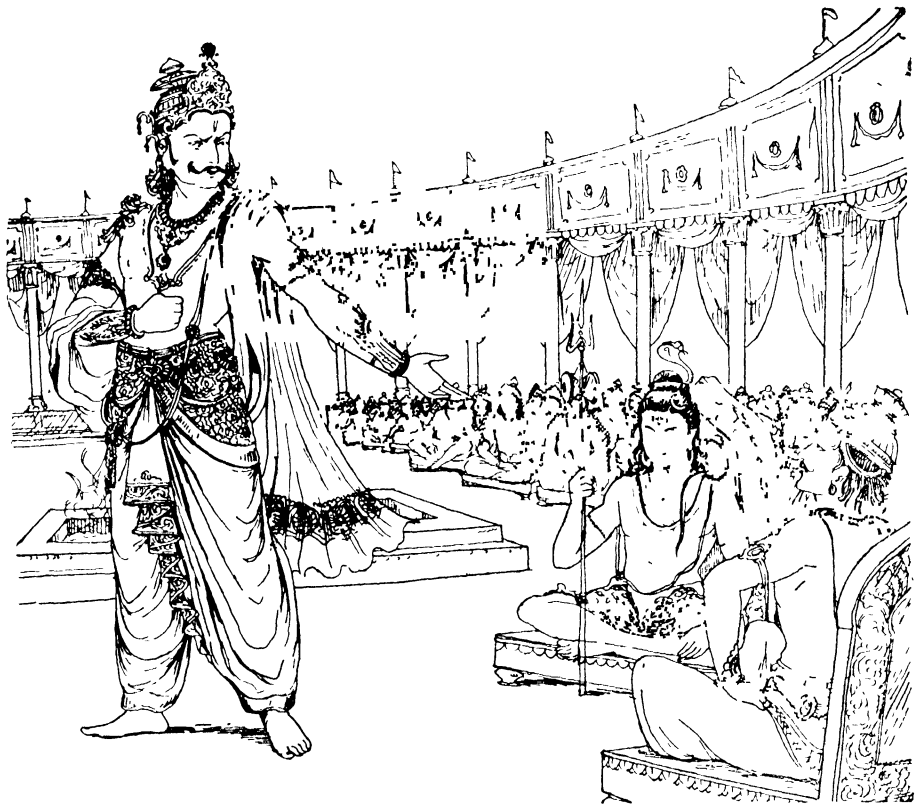
# दूसरा अध्याय

## शिवजी और दक्ष के विरोध का वर्णन

विदुरजी ने पूछा—भगवन, यह तो बड़ी विचित्र बात हुई! शिव भगवान् सुशील पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। दक्ष भी अपनी कन्याओं को बहुत चाहते थे। फिर अपनी कन्या सतीजी का अनादर करके दक्ष ने भगवान् शंकर से क्यों विद्वेष किया? हे मुनिवर महादेवजी तो किसी से वैर नहीं रखते। वह संपूर्ण चराचरजगत् के स्वामी हैं। उन शान्ति के उपासक जगद्गुरु, आत्माराम परमेश्वर से दक्ष ने क्यों वैर किया? यह जामाता (दामाद) और ससुर के विद्वेष की कथा आप मुझसे कहिए। यह विरोध बड़ा भयानक होगा, तभी तो सतीजी ने परम प्रिय और दुस्त्यज प्राण तज दिये।

मैत्रेयजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ विदुर, यह पुरातन इतिहास मैं तुमको सुनाता हूँ। पहले एक समय विश्व की सृष्टि करनेवाले प्रजापतियों ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उस महायज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, अनुचरोंसहित सब देवता और अग्नि एकत्र हुए। उस यज्ञ में सूर्य के समान तेजस्वी दक्ष प्रजापति भी आकर उपस्थित हुए। उनके तेज से वह महासभा प्रकाशित हो उठी। उनके तेज से और लोगों के तेज फीके पड़ गये। उनका स्वागत करने के लिए, आदर-भाव प्रकट करने के लिए सब सदस्य देवता, ऋषि-मुनि और अग्निगण अपने-अपने आसन से उठ खड़े हुए। केवल ब्रह्माजी और शिवजी अपने आसन पर बैठे रहे। सब सदस्यों ने दक्ष प्रजापति का स्वागत-सत्कार किया। तब दक्ष प्रजापति अपने पिता और लोकपितामह ब्रह्माजी को प्रणाम करके उनकी आज्ञा से उन्हीं के निकट अपने आसन पर बैठ गये। दक्ष ने देखा कि शिवजी पहले ही से अपने आसन पर विराजमान है। वह न तो उठे और न उनका सम्मान ही किया। इसे दक्ष ने अपना अनादर समझा। इस अपने अपमान को न सह सकने के कारण दक्ष को क्रोध चढ़ आया। टेढ़ी आँखों से मानो भस्म कर देंगे, इस भाव से शंकर की ओर देखते हुए दक्ष प्रजापति ने कहा— हे ब्रह्मर्षियो, देवतो और अग्नियो! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे आप लोग सुने। मेरा यह कथन साधुजनों के चरित्र या आचरण से संबंध रखता है। अज्ञान से अथवा ईर्ष्या से मैं यह नहीं कह रहा हूँ। यह मेरे पास बैठा हुआ शिव एक लोकपाल है। परन्तु यह निर्लज्ज अपनी करतूत

से लोकपालों के यश को मिटानेवाला है। कारण, इसने उचित कर्त्तव्य का पालन न करके सज्जनों के मार्ग को दूषित कर दिया। वानरों के-से नेत्रवाले इस अभिमानी ने मेरी मृगनयनी कन्या का पाणिग्रहण किया है—ब्राह्मणों के और अग्नि के सामने सावित्री के समान पवित्र मेरी कन्या को अपनी पत्नी बनाया है। मैंने भी इसे सज्जन जानकर अपनी कन्या ब्याह दी, इसलिए मेरा यह एक प्रकार का शिष्य है। पर मैंने धोखा खाया। मैं इसे सज्जन समझता था; किन्तु निकला यह सज्जन के वेष में असज्जन! मैं इसका गुरु हूँ और यह मेरा शिष्य, इसलिए इसको चाहिए था कि उठकर मेरा सत्कार करता, मुझे प्रणाम करता। परन्तु इसने केवल वाणी से भी मेरा सत्कार नहीं किया। इसने शास्त्रोक्त सब कर्म छोड़ दिए हैं। यह अपवित्र रहता है। इसे अपने ईश्वर होने का अभिमान है। इसने धर्म की मर्यादा तोड़ दी है। मेरी इच्छा तो न थी, परन्तु भावीवश मैंने अपनी कन्या इसे दे दी, जैसे कोई शूद्र को पवित्र वेद पढ़ा दे। यह घोर रूप से उन अपवित्र मसानों में भूत-प्रेतों के साथ घूमता है, जिनमे भूत-प्रेत रहते हैं। यह उन्मत्त की तरह सिर के बाल खोले नंगा-धड़ंगा विचरता है। कभी हँसता है, कभी रोता है। चिता की अपवित्र भस्म सारे शरीर में लगाये रहता है। प्रेतों के पहनने योग्य नरमुण्डों की, हड्डियों की माला पहने रहता है। वही इसका आभूषण है। नाम तो इसका शिव (कल्याण) है; पर रूप अशिव (अमंगलमय) है। यह भाँग-धतूरा खाकर मतवाला बना रहता है और ऐसे ही मतवाले लोग इसको प्रिय है। तमोगुणी या तामसी प्रकृतिवाले प्रेत, पिशाच, भूत, बेताल, यक्ष आदि का यह स्वामी या आधिनायक है। हा! कैसे शोक की बात है कि ब्रह्माजी के कहने से मैंने इस भूतनाथ, शौचहीन, कुटिल प्रकृतिवाले



और कुरूप को अपनी परम सुन्दरी सती सुशील कन्या व्याह दी। यह कदापि उसके योग्य वर नहीं था।

मैत्रेयजी कहते हैं—दक्ष प्रजापति के मुख से ये दुर्वचन सुनकर भी भगवान् शंकर विचलित नहीं हुए। उनके मन में दक्ष के प्रति क्रोध या विरोध के भाव नहीं उत्पन्न हुए। इसके विपरीत निन्दा करके भी दक्ष का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उन्होंने हाथ में जल लेकर भगवान् शंकर को यह शाप भी दे डाला कि "देवतों में अधम यह शिव आज से यज्ञों में इन्द्र, उपेन्द्र आदि देवतों के साथ यज्ञ का भाग न पावे।"

सभा में उपस्थित सब सभासद ऋषि-मुनि और देवता "हाँ-हाँ" कहकर रोकते ही रहे, किन्तु दक्ष ने क्रोधान्ध होने के कारण किसी का कहा नहीं माना। वह शंकर को शाप देकर उसी समय उठकर यज्ञ-शाला से चल दिए और अपने घर चले गए। शिवजी के पार्षदों में मुख्य भगवान नन्दीश्वर ने जब अपने स्वामी के लिए शाप सुना, तब क्रोध क आवेश से उनकी आँखें लाल हो गईं। उन्होंने भी उसी समय दक्ष को और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शंकर की निन्दा अथवा दक्ष के शाप का अनुमादन करनेवाले भृगु आदि को यह शाप दिया।

नन्दीश्वर ने कहा—भगवान् शंकर किसी से द्रोह नहीं रखते और न अन्याय का आचरण करते हैं। इस क्षणभंगुर शरीर को मूर्खतावश श्रेष्ठ मानकर भेदभाव रखनेवाला यह दक्ष भगवान् शंकर से द्रोह रखता है। इसने मेरे स्वामी की निंदा की है, उन्हें शाप दिया है। इसलिए मैं भी दक्ष को शाप देता हूँ कि वह परमार्थ ( मोक्ष ) के मार्ग से विमुख रहे। विषय-सुख भोगने की इच्छा से कूटधर्मयुक्त गृहस्थाश्रम में ही यह आसक्त है और "चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को अक्षय पुण्य होता है *" इस प्रकार के वैदिक वाक्यों ने इसकी बुद्धि को मोहित कर रक्खा है। यह महामूर्ख है। ज्ञानमार्ग को छोड़कर कर्मकाण्ड को ही श्रेष्ठ समझता है। यह दक्ष देह को ही आत्मा मानने के कारण आत्मा के यथार्थ रूप को नहीं जानता। यह पशु के समान स्त्री-संग में लगा रहे, अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग में सृष्टिकार्य के फेर में पड़ा रहे। शीघ्र ही इसका मुख बकरे का हो। यह शाप इसके योग्य ही है; क्योंकि यह अविद्या को ही विद्या जानता है, अर्थात् स्वर्ग आदि के लिए यज्ञ आदि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान को ही शास्त्र का तत्त्व मानता है। इस कारण यह सचमुच जड़ पशु ही है। इस दक्ष का साथ देनेवाले अर्थात् शंकर का निरादर करने और उन्हें शाप देने में दक्ष का अनुमोदन करनेवाले ये शिव के द्रोही ब्राह्मण भी इसी दक्ष की तरह कर्मकाण्ड में निरत रहकर संसार (बारम्बार जन्म-मरण ) के कष्ट को भोगते रहें। वेद की पुष्पित† ( स्वर्गलाभ आदि फल की आशा दिलानेवाली ) वाणी की मनोहर मीठी सुगन्ध ( स्वर्गादि लाभ के विश्वास ) से शिवद्रोही पुरुषों का मन क्षोभ और मोह को प्राप्त हो, अर्थात् वे भी कर्मकाण्ड में ही आसक्त रहें। ये ब्राह्मण सर्वभक्षी हों, अर्थात् इन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न रहे। ये केवल वृत्ति के लिए ( मोक्ष के लिए नहीं ) विद्याध्ययन, तप और व्रत आदि करें। धनोपार्जन में इनका मन लगा रहे, शरीर और इन्द्रियों के सुख में ये डूबे रहें। अब से याचक होकर पृथ्वी पर ये विचरें, अर्थात् इनकी भिक्षा-वृत्ति हो।

इस प्रकार जब नन्दीश्वर ब्राह्मण-वंश को शाप देने लगे, तब भगवान् भृगुजी को भी क्रोध आ गया। उन्होंने भी इसके बदले में अनिवार्य ब्रह्मदण्डरूप शाप इस प्रकार देना आरंभ किया—जो शिव के

---

*"अक्षय्य हि चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतंभवति।"

†पुष्पित कहने का भाव यह है कि जैसे वृक्ष में फूल देखकर फल की आशा की जाती है, वैसे ही बहुत से वेदमंत्र भी यज्ञ के फल का वर्णन करके उधर प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। जैसे "अपामसोममृता अभूविम" ( यज्ञ करके हम अमर हो जायेंगे ) अथवा "अक्षय्यं हि चातुर्मास्ययाजिनः सुकृत भवति" ( चातुर्मास्य यज्ञ करने का अक्षय पुण्य होता है ) आदि वेद के वचन हैं।

उपासक अथवा शैवमत के अनुगामी हैं, वे आज से पाखंडी हों। वे सत् शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करनेवाले हों। वे मूढ़मति अशुचि रहेंगे। सिर पर जटा, शरीर भर में राख और कंठ में हड्डियों की माला धारण करेंगे। ऐसे लोग शिवदीक्षा लेकर मदिरा और ताड़ी आदि का सेवन करेंगे। वर्णों और आश्रमों के सदाचार ( धर्म ) का निरूपण करनेवाला वेद ही है। ब्राह्मण लोग उस धर्म की मर्यादा के रक्षक वेद के अनुगत हैं। तुम लोग उसी वेद की और ब्राह्मणों की निन्दा करते हो, इसलिए पाखंडी हो। यह वेदोक्त मार्ग ही कल्याण करनेवाला सनातन धर्म है। पहले के सब श्रेष्ठ जन इसी मार्ग के अनुगामी रहे हैं। इस वेद के प्रवर्त्तक स्वयं जनार्दन विष्णु भगवान् हैं। तुम उसी परम सत्य, विशुद्ध, ब्रह्ममय, सनातन वेद की निंदा करते हो, इसलिए उसी पाखण्ड के मार्ग में जाओ, जिसमें तुम्हारे इष्टदेव भूतनाथ रुद्र हैं।

मैत्रेयजी कहते है—इस प्रकार भृगुजी जब शाप देने लगे, तब भगवान् शंकर कुछ उदास से होकर वहाँ से उठकर अपने गणों के साथ वहाँ से चल दिये। भगवान् शंकर के उदास होने का कारण यही था कि इस प्रकार दोनों पक्षों ने परस्पर शाप देकर व्यर्थ ही अपने को हानि पहुँचाई।

इसके उपरान्त विश्वस्रष्टा प्रजापतियों ने सर्वश्रेष्ठ देवदेव हरि की आराधना और पूजा करके सहस्र वर्ष में उस यज्ञ को समाप्त किया। अन्त में गंगा-यमुना के संगम-स्थल तीर्थराज प्रयाग धाम में स्नान करके शुद्ध-हृदय होकर वे अपने-अपने धाम को गये।

# तीसरा अध्याय

## सतीजी और महादेव का संवाद

मैत्रेयजी कहते है—हे विदुर, इस प्रकार प्रजापति दक्ष और भगवान् शंकर, दोनों में द्वेष का भाव बहुत दिनों तक बना रहा। ससुर-दामाद का नाता होने पर भी न दक्ष ने ही अपनी भूल समझकर शंकर को मनाया और न शंकर ही उनसे मिले; क्योंकि उन्हें कोई इसकी आवश्यकता ही न थी। इसी अवसर में ब्रह्माजी ने दक्ष को सब प्रजापतियों का अधिपति बना दिया। यह श्रेष्ठ पद मिल जाने से दक्ष को अपनी श्रेष्ठता का और भी अधिक अभिमान हो गया। इसी अभिमान के कारण दक्ष ने भगवान् शंकर आदि ब्रह्मज्ञानी ईश्वरों का निरादर करके, अर्थात् न बुलाकर, वाजपेय नाम का यज्ञ किया और उसके उपरान्त बृहस्पतिसव नामक* श्रेष्ठ महायज्ञ का आरंभ कर दिया। यद्यपि रुद्रभाग के बिना यज्ञ संपन्न नहीं होता, तथापि दक्ष ने अभिमान के कारण भगवान् रुद्र को बिना बुलाए ही यज्ञ करने का निश्चय कर लिया। तात्पर्य यह कि शिवजी एक तो यज्ञ में पूजनीय देवता हैं, दूसरे दक्ष के जामाता भी थे; इसलिए उन्हें अवश्य ही बुलाना चाहिए था; पर दक्ष ने अभिमान के मारे न तो नाते का विचार किया, न शास्त्र को ही माना।

दक्ष के बृहस्पतिसव यज्ञ में सब ब्रह्मर्षि, देवऋषि, पितर, देवता और उनकी पत्नियाँ निमंत्रित होकर आईं। दक्ष ने उनका स्वागत-सत्कार किया, पूजा की। दक्षिणा, धन-रत्न, आभूषण-वस्त्र आदि देकर सबका सम्मान किया। आकाश में चलनेवाले देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि विमानों पर बैठे आपस में दक्ष के यज्ञ की चर्चा करते जा रहे थे। दक्ष की कन्या सती ने उनके मुख से अपने पिता के घर यज्ञ के महा उत्सव

* वेद में यही विधान है—"वाजपेयनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत।" अर्थात् वाजपेय यज्ञ के उपरान्त बृहस्पतिसव यज्ञ करे।

की बात सुनी। सतीजी ने अपने भवन के चारों ओर गन्धर्व, विद्याधर आदि उपदेवतों की सुन्दरी स्त्रियों को देखा। वे कंठ में सुन्दर बहुमूल्य आभूषण धारण किये, सुन्दर वस्त्र पहने विमानों पर बैठी अपने पतियों के साथ जा रही थीं। उनके नेत्र उत्साह से चंचल हो रहे थे। कुंडलों की झलक से मुखमंडल शोभित थे। उन स्त्रियों को अपने पिता के यज्ञ में जाते देखकर सतीजी के मन में भी पिता के यज्ञ में जाने की उत्सुकता उत्पन्न हो गई। वह सब प्राणियों के स्वामी अपने पति शंकरजी से यों कहने लगीं।

सतीजी ने कहा—भगवन, आपके ससुर ने इस समय यज्ञ का आरंभ किया है। वहाँ बड़ा भारी उत्सव होगा। देखिये, ये सब देवगण अभी जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि अभी यज्ञ समाप्त नहीं हुआ, यज्ञ का आरंभ ही हुआ है। इसलिए यदि आप की इच्छा हो तो मैं भी आपके साथ वहाँ चलूँ। निश्चय ही वहाँ मेरी सब बहनें अपने सुहृद्गण को देखने की इच्छा से, अपने पतियों के साथ, वहाँ जायँगी। मैं भी चाहती हूँ कि वहाँ आपके साथ जाकर पिता-माता के दिये हुए वस्त्र, अलंकार, पूजा आदि प्राप्त करूँ। वहाँ मेरी बहनें अपने पतियों के साथ आई होंगी, मेरी मौसी आई होंगी। उन्हें मै देखूँगी, उनसे मिलूँगी। मेरी स्नेहमयी माता मुझे देखकर गले से लगा लेंगी। उन स्नेहार्द्रचित्त माता से मैं मिलूँगी। बहुत दिनों से इन सबको देखने के लिए मेरा चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। हे शंकर, वहाँ यज्ञशाला में फहराने के लिए महर्षियों के द्वारा उठाई जानेवाली ध्वजा को मैं देखूँगी। हे शंकर, आपको यदि यज्ञ देखने के लिए कौतूहल न हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं। कारण, अनेक आश्चर्यों से पूर्ण यह त्रिगुणमय जगत् आप ही की माया ने रचा है और आप ही में प्रकाशमान है। परन्तु मै स्त्री हूँ, उत्सुकता और कौतूहल स्त्रीजाति में स्वाभाविक होता है। आपके तत्त्व को मै नहीं जानती। इसीसे अपनी जन्मभूमि देखने के लिए इस तरह आकुल और उत्सुक हो रही हूँ। हे अज, हे नीलकंठ, देखिए, अन्य स्त्रियाँ, जिनका कोई नाता नहीं है, वे भी अपने पतियों के साथ हज़ारों की संख्या में वहाँ जा रही है। ये सब वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत हैं। इनके राजहंस के समान श्वेतवर्ण उड़ते हुए विमानों ने आकाशमार्ग को छा लिया है। आप जन्मरहित है। आपका न कोई अपना है और न पराया। इसलिए आपको यज्ञ में जाने की कोई उत्सुकता नहीं है। परन्तु मुझसे बिना गये रहा नहीं जाता। भगवन, जब अन्य सब स्त्रियाँ जा रही है, तब भला पिता के घर उत्सव होने का समाचार सुनकर कन्या से बिना गये कैसे रहा जा सकता है? कन्या का चित्त जाने के लिए उत्सुक हुए बिना कैसे रह सकता है? उसका मन उत्सव देखने के लिए अवश्य ही मचलेगा। यदि आप कहें कि इन



सब स्त्रियों को और इनके पतियों को तो निमन्त्रण मिला है, इसलिए ये जा रहे हैं, तुम्हें तो निमंत्रण नहीं मिला, तो हे सुरश्रेष्ठ, इस विषय में मेरा यही कहना है कि पिता, पति, गुरुजन और सुहृद् ( मित्र ) के घर बिना बुलाए भी लोग जाते हैं। हे स्वामी, आप करुणानिधान हैं। इसलिए मुझ पर प्रसन्न होइए और मेरी यह अभिलाषा पूरी कीजिए। आपका मुझ पर ऐसी कृपा है कि परमज्ञानी और निर्लिप्त होकर भी आपने मुझे अपने आधे अंग में स्थान दिया है, मुझे अर्द्धांगिनी बनाया है। मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ। मुझ पर यह अनुग्रह कीजिए।

मैत्रेयजी कहते हैं—सतीजी ने जब इस प्रकार प्रार्थना की, तब शिवजी को दक्ष के उन मर्मभेदी तीर के समान तीक्ष्ण कटु वाक्यों का स्मरण हो आया, जो उन्होंने विश्वस्रष्टा प्रजापतियों के यज्ञ में अपने लिए कहे थे। सुहृद् लोगों के प्रिय भक्तवत्सल शंकर ने हँसकर सतीजी से इस प्रकार कहा। शंकर ने कहा—हे सुंदरी, हे प्रिये, तुमने जो यह कहा कि बिना बुलाये भी अपने बन्धुओं के यहाँ उत्सव आदि के अवसर पर जाना चाहिए, सो ठीक है। किन्तु वे बन्धुजन यदि प्रबल देहाभिमान से उत्पन्न होनेवाले क्रोध के कारण दोष-दृष्टि से न देखते हों, तभी उनके यहाँ बिना बुलाये भी जाना उचित है। विद्या, तपस्या, धन, नीरोग शरीर, अवस्था और कुल, ये छः बातें सज्जनों के लिए तो गुण हैं; किन्तु यदि असज्जन इन गुणों के अधिकारी हुए तो उनके लिए ये गुण दोष बन जाते हैं। इन गुणों से असाधुओं का विवेकज्ञान नष्ट हो जाता है। 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ, बडा तपस्वी हूँ, बडा कुलीन हूँ,' इस प्रकार के अभिमान से अन्धे होकर महात्मा-साधुओं के तेज को, गुणों को वे नहीं देख पाते। ऐसे अव्यवस्थित-चित्त अभिमानी लोगों को अपना सगा बन्धु और स्वजन जानकर कभी भूलकर भी उनके घर नहीं जाना चाहिए। वे दुष्ट मदान्ध लोग अपने घर आये हुए अभ्यागतों को भौंहें टेढ़ी करके लाल आँखों की टेढ़ी दृष्टि से देखते हैं। प्रिये, शत्रु के मारे हुए तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से घायल होकर पृथ्वी पर पड़े हुए व्यक्ति को उतनी व्यथा नहीं होती, जितनी कि कुटिल भाव रखनेवाले स्वजनों के कटुवचनरूप बाणों की मर्मस्थल में लगनेवाली चोट से हृदय में व्यथा होती है। शत्रु के बाणों की चोट तो थोड़ी ही देर कष्ट पहुँचाती है, किन्तु वाक्यबाणों के प्रहार से दिन-रात मन में सन्ताप और हृदय में व्यथा होती रहती है। हे सती, मैं यह मानता हूँ कि तुम उत्तम पद के अधिकारी दक्ष प्रजापति की कन्या हो। यह भी मुझे विदित है कि प्रजापति को तुम सब कन्याओं से बढ़कर प्यारी हो। तो भी तुम मेरी पत्नी हो और दक्ष मुझसे द्वेष का भाव रखते है, इसलिए वह तुम्हारा भी आदर और सम्मान नहीं करेंगे। यदि कहो कि आपसे दक्ष के द्वेष रखने का कारण क्या है तो उसका कारण केवल तुम्हारे पिता का अभिमान ही है। अहंकारहीन पुरुषों की समृद्धि और कीर्ति देख-सुनकर दक्ष-जैसे देहाभिमानी मदान्ध लोगों के अन्तःकरण में जलन उत्पन्न होती है, वे दुःखित होते हैं। परन्तु वे मूढ़जन उन श्रेष्ठ पुरुषों के पद या ऐश्वर्य को प्राप्त करने में असमर्थ ही रहते हैं। फल यह होता है कि वे अपने से श्रेष्ठ जनों से द्वेष रखने लगते हैं, जैसे असुरगण विष्णु भगवान् से शत्रुता रखते हैं। दक्ष जो मुझसे द्वेष रखते हैं, उसका यथार्थ कारण यही है। यदि कहो कि आपने ही तो उन्हें प्रणाम नहीं किया, उन्हें देखकर भी उनका स्वागत करने के लिए नहीं उठे, इसलिए दोष आप ही का है, तो हे देवि, लौकिक रीति के अनुसार अपने से बड़े को देखकर उठ खड़े होना, कुशल-प्रश्न, विनय, प्रणाम आदि करना अवश्य ही शिष्टाचार है और उसका पालन मुझ-जैसे ज्ञानीजन भी करते हैं। किन्तु देहाभिमानी और ज्ञानी में यह अन्तर है कि ज्ञानीजन सबके हृदय में आत्मा के रूप से स्थित परमपुरुष ब्रह्म या वासुदेव को मन से प्रणाम आदि करते हैं और देहाभिमानी लोग देह या व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य करके इस प्रकार का सम्मान दिखाते हैं। तात्पर्य यह कि मैंने मन से ईश्वर-बुद्धि से दक्ष को प्रणाम और सत्कार किया था, देहाभिमानी दक्ष का शरीर

से उठकर प्रणाम आदि से सत्कार नहीं किया। अन्तर्यामी ईश्वर के सम्मान में दिखावे की क्या आवश्यकता ? मैं केवल अभ्यागतों को ही वासुदेव* अधोक्षज† भगवान् की दृष्टि से प्रणाम नहीं करता, बल्कि नित्य ही मन मे उन वासुदेव का ध्यान किया करता हूँ। विशुद्ध सत्व या चित्त का नाम वसु-देव ( वस्तु-प्रकाशक) है। मैं उसमें स्थित या प्रकाशमान वासुदेव (परमात्मा) की उपासना या वन्दना सदैव किया करता हूँ। इसलिए दक्ष ने मुझसे विरोध ठाना है, उसमें मेरा कोई दोष नहीं है। देखो, वह तुम्हारे इस शरीर को उत्पन्न करनेवाले पिता अवश्य है; किन्तु मेरा कहा मानो, उन्हें देखने के लिए न जाओ। वह मुझसे शत्रुता रखते हैं, उन्होंने विश्वस्रष्टा प्रजापतियों के यज्ञ में अनेक दुर्वचन कहकर अकारण ही मेरा तिरस्कार किया है। मेरा कोई अपराध नहीं था। इसलिए पतिद्रोही दक्ष और उनके अनुगामी अन्य लोगों का मुँह देखना तुम्हे उचित नही है। मैं कहे देता हूँ, यदि तुम मेरा कहा नहीं मानोगी, मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो तुम्हारा कल्याण न होगा, तुम्हारी कुशल नहीं। मैं जानता हूँ कि सुप्रतिष्ठित मानी व्यक्ति का यदि स्वजन निरादर करते हैं, तो वह निरादर शीघ्र ही उस मानी व्यक्ति के मरण का कारण होता है।

# चौथा अध्याय

## सतीदेवी का शरीर-त्याग

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, शंकर भगवान् इतना कहकर चुप हो गये। उन्होंने समझ लिया कि सती को जो मैं जाने की आज्ञा नहीं देता तो भी वह प्राणत्याग कर देंगी और यदि वहाँ जायँगी तो भी इनका शरीर नहीं रहेगा। उधर सतीजी भी बन्धुओं को देखने की प्रबल उत्सुकता से व्याकुल हो रही थीं और शंकर के कुपित होने की आशंका भी उन्हे घेरे हुए थी। इसलिए जब उत्सुकता बढ़ती थी, तब बाहर निकल आती थीं, और जब शिवजी के कोप का ध्यान आता था, तब लौट आती थीं। यों बारम्बार बाहर आने और भीतर जाने से जान पड़ने लगा कि सती ने दो रूप रख लिये हैं। आत्मीयों को देखने की इच्छा में बाधा पड़ने से सतीजी अत्यन्त उदास हो उठीं। स्नेहवश वह रोने लगीं, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। व्याकुल होकर सतीजी अपने स्वामी शंकर को, जिनके समान या जिनसे बड़ा और कोई पुरुष नहीं है, यों क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखने लगीं, जैसे उन्हे भस्म कर देंगी। उनका शरीर क्रोध के आवेश से काँपने लगा। क्रोध और शोक के वेग से सतीजी का हृदय व्यथित हो उठा। उन्होने एक लंबी साँस छोड़ी। इसके उपरान्त, अन्त को, उनकी बुद्धि स्त्री-स्वभाव के कारण मूढ़ हो गई। प्रेम के कारण अपने आधे अंग मे स्थान देनेवाले सज्जनों के प्रिय इष्टदेव शंकर को छोड़कर सतीजी उनकी आज्ञा के बिना ही अपने पिता के घर चल दीं। इस प्रकार अकेले ही शीघ्रगति से जा रही सतीजी को देखकर भगवान् शंकर के हज़ारों पार्षद

---

* वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति कई तरह से की जा सकती है। एक "वासयति देवमिति वासुदेवः" अर्थात् शरीर के प्रकाशक आत्मा में बसनेवाला परमात्मा। दूसरी "वसत्यस्मिन्निति वासुः, दीव्यते द्योतते इति देवः" अर्थात् शरीर में बसनेवाला जीव वासु है और उसे प्रकाशित करनेवाला परमात्मा वासुदेव है। तीसरी "वसुभिः पुण्यैः दीव्यति प्रकाशते इति वासुदेवः" अर्थात् सतोगुण अथवा पुण्यकर्मरूप साधना से प्रकाशित होनेवाले परमेश्वर का नाम वासुदेव है।

† अधोक्षज शब्द की व्युत्पत्ति यह है—"अधोभूतेषु प्रत्याहृतेषु अक्षेषु इन्द्रियेषु जायते प्रकाशते इति अधोऽक्षजः।" अर्थात् विषयों से खींची गई, लौटाई गई भीतरी इन्द्रियों में या अन्तःकरण में जो प्रकाशित या भासित होता है, उस परमात्मा का नाम अधोक्षज है।

और मणिमान्, मद आदि यक्ष सवारी के लिए नन्दीश्वर को आगे करके निर्भय भाव से शीघ्रता के साथ उनके पीछे चले। देवी के समीप पहुँचकर उनको नन्दीश्वर की पीठ पर बिठाकर सब दक्ष के भवन की ओर चल दिये। पार्षदगण सतीजी के मनोरंजन और शृंगार की सामग्री तोता, मैना, गेंद, दर्पण, कमल, श्वेत छत्र, चँवर, माला आदि राजविभूतियाँ लिये हुए उनके साथ हो लिये। गाने-बजाने की सामग्री, भाँति-भाँति के बाजे भी साथ ले चले। शंख, बाँसुरी, नगाड़े आदि बजाते हुए सब शिव के गण दक्ष की यज्ञशाला मे पहुँच गये।



सतीदेवी ने पिता के घर पहुँचकर यज्ञशाला में प्रवेश किया। वहाँ चारों ओर बैठे हुए ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे थे। यज्ञ के पशुओं की बलि दी जा रही थी। सर्वत्र यज्ञ की विविध सामग्रियों से भरे हुए मिट्टी, लकड़ी, लोहे, सोने, कुश और चमड़े के बने पात्र यथास्थान यथोचित रूप से रक्खे हुए थे। वहाँ पहुँचने पर दक्ष ने सती को देखकर भी उनका आदर नहीं किया। वह कन्या से मुँह से बोले तक नहीं। इस कारण माता, मौसी और बहनों के सिवा और किसी ने भी यज्ञ करनेवाले यजमान दक्ष के भय से उनका आदर-सत्कार नहीं किया। केवल माता और बहनें "अच्छा हुआ, तुम आ गईं" कहकर आनन्द प्रकट करती हुई आदर के साथ सतीजी से मिलीं। उनके नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आए, उनका गला रुँध गया। वे सब सतीजी से मिलीं-भेंटीं। यद्यपि बहनों ने बहन के स्नेह से और माता ने सतीजी से सादर कुशल-प्रश्न किया, बैठने को आसन दिया, वस्त्र, आभूषण आदि दिए, परन्तु पिता ने बात भी न पूछी, अनादर किया, इसलिए सतीजी ने माता और बहनों के किए हुए आदर-सत्कार को स्वीकार नहीं किया। उनके कुशल-प्रश्न को जैसे उन्होंने सुना ही नहीं, इस प्रकार कुछ उसका उत्तर नहीं दिया—उनके दिए आसन और वस्त्र, अलंकार, पूजा आदि को छुआ हो नहीं। सतीजी ने सब ओर दृष्टि डालकर देखा, उन्हें कहीं पर शिवजी का भाग रक्खा नहीं देख पड़ा। इस प्रकार यज्ञ-सभा के बीच सती ने देखा कि उनके पिता ने उनके स्वामी महेश का भी अपमान किया है, केवल उन्हीं का नहीं। तब पिता के किये अनादर से परमेश्वरी सतीदेवी को बड़ा क्रोध चढ़ आया। वह ऐसी दृष्टि से देखने लगीं, मानो सब लोकों को अपने कोप से भस्म ही कर डालेंगी। सती के कुपित होने पर उसी घड़ी दक्ष का विनाश करने के लिए सतीजी के तेज से अनेकों भूतगण प्रकट हो गए। परन्तु देवी सती ने उन गणों को रोक लिया। इसके उपरान्त शिव के

द्रोही और कर्मकाण्ड मे लिप्त रहने से अहंकार करनेवाले अपने पिता से उपस्थित सब लोगों के सामने हा सतीजी यों बोली। क्राध के अधिक हा जाने के कारण सतीजी की वाणी अस्पष्ट हो रही थी।

श्रीदेवीजी ने कहा—पिता, इस लोक में भगवान् शंकर से काई बड़ा नहीं है। वह समदर्शी ज्ञानी हैं, इसलिए उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। वह सब प्राणियों के आत्मा होने के कारण सबको सब प्रिय वस्तुआ से भी बढ़कर प्रिय हैं। वह सर्वव्यापी होने के कारण किसी से वैर नहीं रखते। ऐसे भगवान् नील-कण्ठ से तेरे सिवा और कौन ऐसा महामूढ़ होगा, जो वैर रक्खेगा? हे द्विज, इस संसार मे चार प्रकार के पुरुष है। जो तुम्हारे समान पर-संतापी हैं, वे पराये गुणों को भी दोष की दृष्टि से देखते हैं। वे अधम कहलाते है। कुछ लोग गुणां में दोष-दृष्टि नही रखते। वे मध्यम है। जो गुण-दोष का ग्रहण ठीक-ठीक विवेक-बुद्धि से करते है, वे महान् या उत्तम पुरुष है। साधुजन केवल पराये गुणों को ही देखते है, दोषों को नहा। वे महत्तर या उत्तमतर है। इन चारा से भिन्न एक उत्तमतम या महत्तम महापुरुष भी होते है, जो पराये दोषों को तो देखते ही नही, किन्तु पराये थोड़े से भी गुण को बहुत करके उसका बखान करते है। सदाशिवजी ऐसे ही महत्तम व्यक्ति है। कैसे शोक की बात है कि तुमने उनका भी दोष लगाया और वैर किया! परन्तु यह कोई आश्चर्य का बात नही है। दुर्जनों का स्वभाव ही यह है। जो लाग तुम्हारे समान इस जड़ शरीर को ही आत्मा या सब कुछ मानकर देहाभिमान में मूढ़ हो रहे हैं, वे दुर्जन इर्ष्या के वश होकर शंकर-जैसे शान्त, शिष्ट महापुरुषों की निन्दा करते ही है। यद्यपि ज्ञानी सज्जन अपनी निन्दा सुनकर उसे सह लेते हैं, उससे उनके मन में विकार नही उत्पन्न होता; उनको देहाभिमान नहा होता, इस कारण उनके लिए निन्दा और स्तुति दोनों ही समान है; तथापि उन महापुरुषों क चरणों की रज इस अधर्म को नहीं सहती। उन सज्जन महापुरुषों के चरणों की रज उक्त दुर्जनों का ऐश्वर्य तथा तेज से भ्रष्ट कर देती है। इस कारण दुर्जनों के लिए साधुओं की निन्दा ही भली है; क्योंकि शीघ्र प्रतिफल मिल जाने से उनके परसन्तापरूप पाप का प्रायश्चित्त हो जाता है। ऐश्वर्य और तेज से भ्रष्ट हो जाने पर उन दुर्जनों की बुद्धि ठिकाने हो जाती है। जिनका 'शिव' यह दो अक्षर का नाम एक बार भी किसी बहाने से यदि मुँह से निकल जाता है, तो शीघ्र ही सब पातकों को मिटा देता है, जिनकी आज्ञा को टालने की शक्ति किसा में नहीं है, उन पवित्र कीर्तिवाले शिव (कल्याण) रूप शिव से तुम द्वेष रखते हो, इसलिए तुम अमंगलरूप हो। [ शिवजी के पक्षपाती होने का वर्णन करके अब सतीजी यह बतलाती है कि वही भोग और मोक्ष के भी देनेवाले है। ] हे प्रजापति, भ्रमर के समान सज्जनों का मन ब्रह्मरस पान करने के लिए जिनके चरणारविन्दों में भाँवरें भरा करता है, जो सकाम भक्तों की सब अभिलाषाएँ पूरी करते हैं, उन सम्पूर्ण विश्व के बन्धु, भोग और मोक्ष दोनों के दाता शंकर से तुम द्रोह रखते हो। [ दक्ष ने निन्दा करते समय शिवजी के ऊपर जो आक्षेप किये ये, अब सतीजी उनका उत्तर देती हैं। ] हे दक्ष, तुमने भगवान् शंकर की निंदा करते समय कहा था कि "इनका नाम तो शिव है, परन्तु रूप और वेष अशिव है; क्योंकि यह नरमुंडों की माला, जटा, भस्म, हड्डी आदि धारण किये पिशाचों के साथ श्मशान में विचरते हैं", इत्यादि, सो क्या तुम्हारे सिवा अन्य बड़े और श्रेष्ठ देवता ब्रह्मा आदि इस बात को नहीं जानते? वे तो जटाएँ फैलाकर, भस्म रमाकर, नरमुण्डों की माला पहनकर, मसानों में भूत-प्रेत-पिशाचों के साथ विचरनेवाले उन्हीं अशिवरूप शिवजी के चरणों पर चढ़े हुए निर्माल्य को अपने सिर पर धारण करते हैं! यदि तुम्हारे ही समान वे भी शंकर को अशिव समझते तो उनकी उपासना क्यों करते? शास्त्र की यह आज्ञा है कि कोई निरंकुश व्यक्ति अपनी उपस्थिति में जहाँ धर्म के रक्षक अपने पूजनीय स्वामी की निन्दा करता हो और अपने में उसको दण्ड देने की शक्ति न हो तो अपने दोनों कान उँगलियों से बंद

करके वहाँ से उठ जाय। अथवा यदि अपने में शक्ति हो तो जो दुर्जन इस प्रकार के दुर्वचन कह रहा हो, उसकी जीभ को बलपूर्वक पकड़कर निकाल ले या काट डाले और उसके उपरान्त आप भी प्राणत्याग कर दे। ऐसा करना ही उचित धर्म है। तुम शिवजी की निन्दा करनेवाले हो। मेरा यह शरीर तुमसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए मैं इस शरीर को छोड़ दूँगी। यदि कोई भूल से, भ्रम से, मोहवश अशुद्ध अन्न खा ले तो वमन करके उस अन्न को निकाल डालने से ही शुद्धि होती है। शास्त्र यही कहता है। तुमने निन्दा करते समय कहा था कि "यह शास्त्रोक्त कर्म नहीं करते, अशुचि रहते है" इत्यादि, सो जो लोग आत्मानन्द के भोग में ही सन्तुष्ट रहते हैं, पूर्ण विरक्त हैं, उन महामुनियों की बुद्धि कभी विधि-निषेधरूप * वेद के वाक्यों का अनुगमन नहीं करती; क्योंकि वे विधि-निषेध के अधिकार या सीमा से परे हो जाते हैं। जैसे देवतों की गति आकाशमार्ग में हैं और मनुष्यों की गति पृथ्वी में, न देवता पृथ्वी पर रहते हैं और न मनुष्य आकाश में चल सकते हैं, वैसे ही जिसका जो अधिकार है, जिसका जो धर्म ( प्रवृत्तिधर्म या निवृत्तिधर्म ) है, उसको उसीमें स्थित रहना चाहिए। दूसरे मार्ग पर चलनेवालों के ऊपर किसी को आक्षेप नहीं करना चाहिए। कारण, अधिकार के भेद से सभी मार्ग ठीक हैं। [ इसी बात को सतीजी और खोलकर कहती हैं। ] वेदोक्त प्रवृत्ति ( अग्निहोत्र आदि ) और निवृत्ति ( शम, दम आदि ) के दोनों प्रकार के कर्म सत्य हैं। दोनों का वेद में ही विधान है। वेद ने विवेचनापूर्वक भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकार के अनुसार इनकी व्यवस्था की है। एक मनुष्य या कोई भी व्यक्ति एक समय में एक ही धर्म का आचरण कर सकता है। कारण, ये आचरण में परस्पर विरुद्ध हैं। यदि कहो कि ऐसा ही सही, तो फिर शिवजी को निवृत्तिधर्म के कर्म तो करने ही चाहिए, तो शिवजी तो ब्रह्मरूप हैं। उन्हें इनमें से किसी धर्म के आचरण की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् जैसे प्रवृत्तिधर्मवाले को निवृत्तिधर्म का आचरण न करने से और निवृत्तिधर्मवाले को प्रवृत्तिधर्म का आचरण न करने से दोष नहीं होता, वैसे ही सदाशिव ब्रह्म को प्रवृत्ति-निवृत्तिमूलक दोनों प्रकार के कर्म न करने से दोष नहीं होता। तुमने कहा था कि "यह चिता की भस्म सारे शरीर में लगाकर नंगे-धड़ंगे रहते है, इसलिए असभ्य और ऐश्वर्य से रहित है" इत्यादि, सो हे पिता, हममें जो अणिमा आदि योग की सिद्धियाँ हमारे न चाहने पर भी अवस्थित है, उन्हें तुमने देखा भी नहीं। तुम्हारा ऐश्वर्य तो केवल धुआँधार से भरी हुई इन यज्ञशालाओं में ही है। यज्ञ के अन्न से तृप्त होनेवाले देवता और पितर ही इस ऐश्वर्य की बड़ाई करते है। कर्मकाण्डी लोग ही इस ऐश्वर्य का भोग करते है और इसे बहुत समझते है। हमारा ऐश्वर्य ऐसा नही है। हमारा ऐश्वर्य हमारी इच्छामात्र से सर्वत्र सब समय प्रकट हो सकता है। उसका कारण अव्यक्त ( ब्रह्म ) है। ब्रह्मज्ञानी लोग ही उस ऐश्वर्य की महिमा जानते और उसका उपभोग करते हैं। इसलिए तुम यह वृथा गर्व न करो कि मैं ऐश्वर्यशाली हूँ और रुद्र भगवान् दरिद्र है। बस, अब बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। तुम भगवान् शंकर के अपराधी हो। इसलिए तुमसे उत्पन्न मेरा यह शरीर भी निन्दित और रहने योग्य नहीं है। तुम दुर्जन हो; तुमसे संबंध रखने के कारण मुझे लज्जा मालूम पड़ती है। जिस जन्म से महान् लोगों का, महापुरुषों का अपराध हो, उनका अप्रिय बन पड़े, उसे धिक्कार है। तात्पर्य यह कि तुम्हारे इस अपराध की भागिनी मैं भी हूँ; क्योंकि तुम मेरे पिता हो। भगवान् शंकर जब कभी हँसी में भी दाक्षायणी अर्थात् दक्ष की कन्या कहते हैं, तब मुझे बड़ी लज्जा मालूम पड़ती है, बड़ा खेद होता है। इसलिए तुम्हारे शरीर से उत्पन्न इस मृतक के समान अपवित्र अपने शरीर को अभी यहीं नष्ट किये देती हूँ।

* जिन वाक्यों में "ऐसा करना चाहिए" ऐसी व्यवस्था है, वे विधिवाक्य कहलाते हैं और जिनमें "ऐसा न करना चाहिए" यह निषेध है, वे निषेध-वाक्य हैं।

मैत्रेयजी कहते हैं—यज्ञ की भरी सभा में अपने पिता दक्ष से यों कहकर सतीजी चुप हो गईं और उत्तर की ओर मुख करके ( क्योंकि उसी ओर स्वामी का भवन कैलाश था ) पृथ्वी पर बैठ गईं। पीताम्बर ओढ़े हुए देवी ने आचमन करके आँखें मूँद करके ( अर्थात् सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर ) प्राण-त्याग करने के लिए योगमार्ग का आश्रय लिया। पहले आसन को स्थिर करके प्राण ( ऊर्ध्ववायु ) और अपान ( अधोवायु ) को रोककर नाभिचक्र में एकरूप से स्थिर अर्थात् समान किया। फिर वहाँ से उदान ( मिले हुए तीनों प्रकार के प्राणवायु ) को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर बुद्धि के साथ हृदय में स्थापित किया। उसके बाद यशस्विनी सतीदेवी उसे कंठ के मार्ग से भौंहों के बीच मे ले गईं। बड़े-बड़े देवतों के भी पूजनीय भगवान शंकर जिस सुन्दर सुकुमार शरीर को आदर और प्यार के साथ गोद मे बिठाते थे, सतीजी ने दक्ष पर क्रोध करके उसी शरीर को त्याग देने की इच्छा से वायु को रोककर उसके द्वारा अंगों में योग की अग्नि उत्पन्न कर दी। उस समय भगवती सतीजी ने सब ओर से अपने चित्त को हटा लिया। वह हृदय मे अपने स्वामी जगद्गुरु शंकर के चरणों का ध्यान करने लगी। उन्हे सर्वत्र शिव के ही दर्शन होने लगे। उनका शरीर शुद्ध होकर शीघ्र ही समाधि से उत्पन्न अग्नि से जलने लगा। यह दुर्घटना देखकर आकाश मे और पृथ्वी पर उपस्थित सब लोग आश्चर्य से चकित हो उठे। सबको बड़ा दुःख हुआ। सभी हाहाकार करते हुए कहने लगे—हाय ! कैसे खेद की बात है कि प्रजापति दक्ष के किये हुए अनादर से कोप करके देव-देव शंकरजी की प्रिय पत्नी सतीजी ने शरीर-त्याग कर दिया ! अहो, दक्ष की दुर्जनता तो देखो ! यह प्रजापति हैं, चराचर विश्व इनकी प्रजा है, इसलिए इनको सब पर स्नेह रखना चाहिए। सो इन्होंने अपनी ही कन्या के स्नेह को भुला दिया, उसका भी आदर न किया। इनके सामने ही कन्या ने शरीर-त्याग कर दिया और इन्होंने रोका नहीं। मनस्विनी सती भगवती सबकी पूजनीय और माननीय है। उनका स्वयं उनके पिता ने अनादर किया। कैसे अनर्थ की बात है ! शिव से द्वेष रखनेवाले ब्रह्मद्रोही दक्ष का हृदय बड़ा कठिन है ! इनकी संसार मे बड़ी निन्दा और अपकीर्ति होगी। कारण, इन्होंने अपने ही अपराध से, अपने ही आगे प्राणत्याग करने के लिए अपनी ही कन्या को नही रोका।

सतीजी के मरण की अति अद्भुत घटना को देखकर जब सब लोग इस प्रकार कहने लगे, तब उनके इस कथन को सुनकर शिवजी के पार्षद, जो सतीजी के साथ आये थे और यज्ञशाला के बाहर खड़े थे, अपने शस्त्र उठाकर दक्ष को मारने के लिए यज्ञशाला मे घुस पड़े। उन गणों को वेग से आते देखकर यज्ञ के आचार्य भगवान् भृगु ने "अपहतं रक्ष" इत्यादि यज्ञविघ्नविनाशक मंत्र पढ़कर दक्षिणाग्नि मे आहुति छोड़ी। अध्वर्यु भृगु के आहुति डालते ही हज़ारों ऋभु नाम के यज्ञरक्षक देवता उस अग्नि से प्रकट हुए। ये ऋभु देवता तपोबल से सोमरस ( यज्ञ-भाग ) पाने के अधिकारी हुए हैं। ब्रह्मतेज के प्रभाव से प्रबल ऋभुगण ने जलती हुई लकड़ियों से शिवजी के प्रमथ, यक्ष आदि पार्षदों को मार भगाया।

---

# पाँचवाँ अध्याय

## वीरभद्र के हाथ से दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

मैत्रेयजी कहते हैं—नारदजी ने उसी समय जाकर भगवान शंकर को यह समाचार सुनाया कि दक्ष प्रजापति के अपमान करने से कोप करके भगवती सती ने शरीर-त्याग कर दिया और भृगु के तपोबल से उत्पन्न ऋभु नाम के देवतों ने आपके पार्षदों को मारकर भगा दिया। यह सुनकर शिव भगवान्

के क्रोध की सीमा नहीं रही। उन्होंने रुद्ररूप धारण कर लिया। घोर क्रोध के मारे दाँतों से होंठ चबाते हुए रुद्र ने उसी घड़ी अपने सिर से एक जटा उखाड़ ली, जो बिजली और अग्नि की ज्वाला के समान उग्र प्रकाश से परिपूर्ण थी। फिर सहसा उठकर क्रोध से घोर अट्टहास और सिंहनाद करते हुए शंकर ने उस जटा को पृथ्वी पर पटक दिया। उसी जटा से महाभयानक वीरभद्र उत्पन्न हुए। वीरभद्र का शरीर बहुत लम्बा-चौड़ा और ऊँचा था। वह अपने शरीर से स्वर्गलोक को छू रहे थे। वह कपालों की माला पहने थे। उनका शरीर मेघ के समान श्याम था। तीन नेत्रों में सूर्य के समान ज्योति थी। कराल दाढ़ें चमक रही थीं। सिर के केश जलती हुई अग्निशिखाओं के समान जान पड़ते थे। वह अपने हज़ार हाथों में अनेक प्रकार के शस्त्र ताने हुए थे। ऐसे घोररूप वीरभद्र हाथ जोड़कर, शंकर के आगे खड़े होकर कहने लगे—"स्वामी, क्या आज्ञा है? क्या करूँ?" तब भगवान् भूतनाथ शिवजी ने कहा—हे युद्ध-निपुण रुद्र, जाओ, यज्ञसहित दक्ष को नष्ट कर दो। तुम मेरे गणों में मुख्य और मेरा ही अंश हो, इस कारण ब्रह्मतेज भी तुम्हारे लिए दुर्जय न होगा, अर्थात् भृगु के ब्रह्मतेज से भी तुम्हारा कुछ अनिष्ट न होगा।



कुपित रुद्र की यह आज्ञा पाकर वीरभद्र ने देवदेव शंकर की परिक्रमा की। उस समय वीरभद्र ने अपने को अपने अनिवार्य वेग से बड़े से बड़े बलशाली को भी परास्त करने में समर्थ समझ लिया। शिवजी की आज्ञा से और सब पार्षद भी बारम्बार गरजते हुए वीरभद्र के पीछे चले। वीरभद्र अपने तीक्ष्ण त्रिशूल को तानकर भयानक सिंहनाद करते, पैरों के आभूषणों को बजाते, दौड़ते हुए बड़े वेग से चले। वह त्रिशूल संसार का संहार करनेवाले मृत्यु को भी मार सकता था।

रुद्र के गणों के दौड़ने से इतनी धूल उड़ी कि आकाश छिप गया। इधर दक्ष की यज्ञशाला में बैठे हुए ऋत्विज, यजमान, सदस्य, ब्राह्मण और उनकी स्त्रियाँ, सबने उत्तर दिशा में धूल उड़ने का अन्धकार देखा तो आपस में यों कहने लगे कि दिन के समय यह अन्धकार कैसा छा रहा है? और भी ध्यान देने से उन्हें जान पड़ा कि यह तो अन्धकार नहीं, धूल है। तब वे सोचने लगे कि यह इतनी धूल कैसे उड़ी है? कारण, इस समय आँधी नहीं चल रही है। चोरों का भी यह धावा नहीं हो सकता; क्योंकि अपराधियों को कठोर दण्ड देनेवाले राजा प्राचीनबर्हि का राज्य है और वह अभी जीवित हैं। यह गोधूलि की वेला भी नहीं है, जो गउओं के चरकर घर लौटने से यह धूल उड़ी है। तो फिर क्या यह उत्पातसूचक धूल है? क्या आज लोकों का प्रलय होनेवाला है और यह उत्पात उसी की सूचना दे रहा है?

दक्ष की स्त्री प्रसूति आदि सब स्त्रियाँ घबराकर व्याकुल होकर आपस में कहने लगीं—निश्चय यह

इसी पाप का फल है कि और कन्याओं के सामने ही प्रजापति ( दक्ष ) ने बिना अपराध के अपनी कन्या सती का अनादर किया। इसमें सन्देह नहीं कि यह भयानक उत्पात यह सूचना दे रहा है कि उस कुकर्म का फल शीघ्र ही मिलनेवाला है। [और बहनों के आगे अपमान होने से सतीजी को और भी अधिक दुःख हुआ, यही इस कथन से सूचित किया गया है।] फिर स्त्रियाँ कहने लगीं—दक्ष ने केवल अपनी कन्या का ही अनादर नहीं किया, भगवान् शंकर का भी तिरस्कार किया है, इस कारण अब कुशल नहीं है। रुद्र भगवान् प्रलयकाल में अपनी जटायें बिखेरकर, त्रिशूल की नोकों पर दिग्गजों को उठाकर या त्रिशूल की नोकों से दिग्गजों को छेदकर, वज्रपात के समान घोर अट्टहास से दिशाओं को विदीर्ण करते हुए ध्वजा के समान अपनी सशस्त्र भुजाओं को फैलाकर ताण्डव नृत्य करते हैं। उनका तेज असह्य है। उनका स्वभाव सहज ही क्रोधी है। उनके कुपित होकर भौंहें टेढ़ी करने से भयंकर मुख के आगे कोई नहीं ठहर सकता। उनकी विकराल दाढ़ों की चमक के आगे नक्षत्रों की ज्योति भी फीकी जान पड़ती है। उन महाकालरूपी शिव भगवान् को कुपित करने से स्वयं विधाता की भी कुशल नहीं, और किसी की कौन कहे!

यज्ञशाला में स्थित सब नर-नारी उद्विग्न होकर उस धूल की ओर देखते हुए इस प्रकार आपस में बातें करने लगे। इतने में पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष में चारों ओर अनेकों घोर उत्पात होने लगे। उन उत्पातों को देखकर बड़े साहसी दक्ष के भी मन में भय उत्पन्न हुआ। इसी बीच में दौड़ते हुए आ रहे रुद्र के पार्षदों ने आकर चारों ओर से उस यज्ञशाला को घेर लिया। कोई गण बौना था। किसी के शरीर का वर्ण पिंगल था। किसी का रंग पीला था। किसी का मुख और पेट मगर का जैसा था। इसी प्रकार के विचित्र और भयानक आकृति के वे गण हाथों में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। कुछ गणों ने प्राग्वंश* को तोड़ डाला, कुछ ने पत्नीशाला † को नष्ट कर दिया। कुछ ने सदस्यों के बैठने के स्थान सभामंडप ‡ को मिटा दिया। कुछ ने आग्नीध्रशाला § को, कुछ ने यजमानशाला को और कुछ ने पाकशाला को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। कुछ गणों ने यज्ञ-पात्रों को खंड-खंड कर डाला। कुछ गणों ने यज्ञकुण्डों में मूत्रत्याग करके अग्नियों को बुझा दिया। कुछ गणों ने उत्तरवेदी की मेखलाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। कुछ ने मुनियों को पकड़कर मारना-पीटना आरंभ कर दिया। कुछ वहाँ उपस्थित स्त्रियों को डराने-धमकाने लगे। कुछ ने पास ही भाग रहे देवगण को दौड़कर पकड़ लिया।

मणिमान् नाम के गण ने आचार्य भृगु को पकड़कर बाँध लिया। वीरभद्र ने यजमान दक्ष प्रजापति को बलपूर्वक पकड़ लिया। चण्डीश ने पूषा देवता को और नन्दीश्वर ने भग देवता को पकड़ लिया। यह देखकर यज्ञसभा में उपस्थित सब ऋत्विक्, सदस्य और देवगण भय के मारे चारों ओर भागने लगे। जो पकड़े मिले, उन्हें तो गणों ने पकड़ लिया और जो नहीं पकड़े जा सके, दूर निकल गए, उन्हें शिवजी के पार्षद पत्थर फेंक-फेंककर मारने और पीड़ा पहुँचाने लगे। स्रुवा हाथ में लिये हुए आचार्य भृगु अग्नि में आहुति डाल रहे थे, इसी समय भगवान शंकर के ही दूसरे रूप वीरभद्र ने उनकी दाढ़ी पकड़कर उखाड़ ली। जब दक्ष शिवजी की निन्दा कर रहे थे, तब भृगु ने हँसकर दाढ़ी से इशारा करके उन्हें उत्साहित किया। यह उसी का दंड उनको मिला। नन्दीश्वर ने क्रोधित होकर भग देवता को पृथ्वी पर गिरा दिया

---

* यज्ञशाला के पूर्व-पश्चिम खंभों पर रक्खा हुआ बाँस।

† पत्नीशाला स्त्रियों के बैठने के स्थान को कहते हैं। यह यज्ञशाला के पश्चिम ओर होती है।

‡ यह यज्ञशाला के सामने होता है।

§ सभामंडप के सामने हविर्धान और उसके उत्तर में आग्नीध्रशाला होती है।

और उनकी आँखें निकाल लीं। शिव की निन्दा के समय भग देवता ने आँख के इशारे से दक्ष को उत्साहित किया था। यह उसी का दंड था। वीरभद्र ने पूषा देवता के सब दाँत वैसे ही गिरा दिये, जैसे बलदेवजी ने कलिंग देश के राजा के दाँत अनिरुद्ध के विवाह में द्यूत के अवसर पर गिरा दिये थे। शिव की निन्दा के समय पूषा देवता दाँत निकालकर हँसे थे। यह उसी कुकर्म का दंड उनको मिला।

इसके उपरान्त वीरभद्र ने दक्ष को पटककर, छाती पर बैठकर, पैने खड्ग से उनका सिर काटने की चेष्टा की; परन्तु दक्ष का सिर नहीं कटा। जब तादृश अस्त्र-शस्त्रों से भी दक्ष की खाल तक न कटी, तब वीरभद्र को बड़ा विस्मय हुआ। वह बड़ी देर तक सोचते रहे। अन्त को एक उपाय उन्हें सूझा। उन्होंने सोचा, यज्ञ में गला घोटकर या गर्दन मरोड़कर पशु मारे जाते हैं। मैं भी इसी उपाय से क्यों न काम लूँ। बस, वीरभद्र ने वैसा ही किया। गरदन मरोड़कर दक्ष का सिर उन्होंने धड़ से अलग कर लिया। उस समय शिव के अनुचर भूत-प्रेत-पिशाच तो आनन्द से उछलने-कूदने और वीरभद्र के कर्म की प्रशंसा करने लगे, किन्तु और सब लोग हाहाकार करने लगे।

वीरभद्र ने उस यजमान-पशु के सिर को लेकर दक्षिणाग्नि में* डाल दिया और इस प्रकार यज्ञ का विध्वंस† करके वह कैलाश पर्वत की ओर चल दिये।

# छठा अध्याय

## ब्रह्माजी का देवतों के साथ जाकर शिवजी को मनाना

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, शिव भगवान् के गणों ने इस प्रकार त्रिशूल, पट्टिश, निस्त्रिंश, गदा, बेलन, मुद्गर आदि अनेकों शस्त्रों से ऋत्विक्, सदस्य और देवतों के अंगों को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब शंकर की सेना से पराजित, भय से व्याकुल और घायल होकर वे ब्रह्माजी के समीप गए। ब्रह्माजी को प्रणाम करके उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सबके अन्तर्यामी भगवान् नारायण और ब्रह्माजी पहले ही से जानते थे कि शिव के द्रोही दक्ष के यज्ञ की कुशल नहीं है, वहाँ इस प्रकार का अनर्थ होगा। इसी-लिए वे दक्ष के यज्ञ में आये ही नहीं थे। ब्रह्माजी देवतों से सब वृत्तान्त सुनकर बोले—साधारणतः देखा जाता है कि समर्थ तेजस्वी पुरुषों के दोष के बदले में भी उनका अपराध करनेवाले लोगों का कल्याण नहीं होता। फिर शिवजी का तो कुछ दोष ही न था। उनका अपराध करनेवाले दक्ष का और दक्ष का साथ देने-वाले का कल्याण कैसे हो सकता था? किन्तु यद्यपि शिवविहीन यज्ञ में जाकर तुमने बड़ा अपराध किया है,

---

*बलिपशु का सिर तामस होने के कारण राक्षसों का भाग होता है। राक्षसों के भाग की आहुति दक्षिण अग्नि में ही देने का विधान है। इसीलिए वीरभद्र ने बलिपशुरूप दक्ष के सिर की आहुति दक्षिण अग्नि में डाली।

†यदि कोई यह शंका करे कि वैदिक कर्म करनेवाले यजमान की और सदस्यों की यह दशा क्यों हुई? यज्ञ करने से तो कल्याण ही होना चाहिए, फिर दक्ष का अकल्याण क्यों हुआ? यज्ञ का विध्वंस क्यों शिवजी ने कराया? इसका उत्तर यह है कि दक्ष ने अभिमान के कारण वेद की आज्ञा के विरुद्ध शिव का बहिष्कार करके यज्ञ का आरम्भ किया था। अतएव शिव के भाग से हीन होने के कारण वह यज्ञ अवैदिक हो गया था। सदस्यों ने भी शास्त्र की इस आज्ञा के विरुद्ध काम किया था कि 'सभा में यदि अधर्म होता हो, और आदमी उसका प्रतिवाद न करे तो वह दोष का भागी होता है। जहाँ अधर्म होता हो वहाँ कभी न जाना चाहिए और यदि पहले चला भी गया हो तो फिर वहाँ न ठहरना चाहिए।" इसीसे सदस्यों को भी उसका फल भोगना पड़ा।

तथापि वह भोलानाथ हैं, चरणों की शरण में जाने पर बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। तुम चलकर विशुद्ध हृदय से निष्कपट भाव से चरणों पर गिरकर शंकर को प्रसन्न करो। यद्यपि तुम लोगों ने यज्ञ में रुद्र को भाग न देकर अक्षम्य अपराध किया है, तथापि मुझे विश्वास है कि विनय करने से अपराध भूलकर वह तुम्हें क्षमा कर देंगे। पहले दक्ष के कुवाक्य-बाणों ने शिवजी के हृदय को चोट पहुँचाई, उसके बाद दक्ष के ही दोष से उन्हें प्रिया सती का वियोग हो गया। इसीसे कुपित होकर उन्होंने यज्ञ का विध्वंस कर डाला। यह यज्ञ क्या है, शंकर के क्रोध करने पर लोकपालोंसहित सब लोकों का संहार हो जाता है! तुम लोग यदि यह चाहते हो कि यज्ञ की पूर्त्ति हो तो शीघ्र चलकर उन्हें प्रसन्न करो, अपने अपराध को क्षमा कराओ। उनके तत्त्व और बल-वीर्य के परिमाण को मैं, इन्द्र, तुम सब देवता, ऋषि-मुनि आदि सब देहधारी नहीं जानते। वह स्वतन्त्र ईश्वर हैं। उनके सिवा और कौन तुम्हारे अंगों की पूर्ति अथवा यज्ञ पूर्ण करने का उपाय कर सकता है? तात्पर्य यह कि उन्होंने ही यज्ञ का विध्वंस किया है और वही उसकी पूर्ति कर सकते हैं; उन्हीं के कोप से तुम्हारे अंग नष्ट हुए हैं और वही उन अंगों की पूर्त्ति करके तुम्हें सांगोपाग बना सकते हैं। उनके किये को अन्यथा करने की शक्ति किसी दूसरे में नहीं है।

इस प्रकार देवतों को आज्ञा देकर ब्रह्माजी ने देवता, पितर, प्रजापति आदि सब को साथ लिया और अपने लोक से पर्वतों में श्रेष्ठ कैलाश पर्वत को गये। कैलाश पर्वत शंकर का प्रिय निवासस्थान है। उस पर्वत पर जन्म ही से सिद्ध अथवा ओषधि, तप, मंत्र और योग आदि उपायों के बल से सिद्ध हुए सिद्ध, विद्याधर, किन्नर, यक्ष, आदि देवता और उपदेवता ही रहते हैं, मनुष्य नहीं रहते। गन्धर्व और अप्सराएँ वहाँ विहार करने के लिए जाती हैं। उसके शिखरों में अनेकों मणियाँ चमकती हैं। अनेक गेरू, मैनसिल आदि धातुओं के रंगों से उन शिखरों की चित्र-विचित्र शोभा देख पड़ती है। अनेकों प्रकार के वृक्ष, लता, घास आदि से वे शिखर बड़े मनोहर हो रहे हैं। अनेकों प्रकार के मृग इधर-उधर विचरते-चरते देख पड़ते हैं। निर्मल जल के अनेकों झरने उनमें झरते हैं। कैलाश पर्वत की अनेकों एकान्त कंदराओं में, चट्टानों पर, अपने स्वामियों के साथ सिद्धों की स्त्रियाँ रमण किया करती हैं। कहीं मोर अपनी मनोहर वाणी से मन को मस्त कर देते हैं। कहीं फूलों की महक में मस्त मतवाले भौंरे गुंजार करते हैं। कहीं कोकिलाएँ पंचम स्वर में कुहू-कुहू करती हैं। कहीं भाँति-भाँति के पक्षी बोल रहे हैं। सब कामना पूरी करनेवाले लंबी शाखाओंवाले वृक्ष जैसे उस पर्वत की भुजाएँ हैं। उनसे मानो वह पक्षियों को अपनी ओर बुला रहा है। ऊँचे-ऊँचे हाथियों के चलने से जान पड़ता है, मानो वह पर्वत ही अचल भाव छोड़कर सचल हो रहा है। झरनों के शब्द से जान पड़ता है, मानो वह बोल रहा है। मंदार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताल, कोविदार, असन, अर्जुन, आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चंपा, पाटल, अशोक, वकुल (मौलसिरी), कुन्द, कुरबक, सुनहले शतपत्र, इलायची, मालती, कुब्जक, मल्लिका, माधवी आदि फूले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वत की शोभा को बढ़ा रहे हैं। इनके सिवा पनस (कठहल), उदुम्बर (बर्गद), पीपल, गूलर, पकरिया, हींग, भोजपत्र के वृक्ष, अनेक औषधियाँ, पूग (छोटी सुपारी), राजपूग (बड़ी सपारी), जामुन, खजूर, अमिल्तास, आम*, प्रियाल, महुआ, इंगुदी, वेणु (ठोस बाँस), कीचक (पोले बाँस) आदि अनेकों फलयुक्त वृक्षों के वन अलग ही शोभायमान हैं। कैलाश पर्वत पर बने हुए सुन्दर सरोवरों या झीलों में कुमुद, उत्पल, कह्लार, शतपत्र (ये सब कमलों के भेद हैं) आदि के फूल फूले हुए हैं, जिनसे वहाँ की अपूर्व शोभा हो रही है। सरोवरों के किनारे हंस, सारस, चक्रवाक आदि पक्षी अपनी मधुर विचित्र बोली बोल रहे हैं। मृग, बंदर, सुअर (जंगली), सिंह, भालू, स्याही, नीलगाय, कस्तूरी-मृग, आठ पैरों

*आम का नाम दो बार आया है, इससे आम के भेद समझ लेना चाहिए, जैसे कलमी और तुखमी।

वाले शरभ, बाघ, रुरु, भैंसे आदि अनेकों पशु उस पर आनन्द से घूम रहे या विश्राम कर रहे हैं। एक कान, एक पैरवाले और घुड़मुहे यक्ष, प्रमथ, किंपुरुष आदि शिव के गण इधर-उधर फिर रहे हैं। नदियों के दोनों तटों पर घने केले के वन उस पर्वत की शोभा को बढ़ा रहे हैं। देवी सती के स्नान से पवित्र जलवाली अलकनन्दा ( गंगा ) उस पर्वत को चारों ओर से घेरे हुए है। ऐसे विचित्र शोभायुक्त शंकर के रहने के स्थान कैलाश पर्वत को देखकर देवगण को बड़ा विस्मय हुआ।

वहाँ देवतों ने धनपति कुबेर की अलकापुरी और उनका सौगंधिक नाम का वन देखा। इस वन ( बाग ) में इसी नाम के बहुत ही सुगंधित अद्भुत कमल के फूल भी उन्होंने देखे। भगवान् विष्णु के चरणों की रज के स्पर्श से परमपवित्र नंदा और अलकनंदा नाम की गंगा की धाराएँ भी अलकापुरी के बाहर बहती हुई उन्होने देखीं। देवतों की स्त्रियाँ अपने विमानों से उतरकर उन नदियों में जलविहार करती हैं। अपने पतियों पर हाथों से जल उलीचती हुई वे देवियाँ सुरत के श्रम को मिटाती है। नहाते समय उन देवियों के स्तनों से धुलकर बही हुई नई केसर से रंग से वह जल पीला और सुगंधित हो जाता है। प्यास न रहने पर भी हाथी उस जल को स्वयं पीते और हथनियों को भी पिलाते है। अलकापुरी मे बड़े-बड़े ऊँचे भवन चाँदी, सोने और विविध रत्नों से सुशोभित हो रहे हैं। उन ऊँचे विमानों में यक्षों की स्त्रियाँ इधर-उधर विचरती हैं। जैसे बिजली से सुशोभित बादल आकाश में शोभायमान होते है, वैसे ही उन सुंदरियों से सुशोभित वे भवन कैलाश पर्वत पर बसी हुई अलकापुरी मे शोभायमान हो रहे हैं।

कुबेर की पुरी और उनके सौगंधिक वन को नाँघकर देवगण और आगे बढ़े। देवगण ने देखा, सौगंधिक वन मे हृदय को आनन्द देनेवाले और सब इच्छाएँ पूरी करनेवाले वृक्ष विचित्र फूलों, फलों और पत्तों से सुसज्जित है। उन वृक्षों पर भौंरे गुजार कर रहे है। कोयल तथा और अनेक पक्षी चहचहा रहे है। राजहंसों के झुंड बड़ी प्रसन्नता के साथ उस वन के जलाशया मे कलोल कर रहे है। पद्मों से युक्त नहरें और सरोवर मन को मोह रहे है। जंगली हाथियों ने अपने अंग रगड़-रगड़कर हरिचंदन के वृक्षों की छाल उधेड़ डाली है, इसलिए उन चंदन के वृक्षों की सुगंध को साथ लेकर चलनेवाला पवन बारम्बार यक्षों की स्त्रियों के मन में कामदेव को जगा रहा है। बावलियों में कमल के फूल इतने खिले हैं कि जान पड़ता है, वे कमलों की माला पहने हैं। मूंगे की बनी हुई उन बावलियों की सीढ़ियों पर यक्ष, किन्नर आदि बैठे हुए जी बहला रहे हैं।

उस वन को नाँघकर और कुछ आगे जाने पर देवतों ने एक बहुत बड़ा बर्गद का वृक्ष देखा। वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा और पचहत्तर योजन फैली हुई शाखाओं से चारों ओर विस्तृत था। उसकी सघन शीतल छाया सदा बनी रहती है, सूर्य का ताप उसे नष्ट नहीं करता। उस वृक्ष के नीचे किसी प्रकार का ताप नहीं रहता। उस पर किसी पक्षी का घोसला नही है। वह वृक्ष महायोगमय है। मोक्ष की इच्छा रखनेवाले परमहंस योगीजन उसका आश्रय लेते है। देवगण ने जाकर देखा, उसी वृक्ष के नीचे भगवान् शंकर विराजमान है। उस समय क्रोध को त्यागे हुए काल के समान वह देख पड़ते थे, अर्थात् उनका क्रोध जाता रहा था और वह शान्त भाव से बैठे थे। महासिद्ध, शान्तस्वभाव सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और यक्ष-राक्षसों के स्वामी और शंकर के सखा कुबेरजी शंकर की सेवा मे उपस्थित थे। देवगण ने देखा कि संसार भर के हितैषी देवदेव ईश्वर शंकर एकाग्रचित्त से योग-समाधि लगाये, स्नेह से लोकों के मंगल की कामना से, परब्रह्म की उपासना कर रहे हैं। यद्यपि उन्हे स्वयं आनन्दमय होने के कारण योगमार्ग के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि और लोगों के कल्याण के लिए अर्थात् उन्हें मोक्षदायक योगमार्ग में प्रवृत्त

करने के लिए * स्वयं योगसमाधि लगाये हुए हैं। तपस्वियों के प्रिय चिह्न भस्म, दण्ड, जटा, मृगछाला आदि धारण किये हैं। उनका शरीर संध्याकाल के मेघ के समान अरुणवर्ण है। सिर पर चन्द्रकला शोभायमान है। ब्रह्मचारियों के आसन कुशासन पर बैठे हुए नारद को उनके प्रश्न के अनुसार ब्रह्मज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। नारदजी तथा अन्य सनकादि सज्जन महात्मा मन लगाकर उस उपदेश को सुन रहे हैं। दाहनी जाँघ पर बाएँ चरण को रक्खे है और घुटने पर बाईं भुजा को टेके दक्षिण बाहु मे तर्क-मुद्रा † धारण किये हैं। कलाई में रुद्राक्ष की माला पड़ी हुई है। भगवान् शंकर बाईं भुजा से योगपट्ट (टेकनी) का सहारा लिये एकाग्र भाव से ब्रह्मानन्द का अनुभव कर रहे थे। ब्रह्म का मनन करनेवाले मनुष्यों में श्रेष्ठ भगवान् शंकर के दर्शन पाते ही मुनियों ने और इन्द्र, वरुण आदि लोकपालों सहित सब देवतों ने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। ब्रह्माजी को, आया हुआ देखकर भगवान शंकर लोकाचार दिखाने के लिए उठ खड़े हुए। चराचरजगत् जिनके चरणों में प्रणाम करता है, उन शंकर ने स्वयं जगत्पूज्य होकर भी सिर झुकाकर वैसे ही उन्हें प्रणाम किया, जैसे वामनरूप विष्णु भगवान ने कश्यपजी को प्रणाम किया था। तात्पर्य यह कि ब्रह्माजी को पिता के नाते से बड़ा मानकर रुद्र भगवान् ने उन्हे प्रणाम किया। शिवजी के पास बैठे हुए अन्य सिद्ध, महर्षि, सनकादि और नारद ने भी ब्रह्माजी की वन्दना की।



शिवजी के यों उठकर प्रणाम करने और जगत्पूज्य होकर भी लोकाचार दिखाने पर हँसकर ब्रह्माजी ने यों कहा।

ब्रह्माजी बोले—हे देवदेव महादेव, मैं जानता हूँ कि आप जगत् की योनि जो शक्ति (प्रकृति) है और बीज जो शिव-स्वरूप पुरुष है, उनके परम कारण होकर भी उन दोनों से अलग भेदरहित विकारशून्य ब्रह्म है। तात्पर्य यह कि यद्यपि आप हीनता प्रकट करके मुझे प्रणाम करते हैं, तथापि आपके ऐश्वर्य को मैं जानता हूँ। यहाँ यह शंका हो सकती है कि कारण और कार्य में ऐसी विभिन्नता कैसे हो सकती है?

---

* जैसा कि भगवान् ने गीता मे कहा है—श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, उन्हीं का अनुकरण छोटे लोग करते हैं। यथा—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥"

† योगशास्त्र में इसी आसन से बैठने को लिखा है। यथा—"एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा बाहु वीरासनमिदंस्मृतम्॥" इस आसन का नाम वीरासन है।

‡ तर्कमुद्रा का लक्षण यह है—"तर्जन्यंगुष्ठयोरग्रे मिथःसंयोज्य चाङ्गुलीः। प्रसार्य बंधनं प्राहुस्तर्कमुद्रेति तांत्रिकाः॥" अर्थात अँगूठा और उसके पास की उंगली को मिलाकर और उंगलियो को जोड़कर आगे फैलाना— इस बधन को तर्कमुद्रा कहते हैं।

पर यह शंका ठीक नहीं। हे भगवन्, जैसे मकड़ा अपने जाले को अपने मुख से अपनी इच्छा से प्रकट करके कुछ समय तक उसमें क्रीड़ा करता है और फिर इच्छानुसार उसे अपने में लीन कर लेता है, पर उससे अलग ही रहता है, वैसे ही आप अपने रूप अर्थात् अंश पुरुष और प्रकृति को अपने से प्रकट करके उनके द्वारा क्रीड़ा करने के लिए इस विश्व की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं। आप ही ने दक्ष के द्वारा धर्म-अर्थ-काम देनेवाले वेद की रक्षा के लिए, अर्थात् वेद-विधि का पालन करने के लिए, इस यज्ञ की रचना की थी। हे शिव, आप ही ने वेदरूप अपनी आज्ञा से वर्णों और आश्रमों के आचाररूप धर्म की मर्यादा बाँधी है। आचारनिष्ठ ब्राह्मण लोग श्रद्धा के साथ उसका पालन अर्थात् रक्षा करते हैं। हे मंगलमय, आप ही पुण्यकर्म करनेवालों को स्वर्ग और मोक्षरूप पुण्य का फल देते हैं। वैसे ही पापकर्म करनेवालों के लिए घोर नरक की व्यवस्था करते हैं। फिर कहीं-कहीं किसी के लिए इस नियम के विपरीत क्यों देखा जाता है, जैसा कि दक्ष के सम्बन्ध में हुआ? इसका कारण आपका कोप तो हो ही नहीं सकता। आपके चरणों में मन लगानेवाले, सब प्राणियों में आपको देखनेवाले, सब प्राणियों को ब्रह्ममय जानकर उनके प्रति भेदभाव न रखनेवाले साधुजनों को क्रोध कभी अपने वश में नहीं कर सकता। कारण, क्रोध तो भेदभाव रखनेवाले नरपशुओं का धर्म है। वह अज्ञानी लोगों पर ही अपना अधिकार जमाता है। अतएव जब आपके भक्तों के निकट क्रोध नहीं फटक पाता, तब आप तक उसकी पहुँच कहाँ! इसलिए यह कहना भी ठीक नही कि आपके कोप से किसी को कर्म का उल्टा फल मिलता है। वास्तव में कर्म करनेवाले का उल्टा भाव ही उल्टा फल मिलने का कारण है। जो भेदभाव रखने के कारण स्वर्गादि के सुख पाने की अभिलाषा से कर्मकाण्ड ही मे लिप्त हैं, जिनका हृदय मिथ्या देहाभिमान से दूषित है और इसी कारण जो दूसरे का अभ्युदय देखकर दिन-रात जला करते है, जो दूसरे के मर्मस्थल को चोट पहुँचाते हैं, वे अज्ञानी लोग कटु वाक्य कहकर, निन्दा करके, औरों को पीड़ा पहुँचाते हैं। उनके कर्म ही उन्हे नष्ट कर देते हैं। इसलिए उन दैव के मारे हुए लोगों को आपके समान ज्ञानी लोग अपने कोप से नहीं मारते। तात्पर्य यह कि आपके समान करुणानिधान और पराये दुःख को न सह सकनेवाले साधुजन अपना अपराध करनेवाले दुर्जनों पर भी दया दिखाते है। इसलिए आप अपने अपराधी दक्ष के दोष पर ध्यान न देकर उस पर अनुग्रह ही कीजिए। हे ईश्वर, भगवान् हरि की प्रबल माया में मोहित होने के कारण जो भेदभावना रखते है, उनका कोई दोष होने पर भी आप-जैसे साधुजन उन पर कृपा ही करते हैं। कारण, उन सज्जनों का स्वाभाविक गुण ही शोचनीय मूर्ख लोगों के ऊपर कृपा या दया करना है। साधुजन मिथ्या देहाभिमान के कारण अपराध करनेवालों के अपराध के बदले उन पर दया करने के सिवा अपना बल-विक्रम नहीं दिखाते। कारण, वे तो उन मूढ़ों के समान बुद्धिहीन होते नहीं। हे प्रभो, आप पर ईश्वर की प्रबल माया का अधिकार नहीं है। आप सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं। इस कारण माया से मोहित और कर्ममार्ग में प्रवृत्त लोगों पर, उनके अपराधों का विचार न करके, अनुग्रह कीजिए। उन मूढ़ों के अपराध को क्षमा करना ही आपके लिए सर्वथा उचित है। भगवन्, यज्ञफल के दाता और यज्ञभाग का भोग करनेवाले आप ही हैं। इन कुबुद्धि यज्ञ करनेवालों ने आपको यज्ञ का भाग नहीं दिया, इसी कारण आपने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को नष्ट कर दिया—वह पूर्ण नहीं होने पाया। अब अनुग्रह करके उस यज्ञ का उद्धार कीजिए। ऐसा कुछ कीजिए कि यज्ञ असमाप्त न रहे। इसके लिए यह कृपा कीजिए कि यजमान दक्ष प्रजापति फिर जी उठे; क्योंकि यजमान के बिना यज्ञ का आरम्भ नहीं हो सकता। भग देवता को फिर आँखें मिल जायँ। भृगु की दाढ़ी और पूषा देवता के दाँत फिर जैसे के तैसे हो जायँ। इनके सिवा जिन देवतों और ऋत्विकों क जो अंग गणों के शिला आदि के प्रहार से टूट गए हैं, वे सब आपकी कृपा से पहले ही

की भाँति हो जायँ। सब आरोग्य हो जायँ। हे यज्ञनाशक रुद्र, यह जो कुछ सामग्री यज्ञ में बच रही है, सो सब आप ही का भाग है। इसे आप ग्रहण कीजिए। आज से यज्ञ की बची हुई सामग्री ही आपका भाग होगी। अब आप अपना यह भाग लेकर यज्ञ का उद्धार कीजिए।

# सातवाँ अध्याय

## यज्ञ में विष्णु भगवान् का आविर्भाव

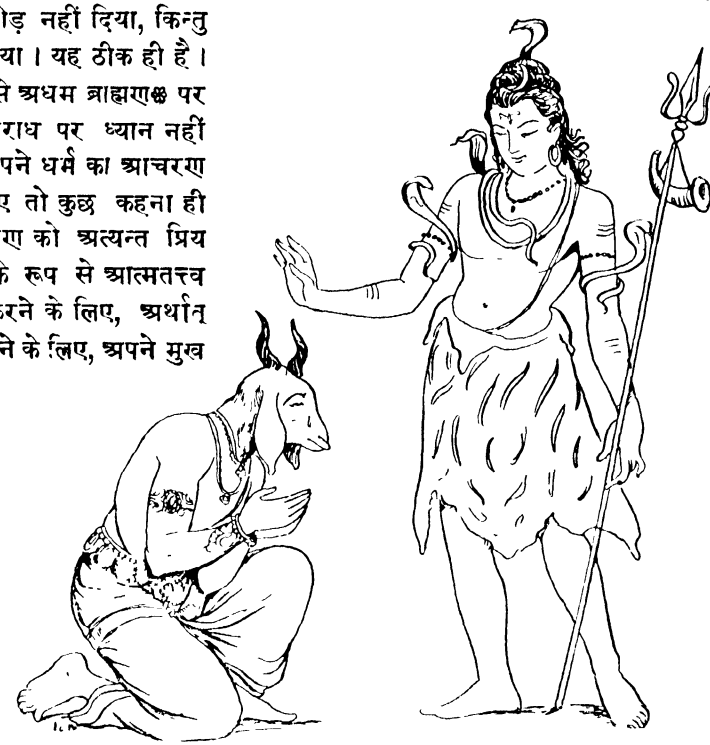
मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, ब्रह्माजी के यों प्रार्थना करने पर भगवान् शंकर ने प्रसन्नतापूर्वक हँसकर यों कहा।

शिवजी ने कहा—ब्रह्माजी, दक्ष के समान बालकों या मूर्खों की-सी बुद्धि रखनेवाले अज्ञजनों के अपराध को न तो मैं कहता ही हूँ और न उस पर ध्यान ही देता हूँ। कारण, वे ईश्वर की माया से मोहित हैं। केवल इन्हें सचेत करने के लिए यह थोड़ा-सा दण्ड मैंने अवश्य दे दिया है। अच्छा, दक्ष का सिर तो अग्नि में जला डाला गया, इसलिए उनके धड़ में बकरे का सिर जोड़ दिया जाय। वह जी उठेगे। भग देवता यज्ञ में मित्र-नामक देवता की आँखों से अपने भाग को देखें। पूषा देवता यज्ञ में पिसे हुए अन्न के भाग को यजमान के दाँतों से भोजन करें। इनके सिवा जिन देवतों के अंग छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उनके सब अंग पहले ही के समान हो जायँ। कारण, उन्होंने अपना अपराध क्षमा कराकर यज्ञ की बची हुई सब सामग्री मुझे मेरे भाग के रूप में दे दी है। जिन देवतों के अंग पूरे नष्ट हो गये है, उनके अंग अश्विनीकुमार के हाथों से पूर्ण हों। जिनके बाहु टूट गये है, वे पूषा देवता के हाथों से अपना-अपना काम करें। भृगु के बकरे की दाढ़ी लगा दी जाय। अन्य अध्वर्यु, ऋत्विज आदि के भी इसी प्रकार सब अंग ठीक हो जायँ।

मैत्रेयजी कहते हैं--शिवजी के ये वचन सुनकर सब लोग प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर उनकी प्रशंसा करने और "वाह वाह" कहने लगे। तब सब इन्द्र आदि देवता और महर्षि लोग ब्रह्माजी और शंकर को आगे करके कैलास पर्वत से वहाँ गये, जहाँ दक्ष का यज्ञ नष्ट किया गया था। भगवान् शंकर की आज्ञा के अनुसार सब देवतों, ऋषियों और ऋत्विकों के टूटे और कटे अंग ठीक किये गये। उसके उपरान्त देवगण ने दक्ष के शरीर में बलिपशु बकरे का सिर जोड़ा। सिर के जोड़े जाते ही और शिवजी की कृपादृष्टि पड़ते ही दक्ष प्रजापति तुरन्त जी उठे, जैसे कोई सोया पुरुष जागकर उठ बैठता है। दक्ष ने जीकर उठते ही अपने सामने उपस्थित शंकर भगवान् को देखा। पहले शंकर के द्रोह से दक्ष का आत्मा कलुषित हो गया था। अब वही शरद ऋतु में स्वच्छ हुए सरोवर के समान शिव की कृपादृष्टि और भक्ति से निर्मल हो गया।

दक्ष ने श्रद्धा के साथ शंकर की स्तुति करनी चाही; किन्तु उन्हें अपनी कन्या सती की मृत्यु का स्मरण हो आया। कन्या के स्नेह और शोक से आँसू उमड़ आये और गला रुँध गया। इसी कारण वह स्तुति नहीं कर सके। प्रेम से विह्वल दक्ष ने बड़ी कठिनाई से अपने को सँभाला। कुछ देर में सावधान होकर शुद्ध भाव से वह शंकर की स्तुति कर लगे। दक्ष ने कहा—भगवन्, मैंने तो आपका अनादर करके भारी

अपराध किया था; किन्तु आपने दण्ड देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया। जैसे पुत्र के अपराध करने पर पिता उसके भले के लिए शिक्षा देने के विचार से दण्ड देता है, उसको बिगड़ने के लिए छोड़ नहीं देता, वैसे ही आपने उपेक्षापूर्वक मुझे छोड़ नहीं दिया, किन्तु मुझे सुधारने के लिए दण्ड दे दिया। यह ठीक ही है। आप और भगवान् विष्णु अधम से अधम ब्राह्मण* पर भी अनुग्रह ही करते हैं, उनके अपराध पर ध्यान नहीं देते, उन्हें त्याग नहीं देते। फिर अपने धर्म का आचरण करनेवाले धृतव्रत ब्राह्मणों के लिए तो कुछ कहना ही नहीं। वे तो आपको और नारायण को अत्यन्त प्रिय हैं ही। आप ही ने पहले ब्रह्मा के रूप से आत्मतत्त्व (वेदवर्णित ब्रह्मज्ञान) की रक्षा करने के लिए, अर्थात् शिष्यपरम्परा से उसका प्रचार करने के लिए, अपने मुख से विद्या, तप और ब्रह्मचर्य से युक्त ब्राह्मणों की सृष्टि की है। इसलिए आप उन ब्राह्मणों की सब विपत्तियों से रक्षा करते हैं और ठीक राह पर चलाते हैं, वैसे ही, जैसे चरवाहा डंडा हाथ में लिये पशुओं की रक्षा करता है और उन्हें ठीक राह पर चलाता है। पशुपालक जैसे समय-समय पर इधर-उधर भटकनेवाले पशु पर दण्डप्रयोग करता है, वैसे ही आप भी कुमार्गगामी ब्राह्मण के प्रति कभी-कभी दण्ड का प्रयोग करते हैं; परन्तु उसी के भले के लिए। भगवन्, मुझको तत्त्वज्ञान न था, इसी से यज्ञसभा में मैंने आपके ऊपर दुर्वचनरूप बाणों की वर्षा की थी। किन्तु आपने मेरे उस घोर अपराध पर ध्यान नहीं दिया। परमपूज्य आपकी निन्दा करने के कारण मैं अवश्य नरक में गिरता। परन्तु आपने दयापूर्वक दण्ड देकर मुझे नरक जाने से बचा लिया † और कृपा की दृष्टि से देखा। आपका स्वभाव ही परोपकार करना है। मैं इसका बदला चुकाने में असमर्थ हूँ। आप अपने ही किये हुए परोपकार से सन्तुष्ट हों, यही मेरी प्रार्थना है।



दक्ष प्रजापति ने इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराया। तदनन्तर ब्रह्माजी से आज्ञा लेकर उपाध्याय, ऋत्विक्, अग्नि आदि की सहायता से दक्ष ने फिर उस अधूरे यज्ञ का आरम्भ किया। ब्राह्मणों ने

---

* ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्मज्ञानी। कहा भी है—ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः। जो ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। ब्रह्मज्ञान के मार्ग को छोड़कर स्वर्ग आदि की इच्छा से यज्ञ आदि प्रवृत्तिमूलक कर्म में लिप्त रहनेवाले अधम ब्राह्मण हैं। यहाँ पर दक्ष ने अपने को अधम ब्राह्मण इसी अर्थ में कहा है।

† पाप का प्रायश्चित्त हो जाने पर पापी को नरक नहीं जाना पड़ता। शिवजी ने दक्ष को दण्ड देकर दक्ष के अपराध का प्रायश्चित्त करा दिया। यही दक्ष कहते हैं कि आपने दण्ड देकर मुझे नरक जाने से बचा लिया, नहीं तो मुझे अवश्य नरक की घोर यातना भोगनी पड़ती। कारण, फलभोग किये बिना पुण्य या पाप नहीं मिटता।

यज्ञकर्म को आगे बढ़ाने के लिए विष्णु से सम्बन्ध रखनेवाले त्रिकपाल पुरोडाश का हवन किया। यह इसलिए किया कि रुद्र के पार्षद भूत, प्रेत, पिशाच आदि के स्पर्श से दूषित यज्ञ की शुद्धि हो जाय। हे विदुर, उस समय अध्वर्यु हाथ में हवि लेकर खड़े हुए और यजमान दक्ष ने विशुद्ध चित्त से विष्णु भगवान का ध्यान किया। वैसे ही हरि भगवान् वहाँ प्रकट हुए। वह गरुड़ की पीठ पर बैठे थे। गरुड़ के दोनों पंखों से सामवेद के मंत्रों का उच्चारण हो रहा था। हरि का तेज दसों दिशाओं में छा गया, जिससे वहाँ उपस्थित सब लोगों की आँखे चौंधिया गईं। भगवान् के तेज के आगे और सबके तेज फीके पड़ गये। भगवान् का शरीर श्यामवर्ण था। कमर में सोने की करधनी पड़ी हुई थी। सिर पर सूर्य के समान चमकीला मुकुट प्रकाशमान था। मुखमण्डल में कुण्डलों की अपूर्व झलक थी। मुखकमल पर काली अलकावलि भौंरों की भीड़-सी जान पड़ती थी। केयूर, कंकण, मुँदरी आदि स्वर्णरत्नमय अलंकारों से अलंकृत भुजाओं में शंख, कमल, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग, ढाल लिये भगवान् ऐसे जान पड़ते थे, जैसे फूली हुई शाखाओं से सुशोभित कर्णिकार का वृक्ष हो। उनके हृदय मे लक्ष्मीजी का निवास है और वनमाला शोभायमान है। वह अपनी उदार और मंद मुसकान और मनोहर दृष्टि से मानो सारे संसार को आनंद दे रहे हैं, अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। उनके आसपास खड़े हुए पार्षद राजहंस के समान उज्ज्वल चँवर डुला रहे है। ऊपर चन्द्रमण्डल के समान श्वेत छत्र विराजमान है। यज्ञमण्डप में इस रूप से पधारे हुए हरि भगवान् को देखते ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि सभी देवता उठकर खड़े हो गए। उन्होंने भक्तिभाव और आदर के साथ भगवान् को प्रणाम किया। भगवान् के तेज के सामने सबके तेज फीके पड़ गए। भगवान् को देखकर सभी की वाणी गद्गद हो गई। हरि की महिमा से सबके चित्त क्षोभ को प्राप्त हुए। सब हाथ जोड़कर भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे। यद्यपि ब्रह्मा आदि सब देवतों की बुद्धि और वाणी की पहुँच ईश्वर की महिमा तक नहीं है, तथापि भक्तजनों पर कृपा करने के लिए शरीर धारण किये हुए उन्हीं परब्रह्मरूप भगवान् की स्तुति सब लोग अपनी बुद्धि के अनुसार करते है।

सबके पहले प्रजापति दक्ष उत्तमोत्तम पूजन की सामग्री लेकर जगत् को उत्पन्न करनेवाले, ब्रह्मा आदि के भी परम गुरु ( उत्पन्न करनेवाले और ज्ञान देनेवाले ) विष्णु भगवान् के निकट उपस्थित हुए। नन्द, सुनन्द आदि पार्षदों सहित भगवान के सामने हाथ जोड़कर शुद्ध हृदय से वह इस प्रकार स्तुति करने लगे। दक्ष ने कहा—प्रभो, आप अपने ही रूप मे स्थित है। विशुद्ध चैतन्य अथवा ज्ञान ही आपका रूप है। बुद्धि की स्वप्न, सुषुप्ति, जाग्रत् अवस्थाएँ नित्य आपसे दूर रहती हैं। इसीलिए आप एक ( भेदशून्य ), अद्वितीय और अभय है। किन्तु ऐसा होने पर भी आप जीव नहीं है। यद्यपि जीव भी यथार्थ मे एक, अद्वितीय और अभय है, किन्तु वह माया के अधीन होकर अपने रूप को भूला हुआ है। परन्तु आप माया को अपने वश करके स्वतन्त्र ही रहते है। हाँ, अपनी ही इच्छा से मनुष्य-लीला करने के लिए कभी-कभी माया को अंगीकार करके उस माया में स्थित अपरिशुद्ध जीव-से प्रतीत होते है, अर्थात् राम, कृष्ण आदि अवतारों को लेकर मनुष्यों का-सा आचरण करते हैं। परन्तु जीव परतन्त्र होने के कारण माया के द्वारा जन्म-मरण के कष्ट उठाता है और आप स्वतन्त्र होने के कारण संसार के बन्धन से मुक्त रहते हैं। आप मुझ पर कृपा कीजिए।

ऋत्विक् लोगों ने कहा—हे निरंजन अर्थात् निर्लिप्त ईश्वर, रुद्र ( नंदीश्वर ) के शाप से हमारी बुद्धि कर्मकाण्ड में ही लगी हुई है और हम आपके तत्त्व को नहीं जानते। किन्तु धर्म को लक्षित करानेवाली वेदत्रयी के द्वारा प्रतिपादित आपकी इस यज्ञमूर्त्ति को हमने जाना है, जिस यज्ञ की सिद्धि के लिए ही यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्र आदि देवतों के रूप में आप प्रकट हुए हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्र आदि यज्ञ में भाग

पानेवाले देवता आपके ही रूप हैं, यज्ञ भी आपका रूप है और इस कर्मकाण्ड के द्वारा हम आपकी ही पूजा करते हैं।

सदस्यगण बोले—हे आश्रय देनेवाले हरि, यह संसार का मार्ग बड़ा ही दुर्गम है। इसमें कहीं विश्राम का नाम नहीं है, भारी क्लेशरूप दुर्गम स्थान भरे पड़े है, कालरूप काला नाग डसने की ताक में घात लगाये बैठा है, विषयों की मृगतृष्णा * पग-पग पर देख पड़ती है, सुख-दुःख के अनेक गढ़े है, दुर्जनरूप बाघ-भेड़िये फिरते रहते हैं, शोक का दावानल लगा रहता है। इसमें चलनेवाला जीव आत्मा ( 'मैं हूँ', इस अहंकार का अधिष्ठाता ), देह और गेह ( परिवार या गृहस्थी ) के बोझ को लादे हुए है। ऐसे अज्ञानी जीवों का यह दल अनेक कामनाओं की चिन्ता से चूर इधर-उधर भटक रहा है। ये जीव कब आपके चरणरूप निर्भय स्थान को पावेंगे ? कब इन पर आपकी कृपा होगी ?

रुद्र ने कहा—हे वरदानी, आपके श्रेष्ठ चरण ही मनुष्यों की सब कामनाएँ पूरी करनेवाले हैं। किन्तु निष्काम मुनि भी आदर के साथ इनको भजते है। मैं इन्हीं भोग और मुक्ति, दोनों देनेवाले आपके श्रीचरणों का ध्यान करता हूँ। अज्ञ लोग आचारभ्रष्ट कहकर भले ही मेरी निन्दा करें, मैं उधर ध्यान नहीं देता। कारण, मुझको आपका परम अनुग्रह प्राप्त है और मैं उसी में सदा सन्तुष्ट रहता हूँ।

भृगुजी ने कहा—हे ईश्वर, ब्रह्मा आदि सभी देहधारी आपकी अज्ञेय अगम्य माया में मोहित होने के कारण आपके तत्त्व को नहीं जानते। वे अज्ञान के अन्धकार में भटक रहे हैं। यद्यपि आपका रूप या अंश उन्हीं के भीतर है, तथापि आज तक वे उसे नहीं जान सके। आपकी माया ऐसी प्रबल है! आपको जो प्रणाम करते है, आपके शरणागत हैं, उनके आप आत्मा और बन्धु हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप मुझ शरणागत के ऊपर प्रसन्न हों।

ब्रह्माजी ने कहा—भगवन्, यह जीव इन्द्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को ग्रहण कर सकता है, वे कोई भी आपका रूप नहीं है। वह सब माया ही का प्रपंच है। आप उससे भिन्न है; क्योंकि आप ज्ञान, पदार्थ और इन्द्रियों के आश्रय अर्थात् प्रवर्त्तक है।

इन्द्र ने कहा—हे अच्युत, आप निराकार अवश्य हैं; किन्तु आपका साकार होना भी सिद्ध है। देवद्रोही असुरों को नष्ट करनेवाले शस्त्रों से शोभित आठ भुजाएँ धारण करनेवाला आपका यह शरीर हमारे मन और नेत्रों के लिए आनन्ददायक है। इसीसे आप विश्व का पालन करते है।

ऋत्विजों की पत्नियों ने कहा—हे यज्ञरूप, आपकी पूजा के लिए ही दक्ष प्रजापति ने इस यज्ञ का आरम्भ किया था। दक्ष पर कुपित होकर पशुपति रुद्र ने उस यज्ञ का विध्वंस कर डाला। अब आप अपने नेत्रकमलों की पावन कृपादृष्टि से इस मसान के समान उत्सवहीन यज्ञ को पवित्र और पूर्ण कर दीजिए।

ऋषियों ने कहा—भगवन्, आपका चरित्र बड़ा विचित्र है, समझ में नहीं आता। आप स्वयं कर्म करके भी उनमें लिप्त नहीं होते। अन्य ब्रह्मा आदि अपने अभ्युदय के लिए जिनकी प्रार्थना करते हैं, वह लक्ष्मीजी ( या ऐश्वर्य ) आपको स्वयं भजती हैं। पर आप उनका आदर या चाह नहीं करते!

सिद्धगण ने कहा—हे जगदीश्वर, हमारा यह मन हाथी के समान क्लेश के दावानल में तपकर प्यास को बुझाने के लिए आपकी कथारूप अमृत की नदी में घुस गया है। अब उसे उस दावानलतुल्य संसार के ताप का स्मरण भी नहीं होता। वह जैसे ब्रह्मानन्द में मग्न हो गया है और उस शीतल नदी से बाहर नहीं निकलना चाहता।

* गर्मियों मे मैदान मे धूप चमकती है। उसे पानी समझकर प्यासा मृग वहाँ दौड़ा जाता है। उसी को मृगतृष्णा कहते हैं।

दक्ष की पत्नी प्रसूति ने कहा—हे ईश्वर, पधारिए। मै आपका स्वागत करती हूँ। हम पर प्रसन्न होइए। मैं आपको प्रणाम करती हूँ। हे श्रीनिवास, अपनी प्यारी पत्नी लक्ष्मी देवी के साथ हमारी रक्षा करिए। अर्थात् हम श्रीहीन हो गये हैं, हमें श्री देकर सनाथ करिए। हे यज्ञ के स्वामी, जैसे हाथ-पाँव आदि अन्य सब अंगों के होने पर भी सिर के बिना कबन्ध की शोभा नहीं होती, वैसे ही और-और अंगों से युक्त होने पर भी आपके बिना यज्ञ की शोभा नहीं है।

लोकपालों ने कहा—हे श्रेष्ठ, आप विश्व (संसार) को अलग से देखनेवाले अर्थात् उसके साक्षी हैं। शब्द आदि सब पदार्थों या विषयों को ग्रहण करनेवाली सब इन्द्रियों के द्वारा आप ही देख पड़ते हैं। किन्तु हम लोग असत् प्रपंच को ग्रहण करनेवाली इंद्रियों से आपको किस प्रकार देख सकते हैं? हम तो आपकी माया में मोहित हो रहे हैं। हमें तो आप पंचतत्त्वों की उपाधि से युक्त छठा तत्त्व जीवात्मा: देख पड़ते हैं, इसी से हम आपके शुद्ध ब्रह्मरूप को इन मायामूढ़ इन्द्रियों से नहीं जान पाते। तात्पर्य यह कि जो लोग शुद्धहृदय हैं, उन्हें आप शुद्ध सत्वमूर्त्ति भासित होते हैं; किन्तु हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसलिए हमें आप अन्य देहधारी जीवों के समान प्रतीत होते है। इसलिए हमारे जीवन को धिक्कार है!

योगेश्वरों ने कहा—आप विश्व के आत्मा परब्रह्म हैं। जो व्यक्ति आपको अपने से अलग नहीं देखते, उनसे अधिक और कोई आपको प्रिय नहीं है। हमारी आपसे यही प्रार्थना है कि जो सज्जन ऐसी अनन्य भक्ति से आपका भजन करते हैं, उन पर आपकी कृपा बनी रहे। कारण, आप भक्तवत्सल हैं। जगत की उत्पत्ति, पालन और नाश का कारण आपकी माया के गुण हैं। ये गुण जीवों के अदृष्ट के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। उन्हीं गुणों को ग्रहण करके आप ब्रह्मा आदि भिन्न-भिन्न नाम धारण करके भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु यथार्थ में आप अपने केवलस्वरूप में स्थित एक हैं। आपमें माया के गुण नहीं है, इसीलिए भेद-भ्रम भी नहीं है। हम आपको प्रणाम करते हैं।

शब्दब्रह्मरूप वेदों ने कहा—भगवन्, आप सतोगुण को ग्रहण किये हुए हैं। इसी से धर्मफल के दाता, धर्म के रक्षक आप ही है। आपको प्रणाम है। आप ही निगुण भी हैं। यद्यपि एक ही का निगुण और सगुण, दोनों होना असंभव जान पड़ता है, तथापि आपमें कुछ भी असंभव नहीं है; क्योंकि आप सर्व-शक्तिमान हैं। हम अथवा ब्रह्मा आदि कोई भी आपके तत्त्व को नहीं जानते।

अग्निदेव ने कहा—जिनके तेज से सम्पन्न होकर मैं श्रेष्ठ यज्ञों में घी से मिली हुई आहुति देवगण को पहुँचाता हूँ, आप वही यज्ञमूर्ति और यज्ञ के रक्षक है। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और पशुसोम नाम के* पाँच प्रकार के यज्ञ आप ही के रूप हैं। पाँच प्रकार† के यज्ञ-मंत्रों से आप ही की पूजा की जाती है। आपको मेरा प्रणाम है।

सब देवतों ने कहा—आप ही आदिपुरुष हैं। कल्प के अन्त में आप ही इस सारे संसार को—अपने रचे हुए माया के प्रपञ्च को—अपने उदर में लीन करके जल के ऊपर शेषशय्या पर शयन करते हैं।

---

* जैसा कि ऐतरेयोपनिषद में लिखा है—

"स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुसोमः इति।"

† श्रुति में ये मंत्र इस प्रकार लिखे हैं—"आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षर यजेति द्व्यक्षर ये यजामह इति पंचाक्षर द्व्यक्षरोवषट्कारः।" अर्थात् 'आश्रावय' यह चार अक्षर का, "श्रौषट्" यह चार अक्षर का, "यज" यह दो अक्षर का, "ये यजामहे" यह पाँच अक्षर का और "वषट्" यह दो अक्षर का, ये पाच मंत्र है। यही बात स्मृति में इस प्रकार लिखी है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचाभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु॥

जनलोक आदि के निवासी सिद्धगण आप ही के जानने के मार्ग का विचार किया करते हैं। उन्हीं आपको आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हम धन्य हैं! आप सदा हम अपने सेवकों की रक्षा करते रहते हैं। आपको हमारा प्रणाम है।

गन्धर्वों ने कहा—हे देव, ये मरीचि आदि महर्षि और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि सब देवता सब आप के अंश, अंश के भी अंश हैं। भगवन्, यह ब्रह्माण्ड आपकी क्रीड़ा की सामग्री है। हम आपको नित्य निरन्तर प्रणाम करते हैं।

विद्याधरों ने कहा—हे नाथ, मनुष्य का शरीर सब प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला है। इसे पाकर भी आपकी माया से मोहित कुमति जीव इस देह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्र-परिवार आदि में "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार का मिथ्या अभिमान करता है। यद्यपि कुमार्गगामी पुत्र आदि वृद्धावस्था में इसका निरादर और तिरस्कार करते हैं, तो भी यह मिथ्या विषयों की लालसा नहीं छोड़ता, इसे विषयों से या गृहस्थी से वैराग्य नहीं होने आता। ऐसे जीवों का माया-मोह से कभी छुटकारा नहीं होता। परन्तु जो कोई आपकी कथा के अमृत को पीता रहता है, वह शीघ्र ही आपकी भक्ति के प्रभाव से इस माया-मोह को छोड़कर संसार से मुक्त हो जाता है।

ब्राह्मणगण ने कहा—हे नारायण, यज्ञ, हवि, अग्नि, मंत्र, कुश, यज्ञ के पात्र, सदस्य, ऋत्विक्, यजमान, यजमान की स्त्री, देवता, यज्ञ की समिधा (लकड़ी), अग्निहोत्र, स्वधा, सोम, आज्य (घी), बलिपशु आदि सब कुछ आप ही हैं। हे यज्ञपुरुष, कल्प के आदि में आप ही ने वराह-रूप रखकर लीलापूर्वक रसातल में पड़ी हुई इस पृथ्वी का वैसे ही उद्धार किया था, जैसे गजराज कमलिनी को सूँड़ से उखाड़कर जल के ऊपर उठा लेता है। उस समय गरज रहे आपकी दाढ़ पर इस पृथ्वी की बड़ी शोभा हो रही थी। योगीजन आपके इस अद्भुत कर्म की स्तुति कर रहे थे। हे वेदमूर्त्ति, यज्ञरूप, आपको प्रणाम है। हम आपके दर्शनों की इच्छा रखते थे। हम पर आप प्रसन्न हों और अपनी कृपादृष्टि से हमारे इस नष्ट-भ्रष्ट यज्ञ का उद्धार कीजिए अर्थात् इसे सफल बनाइए। हे यज्ञेश्वर, केवल आपके नाम का उच्चारण कर लेने ही से यज्ञ के सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं। आपको नमस्कार है।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, इस प्रकार सब लोगों ने यज्ञ के रक्षक विष्णु की स्तुति की। तब दक्ष ने वीरभद्र के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये उस यज्ञ का फिर आरंभ किया। विष्णु भगवान् सबके आत्मा हैं। सबकी पूजा उन्हीं की पूजा है। वह अपने ही आनन्द में तृप्त हैं। उनको कोई कामना नहीं है। तो भी भक्तवत्सलता दिखाते हुए अपना भाग ग्रहण करके प्रसन्नता प्रकट करके उन्होंने दक्ष से यों कहा—हे प्रजापति, मैं ही इस जगत् का कारण, आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयंप्रकाशित, उपाधि से रहित परब्रह्म हूँ। ये ब्रह्मा और शिव मेरा ही रूप है। हे द्विज, अपनी सगुण माया को स्वीकार करके मैं ही इस विश्व की उत्पत्ति, पालन और संहार करने के लिए क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन नामों को धारण करता हूँ। मैं एक, अद्वितीय परब्रह्म हूँ। ब्रह्मा और रुद्र को जो कोई मुझसे भिन्न समझता है, वह भेदभाव रखनेवाला महामूर्ख है। जो मेरे भक्त ज्ञानीजन हैं, वे केवल ब्रह्मा आदि में ही नहीं, सब प्राणियों में और मुझमें वैसे ही भेद नहीं देखते, जैसे लोग अपने सिर, पैर, हाथ आदि अंगों को अपने शरीर से भिन्न नहीं मानते। हम तीनों का रूप एक ही (ब्रह्म) है। हम ही सब प्राणियों की आत्मा हैं। इस प्रकार जो लोग हम तीनों को एकरूप जानकर सब प्राणियों में, हम में और अपने में भेदभाव नहीं रखता, वही पूर्ण रूप से शान्ति पाता है।

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् की इस आज्ञा को शिरोधार्य करके प्रजापतियों के अधिपति दक्ष ने श्रद्धा

से विधिपूर्वक यज्ञ में भगवान् हरि का ( अंशदेवता और प्रधान देवता के रूप में ) पूजन किया। इसके उपरान्त एकाग्रचित्त होकर रुद्र के भाग से रुद्र का पूजन किया। फिर यज्ञ को समाप्त करनेवाले "उदवसान" नाम के कर्म से सोमपान करनेवाले देवगण, ऋत्विक्, आचार्य, सदस्य आदि और सब लोगों की भी पूजा की। यज्ञ समाप्त करके ऋत्विक् आदि के साथ दक्ष ने अवभृथ-स्नान * किया।

हे विदुर, यद्यपि दक्ष प्रजापति अपने ही प्रभाव से सिद्ध हो गये अर्थात् धर्मात्मा, ब्रह्मज्ञानी हो गये, तथापि सब देवतों ने "तुम्हारी धर्म में मति हो" कहकर धर्म का ही उन्हें उपदेश दिया। उसके बाद सब देवता स्वर्ग को गये। दक्ष की कन्या सतीजी इस प्रकार अपने पहले शरीर को छोड़कर फिर हिमाचल की पत्नी मेना के गर्भ से उत्पन्न हुई, ऐसा प्रसिद्ध है। जैसे प्रलयकाल में सोई हुई शक्ति ( प्रकृति ) पुरुष को ही भजती है, वैसे ही अनन्य भाव से अम्बिका पार्वती ने फिर उन्हीं अपने प्यारे शिवजी को पति बनाना चाहा। सच तो यह है कि ऐसे अनन्य भाव से ही वह मिल सकते हैं।

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करनेवाले शंकर का यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजी के शिष्य परम भागवत उद्धवजी के मुख से सुना था। यह शंकर का परम पवित्र चरित्र यश देनेवाला, आयु बढ़ानेवाला और पापनाशक है। जो कोई भक्तिभाव के साथ इसे सुनता और नित्य पढ़ता है, उसे संसार अर्थात् जन्म-मरण का कष्ट फिर नहीं होता।

# आठवाँ अध्याय

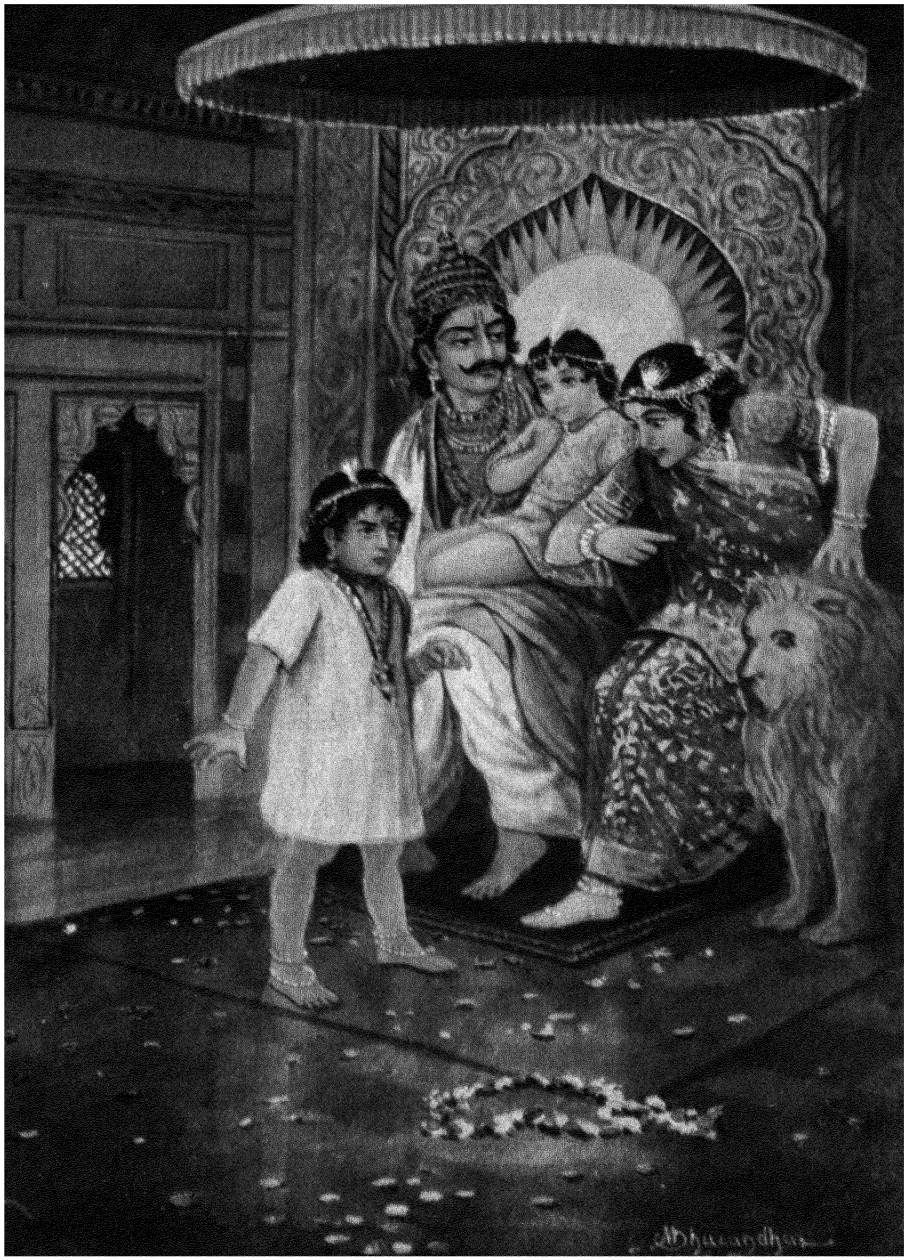
## ध्रुवचरित्र का प्रारंभ

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, ऋभु, हंस, अरुण और यति, ये नव ब्रह्मा के पुत्र बालब्रह्मचारी हुए। अर्थात् इन्होंने विवाह नहीं किया, इससे इनके वंश नहीं चला।

[अब अधर्म के वंश का वर्णन करते हैं।] अधर्म भी ब्रह्माजी का पुत्र है। अधर्म की स्त्री मृषा (झूठ) हुई। उसमें अधर्म के दम्भ ( दूसरे को धोखा देना ) नाम का पुत्र और माया ( जाल ) नाम की कन्या हुई। [ये दोनों भाई-बहन होने पर भी अधर्म का अंश होने के कारण पति-पत्नी हो गये। आगे भी ऐसा ही जानना चाहिए।] इन दोनों को निर्ऋति ने ले लिया; क्योंकि उनके कोई सन्तान नहीं थी। दंभ और माया के लोभ और निकृति ( शठता या धाँधली ) नाम का जोड़ा उत्पन्न हुआ। इनके क्रोध नाम का पुत्र और हिंसा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उनके दुरुक्ति ( दुर्वचन ) नाम की कन्या और कलि ( कलह या लड़ाई-झगड़ा ) नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उनके भय नाम का पुत्र और मृत्यु नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उनके यातना ( तीव्र वेदना ) नाम की कन्या और निरय ( नरक ) नाम का पुत्र हुआ। यह अधर्म का वंश अथवा प्रतिसर्ग संक्षेप में मैंने तुमसे कह दिया। यह पुण्य है, अर्थात् इसका त्याग करने से पुण्य होता है। तीन बार इस अधर्म के वंश को सुनने से मन निर्मल हो जाता है।

अब मैं स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन करता हूँ। स्वायंभुव मनु की कीर्त्ति परम पवित्र है। उनका जन्म हरि के अंश ब्रह्माजी के आधे शरीर से हुआ है, इसलिए वह भी हरि का ही अंश हैं। स्वायंभुव मनु

*यज्ञ की समाप्ति में यजमान जो सबके साथ किसी जलाशय में स्नान करता है, उसे अवभृथ-स्नान कहते हैं।



ध्रुव का विमाता द्वारा अपमान

के शतरूपा रानी के गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र हुए। जगत् की रक्षा करने के लिए उन्हें वासुदेव भगवान् का कलावतार जानो। उत्तानपाद राजा के दो रानियाँ थीं—सुनीति और सुरुचि। सुनीति के गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम ध्रुव और सुरुचि के गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम उत्तम हुआ। सुरुचि को राजा बहुत प्यार करते थे। सुनीति उन्हें उतनी प्यारी नहीं थी। एक दिन राजा उत्तानपाद अपनी प्यारी पत्नी सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में लिये बैठे खेला रहे थे। इतने में राजकुमार ध्रुव भी वहाँ आ गये और राजा अर्थात् अपने पिता की गोद में चढ़ने लगे। परन्तु राजा अपनी पत्नी सुरुचि के भय से ध्रुव को अपनी गोद में न ले सके।

अत्यन्त गर्वित रानी सुरुचि ने सौत के लड़के ध्रुव को राजा की गोद मे चढ़ने की चेष्टा करते देखकर राजा के सामने ही इस प्रकार ईर्ष्या से भरे वचन कहे। रानी ने कहा—ध्रुव, राजकुमार होकर भी तुम राजा की गोद अथवा राजा के आसन पर बैठने के योग्य नहीं हो। इसका कारण यही है कि मैंने तुम्हें अपने गर्भ में नहीं धारण किया। तुम बच्चे हो, इस कारण नही जानते कि तुम अन्य स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए हो। इसीलिए ऐसा दुर्लभ मनोरथ कर रहे हो। यदि तुम राजा के आसन में बैठने की इच्छा रखते हो तो तपस्या करके पहले ईश्वर की आराधना करो और उन्हीं के अनुग्रह से मेरे गर्भ में आकर फिर जन्म लो।

मैत्रेयजी कहते हैं—अपनी सौतेली मा के कहे हुए ये कटु वचन बालक ध्रुव के हृदय में बाण के समान गड़ गये। जैसे लाठी से मारे जाने पर साँप फुफकारता है, वैसे ही वह भी बड़ी-बड़ी साँसें लेकर रोते हुए माता के पास चल दिये। स्त्री के वशीभूत पिता ने सब देखा और सुना, पर कुछ भी नहीं कहा, जैसे ध्रुव उनके पुत्र ही नहीं थे। ध्रुव की माता सुनीति ने देखा, उनका पुत्र बड़ी-बड़ी साँसें लेकर आँसू बहा रहा है। उसके होंठ फड़क रहे है। सुनीति ने झपटकर अपने बालक को गोद में उठा लिया। इतने में अन्तःपुर में रहनेवाली दासियों ने आकर उनसे सब वृत्तान्त कह दिया। सौत के दुर्वचन सुनकर सुनीति को बड़ी व्यथा हुई। शोकरूप दावानल से सुनीति कोमल लता के समान मुरझा गई। वह धैर्य छोड़कर ऊँचे स्वर से विलाप करने लगीं। सौत के वचनों को स्मरण करके उनके कमल-जैसे नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। सुनीति को जब इस दुःख-सागर का पार न देख पड़ा, तब वह बड़ी-बड़ी साँसें लेती हुई अपने बालक ध्रुव से यों कहने लगीं।

सुनीति ने कहा—पुत्र, इसके लिए दूसरों को दोष देना या उनसे बुरा मानना ठीक नहीं है। जो पहले किसी को दुःख दे चुका होता है, वही फिर वैसा दुःख पाता है। इसलिए यह सब अपने ही कर्मों का दोष है। सुरुचि ने यह ठीक ही कहा कि तुम्हारा जन्म मुझ अभागिन के गर्भ से हुआ है, तुम मेरे ही दूध से पले हो। मैं सचमुच अभागिन ही हूँ। कारण, तुम्हारे पिता महाराज मुझे स्त्री या दासी कहकर स्वीकार करने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं। तुम्हारी सौतेली माता ने बहुत ठीक कहा है कि तुम्हें जो अपने भाई उत्तम के समान उत्तम राजा का आसन पाने की अभिलाषा है तो भगवान् विष्णु के चरणकमलों की आराधना करो। मैं भी कहती हूँ कि तुम ईर्ष्या छोड़कर शुद्ध चित्त से सौतेली माता के इस आदेश का पालन करो। भगवान् वासुदेव विश्व की रक्षा और पालन करने के लिए विशुद्ध सतोगुण को ग्रहण किये हुए हैं। उनके चरणारविन्द भक्तों को उनकी इच्छा के अनुसार भोग और मोक्ष, दोनों देते हैं। मन और श्वासा को वश में करनेवाले योगीजन उन्हीं के चरणों का ध्यान करते हैं। उन्हीं के चरणों की सेवा करके उन्हीं की कृपा से ब्रह्माजी ने ब्रह्मपद पाया है। तुम्हारे पितामह भगवान् स्वायंभुव मनु ने भी बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ देकर यज्ञ किये और उन यज्ञों से उन्हीं सर्वव्यापी अन्तर्यामी विष्णु भगवान् की पूजा और आराधना की।

अनन्य भाव से इस प्रकार भगवान की आराधना करके मनु ने इस लोक में देवदुर्लभ दिव्य भोग और राज्यसुख प्राप्त किये और अन्त में मोक्ष पाई। हे पुत्र, भोग और मोक्ष के देनेवाले वही हरि भगवान है। तुम उन्हीं हरि के चरणों की शरण में जाओ। वह भक्तवत्सल हैं। मुक्ति चाहनेवाले योगीजन भी उन्हीं के चरणों की राह को खोजते है। तुम एकाग्र होकर अपने धर्म के आचरण से पहले अपने हृदय को शुद्ध करो और फिर शुद्ध हृदय में ध्यान करके परमपुरुष हरि को भजो। पुत्र, उन कमललोचन भगवान के सिवा और कोई ऐसा नहीं देख पड़ता, जो तुम्हारे इस दुःख को दूर कर सके। और लोग बड़ी चाह से लक्ष्मी को खोजते है और वही लक्ष्मी दीपकतुल्य कमल हाथ में लेकर उन्हीं हरि को खोजती है। तात्पर्य यह कि वह सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके एक बार कृपाकटाक्ष कर देने से एक लोक का राज्य क्या, त्रिभुवन की संपत्ति पलभर में प्राप्त हो सकती है। इसलिए तुम उन्हीं की आराधना करो।

इस प्रकार अपनी इच्छा को पूर्ण करनेवाले माता के विलाप को सुनकर ध्रुव ने अपनी बुद्धि से अपने मन को धीरज दिया, अपने क्रोध और शोक के वेग को सँभाला। इसके उपरान्त उसी समय वह माता की आज्ञा के अनुसार हरि की आराधना करने के लिए पिता की पुरी से चल दिये। नारदजी को अपने योगबल से यह सब वृत्तान्त विदित हो गया। उन्होंने यह भी जान लिया कि ध्रुव अब किसलिए कहाँ जा रहे है। तब उन्होंने आकर राह में ही ध्रुव को दर्शन दिये। ध्रुव के सिर पर पापों को नष्ट करनेवाला अपना मंगलमय हाथ रखकर मन ही मन विस्मित होकर वह कहने लगे—अहो, क्षत्रिय कैसे तेजस्वी होते हैं कि उनके बच्चे तक तनिक से भी मानभंग या तिरस्कार को नहीं सह सकते! यह पाँच वर्ष का छोटा-सा बालक है; पर इसे भी सौतेली मा के कटु वचन नहीं भूलते!



यों मन मे कहकर नारदजी ने ध्रुव से कहा—बालक राजकुमार, तुम बच्चे हो। खेल-कूद में लगे रहना ही अभी तुम्हारा धर्म है। अभी तुम्हारे लिए मान या अपमान कुछ नहीं है। और यदि तुम्हे अपने मान-अपमान की धारणा भी है, तो तुमको जानना चाहिए कि सुख या दुःख अपने कर्म से ही मिलता है। इसलिए दूसरे पर असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। "उसने हमारा अपमान करके हमें व्यथित किया" इस प्रकार की भावना मोह के सिवा और कुछ नहीं है। तात्पर्य यह कि मनुष्य

को उसके कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख या आदर-अनादर प्राप्त होता है; उसमें किसी दूसरे का कुछ दोष नहीं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि सुख-दुःख या मान-अपमान जो कुछ प्राप्त हो, उसे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझकर उसी में सन्तोष करे। उसे टालने के लिए उद्योग करना भी व्यर्थ ही है। कारण, ईश्वर के अनुकूल हुए बिना कोई भी चेष्टा सफल नहीं होती। फिर तुम माता के बतलाये हुए उपाय से जिन परमेश्वर को प्रसन्न करना और श्रेष्ठ पद पर पहुँचना चाहते हो, मेरी समझ से उनकी आराधना भी तुम्हारे लिए सहज नहीं है। जिन्होंने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाया, उनके लिए ईश्वर की उपासना करना बड़ा ही कठिन है। केवल अजितेन्द्रिय ही क्यों, जिन्होंने सबका संग छोड़कर इन्द्रियों और मन को अपने वश में कर लिया है, ऐसे बड़े-बड़े मुनि और योगी भी दृढ़ योगाभ्यास करके समाधि लगाकर जन्मजन्मान्तर तक खोजते-खोजते हार जाते हैं, परन्तु उन ईश्वर के मिलने के मार्ग को नहीं जान पाते। इस कारण यह विचार, यह हठ छोड़ दो। तुम्हारा यह उद्योग निष्फल है। जब ईश्वर की आराधना और तपस्या करने का समय आवेगा, जब तुम बूढ़े होगे, तब इसके लिए यत्न कर लेना। प्राणी को चाहिए कि सुख मिलने पर उससे पूर्वकृत पुण्य का क्षय और दुःख मिलने पर पूर्वकृत पाप का क्षय जानकर आत्मा को सन्तुष्ट रक्खे। ऐसा करने से ही संसार से मोक्ष होती है। गुण आदि में अपने से अधिक पुरुष को देखकर आनन्दित हो, अपने से अधम को देखकर उस पर दया करे और अपने समान पुरुष से मैत्री रक्खे। यों रहने से मनुष्य को पीड़ा या ताप नहीं होता। तात्पर्य यह कि अपने से उत्तम को देखकर उससे ईर्ष्या या परसन्ताप न करे, हीन को देखकर उसका तिरस्कार न करे और समान से स्पर्द्धा न करे।

ध्रुव बोले—भगवन्, सुख और दुःख के अधीन पुरुषों के लिए यह जो आपने कृपा करके शान्ति की राह दिखाई है, इसे मुझ सरीखे अज्ञानी जन नहीं देख पाते। किन्तु मैं घोर क्षत्रिय-स्वभाव के वश हूँ, इसीलिए नम्रता या शान्ति मुझमें नहीं है। मेरा हृदय सौतेली माता के दुर्वचनरूप बाणों से फट गया है, इस कारण आपके ये शान्ति के वचन उसमें नहीं ठहर पाते। ब्रह्मन्, मैं वह पद प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ मेरे पिता-पितामह कोई नहीं पहुँचे। आप कृपा करके ऐसे त्रिभुवन से श्रेष्ठ पद में पहुँचने की सहज राह मुझे बतलाइए। आप ब्रह्माजी के पुत्र हैं। आप वीणा बजाते, हरिगुण गाते, जगत् के भले के लिए ही त्रिभुवन में सूर्य के समान अज्ञान और अमंगल के अन्धकार को दूर करते हुए विचरते हैं।

ध्रुव के ये वचन सुनकर और उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा देखकर नारदजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। तब वह दया करके बालक ध्रुव से इस प्रकार उत्तम वचन बोले। नारद ने कहा—हे पुत्र, तुम्हारी माता ने जो उपदेश दिया है, वही तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध होने का सहज मंगलमय मार्ग है। इसी मार्ग से तुम हरि भगवान् का भजन करो—अपने मन को शुद्ध करके अनन्य भाव से भगवान् में लगाओ। एक हरि के चरणों की सेवा से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे पुत्र, तुम्हारा कल्याण हो। तुम यमुना के पावन तट पर स्थित पवित्र मधुवन ( मथुरा ) में जाओ। वहाँ भगवान सदा निवास करते हैं। वहाँ जाकर यमुना के पवित्र जल में त्रिकाल स्नान और देववन्दना आदि अन्य उचित कृत्य करके कुशासन आदि बिछाकर स्वस्तिक आसन से बैठना। तदनन्तर पूरक, कुंभक, रेचक प्राणायाम के अभ्यास से प्राण-वायु ( श्वास ), मन और इन्द्रियों को वश में करके, अर्थात् इनकी चंचलता दूर करके, स्थिर मन से इस प्रकार जगद्गुरु हरि का ध्यान करना कि वह सब देवतों से बढ़कर सुंदर हैं। उनके मुख और नेत्रों में प्रसन्नता का भाव झलक रहा है। मुखमण्डल में नासिका, भौंहें और गोल कपोल परम सुंदर हैं। देखने से जान पड़ता है, भगवान् जैसे वरदान देने के लिए उद्यत हैं। उनकी तरुण अवस्था है। सब अंग सुडौल और रमणीय है। होंठ, नेत्र और हथेली अरुणवर्ण हैं। वह प्रणत जनों को आश्रय देनेवाले हैं, सबको सुख-

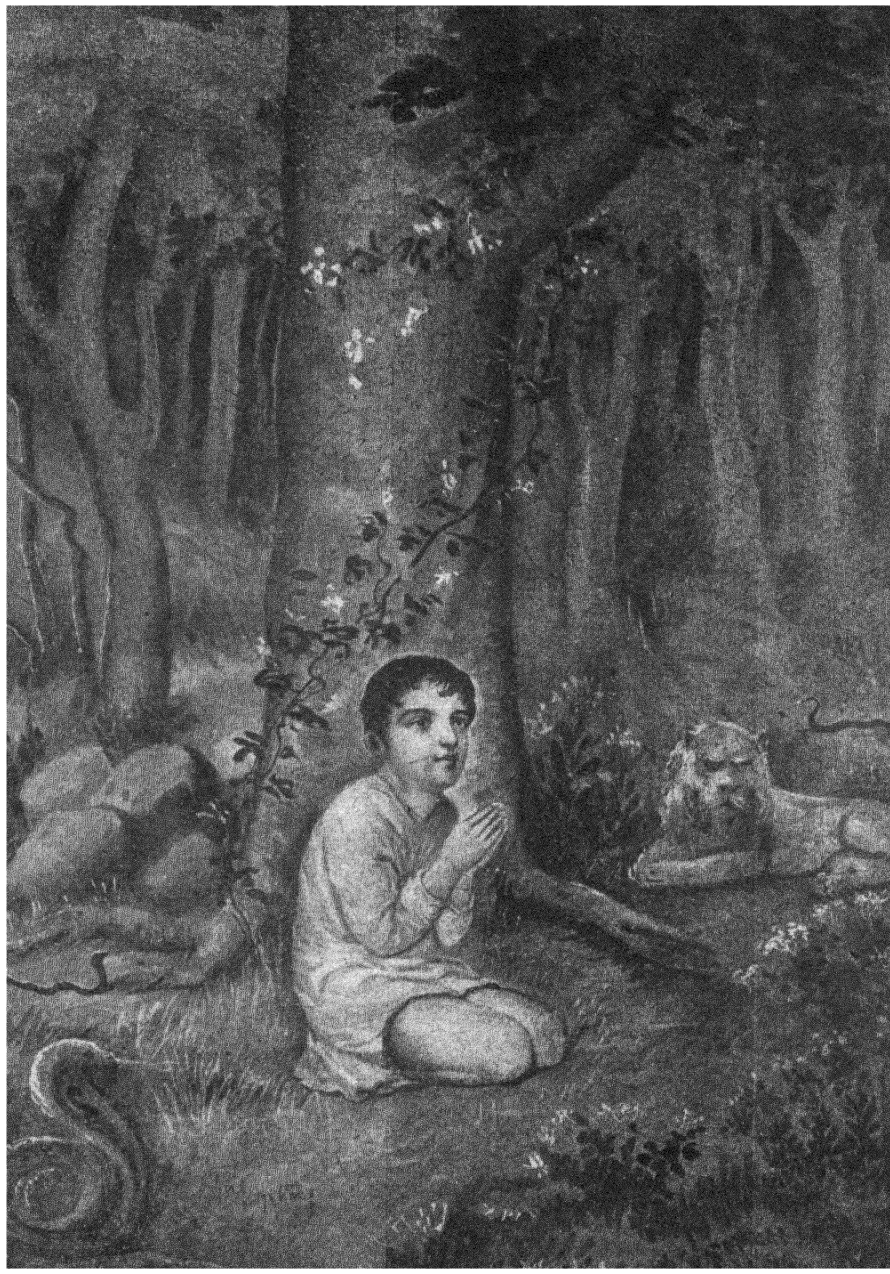
दायक हैं, शरणागत के प्रतिपालक और करुणा के सागर हैं। उनके वक्षःस्थल में श्रीवत्स अर्थात् भृगु ऋषि के चरण का चिह्न विराजमान है। उनका शरीर जलपूर्ण मेघ के समान सुन्दर श्यामवर्ण है। चार भुजाएँ हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। सिर पर किरीट मुकुट, कानों में मकराकृति कुंडल, भुजाओं में केयूर, कंकण आदि अमूल्य स्वर्णरत्नमय आभूषण शोभायमान हैं। कंठ में कौस्तुभ मणि प्रकाशमान है। रेशमी पीतांबर धारण किये हैं। पीताम्बर पर कमर में काञ्चन-काञ्ची पड़ी हुई है। चरणों में सोने के नूपुर बज रहे हैं। भगवान् का रूप सभी दर्शनीय वस्तुओं से बढ़कर दर्शनीय है। उनकी शान्त मूर्त्ति देखने से मन और नेत्र सुखी होते हैं। वह ध्यान करनेवालों के हृदय-कमल के बीच में नखरूप मणियों की पाँति से भली भाँति कान्तियुक्त चरणकमल रक्खे हुए विराजमान हैं। हे वत्स, वशवर्त्ती एकाग्र मन से इस प्रकार वर देनेवालों में श्रेष्ठ हरि का ध्यान करना चाहिए कि वह ऊपर वर्णित अनूप रूप से बैठे मुसकरा रहे हैं और प्रेमपूर्ण दृष्टि से उपासकों की ओर देख रहे हैं।

कल्याणरूप भगवान् का इस प्रकार ध्यान करते रहने पर साधक को अनूठा परमानन्द प्राप्त होता है। मन उस अपूर्व आनन्द को छोड़ कहीं हटकर नहीं जाता, अर्थात तन्मय अथवा तल्लीन हो जाता है। हे राजकुमार, मैं तुमको परम गुप्त मन्त्र बतलाता हूँ। इसका जप करना चाहिए। सात रात यह मंत्र जपने से साधक को आकाश में विचरनेवाले देवगण दिखाई देने लगते हैं। वह "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" यह द्वादशाक्षर मंत्र है। देश, काल के अनुसार प्राप्त सामग्री द्वारा इस मंत्र को पढ़कर हरि की पूजा करनी चाहिए। [अब पूजा की सामग्री बतलाते हैं]। पवित्र जल, माला, वन के कन्द-मूल, फल, फूल, सुन्दर हरी दूब के अंकुर, भोजपत्र के वन्य वस्त्र, तुलसीदल आदि से पूजा करनी चाहिए। तुलसी हरि को परमप्रिय है। यदि शालग्राम की शिला या शिला अथवा किसी धातु की बनी हुई मूर्त्ति पास हो तो उसमें हरि की पूजा करे। यदि ऐसी कोई मूर्त्ति न मिले तो पृथ्वी, जल, सूर्यमण्डल, अग्नि, ब्राह्मण या गुरु में हरि की पूजा करे; क्योंकि ये भी सब हरि के स्वरूप हैं।

पूजा करनेवाले अर्थात् उपासक को चाहिए कि अपने मन को वश में रक्खे, मन में हरि का चिन्तन करे, शान्त रहे, थोड़ा बोले या मौन रहे और वन के कंद-मूल, फल आदि का थोड़ा आहार करे। पवित्र चरित्रवाले भगवान् ने अपनी इच्छा से अवतार लेकर जिन कर्मों को किया है, दुष्टों को मारा और शिष्टजनों को उबारा है, उनका मन में ध्यान करता रहे। ऊपर कहा गया सब पूजन द्वादशाक्षर मंत्र का उच्चारण करता हुआ करे; क्योंकि भगवान् मंत्रमूर्त्ति हैं। अर्थात् यह मंत्र भगवान की ही मूर्त्ति है। ऊपर कहे गए प्रकार से मन-वचन-कर्म से भक्तिभाव के साथ पूजा, सेवा और उपासना करने से भगवान् भक्त की इच्छा के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देते हैं। कारण, जो लोग निष्कपट होकर अच्छी तरह भजते हैं, उनके भाव ( भक्ति ) को बढ़ाते हैं। स्त्री हो चाहे पुरुष, बालक हो या बूढ़ा, ब्राह्मण हो चाहे चाण्डाल, भगवान् की भक्ति और पूजा करने का सबको अधिकार है।

जो व्यक्ति अर्थ और काम को न चाहता हो, इन्द्रियसुख से विरक्त हो, केवल धर्म या मुक्ति चाहता हो, उसे चाहिए कि इन्द्रियों को उनके शब्द आदि विषयों के भोग से निवृत्त करके अनन्य भाव से दृढ़ भक्तियोग के साथ भगवान् का भजन और पूजन करे।

देवऋषि नारदजी के मुख से यह उपदेश पाकर राजकुमार ने उनकी प्रदक्षिणा की, उन्हें प्रणाम किया। फिर उनसे विदा होकर ध्रुवजी भगवान् के चरणों से पवित्र मधुवन को गये। जब ध्रुवजी तपस्या करने के विचार से मधुवन की ओर चल दिये, तब नारदजी राजा उत्तानपाद के अन्तःपुर में गये। राजा ने उठकर सादर मुनिवर का पूजन-सत्कार किया। तब सुखपूर्वक आसन पर बैठकर नारदजी ने राजा



ध्रुव का कठोर तप

से कहा—राजन्, तुम्हारा मुँह क्यों उतरा हुआ है ? मुखकमल किस ताप से सूख रहा है ? तुम क्या सोच रहे हो ? किस भारी चिन्ता में पड़े हो ? क्या तुम्हारी कोई कामना पूरी नहीं हुई है ? या तुम्हारा धर्म अथवा अर्थ नष्ट हो गया है ?

राजा ने लम्बी साँस लेकर कहा—नारदजी, क्या कहूँ, मैं बड़ा ही निठुर और स्त्री के वशीभूत हूँ। मेरे ही अपराध से मेरा पाँच वर्ष का बालक घर छोड़कर कहीं चला गया है। मैंने उसका और उसकी माता का निरादर करके यह अनर्थ कर डाला ! वह मेरा बालक बड़ा तेजस्वी, बुद्धिमान् और स्वाभिमानी है। मुझे उसका आदर करना चाहिए था। अब मैं यही सोच रहा हूँ कि उस अनाथ अकेले बालक को वन में कहीं भेड़िये, सिंह आदि तो न खा जायँगे ! वह राह चलने से कहीं थककर पड़ रहेगा। भूख-प्यास से उसका मुखकमल सूख जायगा। उस समय वहाँ उसकी रक्षा कौन करेगा ? अहो ! मैं बड़ा ही दुष्ट हूँ ! स्त्री के वश होकर मैंने बड़ी दुष्टता की ! वह बालक प्रेम से मेरी गोद में चढ़ने लगा और मुझ पापी ने, उसे गोद में लेना तो दूर, वाणी से भी उसका अभिनन्दन नहीं किया, उसे सान्त्वना नहीं दी !

नारदजी ने कहा—राजन्, तुम अपने पुत्र के लिए चिन्ता न करो। भगवान् ने उसे अपना लिया है और वही सदा सर्वत्र उसकी रक्षा करेंगे। उस बालक के प्रभाव को तुम नहीं जानते। उसका यश सारे संसार में छा जायगा। बड़े-बड़े लोकपाल भी जिस काम को नहीं कर सकते, वही दुष्कर कर्म करके वह शीघ्र ही आकर तुमसे मिलेगा। उसके कारण तुम्हारा भी यश पृथ्वीमण्डल में फैलेगा।

मैत्रेयजी कहते हैं—नारदजी के ये वचन सुनकर राजा उत्तानपाद हर घड़ी पुत्र का ही ध्यान करने लगे। उन्होंने राजलक्ष्मी और राजभोग छोड़ दिये, ऐसी उन्हें ग्लानि हुई। उधर ध्रुवजी ने मधुवन (मथुरा) में पहुँचकर स्नान करके उस दिन निराहार उपवास किया। तदनन्तर नारदजी के उपदेश के अनुसार, एकाग्र होकर अनन्यभाव से हरि की आराधना करने लगे। ध्रुवजी ने तीन-तीन दिन के बाद केवल कैथा और बेर के फल खाकर शरीर की रक्षा करते हुए हरि की आराधना में पहला महीना बिताया। दूसरे महीने हर छठे दिन वृक्षों से गिरे हुए सूखे पत्ते और तृण खाकर हरि की आराधना की। तीसरे महीने हर नवें दिन केवल थोड़ा-सा जल पीकर हरि का ध्यान करते रहे। चौथे महीने हर बारहवें दिन केवल वायुभक्षण करके प्राणायाम की साधना से हरि की आराधना की। पाँचवें महीने राजकुमार ध्रुव साँस को रोककर एक पाँव से निश्चल खंभे की भाँति खड़े होकर हृदय में ब्रह्म का ध्यान करने लगे। तात्पर्य यह कि हर महीने वह आहार को घटाते और तपस्या को बढ़ाते गये। पाँचवे महीने में वह समाधिस्थ हो गये। शब्द आदि विषयों और श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आश्रय मन को बाहरी विषयों से खींचकर ध्रुवजी ने अन्तर्मुख किया, अर्थात् हृदय में स्थित भगवान् के ध्यान में लगा दिया। उस समय उन्हें भगवान् के सिवा और कुछ भी न देख पड़ने लगा। जब महत्तत्त्व आदि तत्त्वों के आधार और प्रकृति-पुरुष के नियामक परमेश्वर परब्रह्म को ध्रुवजी ने अपने हृदय में धारण कर लिया, तब उनके तेज को न सह सकने के कारण तीनों लोक काँप उठे। राजकुमार एक पैर से खड़े थे। उनके पाँव के अंगूठे के दबाव से वह पृथ्वीमंडल वैसे ही डगमगाने लगा, जैसे हाथी के चढ़ने पर उसके बोझ से छोटी नाव इधर-उधर डगमगाती है। ध्रुवजी प्राणवायु और उसके निकलने-पैठने के द्वारों को बंद करके ईश्वर में और अपने में तथा अपने में और सम्पूर्ण जगत् में भेदभावना न रखकर विश्वरूप भगवान् का ध्यान करने लगे तो उस समय सब लोकों के जीवों की साँस रुक गई[1]। साँस रुकने

[1] इसका कारण यही था कि ध्रुवजी ने अपने आत्मा को परमात्मा में तन्मय कर दिया। वह परमात्मा विश्व भर में है। विश्वव्यापक परमात्मा को हृदय में स्थापित करके ध्रुवजी ने साँस रोकी तो विश्वभर की साँस रुक गई। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। देखो, कृष्ण भगवान् ने आग का एक कण खाकर त्रिभुवन को तृप्त कर दिया था। ध्रुव समाधि की अवस्था में जब उन्हीं का रूप हो गये, तब ऐसा होना असंभव नहीं।

पर त्रिलोकवासी सभी देहधारी घबरा उठे। तब अपना कष्ट दूर करने की प्रार्थना करने के लिए सब लोक और लोकपाल हरि भगवान् की शरण मे गये।

देवतों ने जाकर भगवान् से कहा—हे जगदीश्वर, यह सम्पूर्ण चराचरजगत् की साँस क्यों रुक गई है ? हमारी तो कुछ भी समझ में नहीं आता। ऐसा तो और कभी नहीं हुआ। इससे हम सब देहधारियों को बड़ा कष्ट हो रहा है। इस क्लेश से शीघ्र ही हमें छुड़ाइए। हम आपकी शरण में आये है। आप शरणागत लोगों के प्रतिपालक हैं।

श्रीभगवान ने कहा—देवगण, तुम डरो नही। जिस बालक के कारण तुम सबकी साँस रुक गई है, उसे मैं अभी जाकर दुष्कर तप से निवृत्त करता हूँ। वह बालक राजा उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव है। वह इस समय मुझमें मिल गया है, इसी कारण उसके साँस रोकने से सारे संसार की साँस रुक गई है। तुम घबराओ नहीं, अपने लोक को जाओ।

---

# नवाँ अध्याय

## ध्रुवजी को वरदान मिलना

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् के आश्वासन देने से देवतों का भय जाता रहा। तब भगवान् को प्रणाम करके वे स्वर्ग को चले आये। भगवान् भी भक्त ध्रुव को देखने की इच्छा से गरुड़ पर बैठकर मधुवन में उपस्थित हुए। योग की दृढ़ता के कारण निश्चल बुद्धि से अपने हृदयकमल मे विराजमान बिजली के समान तेजस्वी भगवान् की मूर्त्ति का ध्यान कर रहे ध्रुव ने जब सामने गरुड़ के ऊपर सवार भगवान् के उपस्थित होने पर भी उन्हे देख न पाया, तब भगवान् ने उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उनके हृदय में स्थित अपनी मूर्ति को हटा लिया। सहसा हृदय से भगवान् के अन्तर्द्धान होते ही हड़बड़ाकर ध्रुव ने आँखें खोल दीं। उन्होंने देखा, अपनी आँखों के सामने उसी रूप से भगवान् विराजमान हैं, जिस रूप का ध्यान अब तक वह कर रहे थे। ध्रुव ने आनन्द मे मग्न होकर पृथ्वी मे गिरकर भगवान् को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। बालक ध्रुव प्रेम से इस प्रकार हरि की ओर एकटक निहारने लगे, मानों नेत्रों से उस मूर्त्ति को पी लेंगे, मुख से चूम लेंगे, भुजाओं से लिपटा लेंगे।

ध्रुवजी हाथ जोड़कर भगवान् के आगे खड़े हुए। उन्होंने स्तुति करनी चाही; परन्तु स्तुति कैसे की जाती है, यह ज्ञान उन्हे न था। तात्पर्य यह कि अधिक पढ़े-लिखे न होने के कारण भगवान् के तत्त्व का निरूपण या उनकी महिमा का वर्णन करने में वह असमर्थ थे। सबके अन्तर्यामी भगवान् ध्रुव के मन की अभिलाषा जान गये। तब उन्होंने कृपा करके वेदस्वरूप अपना शंख बालक के कपोल मे छुआ दिया। उस समय ध्रुवजी को जीव और ब्रह्म का विवेक प्राप्त हो गया। वह ईश्वर की कृपा से उसी समय मिले हुए वेदमय वाक्यों से धीरे-धीरे भक्तिभाव के साथ त्रिभुवन में प्रसिद्ध कीर्त्तिवाले हरि भगवान् की स्तुति करने लगे। वास्तव में ब्रह्मज्ञान हो जाने से ध्रुवजी को उसी समय अभय ध्रुव-पद प्राप्त हो गया।

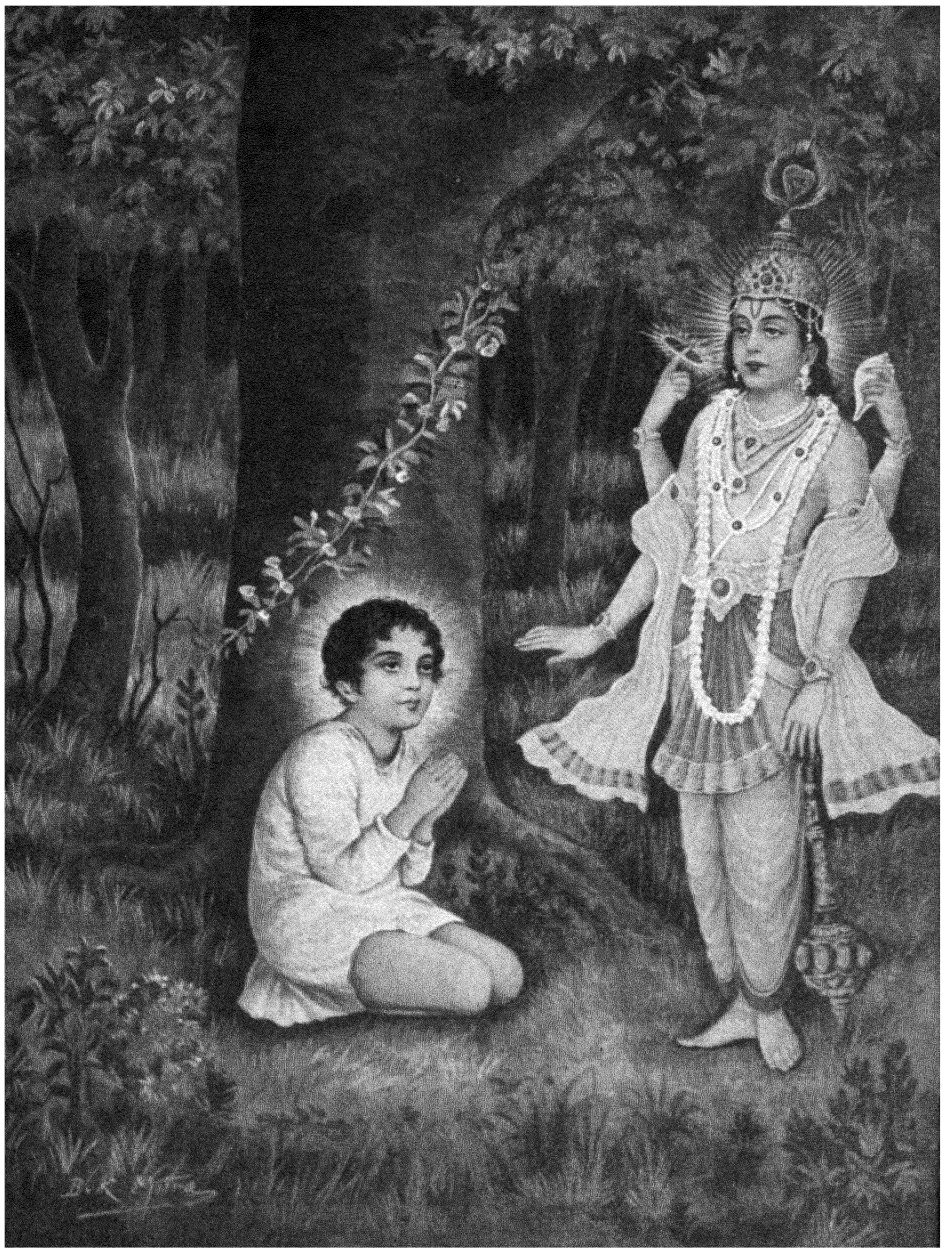
ध्रुवजी ने कहा—हे प्रभो, अपनी चितशक्ति से भीतर प्रवेश करके संपूर्ण इन्द्रियों को सजीव बनानेवाले जीवात्माम्वरूप परमपुरुष आप ही हैं। आपके होने पर ही हाथ, पाँव, कान, त्वचा, प्राण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना काम कर सकती हैं। अन्तर्यामीरूप आप ही मेरे अन्तःकरण में

प्रवेश करके सोई हुई मेरी वाणी को अपनी ज्ञान-शक्ति से जगा रहे हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। हे नाथ, अग्नि आदि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता वाक् आदि इन्द्रियों के प्रकाशक अर्थात् उन्हें अपना कार्य करने में समर्थ बनानेवाले हैं, ऐसा प्रसिद्ध है। किन्तु वे सब देवता आप ही के रूप हैं। आप अपनी शक्ति जो त्रिगुणमयी माया है, उसके द्वारा महत्तत्त्व आदि सब पदार्थों की सृष्टि करते हैं और माया के असत् गुण (अर्थात् माया के गुणों से उत्पन्न) अथवा विकार जो इन्द्रिय आदि हैं, उनमें अग्नि आदि देवतों के रूप से अधिष्ठित होकर आप ही उनकी शक्तियों को प्रकाशित करते हैं। जैसे एक ही अग्नि अनेक काष्ठों में उनकी आकृति के अनुसार छोटा-बड़ा अनेक जान पड़ता है, वैसे ही एक अन्तर्यामी आप अनेक जान पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि आपके सिवा और किसी में ज्ञान और कर्म करने की शक्ति नहीं है, अर्थात् चैतन्यशक्ति का आधार आप ही हैं। हे नाथ, सब लोकों के पितामह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्माजी भी सृष्टि के आरंभ में सोकर उठे हुए मनुष्य की भाँति, आपकी शरण मे आकर आप ही के दिये हुए ज्ञान से इस जगत् को अपने में लीन देख पाते हैं और आप ही की दी हुई शक्ति से फिर पहले कल्प की भाँति सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। मुक्ति चाहनेवाले योगीजन आपके ही चरणों की शरण में आते है। आप दीनबन्धु हैं। आपके उन श्रीचरणों को भला कौन कृतज्ञ पुरुष भूल सकता है? तात्पर्य यह कि ऐसे उपकारी अन्तर्यामी आपको जो नहीं भजते, वे महाकृतघ्न हैं। हे देव, निश्चय ही उनकी बुद्धि को आपकी प्रबल माया ने हर लिया है, जो संसार से मुक्ति देनेवाले आपकी अन्य तुच्छ कामनाओं के लिए सेवा करते हैं। आप तो कल्पवृक्ष हैं। आपको प्रसन्न करके शवसदृश शरीर से भोगे जानेवाले विषय-सुख माँगना बड़ी भारी मूर्खता है। शरीर का सुख तो नरक अर्थात् पशु-योनि में भी प्राप्त होता है। नाथ, आपके चरणारविन्दों का ध्यान करने से, आपका भजन करने से, आपके भक्तों के मुख से आपकी चर्चा सुनने से जो सुख और आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द मुक्ति, ब्रह्मज्ञान या स्वरूपानन्द में भी नहीं मिलता। कारण, ध्यान का सुख वृत्तिगोचर है और सुनने का सुख श्रोत्रगोचर है; किन्तु ब्रह्म इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए उसके अनुभव में यह सुख नहीं मिल सकता। सगुण रूप के भजन में यशोदा, गोपी आदि के समान दर्शन-श्रवण का अलभ्य लाभ होता है। जब ब्रह्मानन्द भी भजनानन्द की समता नहीं कर सकता, तब स्वर्ग आदि के सुख क्या उसकी बराबरी कर सकते हैं! स्वर्गलोक आदि तो कराल काल के प्रहार से नष्ट हो जाते हैं और तब वहाँ के निवासी भी स्वर्ग के विमानों से गिरकर फिर इस संसार में जन्म लेने के लिए बाध्य होते हैं। हे अनन्त, आपकी भक्ति में जिनका विशुद्ध चित्त दृढ़ रूप से लग गया है, वे भक्त धन्य हैं। मै उनके संग की ही अभिलाषा रखता हूँ। कारण, आपके गुणों की अमृत-तुल्य कथा पीकर, मस्त होकर, मैं सत्संग की सहायता से अनेक कष्टों से युक्त घोर संसार-सागर को सहज ही में तर जाऊँगा। हे पद्मनाभ, आपके चरणकमलों की सुवास में जिनका मन मोहित हो रहा है, उन सज्जन भक्तों के संग में मतवाले हो जानेवाले लोगों को परम प्रिय शरीर और उस शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र, मित्र, स्त्री, धन और घर-गृहस्थी आदि की सुध ही नहीं रहती। हे आदिपुरुष, हे अज, मैं आपके केवल इस विराट् सगुण रूप को ही जानता हूँ। पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, देवता, दैत्य, मनुष्य आदि तथा सब सत् और असत् पदार्थ इसी रूप के अन्तर्गत हैं। यह आपका शरीर महत्तत्व आदि से रचित सगुणरूप है। इसके सिवा मन और वाणी के लिए अगम्य आपके निराकार निर्गुण परब्रह्मरूप को मैं नहीं जानता। कल्प के अन्त में जो परमपुरुष इस समग्र चराचर विश्व को अपने भीतर लीन करके, योगनिद्रा को ग्रहण करके, शेषशय्या के ऊपर शयन करते हैं और जिनके नाभिसमुद्र से सुवर्णवर्ण त्रिभुवनमय कमल प्रकट होता है, वह भगवान् नारायण आप ही हैं। उसी कमल से आप ब्रह्माजी को उत्पन्न करते हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे परमेश्वर,

आप जीवात्मा से भिन्न हैं। कारण, आप नित्य मायामुक्त हैं और जीव माया के वश होकर संसार के बन्धन में पड़ा है। उसकी मुक्ति आप ही की कृपा से होती है। आप ज्ञानमय होने के कारण विशुद्ध हैं और जीव मलिन है। आप विबुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ है और जीव अज्ञ है। आप चैतन्य आत्मा हैं और जीव जड़ है, स्वयंप्रकाश नहीं है। आप निर्विकार साक्षीमात्र हैं और जीव विकारयुक्त होने के कारण कर्मफल भोगनेवाला है। आप आदिपुरुष अनादि है और जीव का आदि है। आप भगवान् अर्थात् छः ऐश्वर्यों से युक्त हैं और जीव उनसे रहित है। आप तीनों गुणों के ईश्वर अर्थात् नियामक हैं और जीव उनके अधीन है। आपमें और जीव में यह विलक्षणता इसीलिए है कि आप बुद्धि की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के साक्षी है, अर्थात् अपनी अखण्डित चित्शक्ति से देखते है। आप विश्व की रक्षा के लिए यज्ञपुरुष विष्णुरूप से स्थित हैं। जिससे यथासमय परस्पर विरुद्ध गतिवाली, विविध शक्तिशालिनी विद्या और अविद्या की उत्पत्ति होती है और जिसमें वे लीन भी हो जाती है, वह विश्व को उत्पन्न करनेवाले, अनादि, आदि, अद्वितीय, अनन्त, अविकार, आनन्दमय ब्रह्म आप ही है। मैं आपके शरणागत हूँ। [अन्त में सकाम भजन से भी मोक्ष पाने की आशा प्रकट करते हुए ध्रुवजी कहते हैं।] हे भगवन्, जो भक्तजन निष्काम होकर परमानन्दरूप आपके कोमल चरणों का भजन करते हैं, उन्हें यथार्थ परमार्थफल मुक्ति मिलती है। किन्तु हे आर्य, हम सकाम भक्तों की संसार के भय से आप वैसे ही रक्षा करते हैं, जैसे जल्दी ब्याई हुई गऊ भेड़िये आदि से अपने बच्चे की रक्षा करती है। आप अपने भक्तों पर तो अनुग्रह करते ही हैं, उनके सिवा सदा संपूर्ण जगत् का कल्याण करने में तत्पर रहते हैं।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—उत्तम अभिलाषा रखनेवाले बुद्धिमान् ध्रुव के यों स्तुति कर चुकने पर भक्तवत्सल दीनबन्धु भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे यों कहा। नारायण ने कहा—हे राजकुमार, तुम्हारे मनोरथ को मैं जानता हूँ। हे सुव्रत. तुम जो चाहते हो, वह बहुत दुर्लभ है, तथापि तुम्हारी भक्ति और तपस्या से सन्तुष्ट होकर मैं तुमको वही देता हूँ। मेरी कृपा से तुमको ध्रुवपद मिलेगा। इस पद को आज तक किसी ने नहीं पाया। यह लोक परम प्रकाश से युक्त है। ये सब ग्रह, नक्षत्र और तारागण आदि ज्योतिश्चक्र के पदार्थ उसी ध्रुवलोक के आश्रय से स्थित हैं। कल्प के अन्त तक रहनेवाले लोकों का नाश होने पर भी ध्रुवलोक का नाश न होगा। जैसे नाज की मड़नी के समय बैल बीच की लकड़ी के सहारे चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही सब तारागण, नक्षत्ररूपी धर्म, अग्नि, इन्द्र या शुक्र और कश्यप आदि सप्तऋषि उस लोक के चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा करते हैं। इस लोक में भी जब तुम्हारे पिता तुम्हें राज्य देकर वन को चले जायँगे, तब तुम छत्तीस हज़ार वर्ष तक पृथ्वीमण्डल का पालन और शासन करोगे। किन्तु मेरी कृपा से तुम्हारा अन्तःकरण विषय-भोग में आसक्त न होगा। तुम्हारा भाई उत्तम वन में शिकार खेलने जायगा। वहाँ एक यक्ष से उसका झगड़ा होगा और वह उस यक्ष के हाथ से मारा जायगा। उत्तम की माता सुरुचि पुत्र को खोजने वन में जायगी और वहीं दावानल में भस्म हो जायगी। तुम मुझ यज्ञपुरुष को प्रसन्न करने के लिए कई बड़े-बड़े यज्ञ करोगे और उनमें ब्राह्मणों को दक्षिणा में बहुत-सा धन दान करोगे। इस प्रकार इस लोक के सभी सुख तुम भोगोगे। अन्त को वृद्धावस्था आने पर मुझे स्मरण करके ध्रुवलोक को जाओगे। यह ध्रुवलोक सप्तऋषियों से भी ऊपर है। उसे सब लोग प्रणाम करते हैं। योगी लोग वहाँ पहुँचकर फिर इस संसार में लौटकर नहीं आते।

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् गरुड़ध्वज विष्णु के यों कहने के बाद ध्रुव ने फिर उनकी पूजा की। ध्रुव को ध्रुवलोक देकर भगवान् अपने वैकुण्ठलोक को चले गये। हरिचरणों की सेवा से ध्रुव की कामना पूरी हो गई। तब वह अपने पिता की नगरी को लौटे। किन्तु उनका चित्त कुछ बहुत प्रसन्न नहीं हुआ।



ध्रुव को हरिदर्शन

विदुरजी ने पूछा—भगवन्, प्रबल मायावाले हरि के दुर्लभ परमपद को उनके चरणों की सेवा से इतने सहज में एक ही जन्म में पाकर भी ज्ञानी ध्रुवजी को पूर्ण प्रसन्नता क्यों नहीं हुई ? उन्होंने अपने को कृतार्थ क्यों नहीं माना ?

श्रीमैत्रेयजी ने कहा—ध्रुवजी का हृदय सौतेली माता के बाणतुल्य तीक्ष्ण दुर्वचनों से फट गया था, इसी कारण मोक्षदायक हरि को प्रसन्न करके भी उनसे उन्होंने मोक्ष नहीं माँगी, भोग ही माँगा। यही सोचकर पीछे ध्रुवजी को बड़ा सोच हुआ। भगवान् के चले जाने पर ध्रुवजी यों कहकर अपने मन में पछताने लगे कि मैं कैसा अभागा और मूर्ख हूँ ! बालब्रह्मचारी परमहंस सनत्कुमार आदि मुनियों ने अनेक जन्म तक समाधि लगाकर जिनके पद को जान पाया है, उन्हीं हरि के चरणों की छाया अर्थात् आश्रय को केवल छः महीने की आराधना से मैंने प्राप्त कर लिया था। परन्तु भेददृष्टि के कारण विषय-भोग उनसे माँग बैठा और उन चरणों का आश्रय छोड़ दिया। अहो ! सचमुच मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ। मेरी मूर्खता तो देखो कि संसार के दुःख-कष्ट से छुड़ानेवाले हरि भगवान् के चरणों की शरण में पहुँचकर मैंने वह माँगा, जो एक दिन अवश्य ही छूट जायगा, या जिसका एक दिन अवश्य ही अन्त हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि पराये अभ्युदय को न सह सकनेवाले देवतों ने मुझे अपने से श्रेष्ठ पद में पहुँचते देखकर मेरी बुद्धि को बिगाड़ दिया था, इसीसे नारदजी के इस यथार्थ उपदेश को कि "पुत्र, अभी तुम बालक हो, तुम्हारा मान या अपमान कुछ अर्थ नहीं रखता" मैंने नहीं माना और सौतेली माता से बदला लेने के विचार को नहीं छोड़ा। मैं बड़ा ही असत् हूँ। जैसे सोया हुआ मनुष्य वास्तव में किसी दूसरे का अस्तित्व न होने पर भी स्वप्न में दूसरे के द्वारा मिले हुए सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होता है, वैसे ही यद्यपि सबमें एक ही ब्रह्म है, उसके सिवा दूसरा कोइ नहीं है, तो भी ईश्वर की प्रबल माया में मोहित होकर मैंने अपने भाई को अपने से भिन्न मान लिया और सौतेली माता के कटुवचनों को स्मरण करके व्यथित हुआ। जिसकी मृत्यु आ गई है, उसे औषध देना जैसे निष्फल ही होता है, वैसे ही मेरा यह मनोरथ भी व्यर्थ है, जो मैंने ईश्वर से माँगा है। बड़ी कठिन तपस्या और आराधना से प्रसन्न होनेवाले मुक्तिदाता अन्तर्यामी नारायण को तपस्या से सन्तुष्ट करके वह तुच्छ पद मैंने माँगा, जिसमें जन्म-मरण का भय बना हुआ है ! अवश्य ही मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। सच तो यह है कि कृपालु भगवान् मुझे ब्रह्मानन्द देनेवाले थे, इसीलिए वह पधारे थे; किन्तु मैंने मूर्खता के कारण अभिमान के वश होकर उनसे संसार में सम्मान अर्थात् ऊँचा पद माँग लिया। यह तो वही हुआ कि कोई अभागा धनहीन व्यक्ति जैसे दैवसंयोग से किसी चक्रवर्त्ती राजा के पास पहुँच जाय और उसे प्रसन्न भी कर ले, किन्तु माँगे क्या, खोखले मोटे धान ! सत्य ही मैं पुण्यहीन अभागा हूँ।

मैत्रेयजी कहते है—भैया विदुर, मुकुन्द भगवान के चरणों की सेवा करनेवाले, उनके चरणारविन्दों की रज चाहनेवाले तुम्हारे जैसे अनन्य भक्तजन हरि से उनकी सेवा के सिवा और कुछ भी नहीं माँगते। कारण, दैव द्वारा सांसारिक सुख या दुःख जो कुछ प्राप्त होता है, उसी में वे सन्तुष्ट रहते हैं।

इधर राजा उत्तानपाद को जब ध्रुव के लौटने का समाचार मिला तो जैसे मरे मनुष्य के जी उठने की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता, वैसे ही राजा को इस समाचार के सत्य होने का विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने अपने मन में कहा—मुझ अभागे के ऐसे भाग्य कहाँ कि गया हुआ पुत्र फिर लौट आवे ! परन्तु वैसे ही उन्हें देवऋषि नारद का कहना याद आ गया कि तुम पुत्र के लिए कुछ चिन्ता न करो; वह सिद्ध होकर सकुशल लौट आवेगा। तब उन्हें इस समाचार पर विश्वास हुआ। इस सुसमाचार से राजा को बड़ा आनंद हुआ। जिसने आकर राजा को यह समाचार सुनाया था, उसे उन्होंने बड़े मोल का हार गले से उतारकर दे दिया। उसी समय राजा उत्तानपाद अपने श्रेष्ठ रथ पर सवार हुए। रथ मे सुन्दर घोड़े जुते हुए

थे। रथ की सब सामग्री और घोड़ों का साज सुवर्ण, रत्न आदि से अलंकृत और बहुमूल्य था। राजा के साथ ब्राह्मण, पुरोहित, कुल के बड़े-बूढ़े, अमात्य, मंत्री और सब बन्धु-बान्धव भी ध्रुव का स्वागत करने के लिए चले। आगे-आगे शंख, नगाड़े, बाँसरी आदि मंगलसूचक बाजे बजते चले। ब्राह्मण लोग वेदध्वनि करते चले। पुत्र को देखने के लिए राजा बहुत ही उत्कण्ठित हो रहे थे, इसलिए वह बहुत शीघ्रता के साथ पुरी के बाहर पहुँच गये। सुवर्ण के आभूषणों से अलंकृत सुरुचि और सुनीति, दोनों रानियाँ, पालकी में बैठीं और राजकुमार उत्तम को साथ लेकर ध्रुव को देखने के लिए चलीं।

उपवन के पास पहुँचकर राजा ने ध्रुव को आते देखा। तुरंत रथ से उतरकर प्रेम से विह्वल हो रहे राजा पुत्र के पास पहुँच गये। वह पैदल ही पुत्र से मिलने के लिए दौड़ पड़े। राजा ने हाथ फैलाकर ध्रुव को गले से लगा लिया। भगवान् के चरणों का स्पर्श करने से ध्रुव के पाप नष्ट हो गये थे और संसार का बंधन छूट गया था। इस कारण उनके स्पर्श से राजा भी पवित्र हो गये। वह बारम्बार पुत्र का सिर सूँघने और मुख चूमने लगे। बारम्बार साँसें लेकर शीतल आनन्द के आँसुओं से ध्रुव को उन्होंने जैसे नहला दिया। सज्जनशिरोमणि ध्रुव ने पहले पिता के पैरों में सिर रखकर प्रणाम किया। पिता ने भी उनको अनेक आशीर्वाद दिये। फिर राजकुमार ने अपनी दोनों माताओं को भी भक्ति के साथ प्रणाम किया। माताओं ने भी प्यार और आदर के साथ उन्हें आशीर्वाद दिया। सुरुचि ने पैरों पर पड़े हुए बालक ध्रुव को उठाकर छाती से लगा लिया और नेत्रों में आँसू भर आने के कारण कण्ठ रुँध जाने से केवल "जियो" इतना ही उनके मुख से निकल सका। इस समय सुरुचि ने ध्रुवजी के साथ ऐसा जो स्नेह का व्यवहार किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समदर्शिता, सब प्राणियों से मित्रभाव आदि सद्गुणों से जिसने भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लिया है, उससे शत्रु और मित्र सभी अच्छा व्यवहार करते हैं। जैसे जल नीचे की ओर आप लुढ़कता है, वैसे ही सभी लोग अनुकूल होकर स्वयं उस व्यक्ति से मिलते हैं। उत्तम और ध्रुव दोनों भाई प्रेमभाव के साथ परस्पर गले मिले। दोनों के रोमांच हो आया, आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे।



ध्रुव की माता सुनीति अपने प्राणों से बढ़कर प्रिय पुत्र को गले से लगाकर बहुत प्रसन्न हुई। पुत्र के स्पर्श से उनका सारा दुःख और सन्ताप मिट गया। हे विदुर, वीर पुत्र की जननी सुनीति के दोनों स्तन आँसुओं से भीग गये और पुत्रस्नेह की उमंग के मारे उनसे दूध बहने लगा।

वहाँ उपस्थित पुरवासी लोग रानी से कहने लगे—महारानी, बड़े सौभाग्य की बात है कि आपके बिछड़े हुए कुँअर आ गये और आपका दुःख-कष्ट दूर हो गया। यह प्रतापी राजकुमार सिंहासन पर बैठकर पृथ्वीमण्डल का शासन और पालन करेंगे। आपने निश्चय ही भक्तों की पीड़ा को हरनेवाले भगवान् की भली भाँति पूजा-आराधना की है। यह उसी का फल है। उन जगदीश्वर का ध्यान करनेवाले धीर योगीजन

दुर्जय मृत्यु या काल को भी जीत लेते हैं। नगर-निवासी प्रजा यों बधाई देने लगी। इसके उपरान्त उत्तानपाद राजा ने ध्रुव और उत्तम दोनों को अपने पास हथिनी पर बिठाकर उनके साथ अपनी पुरी के भीतर प्रवेश किया।

राह में पुर के लोग राजा की प्रशंसा करते हुए इस सौभाग्य के लिए उन्हें बधाई देने लगे। सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। इस उत्सव के अवसर पर पुरी की अपूर्व सजावट देख पड़ती थी। हर एक घर मे द्वार पर बंदनवार बँधे थे। उन पर पड़ी हुई रंग-विरंगी पुष्पमालाओं की अपूर्व शोभा हो रही थी। मगर के आकार के बड़े-बड़े कृत्रिम ( नक़ली ) तोरणों ( फाटकों ) के आस-पास मंगल के लिए फले हुए केले और सुपारियों के गुच्छे लटक रहे थे। आम के नवपल्लव, रंग-विरंगे कपड़ों की झंडियाँ, फूलों के गजरे और मोतियों की लड़ियाँ उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। हर एक द्वार पर जल-भरे कलश रक्खे थे और उनके ऊपर दीपक जल रहे थे। पुरी के भीतर सुवर्णभूषित दीवारें, गोपुर ( अंटियाँ ) और बड़े-बड़े महल ऐसे शोभायमान थे, जैसे स्वर्गलोक मे ऊंचे शिखरोंवाले विमान सुशोभित हों। पुरी के भीतर आँगन, चौतरे, सड़के, गलियाँ और छते साफ़ झाड़ी-बहारी, लिपी-पुती हुई थीं। सड़कों पर चन्दन आदि का छिड़काव किया गया था। अक्षत, फूल, फल, खीले आदि मंगल और पूजा की सामाग्रयाँ सर्वत्र रक्खी हुई देख पड़ती थीं। राह मे जिधर ध्रुवजी की सवारी निकलती थी, उधर ही ध्रुव को देखकर पुर की नारियाँ उन पर सफ़ेद सरसों, अक्षत, खीलें, दही, जल, दूब, फूल, फल आदि मांगलिक वस्तुओं की वर्षा करके प्रेम के साथ उन्हे आशीवाद देती थीं। उनके सुन्दर वचनों को और मंगलगीतों को सुनते हुए राजकुमार ध्रुव ने अपने पिता के भवन मे प्रवेश किया। बहुमूल्य मणियों तथा रत्नों से अलंकृत श्रेष्ठ राजभवन मे प्रेमपूर्वक पिता-माता के लालन-पालन का सुख भोगते हुए ध्रुवजी वैसे ही रहने लगे, जैसे स्वर्गलोक मे इन्द्र के पुत्र जयंत रहते है।

उस भवन की शोभा और ऐश्वर्य अपूर्व ही था। उज्ज्वल हाथीदाँत के पलंग पड़े हुए थे। उन पर दूध के समान उजले और फेने के समान कोमल बिछौने बिछे थे। पलँगों की पट्टियाँ और पाये मणि-मण्डित और सुवर्णभूषित थे। बड़े मोल की सोने की चौकियाँ और आसन बैठने के लिए इधर-उधर रक्खे थे। उस भवन की दीवारें मरकतमणि की और पृथ्वी ( फ़र्श ) बिल्लौर का था। रत्नदीप जल रहे थे। उनके और स्त्रीरत्नों के रूप के प्रकाश से वह भवन और भी जगमगा रहा था। उसके भीतर ही कई रमणीय बाग़ थे। उनमें विचित्र कल्पवृक्ष लगे हुए थे। पक्षियों के जोड़े अपनी विचित्र और मधुर बोलियाँ सुना रहे थे। महक से मस्त भौंरे गुजार करते हुए फूलों के उपर मँडलाते थे। बावलियाँ बनी थीं। उनकी सीढ़ियाँ वैडूर्यमणि की बनी थीं। उनके जल में पद्म, उत्पल, कोकाबेली के फूल फूल रहे थे। हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस आदि पक्षी उनके जल में क्रीड़ा कर रहे थे।

राजर्षि उत्तानपाद पुत्र के हरिदर्शन आदि अद्भुत प्रभाव को देख-सुनकर बहुत विस्मित हुए। राजा उत्तानपाद ने जब देखा कि अब ध्रुवजी जवान हो गये हैं, उनसे सब प्रजा भी प्रसन्न है, सब ध्रुव पर अनुराग रखते हैं और चाहते हैं कि वह उनके राजा हों, तब सबकी इच्छा के अनुसार उन्होंने ध्रुव को अपने स्थान पर पृथ्वीमण्डल का सम्राट् बना दिया। तदनन्तर अपने को वृद्ध देखकर विषय-सुख से विरक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए वानप्रस्थ ग्रहण करके आप वन को चले गये।

# दसवाँ अध्याय

## यक्षों के साथ ध्रुव का विरोध

मैत्रेयजी कहते हैं—ध्रुव ने राजगद्दी पर बैठने पर कुछ समय के बाद प्रजापति शिशुमार की भ्रमि नाम की कन्या से व्याह किया। उसके गर्भ से उनके कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र हुए। ध्रुव की दूसरी स्त्री वायु की कन्या इला थी। उसके गर्भ से उनके उत्कल नाम का पुत्र और एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई।

उत्तम का व्याह नहीं हुआ था। एक दिन वह हिमालय पर शिकार खेलने गया। वहाँ एक बली यक्ष से उसका झगड़ा हो गया और उस यक्ष ने उसको युद्ध में मार डाला। उत्तम की माता सुरुचि उसे खोजने गई। वह भी वन के दावानल में जलकर मर गई। ध्रुव ने जब यक्ष के हाथ से भाई की मृत्यु का समाचार सुना, तब क्रोध, शोक और बदला लेने की इच्छा से उनका हृदय अस्थिर हो उठा। वह उसी समय विजय दिलानेवाले उत्तम रथ पर बैठकर अकेले ही युद्ध करने के विचार से यक्षों के निवास-स्थान कैलास पर्वत पर गये। उत्तर दिशा में जाकर हिमवान् पर्वत के एक अंश कैलास पर्वत पर ध्रुव ने शंकर के अनुचर यक्षों की अलकापुरी देखी।

ध्रुव ने वहाँ पहुँचकर अपना शंख बजाया। उसका शब्द आकाश में और सब दिशाओं में भर गया। उस घोर शब्द अर्थात् शंखनाद को सुनकर यक्षों की स्त्रियाँ डर गईं। वे घबराकर इधर-उधर देखने लगीं। युद्ध की ललकार के समान उस शंखनाद को वीर और बली यक्ष नहीं सह सके। वे अपने-अपने शस्त्र लेकर पुरी के बाहर रण के लिए निकल आये। तब उग्र धनुष धारण करनेवाले महारथी वीर ध्रुव ने यक्षों को आते देखकर सब यक्षों के एक साथ तीन-तीन बाण मारे। ध्रुव ने ताककर सबके मस्तक ही में बाण मारे। उन बाणों के ललाट में लगने से यक्षों ने अपने को पराजित माना। वे ध्रुव की इस फुर्ती की प्रशंसा करने लगे। किन्तु साँप जैसे चरण के प्रहार को सह नहीं सकता, वैसे ही अपनी वीरता और बल का अभिमान रखनेवाले यक्ष भी ध्रुव के इस प्रहार से अपनी हार को न सह सके और अत्यन्त क्रोधित हो उठे। उन यक्षों ने दूना पराक्रम दिखाने की इच्छा से ध्रुव के छः-छः बाण मारे। वे यक्ष सख्या में एक लाख तीस हज़ार थे। वे कुपित होकर एक साथ ध्रुव और उनके सारथी पर परिघ ( बेलन ), निस्त्रिंश, प्रास, त्रिशूल, परश्वध,



शक्ति, ऋष्टि, भुशुंडी और विचित्र पंखोंवाले पैने बाण बरसाने लगे। जैसे वर्षा के समय जल की बूँदों से पहाड़ छिप जाता है, वैसे ही उस शस्त्रों की वर्षा में ध्रुव का रथ छिप गया। ध्रुव जब दिखाई न पड़े, तब उन्हें नष्ट हुआ जानकर आकाश में आकर युद्ध को देख रहे सिद्धगण हाहाकार करने लगे। वे कहने लगे—"हाय! यह मनुवंश का सूर्य यक्षसेना के सागर में डूब गया। बड़ा अनर्थ हुआ।"

यक्षगण अपनी जय जानकर रणभूमि में गरजने लगे। इसी समय सूर्यनारायण जैसे कुहरे को मिटाकर प्रकट होते हैं, वैसे ही शत्रुओं के शस्त्रजाल को छिन्न-भिन्न करता हुआ ध्रुव का रथ प्रकट हुआ। धनुष के उग्र शब्द से अपने शत्रुओं को खिन्न करते हुए महाबली वीर ध्रुव देख पड़े। जैसे वायु मेघमाला के टुकड़े-टुकड़े करके उसे नष्ट कर देता है, वैसे ही ध्रुव के धनुष से छूटे हुए तीक्ष्ण बाणों ने शत्रुओं के शस्त्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर ध्रुव ने भी यक्षों के ऊपर बहुत-से बाण चलाये। वज्र (बिजली) जिस प्रकार पहाड़ों को तोड़कर उनमे घुस जाते है, उसी प्रकार ध्रुव के धनुष से छूटे हुए वे बाण यक्षों के सुदृढ़ कवचों को तोड़कर उनके शरीरों में घुसने लगे। यक्षों के कुण्डलशोभित सिर, सुन्दर वलयभूषित भुजाएँ, और सुनहले रग की ताड़ के पेड़-सी मोटी जाँघें आदि अंग ध्रुव ने पैने भल्ल बाणों से काट-काट-कर रणभूमि में बिछा दिये। वीरों के मन में उत्साह उत्पन्न करनेवाली वह युद्धभूमि उन कटे हुए अंगों से गिरी हुई हार, केयूर, मुकुट, पगड़ी आदि बहुमूल्य वस्तुओं से बहुत ही शोभित हुई।

अधिकांश यक्ष तो इस प्रकार क्षत्रियों मे श्रेष्ठ ध्रुव के अव्यर्थ बाणों से मर खप गए, जो कुछ थोड़े-से बचे उनके भी अंग छिन्न-भिन्न हो गए। सिंह के आक्रमण से घायल होकर गजराज जैसे भागते हैं, वैसे ही वे बचे हुए यक्ष भी ध्रुव के आगे से भाग गए। एक भी सशस्त्र शत्रु को अपने सामने न देख पाकर ध्रुव ने विचारा कि कार्य तो सिद्ध हो गया, यक्षों को मारकर भाई की मृत्यु का बदला तो ले लिया, अब तनिक अलकापुरी को भी देख लें। किन्तु वैसे ही उनके मन में यह खटका हुआ कि यद्यपि यक्ष हार-कर भाग गए हैं, तथापि वे मायावी हैं, अपनी पुरी में अकेला पाकर न जानें क्या उपद्रव करें। "मायावियों के मन का हाल कोई नहीं जानता कि वे कब क्या करेंगे" इस प्रकार अपने सारथी से कहकर शत्रुओं के फिर युद्ध के लिए उद्योग करने की शंका से सावधान होकर ध्रुवजी अपने रथ पर सँभल बैठे। इतने में सहसा सागर के गरजने का जैसा घोर शब्द सुन पड़ा। ध्रुव ने चकित होकर देखा, धूल उड़ाती हुई भया-नक आँधी आ रही है और उसके कारण सब दिशाओं में अन्धकार छा गया है। फिर क्षण ही भर में आकाश में घोर घटा घिर आई। उस घटा में चारों ओर भयानक बिजली कड़कने और चमकने लगी। फिर उन मेघों से रुधिर, कफ, पीब, मल, मूत्र, चर्बी आदि अपवित्र पदार्थ बरसने लगे। आकाश से ध्रुव के आगे कबंध (बिना सिर के धड़) आ-आकर गिरने लगे। इसके उपरान्त आकाश में एक बड़ा भारी पहाड़ देख पड़ा और उसके चारों ओर से गदा, परिघ, निस्त्रिंश, मूशल और पत्थर ध्रुव के रथ पर गिरने लगे। फिर ध्रुव ने देखा कि वज्रपात के समान भयंकर फुफकार छोड़ते हुए और क्रोध-भरे नेत्रों से आग उगलते हुए घोर सर्प उनकी ओर आ रहे हैं। इसी तरह मस्त हाथी, सिंह और बाघ के झुंड के झुंड ध्रुव की ओर उन्हें मारने के लिए आते दिखाई पड़े। फिर ध्रुव ने देखा, प्रलयकाल के समान भयानक रूप धारण किये हुए महासागर भयानक लहरों से चारों ओर पृथ्वी को जलमग्न करता और गरजता आ रहा है।

ध्रुव को डराने के लिए क्रूर स्वभाववाले यक्ष कायरों को घबरा देनेवाली ऐसी अनेक डरावनी आसुरी मायाएँ प्रकट करने लगे। युद्ध देखने के लिए आये हुए ऋषि-मुनि यक्षों को इस प्रकार अतिदुस्तर माया फैलाते देखकर ध्रुव का मंगल मनाने लगे। मुनिगण कहने लगे—हे ध्रुव, शरणागत जनों की रक्षा करनेवाले शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णु तुम्हारे शत्रुओं का नाश करें। जिनके पावन नाम

को सुनकर या अपने मुख से कहकर संसारी लोग सहज ही में अतिदुस्तर मृत्यु के भय से छुटकारा पा जाते हैं, वही हरि तुमको विजय दें।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## स्वायंभुव मनु के कहने से ध्रुव का युद्ध से निवृत्त होना

मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार कह रहे ऋषियों के वचन सुनकर ध्रुव ने आचमन करके नारायणास्त्र का प्रयोग किया। धनुष पर नारायणास्त्र का संधान करते ही यक्षों की वे सब मायाएँ वैसे ही तत्काल नष्ट हो गईं, जैसे ज्ञान का उदय होते ही कोई क्लेश नहीं रह जाता। धनुष पर नारायणास्त्र का संधान करके ध्रुवजी सुवर्ण के पुख ( पिछला हिस्सा ) और हंस के पंख से शोभित तीक्ष्ण बाण छोड़ने लगे। धनुष से छूटे हुए वे बाण वैसे ही बड़े वेग से शत्रुओं की सेना में घुसने लगे, जैसे भयानक शब्द करते हुए मोर सर्पों के वासस्थान वन में प्रवेश करते हैं। युद्धभूमि में उन तीक्ष्ण शिलीमुख बाणों के प्रहार से चोट खाये हुए यक्षगण क्रोध करके चारों ओर से फिर ध्रुव पर आक्रमण करने के लिए वैसे ही दौड़ पड़े, जैसे भयानक विषधर सर्प फन उठाकर कुपित होकर गरूड़ पर चोट करने के लिए दौड़ें।





यक्षों को इस प्रकार फिर आक्रमण करने के लिए उद्यत देखकर ध्रुवजी अपने तीक्ष्ण बाणों से उनके बाहु, ऊरू, सिर, पेट आदि अंगों को छिन्न-भिन्न करके उन्हें उस लोक को भेजने लगे, जहाँ संन्यासी और बालब्रह्मचारी लोग अपने पुण्य के बल से सूर्यमण्डल के भीतर होकर जाते हैं। इस प्रकार बहुत से निरपराध यक्षों को ध्रुव के हाथों से मरते देखकर ध्रुव के पितामह स्वायंभुव मनु को दया आई। वह अपने लोक से ऋषियों के साथ युद्धभूमि में आकर ध्रुवजी से यों कहने लगे।

मनु ने कहा—पुत्र, क्रोध बड़ा भारी पाप है। यह क्रोध ही नरक का द्वार है। इसलिए इस अतिक्रोध को छोड़ दो। इसी क्रोध के वश होकर तुमने इतने निर्दोष यक्षों का वध किया है। निर्दोष यक्षों को जो तुम मार रहे हो,

यह हमारे कुल के योग्य काम नहीं है। सज्जन लोग ऐसे अविवेचना के काम की निन्दा करते हैं। तुम्हारा भाई तुमको अवश्य प्यारा था और इसी कारण उसके मारे जाने से व्यथित और कुपित होकर तुम यक्षों को मार रहे हो। परन्तु सोचो तो, तुम्हारे भाई की हत्या किसी एक यक्ष ने की थी। तुमने एक के अपराध पर कुपित होकर और अनेक यक्षों को मार डाला। फिर देखो, देहाभिमान के कारण पशुओं की तरह प्राणियों की हिंसा करना भगवान् के भक्त साधुओं का काम नहीं है। कारण, वे तो सब प्राणियों में उसी एक ईश्वर को स्थित देखते हैं। बेटा, "सब प्राणी मुझसे भिन्न नहीं हैं", इस प्रकार की समदृष्टि से सब प्राणियों में आत्मारूप से स्थित दुराराध्य हरि की आराधना करके तुम अति दुर्लभ विष्णु का परमपद ध्रुवलोक प्राप्त कर चुके हो। तुम भगवान के प्यारे भक्त हो और भगवान के भक्त भी साधु कहकर तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। ऐसे होकर और साधुओं के व्रत ( समदृष्टि ) की शिक्षा पाकर भी तुम ऐसे निन्दित कर्म में कैसे प्रवृत्त हुए ? ऐसे क्रोध के वश कैसे हो गये ? तुम जानते हो कि अपने से उत्तम लोगों के साथ सहनशीलता का, अपने से नीच के साथ दया का और अपने समान लोगों के साथ मित्रता का व्यवहार करने से, विशेषकर सब प्राणियों पर समदृष्टि रखने से, सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी आत्मा के रूप से स्थित भगवान् प्रसन्न होते हैं। जब ऐसे आचरण से सर्वव्यापी भगवान प्रसन्न होते हैं, तब यह पुरुष माया के गुणों से और उन गुणों का कार्य जो जीव की उपाधि* अर्थात् लिंगशरीर है, उससे मुक्त होकर आनन्दरूप ब्रह्म में लीन और कृतार्थ होता है। फिर तुम यदि आत्मा के तत्त्व का विचार करो तो जान पड़ेगा कि वास्तव में तत्त्वदृष्टि से न कोई किसी का भाई आदि सम्बन्धी है और न कोई किसी को मारता है। देखो, पाँच तत्त्वों से स्त्री या पुरुष का शरीर बना है। स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग से इस संसार में स्त्री-पुरुषों की सृष्टि होती है और संसार का चक्र चलता है। इसी प्रकार परमात्मा की माया के द्वारा उसके सत्वगुण आदि की प्रेरणा से प्राणियों के द्वारा प्राणियों की सृष्टि, पालन और नाश होता रहता है। हे ध्रुव, इन सब कार्यों का कारणमात्र निर्गुण ईश्वर है; इन कार्यों से उसका और कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह कार्य ( शरीर ) और कारण ( जीव )-स्वरूप संसार-प्रपञ्च का चक्र उसकी शक्ति से वैसे ही घूमता रहता है, जैसे चुम्बक पत्थर की आकर्षणशक्ति से लोहा। हे पुत्र, किन्तु सृष्टि आदि कार्यों को देखकर ईश्वर को माया के गुणों में लिप्त मानना भ्रम है। वह ईश्वर अपनी कालरूप शक्ति के द्वारा सृष्टि आदि कार्यों के कारण जो सतोगुण आदि गुण हैं, उनको सृष्टि आदि कार्यों में परिणत करके अकर्त्ता होकर भी सृष्टि के समय सृष्टिकर्त्ता, पालन के समय पालनकर्त्ता और संहार के समय संहारकर्त्ता प्रतीत होते हैं। भगवान् की कालशक्तिरूप चेष्टा का रहस्य जानना असंभव है। वह अचिन्त्य और अतर्क्य हैं। वही ईश्वर पिता आदि के द्वारा पुत्र आदि को उत्पन्न करते हैं, मित्र के द्वारा मित्र की रक्षा करते हैं, शत्रु के द्वारा शत्रु का विनाश करते हैं। तात्पर्य यह कि प्राणियों की सृष्टि और संहार का कारण ईश्वर ही है। वही अपनी कालशक्ति के द्वारा इन कार्यों को कराते हैं। पिता जो पुत्र को उत्पन्न करता है, मित्र या राजा जो निर्बल की सबल से रक्षा करता है, शत्रु जो शत्रु को मारता है या राजा जो चोर आदि को प्राणदण्ड देता है, सो सब कालरूप ईश्वर की प्रेरणा से ही होता है। वह ईश्वर का रूप काल अनन्त है, उसका अन्त नहीं है। वही सबका अन्त करता है। वह स्वयं अनादि है; किन्तु और सबका आदि है। उसकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। जैसे मृत्यु के लिए सब समान है, वैसे ही वह ईश्वर समदर्शी है।

---

* जैसा कहा है—"एवं पञ्चविधं लिंगं त्रिवृत् षोडश विस्तृतम्। एष चेतनयायुक्तो जीव इत्यभिधीयते।" प्रकृति के तीनों गुणों से व्याप्त, पाँच प्रकार का अर्थात् प्रकृति मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारमय, सोलह विकारों ( दस इन्द्रिय, पाँच विषय और मन ) वाला चेतनायुक्त लिंगशरीर जीव कहलाता है।

उनके लिए न कोई अपना है और न कोई पराया। उनका न कोई मित्र है, न शत्रु। लोगों को अनुकूल या प्रतिकूल फल मिलने का कारण उनके कर्म ही हैं। धूल के कण जैसे वायु के अधीन होकर उसीके पीछे दौड़ते हैं, वैसे ही सब जीव ईश्वर के अधीन होकर उनकी कालरूप गति का अनुसरण करते हैं। जैसे धूल के अंधकार और प्रकाश में जाने या जल और अग्नि में पड़ने का कारण वायु की विषमता या पक्षपात नहीं है, वैसे ही जीवों को सुख या दुःख मिलने का कारण ईश्वर का पक्षपात नहीं है। उनके कर्मों के अनुसार ही उन्हें सुख या दुःख मिलता है। ईश्वर का रूप काल वृद्धि और क्षय से रहित तथा स्वस्थ अर्थात् स्वतन्त्र या सावधान है। वही कर्म-परतन्त्र या असावधान जीव का अपचय ( क्षय या अकाल मृत्यु ) और उपचय ( वृद्धि या कालमृत्यु से भी रक्षा ) करते हैं। ईश्वर की इस शक्ति या रूप को सभी मानते हैं, उसके विषय में केवल नाम का झगड़ा पाया जाता है। कोई उसे 'कर्म' कहते हैं। कोई 'स्वभाव' या 'प्रकृति' कहते हैं। कोई 'काल' कहते हैं। कोई "दैव कहते हैं। कोई वात्स्यायन आदि आचार्य उसी को पुरुष का 'काम' या इच्छा कहते हैं*। [ यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कर्म आदि तो जड़ होने के कारण स्वरूप में भिन्न हैं, फिर वे ईश्वर का पर्याय कैसे माने जा सकते हैं ? इसी का समाधान करने के लिए कहते हैं कि ] ईश्वर वास्तव में अव्यक्त है, इसीलिए अप्रमेय भी है अर्थात् उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। तथापि वह है अवश्य। कारण, उसी से महत्तत्त्व ( बुद्धि ) आदि अनेक प्रकार की सभी शक्तियों का आविर्भाव होता है। पुत्र, मेरी समझ में तो उस अव्यक्त अप्रमेय ईश्वर के सबंध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि "ईश्वर है"। कारण, उसकी ज्ञान आदि विविध शक्तियों का अस्तित्व स्पष्ट देख पड़ता है। जब ईश्वर की शक्ति काल की चेष्टा को ही कोई अच्छी तरह नहीं जान सकता, तब स्वयं ईश्वर को कौन जान सकता है ? उनके रूप का निरूपण कौन कर सकता है ? †.इसलिए हे ध्रुव, ये कुबेर के सेवक यक्ष तुम्हारे भाई की हत्या करनेवाले नहीं हैं; क्योंकि प्राणियों के जन्म-मरण का कारण एकमात्र ईश्वर अथवा दैव ही है। कालरूप ईश्वर की प्रेरणा के बिना न कोई कभी किसी को उत्पन्न कर सकता है और न मार ही सकता है। वही ईश्वर विश्व को उत्पन्न करते हैं, उसका पालन और संहार करते हैं; तथापि अहंकार न होने के कारण इन सत्वादि गुणों के कर्मों में निलिप्त रहते हैं। सब प्राणी उन्हीं का रूप हैं अर्थात् सबमें वह व्याप्त हैं। वही सब प्राणियों के स्वामी और प्रतिपालक हैं। वह अपनी शक्ति माया से युक्त होकर सबकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। वही इस जगत् का परम आश्रय हैं। वह भक्तों के लिए अमृतरूप (मोक्ष देनेवाले) और अभक्तों के लिए मृत्यु-स्वरूप हैं। नाक में रस्सी से नथे हुए पराधीन बैलों की तरह विश्वविधाता ब्रह्मा आदि देवता भी उस ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं। तुम सर्वथा उन्हीं ईश्वर की शरण में जाओ, उन्हें सर्वव्यापी जानकर अनन्य भाव से भजो। तुमने पाँच वर्ष की अवस्था में सौतेली माता के वाक्यबाणों की चोट खाकर वन में जाकर जिनकी आराधना से त्रिलोकी के ऊपर स्थित ध्रुवपद प्राप्त किया है, उन्हीं निर्गुण, अविनाशी, अद्वितीय परमात्मा को भेदभावशून्य और आत्मदर्शी बनकर अपने आत्मा में स्थित देखो। पुत्र, वह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। वह सदा सब काल में विमुक्तस्वरूप हैं। यह देख पड़ रहा भेदभाव का आधार असत् विश्व उन्हीं के कारण सत्य-सा प्रतीत होता है। सबके अन्तर्यामी आत्मा, ऐश्वर्ययुक्त, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, आनन्दमय उन्हीं परमेश्वर में इस प्रकार दृढ़ भक्ति स्थापित करने का फल यह होगा कि तुम "मैं हूँ, मेरा है" इस अहं-ममता की सुदृढ़ अविद्या ( अज्ञान ) की गाँठ को धीरे-धीरे काट सकोगे। पुत्र, यह क्रोध सभी

---

* जैसा कि श्रुति कहती है—"कामोऽकार्षीत्कामः करोति कामः कर्त्ता कामः कारयिता" इत्यादि।

† यही बात इस श्रुति में कही गई है—"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य

कल्याणों के लिए विघ्न-स्वरूप है। इस क्रोध को शास्त्रों के सुनने से मिलनेवाले आत्मज्ञान के द्वारा वैसे ही शान्त करो, जैसे औषध के सेवन से रोग मिटाया जाता है। तुम्हारा कल्याण होगा। जो मनुष्य क्रोध के वश होते हैं, उनसे लोग डरते हैं, उनके पास नहीं खड़े होते। इस कारण जो व्यक्ति निर्भय होने की इच्छा रखता हो और अपना भला चाहे, उसे चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करके क्रोध को त्याग दे, अर्थात् क्रोध के वश न हो। देखो, तुमने बड़ा अपराध किया है। कुबेरजी भगवान शंकर के मित्र और भाई के समान है। अपने भाई की हत्या करनेवाले समझकर तुमने क्रोध के मारे कुबेरजी के अनुचर यक्षों का वध किया, इससे एक प्रकार से भगवान् कुबेर का भी निरादर किया। महापुरुषों का कुपित होना अच्छा नहीं होता। कुबेरजी के कोप से हमारे कुल का जिसमें अनिष्ट न हो, इसलिए जल्दी जाकर तुम उन महानुभाव महात्मा को प्रणाम करो और विनययुक्त वाक्यों से उन्हें प्रसन्न करो, अपने अपराध के लिए क्षमा माँगो।

अपने पोते ध्रुव को इस प्रकार समझाकर, उपदेश देकर, ध्रुव के प्रणाम को स्वीकार करके स्वायंभुव मनु महर्षियों के साथ अपने लोक को गए।

# बारहवाँ अध्याय

## ध्रुव का ध्रुवलोक को जाना

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, भगवान् कुबेर ने जब जाना कि मनु के कहने से ध्रुव का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने यक्षों को मारना बन्द कर दिया है, तब वह स्वयं युद्धभूमि में ध्रुव के पास आये। चारण, यक्ष, किन्नर आदि अनुचर कुबेरजी की स्तुति कर रहे थे। ध्रुव हाथ जोड़कर नम्र भाव से उनके सामने खड़े हो गए।

तब कुबेरजी ने ध्रुव से कहा—हे निष्पाप क्षत्रिय-बालक, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुमने अपने पितामह की आज्ञा से यक्षों के साथ दुस्त्यज ( कठिनता से छोड़ा जा सकनेवाला ) वैर-भाव छोड़ दिया। देखो, न यक्षों ने तुम्हारे भाई को मारा और न तुमने यक्षों को मारा। वास्तव मे जीवों के जन्म और मरण का मुख्य कारण काल ही है। तात्पर्य यह कि समय आने पर मृत्यु का कोई न कोई बहाना हो ही जाता है। 'मैं हूँ, तुम हो,' यह भेद-बुद्धि होने का कारण अज्ञान ही है। मिथ्या देहाभिमान से उत्पन्न यह भेद-बुद्धि स्वप्न में प्राप्त सुख-दुःख के समान ही मिथ्या है। इसी बुद्धि के कारण जीव को कर्मबन्धन होता है और अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिए हे ध्रुव, तुम अब अपनी पुरी को जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, जाकर जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए जन्म-मरण से छुड़ानेवाले भगवान का भजन करो, उन्हें सभी प्राणियों में आत्मारूप से अवस्थित देखो। ये सब प्राणी उन्हीं के रूप हैं। वह भगवान गुणमयी मायाशक्ति से युक्त अर्थात् सगुण और उससे रहित अर्थात् निर्गुण भी हैं। उन्ही के चरणारविन्दों को भजना चाहिए। राजन्, जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो। कारण, तुम वरदान के योग्य हो। कोई संकोच न करना। हमने सुना है, तुम भगवान् वासुदेव के चरणाश्रित अनन्य भक्त हो।

जब कुबेरजी ने इस प्रकार वर माँगने के लिए कहा, तब महामति और परमभक्त ध्रुव ने उनसे यही वर माँगा कि हरि भगवान के चरणों में मेरी अटल भक्ति हो, जिस भक्ति की सहायता से लोग अपार संसारसागर को सहज में तर जाते हैं। कुबेरजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ ध्रुव को उनकी इच्छा के अनु-

सार हरि की अचल भक्ति का दुर्लभ वरदान दिया। वह "तथास्तु" ( ऐसा ही हो ) कहकर ध्रुव के देखते ही देखते उनके आगे से अन्तर्द्धान हो गये। ध्रुवजी भी वहाँ से अपने नगर को लौट आये।

नगर में आकर ध्रुवजी ने यथासमय अनेक यज्ञ किये। उनमें बहुत भारी दक्षिणा ब्राह्मणों को दी। सामग्री, कर्मकाण्ड और देवता, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होता है, उन्हीं यज्ञ के स्वामी यज्ञपुरुष विष्णु भगवान के रूप हैं। वही भगवान् यज्ञ का फल यजमान को देते हैं। ध्रुव ने यज्ञ करके उन्हीं यज्ञपुरुष की पूजा और आराधना की। सब उपाधियों से रहित, सर्वव्यापी, अच्युत भगवान की अनन्य भक्ति का अभ्यास करते करते ध्रुवजी उन्हीं ईश्वर को सब प्राणियों में और अपने में अवस्थित देखने लगे।

ऐसे सुशील, ब्राह्मणभक्त, दीनवत्सल, धर्म के रक्षक, प्रजापालक ध्रुव महाराज को सब प्रजा अपने पिता के समान मानती थी, उनका सम्मान करती थी, उन पर भक्ति रखती थी। इस प्रकार भोग से पुण्य और यज्ञ आदि से पाप का क्षय करते हुए ध्रुव राजा ने छत्तीस हज़ार वर्ष तक पृथ्वीमण्डल का शासन किया। महात्मा ध्रुव ने इस प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में रखकर धर्म, अर्थ, काम की साधना में अपनी आयु का बहुत-सा समय बिताया। उसके बाद मोक्ष की साधना करने के लिए वन जाने के विचार से उन्होंने अपने पुत्र को राजगद्दी दे दी।

उस समय ध्रुवजी को पूर्ण ज्ञान से और संसार के भोगों से वैराग्य हो गया था। उन्होंने अपने मन में इस संसार को अज्ञान के कारण स्वप्न में देखे गये गन्धर्वनगर के समान मिथ्या मायामय मानकर और यह विचारकर कि "शरीर, पत्नी, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी, परिवार, सेना, भरा हुआ कोष ( खज़ाना ), अन्तःपुर, रमणीय विहार-भूमि, सागर से घिरा हुआ पृथ्वीमण्डल आदि सब कुछ काल के द्वारा नष्ट हो जानेवाला है, अनित्य है", सबको छोड़ दिया। वह अकेले ही तपस्या करने के लिए बदरिकाश्रम को चल दिये।

बदरिकाश्रम में पहुँचकर ध्रुवजी पहले अष्टांग योग का अभ्यास करने लगे। पहले स्नान करके शरीर की बाहरी शुद्धि की। फिर काम-क्रोध विकारों को छोड़कर अन्तःकरण को शुद्ध किया। फिर आसन जमाकर प्राणायाम के द्वारा श्वासा को जीता। तदनन्तर मन को एकाग्र करके उसके द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी किया। उसके बाद मन को भगवान के विश्वमय विराट् रूप में लगा दिया। विराट् रूप का ध्यान करते-करते जब "मैं ध्यान करनेवाला हूँ और भगवान् ध्यान करने की वस्तु हैं", यह भेदभावना जाती रही, तब तन्मय होकर उन्होंने समाधि लगा दी, अर्थात् समाधि अवस्था मे विराट् रूप का आश्रय छोड़कर "मैं ही वह ( ब्रह्म ) हूँ" ऐसी भावना करने लगे। लगातार हरि भगवान् में पूर्ण भक्ति धारण करने से ध्रुव को ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया। आनंद की उमंग के कारण बारंबार उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे, सारे शरीर में रोमाञ्च हो आया, भक्तिभाव और आनन्द से हृदय विगलित हो गया। उस समय देहाभिमान या देहाध्यास न रहने के कारण "मैं ध्रुव हूँ" यह भी वह भूल गये।

यह अवस्था प्राप्त होने पर ध्रुव ने देखा कि एक श्रेष्ठ विमान आकाश से नीचे उतर रहा है। जान पड़ता है, चंद्रमा उदय होकर दसो दिशाओं को प्रकाशमान कर रहा है। उस विमान पर दो श्रेष्ठ देवता गदा टेके हुए खड़े हैं। वे श्यामवर्ण और चतुर्भुज हैं। उनके सिर पर किरीट मुकुट, कानों में कुण्डल, हृदय में हार, भुजाओं में अंगद और शरीर में पीताम्बर की अपूर्व शोभा देख पड़ती है। उनके नेत्र कमलदल के समान विशाल और लाल हैं। उनकी किशोर अवस्था है। उन्हें हरि के पार्षद जानकर ध्रुवजी उनकी अभ्यर्थना के लिए उठ खड़े हुए। जल्दी और संभ्रम के कारण पूजा का क्रम भी ध्रुवजी को स्मरण नहीं रहा। "हरि के ये प्रधान पार्षद हैं" यह जानकर केवल हरि के पवित्र नाम का उच्चारण करते हुए हाथ जोड़कर ध्रुवजी ने उन्हें प्रणाम

किया। सुनन्द, नन्द नाम के वे दोनों पार्षद ध्रुव के पास आये और कृष्ण भगवान् के चरणों में मन लगाये हुए, भक्तिभाव से सिर झुकाये, हाथ जोड़े खड़े हुए ध्रुव पर बहुत प्रसन्न होकर उन्होंने कहा—हे राजन, तुम्हारा पुण्य बहुत बड़ा है, तुम्हारे कल्याण की सीमा नहीं है। हमारे कथन को सावधान होकर सुनो। तुम इसी शरीर से विष्णुपद को पहुँच जाओगे। तुमने पाँच ही वर्ष की अवस्था में घोर तप करके जिन भगवान् को प्रसन्न किया था, उन्हीं शार्ङ्गपाणि जगन्नाथ नारायण भगवान् के सेवक हम तुमको इसी देह से हरिधाम अर्थात् ध्रुवलोक में ले जाने के लिए आये हैं। उस स्थान को बड़े-बड़े तपस्वी भी नहीं प्राप्त कर सके। जिस विष्णुपद को तुमने जीत लिया है, उसे महा तपस्वी सप्तऋषियों ने भी नहीं पाया। वे भी उस परमपद के नीचे रहकर केवल उसके दर्शन और वन्दना करते हैं। चन्द्रमा, सूर्य आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और तारागण, सब उस परमधाम की प्रदक्षिणा करते रहते है। तुम भगवान् के अनुग्रह से उसी लोक को चलो। उस लोक में तुम्हारे पिता, पितामह या और कोई पुण्यात्मा महात्मा आज तक नहीं जा सके। विष्णु भगवान् के उसी त्रिलोकवन्दित परमपद में चलकर निवास करो। हे चिरजीवी, यह श्रेष्ठ विमान हम भगवान् की आज्ञा से लेकर उपस्थित हुए हैं। इस पर बैठो।



भगवान् के प्रधान पार्षदों के मुखारविन्द से अमृत के समान मधुर ये वचन सुनकर ध्रुवजी ने स्नान और नित्यकर्म किया। फिर नवीन उत्तम वस्त्र-आभूषण पहनकर ऋषियों से स्वस्त्ययन कराकर उन्हें प्रणाम किया। इसके उपरान्त उस श्रेष्ठ विमान की परिक्रमा की, प्रणाम किया, पार्षदों की वन्दना की। यह सब कर चुकने पर सुवर्णवर्ण तेजस्वी शरीरवाले ध्रुवजी विमान पर बैठने के लिए उद्यत हुए। इसी समय अपने आगे उपस्थित मृत्यु को ध्रुव ने देखा। मृत्यु ने आकर प्रणाम करके कहा—महाराज, मुझे स्वीकार कीजिए। ध्रुवजी ने कहा—अच्छी बात है, मै तुम्हारा स्वागत करता हूँ। क्षण भर बैठ जाओ। मैं विष्णु भगवान का स्मरण कर लूँ। इतना कहकर ध्रुवजी नारायण का स्मरण करते हुए मृत्यु के सिर पर पैर रखकर उस श्रेष्ठ विमान पर चढ़ गये। उस समय आकाश में देवता लोग नगाड़े, मृदंग, पणव आदि बाजे बजाकर आनन्द प्रकट करने लगे, गन्धर्वगण ध्रुवजी के गुण गाने लगे, और आकाश से कल्पवृक्ष के सुगंधित फूलों की वर्षा उस विमान के ऊपर होने लगी।

विमान पर बैठकर ध्रुवलोक को जाते समय ध्रुवजी को अपनी माता सुनीति की याद आ गई। वह अपने मन में सोचने लगे कि "मेरे वियोग से मेरी माता को अवश्य ही दुःख होगा। मैं उन्हें छोड़कर अकेला ही अगम्य विष्णुलोक को जा रहा हूँ, यह तो उचित नहीं।"

ध्रुव की यह चिन्ता हरि के पार्षदों से छिपी नहीं रही। उन्होंने ध्रुव को दिखा दिया कि उनकी माता उनके पुण्य-प्रभाव से पहले ही दिव्य विमान पर बैठी स्वर्ग को जा रही हैं। तब प्रसन्न और निश्चिन्त होकर ध्रुवजी अपने लोक को चले। मार्ग में विमानवासी देवता जो मिलते थे, वे ध्रुव की बड़ाई करते और उन पर फूल बरसाते थे। विमान पर बैठे हुए ध्रुवजी मंगल आदि ग्रहों को नाँघकर त्रिभुवन के ऊपर पहुँच गये और सप्तर्षि-मण्डल के ऊपर स्थित विष्णु के परमपद ध्रुवलोक में पहुँचे, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। वह विष्णुपद अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है। ये तीनों लोक उसके तेज से प्रकाशित होते हैं। प्राणियों से द्रोह करनेवाले निर्दय लोग वहाँ नहीं जा सकते। वे ही जाते हैं, जो दिन-रात दया, परोपकार, भगवद्भजन आदि सत्कर्म किया करते हैं। क्षमाशील, शान्त, समदर्शी, शुद्धहृदय, सब प्राणियों को प्रसन्न रखनेवाले अर्थात् किसी को कष्ट न देनेवाले और अच्युत भगवान् को अपना प्रिय बान्धव माननेवाले सज्जन अनायास ही उस विष्णुपद को प्राप्त कर लेते हैं।

उत्तानपाद के सुपुत्र, भगवान के भक्त ध्रुवजी अपने लोक में स्थित होकर तीनों लोकों के ऊपर निर्मल चूड़ामणि के समान विराजमान हुए। अन्न की मड़नी के समय बैल जैसे एक लकड़ी के सहारे उसी के चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही सब ज्योतिश्चक्र अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण वेग के साथ बराबर उसी ध्रुवलोक के आश्रय से, उसे केन्द्र बनाकर, उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं।

ध्रुव की ऐसी महिमा देखकर नारदजी को बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि उन्हीं के उपदेश से ध्रुव इस पदवी को पहुँच पाये थे। उस समय प्रचेता यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में तीनों लोक के निवासी एकत्र थे। वीणा बजाते, हरिगुण गाते नारद ने वहाँ जाकर इस प्रकार ध्रुव की महिमा का वर्णन किया। नारद ने कहा—निश्चय ही परमपतिव्रता सुनीति ने पूर्वजन्म में बड़ी तपस्या की थी, जिसके प्रभाव से उन्हें ध्रुव के समान यशस्वी पुत्ररत्न हुआ। क्षत्रिय राजों की तो कोई बात ही नहीं, वेदाध्ययन करनेवाले ब्रह्मर्षिगण भी भगवान् को प्रसन्न करनेवाले धर्म का आचरण करके ध्रुव की अपूर्व गति को नहीं पा सके। ध्रुव इतने बड़े स्वाभिमानी थे कि पाँच ही वर्ष की अवस्था में सौतेली माता के वाक्यबाणों की चोट को नहीं सह सके। उनका हृदय उस चोट से जैसे विदीर्ण हो गया, उनके हृदय को बड़ा कष्ट पहुँचा। तब वह मेरे उपदेश के अनुसार वन चले गये। वहाँ जाकर मन को एकाग्रकर अपनी घोर तपस्या से विष्णु भगवान् को प्रसन्न कर लिया। ध्रुवजी अवश्य ही सब भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ हैं। अन्य कोई क्षत्रिय हजारों वर्ष तपस्या करके भी ध्रुवलोक को नहीं प्राप्त कर सकता। वहाँ जाने की कौन कहे, जाने की इच्छा भी नहीं कर सकता। परन्तु धन्य हैं ध्रुवजी, जिन्होंने पाँच-छः वर्ष की अवस्था में ही केवल छः महीने आराधना करके भगवान् को प्रसन्न कर लिया और उनकी कृपा से ऐसे दुर्लभ धाम ध्रुवलोक को पाया।

मैत्रेयजी कहते हैं—भैया विदुर, मैंने तुम्हारे प्रश्न के अनुसार यह महायशस्वी ध्रुव का चरित्र तुम्हारे आगे वर्णन किया। यह चरित्र भगवान् के भक्तों को अत्यन्त प्रिय है। इसके कहने या सुनने से यश और आयु बढ़ती है। यह पवित्र, पुण्यरूप, मंगलमय, मन को प्रसन्न करनेवाला, पापनाशक और प्रशंसनीय है। इससे धन, स्वर्ग और ध्रुवलोक भी मिल सकता है। जो कोई भगवान् के प्रिय भक्त ध्रुव के इस पावन चरित्र को श्रद्धा के साथ नित्य सुनता है, उसके हृदय में भगवान् की दृढ़ भक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् की भक्ति संसार के क्लेशों से छुड़ा देती है। श्रोता यदि महत्व प्राप्त करना चाहता हो, अथवा उसके मन में मनस्वी, तेजस्वी और यशस्वी होने की इच्छा हो तो उसे चाहिए कि इस ध्रुवचरित्र को मन लगाकर भक्ति के साथ सुने। इसीसे उसके सब मनोरथ पूरे होंगे। यह चरित्र तीर्थ के समान पवित्र और पावन है। श्रोता को इससे सुशीलता आदि सब सद्गुण शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। पवित्र होकर प्रातः-

काल और सन्ध्या के समय ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सभा में महायशस्वी ध्रुव के इस उत्तम चरित्र का कीर्त्तन करना चाहिए। पूर्णिमा, दोनों पक्षों की चतुर्दशी, द्वादशी ( एकादशी ) तिथियों में, श्रवण नक्षत्र में, व्यतीपात योग में, संक्रान्ति के दिन, रविवार को, दिनक्षय में, अन्यान्य शुभ पर्वों और उत्सवों में अवश्य ध्रुवचरित्र का पाठ करना चाहिए। जिन लोगों को श्रद्धा हो, उन्हें यह चरित्र सुनाना भी भगवद्भक्तों का कर्त्तव्य है। सकाम लोगों को तो इसे पढ़ना और सुनना चाहिए ही, किन्तु जो कोई निष्काम है, मन में कोई कामना नहीं रखता, वह भी इसके पाठ से आत्मज्ञान पाकर सन्तुष्ट और सिद्ध होता है, अर्थात् जन्म-मरण के क्लेश से छुटकारा पा जाता है। हे विदुर, जो परमार्थ का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति ईश्वर का तत्त्व न जाननेवाले मायामूढ़ अज्ञजनों को अमृतरूप ज्ञान का प्रकाश दिखाकर सुमार्ग में चलाता है, वह दीनबन्धु दयालु देवगण की कृपा प्राप्त करता है। हे कुरुश्रेष्ठ, विख्यात और विशुद्ध कर्म करनेवाले ध्रुव का यह चरित्र मैंने तुमको सुना दिया। वास्तव में, महाराज ध्रुव धन्य हैं, जो बाल्यावस्था ही मे खेलना-कूदना भूलकर और माता-पिता का घर छोड़कर विष्णु भगवान के शरणागत हुए!

---

# तेरहवाँ अध्याय

## ध्रुव के वंश में महाराज पृथु का जन्म

सूतजी शौनकजी से कहते हैं—मैत्रेय महामुनि के मुख से ध्रुवजी के ध्रुवलोकगमन का वृत्तान्त सुनकर भगवद्भक्त विदुरजी के हृदय में भक्तिभाव जैसे उमड़ पड़ा, अथवा भक्ति की जड़ और भी जम गई। तब वह फिर मैत्रेयजी से इस प्रकार पूछने लगे।

विदुर ने कहा—मुनिवर, आपने अभी कहा है कि प्रचेताओं के यज्ञ में जाकर देवऋषि नारद ने ध्रुव की महिमा गाई। बतलाइए वे प्रचेता कौन थे? वे किसके वंश में उत्पन्न और किसके पुत्र थे? और वे कहाँ यज्ञ कर रहे थे? मै जानता हूँ कि नारदजी बड़े भारी भगवद्भक्त हैं। उन्हें हरि के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त है। उन्होंने हरि की पूजा-उपासना की विधि अर्थात् क्रियायोग के ग्रन्थ पञ्चरात्र की रचना की है। अपने धर्म में निष्ठा रखनेवाले प्रचेता यज्ञ-विधि से यज्ञ-पुरुष विष्णु की आराधना करते थे और वहीं जाकर नारदजी ने भगवान् की गुणगाथा गाई। उस अवसर पर नारदजी ने जो हरिकथाएँ कही हों, उन्हें आप कृपा करके पूर्ण रूप से विस्तार के साथ कहिए। मैं सुनना चाहता हूँ।

मैत्रेयजी ने कहा—सुनो, ध्रुव के बड़े पुत्र का नाम उत्कल था। पिता के वन चले जाने पर मंत्रियों ने उत्कल को सिंहासन पर बिठाने का उद्योग किया। परन्तु चक्रवर्ती राज्य का ऐश्वर्य और पिता का राजसिंहासन उन्होंने नहीं स्वीकार किया। कारण, वह जन्म से ही शान्तप्रकृति, समदर्शी और निःसंग थे, अर्थात् विषय-भोग और विषयी लोगों से दूर रहते थे। उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया था, इसलिए संपूर्ण विश्व में अपने को और अपने में संपूर्ण जगत् को व्याप्त देखते थे। उनका आत्मा शान्त होकर ज्ञानरूप रस अर्थात् परमात्मा के अनुभवानन्द में मिलकर तन्मय हो गया था। अखण्ड योगरूप अग्नि ने उनके कर्मबन्धन और वासनामय लिंगशरीर की उपाधि को भस्म कर दिया था। उन्हें देहाभिमान न था। उन्होंने अपने आत्मा को अपने रूप ( आनन्दमय सर्वव्यापक ब्रह्म ) में लीन कर दिया था, इसी कारण उनकी दृष्टि में अपने से अलग कुछ भी न था। मार्ग में जाते समय उनके छिपे हुए तेज को न जाननेवाले बालक अथवा अज्ञानी

लोग उन्हें जड़ ( बुद्धिहीन ), अंधा, बहरा, गूँगा और पागल समझकर उनका उपहास करते थे। किन्तु वास्तव में वह आत्मज्ञानी थे। जैसे ज्वालाओं के शान्त होने पर अग्नि को लोग शक्तिहीन समझते हैं, वैसे ही लोग उन्हें निकम्मा समझते थे। इसी से कुल के बड़े-बूढ़े लोगों ने और मंत्रियों ने उनको जड़-उन्मत्त मानकर उनके छोटे भाई वत्सर नाम के राजकुमार को राजा बनाया। यह ध्रुव की दूसरी रानी भ्रमि के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इसी रानी से ध्रुव के कल्प नाम का एक पुत्र और था। वह वत्सर का बड़ा भाई होने के कारण राज्य अवश्य पा सकता था ; किन्तु वह भी संसार से विरक्त था। इसलिए उसने भी राजगद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया।

वत्सर की रानी का नाम सुवीथि था। उसके गर्भ से वत्सर के पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय नाम के छः पुत्र उत्पन्न हुए। पुष्पार्ण के दो रानियाँ थीं, प्रभा और दोषा। प्रभा के प्रातः, मध्यदिन और सायं नाम के तीन पुत्र हुए। दोषा के गर्भ से भी प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट नाम के तीन लड़के उत्पन्न हुए। व्युष्ट के पुष्करिणी नाम की रानी के गर्भ से सर्वतेजा नाम का पुत्र हुआ। सर्वतेजा के आकूति नाम की रानी के गर्भ से चक्षु नाम का पुत्र हुआ। चक्षु मनु हुए। चाक्षुष मन्वन्तर उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। चक्षु मनु की रानी नड्वला के गर्भ से परमयशस्वी बारह पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम ये हैं—पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिवि, उल्मुक। उल्मुक की रानी का नाम पुष्करिणी था। उसके गर्भ से उल्मुक के छः पुत्र हुए। उनके नाम ये हैं—अंग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अंगिरा और गय।

इनमें अंग के, सुनीथा नाम की रानी के गर्भ से, वेन नाम का बड़ी ही क्रूर प्रकृति का पुत्र उत्पन्न हुआ। वेन ने जब किसी प्रकार अपना स्वभाव न बदला, तब उसके दुष्ट स्वभाव से खीझकर राजा अंग एक दिन घर-बार और राजपाट छोड़कर चुपके से वन को चले गये। हे विदुर, ब्राह्मणों का शाप वज्र से बढ़कर भयंकर होता है। वेन जब बहुत अत्याचार करने लगा और समझाने से भी न माना, तब ब्राह्मणों ने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। मुनियों के शाप से जब राजा वेन की मृत्यु हो गई, तब किसी राजा के न रहने से चोर-डाकू-ठग आदि निडर होकर प्रजा को लूटने-मारने लगे।

प्रजा को पीड़ित और नष्ट होते देखकर मुनियों ने वेन के प्राणहीन शरीर की दाहनी भुजा को लकड़ियों में रखकर मथा। उसी भुजा से नारायण भगवान् का अंशावतार महाराज पृथु उत्पन्न हुए। यह आदिराजा कहे जाते हैं; क्योंकि इन्होंने ही ऊबड़खाबड़ पृथ्वीतल को बराबर करके उस पर पुर, गाँव आदि बनाये और बसाये। पहले लोग ऊँची-नीची पृथ्वी में जहाँ पाते थे, रहते थे।

विदुरजी ने पूछा—मुनिवर, महाराज अंग तो बड़े ही धर्मात्मा, सुशील, परोपकारी, ब्राह्मणों के भक्त और महात्मा थे। उनके वेन के समान दुष्ट पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ, जिसके कारण पिता को घर ही छोड़ देना पड़ा ? राजा दुष्टों को दण्ड देनेवाला और सज्जनों की रक्षा करनेवाला शासक होता है। राजा वेन से कौन ऐसा अपराध बन पड़ा था, जिसके लिए धर्म के ज्ञाता ( अर्थात् राजा ईश्वर का अंश होता है, यह जाननेवाले ) मुनियों ने क्रोध करके वेन के ऊपर ब्रह्मदण्ड का प्रयोग किया ? उसे ब्रह्मशाप देकर मार डालने का क्या कारण था ? शास्त्र में लिखा है कि राजा में सब लोकपालों का अंश और तेज होता है, इस कारण उससे यदि कोई अपराध भी बन पड़े तो प्रजा को उसका अनादर कभी न करना चाहिए। हे ब्रह्मन, सुनीथा के पुत्र वेन का यह चरित्र आप मुझसे कृपा करके कहिए। आप त्रिकालज्ञ ऋषियों में श्रेष्ठ हैं। आप भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब जानते हैं।

श्री मैत्रेयजी ने कहा—एक समय महाराज अंग ने अश्वमेध नाम का श्रेष्ठ यज्ञ किया। ब्रह्मज्ञ वेद-



महाराज अंग के पुत्रेष्टियज्ञ में अग्नि से पायस का पात्र प्रकट होना।

पाठी ब्राह्मणों ने उस यज्ञ में मंत्र पढ़कर आहुति अग्नि में डालकर इन्द्र आदि देवतों का आवाहन किया। परन्तु कोई भी देवता अपना भाग लेने के लिए नहीं आया। तब ऋत्विक् ब्राह्मणों ने विस्मित होकर यजमान से कहा—महाराज, आज आपके दिये हुए यज्ञभाग को देवता नहीं स्वीकार करते। देखिए, यह हवि शुद्ध है। आप भी श्रद्धा के साथ यज्ञ कर रहे हैं। हमारे मंत्र भी कभी निष्फल न होनेवाले अमोघ हैं; क्योंकि हम उनका स्वाध्याय आठ पहर करते रहते हैं, और हम भी व्रतधारी हैं, अर्थात हम ब्रह्मचर्य के साथ रहकर आपका यज्ञ करा रहे हैं। हमको तो देवतों के न आने का कोई कारण नहीं देख पड़ता। देवता लोग कर्म के साक्षी माने जाते हैं। उनके बिना आये और अपना भाग बिना ग्रहण किये सब कर्म निष्फल हैं। हमें तो इस यज्ञ में उन देवतों की अणुमात्र अवहेला नहीं जान पड़ती। फिर न जाने क्यों वे आकर अपने-अपने भाग को क्यों नहीं लेते!

मैत्रेयजी कहते हैं—ब्राह्मणों के यों कहने से राजा अंग बहुत उदास हो गये। यज्ञ में दीक्षा लेनेवाला यजमान बीच में बोलता नहीं। किन्तु इसका कारण जानने के लिए राजा ने सदस्य विद्वानों से यह प्रश्न किया। राजा ने कहा—आप लोग सदस्य अर्थात यज्ञकर्म के साक्षी और सर्वज्ञ ह। बतलाइए, मेरे यज्ञ में बुलाने पर भी देवता आकर अपने भाग को क्यों नही लेते? वे सोमपात्र को स्वीकार नहीं करते, इसका कारण मेरा कोई पाप ही होगा। वह मेरा पाप क्या है?

सदस्यों ने विचार करके कहा—राजन, इस जन्म में तो आपने कुछ भी पाप नहीं किया है। यदि इस जन्म में यजमान का कुछ पाप होता भी है, तो वह यज्ञ के पहले प्रायश्चित्त कर्म करने से नष्ट हो जाता है। हाँ, पहले के जन्म का पातक अवश्य है, जिसके कारण इस जन्म में तुम्हारे कोई संतान नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम ऐसा उपाय करो, जिससे तुम्हारा वह पाप भी मिट जाय और तुम्हारे सन्तान उत्पन्न हो। उसका उपाय यही है कि तुम पुत्र की कामना से यज्ञपुरुष भगवान विष्णु की आराधना करो। उनकी कृपा से तुम्हारे अवश्य पुत्र उत्पन्न होगा। जब तुम हरि को प्रसन्न करके पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ करोगे, तब और सब देवता भी भगवान् नारायण के साथ आकर तुम्हारे यज्ञ में अपने भाग ग्रहण करेंगे, इसमें सन्देह नहीं। राजन, जिस कामना से हरि की आराधना की जाती है, उस कामना को भगवान् अवश्य पूर्ण करते हैं। जिस भाव से भगवान् को भजो, उसी भाव के अनुकूल फल वह देते हैं।

इस प्रकार निश्चय करके ब्राह्मणों ने राजा के पुत्र होने की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ का आरंभ किया और उसमें हरि भगवान के लिए 'पुरोडाश' (भाग) निकाला। कारण, भगवान का नाम शिपिविष्ट* है, जिसका अर्थ है बलिपशुओं में यज्ञरूप से प्रविष्ट। पुरोडाश अग्नि में डालते ही उस अग्नि के भीतर से एक पुरुष प्रकट हुआ, जो सुवर्ण की माला पहने था; निर्मल उज्ज्वल वस्त्र धारण किये था और हाथ में सोने के पात्र में पका हुआ पायस (खीर) लिये था।

ब्राह्मणों की अनुमति से राजा ने वह खीर का पात्र हाथ में ले लिया और फिर उस खीर को आप सूँघकर अपनी रानी को खिला दिया। पुत्रहीन रानी ने पहले उस खीर को खा लिया और फिर रजस्वला होने के उपरान्त ऋतुकाल में राजा के संग से पुत्र उत्पन्न करनेवाला गर्भ धारण किया। यथासमय रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

अंग की रानी सुनीथा मृत्यु की बेटी थी। इसलिए उसके गर्भ से उत्पन्न वह बालक अपने नाना की प्रकृति का अर्थात बड़ा क्रूर और कठोर हुआ। मृत्यु अधर्म का अंश है, इसीसे वह बालक भी अधर्मी हुआ। वह जब और स्यानां हुआ, तब वह बालक धनुष-बाण हाथ में लेकर मृगों की हत्या करने

* श्रुति में भी यही कहा है—"यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति।"

के लिए वन को जाने लगा। वह वन में बहेलियों और शिकारियों की तरह अकारण ही शान्त मृगों और निराश्रय सीधे पशु-पक्षियों की हत्या किया करता था। यही नहीं, वह ऐसा निष्ठुर था कि उसके साथ जो हमजोली के बालक खेलते थे, उनको बलपूर्वक पकड़कर जैसे कोई पशुओं को कठोर मार मारे, वैसे ही मारते-मारते बेदम कर देता था। उसे देखकर लोग कहने लगते थे, वह वेन अर्थात् पीड़ित करनेवाला आ रहा है। इसीलिए उसका नाम वेन हो गया।

प्रजा नित्य राजा के पास उलहना देने आती थी। राजा अंग पुत्र की दुष्टता देख-सुनकर बहुत दुःखित हुए। उन्होंने वेन को बहुत समझाया, ताड़ना भी दी, पर वेन ने न माना। जब राजा अंग सब उपाय करके हार गए और वेन नहीं सुधरा, तब वह बहुत ही उदास और दुःखी हो गए। वह दुःखी होकर कहने लगे—जिन्हें कुपुत्र से कष्ट नहीं मिलता, वे बिना पुत्र के बहुत सुखी हैं। उन्होंने ईश्वर की बड़ी आराधना की है, जिन्हे कुपुत्र का उलहना सुनने को नहीं मिलता। कुपुत्र के कारण जो अपयश और कष्ट प्राप्त होता है, उसके सामने पुत्र न होने का कष्ट कुछ भी नहीं है। कुपुत्र के कारण होनेवाला कष्ट असह्य है। जिससे पिता की निन्दा, अकीर्त्ति और अधर्म हो, जिसके कारण सबसे विरोध उत्पन्न हो, और मन दुःखी रहे, वह कुपुत्र कहने भर के लिए पुत्र* है। वास्तव में वह मोह में आत्मा को डालनेवाला बन्धन ही है। ऐसे पुत्र के कारण गृहस्थी में क्लेश ही मिलता है। ऐसे कुपुत्र को पाकर कौन अपने को कृतार्थ मानेगा! परन्तु वास्तव में विचार करके देखा जाय तो मेरी समझ में सुपुत्र से कुपुत्र ही अच्छा है। कारण, सुपुत्र से संसार के ऊपर अनुराग होता है और फिर उससे मायाजाल में बँधना पड़ता है। इसके सिवा सुपुत्र अगर न रहा तो शोक होता है; किन्तु कुपुत्र हुआ तो उससे क्लेश मिलने के कारण शीघ्र ही पुरुष को गृहस्थी अथवा संसार से वैराग्य हो जाता है और उसके मन में मुक्ति के लिए प्रयत्न करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार महाराज अंग को वैराग्य जो हुआ तो एक दिन रात को वह जागते ही रहे, उन्हें नींद ही न आई। आधी रात के समय सोती हुई रानी को छोड़कर महाराज वन को चल दिये। संपूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त भवन, स्त्री, पुत्र आदि सबकी ममता छोड़कर, किसी से कुछ कहे-सुने बिना ही वह चले गये। किसी को उनके जाने की खबर नहीं हुई।

प्रातःकाल होने पर पुरोहित, मंत्री, इष्टमित्र, नौकर-चाकर और प्रजा सबको राजा के कहीं चले जाने का वृत्तान्त विदित हुआ। वे शोक से व्याकुल होकर चारों ओर अपने स्वामी की खोज करने लगे। परन्तु जैसे अपने ही में माया के पर्दे में छिपे हुए परमात्मा ( अर्थात् आत्मा ) को कच्चे योगी नहीं देख पाते, वैसे ही पुरी से कुछ ही दूर पर वन में स्थित राजा अंग को वे नहीं पा सके। प्रजापालक राजा को खोजकर जब सब हार गये और उनका पता न लगा, तब हताश होकर सब लौट आए। उन्होंने ऋषि-मुनियों को जमा करके प्रणामपूर्वक उनसे राजा के चले जाने का वृत्तान्त कहा। सब लोग राजा के वियोग से व्याकुल होकर रो रहे थे।

---

* क्योंकि पुत्र वही है, जो नरक से पिता की रक्षा करे, न कि अपने कामों से उसकी निंदा कराकर उसे जीते ही नरक में ढकेल दे। लिखा है—पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।

# चौदहवाँ अध्याय

## वेन का राजगद्दी पर बैठना और ब्राह्मणों के शाप से उसका मर जाना

मैत्रेयजी कहते हैं—संसार का कल्याण चाहनेवाले भृगु आदि महातेजस्वी तपस्वी मुनियों ने देखा, किसी राजा के न होने से सब प्रजा परस्पर पशुओं के समान निरंकुश होकर मनमाना आचरण कर रही है। अर्थात् उन मुनियों ने विचारा कि जिस प्रकार किसी रखवाले के न होने पर भेड़िये, बाघ आदि सबल मांसाहारी जीव भेंड़, बकरी आदि निर्बल पशुओं को पकड़कर खा जाते हैं, उसी प्रकार राजा के न रहने से चोर, लुटेरे और शक्तिशाली लोग निर्बल साधारण प्रजा का धन लूट लेंगे, उन्हें मार डालेंगे। तब उन्होंने वीरजननी सुनीथा रानी को बुलाया और सब प्रजाओं को एकत्र करके वेन को राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि कुचाली क्रूर वेन को राजा बनाने के लिए प्रजा और अमात्य आदि की तनिक भी इच्छा न थी, तथापि एक तो वेन के सिवा कोई और उत्तराधिकारी नहीं था और दूसरे राजा के बिना काम भी नहीं चल सकता था, इसलिए किसी ने खुलकर इसका विरोध नहीं किया और वेन राजा बना दिया गया।

अत्यन्त कठोर शासन करनेवाले वेन को राजा के आसन पर विराजमान सुनकर चोर, ठग, डाकू आदि वैसे ही भय के मारे छिप गए, जैसे सर्प के भय से चूहे। राजा वेन यों ही बड़ा उद्दण्ड था, अब जब राज्यासन पर बैठकर आठों लोकपालों के ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ, तब तो उसके अभिमान की सीमा नहीं रही। वह मदान्ध हो गया और बड़े-बड़े माननीय महापुरुषों का निरादर करने लगा। वह किसी को अपने आगे कुछ समझता ही नहीं था। दुर्द्धर्ष राजा वेन निरंकुश हाथी के समान हो गया। रथ पर बैठकर पृथ्वी और आकाश को कँपाता हुआ चारों ओर घूमने लगा। उसने चारों ओर अपने राज्य भर में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कोई भी यज्ञ न करे, देवतों की पूजा न करे, दान न दे, हवन न करे। इस प्रकार दुष्ट वेन ने राज्य भर में सब धर्म-कर्म करने की मनाही कर दी।

दुष्ट वेन के इस आचरण को देखकर मुनियों ने एकत्र होकर विचार किया कि अब तो लोग बड़े संकट में पड़ गये हैं। वे परस्पर कहने लगे—अहो! जैसे लकड़ी के दोनों ओर आग लगने से उसमें रहनेवाले चींटी-घुन आदि जीवों को दोनों ओर से विपत्ति का सामना करना पड़ता है, वैसे ही इस समय प्रजा उभय संकट में पड़ गई है। उधर राजा के बिना चोर आदि सताते हैं और इधर राजा हुआ तो वह इस प्रकार कष्ट दे रहा है! अब क्या करना चाहिए? हमने प्रजा को चोरों से भय और कष्ट मिलते देखकर उसे दूर करने के लिए, अयोग्य जानकर भी, इस दुष्ट वेन को राजगद्दी पर बिठा दिया था। किन्तु अब वही दुःख दे रहा है। अब प्राणियों के कल्याण का उपाय क्या है? इसे राजा बनाने से हमारा भी अनिष्ट हुआ; क्योंकि यह हमारे धर्माचरण में भी बाधा डाल रहा है। जैसे सर्प को दूध पिलाकर पालने से पालनेवाले का ही अनिष्ट होता है, अवसर पाकर सर्प उसी को काट खाता है, वैसे ही वेन को राज्य देना हमारे लिए अनिष्ट हुआ। मृत्यु की कन्या सुनीथा के गर्भ से उत्पन्न यह वेन स्वभाव से ही दुष्ट और अधर्मी है। उस पर उसे राजा बना दिया। अब वह पालन करने के स्थान पर उलटे प्रजा को नष्ट कर देना चाहता है। अब तो यही उचित जान पड़ता है कि हम सब उसके पास चलकर पहले उसे समझावें, इस कुकर्म से उसे निवृत्त करने का प्रयत्न करें, जिसमें उसके पाप के भागी हम भी न हों। कारण, हम जानते थे कि वह दुष्ट है, फिर भी हमने उस दुराचारी को राजा बना दिया। यदि वह अधर्मी और घमंडी वेन समझाने पर भी हमारी बात नहीं मानेगा, अपने हठ पर अड़ा रहेगा, तो लोगों के धिक्कार से, लोकनिन्दा से (अर्थात्

ग़रीबों की आह से ) पहले ही जले हुए उस दुष्ट को हम अपने तेज से, तपोबल से तुरंत भस्म कर देंगे।

ऐसा निश्चय करके मुनिगण राजा वेन के समीप उपस्थित हुए। पहले अपना क्रोध छिपाकर इस प्रकार कोमल वचनों से वे वेन को समझाने लगे। मुनियों ने कहा—राजन्, आप अच्छे राजा हैं, उत्तम कुल में आपका जन्म हुआ है। इसलिए हम आप ही के हित के लिए जो कुछ कहते हैं, उसे मन लगाकर सुनिए। भैया, हमारी यह प्रार्थना मान लोगे तो उससे तुम्हारी आयु, श्री, बल और यश की बढ़ती होगी। देखो, मन, वाणी, शरीर और बुद्धि से किया गया धर्म सकाम लोगों को उन लोकों में पहुँचाता है, जहाँ किसी प्रकार का शोक या दुःख-कष्ट नहीं है। और जो लोग निष्काम होकर धर्म का आचरण करते हैं, उन्हें उसी धर्म से मोक्ष भी प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये ही चार परम पुरुषार्थ माने गये हैं और ये चारों पदार्थ केवल धर्म के आचरण से ही मिलते हैं, अर्थात् इस लोक और परलोक में धर्म ही काम आता है। हे वीर, तुम्हारा धर्म प्रजा का पालन और उसकी रक्षा करना ही है। ऐसा करो कि तुम्हारा वह धर्म न नष्ट हो। याद रक्खो, धर्म का पालन न करने से राजा शीघ्र ही ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। राजन्, जो राजा अपने दुष्ट मंत्रियों की सलाह न मानकर राजकर्मचारियों के अत्याचार से और चोर आदि के उपद्रव से अपनी प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा से उचित 'कर' ( प्रजा की आमदनी का छठा हिस्सा ) ही लेता है, वह इस लोक में सुखी होता है, उसकी कीर्ति बढ़ती है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है। जिस राजा की राजधानी में और राज्य में रहनेवाली प्रजा अपने-अपने वर्ण और आश्रम के शास्त्रोक्त धर्म से यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु की पूजा और आराधना करती है, उस शास्त्ररूप अपने शासन ( आज्ञा ) को माननेवाले राजा के ऊपर सर्वव्यापी और सबके रक्षक भगवान् प्रसन्न होते हैं। जगदीश्वरों ( ब्रह्मा आदि ) के भी ईश्वर हरि भगवान के प्रसन्न होने पर क्या नहीं मिल सकता ? सब लोकों के निवासी और सब लोकपाल सादर उन परमेश्वर की पूजा करते और उनकी आज्ञा मानते हैं। वही भगवान् सब लोकों, लोकपालों और यज्ञों के नियामक और स्वामी हैं। तीनों वेद, यज्ञ की सब सामग्री और तपस्या उन्हीं का रूप है। आपके राज्य में रहनेवाली प्रजा आपके ही अभ्युदय और कल्याण के लिए अनेक प्रकार के यज्ञों से उन भगवान विष्णु की पूजा-आराधना करती है। आपको उचित है कि प्रजा को इस कार्य में उत्साहित करें, उससे अनुरोध करें। हे वीर, आपके राज्य में ब्राह्मण आदि प्रजा यज्ञ आदि कर्मों से देवतों की पूजा करती है। सब देवता उन्हीं विष्णु भगवान् की कला है। अच्छी तरह पूजा करने से सुप्रसन्न होकर वे देवगण मनोरथ पूरे करते है। इसलिए उन ब्राह्मणों या देवतों का अनादर करना या उन पर अश्रद्धा दिखाना आपके लिए उचित नहीं है। कारण, ऐसा करने से आपका और आपकी प्रजा का अनिष्ट होगा।

ब्राह्मणों के ये शान्त वचन सुनकर दुर्बुद्धि वेन ने कहा—तुम लोग सचमुच मूर्ख हो ! कैसे खेद और आश्चर्य की बात है कि तुम अधर्म को धर्म मान रहे हो। मैं सबका अन्नदाता और रक्षा करनेवाला पति हूँ। जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर यार को भजे, वैसे ही तुम मुझे छोड़कर और देवता आदि की पूजा करना चाहते हो। जो मूढ़ लोग राजारूप ईश्वर का अनादर करते हैं, अर्थात् राजा को छोड़कर और देवता को पूजते हैं, उनका इस लोक में या परलोक में, कहीं कल्याण नहीं होता। जैसे कुलटा नारियाँ अपने स्वामी को प्यार न करके यार की सेवा करती हैं, वैसे ही मुझ अपने सच्चे स्वामी को छोड़कर जिस पर तुम ऐसी भक्ति दिखा रहे हो, वह यज्ञपुरुष कौन है ? ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, कुबेर, यमराज, सूर्य, मेघ, पृथ्वी, जल, अग्नि तथा और सब वरदान और शाप देने की शक्ति रखनेवाले देवता तो राजा के ही शरीर में रहते हैं। तुम नहीं जानते क्या ? राजा सब देवतों का स्वरूप है। इसलिए

हे ब्राह्मणो, ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर यज्ञ आदि सब कर्मों से मेरी ही पूजा और आराधना करो। मुझसे श्रेष्ठ अथवा पूजनीय और कौन देवता है ?

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, दुष्ट वेन ने मुनियों की प्रार्थना न मानकर ऐसा उत्तर दिया। मानता कैसे ? उसकी समझ ता उल्टा हो रही थी; क्योंकि मृत्यु उसके सिर पर सवार थी। उस पापी, कुमार्गगामी वेन की आयु नष्ट हो चुकी थी। वह अपने को बड़ा भारी पण्डित और बुद्धिमान् समझता था। इस प्रकार उसने जब मुनियों की प्रार्थना अस्वीकार करके उनका अपमान किया, तब वे ब्राह्मण उस पर अत्यन्त कुपित हो उठे।

ब्राह्मणों ने कहा—यह पापी और स्वभाव से ही दारुण है। इसे मार डालो, मार डालो; क्योंकि यदि यह जीता रहा तो शीघ्र ही अपने अत्याचार से जगत् का विनाश कर देगा। यह असत् चरित्रवाला दुष्ट राजा के श्रेष्ठ आसन पर बैठने के योग्य नहीं है। यह ऐसा निलज्ज है कि साक्षात् यज्ञपुरुष विष्णु भगवान् की निन्दा करता है। जिन परमेश्वर की कृपा से इसे ऐसा ऐश्वर्य मिला है, उनकी निन्दा सिवा इस पापी, कृतघ्न वेन के और कौन कर सकता है ?

पहले ही से मुनिगण वेन पर बहुत क्रोधित थे; किन्तु अब तक वे अपने क्रोध को छिपाये हुए थे। अब भगवान् की निन्दा सुनकर उनका क्रोध और भी बढ़ गया। उन्होंने इस प्रकार क्रोध प्रकट करके दुष्ट वेन को नष्ट कर देने का निश्चय कर लिया। बस, फिर क्या देर थी ! वेन तो हरि की निन्दा करने से एक प्रकार पहले ही से मर चुका था। ब्राह्मणों के क्रोधपूर्ण हुंकारों से उसके प्राण निकल गये।



वेन को मारकर सब ऋषि अपने आश्रमों को चले गये। वेन की माता सुनीथा पुत्र की मृत्यु से बहुत शोकाकुल हुई। सुनीथा ने वेन के शव को जलाया नहीं। वह विद्या ( मंत्र ) के बल से युक्ति ( तेल के भीतर डुबाकर रखना आदि ) के साथ उस शव की रक्षा करने लगी।

कुछ समय योंही बीता। एक दिन सब मुनि सरस्वती नदी में नहाकर अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्य करने के उपरान्त नदी के किनारे बैठे ईश्वर के विषय की चर्चा कर रहे थे। इसी समय उन्हें पृथ्वी और आकाश में प्रजा के लिए घोर भय की सूचना देनेवाले उत्पात होते दिखाई पड़ने लगे। वे उत्पात देखकर मुनिगण आपस में कहने लगे—क्या दस्युओं और लुटेरों के हाथ से इस अनाथ प्रजा का अनिष्ट या नाश तो नहीं होनेवाला है ? ये उत्पात तो ऐसी ही सूचना दे रहे हैं। भगवान् सबका भला करें।

सब ऋषि आपस में यों विचार कर रहे थे, इसी समय उन्होंने देखा, लुटेरे लोग प्रजा को लूटते-मारते इधर-उधर दौड़ रहे हैं और उनके दौड़ने से, प्रजा का पीछा करने से, बहुत-सी धूल उड़ रही है। ऋषियों ने देखा, राजा के न होने से चोर-लुटेरे निर्भय होकर दिनदहाड़े प्रजा को लूट रहे हैं, मार-काट मची हुई है, प्रजा हाहाकार कर रही है। लोग आपस ही में एक दूसरे को लूटे लेते हैं, मारे डालते हैं। एक ओर से प्रायः सभी लोग चोर-लुटेरे, बेईमान और अत्याचारी हो रहे हैं। राजा के बिना नगर-निवासी भी शक्तिहीन हो रहे हैं। जो क्षत्रिय आदि बलवान् लोग लुटेरों को रोक सकते थे, वे स्वयं या तो लूट-मार में लग गये हैं या चुपचाप तमाशा देख रहे हैं।

यह देखकर मुनियों ने अपने मन में सोचा कि क्षत्रियों को तो ऐसे उपद्रव को शान्त न करने से दोष है ही; किन्तु जो समदर्शी शान्त ब्राह्मण है, वह भी यदि अनाथ निर्बल प्रजा की रक्षा नहीं करता तो दोष का भागी होता है। जैसे टूटे हुए बरतन से पानी बह जाता है, वैसे ही दीन अनाथों की उपेक्षा करने से ब्राह्मण का तप और तेज नष्ट हो जाता है।



यह सोचकर ब्राह्मणों ने यह निश्चय किया कि इसका कुछ उपाय अवश्य हमें करना चाहिए। तब यह सलाह ठहरी कि महाराज अंग का वंश नष्ट न होना चाहिए;* क्योंकि वह बड़े धर्मात्मा और प्रतापी थे। केवल अंग ही नहीं, इस वंश में जितने राजा हुए हैं, वे सब अमोघ-वीर्य और भगवान् के भक्त थे।

यों सलाह करके, और किसी को यह उपद्रव शान्त करने के लिए राजा न बनाकर, सब ब्राह्मण सुनीथा के पास आए। उन्होंने सुनीथा से उसके पुत्र का शव (लाश) माँग लिया। फिर उसे लकड़ियों के बीच में रखकर ब्राह्मणों ने वेन के शरीर की मोटी जाँघों को मथा। उससे एक बौना पुरुष उत्पन्न हुआ। उसका रंग कौए के समान काला था। उसके सब अंग और हाथ बहुत छोटे थे। ठोढ़ी बड़ी थी। पैर छोटे, नाक आगे को झुकी हुई और चिपटी थी। आँखें लाल-लाल थीं। सिर के बाल ताँबे के रंग के थे। वह झुककर हाथ जोड़कर कहने लगा—"मैं क्या करूँ? मुझे क्या आज्ञा होती है?" ऋषियों ने कहा—'निषीद' अर्थात् बैठ जा। इसी से वह निषाद कहलाया। उसके वंश से 'निषाद' (मल्लाह) जाति उत्पन्न हुई। वे पहाड़ों और वनों में जाकर रहने लगे; क्योंकि उन्हें पुर में प्रवेश करने का भी

---

* सबका सारांश यह हुआ कि लोगों को बचाने का प्रयत्न करना अपना कर्त्तव्य समझकर ऋषियों ने यह सोचा कि यदि हम दस्युओं का नाश करते हैं तो उससे हमारे तप का क्षय होगा। फिर उन्होंने सोचा कि अंग राजा के वंश का नाश भी न होना चाहिए। अतएव दूसरे किसी को प्रजा की रक्षा के लिए राजा न बनाकर उन्होंने सन्तान के लिए राजा वेन के प्राणहीन शरीर को ही मथा।

अधिकार न था। इसका कारण यही है कि वेन के शरीर में जो पाप था, उसीसे निषाद की उत्पत्ति हुई थी। इसीसे निषाद के वंश में जो उत्पन्न हुए, वे क्रूर और पापकर्म में लिप्त हुए। वे जीवों को मारकर अपनी जीविका चलाने लगे।

# पंद्रहवाँ अध्याय

## महाराज पृथु का जन्म और राज्याभिषेक

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, फिर वे ब्राह्मण पुत्रहीन राजा वेन की दोनों भुजाओं को मथने लगे। एक बाहु से पुरुष और दूसरी बाहु से एक स्त्री प्रकट हुई। पुरुष विष्णु का अंश और स्त्री भगवती लक्ष्मी की कला थी। ब्रह्मवादी ऋषियों ने यह जानकर बहुत प्रसन्न होकर कहा—यह पुरुष तो जगत् के प्रतिपालक भगवान् विष्णु का अंशावतार हैं और यह स्त्री लक्ष्मीदेवी की परमपवित्र कला हैं। यह पुरुष आदिराजा महाराज अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा होंगे। इनका नाम पृथु होगा। सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल में इनका सुयश फैलेगा और यह सुन्दर दाँतोंवाली और अपने शरीर की कान्ति से सब आभूषणों को और अपने स्वभाव से सब गुणों को शोभित करनेवाली देवी इन महाराज की रानी होंगी। वशिष्ठ की स्त्री अरुन्धती के समान महाराज पृथु की पत्नी यह देवी अर्चि इस नाम से प्रसिद्ध होंगी। साक्षात् विष्णु का अंश महाराज पृथु जगत् की रक्षा करने के लिए प्रकट हुए है। यह अर्चि स्वयं लक्ष्मी देवी है। यह भगवान् नारायण ही के पास सदा रहती है, इसी कारण भगवान् के साथ ही प्रकट हुई हैं।



महाराज पृथु के प्रकट होने पर ब्राह्मण ऋषिगण उनकी बड़ाई और स्तुति करने लगे। श्रेष्ठ गन्धर्वगण गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। सिद्धगण अपने विमानों पर से फूल बरसाने लगे। स्वर्गलोक में देवगण शंख, तुरही, मृदंग, नगाड़े, नरसिंहे आदि बाजे बजाने लगे। देवता, ऋषि और पितर स्वर्ग से पृथ्वी पर आकर पृथुजी के दर्शन और स्तुति करने लगे। सब जगत् के गुरु और विधाता ब्रह्माजी देवराज इन्द्र और सब देवताओं के साथ वहाँ आये, जहाँ महाराज पृथु ने जन्म लिया था। महाराज पृथु के दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न और चरणारविन्द में कमल की रेखा देखकर

ब्रह्माजी को निश्चय हो गया कि वह अवश्य ही भगवान् विष्णु की कला हैं। कारण, जिस व्यक्ति के हाथ और पाँव में चक्र और कमल की रेखा हो और वह अन्य रेखाओं से कट न गई हो तो वह महाप्रतापी होता है और उसे अवश्य ही भगवान् विष्णु का अंश समझना चाहिए।

तब वेदपाठी ब्राह्मणों ने महाराज पृथु के राज्याभिषेक का उद्योग किया। उस समय भेंट के लिए सब लोग यथायोग्य अभिषेक की सामग्री लेकर उपस्थित हुए। नदी, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, नाग, गरुड़, पक्षी, मृग आदि स्थानों, पदार्थों और प्राणियों ने अभिषेक की सामग्री और उपहार दिये। महाराज पृथु सुन्दर वस्त्र और अलंकार पहनकर सिंहासन पर बैठे। उनकी पत्नी महारानी अर्चि भी उसी सिंहासन पर बाईं ओर विराजमान हुईं। ब्राह्मणों ने मंत्र पढ़कर पवित्र जल से राज्याभिषेक किया। उस समय महारानी अर्चि के साथ महाराज पृथु वैसे ही शोभित हुए, जैसे अर्चि ( ज्वाला ) के साथ अग्नि देव की शोभा होती है।

इसके उपरान्त सबने उन्हें इस प्रकार उपहार दिये—कुबेरजी ने श्रेष्ठ स्वर्ण-सिंहासन अर्पण किया। वरुणजी ने चंद्रमा के समान उज्ज्वल और नेत्रों को शीतल करनेवाला सुन्दर छत्र दिया, जिससे सदा जल की फुहारें गिरा करती हैं। वायु ने दो चँवर दिये। धर्म ने कीर्त्ति की माला दी। देवराज इन्द्र ने उत्तम मुकुट दिया। यमराज ने यमदण्ड दिया। ब्रह्माजी ने वेदमय कवच दिया। सरस्वती देवी ने बढ़िया हार दिया। विष्णु भगवान् ने सुदर्शनचक्र दिया। लक्ष्मीदेवी ने स्थिर सम्पति दी। रुद्र ने दस चन्द्रमाओं से शोभित खड्ग दिया। अंबिका देवी ने सौ चन्द्रमा जिसमें बने थे ऐसी ढाल दी। चन्द्रमा ने अमृतमय घोड़े दिये। त्वष्टा देवता ने उत्तम कारीगरी से बनाया हुआ रथ दिया। अग्निदेव ने आजगव अर्थात् बकरे और बैल के सींग का बना हुआ धनुष दिया। सूर्यदेव ने किरणमय बाण दिये। पृथ्वी ने योगमयी अर्थात् पैर रखते ही यथेष्ट स्थान में पहुँचा देनेवाली पादुकाएँ दीं। आकाश ने नित्य फूलों की वर्षा का उपहार दिया। आकाशचारी सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व आदि ने नाट्य, गीत और बाजे का अनोखा कौशल और अन्तर्द्धान ( गायब ) होने की विद्या दी। सागर ने अपने से उत्पन्न शंख दिया। ऋषियों ने सत्य आशीर्वाद दिये। सिन्धुओं, पर्वतों और नदियों ने महात्मा पृथु को जाने के लिए रथ की राह दी। सूत, मागध और वन्दीजन * उनकी स्तुति करने के लिए उपस्थित हुए। उन्हें स्तुति करने के लिए उपस्थित देखकर, उनके अभिप्राय को जानकर वेन के पुत्र प्रतापी महाराज पृथु ने हँसकर मेघगर्जन के समान गंभीर वाणी से इस प्रकार कहा।

पृथु ने कहा—हे सूत, हे मागध और हे सौम्य वन्दीजन, जब कभी मेरे कुछ गुण प्रकट हों, तब स्तुति करना भी उचित होगा। अभी तो मेरे गुण प्रकट ही नहीं हुए हैं। फिर तुम किस आधार पर, मेरे किस गुण का उल्लेख करके स्तुति करोगे? अभी तो तुम और ही किसी स्तुति के योग्य पुरुष की जाकर स्तुति करो। मैं नहीं चाहता कि मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी वाणी मिथ्या हो। तात्पर्य यह कि इस समय तुमने मुझमें जिन गुणों की कल्पना की, वे यदि मुझमें न निकले तो तुम झूठे ठहरोगे; मैं यह नहीं चाहता। इसलिए हे मधुर वचन कहनेवालो, इस समय तुम मेरी स्तुति न करो। जब संसार में मेरे गुण प्रकट हो लें, तब अच्छी तरह स्तुति कर लेना। यदि कहो कि सज्जनों और बड़े लोगों की प्रेरणा से हम आपकी स्तुति

---

* सूत अर्थात् पुराण सुनानेवाले; मागध, वंशावली का बखान करनेवाले; वन्दीजन, समयानुसार वाक्यों से स्तुति करने वाले। यथा—

सूताः पौराणिकाः प्रोक्तामागधा वंशशंसकाः।
वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावस्तुतिशोकयः॥



सम्राट पृथु का राज्याभिषेक

करने आए हैं तो उत्तम यशवाले ईश्वर के गुण-वर्णन को छोड़कर मुझ सरीखे साधारण पुरुष की स्तुति करने के लिए सभ्यजन कभी नहीं कहेंगे। जो कहो कि आगे चलकर आपमें जिन गुणों के प्रकट होने की संभावना है, उन्हीं का वर्णन करके हम अभी आपकी स्तुति करेंगे तो इसके विरोध मे मुझे यही कहना है कि कौन ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति होगा, जो स्वयं उत्तम गुण प्राप्त करने मे समर्थ होने पर भी केवल इस संभावना से कि महापुरुषों के उत्तम गुण मैं दिखा सकूँगा, गुण प्रकट होने के पहले ही अपनी स्तुति कराना चाहेगा ? अथवा अपने मे गुण है, पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए है, उस दशा मे भी अपनी स्तुति कराना बुद्धिमानी नहीं है। यदि किसी मे कुछ गुण है तो वह आप ही प्रसिद्ध हो जायगे। जो व्यक्ति अपने मिथ्या गुणों की स्तुति सुनकर फूला नहीं समाता, वह अत्यन्त मन्दमति है। लोग जब उसके लिए यह कहते हैं कि "आप यदि शास्त्र का अभ्यास करते तो बड़े भारी दिग्गज पांण्डत होते", अथवा "आपकी बुद्धि ऐसी तीव्र है कि बिना पढ़े-लिखे ही आप बड़-बड़ पढ़े-लिखे लोगो के कान काटते हैं", तब वह इस अपनी प्रशंसा समझकर बड़ा प्रसन्न होता है। वह मूर्ख यह नहीं जान पाता कि लोग ऐसा कहकर उसका उपहास कर रहे है। जो समर्थ और समझदार है, अत्यन्त प्रसिद्ध, उदार और संकोची है, वे अपनी स्तुति कराना नहीं चाहते। अथवा कोई ब्राह्मणवध, स्त्रीवध आदि निन्दित पौरुष का आरोप उन पर करे तो उसे जैसे वे सुनना नहीं चाहते, वैसे ही अपनी उचित स्तुति को भी नही सुनते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुणी महात्मा अपनी यथार्थ प्रशंसा भी नही सुनना चाहते; और यदि कोई उनकी बहुत बढ़कर स्तुति करे, अर्थात् कहे कि 'आप धर्मावतार हैं, कर्ण से भी बढ़कर दानी हैं,' तो वह अतिस्तुति वैसे ही उन्हे असह्य होती है, जैसे किसी का यह कहना कि 'आप बड़े पराक्रमी है, आपने अमुक अपने प्रतिद्वन्द्वी ब्राह्मण को ऐसा ठीक किया कि वह मर ही गया' इत्यादि।

महाराज पृथु कहते है—हे सूत, मैं तो अभी इस संसार में कोई उत्तम काम करके प्रसिद्ध नहीं हुआ। फिर बालकों या मूर्खों की तरह अपनी स्तुति कैसे तुम लोगों से करा सकता हूँ ?

# सोलहवाँ अध्याय

## राजा पृथु की स्तुति

मैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथु ने यों कहकर सूत आदि को यद्यपि मजा किया, तथापि उनके वचनामृत के पान से प्रसन्न होकर और मुनियों की प्रेरणा पाकर सूत, मागध और वन्दीजन इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे।

वन्दीजन बोले—हे राजाधिराज, हममें इतनी शक्ति या विद्या-बुद्धि कहाँ है कि हम आपकी महिमा का बखान कर सकें ! आप तो स्वयं देवदेव भगवान् विष्णु का अवतार हैं। यह मायामनुष्य-रूप ग्रहण करके आपने राजा वेन के शरीर से जन्म लिया है। आपके अचिन्त्य पौरुष को जब ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े विख्यात विद्वान् और वक्ता भी नहीं कह सकते, उनकी भी बुद्धि चकरा जाती है, तब हम साधारण मनुष्य भला क्या उसका वर्णन कर सकते हैं ! यद्यपि महायशस्वी हरि के अंशावतार जो आप हैं, उनके अगणित गुणों का यथार्थ वर्णन हम नहीं कर सकते, तथापि हे महात्मा महाराज पृथु, आपकी अमृत-मधुर कथा अर्थात् गुणगाथा में हमें बड़ी श्रद्धा है और ये महात्मा मुनिगण आपकी स्तुति करने के लिए हमें उत्साहित कर रहे

हैं, इसलिए इन मुनिवरों ने अपने योगबल से हृदय में आपकी प्रशंसनीय गुणावली को जिस प्रकार प्रकाशित किया है, उसी प्रकार हम उसका बखान करते हैं।

अब उपस्थित लोगों को सम्बोधन करके वन्दीजन कहने लगे—यह महाराज पृथु धर्मज्ञ और धर्मात्मा लोगों के शिरोमणि होंगे और अपने आचरण का आदर्श आगे रखकर अन्य लोगों को धर्म के मार्ग पर चलावेंगे। यह धर्म की मर्यादा की रक्षा करेंगे और धर्मद्रोही कुमार्गगामी दुष्टों को दण्ड देंगे। यह महाराज एक ही शरीर से समय-समय पर अलग-अलग आठों लोकपालों के कार्य करेंगे। यह यज्ञ आदि में फिर लोगों को प्रवृत्त करके उसके द्वारा सबका इस लोक और परलोक का हित करेंगे *।

[अब वंदीजन अलग-अलग उन्हीं सूर्य आदि आठों लोकपालों के कर्म बतलाते हैं।] यह महाराज पृथु सूर्य के समान ही तपेंगे। सूर्य जैसे सब स्थानों में, सब पर, समान भाव से अपना प्रकाश डालते हैं, अपनी गर्मी पहुँचाते है, वैसे ही इनका प्रताप सबको इनकी आज्ञा मानने के लिए वाध्य करेगा, और इनका न्याय सबको सुलभ होगा। सूर्यदेव जैसे साल में आठ महीने पृथ्वी का रस अपनी किरणों से खींचकर चार महीने वर्षाऋतु में वही पृथ्वी को लौटा देते है, वैसे ही यह प्रजा से 'कर' लेंगे, और दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर वही धन प्रजा की भलाई के लिए खर्च कर देंगे। यह महाराज पृथ्वी के समान क्षमाशील होंगे। पृथ्वी के ऊपर जैसे सब लोग पैर रखते है, थूकते हैं, मल-मूत्र त्याग करते है, और वह सब सह लेती हैं, वैसे ही आर्त्त दीन व्यक्ति यदि इनके सिर पर पैर भी रख देगा तो यह उसे सह लेंगे, उसे क्षमा कर देंगे। यह साक्षात् विष्णु का ही रूप हैं। इसलिए जब इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे, अकाल पड़ जायगा, तब प्रजा के प्राण-संकट को मिटाने के लिए यह करुणानिधान इन्द्र के समान जल-वर्षा करके प्रजा के प्राणों की रक्षा करेंगे। यह महाराज चन्द्रमा के समान सौम्य और आनन्द देनेवाले होंगे। जैसे चन्द्रमा अपने अमृतमय शान्त रूप से सबके ताप को हरते हैं, वैसे ही यह महाराज भी अपने मुखचन्द्र की मृदुमन्दहास्ययुक्त कृपादृष्टि से सब प्रजा के ताप को मिटावेंगे, सबको सन्तुष्ट करेंगे। समुद्र ( अर्थात् उसके अधिष्ठाता लोकपाल वरुण ) की जैसे सीमा नहीं है, थाह नहीं है, उसके भीतर अनेकों रत्न गुप्त रूप से रक्खे हैं, वह अत्यन्त गंभीर देख पड़ता है, किस समय उसकी क्या अवस्था है, यह जाना नहीं जाता, और वह संपूर्ण पृथ्वी को घेरे हुए है, वैसे ही यह महाराज भी अपनी थाह किसी को नहीं देंगे, अपने सब काम गुप्त रक्खेंगे, अत्यन्त गंभीर और बुद्धिमान होंगे, गुप्त भाव से अपने कोष का संचय करते हुए अनन्त महिमा और गुणों की खान बनकर सारे पृथ्वी-मण्डल में अपना शासन स्थापित करेंगे। यह महाराज पृथु अग्निदेव के समान होंगे। अग्नि जैसे लकड़ियों की रगड़ से उत्पन्न होता है, वैसे ही यह भी वेनरूप अरणि ( वह लकड़ी, जिसे रगड़कर आग निकाली जाती थी ) से प्रकट हुए है। यह अग्नि के समान ही तेजस्वी है। शत्रु इनकी आँच नहीं सह सकेंगे। यह पास रहकर भी बहुत दूर रहेंगे; क्योंकि इनके शत्रु इनको छू भी नहीं सकेंगे। कोई इन्हे अपने पौरुष से परास्त नहीं कर पावेगा। यह महाराज वायु के समान गुप्तचरों के द्वारा सबके मन का हाल और सबके सब कार्य देखते रहेंगे। जैसे देह का स्वामी या रक्षक प्राणवायु किसी अवस्था में विकार को नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यह भी अपनी स्तुति अथवा निन्दा से उदासीन रहेंगे। यह साक्षात् धर्मराज ( यमराज ) के समान पक्षपातरहित होकर सबका न्याय करेंगे। यह धर्ममार्ग में स्थित रहकर अपने शत्रु के बेटे को भी अन्याय से दण्ड नहीं देंगे और अपने अपराधी पुत्र को भी अवश्य दण्ड देंगे।

इन महाराज की आज्ञा, सेना अथवा रथ का चक्र मानसाचल तक, अर्थात् जहाँ तक सूर्य की किरणें

---

* यज्ञ से स्वर्ग आदि लोक मिलते हैं, यह परलोक का हित हुआ, और वर्षा भी यज्ञ करने से होती है, उससे अन्न उत्पन्न होता है, जिससे जीविका चलती है, यह इस लोक का हित हुआ।

पहुँचकर जगत् को प्रकाशित करती हैं, अप्रतिहत होगा, नहीं रुकेगा। यह अपने सत्कर्मों से सबको संतुष्ट रक्खेंगे। अतएव अपना मनोरंजन करने के कारण सब प्रजा इन्हें सच्चे अर्थ में अपना राजा कहेगी। कारण, राजा शब्द का अर्थ ही यह है[क]। यह दृढ़व्रत होंगे, अर्थात् जो कुछ करने का व्रत लेंगे, सो अवश्य करेंगे, अपने संकल्प में अटल रहेंगे। यह सत्यवादी, ब्राह्मणों के भक्त, बड़े-बूढ़ों के सेवक, पीड़ितों को शरण देनेवाले या शरणागत के रक्षक, सब प्राणियों का सम्मान करनेवाले, और दीनबन्धु होंगे। पराई स्त्रियों को अपनी माता के समान मानेंगे। अपनी पत्नी को अपना आधा अंग समझकर उससे प्रेम करेंगे। प्रजा को अपने पुत्र के समान जानकर उस पर स्नेह रक्खेंगे। ब्रह्मज्ञानी वेदपाठी ब्राह्मणों के सेवक होंगे। सब शरीरधारियों को अपने प्राणों के समान प्यारे होंगे। अपने सुहृद्गण के आनन्द को बढ़ावेंगे। विषयी जनों से दूर रहकर साधुजनों का संग करेंगे और दुष्टों या अपराधियों के लिए दण्ड हाथ में लिये यमराज के समान भयंकर होंगे।

यह माया के तीनों गुणों के अधीश्वर, निर्विकार, सबके अन्तर्यामी आत्मा, साक्षात् भगवान् विष्णु की कला हैं। परमात्मास्वरूप इनमें यद्यपि मायाकृत अनेकता की प्रतीति साधारण दृष्टि से होती है, तथापि जो तत्त्वज्ञानी पण्डित हैं, वे उस मायारचित अनेकता को अर्थशून्य अर्थात् असत् और अवास्तव समझते हैं। यह राजराजेश्वर पृथुजी अद्वितीय वीर होंगे, उदयाचल तक अखण्ड भूमण्डल का शासन और पालन करेंगे। धनुष चढ़ाये, विजयदायक रथ पर बैठे, सूर्य के समान सर्वत्र विचरण करेंगे। सब स्थानों में वहाँ के राजा और लोकपाल इन्हें उपहार देंगे। उन राजों की पत्नियाँ इन आदिराजा को, इनके हाथ में चक्र का चिह्न देखकर, चक्रपाणि विष्णु मानकर इनके यश का बखान करेंगी। यह महाराज पृथ्वीरूप गऊ को दुहकर अन्न प्राप्त करेंगे। यह प्रजा की जीविका का उपाय करनेवाले साक्षात् प्रजापति होंगे। यह इन्द्र के समान लीलापूर्वक अपने धनुष की नोक से पहाड़ों और टीलों को तोड़-फोड़कर पृथ्वी को समतल, गाँव और नगर बसाने के योग्य बना देंगे। सिंह जिस प्रकार अपनी पूँछ उठाकर जब वन में विचरता है, तब और जीव इधर-उधर छिप रहते हैं, उसी प्रकार जब यह अपना आजगव धनुष तानकर पृथ्वीमण्डल में घूमेंगे, तब दुष्ट लोग इनके असह्य प्रताप से डरकर इधर-उधर छिप जायँगे। सरस्वती नदी जहाँ से प्रकट हुई है, वहाँ यह सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे। अन्तिम यज्ञ में यह सोचकर कि "सौ यज्ञ पूर्ण होने पर यह भी मेरे समान इन्द्र हो जायँगे" यज्ञ में विघ्न डालने के लिए पुरन्दर इनके यज्ञ के घोड़े को हर ले जायँगे। फिर अपने नगर में आने पर राजभवन के उपवन में भगवान् सनत्कुमारजी से इनकी भेंट होगी। उनकी आराधना करने से इन्हें वह विशुद्ध निर्मल ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे ब्रह्म का लाभ होता है। इन महाराज पृथु का पराक्रम सर्वत्र प्रसिद्ध होगा। यह जब अपनी राजधानी को लौटेंगे, तब मार्ग मे लोग इनके पराक्रम की प्रशंसा और चर्चा करेंगे। उसे सुनकर यह सन्तुष्ट होंगे। यह दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्त्ती राजा होंगे। संसार में इनकी आज्ञा अप्रतिहत होगी। यह अपने तेज से लोगों को सतानेवाले दुष्टों को नष्ट कर देंगे अथवा लोगों की व्यथा को दूर करेंगे। बड़े-बड़े देवता और असुर इनके महाप्रभाव का बखान करेंगे। यह सच्चे पृथ्वीपति होंगे।

---

[क] राजा प्रकृतिरञ्जनात्।

# सत्रहवाँ अध्याय

## पृथु का पृथ्वी को मारने के लिए उद्यत होना और पृथ्वी का पृथु की स्तुति करना

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वन्दीजनों के मुख से अपने गुणों और कर्मों का वर्णन सुनकर महाराज थु ने प्रसन्नतापूर्वक उनका सत्कार और अभिनन्दन किया। जिसकी जो कामना थी, उसे पूरा किया।

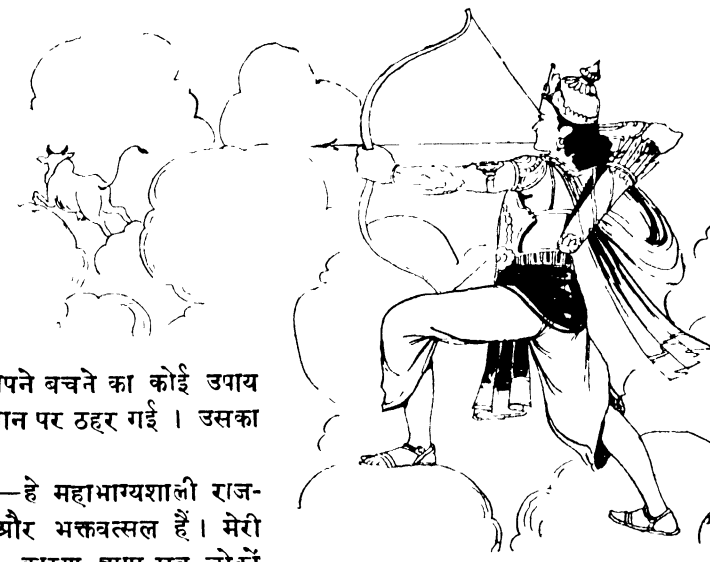
इसके उपरान्त ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोगों को, नौकर-चाकरों को, मंत्री और पुरोहित ादि को, गाँव और पुर में रहनेवाली प्रजा को, तेली, तमोली आदि जातियों के लोगों को तथा नाते और रिवार के भृत्यों को महाराज ने आदर-सत्कार और धन-रत्न-वस्त्र-आभूषण आदि देकर सन्तुष्ट किया।

यहाँ विदुरजी ने प्रश्न किया कि भगवन्, पृथ्वी का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं था, यह आपके बतलाने मुझे विदित हो गया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि पृथ्वी ने गऊ का रूप क्यों रक्खा? महाराज जब गोरूपधारिणी पृथ्वी को दुहा था, तब बछड़ा कौन बना और किस पात्र में क्या दुहा गया? यह थ्वी तो जन्म से ही ऊँची-नीची है। उसे पृथुजी ने समतल कैसे बनाया? पृथुजी के अश्वमेध में घोड़े ो इन्द्रदेव कैसे और क्यों ले गये? हे ब्रह्मन्, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी भगवान् सनत्कुमारजी से माया और ह्म का ज्ञान पाकर राजर्षि महाराज पृथु किस पद को प्राप्त हुए? इनके सिवा पवित्र कीर्त्तिवाले भगवान् रि के अवतार महाराज पृथु की और भी जो पवित्र कथाएँ या चरित्र हों, सो सब आप मुझ अनुरक्त क्त से कहिए। आप भगवान् के परम भक्त हैं और मुझे हरि के चरित्रों पर श्रद्धा और प्रेम है। इसलिए ृपा करके उन हरि की कथाएँ मुझसे कहिए, जिन्होंने वेन के पुत्र होकर इस पृथ्वी का दोहन किया।

सूतजी शौनकजी से कहते हैं—वासुदेव के चरित्र कहने के लिए जब विदुर ने इस प्रकार प्रेरणा की, च प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करके मैत्रेयजी यों कहने लगे। मैत्रेय ने कहा—ब्राह्मणों ने महाराज पृथु का भिषेक करके उन्हें राजा बनाया और उनसे प्रजापालन करने के लिए कहा, तब भूखों मर रही प्रजा नकी सेवा में उपस्थित हुई। उस समय महाअकाल पड़ा हुआ था। इन्द्र जल की वर्षा नहीं कर रहे थे और जो अन्न धरती में बोया गया, वह उसी में रह गया। फल यह हुआ कि अन्न न उत्पन्न होने के कारण ारों ओर लोग भूखों मरने लगे, हाहाकार मच गया। अस्तु। प्रजा ने आकर कहा—महाराज, वृक्ष जैसे पने खोल में लगी हुई आग से जलते हैं, वैसे ही हम भी अन्न न मिलने के कारण पेट की ज्वाला से ल रहे हैं। आप शरणागतों के रक्षक इस समय हमारे स्वामी और अन्नदाता हुए हैं; यह जानकर हम आपकी शरण में आये हैं। हे नरदेव-देव, जब तक आपकी अन्नहीन प्रजा भूख की मार से मर नहीं जाती, ब तक अर्थात् उसके पहले ही आप उसे बचाने का यत्न कीजिए, हम भूखों को अन्न दीजिए। कारण, यह कर्त्तव्य राजा का ही है। प्रजा की जीविका का प्रबन्ध आपको करना चाहिए।

हे विदुर, अपनी भूखी प्रजा के इस करुण विलाप को सुनकर पृथुजी बड़ी देर तक विचार करते हे कि यह परिस्थिति उत्पन्न होने का कारण क्या है और किस प्रकार यह अकाल दूर किया जा सकता है। विचार करने से उन्हें प्रजा के यों भूखों मरने का कारण विदित हो गया। इस धरती ने ही सब अन्नों के बीज लील लिये है और इसी कारण सब प्रजा भूखों मर रही है, यह निश्चय करके धनुष हाथ में लेकर क्रोधित पृथु महाराज ने पृथ्वी को मारने के लिए वैसे ही उस धनुष पर बाण चढ़ाया, जैसे त्रिपुर को भस्म

करने के लिए कुपित शंकर ने धनुष पर बाण चढ़ाया था। पृथुजी को धनुष पर बाण चढ़ाते देखकर पृथ्वी भय से काँपने लगी। वह अपने बचाव के लिए गऊ का रूप रखकर सिंह की खेदी हुई मृगी के समान भागी। वेन के पुत्र महाराज के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे। वह धनुष पर बाण चढ़ाये उसके पीछे दौड़े। जहाँ पृथ्वी जाती थी, वहीं उसके पीछे पृथुजी भी जाते थे। पृथ्वी देवी सब दिशाओं में, आग्नेय आदि विदिशाओं में, स्वर्ग में, मनुष्यलोक में, अन्तरिक्ष में, अर्थात् जिस लोक या स्थान में गई, वहीं उसे धनुष पर बाण चढ़ाये महाराज पृथु अपने पीछे आते देख पड़े। जैसे मृत्यु से बचकर प्राणी कहीं नहीं जा सकते, वैसे ही महाराज पृथु से अपने बचने का कोई उपाय न देखकर डरी हुई पृथ्वी एक स्थान पर ठहर गई। उसका हृदय धड़क रहा था।



ठहरकर पृथ्वी ने कहा—हे महाभाग्यशाली राजराजेश्वर, आप धर्म के ज्ञाता और भक्तवत्सल हैं। मेरी भी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। कारण, आप सब लोकों का पालन और रक्षा करने के लिए ही राजा बने हैं। देखिए, मैंने कोई अपराध नहीं किया है। मैं स्त्रीजाति और दीन हूँ। फिर आप मुझे मारने के लिए क्यों उद्यत हैं। आपको सब लोग धर्मज्ञ कहते हैं। स्त्री का वध शास्त्र में निषिद्ध और अधर्म है। महाराज, साधारणतः देखा जाता है कि स्त्रियों से कोई अपराध बन पड़ने पर भी उन पर पुरुष हाथ नहीं उठाते। फिर आप तो महाराज, दयालु और दीनवत्सल हैं। आप कैसे ऐसा अधर्म करेंगे? हे राजन, इसके सिवा मैं एक सुदृढ़ नाव के समान जल के ऊपर स्थित हूँ और मेरे ही ऊपर यह सब चराचरजगत् है। मुझे नष्ट कर दीजिएगा तो इस सारे विश्व को जल के ऊपर किस प्रकार बसाइएगा? आप स्वयं भी कहाँ रहिएगा?

पृथ्वी के यह वचन सुनकर कुपित महाराज पृथु ने कहा—हे भूमि, मैं अवश्य ही तेरा नाश कर दूँगा; क्योंकि तू मेरे शासन को नहीं मानती। यज्ञ में अपना भाग (देवरूप से) तू ग्रहण करती है, परन्तु अन्न नहीं देती। तेरा यही अक्षम्य अपराध है। तू गोरूप धारण किये है। तू अन्न आदि वस्तुओं को नित्य खाती जाती है और दुग्धरूप में वही अन्न उत्पन्न करके हमको नहीं देती। तू अपराधी है। अपराधी को दण्ड देने में राजा की निन्दा नहीं हो सकती। राजा का तो यही कर्त्तव्य है। तू मन्दमति है, इसी से मेरी अवहेला करके तू उन अन्नों को अपने भीतर छिपाए हुए है, जिन्हें ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदि में प्रजा के भरण-पोषण के लिए उत्पन्न किया था। भूख की सताई यह मेरी प्रजा विलाप कर रही है। मैं अभी अपने पैने बाणों से तेरे अंगों को छिन्न-भिन्न करके तेरे मांस से इन सबकी भूख की ज्वाला शान्त करूँगा। चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो और चाहे नपुंसक, कोई भी हो, जो अधम केवल अपना पेट पालता है, प्राणियों पर दया नहीं करता, उस अधम को मारने में राजा को कोई पाप नहीं होता। तुझे बड़ा घमंड है। तू अपने

दुष्ट कर्म पर लज्जित न होकर इस घमंड में है कि तू ही सब प्रजा का आधार है। तूने माया से अपने बचाव के लिए गऊ का रूप रख लिया है। मैं तुझे नहीं छोड़ूँगा। अपने बाणों से तुझे तिल-तिल काटकर अपने योगबल से जल के ऊपर ही इन सब प्रजाओं को बसाऊँगा।

हे विदुर, यों कराल काल के समान भयंकर क्रोध में भरे हुए महाराज पृथु को देखकर और उनके वचन सुनकर पृथ्वी काँपने लगी। वह प्रणत होकर हाथ जोड़कर नम्रभाव से यों कहने लगी। पृथ्वी ने कहा—अपने मायाबल से अनेक प्रकार के रूप रखनेवाले सगुणरूप परमेश्वर को मैं प्रणाम करती हूँ। यद्यपि माया के द्वारा आप गुणमय प्रतीत होते हैं, तथापि वास्तव में निर्गुण रूप ( अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म ) का अनुभव सदा करते रहने के कारण आपमें द्रव्य ( शब्द आदि विषय ), क्रिया ( इन्द्रिय ) और कारक ( इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता ) अर्थात् अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव का अहंकार और उससे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि विकार भी नहीं हैं। जिन जगत् के विधाता ने मुझे सब प्राणियों के रहने का स्थान बनाया है, जिनकी आज्ञा से मैं चराचरजगत् को अपने ऊपर धारण किये हुए हूँ, वही स्वतन्त्र ईश्वर आप जब धनुष पर बाण चढ़ाये हुए मुझे मारने के लिए उद्यत हैं, तब भला मैं अब किसकी शरण में जाऊँ ? भगवन, आप धर्म के रक्षक हैं, इसलिए अपने प्रजापालन-रूप धर्म को छोड़कर मुझे मारने के लिए उद्यत होना आपको उचित नहीं। आपने ही अपनी जीवविषयिणी अगम्य माया के द्वारा इस चराचर विश्व को उत्पन्न किया और उसी माया से जगत् का पालन कर रहे हैं। फिर आप मुझे मारने के लिए क्यों उद्यत हैं ? इसमें संदेह नहीं कि भगवान् की दुर्जय माया में मोहित लोग ईश्वर की इच्छा को नहीं जान पाते। वह ईश्वर स्वयं एक होकर भी माया के संयोग से अनेक प्रतीत होते हैं। वह ब्रह्माजी को अपने से उत्पन्न करके उनके द्वारा यह चराचर सृष्टि कराते हैं। पंचतत्त्व, इन्द्रिय, अधिष्ठाता देवता, बुद्धि और अहंकार, इन अपनी शक्तियों से आप इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आपकी ये उत्कट शक्तियाँ आप ही में निरुद्ध रहती हैं। परम पुरुष और जगत् के विधाता आपको मैं प्रणाम करती हूँ। हे अज, अपने रचे हुए इस पंचतत्त्व, इन्द्रिय और अंतःकरणमय विश्व को स्थिरभाव से स्थापित करने के लिए ही आदिवराह अवतार लेकर रसातल से जल के भीतर से आपने मेरा उद्धार किया था। वही मुझ पृथ्वी का उद्धार करनेवाले आदिवराह आप इस पृथुरूप से प्रकट हुए हैं। जल के ऊपर नाव के समान रक्खी हुई मुझ पृथ्वी के ऊपर बसे हुए प्रजाजन की रक्षा के लिए अब आप इस वीर-मूर्त्ति से अन्नरूप दुग्ध के वास्ते अपने उग्र और पैने बाणों से मुझे मार डालना चाहते हैं ! यथार्थ बात यह है कि ईश्वर की गुणमयी माया से मोहित मुझ सरीखे लोग ईश्वर के कार्यों की कौन कहे, ईश्वर के भक्तों की भी इच्छा अथवा महिमा का अनुमान भी नहीं कर पाते ! अतएव उन जितेन्द्रिय साधु पुरुषों का यश बढ़ानेवाले भगवद्भक्तों को भी ईश्वर के समान पूजनीय जानकर मैं प्रणाम करती हूँ।

---

# अठारहवाँ अध्याय

## पृथ्वी-दोहन

मैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथु के होंठ क्रोध से फड़क रहे थे। पृथ्वी ने उनकी इस प्रकार स्तुति की और फिर अपने मन में धैर्य धारण करके उसने यों कहा—हे प्रभो, अपने इस क्रोध को शान्त करके, जो मैं कहती हूँ उसे सुनिए। चतुर जन भौंरे की तरह सबसे सारांश ले लेते हैं। तत्त्वदर्शी मुनियों ने इस लोक और

परलोक में मनुष्यों के कल्याण के लिए खेती, अग्निहोत्र आदि अनेक उपाय ढूँढ़ निकाले हैं। उन्होंने आप भी उन उपायों से इस लोक में जीविका और परलोक में सद्गति पाई है। उनके पीछे उत्पन्न होनेवाले जो लोग उन पूर्वजों के निकाले हुए उपायों को श्रद्धा के साथ काम में लाते हैं, वे सहज में अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करते हैं। किन्तु जो उन उपायों को काम में नहीं लाता, उल्टे उनका निरादर करके काम करता है, वह आप चाहे जितना बड़ा पण्डित हो, पर उसका काम कभी सफल नहीं होता। वह जितनी बार कार्यारंभ करता है, उतनी ही बार उसे सफलता नहीं मिलती। महाराज, मैंने देखा कि सृष्टि के पहले भगवान् ब्रह्माजी ने जिन अन्नों और ओषधियों को उत्पन्न किया था, उन्हें अब नास्तिक असाधुजन खाये जाते हैं; राजा लोग, जिनका धर्म प्रजापालन है, मेरा पालन नहीं करते, मेरी और अपने धर्म की अवहेला करते हैं; सब प्रजा चोरों के समान हो रही है; वर्णाश्रम-धर्म का लोप हो रहा है। तब मैंने भविष्य में होनेवाले यज्ञों के लिए पवित्र ओषधियों और अन्नों को अपने पेट में छिपा लिया। अर्थात् इसलिए मैं दोषी नहीं हूँ। इसमें संदेह नहीं कि वे ओषधियों या अन्नों के बीज बहुत दिनों तक मेरे पेट में पड़े रहने के कारण क्षीण हो गये होंगे। अब आप उन्हें मेरे पेट से निकालने का कोई उपाय सोचकर अपना कार्य सिद्ध कीजिए। यों मुझे मार डालने से क्या लाभ होगा? हे वीरवर, मैं आपसे संतुष्ट हूँ। हे महाबाहु, आप प्रजापालक और यथार्थ राजा हैं। अपनी इच्छा अथवा रुचि के अनुसार आप बछड़ा, दुहनेवाला और दोहनी ठीक कीजिए। मैं प्राणियों को अभीष्ट, बलवर्द्धक अन्न दूँगी। यदि आप मुझसे अन्न लेना चाहते हैं तो उसका यही उपाय है। इसके सिवा मेरी एक प्रार्थना और है। वह यही कि मुझे सर्वत्र इस प्रकार समतल कर दीजिए कि बरसात का पानी अन्य ऋतुओं में भी मेरे सब स्थानों में भरा रहे। हे महाराज, आपका कल्याण हो।

महाराज पृथु ने पृथ्वी के ये प्रिय और हितकर वचन सुनकर उसका कहना मान लिया। चतुर लोग सर्वत्र इसी भाँति सारांश ग्रहण कर लेते हैं।

इसके उपरान्त महाराज पृथु ने स्वायंभुव मनु को बछड़ा बनाकर पाणि अर्थात् हाथ के पात्र में धान यव आदि सब ओषधियों अर्थात् अन्नों को दुह लिया। उनके बाद और सबने महाराज पृथु के वशीभूत पृथ्वी को दुहकर इच्छानुसार वस्तुएँ प्राप्त कीं। ऋषियों ने बृहस्पतिजी को बछड़ा बनाकर वाणी आदि इन्द्रियों के पात्र में वेदरूप पवित्र दूध पृथ्वी से दुह लिया। देवगण ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सोने के पात्र में अमृत, वीर्य (मन की शक्ति), ओज (इन्द्रियों की शक्ति), और बल (शरीर की शक्ति) को दुह लिया। दैत्यों, दानवों और असुरों ने असुरों में श्रेष्ठ प्रह्लाद को बछड़ा बनाकर लोहे के पात्र में सुरा और आसव (ताड़ी) को दुह लिया। गन्धर्वों और अप्सराओं ने विश्वावसु नाम के गन्धर्व को बछड़ा बनाया और कमल के पात्र में गन्धर्वों की गानविद्या, वाणी की मधुरता और शरीर की सुन्दरतारूप दूध दुह लिया। हे विदुर, श्राद्ध के देवता पितरों ने श्रद्धा के साथ अर्यमा (पितर) को बछड़ा बनाकर कच्ची मिट्टी के पात्र में कव्य (पितरों को दिया जानेवाला अन्न) दुह लिया। सिद्धों और विद्याधरों ने कपिल भगवान् को बछड़ा बनाया और आकाश के पात्र में अणिमा आदि सिद्धियों और अन्तर्द्धान आदि खेचरी विद्याओं को दुह लिया। किन्नर, किम्पुरुष आदि अन्य मायावियों ने मय दानव को बछड़ा बनाकर उसी आकाश के पात्र में अनेक मायाओं को दुह लिया। मायाएँ संकल्प (इरादा) करते ही प्रकट होती हैं। जो प्राणी अलक्षित रूप से घूमते-फिरते हैं, और आश्चर्यमय हैं, वे ही इन मायाओं के अधिकारी हैं, अर्थात् ये मायाएँ उन्हीं की संपत्ति है। यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि मांसाहारियों ने भूतनाथ रुद्र को बछड़ा बनाकर कपाल (मनुष्य की खोपड़ी) में रुधिररूप दूध दुह लिया। अहि (बिना फन के साँप), बिच्छू बिसखोपड़, भिड़ आदि विषैले जीवों, सर्पों और नागों आदि ने तक्षक को बछड़ा बनाकर बिल के पात्र

में अर्थात् मुख में विषरूप दूध दुह लिया। सब पशुओं ने बैल को बछड़ा बनाकर वन के पात्र में घासरूप दूध दुह लिया। बड़ी-बड़ा दाढ़ावाले मांसाहारी पशुओं ने सिंह को बछड़ा बनाकर अपने शरीर के पात्र में मांसरूप दूध दुह लिया। सब पक्षियों ने गरुड़ को बछड़ा बनाकर वन-पात्र में कीड़े-पतंगे और फलरूप अपना आहार दुह लिया। सब वृक्षों ने बरगद के पेड़ को बछड़ा बनाकर वन-पात्र में भिन्न-भिन्न रसरूप दूध दुह लिया। सब पहाड़ों ने हिमवान को बछड़ा बनाकर अपने शिखरों के पात्र में अनेक धातुओं ( गेरू, हरताल आदि ) को दुह लिया। इस प्रकार अपने समूह में जो मुखिया था, उसे बछड़ा बनाकर सभी ने महाराज पृथु की दुही हुई कामधेनुरूप भूमि से अपने-अपने पात्र में अलग-अलग अनेक प्रकार का दूध दुह लिया। तात्पर्य यह कि इस प्रकार पृथु आदि सबने भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार का अपना अन्न ( अर्थात् जीविका ) दुह लिया।

तब राजाधिराज पृथु पृथ्वी के ऊपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रेम के मारे भूमि को अपनी दुहिता अर्थात् कन्या बना लिया। तभी से इसका नाम पृथ्वी अर्थात् पृथु की कन्या पड़ा। समर्थ महाराज पृथु ने इसके उपरान्त पृथ्वी की प्रार्थना के अनुसार अपने धनुष की नोक से पहाड़ों के शिखरों और टीलों को तोड़-फोड़कर तथा गड्ढों को पाटकर प्रायः संपूर्ण भूमण्डल को समतल कर दिया। प्रजाओं के अन्नदाता पिता के समान भगवान् पृथु ने जगह-जगह प्रजाओं के रहने के लिए यथायोग्य नीचे लिखे स्थान बना दिये। यथा—गाँव, पुर (नगर), पत्तन (बड़े नगर), अनेक प्रकार के दुर्ग (क़िले)*, घोष (अहीरों के गाँव), व्रज ( गउओं के रहने के स्थान ), शिविर ( सेना के डेरे, छावनी ), आकर ( सोने-चाँदी की खानें ), खेट ( किसानों के गाँव ), खर्वट ( पहाड़ों पर बसे हुए गाँव ) आदि।

महाराज पृथु के पहले यह पुर, गाँव आदि को अलग-अलग कल्पना नहीं की गई थी। सब प्रजा अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ निर्भय होकर निवास करती थी।

---

# उन्नीसवाँ अध्याय

## राजा पृथु का अश्वमेध यज्ञ करना

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इसके उपरान्त महाराज पृथु ने ब्रह्मावर्त्त† में, जहाँ पूर्ववाहिनी सरस्वती हैं और जिसे स्वायंभुव मनु का क्षेत्र कहते हैं, सौ अश्वमेध यज्ञ करने की दीक्षा ली। सौ अश्वमेध करके इन्द्रासन प्राप्त करनेवाले इन्द्र ने सोचा कि महाराज पृथु मेरे समान इन्द्रपद के अधिकारी हो जायगे तो मुझसे भी बढ़कर इनकी कीर्त्ति होगी; इसलिए मैं इनके सौ यज्ञ पूरे न होने दूँगा। इस प्रकार इन्द्र उनके यज्ञों के महान् उत्सव को न सह सके। सचमुच ही महाराज पृथु का यज्ञ इन्द्र के यज्ञों से बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ। कारण, महाराज पृथु के यज्ञ में सर्वव्यापक, जगद्गुरु, सारे संसार के स्वामी, यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु ने साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिये। विष्णु भगवान के साथ ही भगवान ब्रह्मा और भगवान् शंकर

---

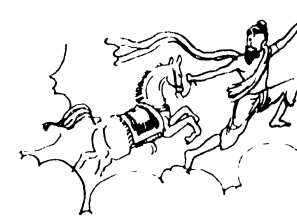
* बृहस्पति ने कई प्रकार के किले बतलाये हैं। जैसे पानी का क़िला, पहाड़ी क़िला, जंगल का क़िला इत्यादि।

† देवनदी सरस्वती और दृषद्वती के बीच में जो भूमि है, वहाँ ब्रह्मावर्त्त है। यथा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥

भी पधारे। गंधर्वगण, मुनिगण, अप्सराएँ और अनुचरों सहित सब लोकपाल भी भगवान् के साथ उनकी स्तुति करते हुए आए। सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, यक्ष, सुनन्द, नन्द आदि हरि के श्रेष्ठ पार्षद और कपिलदेव, नारद, दत्तात्रेय, सनत्कुमार आदि योगेश्वर तथा अन्यान्य सेवक भी हरि के साथ उस यज्ञ में उपस्थित हुए। पृथ्वी ने यज्ञ के लिए हवि देनेवाली कामधेनु का रूप रखकर यजमान राजा पृथु की इच्छा के अनुसार सभी पदार्थ दिये। सब नदियों में जल की जगह ऊँख, दाख आदि के मधुर रस, दूध, दही, घी, मक्खन आदि गोरस और पीने के पदार्थ बहने लगे। वृक्ष बहुविस्तृत होकर असंख्य मीठे फल देने लगे। उनसे मधु बहने लगा। सब समुद्रों ने अनेकानेक रत्न दिये। पर्वतों ने चार प्रकार का आहार* दिया। सब लोकों के निवासी और सब लोकपाल भाँति-भाँति की भेंटें लेकर उपस्थित हुए।

देवतों के राजा इन्द्र विष्णु भगवान् के भक्त महाराज पृथु के ऐसे असाधारण ऐश्वर्य, प्रताप और अभ्युदय को न देख सके। वह ईर्ष्या के वशीभूत होकर यज्ञ में विघ्न डालने के विचार से वहाँ उपस्थित हुए। राजा पृथु के निन्नानवे यज्ञ निर्विघ्न पूरे हो चुके थे। अन्तिम यज्ञ का आरम्भ करके राजा पृथु जिस समय यज्ञ-पुरुष भगवान् विष्णु की पूजा कर रहे थे, उसी समय इन्द्र छिपकर यज्ञ के घोड़े को चुरा ले गये। भगवान् अत्रि मुनि आचार्य थे। उन्होंने देखा, इन्द्र अपने बचाव के लिए पाखण्ड-वेष धारण किये घोड़े को लिये वेग से आकाशमार्ग में जा रहे थे। पाखण्ड वही है, जिससे अधर्म में धर्म का भ्रम हो।



अत्रिजी ने उसी समय पृथुजी के महारथी पुत्र को आज्ञा दी कि देखो, वह इन्द्र यज्ञ का घोड़ा लिये भागे जा रहे हैं। जाओ, इन्द्र को मारकर घोड़ा ले आओ।





राजकुमार क्रोध करके "खड़ा रह, खड़ा रह" कहते हुए इन्द्र के पीछे दौड़े। किन्तु उन्होंने देखा, इन्द्र सिर पर जटा धारण किये, शरीर भर में भस्म रमाये, मुनियों के वेष में हैं, इसी-लिए वह इन्द्र के ऊपर बाण चलाने में हिचके। राज-कुमार को बाण न चलाते देखकर अत्रि मुनि ने फिर उनसे कहा—भैया, यह मुनि नहीं, तुम्हारे पिता के यज्ञ

---

* भक्ष्य (चबाकर खाया जानेवाला), भोज्य (कौर-कौर करके खाया जानेवाला), लेह्य (चाटकर खाया जानेवाला) और चोष्य (चूसा जानेवाला)।

में विघ्न डालने के लिए उद्यत देवाधम इन्द्र है, इसे मारो। अत्रि मुनि के यों कहने पर राजकुमार को फिर क्रोध चढ़ आया। जैसे गिद्धों के राजा जटायु ने रावण का पीछा किया था, वैसे राजकुमार भी आकाश-मार्ग में जल्दी-जल्दी भागे जा रहे इन्द्र के पीछे दौड़े।

जब इन्द्र ने अपने बचने का कोई और उपाय न देखा, तब वह उस पाखण्डवेष के साथ ही घोड़े को भी वहीं छोड़कर अन्तर्द्धान हो गये। वीर राजपुत्र यज्ञपशु को लेकर पिता के यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए। राजपुत्र का यह अद्भुत कर्म देखकर ऋषियों ने उनका नाम विजिताश्व ( अर्थात् घोड़े को जीतनेवाला ) रख दिया।

इसी बीच में इन्द्र ने फिर अपनी माया से अंधकार ( कुहासा ) उत्पन्न कर दिया और उसी में छिपकर यज्ञ के खंभे में सुवर्ण की शृंखला से बँधे हुए घोड़े को शृंखलासहित खोल ले गये। अत्रि ऋषि ने फिर राजकुमार विजिताश्व को दिखलाया कि देखो, वह इन्द्र घोड़ा लेकर शीघ्रता के साथ आकाशमार्ग में जा रहे हैं। वीर राजकुमार फिर इन्द्र के पीछे दौड़े; परन्तु उन्हें हाथ में नरकपाल और खट्वांग लिये देखकर राजकुमार ने उन पर बाण नहीं छोड़ा। अत्रि ने फिर विजिताश्व से कहा कि यह इन्द्र है, इसे मारो। राजकुमार ने क्रोध करके जैसे धनुष पर बाण चढ़ाया, वैसे ही उस पाखण्डवेष को और घोड़े को छोड़कर इन्द्र छिप गये। वीर राजकुमार घोड़े को लेकर यज्ञमण्डप को लौट आये। इसी प्रकार इन्द्र कई बार पाखण्डवेष से घोड़े को हर ले गये और विजिताश्व उसे छीन लाये।

इन्द्र ने जितने निन्दनीय पाखण्डवेष धारण किये, उन्हें थोड़ी बुद्धि के लोगों ने धर्म का चिह्न समझकर ग्रहण कर लिया। घोड़े को हरने के लिए इन्द्र ने जो-जो वेष धारण किये, वे सब पाप के खण्ड अर्थात् चिह्न हैं। इसीसे वे पाखण्ड कहलाये। पृथु के यज्ञ को पूरा न होने देने के लिए इस प्रकार घोड़े का हरण करने में बारम्बार जिन वेषों को इन्द्र ने धारण किया और छोड़ा, उनसे अनेक पाखण्ड-मार्गों की उत्पत्ति हुई और मन्दमति मनुष्यों की प्रवृत्ति उनकी ओर होने लगी। नग्न अर्थात् नंगे रहनेवाले ( दिगम्बर जैन ), लाल या गेरुए कपड़े पहननेवाले ( बौद्ध ) और कापालिक, अघोरी आदि पंथ उन्हीं रूपों से निकले है। वे यथार्थ में धर्म नहीं, उपधर्म ( धर्म-से जान पड़नेवाले पाखण्ड ) है। किन्तु ये वेष देखने में भले जान पड़ते हैं और इन पंथों के लोग बातें बनाने में चतुर होते है, युक्ति-तर्क के प्रयोग में निपुण होते हैं, इसी से लोगों की बुद्धि इस भ्रम में पड़ जाती है कि ये ही धर्म हैं और वे इनमें फँस जाते हैं।

महापराक्रमी महाराज पृथु ने यह जानकर इन्द्र पर बहुत ही कुपित होकर धनुष हाथ में उठा लिया और इन्द्र को मारने के लिए उस पर बाण चढ़ाया। ऋत्विक् ऋषियों ने देखा, पृथुजी इन्द्र को मारने के लिए उद्यत हैं, क्रोध के कारण उनका रूप ऐसा घोर हो रहा है कि कोई उनकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता और उनका वेग असह्य है। तब उन्होंने उन्हें इस यज्ञदीक्षा के विरुद्ध कर्म से निवृत्त करने के लिए यों समझाया।

ऋत्विजों ने कहा—महाराज, आप स्वयं बड़े बुद्धिमान् हैं। यज्ञ की दीक्षा लेने पर यज्ञपशु की हिंसा को छोड़कर और किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिए। शास्त्र में ऐसा ही विधान है। फिर जिस दुष्ट इन्द्र ने आपके यज्ञ में विघ्न डाला है, उसका तेज तो आप की कीर्ति से ही फीका पड़ गया है। उसे मारने के लिए आप क्यों शस्त्र ग्रहण करते हैं? हम लोग आपके अहितचिन्तक ( अर्थात् आपसे शत्रुता करनेवाले ) उस इन्द्र को अपने महाशक्तिशाली अमोघ मंत्रों से बलपूर्वक इन्द्रासन से खींच लाकर अग्निकुण्ड में डाल देंगे, वह भस्म हो जायगा। आप इस निषिद्ध कर्म से निवृत्त होइए।

हे विदुर, महाराज पृथु के ऋत्विक् ऋषियों ने यों कहकर उन्हें निवृत्त किया और वे स्वयं कुपित

हो, स्रुवा हाथ में लेकर इन्द्र को अग्निकुण्ड में गिराने के लिए उद्यत हुए। यह अनर्थ* रोकने के लिए भगवान् ब्रह्माजी वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने ऋत्विजों को रोक दिया।

ब्रह्माजी ने कहा—ऋषियो, यह यज्ञ नाम के इन्द्र हरि का अवतार है †, इस कारण उनका वध तुम्हें न करना चाहिए अथवा उनका वध तुम नहीं कर सकते। यज्ञ करके जिन सब देवगण की पूजा तुम कर रहे हो, वे देवता इन्हीं इन्द्र की कला हैं। ब्राह्मणो, देखो, पृथु के यज्ञ को नष्ट करने के लिए इन्द्र ने जिन अधर्ममय पाखण्डों की सृष्टि की है, उनसे बहुत बड़ी धर्म की हानि हुई है? तात्पर्य यह कि बलवान् और अवध्य इन्द्र से यदि मेल न कर लिया गया तो वह यज्ञ में विघ्न डालने के लिए और पाखण्ड की सृष्टि करेंगे और उससे इसी प्रकार और भी अधिक धर्म की हानि होगी। इसलिए अब इस यज्ञ को अपूर्ण ही रहने दो। इन निन्नानवे यज्ञों से ही महाराज पृथु की कीर्त्ति इन्द्र की कीर्त्ति से बढ़ जायगी।



ब्राह्मणों से यों कहकर उन्हें इन्द्र-वध से निवृत्त करके ब्रह्माजी ने राजा पृथु से कहा—राजन्, तुम मोक्ष-धर्म (निवृत्ति-मार्ग) के ज्ञाता हो, इसलिए इन प्रवृत्ति-मूलक भोगदायक यज्ञों के करने की तुम्हें क्या आवश्यकता है? इतने यज्ञ कर लिये, अब इस अनुष्ठान को बन्द कर दो। महाराज, तुम्हारा कल्याण हो। तुम और इन्द्र, दोनों ही विष्णु भगवान् के रूप हो। इसलिए अपने ही रूप इन्द्र के ऊपर क्रोध न करो। हे महाराज, यज्ञ में विघ्न होने की बात सोचकर आप चिन्ता न करें। श्रद्धापूर्वक मेरे वचन सुनिए। दैव के द्वारा किसी कार्य के नष्ट होने पर जो कोई फिर उस कार्य को करने का विचार करता है, वह उस कार्य में बारम्बार असफल होने पर क्रोध के वश हो मोह को प्राप्त होता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। इन्द्र को इस कार्य से निवृत्त करना कठिन है; क्योंकि देवता हठी होते हैं। देखो, इसी तुम्हारे यज्ञ के कारण इन्द्र ने पाखण्डों की सृष्टि की है और उन पाखण्डों से धर्म की बड़ी हानि हुई है। इस कारण अब यह यज्ञ अपूर्ण ही रहने दो। देखो, तुम्हारे यज्ञ में विघ्न डालने के लिए घोड़े को हरनेवाले इन्द्र ने जिन पाखण्डों की सृष्टि की है, वे मनुष्यों के मन को अपनी ओर खींचकर उन पर अपना अधिकार जमा रहे हैं। इसलिए तुम उधर ध्यान दो। वेन के दुराचार से सांख्ययोग आदि अनेक शास्त्रों और सिद्धान्तों के द्वारा प्रतिपादित

---

* अनर्थ इसलिए कि अमर होने के कारण इन्द्र न मरे तो ब्रह्मतेज निष्फल हुआ, और इन्द्र मारे गये तो उनका अमर होना झूठा ठहरा।

† जैसा कि पीछे कह आये हैं कि आकूति के गर्भ से रुचि प्रजापति के यज्ञ नाम का हरि का सातवाँ अवतार हुआ। स्वायंभुव मन्वन्तर में यही यज्ञ भगवान् इन्द्र हुए।

सत्य सनातनधर्म लुप्तप्राय हो चला था। उसी की रक्षा करने के लिए विष्णु भगवान् की कला आप वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं। हे प्रजापति, इस जगत् के कल्याण और अभ्युदय के लिए ही विश्व की सृष्टि करनेवाले कश्यप आदि ऋषियों ने तुमको उत्पन्न किया है। इसलिए तुम प्रजापालन और धर्म की रक्षा करके उनकी अभिलाषा को पूर्ण करो। अधम पाखण्डमार्गों की सृष्टि करनेवाली यह इन्द्र की माया लोगों का बड़ा अनिष्ट कर रही है। इसलिए यह यज्ञ पूरा करने का हठ छोड़कर इस प्रचण्ड पाखण्डपथ की इतिश्री कर दो अर्थात् अब यह आगे बढ़ने का अवसर न पावे।

लोकगुरु ब्रह्मा की इस आज्ञा को महाराज ने मान लिया और यज्ञ बंद करके प्रीतिपूर्वक इन्द्र से मित्रता कर ली। इसके उपरान्त अवभृथ-स्नान कर चुकने पर वरदानी सब देवतों ने यज्ञ में की गई अपनी पूजा से प्रसन्न होकर महाराज को अनेक वर दिये। जिनके वाक्य कभी मिथ्या नहीं होते, उन सत्यवादी ब्राह्मणों को महाराज ने श्रद्धा के साथ दक्षिणा दी और अनेक प्रकार से उनका आदर-सत्कार किया। उन्होंने भी आदिराजा पृथु पर प्रसन्न होकर उन्हें अनेकों शुभ आशीर्वाद दिये।

ब्राह्मणों ने महाराज से कहा—हे आदिराज, आपने यज्ञ में आये हुए देवता, ऋषि, पितृगण तथा अन्य सब मनुष्यों का आदर-सत्कार किया। धन देकर, सम्मान करके आपने सबको सन्तुष्ट कर दिया।

# बीसवाँ अध्याय

## विष्णु भगवान् का पधारना और महाराज पृथु को उपदेश देना

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—यज्ञ के स्वामी, यज्ञरूप विष्णु भगवान् भी अपने ही अंश इन्द्र को साथ लेकर पृथु की यज्ञशाला में पधारे। यज्ञ में पूजित और प्रसन्न होकर भगवान् ने राजा पृथु से यों कहा। नारायण ने कहा—राजन्, यह इन्द्र तुम्हारे निकट अपराधी हैं; क्योंकि इन्होंने विघ्न डालकर तुम्हारे सौ अश्वमेध नहीं पूर्ण होने दिये। परन्तु अब यह तुमसे अपना अपराध क्षमा करने की प्रार्थना करते हैं। इसलिए तुमको इन्हें क्षमा कर देना चाहिए। हे महाराज, पुरुषोत्तम, साधु और बुद्धिमान् लोग किसी से द्रोह नहीं रखते। वे जानते हैं कि यह शरीर आत्मा नहीं है, इसीलिए देहाभिमान के वश नहीं होते और न किसी को अपना शत्रु ही समझते हैं; क्योंकि आत्मा तो सबमें एक ही है। तुम सरीखे ज्ञानी लोग भी जो देवमाया में मोहित हो जायँ तो यही कहना चाहिए कि बहुत दिनों तक ज्ञान और अवस्था में बड़े लोगों की सेवा करने से कुछ फल नहीं होता—वह केवल कोरा श्रम ही है। जो यह ज्ञान रखता है कि अविद्या अर्थात् अपने रूप को भूलकर कामना के वशीभूत हो कर्म करने से उसका फल भोगने के लिए शरीर की प्राप्ति होती है, वह आत्मज्ञानी है; वह देहाभिमान नहीं रखता और न देह-गेह आदि में आसक्त होता है। ऐसा देहाभिमान-शून्य आत्मज्ञानी पंडित इसी अनित्य शरीर से उत्पन्न अथवा इससे संबंध रखनेवाले पुत्र, धन, स्त्री, भवन आदि पदार्थों में "मैं हूँ, मेरा है", ऐसा अभिमान कैसे कर सकता है? देखो, यह आत्मा देह से भिन्न वस्तु है। आत्मा एक, स्वयंप्रकाशमान (चैतन्य), शुद्ध, निर्गुण, गुणों का आधार, सर्वव्यापी, अनावृत (मुक्त) और साक्षी है और शरीर इसके विपरीत बालक-युवक-वृद्ध-स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि भेदों से अनेक प्रकार का है, मलिन है, जड़ है, सगुण है, अपने कारणरूप गुणों के आश्रित है, एकदेशस्थ है, गृह आदि से आवृत और दृश्य वस्तु है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार शरीर में स्थित आत्मा का ज्ञान हो जाता है, वह देहधारी होकर भी

देह के गुणों अर्थात् विकारों में लिप्त नहीं होता। कारण, वह ब्रह्मलीन हो जाता है। जो कोई कोई कामना न रखकर श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है, उसका मन धीरे-धीरे प्रसन्न अर्थात् शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार मन के शुद्ध होने पर वह सब माया के गुणों से मुक्त होकर सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है अर्थात् उसके निर्मल अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान का उदय होता है। उस समय वह परम शान्ति का आनन्द पाता है। इसी शान्ति (अर्थात् तटस्थ साक्षीरूप से अवस्थिति) को ब्रह्म, कैवल्यमोक्ष या मेरा परमधाम कहते हैं। सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से हीन उदासीन अवस्था ही यथार्थ शान्ति या मोक्ष है। यह आत्मा उसी उदासीन अवस्था में साक्षीरूप से स्थित है, और देह, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन का अध्यक्ष अथवा संचालक है। जिसने यह ज्ञान पा लिया है, वही कल्याणरूप मोक्ष पाता है। ऐसे ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषों को यह ज्ञान हो जाता है कि यह शरीर पंचतत्त्व, दस इन्द्रिय, उनके अधिष्ठाता देवता और चेतना अर्थात् चिदाभास का संग्रह है और आत्मा से भिन्न है। यह शरीर ही उत्पन्न या नष्ट होता है, आत्मा नहीं। वे मुझमें मन लगानेवाले अनन्य भक्त संपत्ति या विपत्ति में आनन्द अथवा शोक नहीं मनाते। हे वीर, तुम भी ज्ञानी हो, इसलिए सुख और दुःख को समान मानकर उनके प्रति उदासीन भाव रक्खो। "यह मुझसे उत्तम, मध्यम, या अधम है" यह भेद-भावना छोड़कर सबको समदृष्टि से देखो। इन्द्रियोंसहित अन्तः-करण को अपने वश में रक्खो और मेरे दिये हुए अमात्य, मंत्री आदि सहायकों के साथ भूमण्डल की रक्षा करो। प्रजा का पालन करना ही राजा का कल्याणकारी प्रधान धर्म है। वह परलोक में प्रजा के पुण्य का छठा हिस्सा भोग करता है। किन्तु जो राजा प्रजा से 'कर' तो लेता है, पर उसकी रक्षा नहीं करता, वह प्रजा के पाप का भागी होता है और प्रजा अपने दिये हुए कर के बदले में उस राजा के पुण्य का फल ले लेती है। इस प्रकार अपने पूर्वजों के द्वारा पालित प्रजापालन-धर्म का आचरण करने से तुम अनायास मोक्ष भी पा सकोगे। श्रेष्ठ ऋषिगण राजा के इसी धर्म का अनुमोदन करते हैं और यही धर्म परम्परा से चला आ रहा है। तुम प्रधान रूप से इसी धर्म का पालन करते हुए इसके साथ ही अर्थ और काम का भी सेवन करो। तुम पर प्रजा का प्रेम और श्रद्धा इसी से बढ़ेगी। इस प्रकार पृथ्वी का पालन करते रहने से थोड़े ही दिनों मे तुम्हे अपने भवन में ही आये हुए सनकादिक सिद्ध परमहंसों के दर्शन मिलेंगे। हे राजेन्द्र, मैं तुम्हारे क्षमा आदि गुण और निर्मत्सरता आदि सुन्दर स्वभाव देखकर तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, इसलिए तुम मुझसे कोई अभिलषित वरदान माँगो। लोग योग, याग, तपस्या आदि उपायों से मुझे सहज में नहीं पा सकते। मैं तो केवल समदर्शी-भाव के वश हूँ।



मैत्रेयजी महाराज कहते हैं—विश्वविजयी पृथु राजा ने जगन्नाथ भगवान् विष्णु के उपदेश को मन

लगाकर सुना और उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। अपने कर्म से लज्जित होकर पैर पकड़ने के लिए उद्यत इन्द्र को महाराज पृथु ने प्रेमपूर्वक बीच ही में रोककर गले से लगा लिया और वैरभाव त्याग दिया। तदनन्तर महाराज पृथु ने विश्वरूप विष्णु भगवान् की पूजा की और भक्ति की उमंग से वह उनके चरणों पर गिर पड़े। साधुजनों के हितकारी भगवान् अपने धाम को जाने के लिए उद्यत थे, परन्तु राजा पर अत्यन्त अनुग्रह होने के कारण ठहर गये और अपने नेत्र-कमलों से राजा की ओर देखने लगे। उस समय महाराज पृथु हाथ जोड़कर भगवान की स्तुति करने के लिए उद्यत हुए। पर आँखों में आनन्द के आँसू भर आने के कारण वह हरि की छवि को भली भाँति देखने में भी असमर्थ हो गये और आँसुओं से कण्ठ रुँध जाने के कारण कुछ कह भी नहीं सके। केवल हृदय में ही भगवान् का ध्यान करने लगे। भक्ति की उमंग से कुछ देर तक यही दशा रही। उसके बाद राजा ने आँसू पोंछ डाले और भगवान की ओर देखा। भगवान् पृथ्वी पर पैर रक्खे गरुड़ के कंधे पर हाथ का सहारा दिये खड़े थे। यद्यपि देवतों के पैर पृथ्वी में नहीं छू जाते, तथापि यहाँ यह समझना चाहिए कि भगवान् अपने भक्त की भक्ति से इतना मुग्ध हो गये कि अपनी सुधबुध खो दी, जिससे उनके श्रीचरण पृथ्वी पर आ गये।

तब अतृप्त दृष्टि से हरि के रूप को निहारते हुए महाराज पृथु इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे। पृथुजी ने कहा—प्रभो, साधारणतः सबको वरदान देनेवाले ब्रह्मा आदि देवता भी आपसे वरदान माँगते हैं; क्योंकि आप उनके भी ईश्वर हैं। कौन ऐसा बुद्धिमान पुरुष होगा कि उन्हीं आपको प्रसन्न करके उन भोगों को माँगे, जो देहाभिमानी जीवों को नरक ( अर्थात् पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि की तामसी योनि ) में भी प्राप्त होते हैं! तात्पर्य यह कि विषय-सुख से सम्बन्ध रखनेवाले वरदानों की इच्छा तो देहाभिमानी लोग ही करते हैं, ज्ञानी लोग नहीं। हे परमेश्वर, मैं आपसे वे तुच्छ वर नहीं माँगता; क्योंकि आप मोक्ष देनेवाले हैं। किन्तु हे नाथ, यदि मोक्ष में साधुजनों के हृदय के भीतर से मुख के द्वारा निकल रहे आपके चरणारविन्द का मकरन्दरस ( हरि के गुणानुवाद ) पीने को नहीं मिलता तो मैं उसे भी नहीं चाहता। मैं तो आपसे केवल यही वर माँगता हूँ कि आपकी गुणगाथा का गान सुनने के लिए मेरे हज़ारों कान हों। [ यहाँ पर यह शंका होती है कि मोक्ष के बिना राग-द्वेष आदि की निवृत्ति भी नहीं हो सकती और इसलिए राग-द्वेष आदि विकारों से आकुल पुरुष को भक्ति का सुख भी नहीं मिल सकता। इसी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि ] हे उत्तमश्लोक अर्थात् पवित्र कीर्तिवाले नाथ, तत्त्व-मार्ग को भूले हुए कुयोगी भी यदि केवल दूर से आपकी पवित्र कीर्ति, महापुरुषों के मुख से, सुन पाते है, तो उन्हे फिर आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि आपके जो भक्त हैं, उनमें किसी भी अवस्था मे राग-द्वेष आदि विकारों का होना सम्भव नहीं। इस कारण मै आपसे आपकी भक्ति के सिवा और कोई वरदान नहीं माँगता। भक्ति में ही मोक्ष आदि सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। [ यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि भक्ति तो साधनमात्र है, उसका फल तो मुक्ति ही है; इसलिए फल को छोड़कर साधन के लिए तुम इतना आग्रह क्यों करते हो तो इसीका समाधान करने के लिए कहते हैं कि ] हे मंगलदायक कीर्तिवाले ईश्वर, जो व्यक्ति सज्जनों की संगति में बैठकर आपके कल्याणरूप यश को एक बार कहीं सुन लेता है तो यदि वह गुणग्राही है, पशु नहीं है, तो कभी उसका मन उससे नहीं हटता, अर्थात् वह निरंतर उसे सुना करता है। देखिए न, इतनी चंचल लक्ष्मीदेवी भी अपने में सभी गुणों या पुरुषार्थों का संग्रह करने की इच्छा से स्थिर होकर आप ही के चरणों को भजती है। इसी कारण लक्ष्मीदेवी के समान उत्सुक होकर मैं भी सब गुणों के एकमात्र आधार आपको भजूँगा। हे नाथ, लक्ष्मीदेवी और मैं, दोनों अनन्यभाव से एक ही स्वामी को चाहते हैं, और आपके श्रीचरणों को अनन्य निष्ठा के साथ भजते हैं, इसलिए कहीं हम दोनों में परस्पर

कलह न होने लगे ! इसमें संदेह नहीं कि मेरा जगदम्बा लक्ष्मी के साथ विरोध होगा। कारण, हम दोनों आपके चरणों की सेवा करने की चाह रखते हैं। परन्तु चाहे जो हो, मैं आपके श्रीचरणों को छोड़ नहीं सकता। लक्ष्मी के विरोध से मैं डरता नहीं। कारण, आप दीनबन्धु और भक्तवत्सल हैं, इसलिए भक्त की थोड़ी-सी सेवा को भी बहुत मानते हैं। फिर आप अपने ही रूप में रमनेवाले हैं, इसलिए आपको लक्ष्मी की चाह भी नहीं है। आपको दीनबन्धु जानकर ही साधुजन आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी आपको भजते ही रहते हैं। इस प्रकार निष्काम होकर भी साधु ज्ञानीजन जो आपका भजन नहीं छोड़ते, उनको आपके भजन के सिवा और कोई फल पाने की इच्छा नहीं होती, इसमें कोई संदेह नहीं। भगवन्, आप माया के गुणों से रचित संसार के प्रपञ्च से परे हैं, इसलिए भक्तों के न चाहने पर भी स्वतः उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है। आपके भजन का फल ही मुक्ति है। तात्पर्य यह है कि भक्त लोग निष्काम होकर आपको भजते हैं, आपके भजन में ही उन्हें परमानन्द प्राप्त होता है। रह गई मुक्ति, सो उनके न माँगने पर भी स्वयं उन्हें मिल जाती है। इसलिए मैं आपसे भोग या मोक्ष, कुछ न माँगकर केवल भक्ति ही माँगता हूँ। नाथ, आप जो अपना भजन करनेवालों से वर माँगने के लिए कहते हैं, सो कदाचित् उनकी परीक्षा लेने के लिए ही। मेरी समझ में आपकी यह वाणी सबको मोहित करनेवाली है। यदि यह जीव आपकी वाक्यरूप रस्सी में बँधा नहीं है, अर्थात् आपकी माया में मोहित नहीं है, तो फिर बारम्बार स्वर्ग आदि फल पाकर और उन्हें भोगने के उपरान्त फिर जन्म लेकर फिर उन्हीं फलों की प्राप्ति के लिए क्यों कर्म करता है ? इस भव-बन्धन से छूटने की चेष्टा क्यों नहीं करता ? तात्पर्य यह कि आप कृपालु हैं, इसलिए वरदान का लोभ भक्तों को दिखाना आपको उचित नहीं। अज्ञानी लोग आप ही आपकी माया के वश होकर अपने को सत्यस्वरूप आत्मा से भिन्न मानकर आपसे पुत्र आदि पाने की प्रार्थना करते हैं। किन्तु पिता जैसे स्वयं अज्ञानी बालक के हित की चेष्टा करता है, उसे विपथ में नहीं जाने देता, सुमार्ग में लगाता है, वैसे ही आप भी वही कीजिए, जिसमें हम अज्ञ लोगों का कल्याण हो।

मैत्रेयजी कहते हैं—राजा पृथु ने जब इस प्रकार स्तुति और प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा, राजन्, तुम्हारी अभिलाषा पूरी हो, तुमको मेरी दृढ़ भक्ति प्राप्त हो। तुम बड़े भाग्यशाली हो, इसीसे तुम्हारी ऐसी बुद्धि हुई अर्थात् तुमने और कुछ न माँगकर केवल मेरी दृढ़ भक्ति माँगी। विद्वान् ज्ञानी लोग इसी निष्काम भाव से मेरी भक्ति करके उसकी सहायता से मेरी अत्यन्त प्रबल दुस्तर माया से मुक्त हो जाते हैं। मैंने तुमको जो सदुपदेश दिया है, उसीके अनुसार सावधान होकर प्रजा का पालन करो। मेरी आज्ञा का पालन करने से सदा सर्वत्र सुख और कल्याण प्राप्त होता है।

हे विदुर, वेनपुत्र और अनुगृहीत राजा पृथु के यथार्थ वचनों की प्रशंसा करके, उनके द्वारा पूजित होकर, भगवान् विष्णु ने अपने परमधाम को प्रस्थान किया। राजा पृथु ने यज्ञपुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्तिपूर्वक वाणी से सत्कार करके, धन-रत्न आदि देकर, हाथ जोड़कर यथायोग्य सबका पूजन किया। वहाँ उपस्थित देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्वगण, सिद्ध, चारण, नाग, सर्प, किन्नर, अप्सरा, विद्याधर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी और भगवान् विष्णु के पार्षद राजा से पूजा प्राप्त करके उस समय अपने-अपने स्थान को चले गये। भगवान् भी राजा और उनके यज्ञ करानेवाले ऋत्विक् ब्राह्मणों के मन को हरते हुए अपने धाम को गये।

अपने रूप को दिखाकर आँखों की ओट हो गये देवदेव वासुदेव को प्रणाम करके महाराज पृथु भी सबको विदा करके अपनी नगरी को चल दिये।

# इक्कीसवाँ अध्याय

## प्रजा को उपदेश-दान

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रजा ने जब यह जाना कि महाराज आ रहे हैं, तब उसने अपने घरों को भली भाँति सजाया। पुरी में स्थान-स्थान पर सुवर्ण, मोतियों की माला, फूलों की माला और नवीन रंगीन वस्त्रों से सुशोभित तोरण ( प्रवेश-द्वार या फाटक ) बनाए गए। सुगंधित धूप, अगुरु आदि पदार्थ अग्नि में डाले गये, जिनका सुगन्धित धुआँ चारों ओर छा गया। राजमार्ग ( प्रधान सड़क ), चौक और छोटी गलियों में चन्दन, अगुरु के जल का छिड़काव किया गया। स्थान-स्थान पर पुष्प, अक्षत, फल, जव के हरे अंकुर, खीलें और दीपक रक्खे गये। फूल-फल सहित केले के पेड़ और सुपारी के छोटे पौदे, आम के नए कोमल पत्तों की मालाएँ अर्थात् बंदनवार प्रत्येक द्वार और चौराहे की शोभा बढ़ाने लगे। सब नगर-निवासी प्रजा महाराज पृथु का स्वागत-सत्कार और अगवानी करने के लिए चली। लोग हाथों में सगुन के लिए मांगलिक पदार्थ, देने के लिए उपहार की सामग्री और आरती उतारने के लिए घी के दीपक हाथों में लिये हुए थे। उनके साथ कानों में कुण्डल पहने शृंगार किये सुन्दरी कन्याएँ भी चलीं।

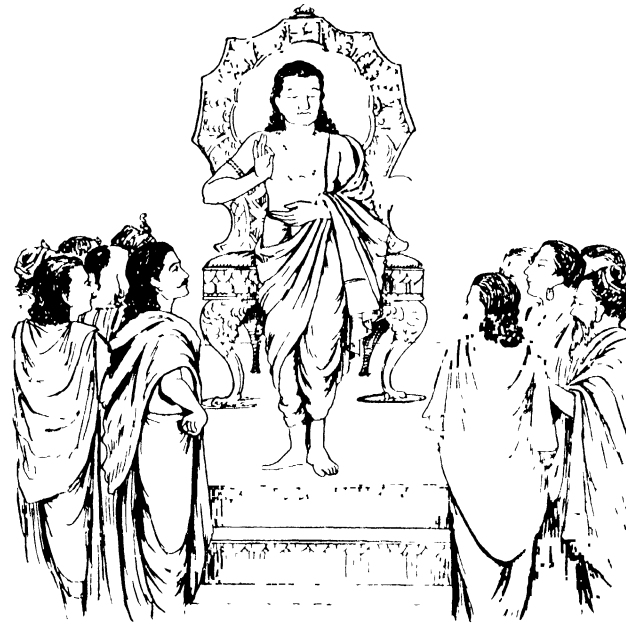
अभिमानरहित वीर महाराज पृथु ने पुरी में पहुँचकर प्रजा का स्वागत-सत्कार स्वीकार करके अपने भवन में प्रवेश किया। उनके आगे शंख, नगाड़े आदि बाजे बज रहे थे, ब्राह्मण लोग वेदपाठ कर रहे थे। वंदीजन स्तुति कर रहे थे। राह में जगह-जगह पर पुर और जनपद की रहनेवाली प्रजा ने महायशस्वी पृथु की पूजा की। प्रिय वर देनेवाले महाराज पृथु ने भी प्रसन्नतापूर्वक सबका यथोचित सत्कार किया। हे विदुर, अपने प्रशंसित कर्मों से पूजनीय पृथु ने इस प्रकार बहुत-से उत्तम काम करके पृथ्वीमण्डल का पालन किया। फिर यथासमय अपनी उज्ज्वल कीर्ति इस लोक में छोड़कर वह परम-धाम को गये।

सूतजी कहते हैं—हे समाजपति शौनकजी, मैत्रेय के मुख से इस प्रकार सब गुणों की खान और गुणी जनों के श्रद्धाभाजन महाराज पृथु के विमल यश को सुनकर विदुरजी बहुत प्रसन्न हुए। फिर मैत्रेयजी की प्रशंसा करके उन्होंने यों कहा। विदुर ने कहा—भगवन्, यह तो मैं सुन चुका कि ब्राह्मणों ने महाराज पृथु का राज्याभिषेक किया और सभी देवतों ने उन्हें भाँति-भाँति के उपहार दिये। अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि गऊ का रूप रखनेवाली पृथ्वी को दुहनेवाली भुजाओं में विष्णु भगवान् का तेज ( शक्ति ) धारण किये हुए राजा पृथु ने और कौन-से उत्तम कर्म किये? जिन महाराज के विक्रम की जूठन अर्थात् गोरूपिणी पृथ्वी से दुहे गये सब पदार्थों से अब तक सब राजा, तीनों लोक और लोक-पाल जीते हैं, उनके पवित्र और विचित्र चरित्र को सुनने की अभिलाषा कौन न करेगा?

मैत्रेयजी ने कहा—सुनो विदुर, मैं आगे का सब पृथु का चरित्र विस्तार से कहता हूँ। गंगा और यमुना के बीच में राजधानी बनाकर महाराज पृथु राज्य का पालन करने लगे। वहाँ रहकर वह पूर्वजन्मो-पार्जित पुण्यकर्मों का क्षय करने के लिए ही विषय-भोग करने लगे। तात्पर्य यह कि दूसरे जन्म में भोग करने की इच्छा से उन्होंने कर्म नहीं किये। वह जो सुख-भोग करते थे, सो भी सुख की आसक्ति से नहीं, बल्कि पूर्वकृत पुण्य का क्षय करने के लिए। पृथ्वीमण्डल भर में सब लोग उनकी आज्ञा मानते थे। सातों द्वीप पृथ्वीमण्डल में वही एक दण्डधारी थे। केवल ब्राह्मणों और भगवान् के भक्तों को छोड़कर सभी का शासन वह करते थे।

इसी प्रकार बहुत समय बीतने पर एक समय महाराज ने एक महायज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया। उसमें सब देवता, राजर्षि और ब्रह्मर्षि आकर एकत्र हुए। उस यज्ञ में सब पूजनीय पुरुषों की पूजा हो चुकने और उन सबके यथायोग्य बैठ जाने पर उस मण्डली के बीच महाराज पृथु वैसे ही उठकर खड़े हुए, जैसे आकाश में तारागण के बीच चंद्रमा का उदय होता है। राजा के शरीर मे चक्रवर्त्ती राजा के सभी श्रेष्ठ लक्षण थे। उनका शरीर ऊँचा था। दोनों बाहु मोटे और चौडे थे। रंग गोरा था। आँखें लाल कमल-सी अरुण थीं। नासिका और मुख सुडौल और सुदर था। उनकी मूर्त्ति सौम्य थी। कंधे उभरे, भरे और ऊँचे थे। दाँत समान और मुसकान मनोहर थी। छाती चौड़ी थी। श्रोणी अर्थात् कमर और नितम्ब का मध्यस्थल चौड़ा था। पेट त्रिवली की रेखाओं से सुशोभित और पीपल के पत्ते के आकार का अर्थात् ऊपर चौड़ा और नीचे क्रमशः पतला था। नाभि पानी में पड़नेवाले भँवर के समान घूमी हुई और गहरी थी। मुख पर अपूर्व ओज और तेज झलकता था। जाँघें सुनहले रंग की और पाँव आगे से कुछ ऊँचे थे। केश सूक्ष्म, घुँघराले, काले और चिकने थे। गरदन शंख जैसी गोल और तीन रेखाओं से सुशोभित थी। वह बहुमूल्य रेशमी धोती पहने और उत्तरीय गले मे डाले थे। यज्ञ की दीक्षा लेने के कारण उन्होंने सब अलंकार उतार डाले थे, तथापि उनके अंगों की स्वाभाविक शोभा (कान्ति) झलककर सबके मन को मोह रही थी। वह काली मृगछाला धारण किये और हाथों में कुशों की पवित्री पहने थे, जिन्हें उन्होंने यज्ञ के कृत्य करते समय धारण किया था।

महाराज पृथु ने सन्ताप को हरनेवाली स्निग्ध दृष्टि से उपस्थित समाज को चारों ओर देखा। फिर सभा में उपस्थित जनता को अपनी वाणी से प्रसन्न करते हुए उन्होंने सबके उपकार के लिए सुनने में सुहावने, शुद्ध, प्रशंसित, विचित्र-पद भूषित, गंभीर अर्थ से परिपूर्ण ये मनोहर वचन कहे। महाराज पृथु ने कहा—हे सभ्य पुरुषो, अभ्यागत महात्मा साधुजनो, आपका मंगल हो। सुनिए, मैं यद्यपि ज्ञान, बुद्धि, विद्या आदि में आप लोगों से छोटा हूँ, तथापि कुछ अपने मन की बात कहता हूँ—क्योंकि जो व्यक्ति धर्म के विषय में जिज्ञासा रखता हो, उसे साधु महात्माजनों के आगे अपने विचार अवश्य प्रकट करने चाहिए। तात्पर्य यह कि मैं प्रजा को उपदेश देने के बहाने अपनी जिज्ञासा ही प्रकट कर रहा हूँ, आप लोगों को धर्म का उपदेश अथवा धर्म का प्रवचन नहीं करता। देखिए, मैं प्रजाओं का शासक राजा बनाया गया हूँ। दुष्टों को दण्ड देना और शिष्टों की रक्षा करना मेरा काम है। मेरा धर्म है कि प्रजा की रक्षा करूँ, उसकी जीविका की व्यवस्था करूँ और उसे अर्थात् चारों वर्णों और आश्रमों के लोगों को



अलग-अलग वेदविहित मार्ग पर चलाऊँ अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म को नष्ट न होने दूँ। इस प्रकार अपने धर्म का पालन करने से सनातनधर्म के रक्षक और प्राक्तन कर्म के साक्षी ईश्वर मुझ पर प्रसन्न होंगे, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मवादी लोगों के बतलाए हुए वे लोक मिलेंगे, जो प्रजारक्षण आदि धर्म का पालन करने से राजा को प्राप्त होते हैं। उन दिव्य लोकों में सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। यह निश्चय है कि जो राजा प्रजा से कर तो लेता है, पर उसे धर्म की शिक्षा नहीं देता, उसे धर्म-मार्ग पर नहीं चलाता, वह प्रजा के पाप का भागी होता है, उसका ऐश्वर्य बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। मेरी अपनी प्रजा से यही प्रार्थना है कि तुम लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर अपने-अपने धर्म का पालन करो। तुम्हारे ही कारण मुझे उत्तम गति प्राप्त होगी। इसलिए अपने धर्म का पालन करोगे तो मेरे ऊपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी। हे पूज्य पितृगण, हे निष्पाप देवगिण, कर्म करनेवाले को, उस कर्म की शिक्षा देनेवाले को और उस कर्म का अनुमोदन करनवाले को परलोक में जो फल मिलता है, वही फल मुझे प्राप्त हो, यह अनुमति आप दें। [ यहाँ यह शंका होती है कि अच्छे कर्म करने का तो अनुमोदन किया जा सकता है, पर उस कर्म को वासुदेव को अर्पण करने का, अर्थात् यज्ञ आदि सत्कर्मों का फल देनेवाला वासुदेव नाम का कोई देवता है, इस बात का अनुमोदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि यदि बहुत लोग उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो वेन आदि बहुतों ने उसे अस्वीकार भी कर दिया है। इसी का उत्तर देते हैं कि ] हे श्रेष्ठ पुरुषो, कुछ लोगों के मत में यज्ञ आदि का अधिष्ठाता अथवा फलदाता परमेश्वर अवश्य है; कारण, यदि कोई फलदाता परमेश्वर न होता तो इस लोक में भोग करने के भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर और उस लोक में भिन्न-भिन्न उज्ज्वल भोग की भूमियाँ या लोक कैसे देख पड़ते? इससे जान पड़ता है कि कर्मानुसार फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न शरीरों और लोकों का निर्माण करनेवाला कोई अवश्य है, और वही परमेश्वर है। [ यहाँ फिर यह शंका होती है कि इसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता? यह सब तो कर्म की विचित्रता से स्वयं संपन्न होता है। इसी शंका का समाधान करने के लिए विद्वानों और बड़े लोगों के अनुभव से ईश्वर का सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। ] स्वायंभुव मनु, उत्तानपाद, महाराज ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, मेरे पितामह राजर्षि अंग, ऐसे ही और भी अनेक राजा, प्रह्लाद, बलि तथा स्वयं ब्रह्माजी और शंकर तक यह मानते हैं कि अवश्य ही कर्मों का फल देनेवाला कोई है। वे सब भगवान् यज्ञपति नारायण को स्वीकार करते हैं। हाँ, मृत्यु के नाती वेन आदि कुछ अधार्मिक नास्तिक अवश्य ऐसे हैं, जो ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकार करते। किन्तु वे धर्म के विषय में भ्रम में पड़े होने के कारण शोचनीय हैं! जो कहो कि ईश्वर है भी तो उससे हमें क्या लाभ? फल तो हमें कर्म ही देगा, या जिन देवतों की हम पूजा-अर्चा करते हैं वे देंगे, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं। कारण, कर्म स्वयं जड़ है, इसलिए फल नहीं दे सकता और अन्य साधारण श्रेणी के देवता भी स्वतन्त्र नहीं हैं। यदि कर्म ही फल दे सकता तो त्रिवर्ग ( अर्थात् धर्म, अर्थ, काम ), स्वर्ग ( धर्म का फल ) और अपवर्ग ( मोक्ष ) कर्म के ही अनुगत होते, अर्थात् प्रत्येक कर्म से ही ये फल मिल सकते; क्योंकि कर्म तो जड़ होने के कारण एक ही प्रकार का हुआ। किन्तु वास्तव में प्रत्येक कर्म से ये फल नहीं मिलते। फिर यह भी देखा जाता है कि दो व्यक्ति एक ही प्रकार का कर्म करने पर भी फल भिन्न-भिन्न प्रकार का पाते हैं। यह भी देखा जाता है कि एक का कर्म सफल या पूरा हो जाता है और दूसरे का नहीं होता। इन सब कारणों से कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का होना अवश्य मानना पड़ता है। जीवों को मोक्ष देनेवाला वही एक परमेश्वर है, अन्य देवता नहीं; क्योंकि वे भी देहधारी जीवमात्र हैं। नित्य बढ़ रही उस ईश्वर के चरणकमलों की सेवा करने की अभिरुचि ( भक्ति ), हरि भगवान् के चरण से निकली

हुई भगवती भागीरथी की भाँति, तपस्वियों के अनेक जन्मों के जमे हुए बुद्धि के मैल अर्थात् अज्ञान को शीघ्र ही मिटा देती है। उन भगवान् की भक्ति से जब जीव के मन का मैल धो जाता है, तब वह वैराग्य के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके उन्हीं परमेश्वर के चरणों का आश्रय लेता है। फिर वह इस संसार में आकर जन्म-मरण के क्लेश नहीं भोगता, अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है। यह सब कहने का सारांश यह हुआ कि ईश्वर के सिवा केवल कर्म या कर्मों से जिन देवतों की पूजा-आराधना की जाती है, वे मोक्ष नहीं दे सकते। इसलिए मानना पडता है कि यज्ञों अर्थात् सत्कर्मों का स्वामी और मोक्ष देनेवाला एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर अवश्य है। हे प्रिय प्रजागण, तुम लोग निष्कपट भाव से अध्यापन आदि अपनी वृत्तियों को ग्रहण करो और मन-वाणी-काया अर्थात् ध्यान, स्तुति, सेवा-पूजा आदि से उसी परमेश्वर का भजन और आराधन करो। कल्पवृक्ष के समान सब कामनाएँ पूरी करनेवाले भगवान् को अपने अधिकार के अनुसार भजने से तुम्हारे सब प्रयोजन सिद्ध होंगे। तुम लोग यज्ञ, उसके अंगरूप कर्म और फल आदि सबको भगवान् का रूप समझकर * कर्म करो, भिन्न दृष्टि से नहीं। वह भगवान् यद्यपि विशुद्ध विज्ञानमय, निर्गुण, निर्विशेषण और एक है, तथापि कर्ममार्ग में भिन्न-भिन्न द्रव्य ( धान्य, यव, तिल आदि ), गुण ( सत्त्व आदि ), क्रिया ( पशुबलि आदि ), उक्ति ( मंत्र ), अर्थ ( यज्ञ की सामग्री ), आशय ( भाव या संकल्प ), लिंग (पदार्थों की शक्ति) और नाम (ज्योतिष्टोम, अश्वमेध, राजसूय आदि ) यज्ञ को संपन्न करनेवाले अंगों के भेद से अनेक विशेषण-युक्त होकर यज्ञरूप † से प्रकाशित होते है। यज्ञ के समान उसके फल भी भगवान् का रूप है। कारण, वह परमेश्वर परमानन्दरूप होने पर भी शरीर के भीतर विषयाकार बुद्धि को प्राप्त होकर उसको अभिव्यक्त करनेवाले आनन्द-रूप से सत्कर्मों के फलरूप प्रतीत होते है‡। अग्नि जैसे लकड़ियों के भीतर उनके गुण जो छुटाई-बड़ाई या टेढ़ापन-सीधापन आदि है, उनसे युक्त प्रतीत होता है, वैसे ही ईश्वर भी उपाधिरहित होकर भी शरीर के भीतर उसके धर्मों से युक्त प्रतीत होते हैं। यह शरीर प्रधान ( प्रकृति ), काल, वासना और प्राक्तन संस्कार से उत्पन्न होता है। वे व्यक्ति मुझ पर बड़ी ही कृपा करते है, जो पृथ्वीतल में उत्पन्न होकर दृढ़ नियम के साथ सदैव इन्द्र आदि देवतों के ईश्वर, इष्ट देवता और कर्मफल के देनेवाले गुरु हरि को अपन धर्म का आचरण करते हुए भक्तियोग से भजते है। हे सभ्य पुरुषो, यद्यपि ब्राह्मणों और विष्णु के भक्तों के पास राजसी वैभव नही है, तथापि वे अकिञ्चन लोग तितिक्षा, तप और विद्या ( ज्ञान ) की बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी है। मै चाहता हूँ कि राजकुल का शासन या तेज उन ब्राह्मणों और वैष्णवों के ऊपर कभी अपना प्रभाव न दिखावे। ब्रह्मा आदि देवतों के भी ईश्वर, ब्रह्मण्यदेव, पुरातन-पुरुष विष्णु भगवान् ने नित्य ब्राह्मणों के चरणों की वन्दना करके ही स्थिर लक्ष्मी और जगत् को पवित्र करनेवाली कीर्त्ति पाई है। सबके हृदय में आत्मारूप से अवस्थित, ब्राह्मणों के प्रिय और स्वयंप्रकाशित ईश्वर विष्णु भगवान् ब्राह्मणों की सेवा करने ही से यथेष्ट संतुष्ट होते हैं। इस कारण मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग हरि के लोकसंग्रहधर्म में तत्पर होकर सब प्रकार ब्राह्मणकुल की सेवा करें। ब्राह्मणवंश के साथ सेव्य-सेवक सम्बन्ध होने से अर्थात् नित्य ब्राह्मणों की सेवा करन से शीघ्र ही चित्त-शुद्धि हो जाती है। चित्त-शुद्धि हो जाने पर स्वयं अर्थात् ज्ञान-वैराग्य आदि के अभ्यास के बिना भी

---

* यही बात इस श्लोक मे कही है—

"ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।"

† श्रुति कहती है—"यज्ञो वै विष्णुः।"

‡ श्रुति भी यही कहती है—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुदः जीवन्ति।"

मोक्ष अर्थात् परम शान्ति प्राप्त होती है। हवि का भोजन करनेवाले देवता भी अग्निमुख से बढ़कर ब्राह्मण-मुख से भोजन करने में तृप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि ब्राह्मण की सेवा से ही ज्ञान और यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है। विष्णु भगवान का भी श्रेष्ठ मुख ब्राह्मण ही हैं। ज्ञानमय और सबके अन्तर्यामी अनन्त विष्णु भगवान् भी ब्राह्मण-मुख से ही भोजन करके परम तृप्त होते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि तत्त्व-ज्ञानी विद्वान् लोग पूजनीय इन्द्र आदि देवतों का नाम लेकर श्रद्धा के साथ ब्राह्मण-मुख में जो भोजन पहुँचाते हैं, उससे विष्णु भगवान् जैसे तृप्त होते हैं, वैसे अचेतन अग्नि-मुख में हवन करने से भी तृप्त नहीं होते। ये ब्राह्मण लोग श्रद्धा, तप, मंगल*, मौन ( वाणी का संयम ), संयम ( इन्द्रियों को वश में रखना ) और समाधि ( चित्त की स्थिरता ) के साथ यथार्थ अर्थ जानने के लिए ब्रह्म अर्थात् वेद को नित्य धारण करते हैं, अर्थात् वेद का अध्ययन और मनन करते हैं। अग्नि से इनमें यह भी एक बहुत बड़ी विशेषता है। वेद का महत्त्व इतना इसलिए है कि जैसे दर्पण में अपना मुख स्पष्ट देख पड़ता है, वैसे ही नित्य शुद्ध सनातन वेद में यह संपूर्ण विश्व और उसके सम्बन्ध का ज्ञान स्पष्ट भासित होता है। हे आर्य-पुरुषो, मैं यही चाहता हूँ कि उन पवित्र और पावन ब्राह्मणों की चरण-रज को जीवन भर अपने मुकुट में धारण करता रहूँ। कारण, जो लोग ब्राह्मणों की चरण-रेणु माथे में लगाते हैं, उनके सभी पाप तत्काल मिट जाते हैं और सभी गुण स्वयं आकर उन्हें भजते हैं। इस प्रकार सब गुणों के प्राप्त होने पर उन सच्चरित्र, सुशील, कृतज्ञ, वृद्धभक्त ब्राह्मणों के सेवकों की सेवा में सब सम्पत्तियाँ अनायास आप से आप आकर उपस्थित हो जाती हैं। मेरी यही प्रार्थना है कि वे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण, गउएँ और अपने सेवकों सहित जनार्दन भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, महाराज पृथु के यों कहने पर वहाँ उपस्थित पितृगण, देवगण और द्विजगण प्रसन्न होकर उनकी बड़ाई करने लगे, साधु-महात्मा लोग साधुवाद देने लगे, "वाहवाह" कहने लगे। सब लोग परस्पर कहने लगे—"पुत्र के अच्छे होने से मनुष्य को उत्तम गति प्राप्त होती है"† यह श्रुति का वाक्य सत्य है। देखो न, ब्रह्मदण्ड से मरा हुआ नास्तिक वेन भी महाराज पृथु जैसे सुपुत्र के होने से नरक को नहीं गया, उसकी सद्गति हो गई। यह कोई नई बात नहीं है। इसी प्रकार दुष्ट दानव हिरण्यकशिपु भी भगवान की निन्दा करने के कारण नरकगामी होता। परन्तु परमभागवत सुपुत्र प्रह्लाद के प्रभाव से उसे भी अच्छी गति प्राप्त हुई, नरक नहीं जाना पड़ा।

इसके उपरान्त सब लोग महाराज से कहने लगे—हे वीरवर, हे पृथ्वी के पिता महाराज पृथु, आपकी हज़ारों वर्षों की आयु हो। आप धन्य हैं; क्योंकि जगदीश्वर हरि में आप ऐसी अनन्य भक्ति रखते हैं। आपका यह भाव सच्चा और दृढ़ होने के कारण परम प्रशंसनीय है। हे पवित्र कीर्तिसम्पन्न महाराज, आपको अपना स्वामी राजा पाकर हम अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझते है। आपके रूप में श्रीहरि ही हमें उपदेश दे रहे हैं। साधु महात्मा लोगों के वन्दनीय पूजनीय ब्रह्मण्यदेव वासुदेव की चर्चा करके आप विष्णु के समान ही धर्म की रक्षा के लिए हमें कर्त्तव्य की शिक्षा दे रहे हैं। हे नाथ, आप जो अपनी प्यारी प्रजा को इस प्रकार उपदेश दे रहे हैं सो आपके लिए कुछ अत्यन्त अद्भुत नहीं है। दयालु महापुरुषों का स्वभाव ही यह होता है। वे प्रजा पर, अपने आश्रित जनों पर स्नेह रखते हैं और उन्हें हित का उपदेश करते

---

* नित्य अच्छे आचरण करना और बुरे आचरणों का त्याग ही मंगल कहलाता है। यथा—

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तस्य वर्जनम्।
एतद्धि मंगलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

† यथा—"तस्मात् पुत्रेण जायते" तथा "सोऽय मनुष्यलोकः पुत्रेण जय्यः।"

हैं। महाराज, हम लोग दैव नाम से प्रसिद्ध प्राक्तन कर्मों के द्वारा अब तक अनेक योनियों में भ्रमण करते रहे हैं, अंधे होकर अन्धकार में भटकते रहे है। हमारी ज्ञान-दृष्टि नष्ट हो चुकी थी। आज आपने ज्ञान का आवरण हटाकर हमें उस अन्धकार के पार लगा दिया। जो सतोगुण को अपने पुरुषार्थ से बढ़ाने के लिए प्रकट होते हैं, जो ब्राह्मणों में स्थित होकर क्षत्रियों का, क्षत्रियों में स्थित होकर ब्राह्मणों का और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में स्थित होकर इस संपूर्ण विश्व का पालन अपने तेज से करते हैं, उन महापुरुष परमेश्वर को हम प्रणाम करते हैं।

# बाईसवाँ अध्याय

## परमहंस सनत्कुमारजी का महाराज पृथु को ज्ञानोपदेश करना

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, सभा में उपस्थित लोग इस प्रकार महापराक्रमी राजा पृथु की प्रशंसा और स्तुति कर ही रहे थे कि इसी समय सूर्य के समान तेजस्वी सनकादिक ऋषि वहाँ आकर उपस्थित हुए। लोकों को अपने दर्शन देकर पवित्र करते हुए आकाश से उतर रहे उन सिद्धेश्वरों का तेज ही कहे देता था कि वे साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र सनकादिक परमहंस हैं। उन्हें आते देखकर महाराज पृथु अपने अनुचरों और सभासदों के साथ आसन से ऐसी उत्सुकता के साथ उठ खड़े हुए, जैसे मन गंध आदि गुणों या विषयों की ओर जाता है। जान पड़ा, महाराज के प्राण पहले ही उन परमहंसों का स्वागत करने के लिए चल दिए थे और शरीर उन प्राणों को प्राप्त करने के लिए शीघ्रता से उधर बढ़ा*।

पृथुजी ने परमहंसों के तेज और गौरव के अनुसार नम्र होकर सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया, फिर अर्घ्य और आसन देकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। उनका पादोदक अपने सिर पर धारण किया। सज्जन सुशील पुरुष औरों को शिक्षा देने के लिए जिन व्यवहारों अर्थात् शिष्टाचारों का स्वयं आचरण कर गये हैं, उन्हीं का आचरण और सम्मान करने के लिए महाराज पृथु ने यह सब किया। इसके उपरान्त जब वे चारों योगी अपनी वेदियों में अधिष्ठित अग्नियों के समान सुवर्ण के सिंहासनों पर विराजमान हुए, तब श्रद्धा और संयम से सम्पन्न प्रसन्नचित्त महाराज ने रुद्र भगवान के भी अग्रज (पहले उत्पन्न) उन परमहंसों से यों कहा। पृथुजी ने कहा—हे मंगलमय ब्रह्मर्षिगण, आप लोगों के दर्शन तो योगियों को भी दुर्लभ हैं। अहो, मैंने ऐसा कौन पुण्य किया था, जिससे आप लोगों के दर्शन मुझे प्राप्त हुए? अथवा जिसके ऊपर ब्राह्मण लोग, शिव भगवान, विष्णु भगवान और उनके भक्त प्रसन्न हों, उसे इस लोक और परलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आप लोग यद्यपि अपनी इच्छा से सर्वत्र विचरण किया करते है, तथापि जैसे सब दृश्यों के देखनेवाले आत्मा को सब दृश्य पदार्थ नहीं देख पाते, वैसे ही लोग आप लोगों को नहीं देख पाते। आप लोगों के दर्शन से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वे

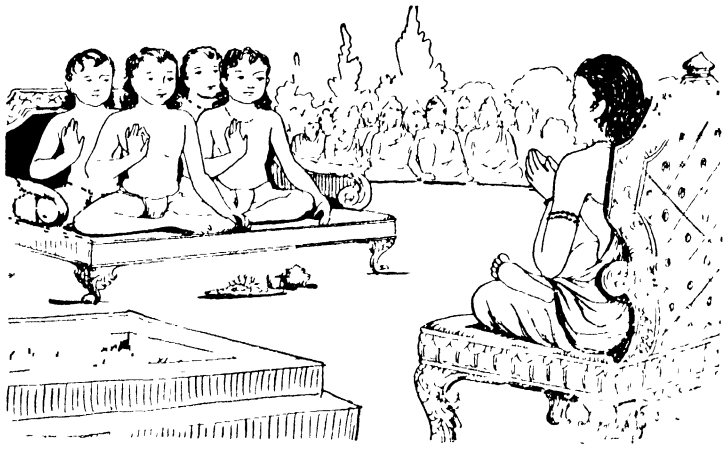
---

* इसमें एक भाव और है। स्मृति में लिखा है कि किसी बड़े बूढ़े के आने पर जवान के प्राण उसके तेज से निर्बल पड़ते हैं; किन्तु उठने और प्रणाम करने से वे प्राण फिर यथास्थान आ जाते हैं। यथा—

ऊर्द्धप्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥
(इति स्मृतेः)

गृहस्थ सज्जन निधन होने पर भी धन्य हैं, जिनके घरों में फल, मूल, जल, तृण, भूमि, गृहस्वामी और उसके सेवक पूज्य जनों के सत्कार और पूजा के काम में लगते हैं। तात्पर्य यह कि जिनके घर में आप-सरीखे महापुरुष पधारते हैं और जो लोग निर्धन होकर भी अपनी शक्ति के अनुसार यथालब्ध जल, फल, आसन आदि सामग्री से आप लोगों का सत्कार करते हैं, वे धन्य हैं। किन्तु जिस घर मे कभी विष्णु-भक्तों के पावन चरण नहीं पडते, अर्थात् विष्णु के भक्त नही पधारते, वह घर सब सम्पत्तियों से परिपूर्ण होने पर भी उस वृक्ष के समान व्यर्थ है, जो फला-फूला होने पर भी साँप के रहने का स्थान हो। हे परमहंस ब्राह्मणो, मै आपका स्वागत करता हूँ। आप भले पधारे। आप लोग जन्म से ही मोक्षमार्ग के अनुगामी हैं और श्रद्धा और धैर्य के साथ मोक्ष मिलने के कठिन नियमों का पालन करते हैं। हम लोग अपने कर्मों के दोष से सब प्रकार के क्लेशों को जन्म देनेवाले इस संसार में पड़े हुए हैं और इन्द्रियों के भोगों को ही परम पुरुषार्थ माने बैठे हैं। इसलिए हमारे मंगल की कौन संभावना या आशा है? कुछ भी नहीं। और आप लोगों से कुशल पूछना तो व्यर्थ ही है। कारण, आप आत्मज्ञान के आनन्द से ही संतुष्ट रहते हैं। साथ ही इष्ट-अनिष्ट की भेद-बुद्धि भी आपमें नहीं है। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि संसार के क्लेशों से पीड़ित लोगों के आप सुहृद् अर्थात् शुभचिन्तक हैं। इसीलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि मनुष्य का यथार्थ कल्याण ( मुक्ति ) किस उपाय से अनायास हो सकता है? यह निश्चित है कि आत्मज्ञानी धीर पुरुषों में आत्मारूप से स्थित और आत्मा को अपने तेज से प्रकाशित करनेवाले भगवान् ही भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए आप सिद्धों के रूप से इस पृथ्वी में पर्यटन करते हैं।

मैत्रेय कहते हैं—हे विदुर, महाराज पृथु के ये सुन्दर, न्यायसंगत, गंभीर अर्थ से परिपूर्ण, किन्तु थोड़े अक्षरोंवाले, श्रवण-मधुर वचन सुनकर सबमें बड़े सनत्कुमारजी बहुत प्रसन्न हुए। उनके मुख का स्वाभाविक प्रसन्न भाव देखने से जान पड़ता था, जैसे वह मुसकरा रहे हों।



श्रीसनत्कुमारजी ने कहा—महाराज, आप यद्यपि विद्वान् है और सब जानते है, तथापि अन्य प्राणियों के हित के लिए आप यह प्रश्न कर रहे है। आपकी यह परोपकार की चेष्टा कोई विचित्र बात नहीं है; क्योंकि साधु-सज्जनों की ऐसी ही बुद्धि होती है, उनका स्वभाव ही यह है। हम आपके इस प्रश्न का अभिनन्दन करते हैं। आपने यह बहुत अच्छा प्रश्न किया। साधुजनों का समागम श्रोता और वक्ता दोनों के लिए मंगलदायक होता है। उनके प्रश्नोत्तर सबका कल्याण करते हैं। राजन्, भगवान् वासुदेव के चरणों में आपकी दृढ़ भक्ति है। आपमें हरि-चर्चा सुनने की अनन्त निष्ठा है। यह भक्ति, यह निष्ठा निश्चय ही मन के वासना और कामना के पक्के मैल को छुड़ाकर अन्तःकरण को विशुद्ध बना देती है। किन्तु ऐसी नैष्ठिकी भक्ति सबको सुलभ नहीं है। सब शास्त्रों मे भली भाँति विचार करके मनुष्यों के कल्याण

का यही उपाय बतलाया गया है कि आत्मा से भिन्न देह-गेह आदि में वैराग्य बढ़ाकर निर्गुण ब्रह्मरूप आत्मा में दृढ़ प्रीति स्थापित करे। [अब उस वैराग्य और भक्ति के साधन बतलाते हैं।] श्रद्धा, निष्काम धर्म का आचरण, जिज्ञासा अर्थात् तत्त्व जानने की अभिलाषा, आत्मयोग की निष्ठा, योगियों की सेवा, नित्य उत्तमश्लोक हरि की पावन कथाओं को पढ़ना-सुनना, तामस ( धन के लोभी ) और राजस ( विषयी ) पुरुषों के संग का त्याग, अर्थ और काम के प्रति आसक्ति न रखना, हरिगुण-पीयूष-पान के लिए एकान्त-वास और आत्मसन्तोष, अहिंसा-व्रत ( मन, वाणी और काया से किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना * ), शान्ति-प्रधान परमहंसों की वृत्ति से रहना, स्मृति ( आत्मा के हित को न भूलना ), अमृत से भी मधुर हरि-लीलाओं का स्मरण करना, इन्द्रिय-संयम, कामनाओं का त्याग, व्रत और नियमों का पालन, मत-मतान्तर की निन्दा न करना, अपने भरण-पोषण के लिए कोई चिन्ता या चेष्टा न करना, जाड़ा-गर्मी आदि शारीरिक द्वन्द्वों को सहना और भक्तों के कर्णाभरण हरि-गुणों को बारम्बार कहने-सुनने से बढ़ी हुई भक्ति, ये ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा धीरे-धीरे चित्त की शुद्धि होने पर साधारण अधिकारी भी देह-गेह आदि से विरक्त हो जाता है और निर्गुण ब्रह्म में उसका चित्त लग जाता है। [ तात्पर्य यह कि आत्मा से भिन्न देह-गेह आदि मे विरक्त और आत्मा में रति होना अति दुर्लभ और बहुकष्टसाध्य है। उत्तम अधिकारी तो गुरुमुख से उपदेश सुनते ही इसे प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु अन्य लोगों को चित्त-शुद्धि की मात्रा के अनुसार साधनों की सहायता लेनी पड़ती है। वे ही साधन पीछे बतलाये गये हैं। ] इन उपायों से जब निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा हो अर्थात् मन लग जाय, तब गुरु की कृपा से बढ़े हुए ज्ञान और वैराग्य के वेग से सब हृदय की वासनाएँ मिट जाती हैं। जैसे अग्नि प्रज्ज्वलित होकर अपनी उत्पत्ति के स्थान काष्ठ को भस्म करके उपाधिरहित हो जाता है, वैसे ही उस समय उस पुरुष का वासनारहित अभिमानमय पञ्चमहाभूतप्रधान जीवकोश अर्थात् लिंगशरीर ( मैं देखता हूँ, मै सुनता हूँ, मैं करता हूँ, इत्यादि भावना ) भी ज्ञान-वैराग्य के द्वारा नष्ट हो जाता है। अहंकारमय लिंगशरीर जीव की उपाधि अर्थात् आवरण-बन्धन है और पञ्चभूतों के सूक्ष्म अंश इन्द्रिय आदि ही लिंगशरीर का प्रधान अंश हैं। इस प्रकार लिंगशरीर के न रहने पर उसके कर्तृत्व आदि गुण भी नहीं रहते। तब अपने भीतर और बाहर "एक ब्रह्म रूप मैं ही हूँ" यह भाव रह जाता है। तात्पर्य यह कि वह बाहर घट-पट आदि दृश्य पदार्थों का और भीतर सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं करता। कारण, उस समय दृश्य और देखनेवालों में जो व्यवधान अर्थात् भेदबुद्धि थी, सो नही रहती। द्रष्टा और दृश्य की प्रतीति का कारण तो अन्तःकरण या लिंगशरीर ही है। वह रह नहीं जाता। इसी कारण जैसे सोकर जागने पर स्वप्न के दृश्य नहीं देख पड़ते, वैसे ही मोह या भेदबुद्धि के नाश होने पर द्रष्टा और दृश्य का भेद नही रह जाता। राजन्, उपाधिरूप अन्तःकरण अर्थात् अहंभावमय लिंगशरीर के रहने पर यह पुरुष द्रष्टा ( आत्मा ), दृश्य विषय और अहंभाव, इन तीनों को जाग्रत और स्वप्न अवस्था में देखता है। किन्तु लिंगशरीर के नष्ट होने पर, सुषुप्ति अवस्था में, फिर नहीं देखता,† अर्थात् जीव का यह भ्रम दूर हो जाता है। इस लोक में भी इसका प्रमाण मिलता है। देखिए, भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाले जल या दर्पण के पास रहने पर मुख और उसका प्रतिबिम्ब या सूर्य और उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न देख पड़ता है। जल

---

* कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसा चेह योगिभिः॥

† यही बात इस श्लोक में भी कही है—
दृश्यानुपलितं द्रष्टृ दृश्यं द्रष्टृनुरञ्जितम्।
अहंकृत्योभयं रक्तं तन्नाशाद्वै नतात्मनः॥

या दर्पण को हटा देने से फिर यह भ्रम नहीं होता। जो व्यक्ति विषयों का ध्यान किया करता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं। वे इन्द्रियाँ मन को भी अपनी ओर खींच ले जाती है। वह मन बुद्धि की चेतना अर्थात् विचार करने की सामर्थ्य को वैसे ही हर लेता है, जैसे किनारे लगे हुए कुश-कास आदि के झुरमुट सरोवर से उसके जल को खींचते या सोख लेते है। परन्तु अविवेकी जन इस रहस्य को नहीं देख पाते। चेतना या विचारशक्ति नष्ट होने पर स्मृति (पूर्वापर की समझ) भ्रष्ट हो जाती है। फल यह होता है कि आत्मा का ज्ञान नही रह जाता। इसी को विद्वानों ने "अपने हाथ से आत्मा का विनाश" कहा है। यह आत्मा के द्वारा आत्मा का नाश बहुत भयानक है। आत्मा की उन्नति ही मनुष्य का सबसे बड़ा स्वार्थ है। कारण, इस आत्मा के ही कारण सब वस्तुएँ प्रिय होती हैं, आत्मा को ही सुख पहुँचाने के लिए मनुष्य सब काम करता है। इसलिए आत्मा के द्वारा आत्मा का नाश होने से बढ़कर संसार मे और कोई स्वार्थ-हानि नही हो सकती। इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन ही मनुष्यों के सब काम बिगाड़ देता है। कारण, इन्ही विषयो मे लिप्त होकर मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान और विज्ञान (परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान) से भ्रष्ट होकर जड़ बन जाता है। महाराज, जो मनुष्य इस घोर संसार से छुटकारा पाने की इच्छा रखता हो, उसे चाहिए कि जो वस्तुएँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे अत्यन्त बाधा डालनेवाली है, उनका संग कभी न करे। इन चारों पदार्थों में भी मोक्ष ही सबसे श्रेष्ठ है। कारण, धर्म, अर्थ, काम का फल काल से नष्ट हो जाता है। अतएव मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मा और उनके पुत्र हम लोग और अन्य सभी प्राणी माया के गुणों में क्षोभ होने पर उत्पन्न हुए है, इसलिए ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक सभी देहधारी काल के अधीन है। तात्पर्य यह कि काल ने सबको उत्पन्न किया है और काल ही सबका संहार करेगा। हम सब जन्म-मरण के चक्र मे पड़े है, कालरूप ईश्वर का भय सबको है। इस कारण मोक्ष के सिवा हमारा कल्याण नहीं। जो परमेश्वर देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकार के आवरण से आवृत चराचर जीवों के हृदय में अंतर्यामीरूप से, जीव के नियन्ता अर्थात् संचालक के रूप से प्रकाशमान हैं, आप अपने को वही समझिये। आप पहले उन्हीं परमात्मा को पहचानिये, अपने रूप को जानिये। राजन्, वह ईश्वर चराचर प्राणियों के हृदय में स्थित होने पर भी माया से मुक्त हैं। जैसे अन्धकार में माला पड़ी देखकर उसमें सर्प का भ्रम होता है, पर प्रकाश होनेपर वह भ्रम मिट जाता है, वैसे ही उसका उत्कृष्ट-निकृष्ट भाव अथवा कार्य-कारणभाव अज्ञानजनित माया ही के कारण प्रतीत होता है। वास्तव में परमात्मा का रूप आत्मा इन भावों से अलग है। वह नित्य, विशुद्ध, ज्ञानरूप, सत्य और सदैव मुक्त अर्थात् स्वतंत्र हैं। कारण, उन्होंने गुणमय कर्मों से मलिन प्रकृति को परास्त कर रक्खा है। हम उन्हीं परमेश्वर के शरणागत हैं। उनका ज्ञान तो आवश्यक ही है, किन्तु ज्ञानमार्ग दुष्कर है और भक्तिमार्ग सहज है। निर्गुण रूप को जानकर उनके सगुण नारायणरूप का भजन करने से सहज ही कर्म-बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। महाराज, साधु भक्त लोग उन परमपुरुष वासुदेव के चरणारविन्दों का स्मरण या ध्यान करके सहज में ही कर्मों की गुत्थी से बनी हुई अहंकार की गाँठ को काट डालते हैं। किन्तु सब विषयों से बुद्धि को हटाकर इन्द्रियों के वेग को रोकनेवाले निर्गुणोपासक कोरे ज्ञानी योगियों के लिए अहंकार को मिटाना और कर्म-बन्धन से छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है। तात्पर्य यह कि निर्गुण ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सगुण भक्तिमार्ग में ईश्वर की प्राप्ति अथवा मुक्ति सहज में हो जाती है। इसलिए आप शरणागतों की रक्षा करनेवाले उन्हीं वासुदेव का भजन करिए। यह संसार एक महासागर है। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मद आदि छः बड़े भयानक ग्राह हैं, जो बीच ही में निगल जाते हैं, पार नहीं जाने देते। जो ज्ञानी लोग सगुण ईश्वर का आश्रय लिये बिना केवल निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही इसके पार जाना चाहते

हैं, वे इसके चक्कर में पड़कर अनेक कष्ट उठाते हैं, इससे उबरने के लिए भी उन्हें बहुत क्लेश भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि श्रुति में कहा है कि—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अर्थात् ब्रह्मज्ञानी परम गति या परमेश्वर को पाता है, तथापि वह मार्ग बहुत कठिन है, उस मार्ग में सिद्धि पाने के लिए अनेकानेक जन्म बिता देने पड़ते हैं। किन्तु सगुण के भजन में, भक्तिमार्ग में, एक ही जन्म में सहज ही मुक्ति मिल जाती है। इसलिए आप भगवान् वासुदेव के भजनीय चरणारविन्दों की नाव का आश्रय लेकर इस क्लेशमय दुस्तर भवसागर के पार पहुँच जाइए।

मैत्रेयजी कहते हैं—ब्रह्माजी के पुत्र आत्मज्ञानी सनत्कुमारजी के श्रीमुख से इस प्रकार भली भाँति आत्मतत्त्व का उपदेश सुनकर महाराज पृथु ने उनकी प्रशंसा और स्तुति करते हुए यों कहा।

राजा पृथु ने कहा—दीनबन्धु विष्णु भगवान ने यज्ञ में पधारकर जो मुझ पर कृपा की थी अर्थात् कहा था कि परमहंस सनकादि ऋषि तुम्हें ज्ञान का उपदेश करने आवेंगे, उसी को पूरा करने के लिए आप लोगों का शुभागमन हुआ। आप कृपालुओं ने उस कार्य को भली भाँति पूर्ण किया। इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मैंने अपना सर्वस्व और यह शरीर भी साधुजनों को अर्पण कर दिया है और उन्होंने प्रसाद के रूप में मुझे यह सब लौटा दिया है। अब मै गुरुदक्षिणा के रूप में आप लोगों को क्या भेंट करूँ? अथवा सेवक जैसे स्वामी को उसी की वस्तु भोजन, पान, इलायची आदि देता है, वैसे ही मैं भी यह शरीर, स्त्री, पुत्र, घर-गृहस्थी, राज्य, सेना, पृथ्वी और कोष सब आपको अर्पण करता हूँ, आप स्वीकार करें। यदि कहिए कि राज्य आदि के अधिकारी तो क्षत्रिय ही हो सकते हैं, हम तो ब्राह्मण हैं, तो यह बात नहीं है। वेदशास्त्र को भली भाँति जाननेवाला ब्राह्मण सेना का स्वामी, राजा, दण्ड देनेवाला (शासक) और सब लोकों का अधिपति भी हो सकता है। भगवन्, सब पदार्थों का स्वामी ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण अपना ही पहनता है, अपना ही खाता है, अपना ही देता है। ब्राह्मण की कृपा से ही क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण खाते-पीते और भोग करते है। वे ब्राह्मणों को क्या दे सकते हैं! कारण, उनका अपना कुछ भी नहीं है। उनके पास जो कुछ है, सो सब ब्राह्मणों का ही है। मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ कि वेद का तत्त्व जाननेवाले आप ब्राह्मणों ने आत्मतत्त्व के विचार द्वारा आत्मा का तत्त्व मुझे दिखाकर मुझ पर बड़ी कृपा की है। आप करुणासागर योगीश्वर अपने दीन का उद्धार करने के कर्म से ही सन्तुष्ट हों। मैं हाथ जोड़ने के सिवा आपके उपकार का बदला नहीं चुका सकता। आपको प्रसन्न करने का यही एकमात्र साधन मेरे पास है।

हे विदुर, आदिराजा पृथु ने यों कहने के उपरान्त उन महर्षियों की पूजा की और वे महाराज के शील-स्वभाव की बड़ाई करते हुए आकाशमार्ग से सबके सामने ही यथेष्ट स्थान को चले गये। इधर राजा पृथु भी आत्मज्ञान की शिक्षा से उत्पन्न एकाग्रता से अपने रूप का चिन्तन करने लगे और आत्मानन्द के भोग से ही सन्तुष्ट रहकर अपने को कृतार्थ समझने लगे। वह देश, काल, सामर्थ्य, योग्यता और सम्पत्ति के अनुसार शुभ कर्म (यज्ञ, दान आदि) करके उनका फल ब्रह्मार्पण करने लगे। तात्पर्य यह कि वे निष्काम होकर ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही सब शुभ कर्म करने लगे। सब कर्मों का फल ब्रह्म का अर्पण करके कर्मों में आसक्ति छोड़कर वह एकाग्रभाव से ईश्वर की भक्ति और भजन करने लगे। उन्होंने मन में यह भाव धारण कर लिया कि यह आत्मा माया के प्रपंच से अलग और कर्मों का साक्षीमात्र है। जैसे अहंकारहीन सूर्यदेव सब स्थानों में प्रकाश डालकर भी शुद्ध और निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही राजा पृथु गृहस्थाश्रम में रहकर साम्राज्य-लक्ष्मी से युक्त होकर भी इन्द्रियों के भोगों में लिप्त नहीं हुए। इसका कारण यही है कि उन्होंने मैं 'करता हूँ, यह सब मेरा है', इस अहंभाव और ममता को हृदय से हटा दिया था।

इसी प्रकार निष्काम और निरभिमान होकर राजा पृथु अध्यात्मयोग के द्वारा सब कर्मों को करने

लगे। महाराज पृथु के अर्चि नाम की भार्या के गर्भ से उन्हीं के समान सुयोग्य पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उन राजकुमारों के नाम ये हुए—विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक। भगवान् के अवतार राजा पृथु जगत् की रक्षा के लिए अकेले ही समय-समय पर सब लोकपालों के कार्य करते थे। इन्हीं कार्यों को कहते हैं। वह अपनी शान्त सौम्य मूर्ति, स्वभाव, वाणी और गुणों से प्रजा को प्रसन्न रखते थे और इस प्रजारंजन गुण के कारण वह दूसरे 'राजा' * सोम ( चंद्रमा ) जान पड़ते थे। सूर्यनारायण जैसे अपनी किरणों से पृथ्वी का जल खींचकर यथासमय वर्षा ऋतु में उसे बरसाते और विश्व भर में तपते है, वैसे ही महाराज पृथु भी प्रजा से 'कर' लेकर यथासमय उसी कर को आवश्यकतानुसार प्रजा की भलाई में खर्च देते थे और पृथ्वी भर में प्रचण्ड प्रताप-तेज से तपते थे। जैसे आग क कोई पकड़ नहीं सकता, वैसे ही पृथु भी अपने प्रचण्ड तेज के कारण दुर्द्धर्ष थे। वह महेन्द्र के समान अजेय और पृथ्वी के समान क्षमाशील थे। वह स्वर्ग के समान सबको यथेष्ट पदार्थ देते थे। मेघ जैसे वर्षा करके सबको तृप्त कर देते हैं, वैसे ही वह प्रजा की कामना के अनुसार धन-सुख आदि की वर्षा करते थे। महाराज सागर के समान गंभीर थे। उनके हृदय की थाह लगाना असंभव था। धैर्य में वह सुमेरु पर्वत के समान अटल-अचल थे। धर्म की शिक्षा देने में वह दूसरे धर्मराज थे। हिमवान् पर्वत के समान आश्चर्यपूर्ण थे। कुबेर के समान धनी और वरुण ( समुद्र ) के समान धन को गुप्त रखनेवाले थे। वायु की भाँति उनकी सर्वत्र गति थी। बल, साहस, पराक्रम और वेग में भी वह वायु के ही समान थे। उनका तेज भी भगवान् रुद्र के तेज के समान असह्य था। रूप में साक्षात् कामदेव थे। सिंह के समान साहसी थे। प्रजावत्सलता में मनु के समान और प्रभुता में भगवान् ब्रह्मा के तुल्य थे। ब्रह्मज्ञान अथवा वेदार्थ के विचार में वह बृहस्पति के बराबर थे। जितेन्द्रिय तो साक्षात् विष्णु भगवान् के समान थे। गो, ब्राह्मण, गुरु, भगवद्भक्त लोगों की भक्ति, लज्जा सकोच, सच्चरित्रता और परोपकार करने में वह अपने ही समान अर्थात् अद्वितीय थे। तीनों लोकों के निवासी महाराज पृथु की पवित्र कीर्त्ति का बखान करते थे। इस कारण जैसे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी, कानों की राह से, सज्जनों के हृदय में प्रवेश कर बसे हुए हैं, वैसे ही वह भी कुलकामिनियों के हृदय में बसे हुए थे। तात्पर्य यह कि वह जगद्विख्यात थे और उनकी कीर्त्ति तीनों लोकों में प्रसिद्ध थी।

# तेईसवाँ अध्याय

## महाराज पृथु का वैकुण्ठवास

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, प्रजापालक आत्मज्ञानी पृथु ने अन्न आदि की सृष्टि और पुर, गाँव आदि की रचना को पूर्ण करके जब देखा कि वृद्धावस्था आ गई, तब उन्होंने विचारा कि पृथ्वी पर रहनेवाले चराचर प्राणियों की जीविका का मैं प्रबन्ध कर चुका, साधुजनों के धर्म का आचरण करके लोक-शिक्षा का कार्य भी सम्पन्न कर चुका और जिसके लिए मैंने जन्म लिया था, उसे पूर्ण करके ईश्वर की आज्ञा ( कर्त्तव्य ) का पालन भी मैं कर चुका। अब इस लोक में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह गया। यों विचार कर राजा पृथु ने कन्या के समान पृथ्वी को पुत्रों के हाथ में सौंपकर महारानी के साथ तपस्या करने की इच्छा से तपोवन को प्रस्थान किया। महाराज के विरह से पृथ्वी मानों रोने लगी और सब प्रजा उदास,

* राजा शब्द का अर्थ ही रंजन करनेवाला अर्थात् प्रसन्न करनेवाला है। इस अर्थ के अनुसार ही वेद में चंद्रमा को सब ओषधियों का, ब्राह्मणों का, सारे जगत् का राजा कहा है। यथा—"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां ं राजा।"

चिन्ता से व्याकुल हो उठी। महाराज पृथु ने प्रथम पृथ्वी को वश करने में जैसा प्रयत्न किया था, वैसे ही अब वन में जाकर वानप्रस्थ आश्रम में उग्र तपस्या करने लगे। किसी प्रकार का विघ्न उन्हें उस तप से डिगा नहीं सका। कुछ समय तक कंद-मूल-फल खाकर रहे। कुछ दिन सूखे पत्ते खाकर तपस्या की। फिर कुछ समय केवल पानी पीकर और कुछ दिन वायु का आहार करके उन्होंने घोर तपस्या की। महाराज पृथु गर्मियों में पंचाग्नि तापते थे, बरसात में खुली जगह में रहकर तप करते थे और शीतकाल में गले-गले पानी में बैठे रहते थे। उन्होंने मुनि होकर पृथ्वी पर ही शयन करने का नियम कर लिया। केवल शरीर को ही कष्ट नहीं देते थे, उन्होंने आन्तरिक शुद्धि भी की। वह जो कुछ कष्ट मिलता था, उसे सहते थे। उन्होंने क्षमा के साथ शान्त स्वभाव धारण किया। वह ऊर्द्धरेता* बन गये और बहुत बोलते नहीं थे। इन्द्रियों को और मन को उन्होंने अपने वश में कर लिया। प्राणायाम से श्वासा को जीतकर कृष्ण भगवान् की आराधना के लिए इस प्रकार उन्होंने उत्तम तप किया। क्रमशः तपस्या करने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वासनाएँ नष्ट हो गईं। काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं के प्रवेश का मार्ग भी प्राणायाम के द्वारा बंद कर दिया। तात्पर्य यह कि वह ईश्वर की आराधना से मुक्ति पाने के योग्य हो गये। उस समय महाराज पृथु उसी ब्रह्मज्ञानयोग से परमात्मा का भजन करने लगे, जिसका उपदेश भगवान् सनत्कुमार ने उन्हें किया था। श्रेष्ठ भगवद्भक्त राजा पृथु श्रद्धा के साथ नित्य यत्न करने लगे। इस उपाय से उन्हें भगवान् परब्रह्म में निष्काम दृढ़ अनन्य भक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार भगवद्भजन से उनका आत्मा (मन) जब शुद्ध हो गया, तब उन्हें वैराग्ययुक्त ज्ञान प्राप्त हुआ। उस ज्ञान की तलवार में हरि के ध्यान से पुष्ट भक्ति की धार रखकर राजा पृथु ने उसी तलवार से संसार अर्थात् जन्म-मरण की जड़ अपने आत्मा की उपाधि 'अहंकार' को काट डाला—नष्ट कर दिया। यही अहंकार हृदय की गाँठ, सब संशयों का स्थान और जीवकोश है। इस प्रकार शरीर में जो आत्मबुद्धि थी, वह भी मिट गई। कारण, उस समय उन्होंने आत्मा के रूप को अच्छी तरह जान लिया था। अब वह निष्काम हो गये। तात्पर्य यह कि योगाभ्यास के फलस्वरूप जो अणिमा आदि सिद्धियाँ आकर उपस्थित हुईं, उनकी भी इच्छा उन्होंने नहीं की। फिर जिस ज्ञान से महाराज ने देहाभिमानरूप हृदय की गाँठ काट डाली थी, उसे भी तज दिया, अर्थात् उसके लिए प्रयत्न करना भी बंद कर दिया। अणिमा आदि सिद्धियाँ जो महाराज के चित्त को चलायमान नहीं कर सकीं, सो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उन्हें तो हरि में दृढ़भक्ति प्राप्त हो गई थी। जब तक भगवान् की चर्चा और भजन में भक्ति नहीं होती, तब तक योगमार्ग के पारगामी होकर भी योगीजन देहाभिमानरूप अज्ञान से छुटकारा नहीं पाते। तात्पर्य यह कि भगवद्भक्ति के लाभ से ही महाराज को योग का सिद्धियों का लोभ नहीं हुआ और वह सहज ही देहाभिमान से छुटकारा पा गये। कोरे ज्ञान से यह नहीं हो सकता था। राजा पृथु इस प्रकार आत्मा में परमात्मा को लगाकर ब्रह्मरूप हो गये। काल के आने पर उन्होंने अपने कलेवर को भी छोड़ दिया। देहत्याग के समय दोनों एँड़ियों से पायु अर्थात् गुदा के छिद्र को बंद करके (मुक्तासन† से बैठकर) अपान वायु को क्रमशः मूलाधार से ऊपर उठाकर नाभि में रोका। वहाँ उसे समान वायु से मिलाकर पहले हृदय में, फिर वक्षःस्थल में, फिर कंठ में और फिर दोनों भौंहों के बीच में ले जाकर स्थापित किया। इस प्रकार ऊपर चढ़ाते हुए उस प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया। तदनन्तर उन्होंने शरीर के पाँचों तत्त्वों को उनके समष्टि रूप में मिला दिया। अर्थात् शरीर के वायु को वायु में, शरीर के ठोस अंश को पृथ्वी में, शरीर के अग्नि को अग्नि में, शरीरस्थ इन्द्रियों के छिद्रों को आकाश में और रस अर्थात् रक्त

* ऊर्द्धरेता उसे कहते हैं, जो वीर्य को ऊपर चढ़ा लेता है, जिसमें वीर्य न स्खलित हो जाय या मन न चलायमान हो।

† संपीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैवतु मध्यतः। सव्ये दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमितीरितम्॥

अर्थात् मलत्याग के स्थान में एँड़ी लगाकर वायु के निकलने के स्थान को बंद करके बैठना मुक्तासन है।

को जल में मिला दिया। यों शरीर के तत्त्वों को पंचतत्त्व में लीन करके उन पंच महाभूतों को भी अद्वितीय आत्मा की प्रतिपत्ति के लिए क्रमशः लीन कर दिया, अर्थात् पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन कर दिया। इस प्रकार तामस अहंकार के विकारों का लय करके सात्विक और राजस अहंकार के कार्यों या विकारों को भी लीन कर दिया, अर्थात् मन को इन्द्रियों में और इन्द्रियों को पंचतन्मात्राओं ( शब्द आदि ) में उनकी उत्पत्ति के क्रम से लीन कर दिया। अन्त में बचे हुए आकाशसहित पंचतन्मात्राओं को अहंकार ( इन्द्रियाधिष्ठाता देवतों ) के साथ महत्तत्त्व में मिला दिया। सब गुणों के आधार महत्तत्त्व को भी मायामय मायोपाधिप्रधान जीव ( अहंभाव ) में लीन कर दिया। अब तक राजा पृथु प्रकृति या माया के गुणों से युक्त 'जीव' अवस्था में थे। अब वह ज्ञान और वैराग्य के बल से उस अवस्था को छोड़कर अपने रूप ब्रह्म में स्थित हो गये। तात्पर्य यह कि वह स्थूलशरीर और लिंगशरीर को छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये।



महारानी अर्चि महाराज के साथ ही थीं। वह बहुत ही सुकुमार थीं, उनके अंग बहुत ही कोमल थे। उन्होंने कभी पृथ्वी पर पैर नहीं रक्खे थे। परन्तु कष्ट सहने के योग्य न होने पर भी पतिव्रता महारानी ने पति का साथ नहीं छोड़ा। राजा पृथु के साथ ही वह भी मुनिव्रत धारण कर तपस्या कर रहीं थीं। पृथ्वी पर शयन आदि नियमों का पालन और उपवास आदि करने से या केवल कंद-मूल-फल भोजन करने से वह बहुत ही दुबली हो गई थीं। किन्तु इनसे या पति की सेवा करने में परिश्रम करने से उनको कुछ भी कष्ट नहीं जान पड़ता था। स्वामी के हाथ के स्पर्श और आदर से उनका सब कष्ट दूर हो जाता था। महाराज ने जब शरीर-त्याग कर दिया, तब पतिव्रता महारानी अर्चि ने अपने प्यारे पति और पृथ्वी के स्वामी महाराज के शरीर को निर्जीव देखकर थोड़ी देर तक विलाप किया। उसके उपरान्त उनके साथ ही सती होने की इच्छा से लकड़ियाँ एकत्र करके उसी पर्वत-शिखर पर एक चिता बनाई। फिर उस समय के उचित कृत्य करके नदी में स्नान किया और उदारचरित स्वामी को तिलाञ्जलि दी। तदनन्तर अन्तरिक्ष में विमानों पर स्थित देवतों को प्रणाम किया और चिता पर पति के शव को रखकर उसकी तीन बार परिक्रमा की। फिर आप भी उसमें बैठकर अपने हाथ से आग लगा दी। महारानी पतिव्रता अर्चि को इस प्रकार पति के चरणों का ध्यान करके उनके साथ सती होते देखकर आकाश में स्थित देवता और देवियाँ उनकी प्रशंसा करने और आशीर्वाद देने लगे। रानी के सती होने के स्थान

मन्दराचल के शिखर पर सपत्नीक देवता लोग फूलों की वर्षा करने लगे। स्वर्ग में नगाड़े बजने लगे।

उस समय देवियाँ आपस में इस प्रकार कहने लगीं—लक्ष्मीदेवी जिस प्रकार यज्ञपुरुष नारायण की अनुगामिनी हैं, उसी प्रकार इन महारानी ने अनन्य भाव से अपने स्वामी पृथु का साथ दिया। यह धन्य हैं! जिसे कोई मन में सोच भी नहीं सकता, वही दुष्कर कर्म करके यह महारानी अपने पति के साथ हमारे लोक से भी ऊँचे श्रेष्ठ लोक को जा रही हैं। मनुष्य के जीवन का कोई भरोसा नहीं है। उसी मानव-जीवन में जो लोग भगवान् तक पहुँचा देनेवाले निष्कर्म ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनके लिए कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं। परन्तु अनेक दुःख-कष्ट भोगने के उपरान्त मुक्ति के साधन-स्वरूप मानव-जन्म पृथ्वी पर पाकर जो विषय-भोग में ही लगा रहता है, मोक्ष का यत्न नहीं करता, वह निश्चय ही इन्द्रियों से ठगा गया! हा, उसने अपने हाथों ही अपना अनिष्ट कर डाला!

मैत्रेयजी कहते हैं—देवियाँ इस प्रकार महारानी अर्चि की स्तुति करने लगीं और महारानी पति के लोक को गईं, अर्थात् श्रेष्ठ आत्मज्ञानी और श्रीकृष्णचरणों में लीन महाराज पृथु जिस वैकुण्ठधाम को गये, वहीं वह भी उन्हीं के साथ पहुँचीं। हे विदुर, भगवान् के अनन्य भक्त महाराज पृथु का यह सुन्दर चरित्र मैंने तुम्हारे आगे वर्णन किया है। जो कोई इस उत्तम चरित्र को मन लगाकर श्रद्धा के साथ पढ़ता है, सुनता या सुनाता है, वह भी राजा पृथु की श्रेष्ठ गति पाता है। यह चरित्र पढ़ने-सुनने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज बढ़ता है, क्षत्रिय को चक्रवर्त्ती राज्य मिलता है, वैश्य धन और धान्य का स्वामी होता है और शूद्र के सब पाप दूर हो जाते हैं। नर या नारी जो कोई इस चरित्र को सादर तीन बार पढ़ता या सुनता है, उसके जो सन्तान नहीं होती तो उसे सन्तान प्राप्त होती है और यदि वह निर्धन है तो बहुत बड़ा धनी हो जाता है। जो कीर्तिहीन है वह विश्वविख्यात हो जाता है, जो मूर्ख है वह पण्डित हो जाता है। यह परम स्वस्त्ययन और अमंगल को दूर करनेवाला है। इससे धन, यश, बड़ी आयु, स्वर्ग आदि फल मिलते हैं और कलियुग के कलुष हृदय से दूर हो जाते है। जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में भली भाँति सिद्धि पाने की इच्छा हो, उन्हे श्रद्धा के साथ उक्त चारों फल देनेवाला यह चरित्र सुनना चाहिए। जो राजा युद्धयात्रा के समय इस चरित्र को पहले सुनकर शत्रु पर चढ़ाई करता है, वह विजय पाता है। सब राजा उसे वैसे ही भेंट देते है, जैसे महाराज पृथु को उस समय के राजा देते थे। जो व्यक्ति संसार के संग को छोड़कर भगवान हरि में निष्काम भक्ति रखकर व्यासजी के कहे हुए महात्मा पृथु के इस चरित्र को—माहात्म्य को—मन लगाकर पढ़ता, सुनता या सुनाता है, उसे भी अवश्य ही पृथु-की-सी सद्गति प्राप्त होती है। जो कोई श्रद्धा के साथ महाराज पृथु के इस पवित्र चरित्र को सादर सुनता है, इसका प्रचार करता है, उसको भगवान् में दृढ़ भक्ति होती है। भक्ति के प्रभाव से फिर उसे जन्म-मरण का बंधन नहीं होता। कारण, हरि के चरण ही इस भवसागर के पार ले जानेवाली नाव हैं और मनुष्य उन्हीं श्रीचरणों का आश्रय पा जाता है।

---

# चौबीसवाँ अध्याय

## रुद्र-गीत

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, राजा पृथु के बाद उनके बड़े पुत्र महायशस्वी विजिताश्व इस पृथ्वी-मण्डल के महाराज हुए। विजिताश्व अपने छोटे भाइयों पर बड़ा स्नेह रखते थे। उन्होंने अपने चारों छोटे भाइयों को चारों दिशाओं का राजा बना दिया। हर्यश्व को पूर्व का, धूम्रकेश को दक्षिण का, वृक को पश्चिम

का और द्रविण को उत्तर का स्वामी बना दिया। विजिताश्व को इन्द्र ने प्रसन्न होकर अन्तर्द्धान ( अदृश्य हो जाने की ) विद्या बतला दी थी, इसलिए विजिताश्व का दूसरा नाम अन्तर्द्धान हुआ। उनकी रानी का नाम शिखण्डिनी था। शिखण्डिनी के गर्भ से उनके उन्हीं के तुल्य रूप, गुण और बल से युक्त तीन पुत्र हुए। उनके नाम पावक, पवमान और शुचि हुए। ये तीनों पूर्वजन्म में अग्नि थे। वसिष्ठ ऋषि के शाप से इन्हें मनुष्ययोनि में जन्म लेना पड़ा। ये शाप से छूटकर फिर अग्नि हो गए। अश्वमेध यज्ञ में इन्द्र को घोड़े का चुरानेवाला जानकर भी विजिताश्व ने नहीं मारा था, इसीलिए प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें अन्तर्द्धान विद्या दी थी। विजिताश्व की दूसरी रानी का नाम नभस्वती था। उसके गर्भ से उनके हविर्द्धान नाम का पुत्र हुआ। 'कर', 'शुल्क' ( चुंगी ) और 'दण्ड', इन तीन उपायों से राजा के कोष में धन आता है। विजिताश्व ने इस राजवृत्ति को एक प्रकार से प्रजापीड़न का काम समझकर अपना जीवन बहुत दिनों में समाप्त होनेवाले यज्ञ आदि में बिता दिया, अर्थात् वह नाममात्र को राजा रहकर सदा यज्ञ ही किया करते थे, राजकाज सब उनके भाई ही देखते थे। आत्मज्ञानी विजिताश्व ने उन यज्ञों में निष्काम भाव से भक्तभयहारी, पूर्णपुरुष परमात्मा की आराधना की और उन्हीं में मन लगाकर ब्रह्मलीन हो गये।

हे विदुर, हविर्द्धान की रानी हविर्द्धानी थी। उसके गर्भ से उनके छः पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे बर्हिषद, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत। हविर्द्धान के पुत्र महाभाग्यशाली राजा बर्हिषद बड़े भारी योगी और कर्मकाण्डी हुए। वह ऐसे कर्मकाण्डी अथवा यज्ञ करनेवाले हुए कि जहाँ एक यज्ञ करते थे, उसी के पास दूसरे यज्ञ का आरंभ कर देते थे। इसी प्रकार यज्ञ के समय वेदी पर बिछाये जानेवाले पूर्व-मूल कुशों से उन्होंने संपूर्ण पृथ्वी को पाट दिया। इस पृथ्वीमण्डल में कोई ऐसा पवित्र स्थान नहीं बचा, जहाँ उन्होंने यज्ञ न किया हो, उनका यज्ञमण्डप न बना हो। इसी कारण उनका दूसरा नाम 'प्राचीनबर्हि' पड़ गया। उन राजा प्राचीनबर्हि ने ब्रह्माजी की आज्ञा से समुद्र की कन्या शतद्रुति के साथ ब्याह किया। शतद्रुति अपूर्व सुन्दरी रमणी थी। सर्वांगसुन्दरी नवयौवना शतद्रुति बहुमूल्य आभूषण पहनकर विवाह के समय जब भाँवरें फिरने लगी थी, तब उसके महामनोहर स्वरूप-सौन्दर्य को



देखकर वैसे ही अग्निदेव का चित्त चलायमान हो गया, जैसे पहले किसी समय शुक्री पर हो गया था। नवविवाहिता शतद्रुति ने पैरों में बजनेवाले नूपुरों की ध्वनि से ही देव, दानव, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य, नाग आदि सबके मन को मोह लिया था।

प्राचीनबर्हि ने शतद्रुति के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये। उन सबका नाम 'प्रचेता' रक्खा गया। उन धर्म की मूर्त्ति प्रचेताओं का नाम ही एक नहीं था, स्वभाव और आचरण में भी सब समान ही थे। पिता की आज्ञा के अनुसार प्रचेतागण प्रजा उत्पन्न करने की कामना से तप करने समुद्र के भीतर गये। वहाँ उन्होंने दस हज़ार वर्ष तक तपस्या और हरि भगवान् की आराधना की। वे जिस समय तपस्या करने जा रहे थे, मार्ग मे उन्हे महादेव रुद्र मिले और रुद्र ने उन्हे प्रसन्न होकर जो उपदेश किया, उसी के अनुसार इन्द्रियों को वश में करके नियम के साथ वे भगवान् का ध्यान, पूजा और जप करने लगे।

विदुरजी ने पूछा—भगवन्, जिस प्रकार मार्ग में प्रचेताओं से रुद्र की भेंट हुई, और रुद्रजी ने प्रसन्न होकर उन्हें जो उपदेश दिया, सो सब मुझसे कृपा करके कहिए। हे मुनिवर, मुनि लोग भी शिव भगवान् को अपना इष्टदेव मानकर केवल उनका ध्यान ही करते हैं, उनके दर्शन नहीं पाते। उन शिवजी से देहधारी मनुष्यों की भेंट होना तो बहुत ही दुर्लभ है। यदि कोई कहे कि रुद्र तो घोररूप हैं; उनका ध्यान मुनिगण क्यों करते हैं, तो भगवान् शंकर लोकरचना का पालन करने के लिए ही ऐसा घोर वेष और शक्ति धारण किये विचरते हैं। वास्तव में तो वह कल्याणरूप और आत्मानन्द के भोग में ही तृप्त रहते हैं।

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, गुरुजन की आज्ञा का पालन करनेवालों को भगवान् शंकर के दर्शन आप से होते हैं। साधुस्वभाव प्रचेतागण अपने पिता प्राचीनबर्हि की सृष्टि उत्पन्न करने की आज्ञा पाकर उसे सादर शिरोधार्य करके तप करने के विचार से पश्चिम दिशा को चले। उधर जाने पर प्रचेताओं ने एक बहुत बड़ी झील या सरोवर देखा, जो दूसरा सागर ही जान पड़ता था। उसका जल महात्मा पुरुषों के मन के समान स्वच्छ और गंभीर था। उसके भीतर रहनेवाले मछली आदि जलजीव प्रसन्नता से इधर-उधर कलोलें कर रहे थे। फूले हुए हज़ारों लाल, नीले और श्वेतवर्ण के कमल के फूल उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। रात को खिलनेवाले उत्पल, दिन को खिलनेवाले अंभोज और संध्या को खिलनेवाले कह्लार नाम के विविध कमल खिल रहे थे। किनारे पर हंस, कारंडव, सारस, चक्रवाक आदि अनेकों पक्षी बोल रहे थे। जान पड़ता था, सुगंध से मस्त हो रहे भ्रमरों की मनोहर गुंजार को सुनकर किनारे के वृक्षों और लताओं के शरीर में आनन्द से रोमांच हो आया है और वह फूलों के रूप में दिखाई पड़ रहा है। चारों ओर कमल के फूलों की पराग उड़ा रहा पवन चारों ओर आनन्द की वर्षा कर रहा है।

वहाँ पहुँचने पर उन राजपुत्रों को तबला, मृदंग आदि बाजों के शब्द के साथ दिव्य स्वरों में संगीत सुन पड़ा। उस गाने की मनोहर मधुर तानें सुनकर उन राजपुत्रों को बड़ा विस्मय हुआ। इसी समय उन्होंने और भी अधिक आश्चर्य के साथ देखा, तपे हुए सुवर्ण के समान शरीर की कान्तिवाले त्रिलोचन नीलकण्ठ महादेवजी उस सरोवर के भीतर से निकल रहे हैं। उन देवदेव महादेव के पीछे, स्तुति करते हुए सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर आदि देवतों के अनुचर भी देख पड़े। शिवजी के मुख के प्रसन्न भाव को देखने से जान पड़ता था कि वह वरदान देने के लिए उद्यत हैं। एकाएक उस स्थान पर भगवान् शंकर को देखकर प्रचेतागण बहुत विस्मित हुए। उन्होंने शंकर को भक्तिभाव से प्रणाम किया। शरणागत जनों के दुःख को दूर करनेवाले, धर्मरक्षक भगवान् शंकर उन धर्म के ज्ञाता और धर्मात्मा सुशील प्रचेताओं पर प्रसन्न होकर उनसे यों बोले।

रुद्र ने कहा—तुम बर्हिषद् के पुत्र प्रचेता हो, यह मैं जानता हूँ। तुम जो कुछ करना चाहते हो, सो भी मुझ से छिपा नहीं है। तुम्हारा मंगल हो। तुम पर कृपा करने के लिए ही मैंने यहाँ तुमको दर्शन दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि जो कोई प्रकृति और पुरुष से परे अर्थात् दोनों के संचालक स्वामी भगवान् वासुदेव ( परमात्मा ) का भक्त है, वह मुझे भी प्रिय है। सैकड़ों जन्मों तक अपने धर्म में दृढ़ रहने पर

जीव को ब्रह्मा का पद या ब्रह्मलोक मिलता है। उससे भी अधिक पुण्य जब वह करता है, तब उसे मेरा पद अर्थात् शिवलोक मिलता है। किन्तु जो विष्णु भगवान का अनन्य भक्त है, वह शरीर छोड़कर सीधे माया के प्रपंच से परे विष्णुलोक को चला जाता है, जैसे मैं, ब्रह्मा तथा और सब देवता काल आने पर, अपने अधिकार के अन्त में, लिंग अर्थात् शरीर को छोड़कर भगवान् नारायण में लीन हो जायँगे। राजकुमारो, भगवान् के श्रेष्ठ भक्त होने के कारण तुम मुझे भगवान् के समान ही अत्यन्त प्रिय हो। भगवान् के भक्त भी मुझे सबसे बढ़कर प्रिय समझते हैं। मै तुमको पवित्र मंगलदायक श्रेष्ठ स्तोत्र बतलाता हूँ। यह मोक्षदायक भी है। इसे तुम एकान्त में पढ़ना और हरि की आराधना करना। इससे तुम्हारी अभिलाषा पूरी हो जायगी, भगवान् तुम पर प्रसन्न होंगे।

मैत्रेयजी कहते हैं—नारायण के भक्त दयालु शंकर ने इस प्रकार कहकर हाथ जोड़े खड़े हुए राजपुत्रों से वह स्तोत्र कहा। शंकर ने कहा—हे भगवन्, हे जगदीश्वर, आपका उत्कर्ष (बढ़ती या अभ्युदय) आत्मज्ञानी श्रेष्ठ भक्तों के कल्याण अर्थात् ब्रह्मानन्दलाभ के लिए है। इसलिए मुझे भी कल्याण अर्थात् ब्रह्मानन्द का लाभ हो। आप स्वयं स्वानन्द अर्थात् परमानन्द के रूप से ही नित्य स्थित हैं। सबके अन्तर्यामी आत्मा, सर्वरूप, आनन्दघन आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सर्वरूप है। यह लोकमय कमल आपकी ही नाभि से उत्पन्न होता है। अतएव आप ही सबका कारण हैं। आप ही जीव की उपाधि जो सूक्ष्म पंचतत्त्व अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ हैं, उनके नियामक है। आप वासुदेव अर्थात् चित्त के अधिष्ठाता, शान्त, निर्विकार (एकरूप) और स्वयंप्रकाशमान हैं। आप अहंकार के अधिष्ठाता संकर्षण हैं। आप सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त और अनन्त है। आप ही प्रलयकाल में अपने मुख से निकली हुई आग में त्रिलोकी हैं। सब को भस्म कर देते हैं। आप ही के द्वारा इस विश्व का बोध होता है। आप ही बुद्धि के अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। इन्द्रियों का स्वामी और प्रधान इन्द्रिय मन आप ही है। आप ही का नाम अनिरुद्ध है। तात्पर्य यह कि आप ही चारों अन्तःकरणों अर्थात् चित्त, अहंकार, मन और बुद्धि नाम की भीतरी इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। आप ही परमहंस अर्थात् सूर्य है। आपने अपने तेज से विश्व को व्याप्त कर रक्खा है। आप क्षय और वृद्धि से रहित हैं। आप ही स्वर्ग और मुक्ति का द्वार हैं; क्योंकि आप के बिना स्वर्ग और मोक्ष की भी साधना नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि सूर्य को वेद में वेदत्रयीमय कहा है, इसलिए कर्म के फल स्वर्ग और ज्ञान के फल मोक्ष को देनेवाले वही हैं। आप शुचिषत्* अर्थात् पवित्र हृदय में निवास करनेवाले हैं। हे सूर्यरूप, आपको प्रणाम है। आप ही हिरण्यवीर्य अग्नि हैं। आपको प्रणाम है। चातुर्होत्र कर्म आप ही से सिद्ध होते हैं। कारण, चातुर्होत्र कर्म अग्नि के बिना आगे बढ़ नहीं सकते। आप ही चन्द्रमा हैं। आप ही पितरों और देवतों के पोषक हैं। इस प्रकार तेजोमय सूर्य, अग्नि और सोम, इस त्रयी के रूप से प्रकट हरि भगवान् को प्रणाम है। आप ही सबको तृप्त करनेवाले जलरूप हैं। सब रस अर्थात् द्रव पदार्थ आप ही का रूप हैं। पृथ्वी भी आप ही का रूप है। व्यष्टिरूप से सब प्राणियों के शरीर और समष्टिरूप से विराट् ब्रह्माण्डरूप आप ही हैं। आप ही त्रिलोकी को जीवित रखनेवाले वायु हैं। शरीर और मन आदि इन्द्रियों का बल आप ही हैं। आप ही आकाश हैं। शब्दगुण से युक्त होने के कारण आप ही सब पदार्थों का ज्ञान करानेवाले हैं। आकाशरूप से आप सबके भीतर और बाहर व्याप्त हैं। प्रकाशपूर्ण पुण्य स्वर्गलोक † भी आप ही हैं।

---

* श्रुति कहती है—"हस: शुचिषत्"।

† जैसा कि श्रुति में कहा है—

"एष वै ज्योतिष्मन्तं पुण्यं लोकं याति।" अर्थात् यह प्रकाशपूर्ण पुण्य स्वर्गलोक को जाता है।

आपको प्रणाम है। प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गों के कर्म भी आप ही हैं। जिन कर्मों से देवलोक और पितृलोक मिलते हैं, वे कर्म भी आप ही हैं। धर्म का फल अभ्युदय भी आप ही हैं और अधर्म का फल दुःखदायक मृत्यु या विनाश भी आप ही हैं। आपको प्रणाम है। हे ईश्वर, सब कामनाओं के पूर्ण करनेवाले और सब कर्मों का फल देनेवाले आप ही हैं। आप सर्वज्ञ अन्तर्यामी अथवा मंत्रस्वरूप हैं। आप ही महान् धर्मरूप हैं। आप ही परमधर्म कृष्णरूप अर्थात् परब्रह्म † हैं। आप ही पुराणपुरुष और सांख्य तथा योगशास्त्र के ईश्वर या आचार्य ( उपदेशक ) हैं। आपको प्रणाम है। आप ही अहंकाररूप रुद्र हैं। कर्त्ता, करण ( उपकरण ) और कर्म, ये तीन शक्तियाँ अथवा रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली तीन शक्तियाँ आपमें विद्यमान हैं। आपको प्रणाम है। ज्ञानरूप और शक्तिरूप ब्रह्म भी आप ही है। आपको प्रणाम है। आप ही से विविध वाणियाँ अथवा वेद-शास्त्र उत्पन्न हुए हैं। आपको प्रणाम है। हम आपके दर्शन करना चाहते हैं। आप हमें अपना वही रूप दिखलाइए, जो आपके भक्तों को परम प्रिय है, जिसकी भक्तजन पूजा करते है और जो सब इन्द्रियों को अपने गुणों से अपनी ओर खींचनेवाला है। हे ईश, आपकी वह मूर्त्ति वर्षाकाल के जलभरे मेघ के समान श्यामवर्ण है। तात्पर्य यह कि वह मेघ के समान ही परमानन्द रस बरसानेवाली, सब तापों को शान्त करनेवाली और चातकरूप भक्तों के हृदय को हर्षित करनेवाली है। उसमें सभी प्रकार के सौंदर्य का संग्रह देख पड़ता है। चार लंबी भुजाएँ है। मुखारविन्द सुन्दर और यथोचित आँख, नाक, कान आदि अंगों से युक्त है। दोनों नेत्र कमलदल के समान विशाल और अरुण है। सुन्दर भौंह और नासिका दर्शनीय हैं। दाँतों की पंक्तियाँ समान और उज्ज्वल है। गोल कपोल मनोहर है। दोनों कान समान और सुडौल हैं। नेत्रों की कोरों से प्रेम, प्रसन्नता और हँसने का भाव झलक रहा है। सिर पर काली-काली घुँघराली अलकावली शोभायमान है। शरीर में कमलपुष्प-पराग के समान पीला रेशमी वस्त्र सुशोभित है। कानों में मणिमण्डित मकराकृति-कुण्डल झलक रहे हैं। किरीट-मुकुट सिर पर, बाजूबंद और कंकण भुजाओं में, हार वक्षःस्थल में, नूपुर पैरों में और करधनी कमर में शोभित है। चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्मपुष्प धारण किये है। वनमाला, मणि और लक्ष्मीदेवी हृदय में विराजमान है। सिंह के कंधों पर जैसे इधर-उधर जटाएँ बिखरी होती है, वैसे ही गरदन में इधर-उधर तेज छिटका रही कौस्तुभ मणि कंठ में पड़ी है। श्यामवर्ण वक्षःस्थल में विराजमान लक्ष्मीदेवी की शोभा के आगे सुवर्णरेखा से युक्त कसौटी ( वह काला पत्थर, जिस पर घिसकर सोने की जाँच की जाती है ) की भी शोभा तुच्छ जँचती है। जैसे हवा चलने पर पीपल का पत्ता हिलता है, वैसे ही साँस लेने से चंचल त्रिबलीशोभित उदर की शोभा हो रही है। गंभीर घुमाववाली नाभि जब साँस के खींचने में और छोड़ने में फड़कती है, तब जान पड़ता है कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड जिस स्थान से निकला था, उसी स्थान मे फिर समा रहा है। श्यामवर्ण नितम्ब पर चमकीला पीताम्बर शोभित है और उसके ऊपर सुवर्ण-मेखला की अपूर्व शोभा देख पड़ती है। समान, सुन्दर और सुडौल ऊरु, जानु, जंघा और श्रीचरण दर्शनीय हैं। भगवन्, आप ही हम अज्ञानियों को सुमार्ग दिखलानेवाले सच्चे गुरु हैं। हमारी प्रार्थना यही है कि शरद ऋतु में खिले हुए कमलदल के समान अरुणवर्ण चरणों के नखों के प्रकाश से हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करनेवाले अपने पूजनीय और वन्दनीय श्रीचरणों के दर्शन हमें दीजिए और कृतार्थ कीजिए। आपके ऐसे भवभयभंजन रूप के दर्शन वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ हैं। आत्मशुद्धि की इच्छा रखनेवाले लोग नित्य इस रूप का ध्यान करते हैं, परन्तु उन्हें भी

† जैसा कि स्मृति में लिखा है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते। अपने धर्म का पालन करते हुए आपका भजन करनेवालों को यह रूप अभय देने-वाला है। यद्यपि आपके दर्शन अन्य ज्ञानी आदि सबको दुर्लभ हैं, तथापि अनन्य भक्त लोग दृढ़ भक्ति के द्वारा आपके दर्शन पा जाते हैं। आत्मज्ञानी लोगों की आप ही गति हैं। स्वर्ग के राजा इन्द्र आदि भी आप-के दर्शन की लालसा रखते हैं, पर नहीं पाते। हम लोग आपसे आपके चरणों की सेवा करने का ही वर-दान माँगते हैं। आपको साधु पुरुष भी बड़ी कठिनता से प्रसन्न कर पाते हैं। ऐसे दुराराध्य आपको भक्ति से प्रसन्न करके कौन ऐसा मूर्ख है, जो आपके चरणों की सेवा अर्थात् भक्ति को छोड़कर अन्य स्वर्ग आदि के सुख माँगेगा ? तात्पर्य यह कि सौभाग्य से आपको प्रसन्न करके फिर विषय-सुख की चाह करने से बढ़-कर मूर्खता और नहीं हो सकती। जो मृत्यु या काल प्रभाव और उत्साह से अपनी भौंह के एक इशारे से ही इस ब्रह्माण्ड का विनाश करता है, वह भी आपके चरणों की शरण में आये हुए जीव पर अपनी प्रभुता या शक्ति नहीं दिखा सकता। तात्पर्य यह कि इतना प्रभावशाली काल भी उसे नष्ट नहीं कर सकता। इस-लिए हम आपके उन्हीं अभयपद चरणों का आश्रय चाहते हैं। केवल काल का भय ही नहीं रहता, किन्तु लाभ की दृष्टि से भी आपके चरणों की सेवा ही प्रार्थनीय है; क्योंकि उससे बढ़कर और कोई भी पुरुषार्थ अर्थात् मनुष्यजन्म का प्रयोजन नहीं हो सकता। भगवान् के भक्तों के सत्संग में बीतनेवाले आधे क्षण की तुलना में स्वर्ग और मोक्ष भी कुछ नहीं है; फिर राज्य आदि ऐहिक कामनाएँ किस गिनती में हैं !

भगवन, आपके श्रीचरण सब पापों को नष्ट कर देते हैं। आपकी कीर्ति ने जिनके हृदय को शुद्ध कर दिया है, अर्थात् आपकी कीर्तिगंगा में स्नान करने से जिनका भीतर और बाहर का मैल धुल गया है, उन निष्कपट, सरलप्रकृति, सब प्राणियों पर करुणा करनेवाले साधुओं का संग आपके अनुग्रह से हमें सुलभ हो। बस, यही हम चाहते हैं। यह सत्संग हम इसलिए चाहते हैं कि जब सत्संग करने से मनुष्य का चित्त स्थिर और शुद्ध होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर चलायमान नहीं होता, अज्ञान की अँधेरी कोठरी में पड़कर नहीं भटकता, तब वह आपके तत्त्व अथवा अपने वास्तविक रूप को ठीक-ठीक देखता या जानता है। आपका तत्त्व कैसा विचित्र है ! आपका तत्त्व जगत् का उपादान कारण या विश्वरचना की सामग्री तो है ही, विश्वरचना का निमित्त कारण भी वही है। यही बात कहते हैं कि यह दिखलाई पड़नेवाला समग्र विश्व आपके तत्त्व में ही प्रकाशित या व्यक्त होता है। और इस विश्व के भीतर आप ही का तत्त्व प्रकाशित या व्यक्त है। इस प्रकार आपका तत्त्व इस विश्व में ओतप्रोत है। उसी आपके तत्त्व को परब्रह्म कहते हैं। वह परमज्योतिःस्वरूप और आकाश की तरह सर्वव्यापक है। हे ईश्वर, हमको यह प्रतीत होता है कि जो अपनी अनेक रूपवाली माया से इस विश्व की सृष्टि और पालन करके अन्त को उसका संहार करता है, परन्तु आप विकार को नहीं प्राप्त होता, एकसा ही बना रहता है, अपने रूप में अवस्थित रहता है, और जिसकी माया और सबकी बुद्धि में भेद की भावना अथवा भ्रम (मोह) उत्पन्न कर देती है, किन्तु उस पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती, वही स्वतन्त्र परमात्मा आप हैं। जो सिद्धि या मुक्ति की इच्छा रखनेवाले कर्मयोगी लोग आपके पूर्वोक्त साकार सगुण रूप को कर्मों के द्वारा श्रद्धा के साथ भजते हैं, वे ही वेद और शास्त्र के तत्त्व को भली भाँति समझ सके हैं। जो लोग कोरे ज्ञानी या 'निर्गुण निर्गुण' कहकर चिल्लाने-वाले और भक्ति-भाव से शून्य हैं, उन्होंने वास्तव में वेद-शास्त्र के भाव को नहीं समझा पाया। कारण, आपके निर्गुण रूप को तो कोई देख नहीं पाता और यह रूप पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण के द्वारा जाना जा सकता है; क्योंकि यही आत्मारूप से उन सबका संचालक है। जो कोई कहे कि ईश्वर तो एकमात्र और भेदरहित है, उसमें सगुण और निर्गुण का भेद करनेवाले वेद-शास्त्र के पण्डित कैसे माने जा सकते हैं ? तो उसका उत्तर यही है कि भेद वे लोग नहीं करते, आपने ही क्रीड़ा करने के लिए सगुण-निर्गुण या चेतन-

अचेतन का भेद किया है। यही बात कहते हैं कि आप ही एकमात्र आदिपुरुष हैं। जब आपकी शक्ति माया आपमें लीन रहती है, तब आप ही एक रह जाते हैं, माया का सब प्रपञ्च आपमें लीन रहता है। पीछे से उस मायाशक्ति को जब आप प्रकट करते हैं। तब उससे सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की उत्पत्ति होती है। इन गुणों से महत्तत्त्व (इच्छाशक्ति), अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, देव, ऋषि आदि प्राणियों के भेद से क्रमशः यह सारा जगत् उत्पन्न होता है। आपने ही अपनी शक्ति माया से अण्डज (पक्षी आदि), स्वेदज (जूँ आदि), उद्भिज (वृक्ष आदि) और जरायु (मनुष्य), इन चार प्रकार के प्राणियों की सृष्टि की है और उनके देह में आत्मारूप अपने चेतन्य अंश से प्रवेश किया है। पुर अर्थात देह में चिदाभासरूप से शयन अर्थात् वास करने के कारण आपको 'पुरुष' कहते हैं। जीव आपका अंश होने पर भी आपसे भिन्न ही है, जैसे अग्नि का कण होने पर भी चिनगारी अग्नि नहीं है। आप अविद्या-मोहित, संसारी अर्थात जन्म-मरण-धर्म से युक्त जीव नहीं हैं। जैसे मधुमक्षिका (मक्खी) किसी जगह शहद का छत्ता लगाकर उसमें शहद जमा करती है और उसे खाती है, वैसे ही जो अविद्या में मोहित होकर कर्मों के द्वारा क्षुद्र विषय-सुख का संचय और भोग करता है, वह जीवात्मा है, आप तो उसके साक्षी परमात्मा हैं।* स्वामी, आपका वेग अति प्रचण्ड है। वायु जैसे असावधान मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है, वैसे ही कालरूप से आप प्राणियों के ही द्वारा प्राणियों का संहार करते हैं। आपके इस स्वरूप को सब देखते हैं। जीव की विषय-भोग की लालसा नहीं मिटती। मुझे "यह करना है, वह करना है" इस प्रकार की नित्य नई चिन्ता करके वह काल की ओर से असावधान रहता है। यदि कोई इच्छा पूर्ण भी हो जाती है तो उससे वह तृप्त नहीं होता। उसका लोभ बढ़ता ही रहता है। इस परिस्थिति में एक दिन कालरूप आप अचानक आकर उसे नष्ट कर देते हैं, जैसे भूखा साँप होठ चाटता या जीभ लपलपाता हुआ असावधान मूसे को सहसा झपटकर लील लेता है। जीव असावधान रहता है, पर आप अपने काम में कभी असावधानी नहीं करते। कालरूप आपके अनादर से जिसका शरीर वृथा क्षय को प्राप्त हो रहा है, ऐसा कौन पण्डित पुरुष है, जो आपके चरणकमलों का भजन नहीं करेगा, उन्हें छोड़कर अन्य विषयों में मन लगावेगा? अपने विनाश की शंका से हमारे गुरु अर्थात लोकपितामह ब्रह्माजी और स्वायंभुव आदि चौदह मनु भी फल की अपेक्षा न रखकर स्वाभाव से ही दृढ़ विश्वास के साथ कालरूप आपके चरणों का पूजन-भजन करते हैं। हे ब्रह्मन, हे परमात्मन, यह विश्व रुद्र अर्थात संहार करनेवाले काल के भय से ध्वंस को प्राप्त हो रहा है।

---

* यही बात श्रुति कहती है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" एकादश स्कन्ध में भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धव से यही कहेंगे—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छया कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोपि बलेन भूयान्॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥

शारीरक ब्रह्मसूत्र भी कहता है—गुहां प्रविष्टावात्मनौहि तद्दर्शनात्।"

अर्थात् श्रुति कहती है—जीव और आत्मा, इन दोनों में एक पीपल के फलों को खाता है, विषय-भोग करता है, और दूसरा वैसा नहीं करता। पर बला दूसरा ही है।

एकादश के श्लोकों का भी भावार्थ यही है। एकादश स्कन्ध में यथास्थान पढ़ने को मिलेगा। तात्पर्य उनका यही है कि एक वृक्ष (शरीर) में दो पक्षी समान रूप के और मित्र रहते हैं। एक पीपल के फल खाता है, पर दूसरा नहीं। पर वही अधिक शक्तिशाली है। अपने को और दूसरे को वह जानता है, जो पिप्पलान्न को नहीं खाता। इस प्रकार जो विद्यामय (ज्ञानी) है, वह नित्यमुक्त है और जो अविद्या से युक्त जीव है, वह नित्यबद्ध है।

शारीरक ब्रह्मसूत्र कहता है—गुहा (हृदय) में प्रवेश किये आत्मा और परमात्मा हैं। उन्हीं के दर्शन या ज्ञान से मुक्ति होती है।

केवल आप ही ज्ञानियों को, हमको उस काल के भय से बचानेवाले हैं। आपकी शरण में आने से जीव अकुतोभय हो जाता है, अर्थात् उसे किसी का भय नहीं रहता।

इस प्रकार "रुद्र-गीत" स्तोत्र बतलाकर शंकर ने उन राजकुमारों से कहा—हे राजपुत्रो, तुम शुद्ध चित्त से भगवान् में मन लगाकर अपने धर्म का आचरण करते हुए इस रुद्र-गीत का पाठ करो, अर्थात् इसका मनन, इस पर विचार करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा। देखो, वह हरि परमात्मा तुम्हारे हृदय में और सब प्राणियों के हृदय में आत्मारूप से विराजमान हैं। यह समझकर नित्य उन्हीं का पूजन, भजन और ध्यान करो। मैंने जो तुमको यह श्रेष्ठ "योगादेश" नाम का स्तव ( रुद्र-गीत और योगादेश, दोनों नाम इसी स्तोत्र के हैं ) बतलाया है, उसका नित्य अभ्यास करो अर्थात् उसके भाव पर विचार करो। मुनियों के व्रत को धारण करके, चित्त को एकाग्र करके भक्ति और श्रद्धा के साथ इस स्तोत्र का पाठ करो। सब प्रजापतियों के स्वामी भगवान ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदि में भृगु आदि हम सब पुत्रों को उत्पन्न करके जब सृष्टि करने की आज्ञा दी थी, तभी हमें इस पवित्र स्तोत्र का उपदेश किया था। इस स्तव के जप और अभ्यास से हमारा अज्ञान दूर हो गया और इसी के प्रभाव से हम सबने ब्रह्माजी की आज्ञा के अनुसार अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न किया। जो कोई वासुदेव में दृढ़ भक्ति रखकर एकाग्र भाव से इस स्तोत्र का जप और अभ्यास करता है, उसे शीघ्र ही कल्याण या मुक्ति मिल जाती है। सबसे बड़ा और श्रेष्ठ कल्याण ज्ञान ही है। वह ज्ञान इस स्तोत्र से प्राप्त होता है। जिसने ज्ञान की नौका प्राप्त कर ली है, वह सहज में ही अपार संसार-सागर के पार पहुँच जाता है। जो व्यक्ति एकाग्र होकर मेरे कहे हुए इस भगवान् के स्तोत्र को श्रद्धा के साथ पढ़ता है, वह हरि भगवान् को सहज में ही प्रसन्न कर लेता है। इस स्तोत्र का अभ्यास हरि की सबसे बड़ी आराधना है। इस स्तोत्र से जो कोई भगवान् को प्रसन्न कर लेता है, उसकी सभी कामनाएँ भगवान् की कृपा से पूर्ण हो जाती हैं। एक हरि भगवान् ही सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाले और मंगलमय हैं। जो कोई प्रातःकाल उठकर हाथ जोड़कर श्रद्धा के साथ इस स्तोत्र का पाठ करता या इसे सुनता है, वह शीघ्र ही कर्म के बन्धन अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है। हे राजकुमारो, परमपुरुष परमात्मा का यह स्तोत्र मैंने तुमसे कहा है। एकाग्रचित्त होकर इसका जप करते हुए श्रेष्ठ तप करो। अन्त में तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण होगी।

# पचीसवाँ अध्याय

## नारद और प्राचीनबर्हि का संवाद और पुरंजनोपाख्यान का आरम्भ

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इसके उपरान्त प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने भगवान रुद्र की पूजा की। भगवान् रुद्र भी राजकुमारों को रुद्रगीत का उपदेश देकर उनके सामने ही अन्तर्द्धान हो गये। प्रचेताओं ने जल के भीतर जाकर भगवान् के पूर्वोक्त स्तोत्र को जपते हुए दस हज़ार वर्ष तक तपस्या की।

राजा प्राचीनबर्हि के सम्बन्ध में पहले ही बतलाया जा चुका है कि वह कर्मकाण्ड के मार्ग को ही अच्छा समझते थे और स्वर्ग आदि की कामना से बराबर यज्ञ किया करते थे। हे विदुर, प्रचेताओं के पिता प्राचीनबर्हि को इस प्रकार कर्मकाण्ड में ही लगा हुआ देखकर दयालु नारदजी को उन पर दया आ गई। तब आत्मतत्त्व के जाननेवाले कृपालु नारद ने प्राचीनबर्हि के निकट जाकर उनको इस प्रकार ज्ञान का उपदेश किया।

नारद ने कहा—राजन्, यह जो तुम कर्मकाण्ड फैलाये हुए हो, इससे तुमको अपने किस कल्याण की आशा है ? तुम इससे दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति संभव समझकर ही इसमें लिप्त हो रहे हो। कारण, यही सबसे बढ़कर श्रेय हो सकता है कि सुख मिले और दुःख दूर हो। परन्तु ज्ञानी लोगों ने अच्छी तरह विचारकर देख लिया है कि यथार्थ में इस कर्मकाण्ड से न दुःख ही दूर होता है और न सुख ही मिलता है।

राजा प्राचीनबर्हि ने कहा—हे महाभाग, मेरी बुद्धि कर्ममार्ग में आसक्त है, इसलिए परम श्रेय अर्थात् मोक्ष का ज्ञान मुझको नहीं है। अब आप कृपा कर मुझे विमल ज्ञान अर्थात आत्मज्ञान का उपदेश कीजिए, जिससे मुझे कर्मबन्धन से छुटकारा मिल जाय। जो लोग घर-गृहस्थी में आसक्त हो रहे है, वे पुत्र, स्त्री, धन आदि को ही परम पुरुषार्थ समझ लेते हैं और उन्हीं के लिए कपटधर्म का आचरण करते हैं। मै उन्हीं पुरुषों में हूँ। ऐसे लोग संसार के अनेक मार्गों अर्थात् योनियों में भटकते रहते है और कभी मोक्ष नहीं पाते।

नारद ने कहा—हे प्रजापति महाराज, देखिए, आपने निर्दय होकर यज्ञों में हज़ारों पशुओं का बलिदान किया है। ये सब जीव आपके मरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आपकी जब मृत्यु होगी, तब ये सब आपसे पहुँची हुई पीड़ा या कष्ट को स्मरण करके कुपित होकर यमलोक में आपसे बदला लेगे। वज्र से अधिक पैने अपने लोहयंत्रमय सींगों से वहाँ ये आपके शरीर को वैसे ही छिन्न-भिन्न करेंगे, जैसे यहाँ आपने उनके अंगों को काटा है। मैं आपको पुरंजनोपाख्यान नाम का पुरातन इतिहास सुनाता हूँ। एकाग्र होकर सुनिए। यह इतिहास इस संकट से आपका उद्धार करेगा, अर्थात् इस उपाख्यान को सुनकर आपको ज्ञान प्राप्त होगा और उससे आपको मुक्ति मिलेगी *। राजन्, एक बहुत प्रसिद्ध राजा था। उसका नाम पुरंजन था। वह बड़ा प्रतापी और यशस्वी था। उसका एक मित्र था, जिसका नाम अविज्ञात था। उसकी चेष्टाएँ भी अविज्ञात थीं। वह राजा पुरंजन भोग करने के स्थान को खोजता हुआ पृथ्वीमण्डल में घूमने लगा। किन्तु उसे कहीं अपने अनुरूप भोग करने का स्थान नहीं मिला, तब वह कुछ उदास-सा हो गया। उसे जिन-जिन भोगों की कामना थी, उन्हें पूरा करनेवाला कोई भी अपने मन का स्थान नही देख पड़ा। इस प्रकार पृथ्वीमण्डल में घूमते-घूमते हिमवान् पर्वत के दक्षिण तट पर एक बहुत सुदर पुरी देख पड़ी। वह पुरी निर्दोष और सब प्रकार से उपयुक्त थी। उसमें नव द्वार थे। पुरंजन की सब इच्छाएँ उसमे रहने से पूर्ण हो सकती थीं। उस पुरी की शोभा अपूर्व थी। चारों ओर ऊँची दीवार, उपवन, अटारी, महल, खाई, झरोखे, फाटक आदि उस पुरी की शोभा बढ़ा रहे थे। उसमें अनेकों भवन बने थे। उनके शिखर सोने, चाँदी और लोहे के थे। वे महल नीलम, बिल्लौर, वैडूर्य, मोती, मानिक, पन्ना आदि रत्नों से अलंकृत हो रहे थे। नागों की पुरी भोगवती के समान वह जान पड़ती थी। सभा-भवन, चौक, राजमार्ग, द्यूतक्रीड़ा के स्थान, बाज़ार, देवमन्दिर, धर्मशाला आदि स्थान उस पुरी की शोभा बढ़ा रहे थे। उनमें ध्वजा-पताका सुशोभित थीं। विद्रुम की बनी वेदी बहार दिखा रही थीं। उस पुरी के बाहर एक उपवन था। उसमें अनेकों दिव्य वृक्ष और लताएँ शोभायमान थी। सुंदर सरोवर बने थे। उन सरोवरों के तट पर बैठे हुए पक्षी अपनी

* राजा प्राचीनबर्हि कर्म मे आसक्त थे, इसलिए उन्हें रूपक के रूप मे आत्मा और परमात्मा का परिचय देकर नारदजी यह बतलावेंगे कि विषयों की आसक्ति से ही जीव को ससार-बन्धन होता है और वह बन्धन ईश्वर के अनुग्रह से ही छूटता है। जैसा इस श्लोक में कहा है—

चेतः खल्वस्य बधाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्त बधाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

मधुर मनोहर विविध बोलियाँ सुना रहे थे। भ्रमर गुंजार कर रहे थे। उन सरोवरों के तट पर लगे हुए वृक्षों के कोमल पल्लव झरनों के ठंडे जल के कणों से युक्त वसन्त के शीतल वायु की लहरों से हिल रहे थे और उनसे सरोवरों की अत्यन्त शोभा हो रही थी। वहाँ अनेक प्रकार के जंगली जीव आपस का वैर-विरोध छोड़कर मुनियों की भाँति शान्त भाव से रहते थे। मृगगण अपने हिंसक सिंह, बाघ आदि घोर पशुओं के भय को छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर विचरते थे। कोकिलाओं की मीठी बोली सुन पड़ती थी। उसे सुनकर राह-चलते पथिकों को जान पड़ता था कि वह वन मानों उन्हें अपनी ओर बुला रहा है।

पुरंजन ने उस उपवन में पहुँचकर देखा, एक परम सुन्दरी स्त्री अपनी इच्छा से वहाँ आकर उपस्थित हुई है। उसके साथ दस सेवक हैं। उनमे से हर एक सैकड़ों स्त्रियों का नायक है। अर्थात् हर एक की अनुगामिनी अनेकों स्त्रियाँ है। उस पुरी की रक्षा एक पाँच सिर का सर्प करता है। वह भी उस स्त्री के साथ है। वह स्त्री अभी सोलह वर्ष की है; और अपने ही समान श्रेष्ठ नायक को खोज रही है। उसका सौन्दर्य्य ऐसा है कि देखनेवाला मोहित हुए बिना नहीं रह सकता। वह कामरूपिणी है; अर्थात् इच्छानुसार रूप रख सकती है। उसकी नासिका, दाँत और कपोल सुदर और सुडौल है। उस बाला का मुख कमल के समान खिला हुआ है। उसके कान समान और सुंदर हैं। उनमें कुण्डलों की अपूर्व शोभा है। वह एक पीले रंग की धोती पहने है। उसका रंग श्याम है। नितंब चौड़े हैं। कमर में सोने की करधनी पड़ी है। उसके चलने पर पैरों के नूपुर छमछम बजते जाते हैं। देखने से प्रतीत होता है कि कोई देवकन्या आ रही है। उसके स्तन जवानी के आरंभ की सूचना दे रहे हैं। दोनों स्तन समान और गोल है। उनके बीच में संधि नहीं है। वह लज्जा का भाव प्रकट करती हुई उन स्तनों को धोती के आँचल से छिपा रही है। वह गजगामिनी लजीली मन्द मुसकान से परम सुन्दरी देख पड़ती है। उसके कटाक्ष बाण के समान और नयनों की कोरें उन बाणों की गाँसी-सी जान पड़ती हैं। भौहें धनुष के समान हैं। उस स्त्री ने प्रेम प्रकट करते हुए भौहें मटकाकर पुरंजन के ऊपर कटाक्ष के बाण ऐसे छोड़े कि पुरंजन का हृदय घायल हो गया।

तब वीर पुरंजन ने ललित और मधुर वाणी से यों कहा—हे सुन्दरी, तुम्हारे नेत्र कमलदलतुल्य विशाल हैं। तुम कौन हो? किसकी कन्या या स्त्री हो? कहाँ से इस स्थान में आई हो? इस पुरी में क्या कर रही हो, अथवा तुम्हारी क्या कामना है? यह मुझसे कहो। ये ग्यारह वीर योद्धा तुम्हारे साथ कौन हैं? ये सब स्त्रियाँ कौन हैं? और यह सर्प तुम्हारे साथ क्यों है? हे सुन्दरी, क्या तुम ही देवी हो, अपने पति धर्म को खोज रही हो? या भवानी हो, अपने पति शंकर को खोज रही हो? अथवा सरस्वती हो, अपने पति ब्रह्मा को खोज रही हो? या साक्षात् लक्ष्मीदेवी हो और मुनियों की तरह एकाग्र होकर इस निर्जन स्थान में अपने पति विष्णु भगवान् को खोज रही हो? मुझे तो तुम अवश्य ही लक्ष्मीदेवी जान पड़ती हो। तुम भगवान् विष्णु के चरणों में अनुरक्त हो, इसीसे वह कृतार्थ और पूर्णकाम है। पर यह तो बताओ, लक्ष्मीजी के हाथ में सदा रहनेवाला लीलाकमल तुम्हारे हाथ से कहाँ गिर पड़ा? परन्तु मैं भूलता हूँ, मेरा यह अनुमान ठीक नहीं। तुम इन देवियों में से कोई नहीं हो। कारण, पृथ्वी पर पैर रक्खे खड़ी हो। देवतों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते। हे सुन्दरी, तुम निश्चय ही कोई राजकन्या हो। देखो, मैं बड़ा प्रसिद्ध वीर और कर्मनिष्ठ हूँ। तुम मुझे अपना पति बना लो। जैसे लक्ष्मीदेवी विष्णु भगवान् के साथ वैकुण्ठ-लोक को सुशोभित करती हैं, वैसे ही तुम भी मेरे साथ इस पुरी की शोभा बढ़ाओ। मै समझता हूँ, मेरा यह प्रस्ताव अनुचित नहीं है और इसे तुम अवश्य स्वीकार कर लोगी। देखो, तुम्हारे कटाक्षों ने मेरे मन को विह्वल कर दिया है। उस पर तुम्हारी लजीली मुसकान के साथ चंचल भौंहों का इशारा पाकर कामदेव




पुरंजनी को देखकर पुरंजन की आसक्ति

भी मुझे सता रहे हैं। इसलिए अब अनुग्रहपूर्वक मुझे अपना पति स्वीकार कर लो। तुम्हारा मुखकमल सुन्दर भौंहों से शोभित है, नेत्रों के तारे चित्त को चुराये लेते हैं, मुखमण्डल श्यामवर्ण भ्रमरसदृश अलकों से घिरा हुआ है। तुम्हारी वाणी और मंद मुसकान बहुत ही मधुर है। तुम लज्जा के कारण अपना मुख मेरे आगे नहीं उठाती हो। तनिक यह अपना मनोहर मुख ऊपर उठाकर मेरी ओर देखो।

राजन्, जब पुरंजन अधीर होकर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा, तब वह स्त्री भी वीर पुरुष पुरंजन पर मोहित होकर हँसती हुई आदर के साथ उससे यों कहने लगी—हे पुरुषश्रेष्ठ, हम लोग नहीं जानते कि हमको या औरों को उत्पन्न करनेवाला कौन है। न मुझे यही मालूम है कि अपना या औरों का नाम या गोत्र क्या है। मैं यहाँ रहती हूँ, इतना ही जानती हूँ। पर इससे अधिक कुछ नहीं जानती। मुझे यह भी नहीं विदित है कि मेरे रहने का स्थान यह पुरी किसने बनाई है। हे पुरुषसिंह, ये सब पुरुष मेरे सखा और स्त्रियाँ सखियाँ हैं। यह नाग इस मेरी पुरी का रक्षक है। जब मैं सोती हूँ, तब यह सावधान रहकर इस पुरी की रक्षा करता और जागता रहता है। हे वीर, तुम्हारे यहाँ आने को मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझती हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी विषय-भोग की अभिलाषा को मैं अपने इन सखाओं और सखियों की सहायता से पूर्ण करूँगी। हे स्वामी, तुम सौ वर्ष तक आनन्द के साथ नव द्वार की पुरी में रहकर मेरे द्वारा पहुँचाये गये भोगों का उपभोग करो। हे वीर, तुम्हारे सिवा मैं और किसको रमाऊँगी? अन्य पुरुष (ब्रह्मचर्य या संन्यास आश्रम में रहनेवाले), जिन्होंने निवृत्तिमार्ग को स्वीकार किया है, वे रति (भोग) के तत्त्व को क्या जानें? वे निरे गँवार हैं। कारण, शास्त्र में जिस गृहस्थी के सुख का निषेध नहीं किया गया, उसे भी वे छोड़े हुए हैं। उन्हें परलोक की चिन्ता नहीं; क्योंकि वे पुत्रोत्पत्ति के लिए गृहस्थाश्रम को नहीं स्वीकार करते, और यह स्पष्ट है कि पुत्र के बिना परलोक नहीं बनता। उन्हें इस लोक की भी चिन्ता नहीं होती, अर्थात् कल के निर्वाह के लिए अन्न-वस्त्र हैं या नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती। इसलिए वे पशु के समान हैं। वास्तव में गृहस्थाश्रम के समान सुख किसी और आश्रम में नहीं है। इसीसे गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना है। इसी आश्रम मे मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम, पुत्रसुख, मोक्ष, यश, शोकरहित श्रेष्ठ लोक आदि सब पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। इस बात को निवृत्तिमार्ग के अनुयायी नैष्ठिक ब्रह्मचारी या संन्यासी नहीं जानते। यदि जानते तो कभी गृहस्थाश्रम को न छोड़ते। पण्डितों का यह कहना है कि इस गृहस्थाश्रम में रहकर ही मनुष्य पितरों का, देवतों का, ऋषियों का, मनुष्य आदि सब प्राणियों का और अपना कल्याण कर सकता है। पितृगण आदि सब गृहस्थ के ही आश्रित हैं। हे महाबाहो, मेरे समान श्रेष्ठ सुंदरी स्त्री ऐसी कौन होगी, जो तुम सरीखे उदार, सुन्दर, प्रसिद्ध, प्रिय-दर्शन और आपसे आये हुए वीर पुरुष को पति के रूप मे स्वीकार न करेगी? तुम क्या कोई साधारण पुरुष हो? हे महाबाहो, तुम कृपापूर्ण मनोहर मुसकान से युक्त दृष्टि के द्वारा दीन जनों के मन की व्यथा दूर करनेवाले हो। इन सर्पाकार मोटी और गोल सुडौल भुजाओं के भीतर स्थान पाने के लिए कौन सुन्दरी अधीर न हो उठेगी!

श्री नारदजी कहते हैं—राजन्, पुरंजन और पुरंजनी (वह स्त्री), इस प्रकार परस्पर रीझकर और पति-पत्नी के रूप से रहने की प्रतिज्ञा करके, उस पुरी के भीतर गये और सौ वर्ष तक सुखभोग करते रहे। स्थान-स्थान पर गवैये लोग ललित स्वर से पुरंजन का यश गाने लगे। वहाँ स्त्रियों से घिरा हुआ पुरंजन क्रीड़ा करने लगा। गर्मियों मे पुरंजन स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करके जल-विहार करता था।

पुरजन की उस पुरी मे नव द्वार थे, यह पहले कहा जा चुका है। अब उन्हीं का विवरण कहते हैं। सात द्वार तो उस पुरी के ऊपरी हिस्से में थे और दो द्वार नीचे के खण्ड मे। उस पुरी का जो कोई स्वामी

हो, उसके भिन्न-भिन्न देशों में जाने के लिए ये अलग-अलग द्वार थे। पाँच द्वार तो पूर्व ओर थे, बाक़ी चार मे से एक दक्षिण ओर, एक उत्तर ओर और दो पश्चिम ओर थे। अब इन द्वारों के नाम सुनो। पूर्व ओर खद्योत और आविर्मुखी नाम के दो द्वार एकत्र बने हुए थे। पुरंजन द्युमान् नाम के सखा के साथ इन द्वारो से विभ्राजित-नामक देश को जाता था। ऐसे ही पूर्व की ओर नलिनी और नालिनी नाम के दो द्वार और एकत्र बने हुए थे। अवधूत-नामक सखा के साथ पुरंजन इन दोनो द्वारों से सौरभ देश को जाता था। पूर्व में मुख्या नाम का प्रधान द्वार एक और था। रसज्ञ और विपण नाम के सखाओं को साथ लेकर पुरंजन उस द्वार से आपण और बहूदन नाम के दो देशों को जाता था। राजन, दक्षिण ओर जो एक द्वार था, उसका नाम पितृहू था। श्रुतधर सखा के साथ पुरंजन उस द्वार से दक्षिण पांचाल देश को जाया करता था। उत्तर ओर के द्वार का नाम देवहू था। उसी श्रुतधर के साथ पुरंजन उस द्वार से उत्तर पाञ्चाल देश की यात्रा करता था। पश्चिम द्वार का नाम आसुरी था। उस द्वार से, दुर्मद-नामक सखा के साथ, पुरंजन ग्रामक देश को जाता था। दूसरे पश्चिम द्वार का नाम निर्ऋति था। लुब्धक सखा के साथ पुरंजन उस द्वार से वैशस देश को जाता था। इस पुरी में और भी दो अंध द्वार थे। उनका नाम निर्वाक और पेशस्कृत था। इन्द्रियधारियों का स्वामी पुरंजन इन द्वारों से जाने का और काम करने का काम लेता था।

पुरंजन जब अन्तःपुर मे विषूचीन-नामक सखा के साथ जाता था, तब स्त्री और पुत्र आदि के कारण कभी मोह को प्राप्त होता था, कभी प्रसन्नता प्राप्त करता था और कभी उसे हर्ष होता था। कामी पुरंजन मूर्खों की भाँति इस प्रकार कर्मों में आसक्त होकर विषयों के द्वारा ठगा गया, उसकी प्रिया जो कुछ करती थी, उसके साथ वह भी वही करता था। यदि स्त्री कभी मदिरा पीती तो वह भी मदिरा पीकर मतवाला बन जाता था। वह भोजन करती तो आप भी भोजन करता था। वह गाती थी तो आप भी गाता था। वह कभी रोती थी तो आप भी रोने लगता था। वह हँसती तो आप भी हँसता था। वह बात-चीत करती थी तो आप भी वार्तालाप करता था। वह कभी दौड़ती थी तो आप भी दौड़ता था। वह बैठती थी तो आप भी बैठता था। वह सोती थी तो आप भी सोता था। वह उठती तो आप भी उठता था। वह कुछ सुनने लगती तो आप भी सुनने लगता था। वह कुछ देखने, सूँघने या छूने लगती तो आप भी देखने, सूँघने और छूने लगता था। यदि वह स्त्री शोक करती तो आप भी दीन भाव से शोक मनाने लगता था। यदि वह प्रसन्न होती तो आप भी प्रसन्न होता था। वह सन्तुष्ट होती तो आप भी सन्तोष प्रकट करता था। इस प्रकार उस सुंदरी ने पुरंजन को ऐसा अपने वश में कर लिया कि वह अपने स्वभाव और स्वतन्त्रता को खो बैठा। वह अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं करता था। जैसे पालू बंदर या कठपुतली दूसरे के इशारे से नाचती है, वैसे ही वह स्त्री जो कुछ कराती थी, वही अज्ञ पुरंजन करता था।

# छब्बीसवाँ अध्याय

## पुरंजन का शिकार खेलने जाना

नारदजी कहते हैं—महाराज, एक दिन पुरंजन बड़ा भारी धनुष लेकर, एक बहुत शीघ्र चलनेवाले रथ पर बैठकर, शिकार खेलने गया। उसके उस रथ में पाँच घोड़े जुते थे, दो डंडे थे, दो पहिये थे, एक जुआ था, तीन ध्वजाएँ और पाँच बन्धन थे। एक रास और एक सारथी था। एक रथी (सवार) के बैठने का स्थान था। दो कूबर थे। उसमें पाँच प्रहरण (शस्त्र) और सात आवरण थे। उस रथ की पाँच प्रकार

की गति थी। वह रथ सुवर्ण से मण्डित था। ऐसे दिव्य रथ पर बैठकर सोने का कवच पहने और अक्षय तरकस बाँधे पुरंजन पंचप्रस्थ नाम के वन को गया। ग्यारहवाँ सुभट बृहद्बल, जो उस स्त्री के दस सेवकों का सरदार था, उसके साथ था।

अभिमानी पुरंजन धनुष पर बाण चढ़ाये उस वन में अपना शिकार खोजने लगा। उसका मन शिकार में इतना आसक्त हो गया कि वह न छोड़ने योग्य अपनी प्रिया को भी अकेली छोड़ गया। वह पुरंजन घोर भाव धारण करके राक्षसी वृत्ति के वशीभूत होकर निर्दयता के साथ वनवासी जीवों को वन में जाकर अपने तीक्ष्ण बाणों से खोज-खोज कर मारने लगा।



राजन्, श्राद्ध आदि शास्त्रोक्त विशेष अवसरों पर ही पितृगण आदि के लिए राजा वन में जाकर आवश्यकता भर को पवित्र पशुओं का वध कर सकता है। मांसाहार की लालसा से पशुओं का शिकार करना निषिद्ध है। जो कोई शिकार की इस शास्त्रोक्त व्यवस्था या नियम को जानकर उसका पालन करता है, उसे हिंसा का पाप नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति को दबाने के लिए शास्त्र ने यह व्यवस्था की है कि यदि प्रवृत्ति बहुत ज़ोर मारे तो श्राद्ध आदि के अवसर पर, सो भी नित्य-श्राद्ध में नहीं—पार्वण आदि प्रख्यात श्राद्धों में ही, केवल राजा ही, वन में ही, केवल पवित्र पशुओं का, केवल आवश्यकता भर के लिए, शिकार कर सकता है। यही नियम अन्य प्रवृत्तिमूलक विषय-भोग आदि के लिए भी है। इस प्रकार नियम का पालन करता हुआ जो पुरुष कर्म करता है, वह ज्ञान अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धता के प्रभाव से पाप में लिप्त नहीं होता*। किन्तु जो पुरुष ज्ञान से अन्तःकरण को शुद्ध न करके, नियम का उल्लङ्घन करता हुआ, पशु-हिंसा आदि कर्म करता है, वह कर्तृत्वाभिमानी होने के कारण बन्धन को प्राप्त होता है। वह गुण-प्रवाह अर्थात् माया के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के फेर में पड़कर अपनी विवेक-बुद्धि या प्रज्ञा को खो बैठता है, जिससे अवश्य उसकी अधोगति होती है।

हे राजेन्द्र, उस वन में विचित्र पंखोंवाले शिलीमुख बाणों से पुरंजन ने अनेक मृगों को घायल किया, मार गिराया। ऐसे अनेक मृगों को दुःख देकर पुरंजन ने उनका विनाश कर डाला। कृपालु लोग ऐसी जीव-

---

* यही कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से भी कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

अर्थात् ज्ञान की आग सब कर्मों को भस्म कर देती है।

हत्या को अपनी आँखों से देख नहीं सकते। चौगड़े ( खरगोश ), शूकर, भैंसे, नीलगाय, रुरु, स्याही आदि अनेक पवित्र पशुओं का वध करते-करते पुरंजन थक गया !

जब उसे थकावट जान पड़ी और भूख-प्यास ने सताया, तब वह अपने घर को लौटा। शिकार से निवृत्त होकर घर आकर उसने स्नान किया, भोजन किया। थकावट दूर होने पर वह बैठकर चन्दन, धूप, माला आदि से अपना शृंगार करने लगा। जब वह अच्छी तरह सब अंगों को अलंकृत कर चुका, तब उसने अपनी प्रिया को स्मरण किया। इस प्रकार जब वह खा-पीकर तृप्त हुआ, थकन दूर होने पर चित्त प्रसन्न हुआ, तब कामदेव ने उसे सताया। परन्तु उसे अपनी गृहलक्ष्मी पत्नी कहीं नहीं देख पड़ी।

हे राजन, स्त्री को न देखने से उसका चित्त कुछ उदास और खिन्न हो गया। तब वह अन्तःपुर में रहनेवाली अन्य स्त्रियों से अर्थात पत्नी की सखियों से इस प्रकार पूछने लगा। पुरंजन ने कहा—हे सुन्दरियो, तुम और तुम्हारी स्वामिनी पहले की तरह कुशल से हैं न ? इस समय तुम्हारी सखी के बिना घर के ये सब वैभव वैसे नहीं रुचते, जैसे कि पहले रुचते थे। यह ठीक भी है। जो घर में माता अथवा पतिव्रता पत्नी न हो तो वह घर बिना पहियों के रथ के समान हो जाता है। उस घर में कौन पुरुष रहकर दुःख-कष्ट भोगना चाहेगा ? बतलाओ, वह ललना कहाँ है, जो संकट के सागर में डूबने से मेरा उद्धार करती है ? जब मैं किसी चिन्ता में डूब जाता हूँ, तब वह पग-पग पर मुझे सहारा देती है, उचित सम्मति देकर अपने वाक्यों से मेरी बुद्धि को सचेत करती है।

तब सखियों ने कहा—नरनाथ, आपकी प्रिया क्या चाहती हैं, यह हम नहीं जानतीं। देखो, बिना बिछौने के पृथ्वी पर पड़ी हैं।

नारदजी कहते हैं—राजन, अपनी प्रिया को यों पृथ्वी पर पड़े देखकर पुरंजन बहुत व्याकुल हुआ। उसके होशहवास जाते रहे। घबराया हुआ पुरंजन उसके पास जाकर मधुर वचन कहकर इस प्रकार उसे मनाने लगा। उसका हृदय धड़क रहा था। स्त्री के मुख पर प्रणयकोप के चिह्न ( कुटिल दृष्टि या भौंहों का टेढ़ा होना आदि ) उसे नहीं देख पड़े। मनाने की कला में बहुत ही चतुर वीर राजा पुरंजन पहले प्रिया के पैरों पर गिर पड़ा। फिर उसे गोद में बिठाकर दुलराता हुआ वह यों कहने लगा।

पुरंजन ने कहा—प्यारी, अपराध करने पर जिन सेवकों को स्वामी अपना समझकर शिक्षा के लिए दण्ड नहीं देता, वे सेवक निश्चय ही अभागे हैं, उन्होंने कोई पुण्य नहीं किया। हे सुन्दरी, शिक्षा के लिए स्वामी का दिया हुआ दण्ड सेवकों के लिए दण्ड नहीं, परम अनुग्रह होता है। जो सेवक स्वामी की इस हितचिन्तकता को न समझकर क्रोध करते हैं, वे मूर्ख हैं। तुम मेरी स्वामिनी हो। मैं तुम्हारा आत्मीय दास हूँ। मुझ पर कृपा करके एक बार यह परम मनोहर मुख मेरी ओर करो। अहा, तुम्हारा मुखकमल कैसा सुन्दर है ! यह प्रेमपूर्ण लज्जा से युक्त नीची दृष्टि, कटाक्ष और मंद मुसकान मेरे मन को विह्वल बना रही है। इस मुखारविन्द के ऊपर काली अलकें भ्रमरों के समान शोभायमान हैं। तुम्हारी ऊँची नासिका, मधुर वाणी और कोमल वचन परम मनोहर हैं। हे वीर पत्नी, प्राणप्रिये, बतलाओ, किसने तुम्हारा निरादर किया है ? कौन तुम्हारा अपराधी है ? केवल ब्राह्मण अथवा भगवद्भक्त को छोड़कर वह और चाहे जो कोई हो, मैं उसे दण्ड दूँगा। मुझे इस त्रिभुवन में अथवा त्रिलोकी के बाहर ऐसा कोई नहीं देख पड़ता, जो तुम्हारा अपराध करके फिर निर्भय होकर सुख से रह सके। इस समय तुमने अपनी कैसी दशा कर रक्खी है ? मैंने तो पहले कभी इस तरह तुम्हारा मुखारविन्द तिलक से रहित, हर्ष से हीन और मलिन नहीं देखा ! इस समय कोप के कारण तुम्हारा मुख उदास, भयानक और रूखा दिखाई पड़ रहा है। तुम्हारे सुन्दर, सुडौल स्तनों पर आँसू गिरकर सूख गये है और उन आँसुओं के गिरने से कुंकुम का अंगराग छूट गया है। दोनों अरुण



पुरंजन का कुपित पुरंजनी को जाकर मनाना

अधर सूख रहे हैं। हे प्रिये, मैं तुमसे कहे बिना अपने मन से शिकार खेलने चला गया था। निश्चय यह मुझसे घोर अपराध बन पड़ा है। किन्तु अब मेरा अपराध क्षमा कर दो, मुझ पर प्रसन्न हो जाओ। प्राणप्रिये, मैं तुम्हारा प्रिय सखा और सुहृद् हूँ। जो आप ही अधीन हो और जिसका धैर्य कामदेव के बाण लगने से जाता रहा हो उस पति को स्वयं कामवश हुई कौन स्त्री न भजेगी!

# सत्ताईसवाँ अध्याय

## पुरंजन पर कालकन्या आदि का आक्रमण

नारदजी कहते हैं—राजन्, वह पुरंजन की स्त्री इस प्रकार अपने हाव-भाव से पुरंजन को अच्छी तरह वश में करके उसके साथ फिर रमण करने और उसे रमाने लगी। पुरंजनी ने उठकर अच्छी तरह स्नान किया, सुन्दर वस्त्र पहने और कुंकुम-सिन्दूर आदि सोहाग और शृंगार की वस्तुओं से सुशोभित हुई। इसके उपरान्त वह सुन्दर मुखवाली सुन्दरी प्रसन्नतापूर्वक पुरंजन के पास आई। पुरंजन उसे पाकर परम प्रसन्न हुआ। उस स्त्री ने पुरंजन को हृदय से लगा लिया। दोनों ने एक दूसरे के गले में बाहें डाल दीं। वे एकान्त में परस्पर प्रेम की बातें करने लगे। पुरंजन ऐसा मोहित हो गया कि उसे यह भी नहीं जान पड़ता था कि कब दिन होता है और कब रात होती है। उसके लिए वह स्त्री और विषय-भोग ही सब कुछ थे। उस विवेकहीन पुरंजन की आयु इसी प्रकार विषय-भोग में बीती जा रही थी; पर उधर उसका ध्यान ही नहीं था। बहूमूल्य शय्या के ऊपर पड़ा हुआ पुरंजन उस स्त्री की भुजा पर सिर रक्खे परम सुख का अनुभव करता था। वह इतना मदान्ध और मोहित हो गया कि उसी स्त्री को परम पुरुषार्थ मानने लगा। उसका मन ऐसा अज्ञान में लिप्त हो गया अर्थात् उसके विवेक पर ऐसा अज्ञान का पर्दा पड़ गया कि उसे अपने श्रेष्ठ रूप (ब्रह्मरूप) का ज्ञान नहीं रहा।

राजन्, विषय-भोग में चित्त फँसा रहने के कारण पुरंजन की जवानी स्त्री के साथ रमण करने में एक क्षण के समान बीत गई और उसे चेत नहीं हुआ। पुरंजन के उस स्त्री से ग्यारह सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इतने में उसकी आधी आयु बीत गई। हे प्रजापति, पुरंजन के एक सौ दस कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। वे सब अच्छे शील-स्वभाव और उदारता आदि गुणों से भूषित थीं, पिता और माता की कीर्त्ति को बढ़ानेवाली थीं।

पांचाल देश के राजा पुरंजन ने पिता का वंश बढ़ानेवाले पुत्रों का योग्य कन्याओं से और कन्याओं का उनके योग्य वरों के साथ विवाह कर दिया। पुरंजन के प्रत्येक पुत्र के सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए। पांचाल देश पुरंजन के पुत्रों और पौत्रों से व्याप्त हो गया। तब उन पुत्रों, पौत्रों और घर, कोष तथा अनुजीवी लोगों (अन्य परिवार) पर दिन-दिन पुरंजन की ममता बढ़ने लगी। अब वह विषयों के बंधन में पूर्णरूप से जकड़ गया। इसके उपरान्त वह आपकी तरह, पशुओं की हिंसा जिनमें की जाती है उन अनेक घोर हिंसा-प्रधान यज्ञों की दीक्षा लेकर, अनेक तुच्छ कामनाएँ पूर्ण होने के लिए, देवता, पिता और भूतपति भैरव आदि की आराधना करने लगा। कुटुम्ब के पालन पोषण में मन लगाकर पुरंजन इस प्रकार अपने हित के कामों को भूलकर अन्य कर्मों में लगा हुआ था। इतने में वह काल (अर्थात् वृद्धावस्था) आ गया, जो विषयी और स्त्रीसंग को ही सब कुछ समझनेवाले लोगों को बड़ा अप्रिय होता है।

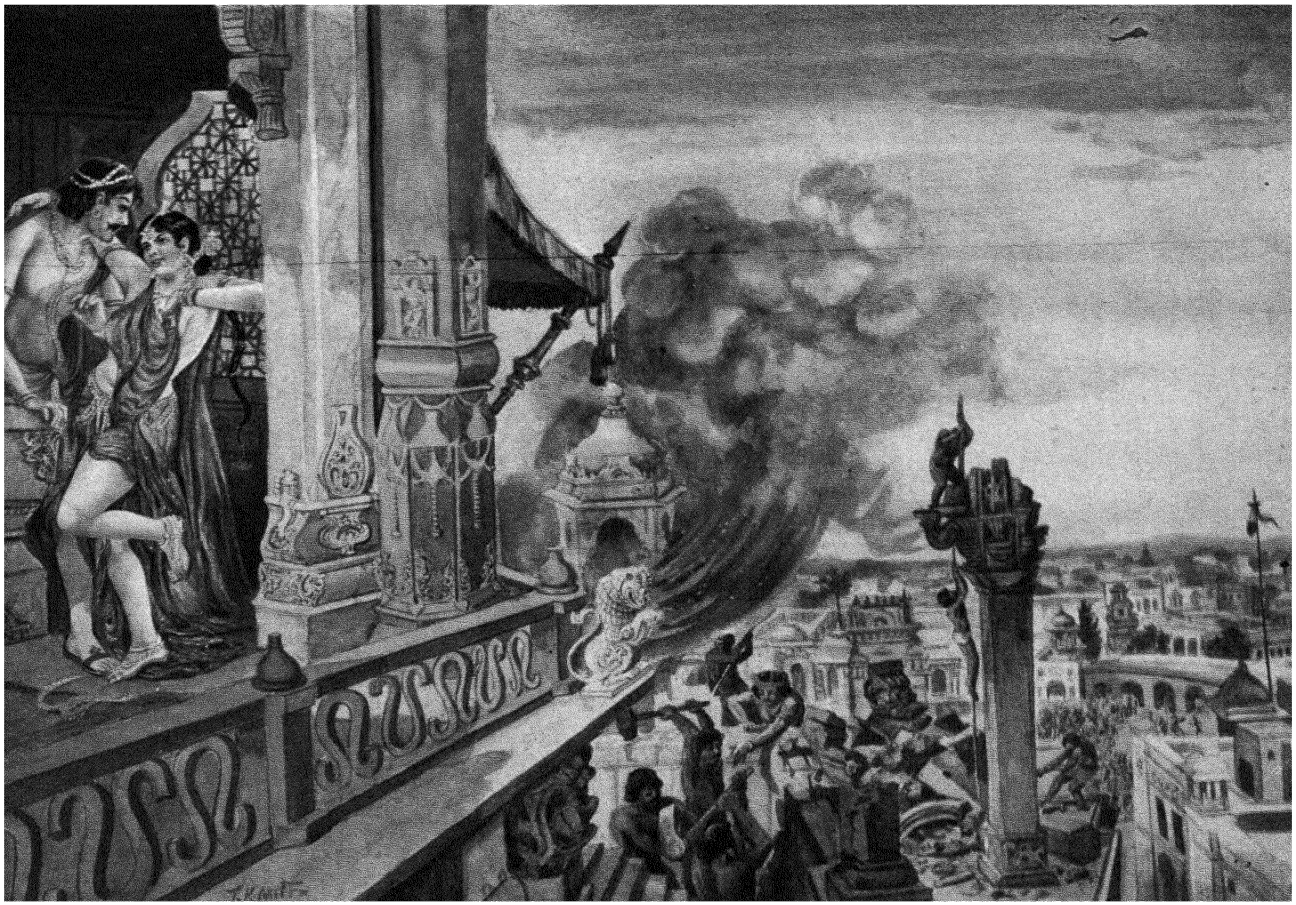
एक चण्डवेग नाम से प्रसिद्ध गन्धर्वों का राजा था। उसके साथी बड़े बलवान् तीन सौ साठ गन्धर्व थे। गन्धर्वों की तीन सौ साठ स्त्रियाँ भी उसके साथ रहती थीं। उनमें आधी गोरी और आधी साँवले रंग की थीं। वे घूम-फिरकर उस सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली पुरी को नष्ट-भ्रष्ट करने लगीं।

जब चंडवेग के साथी गंधर्व और उनकी स्त्रियाँ उस पुरी को तोड़ने-फोड़ने लगीं, तब उस पुरी की रक्षा करनेवाला वह पाँच सिर का सर्प उन्हें रोकने लगा। पुरंजन की पुरी का रखवाला वह बलवान सर्प अकेले ही उन सात सौ बीस गंधर्वों और उनकी स्त्रियों से सौ वर्ष तक लड़ता रहा। परन्तु एक बहुतों से कब तक लड़ सकता या उन्हें रोक सकता है? लड़ते-लड़ते उस सर्प का पराक्रम क्षीण होने लगा। वह शिथिल हो गया। उस रखवाले को शिथिल हुआ देखकर उस पुरी के निवासी, बन्धु-बान्धव आदि के साथ पुरंजन भी बहुत चिन्तित हुआ। वह अब तक स्त्री के वश होकर तुच्छ विषयों के भोग में लिप्त रहता था और अपनी पुरी में अपने अनुचरों की लाई हुई भोग की सामग्री का भोग करता था। उसे किसी प्रकार के भय की शंका नहीं थी। परन्तु इस समय उसे बड़ा भारी भय प्राप्त हुआ।



राजन्, काल की एक कन्या थी। वह तीनों लोकों में अपने योग्य वर खोजती फिरती थी। पर उसे किसी ने ग्रहण नहीं किया। वह बड़ी अभागिन होने के कारण दुर्भगा के नाम से प्रसिद्ध थी। उसी ने प्रसन्न होकर राजा पुरु को वरदान दिया था * क्योंकि पुरु ने उसे ग्रहण किया था। एक समय ब्रह्मलोक से घूमता हुआ मैं पृथ्वीतल पर आया तो काम से मोहित हो रही कालकन्या मेरे सामने आकर उपस्थित हुई। मुझे बाल-ब्रह्मचारी जानकर वह मुझसे प्रार्थना करने लगी कि 'हे मुनिवर, मुझको ग्रहण करो।' मैंने जब उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी, तब मुझ पर बहुत क्रोध करके उसने शाप दिया कि नारद, तुमने मुझे ग्रहण नहीं किया, इसलिए मैं शाप देती हूँ कि तुम एक स्थान

* काल की कन्या जरा अर्थात् बुढापा है। इसी बुढापे का पिता की आज्ञा से पुरु ने स्वीकार कर लिया था, जिससे प्रसन्न होकर पिता ने उन्हीं को राज्य दिया। यह कथा यों है—वृषपर्वा दैत्यों का राजा था। उसके पुरोहित शुक्राचार्य उसी के यहा रहते थे। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और राजकुमारी शर्मिष्ठा मे एक दिन झगड़ा हो गया। दोनों कपड़े उतारकर नहा रही थीं। इतने में उधर पार्वतीसहित भगवान् शंकर आ गये। उन्हे देखकर दोनो ने जल्दी से कपड़े पहन लिये। जल्दी मे राजकुमारी ने ऋषिकन्या के वस्त्र पहन लिये। इस पर क्रोध करके देवयानी ने शर्मिष्ठा को बहुत बुरा-भला कहा। राजकुमारी ने कुपित होकर उसे एक कुए मे ढकेल दिया। राजा ययाति शिकार खेलने गये थे। उन्होने देवयानी को निकाला। देवयानी पिता के पास आई और सब हाल कहा। शुक्राचार्य शिष्य के यहां से चल दिये। वृषपर्वा बहुत गिड़गिड़ाया। तब शुक्र ने कहा—मेरी कन्या को प्रसन्न करो। देवयानी ने कहा—मैं जहां ब्याही जाऊ, वहा शर्मिष्ठा मेरी दासी होकर रहे। वृषपर्वा ने स्वीकार कर लिया। देवयानी का ब्याह ययाति से हुआ। दोनों वहां गईं। शर्मिष्ठा भी सुदरी थी। राजा ययाति ने देवयानी से छिपाकर उससे भी संबंध कर लिया। शर्मिष्ठा और देवयानी दोनो के बालबच्चे हुए। बात छिपा नहीं रही। देवयानी ने पिता को बुला भेजा। शुक्राचार्य ने सब सुनकर ययाति को शाप दिया कि तुम असमय में ही वृद्ध हो जाओ। ययाति ने अपने पुत्रो से अपनी वृद्धावस्था अपनी जवानी से बदलने के लिए कहा। और लड़को ने नहीं स्वीकार किया। पर पितृभक्त छोटे लड़के पुरु ने स्वीकार कर लिया। इस पर ययाति ने बड़े लड़के यदु आदि को शाप दिया और छोटे लड़के पुरु को राज्य का आधकारा बनाया। नारदजी ने उसी का उल्लेख यहां इस रूपक में किया है। यह कथा आगे चलकर मिलेगी। यहाँ संक्षेप में पाठकों के जानने क लिए लिख दी है। यथास्थान विस्तार के साथ पढने को मिलेगी।



पुरंजन की पुरी पर प्रज्वार, कालकन्या आदि का आक्रमण

पर नहीं ठहरोगे, इधर-उधर मारे-मारे फिरोगे। मुझसे ब्याह करने की कामना पूरी न होने पर वह काल-कन्या मेरे बतलाये हुए यवनों के राजा भय के निकट गई और उससे पति होने के लिए प्रार्थना की। कालकन्या ने उसके पास जाकर उससे कहा—हे यवनों के राजा, तुम मेरे मनचाहे पति हो अर्थात् मैं जैसा पति चाहती थी, वैसे ही तुम हो। मैं तुमको वरण करती हूँ। तुम मेरे स्वामी बनो। जो प्राणी तुमसे कोई कामना करते हैं, वह कभी विफल नहीं होती। लोक और शास्त्र में जो वस्तु लेने या देने के योग्य मानी गई है, वह वस्तु प्रार्थना के साथ किसी के देने पर उसे जो नहीं लेना अथवा किसी के माँगने पर नहीं देता, वे दोनों मूर्ख पीछे पछताते हैं। हे भद्र, मैं तुमको भजती हूँ, इस कारण तुम भी मुझे ग्रहण करो, मुझ पर दया करो। आर्त्त शरणागत जनों पर दया करना ही पुरुषों (मर्दों) का मुख्य धर्म या कर्त्तव्य है।



कालकन्या की प्रार्थना सुनकर यवनों का राजा मुसकाता हुआ ईश्वर की इच्छा के अज्ञेय रहस्य को पूर्ण करने की इच्छा से यों बोला। उसने कहा—तुम अकल्याणरूपिणी और अयोग्य हो, इसलिए तुमको कोई प्रसन्नता से ग्रहण करना नहीं चाहता। मैंने विचार करके तुम्हारे लिए पति ठीक किया है। देखो, तुम अलक्षित भाव से कर्मों के बने हुए सभी प्राणियों पर अपना अधिकार स्थापित करो। इस प्रकार सभी तुमको भोगने-वाले तुम्हारे स्वामी होंगे। मेरी सेना साथ लेकर जाओ और त्रिलोकी में घूमकर प्रजा का क्षय करो। यह प्रज्वार नाम का मेरा भाई है और तुम आज से मेरी बहन बनो। मैं तुम दोनों के साथ अपनी भयंकर सेना साथ लिये सबको भयभीत करता हुआ अलक्ष्य रूप से इस पृथ्वीमण्डल में विचरण करूँगा।

# अट्ठाईसवाँ अध्याय

## पुरंजन की मुक्ति

नारदजी कहते हैं—राजन, इसके उपरान्त भय-नामक यवनराज की आज्ञा का पालन करनेवाले सब सैनिक प्रज्वार और कालकन्या के साथ इस पृथ्वीमण्डल में घूमने लगे। एक समय उन सबने एकाएक बड़े वेग से आकर पुरंजन की पुरी को घेर लिया। वह पुरी पृथ्वीतल के सब भोगों से परिपूर्ण थी और पाँच सिर का सर्प उसकी रक्षा करता था। उस पुरी को घेरकर वे सब उसके भीतर घुसने लगे। काल-कन्या भी बलपूर्वक पुरंजन की पुरी पर अधिकार जमाने लगी। उसके भोग करने या आक्रमण करने से

पुरुष शीघ्र ही निःसार या निर्बल हो जाता है। कालकन्या के आक्रमण करने पर यवनराज के सैनिक भी चारों ओर के द्वारों से भीतर घुसकर संपूर्ण पुरी को तोड़ने-फोड़ने लगे।

जब शत्रु-सेना पुरी को नष्ट करने लगी, तब कुटुम्बसहित ममता से आकुल अभिमानी पुरंजन को अनेक प्रकार के संताप प्राप्त होने लगे। कालकन्या ने भोग करके उसे दुर्बल और निर्बल बना दिया। उसकी श्री नष्ट हो गई। बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई। गन्धर्वों और यवनों ने बलपूर्वक उसका सारा ऐश्वर्य हर लिया। पुरंजन ने देखा, उसके रहने की पुरी टूट-फूट गई है; उसकी स्वाधीनता न रहने के कारण पुत्र, पोते, अनुचर, मंत्री आदि ने आदर करना छोड़ दिया है; स्त्री भी अब स्नेह नहीं करती, साथ नहीं देती; उसके शरीर को कालकन्या ने ग्रस लिया है अर्थात् उस पर अपना अधिकार जमा लिया है; पांचाल देश पर शत्रुओं का अधिकार हो गया है। कालकन्या के अधिकार के कारण यद्यपि विषय-भोग का सुख जाता रहा था, तथापि पुरंजन की विषय-भोग की इच्छा निवृत्त नहीं हुई थी। वह उनकी अभिलाषा करके दीन हो रहा था। अपनी और पुरी की यह दशा देखकर पुरंजन को अपार चिन्ता हुई और बहुत विचारने पर भी उसे इन संकटों से छुटकारा पाने का कोई उपाय न सूझ पड़ा। पुरंजन का परलोक तो बिगड़ ही गया था, पुत्र आदि का स्नेह नष्ट होने के कारण इस लोक का सुख भी जाता रहा। जब पुरंजन ने देखा कि उसकी पुरी पर गन्धर्वों और यवनों का आक्रमण हो रहा है, उस पर उनका पूरा अधिकार हो गया है, और कालकन्या उस पुरी को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, तब इच्छा न रहने पर भी वह उस पुरी को छोड़ने के लिए तैयार हुआ।

यवनराज भय का बड़ा भाई प्रज्वार अपने भाई का प्रिय करने के लिए आकर उपस्थित हुआ और उस पुरी को जलाने लगा। जब पुरी जलने लगी, तब पुरवासी, नौकर-चाकर, पुत्र-पौत्र और पत्नीसहित कुटुंबी पुरंजन सन्ताप को प्राप्त हुआ। यह देखकर कि सब स्थानों को यवनों ने घेर लिया है और पुरी पर कालकन्या का अधिकार हो गया है, प्रज्वार का सताया हुआ वह पुरी का रक्षक सर्प भी बहुत चिन्तित हो उठा। वह पुरी की रक्षा करने में असमर्थ हो गया। इस महासंकट को देखकर बड़े कष्ट से उसका हृदय धड़कने लगा। तब जैसे जलते हुए वृक्ष के खोल से सर्प निकल भागता है, वैसे ही वह भी उस पुरी से जाने के लिए उद्यत हुआ। राजा पुरंजन के सब अंग कालकन्या के उपभोग से शिथिल निर्बल हो गये। गन्धर्वों ने उसके पौरुष को हर लिया। शत्रु यवनों ने उसके निवास-स्थान को चारों ओर से घेर लिया। तब पुरंजन रोने लगा। कन्या, पुत्र, पोते, बहू, दामाद, भृत्य, घर, खज़ाना, गृहस्थी की और सब सामग्री—जिन पर उसका केवल यह भाव रह गया था कि ये मेरे हैं, पर वास्तव में उन पर कुछ अधिकार नहीं रह गया था—इन्हीं के विषय में वह चिन्ता करने लगा। गृहस्थ और कुमति अर्थात् माया-मोह में फँसा हुआ पुरंजन "मैं हूँ, मेरा है" इस भावना के वशीभूत होकर कन्या, पुत्र आदि का वियोग उपस्थित होने पर अपनी स्त्री के साथ दुःखित और दीन होकर यों सोचने लगा कि हाय! यह सब मेरा मुझसे छूटा जाता है। जब मैं परलोक को चला जाऊँगा, तब यह कुटुम्बसहित अनाथ हो गई मेरी स्त्री कैसे रहेगी? कैसे निर्वाह करेगी? यह अपने अनाथ बालकों के लिए शोक करके पागल हो जायगी। यह मेरे भोजन किये बिना भोजन नहीं करती, मेरे स्नान किये बिना स्नान नहीं करती। मेरा मुँह ताका करती है, मुझे जी से चाहती है। मैं जब क्रोध करता हूँ, तब वह डर जाती है और मेरे डाँटने पर चुप हो रहती है। जब मेरी बुद्धि काम नहीं करती, तब वह मुझे समझाती है। जब मैं दूसरे लोक को चला जाऊँगा, तब वीर पुत्रों की माता मेरी यह स्त्री गृहस्थी चलावेगी अथवा मेरे विरह को न सह सकने के कारण मर ही जायगी। समुद्र में नाव के टूट जाने पर उस पर सवार लोग जैसे संकट में पड़ जाते हैं, वैसे ही मेरे न रहने पर ये मेरे पुत्र और कन्याएँ दूसरों का मुँह ताकते हुए कैसे रहेंगे?

पुरंजन यद्यपि इस प्रकार मोह से अभिभूत होने के योग्य न था, तथापि दीन बुद्धि से वह शोक कर रहा था। इसी समय पुरंजन को पकड़ने के लिए भय नाम के यवनराज ने अपनी सेना के साथ उस पर आक्रमण किया। जब यवनों की सेना पुरंजन को पशु के समान पाश में बाँधकर अपने स्थान को ले चली, तब पुरंजन के परिवार के लोग और अनुचरगण अत्यन्त आतुर होकर शोक करते हुए उसके पीछे-पीछे चले। पुरी का रक्षक सर्प भी अपने को शत्रुओं से घिरा देखकर विवश हो उस पुरी को छोड़कर चल दिया। वैसे ही वह पुरी टूट-फूट कर मिट्टी में मिल गई।

बली यवन पुरंजन को बलपूर्वक घोर अंधकार में घसीटे लिये जा रहे थे। उस समय भी पुरंजन को अपने अविज्ञात-नामक पहले के मित्र का स्मरण नहीं आया। निर्दय पुरंजन ने पहले यज्ञों में जिन पशुओं का बलिदान किया था, वे इस समय उसकी उस क्रूरता को स्मरण करके पैनी कुल्हाड़ियों से उसके शरीर को काटने लगे। अपार और अनन्त घोर अन्धकार अर्थात् मोह में डूबकर, स्त्री-संग में लिप्त रहकर, अपने पूर्वरूप को भूलकर पुरंजन ने बहुत वर्षों तक बराबर अनेक कष्ट भोगे। अब जब उस स्त्री का वियोग हुआ, तब भी पुरंजन उसी का ध्यान मन में करता रहा। इसी कारण वह शरीर छूटने पर पुरंजन विदर्भ देश के राजा की परम सुन्दरी कन्या हुआ, अर्थात् स्त्री का ध्यान करते रहने के कारण मरने पर उसे स्त्री की ही योनि प्राप्त हुई।

शत्रुसेना को परास्त करनेवाले पाण्ड्य देश के राजा मलयध्वज ने विवाह की इच्छा से स्वयंवर में आये हुए अन्य वीर राजों को युद्ध में जीतकर उस विदर्भ-नरेश की कन्या से विवाह किया। मलयध्वज ने उस राजकुमारी के गर्भ से एक कमलनयनी कन्या और उससे छोटे सात पुत्र उत्पन्न किये। वे सातों पुत्र द्रविड़ देश के राजा हुए। राजन, उन राजकुमारों में से हर एक के एक-एक अर्बुद अर्थात् करोड़ों पुत्र हुए। वे ही मलयध्वज के वंशधर इस मन्वन्तर में और इसके बाद भी इस पृथ्वी का उपभोग करेंगे।

मलयध्वज की कन्या का ब्याह अगस्त्य के साथ हुआ। अगस्त्य ने उससे जो पुत्र उत्पन्न किया, उसका नाम दृढ़च्युत हुआ। दृढ़च्युत के पुत्र का नाम इध्मवाहु हुआ। राजर्षि मलयध्वज ने सारी पृथ्वी का राज्य अपने पुत्रों को बाँट दिया और कृष्ण भगवान् की आराधना करने के लिये कुलाचल पर्वत को गये। चाँदनी जैसे चन्द्रमा के साथ ही जाती है, वैसे ही विदर्भ-नरेश की कन्या भी घर, पुत्र, और अन्य अनेक प्रकार के सुख-भोग छोड़कर अपने पति पाण्ड्य देश के राजा मलयध्वज के साथ ही चल दी।

राजा मलयध्वज उस पर्वत पर रहकर तपस्या करने लगे। चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नाम की पवित्र नदियों में नित्य स्नान करके राजा ने बाहर और भीतर के मल को धो डाला। उन्होंने क्रमशः कन्द-मूल, फल, गुठली, फूल, पत्ते, तृण और जलमात्र आहार करके तपस्या की। उनका शरीर दिन-दिन दुर्बल होता गया। जाड़ा-गर्मी, आँधी-पानी, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदि पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली। वह सुख-दुःख आदि को एक-सा समझने लगे। तपस्या और उपासना के द्वारा धीरे-धीरे उनके चित्त के काम, क्रोध आदि मैल दूर हो गये। तब यम, नियम आदि के द्वारा इन्द्रियों को, प्राणवायु को और चित्त को वश में करके उन्होंने अपने मन को ब्रह्म में लगा दिया अर्थात् अपने को ब्रह्मरूप समझने लगे। वह पत्थर की तरह दिव्य सौ वर्षों तक अचल होकर एक ही स्थान में बैठे रहे। भगवान् वासुदेव में तन्मय हो गये। उनकी दृष्टि में और कुछ रह ही नहीं गया। वह आत्मा को देह आदि से भिन्न और व्यापक अर्थात् देह आदि का प्रकाशक देखने लगे, जैसे स्वप्न में मेरा यह सिर कट गया, इत्यादि प्रतीति होने पर उस सिर कटने की भावना का प्रकाशक आत्मा उससे अलग ही जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि वह माया से मुक्त हो गये। परम गुरु साक्षात् हरि ने ब्रह्मरूप से हृदय में दर्शन देकर ज्ञानरूप दीपक प्रकाशित कर

दिया। सब वस्तुओं को यथार्थ रूप में प्रकाशित करनेवाले और कभी न बुझनेवाले उस ज्ञान के दीपक ने उन्हें उनका यथार्थ रूप दिखला दिया। राजा मलयध्वज उसी ज्ञानदीपक के प्रकाश में परब्रह्म को अपने में और अपने को परब्रह्म में देखने लगे। अन्त में उस दृष्टि को भी छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये।

पतिव्रता विदर्भ-नरेश की कन्या सब प्रकार के सुख-भोग छोड़कर प्रेमपूर्वक मन लगाकर परमहंसों के धर्म का आचरण करनेवाले धर्मज्ञ पति की सेवा कर रही थी। उसने भी राजसी वस्त्र छोड़कर बल्कल पहन लिये थे। व्रत करने से उसका भी शरीर दुर्बल हो गया था। केश चिकटकर जटा हो गये थे। वह राजकन्या अपने पति के समीप ऐसी देख पड़ती थी, जैसे शान्त अग्नि के पास उसकी शान्त (बिना धुएँ की) ज्वाला हो।

यथासमय मलयध्वज के प्राण शरीर से निकल गये। परन्तु शरीर जिस आसन से बैठा था, वैसे ही बैठा रहा, गिरा नहीं। इस कारण उस राजकन्या को अपने पति के वैकुण्ठवास की कुछ भी खबर नहीं हुई। वह जैसे नित्य अपने पति की सेवा करती थी, वैसे ही उस दिन भी करने लगी। पैर दबाते समय जब पति का शरीर बिलकुल ठंडा जान पड़ा, तब राजकन्या को उनकी मृत्यु का समाचार विदित हुआ। उस समय वह अपने झुंड से बिछड़ी हुई मृगी के समान व्याकुल हो उठी। वह अपनी पतिहीन दीन अवस्था के लिए शोक करती हुई ऊँचे स्वर से रोने लगी। आँसुओं से उसके स्तन भीग गये।

उस वन में राजकुमारी विलाप करने लगी—हे राजर्षि, उठो उठो। क्षत्रिय-नामधारी अधर्मी लुटेरों से डर रही इस समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी की रक्षा करो। इस प्रकार अनेक प्रकार से विलाप करती हुई वह राजकुमारी अपने पति के पैरों पर गिर कर आँसू बहाने लगी। थोड़ी देर बाद लकड़ियाँ इकट्ठी करके उसने अपने लिए चिता बनाई। फिर उस चिता पर पति के प्राणहीन शरीर को रखकर उसमें आग लगाई। तदनन्तर रोती हुई वह राजकन्या उसी चिता पर बैठकर सती हो जाने के लिए तैयार हो गई।



इसी समय उस स्त्रीयोनि में उत्पन्न पुरंजन का मित्र आत्मज्ञानी अविज्ञात नाम का ब्राह्मण (जिसका उल्लेख पहले हो चुका है) अपनी इच्छा से घूमता-फिरता हुआ दैवसंयोग से वहाँ आ पहुँचा। वह स्त्री-रूप में रो रहे पुरंजन को प्रिय और मधुर वचनों से इस प्रकार सान्त्वना देने लगा। उस ब्राह्मण ने कहा—तुम कौन हो? किसकी कन्या हो? यह चिता पर लेटा हुआ पुरुष तुम्हारा कौन है? इसके लिए तुम क्यों शोक कर रहे हो? क्या तुम मुझ अपने मित्र को पहचानते हो, जिसके साथ पहले तुम पुरुषरूप में विचरते रहते थे? हे मित्र, क्या कभी तुम यह स्मरण करते हो कि अविज्ञात नाम का कोई तुम्हारा सखा था? मैं और तुम, दोनों एक ही स्थान में रहते थे। मुझे छोड़कर पृथ्वी

के विषय-भोग करने की इच्छा से तुम चले आये थे। हे श्रेष्ठ, मैं और तुम दोनों पहले हंस थे और हज़ारों वर्ष तक मानस-सरोवर में रहे हैं। मित्र, उसके उपरान्त विषय-सुख की कामना से मुझे छोड़कर तुम पृथ्वीतल में चले आये। इस पृथ्वी पर तुमने एक पुरी देखी, जिसे किसी एक स्त्री ने बनाया था। उस पुरी में पाँच उपवन, नव द्वार, एक रक्षक, तीन कोष्ठ, छः वणिक (सौदागर) और पाँच बाज़ार थे। वह पुरी पाँच सामग्रियों से बनी थी और एक स्त्री उसकी स्वामिनी थी। अर्थात् वह पुरी यह मनुष्य-शरीर है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श पाँच उपवन हैं। मुख, नाक, कान, आँख, गुदा और लिंग के छिद्र नव द्वार हैं, जिनसे प्राणरूप वायु आता-जाता है। पृथ्वी, जल और तेज, ये तीन कोष्ठ हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन, ये बनिये अर्थात् भोग के विषय पहुँचानेवाले हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ ही पाँच बाज़ार हैं। पाँच तत्त्वों से यह बना है। और स्त्री अर्थात् बुद्धि उसकी स्वामिनी है। पुरुष ( पुरंजन या आत्मा ) उस विषय-बुद्धि के अधीन होकर उस शरीर में रहता है और ऐसा उसके वशीभूत हो जाता है कि उसे अपने रूप का ज्ञान नहीं रहता, वह अपने ब्रह्मरूप को भूल ही जाता है। मित्र, तुम उस विषय-बुद्धिरूपिणी स्त्री के वशीभूत होकर उसके साथ रमण करते रहे, इसीसे तुम्हें अपने ब्रह्मरूप का स्मरण नहीं रहा। तुम तो स्वतन्त्र और प्रभु हो। उस विषय-बुद्धि के संग से ही तुम्हारी यह बुरी दशा हुई है। हे मित्र, तुम वास्तव में न विदर्भराज की कन्या हो और न उस पुरंजनी के पति ही हो, जिसने तुमको नव द्वारवाली पुरी में क़ैद कर रक्खा था। न यह वीर राजा तुम्हारा पति है। यह सब मेरी उत्पन्न की हुई माया है, जिससे तुम पूर्वजन्म में अपने को पुरुष मानते थे और इस जन्म में अपने को एक पतिव्रता स्त्री समझ रहे हो। हम और तुम दोनों हंस अर्थात् निर्लिप्त हैं। मै अपना और तुम्हारा यथार्थ स्वरूप बतलाता हूँ। देखो, चैतन्य अंश में मै और तुम दोनों एक ही हैं। तुम मुझसे भिन्न कोई और नहीं हो। तुम अपने मन में निश्चय समझो कि मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ। चतुर ज्ञानी लोग मुझ ( परमात्मा ) और तुम ( आत्मा ) में कुछ भी अन्तर नहीं समझते। यदि कहो कि तो फिर मुझमें और तुममें अज्ञ और सर्वज्ञ होने आदि के भेद क्यों देख पड़ते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जैसे कोई अपने शरीर को शीशे में निर्मल, स्थिर आदि देखे और पराई आँखों में उन आँखों के दोष से वही शरीर इसके विपरीत मलिन और अस्थिर देख पड़े, वैसे ही मेरा और तुम्हारा यह धर्मभेद विद्या और अविद्या की उपाधि के कारण है।

मानसनिवासी इस हंस ( आत्मा ) को उस हंस ( परमात्मा ) ने जब यों समझाया, तब उस भ्रम में पड़े हुए हंस को, जिसे इस रूपक में पुरंजन और विदर्भ-राजकुमारी कहा है, अपने यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया। ईश्वर से बिछुड़कर विषयाभिलाषा की बुद्धि में फँसने के कारण उसकी जो स्मृति या "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान नष्ट हो गया था, वह फिर उसे प्राप्त हो गया। राजन्, मैंने इस आत्मज्ञान के विषय को रोचक पुरंजनोपाख्यान के रूपक द्वारा तुम्हारे आगे वर्णन किया है। तत्त्वज्ञान का रूखा विषय इस प्रकार कहने से श्रोता का मन लगता है, सहज में वह उसे समझ लेता है और श्रीनारायण को भी इस प्रकार का परोक्ष वर्णन प्रिय है। तात्पर्य यह कि साक्षात् आत्मज्ञान कहा जाता तो तुम समझ न पाते, इसीलिए इस रूपक के रूप में मैंने उपदेश करना उचित समझा।

# उन्तीसवाँ अध्याय

## पुरंजनोपाख्यान की व्याख्या

राजा प्राचीनबर्हि ने नारदजी से कहा—भगवन्, आपके इस गूढ़ वर्णन को अर्थात् इस रूपक के यथार्थ तात्पर्य को मैं नहीं समझ पाया। इसे तो ज्ञानी लोग ही समझ सकते हैं, मेरे समान कर्मकाण्डी अर्थात् इन्द्रिय-सुख के लिए यज्ञ आदि कर्मों में ही लिप्त रहनेवाले लोग नहीं समझ सकते।

नारदजी ने कहा—अच्छा, मैं अब पुरंजनोपाख्यान का अर्थ खोलकर कहता हूँ, सुनो। जो कर्म करके अपने लिए एक, दो, तीन, चार पैरोंवाले, बहुत पैरोंवाले और बिना पैर के अनेकों पुरों या कर्मभोग करने के शरीरों की सृष्टि करता है, वही पुरुष या जीव पुरंजन है। जिसे यह जीव नाम, कर्म और गुण के द्वारा नहीं जान सकता, वह परमात्मा ही उसका अविज्ञात नाम का सखा है। इस जीव ने जब पूर्ण रूप से प्रकृति के गुणों अर्थात् विषयों को भोगना चाहा, तब नव द्वार, दो हाथ और दो पैरवाले मनुष्य-शरीर को ही उसने भोग करने के योग्य समझा; क्योंकि मनुष्यशरीर के सिवा अन्य शरीर से सब विषयों का भोग नहीं किया जा सकता। 'मैं हूँ, मेरा है,' इस प्रकार का अहंकार उत्पन्न करनेवाली विषयात्मिका बुद्धि ही वह स्त्री है। इसी के द्वारा यह जीव सब इन्द्रियों से इस शरीर में त्रिगुणात्मक विषयों का भोग करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ये ही दस उस बुद्धि या स्त्री के साथी है। इन्द्रियों की वृत्तियाँ ही उस बुद्धि की सखी हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान नाम की पाँच वृत्तियोंवाला प्राणवायु ही वह पाँच सिर-वाला पुरी का रक्षक सर्प है। ग्यारहवाँ भट बृहद्बल मन है। बड़ा बली होने के कारण उसे बृहद्बल कहा है। वह दोनों प्रकार की इन्द्रियों का नायक अर्थात् स्वामी है। रूप, रस आदि पाँचों विषय ही पांचाल देश हैं। उन्हीं के बीच में यह नव द्वार का पुर अर्थात् मनुष्य-शरीर बना है। दो आँखें, दो नाक के छेद, दो कान के छेद, मुख, लिंग, गुदा, ये नव द्वार हैं। यह जीव प्रत्येक इन्द्रियरूप सखा के साथ इन्हीं द्वारों से प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का उपभोग करता है। इसी को इस रूपक में उन द्वारों से भिन्न-भिन्न देशों में पुरंजन का जाना कहा है। नेत्र, नाक और मुख, ये पाँच पूर्वमुख द्वार हैं। दाहिना कान दक्षिणमुख और बायाँ कान उत्तरमुख द्वार है। गुदा और लिंग, ये दोनों पश्चिममुख द्वार हैं। दोनों नेत्र ही एक स्थान पर बने हुए खद्योत और आविर्मुखी नाम के दोनों द्वार हैं। इनसे जीवात्मा चक्षु इन्द्रिय के साथ, जिसे द्युमान नाम का सखा कहा है, विभ्राजित देश को जाता है, अर्थात् रूप को देखता है। नलिनी और नालिनी नाम के द्वार दोनों नाक के छेद हैं। सौरभ देश सुगंध है। घ्राण इन्द्रिय ही अवधूत नाम का सखा है। जीवात्मा उसकी सहायता से इन दोनों छेदों से गन्ध को ग्रहण करता है। मुख मुख्या नाम का द्वार है। वाक् इन्द्रिय विपण नाम का सखा है। रसों का स्वाद लेनेवाली जीभ ही रसज्ञ नाम का सखा है। बोलना आपण देश है और अनेक प्रकार के अन्न ही बहूदन देश हैं। जीवात्मा इन दोनों द्वारों से आपण और बहूदन देश को जाता अर्थात् बोलता और भोजन करता है। दाहिने कान का नाम पितृहू और बाएँ कान का नाम देवहू है। प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग के अनुयायी शास्त्र ही पाञ्चाल देश हैं, जिन्हें कानों से जीवात्मा सुनता है। श्रोत्र इन्द्रिय ही श्रुतधर नाम का सखा है। उसी की सहायता से यह जीव दोनों कानों से कर्मकाण्डमूलक प्रवृत्तिशास्त्र और मोक्षविषयक निवृत्तिशास्त्र सुनकर पितृयान और देवयान मार्ग से पितृलोक या देवलोक को जाता है। लिंग पश्चिममुख आसुरी नाम का द्वार है। मैथुन ही आमक देश है। कारण, ग्रामीण विषयी पुरुषों की इसी में अधिक रति होती है। उपस्थ इन्द्रिय दुर्मद नाम का सखा है। उसी की सहायता से पुरुष

यह विषय भोगता है। गुदा का छिद्र निर्ऋति नाम का पश्चिममुख द्वार है। मलत्याग वैशस नाम का देश है। पायु इन्द्रिय लुब्धक नाम का सखा है। अब अंध अर्थात् छिद्रहीन द्वारों का वर्णन सुनो। निर्वाक् और पेशस्कृत नाम के दोनों अंधद्वार हाथ और पैर हैं। यह जीव उनसे काम करता और चलता है।

हृदय ही पुरंजन का अन्तःपुर है। इसमें जीव के साथ रहनेवाला विपूचि नाम का सखा मन है। यह जीव मन के साथ हृदय में ही मन के तमोगुण, सतोगुण और रजोगुण नाम के गुणों से कभी मोह को प्राप्त होता है, कभी हर्ष को प्राप्त होता है और कभी प्रसन्नता प्राप्त करता है। जैसे-जैसे पुरंजन की प्रिया अर्थात् बुद्धि स्वप्न आदि अवस्थाओं में विकार को प्राप्त होती है, अर्थात् जो-जो भाव बदलती है, वैसे ही वैसे उस बुद्धि के गुणों में लिप्त यह जीव, यथार्थ में केवल साक्षी होने पर भी, बुद्धि की वृत्तियों ( देखना, सुनना, छूना ) आदि का अनुकरण करता है।

अब पुरंजन के शिकार के रूपक की व्याख्या करते हैं। यह देह रथ है। घोड़े इन्द्रियाँ हैं। वर्षों का आना-जाना उस रथ की गति है। पाप और पुण्य, दोनों पहिये हैं। तीन गुण ( सतोगुण आदि ) तीन ध्वजा हैं। प्राण, अपान आदि पाँचों प्राणवायु पाँच बन्धन हैं। मन ही घोड़ों की रास है। बुद्धि सारथि है। हृदय बैठने का स्थान है। शोक-मोह आदि द्वन्द्व उस रथ के कूबर* है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द आदि शस्त्र हैं। शरीर की सातों धातुएँ ही रथ के चमड़े आदि के आवरण हैं। बाहरी विक्रमस्वरूप जीव का रजोगुणमय रूप सुवर्ण का कवच है। मृगतृष्णा अर्थात् निष्फल विषय-भोग की खोज में यह जीव इस रथ पर जाता है। पाँचों शब्द आदि विषय ही पंचप्रस्थ वन हैं। पाँचों इन्द्रियों के द्वारा असंयत विषय-भोग ही शिकार है। दस इन्द्रियाँ उस शिकार में पुरंजन के साथ जानेवाली सेना और मन ही सेना-पति है। संवत्सर कहलानेवाला काल ही चंडवेग नाम का गन्धर्व है। साल के तीन सौ साठ दिन गंधर्व और शुक्ल तथा कृष्णपक्ष की रातें तीन सौ साठ गंधर्वों की स्त्रियाँ है। ये सात सौ बीस दिन और रातें घूम-फिरकर मनुष्य की आयु को हरती हैं। बुढ़ापा, जिसे जरा कहते हैं, कालकन्या है। उसे कोई खुशी से लेना नहीं चाहता। मृत्यु यवनराज है। उसने लोकक्षय के लिए जरा को अपनी बहन बनाया है। अर्थात् बुढ़ापे के बाद ही मृत्यु होती है। आधि (मानसिक चिन्ता )और व्याधियाँ अर्थात् रोग उस मृत्यु के सैनिक हैं। प्राणियों को पीड़ा पहुँचाकर शीघ्र ही मारनेवाला दो तरह का ज्वर ( जूड़ी और बुखार ) मृत्यु का भाई प्रज्वार है।

इस प्रकार पूर्वोक्त रूपक की व्याख्या करके अब सब कथा का तात्पर्य कहते है। राजन, यह जीवात्मा निर्गुण ईश्वर का ही अंश है, तथापि तमोगुण या अज्ञान से आवृत होकर देह धारण करके उसमे रहता है और आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक क्लेशों को पाता है। वह भूख-प्यास आदि प्राण के धर्मों को, अंधा-बहरा होना आदि इन्द्रियों के धर्मों को और काम-क्रोध आदि मन के धर्मों को अपने में आरोपित करके साधारण विषय-सुखों की चिन्ता मे लगा रहता है और "मै हूँ, मेरा है" इस अज्ञान मे मोहित होकर उन्हीं सुखों के लिए बराबर कर्म किया करता है। महाराज, यह जीव वास्तव मे स्वयंप्रकाशमान, परमगुरु भगवान् का ही अंश है। किन्तु जब अपने रूप अर्थात् परमगुरु भगवान् ईश्वर को भूलकर प्रकृति के गुणों मे लिप्त होता है, तब उन सतोगुण आदि का अभिमान करके शुक्ल ( सात्विक ), कृष्ण ( तामस ) या लोहित ( राजस ) कर्म करता है। उसके उपरान्त उन्हीं कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम या निकृष्ट योनियों में जन्म लेता है। सात्विक कर्म करने से बहुत प्रकाश से युक्त लोकों में कभी जाता है, कभी राजस कर्म करने से बहुश्रमसाध्य और अन्त में पुण्य क्षीण होने पर दुःखदायक लोकों को जाता है। कभी तामस

*रथ का एक अंग, जुए का बन्धनस्थान।

कर्म करने से तमोमय और शोकदायक लोकों को जाता है। तात्पर्य यह कि देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी व कीट-पतंग आदि योनियों में जन्म लेता है। कर्मों के अनुसार ही यह जीव कभी पुरुष होता है, कभी स्त्री और कभी नपंसक। भूख और प्यास का सताया हुआ कुत्ता जैसे दीन भाव से घर-घर घूमता है और कहीं भाग्यानुसार डंडे की मार पाता है और कहीं एक टुकड़ा रोटी भी पा जाता है, वैसे ही यह जीव सुख की इच्छा से कर्म करके पूर्वकर्म के अनुसार अनेक योनियों में जाकर कभी सुख और कभी दुःख पाता है, अर्थात् विषय-कामना में आसक्त यह जीव ऊँचे-नीचे लोकों में घूमता हुआ उत्तम, मध्यम और अधम योनियों में प्रिय और अप्रिय ( सुख और दुःख ) प्राप्त करता है। महाराज, संसार के क्षणभंगुर सुख मिलने से जीव के आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के दुःख नहीं दूर होते। विशेषकर सकाम कर्म के द्वारा कर्मों से ही उत्पन्न दुःख कभी नहीं मिट सकता। जैसे कोई सिर पर बोझ लादे हो और थक जाने पर या कष्ट मिलने पर उस बोझ को सिर से उतारकर कंधे पर रख ले तो इससे उसकी बोझ की व्यथा दूर नहीं हुई, केवल थोड़ी देर के लिए एक अंग को विश्राम हो गया, वैसे ही सकाम कर्म के द्वारा कर्मजनित दुःख नहीं दूर हो सकता; क्योंकि दुःख दूर करने के लिए किये गये सकाम कर्म भी अन्त को दुःख का कारण बन जाते हैं। ज्ञान-रहित वासनामूलक कर्म से भलीभाँति कर्म का प्रतिकार या नाश नहीं होता। कारण, कर्म और उसके प्रतिकार के लिए किया हुआ कर्म, दोनों अविद्याकृत हैं। जैसे स्वप्न में स्वप्न देखना, दोनों ही समान है। बिना जागे स्वप्न से स्वप्न की अवस्था दूर नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि प्रवृत्तिमूलक यज्ञ आदि कर्मों से कर्मबन्धन नहीं छूट सकता—जन्म-मरण का दुःख अर्थात् कर्मबन्धन दूर करने के लिए ज्ञानमूलक निवृत्तिपरक निष्काम भगवद्भजन की आवश्यकता है। यही कहते हैं कि स्थूलशरीर का नाश होने पर भी वासनामय लिंगशरीर का नाश हुए बिना संसार अर्थात् जन्म-मरण की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार यह मन स्वप्नावस्था में संपूर्ण शरीर का अभिमानी होकर अनेक प्रकार के कर्म करता है और उन कर्मों के द्वारा प्राप्त सुख या दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही यह स्थूलशरीर छोड़ देने पर भी यह शरीराभिमानी मन विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है और जन्म-मरण का सिलसिला नहीं टूटता।

[ इस प्रकार संसृति का वर्णन करके अब उसकी निवृत्ति अर्थात् जन्म-मरण के फेर से छूटने का उपाय बतलाते हैं। ] राजन, आत्मज्ञान प्राप्त करके भक्तिभाव के साथ परमपुरुष परमगुरु ईश्वर का निःस्वार्थ भजन करने से सब अनर्थों की जड़ अज्ञान या लिंगशरीर की निवृत्ति हो जाती है। कर्मबन्धन से छूटने का यही सच्चा उपाय है, यज्ञ आदि प्रवृत्तिमूलक कर्म नहीं। महाराज, सब प्राणियों के हृदय में स्थित भगवान् में एकाग्र मन लगाकर दृढ़ भक्ति करने से शीघ्र ही जीव को संसार के मायारचित विषयों के भोग से वैराग्य हो जाता है और तत्त्वज्ञान भी होता है। तात्पर्य यह कि भक्तियोग के बिना कोरे ज्ञान से भी मुक्ति नहीं होती। हे राजर्षि, भगवान् की कथाओं को श्रद्धा के साथ नित्य सुनने और पढ़ने से वह भगवान् की भक्ति प्राप्त होती और बढ़ती है। जहाँ पर निर्मल अन्तःकरणवाले परोपकारी भगवद्भक्तों का समागम होता है, भगवान् के गुणों का वर्णन करने और सुनने के लिए उतावले हो रहे भक्तजन आकर मिलते हैं, वहाँ उन महात्माजनों के मुख से निकली हुई हरिचरित्ररूप विशुद्ध अमृत की नदियाँ बहती हैं। उस अमृत को जो लोग एकाग्र होकर कानों के द्वारा पीते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक, मोह आदि तीनों प्रकार के ताप नहीं सताते। भक्तजन भगवत्कथामृत को पीते ही रहते हैं, उससे उनका जी नहीं भरता। ऊपर कहे गये त्रिविध ताप मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं, जन्म से ही उसके पीछे लगे रहते हैं। इन तापों से पीड़ित और व्यग्र मनुष्य का मन साधारणतः अमृत के समान हरिकथाओं में नहीं लगता। इसलिए पहले सत्संग करना चाहिए, तभी इधर मनुष्य की रुचि बढ़ती है।

राजन्, भगवान् की कृपा के बिना किसी को उनका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान नहीं होता। प्रजापतियों के स्वामी भगवान् ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, मनु, दक्ष आदि प्रजापति लोग, सनक आदि बालब्रह्मचारी, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और मैं, बस इतने ही ब्रह्मवादी अर्थात् ब्रह्म को जाननेवाले हैं। बड़े-बड़े विद्वान् अब भी तप, विद्या और समाधि आदि उपायों से उस सर्वव्यापी और सबके साक्षी ईश्वर या ब्रह्म को देखने अर्थात् जानने का यत्न कर रहे है, पर जान नहीं पाते। बहुविस्तृत अपार शब्दब्रह्म वेद का अध्ययन करके जो लोग मन्त्रमूर्ति इन्द्र आदि देवतों की आराधना के लिए यज्ञ आदि कर्म करते है, वे भी उस ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को नही जान पाते। [तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्द्र आदि देवता उसी परमेश्वर का स्वरूप हैं, तथापि सकाम होकर उन्हें भजनेवालों को स्वर्गादि लोक ही प्राप्त होते हैं, मुक्ति नहीं मिलती। गीता में कृष्णचन्द्र ने स्पष्ट ही कह दिया है कि जो लोग मेरी जिस मूर्ति की जिस कामना से पूजा करते हैं, उनकी वह कामना मैं पूरी करता हूँ।]

जब मनुष्य केवल ईश्वर से मिलने की कामना से हृदय में ईश्वर का ध्यान करता है, तब भगवान् उस पर अनुग्रह करते हैं और वह लौकिक सुखों की कामना तथा वैदिक कर्मकाण्ड (प्रवृत्तिमार्ग) को असार समझकर छोड़ देता है। हे प्राचीनबर्हि, वेद में जितने सकाम कर्मों की विधि है, वे केवल कानों को प्रिय मधुर वाक्य हैं। विवेकशून्य लोग उन्हीं स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मों को परमार्थ मान लेते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वे परमार्थ जान पड़ने पर भी परमार्थ नहीं हैं। कारण, स्वर्गादि फल पुण्य क्षीण होने पर दुःख का कारण बन जाते हैं। तुम इन यज्ञ आदि कर्मों को ही जीवन का सारांश या पुरुषार्थ न मानो। राजन्, जो लोग वेद को केवल यज्ञ आदि कर्मों की पद्धति बतलाते हैं अर्थात् कहते हैं कि वेद में कामनापूर्वक यज्ञ आदि करना ही बतलाया गया है, उनकी बुद्धि वास्तव में यज्ञ के धुएँ से मलिन हो गई है। वे कर्म या वेद के तात्पर्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। वे आत्मतत्त्व के बतलानेवाले वेद के तात्पर्य को बिलकुल नहीं जानते। राजन्, तुम भी उन्हीं लोगों में हो। तुम अपने को बड़ा भारी यज्ञ करनेवाला मानकर अहंकार कर रहे हो। केवल कुशों से सारी पृथ्वी को ढककर, अनेक पशुओं की हत्या करके, "मैं बड़ा ही यज्ञ करनेवाला हूँ" ऐसा घमंड करते हो। परन्तु वास्तव में तुम कर्म के यथार्थ रहस्य या तत्त्व को नहीं जानते। देखो, कर्म वही श्रेष्ठ है, जिससे भगवान हरि प्रसन्न हों और विद्या या ज्ञान वही है, जिससे हरि में भक्तिभाव हो। वह भगवान हरि सब देहधारियों के आत्मा और ईश्वर हैं। वह इस जगत के कारण और उससे अलग हैं। उन हरि के चरणों की शरण में आने से ही जीवों को शान्ति मिलती है। वही हरि सबके परमप्रिय आत्मा हैं। उनका आश्रय ग्रहण करने से मनुष्य को किसी का भय नहीं रहता। इस तत्त्व को जो जानता है, वही विद्वान् है। इस प्रकार के विद्वान ही सबके गुरु और साक्षात् हरि का रूप हैं।

हे पुरुषश्रेष्ठ, मैंने आपके प्रश्न का उत्तर पूर्वोक्त पुरंजनोपाख्यान के रूपक में दे दिया। परन्तु आत्मा के बन्धन और मोक्ष का वर्णन कथारूप में सुनने पर भी आप अभी संसार से संपूर्ण विरक्त नहीं हुए। 'मेरे पुत्र कहाँ हैं, वे कब लौटकर आवेंगे,' इस प्रकार की चिन्ता अभी आपके हृदय में बनी हुई है। इसलिए अब मैं एक सुनिश्चित गूढ तत्त्व की कथा कहता हूँ, जिसे सुनकर आपको दृढ़ वैराग्य हो जायगा और आप घर छोड़कर सत्संग और भगवद्भजन करने चले जायँगे। फूलों के बाग में, जहाँ अनेक प्रकार के सुगंधित फूल फूल रहे हैं, मधु के लोभ से बैठे हुए भौरे मधुर गुंजन कर रहे हैं, मृगी के साथ यह मृग उनके मधुर संगीत को मन लगाकर सुन रहा है और धीरे-धीरे इधर-उधर विचर रहा है। यह ऐसा मस्त हो रहा है कि इसे कुछ भी चेत नहीं है। किन्तु इसके सामने ही दूसरे की हिंसा करके अपने पेट को पालनेवाले भेड़िये या बाघ इसकी ताक में खड़े हैं और पीछे धनुष-बाण हाथ में लिये शिकारी बहेलिया आ रहा है। पर

इस मृग को इसकी कुछ भी खबर नहीं है। देखो, वह शिकारी ने बाण मारकर मृग को मार डाला। राजन्, यह भी एक रूपक है। इसका भाव यह है—फूलों के ही समान अन्त में शोभाहीन शुष्क हो जानेवाली स्त्रियों के रहने का घर ही फूलों का बाग़ है। फूलों के मधु और गंध के समान क्षुद्र (क्षणस्थायी) सकाम कर्मों के फल अच्छे भोजन और स्त्रीसंग आदि विषय-भोग हैं। उन्हें खोजते हुए उन स्त्रियों के साथ रम रहे अर्थात् मन लगाये हुए मृग तुम हो। स्त्री-पुत्र आदि की मनोहर बातचीत ही भौंरों का मधुर गुंजन है। उसके सुनने मे तुम ऐसे आसक्त हो रहे हो कि भेड़ियों या बाघों के समान काल के अंश दिन और रातें तुम्हारी आयु को हर रहे है, कम कर रहे हैं, तुम्हारी ताक में लगे हैं, पर तुमको उसका कुछ भी ध्यान नहीं है, तुम गृहस्थाश्रम के सुखों में मस्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे अलक्ष्य भाव से बहेलिये या शिकारी के समान मृत्यु लगा हुआ है। वह शीघ्र ही तुमको अपने छिपे हुए तीर से मार डालेगा। इसलिए तुम समझो और देखो, तुम्हें मृत्यु अपना शिकार बनानेवाला है। अपनी मृग के समान इस चेष्टा को समझकर विवेक से चित्त को विषयों की ओर से हटाओ। चित्त को हृदय में एकाग्र करो अर्थात् अंतर्मुख करो और इन्द्रियों की बाहरी वृत्तियों को चित्त के द्वारा रोको। अत्यन्त कामी जनों की चर्चा से युक्त इस गृहस्थाश्रम को छोड़कर सब जीवों को अभय देनेवाले भगवान् का भजन करो। राजन्, क्रमशः इस प्रकार मन को सब विषयों से हटाकर परमेश्वर में लगाओ, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।

नारद के ये वचन सुनकर प्राचीनबर्हि ने कहा—नारदजी, आपके कहे हुए इस अध्यात्म-तत्त्व अर्थात् आत्मा के बन्धन और मोक्ष का प्रकार सुना और उस पर विचार भी किया। मेरे आचार्य (कर्मकाण्ड का उपदेश करनेवाले गुरु) शायद इस विषय को नहीं जानते। अगर जानते होते तो मुझे अवश्य ही बतलाते। भगवन, आपने जो कुछ बतलाया, सो ठीक है। मेरे संशय को आपने निवृत्त कर दिया। अपने आचार्यों के विरुद्ध निवृत्तिमार्ग का जो उपदेश आपसे मिला, उसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह अभी मेरे मन मे बना हुआ है। यह विषय बड़ा कठिन है। इसमें बड़े-बड़े ऋषियों की भी बुद्धि काम नहीं करती। कारण, यह आत्मतत्त्व का विषय इन्द्रियगम्य नहीं है। मेरा संदेह यह है कि जीव जिस शरीर से इस लोक में कर्म करता है, उसे यहीं छोड़कर परलोक मे जाता है, वहाँ इस लोक में किये गये कर्मों के द्वारा उनका फल भोगने के लिए दूसरा शरीर मिलता है और इस प्रकार वह अपने कर्मों का फल भोगता है। वेद के तत्त्व को जाननेवाले विद्वान् लोगों के मुख से यही सुना जाता है। पर यह मेरी समझ में नहीं आता। कारण, इसके अनुसार कर्म करनेवाला शरीर और हुआ और उन कर्मों का फल भोगनेवाला शरीर और। इस अवस्था में किये हुए का नाश और नहीं किये हुए का प्रकाश होने के कारण पूर्वोक्त मत असंगत जान पड़ता है। दूसरा संशय यह है कि लोग जिन वेदोक्त कर्मों को करते हैं, वे उसके बाद ही परोक्ष अर्थात् अदृश्य हो जाते है। इससे जान पड़ता है कि उन कर्मों का नाश हो जाता है। अतएव यदि कर्म ही न रहे तो उनके फल का भोग कैसे हो सकता है?

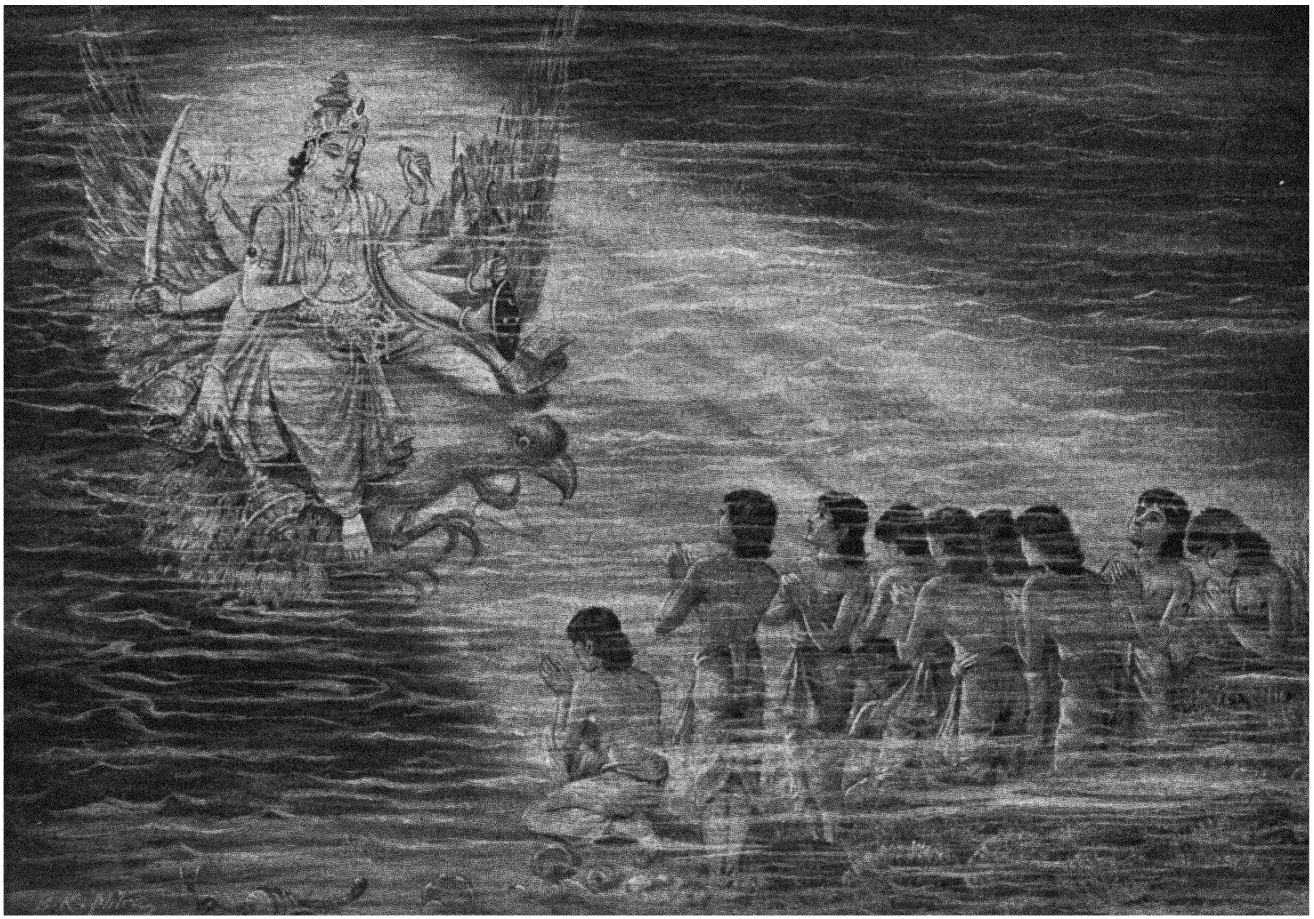
नारदजी ने कहा—महाराज, भ्रमवश आपको ये संदेह हो रहे हैं। देखिए, यह जीव जिस देह से इस लोक में कर्म करता है, उसी देह से परलोक में भी कर्मों के फल को भोगता है। कर्म करनेवाले शरीर को छोड़कर और नया शरीर नहीं ग्रहण करना पड़ता। कारण, कर्म करनेवाला स्थूलशरीर का अभिमानी सूक्ष्म लिंगशरीर ही है। प्रकट में स्थूलशरीर का नाश हो जाने पर भी जीव का लिंगशरीर बना रहता है। जीव उसी मनोमय लिंगशरीर से कर्मफल भोगता है। इसलिए आपका पहला सन्देह निरर्थक है। देखिए, जैसे जाग्रत अवस्था में स्थूलशरीर का अभिमान रखनेवाला जीव स्वप्नावस्था में इस सजीव शरीर के अभिमान को छोड़कर अन्य मनुष्य, पशु आदि योनियों का अभिमानी बनकर मन के द्वारा अनेक कर्म करता और उनके सुख-दुःख आदि फलों को भोगता अर्थात् अनुभव करता है, वैसे ही मरने पर अर्थात्

स्थूलशरीर छोड़ने पर कर्मानुसार अन्य पशु आदि योनियों में जन्म लेकर अपने लिंगशरीर के द्वारा कर्मफल भोगता है।] यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि लिंगशरीर के द्वारा कर्मफल [ भोगने के इस दृष्टान्त से उसका भोक्ता होना भले ही सिद्ध होता हो, किन्तु दान और प्रतिग्रह ( ग्रहण करना ) आदि कर्मों में तो स्थूलशरीरयुक्त जीव का ही कर्तृत्व देखा जाता है। इसी का उत्तर देते है ] कि यह जीव "ये मेरे पुत्र आदि है" या "मैं ब्राह्मण हूँ" इत्यादि अहंमय भाव के साथ मन से जिस-जिस देह को ग्रहण करता है, उस-उस देह से किये गये कर्मों को अपनाता है और उसी अहंमय भाव के कारण वे कर्म उसके पुनर्जन्म का कारण होते हैं। अन्यथा पुनर्जन्म की उपपत्ति नहीं देख पड़ती। इसलिए अहंमय भाव का आधार मनोविशिष्ट लिंगशरीर ही वास्तव में सब कर्मों का कर्त्ता है, अभिमान का विषय स्थूलदेह तो पुत्र आदि के देह के समान कर्म करने और कर्मफल भोगने का साधनमात्र है। राजन, अब आपका दूसरा संदेह यह है कि सब कर्म करने के बाद अदृश्य या नष्ट हो जाते हैं, इसलिए परलोक या जन्मांतर में उनके फल का भोग कैसे संभव है ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की चेष्टा से "चित्त" का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त की वृत्तियों से हम पूर्वजन्म के कर्मों का अनुमान करते है। सब इन्द्रियों का और विषयों का संबंध सब समय रहने पर भी एक समय एक ही इन्द्रिय से एक ही विषय का हम अनुभव करते है; इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि इन्द्रिय को उसके विषय की ओर प्रवृत्त करनेवाला चित्त नाम का तत्त्व अवश्य है*। इसी प्रकार इस देह में चित्त की वृत्तियों से पूर्वजन्म के कर्म का पता लगता है; क्योंकि उनकी भी एक साथ उत्पत्ति नहीं होती। प्रायः ऐसा होता है कि हमने इस शरीर से कहीं पर कभी जिस वस्तु का इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया अर्थात् जिसे खाया-पिया, देखा-सुना, सूँघा या छूआ नहीं, उसी की स्वप्न अथवा मनोरथ आदि में मन के द्वारा उपलब्धि होती है। इसका कारण क्या है ? इससे स्पष्ट है कि इस जन्म में उस वस्तु के उस रूप का अनुभव न होने पर भी पहले के जन्म में हमारे मन ने अवश्य उसका अनुभव किया है और उसी का संस्कार इस जन्म में स्वप्न, मनोरथ आदि में उसका अनुभव हमें कराता है। इस तथ्य को तुम निश्चित समझो। कारण, जिस विषय का कभी अनुभव नहीं हुआ, वह कभी मन में स्फुरित हो ही नहीं सकता। राजन, मन की वृत्ति से ही पूर्वापर शुभाशुभ के कारण शरीर जाने जाते हैं। अर्थात् मनुष्य का मन उसके पूर्वजन्म के रूप को प्रकट कर देता है कि वह पूर्वजन्म में किस योनि का और किस प्रकृति का था और अगले जन्म में वह कैसा और कौन होगा, इसका भी पता मन की वृत्तियों से ही लग जाता है। इसी कारण लोग किसी की उदारता या कृपणता, दयालुता या निर्दयता देखकर कहते हैं कि यह आदमी पहले जन्म में भी ऐसा ही था अथवा अगले जन्म में भी ऐसा ही होगा। [ यहाँ पर यह शंका होती है कि कभी-कभी स्वप्न आदि में ऐसे भी दृश्य देख पड़ जाते हैं जो असंभव हैं, जैसे पहाड़ के ऊपर समुद्र, दिन को नक्षत्र अथवा अपने सिर का कटना। इसका क्या कारण है ? इसी का उत्तर देते है। ] कभी न देखे-सुने गये असंभव विषय या दृश्य जो कभी मन के द्वारा देखे जाते हैं, वे देश, काल और क्रिया के आश्रित हैं। और निद्रा आदि दोष से उनकी प्रतीति होती है। अर्थात् किसी देश, काल और क्रिया में उनको देखकर ही स्वप्नावस्था में उनकी प्रतीति होती है। यदि कहो कि स्वप्नावस्था में कभी राजा अपने को रंक देखता है और रंक कभी अपने को महाराज देखता है, इसका समाधान क्या है ? इसका उत्तर यह है कि मन सब के होता है और इन्द्रियों के सभी विषय क्रमशः भोग्य पदार्थ के रूप में मन में आया-जाया करते हैं। इस कारण ऐसा कोई भी विषय नहीं

*यही बात आचार्य अक्षपाद ने इस सूत्र में कही है—
"युगपत् ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिंगम्।"

है, जिसका अनुभव मन न करता हो। जैसे चंद्रमा के पास आकर उस से मिलकर राहु प्रकट होता है, यों नहीं दिखलाई पड़ता, वैसे ही एकमात्र सतोगुण में निष्ठा रखनेवाले और भगवान् के ध्यान में लगे हुए मन से संयुक्त होकर यह संपूर्ण विश्व एक साथ प्रकाशित होता है। तात्पर्य यह कि योगियों के शुद्ध मन में सभी विषयों का स्फुरण होता है।

[ स्थूलदेह के नष्ट होने पर भी लिंगदेह का नाश न होने के कारण कर्त्ता देह और है, और भोग करनेवाला और, यह शंका ठीक नहीं, यह ऊपर कहा जा चुका है। अब यहाँ यह शंका होती है कि लिंगदेह स्थूलदेह के द्वारा ही कर्म करता और फल भोगता है, इसलिए जब कभी स्थूलदेह का अभाव होगा तो जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भी अभाव हो जायगा और उसकी मुक्ति हो जायगी। इसी का उत्तर देते है कि ] बुद्धि, मन, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय और प्रकृति के गुण, इनका परिणाम लिंगशरीर जब तक रहता है, तब तक "मै हूँ, मेरा है" यह भाव भी जीव के साथ लगा रहता है, अर्थात् स्थूलशरीर से उसका सम्बन्ध नहीं छूटता—एक स्थूलशरीर छोड़ते ही दूसरा स्थूलशरीर मिल जाता है। सोते समय, बेहोशी में, इष्टजन के वियोग-दुःख में, मृत्यु में और ज्वर की अधिकता में, इन सब अवस्थाओं में भी अहंभाव नष्ट नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी स्फूर्ति नहीं होती। इसका कारण यही है कि इन अवस्थाओं में इन्द्रियाँ अपना काम नहीं करतीं। इन्द्रियाँ जब किसी वस्तु को ग्रहण करती हैं, तभी अहंकार को स्फूर्त्ति होती है, अन्यथा नहीं। गर्भावस्था और बाल्यावस्था में भी अहंभाव की वैसी पूर्ण स्फूर्त्ति नहीं होती, जैसी जवानी मे होती है। इसका कारण यही है कि गर्भावस्था और बाल्यावस्था में इन्द्रियाँ असंपूर्ण और अपटु होती हैं; किन्तु जवानी में मनसहित ग्यारहों इन्द्रियाँ संपूर्ण और पटु होती हैं, इसलिए अहंभाव भी परिपूर्ण रूप से स्पष्ट देख पड़ता है। जैसे चन्द्रमा की कला का अस्तित्व रहने पर भी वह देख नहीं पड़ती, वैसे ही गर्भावस्था में या बाल्यावस्था में अहंभाव नहीं देख पड़ता, पर अंकुररूप में होना अवश्य है। इसलिए अहंकार के आधार स्थूलशरीर का संबन्धविच्छेद न होने के कारण एक देह छूटने पर यद्यपि इन्द्रियों के विषय विद्यमान नहीं रहते, तथापि लिंगशरीर से उन विषयों का ध्यान करते रहने के कारण जीव को संसार से छुटकारा नहीं मिलता, अर्थात् जन्म-मरण की निवृत्ति नहीं होती। जैसे स्वप्न में वास्तव में सिर कटना आदि अनर्थ नहीं होते, पर मन से उनका अनुभव करने के कारण दुःख आदि की प्राप्ति होती है। पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द आदि, तीन गुणों के भाव और सोलह विकार ( पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व और मन ) मिलकर लिंगशरीर कहलाता है। वही चेतना से युक्त होकर जीव संज्ञा को प्राप्त होता है। यह पुरुष अर्थात् जीवात्मा इसी लिंगशरीर के द्वारा विविध स्थूलशरीरों को ग्रहण करता और छोड़ता है। हर्ष, शोक, भय, सुख और दुःख भी इसी सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होते हैं। तृणजलूका नाम का एक कीड़ा होता है। वह अगले पैरों से जब दूसरे तृण को पकड़ लेता है, तब पिछले पैरों से पकड़े हुए तृण को छोड़ता है। वैसे ही यह पुरुष या जीव मरते समय अर्थात् स्थूलशरीर छोड़ने पर भी, पूर्वशरीर के आरंभ किये कर्मों को समाप्त कर जब तक अन्य स्थूलशरीर ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक पूर्वशरीर के अभिमान या अहंभाव को नहीं छोड़ता। वास्तव में यह मन ही मनुष्यों के जन्म-मरणरूप संसृति का कारण है। राजन्, इन्द्रियों के द्वारा भोगे जानेवाले विषयों का ध्यान करके ही यह जीव बारम्बार कर्म करता है। कर्मों का कारण अविद्या या अहंभाव है और उस अहंभाव से ही देह आदि के द्वारा कर्मबन्धन होता है। इसलिए संसार के कारण अहंभाव अथवा अविद्या का नाश करने के लिए तुम तन-मन से हरि का भजन करो और इस विश्व में उस ईश्वर को व्याप्त देखो, जो इस विश्व की उत्पत्ति, पालन और नाश करनेवाला है। यही मेरे इस सारे तत्त्वोपदेश का सारांश है।



समुद्र के भीतर तप करते हुए प्रचेताओं को भगवान् हरि का दर्शन

मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर, हरिभक्तों में श्रेष्ठ भगवान् नारदजी इस प्रकार जीव और ईश्वर के तत्त्व का निरूपण करके प्राचीनबर्हि से विदा होकर सिद्धलोक को चले गये।

उधर राजा प्राचीनबर्हि भी संसार से विरक्त होकर राजकाज अपने पुत्रों को सौंपने के लिए मंत्रियों को आज्ञा देकर आप तपस्या करने के लिए उसी समय कपिलदेवजी के आश्रम गंगासागर-संगम को चले गये। वहाँ सबका संग छोड़कर एकाग्र मन से भक्तिभाव के साथ गोविन्द के चरणारविन्दों का भजन करने लगे। उस दृढ़ भक्ति के प्रभाव से वह शीघ्र ही भगवान् में लीन हो गये, अर्थात् उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई।

हे विदुर, देवर्षि नारद ने पुरंजन के रूपक में यह अध्यात्मतत्त्व कहा है। इसे जो कोई सुनता या सुनाता है, वह संसार के मूल अर्थात् बन्धन के कारण अहंभावमय लिंगशरीर से छूट जाता है। देवर्षियों में श्रेष्ठ नारदजी के मुख से कहा गया यह पुरंजनोपाख्यान आत्मा अर्थात् मन को शुद्ध करनेवाला है। इसमें मुकुन्द भगवान् के माहात्म्य का वर्णन है, इसलिए यह सब जगत् को पवित्र करनेवाला है। इसे जो कोई सुनता है, उसे सबसे बड़ा परमार्थ मुक्ति मिलती है। उसे इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता। यह पुरंजन के रूपक में कहा गया अद्भुत अध्यात्मतत्त्व मैंने प्राप्त किया था। इसके द्वारा नारदजी ने राजा प्राचीनबर्हि की गृहस्थाश्रम में आसक्ति को दूर किया और उन्हें जो यह संशय था कि मरने के उपरान्त कर्मफल कैसे भोगा जाता है, उसे निवृत्त किया। इसके सुनने से प्रत्येक मनुष्य गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर भगवान् में मन लगाता है और उसे फिर कर्मफल भोगने के विषय मे संशय नहीं रहता

# तीसवाँ अध्याय

## प्रचेतागण को विष्णु का वरदान

विदुरजी ने पूछा—भगवन्, आप पहले प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं की कथा कह चुके हैं। बतलाइए, उन्होंने पूर्वोक्त रुद्र-गीत से हरि की आराधना करके उन्हें प्रसन्न करके कौन-सी सिद्धि पाई? कैवल्य मोक्ष देने वाले हरि के प्रिय शंकर की कृपा के पात्र होकर प्रचेताओं ने अन्त को अवश्य ही मोक्ष पाई होगी। किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि मोक्ष के पहले इस लोक या परलोक में उन्होंने क्या पाया?

मैत्रेयजी ने कहा—हे विदुर, प्रचेताओं ने पिता की आज्ञा से वन मे तप करने के लिए जाकर रुद्र के दर्शन पाये और रुद्र ने उन्हें रुद्र-गीत का उपदेश किया, यह पहले कहा जा चुका है। इसके उपरान्त वे समुद्र के भीतर जाकर रुद्र-गीत का जप और तपस्या करके हरि भगवान् की आराधना करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते उन्हे जब दस हज़ार वर्ष बीत गये, तब सनातन पुरुष भगवान् नारायण अपने तेज से उनके तपस्या के क्लेश को दूर करते हुए शुद्ध सतोगुणमय रूप से प्रकट हुए। भगवान् गरुड़ के कंधे पर बैठे हुए थे। जान पड़ता था, जैसे सुमेरु पर्वत के शिखर पर श्याम मेघ शोभायमान है। उनके शरीर पर पीताम्बर और कंठ मे कौस्तुभ मणि थी। उनके तेज से सब दिशाओं का अन्धकार दूर हो गया। चमकीले सुवर्ण के आभूषणों मे कपोलों की और मुख की अपूर्व शोभा हो रही थी। सिर पर मणिमय किरीट मुकुट था। आठ भुजाएँ थीं, जिनमे आठ शस्त्र चक्र, गदा आदि धारण किये थे। पार्षद, मुनिगण और देवगण उनकी सेवा में उपस्थित थे। किन्नरों के समान गरुड़जी भगवान् की कीर्तिरूप सामगान अपने पंखों के शब्द से कर रहे थे। हरि के कंठ में पड़ी हुई वनमाला की शोभा उनकी विशाल आठ भुजाओं के बीच वक्षःस्थल में स्थित लक्ष्मी देवी की समता कर रही थी, अर्थात् वक्षःस्थल जो लक्ष्मी का निवासस्थान है, उसी में वनमाला

भी विराजमान थी। आदिपुरुष ने इस रूप से प्रकट होकर प्राचीनबर्हि के पुत्रों की ओर कृपादृष्टि से देखा। फिर अपने शरणागत उन राजपुत्रों से मेघ के समान गंभीर वाणी से भगवान् ने यों कहा।

भगवान् ने कहा—राजकुमारो, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे मनमाना वर माँग लो। तुम सब भाइयों में परस्पर बड़ा मेल है, तुम सबका स्वभाव भी एक ही प्रकार का है। मैं तुम्हारी इस मैत्री या मेल से तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुमको यह वर देता हूँ कि जो व्यक्ति संध्यासमय नित्य तुम्हारा स्मरण करेगा, उसमें और उसके भाइयों में भी परस्पर ऐसी ही मैत्री होगी और उसे सब प्राणियों से सहानुभूति प्राप्त होगी—वह सब प्राणियों का सुहृद् होगा। जो लोग प्रातःकाल और सायंकाल को एकाग्रमन होकर इस रुद्र-गीत से मेरी स्तुति करेंगे, उन्हें भी मैं निर्मल विवेकबुद्धि और मनमाने वर दूँगा। तुम लोगों ने प्रसन्नता के साथ पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया, इसलिए तुम्हारी पवित्र कीर्त्ति त्रिभुवन में फैलेगी। तुम्हारे एक बहुत ही प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न होगा। वह गुणों में ब्रह्माजी के समान ही होगा। उसके वंश से तीनों लोक भर जायँगे। देवराज इन्द्र ने एक समय कण्डु ऋषि के तप में विघ्न डालने के लिए प्रम्लोचा नाम की अप्सरा को उनके आश्रम में भेजा था। उसी अप्सरा के गर्भ से कण्डु ऋषि के एक कन्या उत्पन्न हुई। इन्द्र का काम पूरा करके और उस कन्या को वन में ही छोड़कर वह अप्सरा स्वर्ग को चली गई। उस कन्या को वन के वृक्षों ने ग्रहण कर लिया। वह कन्या भूख से जब रोने लगी, तब ओषधियों के राजा चंद्रमा ने दया करके अपनी अमृतमय अँगूठे के पास की हाथ की उँगली उसके मुख में दे दी। इस प्रकार अमृत पीकर पली हुई वह अप्सरा की कन्या वृक्षों के पास है। तुम्हारे पिता ने आज्ञा दी थी कि तुम लोग मेरी सेवा करके प्रजा उत्पन्न करो। मैं भी तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि उस सुन्दरी कन्या से तुम लोग शीघ्र ही विवाह कर लो और पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए सृष्टि को बढ़ाओ। और देखो, तुम यद्यपि दस भाई हो, किन्तु तुम सबका स्वभाव, आचरण, धर्म, रूप और नाम एक ही है। इसलिए वह कन्या तुम सबकी पत्नी होगी। उस कन्या का शील-स्वभाव और आचरण भी तुम्हारे अनुरूप है। तुम्हारा बल और प्रभाव मेरी कृपा से कहीं और कभी कम न होगा और तुम दिव्य हज़ारों वर्षों तक पृथ्वी के और स्वर्ग के दिव्य भोग भोगोगे। इसके उपरान्त मेरी सुदृढ़ भक्ति से तुम्हारे मन में विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा, तब संसार के भोगों से विरक्त होकर मेरे परमधाम में पहुँच जाओगे। यदि कहो कि गृहस्थाश्रम में पड़कर उसकी आसक्ति से बन्धन ही होगा, उसमें आपकी भक्ति या वैराग्य होना कैसे संभव है? तो ऐसी बात नहीं है। जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर निलिप्त होकर सब कर्म करते हैं,



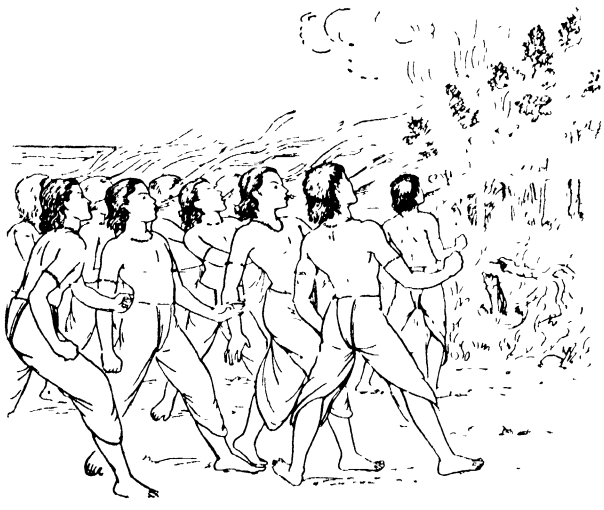
सब कर्म मेरी प्रसन्नता के लिए करते हैं और मेरे ही चरित्र कहने-सुनने में समय बिताते हैं, उन कर्त्तव्य-कर्म करनेवाले मेरे भक्तों के लिए यह गृहस्थाश्रम बन्धन का कारण नहीं होता। मेरी कथाएँ सुनने से स्वयं मैं कथा का कीर्त्तन-श्रवण करनेवालों के हृदय में प्रकट हुआ करता हूँ, अर्थात् उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उस कथा के प्रतिपद में मैं नित्य नवीन-सा उन्हें दिखलाई पड़ता हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। मेरे मिलने या दर्शन होने पर पुरुष हर्ष, शोक या मोह के वश नहीं होता।

मैत्रेयजी कहते हैं—परमपुरुषार्थ मोक्ष के दाता भगवान् विष्णु ने जब यों कहा, तब प्रचेतागण हाथ जोड़कर गद्गद स्वर से सबके सच्चे सुहृद् भगवान् की स्तुति करने लगे। भगवान् के दर्शन से उनके हृदय से तमोगुण और रजोगुण का मल काम, क्रोध आदि दूर हो गये।

प्रचेताओं ने कहा—भगवन, आप संसार के क्लेश का नाश करनेवाले हैं। आपको हम प्रणाम करते हैं। वेदों और ब्रह्मवादियों ने आपके उदार गुणों और नामों को ही सब प्रकार के श्रेय या कल्याण देनेवाला कहा है। आप तक मन और वाणी की गति नहीं है। सब इन्द्रियाँ आप तक नहीं पहुँच सकतीं। आपको प्रणाम है। आप सदा अपने आनन्दमय ज्ञानरूप में अवस्थित रहते हैं, इसलिए शुद्ध और शान्त हैं। मन के मोह से आपमें जो द्वैतभाव की प्रतीत होती है, वह ठीक नहीं। वास्तव में एकमात्र आप ही जगत की उत्पत्ति, पालन और नाश करने के लिए माया के गुणों द्वारा ब्रह्मा, शंकर आदि भिन्न रूप धारण करते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि सब आप ही के रूप हैं। इन्हें भिन्न-भिन्न समझना भ्रममात्र है। आपको प्रणाम है। प्रभो, आप विशुद्ध सत्त्वरूप हैं। आपका ज्ञान संसार-बन्धन से मुक्त कर देता है। आप हरि, वासुदेव ( सब इन्द्रियों के प्रकाशक ), कृष्ण और सब भक्तों के स्वामी हैं। आपको प्रणाम है। आपकी नाभि से विश्वरूप कमल की उत्पत्ति हुई है। आपके कंठ में कमलों की माला शोभायमान है। आपके नेत्र और चरण कमल के समान अरुण और कोमल हैं। आपको प्रणाम है। आप पद्मपराग के समान पीतवर्ण वस्त्र धारण किये हैं। आप आत्मारूप से सब प्राणियों मे रहते है अथवा सब प्राणी आप में ही प्रलयकाल में लीन हो जाते हैं। आप साक्षीरूप परमात्मा है। आपको प्रणाम है। सब क्लेशों को मिटानेवाला यह मंगलमय रूप दिखाकर आपने हमारे क्लेशों को दूर कर दिया। इससे बढ़कर और क्या कृपा होगी! हे अमंगल का नाश करनेवाले स्वामी, स्वामियों का अपने सेवकों के प्रति यही कर्त्तव्य है कि समय पर "यह मेरा सेवक है" इस बुद्धि से उसका स्मरण करते रहें। दीनजन इसे ही अपने स्वामी की परम कृपा मानते हैं, इसी से उन्हें सन्तोष हो जाता है। किन्तु आपने तो साक्षात् दर्शन भी दे दिया। यह तो हम पर आपकी अत्यन्त कृपा का निदर्शन है। प्रभो, आप सब छोटे-बड़े प्राणियों के अन्तर्यामी हैं। हम आपके उपासक सेवक हैं। हमारी क्या इच्छा है, हम क्या माँगना चाहते हैं, यह क्या आपसे छिपा है? मोक्ष के देनेवाले परमगति परमपुरुषार्थरूप आप हम पर प्रसन्न हुए और हमको मिल गये। अब हमें क्या मिलना बाक़ी रह गया। हम केवल यही वर चाहते थे कि आप हम पर प्रसन्न हों, और सेवक समझकर हमें अपनावें। आप परमेश्वर और सब कामनाओं के दाता हैं। आपकी विभूतियों का अन्त नहीं है, इसीसे आपको अनन्त कहते हैं। यद्यपि हमारी सब कामनाएँ पूरी हो गईं, तथापि हम एक वर आपसे माँगते हैं। भौंरा जैसे अनायास कल्पवृक्ष को पाकर फिर अन्य वृक्ष के पास नहीं जाता, वैसे ही जब आपके चरणकमल मिल गये, तब हम और क्या माँगें? इसलिए केवल यही हम माँगते हैं कि जब तक आपकी माया के वशीभूत होकर अपने कर्मों के द्वारा इस संसार में हम रहें, तब तक प्रत्येक जन्म में हमें आपके भक्तों का संग सुलभ हो, उधर ही हमारी रुचि रहे। हम स्वर्ग अथवा मोक्ष को भी आपके भक्तों के घड़ीभर के संग के समान भी नहीं समझते। फिर और भोग या ऐश्वर्य के लिए क्या कहना!

आपके भक्तजनों के समागम में विषय-वासना को नष्ट करनेवाली आपकी चर्चा होती है। वहाँ कोई किसी से वैर नहीं रखता और किसी को किसी प्रकार का भय नहीं होता। वे निर्लिप्त सज्जन संसार से विरक्त जनों की एकमात्र गति साक्षात् भगवान् नारायण के यश और महिमा का वर्णन बारम्बार करते हैं। संसार के दुःख से डरा हुआ ऐसा कौन व्यक्ति है, जो सत्संग की अभिलाषा न करे? आपके भक्त सज्जन् अपने चरणों की रज से पृथ्वी को पवित्र करने के लिए विचरते हैं। वास्तव में आपके भक्त साक्षात् तीर्थस्वरूप होते हैं और उनसे तीर्थ भी पवित्र हो जाते हैं। भगवन्, हमने तो साक्षात् सत्संग के फल का अनुभव कर लिया। आपके प्रिय सुहृद् और भक्त भगवान् शंकर का क्षणभर संग होने का फल हमें यह मिला कि हमने आपको पा लिया। जिसकी चिकित्सा बड़ी कठिन है, उस जन्म-मरणरूप रोग के आप चतुर चिकित्सक (वैद्य) और अनाथों के नाथ हैं। प्रभो, हमने जो मन लगाकर वेदों का अध्ययन किया, सेवा करके गऊ, ब्राह्मण और गुरुजनों को प्रसन्न किया, वृद्धजनों का आदर किया, बड़ों और श्रेष्ठजनों को प्रणाम किया, मित्रों, भाइयों और सब प्राणियों को ईर्ष्यारहित होकर संतुष्ट किया, निराहार रहकर जल के भीतर बहुत समय तक कठिन तपस्या की, सो सब हम आपको अर्पण करते हैं। उससे आप प्रसन्न हों। नाथ, यद्यपि हम अज्ञ है, तथापि आपकी स्तुति करना हमारे लिए अयोग्य नहीं है। कारण, आपकी महिमा को तो अच्छी तरह या पूर्णरूप से भगवान् ब्रह्माजी, भगवान शंकरजी, मनु तथा तपस्या से चित्त को शुद्ध करनेवाले योगीजन भी नहीं जानते, किन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार सब आपकी स्तुति करते हैं। वैसे ही हमने भी अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार आपकी स्तुति की है। प्रभो, आप समदर्शी, विशुद्ध, परमपुरुष, इन्द्रियों के प्रकाशक, चैतन्यस्वरूप, सतोगुण की मूर्त्ति भगवान हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं।

हे विदुर, प्रचेतागण के इस प्रकार स्तुति करने पर भक्तवत्सल भगवान ने प्रसन्न होकर कहा—पुत्रो, तुमने जो प्रार्थना की, वह पूर्ण हो। इतना कहकर मोक्ष के दाता और अकुण्ठित प्रभाववाले भगवान अपने लोक को चले गये। प्रचेतागण की यह इच्छा नहीं होती थी कि भगवान उनकी आँखों से ओट हों; क्योंकि भगवान के दर्शनों से उनके नेत्र अभी तृप्त नहीं हुए थे।



भगवान के चले जाने पर प्रचेतागण समुद्र के बाहर निकले। बाहर आकर उन्होंने देखा, सारी पृथ्वी को वृक्षों ने ढक रक्खा है। वे वृक्ष इतने ऊँचे हैं, मानों आकाश को रूँध लेंगे। यह देखकर प्रचेताओं को वृक्षों के ऊपर क्रोध आ गया। कोप करके प्रचेताओं ने पृथ्वी को वृक्षों और लताओं से शून्य करने का विचार किया। उन्होंने प्रलयकाल के अग्नि के समान प्रचण्ड अग्नि और वायु अपने मुख से प्रकट किया। उस अग्नि में पृथ्वी के सब वृक्ष भस्म होने लगे। यह देखकर ब्रह्मा जी वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने युक्तियुक्त वचनों से समझाकर प्रचेताओं का क्रोध शान्त कर दिया। बचे और डरे हुए वृक्षों ने ब्रह्माजी की आज्ञा से सभी कन्या प्रचेताओं को दीं, जिससे ब्याह करने के लिए विष्णु भगवान ने प्रचेताओं से कहा था।

उस कन्या का नाम मारिषा था। ब्रह्माजी के कहने से भगवान् विष्णु की आज्ञा के अनुसार प्रचेताओं ने मिलकर उस सुन्दरी से विवाह कर लिया। उस कन्या के गर्भ से प्रचेताओं के पुत्र दक्ष उत्पन्न हुए। यह वही दक्ष हैं, जो पहले ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए थे। उस जन्म में भगवान् शंकर का अपमान करने के कारण उसी अपराध से उन्हें फिर क्षत्रियवर्ण में उत्पन्न होना पड़ा। इन्हीं दक्ष ने चाक्षुष मन्वन्तर में काल के द्वारा पूर्वशरीर नष्ट होने पर ईश्वर की इच्छा के अनुसार प्रजाओं की सृष्टि की। इन्होंने जन्म लेते ही अपने तेज से सब तेजस्वियों के तेज को हर लिया अर्थात् फीका कर दिया था। सभी कामों में दक्ष अर्थात् चतुर होने के कारण इनका नाम दक्ष पड़ा। भगवान् ब्रह्माजी ने प्रजाओं का पालन करने के लिए प्रजापति के पद पर दक्ष का अभिषेक किया। दक्ष ने अन्य मरीचि आदि प्रजापतियों को प्रजापालन के कार्य में नियुक्त किया।

# इकतीसवाँ अध्याय

## प्रचेताओं का वनगमन और मुक्ति

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुर, इसके उपरान्त दिव्य हज़ार वर्ष तक राज्य-सुख भोगने के उपरान्त प्रचेताओं को संसार से वैराग्य उत्पन्न हुआ। मन में आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् विष्णु के ये वचन उनको याद आये कि तुम लोग हज़ार वर्ष के बाद संसार के सुखों से विरक्त होकर मेरे धाम को जाओगे। तब अपनी पत्नी और राज्य अपने पुत्र दक्ष को सौंपकर वे वन को चल दिये। वे पश्चिम-समुद्र के तट पर गये, जहाँ पहले तपस्या करके जाजलि ऋषि ने सिद्धि प्राप्त की थी। वहाँ ब्रह्मसत्र अर्थात् आत्मतत्त्व के विचार की दीक्षा लेकर वे तप करने लगे। वे सब प्राणियों में अपने को आत्मारूप से व्याप्त ब्रह्मरूप देखने का अभ्यास करने लगे।

प्रचेताओं ने पहले प्राणवायु, मन, वाणी और दृष्टि को बाह्य विषयों से हटाने के लिए अपने वश में किया। फिर आसन को स्थिर किया। अपने शरीर को शान्त और सीधा करके विषयों से निवृत्त निर्मल चित्त को विशुद्ध ब्रह्म से लगा दिया। इसी समय वहाँ देवर्षि नारद दिखाई दिये, जिनकी पूजा सब देवता और असुर करते हैं। नारद को देखते ही प्रचेताओं ने उठकर उन्हें प्रणाम किया, अभिनन्दन करके विधिपूर्वक पूजा की। नारदजी जब सुखपूर्वक आसन पर बैठ गये, तब प्रचेताओं ने कहा—देवर्षि, हम आपका स्वागत करते हैं। हमारे बड़े भाग्य हैं। आपने दर्शन देकर हमें सौभाग्यशाली बनाया। जैसे सूर्यदेव अपने प्रकाश से लोगों का भय दूर करने के लिए विचरते हैं, वैसे ही आप ज्ञान के प्रकाश से लोगों का संसार-भय दूर करने के लिए घूमा करते हैं। भगवन, भगवान् शंकर और देवदेव विष्णु ने जिस ज्ञान का उपदेश हमें दिया था, वह गृहस्थाश्रम में आसक्त रहने के कारण हमको भूल गया है। अब आप हमें फिर उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश कीजिए, जिससे हमें तत्त्व का ज्ञान हो और हम सहज में ही दुस्तर संसार-सागर के पार पहुँच जायँ।

प्रचेताओं के यों पूछने पर भगवान् वासुदेव का ध्यान करके नारदजी ने कहा—मनुष्यों के कर्म, जन्म, आयु, मन और वचन आदि का एकमात्र फल हरि की सेवा ही है। हरिभजन न करनेवालों के जन्म, कर्म आदि सब निष्फल हैं। तात्पर्य यह कि विश्वव्यापी ईश्वर की सेवा करना ही एकमात्र परमार्थ है। मनुष्यों के तीन जन्म होते हैं। एक पिता के वीर्य और माता के रज के मिलने पर गर्भ से उत्पत्ति,

दूसरा यज्ञोपवीत-संस्कार में गायत्री पढ़ने पर और तीसरा यज्ञ की दीक्षा लेने से। हरि की सेवा यदि नहीं की तो ये तीनों जन्म व्यर्थ गये। यदि हरि की चर्चा नहीं की तो सब वेदोक्त कर्म करना अथवा देवतों की-सी बड़ी आयु पाना भी व्यर्थ ही है। इसी प्रकार भजन के बिना वेदों का पढ़ना, तप करना, बहुत बोलने की शक्ति ( वाक्चातुरी ), बहुत सूझबूझ अथवा बहुत विषयों के सोचने की शक्ति, सूक्ष्म बुद्धि, बल, इन्द्रियों की अधिक कार्य करने की शक्ति, सब व्यर्थ है। आत्मज्ञान के देनेवाले हरि का भजन न करनेवाले को योगाभ्यास, सांख्य ( आत्मा देह आदि से भिन्न है, यह ज्ञान ), स्वाध्याय और संन्यास ( कर्मफल-त्याग ) अथवा व्रत, वैराग्य आदि अन्य कल्याण के साधन कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकते। तात्पर्य यह कि भक्ति के बिना सब व्यर्थ है। परमार्थ दृष्टि से सब फलों की पराकाष्ठा आत्मा ही है अथवा आत्मा के लिए ही सब फलों की कामना की जाती है। भगवान् हरि ही सब में आत्मारूप से स्थित हैं। आत्मारूप से अज्ञान को दूर करके अपने रूप को दिखानेवाले हरि ही हैं। ईश्वररूप से बलि आदि भक्तों को आत्मार्पण करनेवाले वही हैं। परमानन्दरूप से वही सबके प्रिय हैं। अनेक प्रकार के कर्मों से अनेक देवतों को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी हरि की प्रसन्नता से ही सफल होता है, केवल उन देवतों की आराधना करने से कुछ नहीं होता। जैसे वृक्ष की जड़ में जल डालने से उसकी छोटी-बड़ी सब शाखाएँ पुष्ट होती हैं अथवा जैसे भोजन करने से सब इन्द्रियों की तृप्ति होती है, वैसे ही हरि की पूजा करने से सभी देवतों की उपासना हो जाती है। [ भगवान ही सबका मूल है, यह समझाने के लिए दूसरा दृष्टान्त देते है।] जैसे जल वर्षाकाल में सूर्य से निकलकर यथासमय फिर उसी सूर्यमण्डल मे लीन हो जाता है और जैसे चराचर सब प्राणी पृथ्वी से उत्पन्न होकर फिर उसी में मिल जाते है, वैसे ही यह सब चेतन-अचेतनरूप विश्व का प्रपञ्च उन्हीं भगवान् से प्रकट और उन्हीं में लीन हो जाता है। [यहाँ यह शंका होती है कि विश्वप्रपञ्च का आधार होने से हरि भी माया की उपाधि से युक्त हुए। इसी शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि] यह विश्व उन जगत् के आत्मारूप विष्णु भगवान् का सब शास्त्रों में प्रसिद्ध परमपद अर्थात् सब उपाधियों से रहित स्थान है। तात्पर्य यह कि भगवान् से उत्पन्न होने के कारण यह उनसे अलग नही है, जैसे सूर्य की प्रभा उनसे अलग नहीं होती। जैसे जागते में इन्द्रियाँ स्फुरित होती है और सोते मे उनकी शक्ति भी सो जाती है, वैसे ही ईश्वर के सचेष्ट होने पर यह विश्व स्फुरित होता है और उनके निश्चेष्ट होने पर नहीं दिखलाई पड़ता। त्रिविध अहंकार के कार्य और उनके कारण होनेवाला भेद का भ्रम उन परमात्मा हरि का तत्त्व जान लेने से नहीं रहता। [यहाँ यह शंका होती है कि परमात्मा हरि तो निर्लिप्त और निःसंग हैं, फिर उनसे इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति और उनमें उसका लय होना कैसे संभव है ? इसी शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि] जैसे आकाश में मेघ, अन्धकार और प्रकाश क्रमशः प्रकट और लीन होते है; पर आकाश उनसे अलग ही रहता है, वैसे ही उन परमेश्वर में रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की शक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं और नहीं भी दिखाई पड़तीं, अर्थात् सृष्टि और प्रलय के रूप में संसार का प्रवाह होता रहता है। इसलिए उन्हीं हरि को सबका कारण जानकर तुम लोग उन्हीं को अनन्य भाव से भजो। वही सब देहधारियों के आत्मा हैं। वही कालरूप से इस जगत् का कारण हैं। वही प्रधानतत्त्व अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण हैं। वही पुरुष और परमेश्वर हैं, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा हैं। वह अपने तेज अर्थात् ज्ञान से माया के तीनों गुणों के प्रवाह को अपने से अलग रखते हैं। उनको अपने आत्मा से अभिन्न समझकर भजो। उन भगवान् को शीघ्र प्रसन्न करने का उपाय यही है कि सब प्राणियों पर दया करो, जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करो और सब इन्द्रियों को अपने वश में रक्खो। वह भगवान् कभी अपने भक्तों को नहीं छोड़ते। साधु भक्तजन निरन्तर बढ़ रही भक्तिभावना के

द्वारा बुलाकर अपने कामनारहित निर्मल मन में भगवान् को स्थापित कर लेते हैं। भक्तों के वशीभूत भगवान् फिर वहाँ से कभी नहीं हटते, आकाश के समान व्याप्त होकर वहीं निवास करते हैं। परन्तु जो कुबुद्धि लोग धन, विद्या, कुल अथवा कर्मों के अहंकार में मतवाले होकर भगवद्भक्त साधुओं का आदर नहीं करते, उनकी पूजा को भी भगवान् ग्रहण नहीं करते। कारण, भगवद्भक्ति तथा आत्मज्ञान को ही सबसे बड़ा धन समझनेवाले अकिंचन भक्त भगवान् को सबसे बढ़कर प्रिय हैं। भक्ति के सुख को भगवान् ही भली भाँति जानते हैं। वह भगवान् स्वयं परिपूर्ण हैं, उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। वह केवल अपने भक्तों और सेवकों के अधीन हैं। देखो, अपने को चाहनेवाली अर्थात् पीछे लगी हुई लक्ष्मी तथा लक्ष्मी की कृपा चाहनेवाले सकाम नरेशों और इन्द्र आदि देवतों की परवा न करनेवाले भगवान् केवल अपने भक्तों के वशीभूत हैं। कौन ऐसा कृतज्ञ पुरुष है, जो ऐसे भक्तवत्सल भगवान् का भजन नहीं करेगा ?

हे विदुर, ब्रह्माजी के पुत्र नारदजी इस प्रकार भगवद्भक्ति का उपदेश देकर तथा और भी भगवान् से संबंध रखनेवाली कथाएँ सुनाकर प्रचेताओं के पास से ब्रह्मलोक को चले गये। प्रचेतागण भी नारदजी के मुख से लोगों के मन को निर्मल करनेवाली भगवान् की महिमा सुनकर हरि के चरणों को भजते हुए विष्णुलोक को प्राप्त हुए। विदुर, तुम्हारे प्रश्न के अनुसार प्रचेताओं का और नारद का हरिकीर्त्तन-संबंधी संवाद मैने तुमको सुना दिया।

श्रीशुकदेवजी परीक्षित् से कहते हैं—राजन्, स्वायंभुव मनु के पुत्र उत्तानपाद का वंश मैं तुम्हारे आगे वर्णन कर चुका। अब मनु के दूसरे पुत्र प्रियव्रत के वंश का वर्णन सुनो। राजा प्रियव्रत को भी नारदजी ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया था। प्रियव्रत आत्मज्ञान का उपदेश पाकर विषय-सुख में निर्लिप्त रहकर बहुत समय तक पृथ्वी का पालन करते रहे। फिर वृद्ध होने पर अपने पुत्रों को राज्य देकर तपस्या करने चले गये। अन्त में यह शरीर छोड़ने पर उन्हें विष्णुलोक प्राप्त हुआ। मैत्रेयजी की कही हुई यह भगवत्संबंधी कथा सुनकर विदुर का हृदय भक्तिभाव से भर गया, आँखों में आनन्द के सात्विक आँसू उमड़ आये। विदुर ने हृदय में हरि के चरण स्थापित करके मैत्रेयजी के चरणों में प्रणाम किया।

विदुर ने कहा—हे महायोगी, आप करुणा की खान हैं। आपने कृपा करके मुझे अज्ञानमय अन्धकार अथवा संसार के पार पहुँचा दिया, जहाँ पहुँचने से मनुष्य को अकिंचन भक्तों को सुलभ भगवान् मिल जाते हैं, उनके दर्शन प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कहकर और प्रणाम करके विदुर मैत्रेयजी से विदा हुए। वहाँ से वह अपने इष्ट-मित्रों और बन्धु-बान्धवों को देखने के लिए हस्तिनापुर की ओर चल दिये। राजन्, जो कोई भगवान् के भक्त प्रचेताओं की इस कथा को श्रद्धा के साथ सुनता है, उसकी आयु बढ़ती है, उसे धन, यश, सद्गति और ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

इति
चतुर्थ स्कंधः
समाप्तः



# पाँचवाँ स्कंध

## पहला अध्याय

### प्रियव्रत का राज्यभोग और फिर ज्ञान-मार्ग में निष्ठा

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्, आपने अभी कहा कि प्रियव्रत ने पहले नारदजी से आत्मविद्या प्राप्त की, फिर गृहस्थाश्रम ग्रहण किया और अन्त को संसार से विरक्त होकर मोक्ष पाई। इस सम्बन्ध में मुझे पूछना यह है कि आत्मज्ञान से संसार की असारता जानकर भी राजा प्रियव्रत फिर गृहस्थाश्रम में क्यों फँसे? पहले ही उन्होंने मुक्ति के लिए प्रयत्न क्यों नहीं किया? यह तो वह जान ही चुके थे कि गृहस्थाश्रम में सकाम कर्म मनुष्य करता है, जो उसके लिए जन्मान्तर के बन्धन का कारण होते हैं। इसके सिवा घर-गृहस्थी में फँसकर पुरुष अपने आनन्दमय ज्ञानघन विशुद्ध ब्रह्मरूप को भूल जाता है। इस कारण प्रियव्रत के समान आत्मज्ञानी संगहीन फल की कामना न रखनेवाले हरिभक्त पुरुषों को तो गृहस्थाश्रम में आसक्ति या प्रवृत्ति न होनी चाहिए। काम, क्रोध आदि के ताप को हरनेवाली हरिचरणों की छाया में शान्ति पानेवाले महात्माओं को पुत्र-पोते-स्त्री आदि कुटुम्ब का सुख भोगने की कामना नहीं होती, और गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति तो इसी सुख के लिए होती है। ब्रह्मन्, मुझे यह बड़ा भारी संशय है कि स्त्री-पुत्र, गृहस्थी आदि में आसक्त रहने पर भी राजा प्रियव्रत ने कैसे सिद्धि या मोक्ष पाई और भगवान् में उनकी अटल भक्ति ही कैसे हुई?

शुकदेवजी ने कहा—राजन्, आपने ठीक कहा। पर देखिए, जिनका चित्त भगवान् के चरणकमल-

मकरन्द के रस में डूबा हुआ है, वे किसी बाधा-विघ्न के उपस्थित होने पर भी अपने परमकल्याणमय मार्ग अर्थात् भगवद्भजन को नहीं छोड़ते और परमहंसों को परमप्रिय भगवान् की चर्चा किया ही करते हैं। [ अब यह बतलाने के लिए कि ब्रह्माजी की आज्ञा ही प्रियव्रत के पहले ही स संसार को छोड़ने में बाधा हुई, उसी प्रसंग की अवतारणा करते हैं।] राजा प्रियव्रत बड़े ही भगवद्भक्त थे। नारदजी के चरणों की सेवा करके उन्होंने सहज में ही परमार्थरूप आत्मतत्त्व ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया। तब उन्होंने ब्रह्मसत्र की दीक्षा लेने का अर्थात् एकान्त में रहकर शान्त भाव से आत्मा में परमात्मा का ध्यान करने का विचार किया। प्रियव्रत ने पहले ही एकाग्र भाव से परब्रह्म में मन लगाकर अहंभाव अर्थात् इन्द्रियों के सब कर्मों का अभिमान त्याग दिया था, सब कर्म निष्काम भाव से केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिए करते थे, जैसा कि आत्मज्ञानी भगवान् के भक्तजन करते हैं। जब उनके पिता स्वायंभुव मनु ने उन्हें शास्त्रोक्त सब गुणों से युक्त और चतुर बुद्धिमान् सुयोग्य देखकर राज्य करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। पिता की आज्ञा टालना यद्यपि उचित न था, तथापि यह सोचकर कि इस राज्याधिकार को ग्रहण करने से संसार के प्रपञ्च में फँसकर आत्मा को मोह होगा, वह पिता की आज्ञा मानने को तैयार नहीं हुए। भगवान् आदिदेव ब्रह्माजी यह



जानकर सशरीर चारों वेदों और मरीचि आदि पुत्रों के साथ अपने लोक से उतरकर पृथ्वी पर उपस्थित हुए। जैसे राजा गुप्तचरों ( जासूसों ) के द्वारा सब सामन्तों के अभिप्राय को जानता है, वैसे ही ब्रह्माजी अपनी सृष्टि को बढ़ाने की चिन्ता करते रहने के कारण संपूर्ण जगत् के अभिप्राय को जानते हैं। ब्रह्माजी को मालूम था कि गंधमादन पर्वत पर नारदजी प्रियव्रत को आत्मज्ञान की शिक्षा दे रहे हैं और स्वायंभुव मनु प्रियव्रत को राजा बनाने के लिए लेने आये हैं। अतएव वह अपने लोक से वहीं उतरने लगे। मार्ग में जो लोक मिले, उनमें रहने और विमानों पर विचरनेवाले देवतों ने ब्रह्माजी की पूजा की। उनकी पूजा स्वीकार करते और झुंड के झुंड सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, चारण और ऋषि-मुनियों के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए ब्रह्माजी आकाश में चन्द्रमा के समान शोभायमान हो रहे थे। जब वह गंधमादन पर्वत पर उतरे, तब उनके तेज से पर्वत पर प्रकाश फैल गया, कन्दराओं का अन्धकार दूर हो गया। दूर से ही हंसवाहन विमान देखकर नारदजी ने जान लिया कि उनके पिता हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी आ रहे हैं। तब मनु और प्रियव्रत के साथ नारदजी ने उठकर हाथ जोड़कर ब्रह्माजी का स्वागत किया। फिर पूजा करने के उपरान्त "हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे" इत्यादि वेद की ऋचाओं से स्तुति करके उनके गुण, अवतार और श्रेष्ठता का वर्णन किया। तब आदिपुरुष ब्रह्माजी ने प्रसन्नतासूचक मुसकान के साथ कृपापूर्ण दृष्टि से प्रियव्रत की ओर देखकर यों कहा।

ब्रह्माजी बोले—पुत्र प्रियव्रत, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। सावधान होकर सुनो। सच तो यह है कि मेरे द्वारा हरि भगवान् ही तुमको यह प्रवृत्तिमार्ग अथवा गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की आज्ञा दे रहे हैं। प्रवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त करने से तुम कुछ बुरा न मानना; क्योंकि वैसा करना सत्य, अप्रमेय परमेश्वर पर दोषारोपण करना होगा। देखो, मैं, शंकर, तुम्हारे पिता यह मनु और तुम्हारे गुरु नारद, हम सब विष्णु भगवान की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। कारण, हम कुछ करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। कोई भी शरीरधारी तप, विद्या ( शास्त्राभ्यास ), योग की सिद्धि, बुद्धि, धन, धर्म ( यज्ञ आदि का अनुष्ठान ) आदि के बल से स्वयं अथवा किसी और की सहायता से, ईश्वर की इच्छा को अन्यथा नहीं कर सकता, अर्थात् ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकता। सब जीव जन्म, मरण, शोक, मोह, भय, सुख, दुःख आदि देनेवाले कर्म करने के लिए ईश्वर के दिये हुए शरीर को ग्रहण करते है। तात्पर्य यह कि सब जीव ईश्वर की इच्छा से ही शरीरधारी होकर कर्म करते और उनके अनुसार शोक, सुख, दुःख आदि पाते है। देह धारण करने में जैसे हम सब पराधीन हैं, वैसे ही कर्म करने में भी। उसी परमेश्वर की वाणी वेद की रस्सी मे सतोगुणी, तमोगुणी, रजोगुणी कर्मों के फन्दे में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि संज्ञाओं के सुदृढ़ बन्धन मे जकड़े हुए हम सब लोग उसी परमेश्वर की इच्छा के अनुसार सब काम करते हैं, जिस प्रकार रस्सी से नाक में नथे हुए बैल, भैंसे आदि पशु अपने स्वामी मनुष्य की इच्छा के अनुसार काम करते हैं। बेटा प्रियव्रत, फलभोग में भी हम परतन्त्र है। जैसे आँखोंवाला मनुष्य जिधर धूप या छाँह में ले जाता है, उधर ही अंधा आदमी जाता है, वैसे ही हमसे सात्विक, राजस या तामस कर्म कराकर वह ईश्वर हमें जिस योनि में पहुँचाते हैं, उसी में हमें जाना पड़ता है और जैसे स्वामी अच्छा या बुरा जो कुछ खाने को देता है, वही बैल आदि पशु खाते हैं, वैसे ही वह ईश्वर सुख या दुःख जो कुछ देते हैं वही हमें भोगना पड़ता है। यदि कहो कि यह सब अज्ञान में पड़े हुए लोगों के लिए है, जो आत्मज्ञानी हैं उनके लिए यह बात नहीं है, तो यह समझना ठीक नहीं। जैसे सोकर जागने पर भी मनुष्य स्वप्न में देखी हुई बातों को स्मरण करता है, वैसे ही जिन्होंने देहाभिमान छोड़कर जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है, वे भी जब तक पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगकर उनका नाश नहीं कर लेते, तब तक शरीर धारण करने के लिए विवश होते हैं। हाँ, वे देहाभिमानशून्य रहते हैं, इसलिए उनका पुनर्जन्म नहीं होता। कारण, त्रिगुणात्मक अहंकार से किये गये कर्म और वासनाएँ ही पुनर्जन्म का कारण होती हैं और वे उस अहंभाव को छोड़कर कर्म करते हैं। यदि कहो कि गृहस्थाश्रम में रहकर भोगों का भोग करनेवाला अहंभाव से रहित कैसे हो सकता है और मोक्ष ही कैसे पा सकता है, इसके लिए तो वनवास करके वहाँ साधना करने की ही आवश्यकता जान पड़ती है, तो वास्तव में ऐसा समझना भी भूल है। देखो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं किया और जो संसार-संग से डरकर वन को भाग गया है, उसे वन में भी संसार-बन्धन का भय है। कारण, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, ये छः शत्रु अर्थात् योग से भ्रष्ट करनेवाले तो उसके साथ ही हैं। जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और आत्मा के रूप को जानकर उसमें मन को लगा दिया है, वह घर में रहकर ही मोक्ष पा सकता है। गृहस्थाश्रम उस ज्ञानी का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता। पूर्वोक्त छः शत्रुओं को जीतने की इच्छा जिसे हो उसे पहले गृहस्थाश्रम में रहकर उन्हें वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। जब संयम का अभ्यास करने से वे शत्रु निर्बल और वशीभूत हो जायँ, तब चाहे घर में रहे चाहे वन में, कोई भय नहीं है। क़िले के सहारे शत्रुओं को जीतना सहज होता है, यह सभी लोग जानते हैं। इन्द्रियरूप शत्रुओं को जीतने के लिए गृहस्थाश्रम ही क़िला है। किन्तु यह गृहदुर्ग का आश्रय लेना तो साधारणजनों के लिए उपयुक्त है। तुम तो आत्मज्ञानी हो, भगवान् के श्रीचरणों के सुदृढ़ गढ़ का आश्रय लेकर छः शत्रुओं को

जीत चुके हो, इसलिए गृहस्थाश्रम से डरने की कोई आवश्यकता नहीं। इस लोक में गृहस्थाश्रम स्वीकार करके ईश्वर की इच्छा के अनुसार उनके दिये हुए भोग स्वीकार करो। अन्त को पुत्र-स्त्री आदि का संग छोड़कर अपने रूप ( ब्रह्म ) का भजन करना।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, त्रिभुवनगुरु ब्रह्माजी के यों आज्ञा देने पर भगवद्भक्त प्रियव्रत ने अपना छोटा होना प्रकट करते हुए सिर झुकाकर आदर के साथ "बहुत अच्छा" कहकर उस अनुशासन को शिरोधार्य किया। मनु ने भी प्रसन्न होकर विधिपूर्वक ब्रह्माजी का पूजन किया। ब्रह्माजी भी उस पूजा और आदर-सत्कार को स्वीकार करके मन और वाणी के लिए अगम्य और माया के प्रपंच से परे अपने रूप ( ब्रह्म ) का स्मरण करते हुए अपने लोक को गये। नारद और प्रियव्रत, दोनों प्रसन्न दृष्टि से उनकी ओर देखते रहे। तात्पर्य यह कि योग छुड़ाने के कारण प्रियव्रत और अपने शिष्य को छुड़ाने से नारदजी ब्रह्माजी के ऊपर असन्तुष्ट नहीं हुए। ब्रह्माजी जब इस प्रकार स्वायंभुव मनु का मनोरथ पूरा करके चले गये, तब मनु ने नारद की अनुमति लेकर अपने पुत्र प्रियव्रत को संपूर्ण पृथ्वीमण्डल की रक्षा और शासन का काम सौंप दिया और आप गृहस्थाश्रम के सुखों से विरक्त होकर ईश्वर का भजन करने लगे। जिनके प्रभाव से सब जगत् के कर्मबन्धन छूट जाते हैं, उन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर भजन करने से प्रियव्रत का अन्तःकरण शुद्ध हो चुका था—काम, क्रोध आदि मन के मैल धुल चुके थे, उनके चित्त में किसी प्रकार की भोग-वासना के लिए स्थान न था। तथापि अपने पिता और ब्रह्माजी आदि बड़ों का मान बढ़ाने के लिए उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम स्वीकार करके वह पृथ्वीमण्डल का राज्य करने लगे।

प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की कन्या बर्हिष्मती से विवाह किया। उसके गर्भ से उन्हीं के समान स्वभाव, गुण, कर्म, रूप और पराक्रम से युक्त दस पुत्र और ऊर्जस्वती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम हुए आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि। ये दसों नाम अग्नि के हैं। इन राजकुमारों के वही नाम रक्खे गये। इनमें कवि, महावीर और सवन, इन्होंने विवाह नहीं किया, जन्मभर ब्रह्मचारी ही रहे। इन्होंने लड़कपन से ही आत्म-ज्ञान प्राप्त करके परमहंसों का धर्म स्वीकार कर लिया। ये तीनों परमहंस राजकुमार शान्तप्रकृति परमऋषि हुए। सब जीवों के हृदय में निवास करनेवाले भगवान् वासुदेव के श्रीचरण संसार के बन्धन से डरे हुए लोगों के आश्रय का स्थान हैं। उन्हीं का निरन्तर स्मरण करने से इन तीनों परमहंसों का भक्तियोग सुदृढ़ हो गया। उस भक्ति के प्रभाव से विशुद्ध हो गये अन्तःकरण में उन्होंने सब प्राणियों के आत्मा भगवान् को प्राप्त कर लिया और परमात्मा से आत्मा को अभिन्न देखते रहकर अन्त को देह की उपाधि से मुक्त होकर उसी परब्रह्म में लीन हो गये।

प्रियव्रत के दूसरी रानी से उत्तम, तामस और रैवत नाम के और तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों मन्वन्तरों के अधिपति, अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों में मनु हुए। कवि आदि तीन पुत्रों के परमहंस हो जाने के बाद राजा प्रियव्रत ने अपने तपोबल के प्रभाव से ग्यारह अबुद * वर्षों तक पृथ्वीमण्डल का पालन और राज्यभोग किया। सब पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले अखण्ड अक्षय बल से पूर्ण भुजाओं से धनुष पर डोरी चढ़ाकर उसके शब्द से बिना युद्ध के ही राजा प्रियव्रत ने अधर्मी लोगों को पराभूत कर दिया था। वह अपनी प्रिया बर्हिष्मती के साथ नित्य भोग-विलास और आमोद-प्रमोद करते थे; जिसे देखने से जान पड़ता था कि स्त्री के आमोद-प्रमोद-विनोद, लजीली हँसी, चितवन और हँसी-दिल्लगी आदि ने उनके

* दस करोड़ का एक अर्बुद होता है।



राजर्षि प्रियव्रत का सूर्य के साथ-साथ पृथ्वी-परिक्रमा करना

आत्मज्ञान और विवेक को मंद कर दिया है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं थी। जैसे कोई अपने को भूला हुआ हो, ऐसा भाव दिखाते हुए वह विषयों का उपभोग करते थे।

सूर्यनारायण सुमेरु पर्वत के चारों ओर घूमकर लोकालोक पहाड़ की सीमा तक प्रकाश फैलाते और गर्मी पहुँचाते हैं। उस समय पृथ्वीमण्डल का आधा भाग, जिसके सामने सूर्य रहते हैं, प्रकाशित होता है और आधे हिस्से में अँधेरा रहता है। प्रतापी प्रियव्रत को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सोचा, मैं अपने तेज से रात को भी दिन बना दूंगा। उनका यह सोचना कोई आश्चर्य की बात न थी। कारण, भगवान् की उपासना करने से उनको अलौकिक शक्ति और तेज प्राप्त था। वह चाहे जो कर सकते थे। दूसरे सूर्य के समान राजा प्रियव्रत ज्योतिर्मय रथ पर बैठकर समान वेग से सूर्य के पीछे-पीछे पृथ्वी की परिक्रमा करने लगे। उन्होंने सात बार पृथ्वी की परिक्रमा करके रात्रि को भी दिन बना दिया। इसके उपरान्त ब्रह्माजी के कहने से उन्होंने अपना विचार छोड़ दिया।

प्रियव्रत का एकचक्र रथ सात बार पृथ्वी पर घूमा था। उसके पहिये की जो सात लीकें बन गईं, वे ही सात समुद्र हैं। उन सात समुद्रों के बीच सात द्वीप बन गये। उन द्वीपों को जंबूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप कहते हैं। इन द्वीपों का विस्तार उत्तरोत्तर दूना है, अर्थात् जंबूद्वीप से दूना प्लक्षद्वीप, उससे दूना शाल्मलिद्वीप इत्यादि। ये द्वीप समुद्रों के बाहर चारों ओर फैले हुए हैं अर्थात् जैसे समुद्र के बाहर द्वीप हैं, वैसे द्वीप के बाहर समुद्र हैं। क्षारोद (खारी जल का), इक्षुरसोद (ईख के रस का), सुरोद (मदिरा का), घृतोद (घी का), क्षीरोद (दूध का), दधिमंडोद (मट्ठे का) और शुद्धोद (मीठे जल का), ये सात सागर जंबू आदि सातों द्वीपों को खाई के समान घेरे हुए हैं। जिस द्वीप को जो समुद्र घेरे है, वह विस्तार में उसी द्वीप के बराबर है। ये सातों सागर अपने बाहर के द्वीप से अलग हैं और भीतर के द्वीप को चारों ओर घेरे हुए हैं।

राजा प्रियव्रत ने इन सातों द्वीपों में अपने ही समान और आज्ञाकारी सात पुत्रों को अलग-अलग राजा बना दिया। जंबूद्वीप के आग्नीध्र, प्लक्षद्वीप के इध्मजिह्व, शाल्मलिद्वीप के यज्ञबाहु, कुशद्वीप के हिरण्यरेता, क्रौंचद्वीप के घृतपृष्ठ, शाकद्वीप के मेधातिथि और पुष्करद्वीप के वीतिहोत्र राजा हुए। प्रियव्रत के ऊर्जस्वती नाम की एक कन्या भी थी। उसका विवाह शुक्राचार्य के साथ कर दिया। उसके गर्भ से शुक्राचार्य के देवयानी नाम की कन्या उत्पन्न हुई।

राजन्, प्रियव्रत का ऐसा प्रभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। चाण्डाल भी जिनका नाम एक बार सच्चे हृदय से लेकर दुस्तर संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उन भगवान् वासुदेव के चरणों की सेवा करके इन्द्रियों को जीत लेनेवाले भक्तजनों का ऐसा असाधारण पौरुष या प्रभाव होना कुछ विचित्र नहीं है। प्रियव्रत की प्रवृत्ति पहले ही राज्यभोग की ओर नहीं थी। देवर्षि नारद के चरणों की सेवा करके प्रियव्रत आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उन्हें विवश होकर ही राज्य के प्रपंच में पड़ना पड़ा था। राज्यशासन और विषय-भोग करते-करते एक समय उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। "अहो, राज्यप्रपंच ने मुझे कल्याण के मार्ग आत्मचिन्तन से भ्रष्ट कर दिया।" यह सोचकर वह इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगे—"अहो! मैंने अच्छा नहीं किया। इन इन्द्रियों ने मुझको अविद्यारचित विषयों के अंधकूप में गिरा दिया। मेरा तो जन्म ही व्यर्थ हुआ जाता है। बस, बस, बहुत हो चुका। अब इन विषयों को छोड़ना चाहिए। मैं स्त्री के हाथ की कठपुतली अथवा पालतू क्रीड़ामृग ही बन गया! मुझे धिक्कार है, धिक्कार है!" इस प्रकार राजा प्रियव्रत अपनी निन्दा करने लगे।

हरि की कृपा से विवेक का उदय होने पर प्रियव्रत ने फिर नारद के बतलाए हुए मार्ग को ग्रहण

किया। उन्होंने आज्ञापालक पुत्रों को उचित रूप से इस पृथ्वी का राज्य बाँट दिया। फिर भोगी हुई साम्राज्य-संपत्ति के साथ ही रानी को भी प्राणहीन शरीर की तरह छोड़ दिया और वन को चले गये। उनके हृदय में आप से ही वैराग्य का उदय हुआ और उनका मन भगवान् में लग गया, इसी से वह इस प्रकार अनायास ममता-मोह के बन्धन से छूट गये।

उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि साक्षात् ईश्वर के सिवा और कौन उन कामों को कर सकता है, जिन्हें प्रियव्रत ने किया? उन्होंने छाया अर्थात् रात का अन्धकार मिटाने के लिए सूर्यनारायण के पीछे घूमकर अपने रथ के पहिये की लीकों से सात समुद्र बना दिये। द्वीपों की रचना करके पृथ्वी के विभाग करके नदी, पर्वत, वन आदि के द्वारा प्रत्येक द्वीप की सीमा भी नियत कर दी, जिसमें लोग लड़ें-झगड़ें नहीं। इतना ही नहीं, उनका सबसे अद्भुत कार्य यह है कि उन्होंने कर्म और योग से मिलनेवाले स्वर्ग, मनुष्यलोक और पाताल के सब वैभवों अर्थात् भोगों को पाकर भी नरक के समान हेय समझकर छोड़ दिया। इसका कारण यही था कि वह भगवान् के भक्त थे, उन्हें हरि के भक्त ही प्रिय थे।

# दूसरा अध्याय

## आग्नीध्र का चरित्र

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, पिता जब परमार्थ सिद्ध करने चले गये, तब राजा आग्नीध्र पिता की आज्ञा के अनुसार धर्म पर दृष्टि रखकर जंबूद्वीप में रहनेवाली प्रजा का पालन करने लगे। एक समय पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से राजा आग्नीध्र मंदराचल के ऊपर गये, जहाँ देवतों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। वहाँ पुष्प आदि पूजा की सामग्री एकत्र करके एकाग्र होकर वह ब्रह्माजी की आराधना के लिए तपस्या करने लगे।

भगवान् ब्रह्माजी ने आग्नीध्र का मनोरथ जान लिया। उस समय ब्रह्माजी की सभा में पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा गा रही थी। ब्रह्माजी ने उसे आग्नीध्र की अभिलाषा पूरी करने के लिए उनके पास भेज दिया। ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर पूर्वचित्ति आग्नीध्र के आश्रम में आई और उस आश्रम के पास उपवन में इधर-उधर टहलने लगी। वह बाग़ बड़ा ही रमणीय था। अनेक प्रकार के घने लगे हुए वृक्षों की शाखाओं में सुनहले फूलोंवाली ललित लताएँ लिपटी हुई थीं। उन पर मयूर आदि स्थलचर पक्षियों के जोड़े बैठे षड्ज आदि मधुर स्वरों में बोल रहे थे। उनकी ध्वनि सुनकर निर्मल जलपूर्ण सरोवर के किनारे बैठे हुए जलकुक्कुट, कारण्डव, हंस आदि जलचर पक्षी भी अपनी विचित्र मधुर बोली बोलने लगते थे। फूले हुए कमलकुसुमों से शोभायमान सरोवर उनके शब्दों से गूँज उठता था। वह अप्सरा उस आश्रम के पास इधर-उधर विचित्र लटक और लोच के साथ पैर रखती हुई टहल रही थी। पग-पग पर उसके पैरों के गहने खनखनाते थे। उस मधुर शब्द को सुनकर राजकुमार आग्नीध्र ने समाधियोग अर्थात् ध्यानावस्था में बंद अपने नयनकमलों को कुछ खोलकर उस अप्सरा की ओर देखा। पास ही उस अप्सरा को देखकर आग्नीध्र काम के वश हो गये। जब वह अप्सरा भौंरी के समान फूलों के समीप जाकर उन्हें सूँघती थी, तब देवता और मनुष्यों के मन और नेत्रों को आनन्द देनेवाली उसकी चाल, विहार, लज्जा, और विनय से युक्त दृष्टि, मधुर स्वर, सुन्दर वाक्य और मनोहर अंग देख-सुनकर मनुष्यों के मन कामदेव

के वश हुए बिना नहीं रह सकते थे। उसके मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमधुर वाक्य मदिरा के समान मतवाला बनानेवाली मुसकान से युक्त होते थे। उन वाक्यों के साथ जो सुगंधित साँस निकलती थी, उसकी महक से मदान्ध हो रहे मधुकर उसके मुखारविन्द को घेर रहे थे। उस समय भौंरों की भीड़ के भय से वह शीघ्रता के साथ पैर रखती हुई चलती थी। तब उसके स्तन, वेणी और चन्द्रहार हिलते थे। उस समय की अपूर्व शोभा को देखकर राजा आग्नीध्र ऐसे मोहित और कामदेव के वश हो गये कि जड़ (पागल) की तरह स्त्री-पुरुष के ज्ञान से शून्य असंगत वाक्य कहने लगे।



आग्नीध्र ने कहा—"तुम कौन हो? हे मुनिवर, इस पर्वत पर क्या करने आये हो? तुम निश्चय ही भगवान् की कोई माया हो। हे मित्र, तुम ये दोनों बिना डोरी के धनुष ( भौंहें ) क्या अपने लिए धारण किये हो? या हमारे समान अजितेन्द्रिय पुरुषरूप मृगों को इन धनुषों से घायल करने के लिए खोज रहे हो?" फिर कटाक्षों को लक्ष्य करके बोले—"भगवन्, तुम्हारे ये कटाक्ष बाण के समान पैने हैं। नेत्रकमल ही इनके पंख हैं। हावभाव-विभ्रम से ये शान्त (धीमे) देख पड़ते हैं और पंख या पिछला हिस्सा न होने पर भी अत्यन्त मनोहर हैं। इनका अगला हिस्सा बहुत पैना है। मालूम नहीं, इस वन में विचरते हुए तुम किसके ऊपर ये बाण चला रहे हो! मेरी यही प्रार्थना है कि भय से जड़मति हो रहे हम लोगों के लिए तुम्हारा यह प्रहार अनिष्टकर न हो।" इसके बाद अप्सरा के अंग की सुगन्ध के लिए उसका पीछा कर रहे भौंरों को देखकर राजा ने कहा—"भगवन, तुम्हारे ये शिष्य तुम्हारे आसपास पाठ पढ रहे हैं ( अर्थात् गुंजन कर रहे हैं ) और रहस्यसहित सामवेद के मंत्रों को गा रहे हैं। ऋषि लोग जिस प्रकार वेद की शाखाओं का सेवन करते हैं, वैसे ही ये तुम्हारी शिखा से गिर रहे फूलों का सेवन कर रहे हैं।" फिर नूपुरों के शब्द को सुनकर कहा—"ब्रह्मन्, तुम्हारे चरणों के पिंजड़ों में बंद पक्षियों ( नूपुरों के भीतर पड़े हुए बोल रहे रत्नों ) का शब्द हम सुन रहे हैं, पर उन पक्षियों को नहीं देख पाते।" फिर पीताम्बर को नितम्बों की कान्ति समझकर कहने लगे—"अजी, तुमने सुन्दर नितम्बों में यह कंदब के फूलों की-सी कान्ति कहाँ से पाई है?" फिर रत्न-मेखला को देखकर कहा—"यह जलते हुए अंगारों का मंडल ( घेरा ) सा उसमें कैसा है?" फिर वस्त्र पर ध्यान न देकर पूछा—"तुम्हारा बल्कल-वस्त्र कहाँ है?" स्तनों को देखकर बोले—"हे ब्राह्मण, तुम्हारे इन सुन्दर सींगों में क्या भरा हुआ है? इनमें अवश्य ही कुछ मनोहर वस्तु है, तब तो तुम इतनी पतली कमर होने पर भी बड़े कष्ट से इन भारी पदार्थों को धारण किये हुए हो! ये तुम्हारे सींग बहुत मनोहर हैं;

क्योंकि मेरी दृष्टि इनसे हटती ही नहीं ।" फिर स्तनों में लगाये गये कुंकुम को देखकर बोले—"भगवन्, तुम्हारे सींगों में यह लाल-लाल लेप काहे का लगा हुआ है, जिसकी सुगन्ध से मेरा आश्रम सुगंधित हो रहा है।" फिर बोले—"हे मित्रवर, तुम अपने रहने का स्थान मुझे दिखा दो, जहाँ रहनेवाले लोग हम जैसों के मन को लुभानेवाले इन वक्षःस्थल के अद्भुत अंगों को धारण करते है और उनके मुख में मधुर वाणीरूप सरस सुधा और मुसकान आदि बसती है। मित्र, अपने लोक में क्या खा-पीकर तुम लोग जीते हो ?" अप्सरा को पान चबाते देखकर बोले—"यह क्या तुम चबा रहे हो, जिससे हवि की-सी गंध आ रही है ? मेरी समझ मे तुम कुछ भी नहीं भोजन करते, इसलिए विष्णु भगवान् की कला हो। कारण, विष्णु भगवान् भी कुछ भोजन नहीं करते *। अथवा विष्णु के समान तुम भी दिव्य हविष्य भोजन करते हो; क्योंकि तुम्हारे मुख से दिव्य हवि की गंध आ रही है। विष्णु के कानों में जैसे मकराकृति कुण्डल है, वैसे ही तुम्हारे कानों मे भी मकराकृति कुण्डल देख पड़ते हैं। ये मकराकृति कुण्डल पलक नहीं लगाते ( मकराकार कुण्डलों में नेत्रों की जगह रत्न जड़े थे, उन्हें देखकर ऐसा कहा )। तुम्हारा मुख एक सुन्दर सरोवर के समान शोभायमान है। दोनों आँखें चंचल मछलियों के समान उसमे खेल रही है, दाँत हंसों के समान जान पड़ते हैं और ये अलकें कमलकुसुमों की महक से लुभाये हुए भ्रमरों के समान हैं। तुम हाथ से थपकी देकर इस गेंद को ऊपर उछाल रहे हो। तुम्हारी दृष्टि इसके पीछे ही पीछे दौड़ रही है, जिससे तुम्हारी आँखें इधर-उधर घूम रही हैं। मित्र, तुम्हारे ये घुँघराले बाल इधर-उधर बिखर रहे हैं और यह धूर्त्त वायु तुम्हारे वस्त्र को अंग से हटा रहा है, पर तुमको इसकी कुछ खबर नहीं है ! हे तपस्वी, तपस्वियों की तपस्या में विघ्न डालनेवाला यह अनुपम रूप तुमने कौन-सी तपस्या करके पाया है ? मित्र, मेरे साथ ही यहाँ रहकर तुम भी तप करो। सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी प्रसन्न होकर तुमको मेरी सहधर्मिणी पत्नी बना दें, तो उनकी मुझ पर अपार कृपा हो। जान पड़ता है, ब्रह्माजी ने ही प्रसन्न होकर तुमको मेरे पास भेज दिया है। तुम मुझे बहुत प्रिय हो। मैं तुमको नहीं छोड़ूँगा। तुममे मेरा मन और नेत्र ऐसे लग गये है कि उधर से हटते ही नहीं। हे सुन्दर सींगोंवाली सुन्दरी, मैं तुम्हारा अनुगत सेवक हूँ। यदि यहाँ न रहना चाहो तो मुझे जहाँ जी चाहे वहाँ अपने साथ ले चलो। तुम्हारी ये कल्याणरूपिणी सखियाँ भी हमारे साथ चले।"

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, परमचतुर राजा आग्नीध्र ने इस प्रकार कामीजनों के समान मनोहर और चतुरता से भरी हुई बातें कहकर उस अप्सरा को अपने ऊपर प्रसन्न कर लिया। कारण, वह स्त्रियों को अपने अनुकूल करने की, रिझाने की कला में बड़े प्रवीण थे। पूर्वचित्ति अप्सरा भी उन वीरवर जंबूद्वीप के महाराज आग्नीध्र की बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, सुंदरता आदि गुणों पर मोहित हो गई। फिर ब्रह्माजी की आज्ञा से वह इसीलिए आई ही थी। उसने आग्नीध्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनके साथ हज़ारों वर्षों तक पृथ्वी के और स्वर्ग के सब भोगविलास करती रही। आग्नीध्र के उस अप्सरा के गर्भ से नव पुत्र उत्पन्न हुए। जिनके नाम ये हैं—नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, और केतुमाल। प्रति वर्ष उस अप्सरा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इन पुत्रों को राजा के भवन में ही छोड़कर वह अप्सरा फिर भगवान् ब्रह्माजी की सेवा में चली गई।

आग्नीध्र के ये नवों पुत्र देवयोनि माता के प्रभाव से जन्म के साथ ही दृढ़ अंगवाले और बलशाली हुए। राजा आग्नीध्र ने जंबूद्वीप के नव खंड करके उनके भी नाम अपने पुत्रों के ही नाम पर रक्खे। जिस पुत्र का जो नाम था, उसे उसी नाम के खंड का राजा बना दिया। महाराज आग्नीध्र अप्सरा के साथ सुख-

---

* जैसा कि श्रुति में कहा है—

"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"

भोग करके तृप्त नहीं हुए थे। उन्हें अप्सरा का संग ही सबसे बढ़कर पुरुषार्थ जान पड़ा। वह सदा उस अप्सरा का ही ध्यान किया करते थे। इसके लिए वेदोक्त यज्ञ आदि करके अन्त को पितृलोक में जाकर उस अप्सरा को उन्होंने प्राप्त किया। पितृलोक में सकाम कर्म करनेवाले पितृगण अपने पुण्य के अनुसार आनन्दभोग करते हैं।

आग्नीध्र राजा का स्वर्गवास होने पर उनके नवों पुत्रों ने मेरु की नव कन्याओं से विवाह कर लिया। उनके नाम ये थे—मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्रा, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति।

# तीसरा अध्याय

## नाभि राजा का चरित्र

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, आग्नीध्र के बड़े बेटे नाभि के कोई सन्तान नहीं हुई। तब उन्होंने अपनी रानी मेरुदेवी के साथ एकाग्र चित्त से यज्ञपुरुष भगवान् को प्रसन्न करके पुत्र पाने के लिए यज्ञ किया। यज्ञ का प्रवर्ग्य-नामक कर्म जब किया जाने लगा, तब भक्तवत्सल भगवान, अपने अनन्य भक्त राजा नाभि की अभिलाषा पूरी करने के लिए, वहाँ सुंदर स्वरूप से प्रकट हुए। सामग्री, देश, काल, मंत्र, ऋत्विज, दक्षिणा और विधि, ये सात यज्ञ के अंग हैं। अच्छी तरह इन सातों अंगों से सम्पन्न होने पर भी यज्ञ से साक्षात् हरि के दर्शन होना अत्यन्त कठिन है। तथापि केवल भक्ति का यह प्रभाव था कि भक्तों के अधीन और सर्वथा स्वतंत्र भगवान् ने भक्ति से खिंचकर नयनानन्ददायक मनोहर रूप से नाभि को दर्शन दिये। राजा नाभि ने देखा, तेजोमय पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु चतुर्भजरूप से उनके आगे विराजमान है। वह पीताम्बर पहने है। वक्षःस्थल मे श्रीवत्स का चिह्न शोभायमान है। भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये है। कंठ में कौस्तुभ मणि और वनमाला पड़ी है। जिसकी चमकीली किरणें चारों ओर फैल रही है, ऐसा मणिमय मुकुट मस्तक पर शोभायमान है। कुडल, कटक, करधनी, हार, केयूर, नूपुर आदि अनेक दिव्य आभूषण अंगों में धारण किये है। ऋत्विक्, सदस्य और यजमान, सब भगवान् की उस मनोहर मूर्त्ति को देखकर बड़े आनन्द और सम्मान के साथ उठ खड़े हुए। जैसे कंगाल किसी बहुमूल्य मणि को पाकर प्रसन्न होता है, वैसे ही भगवान् के दर्शन पाकर सबको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। बड़े आदर से सिर झुकाकर और पूजा करके ऋत्विक्गण इस प्रकार स्तुति करने लगे।

ऋत्विजो ने कहा—हे पूज्यतम, हम आपके दास है। आप तो सब प्रकार से परिपूर्ण हैं। आपको पूजा, स्तुति आदि की चाह नही है। आप हम सेवकों की पूजा को स्वयं स्वीकार करने की कृपा करें। आपके रूप को कोई जान नही सकता, इसलिए सज्जन ज्ञानियों की शिक्षा के अनुसार हम केवल आपको बारम्बार प्रणाम करते हैं। आप प्रकृति और पुरुष से परे परमेश्वर है। हम लोग अपनी बुद्धि के अनुसार जिन नामों, रूपों और आकारों की कल्पना करते है, वे वास्तव मे आपसे कोई संबंध नही रखते। आप नाम, रूप और आकार से रहित है। इसीलिए हमारी वाणी और मन आप तक पहुँच नहीं पाते। उन कल्पित नाम, रूप, आकार आदि के द्वारा कोई आपका निरूपण या स्तुति नहीं कर सकता। कारण, हम सब देहधारियों की बुद्धि और मन की गति प्रकृति-पुरुष के साकार प्रपञ्च तक ही है। आपके गुण या चरित्र महामंगलमय, सर्वश्रेष्ठ, अपार और सबके पापों को मिटानेवाले हैं। आपके साकाररूप के उन गुणों

के भी एक अंश का वर्णन करने के सिवा संपूर्ण महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता। आप भक्तवत्सल और दीनबंधु हैं, इसलिए आपके भक्त श्रद्धापूर्वक गद्‌गद वाणी से जो आपकी स्तुति करते हैं और जल, पवित्र तुलसीदल, नवपल्लव, पुष्प, दूब आदि से पूजन करते हैं, उसी से आप प्रसन्न हो जाते हैं। हमें यह पूर्ण विश्वास है, अन्यथा (अर्थात् भक्ति के बिना) आप इस परमसमृद्धिसम्पन्न और अनेक सामग्रियों से परिपूर्ण यज्ञ की पूजा से भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते; क्योंकि आपको इस बहुत आडम्बर के साथ की गई पूजा की कोई चाह नहीं है। तात्पर्य यह कि आपको अधिक वैभव से युक्त पूजा की कांक्षा नहीं है, आप पूर्णकाम हैं। आप तो केवल भक्तिभाव के भूखे हैं और भक्तजन जो भक्ति के साथ साधारण पूजा या प्रणाममात्र करते हैं, उसी से प्रसन्न हो जाते हैं। आप से ही मनुष्यों के मन में नित्य जो कामनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं, वे सब पुरुषार्थ आपका ही रूप हैं अर्थात् आप सब मनोरथों के ईश्वर परमानन्दमय हैं। आपको किसी बात की कमी या चाह नहीं है। हे स्वामी, हम आपके लिए नहीं, अपने ही लिए बड़ी धूमधाम के साथ इस यज्ञ के द्वारा आपकी पूजा कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि आपको इसकी कोई चाह नहीं है; किन्तु हम फल की कामना से, 'राजा नाभि को पुत्र प्राप्त हो' इस कामना से, आपकी पूजा कर रहे हैं, इस कारण यह धूमधाम अपने ही लिए है। कारण, कामना के अनुसार ही उसका साधन और सामग्री होनी चाहिए। जो मूर्ख अपने यथार्थ कल्याण मुक्ति को नहीं जानते और फल की कामना से आपका भजन करते हैं, उन पर कृपा करके, उन्हें उनकी कामना पूरी करने के साथ ही आत्मज्ञान और मुक्ति भी देने के लिए ऐसे भाव से उनकी पूजा ग्रहण करने के लिए आप दर्शन देते हैं, जैसे उनकी पूजा के भूखे हों। इस समय हम यही देख रहे है। हे पूज्यतम, वर देनेवालों में श्रेष्ठ आपने राजर्षि नाभि के यज्ञ में वरदान देने के लिए ही अपने को प्रकट किया है। परन्तु सबसे बढ़कर वर हमको यही मिल गया कि आपके दर्शन प्राप्त हुए। इससे बड़ा वर और क्या होगा, जिसे हम आपसे माँगें? नाथ, आपके साक्षात् दर्शन होना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मज्ञानी मुनिगण वैराग्य के ज़ोर से बढ़े हुए ज्ञान की आग में अपने हृदय के काम, क्रोध आदि या विषयवासनारूप मल को जलाकर आपके समान माया के गुणों से मुक्त होकर भी केवल आपके परममंगलमय गुणों का गान किया करते हैं और इसी में अपना परम मंगल समझते हैं, अर्थात् उन्हें भी आपका साक्षात् दर्शन नहीं मिलता, केवल अपने मन में ही वे आपके परब्रह्मरूप का मनन किया करते हैं। भगवन्, हम आपके साक्षात् दर्शन पाकर ही कृतार्थ हो गये। तथापि एक वर आपसे माँगते हैं। भूख और प्यास से पीड़ित होने पर, गिरते-पड़ते समय, जम्हाई आने पर, अन्य अनेक कुअवसरों में, ज्वर की दशा में, मरते समय, शोक की दशा में, जब हमारी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायँ—अपना काम न कर सकें और हम आपका स्मरण करने में असमर्थ हों, तब सब संकटों को दूर करनेवाले आपके गुणों के अनुसार कल्पित नाम "मुरारि, मधुसूदन, गोपाल आदि" हमारे मुख से निकलते रहें। भगवन्, और भी एक प्रार्थना है, जिसके लिए हमने यह यज्ञ किया है। आप स्वर्ग और मोक्ष के साथ ही इस लोक के भी सब सुखों के देनेवाले हैं। जैसे कोई कंगाल सौभाग्यवश राजराजेश्वर को प्रसन्न करके उससे वे मोटे धान माँगे, जिनके भीतर चावल होते ही नहीं या बहुत थोड़े होते है, वैसे ही यह राजर्षि नाभि भी पुत्र को ही बहुत बड़ा पुरुषार्थ मानकर आपसे आपके ही समान स्वभाव और गुणों से सम्पन्न पुत्र माँगते है। किन्तु आपको प्रसन्न करके आपसे ऐसा साधारण वर जो राजर्षि माँग रहे है, सो कुछ विचित्र नहीं है। आपकी माया किसी से नहीं हारी और कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो उससे न हारा हो। आपकी अपराजित माया का मार्ग अलक्ष्य है अर्थात् उसके रूप को कोई लख नहीं पाता। माया के आवरण ने सबकी बुद्धि को ढक रक्खा है। महात्मा जनों के चरणों

की सेवा करनेवाला ही विषयवासना के विष की लहरों से अपनी प्रकृति को अलग रख सकता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानियों के संग से ही माया का बन्धन छूट सकता है, अन्यथा ऐसा ही होता है। हमारे राजर्षि ने जो आपसे ऐसा साधारण वर माँगा, उसका कारण आपकी माया ही है। हे संसार के सब कार्य करनेवाले जगदीश्वर, हम लोगों ने एक बहुत ही साधारण कार्य के लिए आपको बुलाने की ढिठाई की है। हम बड़े ही मतिमंद है, इसीसे पुत्रप्राप्ति को ही परमपुरुषार्थ समझते हैं। हे देव, हमसे यह बड़ा भारी अपराध हुआ है। आप समदर्शी हैं। अपनी उदारता से हमारे इस अपराध को क्षमा कीजिए।

शुकदेवजी कहते है—राजन, राजर्षिवन्दित ऋत्विजों ने इस प्रकार स्तुति करके भगवान् के चरणों में प्रणाम किया। तब भगवान ने उन पर और राजा नाभि पर कृपा करके कहा—ऋषियो, तुम्हारे वचन कभी मिथ्या नहीं होते, इसलिए मुझे यह वर तो देना ही पड़ेगा। किन्तु तुमने मुझसे बहुत ही दुर्लभ वर माँगा है। इन राजर्षि के मेरे ही समान स्वभाव और गुणों से सम्पन्न पुत्र हो, यही तो तुम वर माँग रहे हो? यह तो बहुत दुर्लभ है! मेरे समान तो मैं ही हूँ! मैं अद्वितीय हूँ, मेरे समान और कौन होगा? पर ब्राह्मणों का वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता। कारण, सब वर्णों में देवता के समान श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरा ही मुख हैं। अच्छा, स्वयं मैं ही अपनी अंश-कला से राजर्षि नाभि के यहाँ जन्म लूँगा; क्योंकि मुझे मेरे समान और कोई नहीं देख पड़ता।

मेरुदेवी के सामने राजा नाभि से यों कहकर भगवान नारायण अदृश्य हो गये। राजन्, ऋषियों के किये हुए यज्ञ से प्रसन्न होकर भगवान् अपने भक्त राजा की इच्छा पूर्ण करने के लिए, अपने आचरण से तपस्वियों के, दिगंबर आत्मज्ञानी परमहंसों के और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के धर्म की शिक्षा देने के लिए मेरुदेवी के गर्भ से राजा नाभि के घर मे सतोगुणमयी मूर्त्ति से यथासमय प्रकट हुए।

# चौथा अध्याय

## ऋषभदेवजी का चरित्र

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, जन्म के साथ ही नाभि के पुत्र के अंगों में विष्णु भगवान् के चिह्न देख पड़ने लगे। अर्थात् उनके तलवों में वज्र, अंकुश आदि के चिह्न, हथेलियों में शंख, चक्र आदि की रेखाएँ थीं और उनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं। वह जैसे-जैसे सयाने होने लगे वैसे ही वैसे समदर्शिता, शान्तभाव, विषयों से वैराग्य, ऐश्वर्य और सब प्रकार की सम्पत्तियों के साथ उनका प्रभाव भी बढ़ने लगा। यह देखकर मंत्री, ब्राह्मण, देवगण और सब प्रजा यह कामना करने लगी कि यह शीघ्र ही हमारे स्वामी होकर पृथ्वी का पालन करें। उनका सुन्दर सुगठित शरीर कवियों के वर्णन करने योग्य था। वह तेज, प्रभाव, उत्साह, बल, शोभा, यश और पराक्रम आदि गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ थे, इसीलिए राजा नाभि ने उनका नाम ऋषभ (अर्थात् श्रेष्ठ) रक्खा। एक समय भगवान् ऋषभदेवजी के प्रभाव और यश को न सह सकने के कारण ईर्ष्या के मारे इन्द्रदेव ने उनके राज्य में पानी नहीं बरसाया। इन्द्र की ईर्ष्या का कारण ऋषभदेवजी जान गये। उन्हें इन्द्र की मूर्खता पर हँसी आ गई। उन्होंने अपने योगबल से अजनाभ-खंड (अपने राज्य) में जल बरसा दिया। यह ऋषभदेव के प्रभाव का एक दिग्दर्शनमात्र था।

महाराज नाभि अपनी इच्छा के अनुरूप पुत्र पाकर बहुत प्रसन्न थे। अपनी इच्छा से मनुष्य-शरीर

रखकर नरलीला कर रहे भगवान पुराणपुरुष नारायण को उनकी माया में मोहित और पुत्रप्रेम से विह्वल राजा नाभि आनन्द-गद्गद वाणी से "वत्स ! पुत्र !" कहकर दुलराते और अपने को परम कृतार्थ मानते थे। कुछ दिन के उपरान्त जब नाभि ने देखा कि ऋषभदेवजी राज्य करने के योग्य हो गये हैं और पुरवासी तथा सब प्रजा उन पर अनुराग रखती है, उन्हें अपने राजा के रूप में शीघ्र देखना चाहती है, तब प्रजा की इच्छा के साथ ही अपनी अभिलाषा भी पूरी करने के लिए उन्होंने धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए ऋषभदेवजी को राजगद्दी दे दी। इस प्रकार पुत्र को राजसिंहासन पर बिठाकर नीति-धर्म की शिक्षा के लिए ब्राह्मणों को सौंप दिया। उसके बाद वह रानी मेरुदेवी के साथ तपस्या करने के लिए बदरिकाश्रम को चले गये। बदरिकाश्रम में दूसरों को कष्ट न पहुँचानेवाली तीव्र तपस्या करके उन्होंने नर-नारायण भगवान् की उपासना की और यथासमय जीवन्मुक्त हो गये।

राजन्, राजर्षि नाभि के सम्बन्ध में लोग यह कहते हैं—"राजर्षि नाभि ने जो प्रसिद्ध और प्रशंसनीय काम किये, उन्हें और कौन कर सकता है ? अर्थात् उनकी बराबरी करनेवाला न है और न होगा। देखो, उनके सात्विक यज्ञ से प्रसन्न होकर स्वयं विष्णु भगवान् ने पुत्ररूप से उनके यहाँ अवतार लिया। नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का भक्त भी और कौन हो सकता है ? उन्होंने ब्राह्मणों को पूजा और दक्षिणा से ऐसा सन्तुष्ट किया कि उन ब्राह्मणों ने यज्ञ में मंत्रबल और अपने तपोबल से साक्षात् विष्णु भगवान् के दर्शन करा दिये।"

भगवान् ऋषभदेव ने अपने अजनाभखंड को कर्मक्षेत्र समझकर और लोगों को शिक्षा देने के लिए कुछ समय तक वेद-विद्या पढ़ने के लिए गुरुकुल में निवास किया। तात्पर्य यह कि उन्हें पढ़ने-लिखने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि और लोग जिसमें उनके दृष्टान्त को ग्रहण कर वेदाध्ययन आदि करें, इसलिए उन्होंने अन्य साधारण मनुष्यों की तरह गुरुकुल में रहकर पढ़ना उचित समझा। विद्याध्ययन के उपरान्त गुरुदक्षिणा देकर गुरुओं को सन्तुष्ट किया। गुरुओं ने भी प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिये। उनसे घर लौटने की आज्ञा पाकर ऋषभदेव ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। इन्द्र की कन्या जयन्ती से उनका विवाह हुआ। गृहस्थाश्रम में श्रौत और स्मार्त्त कर्मों का आचरण करते हुए ऋषभदेवजी धर्मानुसार राज्य करने लगे।

ऋषभदेवजी के जयन्ती के गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब गुणों में और बल-पराक्रम में अपने पिता के ही समान हुए। सबमें बड़े पुत्र का नाम भरत हुआ। भरत महायोगी और गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। इस खण्ड का नाम पहले अजनाभ था। भरत ऐसे प्रतापी हुए कि उनके नाम से इसका नाम भरतखंड पड़ गया। भरत के नव भाई कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट भी अन्य नब्बे भाइयों से अधिक प्रसिद्ध हुए। बाक़ी नब्बे भाइयों में कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन नाम के नव राजकुमार भागवतधर्म के अनुयायी परमहंस हुए। ये भगवद्भक्त ज्ञान-वैराग्य के मार्ग पर चले। इन्होंने गृहस्थाश्रम नहीं स्वीकार किया। [इनका सुन्दर चरित्र आगे ( एकादश स्कंध में ) वसुदेव और नारद के संवाद में कहा जायगा।]

इनसे छोटे जो इक्यासी राजकुमार बचे, वे पिता की आज्ञा का पालन करनेवाले, अत्यन्त नम्र, महाश्रोत्रिय और यज्ञ करनेवाले हुए। ये सब वेदपाठी याज्ञिक राजकुमार अपने सात्विक कर्मों के कारण शुद्ध होकर क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये।

राजन्, भगवान् ऋषभदेव ईश्वरावतार थे। वह स्वतंत्र थे और आत्म-बोधानुभव के प्रभाव से अनर्थ-रूप माया का प्रपंच उनके पास फटक नहीं सकता था। वह केवलानन्द का अनुभव करनेवाले निर्लिप्त

ईश्वर होकर भी केवल लोकशिक्षा के लिए साधारण मनुष्यों के समान कर्म करते थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्हें धर्म-कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि धर्म के मर्म को भूले हुए लोगों को समयानुसार नष्ट हो गये सनातन वर्णाश्रमधर्म की शिक्षा देने के लिए वह धर्म का आचरण करते थे। उनका अवतार ही धर्म की स्थापना और रक्षा करने के लिए हुआ था। वह विषय-भोग में लिप्त न रहकर सबसे मित्रभाव रखते थे, करुणानिधान थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त किया, पुत्र उत्पन्न किये और सांसारिक सुख भी भोगे। इस प्रकार उन्होंने अपने आचरण से सबको यह शिक्षा दी कि गृहस्थाश्रम में रहकर मनुष्य को किस प्रकार धर्म, अर्थ, यश, पुत्र, भोग और अन्त में मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। उनके इस प्रकार आचरण का कारण यही था कि लोगों को केवल कहकर शिक्षा देने की अपेक्षा करके दिखलाने का अधिक प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध है कि बड़े लोग जो कुछ करते हैं, उसी का अनुकरण और सब लोग करते है।

वेदोक्त धर्म के रहस्य को ऋषभदेवजी स्वयं जानते थे, तथापि ब्राह्मणों से पूछकर ही वह सब कार्य और साम-दाम-भेद-दण्ड से राज्य-शासन करते थे। इसका तात्पर्य यही था कि और सब राजा भी ब्राह्मणों का आदर करें, उनकी सम्मति लेकर राजकाज करें। ऋषभदेवजी ने शास्त्रोक्त विधि से, उत्तम सामग्री द्वारा, उचित समय और स्थान में, उचित अवस्था मे, श्रेष्ठ ऋत्विक् ब्राह्मणों को एकत्र करके, उनके उपदेश के अनुसार, अनेक देवतों के उद्देश से, श्रद्धापूर्वक सौ यज्ञ किये।

ऋषभदेवजी के राज्यकाल में सब प्रजा परम सुखी थी। राज्य भर में कोई ऐसा न देख पड़ता था जिसे किसी वस्तु की कमी हो या कोई वस्तु दुर्लभ हो। कोई किसी से कुछ भी माँगता न था। अपने राजा ऋषभदेव पर नित्य बढ़ रहे स्नेह की बढ़ती के सिवा और किसी वस्तु की चाह किसी को न थी।

एक समय भगवान् ऋषभदेवजी घूमते हुए ब्रह्मावर्त्तक्षेत्र में पहुँचे। वहाँ श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों की सभा में सब प्रजा उपस्थित थी। ऋषभजी ने शिक्षा देने के लिए प्रजा के सामने ही विनय और स्नेह से सम्पन्न पुत्रों को प्रजा-पालन के सम्बन्ध में इस प्रकार उदारता से परिपूर्ण उपदेश दिया। पुत्रगण भी एकाग्र होकर उसे सुनने लगे।

# पाँचवाँ अध्याय

## ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश

ऋषभदेवजी ने कहा—प्यारे पुत्रो, याद रक्खो, मनुष्ययोनि में उत्पन्न होनेवाले लोगों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे विषय-भोग में लिप्त रहकर इस जन्म को व्यर्थ ही गँवा दे। कारण, अन्त में दुःखदायक इन विषयों को तो विष्ठा खानेवाले शूकर भी भोगते हैं, अर्थात् खाते-पीते और स्त्री-संभोग करते हैं। इस श्रेष्ठ मनुष्यजन्म से श्रेष्ठ तप करना ही उचित है। तप से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में अनंत ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त किया जाता है। इसलिए तप अर्थात् इन्द्रियों को वश में करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा लोगों की सेवा मुक्ति का द्वार है और स्त्रियों के दास विषयी पुरुषों का संग संसार-बन्धन का कारण अथवा आत्मा के अधःपतन का मूल है। सबका भला चाहना, क्रोध न करना, शान्त स्वभाव, सदाचार का पालन और समदृष्टि रखना, ये सब महात्मा लोगों के लक्षण हैं। सच्चे महात्मा मुझ ईश्वर की भक्ति को ही परमपुरुषार्थ समझते है और विरक्त होते है। केवल अपने

शरीर के लालन-पालन में लगे रहनेवाले, धर्मचर्चा न करके केवल विषय-भोग की बातें करनेवाले लोगों का संग वे नहीं करते। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन और घर की ममता या माया-मोह वे नहीं रखते, अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहकर भी निर्लिप्त ही रहते हैं। उन्हें अपने निर्वाह भर से अधिक धन या अन्य किसी वस्तु की चाह नहीं होती। मनुष्य जब इन्द्रियों को तृप्त करने में लग जाता है, तब वह विवेकशून्य होकर निश्चय ही पाप करता है। पहले जिन धर्मविरुद्ध कार्यों के करने से यह एक दिन नष्ट हो जानेवाला होने पर भी क्लेशदायक शरीर प्राप्त हुआ है, उन्हीं बन्धन में डालनेवाले कर्मों को फिर इस शरीर से करना मेरी समझ में ठीक नहीं। यह जीव जब तक आत्मा के रूप को नहीं जानना चाहता, तभी तक देह आदि में अहंभावरूप अज्ञान उसे अपने वश में किये रहता है, अर्थात् वह अपने विशुद्ध ब्रह्मरूप को भूला रहता है। जब तक फल की कामना के साथ होनेवाले कर्म होते रहते हैं, तब तक यह मन कर्म करने के स्वभाव को नहीं छोड़ता और वही कर्ममय मन देह-बन्धन का कारण होता है। इस प्रकार पूर्वजन्म के किये कर्म इस जन्म में मन को फिर उन्हीं कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं। आत्मा जब तक अविद्यामय अहंभावरूप उपाधि से ढका रहता है, तब तक यह मन (अहंभावप्रधान मनोमय लिंगशरीर) पुरुष को कर्म करने के लिए विवश करता है, जिसके कारण जन्म-मरण का बन्धन बना रहता है। जब तक पुरुष मुझ वासुदेव का भजन नहीं करता, मेरा निष्काम भक्त नहीं बनता, तब तक देह का सम्बन्ध नहीं छूटता, अर्थात् मुक्ति नहीं होती। मनुष्य जब तक इन्द्रियों की विषय-भोग की चेष्टा को विवेक के द्वारा असार नहीं समझता और स्वार्थ अर्थात् मुक्ति के विषय में असावधान रहता है, तब तक उसे अपने रूप का स्मरण या ज्ञान नहीं होता। वह मूढ़ भाव से मैथुन-सुख पाने के लिए गृहस्थाश्रम में रमकर त्रिविध तापों से पीड़ित रहता है। प्रत्येक पुरुष और स्त्री के जन्म-समय से ही एक हृदय का बन्धन होता है। पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध होने पर वह बन्धन (ममतामयी मन की गाँठ) और भी दृढ़ हो जाता है। इसी बन्धन के कारण जीव को पुत्र, मित्र, परिवार, घर और धन आदि के संबंध में "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार का मोह होता है। यह स्त्री-पुरुष के हृदय का बन्धन छूटना बड़ा कठिन होता है। तात्पर्य यह कि हर एक स्त्री और पुरुष के हृदय की गाँठ से तो देह और इन्द्रियों के कार्यों में ही अहंमय भावरूप मोह होता है; किन्तु जब स्त्री-पुरुष दोनों का मिलन होता है, तब घर-गिरस्ती में भी आसक्ति हो जाने के कारण महामोह उत्पन्न होता है,



जिससे छुटकारा मिलना एक प्रकार से असंभव ही हो जाता है। जब कभी इस जीव की कर्मों की डोर से बँधी हुई सुदृढ़ मनरूप हृदय की गाँठ ढीली होती है, तभी यह स्त्री-संग को छोड़ता है। जब मन विषय-बन्धन से मुक्त होकर अर्थात विषयों की ओर से हटकर मुझमें अथवा आत्मचिन्तन में लगता है, तभी यह पुरुष जन्म-मरण के प्रवर्त्तक अहंभाव को छोड़कर मुक्त हो जाता है—परमपद को प्राप्त होता है।

[अब उस अहंभाव से मुक्त होने के पचीस साधन कहते हैं।] ऋषभदेवजी कहते है—मैं परमात्मा ही सबका सच्चा गुरू है। मुझमें अनन्य भक्ति रखकर मेरी सेवा करे। तृष्णा को पास न फटकने दे। जाड़ा-गर्मी, भूख-प्यास आदि से विचलित न हो, इन्हें सहने का अभ्यास करे। यह सोचे कि इस लोक और स्वर्गलोक आदि के सुख अन्त में दुःखदायक ही हैं; क्योंकि जन्म-मरण का कष्ट या भय उनसे नहीं दूर होता। आत्मतत्त्व को जानने के प्रयत्न में लगा रहे। तपस्या में निरत रहे। फल की वासना से कर्म करना छोड़ दे। मेरी ही प्रीति के लिए कर्त्तव्य कर्म करके उन्हें मुझे अर्पण कर दे। सदा मेरी चर्चा करता रहे, मेरी कथा कहता सुनता रहे। मेरे अनन्य भक्तों का संग करे। मेरे गुणों का कीर्त्तन करे। किसी से वैर-विरोध न रक्खे। समदर्शी होने की चेष्टा करे। इन्द्रियों को वश में रखने की चेष्टा करे। "यह देह मेरी है, यह घर मेरा है" इस भाव को छोड़ने का अभ्यास करे। आत्मज्ञान से संबंध रखनेवाले शास्त्रों को पढ़े, उनका अभ्यास करे। एकान्त निर्जन स्थान में बैठे, जिसमें मन चंचल न हो। प्राणवायु, मन और इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करे। श्रद्धा रक्खे। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करे। अपने कर्त्तव्य के पालन में असावधान न हो। वाणी का संयम रक्खे, अर्थात् बहुत बोले नहीं। सर्वत्र मुझे व्याप्त समझे और मेरे अनुभव से युक्त ज्ञान प्राप्त करे। पुरुष धैर्य, प्रयत्न और विवेक के द्वारा धीरे-धीरे इन साधनों से मेरा ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके समाधिस्थ हो जाता है और तब उसे अहंभावमय लिंगशरीर की उपाधि से छुटकारा मिलता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर पुरुष को चाहिए कि पूर्वोक्त साधनों को छोड़ दे और जब तक यह स्थूलशरीर बना रहे तब तक परमहंस अर्थात् जीवन्मुक्त होकर विचरता रहे। तात्पर्य यह कि यह हृदय की गाँठ, अहंभाव, लिंगशरीर या मन एक ही वस्तु है। वही कर्मबन्धन का कारण है। उसका कारण अविद्या या आत्मा के रूप को न जानना ही है। पुरुष मेरे उपदेश के अनुसार सावधानतापूर्वक पूर्वोक्त उपायों के द्वारा इस उपाधि को अच्छी तरह दूर कर दे। फिर उसके लिए कुछ करने को नहीं रह जाता।

जिसे मेरे लोक को पाने की इच्छा हो, जो मुझे प्रसन्न करना चाहता हो, वह पिता अपने पुत्रों को, गुरु अपने शिष्यों को, और राजा अपनी प्रजा को इसी प्रकार की शिक्षा दे। यदि कोई शिक्षा पाकर भी उसके अनुसार आचरण न कर पावे तो उस पर क्रोध न करके उसे बार-बार यही शिक्षा दे। जो लोग तत्त्व को नहीं जानते, केवल सकाम कर्मों को ही अपने लिए श्रेय या परमार्थ जानकर उन्हीं में लगे हुए हैं, उनको उसी ओर प्रवृत्त करना कभी उचित नहीं है। जो स्वयं ज्ञानी होकर अंधे अज्ञानियों को सकाम कर्मों में लगाकर संसार के गढ़े में और भी गिराते हैं, उन्हें उबारने की चेष्टा नहीं करते, वे क्या पा जायँगे, उनका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? कुछ भी नहीं। तात्पर्य यह कि ज्ञानी का यही कर्त्तव्य है कि अज्ञानियों को मुक्ति का मार्ग दिखावे, संसार में न फँसावे। लोग अहंभावमयी माया के वश होने के कारण स्वभावतः अपने सच्चे कल्याण को नहीं देख पाते। वे संसार के विषयों की कामना में अत्यन्त आसक्त रहकर उन्हीं के पाने का प्रयत्न किया करते हैं। क्षणस्थायी लेशमात्र सांसारिक सुख के लिए भी वे आपस में वैर ठानकर पाप करते हैं और उसके फल घोर दुःख की उन्हें खबर नहीं रहती, ऐसे मूढ़ हैं। कोई अंधा मनुष्य गढ़े में गिरने जा रहा हो तो आँखोंवाला ऐसा कोई भला आदमी न होगा, जो उसे उसमें गिरने दे, या उधर ही जाने के लिए उत्साहित करे। इसके विपरीत वह उस अंधे को उधर से हटाकर ठीक मार्ग बतला देगा। इसी

प्रकार अज्ञान से अंधे कुमति मूढ़ मनुष्य को संसार के गढ़े में गिरते देखकर ज्ञानी और दयालु पुरुष कभी उसे उधर जाने न देगा, उधर से हटाकर आत्मज्ञान के सुमार्ग में लगा देगा। तात्पर्य यह कि कुमति जीव को विषयों की आसक्ति से हटाकर ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति के मार्ग मे लगाना ही आत्मज्ञानी सज्जन का कर्त्तव्य है। वह सच्चा गुरु नहीं है, मित्र या स्वजन नहीं है, पिता नही है, माता नहीं है, देवता नहीं है, पति नही है, जो अपने शिष्य, मित्र, स्वजन, पुत्र, भक्त और स्त्री को भक्तिमार्ग का उपदेश करके जन्म-मरण के भय अथवा कष्ट से नहीं छुडा सकता। अथवा यदि अपने में मृत्युभय से मुक्त करने की शक्ति न हो तो गुरु को शिष्य नहीं करना चाहिए, मित्र-स्वजन को मित्रता का दावा न करना चाहिए, माता-पिता को पुत्र न उत्पन्न करना चाहिए, देवता को भक्त की पूजा न ग्रहण करना चाहिए और पति को रक्षक होने का अभिमान न करना चाहिए।

[इस प्रकार मोक्षधर्म का उपदेश देकर ऋषभदेवजी भ्रातृस्नेह की उपयोगिता बतलाते हैं।] ऋषभदेवजी ने कहा—पुत्रो, मेरा यह नरतनु अतर्क्य है; क्योंकि इसे मैने अपनी इच्छा से धारण किया है। तात्पर्य यह कि मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ। शुद्ध सतोगुण मेरा हृदय है, जिसमें मैंने धर्म को बसाया है। मैंने अधर्म को पीठ में स्थान दिया है अर्थात् दूर रक्खा है। इसीसे आर्य लोग मुझे ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। तात्पर्य यह कि मेरा अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए हुआ है। तुम मेरे शुद्ध सत्वमय हृदय से उत्पन्न हुए हो, इसलिए तुमको धर्मात्मा होना चाहिए। मै तुमको आज्ञा देता हूँ कि तुम सब ईर्ष्या-द्वेष का भाव छोड़कर अपने बड़े भाई महात्मा भरत की सेवा करो। यह न सोचो कि पुत्र होने के कारण मेरी सेवा और राजपुत्र होने के कारण प्रजा का पालन करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है, भाई की सेवा करना नहीं। महात्मा भरत के ऊपर स्नेह रखकर उनकी आज्ञा मानने से ही तुम्हारे सब कर्त्तव्य पूरे हो जायँगे।

[अब ब्राह्मण-सेवा का उपदेश करने के लिए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं।] पुत्रो, चेतन-अचेतन प्राणियों में स्थावर प्राणी वृक्ष श्रेष्ठ है। उनकी अपेक्षा रेंगनेवाले सर्प आदि श्रेष्ठ है। उनसे इन्द्रियों से रूप, रस आदि का अनुभव करनवाले पशु-पक्षी क्रमशः श्रेष्ठ है। उनसे मनुष्य श्रेष्ठ है। उनसे भूत-प्रेत आदि श्रेष्ठ हैं। उनसे गंधव श्रेष्ठ है। गधर्वों से सिद्ध श्रेष्ठ है। सिद्धों की अपेक्षा देवतों के अनुचर किन्नर आदि श्रेष्ठ है। किन्नरों से असुर और असुरों से देवता श्रेष्ठ हैं। सब देवतों में इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्र से दक्ष आदि ब्रह्मा के पुत्र श्रेष्ठ है। दक्ष आदि की अपेक्षा भगवान् शंकर श्रेष्ठ हैं। वह शकर ब्रह्माजी से उत्पन्न है, इसलिए उनसे ब्रह्माजी श्रेष्ठ हैं। वह ब्रह्माजी मुझ नारायण से उत्पन्न हुए है, उनमे मेरी ही शक्ति काम करती है, इसलिए उनसे मैं श्रेष्ठ हूँ। मैं द्विजदेव ब्राह्मणों को अपना पूज्य मानता हूँ, इसलिए ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं। तुम ब्राह्मणों की सदा सेवा-पूजा करना।

इसके उपरान्त उस सभा मे उपस्थित ब्राह्मणों को सम्बोधन करके ऋषभदेव ने कहा—हे ब्राह्मणो, इस जगत् में मुझे ब्राह्मणों से बढ़कर कोई भी नहीं देख पड़ता। ब्राह्मण के समान भी कोई नहीं है। ब्राह्मणों की इस श्रेष्ठता का कारण यही है कि वे मेरे भी पूज्य और मेरा मुख है। मेरे दो मुख है, अग्नि और ब्राह्मण। किन्तु मेरे ब्राह्मण-मुख में श्रद्धापूर्वक जो भोजन कराया जाता है, उससे मैं जैसा तृप्त होता हूँ, वैसा अग्नि-मुख में हवन करने से नहीं। इस पृथ्वीतल में ब्राह्मण ही मेरी पुरातन और पवित्र वेदरूप मूर्त्ति का आधार हैं। परम पवित्र सतोगुण भी ब्राह्मणों में ही रहता है। शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, सहनशीलता और अनुभव भी ब्राह्मणों में ही निवास करता है। इन आठों मेरे गुणों को धारण करनेवाले ब्राह्मण से बढ़कर और कौन हो सकता है? कोई नहीं। सच्चे ब्राह्मण बड़े ही निःस्पृह होते हैं। वे द्वार-द्वार भिक्षा माँगते नहीं फिरते।

साधारण मनुष्य से कुछ माँगने की कौन कहे, वे मुझ अनन्त, सर्वश्रेष्ठ, स्वर्ग और मोक्ष के देनेवाले परमेश्वर से भी कुछ नहीं लेना चाहते। कारण, वे अकिंचन महात्मा ब्राह्मण केवल मेरी भक्ति में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

पुत्रो, इस प्रकार ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ और परमपूज्य जानकर उनकी सेवा और सम्मान करना। साथ ही चराचर सभी प्राणियों का जी न दुखाना; किसी से वैर-विरोध न रखना; क्योंकि उन सबमें मैं रहता हूँ। इस विवेक अर्थात् समदृष्टि के साथ हर घड़ी सब प्राणियों का आदर करना, उनका भला चाहना। यही मेरी सबसे बड़ी पूजा है। अन्त में ऋषभदेवजी सब कर्म ईश्वरार्पण करने की शिक्षा देने के लिए कहते हैं—पुत्रो, मन, वाणी और नेत्र आदि इन्द्रियों से अर्थात् काया से जो कुछ कर्म करो, सो मेरी प्रसन्नता के लिए मुझे अर्पण कर दो। यही उन कर्मों की सबसे बड़ी सफलता है। इस प्रकार निष्कामकर्म-रूप पूजा या आराधना से मुझे प्रसन्न किये बिना कोई भी मनुष्य महामोह में डालनेवाले मृत्यु के भय या जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता।

महाराज, ऋषभदेवजी के पुत्र इन सब बातों को स्वयं जानते थे, पहले ही से सुशिक्षित थे। ऋषभदेवजी ने और सब लोगों को शिक्षा देने के लिए ही अपने पुत्रों को यह उपदेश किया। तदनन्तर भगवान् के परम भक्त और भगवद्भक्तों के सेवक बड़े पुत्र भरत को राज्यासन पर बिठाकर प्रजापालन का काम सौंप दिया। फिर महाप्रभावशाली और सबके सुहृद् भगवान् ऋषभदेव शान्तस्वभाव और कर्मों से निवृत्त महामुनियों को भक्ति-ज्ञान-वैराग्य से युक्त परमहंस-धर्म की शिक्षा देने के लिए ब्रह्मावर्त्त से अकेले ही चल दिये। शरीर के सिवा और कुछ भी उन्होंने अपने पास नहीं रक्खा। यहाँ तक कि वस्त्र भी उतार डाले, दिगंबर हो गये। उनके बाल खुले हुए थे। उन्मत्तों का-सा वेष धारण करके अग्निहोत्र के आहवनीय अग्नि को अपने में ही लीन करके वह चल दिये। कोई बात करता था तो भी वह बोलते न थे। जैसे कोई जड़, अंधा, गूँगा, बहरा, पिशाच-ग्रस्त और पागल हो, ऐसी चेष्टा दिखाते हुए ऋषभदेवजी अवधूत-वेष से पृथ्वी पर विचरने लगे। उन्होंने मौन-व्रत ग्रहण कर लिया था।



ऋषभदेवजी निरुद्देश्य होकर पुर, गाँव, आकर (१), खेट (२), व्राट (३), खर्वट (४), शिविर (५), व्रज (६), घोष (७), सार्थ (८), पर्वत, वन, आश्रम आदि जिन-जिन स्थानों में पहुँचते थे, वहाँ जैसे मक्खियाँ जंगली हाथी को घेर-कर दुःखी करती हैं वैसे ही मूर्ख और दुष्ट प्रकृति के मनुष्य उनके पीछे लग जाते थे, उन्हें धमकाते, मारते, उनके ऊपर मूतते, थूकते, पायु-वायु

(१) खानों के पास का बस्ती। (२) किसानों के गाँव। (३) फूलों का बाग। (४) पहाड़ी प्रांत की बस्ती। (५) छावनी, सेना के रहने का स्थान। (६) गउओं के रहने का स्थान। (७) अहीरों या घोसियों के गाँव। (८) यात्रियों का पड़ाव।

छोड़ते, पत्थर और धूल फेंकते, गालियाँ देते और सताते थे। किन्तु भगवान् ऋषभदेव को इन दुराचरणों से कुछ भी कष्ट न होता था, वह विचलित न होते थे। इसका कारण यह था कि ऋषभदेवजी ने इस जड़ शरीर के अहंभाव को छोड़ दिया था। उन्हें सत् आत्मा और असत् शरीर, दोनों का यथार्थ रूप विदित था। वह अपने ब्रह्मरूप में तन्मय हो रहे थे। दुष्टों के दुराचरण से उनका कुछ बिगड़ता न था। वह अकेले इस पृथ्वी पर इच्छानुसार घूमते रहते थे। उनके हाथ-पैर बहुत ही कोमल थे। छाती चौड़ी, भुजाएँ लम्बी और कंधे ऊँचे थे। सब अंग सुडौल थे। सुंदर मुखारविन्द में स्वाभाविक मुसकान सदा बनी रहती थी। दोनों नेत्र कमलदल के समान विशाल और अरुण थे। आँखों की काली पुतलियाँ शान्त भाव से भरी और दूसरों के सन्ताप को हरनेवाली थीं। कपोल, कण्ठ, कान, नाक आदि अंग समान, सुडौल और सुन्दर थे। उनके मुसकान से मनोहर मुखारविन्द को देखकर पुरनारियों के भी मन कामातुर हो उठते थे। ऐसे परम सुन्दर स्वरूपवान् होकर भी ऋषभदेवजी ने अवधूतों का वेष बना रक्खा था। देखने में विक्षिप्त-से जान पड़ते थे। उनका शरीर धूल में सना हुआ था। उनके घुँघराले केश धूल पड़ने के कारण भूरे पड़ गये थे, उलझकर उनकी जटाएँ बन गई थीं। शरीर की रक्षा या सफ़ाई की ओर उनका ध्यान ही न था, या यों कहना चाहिए कि ब्रह्मलीन हो जाने के कारण उन्हें देहाध्यास ही न था।

जब दुष्ट लोग योगानुष्ठान में विघ्न डालने लगे, तब ऋषभदेवजी ने उसका प्रतिकार करना कर्मत्यागी देहाभिमानरहित परमहंस के लिए अनुचित और निन्दनीय समझकर अजगर की तरह निश्चेष्ट होकर एक स्थान में पड़े रहना ही ठीक समझा। इस प्रकार अजगर-व्रत* ग्रहण करके एक स्थान पर पड़े रहने लगे। वह पड़े ही पड़े जो मिल जाता सो खा-पी लेते थे, पड़े ही पड़े मल-मूत्र का त्याग करते थे। कभी अपने ही मल-मूत्र पर लोटने लगते थे, देह भर में मल-मूत्र भर जाता था। इस अवस्था में लोगों ने उनके पास आना और दिक़ करना छोड़ दिया। पर उनकी विष्ठा में दुर्गन्ध तनिक भी नहीं आती थी। उसकी सुगंध उस स्थान को आसपास चालीस कोस तक सुगंधित किये रहती थी। भगवान् ऋषभदेवजी इस प्रकार योगानुष्ठान में प्रवृत्त होकर गऊ, मृग और काक के समान आचरण करने लगे, अर्थात् इन्हीं जीवों के समान खाते-पीते और मल-मूत्र त्याग करते थे।

भगवान् ऋषभदेवजी ने योगियों, आत्मज्ञानी परमहंसों को उनके आचरण की शिक्षा देने के लिए ही इस प्रकार अजगर-वृत्ति आदि अनेक योगचर्याओं का आचरण किया। वास्तव में उन्हें ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि वह सब बड़ों के भी बड़े, मोक्षदाता साक्षात् भगवान् थे। उन्हें ब्रह्मानन्दानुभवरूप, सब प्राणियों के आत्मा, भगवान् वासुदेव ( परमात्मा ) के साथ अभिन्न भाव या तन्मयता प्राप्त हो गई थी। वह नित्य देहोपाधि से परे और स्वतःसिद्ध सब सिद्धियों से परिपूर्ण थे। बिना चाहे ही वैहायस ( आकाश में चलना ), मनोजय, ( मन के समान सर्वत्रगति, अर्थात् जहाँ जाने का विचार किया वहाँ उसी दम पहुँच जाना ), अन्तर्द्धानशक्ति, परकायाप्रवेश ( दूसरे के शरीर में प्रवेश करना ), दूरदर्शन ( एक स्थान पर बैठे-बैठे लाखों कोस दूर की घटनाएँ और दृश्य देखना ) आदि अनेक सिद्धियाँ उनकी सेवा में उपस्थित हुईं ; परन्तु उन्होंने उनकी ओर मन को नहीं चलायमान होने दिया।

---

*एक स्थान पर पड़े रहकर प्रारब्ध अर्थात् वर्तमान जन्म के किये कर्मों का उपभोग करना अजगर-व्रत कहलाता है।

# छठा अध्याय

## ऋषभदेवजी का परमधाम-गमन

राजा परीक्षित् ने कहा—मुनिवर, जो आत्मज्ञान पाकर ब्रह्मानन्द में मग्न हो चुके हैं, उन महात्माओं के कर्मों के बीज अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि प्रवृत्तियाँ योग की वायु से प्रचण्ड ज्ञान की आग में जलकर भस्म हो जाते हैं, अर्थात् वे फिर हृदय में अंकुरित नहीं हो सकते। उन परमहंसों के लिए स्वयं-प्राप्त पूर्वोक्त योग के ऐश्वर्य ( सिद्धियाँ ) क्लेशदायक या संसार के बन्धन में डालनेवाले कभी नहीं हो सकते, फिर ऋषभदेवजी ने उन्हें क्यों नहीं स्वीकार किया ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन, आपका कहना ठीक है कि ऐसे लोग योगैश्वर्य स्वीकार करने से कुछ हानि नहीं उठा सकते। किन्तु कुछ बुद्धिमान लोग इस चंचल मन को वश में कर लेने के बाद भी उसका विश्वास नहीं करते, जैसे पकड़े हुए मृग का शिकारी विश्वास नहीं करता, उसे बंधनमुक्त नहीं करता बँधा ही रखता है। ज्ञानियों ने अपने अनुभव से यही बात कही है कि जब तक बिलकुल ब्रह्मलीन न हो जाय तब तक उस अनवस्थित मन पर कभी विश्वास न करना चाहिए। देखो, मन पर विश्वास करने ही से मोहिनी-रूप देखने के समय बहुत दिनों से संचित शंकर भगवान् का तप भ्रष्ट हो गया अर्थात् वीर्य-पात हो गया—कामदेव को भस्म करनेवाले भी उसके वश हो गये, तब साधारण मनुष्य की तो कोई गिनती ही नहीं। जिस प्रकार कोई पुरुष यदि अपनी व्यभिचारिणी स्त्री के ऊपर विश्वास करता है, अज्ञता-वश उससे असावधान रहता है तो वह स्त्री अपने यारों को बुलाकर किसी दिन उसके प्राण ले लेती है, उसी प्रकार जो योगी इस चंचल मन पर विश्वास कर लेता है, उसका मन भी मौक़ा पाकर उसे धोखा देता है, काम और उसके साथी क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को उसका सर्वनाश करने के लिए अवसर दे देता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, भय और कर्म-बन्धन का कारण यह अहंभावपूर्ण मन ही है। इस मन को कौन बुद्धिमान् अपने वश समझकर इस पर विश्वास करेगा ?

भगवान् ऋषभदेव लोकपालों के शिरोमणि होकर भी संपूर्ण ऐश्वर्य को तृणवत् त्यागकर अकेले अवधूत जड़ पुरुषों का-सा वेष धारण किये, सिड़ियों की तरह अंटसंट बकते और संसार की दृष्टि में असंगत अनेक प्रकार के विचित्र आचरण दिखाते हुए इधर-उधर घूमते-फिरते थे, कभी बहुत दिनों तक एक ही जगह पड़े रहते थे। देखने में आचरण, वेष और भाषा से वह एक पागल जान पड़ते थे। ज्ञानियों के सिवा और मूढ़जन भगवान के अवतार ऋषभदेवजी के प्रभाव का अनुभव नहीं कर सकते थे। यद्यपि वह जीवन्मुक्त थे, अपने आत्मा से परमात्मा को अभिन्न मानकर उसी का चिन्तन करते हुए देहाभिमान या लिंगशरीर को मिटा चुके थे, तथापि ऐसे परमहंस योगियों को किस प्रकार यह स्थूलशरीर छोड़ना चाहिए, यह शिक्षा देने के लिए उन्होंने शरीर-त्याग करना चाहा। जैसे कुँभार का चाक घुमाकर छोड़ देने पर भी थोड़ी देर तक आप ही घूमा करता है, वैसे ही लिंगशरीर या अहंभाव छोड़ देने पर भी जीवन्मुक्त लोगों को प्रारब्ध कर्म-भोग या अविद्या की वासना के कारण मृत्युपर्यन्त स्थूलशरीर धारण करना पड़ता है। भगवान् ऋषभदेव भगवान् का अवतार थे, इसलिए अविद्या की नहीं, योगमाया की वासना से उनका स्थूलशरीर घूमता हुआ कोंक, बेंक, कुटक और दक्षिण कर्णाटक देशों में पहुँचा। वहाँ कुटक पर्वत के उपवन में सिड़ियों की तरह बड़ी-बड़ी लटें छिटकाये, दिगंबर ऋषभदेवजी मुख में एक पत्थर का टुकड़ा दबाये घूमने लगे। एक दिन जोर से हवा चलने के कारण जंगल के सूखे बाँस हिलने और परस्पर रगड़ खाने लगे।

उनके संघर्षण से आग पैदा हो गई। जंगलों में ऐसे ही आग लगा करती है। घड़ी भर में वह दावानल सारे वन में फैल गया। उसी दावानल में भगवान् ऋषभदेवजी ने इस लोक की लीला समाप्त कर दी।

भगवान् ऋषभदेवजी के आचरण का वृत्तान्त देशवासियों के मुख से सुनकर कोंक-वेंक-कुटक देशों का राजा अर्हत् भी कलियुग में ऋषभजी का अनुकरण अर्थात् उन्हीं के-से आचरण करने लगेगा। वह मूढ़ ऋषभजी के परमहंस-धर्म का यथार्थ मर्म तो जानेगा नहीं, भवितव्यतावश अर्थात् प्राणियों के पूर्वसंचित पापफल के कारण ईश्वर की माया में मोहित होकर, कलियुग में अधर्म की बढ़ती होने पर, अकुतोभय वेदोक्त सनातन धर्म को छोड़कर, अपनी बुद्धि से एक नया ही धर्म चलावेगा। वह पाखण्डपूर्ण कुपथ ऐसा होगा कि उसमें किसी बात का कोई सामंजस्य न होगा।

इस अधर्म-प्रवर्त्तक राजा के पीछे उसके मत को माननेवाले कलियुगी मंदमति नराधम ईश्वर की माया में मोहित होकर वर्णाश्रमधर्मानुयायी अपने-अपने शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे और देवनों का तिरस्कार करेंगे। वे स्नान न करना, जल न पीना, बाल उखाड़ डालना आदि धर्म-विरुद्ध व्रत धारण करेंगे। अधर्मबहुल कलियुग उनकी बुद्धि को भ्रष्ट कर देगा। वे प्रायः वेद, ब्राह्मण, यज्ञपुरुष भगवान् नारायण और लोकाचार की निन्दा करेंगे। वे अपनी इस वेदविरूद्ध मनमानी नई प्रवृत्ति और अन्धपरंपरा पर विश्वास करके इसीसे अपने कल्याण की आशा करेंगे। फल यह होगा कि आप ही अपने कर्मों से घोर नरक में गिरेंगे।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ऐसा अनर्थ जिसके कारण हुआ, उस ऋषभ-अवतार की क्या आवश्यकता थी? इसी का समाधान करने के लिए शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, यह अवतार रजोगुणी अर्थात् विषय-भोग में लिप्त लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए हुआ था। इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। [ जैसे दीपक अंधकार दूर करने के लिए होता है, पर यदि कोई मूर्खतावश उससे अपने कपड़ों मे आग लगा ले तो उसमें दीपक का क्या दोष? उस अनर्थ के कारण कोई यह न कहेगा कि दीपक का न जलना ही अच्छा था। यही बात इस अवतार के संबंध में भी समझनी चाहिए।] लोग ऋषभदेवजी के गुणों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—अहो इस सातों द्वीपों से युक्त पृथ्वी में यह भरतखण्ड सब द्वीपों और खंडों से श्रेष्ठ और परम पवित्र है! कारण, यहाँ के निवासी मनुष्य भगवान् के ऋषभ आदि अवतारों के कल्याणकारी चरित्रों को भक्ति के साथ कहते हैं। अहो! महाराज प्रियव्रत का वंश बड़ा यशस्वी है; क्योंकि इसी वंश में पुरातनपुरुष भगवान् नारायण ने ऋषभ अवतार लेकर योगियों—परमहंसों—को मोक्षधर्म की शिक्षा देने के लिए स्वयं उसका आचरण किया। अनादि परमेश्वर के मार्ग या आचरण की बराबरी करना तो दूर, मन से भी कोई योगी वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। देखो, योगी लोग जिन योग के ऐश्वर्यों या सिद्धियों को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे ऐश्वर्य भगवान ऋषभजी की सेवा में स्वयं उपस्थित हुए थे; पर भगवान् ने उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं किया, उन्हें असार तुच्छ समझकर स्वीकार नहीं किया!

राजन्, संपूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गऊ आदि के प्रतिपालक परमगुरु भगवान ऋषभजी का यह परमपवित्र चरित्र मैंने आपसे कहा है। यह सब पापों को मिटानेवाला और महामंगलमय मुक्ति देनेवाला है। जो इसे श्रद्धा के साथ एकाग्र होकर इसे सुनता या सुनाता है, उसे भगवान की अनन्य भक्ति प्राप्त होती है। परमपुरुषार्थ अर्थात् मानवजन्म के श्रेष्ठ फल को जाननेवाले पण्डित लोग योग आदि की अपेक्षा भक्ति ही को श्रेष्ठ मानते हैं और कष्टदायक संसारताप में तपे हुए आत्मा को नित्य भक्ति की गंगा में ही नहलाकर शान्ति प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि भगवान प्रसन्न होकर जब उन्हें बिना माँगे ही मोक्ष देना चाहते हैं, तब वे उसे भी लेना नहीं चाहते। मोक्ष इस नरशरीर का चरम फल या परमपुरुषार्थ है। पर

भगवद्भक्त लोग भक्ति के आगे उसका भी आदर नहीं करते। इसका कारण यही है कि भगवान् की सेवा और भजन ही उनकी दृष्टि में सर्वोपरि है। तात्पर्य यह कि अनन्य भक्तों को किसी फल की कामना या कमी नहीं रहती, वे भक्ति में ही डूबे रहते हैं। राजन्, भगवान् ऐसे भक्तवत्सल हैं कि देखो, यादवों और तुम पाण्डवों के रक्षक, गुरु या शिक्षक, उपास्यदेव, प्रिय सुहृद्, कुल के मुखिया बने, यहाँ तक कि पाण्डवों के दूत और सारथी बनकर उन्होंने सेवकों के काम भी किये। वह भजनेवालों को मुक्ति भी दे देते हैं। किन्तु ऊपर वर्णित अनन्य भक्ति किसी विरले को ही देते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसी भक्ति बहुत दुर्लभ है।

अपने कल्याण को न जानने के कारण देह-गेह-सम्बन्धी सुख पाने की चेष्टा में लगे हुए अज्ञ जनों के ऊपर करुणा करके भगवान् ऋषभदेवजी ने मृत्युभय से छुड़ानेवाले आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। हम उन अपने सच्चिदानन्द-रूप के नित्यानुभव-लाभ से परिपूर्णकाम, निष्काम ऋषभदेवजी को प्रणाम करते हैं।

# सातवाँ अध्याय

## राजा भरत का उपाख्यान

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, ऋषभदेवजी के उपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत अपने पिता की इच्छा के अनुसार पृथ्वीमण्डल का पालन करने लगे। भरत भी भगवान् के परम भक्त थे। विश्वरूप की कन्या पंचजनी से भरत ने विवाह किया। जैसे अहंकारतत्त्व से शब्द, स्पर्श आदि पाँच सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पंचजनी के गर्भ से सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नाम के पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। राजा भरत ऐसे प्रतापी हुए कि उनके समय से इस अजनाभखंड का नाम भारतवर्ष पड़ गया।

राजा भरत बड़े ज्ञानी और बहुज्ञ थे। वह राजधर्म के अनुसार, अपने पिता-पितामह की तरह, बड़े स्नेह से प्रजा का पालन करते थे। प्रजा भी अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करती थी। राजा भरत ने श्रद्धा के साथ शास्त्रोक्त चातुर्होत्र विधि से अनेक छोटे-बड़े यज्ञों के द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष नारायण की आराधना की। भरतजी को जिन अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग आदि यज्ञों और क्रतुओं* के करने का अधिकार था, उनका अनुष्ठान प्रत्येक पर्व पर वह किया करते थे। यज्ञों के अवसर पर अध्वर्युगण जब देवतों को हवि का भाग देते थे, तब यजमान राजा भरत अपने मन में यह भावना रखते थे कि सब कर्म और उनका फल धर्म भगवान् वासुदेव के ही आश्रित हैं। यज्ञ में भाग लेनेवाले सूर्य, इन्द्र आदि देवतों को वह उन्हीं नारायण के नेत्र, भुजा आदि अंग मानकर पूजते थे। वह जानते थे कि देवतों के प्रकाशक सब वेदमंत्रों का अर्थ इन्द्र आदि देवता होने पर भी उन देवतों के नियामक वासुदेव ही हैं। इसलिए वासुदेव की आराधना ही यज्ञ का लक्ष्य है। वासुदेव ही कर्म करनेवाले हैं। कारण, वही अंतर्यामीरूप से यजमान के हृदय में स्थित होकर यज्ञ कराते हैं। वही कर्मफल के, जिसे धर्म कहते हैं, देनेवाले हैं। सब कर्मफल उन्हीं को अर्पण कर देना चाहिए, अर्थात् केवल उनकी प्रसन्नता के लिए, निष्काम होकर, कर्त्तव्य

* जिनमें यूप ( खंभा ) गाड़ा जाता है, वे क्रतु और जिनमें नहीं गाड़ा जाता, वे यज्ञ कहलाते हैं। पशुबलि जिनमें दी जाती है वे क्रतु हैं और अग्निहोत्र आदि यज्ञ। बोलचाल में साधारणतः सभी यज्ञ कहे जाते हैं। अग्निहोत्र आदि दो प्रकार के होते हैं—सब अंगों से युक्त और कुछ अंगों से हीन। पहले को प्रकृति और दूसरे को विकृति कहते हैं।

समझकर, यज्ञ आदि से, इन्द्र आदि देवगण के रूप में इन्हीं भगवान् की पूजा और आराधना करनी चाहिए। इस प्रकार के विचार से विशुद्ध सात्विक कर्म करने से राजा भरत का अन्तःकरण राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि से रहित विशुद्ध होने लगा।

इस प्रकार कर्मशुद्धि के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने से उनके हृदय में भगवान् की भक्ति का उदय हुआ। हृदय के भीतर प्रकट होनेवाले महापुरुष परब्रह्म नारायण के दर्शन उनको प्राप्त हुए। तब श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, शंख, चक्र, गदा आदि धारण किये और इसी रूप से अपने अनन्य भक्त नारद आदि के हृदयों में सर्वदा विराजमान तथा अपने हृदय में प्रकट परमपुरुष नारायण में राजा भरत का भक्ति-भाव नित्यप्रति बढ़ने और सुदृढ़ होने लगा।

राजा भरत को तपोबल से यह विदित था कि एक सहस्र अयुत वर्ष तक राज्यरूप कर्मफल भोगने के उपरान्त उनके प्रारब्धकर्मों का क्षय होगा और तब स्थूलशरीर छोड़ने का समय आवेगा। जब इतना समय बीत गया, तब उन्होंने अपने बाप-दादे के उस राज्य को शास्त्रानुसार हिस्सा करके अपने उत्तराधिकारी पुत्रों को बाँट दिया। फिर वह सब ऐश्वर्य-भोगों से परिपूर्ण अपने घर को छोड़कर पुलह ऋषि के आश्रम को चले गये। हरि भगवान् अब भी उस क्षेत्र में वहाँ रहकर तपस्या करनेवाले अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार रूप रखकर उन पर कृपा करके दर्शन देते हैं। वहाँ परमपवित्र गंडकी नाम की नदी बहती है। इसे चक्रनदी भी कहते हैं। कारण, उसमें ऊपर-नीचे घूमी हुई गोल रेखाओं से युक्त चक्र-चिह्नवाली श्याम शिलाएँ मिलती हैं, जिन्हें भगवान का रूप शालग्राम-शिला मानकर भक्तजन पूजते हैं। वहाँ के आश्रमों को गंडकी नदी अपने जल से पवित्र करती है। राजर्षि भरत अकेले उस पुलहाश्रम के उपवन में एकान्त में रहकर अनेक प्रकार के फूल, नवपल्लव, तुलसीदल, जल और कंद-मूल-फल आदि विविध सामग्रियों से भगवान् की पूजा और आराधना करने लगे। उनका हृदय शुद्ध होने के कारण उन्हें विषय-भोग की अभिलाषा नहीं रह गई थी, अर्थात् उन्हें पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो चुका था। मन और इंद्रियों को जीत लेने से उन्हें परम शान्ति और परमानन्द प्राप्त हुआ। नित्य निरंतर हरि की पूजा करने से राजर्षि भरत की भगवद्भक्ति दिन-दिन बढ़ने लगी। उस प्रेम अर्थात् भक्ति की अधिकता से उनका हृदय द्रवीभूत और शिथिल हो जाता था। उस समय मारे आनन्द के उनके शरीर के रोएँ खड़े हो जाते थे। उत्कण्ठा के मारे आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ आते थे, दृष्टि रुँध जाती थी अर्थात् कुछ सूझ न पड़ता था। ऐसी अवस्था में वह अपने प्रेमपात्र हरि के अरुणवर्ण चरणकमलों का ध्यान करने में तन्मय हो जाते थे। भक्ति का वेग बढ़ने से उनका हृदय परमानंद से परिपूर्ण हो उठता था और वह भगवान् की पूजा करना भी भूल जाते थे। मृगचर्म पहने राजर्षि भरत तीनों काल की संध्याओं में संध्यावन्दन करने के लिए जब स्नान करते थे, तब उनके घुँघराले बालों की भूरे रंग की जटाएँ भीग जाती थीं और सूर्य का प्रकाश पड़ने से चमकने लगती थीं। उस समय सूर्यमण्डल के सामने मुख करके सूर्यमण्डल में स्थित तेजोमय पुरुष परमेश्वर की आराधना करते हुए वह इस ऋचा से उनकी स्तुति करते थे।

वह कहते थे—प्रकृति से परे शुद्ध सत्वस्वरूप सूर्यनारायण के रूप में प्रकट तेज ही हम सबको कर्मों का फल देनेवाला है। कारण, उसी ने अपनी इच्छामात्र से इस विश्व की सृष्टि की है। वही अपने उत्पन्न किये इस विश्व में अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके अपनी चैतन्यशक्ति से जीवन की इच्छा रखनेवाले जीव का पालन करता है। वही हमारी बुद्धि का प्रवर्त्तक है। हम उसी तेज की शरण में हैं।

# आठवाँ अध्याय

## भरत को मृगयोनि की प्राप्ति

शुकदेवजी कहते हैं—एक दिन राजर्षि भरत गंडकी नदी में नहा-धोकर नित्य-नैमित्तिक कर्मों से छुट्टी पाकर किनारे बैठकर ॐकार का जप कर रहे थे। इसी समय एक प्यासी मृगी पानी पीने के लिए नदी के किनारे आई। वह पानी पीने लगी, इसी समय आसपास के जीवों के मन में भय उत्पन्न करनेवाला सिंह का गरजना सुन पड़ा। मृग की जाति स्वभाव से ही डरपोक और चंचल होती है। उस पर भयानक सिंह का भय! महाविपत्ति की आशंका से वह मृगी बहुत ही व्याकुल हो उठी। डर के मारे इधर-उधर देखकर अच्छी तरह पानी पिये बिना ही उस मृगी ने नदी के उस पार जाने के लिए छलाँग मारी। वह मृगी गर्भिणी थी। छलाँग मारते समय भय के मारे उसके गर्भ का बच्चा नदी के बीच में ही गिर गया। अपने दल से बिछड़ी हुई वह मृगी एक तो बहुत डर गई थी, दूसरे गर्भपात की पीड़ा, तीसरे नदी फाँदने का परिश्रम! फल यह हुआ कि वह नदी के उस पार जाकर पहाड़ की किसी खोह में गिरकर मर गई।



नदी के किनारे बैठे हुए राजर्षि भरत ने यह घटना देखी। उन्होंने देखा, वह तत्काल गिरा हुआ मृगी का बच्चा नदी के प्रवाह में बहा जा रहा है। वह बच्चा अपने मा-बाप से बिछड़ गया है, उसे बचानेवाला कोई नहीं है। यह देखकर उन्हें दया आ गई। अपने सगे बन्धु की तरह करुणा करके भरतजी उस बच्चे को नदी से निकाल लाये। इसकी मा मर गई है, उसे पालनेवाला कोई नहीं है, यह सोचकर दयालु भरतजी उस मृगी के बच्चे को अपने आश्रम में ले आये।

अब धीरे-धीरे भरतजी के मन में "यह मेरा बच्चा है" इस प्रकार का अहंभाव उत्पन्न होने लगा। वह नित्य उसे ले जाकर हरी-हरी घास चराने लगे। वह भेड़िये आदि से उसकी रक्षा करते थे, उसे चूमते थे, दुलराते थे, उसका शरीर खुजलाते थे। इस प्रकार उस मृगशावक के ही लालन-पालन और उसी के चिन्तन में मन लग जाने के कारण एक-एक करके भरतजी के यम, नियम, पूजन, भजन आदि सब आवश्यक कर्त्तव्य-कर्म छूट गये।

भरतजी अपने मन में सोचते थे—अहो, यह मृगी का बच्चा बड़ा दीन अर्थात् असहाय है। काल ने इसे स्वजनों और बन्धु-बान्धवों से छुड़ा दिया है। अब यह मेरी शरण में आया है और मुझे ही मा, बाप, भाई, सजातीय या साथी, सब कुछ जानता है। यह मेरे सिवा और किसी को नहीं जानता। मुझ पर इसे बड़ा विश्वास है। इसलिए मुझे यह न सोचना चाहिए कि इसके फेर में पड़ने से मेरी तपस्या में बाधा पड़ती है—स्वार्थ की हानि होती है। मेरा यह कर्त्तव्य है कि इस शरणागत बच्चे का लालन-पालन, भरण-पोषण और रक्षा करूँ। शरणागत की उपेक्षा करने से बड़ा पाप होता है और उसे मैं जानता हूँ। शान्त-

शील निष्काम परोपकारी आर्यजन दीनबन्धु होते हैं और वे ऐसे दीनजनों की रक्षा और पालन करने में अपने भारी स्वार्थ की हानि भी सह लेते हैं।

यह निश्चय करके राजर्षि भरत ने उस मृग की ओर ही अपना सारा ध्यान लगा दिया, उसके स्नेह-पाश में जकड़ गए। वह बैठने-सोने, घूमने-फिरने और खाने-पीने के समय हर घड़ी उस मृगशावक को अपने साथ ही रखते थे। जब वह कुश, फूल, लकड़ी, पत्र, फल, जल, कन्दमूल आदि लेने के लिए वन में जाते थे, तब इस भय से कि अकेला पाकर भेड़िये, कुत्ते आदि उस मृगी के बच्चे को मार न डालें, उसे अपने साथ ही ले जाते थे। मार्ग में जब यह बच्चा घास चरने में लगकर या यों ही पीछे रह जाता था, तब ममता के मारे कभी-कभी स्नेह की अधिकता के कारण उसको अपने कन्धे पर बिठा लेते थे। इस प्रकार कभी गोद में लेकर और कभी छाती से लगाकर परम प्रसन्न होते थे।



नित्यकर्म पूजापाठ करते समय बीच में ही उठ-उठकर वह उस बच्चे को देखने लगते थे और उसके लिए इस प्रकार ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि "पुत्र, सर्वत्र कल्याण हो, तू सकुशल रह।" जब वह मृग आँखों की ओट हो जाता था, दूर चला जाता था या आड़ में होने से देख न पड़ता था, तब राजर्षि भरत उसके लिए ऐसे चिन्तित हो उठते थे, जैसे कृपण मनुष्य धन गँवाकर व्याकुल होता है। अत्यन्त उत्कण्ठा और उत्सुकता के कारण मृग-शावक के बिछोह से उनका हृदय आतुर और सन्तप्त हो उठता था। वह उसके लिए शोक करने लगते थे। उन्हें उसी का ध्यान बना रहता था।

एक दिन वह बच्चा मृगों के साथ चला गया। उसे न देख पाकर भरतजी ममता-मोह के वश होकर इस प्रकार दीन स्वर से उसके लिए विलाप करने लगे। वह बोले—अहो! इस बच्चे की मा मर गई है, इसलिए यह अत्यन्त दीन और अनाथ है। मैं अनार्य, अभागा और क्रूर किरात के समान हूँ। मैंने उसकी देखरेख में असावधानी की। वह मुझ पर पूरा विश्वास रखता है। क्या सज्जनों के समान मेरे अपराध का कुछ ख़याल न करके वह फिर मेरे पास आवेगा? क्या मैं अपने आश्रम के पास ही कहीं उसे कोमल घास चरते देख पाऊँगा? मैंने उसकी रक्षा में असावधानी की है, पर देवता उस अनाथ के रक्षक हैं। अवश्य ही वह सकुशल होगा। कहीं कोई भेड़िये, कुत्ते, जंगली सुअर या बाघ आदि हिंसक पशु उसे न मार डालें! सब लोगों के कल्याण के लिए नित्य उदय होनेवाले वेदमूर्त्ति भगवान् सूर्य भी अस्त हो चले; पर अभी तक वह मृगी का धरोहर बच्चा लौटकर नहीं आया। क्या वह मृगबालक अपने बाल-

सुलभ मनोहर और देखने योग्य बालविनोद अर्थात् उछल-कूद दिखाकर फिर मुझ स्वजन की उदासी को दूर करेगा ? क्या आकर मुझ पुण्यहीन को सुखी बनावेगा ? जब वह उछल-उछलकर खेलता था और मैं झूठमूठ समाधि का बहाना करके आँखें मूँद लेता था, तब वह प्रेमपूर्ण बनावटी क्रोध से मेरे पास आकर अपने कोमल सींगों से मुझे ठेलता था। कुशों पर हवि आदि सामग्री रक्खी देखकर जब कभी वह मृग-बालक खेलते-खेलते आकर कुश खींचकर उसे दूषित या जूठी कर देता था, और मैं क्रोध करके उसे डाँट देता था, तो वह उसी समय सन्नाटे में आकर भय के मारे खेलना छोड़कर चुपचाप ऋषिबालक की तरह शान्त होकर बैठ जाता था।

इस प्रकार बहुत विलाप करके महाराज भरत आश्रम के बाहर निकले। वहाँ उस मृगबालक के पैरों से खुदी हुई पृथ्वी देखकर फिर यों विलाप-प्रलाप करने लगे—अहो ! इस भाग्यशालिनी भूमि ने ऐसा कौन तप या पुण्य किया है, जो उस विनीत मृगबालक के चरणचिह्न धारण करके उनसे मुझे उस मृग-बालक के जाने का मार्ग दिखा रही है। वह मृग मेरा सर्वस्व था। उसके खो जाने से मैं वैसे ही व्याकुल हो रहा हूँ, जैसे कोई कृपण अपना सर्वस्व गँवाकर व्याकुल होता है। सचमुच यह भूमि भाग्यशालिनी है; क्योंकि उस मृग के चरणचिह्न धारण करके अपने को स्वर्ग और मोक्ष की कामना रखनेवाले द्विजों के यज्ञ करने योग्य स्थान बना रही है*।

फिर ऊपर आकाश में चन्द्रोदय होने पर चन्द्रमा के बिम्ब में मृग का चिह्न देखकर, उसे अपना ही मृग समझकर, कहने लगे—अहो ! मेरा मातृहीन मृगबालक अपने आश्रम से भटककर कहीं और न चला जाय और वहाँ उसे सिंह आदि हिंसक पशु मार न डालें, इस भय से दयालु दीनबन्धु चन्द्रदेव ने उसे अपनी गोद में ही बिठा लिया है और उसकी रक्षा कर रहे हैं।

इसके बाद चन्द्रदेव की शीतल किरणों के स्पर्श से सुखी होकर कहने लगे—उस मृग के बालक को मैं पुत्र से बढ़कर प्यार करता हूँ। उसके वियोग की आग मेरे हृदय को जला रही है और मैं उसी को खोज रहा हूँ, यह जानकर चन्द्रदेव को शायद मुझ पर दया आ गई है। इसीसे वह अपनी शीतल अमृतमय किरणों से मुझे शान्ति पहुँचा रहे हैं।

इस प्रकार भरतजी कुछ समय तक विलाप और शोक करते रहे। वह मृगी का बच्चा फिर लौटकर नहीं आया। भरतजी उसके लिए सदा व्याकुल रहते थे। सच पूछो तो यह उनका पूर्वजन्म का कोई कर्म ही उन्हें योग से भ्रष्ट करने के लिए—भगवान् की आराधना से उनका मन हटाने के लिए—उनके पास आकर उपस्थित हुआ था। नहीं तो जिन राजर्षि ने समय आने पर अपने सगे पुत्रों की माया-ममता को, जिसे बहुत कम लोग छोड़ सकते हैं, यह समझकर छोड़ दिया था कि ये सब मुक्तिमार्ग के विघ्न हैं, वही योगी राजर्षि भरत एक अन्य जाति के मृगबालक के पालन-पोषण और लालन-पालन में इतने आसक्त कैसे हो जाते कि आत्मज्ञान और आत्मचिन्तन को भूल बैठते ? राजर्षि भरत भगवान् की आराधना को छोड़कर, मृगबालकरूप विघ्न के कारण योग-साधना से भ्रष्ट होकर, बराबर उसी मृगबालक का ध्यान किया करते थे। इसी बीच कराल और भयानक काल ( अर्थात्, मृत्यु का समय ) आकर उपस्थित हुआ और जैसे साँप अचानक झपटकर मूसे के बिल में घुसकर उसे निगल लेता है, वैसे ही मृत्यु ने उनके शरीर पर आक्रमण कर दिया। उस समय भी वह पास बैठे हुए पुत्र के समान उसी मृग की ओर देखते रहे, उसी

---

* स्मृति में लिखा है—यस्मिन्देशे मृगःकृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत । अर्थात् जिस भूमि में काला मृग रहता है, वह यज्ञ आदि धर्म करने के योग्य होती है ।

में उनका मन लगा रहा। यही सोचते-सोचते उनका शरीर छूटा कि हाय, इस अनाथ बालक की अब क्या दशा होगी! कौन इसकी रक्षा अथवा देखभाल करेगा?

राजर्षि भरत ने उस मृग के ध्यान के साथ ही शरीर को छोड़कर साधारण जीवों की तरह दूसरे जन्म में मृग का ही शरीर पाया। परन्तु योगबल से उनको पूर्वजन्म की याद नहीं भूली। भगवान् की आराधना करने के प्रभाव से उस मृग-शरीर में भी उन्हें यह याद बनी रही कि मैंने योगी होकर भी एक मृगबालक के संग से, उसकी ममता में फँसकर, यह मृगशरीर पाया है। यह स्मरण करके उन्हें अपनी इस चूक पर बड़ा खेद हुआ। वह आप ही आप यों कहकर पछताने लगे—अहो! बड़े कष्ट अर्थात् खेद की बात है! मैं संगदोष से, तनिक चूक हो जाने के कारण, आत्मज्ञानी धीर योगियों के मार्ग से भ्रष्ट हो गया! मैं संसार से विरक्त होकर एकान्त पवित्र वन में आकर आत्मचिन्तन में लगकर धीर भाव से अर्थात् एकाग्र होकर भगवान् वासुदेव की आराधना कर रहा था। अपना सब समय भगवान् के चरित्र सुनने में, हरिभजन में, हरिकीर्त्तन में, हरि के स्मरण और आराधना में लगाता था। मेरा मन स्थिर रूप से भगवान् में लग गया था। परन्तु मैंने ऐसी मूर्खता की कि एकाएक उधर से मन हटाकर एक मृगी के बालक में लगा दिया! इसका फल यह हुआ कि मेरा इतने दिनों का परिश्रम व्यर्थ गया, मैं योगभ्रष्ट होकर मृग-योनि में उत्पन्न हुआ!

इस प्रकार मृगयोनि में भी राजर्षि भरत के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह अपनी माता मृगी को छोड़कर कालंजर पर्वत से, जहाँ उनका जन्म हुआ था, फिर भगवान् के क्षेत्र और शान्तशील मुनियों को प्रिय उसी पवित्र शालग्राम-क्षेत्र में आ गये, जहाँ पहले रहकर वह योगाभ्यास करते थे। वहीं पुलस्त्य और पुलह ऋषि का आश्रम है। मृगरूप भरतजी वहाँ भी अकेले ही रहकर अपने शरीर-त्याग के समय अर्थात् काल की राह देखने लगे। अब वह संग से बहुत घबराते थे, किसी मृग या मृगी के साथ न रहते थे, अकेले ही इधर-उधर घूमा करते थे। सूखे पत्ते, घास-फूस आदि जो कुछ मिल जाता था, वही खा लेते थे। कब यह मृगशरीर छूटेगा, कब कर्मभोग पूरा होगा, इसी की राह देखते-देखते एक दिन वह समय आ गया। गंडकी नदी के पवित्र जल में आधे पड़े हुए मृगशरीर को एक दिन उन्होंने छोड़ दिया।

# नवाँ अध्याय

## भरतजी का एक ब्राह्मण के घर जन्म लेना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, मृग का शरीर छोड़कर राजर्षि भरत ने अंगिरा ऋषि के वंश में उत्पन्न अर्थात् आंगिरस गोत्रवाले एक श्रेष्ठ ब्राह्मण के घर जन्म लिया। वह ब्राह्मण शान्त, सन्तोषी, तपस्वी और वेदपाठी थे। वह अपने घर आये हुए अतिथि-अभ्यागतों को भोजन कराते और उनका यथोचित सत्कार करते थे। वह कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। उनमें सन्तोष, सहनशीलता, विनय, विद्या आदि ब्राह्मणोचित सब गुण थे। वह अपने धर्म का पालन करते हुए सदा प्रसन्न और आनन्दयुक्त रहते थे। उन ब्राह्मणदेवता के दो धर्मपत्नियाँ थीं। पहली स्त्री के गर्भ से उनके नव पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब अपने पिता के ही समान वेदपाठी और शील-स्वभाव, आचार-विचार, रूप और उदारता आदि गुणों से सम्पन्न थे।

उन ब्राह्मण के छोटी स्त्री के गर्भ से एक लड़का और एक लड़की, दो ही सन्तानें हुईं। उनमें जो

लड़का हुआ, वह हमारे परमभागवत, राजर्षियों में श्रेष्ठ भरतजी थे, जिन्होंने मृग का शरीर छोड़कर अन्तिम बार मोक्ष प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण-वर्ण में जन्म लिया था *। इस जन्म में भी भगवान के अनुग्रह से पूर्वजन्मों का वृत्तान्त स्मरण रहने के कारण पहले ही से भरतजी को यह खटका लगा था कि स्वजनों के संग से कहीं फिर मेरी मोक्ष की साधना में बाधा न पड़ जाय और मैं इस जन्म-मरण के चक्र से कभी छुटकारा न पा सकूँ। इस कारण वह अपने को इस दशा में रखने लगे कि देखनेवाले उनको पागल, जड़, अंधा और बहरा-सा समझें और उनसे दूर ही रहें। किन्तु वास्तव में जड़भरतजी (यही इस जन्म में उनका नाम पड़ गया था) ऐसे नहीं थे। वह सदा मन में हरि के चरणों का ध्यान किया करते थे; क्योंकि हरि के गुणों का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण ही कर्म-बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है।

यद्यपि जड़ और सिड़ी को गृहस्थाश्रम के संस्कारों का अधिकार नहीं है, तथापि पुत्रस्नेह के कारण भरतजी के पिता ने उनके यज्ञोपवीत, समावर्त्तन † आदि सब वेदोक्त संस्कार विधिपूर्वक कर दिये। यज्ञोपवीत के उपरान्त पिता ने उन्हें शौच, आचमन आदि ब्रह्मचर्य के नियमों की शिक्षा दी। जड़भरतजी को ये शौच आदि कर्मों के नियम पसंद नहीं थे। कारण, वह तो ज्ञानमार्ग के अनुगामी थे। यद्यपि जड़-भरतजी इन नियमों में रुचि नहीं रखते थे, तथापि पिता उन्हें शिक्षा देते रहे। कारण, वह समझते थे कि पुत्र को शिक्षा देना पिता का कर्त्तव्य है। जड़भरतजी पिता के सामने ही उन कर्मों को बेमन और ऊटपटाँग ढंग से करते थे। इसका कारण यह था कि वह चाहते थे कि ऊबकर उनके पिता उन्हें शिक्षा देना छोड़ दें। उनके पिता उनको अपनी आत्मा समझकर ‡ स्नेह की अधिकता के कारण वेद पढ़ाना चाहते थे, इसलिए सावधि ब्रह्मचारी § के शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम, अग्निहोत्र और गुरु की सेवा आदि कर्मों की शिक्षा देते ही रहे। यद्यपि भरतजी उन कर्मों में अपनी श्रद्धा नहीं दिखाते थे, तथापि अपना कर्त्तव्य समझकर दुराग्रह के कारण पिता ने शिक्षा देना नहीं छोड़ा। पर उनका यह मनोरथ कि पुत्र पंडित और कर्मकाण्डी हो, पूरा न हो पाया और अपने काम में सदा सावधान काल ने उस असावधान ब्राह्मण को इस लोक से उठा लिया। ब्राह्मण के मरने पर उनकी छोटी पत्नी ने अपने गर्भ से उत्पन्न लड़की और लड़के को अपनी सौत को सौंप दिया और आप पति के साथ सती हो गई। भरतजी के और भाई उनके प्रभाव को नहीं जानते थे। इसका कारण यह था कि वे वेद के कर्मकाण्ड को ही सब कुछ मानते थे, पर-विद्या अर्थात् ज्ञानकाण्ड उनका जाना नहीं था। इसीलिए वे आत्मज्ञानी भरतजी को मूर्ख और सिड़ी समझकर चुप हो रहे। उन्होंने भरतजी को कर्मकाण्ड की शिक्षा देना छोड़ दिया। साधारण अर्थात् अज्ञानी मनुष्य दो पैर के पशु ही होते है। वे भरतजी को सिड़ी, बहरा आदि कहते थे और भरतजी भी वैसी ही बातें करते थे। लोग उन्हें पकड़कर या बुलाकर बेगार में काम कराते थे, कोई काम कराकर कुछ मेहनताना या मजदूरी दे भी देते थे। इस प्रकार वह पराई इच्छा से काम करते थे और माँगने

---

* स्मृति मे लिखा भी है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

किसी कारण से जो लोग योगभ्रष्ट हो जाते है, वे पवित्र और धनी लोगो के घर मे जन्म लेते हैं।

† समावर्त्तन संस्कार तब होता है, जब लड़का गुरुकुल मे ब्रह्मचर्य का पालन और शिक्षा समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

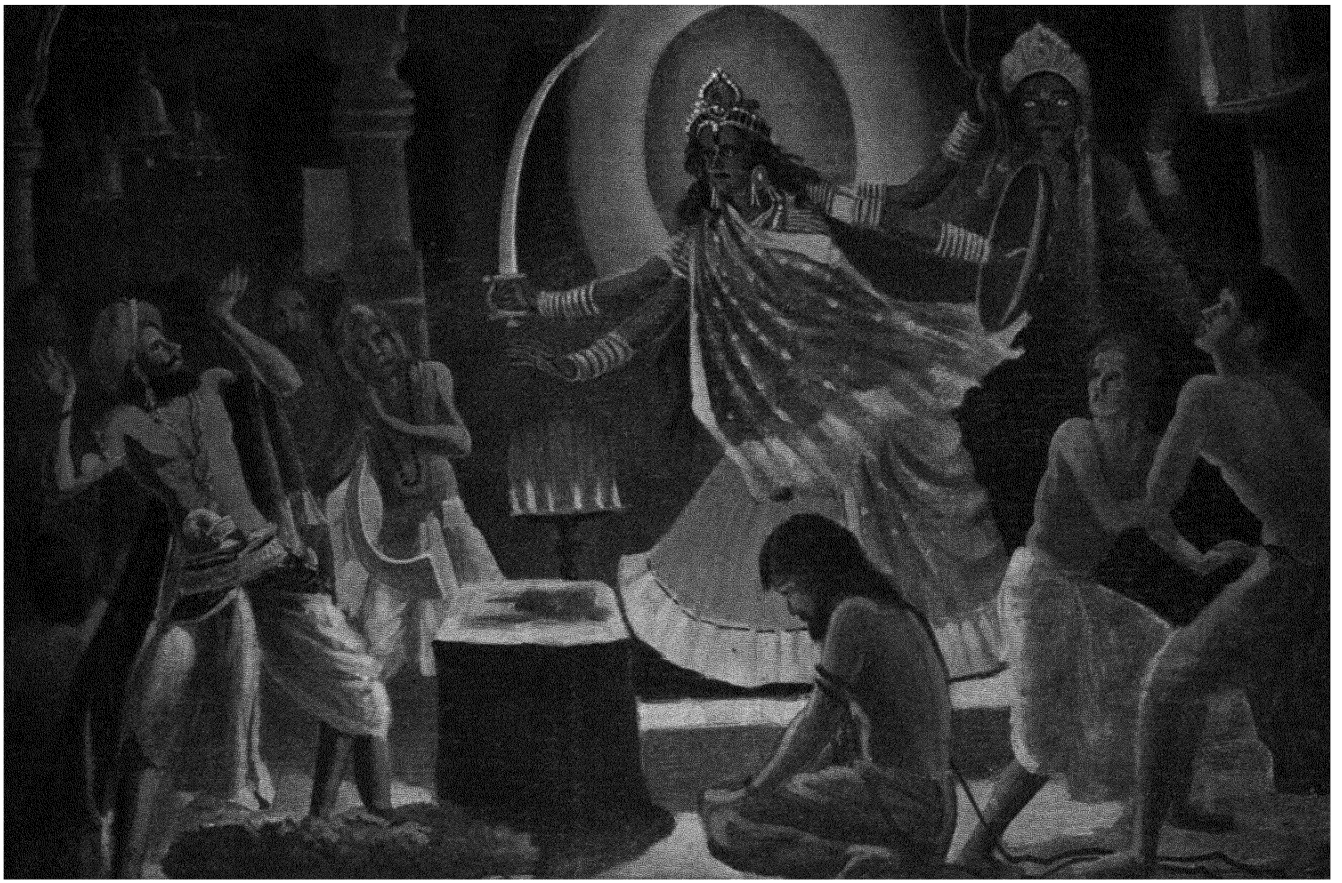
‡ श्रुति मे लिखा है—आत्मा वै जायते पुत्रः। मनुष्य आप ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है।

§ ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—एक नैष्ठिक, अर्थात् जन्म भर ब्रह्मचारी रहनेवाले और दूसरे सावधि अर्थात् एक अवधि के बाद वेद पढ़ चुकने पर गृहस्थ बननेवाले।

से या अपनी इच्छा से भाई या और लोग जो कुछ थोड़ा-बहुत रूखा-सूखा खराब अन्न अथवा मीठा और अच्छा भोजन दे देते थे, उसे वह केवल भूख मिटाने के लिए खा लेते थे ; इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की ओर उनका ध्यान नहीं था। इसके दो कारण थे। एक तो वह अपने आत्मा के नित्य, कारणरहित, स्वयंसिद्ध, केवल, अनुभवानंदस्वरूप रूप को जान चुके थे और दूसरे मान-अपमान आदि से होनेवाले सुख-दुःख के सम्बन्ध में उन्हें देहाभिमान नहीं था। जाड़े, गर्मी, और आँधी-पानी की वर्षा में साँड़ की तरह कोई कपड़ा ओढ़े-पहने बिना ही घूमते-फिरते रहते थे। उनका शरीर मोटा-ताज़ा और सब अंग पुष्ट थे। पृथ्वी पर ही लेट रहते थे, कभी उबटन नहीं लगाते थे, देह नहीं मलते थे, नहाते भी नहीं थे। इन कारणों से उनका शरीर धूल से भरा रहता था और जैसे कोई महामूल्य मणि खान से निकलने पर सान पर चढ़े बिना मलिन रहती है और उसे अनाड़ी लोग नहीं पहचान पाते, वैसे ही उनका ब्रह्मतेज छिपा हुआ था और मूर्ख लोग उनकी कमर में लिपटे हुए गंदे कपड़े और कंधे पर पड़े हुए महामलिन जनेऊ को देखकर उन्हें 'अधम मूर्ख ब्राह्मण' कहकर उनका अनादर करते थे। पर वह इसकी कुछ परवा न करके आनन्द से विचरते रहते थे। जब दूसरे लोगों से केवल रूखा-सूखा पेट भर भोजन लेकर उनका काम भरतजी करने लगे, तब उनके भाइयों ने भी सोचा कि हम ही भोजन देकर इससे अपना काम क्यों न करावें। यह सोचकर उन्होंने इन्हें अपने धान के खेतों में काम करने में लगा दिया। किन्तु यह कहीं खेत से अधिक मिट्टी निकाल देते थे, जिससे उसमें गढ़ा हो जाता था और कहीं अधिक मिट्टी डाल देते थे, जिससे खेत ऊँचा हो जाता था। खाने को इन्हे इनके भाई चावल के कन, तेल की कीट, धान की भूसी, घुने उरद या बटुई में लग गया जला हुआ अन्न, जो कुछ दे देते थे, उसी को यह अमृत की तरह रुचि से खा लेते थे।

एक शूद्र डाकुओं का दलपति सन्तान की कामना से भद्रकाली के आगे नरबलि करने की मनौती मान चुका था। उसने इस बलि के लिए एक मनुष्य भी पकड़ रक्खा था। एक दिन अवसर पाकर वह मनुष्य वहाँ से ठीक बलिदान के समय बन्धन से छुटकारा पाकर भाग खड़ा हुआ। आधीरात का समय था। उसी समय उस डाकू के अनुचर उस आदमी को पकड़ने के लिए दौड़ पड़े। घोर अन्धकार के कारण वह आदमी तो उन्हें मिला नहीं, परन्तु एका-एक उन्हें अंगिरा ऋषि के गोत्र में उत्पन्न श्रेष्ठ ज्ञानी भरतजी मिल गये। उन अनुचरों ने देखा, भरतजी खेत की मेड़ पर वीरासन से बैठे हुए मृग, वराह आदि पशुओं से खेत की रखवाली कर रहे हैं। उन्होंने देखा, बलिपशु में जिन सुलक्षणों की ज़रूरत होती है, वे सब इनमें हैं। उन्होंने सोचा, वह आदमी नहीं मिलता तो इसी को ले चलें। इससे हमारे स्वामी का काम पूरा हो जायगा। उन्होंने भरतजी को रस्सी से बाँध लिया और चण्डिका के मंदिर में अपने स्वामी के पास इन्हें ले गये। आनन्द के





जड़भरत को बाले से रक्षा

मारे उनकी बाछें खिल रही थीं। तब उन चोरों ने अपनी पूजाविधि के अनुसार भरतजी को नहलाया, नये कपड़े पहनाये, भूषण, चंदनमाला, तिलक आदि से अलंकृत किया, भोजन कराया। फिर धूप, दीप, माला, खील, पल्लव, अंकुर, फल आदि उपहारों से युक्त बलिदान की विधि से भद्रकाली के सामने भरतजी को वे ले गये और उन्हें बिठा दिया। गीत, स्तुति, मृदंग, ढोल आदि बाजों का शब्द वहाँ गूँज उठा। इसके बाद उस चोरराज के यहाँ पुरोहित का काम करनेवाले चोर ने पुरुष-पशु के रक्त से देवी भद्रकाली को सन्तुष्ट करने के लिए भद्रकाली के मंत्र से अभिमंत्रित अत्यन्त भयानक और पैनी तलवार हाथ में ली। वे चोर शूद्र रजोगुणी तामसी प्रकृति के थे और धनमद के कारण उन्हें धर्म की मर्यादा का ध्यान भी नहीं था। इसीलिए वे भगवान् की कला जो ब्राह्मण हैं, उनका अनादर करके मनमाने ढंग से एक ब्राह्मण की बलि देना चाहते थे। हिंसा में ही उन्हें आनन्द मिलता था। उनका यह अत्यन्त दारुण कर्म था कि वे साक्षात् ब्रह्मर्षि के पुत्र, ब्रह्मभूत, किसी से वैर न रखनेवाले, सब प्राणियों के हितैषी मित्र भरत की सर्वथा निषिद्ध हत्या करने के लिए तैयार हो गये। तब अत्यन्त दुस्सह ब्रह्मतेज से देवी भद्रकाली का शरीर जैसे जलने लगा और वह सहसा अपनी मूर्ति से उचटकर बाहर निकल खड़ी हुई। उन दुष्टों के इस अक्षम्य अपराध को वह सह न सकी। क्रोध के आवेश और वेग से उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं। निकली हुई दाढ़ों और लाल-लाल आँखों से उनका मुखमण्डल बड़ा ही भयानक हो उठा। मानो सारे जगत् का संहार कर डालेंगी, यही जान पड़ता था। वह बड़े ज़ोर से अट्टहास करती हुई अपने गणों के साथ उन दुष्ट पापी चोरों के सिर उसी तलवार से काट-काट कर गिराने और उनका गर्म-गर्म रक्त पीने लगीं। अत्यन्त रक्तपान के मद से विह्वल हो रही भद्रकाली अपने गणों के साथ ऊँचे स्वर से गाने, नाचने और शूद्रों के कटे हुए सिरों को उछाल-उछालकर कन्दुक-क्रीड़ा करने लगीं। बड़े लोगों अर्थात् महापुरुषों के अनादर का अपराध करने पर इसी तरह उसका उलटा फल होता है। यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि मरने की घड़ी सिर पर आने पर भी इस तरह तनिक भी न घबराना अथवा अपनी हत्या करनेवालों पर क्रोध का न आना तो असंभव ही है; ऐसा कहीं हो सकता है? इसीके समाधान के लिए कहते हैं—राजन, सिर कटने का अवसर आ पड़ने पर भी कोई घबराहट न होना भरतजी के समान भगवद्भक्त परमहंसों के लिए कोई अत्यन्त आश्चर्य की बात नहीं है। वे तो देह में आत्मा की भावना रखते ही नहीं, देहाभिमान की सुदृढ़ हृदय की गाँठ वे खोल चुके होते है। वे सब प्राणियों के मित्र होते हैं और सबके हृदयों में आत्मारूप से अपने को अवस्थित समझते हैं। उन्हे किसी से वैर नहीं होता। भगवान् स्वयं अपने श्रेष्ठ शस्त्र कालरूप चक्र के द्वारा उनकी सर्वत्र रक्षा करते हैं; क्योंकि ऐसे अनन्य भक्त भगवान् के अकुतोभय चरणों की शरण में अपने को छोड़ देते हैं।

# दसवाँ अध्याय

## राजा रहूगण और भरतजी

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सिन्धुसौवीर देश का राजा रहूगण तत्त्वजिज्ञासा या आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए महर्षि कपिल के आश्रम को जा रहा था। इक्षुमती नदी के किनारे जब राजा की पालकी पहुँची तो वहाँ पालकी ढोनेवालों के दलपति या जमादार ने बेगार में पालकी ले चलने के लिए कुछ नए आदमियों की खोज की। कारण, पहले के आदमी थक गये थे और उनकी जगह दूसरे आदमियों का

रखना आवश्यक था—राजा बहुत जल्दी पहुँचना चाहता था। दैवसंयोग से भरतजी उसे मिल गये। उस दलपति ने इन्हें देखकर अपने मन में सोचा कि यह जवान, मोटा-ताजा और बैल तथा गधे के समान बोझ ढोने में समर्थ है। बस, उसने पहले के बेगार में पकड़े हुए मनुष्यों के साथ इन्हें भी ज़बरदस्ती पकड़कर पालकी ले चलने के काम में लगा दिया। महानुभाव भरतजी यद्यपि इस काम के योग्य न थे, तथापि वह चुपचाप पालकी लादकर चलने लगे। भरतजी जीवहिंसा से बचने के लिए पहले चार हाथ पृथ्वी नीचे देख लेते थे, तब पैर रखते थे, इस कारण और पालकी ले चलनेवाले मनुष्यों की और उनकी गति समान नहीं होती थी, जिसके कारण राजा के कई बार धक्का लगा। राजा ने पालकी ले चलनेवालों से कहा—अरे तुम लोग ठीक-ठीक क्यों नहीं चलते? पालकी क्यों उछलती है? ठीक तरह से चलो। राजा के ये क्रोधभरे वचन सुनकर राजदण्ड के भय से घबराकर उन लोगों ने कहा—महाराज, हम लोग असावधान नहीं हैं, आपकी आज्ञा के अनुसार ठीक चाल से ही चल रहे हैं। यह आदमी, जो अभी इस काम में लगाया गया है, इसलिए थका भी नहीं, पर हमारे साथ तेज़ी के साथ एक चाल से नहीं चलता, इसीसे पालकी हिलती-डुलती और उछलती है। इसके साथ पालकी ले चलने में हम असमर्थ हैं।



राजा ने सोचा, ठीक है, संसर्ग के कारण एक का दोष और साथियों को भी दोषी बनाता है। यद्यपि राजा ने बड़े-बूढ़े विद्वानों की सेवा में रहकर विनय और क्रोध न करने की शिक्षा पाई थी, तथापि राजा होने के अभिमान और मनुष्य-स्वभाव से विवश होकर वह कुपित हो उठा। राख से ढकी हुई आग के समान अस्पष्ट ब्रह्मतेजवाले भरतजी से वह इस प्रकार व्यंग-वचन कहने लगा—"भैया, अहो बड़े कष्ट की बात है! निश्चय ही तुम बहुत थक गये हो! इतनी लंबी राह में तुम अकेले ही बड़ी देर से पालकी लिये चले आ रहे हो! फिर न तो तुम बहुत मोटे हो और न तुम्हारे अंग ही पुष्ट हैं। उस पर बूढ़े भी हो! मित्र, तुम्हारे ये और साथी ऐसे नहीं हैं।" राजा के इस प्रकार बहुत कुछ व्यंग और उपहास करने पर भी भरतजी कुछ नहीं बोले, चुपचाप पालकी ले चलने लगे। इसका कारण यही था कि अविद्या (माया) के द्वारा जिसमें पंचमहाभूत, इन्द्रिय, पुण्य-पापरूप कर्म और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) का समावेश हुआ है, उस अपने अन्तिम शरीर को वह इस दृष्टि से देखते थे कि वह एक रहने के घर के समान है; उसके प्रति "मैं हूँ" "मेरा है" इस प्रकार का मिथ्या अभिमान वह नहीं रखते थे अर्थात् वह अपने को ब्रह्मस्वरूप मानते थे।

कुछ देर बाद फिर राजा की पालकी में धक्का लगा। तब राजा बड़ा क्रोध करके बोला—यह क्या! रे तू अपनी मृत्यु क्या आप बुला रहा है? मेरी उपेक्षा करके मुझ अपने स्वामी की आज्ञा को नहीं मानता! तू प्रमत्त है। अच्छा जैसे यमराज पापी जनों को दण्ड देते हैं, वैसे ही मैं अभी तेरी चिकित्सा (दवा) किये देता हूँ, जिससे तू होश में आ जायगा। राजा होने के अभिमान से और रजोगुणमिश्रित द से राजा रहूगण ने बहुत-सी असंगत बातें कहकर भगवान् के प्रिय भक्त भरतजी का तिरस्कार किया। रन्तु वह ब्रह्मभूत ब्राह्मण सब प्राणियों के मित्र और आत्मा थे, तथा योगेश्वर परमहंसों के आचरण में पुण थे, उन्हें तनिक भी गर्व नहीं था। भरतजी मुसकाते हुए-से यों कहने लगे।

भरतजी ने कहा—राजन्, तुमने वक्रोक्ति के द्वारा जो यह कहा कि मुझे श्रम आदि कुछ नहीं है सो पष्ट ही है। इसमें ताने की बात कुछ नहीं है। विचारकर देखिये, अगर भार (बोझ) कोई वस्तु है और ह अगर लादनेवाले देह पर है, और उस देह का लगाव अगर अस्मत्पदवाच्य आत्मा से हो तो तुम्हारा प्राक्षेप या वक्रोक्ति कुछ अर्थ रख सकती है। पर भार और उसे लादनेवाले का या मार्ग और उसमें चलने-ाले का ठीक निरूपण नहीं होता। इसलिए भार से या चलने से मेरा अर्थात् चेतन आत्मा का कुछ म्बन्ध नहीं है, और वास्तव में मुझे श्रम या बोझ लादने का कष्ट कुछ भी नहीं है। चेतन के उद्देश से ुम मोटे हो, इस प्रकार की बातें ज्ञानी नहीं, मूर्ख ही करते हैं। मोटा-पतला शरीर ही होता है, आत्मा नहीं। महाराज, देहाभिमान के साथ उत्पन्न जीव को ही मोटापन, दुबलापन, आधि-व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, आसक्ति, क्रोध, घमंड और शोक होता है। मुझे तो देहाभिमान नहीं है, इसलिए मेरा इन बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुमने जो कहा कि मैं जीते ही मरे के तुल्य हूँ, उसके सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि मैं ही नहीं, जितने विकृत पदार्थ हैं अर्थात् जिनका रूप बदलता है और जिनका आदि और अन्त देख पड़ता है, वे सब जीवनमृत हैं; कुछ निश्चय नहीं कि कब उनका विनाश हो जाय। तुमने कहा कि "तू अपने स्वामी की आज्ञा नहीं मानता", इस विषय में मेरा कहना यह है कि स्वामी और सेवक का भाव या स्वत्व जहाँ अविनश्वर है, वहीं आज्ञा और आज्ञापालन का काम उचित हो सकता है। अगर आज तुम राजा न रहो और मैं राजा हो जाऊँ तो इसके विपरीत भी हो सकता है। अगर कहो कि "राजा होने के समय में तो मैं तुम्हारा स्वामी हूँ" तो यह राजा और सेवक के भेद का अवकाश लौकिक व्यवहार के सिवा और कहीं भी तनिक भी हमें नहीं देख पड़ता। अर्थात् कहने भर को तुम राजा हो, अन्यथा जैसे और सब मनुष्य हैं, वैसे ही तुम भी हो। प्रभु कौन है और प्रभुता क्या है? तथापि यदि तुम्हें यह अभिमान हो तो बताओ, हम तुम्हारी क्या सेवा करें? तुमने यह कहकर कि "ठहर जा, मैं तेरी दवा किये देता हूँ" जो मुझे भय दिखाया सो सब व्यर्थ है। मैं देखने में उन्मत्त, सिड़ी, पागलों के समान अवश्य हूँ, परन्तु वास्तव में अपने यथार्थ रूप को जान लेने के कारण ब्रह्मानन्द में मग्न ब्रह्मस्वरूप हो गया हूँ, अतएव मेरी दवा करना—मुझे शिक्षा या दण्ड देना व्यर्थ है। और अगर तुम मुझे सचमुच जड़ और उन्मत्त समझते हो तो भी मुझे दण्ड या शिक्षा देना पिष्टपेषण के समान व्यर्थ ही है।

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, शान्त प्रकृतिवाले ब्राह्मण इस तरह उस राजा के आक्षेपों का उत्तर देकर फलभोग के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने के विचार से फिर उसी तरह राजा की पालकी ले चले। देहाभिमान का मूल अविद्या ही है। उसको भरतजी दूर कर चुके थे। इसीलिए किसी भी काम में वह कष्ट या अपमान का अनुभव नहीं करते थे। राजा रहूगण अपनी सात्विक श्रद्धा के कारण तत्त्वजिज्ञासा का अधिकारी था और आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए महाज्ञानी कपिलदेव के निकट जा रहा

था। एकाएक भरतजी के मुख से सब योगशास्त्र के ग्रंथों के अनुकूल और इसीसे संशय या देहाभिमान-जननी अविद्या ( अज्ञान ) को दूर करनेवाले ये वाक्य सुनकर वह तुरन्त पालकी से उतर पड़ा। उसका राजा होने का अभिमान दूर हो गया। वह भरतजी के चरणों पर सिर रखकर अपने अपराध को क्षमा कराता हुआ यों कहने लगा—स्वामी, आप यज्ञोपवीत पहने हैं, इसलिए द्विजों में से कौन वर्ण हैं? क्या आप ब्राह्मण हैं? आप दत्तात्रेय आदि परमहंसों में से तो कोई नहीं हैं? आप इस वेष में अपने को छिपाये हुए कोई योगेश्वर अवश्य हैं। आप किसके पुत्र और कहाँ के निवासी हैं? यहाँ आप कैसे विचर रहे हैं? मुझ-जैसे मूर्खों को तत्त्वज्ञान देने के लिए आये हुए भगवान् कपिल मुनि तो आप नहीं हैं? भगवन्, मैं इन्द्र के वज्र से, शिव के शूल से, यमराज के दण्ड से या अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेर के अस्त्रों से नहीं डरता। केवल ब्राह्मण-कुल के अपमान से बहुत डरता हूँ। अतएव कृपाकर बतलाइए कि आप कौन हैं? आप आत्मज्ञानरूप अपनी महिमा को छिपाये और लोकसंग को छोड़े हुए सिद्धियों और जड़ों की तरह विचरते रहते हैं। आपके इन वेदान्त-योग की गुत्थियों से भरे हुए गूढ़ वचनों को अच्छी तरह बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं समझ सकते। मैं मूढ़ कैसे समझ सकता हूँ! इस समय मैं आत्मज्ञानी मुनियों के परमगुरु, हरि के ज्ञानकलावतार योगेश्वर कपिलदेवजी के पास यह जानने की इच्छा से जा रहा था कि इस संसार से उद्धार होने का उपाय क्या है। संसार के लोगों की गति देखने के लिए अपने को इस वेष में छिपाये घूम रहे आप ही तो वह मुनिवर नहीं हैं? मैं गृहस्थाश्रम में अनुरक्त हूँ; तत्त्वज्ञान की दृष्टि के बिना मेरी बुद्धि अंधी हो रही है। मुझ जैसा मनुष्य आपके समान योगेश्वरों की गति को कैसे देख सकता है, आपकी बातों को कैसे समझ सकता है? अब मैं अपने संशय बतलाता हूँ। भगवन्, आप कहते हैं कि मुझे भार उठाने की या चलने की थकावट नहीं है। पर यह बात अभी मेरी समझ में नहीं आई। जो मनुष्य कोई किसी काम को करता है, उसे थकावट या श्रम अवश्य देख पड़ता है। मैं देखता हूँ कि मुझे युद्ध आदि काम करने पर श्रम होता है; इसीसे मैं आपके सम्बन्ध में भी यह अनुमान करता हूँ कि बोझ लादने और चलने से आपको भी परिश्रम होता होगा। आप जो कहते हैं कि यह केवल व्यवहारमात्र है, सत्य नहीं, सो मुझे व्यवहार मिथ्या नहीं जान पड़ता। वह सत्य है, इसीसे उसके द्वारा कार्य की सिद्धि होती है। अगर घड़े को केवल व्यवहारमात्र मिथ्या मान लें तो क्या उसके द्वारा पानी भर लाने का काम कभी सिद्ध हो सकता है? इसलिए व्यवहार का मार्ग प्रामाणिक और सत्य ही प्रतीत होता है। आप कहते हैं कि मोटापन आदि उपाधिधर्म मुझ आत्मा से नहीं सम्बन्ध रखते, शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। इस बात को भी मैं नहीं समझ पाया। ये आत्मा की उपाधि शरीर के धर्म होने पर भी इनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता दिखाई देता है। जैसे आग पर रखने से पात्र तपता है, उसकी आँच से पात्र में रक्खा दूध गर्म होता है। दूध के ताप से उसमें पड़े हुए चावलों



का बाहरी हिस्सा और फिर भीतर का अंश पकता है, वैसे ही पात्र, दूध और चावल की तरह शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन का परस्पर संयोग है और इसी कारण देहधर्म की अनुवृत्ति के द्वारा आत्मा को भी श्रम, शोक आदि का अनुभव होना संभव है। इसे यों समझिए कि धूप में देह के तपने पर इन्द्रियों को ताप होता है, उससे क्रमशः प्राण और मन को कष्ट पहुँचता है। इसी तरह श्रम आदि के विषय में भी समझना चाहिए। आप कहते हैं कि स्वामी और सेवक का भाव ध्रुव नहीं है। इसे मैं भी मानता हूँ। किन्तु फिर भी जब जो आदमी राजा होता है, वही प्रजा का शासन और रक्षा करता है। आप कहते हैं कि अगर मुझे वास्तव में जड़ समझते हो तो मुझे शिक्षा देना पिष्टपेषणमात्र है, निष्फल है। इस विषय में मेरा यह निवेदन है कि जो भगवान् का भक्त है, वह निष्फल कर्म कभी नहीं करता। शिक्षा या दण्ड देकर जड़ की जड़ता भले ही दूर न की जा सके, तथापि लोकशासन राजा का धर्म है। अपने धर्म का पालन ही सबसे बड़ी भगवान् की आराधना है, जिसके करने से अपने सब पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवन्, इस प्रकार संशय होने के कारण आपका कथन मेरी समझ में ठीक नहीं ठहरता। आप कृपा करके मुझ पर स्नेह की दृष्टि रखिए। मैंने राजा होने के अभिमान और मद से आप-जैसे महापुरुष का अपमान किया है, पर आप दीनबन्धु हैं। ऐसा कीजिए कि मैं महात्माओं के निरादर के पाप से मुक्त हो जाऊँ। आप तो सारे जगत् के शुभचिन्तक और मित्र हैं। समदर्शी होने के कारण आपको देहाभिमान छू नहीं गया। मेरे इस अपराध से आपके मन में विकार नहीं उत्पन्न हो सकता, यह मुझे विश्वास है। किन्तु महापुरुषों का अपराध करने से शंकर के समान प्रतापी पुरुष भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

---

# ग्यारहवाँ अध्याय

## भरतजी का राजा को ज्ञानोपदेश

भरतजी ने कहा—महाराज, तुम यथार्थ में विद्वान् न होकर भी सुनने में विद्वानों के-से तर्क करते हो। पर तुम श्रेष्ठ विद्वान् अर्थात् आत्मज्ञानी नहीं हो। कारण, स्वामी-सेवक आदि के लौकिक व्यवहार को तुम सत्य बतलाते हो। तत्त्व का विचार करनेवाले ज्ञानी लोग इसे ठीक नहीं मानते, इसलिए यह व्यवहार वास्तव में मिथ्या ही है। केवल लौकिक कामों का व्यवहार ही नहीं, वैदिक कर्मकाण्ड भी तत्त्व दर्शी की दृष्टि में असत् है। गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञों ( कर्मकाण्ड ) के वर्णन से परिपूर्ण वैदिक वाक्यों में हिंसा और आसक्ति से रहित विशुद्ध तत्त्ववाद अर्थात् आत्मज्ञान का मार्ग अच्छी तरह नहीं प्रकाशित होता, अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड में लगे हुए लोग निष्काम अनासक्त परमहंसों के परमार्थ-फल-मूलक निवृत्ति-मार्ग के सिद्धान्त के तत्त्व को अच्छी तरह नहीं समझ पाते। यह ठीक है कि कर्म कभी ऐसा देखा जाता है कि वेदान्त के जाननेवाले लोग भी कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होते हैं; किन्तु इससे कर्म काण्ड की श्रेष्ठता नहीं सिद्ध होती। जो गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी यज्ञों के फल स्वर्ग आदि को स्वप्न के समा थोड़े ही समय में मिट जानेवाला दृश्य नहीं समझते और उन्हें तुच्छ नहीं समझते, उन्हें वेद की श्रु श्रुतियाँ ( जिनमें ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन किया गया है ) परमार्थ अर्थात् मुक्ति का ज्ञान नहीं करा सकती महाराज, यह मन जब तक रजोगुण, तमोगुण या सतोगुण के वश में रहता है तब तक निरंकुश होने कारण वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा धर्म या अधर्म के कर्म किया ही करता है। वह धर्म-अधर्म

वासना से युक्त मन आत्मा की उपाधि होने के कारण आत्मा है। यह सब विषयों में आसक्त रहता है, इसीलिए माया के गुण इसे इधर-उधर चलायमान करते हैं और इसमें काम-क्रोध आदि विकार उत्पन्न होते हैं। यह सोलह कलाओं ( ५ इन्द्रियों के विषयों और ११ इन्द्रियों ) में मुख्य है। यही जुदे-जुदे नामों से जुदे-जुदे पशु-पक्षी-मनुष्य आदि के रूप या शरीर ग्रहण करता है। उन्हीं देहों के अनुसार जीव उत्तम या अधम माना जाता है। यह मन ही जीव को माया के गुणों द्वारा उसकी उपाधि बनकर संसारचक्र में फँसाता है। यह जीव आत्मा से लिपटा हुआ रहकर समयानुसार प्राप्त अनिवार्य कर्मफल दुःख-सुख, मोह आदि को प्रकट करता है। यह उपाधिरूप मन जब तक रहता है, तभी तक क्षेत्रज्ञ जीव के आगे जाग्रत्-स्वप्नरूप स्थूल-सूक्ष्म व्यवहार प्रकाशित होते रहते हैं। तात्पर्य यह कि उपाधिरूप मन के कारण ही यह संसार या लौकिक व्यवहार जीव में आरोपित देख पड़ता है; वास्तव में जीव केवल द्रष्टामात्र है। इसी कारण ज्ञानी लोग इस मन को देहाभिमान की स्थिति में अवनति या बन्धन का और देहाभिमानरहित स्थिति में उन्नति या मोक्ष का कारण कहते हैं। यह मन देहाभिमान के साथ जब माया के गुणों में लिप्त रहता है, तब जीव के लिए विपत्ति या बन्धन का कारण होता है और जब माया के प्रपंच गुणों से अलग होकर निष्काम बन जाता है, तो कल्याण ( मोक्ष ) का कारण होता है। जैसे जब तक दीपक में घी और बत्ती रहती है, तब तक उसकी ज्योति धुएँ की कालिख से भरी रहती है और जब घी और बत्ती नहीं रहती, तब वह निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मन भी जब गुणमय कर्मों में लिप्त रहता है तब अनेक प्रकार की वृत्तियों को ग्रहण करता है और जब उन कर्मों की आसक्ति को छोड़ देता है, तब तत्त्व अर्थात् ब्रह्म को भजता है। [ अब मन की वृत्तियाँ बतलाते हैं। ] राजन, मन की वृत्तियाँ वास्तव में ग्यारह है; पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक अभिमान या अहंभाव। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ज्ञानेन्द्रियों के और ग्रहण, गति, रति, शिल्प, मलत्याग कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। यह शरीर अहंभाव का विषय है। यह मेरा शरीर है, यह स्वीकार ही अहंभाव है। भोगस्थानरूप से शरीर अहंभाव का विषय है। किसी-किसी का मत है कि विवेकियों के लिए ही यह पुर अर्थात् शरीर ममत्वाभिमान का विषय है, मूढ़ों का नहीं। इसलिए मूढ़ों की अहंकाररूप एक बारहवी वृत्ति भी है। यह शरीर ही शय्या के समान जीव के शयन का स्थान है। उसमें जीव अहंकार के साथ शयन करता है, इसीसे जीवात्मा को पुरुष भी कहते हैं। राजन, ये वृत्तियाँ मुख्य रूप से ११ या १२ होने पर भी इनके अवान्तर भेद अनन्त हैं। ये वृत्तियाँ विषय, स्वभाव, संस्कार, कर्म और काल आदि कारणों से क्रमशः सौ प्रकार की, हजार तरह की और फिर करोड़ों तरह की होती हैं। पर ये वृत्तियाँ न तो क्षेत्रज्ञ जीव से होती हैं; क्योंकि उसमें विकार नहीं होता, और न परस्पर मिलकर होती हैं; क्योंकि इनमें से कोई किसी का आश्रय नहीं हो सकती। ये स्वतः भी नहीं हो सकतीं; क्योंकि ये आत्मा के आश्रित हैं, इसलिए मिथ्या हैं। अथवा इन सब वृत्तियों की सत्ता जीवात्मा की ही सत्ता से मालूम होती है, इसलिए ये सब वृत्तियाँ उसी क्षेत्रज्ञ के द्वारा प्रकाशित होती हैं। [अब मन तत्त्व को किस तरह भजता है, यह वर्णन करते हैं। ] यह जीव की उपाधि मन मायारचित और अविशुद्ध कर्त्ता है। ये पूर्वोक्त सब वृत्तियाँ इसी मन की विभूतियाँ हैं और धारा-प्रवाह के समान कभी रुकती नहीं हैं—इनका प्रवाह नित्य निरन्तर बहा करता है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का साक्षी क्षेत्रज्ञ विशुद्ध आत्मा जाग्रत् और स्वप्नावस्था में इन्हें प्रकट और सुषुप्ति-अवस्था में अप्रकट देखता है। क्षेत्रज्ञ आत्मा दो प्रकार का है, त्वं पदार्थ जीव ( आत्मा ) और तत् पदार्थ ( परमात्मा ) ईश्वर। [जीव का निरूपण कर चुके, अब उसके प्राप्य ईश्वर का निरूपण करते हैं। ] ईश्वर जगत् का कारण, व्यापक, पूर्ण, साक्षात्, स्वयंप्रकाशमान, अजन्मा और ब्रह्मा आदि का भी ईश्वर है। वही नारायण अर्थात् सब

जीवों के रहने का स्थान या आश्रय है, भगवान् अर्थात् ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त और वासुदेव अर्थात् सब तत्त्वों का आश्रय है। वह निजाधीन माया द्वारा आत्मा ( जीव ) में नियन्तारूप से अवस्थित है। वायु जिस प्रकार प्राणरूप से चराचर जीवों के भीतर रहकर उनको अपने अधीन रखता है, उनका संचालन करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ परमात्मा भगवान् वासुदेव इस विश्व के भीतर रहकर उसका संचालन करते हैं। राजन्, देहधारी जीव जब तक ज्ञान का अनुशीलन करके इस माया को नहीं हटाता, निस्संग और जितेन्द्रिय होकर आत्मा के तत्त्व या रूप को नहीं जान पाता, तब तक इस संसार के बीच अनेक योनियों में भटकता फिरता है। जब तक जीव यह नहीं जान लेता कि विषयों में अनुरक्त मन ही अनर्थ का कारण है, तब तक वैराग्य के अभाव से छुटकारा नहीं पाता। बिना यह ज्ञान हुए कि यह मन आत्मा की उपाधि अर्थात् आवरण और संसार के त्रिविध तापों की उत्पत्ति का स्थान है, इस संसार से छुटकारा नहीं हो सकता। रोग, शोक, मोह, लोभ, अनुराग और द्वेष तथा "मैं हूँ, मेरा है" यह ममता इस मन ही के द्वारा उत्पन्न होती है, जिससे संसार के ताप होते हैं। इसलिए हे राजन्, तुम गुरुरूप हरि के चरणों की उपासना का अस्त्र लेकर उपेक्षा ( लापरवाही ) के कारण अत्यन्त प्रबल हो रहे इस भयानक शत्रु मन को सावधानी के साथ नष्ट करो, अर्थात् इसे विषयों से हटाकर हरि के श्रीचरणों में लगाओ। यह मिथ्या होने पर भी आत्मा को माया-प्रपञ्च में डाल देता है।

# बारहवाँ अध्याय

## राजा और ब्राह्मण का सम्वाद

राजा ने कहा—भगवन, आप ईश्वर की तरह केवल लोकरक्षा के लिए शरीर धारण किये हैं। आपको प्रणाम है। आपने परमानन्द में मग्न होकर देहाभिमान को दूर कर दिया है। आपको प्रणाम है। हे योगेश्वर, इस जड़, मलिन ब्राह्मण-वेष में अपने नित्यानुभव अर्थात् ब्रह्मज्ञान को आप छिपाये हुए हैं। आपको प्रणाम है। मिथ्या देहाभिमान के सर्प ने मेरी विवेकदृष्टि को डसकर निकम्मा बना दिया था। ज्वरपीड़ित व्यक्ति के लिए स्वादिष्ट औषध और घाम में तपे हुए मनुष्य के लिए शीतल जल जैसे शान्तिदायक होता है, वैसे ही मेरे लिए आपका यह उपदेश अमृततुल्य औषध है। परन्तु अभी मेरा संशय अच्छी तरह दूर नहीं हुआ, इसलिए मैं फिर आपसे पूछता हूँ। अध्यात्मयोग-ग्रथित यह आपका उपदेश बहुत ही गूढ़ और कठिन है। कृपा करके इसकी ऐसी सरल व्याख्या कर दीजिए कि वह सहज में मेरी समझ में आ जाय। हे योगेश्वर, आपने कहा है कि भार-वहन आदि कर्म और उसका परिश्रम आदि फल प्रत्यक्ष प्रमाण रहने पर भी केवल व्यवहारमात्र है; तत्त्व-दृष्टि से वह असत् है। यह बात अच्छी तरह मेरे मन में नहीं बैठती।

भरतजी बोले—राजन्, यह पृथ्वी का विकार अर्थात् रूपान्तर शरीर किसी कारण से पृथ्वी पर चलते समय भार-वाहक मनुष्य के नाम से प्रसिद्ध होता है। और जो नहीं चलता, अचल है, वह पत्थर आदि है। यही दोनों में भेद है। मतलब यह कि शरीर भी पत्थर आदि की तरह जड़ ही है; उसे श्रम या भार नहीं हो सकता। उस पृथ्वी के विकार शरीर के भी पाँवों के ऊपर गुल्फ, जंघा, जानु, उरू, कमर, छाती, कण्ठ, कंधा आदि अंग हैं। इन अंगों को धारण करनेवाला अवयवी उसमें भी नहीं है। कंधे पर रक्खी हुई लकड़ी की पालकी में और तुम में भी कोई अंगधारी चेतन नहीं है। उस पालकी में भी सौवीर

देश के राजा के नाम से प्रसिद्ध एक पृथ्वी का विकार ही है। इस पृथ्वी के विकार शरीर में ही तुमने 'यह शरीर मेरा है', ऐसा अभिमान बढ़ा रक्खा है और 'मैं सिंधु देश का राजा हूँ,' इस अहंकार से अंधे हो रहे हो। तुमने कहा कि मैं जगत् की रक्षा करता हूँ। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। ये ग़रीब आदमी, जिन्हें तुमने बेगार में पकड़कर पालकी ले चलने के लिए विवश कर रक्खा है, कष्ट पाकर दीन हो रहे हैं; इनकी दशा शोचनीय हो रही है। तुम्हारे मन में दया नहीं है। बड़ों के आगे अपने को जनरक्षक कहना तुम्हें नहीं सोहता। यह केवल तुम्हारी ढिठाई है। हम नित्य देखते हैं कि इस पृथ्वी से ही सब चराचर पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अन्त को इसी में लीन भी हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि यह पृथ्वी ही सब विकारों की जड़ है। तब सिवा नाममात्र के लौकिक व्यवहार का मूलकारण तुम्हीं बताओ, जिसका अनुमान अर्थ और क्रिया के द्वारा किया जा सके। अब वह पृथ्वी भी सत् नहीं है; क्योंकि वह भी अपने कारण जो सूक्ष्म परमाणु हैं, उनमें लय हो जाती है। वे परमाणु भी सत्य नहीं हैं। केवल मन के द्वारा कार्य की सिद्धि न होने के कारण वाद करनेवालों ने परमाणुओं की कल्पना कर ली है। इन परमाणुओं की समष्टि यह पृथ्वी है, यह विचार बुद्धि का अवलंबमात्र है। राजन्, यह सब प्रपञ्च भगवान् की माया का विलास है, इसलिए ये परमाणु भी अविद्या ( अज्ञान ) के कारण मन के द्वारा कल्पित हैं। इसी तरह दुबलापन-मोटापन, छोटा होना, बड़ा होना, कारण-कार्य, चेतन-अचेतन आदि परस्परविरुद्ध धर्म जो जान पड़ते हैं, सो द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामों से उपलक्षित माया के ही काम हैं। अतएव विशुद्ध, एकरूप, परिपूर्ण, अखण्ड, निर्विकार ज्ञान ही परमार्थ और सत्य है। इसी आत्मज्ञान को भगवान् और वासुदेव कहते हैं। हे रहूगण, यह परमज्ञान महापुरुषों की सेवा किये बिना नहीं मिलता। चाहे जितनी तपस्या, यज्ञ आदि वैदिक अनुष्ठान, अन्नदान, गृहस्थधर्म का पालन, परोपकार, वेदाभ्यास तथा जल, अग्नि, सूर्य आदि की उपासना की जाय, उससे इस आत्मज्ञान का लाभ नहीं होता। ज्ञानी भगवद्भक्तों के समाज में सर्वदा भगवान् हरि के गुणों का गान हुआ करता है। ऐसे सज्जन लौकिक विषयों की बातों की चर्चा से दूर रहते हैं। उस भगवान के गुणगान को हर घड़ी सुनते रहने से मोक्ष की इच्छा रखनेवाले मनुष्य का मन भगवान् में लग जाता है। मैं पूर्वजन्म मे भरत नाम का राजा था। संसार के संग को छोड़कर माया के बन्धन से मुक्त होकर, भगवान् की आराधना में लगा हुआ था। कुछ समय के बाद दैवसंयोग से एक मृगबालक के संग में पड़ गया, और उसकी ममता में फँस जाने के कारण मुझे भी मृग का शरीर धारण करना पड़ा। सब किया-कराया मिट्टी हो गया। राजन्, मैंने भगवान् की आराधना की थी, इसलिए योगभ्रष्ट होने पर भी मृग-योनि में भी मुझे पहले जन्म की स्मृति बनी रही। तभी से मैं लोगों के संग को अपने उद्देश्य की सिद्धि में बाधा जानकर सबसे अलग अपने को छिपाये हुए इस तरह घूमता हूँ। यह जीव जब विषयी जनों के कुसंग को छोड़कर सत्संग करता है और सत्संग से मिले हुए सच्चे ज्ञान की तलवार से माया-मोह के बन्धन को काट पाता है, तभी वह इस दुरत्यय संसार-मार्ग को लाँघकर भगवान् हरि को प्राप्त होता है। सत्संग में सदा हरिगुण-कीर्त्तन और श्रवण करने से जीव को पूर्वजन्म की याद बनी रहती है। इस कारण एक जन्म में सिद्धि न होने पर भी उसका परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता; वह फिर दूसरे या तीसरे जन्म में भी उसी मार्ग पर चलकर अवश्य ही मुक्त हो जाता है।



भवाटवी का दृश्य

# तेरहवाँ अध्याय

## भवाटवी-वर्णन

भरतजी ने कहा—राजन्, यह भवाटवी ( संसार-मार्ग ) बहुत ही दुर्गम है। माया जीव को इस राह में डाल देती है। सब जीव इसमें व्यापारियों के यात्री-दल की तरह सुख की इच्छा से भटकते फिरते हैं। वे सात्विक, तामस और राजस कर्मों को करते हैं, पर उन्हें शान्ति नहीं मिलती। इस राह में छः डाकू ( पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन ) बलपूर्वक नासमझ नेता ( विषयासक्त बुद्धि ) वाले इस यात्री-दल को लूट लेते हैं। भेड़िये जैसे असावधान भेंड़ को उठा ले जाते हैं, वैसे ही इस राह में सियार (स्त्री-पुत्र आदि) जीव को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। इस भवाटवी में तृण, लता और झाड़ियों से ढके हुए अति दुर्गम स्थान में डाँस-मच्छड़ आदि काटते हैं। यह जीव कहीं गन्धर्वपुर को देखता है और कहीं अगियाबैताल को देखकर उसकी चमक पर मोहित होकर उसे पकड़ना चाहता है *। इस भवाटवी में रहने के स्थान, जल, धन आदि को अपना समझकर जीव उनके लिए इधर-उधर दौड़ता है। कहीं तीव्र आँधी चलने से बहुत धूल उड़ती है। वह धूल आँखों में भर जाने से जीव को राह नहीं देख पड़ती ; कौन दिशा किधर है, यह भी नहीं मालूम होता। कहीं असंख्य अदृश्य झींगुरों की झनकार कानों में शूल-सी लगती है ; कहीं उल्लू पक्षी की कठोर वाणी मन को व्यथा पहुँचाती है। भूख लगने पर यह जीव उन वृक्षों के नीचे फल की आशा से जाता है, जिनकी छाया भी अपवित्र है। कभी प्यास लगने पर यह मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता है। कभी यह सूखी नदी के किनारे दौड़कर जाता है। वहाँ जल तो नहीं मिलता, पर गिरने से अंग-भंग अवश्य हो जाता है। ये जीव भूख के मारे एक दूसरे से भोजन माँगते हैं, पर मिलता नहीं। यह जीव कभी दावानल के पास पहुँचकर उसके ताप से पीड़ित होता है; कभी यक्ष उसके प्राणों के समान प्यारे धन को छीन लेते हैं, और वह हाय-हाय करता है। कहीं शूर और बली लोग उसका सर्वस्व हर लेते हैं। तब वह शोक, निर्वेद और मोह के मारे अचेत हो जाता है। कभी गन्धर्वपुर के भीतर जाकर घड़ी भर के लिए अपने को सुखी और कृतार्थ मानकर आमोद-प्रमोद करने लगता है। कभी पहाड़ पर चढ़ना चाहता है, पर पैर में काँटे या कंकड़ के गड़ जाने से चढ़ या बढ़ नहीं सकता और मनोरथ पूरा न होने से उदास-सा हो जाता है। पग-पग पर पेट की आग से जलकर कुटुंबवाला जीव और लोगों पर क्रोध करता है। कहीं पर अजगर साँप इसे निगल लेता है और मुर्दे की तरह वन में पड़ा यह कुछ भी नहीं जानता कि क्या होता है। बिच्छू आदि काटनेवाले जीव उसे काटते हैं। कहीं पर यह अंधा जीव अंधकूप में गिरकर अंधकार में पड़ा रहता है। कभी क्षुद्ररस ( शहद ) आदि की खोज में घूमता है। अगर उसके पास पहुँच भी गया तो उसकी मक्खियाँ इसे काटती और वहाँ से दूर भगा देती हैं; तब इसे बड़ी व्यथा होती है। अगर वहाँ बड़े कष्ट से वह क्षुद्ररस मिल भी गया तो और बलवान् लोग बलपूर्वक उसे इससे छीन लेते हैं। कभी यह जीव जाड़े, गर्मी, वर्षा, आँधी आदि से मिलनेवाले कष्ट को दूर नहीं कर पाता और विवश व शिथिल हो रहता है, सब सहता है। कभी यह जीव औरों से क्रय-विक्रय ( चीज़ों को खरीदना-बेचना ) करता है और उसमें ठगविद्या से काम लेने के कारण औरों के साथ इसकी शत्रुता हो जाती है। कभी धन पास न रहने के कारण यह पलंग, अच्छे आसन, निवास-स्थान और विहार की सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता और तब औरों से माँगता है। जब इसकी वांछित वस्तुएँ नहीं मिलतीं, तब औरों

* इस भवाटवी के रूपक का खुलासा अगले अध्याय में किया गया है, इसलिए यहाँ नहीं किया जाता।

की चीज़ों पर लोभ रखने के कारण उनके द्वारा अपमानित होता है। परस्पर धन के लेनदेन के कारण यह सबसे शत्रुता बढ़ा लेता है। फिर भी लोगों से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार यह जीव भटाटवी में अत्यन्त कष्ट, धनाभाव, द्वेष आदि बाधाओं से मर जाता है। ऐसे मरे हुए जीवों को वहीं छोड़कर अन्य नये आये हुए जीवों को साथ लेता हुआ यह जीवों का यात्री-दल उसी भवाटवी में अब तक घूम रहा है। हे वीर, इनमें से कोई भी जीव इस भवाटवी के पार पहुँचने का उपाय नहीं जान पाता। बड़े-बड़े शूर-वीर जिन्होंने अपने पराक्रम से दिग्गजेंद्रों अर्थात् सारी पृथ्वी को जीत लिया, वे भी "यह पृथ्वी मेरी ही है" इस भावना के कारण परस्पर वैर बढ़ाकर युद्धभूमि में सदा के लिए सो रहे। वे उस विष्णुपद को नहीं जा सकते, जहाँ किसी से वैर न रखनेवाले परमहंस संन्यासी जाते हैं। राजन्, इस भवाटवी में कहीं यह जीव पक्षियों की मधुर वाणी सुनने की इच्छा से लताओं की शाखाओं से लिपटता है। कभी सिंहों के झुंड से डरकर यह बगले, कंक (एक पक्षी) और गिद्ध आदि के साथ मित्रता जोड़ता है। पर जब उनके साथ में कुछ स्वार्थ सिद्ध होता नहीं देख पड़ता, वे धोखा ही देते हैं, तब यह हंसों के पास जाता है। किन्तु उनके आचार-विचार इसे नहीं रुचते और यह वानरों के दल में जा मिलता है। उन वानरों की क्रीड़ा में इसे बहुत इन्द्रिय-सुख मिलता है। परस्पर एक दूसरे का मुख देखने में (शिश्नोदरपरायणता में) यह ऐसा मग्न हो जाता है कि इसे मृत्युकाल तक की याद नहीं रहती। पुत्र-स्त्री आदि पर स्नेह रखनेवाला, संभोगेच्छा के वशीभूत यह जीव उन वानरों के साथ पेड़ों पर ही रम जाता है। यह ऐसे बन्धन में बँध जाता है कि उससे अपने को छुड़ा नहीं सकता। कभी असावधानी के कारण किसी पहाड़ की गहरी खोह में गिरने लगता है तो उसके भीतर रहनेवाले मस्त हाथी के भय से अपने बचाव के लिए भीतर की किसी लता को पकड़कर लटक जाता है। किसी तरह इस आपत्ति से छुटकारा मिल गया तो फिर अपने दल में जाकर मिल जाता है। माया के द्वारा इस मार्ग में डाला गया यह जीव बराबर भटक रहा है और कोई भी जीव इसके रहस्य को अब तक नहीं जान सका। राजन्, तुम भी माया के फेर में पड़कर इस भवाटवी में भटक रहे हो। तुम भी राज्य छोड़कर, सब प्राणियों के मित्र बनकर, विषयों में आसक्ति न रखकर तीक्ष्ण ज्ञान का खड्ग हाथ में लेकर उससे माया के बन्धन को काट डालो और हरि की सेवा के द्वारा इस संसार-मार्ग के पार पहुँच जाओ।

राजा ने कहा—अहो, यह नरजन्म ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें आपके समान महात्मा परमहंसों का सत्संग प्राप्त होता है। अन्य देवयोनि आदि योनियाँ किस काम की, जिनमें हरिगुणगान के द्वारा आत्मा को विशुद्ध बनानेवाले महात्मा लोगों का संग नहीं प्राप्त होता! आपके चरणकमलरज के स्पर्श से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उनकी अगर भगवान् में विशुद्ध निष्काम भक्ति हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दो घड़ी आपका संग होने से ही मेरा सारा अविवेक (अज्ञान) दूर हो गया। यद्यपि कुतर्क ने उसकी जड़ जमा रक्खी थी, तथापि वह ठहर न सका। मैं महात्मा पुरुषों को प्रणाम करता हूँ। बालक, जवान और बिलकुल खेलकूद में लगे हुए बच्चे देख पड़नेवाले, सबको नमस्कार है। कारण, यह कोई नहीं जान सकता कि ऐसे ज्ञानी महात्मा कब, कहाँ, किस रूप में रहते हैं। जो ब्राह्मण अवधूत-वेष से पृथ्वी पर विचरते हैं, उन्हें मेरा प्रणाम है। उन ब्राह्मणों की कृपा से राजों का कल्याण हो।

हे परीक्षित्, ब्रह्मर्षितनय महात्मा ने कृपा करके अपना अपमान करने पर भी राजा रहूगण को आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया। महात्मा लोग ऐसे ही होते हैं। राजा के प्रणाम करने पर भरतजी वहाँ से चल दिये। जैसे परिपूर्ण सागर स्थिर गंभीर होता है, वैसे ही शान्त भाव से वह फिर इस पृथ्वी पर घूमने लगे। राजा रहूगण ने भी भरतजी के उपदेश से आत्मा के रूप और तत्त्व को अच्छी तरह जानकर उसी समय

अज्ञान या माया के कारण देह को ही आत्मा मानने की कुमति अथवा देहाभिमान को अपने मन से मिटा दिया। हे परीक्षित्, हरिभक्तों के संग का प्रभाव ऐसा ही होता है।

राजा परीक्षित् ने कहा—मुनिवर, आप सर्वज्ञ है। आपने जीवों के भवाटवी-भ्रमण का यह रूपक बहुत सुन्दर वर्णन किया। किन्तु इसके अर्थ को विवेकी ज्ञानी पुरुष ही अच्छी तरह समझ सकते हैं, साधारण पुरुष नहीं। कृपा करके आप इसको सहज रूप में बतलाइए, जिससे सबकी समझ मे आ जाय।

# चौदहवाँ अध्याय

## भवाटवी की व्याख्या

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्, यह जीवों का समूह धन कमाने में लगे हुए व्यापारियों के दल की तरह भगवान् की माया के वश संसार के दुस्तर मार्ग में आ फँसता है, उसी में चक्कर काटा करता है और भवताप को मिटानेवाले भगवद्भक्तों के भक्ति-मार्ग को नहीं पाता। देहाभिमान रखनेवाले जीवों के सात्विक, राजस, तामस (पुण्य और पाप) कर्म ही उनके विविध योनियों (शरीरों) में जाने का कारण हैं। वे शरीर कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं। उन शरीरों के मिलने और छूटने ही का नाम संसार-चक्र है। उस अनादि संसार के अनुभव का द्वार छः इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और छठा मन) हैं। वे ही कर्म में प्रवृत्त करती हैं, जिन कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त कर जीव कर्मफल भोगता है। वे कर्म कभी सफल होते हैं और कभी विघ्न-बाधाओं के कारण विफल हो जाते हैं। यह भवाटवी मसान की तरह अमंगल का घर है। उसमें अनेक कष्ट हैं, जिनको भगवान् की भक्ति ही दूर कर सकती है। राजन्, पहले कह चुके हैं कि इस राह में छः ठग हैं। वे ठग छः इन्द्रियाँ हैं। वे ठगों की तरह जीव को कुमार्ग में ले जाकर लूट लेती हैं। यह जीव संसार में बड़े कष्ट से परलोक के लिए जो भगवान् की आराधनारूप धर्म का धन जोड़ता है, उसे इसके तनिक भी असावधान होने पर ये इंद्रियाँ दर्शन, स्पर्श, श्रवण, स्वाद, सूँघना, संकल्प और व्यवसाय आदि विषयोपभोग के कामों से लूट लेती हैं अर्थात् नष्ट कर देती हैं। इसका खुलासा यह है कि अज्ञानी जीव, जिसने मन और इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाया है और जो घर में आसक्त होकर विषय-भोग में ही लगा रहता है, इसी संसार में भटकता है और इसका पूर्वार्जित धर्म-धन लुट जाता है। स्त्री, पुत्र आदि परिवार के लोग ही सियार और भेंड़िये हैं। यह अत्यन्त लोभी कुटुंबी जीव भेंड़ के बच्चे के समान संपत्ति की रक्षा किया करता है; पर इसकी इच्छा न रहने पर भी इसके सामने ही ये उस संपत्ति को ले लेते हैं। जिस तरह हर साल खेत जोता जाता है, साफ़ किया जाता है, पर पहले से पड़े हुए बीज न नष्ट होने के कारण बोते के समय उसमें फिर घास-फूस जम जाता है और वह दुर्गम हो जाता है, उसी तरह कर्मों का क्षेत्र यह गृहस्थाश्रम भी है। इसमें भी सब कर्म-बीज नष्ट नहीं हो पाते। यह आश्रम सकाम कर्मों के लिए ही बना है। कपूर की डिबिया में कपूर न रहने पर भी जैसे उसकी गन्ध बसी रहती, वैसे ही देखने में कर्मों का अस्तित्व न रहने पर भी वासनाओं का क्षय नहीं होता, जिससे फिर कर्मों की उत्पत्ति होती है। इस गृहस्थाश्रम के गढ़े में गिरने पर जीव के बाहरी प्राण अर्थात् धन को डाँस और मच्छड़ों के समान नीच प्रकृति के लोग और टीड़ी, मूसा, तोते आदि के समान चोर लोग ले लेते और सताते हैं। फिर भी यह जीव उस रास्ते को नहीं छोड़ता। अविद्या में मन आसक्त होने के कारण ज्ञान-

दृष्टि निकम्मी हो जाने से यह जीव कामना और कर्मों में फँसा रहता है और इस गन्धर्वनगर के समान असत् अर्थात् विनाशशील मनुष्यलोक को सत्य मान लेता है। कभी यह जीव खाना-पीना, स्त्री-संग आदि मृगमरीचिकातुल्य तुच्छ विषयों की ओर लालसा से दौड़ता है। जैसे जाड़े का सताया हुआ आदमी अग्नि पाने की इच्छा से वन में आग के समान जल रहे अगियाबैताल के प्रकाश को देखकर उसके पीछे दौड़ता है, वैसे ही यह जीव सोना पाने की कामना से इधर-उधर भटकता है। यह सुवर्ण अग्नि का मल और सब दोषों की खान है। सुवर्ण के समान जिसका लाल रंग है, वह रजोगुण ही उसके मन में सुवर्ण का लोभ उत्पन्न करता है। जैसे अगियाबैताल एक तो हाथ आता ही नहीं और अगर आदमी उसके पास पहुँच भी गया तो वह उसे मार डालता है, वैसे ही एक तो सोना मिलता ही नहीं और अगर मिल भी गया तो वह मनुष्य के नाश का कारण बन जाता है। रहने का स्थान, अन्न-जल, धन आदि ही मनुष्य के जीवन के साधन हैं। मनुष्य इनके लिए इस भवाटवी में इधर-उधर दौड़ता है। महाराज, स्त्रियाँ ही इस भवाटवी में घोर आँधी है। उनकी गोद में बैठने पर रज ( रजोगुण और धूल ) से उसकी आँखें ( ज्ञान ) मुँद जाती हैं। उस दशा में वह साधुओं की मर्यादा का उल्लंघन कर बैठता है—उसे इस बात का विचार ही नहीं रहता कि इस मर्यादा-भंग पाप के साक्षी सूर्य-चंद्र हैं। वह सोचता है, मेरे इस एकान्त के काम को कोई नहीं देखता। संसार के विषय-भोग मिथ्या हैं, ऐसा विचार कभी एक बार मन में आता भी है तो देहाभिमान के कारण वह विवेक नष्ट हो जाता है और यह जीव फिर मृगमरीचिका के समान उन्हीं असत् विषयों की ओर दौड़ता है। कभी प्रत्यक्ष या परोक्ष में इस जीव को, बुरे कामों में लगे रहने के कारण, शत्रुओं की या राजकर्मचारियों की कड़ी डाँट और कड़वी बातें सुननी पड़ती है। वही अदृश्य मेढकों की टरटर है, जो शूल के समान कानों में लगती और व्यथा पहुँचाती है। संसार में पूर्वजन्म के पुण्य फलभोग के द्वारा क्षीण हो जाने पर यह जीव विषतिन्दुक आदि जहरीले फलोंवाले वृक्षों, लताओं और विषैली वायु से परिपूर्ण अन्धकूप के समान दृष्टादृष्ट प्रयोजन से शून्य धन को अपने जीवन का साधन बनाकर मृतप्राय हो जाता है और अपवित्र वृक्षों के समान असाधु जनों का आश्रय लेता है। कभी दुष्टजनों के संग से जीव की बुद्धि वंचित या भ्रष्ट हो जाती है। सूखी नदी के भीतर गिरने से जिस प्रकार सिर फूटता है, अंगभंग हो जाता है, जिससे उसकी वेदना पीछे भी बहुत समय तक बनी रहती है, उसी प्रकार असत्संग से बुद्धि भ्रष्ट होने पर जब जीव पाखण्डपूर्ण धर्मरूप अधर्म का आश्रय लेता है, तब उसके दोनों लोक बिगड़ जाते है और दुःख ही हाथ लगता है। पहले अध्याय मे कहा है कि आहार न मिलने से ये जीव परस्पर एक दूसरे से अन्न माँगते हैं। इसका भावार्थ यह है कि संसार में यह जीव जब भूखा-प्यासा होता है और दूसरों को सताने पर भी आहार नहीं पाता, तब पिता या पुत्र आदि का एक तिनका भी जिनके पास देखता है, उनसे उसे लेने के लिए लड़ता-झगड़ता है। दावानल के पास जाकर अग्नितप से झुलसने और दुःखी होने का भाव यह है कि यह गृहस्थाश्रम ही दावानल के समान जलानेवाला है। इसमे प्रिय वस्तु न मिलने से जीव को सन्ताप और दुःख होता है। इस आश्रम में जीव शोक की आग मे हर घड़ी जला करता और बार-बार निर्वेद को प्राप्त होता है। पहले कहा जा चुका है कि कभी यक्ष लोग इस जीव के प्राणप्रिय धन को छीन लेते हैं। इसका भाव यह है कि कभी यक्ष के समान प्रबल राजा लोग इस पर क्रोध करते है और विरुद्ध होकर दण्ड आदि के द्वारा जीव के धन को हर लेते हैं, तब जीव प्रसन्नता आदि जीवन के लक्षणों से रहित होकर मुर्दा-सा हो रहता है। गन्धर्वपुर में प्रवेश करके सुख की भावना से दो-चार घड़ी आमोद-प्रमोद करने का भाव यह है कि यह जीव मनोरथ से प्राप्त पिता-पितामह आदि के क्षणभंगुर संग को सत्य मानकर उस सपने के-से सुख में मग्न हो जाता है और परम आनन्द का अनुभव करता है। गृहस्थाश्रम का

कर्मकाण्ड अनन्त है। वह एक ऊँचे और बीहड़ पहाड़ के समान दुर्गम है। यह जीव उस पहाड़ पर चढ़कर जब उसके पार जाना चाहता है, उस कर्मकाण्ड की ओर चलता है, तब जैसे कोई मनुष्य कँकरीले और काँटों से भरे स्थानों में जाकर पग-पग पर कंकड़ और काँटे गड़ने से पीड़ित होता है, वैसे ही यह जीव काँटों के समान कष्टदायक सांसारिक विपत्तियों में पड़कर पीड़ित होता है। पग-पग पर भीतरी आग से जलने का भाव यह है कि बड़े कुटुम्बवाला यह जीव पेट भर खाने-पीने को न मिलने के कारण भूख की आग से जलता है, इसका धैर्य जाता रहता है और यह अपने ही परिवार पर क्रोध दिखाता है। अजगर के पेट में जाने का भाव यह है कि कभी जब इसे नींद का अजगर निगल लेता है, तब यह जीव घोर अन्धकार अर्थात् अचेतन अवस्था में पड़ा रहता है। जैसे सूने जंगल में कोई मुर्दा पड़ा हो, वैसे ही यह बेहोश पड़ा रहता है। साँपों के काटने और अन्धकूप में गिरने का भाव यह है कि इस संसार में कभी-कभी इसकी घमंड की दाढ़ टूट जाती है, जिससे क्षण भर भी इसे चैन की नींद नहीं आती। दुर्जनरूप साँप इसे काटते हैं। हृदय की व्यथा से इसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है और यह अंधे की तरह माया-मोह के अन्धकूप में गिर पड़ता है। कभी यह जीव क्षुद्र विषयों को अपने उपभोग के लिए खोजता हुआ पराई स्त्री और पराई सम्पत्ति लेना चाहता है। तब उन ( स्त्री और सम्पत्ति ) के स्वामी इसे मार डालते हैं या राजा इसे मृत्युदण्ड देता है और यह मरकर तुरन्त ही नरक को जाता है। ज्ञानी विद्वानों का कहना है कि इस लोक और परलोक में भी इस प्रवृत्तिमार्ग में चलनेवाले का किया हुआ कर्म ही संसार अर्थात् बारम्बार जन्म-मरण का कारण है। काम के वशीभूत यह जीव अगर किसी तरह वध या बन्धन से छुटकारा पा गया—पराया धन या पराई स्त्री बिना किसी विघ्न-बाधा के इसके हाथ लग गई, तो भी यह उनका उपभोग नहीं कर पाता। अधिक बलवान् लोग इससे छीन लेते हैं। फिर उनसे भी जो अधिक बली होते हैं, वे उनसे छीन लेते हैं। राजन, इस संसार में यह जीव जाड़ा, गर्मी, वर्षा, रोग आदि अनेक आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तापों या दुःखों की निवृत्ति का कोई उपाय न कर पाने के कारण दुरन्त चिन्ता में पड़कर बहुत ही उदास हो जाता है। कभी परस्पर के व्यवहार में दूसरों की दमड़ी भी अगर यह धोखा देकर ठग लेता है तो उसके कारण औरों से इसका वैर बढ़ता है। इस भवाटवी में घोर कष्ट, धन की छीनाझपटी, सुख, दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, अपमान, भूख, प्यास, आधि, व्याधि, जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि अनेकानेक दुःखदायक बाधाएँ हैं। इस संसार में यह स्त्री ही ईश्वर की माया का प्रत्यक्ष रूप है। जब स्त्री इस पुरुष को अपने बाहुपाश में बाँध लेती है, तब इसका ज्ञान और विवेक धीरे-धीरे इसका साथ छोड़ने लगता है। यह जीव उस स्त्री के साथ विहार करने के लिए क्रीड़ा-भवन ( गृहस्थाश्रम ) को सजाने के लिए आकुल हो उठता है। फिर उस स्त्री से लड़के-लड़की पैदा होते हैं। उनकी तोतली बोली, भोली चितवन और खेल-कूद देख-सुनकर यह जीव मोह में पड़ जाता है। इन्द्रियाँ इसके वश में नहीं होतीं, इसलिए वे इसे घसीटकर अपार अन्धकार में गिरा देती हैं। भगवान् विष्णु का चक्र यह काल सिंह के समान प्राण हरनेवाला है। परमाणु से लेकर ब्रह्मा की आयु के दो परार्द्ध तक का समय इस कालचक्र का स्वरूप है। यह सर्वदा तेज़ी के साथ घूमता रहता है। दिन-रात और लड़कपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाएँ ही इसका वेग हैं। यह अपने वेग से ब्रह्मा से लेकर तृण तक का विनाश करता है। यह काल अपने काम में सदा सावधान रहता है। सब देहधारी इसके कार्य को देखते रहते है, पर उसका कुछ प्रतिकार नहीं कर पाते। यह जीव उससे डरकर, मूर्खतावश कालचक्रधारी भगवान् यज्ञपुरुष विष्णु का अनादर करके अर्थात् उनकी शरण में न जाकर, अपनी रक्षा के लिए कंक, गिद्ध और बगलों के समान जो आर्यशास्त्रविमुख, आचारभ्रष्ट, पाखण्ड-

पथ के देवता हैं, उनका सहारा लेता है। स्वयं स्वार्थ से वञ्चित वे पाखण्डी जब इस जीव को अधिकाधिक वंचित करते हैं, तब यह उन बगलों के बीच से निकलकर हंसों के समान ब्राह्मणों के पास जाता है। उनके पास जाकर रहता तो है, पर उन ब्राह्मणों के आचार-विचार तथा व्यवहार इसे पसंद नहीं आते। ब्राह्मण लोग श्रुति-स्मृतिसम्मत कर्मों से भगवान् विष्णु की आराधना-उपासना करते हैं। पर वह इसे रुचती नहीं। तब यह जीव वानरों के समान आचार-भ्रष्ट शूद्रों का संग करता है। स्वयं अशुद्ध रहने के कारण शूद्रों के समान ही वैदिक आचार-अनुष्ठान का यह अधिकारी नहीं रह जाता; यह भी शूद्रतुल्य ही हो जाता है। शूद्रों को अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं है, वे वानरों के समान केवल स्त्री-संग और कुटुम्बपालन में ही लगे रहते हैं। शूद्रतुल्य हो जाने पर आचार-विचार का कोई प्रतिबन्ध ( रोकटोक ) न रह जाने के कारण यह जीव इच्छानुसार आहार-विहार करता है। अति मन्दमति होने के कारण यह जीव अपने ही समान और लोगों का मुँह ताकता है और वे इसका मुँह ताकते हैं। यह सांसारिक विषयों में इतना लिप्त हो जाता है कि इसे मृत्युकाल की अवधि भी भूल जाती है। कभी वृक्षों के समान इस लोक के फल ( सुख ) देनेवाले गृहस्थाश्रम में बंदर की तरह विहार करता है। बंदर की तरह स्त्री-पुत्र आदि की ममता में डूब जाता है और स्त्री-संग को ही सबसे बड़ा सुख मान लेता है। इस प्रकार भवाटवी में भटकता और सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीव कभी मृत्युरूप मस्त हाथी के भय से गिरिकंदरा के समान रोग आदि आपत्तियों में जा गिरता है। कभी जाड़ा, गर्मी आदि अनेक आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक दुःखों को रोकने में असमर्थ होकर क्लेश पाता है। विषय-भोग की लालसा कभी मिटती नहीं। ऐसी दशा में इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण यह विषयों का उपभोग नहीं कर पाता और इसीसे इसे विषाद होता है। कभी परस्पर के व्यवहार में बेईमानी करके कुछ धन जोड़ लेता है। कभी जब इसका धन खर्च हो जाता है, तब शय्या, आसन आदि भोगविलास की सामग्री से यह वंचित रहता है। इस दशा में यह चाहे जिस तरह हो, उस उपभोग की सामग्री को प्राप्त करना चाहता है। फल यह होता है कि उस सामग्री के लिए इसे चारों ओर अपमान सहना पड़ता है। विषय-भोग और उसके साधनस्वरूप धन में आसक्ति होने के कारण औरों के साथ इसका वैर-विरोध बढ़ता ही रहता है। फिर भी यह पहले की वासना मन से दूर नहीं कर पाता और यह औरों के साथ बेईमानी करके कभी वांछित सामग्री को प्राप्त करता और कभी खो देता है।

महाराज, इस तरह इस संसार की राह में जो जीव क्लेश और बाधाओं से आपत्ति में पड़ता या मर जाता है, उसे उसी जगह छोड़कर और जो नये जीव जन्म लेते हैं, उन्हें अपने साथ लेकर यह जीवों का यात्री-दल आगे बढ़ता है। इस राह में भटक रहे जीव कभी शोक, कभी मोह और कभी भय को प्राप्त होते हैं। वे परस्पर झगड़ते, चीखते-चिल्लाते और कभी प्रसन्नता से गाते-बजाते हैं। संसार के बन्धन में जकड़े हुए जीवों को ज्ञानी साधु पुरुषों की कृपा के बिना इस दुर्गम मार्ग के उस पार जाना नसीब नहीं होता। आत्मज्ञानी लोग सदैव अज्ञानी जीवों को भवाटवी से निकालने का सदुपदेश देते हैं। राजन्, कोरे योगाभ्यास से भी यह भवाटवी में भटकना नहीं दूर होता। शान्तशील, देहाभिमानहीन, ब्रह्मलीन, परमहंस ज्ञानी लोग ही भगवद्भक्ति के द्वारा इस मार्ग से निकल जाते हैं, इसमें नहीं भटकते। बड़े-बड़े चक्रवर्ती पराक्रमी राजा भी इस मार्ग के उस पार नहीं जा सकते। इस पृथ्वी पर "यह मेरी है" इस असत् आग्रह के कारण परस्पर लड़-भिड़कर वैर-विरोध बढ़ाकर रणभूमि में मरकर सो रहे। यह पृथ्वी यहीं पड़ी रही और वे आप ही काल के गाल में समा गये।

राजन्, कोई जीव कर्मसूत्र को पकड़कर अगर नरकरूप अन्धकूप में गिरने से बच भी गया तो

फिर संसार में आकर भटकने लगता है। इसी तरह अगर कोई किसी पुण्य-कर्म से स्वर्ग को चला गया तो वह भी भोग के द्वारा पुण्य का क्षय होने पर फिर इसी मनुष्यलोक में जन्म लेता और भटकता है। महाराज, यहाँ पर मैं आपको परमहंस राजर्षि भरत की कुछ प्रशंसा सुनाता हूँ। उनके विषय में लोग कहते हैं कि ऋषभदेव के पुत्र महात्मा राजर्षि भरत के मार्ग पर और कोई नहीं चल सकता, जैसे गरुड़ की गति जहाँ है, वहाँ मक्खी नहीं जा सकती। भरतजी ने जवानी में ही पुत्र, स्त्री, राज्य, मित्र आदि प्राणप्रिय दुस्त्यज वस्तुओं को मल के समान त्याग दिया और हरि भगवान् में मन लगाया। उनकी बराबरी कौन कर सकता है? देवता भी जिसे चाहते हैं, वह लक्ष्मी भरतजी के कृपाकटाक्ष की कामना करती थी। पर उन्होंने उस लक्ष्मी के साथ ही राज्य, पुत्र, स्त्री, धन, जन आदि को भी छोड़ दिया, जिन्हें लोग किसी तरह नहीं छोड़ पाते। पर यह उनके लिए कोई आश्चर्य की बात न थी। जो महापुरुष भगवान् के चरणों में मन लगा चुके हैं, वे तो परम पुरुषार्थ कही जानेवाली मुक्ति को भी नहीं चाहते। भरतजी ने ब्रह्मलीन होते समय ऊँचे स्वर से "भगवान् यज्ञरूप, यज्ञ का फल देनेवाले, धर्म के अनुष्ठाता, अष्टांगयोगरूप, ज्ञानरूप, माया के नियन्ता और सब जीवों के संचालक अर्थात् वेद के ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और देवताकाण्ड के द्वारा प्रतिपादित हरि को प्रणाम है" ये वाक्य कहकर हँसते-हँसते मृग-शरीर को भी छोड़ा था। उनकी बराबरी कौन कर सकता है? राजन्, भरतजी का यह चरित्र परम-पवित्र है। उनके गुण और कर्म परमपवित्र हैं, जिनकी प्रशंसा सभी साधुजन करते हैं। यह चरित्र मंगलमय, आयु को बढ़ानेवाला, यश देनेवाला और स्वर्ग तथा मोक्ष के मिलने का उपाय है। जो लोग श्रद्धा-भक्ति के साथ इसे पढ़ते, सुनते और इसकी प्रशंसा करते हैं, उसे अपनी आत्मा से ही सब कल्याण प्राप्त होते हैं; और किसी से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## भरत-वंश का वर्णन

श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज, राजर्षि भरत के पुत्र सुमति हुए। यह अपने पितामह ऋषभदेवजी के जीवन्मुक्त मार्ग पर चले। यह देखकर कुछ अनार्य पाखंडी लोग कलियुग में अपनी पापबुद्धि के द्वारा उन्हें वेदों में अस्वीकृत देवता अर्थात् बुद्धावतार मान लेंगे। सुमति के वृद्धसेना रानी में देवताजित् नाम का पुत्र हुआ। उनके आसुरी नाम की रानी में देवद्युम्न नाम का पुत्र हुआ। देवद्युम्न के धेनुमती नाम की रानी में परमेष्ठी नाम का पुत्र हुआ। परमेष्ठी के सुवर्चला नाम की रानी में प्रतीह नाम का पुत्र हुआ। प्रतीह बड़े महात्मा हुए। अनेक लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देकर क्रमशः शुद्ध होकर उन्होंने परमात्मा का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया। प्रतीह की रानी का नाम सुवर्चला था। उसमें उनके प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नाम के तीन पुत्र हुए। ये तीनों यज्ञविधि में निपुण थे। प्रतिहर्ता के स्तुति नाम की पत्नी के गर्भ से अज और भूमा नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। भूमा की पत्नी का नाम ऋषिकुल्या था। उसके गर्भ से उनके उद्गीथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उद्गीथ के देवकुल्या रानी के गर्भ से प्रस्ताव नाम का पुत्र हुआ। प्रस्ताव के नियुत्सा रानी के गर्भ से विभु और विभु के रतिरानी के गर्भ से पृथुसेन नाम का पुत्र हुआ। पृथुसेन की स्त्री का नाम आकूति था। उसके गर्भ से उनके नक्त नाम का पुत्र हुआ। नक्त के द्रुति नाम की रानी के गर्भ से प्रतापी महाराज गय ने जन्म लिया। यह महायशस्वी महाराज जगत् की रक्षा के

लिए अवतार लेनेवाले भगवान् विष्णु की कला माने गये और आत्मज्ञान आदि लक्षणों से महापुरुष कहलाये। राज्याभिषेक के उपरान्त महाराज गय क्षत्रियों का धर्म जो प्रजा का पालन-पोषण, शासन और उसे प्रसन्न रखना आदि है, उसका पालन करते हुए गृहस्थों का धर्म जो याग, यज्ञ आदि है, उसका भी अनुष्ठान करते थे। पर इन दोनों प्रकार के कर्त्तव्य कर्मों को मन-वाणी-काया से ईश्वरार्पण कर देते थे। इसी कारण वह प्रवृत्तिमार्ग में चलने पर भी निवृत्तिमार्ग के ही अनुयायी थे। आत्मज्ञान, निष्काम कर्म के अनुष्ठान और ब्रह्मज्ञानी लोगों की चरण-सेवा से मिलनेवाली भगवद्भक्ति के द्वारा परिमार्जित होते-होते महाराज गय की बुद्धि विशुद्ध हो गई। उनके मन से देहाभिमान दूर हो गया। वह सर्वदा अपने में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगे; क्योंकि वह अपने को ब्रह्म का ही रूप समझते थे। उन्होंने जीवन भर अभिमानरहित रहकर पृथ्वीमण्डल का पालन किया। इतिहास के जाननेवाले लोग इस प्रकार उनकी कीर्ति की गाथा गाते हैं—महाराज गय के-से काम कौन कर सकता है? वह भगवान् की कला थे, इसी कारण उनके काम भी असाधारण थे। उन्होंने अनेक यज्ञ किये। वह मनस्वी थे अथवा सभी उनका सम्मान करते थे। वह बहुत-सी बातें जानते थे, धर्म के रक्षक, लक्ष्मी के प्रेम-पात्र, सज्जनों की मण्डली के मुखिया और सज्जनों के सेवक थे। श्रद्धा, मैत्री, दया आदि दक्ष प्रजापति की कन्याओं के आशीर्वाद मिथ्या नहीं होते। उन्होंने ही गंगा, सरस्वती आदि नदियों के साथ महाराज गय का राज्याभिषेक किया था। गय को किसी वस्तु की कामना नहीं थी। पर उनके गुणों से सन्तुष्ट होकर यह पृथ्वी कामधेनु के समान प्रजा को सभी वस्तुएँ यथासमय दिया करती थी। गय को कोई फल की कामना नहीं थी; पर उनको उनके निष्काम भाव से किये गये वेदविहित कर्म आप ही सब काम्यफल देते थे। युद्ध में बाणों की पूजा पाकर सब राजा उन्हें कर देते थे। प्रतिपालन और दक्षिणादान से सन्तुष्ट ब्राह्मणगण उन्हें अपने पुण्य का छठा भाग देते थे*। महाराज गय के यज्ञ में बहुत-सा सोमरस पीने के कारण इन्द्रदेव मतवाले हो गये थे। यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर श्रद्धा के कारण अचल भक्ति के साथ अर्पण किये गये यज्ञफल को पूजा की सामग्री के समान स्वीकार किया था। उन गय की बराबरी कौन कर सकता है? जिन भगवान् विष्णु की प्रीति और प्रसन्नता प्राप्त कर लेने पर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, घास-फूस से लेकर ब्रह्मा तक सब चराचरजगत् प्रसन्न हो जाता है, उन सबके अन्तर्यामी प्रेममय भगवान् ने गय के यज्ञ में "मैं सन्तुष्ट हुआ" कहकर प्रसन्नता प्रकट की।

महाराज, राजा गय के गायन्ती नाम की रानी के गर्भ से चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नाम के तीन पुत्र हुए। चित्ररथ के ऊर्णा नाम की रानी के गर्भ से सम्राट नाम का पुत्र हुआ। सम्राट के उत्कला के गर्भ से मरीचि नाम का पुत्र हुआ। मरीचि के विंदुमती के गर्भ से विंदुमान् का जन्म हुआ। विंदुमान् के सरघा नाम की रानी में राजर्षि मधु उत्पन्न हुए। मधु के सुमना रानी के गर्भ से वीरव्रत नाम का पुत्र हुआ। वीरव्रत के भोजा में मंथु और प्रमंथु नाम के दो पुत्र हुए। मंथु के सत्या नाम की रानी में भौवन और भौवन के दूषणा नाम की रानी में त्वष्टा उत्पन्न हुए। त्वष्टा के विरोचना रानी में विरज हुए। विरज राजर्षि महात्मा थे। उनकी रानी का नाम विषूची था। विरज के एक कन्या और सौ पुत्र हुए। उनमें शतजित सबसे बड़े थे। उनके गुणों का बखान करनेवाला यह श्लोक प्रसिद्ध है—प्रियव्रत के वंश में जन्म लेकर राजर्षि विरज ने अपने उज्ज्वल यश से अपने कुल को वैसे ही अलंकृत किया, जैसे विष्णु भगवान् ने वामन अवतार लेकर देवकुल को विभूषित किया था।

---

*स्मृति में लिखा है—पुण्यषड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्। न्याय से पालन करनेवाला राजा प्रजा के पुण्य का छठा भाग ले लेता है।

# सोलहवाँ अध्याय

## भूमंडल का विस्तृत वर्णन

राजा ने कहा—भगवन्, भगवान् सूर्य जहाँ तक अपनी किरणों से तपते हैं और जिस जगह तक शुक्ल और कृष्ण पक्ष में नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा देख पड़ते ह, उतना आपने इस पृथ्वीमण्डल का विस्तार कहा है। इस भूमण्डल में राजा प्रियव्रत के रथचक्र की लीकों से सात सागर बने हैं। इन सात सागरों से ही भूमण्डल के सात द्वीपों ( विभागों ) का वर्णन आप कर चुके हैं। अब मैं इन द्वीपों का परिमाण, लक्षण और विशेष विवरण जानना चाहता हूँ। भगवान् के इस सगुण स्थूल रूप में लगाने के बाद ही मन को हम उनके निर्गुण, सूक्ष्म, ज्योतिर्मय, परब्रह्म, परमपुरुष, वासुदेव-रूप में लगा सकते हैं। इसीलिए हे गुरुवर, इस विषय को विस्तार के साथ कहिए।

शुकदेवजी बोले—राजन्, देवतों की-सी आयु पाने पर भी मनुष्य भगवान् की माया के गुणों की विभूतियों का संपूर्ण वर्णन नहीं कर सकता। वर्णन करना तो दूर, मन से ध्यान भी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि सारे ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म वर्णन असंभव है। इसलिए यहाँ पर हम सभी प्रधान-प्रधान द्वीपों के नाम, रूप, परिमाण और चिह्नों के साथ भूगोल का संक्षिप्त वर्णन सुनाते हैं। यह भूमण्डल एक विशाल कमल के समान है। सात द्वीप इसके कोष हैं। यह जम्बूद्वीप सबसे भीतर का कोष है। यह एक लाख योजन विस्तृत और कमल के पत्ते के समान सम-वर्तुल आकार का गोल है। इस जंबूद्वीप के नव खंड हैं। भद्राश्व और केतुमालखंड को छोड़कर प्रत्येक खंड का विस्तार नव हज़ार योजन है। इन नवों खंडों की सीमा पर आठ पर्वत हैं, जिन्हें कुलपर्वत कहते हैं। ये हर एक खंड को दूसरे से अलग करते हैं। सब से भीतरी खंड का नाम इलावृत है। इसी खंड के बीच में सब कुलपर्वतों का राजा सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। इस पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन है। यह ऊपर बत्तीस हज़ार योजन और नीचे ( जड़ में ) सोलह हज़ार योजन चौड़ा है। पृथ्वी के भीतर भी सोलह हज़ार योजन तक यह चला गया है। जैसे कमल के भीतर कर्णिका होती है, वैसे ही यह पृथ्वीमण्डल के बीचोबीच देख पड़ता है। इलावृतखंड के उत्तरभाग में उत्तरोत्तर क्रम से नील, श्वेत और श्रंगवान नाम के तीन पर्वत है, जो क्रमशः रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामक तीन खंडों को एक दूसरे से अलग करते हैं। ये पर्वत पूर्व ओर लंबे है। इनकी चौड़ाई दो हज़ार योजन है। इनके दोनों सिरे खारी समुद्र से जाकर मिल गये है। इनमें आगे के पर्वत से पीछे का पर्वत केवल लंबाई में दशांश से कुछ अधिक कम है, ऊँचाई या चौड़ाई में नहीं। इसी प्रकार इलावृतखंड के दक्षिण में निषध, हेमकूट और हिमालय नाम के तीन पहाड़ हैं। ये क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्ष को एक दूसरे से अलग करते हैं। ये भी पहले कहे गये नील आदि पर्वतों की तरह दस हज़ार योजन ऊँचे, पूर्व की ओर फैले और उतने ही लंबे-चौड़े हैं। इलावृतखंड के पूर्व और पश्चिम में माल्यवान् और गन्धमादन नाम के पर्वत है। ये उत्तर में नील पर्वत और दक्षिण में निषध पर्वत तक लंबे और दो हज़ार योजन चौड़े हैं। ये केतुमाल और भद्राश्वखंड की सीमा का विभाग करते हैं। राजन्, सुमेरु के चारों ओर मंदराचल, मेरुमंदर, सुपार्श्व और कुमुद नाम के चार पहाड़ थूनी की तरह है; क्योंकि सुमेरु नीचे पतला और ऊपर चौड़ा है। इनमें से हर एक की चौड़ाई और ऊँचाई दस हज़ार योजन है। इनमे से पूर्व और पश्चिम ओर के पर्वत दक्षिण से उत्तर तक और दक्षिण और उत्तर ओर के पर्वत पूर्व से पश्चिम तक चौड़े है। इन चारों पहाड़ों पर क्रम से आम, जामुन, कदम और बरगद के विशाल वृक्ष है। इन वृक्षों का विस्तार सौ-सौ योजन

है। ये वृक्ष उन पर्वतों पर पताका के समान शोभित हैं। ये ग्यारह-ग्यारह हज़ार योजन ऊँचे हैं और इनकी शाखाओं का घेरा सौ-सौ योजन का है। इन चारों वृक्षों के पास चार सरोवर हैं, जिनमें से एक में दूध, दूसरे में मधु, तीसरे में ईख का रस और चौथे में मीठा जल भरा हुआ है। ये सरोवर दिव्य हैं इसलिए इनके जल और दूध आदि को पीनेवाले यक्ष आदि उपदेवता स्वाभाविक योगसिद्धियों के अधिकारी होते हैं। इन पर्वतों के ऊपर नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नाम के इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपालों के बाग़ हैं। इन बाग़ों में देवता लोग श्रेष्ठ सुरसुन्दरियों के साथ विहार करते हैं और गन्धर्व आदि उपदेवगण उनकी महिमा का गान करते हैं। मंदराचल की गोद में ग्यारह सौ योजन ऊँचा दिव्य आम का पेड़ है। उसकी चोटी से पर्वतशिखर के बराबर बड़े और अमृत के समान स्वादिष्ट मीठे फल नीचे गिरते हैं। ये फल बीच ही में फट जाते हैं और उनमें से बहुत मनोहर महक निकलती है। उन फलों से जो सुगंधित लाल रंग का रस निकलता है, उससे अरुणोदा नाम की नदी बहती है। वह नदी मंदराचल के शिखरों से निकलकर इलावृतखंड के पूर्व में बहती है। भवानी की सहेली यक्षों की स्त्रियाँ इस रस को पीती हैं, जिससे उनके शरीर में अपूर्व सुगंध उत्पन्न होती है। उनके अंगों से लगकर चलने-वाला पवन चारों ओर दस-दस योजन तक स्थान को सुगंधित करता रहता है। इसी तरह मेरुमंदर पर्वत के ऊपर जामुन का पेड़ है, जिससे हाथी के बराबर भारी फल गिरते हैं। ये फल भी इतने ऊँचे से गिरने के कारण राह में ही टूट जाते हैं। इनके रस से जम्बू नाम की नदी निकलती है। यह कुछ अधिक दस हज़ार योजन ऊँचे पर्वतशिखर से पृथ्वी पर गिरती हुई इलावृतखंड के दक्षिण ओर बहती है। इस नदी के दोनों किनारों की मिट्टी इसके जल ( जामुन के रस ) में भीग जाती है। फिर सूर्य की किरणें पड़ने और हवा लगने से पककर वही जाम्बूनद नाम का उत्तम सोना बन जाती है। देवगण उसी सुवर्ण के गहने पहनते हैं। देवता और उनकी स्त्रियाँ, सब उसी सोने के बने मुकुट, कटक, कुण्डल, कर्धनी आदि आभूषण धारण करते हैं। इसी तरह सुपार्श्व नाम के पहाड़ पर एक बड़ा भारी कदम का पेड़ है। उसमें पाँच बड़े-बड़े छेद हैं, जिनसे मधु की धाराएँ निकलती हैं। वे धाराएँ पाँच व्याम मोटी हैं [ दोनों हाथ फैलाने पर जितना बीच होता है, उसे व्याम कहते हैं ]। ये पाँचों मधु की धाराएँ पर्वत-शिखरों से नीचे गिरकर पश्चिम में स्थित इलावृतखंड को अपनी दिव्य सुगंध से सुगंधित करती हैं। इस मधु को पीनेवाले यक्ष, गन्धर्व आदि के मुख से जो साँस निकलती है, वह चारों ओर सौ-सौ योजन तक स्थान को सुगंधित कर देती है। महाराज, चौथे कुमुद पर्वत पर शतवल्श नाम का बरगद का पेड़ है। उसकी शाखाएँ बहुत मोटी हैं, जिनसे नीचे कई नद निकले हैं। वे नद दही, दूध, घी, मधु, गुड़, अन्न, भोजन, वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन आदि सभी अभिलषित वस्तुएँ देते हैं। ये नद कुमुद पर्वत के शिखरों से नीचे गिरते हुए इलावृतखंड के उत्तर में रहनेवाले लोगों को बड़ा आराम पहुँचाते हैं, उनका उपकार करते हैं। इन सब वस्तुओं का उपभोग करनेवालों के शरीर में कभी झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, बाल नहीं पकते, थकावट नहीं होती, पसीना नहीं आता। बुढ़ापा, अकालमृत्यु, दुर्गन्ध, गर्मी-सर्दी से शरीर का रंग बदलना इत्यादि उपसर्ग उन्हें नहीं सताते। उनका सारा जीवन सुख से ही बीतता है। इन पर्वतों के सिवा कुरंग, कुरर, कुसंभ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक, निषध, शितिवास, कपिश, कपिल, शंख, वैडूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालंजर और नारद, ये बीस पर्वत और हैं, जो कर्णिकारूप सुमेरु के मूल में केसर के समान जान पड़ते हैं। मेरु के पूर्व में जठर और देवकूट नाम के दो पर्वत हैं। इनमें से हर एक उत्तर ओर अठारह हज़ार योजन लम्बा और दो हज़ार योजन चौड़ा है। पश्चिम में पवन और पारियात्र नाम के दो पर्वत हैं। दक्षिण में कैलास और करवीर तथा उत्तर में त्रिशृंग और मकर नाम के पर्वत हैं। ये आठ पर्वत सुमेरु की जड़ से एक हज़ार

योजन के फ़ासले पर चारों ओर आग के घेरे की तरह उसे घेरे हुए हैं। बीच में सुवर्ण का सुमेरु प्रकाशमान है। इतिहास के विद्वानों का कहना है कि सुमेरु के सिर पर मध्य भाग में ब्रह्माजी की पुरी है। इसका विस्तार सहस्र अयुत योजन है। यह पुरी सम-चतुष्कोण और सोने की बनी है। ब्रह्मपुरी के ऊपर के भाग में पूर्व आदि दिशाओं और आग्नेय आदि कोणों में क्रम से इन्द्र आदि आठ लोकपालों की पुरियाँ बनी हुई हैं। उन पुरियों के रंग उनके स्वामी लोकपालों के रंग से मिलते हुए हैं। उनमें से हर एक पुरी की लम्बाई-चौड़ाई आदि ब्रह्मपुरी का चतुर्थांश है।

# सत्रहवाँ अध्याय

## संकर्षण-स्तोत्र

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, विष्णु ने वामन-अवतार लेकर राजा बलि के यज्ञ में पहुँचकर जब अपने शरीर को बढ़ाया और दाहिने पैर से भूलोक को नापकर स्वर्ग को नापने के लिए बाँया पैर ऊपर को उठाया, तब उनके पैर के अँगूठे के नख से ब्रह्माण्ड का ऊपरी भाग फट गया और उसमें छेद हो गया। उस छेद से बाहर एक जल की धारा निकली। वह धारा वहाँ से चलकर एक हज़ार युग में स्वर्ग के ऊपर आकर गिरी। भगवान् के चरण का धुला हुआ अरुणवर्ण कुंकुम उसमें मिल गया और वह भगवान् के चरणकमल का पराग बनकर उस जलधारा को अलंकृत करने लगा। विष्णुपद के स्पर्श से निकली वह विष्णुपदी गंगा स्पर्शमात्र से संसार के सब पापों को दूर करनेवाली और पतितपावनी है। स्वर्ग में उसे विष्णुपदी कहते हैं। वहाँ से पृथ्वी पर आकर गंगा, भागीरथी, जाह्नवी आदि उसके अनेक नाम हो गये। विष्णुपद ही स्वर्ग का मस्तक है। उत्तानपाद के पुत्र, भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ राजर्षि ध्रुव इसी विष्णुपद में विराजमान हैं। वह अपने मन में यह विचारकर कि यह हमारे कुलदेव विष्णु भगवान् के चरणों का धोवन है, नित्य नियमपूर्वक इस जलधारा को सादर अपने सिर पर धारण करते हैं। उस समय उन महात्मा राजर्षि का हृदय भक्तिभाव की उमंग के मारे गद्गद हो जाता है। कुछ मुँदे हुए नयनकमलों से उनके आँसू बहने लगते हैं। उनके सारे शरीर में रोमांच हो आता है। वहाँ से नीचे आने पर सप्तर्षि लोग यह निश्चय करके कि यही तप की सबसे बड़ी सिद्धि या फल है, अपनी जटाओं में उस जल को धारण करते हैं[1]। सप्तर्षियों के इस निश्चय और धारणा का कारण यही है कि सबके आत्मा वासुदेव में उनकी दृढ़ भक्ति है, जिससे वे अन्य पुरुषार्थों को, यहाँ तक कि कोरे आत्मज्ञान को भी तुच्छ समझते हैं। इसीलिए अन्य कामनाओं से रहित निःस्पृह लोग जैसे केवल मोक्ष को चाहते हैं, मुक्ति को ही ग्रहण करते हैं, वैसे ही सप्तर्षि लोग बड़े आदर से गंगाजल को सिर पर धारण करते हैं; क्योंकि उसका भगवान् के चरणों से सम्बन्ध है। राजन्, हरि के चरणों से उत्पन्न गंगा की धारा सप्तर्षिलोक से चलकर असंख्य विमानों से सुशोभित आकाश-मार्ग को पार करती हुई चन्द्रमण्डल में होकर सबसे पहले सुमेरु पर ब्रह्मा के भवन में गिरती है। वहाँ उसकी चार धाराएँ हो जाती हैं। सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा, इन चार भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध होकर वे चारों धाराएँ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में जाकर उन दिशाओं के समुद्रों में जा मिलती हैं। सीता नाम की धारा ब्रह्मपुरी से चलकर केसराचल आदि पर्वतों के शिखरों से नीचे उतरती हुई गन्धमादन पहाड़ पर गिरती है और वहाँ से भद्राश्वखंड के भीतर होकर पूर्व दिशा के खारी समुद्र में मिल जाती है। चक्षु नाम की दूसरी धारा माल्यवान् पर्वत के शिखरों से नीचे

उतरकर बिना कहीं रुके केतुमालखंड के भीतर जाती और पश्चिम दिशा के समुद्र में मिलती है। भद्रा नाम की तीसरी धारा सुमेरु के शिखरों से कुमुद, नील, श्वेत और शृंगवान पर्वतों के शिखरों पर गिरकर उत्तरकुरुखंड के भीतर पहुँचती और उत्तरसागर में मिल जाती है। चौथी अलकनन्दा नाम की धारा ब्रह्मभवन के दक्षिण में अनेक पर्वतों को प्लावित कर हेमकूट और हिमकूट नाम के पर्वतों पर गिरती है और वहाँ से बड़े वेग से भरतखंड के भीतर होती हुई दक्षिण के समुद्र में जा मिलती है। इसमें नहाने के लिए आनेवाले नर-नारियों को पग-पग पर अश्वमेध, राजसूय आदि महायज्ञों का फल भी दुर्लभ नहीं है। इन गंगा की धाराओं के अतिरिक्त और भी अनेक नद और नदियाँ सुमेरु आदि पहाड़ों से निकलकर इस द्वीप के सब खंडों में बहती हैं। खंड तो इस द्वीप के नव हैं; पर कर्मक्षेत्र भरतखंड ही है। अन्य आठ खंड तो वह स्थान हैं, जहाँ स्वर्गगामी लोग आकर अपने बचे हुए पुण्य का फल भोगते हैं। स्वर्ग तीन प्रकार के हैं—दिव्यस्वर्ग, भौमस्वर्ग ( पृथ्वी पर के स्वर्ग ) और अतल आदि पृथ्वीतल के नीचे के स्वर्ग। ये आठों खंड भौमस्वर्ग हैं। भरतखंड के सिवा और खंडों में जो लोग रहते हैं, उनकी आयु मनुष्य की आयु के हिसाब से दस हज़ार वर्ष की होती है। उनके शरीर में दस हज़ार हाथियों का बल होता है। उनके अंग वज्र के समान सुदृढ़ होते हैं। तात्पर्य यह कि वे सब बातों में देवतों के समान होते हैं। बल, यौवन, उल्लास की अधिकता के कारण वहाँ के नर-नारी संभोग में अधिक अनुराग रखते हैं। जब उनकी आयु एक वर्ष रह जाती है, तब स्त्रियों के केवल एक बार गर्भ रहता है। विषय-सुख भोगने की शक्ति और आसक्ति उन लोगों में अधिक होती है, और वे त्रेतायुग की-सी आयु पाकर बड़े सुख से अपना जीवन बिताते हैं। इन सभी खंडों में श्रेष्ठ देवगण अपनी इच्छा के अनुसार वहाँ के आश्रमों, स्थानों, कन्दराओं और निर्मल जलाशयों के किनारे बड़े सुख से केलि-क्रीड़ा करते और विचरते हैं। उनके सेवक अनेक पूजन-सामग्रियों से उनकी पूजा करते हैं। देवतों की स्त्रियाँ जलकेलि करती हैं। वहाँ के दृश्य सुन्दर और विचित्र हैं। काममदमत्त सुन्दर रमणियों की मादक दृष्टि, हावभाव और विलास पुरुषों की दृष्टि को अपनी ओर खींचते और उनके मन को मोह लेते है। जिन आश्रमों और स्थानों में वहाँ के नर-नारी विहार करते हैं, उनकी शोभा बहुत ही मनोहर है। वहाँ के वृक्षों की डाले सब ऋतुओं के फूलों, फलों और नवपल्लवों के भार से झुक-झुक जाती हैं। उन डालों से लिपटी हुई तरह-तरह की बहारदार बेलें मन को मोह लेती हैं। इन वृक्षों और लताओं से उन आश्रमों की अपूर्व शोभा देख पड़ती है। वहाँ के जलाशयों की भी शोभा निराली ही रहती है। प्रफुल्लित कमलों की सुगन्ध और राजहंस, कलहंस, जलकुक्कुट, चक्रवाक, कारण्डव, सारस आदि पक्षियों की विविध प्रकार की बोलियाँ तथा भौंरों का सुरीला गुंजन वहाँ पहुँचते ही मन को हर लेता है। ऊपर कहे गये नवों खंडों में महापुरुष नर-नारायण भगवान् वहाँ के निवासियों पर कृपा करने के लिए विविध रूपों से विराजमान हैं।

इलावृतखंड वास्तव में एक स्त्रियों का देश है। वहाँ भगवान् शंकर ही एक पुरुष हैं। कोई पुरुष, जिसे भवानी के इस शाप का कारण मालूम है कि यहाँ घुसनेवाला पुरुष स्त्री हो जायगा, वहाँ नहीं जाता। [वहाँ जानेवाले पुरुष को भवानी का शाप क्यों स्त्री बना देता है और भवानी ने ऐसा शाप क्यों दे रक्खा है, यह कथा नवम स्कंध में पढ़ने को मिलेगी।] इस इलावृतखंड में भगवती पार्वती अपनी सहस्र अर्बुद सखियों के साथ भगवान् शिव की सेवा करती हैं। नारायण की चार मूर्त्तियाँ हैं। उनमें अहंकार की अधिष्ठात्री चौथी तामसी मूर्त्ति को संकर्षण कहते है। यही भगवान् रुद्र की प्रकृति है। भगवान् रुद्र उसी मूर्त्ति का ध्यान करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं—"सब गुण जिनसे प्रकट या प्रकाशित होते हैं, उन स्वयं, अव्यक्त, अप्रमेय, महापुरुष भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। हे भजने योग्य परमेश्वर, मैं आप ही को

भजता हूँ। प्रभो, आपके चरणकमल सब प्राणियों के रक्षक हैं। ऐश्वर्य आदि श्रेष्ठ छः गुण आपमें स्थिर रूप से स्थित रहते हैं; आप उनका आधार हैं। भक्तों के हित के लिए आप अपने रूप को प्रकट करते हैं। आपके भक्तों का जन्म-मरण का चक्र आपकी ही कृपा से मिट जाता है। पर जो आपसे विमुख हैं, उन्हें आप भवबन्धन में डाल देते हैं। हम लोग क्रोध के वेग को वश में नहीं कर पाते, इसलिए जैसे हमारी दृष्टि को पहुँच ईश्वर तक नहीं हो पाती, वैसे ही साक्षीरूप से निरीक्षण करने पर भी आपकी दृष्टि माया के गुणों में अथवा अन्तःकरण के व्यापार में नहीं लिप्त होती। इन्द्रियों को जीतने और मुक्ति पाने की जिसके मन में इच्छा है, वह ऐसे ईश्वर का भजन कैसे नहीं करेगा? मिथ्या दृष्टिवाले आपकी माया से मूढ़ बनकर आपको मतवालों के भयंकर रूप में देखते हैं। आपके नेत्र मधु-आसव पीने से लाल हो रहे हैं। आपको प्रणाम है। आपके श्रीचरणों की पूजा करते समय चरणस्पर्शमात्र से नागराजों की स्त्रियों के मन मोहित हो जाते हैं और वे लज्जा-संकोच के मारे आपके अन्य भुजा आदि अंगों को छूकर उनका पूजन नहीं कर पातीं। हे अनन्तदेव, आपको प्रणाम है। मंत्रद्रष्टा ऋषिगण आपको इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण कहते हैं; पर आप स्वयं इन तीनों बातों से रहित हैं। अर्थात् आपकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश नहीं है। आपके हज़ार फणों में से एक पर कहीं सरसों के समान यह पृथ्वी-मण्डल रक्खा हुआ है। आपको उसका अस्तित्व भी नहीं जान पड़ता, बोझ की कौन कहे! आपका प्रथम रूप गुणसंक्षोभ से उत्पन्न महत्तत्त्व है। वह चित्तरूप होने के कारण सत्त्वगुणप्रधान है। वही वासुदेव से अभिन्न भगवान् ब्रह्मा हैं। उन ब्रह्माजी से मैं रुद्र (अहंकाररूप) उत्पन्न हुआ। मैं त्रिगुणमय अपने तेज अर्थात् अपनी विभूति अहंकार से इन्द्रियों, उनके रूप, रस आदि विषयों और उनके अधिष्ठाता देवतों की सृष्टि करता हूँ। महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, उनके विषय और अधिष्ठाता आदि हम सब, सूत्र में बँधे हुए पक्षियों की तरह, क्रियाशक्ति के वशीभूत होकर आप ही के अनुग्रह से इस ब्रह्माण्ड (अथवा शरीर) की सृष्टि करते हैं। आपकी निर्मित माया को मेरे समान देहधारी जीव भले ही कभी जान ले, पर उससे छुटकारा पाने के उपाय को किसी तरह सहज में नहीं जान पाते। कारण, वे गुणमयी सृष्टि में मोहित हो रहे है। माया की गाँठ बड़ी कठिनाई से खुलती है। आपसे ही इस सृष्टि की उत्पत्ति और आपमें ही इसका लय होता है। आपको प्रणाम है।

—•••—

# अठारहवाँ अध्याय

## भिन्न-भिन्न खंडों में भगवान् की भिन्न-भिन्न मूर्त्तियों की उपासना का वर्णन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, भद्राश्वखंड में उसके स्वामी धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके मुख्य सेवक रहते हैं। वे भगवान् वासुदेव की अत्यन्त प्रिय हयग्रीव नाम की मूर्त्ति का ध्यान करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं। भद्रश्रवा और उनके कुल के लोग कहते हैं—हम आत्मा को शुद्ध करनेवाले भगवान् धर्म को प्रणाम करते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है! भगवन्, आपकी माया बड़ी विचित्र है। लोग औरों की मृत्यु को साक्षात् देखकर भी उस प्राण हरनेवाली मृत्यु को भूले रहते हैं। अपने पुत्र-कन्या या बूढ़े बाप के मरने पर उनका दाह कर चुकने पर आप उन्हीं के धन से सुख भोगने को और बहुत दिन तक जीने की इच्छा करता है। अहो, कैसे खेद की बात है! धन से धर्म कमाने की चेष्टा करना तो दूर, केवल तुच्छ विषय-

सुख भोगने की आशा से उलटे पापकर्म करता है। ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह जगत् नश्वर है। आत्मतत्त्व के जाननेवाले समाधि द्वारा इस जगत् के नाश का प्रत्यक्ष अनुभव भी करते हैं। फिर भी लोगों को आपकी अपार माया मोहित किये रहती है। हे अज, आपको प्रणाम है। आप गुणावरण से रहित और कर्मबन्धन से मुक्त हैं, फिर भी वेद के अनुसार इस जगत की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण आप ही हैं। साधारणतः ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं; पर तत्त्वदृष्टि से परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। आपमें कुछ भी असंभव नहीं है। आप माया के द्वारा कार्य के कारण और सबके आत्मा हैं, इसलिए सर्वत्र आपका ही कर्तृत्व प्रकाशित होता है। पर यथार्थ में आप सबसे परे साक्षीरूप हैं, इसलिए आपका अकर्तृत्व भी संगत है। प्रलयकाल में दुष्ट दानव वेदों को हरकर जल के नीचे ले गये थे। प्रलय के अन्त में आपने इस हयग्रीव मूर्त्ति से रसातल में जाकर दानव-संहार और वेदों का उद्धार किया। ब्रह्माजी की प्रार्थना के अनुसार आपने वे वेद ब्रह्माजी को फिर सौंप दिये। हे सत्य-संकल्पवाले भगवान्, आपको प्रणाम है।

महाराज, हरिखंड में नारायण नृसिंहरूप से रहते हैं। [इस अवतार की कथा आगे सप्तम स्कन्ध में पढ़ने को मिलेगी।] महापुरुषों के सभी श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हरिभक्त प्रह्लाद वहाँ उस खंड में रहनेवाली प्रजा के साथ अटल भक्ति सहित नृसिंहजी की पूजा-उपासना करते हुए यों स्तुति करते हैं। वह कहते हैं—हे नृसिंहरूप नारायण, आपको प्रणाम है। आप सब सूर्य आदि तेजस्वियों का तेज हैं। हे वज्रदंष्ट्र, प्रकट होकर हमारी वासनाओं के बीज को जलाओ, अज्ञान के अन्धकार को मिटा दो और हमें अभयदान करो। आपको हम प्रणाम करते हैं। हे नाथ, संपूर्ण जगत् का मंगल हो, दुष्टों का सुधार और दीनों का उद्धार हो। सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को भलाई चाहें। उनकी प्रवृत्ति मंगलमय सुमार्ग में हो। हम सबकी बुद्धि विषयवासना की ओर से हटकर निष्काम भाव से ईश्वर में लगे। प्रभुवर, हम किसी विषय में आसक्त न हों। स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, घरबार और धन-सम्पत्ति के मोह में न पड़कर हम आपके प्यारे भक्तों का ही संग करें। कारण, निःसंग आत्मज्ञानी लोगों को भीख में मिले हुए रूखे-सूखे अन्न से ही जैसी तृप्ति और सन्तोष होता है, वैसी तृप्ति और सन्तोष इन्द्रियसुख भोगने पर भी गृहासक्त विषयी पुरुषों को नहीं नसीब होता। भगवत्प्रिय साधुओं के संग में भगवान् की महिमा का ज्ञान होता है। उस भगवन्महिमा की शक्ति असाधारण है। उसे श्रवण करते ही भगवान अन्तःकरण में आकर उसे विशुद्ध बना देते हैं। तीर्थस्नान से शरीर का मैल अवश्य धुल जाता है, पर हृदय की पूर्ण शुद्धि नहीं हो पाती। फिर कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो हृदय को शुद्ध करनेवाले वासुदेव के यशोगान को सुनना न चाहेगा? हरि के निष्काम भक्त का शरीर सब गुणों और देवतों का निवासस्थान होता है। हरिविमुख और विषयासक्त मनुष्य में महापुरुषों के गुण कहाँ से मिल सकते हैं? मछलियों का जीवन जैसे जल है, वैसे ही हरि भगवान् सब प्राणियों के प्रिय आत्मा हैं। इसलिए जिन्हें लोग बड़ा भारी महात्मा कहते हैं, वे अगर वासुदेव को छोड़कर गृहस्थी के विषयों में आसक्ति दिखलावें, तो वे केवल अवस्था में बड़े हो सकते हैं—ज्ञान आदि सद्गुणों का बड़प्पन उनमें रत्तीभर भी नहीं माना जा सकता। भाइयो, यह गृहतृष्णा राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, स्पृहा, भय, दीनता, मानसिक चिन्ता आदि दोषों से परिपूर्ण और जन्म-मरण के चक्र का आधार है। इसलिए इसमें आसक्त न होकर अकुतोभय बना देनेवाले नृसिंहदेव के श्रीचरणों का भजन करो।

केतुमालखंड में स्वयं लक्ष्मीदेवी, तथा उस खंड में रहनेवाली रात्रि की अधिष्ठात्री देवता प्रजापति की कन्या और दिन के अधिष्ठाता देवता प्रजापति के पुत्रगण का प्रिय करने के लिए नारायण भगवान् अपनी कामदेव नाम की मूर्त्ति से विराजमान हैं। प्रजापति के पुत्रों और कन्याओं की संख्या छत्तीस-छत्तीस हजार है। वे ही उस खंड के स्वामी हैं। महापुरुष के चक्र सुदर्शन के तेज से मन में उद्वेग उत्पन्न होने के कारण

उन प्रजापति-कन्याओं के गर्भ वर्ष भर के बाद निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। भगवान् कामदेव मनोहर मंद गति से, लीलापूर्ण मुसकानवाली चितवन से और भौंहों को कुछ ऊपर उठाकर मुखारविन्द की अद्भुत शोभा से लक्ष्मीजी को रमाते और आप भी रमण करते हैं। देवी लक्ष्मी वर्ष में रात को उन देवियों के साथ और दिन को उन देवतों के साथ भगवान् की उस मायामय मनोहर मूर्त्ति की उपासना करती रहती हैं और इस प्रकार स्तुति करती हैं—इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश भगवान् को प्रणाम है। आपका यह रूप सभी गुणों या श्रेष्ठ वस्तुओं का आधार है। आप कर्म, ज्ञान और ज्ञान के सभी विषयों के स्वामी हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय, ये आपकी सोलह कला हैं। आप वेदमय, अन्नमय, अमृतमय और सर्वमय हैं। आप सामर्थ्य, साहस और बल का कारण हैं। आपकी यह काममूर्त्ति परम रमणीय है। आप दोनों लोकों में हम पर प्रसन्न रहें। आपको प्रणाम है। आप सब इन्द्रियों के संचालक स्वामी हैं। जो नारियाँ आपकी आराधना करके आपसे कोई दूसरा पति माँगती हैं, वे मूर्ख हैं। कारण, उनके वे प्रार्थित स्वामी प्रिय पुत्र, धन और परमायु की रक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वे आप पराधीन हैं। यथार्थ पति वही है, जो आप निर्भय हो और भय से पीड़ित लोगों या आश्रितों की रक्षा कर सकता हो। नाथ, इसीलिए सबके सच्चे पति आप ही हैं, और कोई पति नहीं कहा जा सकता। आप आत्मलाभ से बढ़कर और किसी वस्तु को नहीं समझते, इसीलिए आपका सुख और किसी के अधीन नहीं है। अगर आप यथार्थ पति न होते तो आपको भी किसी अन्य से भय होता। जो स्त्री आपके ही चरणारविन्दों की सेवा करना चाहती है, जो अन्य किसी फल की अभिलाषा नहीं रखती है, उसी की सब कामनाएँ पूरी होती हैं। जो नारी और किसी फल की इच्छा से आपको भजती है, उसे आप केवल वही प्रार्थित वस्तु देते हैं। पीछे भोग के उपरान्त जब उस वस्तु का वियोग या नाश होता है, तब वह अपनी भूल पर पछताती है। हे अजित, ब्रह्मा, शिव, अन्य देवता और दैत्य सुख की इच्छा से मुझे पाने के लिए कठिन तपस्या करते हैं। पर मेरा मन तो आपके चरणों में लगा हुआ है, इसलिए आपके चरणों को ही परमपद समझनेवाले आपके अनन्य भक्तों के सिवा और कोई मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। हे अच्युत, आपके करकमल सभी अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा किया करते हैं, इसीलिए भक्तगण उनकी स्तुति करते हैं। आप कृपा करके वह करकमल अपने भक्तों के सिर पर रखते हैं। भगवन्, वही कोमल हाथ मेरे सिर पर भी रखिए। आप मेरा आदर नहीं करते, यह मैं नहीं कहती; क्योंकि आप मुझे श्रीवत्स-चिह्न के रूप में अपने हृदय में स्थान दिए हुए हैं। परन्तु जहाँ मेरे प्रति आपका केवल आदरभाव है, वहाँ भक्तजनों पर परम अनुग्रह का भाव है। सच है, आपकी माया-लीला को कौन समझ सकता है!

राजन, रम्यकखंड में उस खंड के स्वामी, परमप्रिय भक्त मनु का प्रिय करने के लिए भगवान् मत्स्यरूप से विराजमान हैं। प्रलयकाल के पहले भगवान् ने मत्स्यावतार लेकर मनु को दर्शन दिये थे। वह मनु अब भी दृढ़ भक्ति के साथ उसी रूप की उपासना करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं—महामत्स्य-रूप भगवान् को प्रणाम है। आप मुख्यतम शारीरिक और मानसिक बल हैं। आप सत्वप्रधान, प्राण और ओजस्वरूप हैं। आप सब जगत् के भीतर और बाहर विचरते हैं, पर लोकपाल भी आपके रूप को नहीं देख पाते। आपका वेदमय शब्द बहुविस्तृत है। लोग जैसे सूत में बाँधकर कठपुतली को इच्छानुसार नचाते हैं, वैसे ही आप भी इस विश्व को ब्राह्मण आदि नामों के द्वारा विधि-निषेध आदि सूत्ररूप नियमों के द्वारा अपने वश में करके कर्म कराते हुए नचाते हैं। ईश्वर, इन्द्र आदि सब लोकपाल देवता ईर्ष्या-द्वेष आदि विकार रखते हैं। वे आपको छोड़कर अर्थात् आपकी शक्ति के बिना दो पैर और चार पैरवाले जीवों का अथवा इस देख-पड़ रहे चराचरजगत् का, किसी का भी पालन या रक्षा नहीं कर सकते। सब ओषधियाँ

और वृक्ष-लता आदि इस पृथ्वी में ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए प्रलयकाल में सागर की प्रबल लहरें जब इसे डुबाने लगीं, तब इसकी रक्षा के लिए यह मत्स्यरूप धारणकर आपने उत्साह के साथ इसकी रक्षा की। आपको प्रणाम है। नाथ, आप इस भुवन के निवासी प्राणियों के आत्मा हैं।

हिरण्मयखंड में भगवान् कच्छपरूप से विराजमान हैं। पितृगण के अधिपति अर्यमा उस खंड के रहनेवाले लोगों के साथ उनकी उपासना करते हैं और यह मंत्र पढ़ते हैं—कच्छपरूप भगवान् को हमारा प्रणाम है। नाथ, सतोगुण को आपका विशेषण या लक्षण कहते हैं। आपके निवासस्थान का निरूपण नहीं हो सकता। आप काल से परे अर्थात् अनादि हैं, सर्वव्यापी हैं, सबका आधार है। आपको प्रणाम है। आपके ये दिखाई देनेवाले, माया द्वारा कल्पित, पृथ्वी आदि अनेक रूप वास्तव में असत् हैं। आपके रूपों को गिन सकना असंभव है। आपको प्रणाम है। इस जगत् में जो जरायुज ( मनुष्य आदि ), अण्डज ( पक्षी ), स्वेदज ( पसीने से पैदा होनेवाले जीव ), उद्भिज्ज ( वृक्ष आदि ), चर, अचर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूतगण, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, भूमि, पहाड़, नदी, सागर, द्वीप, ग्रह, नक्षत्र आदि देख पड़ते हैं, सो सब आप ही के रूप और नाम हैं। आपके साधारण नाम, रूप, आकार आदि की कौन कहे, विशेष-विशेष नामों, रूपों और आकारों की भी संख्या नहीं है। फिर भी कपिल आदि आचार्यों ने संख्या की कल्पना की है। यह संख्या-भेद जिस एक तत्त्व के ज्ञान से मिट जाता है, वही ज्ञानरूप परमार्थतत्त्व आप हैं। आपको हम प्रणाम करते हैं।

उत्तरकुरुखंड में यज्ञपुरुष भगवान वाराह-मूर्ति से विराजमान हैं। पृथ्वीदेवी उस खंड के निवासियों के साथ भक्तिपूर्वक उनकी उपासना करती हुई इस उपनिषद् का पाठ करती है—भगवन, आप हम सबका प्रणाम स्वीकार करें। नाथ, आप मंत्रों के द्वारा प्रकट होते हैं और यज्ञ, क्रतु आदि आपके रूप है। सब छोटे-बड़े यज्ञ आपके ही अंग हैं। हे महापुरुष, आपको प्रणाम है। यज्ञ के अधिष्ठाता और त्रियुगस्वरूप, आपको प्रणाम है। जैसे लकड़ी में अग्नि छिपा हुआ रहता है, वैसे ही शरीर, इन्द्रिय आदि में आपकी शक्ति रहती है। विवेकी लोग आपके दर्शन पाने के लिए विवेक के साधन मन, कर्म और उनके फल द्वारा बराबर आपको खोजा करते हैं और साधना करते-करते आपके रूप को देख भी पाते है। विषय, इन्द्रियों के व्यापार, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता, शरीर, काल और अहंकार आदि माया के कार्यों द्वारा ज्ञानियों को वस्तु-स्वरूप सत् प्रतीत होनेवाला आत्मा आप ही हैं। संयम, समाधि आदि उपायों से आपको जिन्होंने निश्चित रूप से जान लिया है, वे आपकी माया-कल्पित मूर्त्तियों को फिर नहीं भजते। जैसे चुम्बक से खिंचा हुआ लोहा उसी की गति के अनुसार इधर-उधर घूमता है, वैसे ही यह माया भी आपके अधीन होकर अपने सत्व आदि गुणों से इस सृष्टि को उत्पन्न करती, पालती और नष्ट करती है। आप गुण-कर्म के साक्षी हैं, इसलिए सृष्टि आदि तीनों कर्म आपकी इच्छा से ही होते हैं; परन्तु आप उन कर्मों से निर्लिप्त हैं, इसलिए आपका कोई स्वार्थ न रहने के कारण आप उन सृष्टि आदि कर्मों से उदासीन या तटस्थ भी माने जा सकते है। आपने जगत् का आदिकारण यह वराह-अवतार लेकर रसातल में प्रवेश किया। वहाँ अपने विरोधी, मस्त हाथी के समान बली हिरण्याक्ष को युद्ध में खेलते-खेलते मार डाला और फिर मुझे अपनी दाढ़ के ऊपर उठाकर, गजराज की तरह प्रलय-समुद्र के ऊपर आकर, जल के ऊपर स्थापित किया। हे स्वामी, आपको मैं प्रणाम करती हूँ।

# उन्नीसवाँ अध्याय

## भरतखण्ड की महिमा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, किम्पुरुषखण्ड में किम्पुरुष लोगों के साथ भक्तशिरोमणि हनुमान्‌जी भगवान् आदिपुरुष, मर्यादापुरुषोत्तम, लक्ष्मण के बड़े भाई, सीतापति श्रीरामचन्द्रजी के चरणों के पास बैठकर तन्मय होकर अटल भक्ति दिखाते हुए उनकी आराधना करते हैं। वहाँ गन्धर्व लोग परम मंगलमय रामचरित्र को गाते हैं और उसे भगवद्भक्त आदरपूर्वक के साथ हनुमान्‌जी सुनते हैं। वह आप भी अपने स्वामी रामचन्द्र की महिमा को इस तरह कहते हैं—हम उत्तमश्लोक भगवान् को प्रणाम करते हैं। सभी उत्तम लक्षण, शील और व्रत आपमें नित्य बने रहते हैं। आप चित्त को संयम में रखते है, अर्थात् जितेन्द्रिय हैं। आप लोकधर्म का उल्लंघन नहीं करते। आपका चरित्र साधुता परखने की कसौटी है। हे ब्रह्मण्यदेव, महापुरुष, महाराज, आपको प्रणाम है। हम परमात्मरूप श्रीरामचन्द्र के चरणों की शरण ग्रहण करते हैं। वेदान्त में एक जो कहा गया है, वह तत्त्व आप ही हैं। विशुद्ध आत्मानुभव आपका स्वरूप है। स्वरूप का प्रकाश होने से गुणों की जाग्रत् आदि विविध अवस्थाएँ आपमें नहीं हैं, अतएव आप प्रशान्त हैं। आप इस संसार के दृश्य प्रपंच से अलग हैं, इसीलिए नाम, रूप और अभिमान से शून्य हैं। आप केवल शुद्ध चित्त से अनुभव द्वारा ब्रह्मरूप में प्राप्त किये जा सकते हैं। आपका यह मनुष्यावतार केवल राक्षसराज रावण को मारने के लिए ही नहीं हुआ है। मनुष्यों को संसार के दुःखों के सम्बन्ध में शिक्षा देना भी इसका उद्देश्य है। नहीं तो अपने ही स्वरूपानुभवानन्द में रमण करनेवाले जगदीश्वर आपको सीतावियोग आदि का दुःख कब हो सकता है? आप त्रिभुवन की किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रखते। आप तो आत्मज्ञानी लोगों की आत्मा और परम सुहृद् हैं। अतएव सीता के वियोग से दुःखित होना अथवा वशिष्ठजी की सम्मति से प्यारे भाई को त्याग देना आदि कार्य कभी आपके योग्य नहीं हो सकते। ये सब चरित्र आपने केवल लोगों को शिक्षा देने के लिए ही किये। भक्ति ही केवल आपको प्रसन्न कर सकती है। उसके बिना ऊँचे कुल में जन्म, सुन्दरता, वाणी, बुद्धि, जाति आदि किसी बात से आप कृपा नहीं करते। हम वन में रहनेवाले वानरों में पूर्वोक्त कोई विशेषता नहीं है, तथापि आपने केवल भक्ति देखकर हमें अपना मित्र बनाया। हे भक्तवत्सल, आपको प्रणाम है। देवता, दैत्य, नर या वानर, सबका यही एकमात्र कर्त्तव्य है कि तन-मन से नरतनुधारी भगवान का भजन करे। कारण, आप थोड़े-से भी भजन को यथेष्ट मान लेते हैं। आपके भजन की महिमा का प्रत्यक्ष उदाहरण यही है कि वैकुण्ठधाम जाते समय आप अयोध्या के सभी जीवों को अपने साथ ले गये। आपसे बढ़कर दीनदयालु और कौन होगा!

महाराज, भरतखण्ड में भगवान् नरनारायण-मूर्त्ति से बदरिकाश्रम में विराजमान हैं। आप आत्मज्ञानी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वहाँ तपस्या करते हैं। कारण, संचित धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन्द्रियजय आदि के साथ तप करना ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का उपाय है। नर-नारायण की उपासना देवर्षि नारदजी करते हैं। उनके साथ भारत में रहनेवाली वर्णाश्रमधर्म को माननेवाली प्रजा भी भगवान् की पूजा-आराधना करती है। भगवान् के कहे हुए सांख्य और योग के साथ भगवान् की आराधना का वर्णन जिसमें है, उस 'पञ्चरात्र' का उपदेश सावर्णि मनु को करने के लिए नारदजी दृढ़ भक्ति के साथ इस प्रकार नारायण की स्तुति करते हैं—ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नर-नारायण को हमारा प्रणाम है। आप जितेन्द्रिय, अहंकारशून्य, अकिंचन भक्तों का सर्वस्व, परमहंसों के परमगुरु, आत्माराम जगन्नाथ हैं।

आपको हम बारंबार प्रणाम करते हैं। आप इस सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाले होकर भी कर्तृत्व आदि का अभिमान नहीं रखते; शरीर में स्थित रहकर भी भूख-प्यास आदि शरीर के धर्मों से अभिभूत नहीं होते; साक्षी होने पर भी आपकी दृष्टि गुणों के विकार को नहीं प्राप्त होती, ऐसे निर्लिप्त, सबसे विभिन्न और सर्वदर्शी परमेश्वर को हमारा प्रणाम है। हे योगिराज, योगेश्वर, योगी लोग जीवन-भर भक्ति की साधना करके उसके द्वारा अंत समय अहंभावना को छोड़कर आप ही में अपना मन लगाते हैं। इसी को योग का कौशल या योग की सिद्धि कहते हैं। हिरण्यगर्भ भगवान् ने इसी का उपदेश किया है। इस लोक और परलोक के सुख को चाहनेवाले अज्ञ लोग जैसे स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि के विषय में सोचते हुए मृत्यु से डरते हैं, वैसे ही अगर विद्वान् लोग भी मृत्यु से डरें, तो निश्चय ही उनका शास्त्रों को पढ़ना-सुनना वृथा परिश्रम है—उन्होंने शास्त्राभ्यास का कुछ भी फल नहीं पाया। भगवन, आपकी माया के कारण अपने शरीर आदि में हम जो 'मैं हूँ, मेरा है' इस प्रकार की ममता रखते हैं, उसे छोड़ना बड़ा कठिन है। इसलिए आप कृपापूर्वक ऐसे योग की शिक्षा हमें दीजिए, जिसकी सहायता से हम इस माया से छुटकारा पा सकें।

महाराज, भरतखण्ड में बहुत-सी नदियाँ और पहाड़ हैं। मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान, ऋक्षगिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्द्धन, रैवतक, ककुभ, नील, गोमुख, इन्द्रकील, कामगिरि आदि हज़ारों छोटे-बड़े पर्वत हैं। इन पर्वतों से निकली हुई नदियाँ और नद भी असंख्य हैं, जिनमें से कुछ बड़ी नदियों के नाम नीचे लिखे जाते हैं—चन्द्रवशा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणा, पयस्विनी, शर्करावती, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, वेणी, भीमरथी, गोदावरी, निर्विंध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिंधु, अंध, शोण (ये तीन नद हैं), महानदी, वेदस्मृति, त्रिसामा, ऋषिकुल्या, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नि और विश्वा। ये महानदियाँ हैं। इन नदियों का नाम लेने से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है: किन्तु भाग्यशाली भारतवासी तो इनके जल में स्नान करते हैं। उनके पवित्र होने में क्या संदेह है? जो लोग इस भरतखण्ड में जन्म लेते हैं, वे अपने सात्विक, राजस, तामस कर्मों के अनुसार अपने लिए दिव्य (स्वर्ग), मानुष और नरक की गतियाँ बनाते हैं। जीव को उत्तम, मध्यम या निकृष्ट जन्म उसके कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होता है। जिस वर्ण के लिए मोक्ष पाने का जो प्रकार शास्त्र में कहा गया है, उसके अनुसार चलने से (अर्थात् वानप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों से) इसी खण्ड में मनुष्यों को मुक्ति (भवबन्धन से छुटकारा) भी मिलती है। विष्णुभक्त महात्मा पुरुषों के साथ अच्छी तरह हिलमिल जाने पर उस सत्संग के प्रभाव से भगवान् में निष्काम भक्ति उत्पन्न होती है। वही मोक्ष का सच्चा स्वरूप है। अविद्या की गाँठ (अहंभाव) ही सब प्रकार की गतियों का मुख्य कारण है। वह गाँठ इसी निष्काम भक्ति से खुल जाती है। इस प्रकार भरतखण्ड में जन्म होने पर जीव को सभी पुरुषार्थ प्राप्त हो सकते हैं और यह जानकर ही देवता लोग इस प्रकार कहते हैं—"अहो, इन लोगों ने ऐसा कौन पुण्य किया है, जो हरि भगवान् बिना किसी साधना के इन पर स्वयं प्रसन्न हुए, जिससे उन्हें भरतखण्ड में मनुष्ययोनि में भगवद्भक्ति और हरि-सेवा के लिए उपयोगी जन्म प्राप्त हुआ है। हम इसी भूमि में जन्म पाने की अभिलाषा रखते हैं। हा! हमने दुष्कर यज्ञ, तप, व्रत, दान आदि करके यह तुच्छ स्वर्ग का सुख पाया है। यह सुख सच्चा नहीं है; क्योंकि इसका विनाश हो जायगा। इसलिए हमारा सारा श्रम व्यर्थ ही गया। यहाँ नारायण के चरणारविन्दों का स्मरण-भजन हम नहीं कर पाते; क्योंकि हर घड़ी इन्द्रिय-

सुखभोग में लिप्त रहने के कारण हमें आत्मज्ञान नहीं हो पाता। हम अपने स्वरूप को भूले रहते हैं। यहाँ हमको एक कल्प की परमायु प्राप्त हुई है। कल्प भर के बाद यहाँ से गिरकर हमें फिर जन्म लेना पड़ेगा। हमसे तो थोड़ी आयुवाले मनुष्यों का पृथ्वी पर भरतखण्ड में जन्म लेना ही अच्छा है। कारण, वहाँ वे थोड़े ही समय में अपने कर्मों को कृष्णार्पण करके हरि के परमपद को चले जाते हैं, जहाँ जन्ममरण का भय नहीं है। जहाँ हरिकथारूप अमृत की नदी नहीं बहती, भगवान् के आश्रित भक्त साधुजन नहीं रहते, हरि की पूजा का महोत्सव नहीं होता, वह स्थान, चाहे इन्द्रलोक भी हो, रहने के योग्य नहीं है। जो प्राणी इस श्रेष्ठ कर्मभूमि भरतखण्ड में नरजन्म पाकर भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा मोक्ष पाने का प्रयत्न नहीं करते, वे चिड़ीमार के जाल में फँसे हुए पक्षी की तरह एक बार किसी प्रकार बन्धन से छुटकारा पाकर भी फिर बन्धन में पड़ जाते हैं। अहो, भारतवासी बड़े सौभाग्यशाली हैं। ये श्रद्धा के साथ यज्ञ में भिन्न-भिन्न भाग करके विधिपूर्वक मंत्र पढ़कर जो पुरोडाश आदि हवन करते हैं, उसे सब कामनाएँ पूरी करनेवाले भगवान् हरि स्वयं सानन्द स्वीकार करते है। यह सच है कि भगवान् प्रार्थना करनेवालों की अभिलाषा पूरी करते हैं; पर प्रार्थी को उसकी माँगी हुई वस्तु ही देते हैं; परमार्थ या मुक्ति नहीं। यही कारण है कि सकाम भक्तों को ईश्वर से बार-बार माँगते देखा जाता है और जो निष्काम होकर भगवान् को भजते हैं, उन्हें भगवान् सब कामनाओं के द्वार को बंद करनेवाले अपने चरणारविन्द ही दे देते हैं, जिससे उनको फिर कोई अभिलाषा ही नहीं रह जाती। इसलिए हम यह चाहते हैं कि स्वर्गसुख भोगने के बाद अगर हमारा कुछ पहले का पुण्य बचा हो, तो उसके कारण हमारा जन्म भारत में ही हो। वहाँ उत्पन्न होने पर, नरजन्म पाने पर, हमें भगवान् की याद रहेगी—हमें यह ज्ञान होगा कि हरिभजन ही भवबन्धन से छुड़ाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, कुछ लोग जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप भी बतलाते हैं। सगर के पुत्रों ने अपने पिता के अश्वमेधयज्ञ के घोड़े को खोजते समय इस पृथ्वी को चारों ओर खोदा था और उसी समय उन उपद्वीपों की रचना की थी। उनके नाम ये हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मंदरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लंका। अपने गुरुवर व्यासदेव से जम्बूद्वीप और उसके खंडों का वर्णन जैसा मैंने सुना था, वैसा आपको सुना दिया।

# बीसवाँ अध्याय

## प्लक्ष आदि छः द्वीपों का वर्णन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, जम्बूद्वीप और उसके खंडों का वर्णन हो चुका; अब हम प्लक्ष आदि अन्य छः द्वीपों का परिमाण, लक्षण और विभाग बतलाते हैं। सुमेरु पर्वत को जैसे चारों ओर से जम्बूद्वीप घेरे है, वैसे ही जम्बूद्वीप खारी सागर से घिरा हुआ है। यह सागर एक लाख योजन तक फैला हुआ है। प्लक्षद्वीप विस्तार में जम्बूद्वीप से दुगना है। बाहरी उपवन से घिरी हुई खाई की तरह खारी समुद्र भी प्लक्षद्वीप से घिरा है। प्लक्षद्वीप में एक बहुत बड़ा प्लक्ष (पकरिया) का पेड़ है। इसी वृक्ष के नाम पर इस द्वीप का नाम रक्खा गया है। यहाँ सात शिखावाले अग्निदेव विराजमान रहते हैं। प्रियव्रत के पुत्र इध्मजिह्व इस द्वीप के स्वामी थे। उन्होंने इस द्वीप के सात खंड करके अपने सातों पुत्रों को एक-एक खंड का राजा बना दिया और आप अन्त समय समाधिस्थ होकर ईश्वर में मन लगाकर वैकुण्ठवासी हुए। प्लक्षद्वीप के सात खंडों

के नाम शिव, यवयस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय हैं। इध्मजिह्व के सातों पुत्रों के भी यही नाम हैं। इन खंडों में नदियाँ और पहाड़ तो सैकड़ों हैं, पर प्रसिद्ध नदियाँ और पर्वत सात ही सात हैं। ये सातों पर्वत प्रत्येक खंड की सीमा पर हैं। उनके नाम हैं मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल। महानदियों के नाम हैं अरुणा, नृम्णा, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतंभरा, सत्यंभरा। भारत में जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, वैसे ही इस द्वीप में हंस, पतंग, ऊर्ध्वायन और सत्यांग नाम के चार वर्ण हैं। ऊपर कही गई नदियों में नहाने से उनकी राजसी-तामसी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। उनकी आयु एक हज़ार वर्ष की होती है। वे देखने में देवतों के समान होते हैं। उनके पुत्र भी देवतों के समान जन्मकाल से ही समर्थ होते है। वे लोग वेद-विद्या का अभ्यास करके उसके द्वारा आत्म-स्वरूप, त्रयीमय, स्वर्ग के द्वार सूर्यनारायण की उपासना करते हैं। उपासना के मंत्र का अर्थ यह है—"अनुष्ठित और प्रतीयमान धर्म, वेद और शुभाशुभ फल के अधिष्ठाता सूर्यनारायण के हम शरणागत हैं।" क्षत्र आदि द्वीपों में वहाँ के निवासियों की आयु, इन्द्रिय-पटुता, सामर्थ्य, साहस, बल, विक्रम, बुद्धि आदि सिद्धियाँ स्वभावसिद्ध और समान हैं।

क्षत्र के बाद शाल्मलिद्वीप है। क्षत्रद्वीप को उसी के बराबर विस्तृत ईखरस का समुद्र घेरे हुए है। शाल्मलिद्वीप का विस्तार प्लक्षद्वीप से दूना है। शाल्मलिद्वीप को उसी के बराबर विस्तृत मदजल का सागर घेरे हुए है। शाल्मलिद्वीप मे शाल्मलि ( सेमर ) का बहुत बड़ा विशाल वृक्ष है। उसी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। कहा जाता है, इसी शाल्मलि वृक्ष पर पक्षियों के राजा गरुड़ रहते हैं। गरुड़जी जब नारायण को अपने ऊपर बिठाकर चलते हैं, तब उनके पंखों से ईश्वर की स्तुति के मंत्रों का उच्चारण होता है, इसीसे गरुड़जी का एक नाम 'छन्दःस्तोता' है। इस द्वीप के अधिपति थे राजा प्रियव्रत के पुत्र यज्ञबाहु। उनके सात पुत्र थे, इसलिए उन्होंने भी अपने द्वीप के सात खंड करके प्रत्येक खंड का राज्य एक-एक राज-कुमार को दे दिया। राजकुमारों के नाम थे सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात। ये ही नाम उनके अधिकृत खंडों के भी हैं। इन खंडों में सात प्रसिद्ध नदियाँ और सात पर्वत हैं, जो प्रत्येक खंड की सीमा पर स्थित हैं। स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, कुमुद, पुष्पवर्ष, सहस्र-श्रुति, ये पर्वत और अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नंदा और राका, ये महानदियाँ हैं। श्रुत-धर, वीर्यधर, वसुन्धर और इषंधर नाम के चार वर्ण हैं। ये वेदमय आत्मस्वरूप भगवान् सोम की वेदोक्त विधि से उपासना करते और यह मंत्र पढ़ते हैं—"कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में अपनी किरणों से क्रमशः पितरों और देवतों को आहार पहुँचानेवाले भगवान् सोमदेव हमारे राजा और हम उनकी प्रजा हैं।"

शाल्मलिद्वीप के बाद मदजलसमुद्र के उस पार कुशद्वीप है। यह विस्तार में शाल्मलिद्वीप से दूना है। इसे भी इसके बराबर विस्तृत घृत का सागर घेरे हुए है। इस कुशद्वीप में देवनिर्मित अर्थात् आपसे उगा हुआ विशाल कुशवृक्ष है। उसी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। यह दिव्य वृक्ष दूसरे अग्नि के समान प्रकाशपुंज है। इसका प्रकाश चारों ओर के स्थान को प्रकाशित करता है। राजा प्रियव्रत के पुत्र हिरण्यरेता इस द्वीप के राजा थे। उन्होंने वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव नाम के अपने पुत्रों के नाम पर कुश द्वीप के सात खंड करके उनका राज्य उन्हें सौंप दिया और आप तपस्या करने चले गये। इन सातों खंडों में सात प्रसिद्ध सीमा-पर्वत और सात महानदियाँ हैं। पर्वतों के नाम चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा, द्रविण, बभ्रु और नदियों के नाम रस-कुल्या, मधुकुल्या, मित्रविंदा, श्रुतविंदा, देवगर्भा, घृतच्युता और मंत्रमाला हैं। वहाँ कुशल, कोविद, अभि-युक्त और कुलक नाम के चार वर्ण रहते हैं। ये लोग पूर्वोक्त पवित्र नदियों में स्नान करने से विशुद्ध होकर

कर्मकाण्ड के द्वारा भगवान् की उपासना करते हैं और इस मंत्र का पाठ करते हैं—"हे जातवेदा अग्निदेव, आप परब्रह्म का हव्यान्न उन तक पहुँचाते हैं। हे हव्यवाहन, ईश्वर के अंगस्वरूप देवगण के यजन द्वारा परमपुरुष की पूजा करके इन्द्रादि नामों का उच्चारण करते हुए जो आहुति दी जाती है, उसे वे ईश्वर के रूप देवता आप ही के द्वारा पाते हैं।"

इस द्वीप के बाद घृतसागर के बाहर क्रौंचद्वीप है। यह कुशद्वीप से दूना बड़ा है। यह भी अपने बराबर विस्तृत क्षीरसागर से घिरा हुआ है। इस द्वीप में क्रौंच नाम का विशाल पर्वत है, इसी से यह द्वीप क्रौंचद्वीप कहलाता है। शिवपुत्र कार्तिकेय ने किसी समय अपनी 'शक्ति' का प्रहार करके इस पर्वत को फाड दिया था। पर चारों ओर क्षीरसागर से घिरे रहने के कारण और वरुणदेव की कृपादृष्टि से यह पर्वत निर्भय हो गया। प्रियव्रत के पुत्र घृतपृष्ठ इस द्वीप के स्वामी थे। उन्होंने भी अपने सात पुत्रों के नाम पर इस द्वीप के सात खंड करके उन्हें अपने पुत्रों को दे दिया और आप आत्मज्ञान प्राप्त कर मंगलमय वासुदेव के चरणों का आश्रय ग्रहण किया। उन खंडों और उनके स्वामियों के नाम हैं आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति। इन खंडों में शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र नाम के सात प्रसिद्ध सीमापर्वत तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती और शुक्ला नाम की सात महानदियाँ हैं। इनका जल निर्मल और परम पवित्र है। यहाँ पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक नाम के चार वर्ण रहते हैं। ये इन नदियों में नहाकर जलपूर्ण अंजलि से जलरूप नारायण की पूजा करते और यह मंत्र पढ़ते हैं—"हे जलदेव, तुमको ईश्वर ने सामर्थ्य दिया है, इसलिए भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों को तुम पवित्र करते हो। हम तुम्हारा स्पर्श करते हैं; तुम हमारे शरीर और मन को पवित्र करो। तुम्हारी प्रकृति ही पापनाशिनी है।"

इस द्वीप के बाद घृतसागर के बाहर शाकद्वीप है। इसका विस्तार क्रौंचद्वीप से दूना है। इसे भी इसके बराबर विस्तृत दही का सागर घेरे हुए है। इसमें शाक का विशाल वृक्ष है। उसी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। इस वृक्ष की दिव्य सुगन्ध सारे द्वीप को सुवासित करती रहती है। राजा प्रियव्रत के पुत्र मेधातिथि इसके स्वामी थे। उन्होंने भी अपने सात पुत्रों के लिए इस द्वीप के सात टुकड़े कर डाले और फिर एक-एक पुत्र को एक-एक खंड का राज्य देकर आप भगवद्भजन की इच्छा से तपोवन को चले गए। खंडों के नाम है पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधार। यही नाम राजकुमारों के भी थे। इन खंडों में भी सात ही सीमा-पर्वत और सात ही महानदी है। पर्वतों के नाम हैं—ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेसर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महासन। नदियों के नाम है—अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पंचपदी, सहस्रस्रुति और निजधृति। इस द्वीप मे ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नाम के चार वर्ण हैं। वे प्राणायाम द्वारा रजोगुण और तमोगुण की वासनाओं को मिटाकर समाधियोग के द्वारा वायुरूप नारायण की आराधना करते और यह मंत्र पढ़ते हैं—"प्राण आदि व्यावहारिक नामों के द्वारा सब प्राणियों के भीतर प्रवेश कर उनका पालन करनेवाले, सबके अन्तर्यामी, सर्वव्यापी वायुरूप ईश्वर हमारी रक्षा करें।"

शाकद्वीप के बाद दधिसमुद्र के बाहर पुष्कर द्वीप है। यह विस्तार में शाकद्वीप से दूना है। इसमें बड़ा भारी पुष्कर ( कमल ) है। उसी के नाम पर इस द्वीप का नाम रक्खा गया है। इस पुष्कर में अग्निशिखा के समान प्रकाशित एक लाख सुवर्ण-दल हैं। इसी कमल पर भगवान् ब्रह्मा का आसन है। इस पुष्करद्वीप को चारों ओर से मीठे जल का सागर घेरे हुए है। यह सागर भी इस द्वीप के बराबर विस्तृत है। पुष्करद्वीप में केवल दो खंड हैं, जिन्हें पूर्व और पश्चिम में मानसोत्तर नाम का सीमा-पर्वत अलग करता है। यह

पर्वत दस हज़ार योजन ऊँचा है। इसका घेरा भी इतना ही बड़ा है। इस द्वीप के चारों ओर चारों दिशाओं में इन्द्र आदि चार प्रधान लोकपालों की पुरियाँ बनी हुई हैं। देवतों के दिन-रात्रि अर्थात् दक्षिणायण और उत्तरायण के समय में इन्हीं पुरियों के ऊपर सूर्य के रथ का संवत्सररूप चक्र घूमा करता है। इस द्वीप के स्वामी थे प्रियव्रत के पुत्र वीतिहोत्र। उन्होंने रमणक और धातक नाम के दो पुत्रों के लिए इन्हीं नामों के दो खंड करके उनका राज्य अपने पुत्रों को दे दिया। फिर वह अपने पुरखों की तरह भगवद्भजन करने लगे। वहाँ के निवासी लोग ब्रह्मसालोक्य आदि की साधना से भगवान् की मूर्त्ति ब्रह्माजी की आराधना करते और इस मंत्र को पढ़ते हैं—"आप ब्रह्म का बोध करानेवाले प्रसिद्ध कर्मफल का चिह्न हैं। आपकी निष्ठा केवल परमेश्वर में ही है। हे अद्वितीय, भक्तजन भक्तिपूर्वक आपका भजन और पूजन करते हैं। भगवन्, आप हमारा प्रणाम स्वीकार करें।"

महाराज, मीठे जल के सागर के बाद जो स्थान है, उसमें सूर्य-चन्द्र का प्रकाश नहीं पहुँचता। इधर प्रकाशयुक्त और उधर प्रकाशहीन देश है। प्रकाश और अन्धकार से युक्त देशों के बीच में लोकालोक नाम का बहुत ऊँचा पर्वत है। मानसोत्तर और सुमेरु पर्वतों के बीच में जितनी भूमि है, उतनी ही भूमि मीठे समुद्र के बाद भी है। यद्यपि वहाँ सूर्य-चन्द्र का प्रकाश नहीं है, तथापि प्राणियों का अभाव नहीं है। उसके उपरान्त सुवर्णमयी भूमि है, जो शीशे के समान स्वच्छ और चमकती हुई है। उसमें कोई वस्तु गिर पड़े तो उसीमें लीन हो जाती है। इसी कारण वहाँ केवल देवगण जा सकते हैं, अन्य किसी देहधारी की गति नहीं है *। इस पर्वत का नाम लोकालोक इसलिए है कि वह सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त लोक और सूर्यप्रकाश से रहित अलोक के बीच में रहकर उन्हें अलग करता है। त्रिलोकी के अन्त में इस पर्वत को ईश्वर ने सीमा के रूप में स्थापित किया है। यह पर्वत इतना लंबा-चौड़ा और ऊँचा है कि सूर्य, चन्द्र और ध्रुवलोक तक के ज्योतिर्गण का प्रकाश इसके उस पार नहीं पहुँचता। सब ज्योतिर्गण की किरणें इसके इसी ओर प्रकाश फैलाती रहती हैं। ध्रुवलोक से भी ऊँचा होने के कारण यह पर्वत वास्तव में त्रिलोकी की सीमा के समान है। भूगोल के पंडितों ने इस तरह नाम और आकार के साथ पृथ्वीमण्डल के लोकों की रचना कही है। यह भूगोल पचास करोड़ योजन विस्तृत है और इस लोकालोक पर्वत का विस्तार उसका चौथाई अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन है। जगद्गुरु स्वयंभू ब्रह्मा ने उसके ऊपर चारों दिशाओं मे चार दिग्गजों को रख दिया है। उनके नाम हैं ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन और अपराजित। इन्हीं से सब लोकों की स्थिति है, अर्थात् ये सारे पृथ्वीमण्डल को धारण किये हुए हैं। ये दिग्गज और लोकपाल आदि जिन महापुरुष की विभूतियाँ हैं, वही सबके अन्तर्यामी हरि इन अपनी विभूतियों की शक्ति बढ़ाने और सब लोकों का मंगल करने के लिए लोकालोक पर्वत के ऊपर अवस्थित हैं। ज्ञान, वैराग्य, आठ ऐश्वर्य और आठ सिद्धि आदि जिसके उपलक्षण हैं, उस अपने विशुद्ध सत्व को धारण किये हुए भगवान् विशाल भुजाओं में शंख, चक्र, गदा आदि शस्त्र लेकर विष्वक्सेन आदि प्रिय प्रधान पार्षदों के साथ उस पर्वत के ऊपर चारों ओर विचरते रहते हैं।

महाराज, लोक और अलोक का वर्णन करते समय अलोक का मध्यभाग में जितना विस्तार बता चुके हैं, उसीसे उसका पूर्ण परिमाण जान लेना चाहिए। यह अलोकविभाग लोकालोक पर्वत के उधर है, इसलिए इसका परिमाण सुमेरु के एक ओर तक साढ़े बारह करोड़ योजन है। विद्वानों का कहना है कि इस

---

*श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका मे लिखा है कि मानसोत्तर और सुमेरु के बीच मे १५७ लाख ५० हज़ार योजन भूमि है। मीठे सागर के उपरान्त भी इतनी ही पृथ्वी है। आगे जो सुवर्णभूमि कही गई है, उसका विस्तार आठ करोड़ उन्तालीस लाख योजन है। इस प्रकार सुमेरु से लोकालोक पर्वत की दूरी साढ़े बारह करोड़ योजन हुई।

अलोकविभाग के आगे केवल योगी लोगों की ही गति है। मरे हुए ब्राह्मण-पुत्र को लाने के लिए जब अर्जुन कृष्णचन्द्र के साथ सब लोकों में गये थे, तब भगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुन को इस स्थान में भी ले गये थे। यह स्थान परम पवित्र है।

राजन्, ब्रह्माण्ड के बीच ठीक मध्यस्थान में सूर्यमण्डल है। स्वर्ग और भूमि के बीच का स्थान, जिसे अन्तरिक्ष कहते हैं, ब्रह्माण्ड का मध्य है। सूर्यमण्डल और अण्ड-गोलक के बीच का स्थान चारों ओर से पचीस करोड़ योजन है। सूर्य को मार्तण्ड भी कहते हैं। वह निद्रा से मृतप्राय (अचेतन) ब्रह्माण्ड में वैराज अर्थात् चेतनारूप से प्रवेश करते हैं—उसे जगाते हैं, इसीसे वह मार्तण्ड कहलाते हैं। हिरण्मय अंड से सूर्य की उत्पत्ति हुई है, इसीसे उनका एक नाम हिरण्यगर्भ भी है। दिशा, आकाश, पृथ्वी आदि विभागों का विभाजन सूर्य से ही होता है। भोग और मोक्ष के स्थान (स्वर्ग और मनुष्यलोक), नरक और अतल आदि नीचे के लोकों का अलग-अलग विभाग भी सूर्य से ही होता है। इसीलिए लोकचक्षु सूर्यनारायण की पूजा करनी चाहिए। देव, मानव, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, लता, ओषधि और सब जीवों के आत्मा (जिलाने और बढ़ानेवाले) सूर्य ही हैं। वह ईश्वर की श्रेष्ठ विभूति और सबकी आँखें है।

# इक्कीसवाँ अध्याय

## राशि-संचार

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित्, यह भूमण्डल पचीस करोड़ योजन ऊँचा है। इसका घेरा पचास करोड़ योजन है। प्रमाण और लक्षण के साथ इस भूमण्डल के सब स्थानों का वर्णन हम कर चुके। स्वर्गलोक का परिमाण जाननेवाले ऋषियों ने उसका परिमाण भी इतना ही बतलाया है। चना, उड़द, मूँग आदि अन्नों के एक दाने में दो दल होते हैं और दोनों का परिमाण बराबर होता है। उसी तरह भूमण्डल और स्वर्गमण्डल ब्रह्माण्ड के दो दल हैं। दोनों का परिमाण बराबर है। इन दोनों के बीच का आकाश जिसे अन्तरिक्ष कहते है, दोनों खण्डों को जोड़ता है। वह उड़द आदि द्विदल अन्नों मे दिखाई देनेवाले सफेद अँखुए के समान है। इसी अन्तरिक्ष के मध्यभाग में स्थित सूर्यदेव अपनी असंख्य किरणों से तीनों लोकों को प्रकाश और ताप (गर्मी) पहुँचाते हैं। सूर्य की उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुव नाम की तीन गतियाँ एक वर्ष में होती हैं। उत्तरायण में मंद गति से, दक्षिणायन में शीघ्र गति से और विषुव में समान गति से मकर आदि बारह राशियों में सूर्यदेव घूमते है। इस गति के अनुसार ही उत्तरायण में दिन बड़े और रात छोटी, दक्षिणायन में दिन छोटे और रात बड़ी तथा विषुवकाल में दिन-रात बराबर होते हैं। इसका और खुलासा यों है कि मेष और तुलाराशि में सूर्य के रहने में दिन और रात बराबर रहते है; वृष से कन्या तक पाँच राशियों में सूर्य के रहने पर दिन बड़े होने लगते हैं और हर महीने रात एक-एक घड़ी घटती जाती है; वृश्चिक से मीन तक सूर्य के रहने पर रातें बड़ी होने लगती हैं और दिन हर महीने एक-एक घड़ी घटते जाते हैं। तात्पर्य यह कि दक्षिणायन लगने तक दिन और उत्तरायण आने तक रातें बढ़ती हैं। पण्डितों का कहना है कि सूर्यदेव इन तीनों प्रकार की गतियों से मानसोत्तर पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए नव करोड़ इक्यावन लाख योजन का चक्कर लगाते हैं। मानसोत्तर पर्वत पर सुमेरु के पूर्व में इन्द्रदेव की देवधानी नाम की पुरी है, जिसे अमरावती भी कहते हैं। इसी तरह उसके दक्षिण में यमराज की संय-

मनी, पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी और उत्तर में चन्द्रमा की विभावरी नाम की पुरी है। इन पुरियों में सुमेरु के चारों ओर विशेष-विशेष समय में सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त और आधी रात होती है। सूर्योदय में उठकर प्राणी अपने कामकाज करने लगते हैं, सूर्यास्त में दिन के काम बंद करके ईश्वर की आराधना करते और फिर सो जाते हैं। सुमेरु में रहनेवालों के लिए सदा दोपहर ही रहती है। उन्हें सदा दोपहर की ही गर्मी मालूम होती है; क्योंकि सूर्यमंडल उनके मस्तक के ऊपर ही रहता है। सूर्यदेव का मुख नक्षत्रों की ओर रहता है, इस कारण यद्यपि वह अपनी यात्रा में सुमेरु को बाईं ओर छोड़कर जाते है, तथापि दक्षिणावर्त चलनेवाला प्रवह नाम का वायु ज्योतिश्चक्र को घुमाता रहता है और इसलिए सूर्यदेव के दक्षिण ओर ही सुमेरु रहता है। इस प्रकार चक्राकार गति के कारण बहुत दूर से जब सूर्यमंडल क्षितिज से मिला हुआ देख पड़ता है, तब वह सूर्य का उदय होना कहलाता है; सूर्य का आकाश में ऊपर चढ़े हुए देख पड़ना मध्याह्न और भूमि में प्रवेश करते हुए से देख पड़ना सूर्यास्त है। उनका एक दम दूर चले जाना आधी रात है। वेद में भी समुद्रतीर की दृष्टि के क्रम से कहा गया है कि सूर्यनारायण प्रातःकाल जल से निकलते है और शाम को जल मे प्रवेश करते हैं। वास्तव मे यह श्रुति का कथन व्यवहारमात्र है, अर्थात् समुद्रतट पर खड़े होकर देखने से ऐसा जान पड़ता है, पर यह यथार्थ नहीं है। सूर्य जहाँ निकलते है, ठीक उसकी सीध में ही अस्त होते हैं, एक सूत का भी अन्तर नहीं पड़ता। दोपहर को वह जहाँ के प्राणियों को अपने प्रबल ताप से पसीने से तर करते हैं, ठीक उसी की सीध में आधी रात के समय लोगों को निद्रामग्न करते हैं। इसलिए जो सूर्य का अस्त होना लोग देखते हैं, उसका अर्थ इतना ही है कि उनको फिर वहाँ सूर्य के दर्शन नहीं होते। असल बात यह है कि सूर्यदेव बराबर आकाश में चक्राकार गति से घूमा करते हैं, वह उदय या अस्त नहीं होते। वह जहाँ क्षितिज से निकलते देख पड़ते हैं, वहीं उनका उदय है और जहाँ क्षितिज में छिपते देख पडते हैं, वहाँ उनका अस्त होना है*। सूर्य इन्द्रपुरी से चलकर पंद्रह घड़ी में यमपुरी तक पहुँच जाते हैं और इतने ही समय में दो करोड़ पौने अड़तीस लाख योजन भ्रमण करते हैं। इसी प्रकार इसी हिसाब से वह यमपुरी से वरुण की पुरी में, वहाँ से चंद्रमा की पुरी में होते हुए फिर इन्द्रपुरी में प्रवेश करते हैं। राजन्, सूर्यदेव का वेदमय रथ एक मुहूर्त्त अर्थात् दो घड़ी में चौंतीस लाख आठ सौ योजन के हिसाब से घूमता हुआ इन्द्र आदि लोकपालों की चारों पुरियों के चारों ओर भ्रमण करता है। सूर्य के रथ में एक ही पहिया है; उसे संवत्सर कहते हैं। शास्त्रों के अनुसार साल के बारह महीने उसके आरे और तीन चौमासे उसकी नाभि हैं। रथ के धुरे का एक सिरा सुमेरु के मस्तक पर और दूसरा सिरा मानसोत्तर पर्वत

---

* यह सब वर्णन विष्णुपुराण के अनुसार है। विष्णुपुराण के वे श्लोक हम यहा लिखे देते हैं—

उदयास्तमये चैव सर्वकालन्तु सम्मुखे।
दिशास्वशेषासु तथा मैत्रेय विदिशासु च॥
यैर्यत्र दृश्यते भास्वान्स तेषामुदयः स्मृतः।
तिरोभावश्च यत्रैव तत्रैवास्तमनं रवेः॥
नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा स्मृतः।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः।
शक्रादीनां पुरे तिष्ठन्नृशत्येष पुरत्रयम्॥
विकर्णौ द्वौ विकर्णस्थस्त्रीन्कोणान्द्वे पुरे तथा।

तथा—सर्वेषा द्वीपवर्षाणा मेरुरुत्तरतः स्थितः।

अर्थात् यतो यत्र यः पश्यति सैव तस्य प्राची तस्य च वामतो मेरुस्तिष्ठति।

पर रक्खा हुआ है। मानसोत्तर पर्वत पर टिका हुआ सूर्य का रथ कोल्हू की तरह नित्य घूमता रहता है। सूर्यरथ के दो अक्ष ( जुआ ) हैं। पहला अक्ष सुमेरु से मानसोत्तर पर्वत तक लंबा है। उसका परिमाण एक करोड़ साढ़े सत्तावन लाख योजन है। दूसरा अक्ष उसका चतुर्थांश अर्थात् तेंतालिस लाख साढ़े सैंतिस हज़ार योजन है। पहले अक्ष में दूसरे अक्ष का पूर्वभाग बँधा हुआ है और वायुपाश के द्वारा उसका ऊपरी हिस्सा कोल्हू की तरह ध्रुवलोक से संयुक्त है। इस रथ में बैठने का आसन छत्तीस लाख योजन लंबा और नव लाख योजन चौड़ा है। इस रथ का 'युग' भी इतना ही लंबा-चौड़ा है। गायत्री आदि सात वैदिक छंद इस रथ के घोड़े हैं। अरुण सारथी बनकर उन्हें हाँकते हैं। यही घोड़े आदित्यदेव के रथ को आकाशमार्ग में चलाते हैं। अरुण का मुख सूर्य की ओर और पीठ घोड़ों की ओर रहती है। साठ हज़ार बालखिल्य नाम के तेजस्वी ऋषि, जिनका डीलडौल अँगूठे की पोर के बराबर है, सूर्य की ओर मुख करके रथ के आगे स्तुति करते हुए पिछले पैरों चलते हैं। ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प, यक्ष, दैत्य और देवतों के भिन्न गण भी हर महीने अपने-अपने काम करते हुए परमात्मारूप सूर्यनारायण की उपासना करते हैं। ये सब गण संख्या में चौदह-चौदह है। जोड़ा-जोड़ा होकर इनके सात गण बन जाते हैं। राजन्, ऋषि आदि के सात गणों के साथ सूर्यनारायण साढ़े नौ करोड़ एक लाख दो योजन भूमण्डल के दो कोस अधिक दो हज़ार योजनों को एक क्षण में पीछे छोड़ जाते हैं।

# बाईसवाँ अध्याय

## सोम, शुक्र आदि ग्रहों की स्थिति

राजा परीक्षित् ने पूछा—मुनिवर, आपने अभी कहा है कि भगवान् सूर्यदेव सुमेरु और ध्रुव की प्रदक्षिणा करते हुए सब राशियों के अभिमुख जाते हैं, पर राशियाँ और ध्रुव उनके दाहनी ओर नहीं, बाईं ओर रहते हैं—यह हमें परस्परविरुद्ध-सा जान पड़ता है, इसलिए हमारी समझ में नहीं आता। कृपा कर इसे स झाकर कहिए। श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज, जिस प्रकार कुँभार का चाक जब एक ओर मुँह करके घूमता है, तब उसके ऊपर रहनेवाले चींटी आदि जीव अलग-अलग जगहों में भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियों से चलते देख पड़ते हैं, उसी प्रकार नक्षत्र-राशिरूप कालचक्र के आश्रित सूर्य आदि ग्रह भी भिन्न-भिन्न राशियों और नक्षत्रों में स्थित होकर भिन्न-भिन्न गतियों से घूमते हैं। यह राशिचक्र या काल-चक्र ध्रुव और मेरु की प्रदक्षिणा करता हुआ घूमता है और इसी के साथ सूर्य आदि ग्रह भी घूमते हैं। यही आदिपुरुष भगवान् सूर्यदेव साक्षात् नारायण हैं। यह सब लोकों के कल्याण के लिए कर्म-विशुद्धि के कारणरूप अपने वेदमय शरीर के बारह विभाग करके, अर्थात् बारह महीनों में बारह आदित्य के रूप से, वसन्त आदि छः ऋतुओं में, जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि का विधान करते हैं, जिनमें लोग अपने कर्मों का फल भोगते हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी और वेद भी भगवान् के इस रूप को जानना चाहते हैं। वर्णाश्रम-धर्म के अनुगामी लोग वेदोक्त यज्ञ आदि कर्मों से इनके इन्द्र आदि रूपों की और ध्यान-धारणा आदि आठ अंग-वाले योग के अभ्यास से अन्तर्यामीरूप की श्रद्धापूर्वक पूजा-उपासना करके सहज में ही कल्याण ( स्वर्ग और मोक्ष ) प्राप्त करते हैं। यह सूर्यदेव सबके आत्मा हैं। स्वर्ग और भूमण्डल के बीच अन्तरिक्ष में अवस्थित कालचक्र में घूमते हुए सूर्यनारायण बारह राशियों को भोगते हैं। चैत्र आदि बारह महीने ही मेष

आदि राशियाँ हैं अर्थात् चैत्र आदि महीनों में ही क्रमशः मेष आदि राशियों की सूर्य-संक्रान्ति होती है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना ही संक्रान्ति है। ये महीने वर्ष का अंग हैं। दो पक्ष का एक महीना और दो महीने की एक ऋतु होती है। चन्द्रमा सवा दो दिन में एक राशि का उपभोग करते है और सूर्य प्रायः एक महीने में। सूर्य जितने समय में आधे आकाशमण्डल में घूमते हैं, अर्थात् छः राशियों का भोग करते हैं, उतने समय को अयन कहते हैं। इस प्रकार छः-छः महीने का उत्तरायण और दक्षिणायन होता है। सूर्यदेव जितने समय में स्वर्गमण्डल और भूमण्डल सहित संपूर्ण राशिचक्र में घूम आते है, उतने समय का एक वर्ष होता है। सूर्य की धीमी, तेज और सम गति के अनुसार संवत्सर, परिवत्सर, इड़ावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर नाम के पाँच प्रकार के वर्ष होते हैं। जब शुक्लपक्ष की परेवा को सूर्य की संक्रान्ति होती है, तब सौर और चान्द्र दोनों महीने एक साथ पूरे होते है। उसी को संवत्सर कहते हैं। इसके बाद सौरमान से साल में छः दिन बढ़ते हैं और चान्द्रमान से छः दिन घटते हैं। इस प्रकार दोनों में बारह दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार जब पाँच वर्ष पूरे होते हैं, तब बीच में दो मलमास जोड़कर वर्षों की दिन-संख्या बराबर कर ली जाती है।

सूर्यमण्डल के ऊपर लाख योजन पर चंद्रदेव है। यह पृथ्वीतल से दो लाख योजन ऊँचे हैं। चन्द्रमा की गति सूर्य की गति से बहुत तेज है। सूर्य एक वर्ष में जितना चलते है, उतना चन्द्रमा एक महीने में ही चले जाते है, अर्थात् सूर्य एक वर्ष में बारह राशियों को भोगते हैं तो चन्द्रमा एक महीने में ही। एक राशि को सूर्य एक महीने में नाँघते है तो चन्द्रमा सवा दो दिन में ही नाँघ जाते है। सूर्य एक पक्ष में जितनी यात्रा करते हैं, चन्द्रमा एक दिन में ही उतनी यात्रा कर चुकते हैं। चन्द्रमा की सोलहों कलाएँ पूरी होने पर देवतों का और सब कलाएँ क्षीण हो जाने पर पितरों का दिन होता है—अर्थात् शुक्लपक्ष देवतों का दिन है और कृष्णपक्ष पितरों का। चन्द्रमा इस तरह अपने शुक्ल-कृष्ण पक्षों से देवतों और पितरों के दिन और रात का विभाग करते है। यह तीस मुहूर्त्त में एक नक्षत्र को भोगते हैं। दो घड़ी का एक मुहूर्त्त होता है। चन्द्रग्रह अन्नमय और अमृतमय है, इसीलिए सब जीवों का प्राणस्वरूप है। सबका जीवन-मूल होने के कारण चन्द्रमा को जीव भी कहते है। इस प्रकार सोलह कलाओं से युक्त चन्द्ररूप भगवान् की विभूति मनोमय, अन्नमय और अमृतमय है। चन्द्रदेव देवता, पितृगण, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष-लता-ओषधि आदि सबको अपनी किरणों से आप्यायित करते है। इसी कारण ऋषियों ने उन्हें सर्वमय माना है।

चन्द्रमण्डल से दो लाख योजन ऊपर अभिजित् सहित अश्विनी आदि अट्ठाईस नक्षत्र ईश्वर की प्रेरणा से कालचक्र के आश्रित रहकर घूमते है। नक्षत्र-मण्डल से दो लाख योजन ऊपर शुक्रग्रह का स्थान है। सामने सूर्य अगर किसी नक्षत्र में होते हैं तो शुक्र उनके पीछे की ओर रहता है। अगर कभी एक ही राशि में दोनों ग्रह आ पड़ते हैं, तो शुक्र अतिचारी या वक्री हो जाता है, अर्थात् पीछे लौटकर दूसरी राशि में जाता है। शुक्र की भी सूर्य की तरह शीघ्र, मंद और सम, तीन प्रकार की गतियाँ है। शुक्र सदा लोगों के अनुकूल ही रहता है, बुरा फल नहीं देता। शुक्र के संचरण में प्रायः अच्छी वर्षा हुआ करती है। इसलिए जो शनि, मंगल आदि ग्रह वर्षा में विघ्न डालनेवाले होते हैं, उनके बुरे प्रभाव को भी शुक्र शान्त कर देता है।

शुक्र की ही स्थिति और गति के समान बुध ग्रह की भी स्थिति और गति है। बुध कभी सूर्य के आगे, कभी पीछे और कभी साथ ही रहते हैं। शुक्र ग्रह से दो लाख योजन ऊपर बुध का स्थान है। चंद्रपुत्र बुध प्रायः लोगों का भला ही करते हैं; किन्तु जब अतिचारी या वक्री हो जाते हैं, तब पृथ्वी पर प्रबल आँधी आती है; बादल आते हैं, पर बरसते नहीं; कभी अनावृष्टि का भी भय होता है।

बुध के ऊपर दो लाख योजन पर मंगल का स्थान है। मंगल जब वक्री होते हैं, तब डेढ़ महीने में एक राशि भोगते हैं। यह पापग्रह और अशुभफलदायक है।

मंगल से दो लाख योजन ऊपर बृहस्पति ग्रह है। यह साधारणतः एक राशि में तेरह महीने रहते हैं। वक्री होने पर इनकी गति में कुछ अन्तर पड़ जाता है। साधारणतः सबके लिए और विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए यह मंगलकारी हैं। किसी का अनिष्ट इनसे नहीं होता।

बृहस्पति से दो लाख योजन ऊपर शनिग्रह है। यह ग्रह एक राशि में ढाई वर्ष रहता है और तीस वर्ष में बारहों राशियों को भोगता है। इतनी धीमी गति के कारण ही इसका नाम शनैश्चर है। यह पापग्रह है और सभी को इससे अशान्ति ही मिलती है।

शनि के ऊपर ग्यारह लाख योजन पर राशिचक्र के बाहर सप्तर्षिमण्डल है। ये सातों ऋषि सारे संसार की कामना के लिए शान्ति और कल्याण की कामना करते रहते हैं। विष्णु भगवान् के परमपद ध्रुवलोक की ही ये प्रदक्षिणा करते हैं।

# तेईसवाँ अध्याय

## शिशुमारचक्र का वर्णन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सप्तर्षिमंडल से तेरह लाख योजन ऊपर विष्णु भगवान का परमपद है। इसमें उत्तानपाद राजा के पुत्र श्रेष्ठ भगवद्भक्त ध्रुवजी निवास करते हैं। एक कल्प तक की आयुवाले नक्षत्ररूपी अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप, धर्म आदि सादर उस ध्रुवलोक की प्रदक्षिणा किया करते हैं। ध्रुवजी का चरित्र इसी भागवत में वर्णन किया गया है। अकुण्ठित और अव्यक्त गतिवाले काल की गति के क्रम से ये सब ग्रह-नक्षत्र बराबर आकाश में चक्कर लगाते रहते हैं। परमेश्वर ने इस ध्रुवलोक को उन सबका आधारस्तम्भ बना दिया है। यह लोक सदा प्रकाशमान रहता है। जैसे अन्न की मड़नी होने के समय एक खंभे में रस्सी से बँधे हुए बैल निकट, मध्य और दूर के क्रम से अपनी-अपनी जगह ( कक्षा ) में मण्डलाकार चक्कर लगाते हैं, वैसे ही ये सब ग्रह और नक्षत्र इसी कालचक्र ( राशिमंडल ) के भीतर और बाहर बँधे रहकर ध्रुवलोक के ही अवलम्ब पर स्थित हैं। वायु इन सबका परिचालन करता है। ये कल्प के अन्त तक बराबर मंडलाकार गति से घूमते रहते हैं। जैसे बादल और बाज आदि पक्षी अपने कर्म की सहायता से वायु के सहारे आकाश में घूमते हैं और गिरते नहीं, वैसे ही ये सब नक्षत्र और ग्रह आकाश में राशिचक्र के भीतर और बाहर रहकर ध्रुव के ही आश्रय से घूमते हैं, पृथ्वी पर नहीं गिरते। इनकी गति इनके कर्मों से निर्मित है और प्रकृति-पुरुष के संयोग से ये वहाँ पर स्थिर हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस ज्योतिश्चक्र को भगवान् वासुदेव शिशुमाररूप रखकर अपने योगबल से धारण किये हुए हैं। इस शिशुमारचक्र का सिर नीचे है और सारा शरीर मंडलाकार कुण्डल-सा है। शिशुमार की पूँछ के अग्रभाग में ध्रुव स्थित हैं। उससे नीचे अर्थात् पूँछ के मध्यभाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म हैं। पूँछ की जड़ में धाता और विधाता हैं। कमर में सप्तर्षि हैं। शिशुमार के दक्षिणावर्त कुण्डलीभूत शरीर के दाहने हिस्से में अभिजित् से लेकर पुनर्वसु तक चौदह नक्षत्र और बाएँ हिस्से में पुष्य से लेकर उत्तराषाढ़ तक चौदह नक्षत्र अवस्थित हैं। शिशुमार की पीठ में अजवीथी ( छायापथ ) और उदर में आकाशगंगा है। पूर्वोक्त नक्षत्रों की अवस्थिति का ब्यौरा इस

तरह है—पुनर्वसु और पुष्य शिशुमार के दाहने और बाएँ नितम्ब में, आर्द्रा और श्लेषा पीछे के दाहने-बाएँ पैरों में, अभिजित् और उत्तराषाढ़ नासिका के दाहने-बाएँ छेदों में, श्रवण और पूर्वाषाढ़ दाहने-बाएँ नेत्रों में, धनिष्ठा और मूल दाहने-बाएँ कानों में, मघा से लेकर अनुराधा तक दक्षिणायन के आठ नक्षत्र बाइ ओर की पसलियों में और उलटे क्रम से मृगशिरा से लेकर पूर्वभाद्रपद तक उत्तरायण के आठ नक्षत्र दाहनी ओर की पसलियों में और शतभिषा तथा ज्येष्ठा दाहने-बाएँ कंधों में स्थित हैं। शिशुमार के उत्तर हनु ( ठोढ़ी ) में अगस्त्य (नक्षत्र) और अधर हनु में यम ( नक्षत्र ) हैं। उसके मुख में मंगलग्रह, उपस्थ में शनिग्रह, ककुद् में बृहस्पति, वक्षःस्थल में सूर्य, हृदय में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्रग्रह, स्तनों में अश्विनीकुमार, प्राण-अपान में बुधग्रह, गले में तथा सब अंगों में केतु और रोम-रोम में तारागण हैं। भगवान विष्णु का यह सर्वदेवमय रूप है। इसे जो लोग नित्य संध्याकाल में शुद्ध होकर वाणी के संयम के साथ देखता है, और इस प्रकार कहता है कि "मैं ज्योतिर्गण के आधार, कालचक्ररूप, देवतों के अधिपति महापुरुष शिशुमार-रूप नारायण को प्रणाम करता हूँ," उसके उस दिन के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। ग्रह-नक्षत्र-तारागणमय सब देवगण के आश्रयरूप भगवान् शिशुमार की जो लोग त्रिकाल वन्दना करते हैं, उनका ध्यान करते हैं, वे सब पापों से छुटकारा पा जाते हैं।

# चौबीसवाँ अध्याय

## अतल आदि सात लोक

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, कुछ लोगों का कहना है कि सूर्य से नीचे दस हज़ार योजन पर राहुग्रह ( पृथ्वी की छाया ) नक्षत्र की तरह भ्रमण करता है। यह राहु सिंहिका राक्षसी का पुत्र है, जिसे हनुमान् ने सागर पार करते समय मारा था। यह अधम असुर देवपद पाने के योग्य न था, पर भगवान् के अनुग्रह से यह एक ग्रह मान लिया गया और सूर्य आदि ग्रहों के साथ पूजा जाने लगा। इसके जन्म और कर्म आगे वर्णन किये जायँगे। सूर्यमण्डल का घेरा दस हज़ार योजन का और चन्द्रबिम्ब का घेरा बारह हज़ार योजन का है। पर राहु का घेरा इन दोनों से बड़ा तेरह हज़ार योजन का है। मोहिनीरूप नारायण ने जब दानवों को वंचित कर देवतों को अमृत पिलाना चाहा, तब धूर्त राहु देवतों की पंक्ति में आकर बैठ गया। भगवान् ने अमृत राहु को दिया ही था कि पास बैठे हुए सूर्य-चन्द्र ने इशारे से भगवान् को उसके छल की सूचना दे दी। इस पर नारायण ने तुरंत चक्र से राहु का सिर काट डाला। इसी वैर का बदला लेने के लिए राहु प्रत्येक पर्व में सूर्य या चन्द्र को निगलने के लिए दौड़ता है। भगवान् ने सूर्य और चन्द्र की रक्षा के लिए अपने चक्र को नियुक्त कर दिया है। सुदर्शनचक्र का तेज कोई सह नहीं सकता। सुदर्शन को तेज़ी के साथ घूमते देखकर राहु राह में ही ठहर जाता है और फिर घबराकर पीछे लौट आता है। इसी को लोग सूर्य-चन्द्र का ग्रहण कहते हैं। राहु की सरल और वक्र स्थिति के अनुसार अर्द्धग्रास और सर्वग्रास ग्रहण होता है। किन्तु यह सचमुच ग्रास नहीं है, ग्रास-सा देख पड़ता है; कारण, राहु सूर्य और चन्द्र के पास तक पहुँच ही नहीं पाता, केवल उनकी आड़ कर लेता है।

राहु से बारह हज़ार योजन नीचे सिद्ध, चारण, विद्याधर आदि के लोक हैं। उनका परिमाण दस हज़ार योजन का है। उनके नीचे यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के विचरने की जगह अन्तरिक्ष

है। यहाँ कोई ग्रह या नक्षत्र नहीं है, केवल शून्य है। जहाँ तक वायुमण्डल का संचार और मेघों की गति देख पड़ती है, वहाँ तक अन्तरिक्ष की सीमा है। उसके सौ योजन नीचे यह पृथ्वीमण्डल है। जितनी ऊँचाई तक हंस, भास, बाज, गरुड़ आदि श्रेष्ठ पक्षी उड़कर जाते हैं, वहाँ तक इस भूलोक का विस्तार है। राजन, यह हमने आपसे भूमण्डल की अवस्थिति का यथावत् वर्णन कर दिया। अब पृथ्वी के नीचे के लोकों का वर्णन करते हैं। पृथ्वी के नीचे दस-दस हज़ार योजन के अन्तर पर अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नाम के सात बिल हैं। इनमें स्वर्ग से भी अधिक मनोहर और रमणीय भवन, बाग़, क्रीड़ास्थल और विहारभूमियाँ हैं। इन समृद्धिसम्पन्न बिलों के निवासी कामभोग, ऐश्वर्य, आनन्द, सन्तति और सम्पत्ति से युक्त है। इन बिलों में दैत्य, दानव, नाग आदि बड़े सुख का जीवन बिताते हैं। उनकी स्त्री, लड़के, बन्धु-बान्धव और अनुचर उनके आज्ञाकारी, अनुरक्त और प्रसन्न-चित्त रहते हैं। इन्द्र आदि देवता भी इनकी कामनाओं के पूर्ण होने में बाधा नहीं डाल सकते। ये सब बड़े मायावी होते हैं। इन बिलों में महामायावी मय दानव की बनाई असंख्य पुरियाँ है। उनके भवन, चहार-दीवारी, गोपुर, सभा, चैत्य, चत्वर, आयतन आदि स्थानों में श्रेष्ठ मणियाँ लगी हुई हैं। इन बिलों के स्वामियों के बड़े-बड़े महल नाग, असुर आदि के जोड़ों तथा तोता, मैना, कबूतर आदि पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ के फ़र्श मणियों के और सुवर्ण के बने हैं। वहाँ के बाग़ स्वर्गलोक से भी बढ़कर शोभायमान हैं। उनमें ललित लताएँ जिनमें लिपटी हुई है, ऐसे वृक्षों की डालें फूलों, फलों के गुच्छों और नवपल्लवों के बोझ से झुकी रहती हैं। वह शोभा देखते ही मन और इन्द्रियाँ आनन्द में मग्न हो जाती हैं। वहाँ के जलाशयों में निर्मल जल भरा रहता है। उनमें मछली आदि जलजन्तु उछलते-कूदते हैं, जिससे पानी लहराया करता है। जल के ऊपर कमल, कुमुद, कह्लार, नीले कमल, लाल कमल आदि तरह-तरह के कमल खिले रहते हैं। उस कमल-वन में पक्षियों के जोड़े सुख से रहते हैं। वे जब कलोल करते हैं, तब उनकी मनोहर बोली सुननेवाले को प्रसन्न कर देती है। वहाँ सूर्य का प्रकाश न होने के कारण दिन या रात नहीं होती। इसीसे काल का भी भय नहीं; क्योंकि दिन-रात ही अपने चक्र से मनुष्य की आयु को हरते हैं। नागराज शेषजी के हज़ार सिरों पर जो श्रेष्ठ मणियाँ शोभायमान हैं, उन्हीं के प्रकाश से इन लोकों में अन्धकार नहीं रहने पाता। इन स्थानों के निवासी बराबर दिव्य ओषधियों का रस पीते हैं, रसायनरूप दिव्य अन्न खाते हैं और दिव्य जल में स्नान करते हैं, इस कारण उन्हें आधि (मानसिक कष्ट) और व्याधि (रोग) नहीं सतातीं। उनके पास न बुढ़ापा आता है, न उनके अंगों में झुर्रियाँ पड़ती हैं, न उनके बाल पकते हैं, न उनके शरीर का रंग बिगड़ता है, न उनके शरीर में दुर्गंध, पसीना, थकावट या सुस्ती देख पड़ती है। वे सदा जवान बने रहते हैं। वहाँ के निवासी मंगलरूप हैं। उन्हें केवल भगवान् के तेजोमय सुदर्शनचक्र का भय रहता है, अन्यथा और उन्हें कोई नहीं मार सकता। भगवान् का चक्र जब इन बिलों में कभी प्रवेश करता है, तब डर के मारे दैत्यों की स्त्रियों के गर्भ गिर पड़ते हैं।

[अब सब बिलों का अलग-अलग वर्णन करते हैं।] अतल नाम के पहले बिल में मायावी मयासुर का पुत्र बल रहता है। इस दानव ने छियानबे प्रकार की मायाओं का आविष्कार किया है। उनमें से कुछ मायाओं को अब भी मायावी जातियाँ जानती हैं और उनको काम में लाती हैं। इस असुर के मुख से जँभाई लेते समय तीन तरह की स्वैरिणी, कामिनी और पुंश्चली नाम की स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं। जो अपने वर्ण के पुरुष से रमण करती हैं, वे स्वैरिणी कहलाती हैं। जो हर एक वर्ण के पुरुष से रमण करती हैं, वे कामिनी कहलाती हैं। उनमें भी जो अतिचंचल हैं, वे पुंश्चली नाम से प्रसिद्ध हैं। इस बिल में जो कोई पुरुष पहुँच जाता है, उसे ये स्त्रियाँ हाटक नाम का रस पिलाकर अपने साथ रमण करने योग्य बनाकर

यथेष्ट क्रीड़ा करती हैं। वह पुरुष इनकी असाधारण विलासपूर्ण दृष्टि, अनुरागभरी मुसकान, बातचीत और आलिंगन आदि से इनके वशीभूत हो जाता है, और जो कुछ ये स्त्रियाँ चाहती हैं, वही करता है। हाटकरस उसे एकदम मतवाला बना देता है। उसके प्रभाव से वह पुरुष अपने को ईश्वर और सिद्ध समझ बैठता है। उसके शरीर में दस हज़ार मस्त हाथियों का बल आ जाता है, जिससे वह सभी को तुच्छ समझने लगता है।

इसके नीचे वितल है। वहाँ अपने गणों के साथ हाटकेश्वर नाम के भगवान् शंकर रहते हैं और भवानी के साथ भगवान् प्रजापति की सृष्टि को बढ़ाते हैं। शिव और पार्वती के वीर्य से वहाँ हाटकी नाम की नदी बहती है। वहाँ वायु की सहायता से प्रज्वलित अग्निदेव निवास करते हैं। उन्हीं अग्नि के संयोग से शंकर का वीर्य हाटक नाम का उत्कृष्ट सुवर्ण बन जाता है। दैत्य और उनकी स्त्रियाँ उसी सोने के गहने पहनती हैं।

वितल के नीचे सुतललोक है। इस लोक में विरोचन के पुत्र महायशस्वी पुण्यश्लोक राजा बलि निवास करते हैं। उपेन्द्र भगवान् ने इन्द्र का प्रिय करने के लिए देवमाता अदिति के गर्भ से वामन अवतार लेकर पहले राजा बलि का त्रिलोकी का राज्य ले लिया और फिर भक्तराज बलि पर अनुग्रह करके उन्हें सुतललोक का स्वामी बना दिया। इस लोक में बलि को जो वैभव और सम्पदा प्राप्त है, वह इन्द्र-लोक में भी नहीं है। आराध्यदेव हरि की आराधना करते हुए राजा बलि निर्भय होकर सुतललोक में रहते हैं। यह सुतललोक का दुर्लभ ऐश्वर्य बलि के ईश्वर को पृथ्वीदान करने का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार के सात्विक दान का फल तो मुक्ति ही हो सकती है। सब जीवों के संचालक, आत्माराम, परमात्मा, भगवान् वासुदेव से बढ़कर दान के लिए उत्तम पात्र कौन हो सकता है? ऐसे सत्पात्र के स्वयं उपस्थित होने पर राजा बलि ने सच्ची श्रद्धा से अटल रहकर सादर भूमि का दान किया था। उसका यथार्थ फल उस बिल का अनित्य ऐश्वर्य कैसे हो सकता है? कर्म का बन्धन कोई साधारण बन्धन नहीं है। संसार से मुक्ति चाहनेवाले लोग इस कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए अनेक क्लेश सहकर योगाभ्यास आदि करते हैं। भूखे-प्यासे होने या पैर फिसलते, गिरते आदि के समय विवश अवस्था में मनुष्य एक बार जिनके नाम लेने पर ही कर्म के बन्धन से छूट जाता है, उन्हीं भगवान् को श्रद्धा-भक्ति के साथ अर्पण किये हुए भूमि-दान का फल केवल नश्वर ऐश्वर्य-वैभव कभी नहीं हो सकता। सुतल के राजा बलि का ऐश्वर्य उनके पुण्य का प्रासंगिक फल है, मुख्य फल नहीं। भोगविलास का ऐश्वर्य मायाजाल है। उसमें फँसने से भगवान् की याद फिर नहीं रहती। राजा बलि ने भगवान् से यह ऐश्वर्य कभी नहीं चाहा। वह तो भगवान् के अनन्य भक्त हैं। इन्द्र की इच्छा पूरी करने का और कोई उपाय न देखकर भगवान् ने राजा बलि से तीन पग पृथ्वी के बहाने त्रिभुवन का राज्य ले लिया। इतना ही नहीं, उनकी परीक्षा लेने के लिए वरुण-पाश से बँधवाकर उन्हें पर्वत की कन्दरा में डलवा दिया। फिर भी राजा बलि विचलित नहीं हुए। उन्होंने इन्द्र की नासमझी और ऐश्वर्यलोलुपता पर खेद प्रकट करते हुए कहा—"हा, कैसे खेद की बात है! यह देवताओं के राजा इन्द्र हैं! इनके गुरु, मंत्री और पूर्ण सहायक बृहस्पतिजी हैं, जिन्हें लोग बहुत बड़ा बुद्धिमान् और ज्ञानी कहते हैं। मेरी समझ में इन्द्र को परमार्थ का रत्तीभर ज्ञान नहीं है। कारण, उन्होंने महाप्रभु विष्णु भगवान् को प्रसन्न कर उनसे उनकी भक्ति या दास्यभाव नहीं माँगा। माँगा क्या, त्रिभुवन का तुच्छ राज्य, जिसका एक दिन आप ही अन्त हो जायगा! भगवान् के प्रसन्न होने पर उनसे उनका दास्यभाव माँगना ही बुद्धिमानों का काम है। बड़े वेग से चलनेवाले काल की गति सदा परिवर्तन करती रहती है। एक मन्वन्तर के बाद इन्द्रलोक और इन्द्र का पद, दोनों नष्ट हो जायँगे। इसीलिए मैं इस ऐश्वर्य को अत्यन्त तुच्छ समझता हूँ।

मेरे परदादा पूज्य प्रह्लादजी ने यही सोचकर हरि से उनकी भक्ति के सिवा और कुछ नहीं माँगा। हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद नृसिंह भगवान् ने प्रसन्न होकर प्रह्लादजी को उनके पिता का पद अर्थात् त्रिलोकी का राज्य देना चाहा था; पर प्रह्लादजी ने उसे नहीं स्वीकार किया। यद्यपि भगवत्कृपा से वह पद अकुतोभय था, तथापि भगवान् के अनन्य भक्त प्रह्लाद अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् की भक्ति ही सर्वोपरि परमार्थ है, संसार के और सब ऐश्वर्य असार हैं। महात्मा प्रह्लाद की राह पर मेरे समान अजितेन्द्रिय और भगवत्कृपा से वंचित पुरुष कैसे चल सकता है ?"

योगीराज शुकदेवजी इस प्रकार राजा बलि की भगवद्भक्ति और महिमा का वर्णन करके फिर कहने लगे—महाराज, इन राजा बलि का सम्पूर्ण चरित्र विस्तार के साथ आगे कहा जायगा। भगवान् वामन हाथ में गदा लिये सुतललोक में राजा बलि के द्वार पर उन्हें दर्शन देने के लिए अब भी विराजमान हैं। यह सब भक्ति का प्रभाव है। एक समय राक्षसराज रावण दिग्विजय करने निकला और घूमता-घामता राजा के द्वार पर उपस्थित हुआ। वहाँ वामनजी को देख, उन्हें कोई साधारण बालक समझ, उनसे बेतुकी बातें करने लगा। तब मदान्ध और अपने को सर्वश्रेष्ठ वीर माननेवाले घमंडी रावण के वामनजी ने बाएँ पैर के अँगूठे से ऐसी ठोकर मारी कि वह दुष्ट वहाँ से दस हज़ार योजन पर जाकर गिरा। उसका सारा घमंड जाता रहा।

सुतल के नीचे तलातल नाम का बिल है। जिस प्रकार नारायण के भक्त राजा बलि उनकी कृपा से सुतललोक में सुख से रहते हैं, उसी प्रकार त्रिपुरारि शंकर का सेवक, मायाविओं का गुरु, त्रिपुर का स्वामी, दानवों का राजा मयासुर तलातल में निवास करता है। शंकर वहाँ उसकी रक्षा करते हैं। भगवान् शंकर ने पहले मयासुर के बनाये आकाशचारी तीनों पुरों को त्रिलोकी के कल्याण के लिए भस्म कर डाला था; किन्तु पीछे से मयासुर की भक्ति देखकर उस पर प्रसन्न हो गये। शंकर के चरणों की शरण में आकर मयासुर सुदर्शनचक्र के भय से छुटकारा पा गया। उसका सर्वत्र आदर होने लगा।

तलातल के तले महातल है। इस बिल में अनेक सिरवाले, बड़े क्रोधी, कद्रु के पुत्र सर्प रहते हैं। इन सर्पों के अधिपति कुहक, तक्षक, कालिय, सुषेण आदि नागराज हैं। ये बड़े भारी डीलडौलवाले नाग गरुड़ के भय से घबराते रहते हैं। ये सदा मस्त रहकर अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, परिवार के साथ सुख-भोग किया करते हैं।

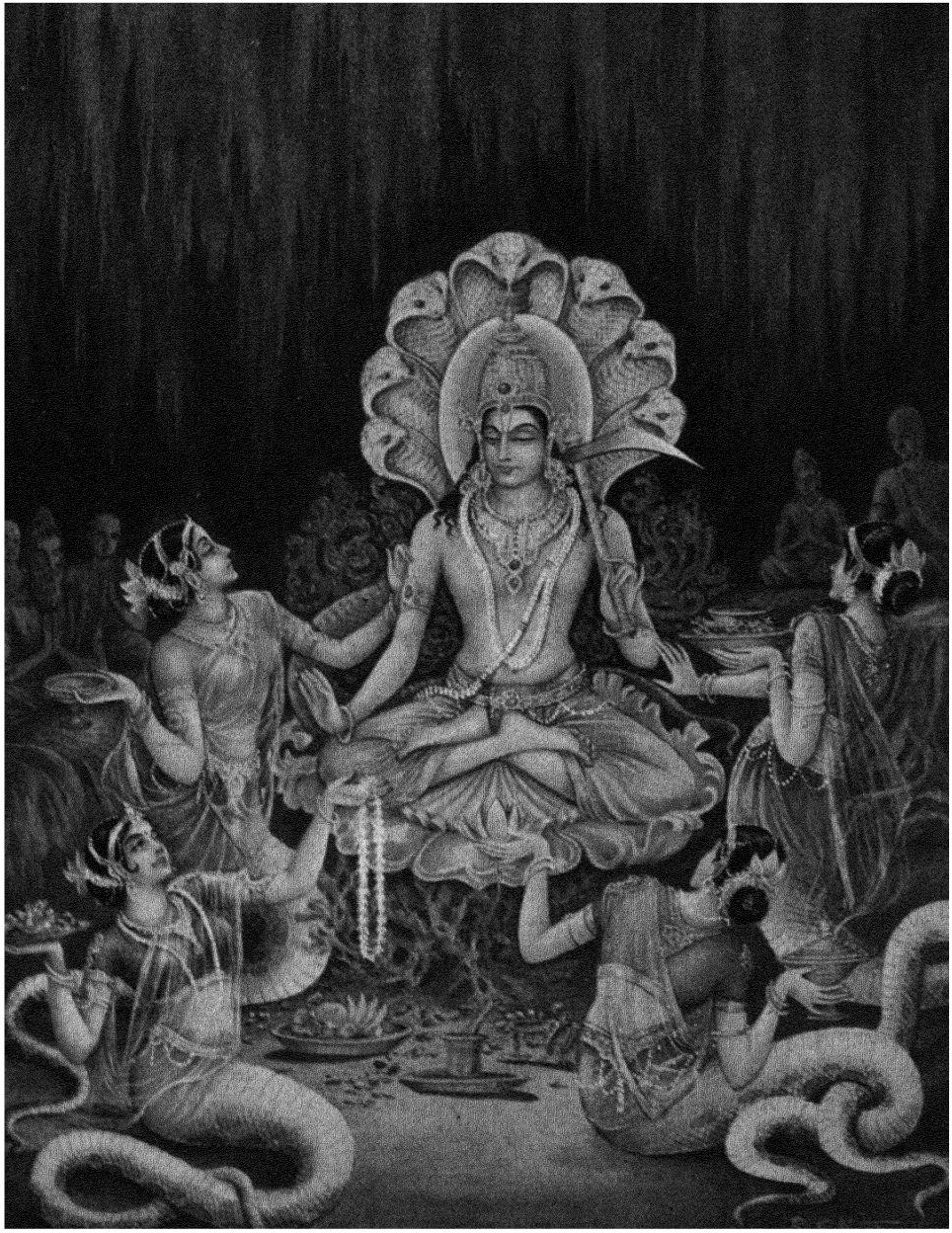
महातल के बाद रसातल है। उसमें दैत्य, दानव, निवात-कवच, कालकेय आदि असुरगण, नागों की ही तरह, रहते हैं। ये सब असुर जन्म से ही महाबली और पराक्रमी हैं। पर भगवान् के सुदर्शनचक्र का भय इन्हें सदा बना रहता है। चक्र इनके बल के गर्व को दबाये रहता है, ये सिर नहीं उठा सकते। ये असुर अब तक, इन्द्रदूती सरमा ( नागमाता ) के उच्चारण किये हुए मंत्ररूप वाक्यों द्वारा देवराज इन्द्र से डरते हैं।

रसातल के नीचे पाताल है। उसमें वासुकि, शंख, कुलिक, महाशंख, श्वेत, धनंजय, धृतराष्ट्र, शंखचूड़, कंबल, अश्वतर, देवदत्त आदि बड़े-बड़े फनोंवाले नागराज रहते है। ये बड़े क्रोधी और नागलोक के स्वामी हैं। इनमें से किसी के पाँच, किसी के सात, किसी के दस, किसी के सौ और किसी के हज़ार सिर हैं। उनके फनों में प्रकाशपूर्ण मणियाँ चमकती हैं और उनके प्रकाश से पाताल का सारा अन्धकार दूर हो जाता है।

# पचीसवाँ अध्याय

## विष्णु की विभूति शेषनाग का वर्णन

श्री शुकदेवजी कहते हैं—पाताल के मूल में तीस हज़ार योजन नीचे भगवान् की सुप्रसिद्ध तमोगुणी मूर्त्ति शेषजी हैं। उन्हें अनंत भी कहते हैं। द्रष्टा ( आत्मा ) और दृश्य ( देह ) को परस्पर आकृष्ट करने के साधन अहंभाव या अहंकार का अधिष्ठाता मानकर भक्तजन उन्हें संकर्षण कहते हैं। अनन्त के एक हज़ार सिर हैं, उनमें से एक के ऊपर एक सरसों के समान यह पृथ्वीमण्डल रक्खा हुआ है। प्रलय के समय जब वह इस संसार का संहार करना चाहते हैं, तब क्रोध के कारण उनकी दोनों भौहें इधर-उधर घूमने लगती हैं और उन्हीं भौहों के बीच से सांकर्षण नाम के ग्यारह रुद्र प्रकट होते हैं। उन त्रिलोचन रुद्रों के हाथ में त्रिशूल होते हैं। मणियों के समान चमकीले संकर्षण के चरणों के अरुण-वर्ण नख शीशे-से झलकते हैं। प्रधान भक्तों सहित सब नागराज भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय उन नख-दर्पणों में अपने मुखों का प्रतिबिम्ब देख पाते हैं। नागराजों के कुण्डलमण्डित कपोलवाले मुखों की शोभा अपूर्व देख पड़ती है। नागराजों की कन्याएँ अपने कल्याण की कामना करके आनन्दाश्रुमिश्रित नेत्रकमलों से शेषजी के मुखारविन्दों के दर्शन किया करती हैं। वे अनन्त भगवान् के चाँदी के खंभों की तरह श्वेतवर्ण विशाल बाहुओं में अगुरु, चन्दन कुंकुम आदि का अनुलेपन लगाती हैं। उस समय भगवान् के अंगस्पर्श से उन कन्याओं के मन चलायमान हो जाते हैं और उनके हृदय पर कामदेव का अधिकार हो जाता है। उस समय उन कुमारियों की मंद मुसकान अत्यन्त सुन्दर और सुललित देख पड़ती है। संकर्षणदेव का श्रीमुख अनुराग और हर्ष से युक्त रहता है और मद की लाली से सुन्दर करुणापूर्ण नेत्र बड़े ही मनोहर जान पड़ते हैं। उस श्रीमुख के दर्शन कर नागकन्यायें अपने को कृतार्थ मानती हैं। इस अपने लोक में भगवान् शेषजी अपने क्रोध को शान्त किये हुये सब लोकों की भलाई के लिए विराजमान है। सब देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, नाग, विद्याधर और ऋषि-मुनि उनका ध्यान करते हैं। उनकी आँखें सदा मद से विह्वल, विकृत और कुछ बंद-सी रहती हैं। वह अपनी ललित मधुर वाणी से अमृत-वर्षा-सी करते हुए अपने पार्षद देवतों को कृतार्थ करते हैं। शेषजी नीलांबर धारण किये हैं। कान में एक कुण्डल है। पीठ मे शस्त्रस्वरूप हल है। दोनों बाहु विशाल हैं। इन्द्र का हाथी ऐरावत जैसे सोने की शृंखला से शोभायमान हो, वैसे ही गले में पड़ी हुई वैजयन्ती माला से शेषजी की शोभा होती है। कभी न सूखनेवाले तुलसीदल की महक से खिंचकर आये हुए मस्त भौंरे उस माला पर गुनगुनाया करते हैं। ध्यान और स्मरण करने से भगवान् अनन्तदेव मुक्ति चाहनेवाले योगियों के त्रिगुणमय अन्तःकरण में स्वयं प्रवेश करके उनकी अनादिकाल की कर्मवासनाओं में गुँथी हुई अविद्यामय हृदय की गाँठ को शीघ्र ही खोल देते हैं। महाराज, एक समय ब्रह्माजी की सभा में तुम्बुरु गन्धर्व के साथ उपस्थित होकर देवऋषि नारद ने अनन्तदेव की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया था—"माया के रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण हैं। ये गुण जिनके कृपाकटाक्ष से अपना-अपना काम कर सकते हैं, जिनका स्वरूप अनादि और अनन्त है, जो एकमात्र वस्तुस्वरूप होकर अपने में अनेक कार्यों के प्रपञ्च का विधान करते हैं, उन ब्रह्मस्वरूप अनन्त भगवान के तत्त्व को भला कौन जान सकता है? सत और असत् वस्तुएँ जिनमें प्रकाशित होती हैं, जो भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति धारण किए हुए हैं, अपने भक्तों के चित्त को वश करने के लिए की हुई जिनकी लीलाओं से महाबली सिंहों ने पराक्रम की शिक्षा ली है,



भगवान् संकर्षणदेव

जिनका नाम औरों के मुँह से सुनकर सब प्रकार की पीड़ाओं से छुटकारा मिल जाता है, उन भगवान् को छोड़कर मुक्ति चाहनेवाले भक्त और किसका आश्रय लेंगे ? पतित मनुष्य के भी मुख से अचानक या हँसी मे जिनका नाम निकल जाता है तो उससे वह तो शुद्ध पापहीन हो ही जाता है, उसके सिवा और भी जिसके कान में उस पतितपावन नाम की भनक पड़ जाती है, वह भी तर जाता है, उन भगवान् से बढ़कर दीनदयालु कौन होगा ? जिनके सहस्र सिरों में से एक सिर पर नदी, सागर, पर्वत एवं सब प्राणिवर्ग सहित यह सारा पृथ्वीमण्डल एक सरसों के समान रक्खा हुआ है, उन महापराक्रमी, महाकाय, बहुरूप, महावीर्य, परमेश्वर की महाशक्ति का बखान हज़ार जीभें रखकर भी कोई नहीं कर सकता। अनन्तदेव का बल और प्रभाव भी अनन्त है। उनकी महिमा और गुण अपार हैं। वह पृथ्वी के मूल में रहकर लीलापूर्वक इस पृथ्वीमण्डल को अपने सिर पर धारण किये हुए हैं। उनका आधार कोई नहीं है। वह योगमायाबल से निराधार अवस्थित हैं।

मैंने गुरुमुख से जिस प्रकार भूगोल, स्वर्ग और अतल आदि लोकों का वर्णन सुना था, सो सब आपको सुना दिया। कामना रखकर यज्ञ आदि पुण्यकार्य करनेवाले लोग अपने कर्म के अनुसार इन्हीं लोकों में जाकर ऐश्वर्य और सुख भोगते हैं। राजन्, प्रवृत्तिमूलक धर्म का फल ये ही ऊँची-नीची अर्थात् दिव्य, भौम, मानुष नाम से प्रसिद्ध त्रिविध स्वर्गों की गतियाँ मनुष्यों को मिलती हैं। तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने इनका वर्णन किया। अब बताओ, और क्या सुनना चाहते हो ?

---

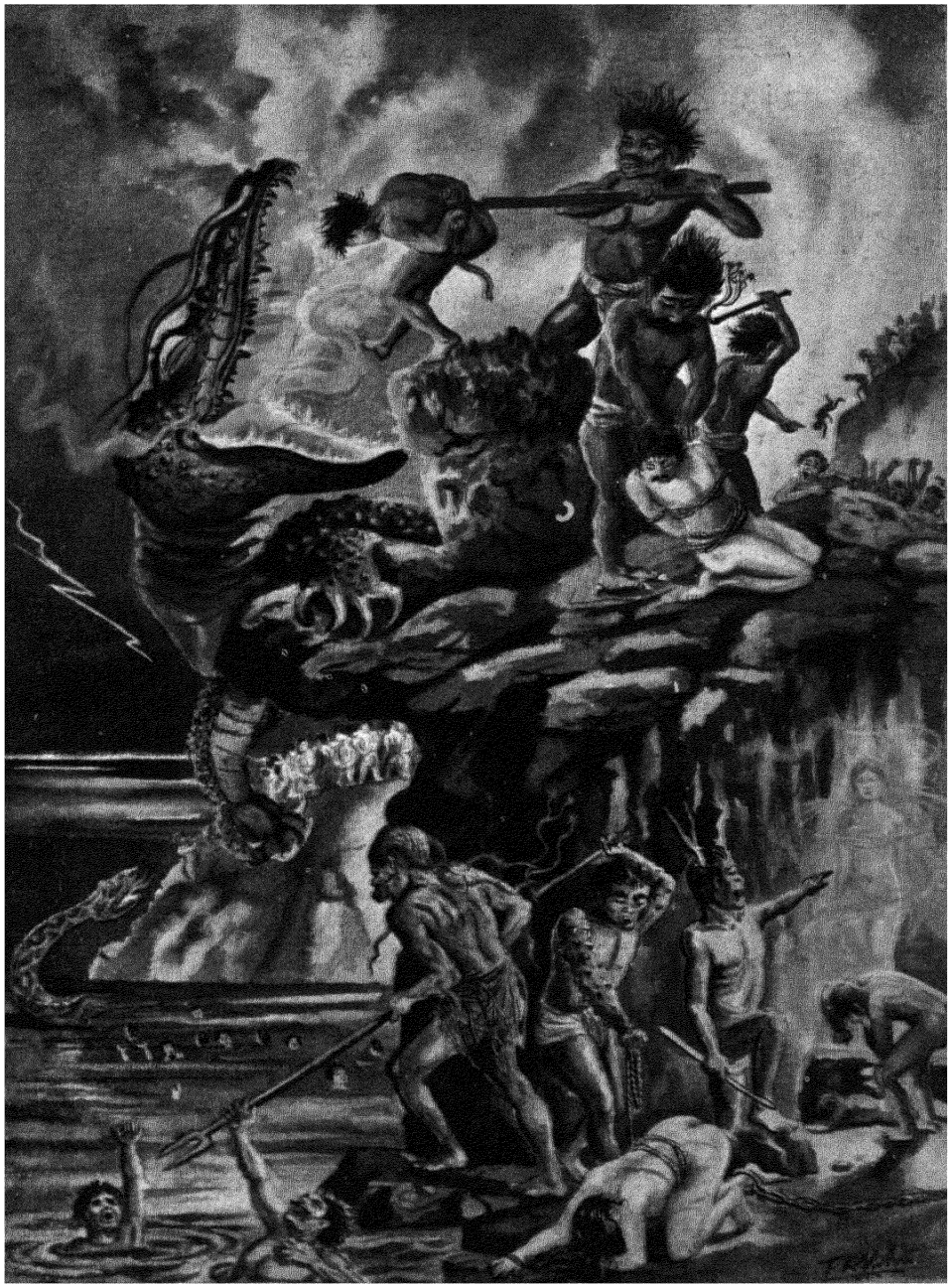
# छब्बीसवाँ अध्याय

## नरकों का वर्णन

राजा ने कहा—हे महर्षि, जीवों की ये भिन्न-भिन्न विचित्र गतियाँ क्यों होती हैं ? शुकदेवजी ने कहा—महाराज, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण की न्यूनाधिकता के अनुसार सकाम कर्म करनेवाले तीन प्रकार के होते हैं और उनकी श्रद्धा भी सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन तरह की होती है। श्रद्धा भेद के अनुसार कर्मों के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं; जैसे सात्विक श्रद्धा से सुख मिलता है, राजस श्रद्धा से सुख-दुःख दोनों मिलते हैं, तामस श्रद्धा से केवल दुःख ही मिलता है। [ इसका विस्तार से वर्णन गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र ने किया है। ] श्रद्धा-भेद के अनुसार धर्म-अधर्म दोनों की गतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अधर्म करनेवाले में तमोगुण की न्यूनाधिकता से उसकी श्रद्धा भी उलटी और विसदृश होती है, जिससे उसके किये कर्मों का फल विपरीत होता है। अनादि अविद्या के कारण सब कामनाओं के परिणामस्वरूप जो हज़ारों तरह की नरक-गतियाँ होती हैं, उनका विस्तृत वर्णन अब सुनिए।

राजा ने पूछा—भगवन्, ये सब नरक किस स्थान में हैं ? वे सब त्रिलोकी के भीतर ही हैं या बाहर ? श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्, इस त्रिलोकी के भीतर ही दक्षिण दिशा में पृथ्वी के नीचे और जल के ऊपर पितृलोक है, जहाँ अग्निष्वाता आदि पितर रहते हैं। वे परम समाधियोग से अपने-अपने गोत्र में उत्पन्न जीवों के मंगल की कामना किया करते हैं। उसी लोक में सूर्यपुत्र पितृगणाधिपति यमराज, जिन्हें धर्मराज भी कहते हैं, अपने गणों के साथ अपनी सभा में बैठकर अपने दूतों के लाये हुए मृत प्राणियों के कामों पर विचार करते हैं और उनके पाप के अनुसार उन्हें नरक में भेजते हैं। यमराज भगवान् के शासन का

उल्लंघन नहीं करते, भगवान् के बनाये नियम के अनुसार ही दण्ड की व्यवस्था करते हैं। वहीं नरक भी हैं। नरक बहुत-से हैं; पर किसी-किसी के मत में मुख्य नरकों की संख्या इक्कीस है। [इनके नाम, रूप और लक्षण अब कहते हैं।] उनके नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुंभीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मलि, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयःपान। किसी-किसी के मत से इनके सिवा क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख नाम के सात नरक और हैं। इस प्रकार अट्ठाईस नरक हैं। इन नरकों में पापियों को तरह-तरह की घोर यातनाएँ दी जाती हैं। महाराज, जो कोई पराये धन, पुत्र या स्त्री को हर लेता है, उसे भयंकर आकृति के यमदूत मरने पर कालपाश से बाँधकर जबरदस्ती तामिस्र नरक में डाल देते हैं। इस नरक में घोर अन्धकार है। इसमें पड़ा हुआ पापी भूख-प्यास से तड़पता है। ऊपर से उसे यमदूत मारते, डाँटते और बुरा-भला कहते हैं। इस प्रकार पीड़ा पाकर वह मूर्च्छित हो जाता है। जो मनुष्य अपने स्वामी को धोखा देकर उसकी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध रखता है, वह दुष्ट अन्धतामिस्र नरक में डाला जाता है। इस नरक में वेदना के मारे जीव की स्मरणशक्ति, बुद्धि और दृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। जैसे जड़ से कटा हुआ पेड़ सूख जाता है, वैसे वही दशा उस पापी की होती है। इससे इस नरक को अंधतामिस्र कहते हैं। जो मनुष्य इस लोक में "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार देहाभिमान के वश होकर औरों से द्रोह करके केवल अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि का भरण-पोषण करता है, किसी और का उपकार नहीं करता, वह उस शरीर और स्त्री-पुत्र आदि को यहीं छोड़कर मरने पर रौरव नरक के कष्ट भोगता है। उसने इस लोक में जिन प्राणियों को कष्ट पहुँचाया है, जिनकी हिंसा की है, वे ही रुरु नाम के कीड़े होकर रौरव नरक में उसे काटते, कष्ट पहुँचाते और बदला लेते हैं। इसीसे इस नरक का नाम रौरव है। रुरु नाम का कीड़ा सर्प से भी अधिक क्रूर होता है। जो मनुष्य यहाँ केवल अपने शरीर का पालन करता है, वह महारौरव नरक में डाला जाता है। उस नरक में मांसाहारी महारुरु नाम के कीड़े उसके शरीर का मांस नोच-नोचकर खाते हैं, और वह यातना से तड़पता है। जो निठुर मनुष्य इस लोक में अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए जीवित पशु-पक्षियों को पकाकर खा जाता है, वह निर्दय मनुष्य नरपिशाच है। मनुष्यभक्षी राक्षस भी उसकी निन्दा करते हैं। उस पापी को ले जाकर यमराज के दूत कुंभीपाक नरक में डाल देते हैं। इस नरक में खौलता हुआ तेल भरा है। उसी में यमदूत उसे पकाते हैं। जो यहाँ पितर, ब्राह्मण और वेदों को नहीं मानता, इनसे द्रोह रखता है, उसे यमदूत कालसूत्र नरक में डालते है। इस नरक का घेरा दस हज़ार योजन का है। इसकी ताँबे की समतल भूमि नीचे की आग से जला करती है। इसमें पड़ा हुआ पापी नीचे अग्नि से और ऊपर सूर्य के ताप से जलता है। भीतर भूख की आग जलाती है। वह वेदना से विकल होकर कभी बैठ जाता है, कभी लेट जाता है, कभी तड़पता है, कभी खड़ा हो जाता है और कभी दौड़ने लगता है। मारे हुए पशुओं के शरीरों में जितने रोएँ होते हैं, उतने ही हज़ार वर्षों तक वह इस यातना को भोगता है। जो मनुष्य आपत्काल न होने पर भी इच्छापूर्वक वैदिक धर्म को छोड़कर अन्य पाखंडपूर्ण सम्प्रदाय में चला जाता है, वह अपने धर्म को छोड़नेवाला महापापी है। उसे अति भयानक यमदूत असिपत्रवन नरक में कोड़े मार-मारकर चलाते हैं। इस वन में जो ताल-वृक्ष हैं, उनमें दोनों ओर तलवार की-सी धार है। दौड़ने से पापी का शरीर उस धार से कट-कट जाता है। यंत्रणा से "हाय मैं मरा!" कहता हुआ वह पापी पग-पग पर गिरकर बेहोश हो जाता है; पर उसका पीछा नहीं छूटता। उसे पाखंडपथ पर चलने का फल भोगना ही पड़ता है। जो राजा या राजकर्मचारी निर्दोष मनुष्य को दण्ड देता है या ब्राह्मण को शरीर का



नरकों का दृश्य

दंड देता है, वह मरने पर शूकरमुख नरक की यातना भोगता है। जैसे कोल्हू में डालकर ऊख पेरी जाती है, वैसे ही बड़े बलवान् यमराज के दूत उसके अंगों को दबाते हैं। उसकी हड्डी-हड्डी टूटने लगती है। वह बड़े ही करुण स्वर से चिल्लाता और पीड़ा से अचेत हो जाता है। उसने यहाँ निरपराधों को जो कष्ट पहुँचाया था, उसी का फल उसे वहाँ भोगना पड़ता है। परमेश्वर ने प्रकृति के अनुसार सभी जीवों की जीविका नियत कर दी है, यह जानकर और परमेश्वर के दिये विवेक के बल से और जीवों का कष्ट समझने की सामर्थ्य रखकर भी जो मनुष्य मच्छड़, खटमल आदि जीवों को ( जिनकी ईश्वर ने यही जीविका बना दी है, और जिन्हें उनके काटने से दूसरे को होनेवाले कष्ट का ज्ञान नहीं है ), उनके काटने का बदला लेने के लिए, मार डालता है, उसको अन्धकूप नरक में गिरना पड़ता है। पशु, पक्षी, सर्प, मच्छड़, जूँ, खटमल, मक्खी आदि जिन जीवों को इस लोक में उसने मारा है, वे वहाँ उसे काटते हैं। घोर अँधेरे में उसे न तो नींद आने पाती है और न कहीं शान्ति ही मिलती है। निकृष्ट कीट-पतंग आदि योनियों मे जैसे जीव दुःख पाता है, वैसे ही उस नरक के घोर अंधकार में कष्ट पाता हुआ इधर-उधर भटकता है। जो कोई इस लोक में पञ्चमहायज्ञ नहीं करता, आप ही सब खाने-पीने की सामग्री खा-पी लेता है, अतिथि-अभ्यागत, देवता, पितर, आदि को नहीं देता, वह कौए की तरह मल खाता है। उसे परलोक में कृमिभोजन नरक में गिरना पड़ता है। इस नरक में एक लाख योजन के घेरे का एक कुण्ड है। उसमें कीड़े भरे हैं। कीड़े की तरह उस कुण्ड में पड़ा हुआ वह पापी उन कीड़ों को खाता है और वे कीड़े उसे नोच-नोचकर खाते हैं। इस लोक में प्रायश्चित्त न करने के कारण वह पापी, जब तक फलभोग से पाप का क्षय नहीं होता तब तक, इसी तरह उस नरक की यातना भोगता है। राजन्, जो कोई इस लोक में चोरी करता है, जबरदस्ती ब्राह्मण से सोना-रत्न आदि छीन लेता है, आपत्काल न होने पर भी जान-बूझकर किसी भी वर्ण के मनुष्य का धन चुराता या छीन लेता है, उसे यमदूत संदंश नरक में ले जाकर डालते हैं। इस नरक में यमदूत आग से उसे दागते हैं और संदंश ( सँडसी ) से उसके शरीर का मांस नोचते हैं। जो पुरुष अगम्या * स्त्री से रति करता है या जो स्त्री अगम्य * पुरुष के साथ भोग करती है, उन आचारभ्रष्ट पुरुषों और स्त्रियों को यमदूत तप्तसूर्मि नरक में ले जाकर यातना देते हैं। ऐसे नर-नारियों पर कोड़ों की मार पड़ती है। वहाँ लोहे की, आग में तप रही, स्त्री-पुरुषों की मूर्त्तियाँ रक्खी हैं। पापी पुरुषों को गर्म स्त्री-मूर्त्ति से और पापिनी स्त्रियों को गर्म पुरुष-मूर्त्ति से लिपटने के लिए यमदूत मार-मारकर विवश करते हैं। जो मनुष्य इस लोक में घोड़ी-घोड़े आदि पशुओं से अवैध संभोग करता है, उसे यमदूत वज्रकठिन नुकीले काँटों से भयानक शाल्मलि ( सेमर ) के वृक्षों पर चढ़ाकर नीचे घसीटते हैं। जो राजा या राजपुरुष श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर भी अपने धर्म का पालन नहीं करता, धर्म-विरुद्ध आचरण करता है, उसे यमदूत वैतरणी नदी में डाल देते हैं। यह नदी सब नरकों को खाई की तरह घेरे हुए है। इसमें मगर आदि हिंसक जल-जीव इधर-उधर घूमते रहते हैं और पापियों को नोच-नोच खाते हैं। परन्तु उस पापी के प्राण बने रहते हैं, यातना भोगने के सूक्ष्म शरीर से अलग नहीं होते। वैतरणी में मल, मूत्र, पीप, रक्त, केश, नख, हड्डी, मेदा, मांस और चर्बी आदि गंदी और अपवित्र वस्तुएँ भरी हुई हैं। इसमें गिरकर प्राणी अपने पापों को याद करके बहुत पछताता और कष्ट पाता है। जो पापी इस लोक में शूद्र जाति की स्त्री से व्याह करके द्विजवर्ण के शौच, आचार और नियम छोड़ देते हैं, पशुओं की तरह निर्लज्ज भाव से मनमाने आचरण करते हैं, वे पूयोद नरक में गिरते हैं। यह नरक पीप, विष्ठा, कफ़ और थूक

*गुरुपत्नी, माता, बहन, बेटी, ब्राह्मण-पत्नी, पर-नारी आदि स्त्रियाँ अगम्या हैं। इसी तरह गुरु, पिता, भाई, पुत्र, ससुर, जेठ तथा सभी पर-पुरुष अगम्य हैं। 'अगम्या' और 'अगम्य' का अर्थ है वर्जित।

का सागर है। इसमें पड़े हुए पापी इन्हीं वीभत्स पदार्थों को खाने के लिए लाचार किय जाते हैं। इस लोक में ब्राह्मण होकर जो कुत्ते, गधे आदि अपवित्र पशुओं को पालते हैं, शिकार करते हैं, और श्राद्ध, यज्ञ आदि के सिवा अन्य समय मृगों को मारते हैं, वे प्राणरोध नरक में जाते हैं, जहाँ यमदूत उनके शरीर को लक्ष्य बनाकर बाण मारते हैं। जो दंभी मनुष्य केवल दंभ दिखाने के लिए कि मैंने इतने यज्ञ किये हैं, मृग आदि यज्ञ-पशुओं की हत्या करते हैं, उन्हें यमदूत विशसन नरक में ले जाकर डालते हैं। यहाँ उन्हें अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं; यमदूत उनके अंगों को चूर-चूर कर डालते हैं। राजा के कुल में उत्पन्न होकर जो मनुष्य कामवश हो अपने ही गोत्र की स्त्री से भोग करता है, उसे यमदूत लालाभक्ष नरक में ले जाते हैं। वहाँ उस पापी पामर को वीर्य की नदी में वीर्य पीना पड़ता है। जो लोग यहाँ डाका डालते हैं, लोगों के घरों में आग लगा देते हैं, किसी को विष खिला देते हैं, अथवा जो राजा या राजकर्मचारी गाँव को या यात्रीदल को लूट लेते हैं, वे मरने पर सारमेयादन नरक में जाते हैं। वहाँ यमलोक के सात सौ बीस कुत्ते अपने वज्रसरीखे पैने दाँतों से उनको काटते हैं। जो यहाँ झूठी गवाही देता है, कम तोलता है, दान में झूठ बोलता है, उसे यमदूत नीचे सिर करके सौ योजन ऊँचे पर्वत की चोटी से अवीचि नरक में डालते हैं। उस नरक की भूमि पत्थर के समान कठोर और चमकीली है। पर्वत से नीचे गिरने के कारण प्राणी का शरीर चूर-चूर हो जाता है; पर प्राण नष्ट नहीं होते। यमदूत इसी प्रकार उसे बार-बार पहाड़ के ऊपर ले जाते और नीचे गिराते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के जो नर-नारी या ब्रह्मचारी मदिरा पीते हैं, उन्हें अयःपान नरक में पृथ्वी पर पटककर, छाती पर पैर रखकर यमराज के दूत गला हुआ शीशा पिलाते हैं। जो कोई इस लोक में नीची जाति का होकर भी अपने को बड़ा मानकर अभिमान के मारे जन्म ( कुल ), विद्या, आचार और वर्णाश्रम में श्रेष्ठ ब्राह्मण और संन्यासी आदि का सम्मान नहीं करता, वह जीते ही मरे के समान है। वह मरने पर क्षारकर्दम नाम के नरक में नीचे सिर करके गिराया जाता है और वहाँ बहुत समय तक अनन्त कठिन यातनाएँ भोगता है। जो लोग यहाँ भैरव आदि को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य की बलि देते हैं और जो कामरूपिणी स्त्रियाँ नरपशुओं को खा जाती हैं, उन नर-नारियों को वे मारकर खाये गये मनुष्य यमलोक के रक्तोगणभोजन नरक में राक्षस होकर तलवार से काट-काटकर खाते हैं, उनका रक्त पीते हैं, और इस लोक में जैसे ये मनुष्यभक्षी पापी नर-नारी मनुष्य-मांस खाकर हर्ष से नाचते-गाते थे, वैसे ही वे भी वहाँ इनका मांस खाकर, रक्त पीकर हर्ष से नाचते और गाते हैं। जंगल के या बस्ती के पक्षी सभी जीना चाहते हैं, सभी को प्राण प्यारे होते हैं। जो दुष्ट अनेक उपायों से उनके मन में अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न करके उन निरपराध जीवों को पकड़ लेते हैं और अपने मनोरंजन के लिए सुई-डोरे से उनके अंग को छेदकर उड़ाते, दौडाते, कष्ट देते और मार डालते हैं, वे शूलप्रोत नरक में जाते हैं। वहाँ उन्हें यमदूत सूली पर टाँग देते हैं। वे भूख-प्यास से तड़पते हैं। पैनी चोंचवाले कंक, बटेर आदि पक्षी उनके शरीर को इधर-उधर से चोंच मारकर कष्ट पहुँचाते हैं और वे अपने कर्म याद करके पछताते हैं। जो उग्र स्वभाव के लोग इस लोक में साँप की तरह प्राणियों के लिए भय और उद्वेग का कारण बनते हैं, वे मरकर दंदशूक नरक में जाते हैं। उस नरक में पाँच-पाँच सात-सात मुँह के विषधर सर्प मूसे की तरह उन्हें निगल लेते हैं। जो लोग यहाँ प्राणियों को अँधेरे गढ़े, अंधकूप या अँधेरी खोह में बंद करके कष्ट पहुँचाते हैं, वे अवटनिरोधन नरक में जाते हैं। यमदूत उन्हें भी उसी तरह अंधे कुँए आदि में बंद कर देते हैं और ज़हरीला धुआँ उसमें भर देते हैं, जिसमें उनका दम घुटता है। जो गृहस्थ अपने द्वार पर किसी अतिथि-अभ्यागत के आने पर क्रोध से लाल-लाल आँखें करके इस तरह देखता है, जैसे उसे भस्म कर देगा, वह पर्यावर्तन नरक में जाता है। वहाँ वज्र-सी पैनी चोंचवाले गिद्ध,

कंक, कौए, बटेर आदि पक्षी ज़बरदस्ती उसकी आँखें निकाल लेते हैं। जो मनुष्य इस लोक में धन-मद से अपनी श्रेष्ठता का अभिमान करके औरों की ओर टेढ़ी नज़र से देखता है, धन हर लेने की आशंका से हर-एक पर—यहाँ तक कि अपने सगे और बड़े-बूढ़ों पर भी—विश्वास नहीं रखता, जिसका हृदय और मुख धन-नाश की चिन्ता से सदा सूखा रहता है, मतलब यह कि धन के फेर में जिसे कभी शान्ति नहीं मिलती, जो यक्ष की तरह सदा धन की रखवाली किया करता है, उसका भोग या अच्छे कामों में उपयोग नहीं कर सकता, वह मरने पर सूचीमुख नरक में डाला जाता है। उसने केवल धन को बढ़ाया और जीवन भर उसकी रक्षा की, इस पाप का फल उसे यह मिलता है कि यमराज के दूत दर्ज़ी की तरह उसके सब अंगों को सुइयों से छेद डालते हैं।

महाराज, पापों के असंख्य भेद हैं और उन्हीं के अनुसार यमलोक में सैकड़ों-हज़ारों इसी प्रकार के नरक हैं। अपने-अपने पाप के अनुसार उसका फल भोगने के लिए पापी लोग उन नरकों में जाते हैं। उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य पापों और नरकों का ही यहाँ वर्णन किया गया है। जिस प्रकार पापी लोग पाप-भेद से भिन्न-भिन्न नरकों में जाते हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा लोग भी अपने-अपने पुण्य और धर्म के अनुसार स्वर्ग आदि लोकों में जाकर सुख भोगते हैं। परलोक में पुण्य या पाप का फल भोग चुकने पर उस पुण्य या पाप का कुछ अंश बच रहता है। इस कारण वे जीव बचे हुए पाप-पुण्य के अनुसार इस मनुष्यलोक में आकर फिर बुरी या अच्छी योनि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार यह संसार-चक्र चलता रहता है। यह प्रवृत्तिमार्ग का वर्णन हुआ। निवृत्तिमार्ग का वर्णन पहले ही ( द्वितीय स्कंध में ) कर चुके हैं। पुराणों में तीन लोक, चौदह भुवनवाले ब्रह्माण्ड का ऐसा ही वर्णन किया गया है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् का मायागुणमय प्रत्यक्ष स्थूल रूप है। जो मनुष्य भक्तिभाव से इस विवरण को पढ़ता, सुनता या सुनाता है, वह श्रद्धा और भक्ति से बुद्धि के विशुद्ध होने पर उपनिषदों में कहे गये भगवान् के सूक्ष्मतम परब्रह्मरूप को भी धीरे-धीरे जान लेता है। गृहस्थ ही नहीं, यतियों और निवृत्तिमार्ग के अनुयायियों को भी चाहिए कि पहले भगवान् के इस स्थूल रूप का ज्ञान प्राप्त करके, इसका ध्यान करे। फिर धीरे-धीरे बुद्धि को स्थिर करके सूक्ष्म रूप में मन को लगावे। तात्पर्य यह कि सूक्ष्म रूप तक पहुँचने की सीढ़ी यह स्थूल रूप ही है। हे महाराज, पृथ्वी, द्वीप, खंड, नदी, पर्वत, समुद्र, आकाश, पाताल, दिशाओं का मण्डल, नरक और खगोल तक सब लोकों की स्थिति और रचना यह मैंने तुमको सुना दी। यही ईश्वर का अद्भुत स्थूल रूप है। इसी में सब जीव रहते हैं।

इति
पंचम स्कंधः
समाप्तः




# छठा स्कंध

## पहला अध्याय

### अजामिल की कथा

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्, निवृत्तिमार्ग की गति का वर्णन आप पहले कर चुके हैं, जिसमें क्रमशः अर्चि आदि लोकों में जाकर जीव ब्रह्मा में मिल जाता है और फिर कल्पान्त में ब्रह्मा के साथ ही उसकी भी मुक्ति हो जाती है। उसके बाद आपने उस प्रवृत्तिमार्ग की गतियों का भी वर्णन किया, जिसका उद्देश्य केवल स्वर्ग आदि के भोग-विलास का सुख ही है। इस मार्ग पर चलनेवाले पुरुष की प्रकृति (वासना) का लय न होने के कारण उसे कर्मफलभोग के लिए बारम्बार शरीर धारण करना पड़ता है। अधर्म का फल अनेक प्रकार के नरकों का वर्णन भी आपने किया। प्रथम स्वायंभुव मनु से लेकर सब मन्वन्तर भी आप कह चुके। स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद का वंश और उन वंशधरों के चरित्र भी आपने कहे। द्वीप, खंड, समुद्र, नदी, पर्वत, उद्यान (बाग़), वृक्ष सहित संपूर्ण पृथ्वीमंडल, उसके विभाग, लक्षण और परिमाण आदि सभी बातें मैं सुन चुका। खगोल और पाताल का वर्णन भी, जिस प्रकार भगवान् ने उनकी सृष्टि की उसके अनुसार, आपने कहा। अब आप कृपा करके वह उपाय कहिए, जिससे जीव उन उग्र यातना के घर नरकों में न जायँ।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—यह जीव अगर इसी जन्म में मन-वाणी-काया से किये गये पापों का प्रायश्चित्त मन-वाणी-काया से नहीं कर डालता तो अवश्य ही वह मरने पर मेरे कहे हुए इन उग्र यातनादायक नरकों

में जाकर पाप का फल भोगता है। इस कारण मरने के पहले ही जब तक शरीर शिथिल न हो, मन को अपने वश में करके पाप का प्रायश्चित्त कर डालने का यत्न करे। जैसे निदान का जाननेवाला वैद्य रोग के भारी या हलके होने का विचार करके उसकी वैसी ही चिकित्सा करता है, वैसे ही पाप के भारी या हलका होने के अनुसार ही उसका वैसा ही प्रायश्चित्त कर डाले।

परीक्षित् ने कहा—भगवन्, लोग साक्षात् देखते हैं कि पाप करने से इस लोक में राजदण्ड आदि से अहित होता है और परलोक में नरक भोगने की बात भी सुनते हैं। इस प्रकार पाप से अपना अहित जानकर भी मूढ़ पुरुष विवश-सा होकर प्रायश्चित्त करके भी फिर वही पापकर्म करता है। फिर प्रायश्चित्त से क्या लाभ है? मनुष्य कभी पापकर्म छोड़ देता है और कभी फिर करने लगता है। इसलिए मैं तो प्रायश्चित्त को हाथी के नहाने के समान व्यर्थ ही समझता हूँ। जैसे हाथी नहाकर फिर सूँड से धूल उछालता और अपने शरीर को मैला कर लेता है, वैसे ही पापी भी प्रायश्चित्त करने के बाद फिर पाप करके अपने को कलुषित कर लेता है।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्, चान्द्रायण आदि कर्म यथार्थ प्रायश्चित्त नहीं हैं। सच्चा प्रायश्चित्त तो ज्ञान ही है। पाप भी एक कर्म है और चान्द्रायण आदि भी एक प्रकार के कर्म हैं। कर्म के द्वारा कर्म का एकदम नाश नहीं हो सकता। अविद्या या अज्ञान का जब तक नाश नहीं होता, तब तक उसका संस्कार बना रहता है, जिससे मनुष्य की बारम्बार पाप में प्रवृत्ति होती है। जैसे पथ्य आहार करनेवाले को कभी कोई रोग नहीं होता, वैसे ही सर्वदा नियम से चलनेवाला मनुष्य धीरे-धीरे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। आग जैसे बाँस के जंगल को जला देती है, वैसे ही धर्म को जाननेवाले धीर पुरुष श्रद्धा के साथ तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, दान, सत्य, शौच, यम, नियम* आदि के द्वारा मन, वाणी और काया से किये गये बहुत बड़े पाप को भी नष्ट कर देने में समर्थ होते हैं। सूर्यनारायण जैसे कुहरे के समूह को क्षण भर में नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कोई वासुदेव के अनन्य भक्त केवल भक्ति के ही प्रभाव से सारे पापों को समूल नष्ट कर देते हैं। सबसे श्रेष्ठ उपाय यही है। पापी मनुष्य वासुदेव में मन लगाकर और भगवद्भक्तों का संग करके जिस तरह जितनी जल्दी पवित्र हो जाता है, उस तरह उतनी जल्दी तप आदि से नहीं पवित्र हो सकता। भक्ति का मार्ग बहुत ही सीधा, कल्याणदायक और अकुतोभय है। इस मार्ग में सुशील और नारायण के भक्त साधु विचरते हैं। जैसे मदिरा के घड़े को नदियाँ नहीं पवित्र कर सकतीं, वैसे ही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त नारायणविमुख भक्तिहीन मनुष्य को नहीं पवित्र कर सकते। जिन लोगों ने एक बार भी केवल हरिगुणों में अनुरक्त अपने चित्त को कृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में लगा दिया है, वे अपने सब पापों का प्रायश्चित्त कर चुके। वे स्वप्न में भी यमराज को या पाश हाथ में लिये हुए यमदूतों को नहीं देखते।

मैं यहाँ पर इस विषय का एक पुरातन इतिहास कहता हूँ, उसे सुनो। इस कथा में विष्णु और यम के दूतों का सम्वाद है। कान्यकुब्ज देश में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने शूद्र जाति की एक दासी को अपने घर डाल लिया था। दासी के संसर्ग में रहने के कारण उसने ब्राह्मणों के सदाचार को छोड़ दिया था। वह अपवित्र ब्राह्मण जुआँ-पाँसा, ठगी, जालसाजी, चोरी आदि निन्दित उपायों से अपनी जीविका चलाता था। उसी दासी के कुटुम्ब को पालता और सब लोगों को पीड़ा पहुँचाता था। इस तरह निन्दित कर्मों से दासी के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों का पालन करने में उस पतित ब्राह्मण की बहुत-सी आयु बीत गई। वह अट्ठासी वर्ष का बूढ़ा हो गया। इस समय तक उसके दस पुत्र हो चुके थे। सबसे छोटे पुत्र

*तप मन की एकाग्रता को कहते हैं। स्मरण, कीर्त्तन आदि अष्टांग मैथुन से बचना ब्रह्मचर्य है। मन का संयम शम कहलाता है। बाहरी इन्द्रियों को वश में रखना दम है। अहिंसा यम और जप आदि नियम कहलाते हैं।

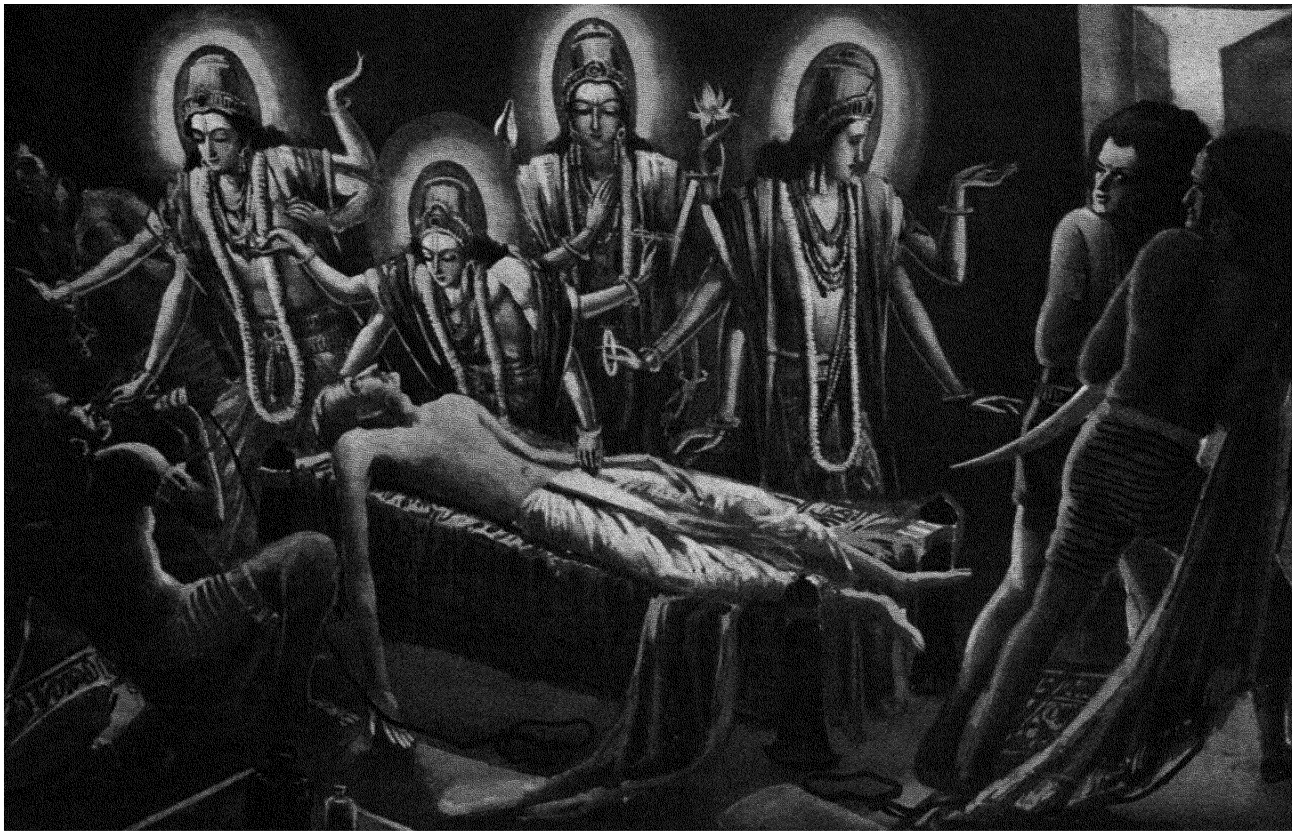
का नाम अजामिल ने नारायण रक्खा था। वह माता और पिता, दोनों को बहुत प्यारा था। तोतली बातें करनेवाले उस बालक पर अजामिल बड़ा स्नेह रखता था। उसके क्रीड़ा-कौतुक को देखकर वृद्ध अजामिल अत्यन्त प्रसन्न होता था। खाते-पीते, सोते-जागते हर घड़ी अजामिल का मन उस बालक में ही लगा रहता था। वह उसे अपने साथ ही खिलाता-पिलाता और सुलाता था। सिर पर सवार काल की भी उसे सुध न थी। इस प्रकार पुत्र-स्नेह मे भूले हुए मूढ़ अजामिल की मृत्यु का समय आ गया। उस समय भी उसका मन अपने पुत्र नारायण ही में लगा हुआ था। उसने अपने को लेने के लिए आये हुए तीन भयानक यमदूतों को सामने खड़े देखा। उनके मुँह टेढ़े थे और सब रोएँ खड़े थे। उस समय बालक नारायण दूर पर कहीं खेल रहा था। अजामिल ने घबराकर भय के मारे बहुत ही ऊँचे स्वर से "नारायण !!!" कहकर अपने बालक को पुकारा। मर रहे अजामिल के मुख से अपने स्वामी नारायण का नाम सुनते ही सहसा विष्णु भगवान् के पार्षद वहाँ आकर उपस्थित हुए। उस समय यमराज के दूत अजामिल के हृदय के भीतर से जीवात्मा को निकाल रहे थे। विष्णुदूतों ने बलपूर्वक उन्हें रोक दिया। इस प्रकार अपने काम में बाधा पड़ने पर यमदूतों ने विष्णु के पार्षदों से कहा—हम यहाँ धर्मराज की आज्ञा से इसे लेने आये हैं। हमें रोकनेवाले तुम कौन हो ? तुम किसके कर्मचारी हो ? कहाँ से आये हो ? इसे ले जाने में क्यों बाधा डाल रहे हो ? तुम क्या कोई देवता, उपदेवता या सिद्धश्रेष्ठ हो ? तुम सबके नेत्र कमलदल-से विशाल हैं। पीतांबर धारण किये हो। किरीट, कुण्डल और कमल की माला पहने हो। सबकी किशोर अवस्था है। सबके चार भुजाएँ हैं, जिनमें धनुष, तरकस, तलवार, शंख, चक्र, गदा और कमल धारण किये हो। अपने तेज से दिशाओं को प्रकाशित कर रहे हो। तुम्हारे तेज के आगे और सब तेज फीके हो रहे हैं। ऐसे दिव्य पुरुष होकर भी धर्म की मर्यादा को रक्षा करनेवाले धर्मराज के दूतों को तुम रोक रहे हो ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, यमदूतों के यों कहने पर वासुदेव की आज्ञा का पालन करनेवाले वे पार्षद हँसकर मेघ-गर्जन के समान गंभीर वाणी से यों बोले। विष्णु के दूतों ने कहा—अगर तुम धर्मराज की आज्ञा का पालन करनेवाले हो तो धर्म का तत्त्व और अधर्म का लक्षण कहो। किस प्रकार दण्ड धारण किया जाता है ? दण्ड का विषय या स्थान कौन है ? सभी कर्म करनेवाले प्राणी क्या दण्ड के पात्र हैं ? या मनुष्य ही दण्ड के पात्र हैं, पशु आदि नहीं ? अथवा उन मनुष्यों में भी क्या कुछ ही दण्डनीय हैं ?

यमदूतों ने कहा—वेद मे जिसका विधान है, वही धर्म है। वेद मे जिसका निषेध किया गया है, वही अधर्म है। कारण, हमने सुना है, वेद की उत्पत्ति नारायण से हुई है; वह ईश्वर के निःश्वास-मात्र से स्वयं प्रकट होता है*। इसीसे धर्म-अधर्म के निर्णय में वेद ही प्रमाण है। जो अपने रूप (वेद) मे शांत भाव आदि प्राणियों के गुणों, ब्राह्मण इत्यादि नामों, वेदाध्ययन आदि कर्मों और वर्णाश्रम आदि रूपों से इन सत्त्वरजस्तमोमय भावों की ठीक ठीक विवेचना करते हैं, वही नारायण हैं। मनुष्य अच्छे या बुरे जो काम करता है, उनके ये बारह साक्षी होते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, पवन, आकाश, सन्ध्या, दिन-रात, दिशाएँ, पृथ्वी, काल और धर्म। इन्हीं साक्षियों से मनुष्यकृत अधर्म का ज्ञान होता है। उस अधर्म के करनेवाले ही कर्मानुसार दण्ड के पात्र होते हैं। देखिए, देहधारीमात्र में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं, इसलिए जो देहधारी है, वह भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म अवश्य ही करेगा। अगर कोई कर्म ही न करे तो ऐसा हो सकता है कि उससे बुरे काम न बन पड़ें। पर शरीर धारण करने पर कर्मों का त्याग असंभव है। अतएव पाप के अवश्यंभावी होने के कारण सभी देहधारी दण्ड के पात्र होते हैं। इस लोक में जो प्राणी जितना धर्म और जितना अधर्म करता है,

* जैसा कि श्रुति में कहा है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः।"

उतना ही परलोक में उसे उसका फल ( सुख-दुःख ) भोगना पड़ता है। हे श्रेष्ठ पुरुषो, जैसे इस लोक में सत्वादि तीन गुणों के अनुसार शान्त, घोर, मूढ़ या सुखी-दुःखी अथवा धर्मात्मा-अधर्मात्मा आदि भेदों से तीन प्रकार के प्राणी देख पड़ते हैं, वैसे ही जन्मान्तर में भी उनके त्रिविध होने का अनुमान किया जाता है। [वर्तमान जन्म से प्राणी के भूत और भविष्य जन्म के धर्म-अधर्म का ज्ञान हो जाता है, इस बात को दृष्टान्त के साथ कहते हैं।] जैसे वर्तमान वसन्त ऋतु को देखकर यह ज्ञान हो जाता है कि पिछले वसन्त में इस-इस वृक्ष में इस प्रकार के फूल और फल लगे होंगे और आगामी वसन्त में भी इस-इस वृक्ष में इसी प्रकार के फूल और फल लगेंगे, वैसे ही वर्तमान जन्म की प्रकृति और कर्मों से प्राणी के पूर्वजन्म और पर-जन्म के धर्म-अधर्म का ज्ञान हो जाता है। यह धर्माधर्म के ज्ञान का ढंग और लोगों का है; हमारे स्वामी धर्मराज तो अपनी पुरी में रहकर ही ध्यानमात्र से प्राणी के पूर्वकृत धर्म और अधर्म को जान लेते है। कारण, वह अनादि भगवान् हैं। जैसे निद्रावस्था में जीव उस शरीर को अपना समझता है, जिसे वह स्वप्न में देख रहा है—उसके सिवा जाग्रत अवस्था के अथवा पहले कभी और स्वप्न में देखे गये अपने शरीर की सुध उसे नहीं रहती—वैसे ही अविद्या की उपाधि से युक्त जीव भी पूर्वकर्मानुसार प्राप्त अपने वर्तमान शरीर में ही अहंभाव रखता है; वह अपने भूत या भविष्य जन्म को नहीं जानता। यह जीव मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों से रूप, रस आदि विषयों को जानता है और पाँच कर्मेन्द्रियों से ग्रहण, गमन आदि कर्म करता है। इस प्रकार दस इन्द्रियाँ और रूप, रस आदि पाँच विषय ये पंद्रह उपाधियाँ हुई। सोलहवाँ मन और सत्रहवाँ स्वयं जीव है। यह जीव मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन के सभी विषयों का भोग करता है। जीव का यह उक्त सोलह कलावाला लिंगशरीर या सूक्ष्म शरीर है। यह लिंगशरीर माया के सत्व आदि तीन गुणों का कार्य और अनादि है। यही जीव के संसार अर्थात् बारम्बार स्थूल शरीर धारण करने का कारण है। संसार में फँसा हुआ यह जीव हर्ष, शोक, मृत्युभय, पीड़ा आदि को प्राप्त होता है। काम आदि छः शत्रुओं को जो अपने वश में नहीं कर सका, वह देहधारी अज्ञानी जीव इच्छा न रहने पर भी इसी लिंगशरीर के द्वारा कर्म करने के लिए विवश होता है। कोशकार नाम का कीड़ा जैसे अपने जाले में आप फँस जाता है, उससे निकल नहीं सकता, वैसे ही यह जीव भी अपने ही कर्मों के जाल में फँस जाता है, कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का उपाय नहीं जानता। कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और राग पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार से प्रकट होते हैं, और वे बलपूर्वक विवश जीव को इस जन्म में कर्म करने के लिए बाध्य करते है। पूर्वजन्म के कर्मों को ही अदृष्ट कहते हैं। उसी अदृष्ट के अनुसार प्रबल वासना के द्वारा जीव को स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। उसका स्थूल शरीर पिता और माता के अनुरूप होता है। प्रकृति के संग से मुक्त जीव को यह बन्धन होता है। पर परमेश्वर का भजन करने से शीघ्र ही उसे इस बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। देखिए, यह अजामिल पहले वेदपाठी, सुशील, सच्चरित्र, सभी सद्गुणों से सम्पन्न, नियमों का पालन करनेवाला, कोमल-प्रकृति, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, पवित्र और मंत्रों का ज्ञाता विशुद्ध ब्राह्मण था। यह गुरु आदि की सेवा, अग्निहोत्र, बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन, अतिथि-सत्कार आदि अपने कर्त्तव्यों का पालन करता था। अहंकार का लेश भी इसके मन में नहीं था। यह परोपकार को अपना कर्त्तव्य समझता था, सब प्राणियों का मित्र था, परलोक बनाने के कर्म करता था, व्यर्थ की बातचीत नहीं करता या दूसरों पर दोषारोपण नहीं करता था। एक दिन यह पिता की आज्ञा से वन को गया। वन से फल, फूल, लकड़ी, कुश आदि पूजन-हवन की सामग्री लेकर लौटते समय इसने एक कामी शूद्र को किसी वेश्यादासी के साथ मदिरा पीकर विहार करते देखा। उस वेश्या की आँखें मद से लाल और विह्वल थीं। वह नशे में इतनी चूर थी कि उसका



अजामिल का अंतकाल

वस्त्र खुलकर गिरा जा रहा था। वह निर्लज्ज कामी शूद्र उस वेश्या के गले में बाँहें डालकर हँसता, गाता और क्रीड़ा करता था। यह अजामिल उस वेश्या को देखकर मोहित और सहसा काम के वश हो गया। इसने अपने धैर्य और ज्ञान के अनुसार मन को लाख रोका, पर काम के बाणों से घायल मन को किसी तरह अपने वश में नहीं रख सका। उस दासी के द्वारा कामदेव का भूत इसके सिर पर ऐसा सवार हो गया कि यह अपने धर्म और कुल को भूल गया और हर घड़ी उसी का ध्यान करने लगा। अन्त को यह अपने धर्म से भ्रष्ट हो गया। उसने उस वेश्या को भोग-विलास आदि की सामग्री से सन्तुष्ट करने में अपने पिता का सारा धन खर्च कर दिया। इतना ही नहीं, इस पापी ने उस वेश्या के नयन-बाणों से घायल होकर अपने विवेक को भी तिलांजलि दे दी। थोड़े ही समय के बाद इसने अच्छे कुल की लड़की, जवान, अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर उसी वेश्या के घर रहना शुरू कर दिया। यह मन्दमति धर्म से या अधर्म से जिस तरह जहाँ से जितना धन मिलता था, उससे उसी वेश्या के कुटुंब का भरण-पोषण करता था। इसने शास्त्र की आज्ञा को न मानकर मनमाना निन्दित आचरण किया, उसी शूद्रजाति की वेश्या का अन्न आदि खाया। इसका सारा जीवन पापमय रहा। इसीलिए इस पापी को, जिसने अपने पापों का कोई प्रायश्चित्त नहीं किया है, अब हम दण्डपाणि यमराज के पास ले जायँगे। वहाँ दण्ड भोगकर यह शुद्ध हो जायगा।



# दूसरा अध्याय

## अजामिल की मुक्ति

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यमदूतों के ये वचन सुनकर न्याय में निपुण वे विष्णु के पार्षद बोले। उन्होंने कहा—अहो, बड़े कष्ट की बात है कि धर्म के जाननेवाले साधु भी अधर्म करने को तैयार हैं! आज दण्ड के अयोग्य निष्पाप लोगों को वे व्यर्थ ही दण्ड देना चाहते हैं। जो समदर्शी साधु पिता की तरह प्रजा के पालक और शिक्षक समझे जाते हैं, वे ही अगर दण्डनीयों को दण्ड न देकर दण्ड न देने योग्य लोगों को दण्ड देने लगेंगे तो फिर प्रजा किसकी शरण में जायगी? श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, साधारण जन भी वैसा ही आचरण करने की चेष्टा करते हैं। बड़े लोग जिसे प्रमाण मानते हैं, छोटे लोग भी उसी के अनुगामी होते हैं। धर्म-अधर्म का ज्ञान न रखनेवाले साधारण लोग विश्वस्त पशु की तरह जिसकी गोद में सिर रखकर सोते हैं, वह मनुष्यों के विश्वास का पात्र श्रेष्ठ दयालु पुरुष अपने को मित्रभाव से आत्मसमर्पण करनेवाले अज्ञानी पुरुषों का अनिष्ट कैसे कर सकता है? इस ब्राह्मण ने विवश अवस्था में ही सही, हरि का

नाम लिया है, जिससे इसके एक क्या, करोड़ों जन्मों के भी पाप नष्ट हो गये—उनका प्रायश्चित्त यह कर चुका। हरि-नाम के उच्चारण से केवल पापों का प्रायश्चित्त ही नहीं हो जाता, मोक्ष भी प्राप्त होती है। इसने 'नारायण' इन चार अक्षरों का उच्चारण करके अपने सब पापों का प्रायश्चित्त कर डाला। चोर, शराबी, मित्र-द्रोही, ब्रह्महत्या करनेवाला, गुरु की स्त्री से रमण करनेवाला, स्त्री-राजा-माता-पिता-गऊ आदि की हत्या करनेवाला तथा और भी जो महापातकी हैं, उन सबके सभी पापों का सबसे बढ़कर प्रायश्चित्त यही भगवान् के नाम का उच्चारण है। इस नाम के जप से ही मनुष्य का मन भगवान् में लगता है। मनु आदि के कहे हुए व्रत-प्रायश्चित्त आदि उपायों से पापी की वैसी आत्यन्तिक शुद्धि नहीं होती, जैसी कि हरिनाम के कीर्त्तन से होती है। हरिनाम का उच्चारण करने ही से मनुष्य को हरि के गुणों का और हरि का ज्ञान प्राप्त होता है। कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतों और प्रायश्चित्तों से पाप की जड़ नहीं कटती; क्योंकि प्रायश्चित्त करने पर मनुष्य का मन पाप की राह में जाता है। जो लोग कर्मों और पापों को जड़ से मिटा देना चाहते हैं, उनके लिए हरिभजन ही सबसे बढ़कर प्रायश्चित्त है, क्योंकि उससे चित्त की शुद्धि हो जाती है। इस ब्राह्मण ने अन्त समय नारायण का नाम लेकर अपने सब पापों का प्रायश्चित्त कर डाला है, इसलिए इसे तुम न ले जाओ। पुत्र आदि किसी सम्बन्धी का नाम समझकर, हँसी में, गाने-बजाने में अलाप की पूर्त्ति के लिए अथवा अनादर से, चाहे किसी तरह हरि के नाम का उच्चारण करते ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं, यह सभी जानते हैं। मकान आदि ऊँचे स्थानों से गिरते में, चलते समय पैर फिसल जाने मे, अंगभंग होने पर, साँप आदि के काटने पर, ज्वर आदि के ताप में या कोई चोट खाने पर विवश होकर जो कोई नारायण का नाम ले लेता है, वह फिर नरक की यातना नहीं भोगता। मनु आदि महर्षियों ने बहुत विचार कर बड़े पापों के लिए बड़े और छोटे पापों के लिए छोटे प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। किन्तु उन तप, दान, जप आदि प्रायश्चित्तों से केवल उन पापों की शान्ति हो जाती है, पापी के पापमलिन हृदय की शुद्धि नही होती अथवा उन पापों का सूक्ष्म रूप संस्कार नहीं नष्ट होता। पर हरि का नाम लेने से, उनके चरणों की सेवा से हृदय भी शुद्ध हो जाता है, पाप-संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे आग लकड़ी को जला देती है, वैसे ही जानकर या बिना जाने, किसी तरह उच्चारण करने पर हरि का नाम पाप को मिटा देता है। जैसे कोई आदमी किसी महाशक्तिशाली औषध को बिना उसका गुण जाने भी, बिना श्रद्धा और विश्वास के ही, खा ले तो भी वह औषध अपना फल दिखाती है, उसके रोग को दूर कर देती है, वैसे ही मंत्रस्वरूप हरि का नाम किसी तरह कीर्त्तन करने पर अपना फल दिखाता है *।

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, हरि के पार्षदों ने इस प्रकार भगवद्भजन के धर्म का निर्णय करके अजामिल को यमपाश से छुड़ाकर मृत्यु से बचा लिया। यमदूत भी वहाँ से सीधे यमलोक में यमराज के सामने उपस्थित हुए और उनसे सारा वृत्तान्त कह दिया। अजामिल यमपाश से छूटने पर निर्भय और प्रकृतिस्थ हुआ। उसने उठकर पृथ्वी पर सिर रखकर पार्षदों को प्रणाम किया। उनके दर्शन से अजामिल को बड़ी प्रसन्नता हुई। पार्षदों ने जब देखा कि अजामिल उनसे कुछ कहना चाहता है, तब वे सहसा उसके सामने वहीं अन्तर्द्धान हो गये। तीनों वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, उस सगुण और भगवत्प्रोक्त निर्गुण धर्म की व्याख्या क्रमशः यमदूतों और पार्षदों के मुख से सुनकर अजामिल तुरन्त भगवान् का भक्त हो गया। हरि के माहात्म्य को सुनने की ऐसी ही महिमा है। अपने किये पापों को याद कर वह इस प्रकार

---

* ऐसा ही कुछ इस श्लोक मे भी कहा है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येवाहि पावकः॥

पछताने लगा। अजामिल अपने मन में कहने लगा—अहो, मैं अपने मन को वश में नहीं रख सका, यह मेरे लिए कितने कष्ट की बात है! मैंने शूद्र जाति की वेश्या में पुत्र उत्पन्न करके अपने ब्रह्मतेज को बहा दिया—नष्ट कर दिया। मैं दुराचारी, कुल-कलंक और सज्जनों के समाज में निन्दनीय हूँ। मैं अपनी युवती सती धर्म-पत्नी को छोड़कर मदिरा पीनेवाली वेश्या पर आसक्त हो गया। मुझे बारम्बार धिक्कार है। मैं बड़ा ही अकृतज्ञ और नीच हूँ। तभी तो मैंने एकमात्र पुत्र होकर भी अपने तपस्वी माता-पिता को छोड़ दिया; यह न सोचा कि वे बूढ़े हैं, मेरे सिवा उनकी देखरेख करनेवाला और बन्धु नहीं है। सो मै अवश्य ही महा भयंकर नरक मे गिरूँगा, जिसमें धर्म का नाश करनेवाले कामीजन कठिन यम-यातनाएँ भोगते हैं। पर इस समय मैंने जो कुछ देखा, वह अद्भुत दृश्य सच्चा था या सपना? पाश हाथ में लिये जो भयंकर पुरुष मेरी आत्मा को शरीर से निकाल रहे थे, वे कहाँ चले गये? वे भयंकर पुरुष जब मेरी आत्मा को पृथ्वी के नीचे लेकर जाना चाहते थे, तब जिन चार चतुर्भुज परम सुन्दर सिद्धपुरुषों ने अचानक आकर मुझे छुड़ा लिया, वे ही कहाँ चले गये? कुछ भी हो, मुझ अभागे को उन श्रेष्ठ पुरुषों के दर्शन हुए, इसलिए इस जन्म में घोर पापी होने पर भी पूर्वजन्म में मैंने अवश्य ही कोई भारी पुण्य किया होगा। उनके दर्शन से मेरा सब भय जाता रहा और आत्मा प्रसन्न हो रही है। अगर पहले जन्म के मेरे कुछ पुण्य न होते तो कभी मरते समय मुझ सरीखे अपवित्र वेश्यागामी के मुख से भगवान् का परमपवित्र मंगलमय नाम नहीं निकल सकता था। कहाँ मैं छली, पापी, निर्लज्ज और ब्राह्मणजन्म को नष्ट करनेवाला और कहाँ मंगल-मय नारायण का नाम! अच्छा, अब मैं बची हुई आयु में प्राणायाम आदि से इन्द्रिय, मन और प्राणवायु को वश करके ऐसा यत्न करूँगा, जिससे फिर मेरा मन पाप में प्रवृत्त न हो, मुझे नरक न भोगना पड़े। अविद्या और कामनाकृत कर्मों से होनेवाले इस संसार-बन्धन से मैं अपने को छुड़ाऊँगा। सब प्राणियों की भलाई चाहूँगा, शान्ति के साथ सब प्राणियों पर करुणा का भाव रक्खूँगा, आत्मज्ञान प्राप्त कर सबको अपना मित्र मानूँगा। यह स्त्री ही ईश्वर की माया है। उसी ने मुझे अपने वश में करके पालू बंदर की तरह तरह-तरह के नाच नचाये हैं। यद्यपि मैं अधम हूँ, तथापि अब उस नारीरूपिणी माया के फेर में न पड़ूँगा। देह आदि को सत्य समझकर "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार की मिथ्या बुद्धि मैंने कर रक्खी थी। अब इस ममता और अहंभाव को छोड़कर भगवद्भजन आदि उपायों से अपने मन को शुद्ध करूँगा और फिर उसे भगवान के चरणों में लगाऊँगा।

शुकदेवजी कहते हैं—क्षण भर के सत्संग का यह फल हुआ कि उसी समय अजामिल के मन में संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसी समय पुत्रस्नेह आदि के सब बन्धनों को छोड़कर वह भगवद्भजन के लिए हरद्वार को चला गया। उस देवभूमि में पहुँचकर अजामिल ने आसन जमाकर योगाभ्यास का आरंभ कर दिया। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर उसने मन को आत्मरूप के चिन्तन में लगाया। उसने देह, इन्द्रिय आदि उपाधियों से आत्मा को अलग करके, चित्त की एकाग्रता द्वारा, अनुभवानन्दमय भगवत्स्व-रूप परब्रह्म में मिला दिया। जब अजामिल का चित्त ब्रह्मानुभव में अटल हो गया, तब उसे वे ही भगवान् के पार्षद अपने आगे खड़े देख पड़े, जिन्होंने पहले उसे यमपाश से छुड़ाया था। विप्रवर अजामिल ने सिर नवाकर उन्हें भक्ति के साथ प्रणाम किया। पार्षदों का दर्शन करते ही अजामिल ने गंगाजल में शरीर छोड़कर पार्षदों का ही स्वरूप प्राप्त कर लिया। इसके उपरान्त उन्हीं पार्षदों के साथ सुवर्णमण्डित दिव्य विमान पर चढ़कर आकाशमार्ग से उस वैकुण्ठधाम को गया, जहाँ लक्ष्मीपति नारायण सदैव विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सब धर्म-कर्मों से भ्रष्ट, वेश्यागामी, अपने निन्दित कर्मों के कारण पतित और सदाचारहीन अजामिल नरक में गिरने जा रहा था; पर एक बार बहाने से नारायण का नाम लेते ही तुरन्त

छुटकारा पा गया और अन्त को उसे दुर्लभ मुक्ति भी मिल गई। मोक्ष की इच्छा रखनेवालों के लिए हरिभजन से बढ़कर कर्मबन्धन को काटने का और कोई उपाय नहीं है। अन्य प्रायश्चित्त करने से मनुष्य का मन फिर रजोगुण और तमोगुण से मलिन हो सकता है, परन्तु हरिनाम-कीर्त्तन से मन सदा के लिए विशुद्ध हो जाता है। यह इतिहास बहुत ही गुप्त और पापनाशक है। जो लोग इसे श्रद्धा से सुनते या भक्ति के साथ पढ़ते हैं, वे कभी नरक को नहीं जाते। यमदूत कभी उनकी ओर देख भी नहीं सकते। वे चाहे जैसे पापी हों, विष्णु-लोक में जाकर सुख से रहते हैं। मरते समय पुत्र को पुकारते में भगवान का नाम लेनेवाला महापापी अजामिल जब वैकुण्ठधाम को गया, तब जो लोग श्रद्धा के साथ हरि के नाम का उच्चारण करेंगे, उनके मुक्त होने में क्या संशय है?

---

# तीसरा अध्याय

## यमराज और उनके दूतों की बातचीत

राजा परीक्षित् ने कहा—भगवन, अपने दूतों के मुख से यह सब वृत्तान्त सुनकर धर्मराज ने उनसे क्या कहा? धर्मराज ही सब जीवों के दण्ड का विधान करते हैं, सब उन्हीं के वश में हैं। पर विष्णु के पार्षदों ने उनकी आज्ञा को व्यर्थ कर दिया। मैंने इससे पहले कभी और कहीं यमराज का दण्ड-विधान व्यर्थ होते नहीं सुना था। इस बात को सुनकर सभी लोगों के मन में संशय उत्पन्न होगा। उस संशय को आपके सिवा और कोई नहीं दूर कर सकता, यह मुझे निश्चय है।

शुकदेवजी ने कहा—विष्णुदूतों के प्रभाव से अपना काम न कर पाने पर यमदूतों ने संयमिनी पुरी के स्वामी यमराज से जाकर यों कहा—हे प्रभो, तीन प्रकार के अर्थात् सात्विक, राजस और तामस कर्म करनेवाले जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल देनेवाले शासक इस जगत् में कितने हैं? अगर जगत् में दण्ड देनेवाले शासक बहुत-से हैं, तो जीवों में से किसी को भी स्वर्ग का सुख या नरक का दुःख न होगा; क्योंकि जीवों को कर्म का फल देने में वे एकमत न होंगे, किसी को एक सुख देना चाहेगा तो दूसरा दुःख; अथवा यदि वे शासक एकमत हो गये तो किसी जीव को सुख ही प्राप्त होगा और किसी को केवल दुःख ही; भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न फल न प्राप्त होगा। कर्म करनेवाले जीव अनेक हैं, अतः उनके कर्मफल की व्यवस्था के लिए अनेक शासक भी हो सकते हैं; किन्तु उस दशा में किसी शासक को प्रधानता नहीं रह सकती। जैसे असली शासक तो चक्रवर्ती राजा ही होता है, और अन्य छोटे-छोटे राजा नाममात्र के शासक होते हैं, वे चक्रवर्ती की आज्ञा का ही पालन करते है, निरंकुश नहीं होते, वैसे ही इस सम्बन्ध में भी होना चाहिए। प्रभो, इसलिए आप ही सब जीवों के और उनके अन्य साधारण शासकों के एकमात्र अधीश्वर, शासक और शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देनेवाले हैं। परन्तु इस समय आपकी आज्ञा त्रिभुवन में अप्रतिहत नहीं रह गई। चार अद्भुत स्वरूपवाले सिद्धों ने हमें आपकी आज्ञा का पालन नहीं करने दिया। हम आपकी आज्ञा के अनुसार एक पापी को नरक में ला रहे थे; पर उन्होंने आकर बलपूर्वक यमपाश को तोड़कर उसे छुड़ा लिया। उस पापी ने मरते समय केवल अपने पुत्र को "नारायण" कहकर पुकारा था, इतने ही में "मत डरो" कहते हुए वे दौड़े आये। हम उन्हें जानना चाहते हैं। वे कौन हैं? अगर बतलाने योग्य समझिए तो हमें उनका परिचय दीजिए।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, इस प्रकार दूतों के पूछने पर प्रजाओं को कर्मानुसार दण्ड देनेवाले यमराज ने प्रसन्न होकर हरि के चरणारविन्दों को स्मरण करके यों कहना शुरू किया। यम ने कहा—देखो, मैं जिनका सेवक हूँ, वह मुझसे बहुत बड़े परम शासक परमेश्वर हैं। मैं तो केवल जंगम जगत् का, उसमें भी मनुष्यों का, मनुष्यों में भी केवल पापियों का अधीश्वर या शासक हूँ; पर वह परमेश्वर सारे चराचरजगत् के स्वामी हैं। कपड़े में सूत की तरह यह सारा विश्व उनमें ओतप्रोत है, अर्थात् कपड़े में जैसे सूत का ही ताना-बाना होता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न रूपों से वही परमेश्वर इस जगत् में व्याप्त हैं। उन्हीं के अंश ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। सब लोक नथे हुए बैल की तरह उनके वश में हैं। वह जगदीश्वर ब्राह्मण आदि नामों के द्वारा वेदवाक्यरूप रस्सी मे सबको बाँधे या नाथे हुए हैं और नाम-कर्म के बन्धन में बँधे हुए ये जीव कर्म करते हैं। साधारण लोगों की तो बात ही क्या, मैं, महेन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, पवन, शिव, ब्रह्मा, आदित्यगण, विश्वेदेवा, वसुगण, साध्यगण, मरुद्गण, रुद्रगण, सिद्धगण, विश्व की सृष्टि को बढ़ानेवाले और सब प्रजापति देवता और भृगु आदि महर्षिगण—जिनमें रजोगुण या तमोगुण का लेश नहीं है, सतोगुण ही प्रधान है, वे भी—उन परमेश्वर की माया के स्पर्शमात्र से मोहित होने के कारण उनकी इच्छा या चेष्टा को नहीं जान पाते। रूप जैसे अपने प्रकाशक चक्षु इन्द्रिय को नहीं जान पाता, वैसे ही सब प्राणी अपने हृदय में स्थित और सब आत्माओं के साक्षी परमात्मा को इन्द्रियों से, मन से, प्राणों से, चित्त से या वाणी से नहीं जान पाते; क्योंकि वह इन सबका विषय नहीं हैं। उन सर्वथा स्वतन्त्र, सबके प्रभु, सबसे श्रेष्ठ, माया के अधिपति महात्मा हरि के पार्षद भी उन्हीं के समान रूप, गुण और स्वभाव से सुशोभित और मनोहर हैं। वे प्रायः इस पृथ्वी पर विचरते रहते हैं। विष्णु भगवान् के पार्षदों का सम्मान सब देवता भी करते हैं। उनके अत्यन्त अद्भुत् रूप के दर्शन सबको नहीं होते। वे भगवद्भक्तों को उनके शत्रु दुष्टों से, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियों से बचाने के लिए ही घूमते हैं। साक्षात् भगवान् के कहे हुए निष्काम भागवतधर्म के तत्त्व को भृगु आदि ऋषि, देवता, सिद्धगण, असुर, विद्याधर, चारण, आदि भी नहीं जान सकते, तब मनुष्य कहाँ से जान सकते हैं? हे दूतो, ब्रह्माजी, नारद, शंभु, सनत्कुमार, कपिलदेव, मनु, प्रह्लाद, राजा जनक, भीष्मपितामह, राजा बलि, श्रीशुकदेव और मैं, ये दस जन ही उस विशुद्ध, दुर्ज्ञेय, गुह्य भागवतधर्म को जानते है, जिसके जान लेने से जीव जीवन्मुक्त हो जाता है—फिर उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इस लोक में मनुष्य का यही परमधर्म है कि भगवद्भजन के साथ भगवान की नव प्रकार की भक्ति करे। पुत्रो, हरि-नाम के उच्चारण की महिमा देखो, पापी अजामिल केवल एक बार पुत्र के नाम के रूप में "नारायण" कहने से ही मृत्युपाश से मुक्त हो गया! इसलिए यह न समझना चाहिए कि भगवान् के गुण, लीला और नामों का



श्रद्धा-भक्ति के साथ कीर्त्तन करने से लोगों के केवल पाप नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् इतना ही उसका फल है। देखो, अजामिल जैसे महापापी ने मरते समय अस्वस्थचित्त होकर, पुत्र का नाम समझकर, विकृत स्वर में, हरि के नाम का उच्चारण किया, और इसीसे उसके सब पाप नष्ट हो गये—वह मुक्ति का अधिकारी बन गया। स्वस्थचित्त होकर श्रद्धा और भक्ति के साथ हरि-भजन करने से तो उसके प्रभाव से वासनाओं का क्षय और अन्तःकरण की सम्पूर्ण शुद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह कि केवल पापक्षय के लिए तो किसी तरह किसी भी अवस्था में मुख से हरि का नाम निकल जाना ही यथेष्ट है। मनु आदि महापुरुषों की मति को निश्चय ही भगवान् की माया ने मोहित कर रक्खा है और वे वेद के कर्मकाण्ड (अग्निष्टोम आदि यज्ञों) के सुहावने फलादेश को परम पुरुषार्थ मानकर प्रवृत्तिमार्ग के—सकाम कर्म-पद्धति के—अनुयायी हैं। तभी तो वे नाम-कीर्त्तन की महिमा को न जानकर अपनी स्मृतियों में कृच्छ्र, चान्द्रायण, द्वादशाब्द-व्रत आदि प्रायश्चित्तों का विधान करते हैं। उनका यह विधान वैसा ही है, जैसे मृतसंजीवन औषध को न जाननेवाले वैद्य रोग दूर करने के लिए और कष्टसाध्य दवाएँ देते हैं। बुद्धिमान लोग अपने मन में ऐसा विचार करके संपूर्ण रूप से भगवान् की अनन्य भक्ति में अपने मन को लगा देते हैं। ऐसे लोग कभी मेरे दण्ड के योग्य नहीं होते। उनसे एक तो पाप होता ही नहीं और अगर कुछ होता भी है तो हरि-भजन के प्रभाव से वह नष्ट हो जाता है। जो भगवान के शरणागत, समदर्शी साधु-जन हैं, उनकी पवित्र गाथा को देवता और सिद्ध लोग कहा-सुना करते हैं। उनके पास तुम कभी भूलकर भी न जाना। नारायण की गदा सदा उनकी रक्षा किया करती है। उन्हें मैं और काल, कोई भी दण्ड नहीं दे सकता। भक्ति-रस-रसिक अकिंचन परमहंस संसार की सब वस्तुओं का संग छोड़कर सदैव हरि के चरणकमलों का मकरन्द-रस पिया करते हैं। जो लोग हरिचरणों से विमुख रहकर नरक के द्वार विषय-सुख के सेवन में लगे हुए हों, उन असज्जनों को मेरे पास दण्ड के लिए लाया करो। जिनकी जीभ कभी भगवान के गुणों का कीर्त्तन नहीं करती, जिनका चित्त हरिचरणों का स्मरण नहीं करता, जिनका सिर एक बार भी कृष्णचन्द्र को प्रणाम नहीं करता, जो कभी विष्णु की सेवा, पूजा और व्रत नहीं करते, उन असत् लोगों को मेरे पास लाया करो। मेरे दूतों ने बिना जाने जो अपराध किया है, उसके लिए मैं हाथ जोड़कर भगवान् से क्षमा की प्रार्थना करता हूँ। भगवान् पुरातनपुरुष सर्वव्यापी नारायण हम अपने सेवकों के इस अपराध को क्षमा कर दें। वह सबसे बड़े हैं, और बड़ों का धर्म ही क्षमा करना है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, आप निश्चय जानिए कि विष्णुनाम का कीर्त्तन सब प्रकार के मंगलों का दाता और सभी पापों का एकमात्र प्रायश्चित्त है। हरि के चरित्रों को बारंबार कहने-सुनने से उत्पन्न भक्ति के द्वारा जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी व्रत आदि किसी अन्य उपाय से नहीं होती। मेरे इस सब कथन का सारांश इतना ही है कि कृष्णचरण-मधुकर बनकर भक्तिरस पीनेवाला पुरुष मायामय विषयों की दुर्गति और क्लेश का मूल समझ लेता है और उन्हें एक बार छोड़कर फिर ग्रहण नहीं करता। किन्तु कामनाओं के वशीभूत संसारासक्त मूढ़ पुरुष पाप-नाश के लिए प्रायश्चित्त के रूप में फिर वेही कर्म करता है, जिनसे उसे पाप में लिप्त होना पड़ता है। महाराज, अपने प्रभु यमराज के मुख से हरि की महिमा सुनकर यम-दूतों को बड़ा विस्मय हुआ। तब से वे कृष्णभक्तों से सदैव शंकित रहते हैं। उनको देखते भी डरते हैं। मलयाचल पर बैठकर हरि की पूजा करते हुए अगस्त्य ऋषि ने इस गुप्त इतिहास का वर्णन किया था।

# चौथा अध्याय

## दक्ष की तपस्या

राजा ने पूछा—मुनिवर, तीसरे स्कंध में स्वायंभुव मन्वन्तर का वर्णन करते समय आप देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, मृग, पक्षी आदि की सृष्टि संक्षेप में कह चुके हैं; अब मैं उसी को विस्तार से सुनना चाहता हूँ। जिस अपनी शक्ति या विभूति के द्वारा परमेश्वर ने जिस प्रकार जिस वस्तु की सृष्टि की है, वह मैं जानना चाहता हूँ।

सूतजी शौनक आदि ऋषियों से कहते हैं कि राजा का यह प्रश्न सुनकर योगीश्वर शुकदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा करके बोले—राजन्, प्राचीनबर्हि राजा के पुत्र दस भाई प्रचेताओं ने समुद्र के भीतर से निकलने पर देखा कि पृथ्वी चारों ओर वृक्ष और लताओं से छाई हुई है। [पहले चौथे स्कंध में राजा प्राचीनबर्हि की कथा कह आये हैं।] राजा प्राचीनबर्हि नारदजी के उपदेश से निवृत्तिमार्ग के अनुगामी हो गये थे, इसलिए कोई राजा न रहने के कारण खेती आदि भी नहीं होती थी, जिससे पृथ्वी भर में जंगल हो गया था। अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन प्रचेताओं ने वृक्षों को जलाने के लिए तपोबल से अपने मुख से अग्नि और वायु को उत्पन्न किया। वह आग जब प्रबल वेग से उन वृक्षों को जलाने लगी, तब यह देखकर वनस्पतियों के राजा सोम* ने आकर प्रचेताओं का कोप शान्त करने के लिए मधुर वाणी में यों कहना शुरू किया—हे महाभाग्यशालियो, ये सब जड़ वृक्ष हैं, इनसे द्रोह करना अर्थात् इन पर कोप करके इन्हें भस्म करना तुम्हें उचित नहीं है। तुम तो प्रजापति हो, सृष्टि को विशेष रूप से बढ़ाना चाहते हो। सब प्रजापतियों के स्वामी अविनाशी भगवान् हरि ने ही प्रजा-पालनार्थ वनस्पति (बिना फूले ही फलनेवाले पीपल आदि), ओषधि (फल पकने पर काट डाले जानेवाले जव, गेहूँ आदि), ऊर्ज (पितरों का अन्न या फल) और इष (देवतों का अन्न या जव आदि) की सृष्टि की है। तुम लोगों को तुम्हारे पिता और देवदेव महादेव ने प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी है। फिर तुम प्रजाओं को आहार देनेवाले इन बेचारे वृक्षों को क्यों जला रहे हो? तुम्हारे बाप-दादा-परदादा सज्जनों के मार्ग पर चलनेवाले शान्त स्वभाव के थे। तुम भी बढ़े हुए क्रोध को दबाकर शान्त बनो। जैसे बालकों के माता-पिता, आँखों की पलकें, पत्नी का पति, संन्यासियों का गृहस्थ और मूर्खों का विद्वान् रक्षक और हितकारी होता है, वैसे ही प्रजाओं की रक्षा करनेवाले प्रजापति होते हैं। सभी प्राणियों की देह में भीतर



* चौथे स्कंध में इसी प्रसंग में कहा है कि ब्रह्माजी ने आकर प्रचेताओं को शान्त किया था, पर यहाँ चन्द्रमा का नाम लिखा है। पर इसमें विरुद्ध कुछ नहीं है। चौथे स्कंध में वाराहकल्प का वर्णन था और यहाँ पाद्मकल्प का है।

आत्मारूप से ईश्वर हरि का निवास है। इसलिए सभी प्राणियों को हरि का निवासस्थान समझो, किसी को पीड़ा न पहुँचाओ। ऐसा करके तुम भगवान् को प्रसन्न कर सकोगे। सबसे बड़ा शत्रु यह क्रोध ही है। जो लोग इस तीव्र कोप को विवेक के द्वारा रोक सकते हैं, वे माया के तीनों दुस्तर गुणों को जीत लेते हैं। अब तुम इन वृक्षों को भस्म न करो। इन बचे हुए वृक्षों का और तुम्हारा कल्याण हो। इन वृक्षों ने एक अप्सरा की कन्या को पाल रक्खा है, उसे लेकर तुम अपनी पत्नी बना लो। इस प्रकार कहकर राजा सोम ने प्रम्लोचा अप्सरा की वह सुंदरी कन्या प्रचेताओं को देदी और अपने लोक को चले गये। प्रचेताओं ने विधिपूर्वक उस कन्या से व्याह कर लिया। उसी कन्या के गर्भ से दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए। दक्ष ने इतनी सृष्टि बढ़ाई कि उससे तीनों लोक भर गये। दक्ष को कन्यायें बहुत प्यारी थीं, क्योंकि उनका वंश कन्याओं से ही चला। दक्ष ने पहले जल, थल और आकाश में रहनेवाले देव, असुर, मनुष्य आदि इन प्रजाओं की सृष्टि मन से ही की। पर उनकी यह मानसी सृष्टि बढ़ती न देख पड़ी। तब वह विन्ध्याचल के पास जाकर दुष्कर तप करने लगे। वहाँ पर पापनाशक अघमर्षण तीर्थ में नित्य स्नान करके कठिन तप से उन्होंने हरि को प्रसन्न किया। मैं अब वह हंसगुह्य स्तोत्र कहता हूँ, जिससे दक्ष हरि की स्तुति करते थे। इसी स्तोत्र के प्रभाव से नारायण दक्ष पर प्रसन्न हुए। दक्ष प्रजापति ने कहा—सबसे श्रेष्ठ परमेश्वर को प्रणाम है। भगवन, आपकी चित्शक्ति अमोघ और अखंड है। इसीसे जीव और माया, दोनों का नियंत्रण आप करते हैं। तथापि देहाभिमानी होकर मायागुणप्रपञ्च को ही तत्त्व अर्थात सत् वस्तु समझनेवाले जीव आपके स्वरूप को नहीं देख पाते। आपका परिमाण या सीमा नहीं है। आप सर्वव्यापक होने के कारण स्वयंप्रकाशित स्वयंसिद्ध हैं। मैं आपका ध्यान करता हूँ। जैसे सदा सम्बन्ध रहने पर भी रूप आदि विषय यह नहीं जानते कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ उन्हें प्रकाशित करती हैं, वैसे ही यह जीव भी देहरूप पुर में आप ही के साथ रहकर भी साक्षी और अन्तर्यामी परमात्मा जो आप हैं, उन्हें नहीं जान पाता। अर्थात् वह यह नहीं जान पाता कि सब इन्द्रिय, मन आदि के प्रवर्त्तक आप ही हैं। हे महेश, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। देह, प्राण, आँख-नाक-कान आदि अंग, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पृथ्वी आदि पंचभूत और रूप आदि विषय जड़ होने के कारण अपने रूप को, चक्षु आदि इन्द्रियों को और उनके प्रकाशक सूर्य आदि अधिष्ठाता देवताओं को नहीं जान पाते; पर जीव चेतन होने के कारण इस सब तीन प्रकार के गुण-प्रपञ्च को और उसके मूल तीनों गुणों को जानता है। फिर भी वह सर्वज्ञ परमात्मा जो आप हैं, उन्हें नहीं जानता। हे अनन्त, मैं आपकी स्तुति करता हूँ। जब नाम और रूप का निरूपण करनेवाले मन की दर्शन और स्मरण की शक्ति नष्ट हो जाती है ( सुषुप्ति की तरह लय या जाग्रत् और स्वप्नावस्था की तरह विक्षेप नहीं होता ), तब उस समाधि की अवस्था में केवल स्वरूप-ज्ञान से जिनकी प्रतीति होती है, उन विशुद्ध मन से प्रतीत होनेवाले हंस (परमात्मा) को मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने सत्ताईस प्रकार की उपाधियों*, पक्षान्तर में सोलह विकारों † में अपने को छिपा रक्खा है, उन देहाभिमानी आत्मा से अलग अट्ठाईसवें परमतत्त्व परमात्मा को ज्ञानी लोग विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने हृदय के भीतर ही माया के आवरण से अलग करके उसी तरह जान लेते हैं, जिस प्रकार लकड़ी के भीतर छिपे हुए अलौकिक अग्नि को ऋषि लोग पञ्चह सामिधेनी मन्त्र पढ़कर प्रकट कर लेते हैं। वही जगदीश्वर मुझ पर प्रसन्न हों। अनन्त रूपधारिणी माया को दूर करके समाधि लगाने पर आपके सुख अर्थात् ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है। अनेक नामों से प्रसिद्ध सब वस्तुएँ

---

* प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रा, ये नव उपाधियाँ तीन गुणों के अनुसार तीन-तीन प्रकार की होकर सत्ताईस उपाधियाँ हुईं।

† दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय और सोलहवाँ जीव, ये सोलह विकार हुए।

आप ही की विभूतियाँ हैं। आप विश्वरूप हैं। आपकी शक्ति माया का बखान वाणी से नहीं किया जा सकता। आप मुझ पर प्रसन्न हों। यद्यपि सगुणरूप से माया के द्वारा यह सब विश्व ही आपका रूप कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव मे आप इस असत् प्रपञ्च से परे निर्गुण और निराकार ही हैं। आपका न कोई नाम है, न रूप। वाक्य से जो कहा जाता है, बुद्धि से जिसका निरूपण होता है, इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता है और मन मे जिसका संकल्प होता है, वह आपका सच्चा यथार्थ रूप नही है। कारण, ये सब पदार्थ गुणों के ही रूप है, और आप निर्गुण है। आप गुण नहीं, गुणों की उत्पत्ति और लय का कारण है। जिसमें, जहाँ से, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो काम, जिस तरह, जो करता और जो कराता है, सो सब ब्रह्म ही है, क्योंकि वही इन सबका कारण है। ब्रह्मा आदि मुख्य और प्रजापति आदि गौण जो सृष्टि के कारण या कर्त्ता हैं, उन सबका मूल कारण वह ब्रह्म ही है। सबसे पहले वही स्वयंसिद्ध प्रसिद्ध है। वही सबका अनन्य और एकमात्र कारण है। जिन भगवान् की अविद्या, माया आदि शक्तियाँ मीमांसक, नास्तिक आदि भिन्न-भिन्न मतवालों में वाद-विवाद की सृष्टि करती हैं और उन्हे बारम्बार मोह में फँसाती है, उन अनन्त गुणवाले भूमा को हम प्रणाम करते है। योगशास्त्र ( उपासना-शास्त्र ) विराट् रूप की उपासना मे पाताल आदि को आपके चरण आदि अंग बतलाता हैं और सांख्यशास्त्र ( ज्ञानशास्त्र ) के मत मे आपके आँख, नाक, कान आदि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार इन दोनों शास्त्रों के धर्म या विचार भिन्न तथा परस्परविरुद्ध और दोनो में विवाद होने पर भी दोनों के विचार या विवाद का विषय एक ही अर्थात आप ही है। ये दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से आप ही का निरूपण करते हैं। कारण, अधिष्ठान के बिना चरण आदि की कल्पना और अवधि के बिना उसका निषेध होता है। इन दोनों शास्त्रों से सिद्ध परब्रह्म को प्रणाम है। अपने चरणसेवकों पर अनुग्रह करने के लिए नामरूपहीन होकर भी अवतार लेकर कर्म करके नाम-रूप धारण करनेवाले अनन्त, भगवान्, परब्रह्म मुझ पर प्रसन्न हों। वायु जैसे वास्तव में गन्ध और रूप से हीन है, पर पृथ्वी के गुण गंध ( चंपा, बेला आदि की सुगंध अथवा किसी दुर्गंध ) को ग्रहण करके अनेक गंधोंवाला और धूल आदि को ग्रहण करके अनेक रूपवाला हो जाता है, वैसे ही आप भी उपासना-मार्ग में उपासकों की वासना के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप से विविध प्रतीत होते हैं। पर वास्तव में आप सबके शरीर में अन्तर्यामी-रूप से स्थित हैं। हे ईश्वर, आप ही मेरे मनोरथ को पूरा करें।



शुकदेवजी कहते हैं—राजन, इस प्रकार इस हंसगुह्यस्तोत्र से दक्ष ने जब स्तुति की, तब उस अघमर्षण तीर्थ में भक्तवत्सल भगवान ने प्रकट होकर उनको दर्शन दिये। भगवान् नारायण गरुड़ के कंधे पर चरण रक्खे थे। विशाल आठ भुजाओं में चक्र, शंख, तरवार, ढाल, बाण, धनुष, पाश और गदा धारण किये थे। पीतांबर पहने, घनश्याम, प्रसन्नवदन, प्रसन्नदृष्टि से देख रहे थे। वक्षःस्थल में वनमाला, श्रीवत्स और कौस्तुभमणि की अपूर्व शोभा थी। मस्तक में किरीट-मुकुट, कानों में मकराकृति कुंडल, कटक, काची

( करधनी ), अँगूठी, वलय, नूपुर, अंगद आदि आभूषणों से अलंकृत त्रैलोक्यमोहन रूप से त्रिभुवनपति नारायण शोभायमान थे। नारद, नंद, सुनंद आदि पार्षद, सब लोकपाल और सिद्ध, चारण, गंधर्वगण चारों ओर खड़े भगवान् की स्तुति कर रहे थे। उस महा अद्भुत रूप को देखकर दक्ष का हृदय गद्गद हो गया। प्रसन्नचित्त प्रजापति ने पृथ्वी पर गिरकर भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया। तीव्र आनन्द के कारण उनका गला रुँध गया और वह कुछ भी बोल न सके। जिस प्रकार चारों ओर से झरनों का जल गिरने से नदियाँ परिपूर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार उनकी सभी इन्द्रियों से आनन्द का अनुभव होने से अन्तःकरण हर्ष से भर गया।

पर भगवान् तो सब प्राणियों के अन्तर्यामी ठहरे। उनसे दक्ष का मनोरथ छिपा नहीं था। प्रजा की इच्छा से तपस्या करनेवाले भक्त प्रजापति को इस प्रकार प्रणत देखकर नारायण ने कहा—हे महाभाग प्रचेताओं के पुत्र, श्रद्धा के साथ मेरी भक्ति करने से ही तुम्हारा तप पूर्ण हो गया। हे प्रजापति, तुम पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुम इस सृष्टि को बढ़ाने के लिए तप कर रहे थे। मैं चाहता हूँ कि प्रजाओं की वृद्धि हो। ब्रह्मा, शिव, मनु, इन्द्र आदि लोकपाल और तुम सब प्रजापति मेरी ही विभूतियाँ हो। तुम्हीं लोगों से प्रजाओं की सृष्टि होगी। तप ( यमनियमादिसहित ध्यान ) मेरा हृदय है, विद्या (सांगोपांग मन्त्रजप) मेरा शरीर है। कर्मकाण्ड आकृति है। सुसम्पन्न यज्ञ मेरे अंग हैं। धर्म मेरा आत्मा है और यज्ञ में पूजनीय देवता मेरे प्राण हैं। पहले केवल एकमात्र मैं ही था। भीतर और बाहर अर्थात् विषय को ग्रहण करनेवाला अथवा ग्रहण करने की वस्तु कुछ भी न था। इन्द्रियों की वृत्तियों से अभिव्यक्त न होनेवाला चैतन्यमात्र था। अतएव विश्व मे सर्वत्र प्रसुप्त की तरह चेष्टाशून्य था। मैं अनन्त हूँ और मेरे गुण भी अनन्त है। उसके उपरान्त सृष्टि के आदि मे गुणों ( माया ) के द्वारा जब मेरा सगुण शरीर ब्रह्माण्ड मुझसे प्रकट हुआ, तब सबके पितामह, अयोनिज, स्वयंभू ब्रह्मा उत्पन्न हुए। मेरी शक्ति से सम्पन्न देवदेव ब्रह्मा ने सृष्टि करनी चाही; पर उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। तब मैंने ही उन्हे तप करने की आज्ञा दी और वह घोर तप करने लगे। पितामह ने तप के प्रभाव से तुम नव प्रजापतियों को सबसे पहले उत्पन्न किया। इसलिए हे प्रजापति, तुम इस पञ्चजन की कन्या असिक्नी को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार करो। तुम दोनों साथ रहकर मैथुन-धर्म से बहुत-सी सन्ताने उत्पन्न करके सृष्टि को बढ़ाओगे। तुम्हारे बाद जो सृष्टि होगी, उसके सभी नर-नारी इसी तरह मिलकर पुत्र-कन्या उत्पन्न कर मेरी इच्छा पूर्ण करेंगे।

शुकदेवजी कहते हैं—यों कहकर दक्ष के सामने ही जगदीश्वर भगवान् हरि स्वप्न में मिले हुए पदार्थ के समान वहीं अन्तर्द्धान हो गये।

# पाँचवाँ अध्याय

## नारद को दक्ष का शाप

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, विष्णु की माया से शक्ति प्राप्त करके दक्ष ने पञ्चजन की पुत्री के गर्भ से हर्यश्व नाम के दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। इन सब दक्ष के पुत्रों का स्वभाव, आचरण और नाम एक ही हुआ। दक्ष ने उनसे भी प्रजा उत्पन्न करने के लिए कहा और वे पश्चिम दिशा में तप करने के लिए चल दिये। सिन्धुनद जहाँ सागर में मिला है, वहाँ नारायणसरोवर नाम का बहुत बड़ा तीर्थ है।

उसमें बड़े-बड़े मुनि और सिद्ध रहते हैं। उसके जल को छूते ही उनका मन निर्मल हो गया और उनकी बुद्धि परमहंसों के धर्म निवृत्तिमार्ग में लग गई। पर वे पिता की आज्ञा से विवश थे, इसलिए प्रजा उत्पन्न करने की कामना से उग्र तप करने लगे। देवर्षि नारद ने उन्हें प्रजा बढ़ाने के उद्देश्य में लगे देखा तो उन्हें उन पर दया आ गई। नारदजी ने सोचा, ये मोक्षमार्ग के अधिकारी होकर भी प्रवृत्तिमार्ग में अपना समय नष्ट कर रहे हैं, यह बड़े खेद की बात है! तब उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए उनके पास जाकर नारद ने कहा—हे हर्यश्वगण, तुम पृथ्वी का अंत देखे बिना कैसे प्रजा उत्पन्न करोगे? तुम प्रजापति होकर भी तप के रहस्य को नहीं जानते, यह बड़े खेद की बात है! एक राष्ट्र है, जिसमें केवल एक ही पुरुष है। उसे तुमने अभी नहीं देखा। एक बिल है, जिससे निकलने का रास्ता नहीं देख पड़ता। उसे तुमने नहीं देखा। एक स्त्री है, जिसके अनेक रूप है। उसे तुमने नहीं देखा। एक पुरुष है, जो एक कुलटा स्त्री का पति है। उसे तुमने नहीं देखा। एक नदी है, जिसकी धारा उलटी और सीधी बहती है। उसे तुमने नहीं देखा। एक अद्भुत घर है, जो पचीस पदार्थों से बना है। उसे तुमने नहीं देखा। छुरे के समान काटनेवाला और वज्र के समान सुदृढ़ एक स्वयं घूमनेवाला चक्र है। उसे तुमने नहीं देखा। एक स्थान पर विचित्र बोली बोलनेवाला एक हंस है। उसे तुमने नहीं देखा। इन वस्तुओं को तुमने नहीं देखा और अपने सर्वज्ञ पिता की अपने अनुरूप आज्ञा के यथार्थ अभिप्राय को भी तुम नहीं जानते। फिर भला कैसे सृष्टि उत्पन्न कर सकोगे? शुकदेवजी कहते हैं—नारद के इन कूटवचनों को सुनकर हर्यश्वगण ने अपनी स्वाभाविक विचार-शक्ति से विचारकर आप अपनी बुद्धि से इन कूटवाक्यों का इस प्रकार अर्थ लगाया। यह आत्मा की जीवोपाधि अर्थात् वासनामय लिंगशरीर ही पृथ्वी अर्थात् कर्मों का क्षेत्र है। यही आत्मा के बन्धन का अनादि कारण है। उसका अन्त अर्थात् विनाश देखे बिना मोक्ष न दिलानेवाले अन्य असत् कर्म करना व्यर्थ है। इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र में ईश्वर एक है। वह सबका साक्षी, सबसे श्रेष्ठ, सब ऐश्वर्यों से युक्त और आप ही अपना आधार है। उस नित्यमुक्ति ईश्वर को जाने बिना अन्य असत् कर्म करना व्यर्थ है; अर्थात् जो कर्म ईश्वरार्पण नहीं किये गये, उनसे कुछ लाभ नहीं हो सकता। जैसे पाताल या बिल में जाकर फिर कोई वहाँ से नहीं लौटता, वैसे ही परम ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म में लीन होने पर फिर आवागमन नहीं होता। उस ब्रह्म को जाने बिना इस लोक में नश्वर स्वर्ग के साधन यज्ञादि कर्म करना वृथा है। यह बुद्धि तीनों गुणों के संसर्ग से अनेक रूप धारण करती है और कुलटा स्त्री की भाँति उन गुणों के भावों से मोहित करती है। विवेक से ही इस असत् बुद्धि का अन्त होता है, अर्थात् यह शुद्ध होती है। उसे जाने बिना अर्थात् विवेक प्राप्त किये बिना यथार्थ शान्ति न पहुँचानेवाले असत् कर्म करना व्यर्थ है। जैसे दुराचारिणी स्त्री के संसर्ग से पुरुष की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और वह पुरुष उस स्त्री के सुख-दुःख में ही अपने को सुखी या दुःखी समझता है, वैसे ही माया में फँसा



हुआ जीवात्मा बहुरूपिणी गुणमयी बुद्धि के वशीभूत होकर अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। इस बात को जिसने नहीं जाना, उसका अविवेक के साथ असत् कर्म करना वृथा है। उलटी और सीधी बहनेवाली नदी यह माया है, जो सृष्टि भी करती है और संहार भी। जीव इसी में पड़कर गोते खाता है। किनारे पर इसका वेग बहुत अधिक है। जैसे किनारे पहुँचकर नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ आदमी बाहर निकलने की चेष्टा करता है, पर जो वहाँ बहाव का वेग अधिक हुआ तो उसके पैर नहीं टिकते और वह निकल नहीं पाता, वैसे ही इस नदी से निकलने के लिए तट के समान तप, विद्या आदि के पास पहुँचने की जीव जब चेष्टा करता है, तब क्रोध-अहंकार आदि का वेगशाली बहाव उसके पैर वहाँ टिकने नहीं देता। इस माया-नदी में पड़ा हुआ विवश जीव जब तक इसे नहीं जानता, तब तक उसी माया के बन्धन में और भी जकड़ देनेवाले असत् कर्म करने से क्या हो सकता है? पचीस तत्त्वों का बना हुआ घर यह शरीरधारी जीवात्मा है। अन्तर्यामी पुरुष या आत्मा इसका अद्भुत आश्रय है। उस कार्य-कारण समूह के अधिष्ठाता अन्तर्यामी पुरुष को जो नहीं जानता, उसे मिथ्या स्वतन्त्रताभिमान से किये गये कर्मों से क्या लाभ हो सकता है? ईश्वरप्रतिपादक शास्त्र ही हंस है। उसमें चैतन्य और जड़ वस्तुओं की विशेष रूप से विवेचना की गई है। वह शास्त्र यह बतलाता है कि किस कर्म से बन्धन और किस कर्म से मोक्ष होती है। इसलिए उसकी बातें विचित्र हैं। उसको बिना जाने, उसका अभ्यास बिना किये, बहिर्मुख असत् कर्म करना वृथा है। आपसे घूमनेवाला, तीक्ष्ण और न टूटनेवाला चक्र यह कालचक्र है। यह स्वयं स्वतंत्र रहकर संसार-चक्र को घुमाता और सबकी आयु को काटता या क्षीण करता है। इसे न जानकर अनित्य फल देनेवाले सकाम कर्म करना व्यर्थ है। शास्त्राभ्यास से मनुष्य का दूसरा जन्म होता है, इसलिए वही सबका सर्वज्ञ पिता है। निवृत्तिमार्ग पर चलने की ही वह उपयुक्त आज्ञा देता है। उस आज्ञा को जो नहीं जानता, वह सगुण प्रवृत्तिमार्ग पर विश्वास रखनेवाला कैसे उसके उपदेश के अनुसार काम कर सकता है?

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, इस प्रकार निश्चय कर एकमत होकर हर्यश्वगण ने देवर्षि नारद की प्रदक्षिणा की। उसके बाद वे उस निवृत्तिमार्ग में चले गये, जहाँ से फिर कोई इस संसार में नहीं लौटा, अर्थात् मुक्ति की साधना करके मुक्त हो गये। नारदजी भी हरिचरणों के दर्शन करानेवाले स्वर-ब्रह्म अर्थात् संगीतमय भगवद्भजन में मन लगाकर फिर त्रिभुवन में विचरने लगे। अपने सुशील पुत्रों का नारद के उपदेश से इस तरह विनाश (सृष्टि न उत्पन्न करके मुक्तिमार्ग ग्रहण कर लेना) सुनकर दक्ष प्रजापति को बड़ा शोक हुआ। सच है, अच्छी सन्तान का होना शोक का घर है, अर्थात् यदि अच्छा पुत्र न रहा, तो बहुत बड़ा दुःख होता है। ब्रह्माजी के सान्त्वना देने पर दक्ष ने फिर अपनी पत्नी के गर्भ से सबलाश्व नाम के एक हज़ार पुत्र उत्पन्न किये। उन्हें भी दक्ष ने वही प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी। वे भी पिता की आज्ञा का पालन करने की इच्छा से उसी नारायणसरोवर में तप करने गये, जहाँ नारद के उपदेश से निवृत्तिमार्ग ग्रहण करके उनके दस हज़ार बड़े भाई सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए थे। सरोवर के जल को छूते ही उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, सब वासनाओं का मैल धुल गया। वे ओंकाररूप परब्रह्म का जप करते हुए घोर तपस्या करने लगे। कुछ महीने केवल जल पीकर और कुछ महीने केवल वायु भोजन करके आगे कहे गये महामंत्र से सब मंत्रों का फल देनेवाले भगवान् विष्णु की उन्होंने आराधना की। वह मंत्र यह था—"परम पुरुष, विशुद्ध ज्ञानमय, परमात्मा नारायण को प्रणाम है। हम उन्हीं का ध्यान करते हैं।" महाराज, इसी अवसर में नारद ने आकर प्रजासृष्टि की इच्छा रखनेवाले उन दक्ष-पुत्रों से भी पहले की तरह कूटवाक्य कहने के उपरान्त यों कहा—हे दक्ष के पुत्रो, तुम अवश्य ही अपने भाइयों को प्यार करते हो, इसलिए मेरे इस उपदेश पर विचार करके उन्हीं भाइयों के अनुगामी बनो। जो धर्म का जाननेवाला

भाई अपने भाइयों की अच्छी राह पर चलता है, वह पुण्यात्मा स्वर्ग में भ्रातृस्नेह के आदर्श मरुद्गण (इस नाम के ४९ देवता) के साथ सुखभोग करता है। जिनका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, वह देवर्षि नारद इतना कहकर वहाँ से चल दिये। उधर सबलाश्वगण भी अपने भाई हर्यश्वगण की तरह मोक्षमार्ग के अनुगामी हो गये। जैसे पिछली रात जाकर फिर नहीं लौटती, वैसे ही सबलाश्वगण भी ज्ञान से मिलनेवाले परब्रह्म के निर्गुणमार्ग में जाकर फिर इस संसार को नहीं लौटे।

इसी समय दक्षप्रजापति को अशुभसूचक अनेक उत्पात (जैसे बाईं आँख और बाहु का फड़कना) दिखाई देने लगे। उन्हें यह भी समाचार मिला कि नारद के उपदेश से उनके ये पुत्र भी प्रवृत्तिमार्ग से बहककर निवृत्तिमार्ग में चले गये। पुत्रशोक से व्याकुल दक्षप्रजापति को नारद के ऊपर बड़ा क्रोध आया। इसी समय दक्ष को भी निवृत्तिमार्ग का अनुगामी बनाने के लिए नारदजी उनके पास गये। नारद को देखते ही दक्ष के होठ क्रोध से फड़कने लगे। दक्ष ने नारद से कहा—अहो नारद, तुम्हारा वेष तो साधुओं का है, पर वास्तव में तुम साधु नहीं हो। साधु तो परोपकारी होते हैं। तुमने बालकों को बहकाकर भिक्षुओं के मार्ग में भेज दिया, अपने गृहस्थधर्म का पालन नहीं करने दिया, यह बहुत बुरा किया। यही क्या साधुओं का धर्म है? अरे, पापी, ब्राह्मण पर जन्म के साथ ही तीन ऋण होते हैं—ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण। ब्रह्मचर्य से ऋषियों का ऋण, यज्ञ करने से देवताओं का ऋण और सन्तान उत्पन्न करने से पितृऋण मिटता है। मेरे पुत्र अभी तीनों ऋणों से मुक्त नहीं हुए थे और वे कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का विचार भी नहीं कर सके थे। तुमने उनके दोनों लोक नष्ट कर दिये। विषय भोग का त्याग कर देने से इस लोक का सुख वे नहीं पा सके और मोक्ष के अधिकारी न होने के कारण उनका परलोक भी नहीं बना। ब्राह्मण जब तक तीनों ऋणों से छुटकारा नहीं पा लेता, तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता, यही शास्त्र का मत है*। तुम बड़े निर्दय हो; तुमने बालकों को बहका दिया। तुम निर्लज्ज हो और हरि के यश को कलंकित करने के लिए हरिजनों के बीच विचरते हो। एक तुमको छोड़कर सभी भगवान के भक्तजन प्राणियों पर अनुग्रह अर्थात् उनकी भलाई करते हैं। तुम इसके विरुद्ध प्राणियों के परस्पर के स्नेह को मिटानेवाले और वैर न करनेवालों के साथ वैर-बुराई करनेवाले हो। अगर कहो कि वेद में लिखा है कि जिस दिन मन में संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी दिन उसे छोड़कर संन्यास ले ले, उसे फिर तीनों ऋणों से उऋण होने की आवश्यकता नहीं है, तो इससे भी तुम्हारे काम का औचित्य सिद्ध नहीं होता। तुम्हारे इस झूठे साधुवेष को देखकर,



* मनुस्मृति में लिखा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

केवल तुम्हारे उपदेश से ही किसी के मन में विषयों से वैराग्य नहीं उत्पन्न हो सकता। वैराग्य के बिना विषयों से निवृत्ति नहीं होती और विषय-निवृत्ति के बिना पिता-पुत्र आदि के स्नेह का बन्धन भी नहीं टूट सकता। अनुभव या भोग किये बिना कोरे उपदेश से विषयों को दुःख का मूल जानना संभव नहीं। अनुभव के द्वारा विषयों को दुःखमय जानने पर आप से जैसा सच्चा वैराग्य उत्पन्न होता है, वैसा तुम सरीखे लोगों के मौखिक उपदेश से कभी नहीं हो सकता। हम कर्मपरायण परोपकारी गृहस्थ हैं। तुमने जो हमारी बुराई की है, उसे कोई सहज में सह नहीं सकता; पर हम उसे सहे लेते हैं। किन्तु तुमने हमारे वंश को मिटाने का जो पाप किया है, उसका फल तो तुम्हें मिलना ही चाहिए। तुमने हमारे पुत्रों को कर्त्तव्य से भ्रष्ट किया है, इसलिए तुम भी सब लोकों में घूमते ही फिरोगे, कहीं तुम्हारा पैर नहीं टिकेगा।

श्रीशुकदेवजी कहते है—साधुगण द्वारा प्रशंसित नारद ने बदले में दक्ष को शाप देने की शक्ति रखने पर भी शाप नही दिया और दक्ष के शाप को सहर्ष स्वीकार करके चल दिये। साधुजनों का यही बड़प्पन और बड़ाई है कि प्रतिकार की शक्ति रहने पर भी अपने अपकार को चुपचाप सह लेते हैं।

---

# छठा अध्याय

## दक्ष-कन्याओं का वंश

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, इसके बाद फिर ब्रह्माजी के समझाने-बुझाने पर प्रजापति दक्ष ने अबकी पुत्र न उत्पन्न करके साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। वे सब कन्याएँ पिता को बहुत प्यार करती थीं। दक्ष ने उनमें से दस धर्म को, तेरह प्रजापति कश्यप को, सत्ताईस चन्द्रमा को, दो-दो भूत, अंगिरा और कृशाश्व को और शेष चार कन्याएँ तार्क्ष्य (यह कश्यप का ही दूसरा नाम है) को ब्याह दीं। अब इन कन्याओं के और उनकी सन्तानों के नाम तुम मुझसे सुनो। इन्हीं दक्ष-कन्याओं के वंश से तीनों लोक भर गये। धर्म की स्त्रियों के नाम हैं—भानु, लम्बा, ककुप्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और संकल्पा। इनके पुत्रों के नाम सुनो। भानु के देवऋषभ और उसके इन्द्रसेन नाम का पुत्र हुआ। लम्बा के विद्योत नाम का पुत्र हुआ। ये सब मेघ उसी से उत्पन्न हुए हैं। ककुप् के संकट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र कीकट हुआ। उससे पृथ्वी के सब बिवरों के अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए। जामि के स्वर्ग और उसके नन्दि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बिश्वा के बिश्वेदेवा नाम के पुत्र हुए। उनके कोई सन्तान नहीं हुई। साध्या के पुत्र साध्य नाम के देवता हुए। साध्यगण के अर्थसिद्धि नाम का पुत्र हुआ। मरुत्वती के मरुत्वान् और जयंत नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। जयंत वासुदेव का अंश है। उन्हीं को उपेन्द्र भी कहते हैं। मुहूर्ता के मौहूर्तिक नाम के देवता उत्पन्न हुए। ये सब प्राणियों को अपने-अपने समय (मुहूर्त्त) में किये कर्मों का फल देते हैं। संकल्पा के संकल्प नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। संकल्प के पुत्र का नाम काम है। वसु के वसु नाम के आठ देवता उत्पन्न हुए। उनके नाम ये हैं—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, विभावसु और वसु। द्रोण के अभिमति नाम की पत्नी में हर्ष, शोक, भय आदि के अधिष्ठाता देवता पुत्र हुए। प्राण के ऊर्जस्वती नाम की स्त्री में सह, आयु और पुरोजव नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। ध्रुव की भार्या धरणि ने विविध पुर उत्पन्न किये। अर्क के वासना नाम की पत्नी में तर्ष आदि कई पुत्र हुए। अग्नि की भार्या वसुधारा के गर्भ से द्रविणक आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए। स्कन्द भी जिन्हें कृत्तिकाओं का पुत्र कहते हैं, अग्नि-नामक वसु के ही पुत्र

हैं। स्कन्द के विशाखा आदि पुत्र हुए। दोष वसु के शर्वरी नाम की भार्या में हरि की कला शिशुमार उत्पन्न हुए। वसु के आंगिरसी नाम की पत्नी में शिल्पकला के आचार्य विश्वकर्मा उत्पन्न हुए। विश्वकर्मा के चाक्षुष मनु हुए। चाक्षुष मनु के विश्वेदेवा और साध्यदेवता उत्पन्न हुए। विभावसु की पत्नी उषा के व्युष्ट, रोचिष और आतप नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। आतप के पंचयाम (पाँच पहर का दिन) उत्पन्न हुआ, जिसके प्रभाव से सब प्राणी अपने-अपने काम में लग जाते हैं। भूत की भार्या का नाम सरूपा था। उससे करोड़ों रुद्र उत्पन्न हुए। इनमें रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपात्, अहिबुध्न्य, बहुरूप और महान, ये ग्यारह रुद्र मुख्य है। भूत की दूसरी स्त्री भूता के भूत, प्रेत, पिशाच आदि रुद्र के पार्षद उत्पन्न हुए। अंगिरा प्रजापति की एक पत्नी स्वधा ने पितृगण को और दूसरी स्त्री सती ने अथर्वांगिरस नाम के वेद को अपना पुत्र बनाया। कृशाश्व की अर्चि और धिषणा नाम की दो पत्नियाँ थीं। वेदशिरा कृशाश्व ने अर्चि के गर्भ से धूम्रकेश को और धिषणा के गर्भ से देवल, वयुन, और मनु नाम के तीन पुत्रों को उत्पन्न किया। तार्क्ष्य के विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी नाम की चार पत्नियां थीं। उनमें पतंगी के पक्षी और यामिनी के शलभ (टोड़ियाँ) उत्पन्न हुए। विनता के गरुड़ और अरुण नाम के दो पुत्र हुए। गरुड़ भगवान विष्णु के वाहन हैं। अरुण सूर्य के सारथी है और उनका शरीर केवल कमर तक है। कद्रू के गर्भ से असंख्य विषधर नाग उत्पन्न हुए। राजन्, कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्र चंद्रदेव की पत्नियाँ हैं। दक्ष-शाप से चंद्रमा को क्षय रोग हो गया, इस कारण उनके कोई सन्तान नहीं हुई। पर हाँ, इतना अवश्य हो गया कि दक्ष को फिर प्रसन्न कर लेने पर चंद्रमा को उनसे यह वर मिल गया कि पंद्रह दिन में क्षय हुई कलाएँ फिर पंद्रह दिन में पूरी हो जाती हैं। अब हम कश्यप प्रजापति की पत्नियों के नाम कहते हैं। यह सारा जगत इन्हीं की सन्तान है। इन जगन्माताओं के नाम उच्चारण करने से ही कल्याण होता है। उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि। सब जलचर जीव तिमि की सन्तान हैं। सरमा के पाँच नखवाले कुत्ते आदि पशु उत्पन्न हुए। गऊ, बैल, भैंस आदि फटे खुरवाले सब पशु सुरभि से उत्पन्न हुए। बाज, गिद्ध आदि पक्षी ताम्रा की सन्तान है। सब अप्सराएँ मुनि नाम की कश्यप-पत्नी की सन्तान हैं। दन्दशूक आदि विभिन्न जातियों के सर्प क्रोधवशा की सन्तान हैं। पृथ्वी को फोड़कर निकलनेवाले वृक्ष आदि इला की सन्तान है। सुरसा के सब राक्षस उत्पन्न हुए। अरिष्टा के गर्भ से गन्धर्वगण उत्पन्न हुए। जिनके खुर बीच से फटे नहीं होते, वे पशु काष्ठा की सन्तान हैं। दनु के इकसठ दानव उत्पन्न हुए। उनमें द्विमूर्द्धा, शंबर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, प्रलोमा, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि स्वर्भानु की कन्या सुप्रभा से नमुचि असुर ने विवाह किया। वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा नहुष राजा के पुत्र ययाति की स्त्री हुई। वैश्वानर दानव के उपदानवी, हयशिरा, प्रलोमा और कालका नाम की चार सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न हुईं। उपदानवी का विवाह हिरण्याक्ष से हुआ। क्रतु का व्याह हयशिरा से हुआ। ब्रह्माजी की प्रेरणा से कश्यप प्रजापति ने पुलोमा और कालका के साथ व्याह कर लिया। उनके गर्भ से पौलोम और कालकेय नाम के युद्धप्रिय दानव उत्पन्न हुए। उनके पुत्र साठ हजार निवात-कवचों को इन्द्र के कहने से तुम्हारे पितामह अर्जुन ने स्वर्ग में जाकर अकेले ही मार डाला। वे यज्ञ में विघ्न डालते थे, इसीलिए इन्द्र ने उन्हें मरवा डाला। विप्रचित्ति दानव ने सिंहिका राक्षसी से विवाह किया। उसके एक सौ एक पुत्र उत्पन्न हुए—अर्थात् सौ केतु और सबसे बड़ा राहु। इनकी गणना नवग्रहों में की जाती है। अब अदिति का वंश सुनो, जिसमें भगवान् नारायण ने वामन-रूप से अवतार लिया है। अदिति के गर्भ से विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम नाम के बारह आदित्य उत्पन्न हुए। विव-

स्वान की स्त्री संज्ञा के गर्भ से श्राद्धदेव मनु उत्पन्न हुए। इन्हीं का दूसरा नाम वैवस्वत मनु है। संज्ञा के ही यम और यमुना भी सन्तान हैं। संज्ञा के ही घोड़ी का रूप रखने पर अश्विनीकुमार देवता उत्पन्न हुए। विवस्वान की दूसरी पत्नी छाया के शनैश्चर, सावर्णिमनु और तपती नाम की कन्या उत्पन्न हुई। तपती ने अपना विवाह राजा सम्वरण से किया। अर्यमा ने मातृका नाम पत्नी में कृताकृत का ज्ञान रखनेवाले मनुष्यों की सृष्टि की, इसलिए अर्यमा आदित्य मनुष्यों के पूर्वज हैं। पूषा के कोई सन्तान नहीं हुई। दक्ष प्रजापति पर कुपित महादेव को देखकर वह दाँत निकालकर हँसे थे, इसीलिए वीरभद्र ने उनके सब दाँत तोड़ डाले। इसीलिए अब वह यज्ञ आदि में पिसा हुआ अन्न पाते हैं। त्वष्टा की स्त्री रचना दैत्य-कन्या थी। उसके गर्भ से तेजस्वी विश्वरूप नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक समय श्रीमदांध इन्द्र के अपराध से कुपित होकर देवगुरु बृहस्पति ने देवपक्ष को छोड़ दिया था। दैत्यगण देवतों को परास्त करने लगे। उस समय विश्वरूप को शत्रुओं का भांजा जानकर भी विवश देवतों ने अपना पुरोहित बनाया।

# सातवाँ अध्याय

## विश्वरूप से देवतों की प्रार्थना

राजा परीक्षित् ने शुकदेवजी से पूछा—मुनिवर, बृहस्पति तो देवतों के गुरु हैं। फिर देवगण ने गुरु का अपराध कैसे किया? कृपाकर यह बतलाइए कि आचार्य ने देवतों को किसलिए छोड़ दिया था? शुकदेवजी बोले—त्रिलोकी का राज्य-ऐश्वर्य पाकर इन्द्र को ऐसा श्रीमद हो गया कि उन्होंने सज्जनों के सुमार्ग पर चलना छोड़ दिया। एक समय स्वर्ग में इन्द्र की सभा लगी हुई थी। इन्द्र सिंहासन पर विराजमान थे। उनके आस-पास मरुद्गण, वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, ऋभदेवता, विश्वेदेवा, साध्यगण, अश्विनीकुमार, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ब्रह्मज्ञानी मुनिगण, विद्याधर, अप्सरा, किम्पुरुष, पक्षी, नाग आदि सब देव-उपदेव उनकी सेवा में उपस्थित थे और स्तुति कर रहे थे। आधे आसन पर देवी इन्द्राणी बैठी थीं। गन्धर्व गाकर और अप्सराएँ नाचकर उन्हें रिझा रही थीं। सिर के ऊपर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र था। चँवर, व्यजन आदि अन्य महाराजों के सामान भी सुशोभित थे। इतने ही में देवतों और इन्द्र के परम पूज्य गुरु बृहस्पतिजी उस सभा में उपस्थित हुए। उन्हें देखकर भी इन्द्र उनके स्वागत के लिए अपने आसन से नहीं उठे, न उनसे बैठने के लिए ही कहा। तब



उसी समय देवता और दैत्य, दोनों के पूजनीय, अंगिरा के पुत्र, शाप और वर देने में समर्थ, परम चतुर, मुनिवर बृहस्पति चुपचाप अपने आश्रम को लौट गये। उन्होंने समझ लिया कि राजलक्ष्मी के मद से इन्द्र की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। उसी समय इन्द्र का मद उतर गया और उनको चेत हुआ कि गुरु का अनादर करके उन्होंने अच्छा नहीं किया। वह सभा में सबके सामने ही स्वयं इस प्रकार अपनी निन्दा करने लगे। इन्द्र ने कहा—अहो, मैं बड़ा ही मंदमति हूँ। मैंने यह बहुत ही बुरा किया! मुझे धिक्कार है! कैसे खेद की बात है! मैंने ऐश्वर्य के नशे में चूर होकर भरी सभा में गुरुवर का अनादर किया। मेरे इस ऐश्वर्य को धिक्कार है! कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इस इन्द्रपद के ऐश्वर्य को भी न चाहेगा। मैं देवतों का राजा होकर भी इस ऐश्वर्य के कारण असुरों की तरह तमोगुण के वशीभूत हो गया। जो लोग यह कहते हैं कि सिंहासन पर बैठा हुआ राजा सबका पूजनीय होता है, उसे किसी के भी स्वागत के लिए न उठना चाहिए, वे भूलते हैं। वे श्रेष्ठ धर्म को नहीं जानते। वे कुमार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। वे आप नरकगामी होते हैं और उनके कहे पर चलनेवाले भी पत्थर की नाव के समान डूब जाते हैं। इसलिए मैं महाबुद्धिमान् देवगुरु आचार्य के श्रीचरणों में सिर रखकर सच्चे हृदय से क्षमा-प्रार्थना करके उन्हें प्रसन्न करूँगा।

इधर इन्द्र ने यों पछताकर बृहस्पतिजी के पास जाना चाहा, उधर बृहस्पतिजी उनका विचार जानकर अपने आश्रम में ही अपने योगबल से अदृश्य हो गये। इन्द्र ने उन्हें बहुत-कुछ खोजा, मगर उनको कहीं न पाया। तब वह देवगण के साथ बहुत चिन्तित हुए, उनके मन की शान्ति जाती रही। उधर दैत्यों को जब यह समाचार मिला तो वे अपने गुरु शुक्राचार्य की सम्मति से तुरन्त अस्त्र-शस्त्र लेकर देवतों पर चढ़ दौड़े। देवतों और दैत्यों का तो पुराना वैर है। इस समय रक्षा करनेवाले और सहायक बृहस्पति से खटपट हो जाने के कारण देवतों को निर्बल पाकर दैत्यों ने युद्ध छेड़ दिया। दैत्यों के पैने बाणों से देवतों के बाहु, जंघा आदि अंग छिन्न-भिन्न होने लगे। दैत्यों से हारकर देवगणसहित इन्द्र सिर झुकाये हुए ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी की शरण में गये। देवदेव ब्रह्माजी को देवतों की यह दुर्दशा देखकर बड़ी दया आई। उन्होंने देवगण को सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—अहो, बड़े खेद की बात है। हे देवगण, यह बड़ा बुरा किया कि ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त होकर अपने गुरु ब्रह्मज्ञानी जितेन्द्रिय ब्राह्मणश्रेष्ठ बृहस्पति का अपमान कर बैठे। उसी अन्याय का यह फल है कि तुम शत्रुओं से हार गये। तुम समृद्धिशाली थे और तुम्हारे शत्रु तुमसे निर्बल थे। पर अपने अन्याय के कारण तुम्हारी यह दशा हुई। हे इन्द्र, तुम अपने शत्रुओं को देखो, एक बार अपने गुरु शुक्राचार्य का अनादर करके वे हार गये थे, पर अब उन्हीं की सेवा करके उन्होंने तुम्हें परास्त कर दिया। गुरु-सेवा करके वे इतने प्रबल हो गये हैं कि मेरे लोक को भी चाहें, तो अनायास ले सकते हैं। शुक्राचार्य के शिष्य असुर स्वर्ग का राज्य छीन लें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शुक्राचार्य उनके मंत्री, सहायक और उपदेशक हैं। जिन राजों पर ब्राह्मण, गऊ, और ईश्वर की कृपा होती है, उनका अमंगल कभी नहीं होता। इसलिए अब तुम एक काम करो। बृहस्पति को प्रसन्न करना तो इस समय असंभव है। तुम जाकर त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ब्राह्मण को प्रसन्न करके अपना आचार्य बनाओ। वह जितेन्द्रिय तपस्वी प्रसन्न होकर तुम्हें फिर विजय दिलावेंगे। पर हाँ, अगर तुम उनके किसी अपने विरुद्ध काम ( असुर-पक्षपात ) को क्षमा कर सकोगे, तभी ऐसा हो सकेगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्माजी के वचन सुनकर इन्द्र आदि देवतों की चिन्ता दूर हुई। वे त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ऋषि के पास गये और उन्हें हृदय से लगाकर यों कहने लगे। देवगण ने कहा—पुत्र, हम तुम्हारे आश्रम में अतिथि होकर आये हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने बड़ों की समयोचित कामना को पूर्ण करो। पुत्र, पितृगण की सेवा करना ही सच्चे सपूतों का सर्वोपरि धर्म है। पुत्र-पोतेवाले

गृहस्थ-पुत्रों का जब यह धर्म है, तब तुम सरीखे ब्रह्मचारियों के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। आचार्य ( वेद पढ़ानेवाला ) वेद का, पिता प्रजापति का, भाई मरुत्पति इन्द्र का, माता साक्षात् पृथ्वी का, बहन दया का, अतिथि स्वयं धर्म का, अभ्यागत अग्नि का* और सब प्राणी अपना अर्थात् ईश्वर का रूप हैं। भैया, हम तुम्हारे पितृगण शत्रुओं के उत्पात से बहुत पीड़ित हो रहे हैं। अपने तप के प्रभाव से तुम हमारी इस व्यथा को दूर करो; ऐसा करो जिससे हम अपने शत्रुओं को परास्त कर सकें। यही हमारी आज्ञा है। तुम इसका पालन करो। हम तुमको अपना आचार्य बनाते हैं; क्योंकि तुम वेदपाठी ब्राह्मण होने के कारण सबके गुरु हो। हम तुम्हारे तपोबल और ब्रह्मतेज की सहायता से सहज में ही शत्रुओं को जीत लेंगे। यदि तुम कहो कि मैं तो छोटा हूँ, मेरे चरणों की वन्दना या पूजा तुम लोग कैसे करोगे, तो इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि प्रयोजन उपस्थित होने पर छोटे के पैर छूने में कोई दोष नहीं होता। फिर विद्या या मंत्र ही यथार्थ में छुटाई-बड़ाई का कारण होता है; अवस्था या सम्बन्ध नहीं। तुम वेदज्ञ हो और हमें मंत्र दोगे, इसलिए सम्बन्ध में छोटे होने पर भी बड़े हो जाओगे।



शुकदेवजी कहते हैं—महातपस्वी विश्वरूप देवतों के यों पुरोहित बनने के लिए प्रार्थना करने पर प्रसन्न होकर यों बोले। विश्वरूप ने कहा—हे पूजनीय देवगण, धर्मज्ञ लोग कहते हैं कि पुरोहिती का काम करने से ब्रह्मतेज क्षीण होता है। तथापि लोकेश्वर और बड़े होकर जब आप प्रार्थना कर रहे हैं, तब मैं उसे अस्वीकार कैसे कर सकता हूँ? मैं आपका शिक्षणीय शिष्य हूँ। शिष्य का यही सबसे बड़ा स्वार्थ है कि वह गुरुजन की आज्ञा को न टाले। मैं तो अकिञ्चन ब्राह्मणों की शिल और उंछ† वृत्ति से गृहस्थाश्रमी सज्जनों के कर्त्तव्य का निर्वाह करता हूँ और उसी में सन्तुष्ट हूँ। मुझको पुरोहिती की निन्दित वृत्ति स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पुरोहिती करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि मुझे पुरोहिती से धन कमाने की चाह नहीं है; मेरा यों ही निर्वाह हो रहा है। तथापि आप बड़ों की इस छोटी-सी प्रार्थना को मैं अस्वीकार नहीं कर सकता। आप इससे भी अधिक जो कुछ चाहें, उसे मैं अपने प्राण और धन से पूर्ण करूँगा। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तपस्वी विश्वरूप ने यों प्रतिज्ञा करके देवतों का पुरोहित होना स्वीकार कर लिया और बड़े उद्योग से देवतों की सहायता करने लगे। यद्यपि

---

* जो जाना हुआ आता है, उसे अतिथि कहते हैं, और जो अपरिचित होता है, उसे अभ्यागत कहते हैं।

† खेत कटने पर जो अन्न के दाने बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें शिल और बाज़ार में जो अन्न के दाने बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें उंछ कहते हैं।

दैत्यगुरु शुक्र के तपोबल से दैत्यों की राजलक्ष्मी सुरक्षित थी, तथापि विश्वरूप ने नारायणकवच-रूप वैष्णवी विद्या के बल से उनसे राजलक्ष्मी छीनकर इन्द्र को दे दी। राजन्, देवराज इन्द्र को विश्वरूप ने वह नारायण-कवच बतलाया, जिसके प्रभाव से उन्होंने असुरों को हरा दिया।

# आठवाँ अध्याय

## नारायण-कवच

राजा परीक्षित् ने कहा—मुनिवर, जिससे सुरक्षित होकर इन्द्र ने वाहनसमेत शत्रुओं की सेना को बिना किसी परिश्रम के जीता और फिर त्रिलोकी का राज्य उनसे ले लिया, वह नारायण-कवच मुझे बताइए। यह भी वर्णन कीजिए कि किसे सेनापति बनाकर उसकी सहायता से उन्होंने शस्त्रधारी शत्रुओं को किस तरह परास्त किया। शुकदेवजी ने कहा—राजन्, पुरोहित बनाये जाने पर विश्वरूप ने इन्द्र के पूछने पर उनसे जिस नारायण-कवच का वर्णन किया, वह मैं तुमसे कहता हूँ, एकाग्र होकर सुनो। विश्वरूप ने कहा—हे इन्द्र, जब किसी प्रकार का भय उपस्थित हो, तब हाथ-पैर धोकर, आचमन कर, हाथ में कुश की बनी पवित्री पहनकर, उत्तरमुख होकर बैठे और पवित्र होकर और किसी तरह की बात करना बंद करके अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर विष्णु-मंत्रों से अंगन्यास और करन्यास करे। अष्टाक्षर मंत्र है—ॐ नमो नारायणाय इस मंत्र के एक-एक अक्षर का उच्चारण करके दोनों पैर, दोनों जाँघ, दोनों ऊरु, उदर (पेट), हृदय वक्षःस्थल (छाती), मुख और मस्तक, इन आठ अंगों में उन्हें धारण करे। चाहे दोनों पैरों से आरंभ करे और चाहे सिर से। यह अंगन्यास हुआ। ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, यह द्वादशाक्षर मंत्र है। इस मंत्र के ॐकार से लेकर य तक हर एक अक्षर को क्रमशः दाहने हाथ की तर्जनी से बाएँ हाथ की तर्जनी तक और दोनों अँगूठों की पहली और तीसरी पोरों में धारण करे। यह करन्यास हुआ। अंगन्यास और करन्यास में प्रत्येक अक्षर के साथ पहले ॐकार को अवश्य लगा ले। फिर ॐ विष्णवे नमः इस षड्क्षर मंत्र के ॐकार को हृदय में, वि को मस्तक में, ष को भौंहों के बीच में, ण को शिखा में, वे को नेत्रों में, न को सब सन्धियों में स्थापित करके मः को अस्त्ररूप से ध्यान करता हुआ विद्वान् साधक स्वयं मंत्रमूर्त्ति बन जाय। अर्थात् "मः अस्त्राय फट्" कहकर दिग्बंधन कर दे। इसके बाद ऐश्वर्य आदि छः शक्तियों से युक्त और विद्या, तप, तेज की मूर्त्ति ईश्वर के रूप में आत्मा का ध्यान करे। फिर इस प्रकार नारायण-कवच का पाठ करना चाहिए। गरुड़ की पीठ पर चरणकमल स्थापित किये हुए, अणिमा आदि आठ गुणों से युक्त, आठ भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, धनुष, बाण, ढाल, तलवार और पाश लिये हुए हरि मेरी सब जगह सबसे रक्षा करे। मत्स्यावतार भगवान् जल के भीतर वरुण के पाश जलचर जीवों से मेरी रक्षा करें। माया द्वारा वटु वामनरूप विष्णु स्थल में मेरी रक्षा करें। विश्वरूप त्रिविक्रम आकाश में मेरी रक्षा करें। जिनके घोर अट्टहास से सब दिशाएँ गूँज उठी और भय के मारे स्त्रियों के गर्भ गिर पड़े, वह असुरारि नृसिंह भगवान् दुर्गम वन में और युद्धारंभ आदि संकट के समय मेरी रक्षा करें। अपनी दाढ़ पर रखकर पृथ्वी को रसातल से ऊपर लानेवाले यज्ञपुरुष वाराह मार्ग में मेरी रक्षा करें। पर्वतों के शिखरों पर परशुरामजी और प्रवास में लक्ष्मण सहित भरत के बड़े भाई रामचन्द्र मेरी रक्षा करें। जादू-टोना आदि से और प्रमाद से भगवान् नारायण ऋषि मुझे बचावें। घमंड से नर ऋषि मेरी रक्षा करें। योग से भ्रष्ट होने से योगेश्वर दत्तात्रेयजी और कर्म-बन्धन के भय से कपिलदेव मेरी रक्षा करें। काम के वेग से सनत्कुमार और मार्ग में देवताओं को

प्रणाम न करके जाने के अपराध से हयग्रीव भगवान् मेरी रक्षा करें। भगवत्पूजा में होनेवाले विघ्नों अर्थात् बत्तीस अपराधों से नारदजी मेरी रक्षा करें [ आगे एकादश स्कंध में पूजा के प्रकरण में इन अपराधों का विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। ] सब नरकों से कच्छप भगवान् मेरी रक्षा करें। अपथ्य-कुपथ्य से धन्वन्तरि भगवान् और सुख-दुःख, जाड़ा-गर्मी आदि द्वन्द्वों के भय से जितेन्द्रिय ऋषभदेव मेरी रक्षा करें। लोकापवाद से यज्ञ भगवान्, मनुष्यकृत कष्ट से बलभद्रजी और क्रोधी सर्पों से भगवान् शेषनाग मेरी रक्षा करे। अज्ञान से भगवान् द्वैपायन, पाखण्ड के प्रमाद से बुद्धदेव और कलिकाल के कलुषों से धर्मरक्षा के लिए अवतार लेनेवाले कल्कि भगवान् मेरी रक्षा करें। प्रातःकाल अर्थात् सूर्योदय के बाद छः घड़ी तक केशव गदा से मेरी रक्षा करें। उसके बाद छः घड़ी तक बाँसुरी बजा रहे गोविन्द मेरी रक्षा करें। फिर पूर्वाह्णकाल में शक्तिधारी नारायण और दोपहर को चक्रपाणि विष्णु मेरी रक्षा करें। तीसरे पहर धनुर्द्धर मधुसूदन मेरी रक्षा करें। सायंकाल को ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपधारी माधव मेरी रक्षा करें। प्रदोषकाल में हृषीकेश और आधी रात तक पद्मनाभ मेरी रक्षा करें। पिछली रात को श्रीवत्सधारी और सूर्योदय से पहले प्रत्यूषकाल तक खड्ग हाथ में लिये जनार्दन, दोनों संध्याकालों में दामोदर और कालरूप विश्वेश्वर प्रभात में मेरी रक्षा करें। प्रलयानल के समान प्रचण्ड तीक्ष्ण धारवाले हे हरि के सुदर्शनचक्र, आग जैसे पवन की सहायता से सूखी घास के ढेर को जलाती है, वैसे ही तुम भी भगवान के हाथ से चलकर घूमते हुए मेरे शत्रु की सेना को शीघ्र भस्म करो, भस्म करो। हे हरि की गदा, तुम्हारी चिनगारियाँ वज्र की तरह स्पर्श करते ही दुष्टों का नाश कर देती हैं। तुम अजित भगवान् को प्रिय हो और मैं उनका दास हूँ। इसलिए तुम कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि हानि पहुँचानेवाले ग्रहों को शीघ्र चूर्ण कर दो, चूर्ण कर दो, मेरे शत्रुओं को पीस डालो, पीस डालो। हे शंख, भगवान् कृष्ण के मुख-मारुत से बजकर अपने भयंकर शब्द से राक्षस, प्रमथ, प्रेत, मातृगण, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, आदि घोर दृष्टिवाले हानिकारक दुष्टों को शीघ्र भगाओ, भगाओ, और शत्रुओं के हृदय को कँपा दो। हे हरि के खड्ग, हरि के हाथ से चलाये गये तुम अपनी पैनी धार से मेरे शत्रुओं को शीघ्र काट डालो, काट डालो। हे शतचन्द्र-शोभित ढाल, मुझे बुरी दृष्टि से देखनेवाले पापी शत्रुओं की आँखें शीघ्र फोड़ दो, फोड़ दो—उग्र दृष्टि से मुझे देखनेवालों की आँखों को शीघ्र ढक लो, ढक लो। जो भयदायक ग्रह, केतु, मनुष्य, सर्प आदि कीड़े, जंगली सुअर, तीक्ष्ण दाढ़वाले जीव और मेरे कल्याण में बाधा डालनेवाले पापी हैं, वे भगवान् के नाम, रूप और अस्त्रों के कीर्त्तन से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हों। बृहद्रथन्तर आदि सामवेद के गीतिमय स्तोत्र जिनकी स्तुति करते हैं, वह छन्दोमय, विष्वक्सेन, प्रभु गरुड़ अपने नामों से मेरे सब कष्टों और संकटों को दूर करें। भगवान् के सब नाम, रूप, वाहन, शस्त्र और पार्षदगण मेरी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की रक्षा करें। यह निश्चित सत्य है कि यह प्रकट और अप्रकट सब जगत वास्तव में भगवान् ही का स्वरूप है। यह हमारे ऊपर होनेवाले सब उपद्रव और अनिष्ट मिट जायँ। जो लोग अपने को ईश्वर का ही रूप जानकर ईश्वर का ध्यान करते हैं, उनसे अभिन्न होकर भी जो भगवान अपनी शक्ति माया के द्वारा भूषण, शस्त्र, चिह्न और नाम आदि-आदि अपनी शक्तियों को धारण करते हैं, अर्थात् जो निर्गुण-निराकार होकर भी सगुण और साकार होते हैं, और वही जिनका सत्य प्रमाण है, वह सर्वज्ञ भगवान हरि अपने सभी रूपों से सदा सब जगह हमारी रक्षा करें। जिनके नाद से सारे संसार का भय दूर हो जाता है, जिनके तेज के आगे सबके तेज फीके पड़ जाते हैं, वही भगवान् नृसिंहजी सब दिशाओं में, विदिशाओं में, ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, चारों ओर हमारी रक्षा करें। हे इन्द्र, मैंने यह नारायण-कवच तुमसे कहा। इसे विधिपूर्वक धारण करके तुम अवश्य ही अपने शत्रु असुराधिपतियों को सहज में जीत

लोगे। यह कवच धारण करनेवाला जिसकी ओर देख दे या जिसे पैर से छू दे, वह भी शीघ्र ही भय से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति इस कवच को धारण करता है, उसे राजा, दस्यु, ग्रह, सिंह-व्याघ्र या रोग आदि का भय कभी नहीं होता। हे देवराज, पहले कुशिकगोत्र के किसी ब्राह्मण ने इसी कवच को धारण करके योगधारणा से प्राणवायु ब्रह्माण्ड में रोककर मरुभूमि में शरीरत्याग कर दिया था। जहाँ उस ब्राह्मण का मृत शरीर पड़ा था, उसी जगह, उसके ऊपर होकर एक समय अपनी स्त्रियों के साथ गन्धर्वों का राजा चित्ररथ निकला। उस शरीर को नाँघते ही अपने विमान के साथ चित्ररथ नीचे गिर पड़ा। उसका सिर नीचे हो गया और पैर ऊपर। तब बालखिल्य ऋषियों ने आकर उसे बतलाया कि इस ब्राह्मण के शरीर को ठिकाने लगा दो तो तुम फिर आकाश में जा सकोगे। ऋषियों की आज्ञा के अनुसार गन्धर्व ने ब्राह्मण की हड्डियाँ बटोरकर प्राची-सरस्वती में डालीं और फिर स्नान करके अपने घर को गया। उसे इस घटना से बड़ा विस्मय हुआ। जो कोई इस नारायण-कवच को आदर के साथ यथासमय धारण करता है, उसे सब प्राणी प्रणाम करते हैं और वह सब प्रकार के भयों से छुटकारा पा जाता है। विश्वरूप से वैष्णवी विद्या यह नारायण-कवच पाकर इन्द्र ने युद्ध में असुरों को परास्त कर दिया और वह फिर पहले की तरह त्रिलोकी का राज्य करने लगे।

# नवाँ अध्याय

## विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की उत्पत्ति

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, हमने सुना है कि देवतों के पुरोहित विश्वरूप के तीन सिर थे। वह एक से सोमपान, दूसरे से सुरापान और तीसरे से अन्न भोजन करते थे। विश्वरूप यज्ञ के समय अपने पितृपक्षीय देवगण को ऊँचे स्वर से हवि का भाग देते थे; पर मातृपक्ष के स्नेह से धीरे से देवतों से छिपाकर, असुरों को भी किसी तरह हवि का भाग दे दिया करते थे। एक बार इन्द्र ने उनका यह अन्याय देख लिया कि वह देव-पुरोहित होकर देव-शत्रु असुरों को यज्ञ का भाग दे रहे हैं। तब वह बहुत डरे कि यह हमें धोखा न दे। तब क्रोध के वश होकर इन्द्र ने विश्वरूप के सिर काट डाले। विश्वरूप का सोमपान करनेवाला मुख कपिंजल पक्षी, सुरापान करनेवाला मुख कलविंक पक्षी और अन्न भोजन करनेवाला मुख तीतर हो गया। यद्यपि इन्द्रदेव ब्रह्महत्या को रोक सकते थे, तथापि उन्होंने उसे हाथों में ले लिया। वर्ष भर उसी तरह रहकर उसके बाद लोकापवाद के भय से अपने को विशुद्ध करने के लिए उस पाप को चार हिस्से करके पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रीजाति में



बाँट दिया। खोदे हुए गढ़े आप भर जायँगे, यह वरदान पाकर पृथ्वी ने उस पाप का चौथा हिस्सा स्वीकार कर लिया। ऊसर उसी का रूप पृथ्वी में देख पड़ता है। इसी से ऊसर में पढ़ने का निषेध है। कटने पर फिर पनप आवेंगे, यह वरदान पाकर वृक्षों ने पाप का एक अंश स्वीकार कर लिया। गोंद उसी का रूप वृक्षों में देख पड़ता है। इसीसे गोंद खाना मना है। सदैव संभोग करने की शक्ति बनी रहेगी, यह वर पाकर स्त्री-जाति ने उस पाप का एक अंश स्वीकार कर लिया। स्त्रियों का मासिकधर्म उसी पाप का रूप है। इसीलिए रजस्वला अवस्था मे स्त्री-सहवास करने का निषेध है। दूध आदि पदार्थों में मिलकर उन्हें बढ़ाने की शक्ति का वर पाकर जल ने उस पाप का एक अंश ग्रहण कर लिया। उसमे भी बुल्ले और फेने के रूप में वह पाप देख पड़ता है।

विश्वरूप के मारे जाने पर उनके पिता त्वष्टा ने अत्यन्त कोप करके शत्रु इन्द्र को मार डालने की कामना से एक मारण का अनुष्ठान किया। उसमें उन्होंने "हे इंद्रशत्रु,* तू बढ़ और शीघ्र ही शत्रु को मार डाल" यह कहकर अग्नि में आहुति डाली। उसी समय उस मारण-यज्ञ के दक्षिणाग्नि के भीतर से प्रलय के



लोकनाशक काल के समान भयानक रूपवाला एक घोर असुर प्रकट हुआ। उस असुर का शरीर प्रतिदिन सब ओर चार-चार हाथ बढ़ने लगा। उसके शरीर का रंग ऐसा काला था कि वह एक जला हुआ पहाड़ जान पड़ता था। उसका तेज संध्याकाल के लाल मेघ के समान था। सिर और दाढ़ी के बाल तपे हुए ताँबे के रंग के थे। दोनों नेत्र दोपहर के सूर्य के समान उग्र थे। वह नुकीलो त्रिशूल को तानकर अपने पैरों से भूमण्डल को कँपाता हुआ नाचने और गरजने लगा। जान पड़ता था, वह कन्दरा के समान फैले हुए मुख से आकाश को पी जायगा, जिह्वा से नक्षत्रों को चाट जायगा और तीनों लोकों को लील लेगा। उसकी भयानक दाढ़ें जम्हाने से बारम्बार चमक रही थीं। उसे देखकर डरे हुए त्रिलोकी के निवासी चारों ओर भागने लगे। त्वष्टा के तपोबल से उत्पन्न उस तमोमय असुर ने सब लोकों को ढक लिया, इसीलिए उस पापरूप परम दारुण असुर का नाम वृत्र पड़ा। सब देवता उस दानव को देखकर बहुत घबराये और चारों ओर से उस पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे। पर उससे उसे कुछ भी हानि नहीं पहुँची। वह उन सब अस्त्र-शस्त्रों को लील गया। तब सब देवतों को बड़ा विस्मय हुआ। वे विषाद से निस्तेज होकर एकाग्र चित्त से अन्तर्यामी आदिपुरुष की स्तुति करने लगे।

देवगण ने कहा—पंचतत्त्व ( वायु, जल, अग्नि, आकाश और पृथ्वी ), उनसे रचित तीनों लोक, उनके स्वामी ब्रह्मा और हम सब देवता काल के वश हैं। हम सब काल से डरते हुए उसकी पूजा करते है,

* उस समय स्वर में उच्चारण का भेद होने से इन्द्रशत्रु पद का उलटा अर्थ हो गया; अर्थात् "इन्द्र के शत्रु" की जगह "इन्द्र जिसका शत्रु" ऐसा अर्थ हो गया।

अर्थात् यथासमय अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। वह काल भी जिनसे डरता है, वही परमेश्वर हमारी रक्षा करें। वह अहंकारहीन, प्रशान्त, आत्मानुभव में ही सन्तुष्ट तथा उपाधिकृत परिच्छेद से रहित हैं। ऐसे परमेश्वर को छोड़कर जो कोई दूसरे की शरण में जाता है, वह बड़ा ही मूर्ख है; क्योंकि कुत्ते की पूँछ पकड़कर समुद्र के पार जाना चाहता है। मनुदेव ने प्रलयकाल में जिनके बड़े सींग में इस पृथ्वीरूप नाव को बाँध दिया और प्रलयसमुद्र में डूबने की विपत्ति से बच गये, वही मत्स्यरूपधारी भगवान् इस त्रासुर से उत्पन्न हमारे भय को निश्चय ही दूर करेंगे। सृष्टि के आदि मे भगवान् ब्रह्मा नाभिकमल पर अकेले असहाय थे। घोर झंझावात के थपेड़ों से इधर प्रलयसमुद्र की विकराल लहरें और उधर वह फानी हवा उस कमल को ऐसा हिला रही थी कि ब्रह्माजी अब गिरे, तब गिरे, ऐसा जान पड़ रहा था। उस समय जिनकी कृपा से उनका उद्धार हुआ, वही भवभयभंजन भगवान इस विपत्ति से हमारा उद्धार करें। जिन एकमात्र ईश्वर ने हमारी सृष्टि और पालन किया है और हम सब देवता जिनके अनुग्रह से ही इस विश्व की सृष्टि करते हैं, जो हम सबसे पहले से ही अन्तर्यामीरूप से प्रेरणा कर रहे हैं, परन्तु अपने को अलग ईश्वर मानने के कारण हम जिनके रूप को नहीं देख पाते, वही भगवान् हमारी रक्षा करें। हम जब-जब प्रबल शत्रुओं से सताये जाते हैं, तब-तब जो नित्य अज होकर भी अपनी माया के द्वारा देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु आदि विविध योनियों में अवतार लेकर हमारी रक्षा करते और हमें अपनाते हैं, इस समय भी हम उन्हीं परमदेवता, शरणागतवत्सल भगवान् के शरणागत हैं। वह इस विश्व का आदि-कारण हैं। यह विश्व उन्हीं का रूप है, क्योंकि प्रधान ( प्रकृति ) और पुरुष भी उन्हीं की विभूति हैं। पर वास्तव में वह इस माया-प्रपंच विश्व से अलग हैं। वही नारायण हमारा कल्याण करेंगे; क्योंकि हम उन्हीं के जन हैं।

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, देवगण के इस प्रकार स्तुति करने पर पहले भगवान् ने देवगण को उनके हृदय में दर्शन दिये और उसके साथ ही उनके सामने भी प्रकट हुए। भुजाओं में शंख, चक्र, गदा धारण किये भगवान् की सेवा में सोलह पार्षद उपस्थित थे। श्रीवत्स और कौस्तुभ-चिह्न को छोड़कर उन पार्षदों का रूप और वेषभूषा बिलकुल भगवान् के रूप और वेषभूषा के समान ही थी। भगवान् के प्रफुल्लित शरद-कमल के समान नेत्रों की छवि दर्शनीय थी। भगवान् को देखकर आनन्द से विह्वल देवगण ने पृथ्वी पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया। फिर धीरे-धीरे उठकर इस प्रकार स्तुति करने लगे। देवगण ने कहा—भगवन्, स्वर्गादि फलदायक यज्ञ आपकी शक्ति हैं, आपको प्रणाम है। यज्ञादि के स्वर्गादि फल भोगने की अवधिरूप समय भी आप ही है। आपको हम नमस्कार करते है। यज्ञ में विघ्न डालनेवाले असुरों को अपने चक्र से नष्ट करनेवाले नारायण, आपको प्रणाम है। महिमा के अनुसार आप अनेक सुन्दर नामों से पुकारे जाते है। आपको प्रणाम है। हे विधाता, आप तीनों गुणों का संचालन करनेवाले हैं। उन तीनों गुणों की तीनों गतियों से परे जो आपका निर्गुण रूप है, उसे अर्वाचीन (पीछे उत्पन्न) कैसे जान सकते हैं? इसलिए हम केवल उसका उल्लेखमात्र करके उसे हम प्रणाम करते है। हे भगवन्, आप नारायण, वासुदेव, आदिपुरुष, महापुरुष, महानुभाव, परममंगल, परमकल्याण, परमकारुणिक, केवल ( एकमात्र ), जगत् के आधार, लोगों के एकमात्र स्वामी, सबके ईश्वर और लक्ष्मी के पति है। परमहंस संन्यासी आसन-प्राणायाम आदि अष्टांग आत्म-योग के अभ्यास से समाधि लगाकर अर्थात् चित्त को एकाग्र कर जिस परमहंस-धर्म ( भगवद्भजन ) का अनुशीलन करते हैं, उसमें जब उनके चित्तरूप द्वार के तमोरूप किवाड़े खुल जाते हैं और ज्ञानमय परमात्मा का रूप प्रकट होता है, तब जो आत्मानुभवरूप परम आनन्द स्वयं प्रकट होता है, उसका अनुभव ही आपका सच्चा रूप है। पर आपकी यह सृष्टि आदि की लीला हम लोगों की

समझ में नहीं आती। कारण, आप निराकार, निराश्रय और निगुण होकर भी हम लोगों की सहायता की अपेक्षा न रखकर अपने ही द्वारा इस सगुण जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, और मायाकृत कोई विकार आपको नहीं छू जाता। यह हम नहीं जान पाते कि आप किसी संसारी जीव की तरह जीवरूप से इस संसार में पड़कर परवश होकर अपने किये शुभाशुभ कर्म का फल भोगते हैं ( जैसे संसारी जीव घर बनाकर उसमें रहता हुआ अपने बुरे-भले कामों का फल भोगता है ), अथवा परमात्मारूप से स्वयं आत्माराम, उपशमशील रहकर अस्खलित अर्थात् निरन्तर बनी रहनेवाली चित्शक्ति ( ज्ञान ) के प्रभाव से साक्षीरूप से रहते हैं। आपमें ये दोनों ही बातें संभव हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं है। कारण, आप भगवान हैं; आपके गुणगण अपरिमित है। हे ईश्वर, आप स्वतन्त्र हैं, आपकी महिमा को कोई नही जान सकता। आधुनिक विकल्प *, वितर्क †, विचार ‡, प्रमाणाभास §, कुतर्क आदि से भरे हुए अन्तःसारशून्य शास्त्रों ने जिनके अन्तःकरण को व्याकुल और दुराग्रह से परिपूर्ण कर रक्खा है, उन वादियों ( मीमांसा, सांख्य आदि दर्शनशास्त्र को पढ़कर ईश्वर के सम्बन्ध में वाद करनेवालों ) के विवाद से आपका ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात् आपका अनुभव श्रद्धा और विश्वास से ही हुआ करता है। आप मायामय संसार से परे और सच्चिदानन्दरूप होकर भी अपनी माया के द्वारा सब कुछ करते हैं। आपमें कर्तृत्व आदि कोई विषय दुर्घट नहीं है। अर्थात् आपकी प्रेरणा से माया द्वारा सृष्टि आदि कार्य होते हैं, इसलिए आप कर्त्ता आदि हैं; किन्तु वास्तव में आप कुछ नहीं करते, इसलिए आप कर्त्ता आदि नहीं हैं। वास्तव में आपके सिवा और कोई दूसरा नहीं है, इसलिए ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। जैसे एक रस्सी का टुकड़ा एक देखनेवाले को उसके दृष्टिभ्रम से सर्प जान पड़ता है और दूसरे यथार्थदर्शी को रस्सी, वैसे ही सम-विषम बुद्धिवालों को उनके मत के अनुसार आप भिन्न-भिन्न रूप में देख पड़ते हैं। आप एकमात्र होकर भी अनेक वस्तुओं में अनेकरूप प्रतीत होते हैं। आप सत्‌रूप, सबके ईश्वर, और जगत् के सब कारणों के आदिकारण है। सब जीवों के अन्तर्यामी आप ही हैं, इसलिए सब विषयों के प्रकाश से आप ही उपलक्षित होते है। श्रुतियाँ नेति-नेति कहकर अन्त में आप ही का निरूपण करती हैं। हे मधुसूदन, जिन आपके चरणकमलों की सेवा के फल से जीव फिर जन्म नहीं लेता, उन्हें आपके भक्त कैसे छोड़ सकते है ? पुरुषार्थ को जानने में प्रवीण साधु भक्तजन आत्मस्वरूप आपको ही अपना प्रिय सुहृद् जानते हैं। आपकी महिमा अमृतरस का सागर है। उस सागर के एक बूँद रस का स्वाद एक बार मिल जाने पर उससे चित्त को जो अखंड आनन्द प्राप्त होता है, उसके आगे उन भगवद्भक्त महापुरुषों को श्रवण-नयन आदि इन्द्रियों से मिलनेवाले तुच्छ इन्द्रिय-सुख भूल जाते हैं। इसलिए उनका मन संपूर्ण रूप से आपमें ही लगे रहने में परमानन्द का अनुभव करता है। भगवन्, आप त्रिभुवनवासियों के आत्मा और आधार हैं। आपके तीन पद हैं। इन तीनों लोकों की रचना आपने ही की है। आपकी महिमा त्रिलोकमनोहर है। दैत्य, दानव आदि सब आपकी ही विभूतियाँ हैं। हे दण्डधर, जब-जब दैत्य-दानवगण हम लोगों पर अत्याचार करते हैं, तब-तब आप योगमाया के द्वारा देवता, मनुष्य, पशु, नृसिंह और मत्स्य आदि अवतार लेकर उन दुष्टों को उनके अपराध के अनुसार दंड देते हैं। इसलिए यदि इच्छा हो तो इस समय भी इस त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का भी वध कीजिए। हे लोकपितामह हरि, हम आपके जन आपके श्रीचरणों में प्रणत और निरन्तर आपके चरणकमलों के ध्यान में निरत रहते हैं।

---

* ऐसा है या ऐसा, यह विकल्प हुआ।

† इसमें क्या ठीक है, यह वितर्क हुआ।

‡ ऐसा ही है, यह निश्चय विचार है।

§ प्रमाण से प्रतीत होनेवाले अयथार्थ प्रमाण।

हमारा हृदय आपके ध्यान की शृंखला में बँधा हुआ है। आपने भी प्रकट होकर हम लोगों पर अपनी कृपा दिखलाई है। इसलिए हे निष्पाप, आप अनुग्रह प्रकट करते हुए अनुरागयुक्त उज्ज्वल सुस्निग्ध मंद मुसकान सहित कृपाकटाक्ष के साथ मुखारविन्द से निकले हुए मधुर मनोहर वचनामृत से हमारे हृदय के ताप को दूर कीजिए। भगवन्, आपकी माया ही सब जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण है। आप उसी दिव्य योगमाया के साथ क्रीड़ा करते हैं। आप सब जीवों के भीतर अन्तर्यामी परमात्मा के रूप से और बाहर प्रकृतिरूप से स्थित रहकर देश, काल और देह की अवस्था के अनुसार कारण और कार्यरूप से सबका अनुभव करते रहते हैं। अतएव आप बुद्धि आदि के साक्षी और अपने रूप आकाश की तरह निर्लिप्त हैं। आप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। हम आपके आगे आपके रूप का क्या निरूपण करें! आग की चिनगारी आग को क्या प्रकाश दिखावेगी! आप भगवान सबके परम गुरु हैं। आपके चरण विविध पापों के फलस्वरूप संसार के यंत्रणा को शान्त करनेवाले है। उन श्रीचरणों की शरण में हम जिस इच्छा से आये हैं, उस हमारे मनोरथ को आप पूर्ण कीजिए। हे ईश्वर, यह त्वष्टा का पुत्र वृत्र त्रिभुवन को लील लेने के लिए उद्यत है। इसने हमारे तेज और अस्त्र-शस्त्रों को व्यर्थ कर दिया है। आप शीघ्र ही इसका संहार करिए। भक्तों के कष्ट को हरनेवाले हरि को हमारा प्रणाम है। हृदयाकाश मे रहनेवाले, बुद्धि आदि के साक्षी, सर्वदा विशुद्ध आनन्दमय, पुण्यश्लोक, अनादि, अकिंचन साधुओं के सर्वस्व हरि को हमारा प्रणाम है। संसार-मार्ग का पथिक अगर आपकी शरण ग्रहण करता है, तो आप उसे अन्त में अकुतोभय पद देते है। हे ईश, हम पर कृपा कीजिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, देवतों के मुख से अपनी यह अर्थपूर्ण सादर स्तुति सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय देवगण, तुम्हारे इस स्तोत्र और तत्त्वज्ञान से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इसी ज्ञान के प्रभाव से जीव को अपने ऐश्वर्य की स्मृति के साथ मेरी भक्ति भी प्राप्त होती है। मैं जब प्रसन्न हो जाता हूँ, तब कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। इसीलिए ज्ञानी भक्तगण मुझमें ही अनन्य भाव से मन लगाकर उसी मे तृप्त रहते हैं; और कुछ भी नहीं चाहते। तुच्छ विषयों को अपनी इष्ट-वस्तु या सुख का साधन समझनेवाला सचमुच महामूर्ख है। वह अपने यथार्थ हित को नहीं समझ सकता। ऐसे मूढ़ लोगों को उनके चाहे विषयसुख की ओर प्रवृत्त करनेवाला भी मूर्ख है। स्वयं मुक्तिमार्ग को जाननेवाले ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि अज्ञ लोगों को कर्मकाण्ड के मार्ग अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग पर चलने का उपदेश न करे। अच्छा वैद्य रोगी के माँगने पर भी उसे कभी कुपथ्य खाने नहीं देता। हे इन्द्र, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमको वृत्र के वध का उपाय बतलाता हूँ। तुम दधीचि ऋषि के पास जाओ और विद्या, व्रत तथा तपस्या के प्रभाव से अत्यन्त सुदृढ़ उनका शरीर उनसे माँग लो। इस काम में देर न करो। वह मुनि अध्यात्मविद्या के बड़े भारी विद्वान् हैं। वह विशुद्ध ब्रह्मविद्या को जानते हैं। अश्विनीकुमार ने उन्हीं से ब्रह्मविद्या प्राप्त की है। उस विद्या को दधीचि ने अश्वमुख* से कहा था, इसी से उस विद्या का एक नाम अश्वशिरा भी है। उसी विद्या के प्रभाव से अश्विनीकुमार को अमरपद प्राप्त हुआ है। इन्हीं आथर्वण

---

* दधीचि को ब्रह्मविद्या का विद्वान् जानकर अश्विनीकुमार ने उनके पास जाकर ब्रह्मविद्या का उपदेश देने की प्रार्थना की। ऋषि ने उन्हें दूसरे समय बुलाया। इतने मे इन्द्र ने आकर ऋषि से कहा—आप अश्विनीकुमार को यह विद्या न बतलाइएगा, नहीं तो मैं आपका सिर काट लूगा। इन्द्र के चले जाने पर अश्विनीकुमार ने फिर आकर प्रार्थना की। ऋषि ने उनसे सब हाल कह दिया। अश्विनीकुमार ने कहा—कोई चिन्ता नहीं। हम आपका यह सिर काटकर घोड़े का सिर लगाये देते हैं, उसीसे हमे आप शिक्षा दीजिए। इन्द्र आकर जब वह सिर काट डालेंगे, तब हम यह सिर फिर जोड़ देंगे। ऐसा ही हुआ। इन्द्र ने दधीचि का घोड़े का सिर जब काट डाला, तब अश्विनीकुमार ने उनका असली सिर जोड़कर उन्हें जिला दिया।

मुनि दधीचि ने त्वष्टा को नारायणकवच बनलाया था। वह नारायणकवच त्वष्टा से उनके पुत्र विश्वरूप और विश्वरूप से तुमने पाया। देवतों के, विशेषकर अपने शिष्य अश्विनीकुमार के माँगने पर वह धर्मज्ञ ऋषि अवश्य ही अपना तेज तुमको दे देंगे। उन दधीचि की हड्डियों से विश्वकर्मा तुम्हें वज्र बना देंगे। मैं भी अपना तेज तुमको दूँगा। तब तुम उस वज्र से वृत्रासुर का वध कर सकोगे। वृत्र के मारे जाने पर तुम फिर अपने तेज, अस्त्र और राजलक्ष्मी को पा जाओगे। मेरे शरणागत भक्तों को कोई नहीं मार सकता। तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

# दसवाँ अध्याय

## इन्द्र और वृत्रासुर का समर

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, जगदीश्वर भगवान हरि इन्द्र को यह आदेश देकर देवगण के सामने उसी जगह अदृश्य हो गये। तब देवगण ने महर्षि दधीचि के पास जाकर उनसे उनका शरीर माँगा। ऋषि ने प्रसन्न होकर हँसते हुए कहा—हे इन्द्र आदि देवगण, तुम अमर हो, इसलिए तुम उस चेतनानाशक दुस्सह दुःख को नहीं जानते, जो शरीरधारियों को देहत्याग करते समय होता है। जीने की प्रबल इच्छा रखनेवाले जीवों को देह बहुत प्यारी होती है। अगर स्वयं विष्णु भगवान् उसे आकर माँगें, तो भी शायद कोई अपना शरीर छोड़ना न चाहेगा।

यह सुनकर देवतों ने कहा—ब्रह्मन्, आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के विषय में बहुत ठीक है। परन्तु जो महापुरुष आपके समान सब प्राणियों पर दया करनेवाले परोपकारी हैं, जिनके पवित्र अलौकिक आचरण की प्रशंसा बड़े-बड़े यशस्वी लोग करते हैं, वे पराये उपकार के लिए क्या नहीं कर सकते, क्या नहीं छोड़ सकते? हे महर्षि, सच तो यह है कि स्वार्थ को ही देखनेवाले साधारण मनुष्य दूसरे के क्लेश को नहीं देखते। अगर वे दूसरे के क्लेश पर ध्यान दें तो उनमें से जो याचक हैं, वे ऐसी चीज़ माँगें ही नहीं, जिससे दूसरे को कष्ट होता है और जो दान करने में समर्थ हैं, वे उस चीज़ को देने में कभी नाहीं न करें, जिससे दूसरे का कष्ट दूर होता हो।

दध्यंच ऋषि ने कहा—हे देवगण, आप लोगों से धर्म सुनने के लिए ही मैंने पहले ऐसा उत्तर दिया था। मैं जानता हूँ कि मेरा यह शरीर मुझे बहुत प्रिय होने पर भी एक दिन अवश्य मुझसे छूट जायगा। इसलिए मैं आपके उपकार के लिए इसे अभी छोड़े देता हूँ। हे स्वामियो, यह शरीर अनित्य है। जो मनुष्य सब प्राणियों पर दया रखकर इस शरीर से धर्म और यश नहीं कमाता, वह जड़ पत्थर-पेड़ आदि से भी गया बीता है। जो लोग दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते हैं, वे अविनाशी धर्म का उपार्जन करते है। यही परमधर्म है; इस धर्म का आदर और आचरण सभी श्रेष्ठजन करते हैं। धन, पुत्र आदि स्वजन या शरीर, कुछ भी परलोक में काम नहीं आता। ये सब क्षणभंगुर हैं। शरीर तो मरने पर कुत्ते-सियार आदि का भोजन बन जाता है। धन भी यहीं पड़ा रह जाता है और उससे दूसरे मौज उड़ाते हैं। तात्पर्य यह कि इनसे अपना कोई स्वार्थ नहीं सिद्ध होता। अगर कोई धन, स्वजन और शरीर से परोपकार नहीं करता तो इससे बढ़कर खेद की बात और नहीं हो सकती। इसे कृपणता की हद कहना चाहिए।

शुकदेवजी कहते हैं—आथर्वण दधीचि ने यों निश्चय करके उसी समय समाधि लगाकर क्षेत्रज्ञ आत्मा

को परब्रह्म परमात्मा के ध्यान में लगाकर योगबल से शरीर छोड़ दिया। दधीचि ने इन्द्रिय, मन, प्राणवायु और बुद्धि को एकाग्र करके ब्रह्मरूप के चिन्तन से माया के सब बंधनों को तोड़ दिया। ब्रह्मलीन होने के कारण उन्हें यह भी न जान पड़ा कि देह कब छूट गई। इसके बाद मुनि की हड्डियाँ लेकर उनसे विश्वकर्मा ने वज्र बनाया। इन्द्र भी भगवान् विष्णु के तेज से फिर प्रबल हो उठे। वह वज्र को लेकर ऐरावत की पीठ पर सवार हुए। सब देवता चारों ओर से इन्द्र की स्तुति करने लगे। उस समय त्रिभुवन में प्रसन्नता छा गई। पहले भगवान् रुद्र ने कुपित होकर जैसे अन्धकासुर पर चढ़ाई की थी, वैसे ही उस समय पुरन्दर ने वृत्रासुर और उसके साथ की असुर-सेना पर आक्रमण किया। देवता और दैत्य भयानक युद्ध करने लगे। महाराज, वैवस्वत मन्वन्तर की पहली चतुर्युगी के त्रेतायुग में नर्मदा के किनारे यह युद्ध हुआ था। इस महासमर में रुद्रगण, वसुगण, आदित्यगण, अश्विनीकुमार, पितृगण, अग्नि, मरुद्गण, ऋभुगण, साध्यगण और विश्वेदेवा आदि देवगण के साथ वज्रधारी तेजस्वी इन्द्र को सामने देखकर वृत्रासुर आदि असुरगण भी युद्ध के लिए उद्यत हो गये। देवगण का यह साहस और उद्योग उन्हें असह्य हो गया। नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विशिरा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शंकुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति, उत्कल आदि दैत्य, दानव और माली, सुमाली आदि राक्षस सोने के कवच और चमकीले वस्त्र धारण कर इन्द्र-सेना के अगले हिस्से को रोककर खड़े हो गये और मृत्यु भी जिनके आगे ठहर नहीं सकती, उन तेजस्वी देवतों की सेना पर आक्रमण करने लगे। वे घमंडी दानव देवतों के इस आक्रमण से तनिक भी नहीं घबराये और सिंह-नाद करते हुए चारों ओर से देवसेना पर असंख्य गदा, बेलन, बाण, प्रास, मुद्गर, तोमर, शूल, परश्वध, खड्ग, शतघ्नी, भुशुंडी आदि अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे। बरसात में जैसे बादलों से नक्षत्र आदि ज्योतिर्गण छिप जाते हैं, वैसे ही उन असुरों के लगातार बरस रहे बाणों ने देवसेना को छिपा लिया। पर वे असुरों के अस्त्र-शस्त्र देवतों के पास पहुँचने भी नहीं पाये, बीच ही में देवतों ने फुर्ती के साथ उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। जब असुरों के अस्त्र-शस्त्र कम हो चले, तब वे पर्वतों के शिखर, शिलाखंड और वृक्ष लेकर देवगण के ऊपर बरसाने लगे। पर देवतों ने पहले की तरह उन्हें भी काट डाला। वृत्रासुर के असुरों ने जब देखा कि उनके अस्त्र-शस्त्र और शिला-वृक्ष आदि की वर्षा व्यर्थ ही गई; देवतों के शरीरों में कहीं एक भी घाव नहीं हुआ, सब वैसे ही सुख से खड़े हैं, तब वे बहुत घबराये और डरे। जैसे क्षुद्र पुरुषों के कठोर कटु वचन सज्जन श्रेष्ठ पुरुषों को विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही विष्णु भगवान् के कृपापात्र देवगण को मारने के लिए बार-बार किये गये दैत्यों के सब उद्योग व्यर्थ हो गये। अपने आक्रमणों को निष्फल हुआ देखकर हरि-विमुख दानवों का युद्ध करने का दर्प नष्ट हो गया। वे सब बड़े-बड़े नामी योद्धा थे, फिर भी अधीर और भयभीत होकर युद्ध के आरम्भ में ही अपने नायक वृत्रासुर को छोड़कर भागने लगे। अपने अनुगामी सेनापति असुरों को भागते और सेना को तीव्र भय से तितर-बितर देखकर महामनस्वी वीरवर वृत्रासुर हँसकर बोला। ऐसे अवसर पर वीर पुरुषों को जैसे वाक्य कहने चाहिए, वैसे ही प्रशंसनीय और मनोहर उसके ये वाक्य थे।

वृत्रासुर ने कहा—हे विप्रचित्ति, नमुचि, पुलोमा, मयासुर, अनर्वा और शम्बर आदि वीर दैत्यो, ठहरकर मेरी बात सुन लो। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि जिसका जन्म हुआ है, वह अवश्य ही मरेगा। मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं है। तो फिर ऐसी मृत्यु क्यों न हो, जिससे इस लोक में यश और परलोक में उत्तम गति प्राप्त हो? कौन वीर और बुद्धिमान् पुरुष प्रसन्नतापूर्वक ऐसी मृत्यु को न चाहेगा? संसार मे दो प्रकार की मृत्यु शास्त्रसम्मत और दुर्लभ हैं। एक तो योगाभ्यास में प्राणायामपूर्वक शरीर छोड़ देना और दूसरी सेना के आगे होकर सम्मुख-युद्ध में मरना।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## वृत्रासुर की इन्द्र को फटकार

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, वृत्रासुर के वीर-धर्म से युक्त इस कथन को भय से भाग रहे असुरों ने नहीं सुना। समय देवतों के अनुकूल था, इसलिए वे असुरों की सेना को मारकर भगाने लगे। वृत्रासुर ने देखा, असुरों की सेना इस तरह डरकर भाग रही है, जैसे कोई उसका रक्षक या नाथ ही नहीं है। यह देखकर इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर को बड़ा क्रोध चढ़ आया। यह दृश्य उसके लिए असह्य हो गया। उसने बल-पूर्वक देवसेना को रोककर डाँटकर कहा—देवगण, तुम माता की विष्ठा के समान हो अर्थात् तुम्हारा जन्म व्यर्थ है। इन भाग रहे दैत्यों का पीछा करके इन्हें मारने से तुम्हें क्या मिलेगा? न तो इससे यश होगा और न धर्म ही। जो लोग अपने को शूरवीर मानते हैं, उनके लिए डरे हुए शत्रु को मारना न तो प्रशंसनीय काम है और न उससे उनको स्वर्ग ही मिलता है। अरे क्षुद्र देवगण, अगर तुमको युद्ध करने का शौक़ है, तुम्हारे हृदय में साहस है और जीकर संसार के सुख नहीं भोगना चाहते तो मेरे आगे कुछ देर ठहरो। महाराज, क्रोधान्ध महाबली वृत्रासुर यों कहकर अपने विशाल शरीर से शत्रु देवगण को डराता हुआ इतने ज़ोर से गरजा कि उस सिंहनाद से त्रिभुवन के सब लोग मूर्च्छित हो गये। वृत्रासुर के उस प्रचण्ड सिंहनाद से सब देवता मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर इस तरह गिर पड़े, जैसे उनके ऊपर वज्रपात हुआ हो। जैसे मस्त हाथी पैर से नरकुल के वन को रौंदता है, वैसे ही रण-दुर्मद वृत्रासुर त्रिशूल तानकर भयानक वेग और तेज से पृथ्वी को कँपाता हुआ दोनों पैरों से व्याकुल और आँखें मूँदे हुए देवतों की सेना को कुचलने लगा। उसके इस काम को देखकर वज्रधारी इन्द्र अत्यन्त कुपित हो उठे। वृत्रासुर इन्द्र की ओर वेग से दौड़ा। तब इन्द्र ने एक भारी गदा खींचकर उसके मारी। उस गदा का प्रहार अत्यन्त दुस्सह था। परन्तु वृत्रासुर ने बाएँ हाथ से बीच में ही अनायास उसे पकड़ लिया। महाबल-पराक्रम-सम्पन्न वृत्रासुर ने बड़े क्रोध से घोर गर्जन के साथ वही गदा इन्द्र के हाथी ऐरावत के मस्तक पर मारी। उस गदा की चोट से वह वज्राहत पर्वत की तरह चक्कर खाकर मुँह फेरकर इन्द्र को लिये हुए अट्ठाईस हाथ पीछे हट गया। वह पीड़ा से चिल्ला उठा। उसके मुँह से रुधिर गिरने लगा। वृत्रासुर असुर होने पर भी युद्ध के धर्म को जाननेवाला और उदार था। इन्द्र का वाहन उस समय पीड़ित था और इन्द्र का चित्त उदास और अस्थिर था, इसलिए मौक़ा पाकर भी वृत्रासुर ने दुबारा गदा का प्रहार उन पर नहीं किया; क्योंकि यह धर्मयुद्ध के विरुद्ध होता। उधर इन्द्र ने भी अपना अमृत बरसानेवाला हाथ फेरकर ऐरावत की सारी व्यथा दूर कर दी। इसके बाद सुस्थिर होकर युद्ध करने की इच्छा से वह वृत्रासुर के सामने उपस्थित हुए। महाराज, अपने भाई का वध करनेवाले इन्द्र को वज्र हाथ में लेकर युद्ध के लिए सामने खड़े देखकर वृत्रासुर को इन्द्र के उस क्रूर पापकर्म की याद हो आई। वह शोक और मोह के वश होकर क्रोध से हँसता हुआ यों बोला—बड़े भाग्य की बात है कि इस समय ब्रह्महत्या—विशेषरूप से अपने गुरु और मेरे भाई की हत्या—करनेवाला तू शत्रु मेरे आगे खड़ा है! अरे दुष्ट, मैं तेरे पाषाण-हृदय को शीघ्र ही अपने शूल से विदीर्ण करके अपने भाई के ऋण को चुका दूँगा, यह भी कम सौभाग्य की बात नहीं है। जैसे स्वर्ग की कामना रखनेवाला व्यक्ति दयाहीन होकर यज्ञ में बलिपशु का सिर काट डालता है, वैसे ही तूने आत्मज्ञानी, ब्राह्मण, निरपराध और यज्ञ की दीक्षा लिये हुए मेरे बड़े भाई को विश्वास में फँसाकर उनके तीनों सिर काट डाले—तुझे धिक्कार है! निश्चय ही लज्जा-संकोच, लक्ष्मी, दया और कीर्त्ति आदि श्रेष्ठ

गुणों ने तुझे छोड़ दिया है। तेरे कुकर्म ने तुझे राक्षसों की दृष्टि में भी निन्दनीय बना दिया है। मेरे इस शूल के प्रहार से तेरा शरीर अभी विदीर्ण होगा, बड़े कष्ट से तेरे प्राण निकलेंगे। कोई तेरे शरीर को जलानेवाला भी न बचेगा। तेरे शरीर को गिद्ध नोच-नोचकर खायँगे। और भी जो मूर्ख देवता तुझ पापी के साथी बनकर शस्त्र ताने मुझ पर प्रहार करने को उद्यत हैं, उनके भी गले अपने पैने त्रिशूल से काटकर उनका गर्मागर्म रुधिर भैरव आदि भूतनाथों और उनके गणों को पिलाकर प्रसन्न करूँगा। मेरा तो यही इरादा है; पर युद्ध में हार-जीत का कोई निश्चय नहीं। इसलिए हे वीर इन्द्र, तुम अगर मुझे हराकर अपने वज्र से मेरा सिर काट लोगे, तो भी मैं कर्म-बन्धन से छुटकारा पाकर, अपने इस शरीर से भूतगण को तृप्त करके, वीरों की गति पाऊँगा। हे इन्द्र, तुम्हारा वैरी मैं सामने खड़ा हूँ। तुम यह अपना अमोघ (ख़ाली न जानेवाला) वज्र क्यों नहीं चलाते? यह संशय न करो कि कृपण से की गई याचना के समान यह वज्र भी गदा-प्रहार की तरह ख़ाली जायगा। तुम्हारा यह वज्र हरि के तेज और दधीचि ऋषि के तपोबल से परिपूर्ण होने के कारण अमोघ है। इससे तुम शत्रु को मारो। विष्णु की प्रेरणा अर्थात् सहायता तुम्हें प्राप्त है। जहाँ, जिस ओर हरि है, वहीं विजय, लक्ष्मी और सब गुण निवास करते हैं। हे इन्द्र, मैं भी संकर्षण भगवान् के उपदेश के अनुसार समाधि-योग से उनके चरणारविन्दों में मन लगाकर तुम्हारे वज्र के प्रहार से शरीर छोड़कर, कर्मबन्धन से मुक्त होकर, योगी की गति प्राप्त करूँगा। अनन्यभाव से भजन करनेवाले अपने भक्तों को भगवान् पृथ्वी, स्वर्ग और रसातल की अर्थात् तीनों लोकों की सम्पदा नहीं देते; क्योंकि उस सम्पत्ति और ऐश्वर्य से राग-द्वेष, उद्वेग, मानसिक चिन्ता, घमंड, कलह, कष्ट और अधिक प्रयास आदि विकार उत्पन्न होते हैं। हे इन्द्र, मेर स्वामी जिस पर प्रसन्न होते हैं, वह फिर त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के पाने का प्रयास छोड़ देता है। भगवान् की कृपा का अनुमान इसी से करना चाहिए। अकिञ्चन भक्त ही इस भगवद्प्रसाद को पाते हैं। और लोगों के लिए यह अत्यन्त दुर्लभ है। हे हरि, मैं मरकर फिर आपके अनन्य सेवकों का दासानुदास होना चाहता हूँ। हे परमात्मा, मेरा मन आपके गुणों का स्मरण और वाणी उनका कीर्त्तन करे। मेरे अंग आपकी ही सेवा में लगे रहें। हे सब ऐश्वर्यों अथवा सब प्रकार के सौभाग्य के एकमात्र आधार स्वामी, मैं आपको छोड़कर ध्रुवलोक, ब्रह्मलोक, सार्वभौम साम्राज्य, पृथ्वीतल का आधिपत्य, योग की सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। हे कमलनयन, जिनके पंख नहीं निकले, ऐसे बच्चे जिस तरह हिंसक पक्षियों के भय से माता का आश्रय लेते हैं, जिस तरह बँधे हुए भूखे बछड़े माता के दूध को पाने के लिए ललकते है, जिस तरह विषाद से भरी कामिनी परदेसी प्रियतम को देखना चाहती है, उसी तरह तीनों तापों से पीड़ित, कर्मबन्धन में बँधा हुआ और काम-क्रोध आदि से विरक्त मेरा मन आपको देखना चाहता है। भगवन्, मैं अपने कर्मों के कारण संसार-चक्र में भ्रमण कर रहा हूँ। मैं यही चाहता हूँ कि आपके भक्तों का सत्संग मुझे प्राप्त हो, उधर ही मेरी प्रवृत्ति और रुचि हो। आपकी माया के वशीभूत मेरा चित्त इस समय शरीर, पुत्र, स्त्री, घर आदि में आसक्त हो रहा है। अब मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि फिर शरीर, पुत्र आदि में मेरी आसक्ति न हो।

# बारहवाँ अध्याय

## वृत्रासुर का वध

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, वृत्रासुर ने विजय पाने की अपेक्षा मृत्यु को ही अच्छा समझकर शरीर त्याग करने की मन में ठान ली। जिस तरह कैटभ नाम का दैत्य प्रलय-समुद्र में शेषशायी नारायण

के ऊपर प्रहार करने को चला था, उसी तरह वह हाथ में त्रिशूल लेकर इन्द्र के ऊपर झपटा। वीर दानवेन्द्र ने प्रलयाग्नि की लपटों के समान चमकती नोकोंवाले त्रिशूल को ज़ोर से घुमाकर इन्द्र के ऊपर चलाया और क्रोध से गरजकर "अरे पापी तू मरा !" यह कहा। आकाश से गिर रहे घूमते हुए ग्रह और उल्का की तरह वह त्रिशूल इन्द्र की ओर चला। उसकी ओर कोई आँख उठाकर देखने का भी साहस नहीं कर सकता था। पर वज्रधारी इन्द्र उसे देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने शतपर्वा अर्थात् सौ पैरवाले वज्र से उस त्रिशूल को और नागराज वासुकी के शरीर-सी मोटी वृत्रासुर की एक भुजा को काट डाला। एक हाथ कट जाने पर क्रोध से भरा हुआ वृत्रासुर दूसरे हाथ में बेलन लेकर दौड़ा। उसने उस बेलन से इन्द्र की ठोड़ी और गजराज ऐरावत के मस्तक पर प्रहार किया। उस समय पीड़ित इन्द्र के हाथ से वज्र गिर पड़ा। वृत्रासुर के इस अत्यन्त अद्भुत कर्म की प्रशंसा सभी देवता, दैत्य, चारण, सिद्ध आदि ने की। इन्द्र के संकट को देखकर देवपक्ष के लोग बारम्बार ऊँचे स्वर से हाहाकार करने लगे। इन्द्र ने लज्जा के मारे हाथ से गिरे हुए वज्र को शत्रु के सामने फिर उठाना नहीं चाहा। तब वीर वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र, वज्र हाथ में लेकर अपने शत्रु का वध करो। यह विषाद करने का समय नहीं है। देखो, संसार की सृष्टि, पालन और नाश करने में समर्थ, सर्वज्ञ, सनातन आदिपुरुष नारायण के सिवा अन्य शस्त्र लेकर युद्ध करनेवाले पराधीन देहधारी पुरुषों की कभी सदा जय ही नहीं हुआ करती। सब लोक और लोकपाल जाल में फँसे हुए पक्षियों की तरह जिसके वश होकर अपना-अपना काम करते हैं, वह काल ही देहधारियों की हार-जीत का कारण है। वह काल ही लोगों के सामर्थ्य, साहस, बल, प्राण, जीवन, मृत्यु आदि का कारण है। इस बात को न जाननेवाले अज्ञ लोग ही इस जड़ शरीर को ही विजय आदि का कारण मानते हैं। हे महेन्द्र, जैसे कठपुतली या यन्त्र ( कल ) का बना मृग दूसरे के इशारे पर नाचता है, वैसे ही सब देहधारी कालरूप ईश्वर के अधीन हैं। यहाँ तक कि उस कालरूप ईश्वर की कृपा ( अनुकूलता ) के बिना प्रकृति, पुरुष ( जीव ), महत्तत्त्व, पञ्चतत्त्व, इन्द्रियाँ, अहंकार और अन्तःकरण भी विश्व-ब्रह्मांड की सृष्टि नहीं कर सकते। जो लोग यह नहीं जानते, वे ही पराधीन जीव को अपने कर्म द्वारा सृष्टि आदि का कारण और स्वतन्त्र मानते हैं ( यह मीमांसा का मत है )। भगवान् काल ही पिता के द्वारा पुत्र की सृष्टि करते हैं और सिंह-बाघ आदि जीवों के द्वारा अन्य जीवों का विनाश कराते हैं। जैसे किसी के न चाहने पर भी समय आने पर लोगों को निन्दा, मृत्यु आदि अनिष्ट की प्राप्ति होती है, वैसे ही समय आने पर उन्हें आयु, श्री, कीर्ति ऐश्वर्य आदि इष्ट भी स्वयं मिलते हैं। इसलिए सब कुछ कालरूप ईश्वर के अधीन जानकर यश-निन्दा, जीत-हार, सुख-दुःख और जीवन-मृत्यु के लिए हर्ष या विषाद न करना चाहिए। सत्व, रज और तम, ये प्रकृति के गुण है, आत्मा के नहीं। जो कोई आत्मा को इनका केवल साक्षी समझता है, उसे हर्ष या विषाद नहीं होता। देखो इन्द्र, मुझे तुमने जीत लिया है, मेरा एक हाथ कट गया है; फिर भी मैं शोक न करके यथाशक्ति तुम्हें मारने की चेष्टा कर रहा हूँ। हमारा यह युद्ध एक जुआ है। इसमें प्राण की बाज़ी लगी है। बाण पाँसे हैं। वाहन चौसर हैं। इसमें कौन जीतेगा और कौन हारेगा, यह नहीं जाना जाता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, वृत्रासुर की ये उदार बातें सुनकर इन्द्र ने सच्चे जी से उसकी प्रशंसा की। वह सँभलकर, वज्र हाथ में लेकर, हँसते हुए बोले—हे दानवेंद्र, तुम्हारी ऐसी उत्तम बुद्धि देखकर मैं कहता हूँ, तुम सिद्ध हो। तुम सब प्राणियों के आत्मा, जगदीश्वर के अनन्य भक्त और सेवक हो, इसलिए धन्य हो। इसमें सन्देह नहीं कि सारे संसार को मोह में डालनेवाली विष्णु की माया को तुमने जीत लिया है। तुम असुरों के तामस भाव को छोड़कर महापुरुषों का पद प्राप्त कर चुके हो।

निश्चय ही यह बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम स्वभाव से ही रजोगुणी-तमोगुणी असुर होकर भी सतोगुण भगवान् नारायण में दृढ़ बुद्धि लगाये हुए हो! मोक्ष देनेवाले भगवान् हरि की दृढ़ भक्ति तुम पा चुके हो, जो कि अमृत-समुद्र के समान है। अब क्षुद्र कूपजल के समान स्वर्ग आदि के सुख लेकर तुम क्या करोगे?

इस प्रकार धर्म की जिज्ञासा से परस्पर वार्तालाप करने के बाद युद्ध के नायक महापराक्रमी इन्द्र और वृत्रासुर फिर युद्ध करने लगे। शत्रुदमन वृत्रासुर ने फिर वह ठोस लोहे का बना वेलन बाएँ हाथ में लेकर इन्द्र के ऊपर प्रहार किया। इन्द्र ने वज्र से वह वेलन और हाथी की सूंड़ के समान मोटी वृत्रासुर की भुजा काट डाली। दोनों हाथ कट जाने पर वृत्रासुर के शरीर से रक्त की धाराएँ बह चलीं। उस समय वृत्रासुर उस पर्वत के समान शोभायमान हुआ, जिसके पंख इन्द्र ने काट डाले हों और वह आकाश से उड़ते-उड़ते गिर पड़ा हो। इसके बाद वृत्रासुर नीचे का होठ पृथ्वी पर रखकर ऊपर का होठ ऊपर फैलाकर, इन्द्र के साथ मानो त्रिलोकी को लील लेगा, इस तरह आगे बढ़ा। उसका मुख-विवर आकाश के समान विस्तृत था। जीभ साँप की तरह लपलपा रही थी, दाढ़ें काल के समान कराल देख पड़ती थीं। वह असुर अपने विशाल शरीर से पहाड़ों को तोड़ता हुआ चलता-फिरता पर्वतराज जान पड़ने लगा। उसके पैरों की धमक से पृथ्वी काँप रही थी। इस तरह बड़े वेग से वह इन्द्र के निकट आ पहुँचा। बड़ा भारी अजगर जैसे किसी हाथी को लील ले, वैसे ही महाबली और प्रभावशाली उस दानव ने ऐरावत सहित इन्द्र को निगल लिया। इन्द्र को वृत्रासुर के मुख में समाया देखकर सब प्रजापति, महर्षि और देवता दुःखित और हताश होकर आर्त्त स्वर से हाय-हाय कहकर चिल्ला उठे। यद्यपि वृत्रासुर ने इन्द्र को लील लिया, पर इन्द्र तो नारायण-कवच, योगबल और मायाबल से सुरक्षित थे, इसलिए वृत्रासुर के पेट में जाकर भी वह नहीं मरे। इन्द्र ने वज्र से वृत्रासुर की कोख फाड़ डाली और उसी राह से बाहर निकल आये। बाहर आकर उन्होंने वज्र से पर्वत-शिखर के समान ऊँचा शत्रु का सिर काट डाला। इन्द्र ने बड़े वेग से वज्र को चलाया, तब भी वह चारों ओर वेग से घूमकर पूरे तीन सौ साठ दिन में वृत्रासुर के सिर को धड़ से अलग कर पाया। उस समय स्वर्ग में नगाड़े बजने लगे। गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण फूल बरसाते हुए वृत्र-विनाशन इन्द्र के पराक्रम की प्रशंसा से परिपूर्ण मन्त्र पढ़कर उनकी स्तुति करने लगे। महाराज, उस समय वृत्रासुर की ज्योतिर्मय आत्मा शरीर से निकलकर इन्द्र आदि देवतों के सामने ही अदृश्य होकर भगवान् में लीन हो गई।

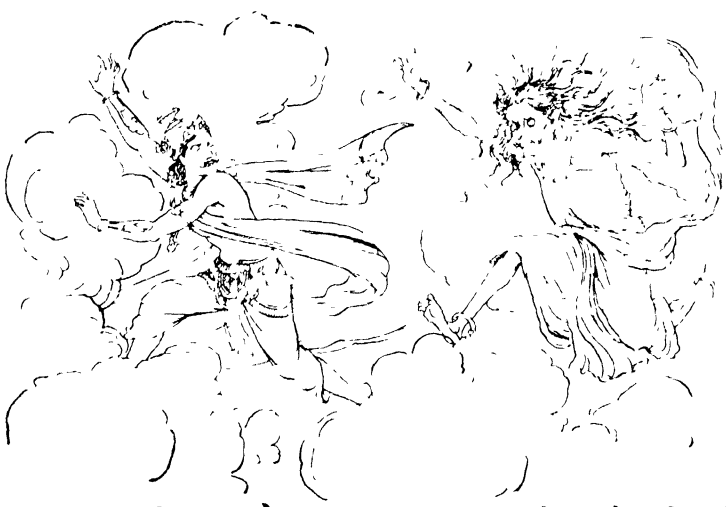


# तेरहवाँ अध्याय

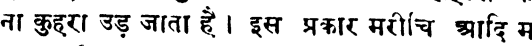
## इन्द्र को ब्रह्महत्या लगना

शुकदेवजी कहते हैं—राजन, वृत्रासुर के मरने पर केवल इन्द्र को छोड़कर तीनों लोकों और लोकपालों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय निश्चिन्त होकर देवता, ऋषि, पितृगण, भूतगण, दैत्य, गन्धर्व आदि देवताओं के अनुचर, ब्रह्मा और महेश आदि सब इन्द्र के दुःखी होने पर ध्यान न देकर अपने-अपने लोक को चले गये। इन्द्र भी अपने लोक को गये। राजा ने पूछा—भगवन्, इन्द्र के दुःखी होने का कारण मैं सुनना चाहता हूँ। जिस काम से देवताओं को सुख हुआ, उसी से इन्द्र क्यों दुःखी हुए? शुकदेवजी ने कहा—पहले ऋषियों और देवताओं ने वृत्रासुर के पराक्रम से घबराकर इन्द्र से उसे मारने की प्रार्थना की थी; परन्तु इन्द्र ने ब्रह्महत्या के भय से वृत्रासुर को मारना नहीं चाहा था। इन्द्र ने उनसे कहा—एक बार विश्वरूप को मारने से जो मुझे ब्रह्महत्या लगी थी, उसे अनुग्रह करके ऋतुओं, पृथ्वी, जल और वृक्षों ने बाँट लिया। अब वृत्रासुर के मारने से फिर जो ब्रह्महत्या होगी, उसे मैं कैसे मिटाऊँगा? शुकदेवजी कहते हैं—यह सुनकर ऋषियों ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र, तुम्हारा कल्याण हो। हम अश्वमेध यज्ञ कराकर तुम्हें ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त कर देंगे। तुम डरो नहीं। ब्रह्महत्या, पिता की हत्या, गोहत्या, माता और आचार्य की हत्या करनेवाला महापापी या कुत्ते का मांस खानेवाला चाण्डाल भी जिनके नाम का उच्चारण करके शुद्ध हो जाता है, उन नारायण को श्रद्धापूर्वक हमारे द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध महायज्ञ से संतुष्ट करके तुम ब्रह्मा से लेकर सारे चराचरजगत् की हत्या के पाप से भी छुटकारा पा जाओगे। फिर यह तो तुम एक दुष्ट को मारोगे; इससे छुटकारा पाना तो कुछ कठिन ही नहीं है।

महाराज, इस प्रकार सब ऋषियों के आश्वासन देने पर इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा। वैसे ही ब्रह्महत्या इन्द्र के पास पहुँची। ब्रह्महत्या के आक्रमण से इन्द्र को बड़ा सन्ताप हुआ, उन्हें घड़ी भर भी चैन नहीं मिलती थी। जो लोकलज्जा रखते हैं, वे कोई निन्दनीय काम बन पड़ने पर अवश्य ही सन्ताप को प्राप्त होते हैं। धैर्य आदि सब गुण भी उनको सुखी नहीं कर सकते। इन्द्र ने ब्रह्महत्या को अपने पीछे आते देखा तो बहुत डरे। उसका रूप चाण्डाली का-सा था। वृद्धावस्था के कारण उसके अंग काँप रहे थे। क्षयरोग के कारण वह अत्यन्त शिथिल और दुबली-पतली थी। उसके कपड़े रुधिर से सने थे। उसके शरीर और साँस से सड़ी मछली की दुर्गंध आ रही थी, जिससे जिधर वह जाती थी, उधर की राह दुर्गंध से भर जाती



थी। उसके पके हुए बाल चारों ओर बिखरे हुए थे। वह "ठहर जा, ठहर जा" कहती हुई इन्द्र के पीछे दौड़ी। राजन, उसे देखते ही उससे बचने के लिए डरे हुए इन्द्र भाग खड़े हुए। वह पहले आकाश में, फिर दसों दिशाओं में भागते फिरे। पर उससे पीछा नहीं छूटा। कहीं अपना बचाव न देखकर इन्द्र पूर्वोत्तर कोने में जाकर मानस-सरोवर के भीतर घुस गये। उसमे एक कमल की डंडी में घुसकर इन्द्र रहने लगे। अग्नि ही देवतों को यज्ञ का भाग पहुँचाते है, पर जल के भीतर अग्नि की गति नहीं है। इस कारण जब तक उसके भीतर रहे, तब तक यज्ञ का भाग उन्हें नहीं प्राप्त हो सका। उस स्थान में अदृश्य भाव से इन्द्र दिव्य सहस्र वर्ष तक छिपे रहे। उनको हर घड़ी यही चिन्ता रहती थी कि किस तरह इस ब्रह्महत्या से पीछा छूटे। इन्द्र जब तक इस दशा में रहे, तब तक विद्या, तप और योगबल से युक्त राजा नहुष ने स्वर्ग का राज्य किया। किन्तु अतुल सम्पत्ति और ऐश्वर्य पाकर नहुष की बुद्धि भ्रष्ट हो गई और इन्द्राणी का अपमान करने के कारण उनको सर्पयोनि प्राप्त हुई *। इसके बाद यथासमय महर्षियों ने इन्द्र को बुलाकर ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त कर दिया। अश्वमेध यज्ञ से सत्यपालक धर्मरक्षक हरि की आराधना करने से ब्रह्महत्या से इन्द्र का पीछा छूट गया। पहले भी ब्रह्महत्या इन्द्र को छू नहीं सकी थी। कारण, ईशान कोण के अधिपति रुद्र के प्रभाव से ब्रह्महत्या का तेज नष्ट हो गया था और लक्ष्मीदेवी उनकी रक्षा कर रही थीं। महाराज, भगवान के ध्यान और भजन के प्रभाव से इन्द्र का पाप पहले ही क्षीण हो चुका था, फिर भी ब्रह्मर्षियों ने उन्हें स्वर्ग में ले जाकर उनसे अश्वमेध यज्ञ कराया, जिसमें मुख्य रूप से नारायण की आराधना की गई। वेदपाठी मुनियों ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया। उसमें इन्द्र ने जब सर्वदेवमय परमात्मा परमपुरुष की पूजा की, तब वृत्रासुर को मारने से उत्पन्न ब्रह्महत्या का पातक वैसे ही मिट गया, जैसे सूर्य की किरणों से घना कुहरा उड़ जाता है। इस प्रकार मरीचि आदि महर्षियों के द्वारा विधिपूर्वक किये गये अश्वमेध से यज्ञपुरुष हरि की आराधना करने से इन्द्र का पाप नष्ट हो गया और वह पहले ही के समान यशस्वी हुए। राजन, इस परमपवित्र श्रेष्ठ कथा को, जिसमे पतितपावन श्रीहरि के गुणों का कीर्त्तन और उनके प्यारे भक्तों का चरित्र वर्णन किया गया है, ज्ञानी विद्वान लोग हर एक पर्व में पढ़ते और सुनते है। इसमें इन्द्र का ब्रह्महत्या से छुटकारा और उनका शत्रु पर विजय पाना वर्णन किया गया है, इसलिए इसे पढ़ने और सुनने से पाप मिट जाते हैं। यह धन और यश देनेवाला, आयु बढ़ानेवाला, मंगलकारक और शत्रु-विनाश करनेवाला है।



* नहुष को जब इन्द्रपद प्राप्त हुआ तो उन्हें यह सूझी कि इन्द्राणी पर भी उनका अधिकार होना चाहिए। उन्होंने इन्द्राणी के पास कहला भेजा। पतिव्रता इन्द्राणी ने समझ लिया, ऐश्वर्य पाकर राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। उन्होंने देवगुरु बृहस्पति की सम्मति से राजा के पास संदेश भेजा कि आप मेरे पास ऐसी सवारी पर चढ़कर आवें, जिस पर कोई चढ़ा न हो। राजा को यह सूझी कि ब्राह्मणों को वाहन आज तक किसी ने नहीं बनाया। बस, वह अगस्त्य आदि महर्षियों को कहारों की जगह लगाकर पालकी पर बैठकर इन्द्राणी के पास चले। राह में जल्दी पहुँचने की उत्सुकता के कारण वह बारम्बार ऋषियों से सर-सर (जल्दी चलो, जल्दी चलो) कहने लगे। एक बार जल्दी के मारे उनके मुख से सर-सर की जगह सर्प-सर्प निकल गया। तब कुपित होकर अगस्त्य ने उन्हें शाप दिया कि तू सर्प हो जा। नहुष स्वर्ग से गिरकर एक अजगर सर्प बन गये और इन्द्राणी के सतीत्व की रक्षा हो गई। नहुष के शाप-मोक्ष की कथा पुराणों में वर्णित है।

# चौदहवाँ अध्याय

## वृत्रासुर के पूर्वजन्म की कथा

राजा ने कहा—भगवन्, मैं यह जानना चाहता हूँ कि रजोगुणी तामसी प्रकृतिवाले पापी वृत्रासुर को भगवान् नारायण की अनन्य भक्ति कैसे प्राप्त हुई ? विशुद्ध सतोगुणी देवतों और निर्मल हृदयवाले ऋषियों को भी हरिचरणों की ऐसी अनन्य भक्ति दुर्लभ होती है। पृथ्वीतल में भूमि के रजकणों के समान असंख्य प्राणी हैं। पर उनमें कुछ ही अपने धर्म का ठीक-ठीक आचरण करते हैं। उनमें भी कुछ ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करते है, और उनमें भी हजारों में कोई बिरले ही अपने प्रयत्न में सफल होकर जीवन्मुक्ति और सिद्धि के अधिकारी बन पाते हैं। मुनिवर, उन कोटि-कोटि जीवन्मुक्त सिद्धों में भी नारायण-परायण प्रशान्तचित्त अनन्य हरिभक्त अत्यन्त दुर्लभ है। फिर पापाचरण करनेवाले, सब लोकों को पीड़ा पहुँचानेवाले वृत्रासुर को ऐसे घोर युद्ध में भी भगवान् की दृढ़ भक्ति कैसे प्राप्त हुई ? भगवन्, इस विषय में मुझे बड़ा संशय और विस्तार के साथ इसका कारण जानने के लिए बड़ा कौतूहल हो रहा है। अपने पौरुष से युद्ध में इन्द्र को भी छका देनेवाले वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त कृपा करके विस्तार के साथ कहिए।

सूतजी ने शौनक आदि मुनियों से कहा—श्रद्धालु राजा परीक्षित् के इस प्रश्न को सुनकर शुकदेवजी ने आनन्दित होकर यों कहा। शुकदेवजी ने कहा—महाराज, इस सम्बन्ध में पिता द्वैपायन व्यास, नारद और देवल ऋषि के मुख से जो प्राचीन इतिहास मैंने सुना है, वह आपको सुनाता हूँ। सावधान होकर सुनिए। प्राचीन काल में शूरसेन देश मे एक प्रसिद्ध चक्रवर्त्ती राजा थे, जिनका नाम चित्रकेतु था। यह पृथ्वी उनकी सब अभिलाषाएँ पूरी कर देती थी। उनके एक दो नहीं, एक करोड़ रानियाँ थीं, और उनमें



भी कोई ऐसा दोष न था कि वह सन्तान उत्पन्न करने मे असमर्थ हों। फिर भी अदृष्ट दोष से उनकी किसी रानी के पुत्र या कन्या कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। रूप, उदारता, यौवन, विद्या, कुल, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि सभी बातें और सभी गुण चित्रकेतु में थे। फिर भी रानियों के बाँझ होने से सन्तानहीन राजा सदा व्याकुल और चिन्तित रहते थे। सारी सम्पत्ति, सुन्दरी स्त्रियाँ और पृथ्वीमण्डल का अखण्ड राज्य भी सम्राट् चित्रकेतु को प्रसन्न नहीं कर सका। एक समय महर्षि अंगिरा इच्छानुसार घूमते-फिरते चित्रकेतु राजा के भवन में उपस्थित हुए। राजा ने उठकर उनका स्वागत किया और पाद्य अर्घ्य-आसन आदि देकर उनकी पूजा की। जब महर्षि अंगिरा सुखपूर्वक

आसन पर विराजमान हुए, तब अतिथि-सत्कार के उपरान्त राजा भी विनीत भाव से उनके पास ही एक आसन पर बैठ गये। पृथ्वी में गिरकर साष्टांग प्रणाम करने के बाद नम्र भाव से सिर झुकाकर बैठे हुए राजा को प्रतिपूजा, अभ्यर्थना और सादर सस्नेह संभाषण से सन्तुष्ट करते हुए महर्षि ने कहा—महाराज, तुम सकुशल तो हो? तुम्हारी प्रजा तो सुखी है? तुम तो सुखी हो? जैसे महत्तत्त्व आदि सात प्रकृति की उपाधियों से जीव सुखी रहता है, वैसे ही राजा की भी रक्षा सात प्रकृतियाँ (स्वामी अर्थात् स्वयं राजा, या गुरु, मंत्री, मित्र, कोष, क़िला, प्रजा और सेना) करती हैं। राजा अपने को इन सातों के अनुकूल बनाकर ही राज्य का सुख भोग सकता है। हे नरदेव, राजा अगर सुखी होता है तो उससे प्रजा को भी धन और समृद्धि प्राप्त होती है। महाराज, तुम्हारे पुत्र, स्त्री, मंत्री-अमात्य आदि सब वश में है न? व्यापारी, पुरवासी, राजकर्मचारी, सामन्त और सब प्रजा तो तुम्हारे अधीन और अनुकूल है? जिसने अपने मन को जीत लिया है, ये सब उसी के वश में रहते है। सब लोक और लोकपाल भी भक्ति के साथ उसे भेंट और उपहार देते हैं। पर मुझे तुम्हारा मन कुछ उदास देख पड़ता है, तुम सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। जान पड़ता है, तुम्हें अपने से या किसी दूसरे से कोई इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं हुई; तुम्हारी इच्छा अपूर्ण है। इसी कारण तुम्हारा मुख चिन्ता के मारे विवर्ण हो रहा है।

शुकदेवजी कहते हैं—मुनिवर अंगिरा त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ थे। उनके यों संशय प्रकट करने पर राजा चित्रकेतु ने विनय से नम्र होकर उनके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया। राजा ने कहा—भगवन्, आप सरीखे निष्पाप योगी तप, ज्ञान और समाधि (चित्त की एकाग्रता) के बल से देहधारियों के भीतर और बाहर का सब हाल जानते हैं; आपसे कुछ छिपा नहीं है। तथापि आप मेरी चिन्ता का कारण जानने की इच्छा प्रकट कर उसे कहने की आज्ञा दे रहे हैं, इसलिए आपके सब जानने पर भी अपनी मानसिक पीड़ा का कारण कहता हूँ। लोकपालों के लिए भी दुर्लभ साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्ति मुझे प्राप्त है। लेकिन जैसे भूखे-प्यासे को माला-चन्दन-वस्त्रालंकार आदि भोग की सामग्री नहीं सुहाती, वैसे ही एक पुत्र के बिना मुझे किसी से सुख नहीं मिलता। हे महाभाग, आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे एक पुत्र दीजिए, जो मुझे और मेरे पुरखों को नरक में गिरने से बचा ले।

महाराज, सब कुछ कर सकने की शक्ति रखनेवाले, ब्रह्माजी के पुत्र, परम दयालु महर्षि अंगिरा को राजा की प्रार्थना सुनकर दया आ गई। उन्होंने चरु (खीर) पकाकर त्वष्टा देवता का यज्ञ किया। यज्ञ में हवन करने के बाद जो खीर बच रही, उसे अंगिरा ऋषि ने चित्रकेतु की बड़ी रानी कृतद्युति को खिला दिया। इसके बाद राजा से कहा—राजन्, तुम्हारे एक पुत्र होगा; पर उससे तुमको हर्ष भी होगा और शोक भी। इतना कहकर ऋषि चले गये। जैसे कृत्तिकाओं ने अग्निपुत्र स्कन्द का अपने गर्भ में रक्खा था, वैसे ही यज्ञ का बचा हुआ चरु खाकर महारानी ने चित्रकेतु के समागम से गर्भ धारण किया। वह गर्भ हर महीने शुक्लपक्ष मे चन्द्रमा की कलाओं के समान शूरसेन-नरेश के तेज से बढ़ने लगा। समय पूरा होने पर, दस महीने बाद, रानी के गर्भ से एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ। राजकुमार के जन्म का समाचार सुनकर शूरसेन देश मे रहनेवाली प्रजा के घरों मे अपार आनन्द छा गया। राजा चित्रकेतु को जब कुमार के जन्म का शुभ समाचार मिला तो वह बड़े आनन्द के साथ अन्तःपुर मे गये। वहाँ स्नान करके पवित्र वस्त्र और अलंकार पहनकर उन्होंने विधिपूर्वक जातकर्म-संस्कार किया और ब्राह्मणों के अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किये। राजा ने दक्षिणा में ब्राह्मणों को सोना-चाँदी, वस्त्र-अलंकार, हाथी-घोड़े, गाँव और साठ करोड़ बछड़ेवाली दुधार गउएँ दीं। महादानी उदार राजा ने राजकुमार के सौभाग्य और आयु की बढ़ती के किए बादलों की तरह मुँहमाँगी वस्तुओं की वर्षा-सी करके सभी याचकों को अयाचक बना दिया।

जैसे कष्ट से कमाये हुए धन पर दरिद्र मनुष्य की सुदृढ़ ममता होती है, वैसे ही उस पुत्र के ऊपर राजा चित्रकेतु का स्नेह दिन-दिन बढ़ने और सुदृढ़ होने लगा। रानी कृतद्युति का तो वह पुत्र आँखों का तारा हो रहा था। यह देखकर रानी की और सौतें परसन्ताप और सौतिया-डाह से भीतर ही भीतर जलने लगीं। राजा पुत्रवती रानी के ही महल में सदा रहकर पुत्र को खिलाया-दुलराया करते थे, इस कारण बड़ी रानी पर उनका प्रेम बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। साथ ही और रानियों का आदर भी घट गया। इसने आग में घी की आहुति पड़ने का काम किया। सौतों का डाह और भी बढ़ गया। वे सब मिलकर अपने मुँह से आप अपनी निन्दा करती थीं। उनके कोई सन्तान नहीं थी, उस पर राजा उनका निरादर करने लगे। इससे सबको समान सन्ताप और दुःख हुआ। वे सब आपस में कहने लगीं—जिस स्त्री के सन्तान नहीं है, वह अत्यन्त पापिनी है। उसे धिक्कार है! वह पत्नी कहलाने योग्य नहीं है। पति उसका आदर नहीं करता। और सौतें, जिनके सन्तान है, उसका दासी की तरह अनादर करती हैं। पर उससे दासी भी अच्छी होती है; क्योंकि दासी को कोई सन्ताप नहीं होता। स्वामी की सेवा करके वे सदा सम्मान पाती है। हम अभागिनें तो बाँझ होने के कारण दासी की दासी के समान गई-बीती हैं।

शुकदेवजी कहते हैं—बड़ी रानी को पुत्र-सौभाग्य से युक्त देखकर उन सौतों के हृदय में बड़ी रानी के ऊपर बड़ा प्रबल विद्वेष उत्पन्न हुआ। राजा उनका अनादर करने लगे, इसलिए वे विद्वेष से अंधी हो गईं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। उन कठोर हृदयवाली सौतों ने राजा का अनादर और सौत का सौभाग्य न सह सकने के कारण एक दिन राजकुमार को विष दे दिया। कृतद्युति को सौतों के इस क्रूर कर्म का कुछ पता नहीं था। वह पुत्र को शय्या पर पड़ा देखकर यही समझी कि वह अभी सो रहा है, और घर के और कामों में लगी रही। जब बहुत देर हो जाने पर भी बालक नहीं जागा, तब रानी ने धाय से कहा—मेरे बच्चे को ले आ। धाय ने जाकर देखा, बालक की आँखों की पुतलियाँ उलट गई हैं; उसके साँस नहीं चलती और वह मरा पड़ा है। यह देखकर "हाय, मैं मर गई!" कहकर पछाड़ खाकर वह वहीं पृथ्वी पर गिर पड़ी। धाय के आर्त्तनाद को सुनकर और उसे छाती पीटते देखकर बड़ी रानी जल्दी से वहाँ दौड़ी गई। उसने देखा, अकस्मात् बालक की मृत्यु हो गई है। यह देखते ही रानी भी शोकाकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गई। उसके बाल और वस्त्र बिखर गये। अन्तःपुर में रहनेवाले नौकर-चाकरों ने तथा अन्य नर-नारियों ने जब इस रोने-धोने का शब्द सुना, तब वे भी जल्दी से वहाँ आकर जमा हो गये और रानी के साथ सहानुभूति रखने के कारण उन्हें भी उतना ही दुःख हुआ, जितना रानी को। वे भी विलाप करने लगे। कृतद्युति को जिन सौतों ने विष देकर बालक को मारा था, वे भी आकर बनावटी विलाप करने लगीं। पुत्र के अचानक मर जाने की खबर पाकर राजा चित्रकेतु की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह भी गिरते-पड़ते अन्तःपुर की ओर चले। पुत्र पर उन्हें अपार स्नेह हो गया



था, इसीसे उन्हें शोक भी बहुत अधिक हुआ। वह शोक के वेग से अचेत-से हो रहे थे। सभासद्, ब्राह्मण और मंत्री आदि कर्मचारी सब उनके साथ राजभवन में आये। भीतर पहुँचते ही राजा मरे हुए बालक के पैरों के पास गिर पड़े। उनके बाल बिखर रहे थे, वस्त्र अस्तव्यस्त हो रहे थे, आँसुओं से गला रुँध रहा था। वह लंबी-लंबी साँसें लेने के सिवा कुछ भी न बोल सके। पति को शोक से अत्यन्त व्याकुल और एक-मात्र बालक को मरा हुआ देखकर पतिव्रता राजरानी अनेक प्रकार से विलाप करने लगी, जिसे सुनकर वहाँ उपस्थित सब लोगों की छाती फटने लगी। उसके कुंकुम के अंगराग से भूषित दोनों स्तन काजल से काली आँसुओं की बूँदों से भीग रहे थे। बाल बिखर गये थे और चोटी में गुँथे हुए फूल खुलकर गिर पड़े थे। वह पुत्र-शोक से कुररी की तरह ऊँचे स्वर से इस प्रकार विलाप करने लगी—अहो विधाता, तुम बड़े मूर्ख हो! क्योंकि तुम अपनी सृष्टि के विपरीत पीछे पैदा हुए को पहले ही मार डालते हो। तात्पर्य यह कि वृद्ध तो सृष्टि कर नहीं सकते और बालक सृष्टि किये बिना ही मर जायँगे तो फिर तुम्हारी सृष्टि ही नष्ट हो जायगी। अगर यह कहो कि इस समय मैं विपरीत हूँ तो अवश्य ही दुःखदायक होने के कारण तुम देह-धारियों के शत्रु हो। अगर यह कहो कि जीव के कर्म के अनुसार मैं उसे पैदा करता और मारता हूँ तो अगर इस जीवलोक में जन्म-मरण का कोई क्रम नहीं है तो फिर तुम्हारी क्या जरूरत है? वे अपने कर्म के अनुसार ही उत्पन्न हों और मरें। तुमने अपनी सृष्टि को बढ़ाने के लिए जो पिता-पुत्र आदि का स्नेह-बन्धन बना रक्खा है, उसे आप अपने हाथ से इस तरह तोड रहे हो, यह क्या ठीक है? मतलब यह कि इस तरह का दुःख पाकर कोई पुत्र आदि पर स्नेह नहीं बढ़ावेगा। हे पुत्र, मैं बहुत ही दीन और अनाथ हूँ। मुझे छोड़कर चले जाना तुम्हें उचित नहीं। बेटा, एक बार अपने पिता की ओर तो देखो। वह तुम्हारे शोक से पीड़ित पागल-से हो रहे हैं। हम दोनों की यही आशा थी कि हम तुम्हारे द्वारा उस 'पुं' नाम नरक से सहज में उद्धार पा जायँगे, जिसमें निस्सन्तान लोग डाले जाते हैं। हमें छोडकर निठुर यमराज के साथ तुम दूर न जाओ। उठो बेटा, ये तुम्हारे साथी हमजोली के लड़के तुम्हें खेलने के लिए बुलाने आये हैं। राजकुमार, तुम बड़ी देर से सो रहे हो। तुमको भूख लगी होगी। कुछ खाओ, दूध पियो और हम अपने बन्धुओं के शोक को दूर करो। पुत्र, मैं बड़ी ही अभागिन हूँ। आज मैंने सबसे पहले आकर तुम्हारी भोली मुसकान और प्रसन्न दृष्टि से युक्त मुखकमल की शोभा को नहीं देख पाया। नीच मृत्यु क्या तुमको किसी और लोक में ले गई है, इसी से मैं तुम्हारी तोतली बातें नहीं सुन पा रही हूँ?

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, बड़ी रानी पुत्र के लिए शोकाकुल होकर यों विलाप करने लगी। उसके विचित्र विलाप को सुनकर राजा चित्रकेतु भी ऊँचे स्वर से रोने लगे। उन दोनों के विलाप करने से वहाँ उपस्थित और सब स्त्री-पुरुष भी दुःखी होकर रोने लगे। सभी शोक और दुःख से रोते-रोते अचेत हो गये। योगबल से राजा को इस प्रकार शोकाकुल और अचेत जानकर नारद सहित महर्षि अंगिरा उसी समय वहाँ आकर उपस्थित हुए।

---

# पंद्रहवाँ अध्याय

## नारद और अंगिरा का राजा को उपदेश

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, महर्षि अंगिरा और नारद ने आकर देखा, शूरसेन-नरेश राजा चित्रकेतु मरे हुए बालक के पास शोक के मारे मुर्दे की तरह पड़े हुए हैं। तब वह उन्हें इस प्रकार तत्त्व की

अच्छी बातें कहकर समझाने लगे। उन्होंने कहा—राजेन्द्र, यह बालक, जिसके लिए तुम शोक कर रहे हो, तुम्हारा कौन है? पहले जन्म में तुम इसके कौन थे या अगले जन्म में कौन होगे? तात्पर्य यह कि अगर तुम कहो कि यह मेरा पुत्र है और मैं इसका पिता हूँ तो तुम्हारा यह कहना भ्रममात्र है। पूर्वजन्म में जो पिता था, वही इस जन्म में पुत्र हो सकता है, और अगले जन्म में वही उसका या और किसी का शत्रु, मित्र, स्त्री आदि हो सकता है। जैसे प्रवाह के वेग से बालू इधर से उधर बह जाती है, अर्थात् एक जगह की बालू दूसरी जगह चली जाती है और दूसरी जगह की बालू आकर एक जगह इकट्ठी हो जाती है, वैसे ही काल जीवों को मिलाता और अलग कर देता है। जैसे धान आदि अन्न के बीज से अन्न के दाने (जो आगे की फ़सल के बीज होंगे) उत्पन्न होते हैं और कभी नहीं भी उत्पन्न होते, वैसे ही ईश्वर की माया की प्रेरणा से जीवों से जीवों की उत्पत्ति होती है और किसी के पुत्र आदि नहीं भी होते, या होकर नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे धानों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध नहीं माना जाता, वैसे ही मनुष्यों में भी वह अवास्तव है और इसीलिए पुत्र आदि के वियोग में शोक करना व्यर्थ है। यह पिता-पुत्र आदि का सम्बन्ध लौकिक कल्पनामात्र है, इसलिए तुम्हारा शोक करना व्यर्थ है। हम, तुम और ये सब वर्तमानकाल के चराचर प्राणी जैसे इस जन्म के पहले पिता-पुत्र आदि न थे और मृत्यु के बाद उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, वैसे ही इस समय भी वास्तव में उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अथवा इसका भाव यह है कि आदि और अन्त में असत् होने के कारण सब जीवों का वर्तमान अस्तित्व भी स्वप्न के समान मिथ्या है। यद्यपि जगदीश्वर को सृष्टि आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह निरपेक्ष हैं, तथापि बालक जैसे खेल में घरौंदे को बनाता और बिगाड़ता है, वैसे ही अज भगवान भी लीला-विनोद के लिए अपने पैदा किये परतन्त्र प्राणियों के द्वारा प्राणियों की सृष्टि, रक्षा और संहार करते हैं। फिर यह जन्म-मृत्यु आदि देह के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जैसे बीज से बीज की उत्पत्ति होती है, वैसे ही पिता के शरीर से माता के शरीर द्वारा पुत्र का शरीर उत्पन्न होता है। देहधारी जीव नित्य है। जाति (सामान्य) और व्यक्ति (विशेष) का विभाग जैसे सत् वस्तु में कल्पित होता है, वैसे ही यह अनादि देही और देह का परस्पर प्रतियोगी विभाग भी अज्ञानमूलक है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि नश्वर देह का साथी होने के कारण आत्मा भी अनित्य है।



शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, दोनों ऋषियों के यों उपदेश और आश्वासन देने पर राजा चित्रकेतु का शोक कम हुआ। उन्होंने मन की व्यथा से मलिन मुख के आँसुओं को हाथ से पोंछकर यों कहा। राजा चित्रकेतु ने कहा—आप दोनों परम ज्ञानी और महामहिम महापुरुष कौन हैं? आप अवधूत के वेष

में अपने को छिपाये हुए यहाँ आये हैं। मैं आपका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ, मुझ-सरीखे संसार में फँसे हुए विषयी पुरुषों को बोध देने के लिए भगवद्भक्त ब्राह्मणगण पागलों का-सा वेष धारण किये पृथ्वीमण्डल में यथेष्ट घूमा करते हैं। सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अंगिरा, देवल, असित, अपांतरतम, व्यास, मार्कंडेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, बादरायण के पुत्र शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, लोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतंजलि, वेदशिरा ऋषि, धौम्य, पंचशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव, ऋतध्वज तथा और बहुत-से श्रेष्ठ सिद्ध मुनि ज्ञानोपदेश करने के लिए घूमते हैं। मैं संसारी पशु मूढ़मति घोर अज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ हूँ। मुझे इससे उबारने के लिए आप ज्ञान का दीपक जलाइए।

अंगिरा ने कहा—राजन्, तुम जब पुत्र की कामना कर रहे थे, तब मैंने ही आकर तुमको यह पुत्र दिया था। मेरा नाम अंगिरा है। और यह ब्रह्माजी के पुत्र भगवान् देवर्षि नारद हैं। तुमको इस तरह पुत्र-शोक के कारण दुस्तर अज्ञानान्धकार में डूबा देखकर हमने सोचा कि तुम हरिभक्त होने के कारण इस तरह अज्ञान के वश होने योग्य नहीं हो। इसीलिए तुम पर अनुग्रह करने के लिए हम आये हैं। ब्राह्मणों का और भगवान का भक्त इस तरह अज्ञान से कष्ट पाने के योग्य नहीं होता। पहले भी मैं तुम्हें श्रेष्ठ आत्म-ज्ञान का उपदेश देने ही के लिए आया था। पर जब मैंने देखा, तुम्हारा मन पुत्र में लगा हुआ है तो मैंने तुमको पुत्र ही दिया। पुत्रवाले गृहस्थों को स्नेहपाश में फँस जाने के कारण पीछे कैसा शोक और सन्ताप होता है, इसका अनुभव इस समय तुम आप ही कर रहे हो। समझ लो, इसी तरह स्त्री, घर, धन, तरह-तरह के ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ भी इसी तरह छूटने पर कष्ट और सन्ताप देती हैं। शब्द आदि विषय और राज्य के सब ऐश्वर्य अनित्य हैं। यह पृथ्वी, राज्य, सेना, कोष, नौकर-चाकर, परिवार, मंत्री, मित्र आदि सब शोक, मोह, भय और पीड़ा देनेवाले हैं। ये सब विषय गन्धर्वनगर के दृश्य के समान अनित्य और स्वप्न, माया या मनोरथ के समान मिथ्या हैं। राजन्, ये सभी पदार्थ केवल मन की कल्पनामात्र हैं; क्योंकि अभी हैं और थोड़े समय बाद नहीं रह जाते। इसलिए ये वास्तविक नहीं हैं। अगर कहो कि मीमांसाशास्त्र के मतानुसार पुण्य-पाप कर्मों से इनकी सृष्टि होती है तो भी ये मन का ही विकारमात्र सिद्ध होते हैं। कारण, जीव कर्म की वासना से विषयों का ध्यान करता है और तब कर्म होते हैं। इस प्रकार मन से ही कर्म और कर्म से प्राप्त होनेवाले फल उत्पन्न होते हैं। अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवरूप यह देह ही देहधारी जीव को तरह-तरह के क्लेश और सन्ताप देनेवाला कहा गया है। इसलिए एकाग्र चित्त से तत्त्व का विचार कर मिथ्या वस्तु में "यह सत्य है" इस विश्वास को छोड़कर वैराग्य से शान्ति प्राप्त करो। इसके बाद नारदजी ने कहा—महाराज, महर्षि अंगिरा का बतलाया हुआ यह ज्ञान परमेश्वर की कृपा के बिना नहीं प्राप्त होता, इसलिए मन को एकाग्र करके मुझसे परममंगलदायक यह पवित्र मंत्र ग्रहण करो। इसका जप करने से सात दिन में तुमको संकर्षण भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे। हे नरेश, शंकर आदि प्रधान देवता जिनके चरणों की शरण ग्रहण करके, द्वैत का भ्रम छोड़कर शीघ्र ही अतुल और सबसे बढ़ी हुई महिमा को प्राप्त हुए हैं, उन भगवान को तुम भी शीघ्र ही पा जाओगे।

# सोलहवाँ अध्याय

## नारद का राजा को मंत्रोपदेश

श्रीशुकदेवजी कहते है—महाराज, इसके उपरान्त देवर्षि नारद ने अपने योगबल से शोक से व्याकुल माता-पिता आदि बन्धुओं के सामने मरे हुए राजकुमार के शरीर में उसकी आत्मा को बुलाकर यों कहा—हे जीवात्मा, तुम्हारा कल्याण हो। देखो, तुम्हारे माता, पिता, सुहृद् और बंधु-बान्धव तुम्हारे लिए शोक-सन्ताप से कष्ट पा रहे हैं। तुम इस अपने शरीर में रहकर अपने सुहृद्गण के साथ पिता के दिये हुए भोगों को भोगो और राजसिंहासन पर बैठकर राज्य करो।

यह सुनकर वह जीव बोला—ये किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए थे, यह मैं नहीं जानता। मैं तो अपने कर्मों का फल भोगने के लिए देवता, मनुष्य और पशु आदि की अनेक योनियों में जन्म ले चुका हूँ। इस तरह जीवों के अनेक जन्म होते रहने के कारण सभी सबके समय-समय पर बन्धु, सजातीय, मारनेवाले, रक्षा करनेवाले, कोई भाव न रखनेवाले, विद्वेष रखनेवाले अथवा उदासीन ( न शत्रु, न मित्र ) होते है। इसलिए ये लोग मुझे पुत्र समझकर शोकाकुल होने के बदले शत्रु समझकर मेरी मृत्यु से प्रसन्न क्यों नहीं होते ? जैसे बेचने-खरीदने की चीजें सोना, चाँदी आदि बेचने-खरीदनेवालों के पास इधर से उधर आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी अनेक योनियों में चक्कर लगाया करता है। इस जन्म में पशु आदि जीवित वस्तुओं के साथ भी मनुष्य का सम्बन्ध अनित्य देख पड़ता है। जब कोई स्वामी अपने पशु आदि को बेच डालता है, तब उसके साथ उसका स्वामी का सम्बन्ध नहीं रहता। जब तक जिसके साथ जिसका सम्बन्ध रहता है, तभी तक उस पर उसकी ममता रहती है। जीव पिता आदि के सम्बन्ध को प्राप्त होने पर भी वास्तव में नित्य है ; क्योंकि जन्म-मरण का सम्बन्ध उससे नहीं, देह से है। इसी-लिए वास्तव में 'मैं इसका पुत्र हूँ' इस प्रकार का अभिमान उसे नहीं है। यह जीव कर्मवश देह धारण करके जब तक जिसके निकट रहता है, तभी तक पिता आदि का उस पर स्वत्व रहता है। अथवा यह जीव जब तक जिस देह में रहता है, तभी तक उस पर उसका स्वत्व रहता है। यह जीव नित्य है; क्योंकि इसका नाश नहीं होता। कारण, यह सूक्ष्म अर्थात् जन्म आदि से रहित है। यह इसलिए कि यह जन्मनेवाले देह आदि का आश्रय है, स्वयं देह नहीं है। यह स्वयंप्रकाशित और सबका आश्रय है। यह वास्तव में चैतन्य ब्रह्म का ही अंश होने के कारण चित्शक्ति से युक्त है और अपनी माया के गुणों द्वारा अपनी और इस विश्व की सृष्टि करता है। वास्तव में ब्रह्म के अंशरूप जीवात्मा को न कोइ अत्यन्त प्रिय है, न अप्रिय ; न कोई अपना है, न पराया। यह सुहृद् आदि के संग से रहित, अतएव अकेला है। यह हित या अहित करनेवाले मित्रों या शत्रुओं की विचित्र बुद्धियों का साक्षीमात्र है। यह कारण और कार्य का साक्षी, स्वतन्त्र आत्मा उदासीन रहकर सुख, दुःख या कर्मफलरूप राज्य आदि किसी को नहीं ग्रहण करता। तात्पर्य यह कि मेरे साथ अब इन लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए इन्हें मेरे लिए शोक न करना चाहिए।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, वह जीवात्मा यों कहकर चला गया। तब उस जीव के मुख से सम्बन्ध की अनित्यता सुनकर सब बान्धवों और रानियों को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने स्नेह-बन्धन को तोड़कर शोक को भुला दिया। इसके बाद बालक के मृत देह का अन्तिम संस्कार और क्रिया-कर्म करके शोक, मोह, भय और क्लेश देनेवाले दुस्त्यज स्नेह को तिलांजलि दे दी। जिन रानियों ने बालक को विष देकर मार

डाला था, वे अपने कर्म से बहुत लज्जित हुईं। उनके चेहरों का रंग उड़ गया था। अंगिरा के मुख से यह सुनकर कि पुत्र आदि दुःख ही देते हैं, उनके चित्त से पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा जाती रही और ईर्ष्या-द्वेष का भाव भी नहीं रहा। उन्होंने अपना दोष स्वीकार करके यमुनातट पर ब्राह्मणों का बतलाया हुआ बाल-हत्या के प्रायश्चित्त का व्रत किया। राजा चित्रकेतु को जब महर्षि अंगिरा और नारद के उपदेश से ज्ञान प्राप्त हुआ, तब वह उसी तरह अंधकूप-सदृश घर से बाहर निकल खड़े हुए, जिस तरह तालाब के कीचड़ से गजराज। यमुना नदी में उन्होंने विधिपूर्वक स्नान किया, पितरों का तर्पण किया, फिर इन्द्रियों को जीतकर, एकाग्र होकर महर्षि अंगिरा और नारद के चरणों में प्रणाम किया। तब भगवान् नारद ने प्रसन्न होकर भक्त, शरणागत और विशुद्धचित्त राजा चित्रकेतु को यह मंत्ररूप विद्या बतलाई। नारद ने कहा—"आप भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं। हम इस चतुर्व्यूह को मन से प्रणाम करते हैं। आप एकमात्र आत्मज्ञान-स्वरूप हैं। ब्रह्मानन्द आपकी मूर्त्ति है। आप आत्माराम अर्थात् अपने ही में रमण करनेवाले और शान्त हैं। आपमें द्वैत-दृष्टि नहीं है। आपको प्रणाम है। आत्मानन्द की अनुभूति से ही आपने मायाजनित राग-द्वेष आदि को दूर कर रक्खा है। आप सब इन्द्रियों के संचालक, महान और विश्वमूर्त्ति है। आपको प्रणाम है। मन और वाणी सहित सब इन्द्रियाँ जहाँ तक न पहुँचकर निवृत्त हो जाती हैं, वहाँ अकेले आप ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् मन और इन्द्रियाँ आपका निरूपण नहीं कर सकतीं। आप नाम और रूप से रहित, केवल चित्स्वरूप और कार्य तथा कारण के भी आदिकारण हैं। आपको प्रणाम है। जिसमें यह कार्य-कारणरूप सृष्टि स्थित है और जिससे उत्पन्न होकर जिसमें लय को प्राप्त होती है, जो मिट्टी के बने घड़े आदि पदार्थों में मिट्टी की तरह इस सारी सृष्टि में व्याप्त है, उस परब्रह्म को प्रणाम है। आकाश की तरह जगत् के भीतर और बाहर व्याप्त रहने पर भी जिसे प्राण अपनी क्रिया-शक्ति से स्पर्श नहीं कर सकते और मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि अपनी ज्ञान-शक्ति से जान नहीं पाते, उस ब्रह्म को प्रणाम है। ये देह, प्राण, मन और बुद्धि आदि आपके चैतन्य अंश से युक्त होने पर ही जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में अपने-अपने विषय या कार्य में प्रवृत्त होते हैं, सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि की दशा में नहीं प्रवृत्त होते, जैसे ठंडा या बिना तपा हुआ लोहा जला नहीं सकता। इसलिए जैसे लोहा अग्नि की शक्ति से ही जला सकता है, अग्नि के बिना नहीं जला सकता, वैसे ही ब्रह्मगत ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति से ही अपने काम को कर सकनेवाले देह, मन आदि उस ब्रह्म को नहीं जान सकते। देह, मन आदि का साक्षी जीव भी तभी आपको जान सकता है, जब उपाधिरहित होकर आपकी चित्शक्ति से युक्त होता है, अन्यथा नहीं। आपको प्रणाम है। महापुरुष, महानुभाव, महाविभूति के स्वामी, परम परमेष्ठी, परमेश्वर को प्रणाम है। प्रधान-प्रधान भक्त सदैव अपने करकमलों से जिनके चरणकमलों की पूजा करते है, उन भगवान् को प्रणाम है।"

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, भक्त और शरणागत राजा को इस विद्या का उपदेश देकर नारदजी अंगिरा के साथ ब्रह्मलोक को चले गये। नारद के उपदेश के अनुसार चित्रकेतु ने सात दिन तक केवल जल पीकर एकाग्र भाव से इस मंत्रमयी विद्या का जप किया। सात दिन के बाद इस विद्या को धारण करने के प्रभाव से राजा चित्रकेतु विद्याधरों के अधिपति हो गये। कुछ दिन बाद इसी विद्या के प्रभाव से राजा का मन और भी विशुद्ध हो गया और वह भगवान शेषजी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने वहाँ जाकर देखा, भगवान संकर्षण विराजमान हैं। उनके चारों ओर सेवा में बड़े-बड़े सिद्ध योगी उपस्थित हैं। उनका रंग कमलनाल के समान गोरा है। शरीर पर नीलाम्बर शोभित है। अंगों में किरीट, केयूर, करधनी, कंकण आदि आभूषणों की शोभा है। उनका मुखारविन्द प्रसन्न और लोचन लाल हैं। भगवान् के दर्शन से राजा के सब हृदय के विकार दूर हो गये, अन्तःकरण निर्मल और शान्त

हो गया। भक्ति की उमंग के कारण उनके नेत्रों से आनन्द के आँसू बह चले, शरीर में रोमाञ्च हो आया। उन्होंने आदिपुरुष संकर्षणदेव को दण्डवत् प्रणाम किया। बहुत देर तक मुँह से बोल न निकल सकने के कारण वह भगवान की स्तुति नहीं कर सके। उन्होंने पवित्र कीर्त्तिवाले अनन्तदेव के पादपीठ को अपने प्रेम के आँसुओं से भिगो दिया। प्रेमावेश से कण्ठावरोध हो गया। कुछ देर के बाद उनकी बोलने की शक्ति फिर आई। तब राजा ने इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति को रोककर बुद्धि से मन को एकाग्र किया और भक्तिशास्त्र में जिनके स्वरूप का वर्णन किया गया है, उन जगद्गुरू भगवान् की इस प्रकार स्तुति करने लगे।

राजा ने कहा—भगवन्, आप अजित हैं, तथापि समदर्शी और मन को वश में कर लेनेवाले भक्त आपको जीत लेते हैं; क्योंकि आप अत्यन्त कृपालु हैं। उन निष्काम भक्तों को भी आप अपने को ही देकर जीत लेते हैं। भगवन्, इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि आपकी ही लीला है। ब्रह्मा आदि देवता विश्व के स्रष्टा होने पर भी वास्तव में स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि वे आपके अंश विष्णु के अंश-मात्र है। तथापि वे वृथा ही अलग-अलग अपने को ईश्वर मानकर बड़प्पन की स्पर्द्धा करते है। परमाणु इस सृष्टि का मूल कारण है और परम महत् या विराट् इसका अन्तिम कार्य है। इन दोनों के आदि, मध्य और अन्त में आप वर्तमान हैं। पर आपका न आदि है, न मध्य, न अन्त। आप ही ध्रुव अर्थात् सत् है, आप जिनकी सृष्टि करते है, वे ध्रुव नहीं हैं। इन सत्य प्रतीत होनेवाले पदार्थों के आदि और अन्त में जो ध्रुव है, वही उनकी वर्तमान स्थिति में भी ध्रुव है। वही ध्रुवतत्त्व आप है। इस ब्रह्माण्ड के पृथ्वी आदि सात आवरण उत्तरोत्तर दसगुने बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड के एक अण्ड के समान आपमे परिभ्रमण करता है, अथवा ऐसे-ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्ड आपमें अणु के समान अवस्थित हैं, इसी से आप अनन्त कहलाते है। विषय-तृष्णा के वशीभूत नर-पशु स्वर्गादि सुख की कामना से आपकी इन्द्र आदि विभूतियों की उपासना करते है; परमपुरुष जो आप हैं, उनकी आराधना नहीं करते। जैसे राजा का नाश होने पर उनके सेवकों का सुखभोग भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही इन्द्र का नाश होने पर उनके उपासकों का भी स्वर्गादि सुख नष्ट हो जाता है। जैसे भुने हुए बीज नहीं उगते, वैसे ही विषय-भोग की कामना से भी अगर आपका भजन किया जाता है, तो उससे फिर जन्म नहीं होता। कारण, आप ज्ञान-स्वरूप और निर्गुण हैं। आपकी सकाम उपासना करनेवाला भी धीरे-धीरे आप ही की तरह माया के गुणों से रहित हो जाता है। जीव को सुख-दुःख भोगने के लिए ये माया के गुण ही बाध्य करते हैं, जिसके लिए उसे बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। हे अजित, अकिंचन ( पुत्र, सम्पत्ति आदि से विरक्त ), आत्माराम मुनिगण मुक्ति के लिए आपके कहे हुए निर्दोष भागवतधर्म का सेवन करते हैं। इसीलिए आप सर्वोत्तम हैं। हे प्रभो, अन्य सकाम धर्मों में ( उपासना-मार्गों में ) "तुम, मैं, तुम्हारा, मेरा" इस प्रकार की भेद-भावना या विषम मति रहती है; किन्तु भागवतधर्म में ऐसी भेद-भावना के लिए स्थान नहीं है। विषम बुद्धि ( शत्रु-मरण आदि की कामना ) से विहित कर्मकाण्ड का धर्म, वेदोक्त होने पर भी, राग-द्वेषयुक्त होने के कारण विशुद्ध नहीं है। उसका फल नश्वर होता है, इसलिए उसका भी क्षय देखा जाता है। हिंसाबहुल होने के कारण वह अधर्म की कोटि में आ जाता है। उस धर्म के आचरण से अपना या दूसरे का क्या कल्याण होता है? कुछ भी नहीं। उसके आचरण में अपने शरीर को कष्ट पहुँचाकर या दूसरे से द्रोह करके क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? कुछ भी नहीं। अपने शरीर को अत्यन्त कष्ट देकर वे शरीर के भीतर आत्मारूप से स्थित आपको पीड़ा पहुँचाते हैं और दूसरों को पीड़ित करके अधर्म के भागी भी होते हैं। आपकी दृष्टि कभी परमार्थ से नहीं हटती। उसी परमार्थदृष्टि से आपने भागवतधर्म का उपदेश किया है। सब चराचर

प्राणियों में समबुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ भगवद्भक्त उसी धर्म के अनुसार आपको भजते हैं। आपके दर्शनमात्र से मनुष्यों के सब पापों का क्षय हो जाना कोई असंभव बात नहीं है। केवल आपका नाममात्र सुनने से ही चाण्डाल भी संसार से मुक्त हो जाता है। भगवन्, केवल आपके दर्शन से ही मेरे अन्तःकरण का सब मैल धुल गया। आपके भक्त नारदजी ने जो कहा था, वह कैसे झूठ हो सकता है? हे अनन्त, आप सबके अन्तर्यामी हैं। सब लोगों के आचरण आपको विदित हैं। जैसे जुगनू सूर्य को कुछ दिखा नहीं सकता, वैसे ही मैं आप परमगुरु के आगे क्या विज्ञापित कर सकता हूँ? आप सारे संसार की सृष्टि, पालन और संहार करने मे समर्थ हैं। कुयोगी भेद-दृष्टि रखने के कारण आपके तत्त्व को नहीं जान पाते। हे भगवन्, आप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। आपकी चेष्टा से ही विश्व की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा आदि भी अपना कार्य कर सकते हैं। आप जब चेतते हैं, तब सब ज्ञानेन्द्रियाँ भी सचेत होकर अपने में अनुप्रविष्ट आपको देखती हैं। यह पृथ्वीमण्डल आपके सिर पर सरसों के समान रक्खा हुआ है। हे सहस्र शिरवाले अनन्त भगवान, आपको प्रणाम है।

शुकदेवजी कहते है—राजन्, इस प्रकार स्तुति करने पर विद्याधरों के स्वामी चित्रकेतु पर प्रसन्न होकर अनन्त भगवान ने इस प्रकार कहा। शेषजी ने कहा—राजन्, नारद और अंगिरा ने मेरे विषय में जो उपदेश तुमको दिया है, उसी उपदेश और विद्या के प्रभाव से मेरा दर्शन पाकर तुम पूरे सिद्ध हो गये। सब प्राणी मेरा ही स्वरूप हैं। मैं सब प्राणियों का आत्मा अर्थात् भोग करनेवाला हूँ। शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म, ये दोनों मेरे ही शाश्वत रूप हैं। इस लोक (भोग्य प्रपंच) में भोक्तारूप से आत्मा को, आत्मा में भोग्य रूप से इस लोक को, और उन दोनों को मुझ कारण-स्वरूप परमात्मा से व्याप्त देखना चाहिए। इन दोनों को मुझमें प्रकल्पित देखना चाहिए। पुरुष (जीव) जैसे सोते समय, सुषुप्त अवस्था में, स्वप्न देखते समय दूसरे देश में स्थित पर्वत-वन आदि के रूप में विश्व को अपने ही में देखता है, अर्थात सोते में सुषुप्ति और स्वप्न को देखता है, और स्वप्न में ही जागकर अपने को विश्व के एक स्थान शय्या में पड़ा हुआ मानता है, अर्थात् जाग्रत् अवस्था का अनुभव करता है, वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि बुद्धि की वास्तविक अवस्थाएँ भी आत्मा की मायामात्र हैं। यह समझकर आत्मा को उन अवस्थाओं का साक्षी और उनसे परे जानना चाहिए। जीव निद्रावस्था में जिसके द्वारा अपने सोने को और अतीन्द्रिय सुख को जानता है, वह साक्षी परमात्मा ही मैं हूँ। निद्रा और जागरण का स्मरण कर रहे पुरुष के सोने और जागने का प्रकाशक होने के कारण जो उन दोनों अवस्थाओं से सम्बन्धित है, और साक्षी होने के कारण उनसे अलग भी है, वही ज्ञान परब्रह्म है। अपने को उसी ब्रह्म का रूप समझो। जीव जब "मैं ब्रह्म का रूप हूँ" यह भूलकर आत्मा से भिन्न अर्थात् देहाभिमानी बन जाता है, तभी वह संसार-चक्र में पड़ जाता है। तभी वह बारम्बार देह-धारण और देह-त्याग करता है। राजन्, इस मनुष्य-जन्म में ही शास्त्रोक्त ज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जो जीव नर-जन्म पाकर भी अपने स्वरूप को नहीं जानता, आत्मज्ञान नहीं प्राप्त करता, उसे फिर कहीं कल्याण नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य यह कि भोग आदि तो अन्य योनियों में भी प्राप्त किये जा सकते हैं; पर आत्मज्ञान या मोक्ष मनुष्यजन्म में ही मिल सकता है। इसलिए मनुष्ययोनि में मोक्ष के लिए ही यत्न करना चाहिए। प्रवृत्तिमार्ग में क्लेश है और उससे उलटा फल (अर्थात् सुख के बदले दुःख) भी मिलता है। पर निवृत्तिमार्ग में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए बुद्धिमान् को सकाम प्रवृत्तिमार्ग छोड़ देना चाहिए। राजन्, सब नर-नारी सुख पाने और दुःख से बचने के लिए ही कर्म करते हैं; पर उससे सच्चे सुख की प्राप्ति या सच्चे दुःख की निवृत्ति नहीं होती। अपने को विज्ञ अथवा चतुर माननेवाले पुरुषों को प्रवृत्तिमार्ग में उलटा ही फल मिलता है, और आत्मा की गति सूक्ष्म तथा बुद्धि

की तीनों अवस्थाओं से परे है, यह जानकर अपने विवेकबल से इस लोक और परलोक में मिलनेवाले विषयों के भोग की लालसा छोड़कर, केवल ज्ञान और विज्ञान से सन्तुष्ट रहकर पुरुष को मेरी भक्ति करनी चाहिए। योग में जिनकी बुद्धि प्रवीण है, उन्हें सम्पूर्ण रूप से इतना ही जान लेना चाहिए कि आत्मा और परमात्मा को अभिन्न देखना ही परम पुरुषार्थ है। राजन्, तुम सावधान होकर श्रद्धा के साथ मेरे इस उपदेश को ग्रहण करके शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सिद्ध हो जाओगे।

शुकदेवजी कहते हैं—जगद्गुरु, सर्वव्यापक हरि भगवान् अनन्तदेव इस प्रकार चित्रकेतु को उपदेश देकर उनके सामने ही अन्तर्द्धान हो गये।

# सत्रहवाँ अध्याय

## चित्रकेतु को पार्वती का शाप

शुकदेवजी कहते हैं—राजन, जिस दिशा में भगवान् अनन्त अदृश्य हुए थे, उस दिशा को प्रणाम करके विद्याधर चित्रकेतु विमान पर बैठकर इच्छानुसार आकाशमार्ग में विचरने लगे। चित्रकेतु को अक्षय बल और इन्द्रियों की काम करने की शक्ति प्राप्त हो गई थी। वह विद्याधर-जाति की स्त्रियों से ईश्वर हरि के गुण गवाते हुए कुलपर्वतों की कंदराओं में, जहाँ इच्छामात्र से सब प्रकार के सुखभोग प्राप्त होते हैं, लाखों वर्षों तक विहार करते रहे। वह महायोगी थे और ऋषि-मुनि, सिद्ध, चारण आदि उनकी स्तुति करते थे। विष्णु भगवान् के दिये हुए तेजोमय विमान पर बैठे एक दिन वह आकाश-मार्ग से जा रहे थे। राह में उन्होंने देखा, कैलास पर्वत पर सिद्ध-चारणों के बीच, मुनियों की सभा में, भगवती पार्वती को गोद में बिठाये और एक हाथ से लिपटाये भगवान् शंकर विराजमान हैं।

ज्ञानी होने पर भी चित्रकेतु को ऐश्वर्य का अहंकार हो आया था। इसीलिए उन्होंने वहाँ ठहरकर ठहाका मारकर देवी के सामने ही उन्हें सुनाकर इस प्रकार कहा। चित्रकेतु ने कहा—यह महादेवजी सब लोगों के गुरु, साक्षात् धर्म के उपदेशक और शरीरधारियों में श्रेष्ठतम होकर भी भरी सभा में स्त्री को गोद में बिठाये हुए हैं! यह जटाधारी, कठोर तपस्या में निरत, ब्रह्मज्ञानी और सभा के मुखिया होकर साधारण मनुष्यों की तरह निर्लज्ज भाव से स्त्री को लिपटाये बैठे हैं! साधारण लोग भी प्रायः एकान्त में ही इस तरह स्त्रियों से मिलकर बैठा करते हैं; किन्तु यह महाव्रतधारी होकर भी भरी सभा में स्त्री को लिये बैठे हैं!

राजन्, अगाध बुद्धिवाले भगवान् महादेव यह सुनकर केवल हँस दिये, कुछ नहीं बोले। उस सभा में उपस्थित लोग भी भगवान् को चुप देखकर चुप ही रहे। यथार्थ बात यह थी कि चित्रकेतु को ऐश्वर्य का गर्व हो गया था, साथ ही अपने जितेन्द्रिय होने के अभिमान से वह ऐसी ढिठाई कर बैठे कि भगवान् शंकर के लिए ऐसे अशोभन वाक्य कह डाले। भगवान् शंकर के प्रभाव को न जानने के कारण चित्रकेतु ने जब यों कहा, तब देवी पार्वती कुपित हो उठीं। उन्होंने कहा—इस समय क्या यही सब लोकों का शासक, दंडधर, प्रभु है, जो हमारे समान दूषित चरित्रवाले, निर्लज्ज लोगों का विरोध कर रहा है? पद्मयोनि ब्रह्माजी, उनके पुत्र भृगु और नारद आदि, सनत्कुमार, कपिलदेव और मनु, कोई भी शायद धर्म को नहीं जानते! तभी तो वे भी शास्त्र के विरुद्ध आचरण करनेवाले भगवान् शंकर को नहीं बरजते। अहो, यह अधम क्षत्रिय बड़े-बड़े ब्रह्मा आदि को मूर्ख समझकर उन जगद्गुरु का शासन करने चला है, जो स्वयं परमधर्म-

मूर्त्ति है और ब्रह्मा आदि जिनके चरणारविन्दों का ध्यान करते हैं। इसलिए इस धृष्ट को इसका दण्ड देना चाहिए। यह अपने को बड़ा समझकर अविनीत ( बेअदब ) हो उठा है। इसलिए नारायण के चरणकमलों के समीप रहने योग्य नहीं है। कारण, नारायण के चरणों में साधुजन ही रहते हैं। हे दुर्मति चित्रकेतु, तू तामसी असुर-योनि में जाकर जन्म ले। पुत्र, यह दण्ड पाकर फिर तू कभी बड़ों का अपराध नहीं करेगा।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, पार्वती के शाप को सुनकर चित्रकेतु का अहंकार दूर हो गया, वह विमान से उतरकर पार्वती के पैरों पर गिर पड़े और इस प्रकार उन्हें प्रसन्न करने लगे। चित्रकेतु ने कहा—माता, आपके दिये हुए शाप को मैं सादर शिरोधार्य करता हूँ। देवगण मनुष्य को जो कुछ शाप या वर देते हैं, वह उसके पूर्वकृत कर्मों का ही फल होता है। अज्ञान से मोहित जीव इस संसार-चक्र में घूमता हुआ सर्वत्र, सर्वदा सुख और दुःख को भोगता है। जीव स्वयं या और कोई सुख या दुःख का कर्त्ता नहीं है। अज्ञ लोग ही अपने को या और को सुख-दुःख का कारण मानते हैं। और वास्तव में सुख-दुःख तो मन की कल्पनामात्र है। यह संसार माया के गुणों का प्रवाह है। इसमें तत्त्व की दृष्टि से शाप-अनुग्रह, सुख-दुःख या बन्धन-मोक्ष क्या हैं ? कुछ नहीं। एक परमेश्वर ही अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों की और उनके सुख-दुःख और बन्धन या मोक्ष की सृष्टि करते हैं। पर वह स्वयं बन्धन आदि से रहित हैं। उन भगवान् का ( अथवा उन भगवान् के अंश आत्मा का ) न कोई प्रिय है, न अप्रिय; न कोई सजातीय है, न बन्धु; न अपना है, न पराया। वह सर्वत्र समान और निर्लिप्त हैं। उन्हें सुख में जब अनुराग ही नहीं है, तब उसके विपरीत दुःख में रोष कहाँ से होगा ? तथापि ईश्वर की माया के गुणों द्वारा यह जीव पुण्य-पापरूप जो कर्म करता है, वे ही उसके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्धन-मोक्ष और जन्म-मरण का कारण होते हैं। हे भगवती, मैं शाप से बचने के लिए आपको नहीं प्रसन्न कर रहा हूँ। मेरा कहना यही है कि मेरे जो वाक्य आपको बुरे लगे हैं, जिन्हें आप अनुचित समझती हैं, उन्हें क्षमा कर दीजिए।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, इस प्रकार पार्वती और शंकर को प्रसन्न करके उनसे क्षमा-प्रार्थना करने के बाद चित्रकेतु विमान पर बैठकर वहाँ से चल दिये। यह देखकर उपस्थित लोगों के सिवा पार्वती और शंकर को भी विस्मय हुआ। तब शंकर ने वहाँ उपस्थित देवता, ऋषि, सिद्ध, दैत्य, पार्षद आदि के सामने ही पार्वती से कहा—देवी, तुमने अद्भुत कर्म करनेवाले हरि के दास निःस्पृह महात्मा लोगों का माहात्म्य देख लिया ! नारायण के अनन्य भक्त किसी से नहीं डरते। वे स्वर्ग, मोक्ष और नरक के विषय में समान दृष्टि रखते हैं। परमेश्वर की माया से ही देहधारियों को शरीर की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख, जन्म-मरण, शाप और वर का उपभोग आदि द्वन्द्व उस शरीर के ही धर्म हैं। स्वप्नावस्था में सुख-दुःख का अनुभव अथवा रस्सी में सर्प का भ्रम जैसे यथार्थ नहीं होता, वैसे ही सांसारिक सुख-दुःख में इष्ट-अनिष्ट का अनुभव भी जीव के अविवेक से ही होता है। वासुदेव भगवान् के अनन्य भक्त ज्ञान और वैराग्य के पूरे अधिकारी होते हैं। उसी ज्ञान-वैराग्य के बल से वे सर्वत्र समदृष्टि रखते हैं, अर्थात् सुख को स्पृहणीय अथवा दुःख को अवांछनीय नहीं समझते, प्रारब्धवश जो प्राप्त हो जाता है, उसे भोग लेते हैं—सुख-दुःख के लिए उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता। हे देवी, मैं, ब्रह्मा, सनत्कुमार, नारद, ब्रह्मा के पुत्र भृगु, मरीचि आदि महर्षि और इन्द्र आदि प्रधान देवता भी उन परमेश्वर नारायण की लीला को नहीं जानते। तब उनके अंश के अंश अन्य लोग, जो अपने को अलग स्वतन्त्र ईश्वर मानकर अभिमान करते हैं, उन भगवान् के स्वरूप को कैसे जान सकते हैं ? उन हरि को न कोई अत्यन्त प्रिय है, न अप्रिय। उनकी दृष्टि में न कोई अपना है, न पराया। वह सब प्राणियों के आत्मा हैं, इसीलिए सबको प्रिय हैं। यह महाभाग्यशाली चित्रकेतु उन्हीं

नारायण का प्रिय भक्त और सेवक है। यह शान्तप्रकृति और सर्वत्र समदर्शी है। मैं भी उन्हीं नारायण का प्रिय अंश हूँ। इसीलिए चित्रकेतु के ऊपर मैंने क्रोध नहीं किया। देवी, इसलिए नारायण के भक्त, महात्मा, शान्त, समदर्शी सज्जनों के अद्भुत आचरण पर विस्मय न करना चाहिए।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, चित्रकेतु के मन में शाप सुनकर विकार न उत्पन्न होते देखकर पार्वतीजी को जो विस्मय हुआ था, वह शंकर के वचन सुनकर दूर हो गया। यद्यपि चित्रकेतु उलटकर देवी को शाप दे सकते थे, उनमें इतनी शक्ति थी, तथापि उन्होंने भगवती के शाप को विनम्र भाव से शिरोधार्य कर लिया। साधुजनों का यही लक्षण है। उसके बाद देवी का शाप सफल करने के लिए चित्रकेतु ने असुर-योनि में जन्म लिया। वही त्वष्टा के मारण-यज्ञ में दक्षिणाग्नि से प्रकट होकर ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न वृत्रासुर के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज, यह मैंने आपको बतला दिया कि असुर-योनि में उत्पन्न होने पर भी वृत्रासुर की भगवान् में अनन्य भक्ति क्यों हुई। भगवद्भक्तों की महिमा से युक्त महात्मा चित्रकेतु का यह पवित्र इतिहास सुनने से लोग संसार-बन्धन से छुटकारा पा जाते हैं। जो लोग प्रातःकाल उठकर भगवान् हरि का स्मरण करके एकाग्र वाणी से श्रद्धा के साथ इस इतिहास को पढ़ते हैं, उन्हें परम गति प्राप्त होती है।

---

# अठारहवाँ अध्याय

## सविता आदि अन्य आदित्यों का वंश

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, अदिति के पुत्र विवस्वान्, अर्यमा, पूषा और त्वष्टा नाम के आदित्यों का वंश कहा जा चुका है। अब अन्य आठ आदित्यों का वंश सुनो। सविता की पत्नी पृश्नि थी। उसमें उनके सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशुयाग, सोमयाग, चातुर्मास और पञ्चयज्ञ, ये सन्तानें उत्पन्न हुईं। भग आदित्य की स्त्री सिद्धि के महिमान, विभु और प्रभु नाम के पुत्र और आशीः नाम की सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। धाता आदित्य के कुहू नाम की पत्नी में सायंकाल, सिनीवाली नाम की पत्नी में दर्श, राका नाम की पत्नी में प्रातःकाल और अनुमति नाम की पत्नी में पूर्णमास उत्पन्न हुआ। विधाता आदित्य के क्रिया नाम की पत्नी में पंचचिति नाम के पाँच अग्नि उत्पन्न हुए। वरुण आदित्य के चर्षणी नाम की स्त्री में भृगु ने फिर जन्म लिया। पहले कल्प में भृगु ब्रह्मा के पुत्र थे। प्रसिद्ध है कि वल्मीक से उत्पन्न महायोगी वाल्मीकि भी वरुण के ही पुत्र हैं। वरुण और मित्र नाम के आदित्य दोनों मिलकर एक ही देवता माने गये हैं। एक बार इन मित्र और वरुण का वीर्य उर्वशी अप्सरा को देखकर स्खलित हो गया। उसे उन्होंने एक घड़े में रख दिया। उसी से अगस्त्य और वसिष्ठ ऋषि उत्पन्न हुए। मित्र के रेवती नाम की स्त्री से उत्सर्ग, अरिष्ट और पिप्पल नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। राजन्, इन्द्र के पौलोमी (इन्द्राणी) के गर्भ से जयन्त, ऋषभ और मीढुष नाम के तीन पुत्र हुए। मायामय वामनरूप से प्रकट उरुक्रम भगवान के कीर्ति नाम की पत्नी में बृहत्श्लोक और उनके सौभग आदि पुत्र उत्पन्न हुए। यह हमने बारह आदित्यों अर्थात देवमाता अदिति के पुत्रों का वंश तुमको सुना दिया। कश्यप के पुत्र महात्मा वामनदेव जिस तरह कश्यप के वीर्य और अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए, इसका वर्णन आगे अष्टम स्कन्ध में किया जायगा। उनके कर्म, गुण और पराक्रम का वर्णन भी वहीं होगा। अब कश्यप की दूसरी स्त्री दिति के वंश का

वर्णन करता हूँ, जिस दैत्यकुल में भगवान के परम भक्त प्रह्लाद और बलि ने जन्म लिया। दिति के दो ही पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष थे। सब दैत्य और दानव उनकी वन्दना करते थे। हिरण्यकशिपु की स्त्री का नाम कयाधू था। वह दानवी जंभासुर की कन्या थी। उसके संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद नाम के चार पुत्र हुए। सिंहिका नाम की एक कन्या भी हुई। यह विप्रचित्ति दानव को ब्याही गई, जिससे उसके राहु नाम का पुत्र हुआ। राहु ने जब अमृत पी लिया, तब मोहिनीरूप हरि ने चक्र से उसका सिर काट डाला। संह्लाद की भार्या कृति के पंचजन उत्पन्न हुआ। ह्लाद की भार्या धमनि के वातापि और इल्वल नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। वातापि और इल्वल ने यह कुचक्र रच रक्खा था कि किसी ब्राह्मण को न्योता देकर बुलाते थे। उसके आने पर इल्वल वातापि को माया से बकरा बनाकर उसे पकाकर उसका मांस खिला देता था। पीछे भाई को पुकारता था। वातापि ब्राह्मण का पेट फाड़कर बाहर निकल आता था और दोनों मिलकर ब्राह्मण को खा जाते थे। एक बार अगस्त्य मुनि के साथ भी उन्होंने ऐसा ही किया। पर अगस्त्यजी वातापि को पचा गये और इल्वल को भस्म कर दिया। अनुह्लाद की भार्या सूर्या के गर्भ से वाष्कल और महिषासुर उत्पन्न हुए। प्रह्लाद के देवी नाम की स्त्री में विरोचन का जन्म हुआ। विरोचन के पुत्र राजा बलि हुए। (उनकी प्रशंसनीय कीर्त्ति का वर्णन आगे अष्टम स्कन्ध में किया जायगा।) बलि के अशना नाम की स्त्री से सौ पुत्र हुए, जिनमें बाणासुर बड़ा था। बाणासुर ने शिव की आराधना करके उनके प्रधान गण का पद प्राप्त कर लिया। भगवान् शंकर अब तक उसके पास उसकी पुरी की रक्षा करने के लिए रहते हैं। उन्चास मरुद्गण भी दिति के ही पुत्र हैं। इनके कोई सन्तान नहीं हुई। इन्द्र ने मरुद्गण को दैत्य से देवता बना लिया।

राजा ने पूछा—हे गुरुवर, मरुद्गण अपने जन्मजात तामसी असुरभाव को छोड़कर इन्द्र के द्वारा कैसे सतोगुणी देवता बन गये? उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया था? हे ब्रह्मन, मैं ही नहीं, ये सब ऋषिगण भी इसका कारण जानना चाहते हैं? कृपाकर इस कथा को विस्तार के साथ कहिए।

सूतजी कहते हैं—हे शौनक, सर्वज्ञ शुकदेवजी विष्णुभक्त राजा के इस थोड़े अक्षर और बहुत अर्थ से युक्त सादर प्रश्न को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। फिर वह राजा के प्रश्न की प्रशंसा करके एकाग्र चित्त से यों कहने लगे। शुकदेवजी ने कहा— इन्द्र ने विष्णु भगवान् की सहायता से जब दिति के पुत्रों को मार डाला, तब दिति के मन में अत्यन्त शोक होने के कारण बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। वह क्रोध की आग में जलती हुई यों सोचने लगी—दुष्ट इन्द्र केवल इन्द्रियसुख में आसक्त, क्रूर और कठोर हृदयवाला है। कब उस निर्दय, भ्रातृहत्या करनेवाले पापी इन्द्र का नाश कराकर सुख की नींद सोऊँगी? बड़े-बड़े राजों-महाराजों के शरीर की अन्त में तीन ही गतियाँ होती है—गाड़ने से कीड़ों का ढेर बन जाता है, पशु-पक्षियों के खा लेने पर विष्ठा हो जाता है, या जलाने पर राख का ढेर। उस शरीर के सुख के लिए प्राणियों से द्रोह या हिंसा करनेवाला व्यक्ति अपने स्वार्थ को क्या जानता है? हिंसा या द्रोह करने से उसे अवश्य ही नरक भोगना पड़ता है। इन्द्र अपने को अमर समझकर बहुत ही उच्छृङ्खल हो गया है। मैं अब ऐसा उद्योग करूँगी कि मेरे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो इन्द्र को मारकर उसके घमंड को चूर कर दे। राजन, अपने मन में यही भावना रखकर दिति सेवा, प्रेम, प्रश्रय और इन्द्रिय-दमन आदि उपायों से अपने पति कश्यप को प्रसन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करने लगी। मन के भाव को परख लेनेवाली दिति ने अनन्य भक्ति, मनोहर वचन, मंद मुसकान और हृदयहारी कटाक्ष आदि से शीघ्र ही कश्यपजी के मन को अपने वश में कर लिया। इस प्रकार विद्वान और विवेकी होकर भी कश्यपजी चतुर स्त्री के फंदे में आ गये और एक दिन उन्होंने विवश होकर दिति से कह दिया कि तुम्हारी इच्छा मैं पूरी करूँगा। स्त्री के लिए पुरुष को वश में कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रजापति ब्रह्माजी

ने पहले सब प्राणियों अर्थात् पुरुषों को अकेला देखकर उनके लिए साथी के रूप में अपने आधे शरीर से स्त्री की सृष्टि की। वह स्त्री पुरुष के विवेक को हर लेती है। हाँ, तो इस प्रकार दिति को अपनी सेवा-भक्ति करते देख परम प्रसन्न होकर कश्यपजी ने एक दिन हँसकर उनकी प्रशंसा की और यों कहा।

कश्यप ने कहा—हे सुन्दरी, जो तुम्हारी इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो। पति के प्रसन्न होने पर स्त्री की इस लोक या परलोक से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी कामना अपूर्ण या दुर्लभ नहीं रहती। पति ही स्त्रीजाति का सबसे बड़ा देवता कहा गया है। सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाले लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव को ही पत्नी पति-रूप में और सब प्राणी विभिन्न नामरूपधारी देवताओं के रूप में पूजते हैं। इसीलिए पतिव्रता स्त्रियाँ अपने कल्याण की कामना से एकमात्र पति को ही आत्मारूप ईश्वर मानकर पूजती हैं। हे देवी, तुमने ऐसे ही अनन्य भाव से भक्तिपूर्वक मेरी सेवा-पूजा की है। मैं तुमको तुम्हारी इच्छा के अनुसार वरदान दूँगा, जिसे असती स्त्री कभी नहीं पा सकती।

पति को अपनी मुट्ठी में कर लेने के बाद दिति ने कहा—ब्रह्मन्, अगर आप प्रसन्न होकर मुझे वर देना चाहते हैं, तो मैं आपसे ऐसा अमर पुत्र चाहती हूँ जो इन्द्र को मार डाले। इन्द्र ने विष्णु के हाथ से मेरे पुत्रों का वध करा डाला है, इसीसे मैं यह वर माँगती हूँ।

दिति के ये वचन सुनकर कश्यपजी बहुत घबराये और उदास होकर मन ही मन यों पछताने लगे—अहो, इस समय मैं बड़े भारी अधर्म में फँसा जा रहा हूँ। अर्थात् अगर अपने ही पुत्र इन्द्र का वध कराता हूँ तो अधर्म होता है और अगर दिति को उसकी इच्छा के अनुसार वर नहीं देता तो भी अधर्म होता है। अहो, कैसे कष्ट की बात है! इन्द्रिय-सुख में फँसकर मैं स्त्रीरूप माया के वश में हो गया। अब मैं अवश्य ही अधर्म का भागी होकर नरक में गिरूँगा; क्योंकि इस धर्मसंकट से बचने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझता। सच तो यह है कि इस स्त्री का इसमें क्या अपराध है; स्त्रीजाति का तो स्वभाव ही यह होता है। मुझे ही धिक्कार है! मैं स्वार्थ को न जाननेवाला, अजितेन्द्रिय और मूर्ख हूँ। स्त्रियों का मुख शरद् ऋतु के फूले हुए कमल-सा सुन्दर होता है, उनके वचन भी कानों में अमृत की वर्षा-सी करते हैं; पर हृदय छुरे की धार के समान तीक्ष्ण होता है। स्त्री कब क्या करना चाहती है, यह कौन जान सकता है? स्त्रियाँ स्वार्थ-साधन के लिए ही आत्मीयता दिखलाती हैं, वास्तव में वे किसी की भी नहीं होतीं, उन्हें कोई प्यारा नहीं होता। वे अपने मतलब के लिए पति, पुत्र अथवा भाई को स्वयं मार डालती या मरवा डालती हैं। जो देने का वादा कर चुका हूँ, वह तो अन्यथा हो नहीं सकता। साथ ही इन्द्र का वध भी उचित नहीं; क्योंकि वह भी मेरा पुत्र और अमर है। इसलिए मैं यह उपाय करता हूँ, अर्थात् विष्णु के पुंसवन व्रत को करने का इसे उपदेश देता हूँ। इसके नियमों का ठीक-ठीक पालन करना अत्यन्त कठिन है।

यों सोचकर भगवान् कश्यप कुछ कुपित होकर और मन ही मन अदूरदर्शिता की निन्दा करते हुए यों बोले। कश्यप ने कहा—हे भद्रे, मैं तुमको पुंसवन व्रत बतलाता हूँ। अगर तुम वर्ष भर इसका ठीक-ठीक पालन कर सकोगी तो तुम्हारे अवश्य ही इन्द्र को मारनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। किन्तु यदि विधि में कुछ भी अन्तर पड़ गया तो पुत्र तो अवश्य होगा, पर वह देवतों का बन्धु होगा।

दिति ने कहा—ब्रह्मन्, मैं अवश्य यह व्रत करूँगी। आप मुझे इसकी विधि बतलाइए। इसमें क्या-क्या मुझे करना होगा और कौन-कौन कार्य व्रत को नष्ट करनेवाले निषिद्ध हैं, यह सब विस्तार के साथ मुझे बतलाइए।

कश्यपजी ने कहा—देखो, व्रत करनेवाले को किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए। किसी को गाली या शाप न देना चाहिए। झूठ न बोलना चाहिए। नख और रोएँ न काटने चाहिए। हड्डी आदि

अमंगल और अपवित्र वस्तुओं का स्पर्श न करे। जल के भीतर घुसकर स्नान न करे। क्रोध न करे। दुर्जनों से बातचीत न करे। बिना धोये हुए वस्त्र न पहने। पहनी हुई माला को फिर न धारण करे। किसी का जूठा अन्न, भद्रकाली का प्रसाद, या चींटी आदि जिस पर चढ़ गई हों वह अन्न, मांस मे मिला हुआ अन्न, शूद्र का लाया हुआ अन्न और रजस्वला स्त्री का देखा हुआ अन्न न भोजन करे। अंजलि से जल न पिये। उच्छिष्ट अवस्था में, मुँह-हाथ धोये बिना, संध्याकाल में, बाल खोलकर, बिना शृंगार किये, बक-बक करती हुई, नंगी देह कभी घर से बाहर न निकले। बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्था में, दोनों पैर धोने के बाद उनके सूखे बिना, उत्तर या पश्चिम को सिर करके, और किसी के साथ, नग्न अवस्था में और शाम-सबेरे सन्ध्याकाल में शयन न करना चाहिए। नित्य धोये हुए वस्त्र धारण करे। पवित्र और सब मंगल-चिह्नों को धारण किये रहे। सबेरे भोजन करने के पहले लक्ष्मी-नारायण, गउओं और ब्राह्मणों की पूजा करे। सौभाग्यवती स्त्रियों की नित्य माला, चंदन, वस्त्र-आभूषण, भोजन आदि सामग्री से पूजा करे। नित्य पति की पूजा करके उसकी सेवा में उपस्थित हो और उसे पुत्र के रूप में अपनी कोख के भीतर स्थित ध्यान करे। यह वर्ष भर की अवधि के पुंसवन ( पुत्र पैदा करनेवाले ) व्रत की विधि है। इसे अगर तुम पूरी अवधि तक बिना किसी विघ्न-बाधा के निभा लोगी तो अवश्य तुम्हारे इन्द्र को मारनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा।

राजन, दिति ने बड़े उत्साह के साथ "ऐसा ही करूँगी" कहकर इस व्रत का आरंभ कर दिया। इसी बीच में उन्होंने भगवान् कश्यप से गर्भ भी धारण कर लिया। इन्द्र को अपनी मौसी अर्थात् सौतेली माता का अभिप्राय मालूम हो गया कि वह उनके वध के लिए व्रत कर रही हैं। तब चतुर इन्द्र अपना मतलब साधने के लिए माता के आश्रम में जाकर उनकी सेवा करने लगे। वह ठीक समय पर वन से फूल, फल, कन्दमूल, हवन के लिए लकड़ी, कुश, पत्ते, अंकुर, मिट्टी, जल आदि पूजा की सामग्री मौसी को ला देते थे। शिकारी व्याध जैसे मृग को मारने के लिए मृग की खाल ओढ़कर मृग की सूरत बनाकर उसके पास जाता है, वैसे ही इन्द्र भी दिति के व्रत में विघ्न डालने का अवसर ढूँढते हुए मन में कपट रखकर प्रकट में बहुत सीधे बनकर उनके पास रहने लगे। इन्द्र तत्परता के साथ व्रत को नष्ट करने का मौक़ा देख रहे थे, पर उन्हें कोई अवसर ही नहीं मिलता था। दिति बहुत सतर्क रहकर व्रत की विधि का पालन कर रही थीं। साल पूरा होने में थोड़ा ही समय बाक़ी रह गया। यह देखकर इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगे, कौन उपाय करना चाहिए, जिससे इस व्रत में विघ्न पड़े और मेरा कल्याण हो! एक दिन होनी ने दिति को असावधान कर दिया। व्रत करते-करते वह बहुत शिथिल हो गई थीं। एक दिन सन्ध्या के समय वह जूठे ही, हाथ-मुँह धोये बिना ही, सो गईं। उसी समय योगेश्वर इन्द्र को मौक़ा मिल गया। वह योगमाया के बल से दिति के गर्भ में घुस गये। दिति निद्रा मे अचेत पड़ी थीं, इसलिए उन्हें कुछ भी खबर नहीं हुई। इन्द्र ने अपने वज्र से उस तेजस्वी गर्भ के सात टुकड़े कर डाले। गर्भस्थ बालक को "मा रोदीः" (मत रो)



कहकर चुप करते हुए इन्द्र ने फिर एक-एक टुकड़े के सात-सात टुकड़े कर डाले। पर विष्णु-व्रत के माहात्म्य से वह गर्भ नष्ट नहीं हुआ, सब टुकड़े जीवित ही रहे। इस प्रकार अपने को काट रहे इन्द्र के आगे हाथ जोडकर वे उंचासों बालक बोले—हे इन्द्र, हमें क्यों मार डालना चाहते हो? हम तो तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं। इन्द्र ने कहा—अच्छा, तुम डरो नहीं। अब तुम मेरे भाई हुए। तुम मेरे पार्षद हो।

राजन, भगवान हरि की कृपा से वह गर्भ वज्र से टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी मरा नहीं, जैसे अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र तुमको नहीं मार सका। एक बार भी नारायण की पूजा करने से प्राणी मोक्ष को प्राप्त होते हैं, मृत्युभय से मुक्त हो जाते हैं; फिर दिति ने तो कुछ कम एक वर्ष तक अनन्य भक्ति से हरि की पूजा की थी। उनका गर्भ कैसे नष्ट हो सकता था! वे मरुद्गण इन्द्र के साथ पचास भाई हो गये। इन्द्र ने उनके मातृदोष अर्थात् आसुरी भाव या शत्रुता को मिटाकर उन्हें सोमपान करनेवाले देवता बना लिया।



दिति सोकर जागीं तो उन्होंने उठकर देखा, इन्द्र के साथ अग्नि के समान तेजस्वी उंचास बालक बैठे हैं। एक की जगह उंचास देखकर दिति सन्तुष्ट हुईं। फिर उन्होंने इन्द्र से कहा—बेटा, मैंने तुम अदिति के पुत्रों के लिए भयानक एक पुत्र पाने की इच्छा से यह व्रत किया था; पर ये उंचास बालक कैसे हुए? अगर इस विषय में तुम जानते हो तो सच-सच कह दो, झूठ न बोलना। दिति को निष्कपट भाव से सच कहते देखकर इन्द्र ने भी कुछ नहीं छिपाया। बोले—माताजी, आपका अभिप्राय जानकर ही मैं आपकी सेवा करने आया था। मैं अपने स्वार्थ को ही देख रहा था, धर्म का मुझे कुछ भी ध्यान न था। इसी कारण आज अवसर मिलते ही मैंने आपके गर्भ को नष्ट करने के लिए उसे काट डाला। पहले मैंने सात टुकड़े किये; पर वे सब टुकड़े जी उठे। तब मैंने एक-एक के सात-सात टुकड़े किये। फिर भी कोई नहीं मरा। यह अद्भुत काण्ड देखकर मैंने निश्चय कर लिया कि यह महापुरुष नारायण की पूजा करने का प्रत्यक्ष फल है। जो लोग निष्काम भाव से भगवान् की आराधना करते हैं, मोक्ष भी नहीं चाहते, वे ही वास्तव में बड़े चतुर है। आत्मज्ञान देनेवाले, दयालु, आत्मरूप जगदीश्वर की आराधना करके कौन समझदार मनुष्य उनसे विषय-भोग माँगने की मूर्खता करेगा? विषय-भोग तो नरक अर्थात् पशुयोनि में भी मिल जाते हैं। हे महामहिममयी माता, मैं मूर्ख हूँ। मेरी इस दुष्टता को क्षमा कीजिए। बड़े सौभाग्य की बात है कि आपका गर्भ मरकर भी मरा नहीं, फिर जी उठा। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—दिति ने इन्द्र की सचाई से प्रसन्न होकर उनका अपराध क्षमा कर दिया। इन्द्र उन्हें प्रणाम करके मरुद्गण को साथ लेकर स्वर्ग

को चले गये। महाराज, मरुद्गण के मंगलदायक जन्म की यह कथा मैंने आपको सुना दी। अब और आप क्या सुनना चाहते हैं ?

---

# उन्नीसवाँ अध्याय

## पुंसवन व्रत की विधि का विस्तृत वर्णन

राजा ने पूछा—ब्रह्मन, विष्णु भगवान् को प्रसन्न करनेवाला यह जो पुंसवन व्रत आपने बतलाया, इसकी विस्तृत विधि मैं जानना चाहता हूँ। शुकदेवजी बोले—अगहन के शुक्लपक्ष की पहली तिथि को स्त्री अपने पति से आज्ञा लेकर सब कामनाएँ पूरी करनेवाले इस व्रत का आरंभ करे। पहले यह मरुद्गण के जन्म की कथा सुने, फिर ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर दतून, स्नान आदि करके श्वेत वस्त्र और आभूषण पहनकर प्रातःकाल भोजन करने के पहले लक्ष्मी और नारायण की पूजा करे। पहले इन मन्त्रों को पढकर प्रणाम करे—"हे पूर्णकाम, स्वयं आप ही सब कामनाएँ पूरी करनेवाले सर्वशक्तिमान् हैं। आपको और किसी की अपेक्षा नहीं है। आप लक्ष्मी के स्वामी और अणिमा आदि सभी सिद्धियों के निवासस्थान हैं। आपको प्रणाम है। दया, धैर्य, तेज, महत्त्व, सामर्थ्य, सत्य संकल्प आदि सभी ईश्वरीय गुणों से युक्त होने के कारण आप भगवान् कहलाते हैं। हे प्रभो, आपको प्रणाम है। हे विष्णु की पत्नी, महाभाग्यशालिनी महामाया लक्ष्मीजी, आपमें भी महापुरुष नारायण के समान ही निरपेक्षता आदि गुण विद्यमान हैं। मुझ पर आप प्रसन्न हों। हे जगज्जननी, आपको प्रणाम है।" इसके बाद नित्यप्रति एकाग्र चित्त से "महापुरुष, महानुभाव, महाविभूति लक्ष्मी के पति भगवान् नारायण को और उनकी महाविभूतियों को प्रणाम है। मैं उनकी पूजा करती हूँ" इस मंत्र से आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन के लिए जल, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, चंदन, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा, प्रणाम आदि षोड़शोपचार पूजन करे। फिर वेदी मे अग्नि की स्थापना करके बची हुई सामग्री की बारह आहुतियाँ इस मंत्र से उस अग्नि में डाले। वह मंत्र यह है—"भगवान् महाविभूतिपति महापुरुष के लिए स्वाहा"। लक्ष्मीदेवी और विष्णु भगवान् दोनों ही सब कामनाएँ पूरी करनेवाले और इच्छित वर देनेवाले हैं। अगर सब सम्पत्तियों की कामना हो तो भक्तिपूर्वक नित्य इनकी पूजा और पृथ्वी में गिरकर दण्डवत् प्रणाम करे। फिर दस बार ऊपर लिखे गये मंत्र का जप करके इस स्तोत्र का पाठ करे। हाथ जोड़कर कहे—हे लक्ष्मी-नारायण, आप दोनों ही संसार के स्वामी हैं। भगवन्, आप परमपुरुष और यह लक्ष्मीदेवी सूक्ष्म प्रकृति और आपकी मायाशक्ति हैं। इनकी अधीनता से निकलना बहुत कठिन है। आप इनके अधीश्वर साक्षात् परमपुरुष अर्थात् परमात्मा हैं। आप सब यज्ञ और यह इज्या या भावना हैं। यह लौकिक क्रिया और आप फल का भोग करनेवाले हैं। यह देवी गुणों की अभिव्यक्ति और आप गुणों को व्यक्त करनेवाले, गुणों का उपभोग करनेवाले हैं। आप देहधारियों के आत्मा और यह देवी शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणरूपिणी हैं। यह भगवती नाम और रूप है और आप उनके प्रकाशक तथा आश्रय हैं। हे पुण्यश्लोक, आप दोनों त्रिभुवनवासियों को वर देनेवाले परमेष्ठी ( प्रजापति या परमेश्वर ) हैं, यह बात जैसे सत्य है, वैसे ही मेरी मंगल कामनाएँ सत्य और पूर्ण हों।

वरदानी लक्ष्मीपति और लक्ष्मी की यों स्तुति करके चढ़ाई हुई सामग्री को हटाकर आचमन करावे।

फिर भक्ति-गद्गद चित्त से स्तोत्र-पाठ करे। स्त्री को चाहिए कि नारायण का रूप समझकर परम भक्ति के साथ अपने पति की सेवा-पूजा करे और पति को चाहिए कि प्रेम के साथ पत्नी के सब कामों में सहायक होकर उनका अनुमोदन करे। पति और पत्नी, इन दोनों में से एक जो काम करता है उसका फल दूसरे को भी मिलता है। रजस्वला आदि अशुद्ध अवस्थाओं में जब पत्नी इस व्रत के पूजा आदि कर्मों को करने के योग्य न हो, तब पति को एकाग्र चित्त से सब करना चाहिए। विष्णु का यह व्रत बीच में खंडित न होना चाहिए। लक्ष्मीसहित नारायण, ब्राह्मण और सौभाग्यवती स्त्री आदि का पूजन नित्य नियम से करना चाहिए। माला, चंदन, वस्त्र, आभूषण आदि सामग्री इन्हें अर्पण करनी चाहिए। भगवान् नारायण का विसर्जन करके अपनी शुद्धि और सब कामनाओं की पूर्त्ति के लिए उनका प्रसाद भोजन करना चाहिए। इसी पूजा-विधि के साथ वर्ष भर ( बीच में मलमास पड़े तो उसमें भी ) सती स्त्री इस व्रत को करे। साल का अन्तिम महीना कार्त्तिक हुआ। कार्त्तिक मास समाप्त होने के दिन प्रातःकाल स्नान करके पहले की तरह नारायण की पूजन करके पाकयज्ञ की विधि से खीर बनाकर घृत के साथ पति अग्नि मे बारह आहुतियाँ दे। इस प्रकार व्रत को समाप्त करके पूजा, भोजन, दक्षिणा पाकर प्रसन्न हुए ब्राह्मणों के दिये हुए आशीर्वादों को सिर झुकाकर ग्रहण करे। फिर भक्तिपूर्वक ब्राह्मणों को प्रणाम करके उनसे आज्ञा लेकर आप भी भोजन करे। तदनन्तर आचार्य और बन्धु-बान्धवों के साथ पति अपनी पत्नी को बची हुई खीर खाने के लिए दे। उस खीर के खाने से सुन्दर पुत्र और सौभाग्य प्राप्त होने की कामना मन में करे।

राजन्, विधिपूर्वक यह व्रत करने से पुरुष को मनचाहा फल मिलता है। स्त्री को इस व्रत से सौभाग्य, लक्ष्मी, सन्तान, यश और गृहस्थी के सब सुख प्राप्त होते है; उसके पति की आयु बढ़ती है। कन्या को सब सुलक्षणों से युक्त वर मिलता है। विधवा के सब पाप दूर हो जाते हैं और उत्तम गति प्राप्त होती है। जिस स्त्री के सन्तान होकर मर जाया करती है, उसकी सन्तान जीवित रहती है। धनसम्पन्न होने पर भी जो स्त्री और बातों मे अभागिन हो जाती है, उसे सौभाग्य प्राप्त होता है। अच्छे भाग्यवाली पर कुरूप स्त्री को श्रेष्ठ रूप मिलता है। रोगिणी का रोग दूर हो जाता है। उसकी इन्द्रियाँ और शरीर शक्तिशाली बन जाते हैं। मंगलकार्यों मे या श्राद्ध आदि के अवसर पर इस प्रसंग का पाठ करने से देवगण और पितृगण को अनन्त तृप्ति मिलती है। वे प्रसन्न होकर सब मनोरथ पूरे करते हैं। हवन के अन्त में इसका पाठ करने से अग्नि देवता और नारायण प्रसन्न होते हैं। राजन, यह मंगलदायक मरुद्गण के जन्म का वृत्तान्त और दिति के व्रत की कथा मैंने तुमको सुना दी।






# सातवाँ स्कंध

## पहला अध्याय

### युधिष्ठिर और नारद का वार्तालाप

राजा ने कहा—हे मुनिवर, भगवान की दृष्टि में तो सब बराबर है। वह सब प्राणियों के प्रिय और हितैषी हैं। फिर उन्होंने भेद-बुद्धि रखनेवाले साधारण मनुष्य की तरह इन्द्र का पक्ष लेकर दैत्यों को क्यों मारा? वह तो साक्षात् परमानन्दरूप हैं। उन्हें देवतों से कोई प्रयोजन या स्वार्थ नहीं था। वह निर्गुण हैं, इसलिए उन्हें दैत्यों से कोई भय भी नहीं था। इसलिए दैत्यों से उनकी शत्रुता होना संभव नहीं। हे महाभाग, नारायण के गुणों के सम्बन्ध में मेरे इस सन्देह को आप दूर कीजिए।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज, आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। भगवान के चरित्र अद्भुत हैं। इस प्रश्न के प्रसंग में मैं भगवान के भक्त प्रह्लाद का चरित्र आपको सुनाऊँगा। हरि के भक्त प्रह्लाद का चरित्र और माहात्म्य विष्णु भगवान् की भक्ति को बढ़ाता है। वह परम पवित्र प्रह्लाद की महिमा ऐसी है कि नारद आदि ऋषि सदा उसे गाते हैं। व्यासदेव को प्रणाम करके अब मैं वही हरि की कथा कहता हूँ। भगवान प्रकृति से परे और निर्गुण हैं, इसलिए उनमें रागद्वेष आदि गुण-धर्मों का होना असम्भव है। वह जन्म नहीं लेते, और इसीलिए राग-द्वेष आदि के कारण जो शरीर, इन्द्रिय आदि हैं, उनसे रहित हैं। तथापि अपनी माया के सतोगुण आदि गुणों को ग्रहण करके देवता और दानव आदि के रूप से आप ही बाध्य और आप ही बाधक भाव को प्राप्त होते हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं। इन तीनों गुणों की घटती या बढ़ती एक साथ नहीं होती। सतोगुण की बढ़ती का समय

जब आता है, तब भगवान् देवता और ऋषियों के देह में प्रवेश करके उनकी वृद्धि करते हैं। इसी तरह रजोगुण की बढ़ती के समय असुरों की और तमोगुण की बढ़ती के समय यक्ष, राक्षस आदि की वृद्धि करते हैं। सबमें समभाव रखनेवाले हरि का यह कालादिकारणकृत विषमभाव या पक्षपात वैसा ही है, जैसे लकड़ियों में अग्नि, पात्रों में जल, या घट आदि में आकाश, एकरूप होने पर भी उपाधिभेद से नानारूप देख पड़ता है। इसी कारण भगवान् भी देवता आदि के देहों से भिन्न नहीं प्रतीत होते। ज्ञानी लोग अपने हृदय में स्थित आत्मारूप हरि को उसी तरह (स्वभाव, काल, कर्म आदि वादों का निषेध करते हुए) अन्त को पहचान लेते हैं, जैसे सूर्यकान्तमणि में दाहशक्ति देखकर अग्नि का और गंध को देखकर वायु का ज्ञान होता है। इस प्रकार माया के गुणों के कारण ईश्वर की विषमता है, स्वाभाविक नहीं। परन्तु ईश्वर में माया के गुणों के कारण साधारण मनुष्यों का-सा विषमभाव या भेदबुद्धि नहीं है। वह परमेश्वर जब जीव के भोग के लिए शरीरों की सृष्टि करना चाहते हैं, तब रजोगुण की अलग वृद्धि करते हैं; जब उन शरीरों में क्रीड़ा करने की इच्छा करते हैं, तब सतोगुण को अलग वृद्धि करते है, और जब उन शरीरों के संहार को अभिलाषा करते हैं, तब तमोगुण को अलग बढ़ाते हैं। राजन्, भगवान् के कार्य अमोघ हैं। वह जो चाहते हैं, वही होता है। प्रकृति और पुरुष इस सृष्टि के कारण हैं और काल उनका सहकारी है। यह काल भगवान् की ही इच्छा या चेष्टा है और उसकी सृष्टि ईश्वर ही करते हैं। यह काल सतोगुण को ही बढ़ानेवाला है, इसीलिए ईश्वर भी सतोगुणप्रधान देवगण की वृद्धि या सहायता और रजोगुणी-तमोगुणी तथा वेद-विरोधी असुरों और राक्षसों का संहार करते हैं। फिर हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का वध तो भगवान् ने देवगण के पक्षपात से नहीं किया; वे तो भगवान् के ही पार्षद थे और ब्रह्मशाप से छुड़ाने के लिए उन पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् ने उनका वध किया। इस सम्बन्ध में एक इतिहास हम तुमसे कहते हैं। अजातशत्रु युधिष्ठिर ने अपने राजसूय महायज्ञ में शिशुपाल की आत्मा को भगवान् कृष्ण में लीन होते देखकर, इस अत्यन्त अद्भुत घटना से विस्मित होकर, वहाँ विराजमान नारदजी से, सब मुनियों के आगे, यह प्रश्न किया था।

युधिष्ठिर ने कहा—अहो! यह तो मुनिवर, अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि हरि के परम भक्त भी परमतत्त्व वासुदेव में लीन होने की जो सायुज्य मुक्ति सहज में नहीं पाते, उसे ही चेदिराज शिशुपाल ने शत्रु होकर भी सहज में पा लिया! भगवन्, ब्राह्मणों ने भगवान की निन्दा करने वाले राजा वेन को नरक में पहुँचाया था; किन्तु दुर्बुद्धि शिशुपाल और दन्तवक्त्र जब से तुतलाकर बोलने लगे थे, तब से भगवान् की निन्दा ही करते आये, और अब तो परम शत्रुता रखते थे। उन्होंने अविनाशी परब्रह्म विष्णु (कृष्ण) को बार-बार अनेक कटुवचन कहे और गालियाँ दीं, तो भी उनकी जीभ में कोढ़ नहीं हुआ और घोर नरक में जाने के बदले उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई! इसका कारण मैं जानना चाहता हूँ कि ऐसे नीच और पापी होने पर भी वे कैसे सबके सामने सहज में ही भगवान् में लीन हो गये। वायु के झकोरों से चञ्चल दीपशिखा के समान मेरी बुद्धि इस घटना को देखकर अस्थिर हो रही है। अवश्य ही कोई इसका अत्यन्त अद्भुत कारण है। आप सर्वज्ञ हैं। कृपा करके इसका कारण बतलाइए।

शुकदेवजी ने कहा—राजन्, राजा युधिष्ठिर का यह प्रश्न सुनकर नारदजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सब सभासदों के सामने यों कहना शुरू किया। नारद ने कहा—महाराज, निन्दा-स्तुति और सत्कार तथा तिरस्कार का अनुभव करने के लिए प्रकृति और पुरुष के अविवेक से इस पञ्चतत्त्वमय शरीर की रचना हुई है। इस देह में अभिमान होने के कारण ही "मैं हूँ, मेरा है," इस तरह का भेदभाव देखा जाता है। संसार में इसी भेदभाव के कारण पीड़न, ताड़न और निन्दा, हिंसा आदि होती है। जिस देह में अभिमान है, उसी

के विनाश से प्राणियों का भी विनाश या वध होता है। किन्तु ईश्वर तो अद्वितीय और सबकी आत्मा हैं। उन्हें देहाभिमान ही नहीं है। इसलिए निंदा से उन्हें पीड़ा कैसे हो सकती है? परन्तु वह ईश्वर पापी को उसकी भलाई के लिए दण्ड अवश्य देते हैं। इसलिए अत्यन्त शत्रुता, भक्ति, भय, स्नेह, कामना आदि किसी भी भाव से भगवान् में मन लगाने से मुक्ति प्राप्त होती है। मैंने तो यह निश्चय किया है कि वैरभाव से जिस प्रकार मनुष्य ईश्वर में तन्मय हो जाता है और सहज में मुक्ति पाता है, उस प्रकार भक्तियोग से भी नहीं। कारण, वैर करनेवाला हर घड़ी भगवान को भूलता नहीं, भक्ति करनेवाला चाहे भूल भी जाय। एक कीड़ा होता है, उसको भौंरा पकड़कर अपने रहने के स्थान में क़ैद कर लेता है और वह कीड़ा द्वेष और भय के भाव से हर घड़ी भौंरे का ही ध्यान करते-करते भौंरा ही बन जाता है। इसी तरह शिशुपाल और दन्तवक्त्र मायामानवरूप साक्षात ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान से वैर कर हर घड़ी उन्हीं का ध्यान करते-करते निष्पाप होकर अगर उन्हीं में लीन हो गये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह कोई नई बात नहीं है। काम, द्वेष, भय, स्नेह या भक्ति से ईश्वर में मन लगाकर द्वेष, भय आदि नीच भावों से होनेवाले पाप से छुटकारा पाकर अनेक लोग मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। कामभाव से गोपियाँ, भय के भाव से कंस आदि, द्वेषभाव से शिशुपाल आदि राजा, सम्बन्ध से यादव, स्नेह से तुम लोग (पाण्डव) और भक्ति से हम भक्तजन हरि को प्राप्त हुए हैं। किन्तु वेन राजा ने इन पाँच उपायों में से किसी उपाय से भी हरि का ध्यान नहीं किया; वह तो केवल अहंकार से हरि की निन्दा करता रहा, उसी से उसका पाप दूर नहीं हुआ और वह नरकगामी हुआ। इसलिए हे राजन्, पूर्वोक्त किसी भी उपाय से कृष्ण में मन लगाना चाहिए। महाराज, तुम्हारी मौसी के लड़के ये शिशुपाल और दन्तवक्त्र पहले जय-विजय नामक विष्णु के पार्षद थे। ब्राह्मणों के शाप से उन्हें वैकुण्ठलोक से गिरना पड़ा।

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्, वह शाप कैसा था और किसने दिया था, जिसका प्रभाव विष्णु भगवान् के अनन्य दासों पर भी पड़ा? हरि के वैकुण्ठवासी दासों का फिर जन्म होना तो असंभव घटना है—उस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। वैकुण्ठवासियों का शरीर अमर, विशुद्ध सत्त्वमय होता है; उनका प्राकृत देह, इन्द्रिय और प्राणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। फिर उन्हें पृथ्वी पर जन्म कैसे लेना पड़ा है? कृपा कर यह कथा आप मुझसे कहिए।

नारदजी ने कहा—एक समय ब्रह्माजी के बेटे सनक आदि चारों भाई परमहंस तीनों लोकों में घूमते हुए इच्छानुसार विष्णुलोक में जा पहुँचे। वे सृष्टि में सबसे पहले उत्पन्न मरीचि आदि प्रजापति ऋषियों के भी पूर्वज होने पर भी देखने में पाँच-छः वर्ष के बालकों के समान हैं और दिगंबर रहते हैं। वैकुण्ठ में जब वे भगवान के मंदिर में प्रवेश करने लगे तो द्वारपालों ने उनको बालक समझकर भीतर जाने से रोक दिया। तब उन्हें क्रोध चढ़ आया। उन्होंने पार्षदों को इस प्रकार शाप दिया कि तुम दोनों रजोगुण और तमोगुण से रहित नारायण भगवान् के चरणों के निकट रहने के योग्य नहीं हो। तुम दोनों मूर्ख हो, इसलिए पापप्रवृत्तिवाली असुरों की योनि में जाकर जन्म लो। यहाँ से शीघ्र तुम्हारा पतन हो। राजन, जब वे पार्षद वैकुण्ठलोक से गिरने लगे, तब दयालु ऋषियों ने कहा—तुम तीन जन्मों के बाद फिर शुद्ध होकर इस लोक में आ जाओगे। वही दोनों पार्षद आकर सब दैत्यों और दानवों के राजा और दिति के पुत्र हुए। हिरण्यकशिपु बड़ा भाई था और हिरण्याक्ष छोटा। नारायण ने नृसिंह अवतार लेकर हिरण्यकशिपु को और वराह अवतार लेकर पृथ्वी का उद्धार करते समय हिरण्याक्ष को मारा। हिरण्यकशिपु ने अपने हरिभक्तपुत्र प्रह्लाद को मारने के लिए अनेक उपाय किये और उसे घोर असह्य यन्त्रणाएँ पहुँचाईं। परन्तु प्रह्लाद तो नारायण का ध्यान करने से सब प्राणियों के आत्मा-स्वरूप, शान्त और सम-

दर्शी थे और इसीलिए उनकी रक्षा हरि का तेज कर रहा था। हिरण्यकशिपु अनेक उपाय करके भी उनको मार नहीं सका। इसके बाद दूसरे जन्म में वे ही पार्षद विश्रवा मुनि के वीर्य और केशिनी नाम की राक्षस-कन्या के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस जन्म में वे रावण और कुंभकर्ण कहलाये और सब लोकों को पीड़ा पहुँचाने लगे। तब भगवान् ने राम अवतार लेकर उन्हें मारा और शाप से छुड़ाया। राजन्, तुम मार्कण्डेय ऋषि के मुख से रामचरित्र सुनोगे। तीसरे जन्म में फिर वे पार्षद अबकी तुम्हारी मौसी के पुत्र शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए थे, जो इस समय कृष्ण भगवान् के चक्र-प्रहार से निष्पाप होकर शाप से मुक्त हो गये। इन दोनों हरि के पार्षदों ने बहुत दिनों तक एकाग्रचित्त होकर उत्कट वैर-भाव से हरि का ध्यान किया, जिसका फल यह हुआ कि ये अच्युत में लीन होकर हरि के धाम को गये।

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्, हिरण्यकशिपु ने अपने महात्मा और प्रिय पुत्र से द्वेष क्यों किया और असुर-स्वभाव के विरुद्ध प्रह्लाद की ही श्रीकृष्णचन्द्र में भक्ति क्यों हुई? इसका कारण हमसे कहिए।

# दूसरा अध्याय

## हिरण्याक्ष का वध होने पर हिरण्यकशिपु का अपने भतीजों को समझाना

नारद ने कहा—हिरण्याक्ष को जब वराहरूप हरि ने मार डाला, तब हिरण्यकशिपु उत्कट शोक और क्रोध से जल उठा। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो उठीं और जैसे जलने लगीं। आकाश जैसे उसके क्रोध की आग के धुएँ से धूमिल हो उठा। वह अपने होंठ चबाते हुए आकाश की ओर देखता हुआ सोचने लगा। कराल दाढ़ों, उग्र दृष्टि और टेढ़ी भौंहों से उसका मुख ऐसा भयानक हो उठा कि उधर कोई देख न सकता था। दानव हिरण्यकशिपु दानवों की सभा के बीच शूल उठाकर यों कहने लगा—हे द्विमूर्द्धा, त्रिलोचन, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव, नमुचि, पाक, इल्वल, विप्रचित्ति, पुलोमा, शकुनि आदि दानवों और दैत्यो, पहले मेरी बात सुनो, फिर उसी के अनुसार शीघ्र काम करो; देर न हो। क्षुद्र शत्रुओं ने मेरे प्रिय और परमहितैषी सगे भाई को मरवा डाला है। हरि समदर्शी कहलाता है; पर उसने अपने स्वभाव को छोड़कर अपनी उपासना और ख़ुशामद करनेवाले देवतों का पक्ष लिया है। यद्यपि वह शुद्ध तेजोमय है, तथापि माया के द्वारा वराहरूप धारण करने से वह इस समय बालकों के समान हो गया है, उसका चित्त अव्यवस्थित



है। जो उसे भजता है, उसी को वह भजता है। पर अब वह बच नहीं सकता। मेरे हाथ से अवश्य ही उसकी शोचनीय मृत्यु होगी। मैं अपने इसी त्रिशूल से उसका गला काटकर उसके गरम-गरम रक्त से अपने रुधिर-प्रिय भाई का तर्पण करूँगा, जिससे मेरे मन की व्यथा दूर हो जायगी। पेड़ की जड़ कटने पर जैसे सब शाखा सूख जाती हैं, वैसे ही मेरे शत्रु कपटी हरि के नष्ट होने पर सब देवता भी आप ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि विष्णु ही उनका प्राण है। इधर मैं विष्णु को मारता हूँ और उधर तुम पृथ्वी पर जाओ। वहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय देवतों की पूजा करते हैं, जिससे उनकी वृद्धि होती है। इसलिए तुम पृथ्वीतल पर जाकर तप, यज्ञ, वेदपाठ, व्रत और दान आदि सात्विक कार्य करनेवाले मनुष्यों का संहार करो। विष्णु यज्ञरूप और धर्ममय है। वही देवतों का एकमात्र सहारा है। ऋषि, पितर और सब प्राणी उसी के आश्रित हैं। उस विष्णु की जड़ ब्राह्मणों की यज्ञ, वेदपाठ आदि क्रियाएँ ही हैं। उन क्रियाओं का लोप कर देने से भी विष्णु की जड़ कटेगी। जहाँ-जहाँ गऊ, ब्राह्मण आदि द्विज रहते हैं, वेदों का सम्मान और वर्णाश्रमधर्म के यज्ञ आदि कर्म किये जाते हैं, उस बस्ती में जाकर आग लगा दो, फलवाले वृक्षों को काट डालो।

हिरण्यकशिपु के आदरपात्र वे हत्यारे राक्षस, जिन्हें स्वभाव से ही हिंसा प्यारी है, अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करके उसी के अनुसार पृथ्वी पर प्रजाओं का संहार करने लगे। पुर, गाँव, व्रज, बाग़, खेत, बन, आश्रम, खान, किसानों के गाँव, पहाड़ी बस्ती, अहीरों के गाँव और राजधानी आदि स्थानों में वे आग लगाने लगे। कोई राक्षस फ़ावड़े लेकर पुल, शहरों की चहारदीवारी और गोपुर आदि को खोदने और गिराने लगे। कोई दानव कुल्हाड़ी लेकर जामुन, आम आदि फलवाले पेड़ों को काटने लगे। कोई असुर जलती हुई लकड़ियों से प्रजाओं के घर जलाने लगे। इस तरह दैत्यराज हिरण्यकशिपु के सेवकों ने जब बस्तियों को उजाड़ना शुरू किया और प्रजाओं का संहार कर डाला, तब यज्ञभाग न मिलने के कारण देवता लोग स्वर्ग को छोड़कर छिपे हुए पृथ्वी पर विचरने लगे। इधर भाई के मारे जाने से दुःखित हिरण्यकशिपु ने अपने भाई को तिलांजलि देकर और उसका प्रेतश्राद्ध करके शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूत-सन्तापन, वृक, कालनेमि, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कट आदि भतीजों को, उनकी माता रुषाभानु को और अपनी माता दिति को इस प्रकार मधुरवाणी से समझाना शुरू किया।

हिरण्यकशिपु ने कहा—हे माता, हे वधू और हे पुत्रो, मेरे वीर भाई के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। शूरवीर लोग सम्मुख-समर में शत्रु से लड़ते हुए मरने को बहुत अच्छा समझते है। हे सुव्रते, जैसे पौसाले पर अनेक मनुष्य कुछ देर के लिए आकर मिल जाते हैं, वैसे ही इस संसार में प्राणियों का सम्बन्ध होता है। उनके पूर्वकर्म कभी उन्हें लाकर मिला देते हैं और कभी अलग कर देते हैं। वास्तव में यह आत्मा कभी मरता नहीं। न इसका क्षय होता है। यह शुद्ध, सर्वगत और सर्वज्ञ है। कारण, यह देह आदि असत् पदार्थों से भिन्न है और विनाश, क्षय आदि देह के धर्म हैं। अगर कहो कि फिर इसे संसार का बन्धन क्यों होता है, तो इसके संसार या जन्म-मरण का कारण इसकी उपाधि लिंगशरीर है। यह अपनी माया अर्थात अविद्या के कारण अनेक शरीर ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि को स्वीकार करता है। जैसे जल के हिलने पर उसमें प्रतिबिम्बित वृक्ष भी हिलते हुए जान पड़ते हैं, अथवा जैसे दृष्टि के भ्रम से पृथ्वी भी घूमती-सी प्रतीत होती है, वैसे ही माया के गुणों द्वारा मन के भ्रान्त होने से यह परिपूर्ण पुरुष आत्मा भी, लिंगशरीर से भिन्न होने पर भी, देहाभिमान के कारण, जन्म-मरण और सुख-दुःख आदि से युक्त प्रतीत होता है। यह आत्मा में शरीर-बुद्धि या देहाभिमान ही आत्मविपर्यास या आत्मा का बन्धन कहलाता है। इसी आत्मविपर्यास या भ्रम के कारण प्रिय से वियोग, अप्रिय से संयोग, कर्म और जन्म-मरण की सृष्टि होती है। जन्म, मृत्यु, विविध शोक, अविवेक, चिन्ता और आत्मज्ञान की विस्मृति

का कारण यह देहाभिमान ही है। यहाँ पर मैं एक पुरातन इतिहास तुम्हारे आगे कहता हूँ, जिसमें किसी मृत व्यक्ति के बान्धवों से यमराज का सम्वाद कहा गया है। इस इतिहास से तुम्हें मालूम हो जायगा कि किसी व्यक्ति का वियोग होने पर शोक करना बिलकुल व्यर्थ है। उशीनर देश में सुयज्ञ नाम का एक प्रसिद्ध राजा था। युद्ध में उसे शत्रुओं ने मार डाला। राजा के बन्धु-बान्धव उसकी लाश को घेरकर शोक करने लगे। राजा का रत्नों से जड़ा हुआ कवच छिन्न-भिन्न हो गया था। माला और गहने इधर-उधर बिखरे पड़े थे। हृदय पैने बाणों की चोट से फटकर रक्त से भीग गया था। बाल बिखरे हुए थे। आँखें निस्तेज हो गई थीं। जीवित अवस्था में जैसे उसने क्रोध के कारण ओठ से ओठ दबाया था, वैसी ही मुद्रा बनी हुई थी। उसका मुखकमल युद्धभूमि की धूल से सना हुआ था। उसकी भुजाएँ और उनमें पकड़े हुए शस्त्र कट गये थे। विधाता के विधान से उसी उशीनर-नरेश को इस अवस्था में रणभूमि में पड़ा हुआ देखकर दुःखित रानियाँ दोनों हाथों से छाती पीटती हुई "हाय, हम मर गईं" कहती हुई पति के पैरों पर गिर पड़ीं। कुच-कुंकुम-राग-रंजित आँसुओं से प्यारे पति के पैरों को धोती हुई रानियाँ ऊँचे स्वर से रोने लगीं। उनके बाल खुले हुए थे, गहने अस्तव्यस्त हो रहे थे। वे रानियाँ करुणस्वर से सुननेवालों के हृदयों को शोकाकुल करती हुई यों विलाप करने लगीं—अहो, निर्दय विधाता ने प्रभो, तुम्हारी ऐसी दशा कर दी है, जो हमसे देखी नहीं जाती। अथवा विधाता ने तुम्हें स्वर्ग भेजकर हमारी आँखों की ओट कर दिया! पहले तुम उशीनर-देशवासियों के अन्नदाता और प्रतिपालक थे; किन्तु अब विधाता ने ऐसा कर दिया कि अब वे तुमको देखकर शोक मना रहे हैं। राजन, तुम कृतज्ञ और हमारे



परम सुहृद् थे। हम तुम्हारे बिना कैसे जीवित रह सकती हैं। इसलिए हे वीर, तुम जहाँ जा रहे हो, वहीं हमको भी अपने पीछे चलने की अनुमति दो। हम वहाँ भी तुम्हारे चरणों की सेवा करेंगी। पुत्रो, मरे हुए पति की लाश को गोद में लेकर इस तरह विलाप कर रही रानियों को दिन भर बीत गया, सूर्य-

देव अस्त हो गये ; पर उन्होंने पति की लाश को जलाने नहीं दिया। मरे हुए राजा की रानियों और बन्धु-बान्धवों के विलाप को सुनकर यमराज बालक का रूप रखकर वहाँ उपस्थित हुए और इस प्रकार उनसे कहने लगे। यमराज ने कहा—अहो, ये लोग अवस्था में मुझसे बड़े हैं ; लोगों के नित्य जन्म और मरण को देखते भी हैं ; तो भी इनको कैसा मोह हो रहा है ! यह मनुष्य जहाँ से आया वहीं गया। उसके लिए शोक करना वृथा है। इन शोक करनेवालों को भी तो एक दिन मरना ही होगा। अहो, हम ही सबसे अच्छे और धन्य है। हमें मा-बाप ने वन में छोड़ दिया है, तो भी हमें कोई चिन्ता नहीं है। हम दुर्बल हैं, तो भी भेड़िये, शेर आदि खूनी जीव हमको नहीं खा जाते ! जो गर्भ के भीतर रक्षा करता है, वही सर्वत्र सर्वदा रक्षा करेगा। हे रानियो, इस विश्व को जो अविनाशी ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार उत्पन्न करता, पालता और मारता है, उसी की यह क्रीड़ामात्र है। वही सबको जिलाने या मारने में समर्थ है। तात्पर्य यह कि जीवन-मरण ईश्वराधीन है। उसके लिए हर्ष या शोक मनाना वृथा है। ईश्वर जिसकी रक्षा करता है, वह राह में पड़ा रहने पर भी नष्ट नहीं होता, और ईश्वर जिसे नष्ट करना चाहता है, वह घर में सुरक्षित रहने पर भी नहीं बचता। अनाथ मनुष्य भी वन में चाहे पड़ा रहे, लेकिन ईश्वर की कृपादृष्टि होने पर उसका बाल बाँका नहीं होता और घर में अच्छी तरह अनेक उपायों से सुरक्षित मनुष्य भी ईश्वर के प्रतिकूल होने पर नहीं जीवित रहता। ये सब शरीर अपने कारणरूप लिंगशरीर के किये कर्मों के अधीन होकर यथासमय उत्पन्न और नष्ट होते हैं; आत्मा न उत्पन्न होता है न नष्ट। इन शरीरों में रहकर भी इनके धर्म, जन्म आदि से आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह देह से बिल्कुल भिन्न है। "मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ", इस प्रकार की भावनाओं के समय जो आत्मा को देह से भिन्न होने का बोध नहीं होता, इसका कारण यही है कि यद्यपि यह पंचभूतरचित दृश्य स्थूल-शरीर आत्मा से भिन्न है, तथापि अविद्याकृत मोह के कारण पुरुष को देहाभिमान होता है, जिससे वह शरीर को ही आत्मा मान लेता है। अत्यन्त अविवेकी लोग भौतिक घर को भी अपना मान लेते हैं। किन्तु जैसे जल के परमाणुओं से उत्पन्न बुलबुला, पृथ्वी के परमाणुओं से बना घड़ा, अथवा तेज ( सोने ) के परमाणुओं से निर्मित कुण्डल आदि समय पाकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन तीनों प्रकार के परमाणुओं से बना शरीर ही विनाश को प्राप्त होता है, आत्मा नहीं। मतलब यह कि उस शरीर के लिए शोक करना वृथा है। वायु जैसे शरीर के भीतर रहकर भी उससे अलग है, आग जैसे लकड़ी के भीतर रहकर भी उससे भिन्न है, आकाश जैसे सर्वव्यापी होकर भी निर्लिप्त है, वैसे ही यह आत्मा भी सब शरीरों और इन्द्रियों के बीच रहकर भी उनसे अलग ही है। अरे मूर्खो, जिसके लिए तुम शोक कर रहे हो, वह तुम्हारा स्वामी सुयज्ञ राजा ( उसका शरीर ) तो यह पड़ा है। तुम्हारी सुनने और अपनी कहनेवाला आत्मा न पहले ही तुमको देख पड़ता था और न अभी देख पड़ता है। सब इन्द्रियों को उनके कामों में लगानेवाला प्राण-वायु भी देखने-सुननेवाला नहीं होता। कारण, वह भी अचेतन है। इस देह में रहनेवाला और इन्द्रियों के कार्यों का साक्षी आत्मा ही सुनता और बोलता है। वह प्राण और देह, दोनों से भिन्न है। सब उत्तम और अधम शरीर पञ्चतत्त्व, इन्द्रिय और मन के द्वारा लक्षित होते हैं। आत्मा, जो इस शरीर से भिन्न और व्यापक है, उस शरीर को अहंभाव से स्वीकार करता है और फिर विवेक के द्वारा उस अहंभाव को छोड़ भी देता है। आत्मा जब तक वासनामय लिंगशरीर की उपाधि से युक्त रहता है, तब तक उसके सब कर्म बन्धन का कारण होते हैं। फलतः उसके विपर्यय अर्थात् मोह अथवा देह के धर्मों का भोग और उससे क्लेश उपस्थित होता है। यह माया का सम्बन्ध पीछे लगा ही रहता है। माया के गुणों और उनके कार्यों ( सुख-दुःख आदि ) को वास्तव ( आत्मा का धर्म ) समझना मिथ्या अभिनिवेश है। स्वप्न और मनोरथ

के समान इन्द्रिय-सम्बन्धी सब प्रपंच झूठा है। इसलिए ज्ञानी लोग नित्य ( आत्मा ) या अनित्य ( शरीर ) के लिए कभी शोक नहीं करते। स्वभाव को छोड़ना कठिन है; इसलिए, ज्ञान दृढ़ न होने के कारण, कोई-कोई दूसरों को शोक न करने का उपदेश देनेवाले भी ऐसा अवसर उपस्थित होने पर स्वयं शोक करते देखे जाते हैं। यहाँ पर इसी विषय का एक इतिहास कहते हैं। एक बहेलिया था, जिसे परमेश्वर ने पक्षियों का काल बना दिया था। वह जहाँ-जहाँ पक्षियों के अड्डे थे, वहाँ-वहाँ जाकर, दाने का लालच देकर, जाल फैलाकर पक्षियों को पकड़ा करता था। एक दिन उस शिकारी ने एक कुलिंग पक्षी के जोड़े को घूमते देखा तो वहीं जाल फैलाकर बैठ गया। उस पक्षी की स्त्री दाने के लोभ से अभाग्यवश जाल में जाकर फँस गई। स्त्री को इस प्रकार विपत्ति में पड़े देखकर पक्षी को बड़ा दुःख हुआ। वह उस स्त्री की सहायता करने में असमर्थ था, इसलिए स्नेह से विकल होकर उस अभागिनी के लिए यों विलाप करने लगा—अहो विधाता, तू कैसा निठुर है? मेरी यह स्त्री दीन होकर मुझ अभागे के लिए बारंबार करुणा प्रकट करती हुई शोक से व्याकुल हो रही है। विधाता, तू इसे लेकर क्या करेगा? यह स्त्री मेरा आधा अंग है। इसका वियोग होने पर आधा अंग मैं जीवित रहकर क्या करूँगा? मैं दीन दुःखमय जीवन नहीं रखना चाहता। विधाता, तू मुझे भी उठा ले! आह! मेरे बच्चों के अभी पंख नहीं निकले। अभी से ये बिना माता के हो गये। मैं इनका पालन कैसे करूँगा? बेचारे बच्चे अभी तक घोसले में अपनी मा के आने की राह देख रहे होंगे। वह कुलिंग पक्षी प्यारी पत्नी के वियोग में इस तरह व्याकुल होकर आँसू बहाता हुआ उसके पास विलाप कर ही रहा था कि इतने में उस पक्षियों के काल ने जैसे काल के द्वारा प्रेरित होकर, छिपकर, एक बाण ऐसा मारा कि वह पक्षी भी मर गया। उसी पक्षी की तरह तुम सब भी मूर्ख हो। अवश्य होनेवाली अपनी मौत नहीं देखतीं, दूसरे के लिए शोक करती हो। सौ वर्ष तक इस तरह शोक करने पर भी तुम सुयज्ञ को नहीं पाओगी।

हिरण्यकशिपु ने कहा—बालरूप यमराज के यों कहने पर उन सबको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने जान लिया कि संसार की सब वस्तुएँ अनित्य और मिथ्या हैं। यमराज यह उपाख्यान कहकर वहाँ से चल दिये। इसके बाद सुयज्ञ की रानियाँ और बन्धुओं ने शोक छोड़कर राजा की लाश को जलाया और सब प्रेतकृत्य किये। इसलिए तुम सबको भी अपने लिए या पराये के लिए शोक न करना चाहिए। इस जगत् में अपना या पराया, शत्रु या मित्र कोई नहीं है। अपने-पराये की भावना का कारण अज्ञान ही है।

नारद ने कहा—हिरण्यकशिपु के इस उपदेश को सुनकर अपनी बहू ( हिरण्याक्ष की स्त्री ) सहित दिति ने उसी समय पुत्रशोक को छोड़कर आत्मज्ञान में मन लगाया।

---

# तीसरा अध्याय

## हिरण्यकशिपु की तपस्या

नारदजी ने कहा—राजन, हिरण्यकशिपु ने यह विचार किया कि मैं अपने को अजर, अमर, अजेय और एकछत्र निष्कण्टक राज्य का अधिकारी बनाऊँगा। इस विचार से वह मन्दराचल के ऊपर ऊर्ध्वबाहु होकर, आकाश की ओर दृष्टि किये, केवल पैर के अँगूठे के सहारे खड़े होकर अत्यन्त कठिन तपस्या करने लगा। प्रलयकाल के सूर्य की किरणों के समान उसकी चमकीली जटाएँ बिखरी हुई थीं। हिरण्यकशिपु

के इस प्रकार घोर तप करने पर देवगण भूतल से फिर अपने लोक को चले गये। उस दैत्य के सिर से धुएँ सहित तपोमय अग्नि निकलकर चारों ओर फैल गया। उस अग्नि से आसपास के और ऊपर-नीचे के सब लोक तपने लगे। उस दानव की तीव्र तपस्या के प्रभाव से नद, नदी और सागर क्षोभ को प्राप्त हुए, द्वीपों और पर्वतों सहित पृथ्वी विचलित हो उठी; ग्रह और तारागण आकाश से टूट-टूटकर नीचे गिरने लगे और दिशाओं में आग लगने की-सी लाली छा गई। उस दानव के तप की आग से तप रहे देवता स्वर्ग को छोड़कर ब्रह्मलोक में गये और ब्रह्माजी से जाकर कहने लगे—हे देवदेव, हे जगत् के स्वामी, दैत्यराज हिरण्यकशिपु के तप की आग से हम जले जाते हैं और स्वर्गलोक में नहीं रह सकते। अगर आप उचित समझें तो इसकी शान्ति का उपाय कीजिए। अपनी पूजा करनेवाली सब प्रजा को नष्ट होने से पहले ही बचा लीजिए। आपको सब मालूम ही है, तथापि हम आपकी सेवा में यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि यह दुष्ट किस इरादे से यह घोर तप कर रहा है। उसका विचार यह है कि जैसे परमेष्ठी ब्रह्माजी चराचर जगत् को उत्पन्न करके तप और योग की निष्ठा के द्वारा अपने सर्वश्रेष्ठ सत्यलोक में स्थित हैं, वैसे ही घोर तप करके मैं भी उसी श्रेष्ठ पद को प्राप्त करूँगा; क्योंकि काल और आत्मा दोनों नित्य हैं, एक जन्म में न होगा तो अनेक जन्मों में वह पद प्राप्त करके ही मैं छोड़ूँगा। अगर ऐसा न हो सका तो मैं अपने तप के प्रभाव से इस जगत् के पुण्य-पाप आदि नियमों को उलट-पलट दूँगा। कल्प के अन्त में नष्ट हो जानेवाले ध्रुवलोक आदि को मैं नहीं लेना चाहता। हमने यही सुना है कि वह दुष्ट आपके लोक और पद को लेने के दृढ़ विचार से ही यह घोर तपस्या कर रहा है। अतएव आप जो उचित समझिए सो शीघ्र कर डालिए। हे त्रिभुवन के स्वामी ब्रह्माजी, आपका स्थान उस दैत्य के हाथ में आ जाने से साधुजनों का बड़ा अनिष्ट होगा; क्योंकि आपका यह पद गउओं और ब्राह्मणों के उद्भव, सुख, ऐश्वर्य, क्षेम और उत्कर्ष का कारण है।

राजन्, देवतों की यह प्रार्थना सुनकर भगवान् स्वयंभू ब्रह्माजी भृगु, दक्ष आदि प्रजापतियों को साथ लेकर हिरण्यकशिपु के आश्रम में गये। ब्रह्माजी ने वहाँ पहुँचकर पहले हिरण्यकशिपु को नहीं देख पाया। कारण, उसके शरीर पर बहुत-सी मिट्टी चढ़ गई थी और उसमें घास, बाँस उग आये थे, जीवों के बिल बन गये थे। असंख्य चींटियाँ उसके शरीर की खाल, मांस और रुधिर को खा-पी रही थीं। इसके बाद विशेष रूप से ध्यान देने पर ब्रह्माजी ने तप के प्रभाव से तीनों लोकों को तपानेवाले उस दैत्य को, बादलों में छिपे हुए सूर्य के समान, देख पाया। तब विस्मित होकर हँसकर उन्होंने कहा—हे कश्यप के पुत्र, उठो, उठो। तुम्हारी तपस्या सफल हुई। वरदान देनेवाला मैं उपस्थित हूँ। मनचाहा फल मुझसे माँग लो। मैं तुम्हारे अति अद्भुत धैर्य को देखकर बहुत



प्रसन्न हूँ। डाँसों और चींटियों ने तुम्हारे शरीर को खा डाला है, प्राण हड्डियों में ठहरे हुए हैं। पुत्र, पहले ऋषियों ने न ऐसा तप किया है और न अब आगे कोई ऐसी कठिन तपस्या कर सकेगा। पानी भी न पीकर दिव्य सौ वर्ष तक कौन और जीवित रह सकता है? हे दैत्यराज, मनस्वी लोगों के लिए भी अति कठिन तुम्हारी इस दृढ़ निष्ठा और तपस्या से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने मुझे अपने वश में कर लिया। हे हिरण्य-कशिपु, मैं तुम्हारी हर एक इच्छा पूरी करने के लिए तैयार हूँ। तुम सरीखे मृत्यु के खिलौने प्राणियों को मुझ अमर का दर्शन अगर मिल जाय तो वह निष्फल नहीं होता।

नारदजी कहते हैं—यों कहकर ब्रह्माजी ने, चींटियाँ जिसके अंगों का मांस खा गई थीं, उस हिरण्य-कशिपु के शरीर पर अपने अमोघ प्रभाववाले कमंडलु का दिव्य जल छिड़क दिया। जल के छींटे पड़ते ही वह दैत्यराज सब अंगों से सम्पन्न, वज्र-जैसे दृढ़ अंगोंवाला, सामर्थ्य, बल और तेज से परिपूर्ण जवान होकर उस घास, बाँस, बाँबी आदि के ढेर से वैसे ही निकलकर उठ खड़ा हुआ, जैसे लकड़ी से आग प्रकट होती है। तपे हुए सोने के समान उसका शरीर तेज से चमकने लगा। दैत्य ने उठकर ब्रह्माजी को आकाश में विराजमान देखा। उसने पृथ्वी पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया। परम आनन्द से विह्वल हिरण्यकशिपु हाथ जोड़कर विनीत भाव से ब्रह्माजी की ओर एकटक देखता रहा। उसकी आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे, शरीर में रोमांच हो आया। वह गद्गद वाणी से इस प्रकार ब्रह्माजी की स्तुति करने लगा।

हिरण्यकशिपु ने कहा—जो स्वयं ज्योतिःस्वरूप हैं, जिन्होंने कल्प के अन्त में काल के द्वारा उत्पन्न हुए प्रकृति के तमोगुणरूप घने अंधकार से ढके हुए इस जगत् को अपने प्रभाव से प्रकट किया, जो त्रिगुणात्मक होकर इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन्हीं रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण के आश्रयस्वरूप, महान् परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। वह आदिपुरुष इस जगत् का बीज अर्थात् कारण है। ज्ञान और विज्ञान ( विषयाकार ज्ञान ) उनकी मूर्त्ति है। प्राण, इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रकृति के विकार या कार्य उन्हीं के रूप हैं। उन्हें प्रणाम है। भगवन्, आप ही मुख्य प्राण के रूप से इस संपूर्ण चराचरजगत् के नियन्ता या संचालक हैं। इसलिए आप ही प्रजाओं के पालक हैं; आप ही प्रजाओं के चित्त, चेतना, मन और इन्द्रियों के स्वामी हैं। इसलिए आप ही महान् हैं। आप ही आकाश आदि पाँचों तत्त्वों, उनके शब्द आदि विषयों और उनकी सब वासनाओं के ईश्वर हैं। [ अब यह प्रकट करते हैं कि आप ही यज्ञ के प्रवर्त्तक और अन्तर्यामी हैं और इस प्रकार जगत् का पालन करनेवाले हैं। ] भगवन्, आप ही अपने वेदत्रयीरूप शरीर और चातुर्होत्र विद्या ( कर्मकाण्ड ) के द्वारा अग्निष्टोम आदि यज्ञों का विस्तार करते हैं। आप ही सब प्राणियों के आत्मा और अन्तर्यामी हैं। कारण, आप सर्वज्ञ, अखण्ड, अनादि और अनन्त हैं। देश अथवा काल आपकी सीमा नहीं बाँध सकते। आप ही कालस्वरूप से सदा सजग रहकर त्रुटि, लव, पहर, दिन आदि अपने अंगों के द्वारा प्राणियों की आयु को कम करते हैं। आप प्रकृति की ओट में छिपे हुए ज्ञानरूप आत्मा हैं। आप परमेश्वर, जन्म से रहित, महान् अर्थात् अखण्ड हैं। आप ही जीवों का जीवन और उनके संचालक हैं। इस चराचर विश्व में जो कुछ कारण अथवा कार्यरूप देख पड़ता है, सब आप ही हैं; आपसे भिन्न कुछ नहीं है। वेद, उपवेद आदि विद्याएँ और वेदांग आदि कलाएँ ( जो आपके स्वरूप का बोध कराती हैं ) आप ही का शरीर हैं; क्योंकि आप ही ब्रह्म हैं। आप हिरण्यगर्भ हैं, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड आपके गर्भ में रहता है। आप त्रिगुणात्मक प्रधान तत्त्व प्रकृति से परे स्थित हैं, जैसा कि श्रुति में कहा है—"अक्षरात्परतः परः", अर्थात् माया से परे परब्रह्म है। प्रभो, यह सच है कि यह ब्रह्माण्ड ( अथवा स्थूल शरीर ) आपका शरीर है, जिसके द्वारा आप इन्द्रिय,

प्राण और मन के विषयों का भोग करते हैं, परन्तु यह भी ठीक है कि आप सदा अपने परमेश्वररूप आत्मज्ञान में स्थित रहकर ही ऐसा करते हैं। इसलिए आप निरुपाधि ब्रह्म और पुराणपुरुष हैं। हे अनन्त, आप अव्यक्तरूप से इस सारे संसार में व्याप्त हैं। आपका ऐश्वर्य अचिन्त्य है। कारण, आप भगवान अर्थात विद्या और माया, दोनों से मुक्त हैं। आपको प्रणाम है। हे वरदानियों में श्रेष्ठ, आप यदि मेरी इच्छा के अनुसार वरदान देने को तैयार हैं, तो यह वर दीजिए कि आपकी सृष्टि में जितने प्राणी है, कोई मुझे मार न सके। भीतर-बाहर, दिन को या रात को, शस्त्रों से, आपके पैदा किये जीवों से भिन्न अन्य किसी व्यक्ति के हाथ से, पृथ्वी पर या आकाश में, मृग से या मनुष्य से, मृत से या जीवित से मेरी मृत्यु न हो। देवता, दैत्य, नाग आदि कोई मुझे मार न सके। जैसे आप सब शरीरधारियों और लोकपालों के स्वामी हैं, जैसे आप महामहिमावान हैं, जैसे युद्ध में आपका कोई सामना करनेवाला नहीं है, वैसा ही मुझे भी बना दीजिए। तप और योग के प्रभाव से सम्पन्न व्यक्तियों को सुलभ और कभी नष्ट न होनेवाली अणिमा आदि सिद्धियाँ भी मुझे दीजिए।

# चौथा अध्याय

## हिरण्यकशिपु का अत्याचार

नारदजी कहते हैं—भगवान् ब्रह्मा उस दैत्य के तप से बहुत प्रसन्न हो गये थे, इसलिए उन्होंने दैत्य के माँगे हुए दुर्लभ वरदान को, उसकी प्रार्थना के अनुसार, बिना सोचे-समझे ही दे डाला।

ब्रह्माजी ने कहा—बेटा, तुमने जो वरदान मुझसे माँगे, वे मरणशील शरीरधारियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं, तो भी मैं तुमको यही वर देता हूँ।

अमोघ अनुग्रहवाले ब्रह्माजी इतना कहकर और असुर की की हुई पूजा स्वीकार करके प्रजापतियों की की हुई अपनी स्तुति सुनते हुए उनके साथ अपने लोक को गये। सुवर्ण के समान कान्ति से युक्त शरीर से सुशोभित हिरण्यकशिपु ऐसे दुर्लभ वर पाकर घर आया और अपने भाई की मृत्यु को स्मरण करता हुआ भगवान् विष्णु से द्वेष करने लगा। उस दैत्यराज ने दिग्विजय करके तीनों लोकों के निवासी देवता, दैत्य, राजा, गंधर्व, गरुड़, नाग, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितर, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूतपति और अन्य सब श्रेष्ठ प्राणियों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उस विश्वविजयी दैत्य ने सब लोकपालों के लोकों को छीन लिया और उन्हें निस्तेज कर दिया। फिर वह दैत्यराज नन्दनवन की शोभा से युक्त स्वर्ग में जाकर साक्षात विश्वकर्मा के बनाये हुए, त्रिभुवन के वैभव से सम्पन्न और सब समृद्धियों से परिपूर्ण इन्द्र के भवन में रहने लगा। उसमें विद्रुम मणि की सीढ़ियाँ, मरकत मणि का फ़र्श, बिल्लौर की दीवारें और वैडूर्य मणि के खंभे हैं। चित्र-विचित्र और रंगबिरंगे चँदोवे तने है। इधर-उधर पद्मराग मणि के आसन शोभायमान हैं। पलंग दूध के फेने के समान उज्ज्वल बिछौनों और मोतियों की झालरों से सजे हुए हैं। सुन्दर दाँतोंवाली सुन्दरी स्त्रियाँ नूपुर बजाती हुई इधर-उधर चलकर मंदिर की आईने के समान स्वच्छ रत्नस्थलियों में अपने सुन्दर मुख को देखती हैं। महामनस्वी, महाबली और अति कठोर शासन करनेवाला वह असुर त्रिभुवन को जीतकर त्रिलोकीनाथ होकर उस महेन्द्र के भवन में सुखपूर्वक विहार करने लगा। देवता आदि सब उसके प्रताप से हार मानकर उसके चरणों में सिर रखने लगे। राजन्,

वह दैत्य बहुत ही उग्र गंधवाली तीव्र मदिरा पीकर सदा मतवाला बना रहता था। उसकी आँखें लाल-लाल और भयानक देख पड़ती थीं। वह तप और योगबल से मिले हुए वरदान के तेज से अजेय हो रहा था। केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव को छोड़कर और सब लोकपाल देवता हाथों में भेंट लिये हुए उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। हे पाण्डव, अपने पराक्रम से जब हिरण्यकशिपु इन्द्र के आसन पर विराजमान हुआ तो विश्वावसु, तुंबुरु और मैं तथा सब महर्षि, गन्धर्व, विद्याधर आदि उसकी स्तुति करने लगे; रंभा आदि अप्सराएँ उसके मनबहलाव के लिए उसके दरबार में नाचने लगीं। ब्राह्मण आदि चारों वर्ण और गृहस्थ आदि चारों आश्रम यज्ञों में अधिकाधिक दक्षिणाएँ देकर उसी की पूजा करते थे और इन्द्र आदि लोकपालों यज्ञभाग को वही दैत्य ग्रहण करता था। उसके डर से सातों द्वीप की पृथ्वी बिना जोते-बोये ही कामधेनु के समान सब प्रकार के अन्न उत्पन्न करती थी। आकाशमण्डल अनेक आश्चर्यजनक पदार्थ देता था। खारी, ऊँख के रस का, मदिरा का, घी का, दूध का, मीठे पानी का और मट्ठे का, ये सातों सागर और उनकी स्त्री नदियाँ अपनी लहरों से ढेर के ढेर रत्न लाकर उसकी सेवा मे उपस्थित करते थे। कन्दराओं सहित सब पर्वत उसकी क्रीड़ा का स्थान थे। सब वृक्ष फ़सल न होने पर भी सब प्रकार के फल-फूल देते थे। उस दैत्य ने अकेले ही इन्द्र आदि लोकपालों के वर्षा करने आदि गुणों को धारण किया। वह दिग्विजयी दैत्यराज जितेन्द्रिय न होने के कारण इस प्रकार सब विषयों का भोग करने पर भी तृप्त न हुआ। इस तरह ऐश्वर्य के मद मे मतवाला और अहंकार से भरा हुआ वह दैत्य जब शास्त्र की मर्यादा को तोड़ने लगा, तब बहुत समय ( ७१ युग ) बीत जाने पर ब्राह्मणों ने उसे शाप दिया। उसके उग्र दण्ड ( शासन ) से घबराकर सब लोकों और लोकपालों ने जब अपनी रक्षा करनेवाला और कोई न देख पाया, तब वे भगवान् विष्णु की शरण में जाकर कहने लगे—हम उस दिशा को प्रणाम करते हैं, जिसमें आत्मारूप ईश्वर हरि निवास करते है और निर्मल, शान्त, संन्यासी लोग जिसे पाकर फिर इस संसार में जन्म नहीं लेते।

इस प्रकार वे निष्पाप विशुद्धचित्त लोकपाल एकाग्र मन से आत्मसंयमपूर्वक आहार-निद्रा छोड़कर भगवान विष्णु की आराधना करने लगे। एक दिन उन लोकपालों को आकाशवाणी सुनाई दी, जो आकाशमण्डल को गुँजाती हुई, मेघगर्जन के समान गंभीर और साधुजनों को अभय देनेवाली थी। वह आकाशवाणी इस प्रकार थी—"हे श्रेष्ठ देवगण, डरो नही। तुम्हारा कल्याण होगा। कारण, मेरे दर्शन अर्थात् प्रसन्न होने से सब प्रकार कल्याण ही होता है। उस दुष्ट दैत्य का अत्याचार मुझसे छिपा नहीं है। मै उसे मिटाने का प्रयत्न करूँगा; समय आने दो। अभी उसके विनाश का समय नहीं आया। जब वह देवता, ब्राह्मण, गऊ, वेद, साधुजन, धर्म और मुझसे द्वेष करेगा, तब शीघ्र ही उसका नाश होगा। यद्यपि ब्रह्मा के वरदान से वह दैत्य अपने को अमर समझ रहा है, और है भी ऐसी ही, तथापि जब वह किसी से वैर न करनेवाले, मेरे भक्त, परम शान्त और महात्मा अपने पुत्र प्रह्लाद को मारने का उद्योग करेगा, तब मैं अवश्य ही उसका वध करूँगा। मै और सब अत्याचार सह सकता हूँ, अपने द्वेषी की भी उपेक्षा कर सकता हूँ, पर भक्त से द्रोह करनेवाले को कभी क्षमा नहीं कर सकता।"

नारदजी कहते हैं—महाराज, जगद्गुरु भगवान् विष्णु की यह वाणी सुनकर स्वर्गवासी देवताओं की घबराहट दूर हुई। उन्होंने समझ लिया कि अब वह असुर जीवित नहीं रह सकता। देवता लोग भगवान् को प्रणाम करके अपने स्थान को लौट गये। पहले कह चुके हैं कि हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लादजी सबसे छोटे होने पर भी गुणों में सबसे बड़े थे। वह अपने से बड़ों की सेवा करते थे, जितेन्द्रिय और सुशील थे। ब्राह्मणों के भक्त प्रह्लाद की प्रतिज्ञा सत्य ही होती थी। वह सब प्राणियों को आत्मा के समान प्यारे और परम हितैषी मित्र थे। वह बड़ों के चरणों में दास की तरह झुके रहते थे, पिता के समान दीनों

पर दया रखते थे। बराबरी के लोगों पर भाई की तरह स्नेह रखते थे। गुरुजन को साक्षात् ईश्वर की दृष्टि से देखते थे। विद्या, धन, कुल, रूप आदि सभी विशेषताएँ उनमें थीं। अभिमान और दंभ उन्हें छू नहीं गया था। कोई विपत्ति आ पड़ने पर वह कभी घबराते नहीं थे। वह देखे-सुने सभी पदार्थों को मिथ्या समझते थे; इसीलिए निस्पृह थे। शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और बुद्धि को सदा वश में रखते थे। उन्हें किसी वस्तु की चाह नहीं थी। असुरकुल में जन्म लेने पर भी ईर्ष्या-द्वेष आदि आसुरी भाव उनमें नहीं थे। बड़े-बड़े विद्वान् और कवि लोग उनके श्रेष्ठ गुणों का बखान करते हैं। वे गुण जैसे ईश्वर से कभी अलग नहीं होते, वैसे ही प्रह्लाद में भी अब तक बने हुए हैं। देवता लोग, उनके शत्रु होने पर भी, अपनी सभाओं में साधुजनों की चर्चा चलने पर आदर के साथ प्रह्लादजी का नाम लेते हैं। आप सरीखे विष्णुभक्तों का तो कहना ही क्या! प्रह्लादजी के अन्य असंख्य गुणों की गिनती कौन करे, सबसे बड़ा गुण तो उनमें यह था कि वह स्वभाव से ही भगवान् के भक्त थे। वह बचपन में ही खेल छोड़कर भगवान के ध्यान में ऐसा डूब जाते थे कि उन्हें तन-मन की सुध नहीं रहती थी। उस समय वह बाहर से देखने में जड़-से प्रतीत होते थे। प्रह्लादजी चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते और बातचीत करते समय हर घड़ी भगवान के ध्यान में ऐसे लीन रहते थे कि उन्हें और खाने-पीने आदि किसी काम की सुध ही न रहती थी। उनका हृदय जब हरि के ध्यान से आंदोलित हो उठता था, तब वह कभी रोते थे, कभी हँसते थे और कभी ऊँचे स्वर से गाने लगते थे। कभी उत्सुकता के साथ ऊँचे स्वर से हरि को पुकारने लगते थे, कभी लोक-लज्जा छोड़कर नाचने लगते थे। कभी भगवान् की भावना से तन्मय होकर हरि की लीलाओं का—चरित्रों का—अनुकरण करने लगते थे। उस घड़ी उनके रोएँ खड़े हो जाते थे। वह हरि-मिलन के आनंदसागर ध्यान में मग्न, चुप और निश्चेष्ट हो जाते थे। उस समय उनके नेत्रों में आनंद के आँसू भर आते थे। महात्मा प्रह्लाद भगवान् के भक्त अकिञ्चन साधुजनों के संग और पुण्यश्लोक नारायण के चरण-कमलों की सेवा करके स्वयं परमानन्द को प्राप्त होते थे। उन्हें देखकर कुसंग में पड़े हुए और दुर्गति को प्राप्त दुःखी लोगों के मन को भी शान्ति मिलती थी। ऐसे महात्मा महाभाग महाभक्त पुत्र से भी पापात्मा हिरण्यकशिपु द्रोह करने लगा।

युधिष्ठिर ने कहा—नारदजी, हिरण्यकशिपु ने पिता होकर भी अपने शुद्धहृदय साधु पुत्र से क्यों द्रोह किया, यह विषय मैं विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। पिता को तो पुत्र के प्रति स्नेह होना चाहिए। पुत्रवत्सल पिता तो अपने प्रतिकूल पुत्रों को भी शिक्षा के लिए उन्हें डाँटते-फटकारते अवश्य हैं, लेकिन शत्रुता करके उनके अनिष्ट की चेष्टा कभी नहीं करते। तब ऐसे अनुकूल, साधु और बड़ों को देवता के समान समझनेवाले पुत्र को मार डालने के लिए चेष्टा करना तो बड़ी विलक्षण बात है। ब्रह्मन, पुत्र को मार डालने की इच्छा से पिता का इस तरह पुत्र से द्रोह करना और कभी नहीं सुना। इसीलिए इसका कारण जानने के लिए हमारे मन में बड़ा कौतूहल है। हे प्रभो, कृपा करके हमारा विस्मय दूर कीजिए।

---

# पाँचवाँ अध्याय

## प्रह्लाद की हत्या के लिए हिरण्यकशिपु का उद्योग

नारदजी ने कहा—राजन्, असुरों ने शुक्राचार्य को अपना पुरोहित जब बनाया तो शुक्राचार्य के पुत्र शंड और अमर्क दैत्यराज हिरण्यकशिपु के घर के पास रहने लगे। दैत्यराज ने नीति-निपुण अपने पुत्र प्रह्लाद को उनके पास पढ़ने के लिए भेज दिया। शंडामर्क उनको भी अन्य असुर-बालकों के साथ पढ़ाने

लगे। गुरु जो बताते थे, उसे प्रह्लाद सुन लेते थे और वैसा ही पढ़कर उनको सुना भी देते थे। लेकिन "यह अपना है, यह पराया है" इस मिथ्या भेदभावना से भरी हुई वह शिक्षा प्रह्लाद को अच्छी नहीं लगती थी। हे पांडव, एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को गोद में बिठाकर इस तरह पूछा—बेटा, तुमने अब तक जो शिक्षा पाई है, उसका सारांश क्या समझा है? तुम जो अच्छा समझते वह मुझसे कहो।



प्रह्लाद ने कहा—हे असुरों मे श्रेष्ठ पिताजी, लोगों की बुद्धि "मै हूँ, मेरा है" इस मिथ्या अहंकार से सदा डावाँडोल रहती है। इसीसे वे गृहस्थी के अंधकूप में पड़े रहते हैं और उनका अधःपतन होता है। मेरी समझ में तो यही सबसे अच्छा है कि घर को छोड़कर वन को चला जाय और वहाँ मन लगाकर हरि का भजन करे। यही मनुष्य के उद्धार का उपाय है।

नारदजी कहते हैं—पुत्र के मुख से अपने शत्रु विष्णु की प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु हँसने लगा। उसने कहा—दूसरों के बहकाने से बालकों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इतना कहकर उसने अपने अनुचरों से कहा—इस बालक को फिर गुरु के घर ले जाओ और उनसे कहो कि इसकी अच्छी तरह देखभाल रक्खें। विष्णु के भक्त ब्राह्मण और देवता आदि वेष बदलकर छिपकर इससे मिलने और इसे बहकाने न पावें।

दैत्यराज के अनुचर प्रह्लाद को फिर गुरु के घर ले गये। शंडामर्क ने प्रह्लाद को अपने पास बिठाकर पहले उनकी प्रशंसा की, फिर सान्त्वनापूर्ण कोमल वचन कहकर इस प्रकार उनसे पूछने लगे—बेटा प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो। देखो, हम जो पूछें, उसका सच-सच उत्तर देना; झूठ न कहना। यह उलटा पाठ तुमको किसने पढ़ाया है? और बालकों की बुद्धि तो ऐसी नहीं है; फिर तुम्हारी ऐसी बुद्धि कैसे हुई? किसी ने तुमको बहकाया है, या आप ही से तुमने ऐसा समझा है? हम तुम्हारे गुरु हैं, इसलिए तुमसे यह जानना चाहते हैं। ठीक-ठीक बताओ।

प्रह्लाद ने कहा—देखिए, "मैं हूँ, मेरा है, पराया है", यह असत् ज्ञान लोगों को माया के कारण होता है। जिनकी बुद्धि को माया ने मोहित कर रक्खा है, वही ऐसी मिथ्या भावना में डूबे रहते हैं। यह माया उन्हीं भगवान की शक्ति है। मैं उन माया के ईश्वर हरि को प्रणाम करता हूँ। वही भगवान परमात्मा जब जीव पर अनुकूल होते हैं, कृपा करते हैं, तब उसकी यह पशु-बुद्धि अर्थात् भेद-भावना मिट जाती है। उसकी दृष्टि आत्मनिष्ठ हो जाती है*। यह भेद-बुद्धि, अर्थात् "यह और है और मैं और हूँ" यह भावना

---

* यही बात भगवान् ने गीता में कही है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

जो सर्वथा मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इस माया के पार हो जाते हैं।

मिथ्या है, अविवेक है। अविवेकी जन उस एक परमात्मा को ही अपने-पराये भेद से दो देखते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आत्मरूप ब्रह्म की जिज्ञासा में ब्रह्मा आदि देवता भी मोह को प्राप्त होते हैं; क्योंकि उस ब्रह्म को जानना, उसका निरूपण करना बहुत ही दुर्घट है। वही ईश्वर मेरी बुद्धि को औरों से भिन्न कर रहे हैं। गुरुवर, लोहा जैसे चुंबक की ओर आप से खिंच जाता है, वैसे ही मेरा चित्त आप से आप चक्रपाणि नारायण की ओर खिंचा जा रहा है। मुझे किसी ने बहकाया नहीं।

शंडामर्क से यह कहकर महामति प्रह्लाद चुप हो गये। प्रह्लाद की बातें सुनकर राजा के सेवक होने के कारण पराधीन शंडामर्क कुपित होकर प्रह्लाद को डाँटते हुए कहने लगे—अरे कोई बेंत तो उठा लाओ! यह बालक हमारी बदनामी करानेवाला है। यह इस तरह न मानेगा। यह दुर्बुद्धि कुलांगार शास्त्र के अनुसार दण्ड देने के ही योग्य है। चंदन-वन के समान दैत्यों के कुल में यह काँटे का पेड़ (बबूल) पैदा हुआ है। विष्णु इस चंदन-वन की जड़ काटने-वाली कुल्हाड़ी हैं और यह उनको उस काम में सहायता देनेवाला कुल्हाड़ी का बेंट बना है।



इस तरह प्रह्लाद को डाँट-कर और भय दिखाकर दोनों आचार्य्य फिर उनको धर्म-अर्थ-काम का प्रतिपादन करनेवाले प्रवृत्ति-मार्ग के शास्त्र और नीति आदि पढ़ाने लगे। इसके बाद जब उन्होंने जाना कि प्रह्लादजी राजकुमारों को जो कुछ जानना चाहिए, वह साम-दाम-भेद-दण्ड आदि की शिक्षा पा चुके, तब वे उनको राजभवन में ले गये। वहाँ प्रह्लाद की माता ने उबटन लगाकर, नहलाकर उनको वस्त्र और आभूषण पहनाये। आचार्य उन्हें लेकर राजसभा में राजा के पास गये। प्रह्लाद ने पिता के पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया। हिरण्यकशिपु ने उनको उठाकर आशीर्वाद दिया। उनको बहुत देर तक हृदय से लगाये रहकर दैत्यराज बहुत प्रसन्न हुआ। फिर गोद में बिठाकर, माथा सूँघकर, आनंद के आँसुओं से प्रह्लाद का मस्तक भिगोते हुए, प्रफुल्ल मुख से वह यों कहने लगा।

हिरण्यकशिपु बोला—बेटा प्रह्लाद, इतने दिन तक तुमने गुरु के यहाँ शिक्षा पाई है। तुमने गुरु से कौन उत्तम बात सीखी है? तुम्हारी समझ में उत्तम शिक्षा क्या है? मुझसे कहो।

प्रह्लाद ने कहा—पिताजी, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरण-सेवा, पूजन, वंदना, दास का भाव, सखा का भाव और आत्मसमर्पण, ये भगवान् की भक्ति के नव प्रकार है। निष्काम होकर यह भगवान् विष्णु की नवधा भक्ति करना और उसे कृष्णार्पण कर देना ही सबसे श्रेष्ठ शिक्षा है। मेरी समझ में यही सर्वोत्तम पाठ है।

पुत्र के ये वचन सुनते ही क्रोध के आवेश में हिरण्यकशिपु के होंठ फड़कने लगे। वह गुरु-पुत्र से कहने लगा—अरे दुर्बुद्धि ब्राह्मणाधम! यह क्या? तूने मेरा निरादर करके, मेरे शत्रु विष्णु का पक्ष लेकर, मेरे बालक को ऐसी निकम्मी शिक्षा दी है! संसार में अनेक दुर्जन हैं, जो ऊपर से सज्जन और मित्र बन

रहकर भीतर-ही-भीतर शत्रुता करते हैं; परन्तु समय पाकर उनका पाप अवश्य प्रकट हो जाता है, जैसे नरक-भोग के बाद पापियों के शरीर में कुष्ठ आदि रोग फूट निकलते हैं*।

गुरु-पुत्र ने कहा—हे इन्द्र के शत्रु प्रतापी दैत्यराज, आपका यह बालक जो कुछ कह रहा है, यह न मैंने इसे सिखाया है और न किसी और ने सिखाया है। यह इसकी स्वाभाविक बुद्धि है। इसलिए क्रोध न करिए और हमको व्यर्थ दोष न दीजिए।

नारदजी कहते हैं—गुरु-पुत्र के यों उत्तर देने पर हिरण्यकशिपु ने फिर अपने पुत्र प्रह्लाद से पूछा—अरे अभद्र, अगर गुरु ने तुझे यह नहीं सिखाया है तो तेरी यह दुष्ट बुद्धि कहाँ से हुई ?

प्रह्लाद ने कहा—गृहस्थी में जो लोग फँसे हुए हैं, उनकी बुद्धि आपसे या किसी के सिखाने से अथवा परस्पर के संग से, किसी तरह विष्णु भगवान् में नहीं लगती। उनकी इन्द्रियाँ अशान्त होकर बार-बार संसार के विषयों की ओर ही दौड़ती है। इसलिए वे फिर-फिरकर इसी अज्ञान के अन्धकार से परिपूर्ण संसार में पैदा होकर और मरकर चर्वित-चर्वण न्याय से भोगे हुए संसार के भोगों को ही हिरफिरकर भोगते रहते है। वे मोह में डूबे रहते है। जिनका अन्तःकरण संसार के विषयों में आसक्त है, वे विष्णु भगवान् को नहीं जान सकते। कारण, जिन लोगों की बुद्धि आत्मा को ही पुरुषार्थ समझती है, वे ही भगवान् विष्णु तक पहुँच सकते हैं। अगर कहो कि वे भी गुरु के उपदेश से विष्णु भगवान् को जान लेंगे, सो यह बात नहीं है। विषयासक्त जीव, अंधे के पीछे चलनेवाले अंधे के समान, आत्मज्ञानहीन गुरु के उपदेश से भी ठीक राह को नहीं पाते—विष्णु भगवान् तक नहीं पहुँच पाते। इसका कारण यही है कि उन्हीं के समान उनके प्रवृत्तिमार्गगामी गुरु भी वेदोक्त कर्मकाण्ड के मार्ग में सकाम कर्मों की रस्सियों से कर्मजाल में जकड़े हुए हैं। वे जब तक विषय-वासना से शून्य परमहंस महापुरुषों के पावन चरणों की रज मस्तक में नहीं लगाते, तब तक भगवान् के चरणों का स्पर्श उन्हें नहीं प्राप्त होता। भगवान् में मन लगने से ही जन्म-मरण की निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि वेदों के पढ़ने पर भी महात्माओं की कृपा के बिना आत्मतत्त्व का निश्चय नहीं होता और न मुक्ति ही मिलती है।

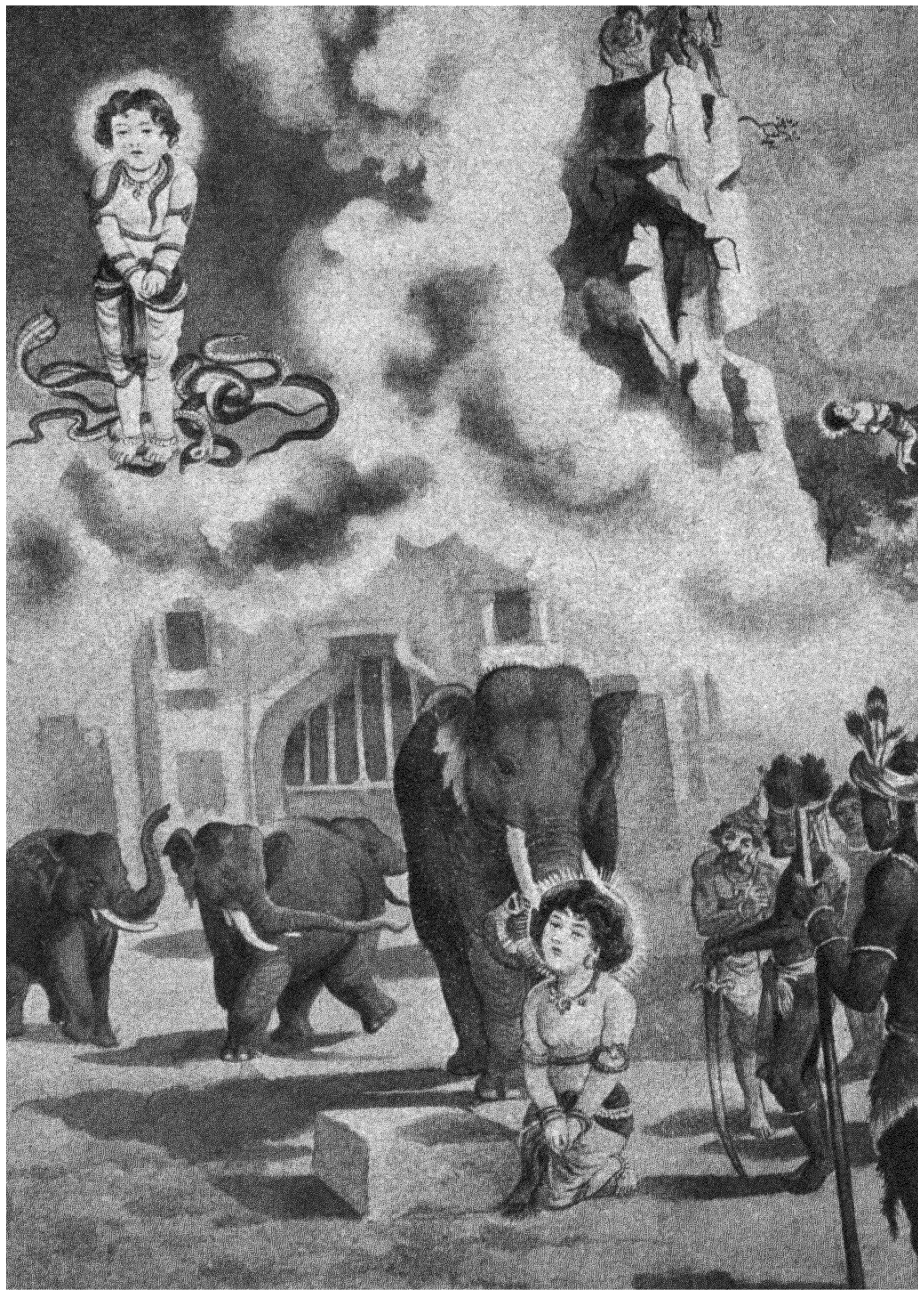
इतना कहकर प्रह्लादजी चुप हो गये। हिरण्यकशिपु ने असह्य क्रोध के मारे उनको पृथ्वी पर पटक दिया। वह क्रोध से अंधा और अधीर होकर, लाल-लाल आँखें निकालकर इस प्रकार कहने लगा—हे असुरो, इस दुष्ट को अभी मेरे आगे से ले जाओ और मार डालो ; यह मार डालने के ही योग्य है। यह मेरे भाई की हत्या करनेवाले विष्णु के समान ही मेरा वैरी है। यह अधम अपने सुहृद्गण और आत्मीयों को छोड़कर अपने चाचा के हत्यारे विष्णु के पैरों को दास की तरह पूजता है। इस दुरात्मा ने पाँच वर्ष की ही छोटी आयु में जब माता और पिता के स्नेह को—जिसे कोई बालक नहीं छोड़ सकता—छोड़ दिया, तब विष्णु का ही क्या भला करेगा ? गैर भी अगर अपना हित करे, जैसे दवा, तो वह भी अपने पुत्र के समान सगा है। और अगर अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र भी अहित करे, जैसे रोग, तो वह शत्रु है। यह तो पुत्र है, लेकिन जो अपना कोई अंग भी अपने को हानि पहुँचाता हो (जैसे, जिस अंग में साँप ने डस लिया हो) तो उसे काट डालना चाहिए ; क्योंकि उसे काट डालने से मनुष्य का जीवन तो बच जाता है; बाक़ी शरीर तो सुख से जीवित रह सकता है। भोजन

---

*स्मृति में ऐसे पापी और उनके होनेवाले रोग गिनाये गये हैं—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यामदन्तकः
स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥

ब्रह्महत्या करनेवाले के क्षयरोग होता है। मदिरा पीनेवाले के दाँत काले होते हैं। सोने की चोरी करनेवाले के नाखून ख़राब होते हैं और गुरु-स्त्री-गमन करनेवाले के चर्म-रोग होते हैं।



प्रह्लाद पर अत्याचार

में विष देकर, सोते में और जागते में, सभी उपायों से इसे मार डालना ही उचित है। जैसे वश में न रहनेवाली इंद्रिय मुनि का शत्रु होती है, वैसे ही यह भी मित्र (अर्थात् पुत्र) के रूप में हमारा शत्रु है। इसे मार डालो।

अपने स्वामी की यह आज्ञा पाते ही वे क्रूर असुर त्रिशूल ताने हुए, भयानक शब्द करते हुए, "मारो मारो, काट डालो!" कहकर प्रह्लाद की ओर दौड़ पड़े। उन दैत्यों का रूप बड़ा भयंकर था। उनकी दाढ़ें बहुत पैनी, मुख कराल और दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल कड़े, खड़े और ताँबे के रंग के थे। वे आकर बैठे हुए प्रह्लाद के सभी मर्मस्थानों में प्रहार करने लगे। किन्तु प्रह्लाद का मन तो ईश्वर में लगा हुआ था, इस कारण उन दैत्यों के सभी प्रहार वैसे ही व्यर्थ हो गये, जैसे अभागे के सभी उद्योग निष्फल हो जाते हैं। इसका कारण यही था कि वह भगवान् परब्रह्म निर्विकार, अनिर्देश्य और सबके आत्मा है—शस्त्र आदि में भी तो उन्हीं की सत्ता है। जब प्रह्लाद को मारने की यह चेष्टा व्यर्थ हो गई, तब तो दैत्यराज हिरण्यकशिपु बहुत घबराया—पुत्र की ओर से उसको बड़ी आशंका हुई। हे युधिष्ठिर, तब वह हठ के साथ लगातार प्रह्लाद को मारने के लिए उद्योग करने लगा। मस्त हाथियों को प्रह्लाद के ऊपर छोड़कर उन्हें कुचलवा डालने की चेष्टा की; विषधर नाग छोड़कर उन्हें मार डालने की कोशिश की; जादू-टोना अथवा मारण कराया; पहाड़ों के ऊपर से नीचे गिरा दिया; आसुरी मायाओं से उनके प्राण नष्ट करने चाहे; विष खिलाया; बड़ी-बड़ी शिलाएँ उनके ऊपर बरसाईं; खाने को नहीं दिया; अँधेरी कोठरी या गढ़े में उनको बन्द करके उसमें ज़हरीला धुआँ भर दिया; हिम, वायु, अग्नि, जल आदि के द्वारा मार डालने का उद्योग किया; परन्तु वह असुर अपने निरपराध भगवद्भक्त पुत्र को किसी तरह मार नहीं सका। तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसे प्रह्लाद को मारने का कोई उपाय न सूझ पड़ा। वह अपने मन में कहने लगा—मैंने इस बालक को बहुत कटु वचन कहे और इसे मारने के अनेक उपाय भी किये; पर मेरी उस अनिष्ट-चेष्टा तथा द्रोह से यह अपने अद्भुत तेज के कारण बच गया! यह मेरे पास ही बिलकुल निर्भय भाव से बैठा है। यह अवश्य ही बड़ी सामर्थ्य रखता है और मेरी दुष्टता या इस नीच व्यवहार को यह भूल नहीं सकता। यह शुनःशेप* की तरह मेरा विरोधी हो जायगा। अथवा शुनःशेप अर्थात् कुत्ते की पूँछ जैसे सीधी नहीं होती, वैसे ही यह बालक भी अपने स्वभाव को, अर्थात् विष्णु की भक्ति और मेरे प्रति शत्रुता को नहीं छोड़ेगा। इसका प्रभाव अप्रमेय है। यह अकुतोभय और अमर देख पड़ता है। निश्चय ही इसके विरोध से मेरी मृत्यु होगी। अथवा मैं ब्रह्मा के वरदान से अमर हूँ—कोई मुझे मार नहीं सकता। इस प्रकार चिन्ता करने के कारण हिरण्यकशिपु का चेहरा कुछ उतर गया, वह सिर झुकाकर सोचने लगा। तब एकान्त में शुक्राचार्य के पुत्र शंडामर्क ने हिरण्यकशिपु से कहा—स्वामी, आपने अकेले तीनों लोकों को जीत लिया है। तनिक आपकी भौंह चढ़ जाने से सब लोकपाल डर जाते हैं। इस साधारण बात के लिए आप क्यों चिन्ता करते हैं? ऐसे छोटे बच्चों के गुण या दोष पर ध्यान नहीं देना चाहिए। हमारी सम्मति तो यह है कि जब तक हमारे पिता (शुक्राचार्य) नहीं आते, तब तक इस बालक को वरुण के पाशों से बाँधकर घर में रखिए, जिसमें यह डर के मारे कहीं भाग न जाय। तब तक यह और सयाना हो जायगा। बच्चों की बुद्धि अवस्था अधिक होने पर और बड़ों की सेवा करने से सुधर जाती है।

---

* शुनःशेप अजीगर्त ऋषि के मझले पुत्र थे। उनको उनके पिता ने राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के हाथ बेच डाला था। रोहित ने अपने पिता को वरुण के कोप से बचाने के लिए, उनका जलंधर रोग दूर करने के उद्देश्य से, वरुण के यज्ञ में बलि देने के लिए शुनःशेप को मोल लिया था। शुनःशेप विश्वामित्र के शरणागत हुए। विश्वामित्र ने दो मन्त्र उनको बतला दिये। शुनःशेप ने बलिदान के अवसर पर वे मंत्र पढ़कर वरुण की स्तुति की। वरुण ने प्रसन्न होकर उनको बचा लिया। शुनःशेप अपने पिता के गोत्र को छोड़कर विश्वामित्र के गोत्र में आ गये। कारण, प्राण बचानेवाला भी पिता होता है।

गुरुपुत्र का कहना मानकर हिरण्यकशिपु ने उनसे कहा—"अच्छा, तुम इसे ले जाकर अपने ही घर में रक्खो, और इसे गृहस्थों तथा राजों के कर्त्तव्य और धर्म की शिक्षा देना।" हिरण्यकशिपु की आज्ञा के अनुसार शंडामर्क प्रह्लाद को ले गए और अपने अधीन तथा विनीत प्रह्लाद को क्रम से धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा देने लगे—राजनीति सिखाने लगे। गुरुपुत्र उनको इन विषयों की शिक्षा जो कुछ देते थे, उसे वह सुन भर लेते थे; वह शिक्षा उनको अच्छी नहीं लगती थी। कारण, जो लोग देहाभिमान और राग-द्वेष के वशीभूत होकर संसार के विषयों में रमण करते हैं, उन्हें ही यह प्रवृत्तिमार्ग की शिक्षा भली लगती है, और शंडामर्क भी उन्हीं लोगों में थे।

एक दिन शंडामर्क अपने घर के किसी काम से कुछ देर के लिए बाहर कहीं गये। पाठशाला में पढ़ने-वाले बालकों को खेलने का अवसर मिल गया। तब उन हमजोली के साथी लड़कों ने प्रह्लाद को भी अपने साथ खेलने के लिए बुलाया। महामति प्रह्लादजी को उतनी ही अवस्था में इतना ज्ञान था कि ये बालक अगर कुछ परमार्थ की शिक्षा न पावेंगे तो इसी जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहेंगे; क्योंकि इनको शिक्षा ही ऐसी मिल रही है। प्रह्लाद ने सब बालकों के पास जाकर, उन पर कृपा कर मुसकिराते हुए, मधुर और मनो-हर वाणी से उपदेश देना शुरू किया। प्रह्लादजी राजा के पुत्र थे, इसीलिए और सब बालक उनको मानते थे। सब बालकों ने खेलना छोड़ दिया और प्रह्लाद को घेरकर बैठ गये। उनके मन और नेत्र प्रह्लादजी में ही लग गये। वे अभी बच्चे ही थे, इसलिए उनकी बुद्धि अभी विषय-भोग और राग-द्वेष की शिक्षा से दूषित नहीं हुई थी। भगवान् के परम भक्त असुरपुत्र प्रह्लादजी उन पर दया करके मित्रभाव से यों कहने लगे।

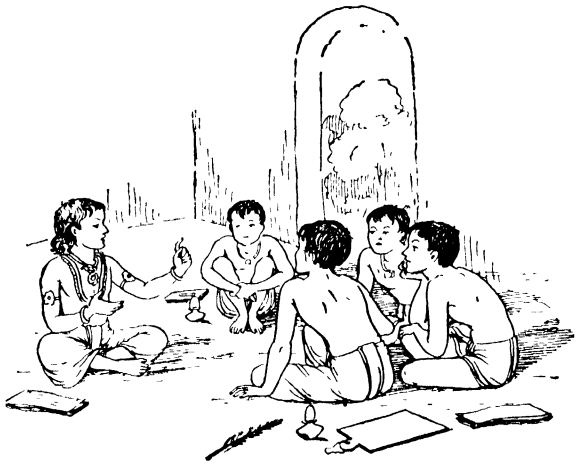
---

# छठा अध्याय

## प्रह्लादजी का सब बालकों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश

प्रह्लाद बोले—भाइयो, यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है। इसी योनि में जीव परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यह शरीर क्षणभंगुर है, इसलिए बचपन से ही भागवतधर्म का आचरण अर्थात् भगवान् का भजन करना चाहिए। यह न सोचना चाहिए कि जवानी में विषय-भोग कर लें; फिर बुढ़ापे में हरिभजन कर लेंगे। इस जन्म में पुरुषोत्तम भगवान विष्णु के चरणों की शरण में जाना ही उचित है; क्योंकि वह सब प्राणियों के प्रिय आत्मा, ईश्वर और मित्र हैं। भाइयो, इन्द्रियों द्वारा मिलनेवाला सांसारिक सुखभोग तो पशु आदि सभी शरीरों में, पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार, दुःख ही की तरह, अनायास मिल जाता है। इस कारण इन्द्रियसुख अर्थात् विषय-भोग के लिए प्रयत्न न करना चाहिए। वैसा करना वृथा आयु को गँवाना है। कारण, विषय-सुख की खोज में जो लग जाता है, वह परम कल्याणरूप मुक्ति देनेवाले नारायण के चरण-कमलों को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह जब तक सुस्थ और सबल रहे, तब तक जन्म-मरण के भय को मिटाने के लिए, मुक्ति प्राप्त करने के लिए, यत्न कर ले, भगवान् को भज ले। देखो, मनुष्य की आयु केवल सौ वर्ष की है। जो जितेन्द्रिय नहीं है उसकी आधी आयु तो रात को अचेत अवस्था में ही बीत जाती है। रह गई आधी, उसमें भी बचपन में कुछ ज्ञान नहीं होता और उसके बाद बीस वर्ष की अवस्था तक खेल-कूद में पड़ा रहता है। इधर बुढ़ापे में शरीर और इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं, इसलिए ये भी बीस वर्ष यों ही निकल जाते हैं। रह गये बीच के अर्थात् जवानी के दस वर्ष, सो वे कभी पूर्ण न होनेवाली और अतएव दुःखदायक कामना और प्रबल मोह के कारण असावधान रहने में

ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार गृहस्थी में आसक्त पुरुष की सारी आयु ही बीत जाती है। कौन अजितेन्द्रिय मनुष्य घर में आसक्त और सुदृढ़ स्नेह के बन्धन में बँधे हुए अपने को उससे छुड़ा सकता है? चोर, सेवक और वैपार-बनिज करनेवाले जिस धन के लिए अपने प्रिय प्राणों की हानि भी स्वीकार करते हैं, जान तक दे देते हैं, उस धन की तृष्णा को संसारासक्त मनुष्य कैसे छोड़ सकता है? प्रेमपात्री प्रियतमा अर्धांगिनी के एकान्त-संग में और हित और सीख के मनोहर वार्तालाप में, सुहृद् बन्धुओं के स्नेह-बन्धन में और



तोतले वचन बोलनेवाले बच्चों के संग में जिसका मन रम रहा है, वह मनुष्य, उनकी याद करते हुए, उन्हें कैसे छोड़ सकता है? पुत्र, ससुराल में रहनेवाली लड़की, भाई, बहन, बूढ़े पिता-माता, संपूर्ण सुख-भोग की सामग्री से भरा हुआ घर, कुलपरंपरा से चली आ रही जीविका, पशु और नौकर-चाकर आदि में रम रहा ऐसा कौन मनुष्य है, जो इन सबको छोड़ सकता है? जैसे कोशस्कृत् नाम का एक कीड़ा अपने रहने के लिए मिट्टी में घर बनाता है, पर अपने निकलने के लिए राह नहीं रखता और उसी के भीतर फँस जाता है, वैसे ही इन सब धन-पुत्र आदि में जिन लोगों का मन आसक्त है, वे लोभ के वशीभूत होकर कर्म करते रहते हैं और उनकी तृप्ति नहीं होती, वे नित्य नई कामनाओं में अपने को फँसाते रहते हैं। वे खाने-पीने को और स्त्रीसंग के सुख को ही बड़ा भारी पुरुषार्थ समझते हैं। वे घोर मोह में पड़े हुए जीव कैसे इस संसार से विरक्त हो सकते हैं? घर-गिरिस्ती में फँसा हुआ आदमी ऐसा असावधान है कि कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही अपनी सारी आयु गँवा देता है। वह अपनी आयु और पुरुषार्थ को दिन-दिन नष्ट होते नहीं देख पाता। तीन तरह के तापों से दुःख पाकर भी वह कष्ट का अनुभव कर वैराग्य की शरण नहीं लेता। अपने कुटुंब में ही रमा रहता है। अजितेन्द्रिय और कुटुंबी मनुष्य का मन धन पर इतना आसक्त होता है कि वह 'पराया धन हरने में मरने पर नरकभोग और इस लोक में राजदंड आदि भोगना पड़ता है' यह जानकर भी अपने लोभ को रोक नहीं सकता और पराये धन को हरता है। हे असुर-बालको, विद्वान् लोग भी इस प्रकार घरबार में आसक्त होकर कुटुंब के पालन-पोषण में लगे रहकर अपने रूप (आत्मा) को देखने में समर्थ नहीं होते। मूढ़ पुरुषों की तरह देहाभिमान में फँसकर "यह मेरा है, यह दूसरे का है" ऐसी भेद-भावना के कारण मोह के शिकार होते हैं। ऐसे घर में आसक्त लोग कभी किसी तरह अपने आत्मा को मोह से मुक्त नहीं कर पाते। कारण, वे कामी पुरुष कामिनियों के हाथ की कठपुतली या क्रीड़ा-मृग के समान होते हैं। उनके बाल-बच्चे उनके लिए शृंखला (जंजीर) बन जाते हैं। इसलिए भाइयो, विषयरूप तमोगुण का संसर्ग छोड़कर आदिदेव नारायण की शरण पकड़ो। वही संगहीन ज्ञानी पुरुषों की चाह की वस्तु मोक्ष हैं। अर्थात् उन्हीं को भजने से मनुष्य संसार-बन्धन से छुटकारा पा सकता है। देखो, नारायण भगवान को प्रसन्न करना कुछ कठिन नहीं है; क्योंकि वह सब प्राणियों के आत्मा और सर्वव्यापी हैं। तृण से लेकर ब्रह्मा तक छोटे और बड़े सभी प्राणी, भौतिक विकार आकाश आदि पाँचों तत्त्व, सत्त्व आदि तीनों गुण, उन गुणों की साम्यावस्था अर्थात् प्रकृति और महत्तत्त्व आदि में ब्रह्मस्वरूप अविनाशी

भगवान् ईश्वर एक आत्मा के रूप से विराजमान् हैं। तो भी गुणों की सृष्टि करनेवाली माया के द्वारा ढके रहने के कारण, वह, स्वयं अनिर्देश्य और विकल्परहित होकर भी, द्रष्टा और भोक्ता के रूप से व्यापक और भोग्य दृश्य देह आदि के रूप से व्याप्य हैं, जिससे उनका निर्देश भी किया जाता है और उनमें विकल्प भी देख पड़ता है। परन्तु वास्तव में केवल अनुभवस्वरूप ब्रह्मानन्द ही उनका स्वरूप है। तुम असुरभाव को छोड़कर सब प्राणियों से दया और मित्रता का व्यवहार करो। इसी से सर्वव्यापी भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। उन आदिपुरुष अनन्त भगवान् के प्रसन्न होने पर कौन ऐसा पदार्थ है, जो न मिल सके? भगवान् का भजन करनेवालों को भाग्यवश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी बिना माँगे ही मिल जाता है। इनके लिए उन्हें यत्न नहीं करना पड़ता। अथवा भगवान् के नाम का कीर्त्तन और चरण-सेवा करनेवालों को धर्म आदि किसी पुरुषार्थ की चाह नहीं होती। वे भगवद्भजन में ही परमानन्द पाते हैं। धर्म, अर्थ, काम और इनके साधन आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, तर्कशास्त्र, दण्डनीति और विविध वृत्तियाँ आदि जितने वेद द्वारा प्रतिपादित विषय है, वे तभी सत् और सफल हैं, जब अन्तर्यामी, परमपुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये जायँ, नहीं तो सब व्यर्थ है। मैं तुम लोगों को यह कोई नया उपदेश नहीं दे रहा हूँ। पहले नर-नारायण भगवान् ने नारदजी को इस दुर्लभ निर्मल ज्ञान का उपदेश किया था। भगवान् के अनन्य भक्त अकिंचन पुरुषों के चरणों की रज को जो अपने मस्तक में लगाते हैं, उन्हीं को ऐसा ज्ञान होता है। पहले मैंने भी उन्हीं देवस्वरूप नारदजी से ब्रह्मानुभवसहित ज्ञान और भक्तिमूलक शुद्ध भागवतधर्म सुना था।

यह सुनकर प्रह्लाद के सहपाठी दैत्यबालक बोले—भाई प्रह्लाद, दैत्यगुरु शुक्राचार्य के इन दोनों पुत्रों के सिवा और किसी गुरु को न तुम जानते हो और न हम ही जानते है। अगर यह कहो कि इनके यहाँ आने के पहले तुम नारद के पास गये थे तो यह बात भी नहीं है। हमारे और तुम्हारे जन्म से ही ये शासक है, हमारी देखरेख रखते आ रहे हैं। अगर यह कहो कि नारद ने ही तुम्हारे पास आकर ज्ञान और भक्ति का उपदेश किया तो तुम अन्तःपुर में रहनेवाले बालक थे। तुमको ऐसे महापुरुष का सत्संग प्राप्त होना दुर्घट है। हे सौम्य, अगर विश्वास के योग्य इसका कोई कारण हो तो कृपा करके कहो और हमारे इस संशय को दूर करो।

# सातवाँ अध्याय

## प्रह्लाद का माता के गर्भ में नारद से उपदेश प्राप्त करने का वृत्तान्त

नारदजी कहते हैं—हे युधिष्ठिर, दैत्यबालकों के यों पूछने पर भगवान् के परमभक्त असुरवर प्रह्लाद ने मुसकाकर मेरे बतलाये हुए ज्ञानोपदेश को स्मरण करते हुए इस प्रकार कहा—साथियो, मेरे पूज्य पिता हिरण्यकशिपु जब तप करने के विचार से मंदराचल पर चले गये, तब देवतों ने दानवों से युद्ध करने की बड़ी भारी तैयारी शुरू कर दी। उन्होंने समझ लिया कि मेरे पिता अब नहीं लौटेंगे। उनके शरीर पर मिट्टी का ढेर जम गया था और उनका शरीर देख भी नहीं पड़ता था। इन्द्र आदि देवता आपस में कहने लगे—"बड़े सौभाग्य की बात है कि चींटियाँ जैसे साँप को खा जाती हैं, वैसे ही सबको सतानेवाले पापी असुर को उसके पाप खा गये!" इन्द्र के विराट् युद्ध के आयोजन को सुनकर असुरदल के मुखिया लोग बहुत डरे। युद्ध में देवगण ने उनको मार भगाया। वे अपने प्राण बचाने के लिए अपनी स्त्री, पुत्र, संपत्ति, स्वजन, घर-बार, पशु और गिरिस्ती का सब सामान छोड़कर जल्दी से भाग खड़े हुए। जय की इच्छा रखनेवाले देवतों ने दैत्यराज हिरण्यकशिपु के राजभवन की सब चीजे लूट लीं। इन्द्र ने मेरी माता को पकड़ लिया। भय से घबराकर कुररी (कराकुल) की तरह रो रही मेरी माता को लेकर इन्द्र स्वर्ग की ओर चले। उसी

समय इच्छापूर्वक विचरनेवाले नारदजी राह में मिल गये। उन्होंने मेरी माता की दशा देखकर इन्द्र से कहा—हे इन्द्र, इस निरपराध स्त्री को आप इस तरह न ले जाइए। हे महाभाग, यह पतिव्रता और पराई स्त्री है। इसे छोड़ दो। यह सुनकर देवतों के राजा इन्द्र ने कहा—नारदजी, इस सुन्दरी के गर्भ में दैत्यराज हिरण्यकशिपु का दुःसह और देवतों के लिए भयानक बालक है। इसीलिए मैं इसे लिये जा रहा हूँ। जब तक इसके बालक पैदा नहीं होता, तब तक इसे मैं अपने यहाँ रक्खूँगा। पुत्र होने पर उसे मारकर, अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर, इसको छोड़ दूँगा।



नारद ने कहा—हे पुरन्दर, इसके गर्भ में जो बालक है, वह निष्पाप, भगवान् का परम भक्त, अपने गुणों से महान, विष्णु भगवान् का अनुचर और पराक्रमी है। इसलिए तुम उसे मार नहीं सकोगे। इन्द्र ने नारद की आज्ञा मान ली और मेरी माता को वहीं छोड़ दिया। मुझे भगवान् का परमभक्त जानकर इन्द्र को भी मुझ पर भक्ति हुई। वह मेरी माता की प्रदक्षिणा करके अपने लोक को चले गये। तब नारदजी मेरी माता को अपने आश्रम में ले गये। उन्होंने मेरी माता को आश्वासन देते हुए कहा—पुत्री, जब तक तुम्हारे पति न लौट आवें, तब तक तुम यहीं रहो। मेरी माता ने यह स्वीकार कर लिया और जब तक दैत्यराज तपस्या में सिद्धि प्राप्त करके नहीं लौटे तब तक वह वहीं रहने लगीं। नारदजी के समीप उन्हें किसी का भय नहीं था। वह गर्भवती पतिव्रता मेरी माता अपने गर्भ के मंगल की कामना से बड़ी भक्ति के साथ नारदजी की सेवा करने लगीं। समर्थ और दयालु ऋषिराज ने उसी अवसर में मुझे सिखाने के लिए मेरी माता को धर्म के तत्त्व और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया। लेकिन एक तो मेरी माता स्त्री-जाति थीं, दूसरे समय भी बहुत बीत गया; इसलिए मेरी माता को नारदजी का वह उपदेश समयान्तर में भूल गया। पर मुझ पर ऋषि की कृपा थी, इससे गर्भ में मुझे नारदजी ने जिस ज्ञान का उपदेश किया था, वह मुझको अभी तक नहीं भूला। भाइयो, तुम अगर मेरे कथन पर श्रद्धा करो तो उसी श्रद्धा के प्रभाव से तुमको भी मेरे ही समान ज्ञान प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा के बल से मेरे और मेरी माता के समान अन्य स्त्री और बालकों की भी बुद्धि विशुद्ध हो सकती है। विकार का कारण जो ईश्वर का स्वरूप काल है, उसके आने पर जैसे वृक्ष के फलों के जन्म, स्थिति, बढ़ना, पकना, क्षीण होना और विनाश ये छः भाव होते है, वैसे ही देह की भी यही छः अवस्थाएँ देखी जाती है। परन्तु आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण, आत्मा तो नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सबका आश्रय, विकाररहित, आत्मदर्शी, सबका कारण, व्यापक, संगहीन और अनावृत अर्थात् पूर्ण है। इन बारह लक्षणों से आत्मा को जानकर विद्वान् पुरुष को चाहिए कि मोह से उत्पन्न जो "मैं हूँ, मेरा है" यह असत् भावना है, उसको छोड़ दे। जैसे सोने की खानों में सुवर्णकणयुक्त पत्थरों में अग्नि-संयोग आदि उपायों को जाननेवाले स्वर्णकार लोग इन्हीं

उपायों से सोने को पाते हैं, वैसे ही आत्मा का ज्ञान रखनेवाले लोग इसी देह में आत्मयोग अर्थात आत्मचिन्तन के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और रूप आदि पंच तन्मात्रा, ये आठ प्रकृतियाँ हैं। सत्त्व आदि तीनों गुण प्रकृति के ही हैं, इसलिए उससे भिन्न नहीं हैं। मन आदि ग्यारह इन्द्रियाँ और पृथ्वी आदि पंचतत्त्व, ये सोलह प्रकृति के विकार या रूपान्तर हैं। पुरुष अर्थात आत्मा इन प्रकृति और विकृति, दोनों से भिन्न एक है। कपिल आदि आचार्यों ने ऐसा ही कहा है। मूल प्रकृति के इन सब रूपान्तरों की समष्टि यह देह दो प्रकार की है, स्थावर और जंगम। इसी देह में ऊपर कहे गये आत्मा के बारह लक्षणों के द्वारा असत् को छोड़कर उस आत्मा को भलीभाँति खोजना चाहिए। देह के साथ आत्मा के संबंध और विभिन्नता के विचार द्वारा विशुद्ध हुए अंतःकरण में सावधान भाव से सृष्टि स्थिति और संहार के कारण की आलोचना करते हुए ईश्वर की खोज करना ही पुरुष का कर्त्तव्य है। बुद्धि की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों वृत्तियों का अनुभव करनेवाला, तुरीय अवस्था में स्थित, साक्षी वही परमपुरुष है। बुद्धि की जाग्रत आदि तीनों अवस्थाएँ आत्मा का धर्म नहीं हैं, क्योंकि ये त्रिगुणात्मक और कर्म से उत्पन्न हैं। गंध के द्वारा कुसुम से सम्बन्ध रखनेवाले वायु की तरह इन तीनों बुद्धि-वृत्तियों के द्वारा बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाले आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिए। ये बुद्धि की अवस्था ही संसार का द्वार हैं; क्योंकि बुद्धि के इन गुणों और कर्मों के द्वारा ही जीव को संसार का बन्धन होता है। उस संसार का मूल अज्ञान है, जिससे मिथ्या संसार भी स्वप्न की तरह सत्य प्रतीत होता है। इस कारण तुम लोग त्रिगुणात्मक कर्मों के बीज अज्ञान को पहले भस्म कर दो। बुद्धि की इन तीनों अवस्थाओं के प्रवाह को रोक देना ही वह योग है, जिससे इस बीज को जलाया जा सकता है*। विधिपूर्वक किये गये जिन सब धर्मों के द्वारा भगवान् ईश्वर में अटल भक्ति होती है, उन हज़ारों उपायों में सर्वश्रेष्ठ उपाय, जो भगवान ने बताया है वह आत्मज्ञान ही है। गुरुजन की सेवा, भक्ति, सब मिली हुई वस्तुओं का समर्पण, साधु भक्तों का संग, ईश्वर की आराधना, भगवान् की सत्कथा में श्रद्धा, भगवान के गुणों और कर्मों का कीर्त्तन, उनके चरण-कमल का ध्यान, भगवान् की सब मूर्त्तियों के दर्शन व पूजा करना और "भगवान् हरि ईश्वर सभी प्राणियों में स्थित हैं" यह जानकर सब प्राणियों को समदृष्टि से देखना, इन सब कर्मों और साधनाओं के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या आदि को वश में करके भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इससे ईश्वर में मन लगता है। भगवान् के अवतारों द्वारा किये गये कर्मों, अनुपम गुणों और पराक्रमों को सुनकर जब मनुष्य के रोमांच हो आता है, आनन्द के आँसू गिरने लगते हैं, वह गद्गद स्वर से गला खोलकर नाचता-गाता हुआ आनन्दध्वनि करता है, पागलों की तरह कभी हँसता, कभी रोता, कभी ध्यान करता और कभी छोटे-बड़े सभी की वन्दना करता है, जब बारम्बार साँस लेते हुए लज्जा को छोड़कर "हे हरे! हे जगन्नाथ! हे नारायण!" कहकर भगवान को पुकारता है, तब सभी बंधनों से छुटकारा पा जाता है। भगवान् के भाव की भावना से उसका अन्तःकरण भगवान् के रहने योग्य विशुद्ध हो जाता है। प्रबल भक्ति के कारण उसका अज्ञान तथा सब वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। वह संपूर्ण रूप से भगवान् को पा जाता है। अधोक्षज भगवान् विष्णु का आश्रय ही इस संसार में मलिन हृदयवाले देहधारियों के संसारबंधन को काट देता है। इस कारण तुम अपने हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर को भजो। हे असुर-बालको, अपने-अपने हृदय में आकाश के समान स्थित, अपने आत्मा के सुहृद् हरि की उपासना में विशेष प्रयास क्या है? अथवा सब सांसारिक साधारण विषयों के लिए परिश्रम करने से ही क्या लाभ है? धन, स्त्री, पशु, पुत्र आदि, भवन, भूमि, हाथी-घोड़े, खज़ाना, ऐश्वर्य, अर्थ और काम, ये सभी

---

* यही बात इस सूत्र में कही गई है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है।

एक-न-एक दिन नाश को प्राप्त होंगे। फिर जीवन का ही क्या ठिकाना ? मनुष्य को इनके द्वारा इस क्षण-भंगुर जीवन में कितनी प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है ? कितना सुख मिल सकता है ? इसी तरह यज्ञ आदि कर्मों से प्राप्त, अस्थायी और परस्पर छोटे-बड़े ये स्वर्ग आदि लोक भी परम श्रेय नहीं हैं। इनका भी नाश हो जाता है। इसलिए जिसमें कोई दोष देखा-सुना नहीं जाता, उस परमेश्वर को आत्मज्ञान के लिए पूर्ण भक्तिभाव के साथ भजो। मित्रो, अपने को पंडित समझकर अभिमान रखनेवाला व्यक्ति इस संसार में सुख आदि के लिए बारंबार कर्म करता है, किन्तु उससे उसको उलटा ही फल अर्थात् दुःख ही मिलता है। इस संसार में कर्म करनेवाले सभी लोगों को यही इष्ट होता है कि सुख की प्राप्ति हो, अथवा दुःख का नाश हो। किन्तु वे जब कर्म नहीं करते थे, तभी कर्म करने की अपेक्षा सुखी थे। कर्म करने में सर्वदा दुःख ही मिलता है। मनुष्य इस जगत् में जिसके लिए सकाम कर्म करके सुखभोग की कामना करता है, वह क्षण-भंगुर देह भी तो अन्त में कुत्तों और सियारों का भोजन है। यह शरीर कभी प्राप्त होता है और कभी छूट जाता है। तब इस देह से दूर-सम्बन्ध के कारण जिन पर ममता की जाती है, वे पुत्र, कन्या, स्त्री, घरबार, धन, राज्य, ख़ज़ाना, हाथी-घोड़े, मंत्री, नौकर-चाकर, विश्वस्त मित्र आदि तो छूट ही जायँगे। देह और देह से सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र आदि सब विनाशी हैं। यद्यपि अज्ञान के कारण ये सब सत् प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में सभी असत् और तुच्छ हैं। नित्यानन्द के सागर आत्मा को इन सबकी कोई ज़रूरत नहीं। हे असुरो, गर्भवास आदि अवस्थाओं में पूर्वोपार्जित कर्मों के द्वारा क्लेश को प्राप्त प्राणियों को कर्मों से क्या लाभ है ? तुम्हीं बताओ। देहधारी जीव आत्मा के साथ लगे हुए लिंगशरीर से कर्मों का आरंभ करते हैं और उन्हीं कर्मों के द्वारा अपने लिए स्थूल शरीरों की सृष्टि करते हैं। किन्तु कर्म और शरीर, दोनों की उत्पत्ति अज्ञान से है। इसलिए तुम लोग निष्काम होकर अर्थ, काम और धर्म के अधिष्ठाता, निर्लिप्त, निरीह, निर्विकार आत्मास्वरूप ईश्वर हरि का भजन करो। भगवान् नारायण सभी प्राणियों के आत्मा, प्रिय और स्वकृत महाभूतों के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्राणियों के अन्तर्यामी हैं। देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष, गंधर्व, कोई भी हो, हरि के चरणों का भजन करने से सभी मेरे समान कल्याण पा सकते हैं। हे असुर-बालको, ब्राह्मण, देवता, ऋषि अथवा पंडित होने या दान, तप, यज्ञ, शौच, व्रत आदि किसी उपाय से कोई भगवान् हरि को नहीं प्राप्त कर सकता। भगवान् तो केवल विशुद्ध भक्तिभाव से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं। भक्ति के सिवा और सब उपाय विडंबनामात्र है। हे दानवो, इस कारण सब प्राणियों को अपने समान जानकर सब प्राणियों के आत्मा, ईश्वर भगवान् हरि को ही भक्ति के साथ भजो। हे दैत्यो, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, व्रजवासी नीच जाति और पशु-पक्षी आदि पापी जीव भी अच्युत भगवान् का ही स्वरूप हैं। गोविन्द भगवान् में अनन्य भक्ति और उनको सर्वत्र देखना ही इस लोक में पुरुषों का परम स्वार्थ या परमार्थ कहा जाता है।

# आठवाँ अध्याय

## हिरण्यकशिपु का वध

नारदजी कहते हैं—दैत्यबालकों ने प्रह्लाद के मुख से ये तत्त्व की बात सुनकर, उन्हें उपयोगी समझकर ग्रहण कर लिया। उन्होंने गुरु की दी हुई सांसारिक शिक्षा को भुला दिया। गुरुपुत्रों ने घर आकर देखा, सभी बालकों की बुद्धि पलट गई है। सभी निष्ठा के साथ विष्णु के भजन में लीन हैं। यह तमाशा देखकर वे बहुत डरे। वे दौड़े हुए हिरण्यकशिपु के पास गये और जाकर सब हाल सुनाया। पुत्र के

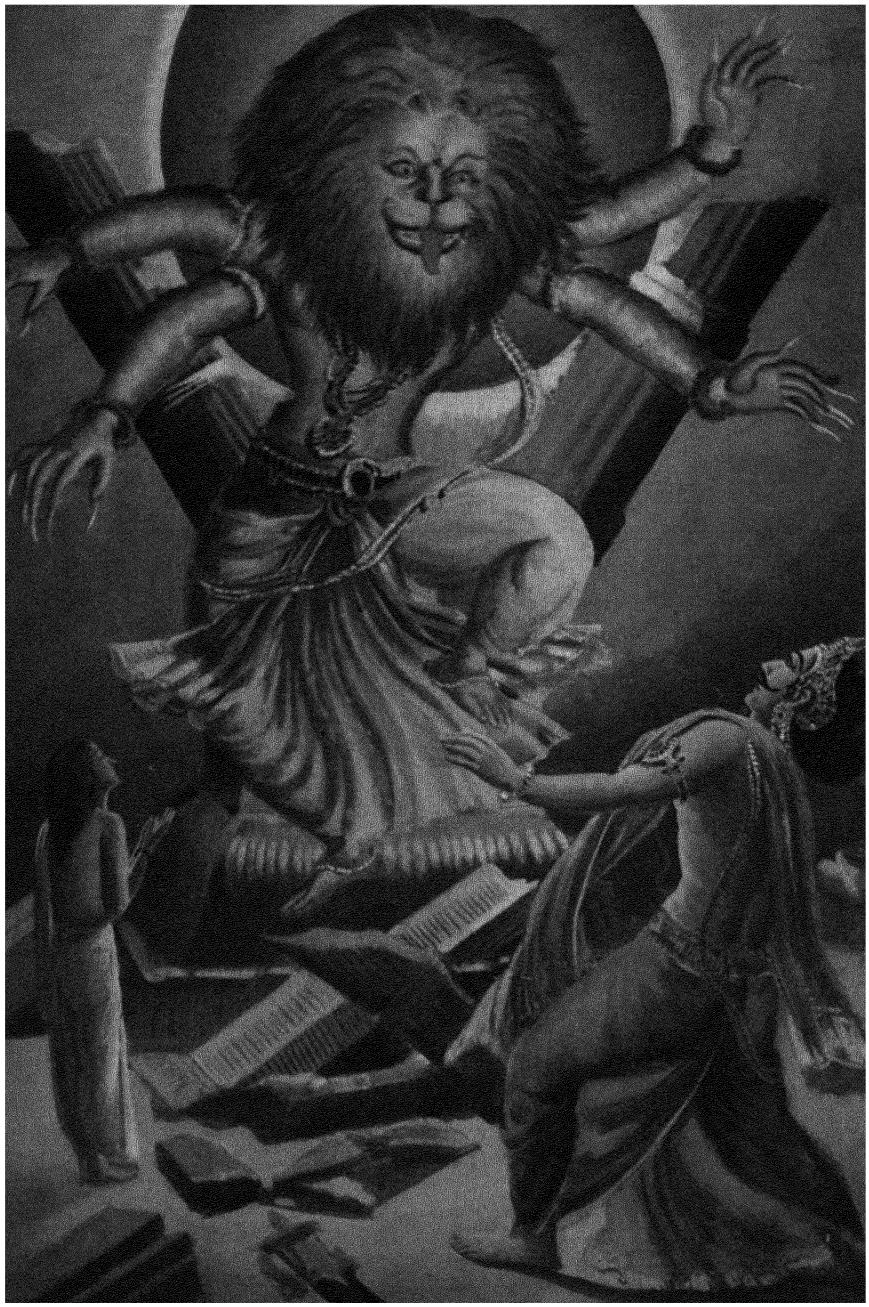
इस असह्य अन्याय को सुनकर क्रोध के मारे हिरण्यकशिपु का सारा शरीर काँपने लगा। उसने उसी समय प्रह्लाद को मार डालने का पक्का इरादा कर लिया। हिरण्यकशिपु ने तुरन्त प्रह्लाद को बुला भेजा। प्रह्लादजी आकर हाथ जोड़कर नम्र भाव से खड़े हो गये। तिरस्कार करने के अयोग्य प्रह्लाद को सामने पाते ही दैत्य का क्रोध और भी भड़क उठा। उसने तिरस्कार के साथ क्रोध की वक्र दृष्टि से उनकी ओर देखा। फिर लात खाये हुए नाग की तरह फुफकारते हुए वह यों कहने लगा—अरे दुर्विनीत, तू मंदमति और अधम है। कारण, अपने ही समान अपने कुल के बालकों को भी बहकाकर कुमार्गगामी बना रहा है। मैं तुझको अभी यमलोक भेजता हूँ; क्योंकि तू मेरी आज्ञा की अवहेलना करनेवाला है। अरे मूढ़, मेरे क्रोध करने पर लोकपाल सहित तीनों लोक काँप उठते हैं। फिर तू किसके बल पर मेरी आज्ञा के विरुद्ध चलने का साहस कर रहा है?

यह सुनकर प्रह्लादजी ने कहा—महाराज, जो परमेश्वर हैं, जिन्होंने ब्रह्मा से लेकर तिनके तक इस चराचरजगत् को अपने अधीन कर रक्खा है, वह भगवान् ही मेरा बल हैं। केवल मेरा ही नहीं, बल्कि आपका और अन्यान्य सभी बलवानों का वही बल हैं। वह ईश्वर हैं, काल हैं। उनका पराक्रम अपरिमेय है। वही सामर्थ्य, साहस, बुद्धि, बल, इन्द्रिय और आत्मा हैं। वह त्रिगुणपति परमपुरुष ही अपनी शक्ति से सृष्टि, पालन और प्रलय करते हैं। आप अपने इस असुरभाव को छोड़कर मन को समदर्शी बनाइए, कहीं कोई भी शत्रु नहीं रह जायगा। कुमार्ग पर चलनेवाला उद्दण्ड मन ही सबका एक परम शत्रु है। इसलिए अपने मन को वश में कीजिए। समदृष्टि ही अनन्त भगवान् की प्रधान आराधना है। कुछ अज्ञानी लोग पहले अपने सर्वस्व ( ज्ञान ) को हरनेवाले छः शत्रुओं या डाकुओं ( काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या ) को न जीतकर यह सोचते हैं कि उन्होंने दसो दिशाओं को जीत लिया। लेकिन जिन्होंने आत्मा को वश में कर लिया है, उन समझदार लोगों के—अर्थात् सब प्राणियों को समदृष्टि से देखनेवाले साधुजनों के—उक्त अज्ञान-कल्पित कोई शत्रु नहीं रह जाता।



यह सुनकर हिरण्यकशिपु बोला—अरे मंद-मति, निश्चय ही तू मरना चाहता है; क्योंकि मेरे आगे बहुत बढ़-बढ़कर बातें कर रहा है। जिनके मरने का समय निकट आ जाता है, वे ऐसी ही असंगत बातें करते हैं। अरे अभागे, तूने जो मेरे सिवा दूसरा इस जगत् का ईश्वर बतलाया, वह कहाँ है? अगर तू कहे कि वह सब जगह है, तो फिर इस खंभे में क्यों नहीं देख पड़ता?

प्रह्लाद ने मन में ईश्वर को प्रणाम करके कहा—पिताजी, वह खंभे में भी देख पड़ते हैं। यह सुनकर दैत्यराज ने कहा—तू बहुत बक रहा है, अतएव मैं अब तेरा सिर धड़ से अलग करता हूँ। तेरा इष्टदेव और रक्षक हरि आकर तेरी रक्षा करे! इस प्रकार बारंबार दुर्वचन कहकर महाभागवत पुत्र को पीड़ा पहुँचाते हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने तलवार हाथ में ले ली और सिंहासन से उठकर बड़े जोर से उसने सभा के खंभे में एक घूँसा मारा। राजन, उसी घड़ी उस खंभे में बड़ा घोर शब्द हुआ। जान पड़ा, जैसे ब्रह्माण्ड फट



भगवान् नृसिंह का प्रकट होना

गया। ब्रह्मा आदि देवगण ने अपने-अपने लोक में वह घोर शब्द सुनकर जाना कि आज महाप्रलय होगा। हिरण्यकशिपु ने पुत्र को मारने की इच्छा से तेजी के साथ चेष्टा करते समय उस अद्भुत् शब्द को सुना, जिसे सुनकर उसके साथी बड़े-बड़े योद्धा असुर डर गये थे। पर उसे अपने सभाभवन में उस शब्द को करनेवाला कोई न देख पड़ा। इतने ही में अपने सेवक प्रह्लाद के इस कथन को कि "भगवान् इस खंभे में भी मुझे देख पड़ते हैं", सत्य करने के लिए तथा अपनी सर्वव्यापकता प्रमाणित करने के लिए भक्तवत्सल भगवान सभा के उस खंभे से ही अत्यन्त अद्भुत् रूप मे प्रकट हुए। भगवान् का आधा शरीर सिंह का और आधा मनुष्य का था। दैत्यराज हिरण्यकशिपु उस खंभे से अद्भुत नृसिंहमूर्त्ति को प्रकट होते देख विस्मित हो घबराकर कहने लगा—अहो, यह कैसा आश्चर्य है! यह न तो मृग है और न मनुष्य! यह कैसा अद्भुत् जीव है! यह कैसा विचित्र नृसिंह का रूप है!

हिरण्यकशिपु इस तरह उस भयानक नृसिंहरूप के बारे में विचार कर ही रहा था कि उसी समय संपूर्ण रूप से प्रकट होकर नृसिंहरूप नारायण उसके सामने आ गये। उनकी आँखें तपे हुए सोने के समान लाल और बड़ी भयानक थीं। उनकी गर्दन के बाल जमुहाई लेने से इधर-उधर हिल रहे थे। कराल दाढ़ें खड्ग के समान चंचल और चमक रही थीं। जीभ छुरे की धार के समान पैनी थी। टेढ़ी-मेढ़ी भौंहों से युक्त घोर मुख मन में भय उत्पन्न करनेवाला था। उनके दोनों कान स्तब्ध, ऊपर को उठे और सिकड़े हुए थे। फैला हुआ मुख और नाक पहाड़ की गुफा के समान जान पड़ते थे। दोनों कपोल-प्रान्तों अर्थात् चौहों के फटे और चौड़े होने से उनका मुख बहुत ही भयानक देख पड़ता था। उनका विशाल शरीर स्वर्ग अर्थात् आकाश को छू रहा था। गर्दन नाटी और मोटी थी। छाती चौड़ी और पेट भीतर धँसा हुआ था। शरीर के सब अंगों मे चन्द्रमा की किरण के रंग के रोएँ थे। बहुत-सी भुजाएँ चारों ओर से उठी हुई थीं और नख ही उनमें शस्त्र के रूप में शोभायमान थे। भगवान् नृसिंहजी के चक्र आदि अस्त्रों और वज्र आदि शस्त्रों ने दानव-सेना को मारकर भगा दिया। भगवान् का वह रूप अत्यन्त दुर्धर्ष था। उसे देखते ही असुर भय के मारे भाग खड़े हुए। उन पर आक्रमण कौन करता, कोई उनके पास जाने का भी साहस नहीं कर सका। दैत्यों का राजा हिरण्यकशिपु उस भयानक अद्भुत् रूप को देखकर उसके प्रकट होने के प्रयोजन को विचारता हुआ अपने मन में इस तरह कहने लगा—यद्यपि यह तो स्पष्ट ही है कि यह महा-मायावी हरि ही मुझे मारने के लिए इस रूप से प्रकट हुआ है; तथापि यह इस उद्यम से मेरा क्या अनिष्ट कर सकता है?

यों सोचकर हिरण्यकशिपु ने गदा हाथ में ले ली। वह सिंहनाद करता हुआ नृसिंहजी की ओर लपका। लेकिन वह दानव नृसिंहजी के तेज में वैसे ही अदृश्य हो गया, जैसे आग में पड़कर पतंग भस्म हो जाता है। जिन भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में अपने तेज के द्वारा प्रलयकाल के तम या अंधकार को नष्ट कर दिया था, उन सतोगुण के प्रकाशक हरि के तेज में उस तमोमय असुर का अदृश्य हो जाना कोई विचित्र बात नहीं है। इसके बाद वह दैत्य बहुत ही क्रोध करके नृसिंहजी के ऊपर ताक-ताककर गदा के प्रहार करने लगा। परन्तु गरुड़ जैसे किसी महाविषधर नाग को अनायास पकड़ लें, वैसे ही भगवान् गदा-धर ने बड़े वेग से गदासहित प्रहार कर रहे उस दानव को पकड़ लिया। हे भारत, दानवराज हिरण्यकशिपु के साथ भगवान् एक तरह से खेल ही कर रहे थे, इसी कारण किसी तरह उनके हाथ से छूटकर वह दैत्य फिर गरुड़ के हाथ से छूटे हुए नाग की तरह युद्ध करने लगा। तब देवतों और लोकपालगण को, जिनको उनके लोकों से हिरण्यकशिपु ने निकाल दिया था और जो बादलों की आड़ में छिपे हुए यह चरित्र देख रहे थे और उसके मारे जाने की राह देख रहे थे, यह अच्छा नहीं लगा कि वह महाबली दैत्य भगवान् के

हाथ में आकर फिर निकल जाय। भगवान के हाथ से छूटकर हिरण्यकशिपु ने समझा, हरि ने मेरे पराक्रम से शंकित होकर, घबराकर, मुझे छोड़ दिया है। यह समझकर युद्धक्षेत्र में क्षण भर के लिए विश्राम करने के बाद ढाल और तलवार हाथ में लेकर उसने फिर बड़े वेग से नृसिंहजी के ऊपर आक्रमण किया। वह असुर बाज की तरह झपटकर वेग के साथ पैंतरे बदल-बदलकर इस प्रकार तलवार के हाथ फेंक रहा था कि शत्रु को उस पर प्रहार करने का कोई मौक़ा न मिले। तब नृसिंहजी ने विकट महाशब्द के साथ भयानक अट्टहास किया—बड़े ज़ोर से हँसे। उस शब्द से डरकर हिरण्यकशिपु ने दोनों आँखें बंद कर लीं। उसी मौक़े में भगवान् ने उसको पकड़ लिया। किसी समय इन्द्र के वज्र मारने से भी उस दैत्य की तनिक-सी भी खाल नहीं कटी थी, ऐसा वरदान से वह बली था। लेकिन हरि के पकड़ते ही, साँप के पकड़े हुए चूहे की तरह, पीड़ित होकर वह छूटने के लिए छटपटाने लगा। भगवान् ने सभाभवन के दरवाज़े की देहली पर उसे अपनी जाँघ के ऊपर गिरा लिया। फिर गरुड़ जैसे बड़े विषधर नाग को नोच डालें, वैसे ही नृसिंहजी ने लीलापूर्वक अपने पैने नखों से उसके हृदय को फाड़ डाला। उस समय नृसिंहजी के कराल नेत्र क्रोध के मारे ऐसे भयानक हो गये कि उनकी ओर कोई आँख उठाकर देखने का साहस न कर सकता था। वह अपनी लम्बी जीभ से अपने फैले हुए मुँह की चौहे चाटने लगे। जैसे हाथी को मारकर सिंह की शोभा होती है, वैसे ही दैत्यराज की आँतों की माला गले में पहने हुए नृसिंहजी उस समय शोभायमान हुए। नृसिंहजी का मुखमंडल और गर्दन के बड़े-बड़े बाल रुधिर-कणों के पड़ने से अरुणवर्ण हो गये। नृसिंहजी ने नखों की नोकों से हिरण्यकशिपु के हृदय को निकालकर उसकी लाश को वहीं डाल दिया। हाथ में शस्त्र-अस्त्र लेकर प्रहार करने के लिए तैयार हिरण्यकशिपु के हज़ारों सेवकों को भी नृसिंहजी ने थोडी ही देर में मार डाला। नखरूप शस्त्र धारण किये भगवान् की भुजाएँ ही उनके सैनिक थे। राजन, नृसिंहजी की गर्दन के बालों की थपेड़ से आकाश में बादल इधर-उधर अस्त-व्यस्त हो गये। भगवान् के नेत्रों की ज्योति से ग्रहों का तेज फीका पड़ गया। उनके बारम्बार साँस लेने से समुद्रों का जल क्षुब्ध हो उठा। उनके सिंह-नाद से डरकर दिग्गज चिल्ला उठे। भगवान् की जटाओं की चोट से आकाश मे स्थित देवतों के विमान इधर-उधर हट गये, जिससे जान पड़ा, जैसे स्वर्गलोक अपने स्थान से हट गया है। उनके पैरों के बोझ से पृथ्वी मानों नीचे धँसी जाती थी। भगवान् के वेग से बड़े-बड़े पहाड़ उखड़-उखड़कर गिरने लगे। उनके तेज से आकाशमंडल का और दिशाओं का प्रकाश नष्ट हो गया।

नृसिंहजी सभाभवन में हिरण्यकशिपु के श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान हुए। उस समय प्रचंड मुखवाले अत्यन्त तेजस्वी भगवान के पास जाने का साहस कोई भी न कर सका। यद्यपि हिरण्यकशिपु मर चुका था और युद्ध करनेवाला कोई योद्धा नहीं था, तथापि नृसिंहजी का क्रोध शान्त नहीं हुआ था। राजन, तीनों लोकों को पीड़ा पहुँचानेवाले दैत्यराज हिरण्यकशिपु को समर में नृसिंहजी ने मार डाला, यह सुनकर देवांगनाओं के मुखकमल आनंद से खिल उठे। वे बारम्बार आकाश से नृसिंहजी के ऊपर फूल बरसाने लगीं। इस अवसर में दर्शनाभिलाषी स्वर्गवासी देवगण के विमानों से आकाशमण्डल व्याप्त हो गया। देवता लोग खुशी के मारे नगाड़े बजाने लगे। श्रेष्ठ गंधर्व गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं। हे युधिष्ठर, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर, नाग, प्रजापतिगण, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वेताल, किन्नर और नंद, सुनंद, कुमुद आदि सब विष्णु भगवान् के पार्षद-गण उस सभा में आकर, हाथ जोड़कर भगवान् के सामने खड़े हो गये। सब उन महातेजस्वी नृसिंहजी की इस प्रकार अलग-अलग स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी ने कहा—जिनकी शक्ति का पार कोई नहीं पा सकता, उन विचित्रवीर्य, पवित्र कर्मों से युक्त,

अपनी लीला के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले, अव्ययात्मा, अनन्त भगवान् को प्रणाम है।

रुद्र ने कहा—भगवन्, सहस्र युगों के अन्त में प्रलय का समय आपके कोप का काल है, यह समय नहीं है। यह क्षुद्र असुर मर गया, अब कोप को शान्त कीजिए। हे भक्तवत्सल, शरणागत और अपने भक्त इस दैत्य के पुत्र की रक्षा कीजिए।

इन्द्र ने कहा—हे परमेश्वर, आपके यज्ञभाग को दैत्यगण हर लेते थे। आपने हमारी रक्षा करके उसे लौटा लिया। आपके निवास का स्थान जो हमारा हृदयकमल है, उस पर दैत्य ने अधिकार कर लिया था। आज आपने इस दुष्ट दैत्य को मारकर उसे फिर प्रफुल्लित कर दिया। हे नाथ, बहुत दिन न रहनेवाला यह त्रैलोक्य का राज्य आपके सेवकों की दृष्टि में बहुत ही तुच्छ है। हे नृसिंह, मुक्ति को भी वे नहीं चाहते, विषय-भोग तो बहुत ही साधारण चीज़ है।

ऋषियों ने कहा—हे आदिपुरुष, आपने हमारे तप को अपना परम तेज कहा है। ब्रह्मा के रूप से आपने जिसके द्वारा अपने में ही लीन इस जगत् की सृष्टि की है, उसी तप को इस दैत्य ने लुप्तप्राय कर दिया था—इसके मारे कोई तपस्या नहीं करने पाता था। हे शरणागतपालक, आपने विश्व का पालन करने के लिए धारण किये हुए इस शरीर से हमको उसी तप के करने की सुविधा दी है। हम आपको प्रणाम करते है।

पितृगण ने कहा—भगवन्, हमारे वंशज हमारा श्राद्ध करते थे; लेकिन यह दुष्ट दैत्य ज़बरदस्ती हमारे भाग को खा जाता था। तीर्थस्नान के समय हमारे लिए हमारी सन्तान जो तर्पण करती थी, उसे भी यही पी लेता था। आपने अपने पैने नखों से इसका पेट फाड़कर हमारा हिस्सा हमको लौटा दिया। हे सब धर्मों के रक्षक नृसिंह भगवान, हम आपको प्रणाम करते हैं।

सिद्धगण ने कहा—हे नृसिंहजी, इस दुष्ट ने अपने योग और तप के बल से हमारी योगसिद्ध अणिमा आदि सिद्धियों को छीन लिया था। नखों से इस महाअहंकारी दुष्ट का पेट फाड़कर आपने हम लोगों पर बड़ा ही अनुग्रह किया। आपको हमारा प्रणाम है।

विद्याधरों ने कहा—हमारी भिन्न-भिन्न धारणाओं के द्वारा प्राप्त विद्याओं को इस बल और वीर्य का घमंड रखनेवाले अज्ञ दानव ने बेकार कर दिया था, इसको जिन्होंने युद्ध में पशु की तरह मार डाला, उन माया के द्वारा नृसिंहरूप रखनेवाले भगवान् नारायण को प्रणाम है।

नागों ने कहा—जिस पापी ने हमारे फनों की मणियाँ और हमारी रत्न के समान श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्रियाँ ज़बरदस्ती छीन ली थीं, उसका हृदय फाड़कर हमको और हमारी स्त्रियों को आनन्द देनेवाले हरि को हमारा प्रणाम है।

मनुगण ने कहा—देव, हम आपकी आज्ञा का पालन करनेवाले मनुगण हैं, दुष्ट दैत्य ने हमारी रची हुई वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा को नष्ट कर दिया था। आपने उस दुष्ट का संहार किया। प्रभो, हम आपके किंकर क्या करें, हमको आज्ञा दीजिए।

प्रजापतिगण ने कहा—हे परेश, हम आपके उत्पन्न किये हुए प्रजापति हैं। इस दुष्ट दैत्य की बाधा से इतने दिनों तक हम आपकी प्रजाओं की सृष्टि नहीं कर पाये। वही यह दुष्ट मरा हुआ पड़ा है, यह बड़े आनन्द की बात है। हे सत्त्वमूर्त्ति, आपका अवतार जगत् के कल्याण के लिए ही हुआ करता है।

गंधर्वगण ने कहा—हे विभो, हम आपके आगे नाचनेवाले और आपके गुण गानेवाले हैं। इस दुष्ट ने शौर्य, वीर्य और शक्ति के द्वारा प्रभावशाली होकर हमको अपने अधीन कर लिया था; हम इसी की स्तुति करने के लिए लाचार थे। किन्तु आज आपने उसकी यह दशा कर दी। सच है, राह छोड़कर कुराह चलनेवाले का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

चारणों ने कहा—हे हरि, आपके ये चरणकमल संसार से छुटकारा देनेवाले हैं। हमने इन्हीं का आश्रय लिया है। कारण, आपने साधुओं के हृदय को दुखानेवाले इस असुर को मारकर लोककल्याण का काम किया है।

यक्षगण ने कहा—प्रभो, हम मनोहर कर्मों के द्वारा आपके अनुचरों में श्रेष्ठ हैं। इस दैत्य ने हमको अपना वाहक बनाया था। हे चौबीस तत्त्वों के नियामक पचीसवें तत्त्व परमात्मा, हे नृसिंह, इस दुष्ट से लोकों को सन्ताप मिलता जानकर आपने इसे मार डाला।

किम्पुरुषगण ने कहा—भगवन, हम एक तुच्छ प्राणी किम्पुरुष हैं और आप महापुरुष ईश्वर हैं। यह साधु-विरोधी दुष्ट दैत्य साधुओं के धिक्कार से नष्ट हो गया। यह कर्म आपके लिए एक बहुत ही साधारण बात है।

वेतालगण ने कहा—सभाओं में और यज्ञशालाओं में आपके निर्मल यश को गा-गाकर हम लोग बहुत-सी पूजा पाते थे। किन्तु इस दुष्ट दानव ने हमारा सब हर लिया था। भगवन्, बड़े भाग्य की बात है कि रोग की तरह दुःखदायक यह दानव आपके हाथ से मारा गया।

किन्नरगण ने कहा—हे ईश, हम आपके अनुगत किन्नर हैं। यह दानव हमसे बेगार लेता था। हे हरि, आपने इस पापी को मारकर बहुत अच्छा किया। हे नरहरि, हे नाथ, आप हमारा कल्याण कीजिए।

भगवान के पार्षदों ने कहा—हे शरण देनेवाले, आज हमने सब लोगों को सुखदायक आपका यह नृसिंहरूप देखा। हे ईश, यह दैत्य तो वही आपका ब्रह्मशापग्रस्त प्रिय पार्षद है। आपके हाथ से इसका मरना ही हमारी समझ में इस पर आपकी कृपा का फल है।

---

# नवाँ अध्याय

## प्रह्लादकृत नृसिंहजी की स्तुति

नारदजी कहते हैं—ब्रह्मा, रुद्र आदि सब देवता इस तरह दूर ही से नृसिंहजी की स्तुति कर रहे थे। बहुत ही कुपित भगवान के पास तक जाने का साहस किसी को न होता था। देवगण ने पहले साक्षात लक्ष्मीदेवी से भगवान के पास जाने की प्रार्थना की। पर उन्होंने भगवान का ऐसा अद्भुत और रौद्र रूप न कभी देखा था और न सुना था, इसलिए शंका के कारण वह हरि के समीप नहीं गईं। तब ब्रह्माजी ने पास ही खड़े हुए प्रह्लाद को भगवान के पास भेजा। उन्होंने कहा—बेटा प्रह्लाद, यह भगवान् नृसिंह तुम्हारे ही पिता पर कुपित हैं, इसलिए तुम्हीं पास जाकर इनका कोप शान्त करो। महाभागवत बालक प्रह्लाद ने "बहुत अच्छा" कहकर, नृसिंहजी के निकट जाकर, हाथ जोड़, पृथ्वी पर गिरकर दंडवत प्रणाम किया। प्रह्लाद को अपने श्रीचरणों पर पड़ा हुआ देखकर भगवान का क्रोध शान्त हो गया; उनको दया आ गई। जिनका मन कालरूपी साँप से डरा हुआ है, उनको अभयदान करनेवाला अपना करकमल नृसिंहजी ने प्रह्लाद के सिर पर रख दिया। हरि के हाथ का स्पर्श पाते ही प्रह्लाद के सब अशुभ दूर हो गये। उसी क्षण उनके हृदय में ब्रह्मज्ञान का उदय हुआ। वह परमानन्द के अधिकारी होकर हृदय में हरि के चरणारविंदों का ध्यान करने लगे। प्रह्लाद के रोएँ खड़े हो गये, आँखों में आनन्द के आँसू भर आये और उनका हृदय प्रेमरस से भीग गया।

तब प्रह्लादजी एकाग्र मन से तन्मय होकर, भगवान् में ही मन और नेत्र लगाकर, प्रेमगद्गद स्वर से नृसिंहजी की स्तुति करने लगे। प्रह्लाद ने कहा—सतोगुणी बुद्धिवाले ब्रह्मा आदि देवता, मुनि और ज्ञानी लोग अपने अनन्त वाक्य-प्रवाह के द्वारा जिनके अनन्त असीम गुणों का कीर्त्तन करते हुए अब तक जिनको प्रसन्न नहीं कर सके—जिनकी महिमा का पार नहीं पा सके, वह हरि मुझ असुरजाति की स्तुति से कैसे सन्तुष्ट होंगे ? परन्तु मैं जानता हूँ कि धन, अच्छे कुल में जन्म, रूप, तप, पांडित्य, इन्द्रियों की निपुणता, तेज का प्रभाव, शारीरिक बल, पौरुष, प्रज्ञा और अष्टांग योग का अभ्यास आदि गुण या विशेषताएँ उस परमपुरुष की आराधना की उपयुक्त सामग्री नहीं हैं। कारण, देखो, गजराज में पूर्वोक्त बारह गुणों में से एक भी गुण न होने पर भी, भगवान् गोविन्द केवल भक्ति से ही उस पर प्रसन्न हो गये। इन बारह गुणों से विभूषित ब्राह्मण भी अगर भगवान् पद्मनाभ के पादपद्म से विमुख हो तो मैं उस चांडाल को, जिसने अपने तन, मन, धन, वचन और कर्म भगवान् को अर्पण कर दिये हों, उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ समझता हूँ। कारण, हरि का भक्त चांडाल अपने कुल भर को पवित्र कर सकता है, पर वह भगवान् से विमुख ब्राह्मण बड़े सम्मान का पात्र होकर भी अपने कुल को पवित्र नहीं कर सकता। यह प्रभु भगवान् आत्मलाभ से ही परिपूर्ण और परम दयालु हैं। इसीलिए अज्ञानी पुरुषों से अपनी पूजा की चाह नहीं रखते। तथापि मनुष्य जो भगवान् का सम्मान, पूजन और भजन करते हैं, उससे उन्हीं का कल्याण होता है, जैसे मुखमंडल में तिलक आदि शृंगार करने से उनके द्वारा मुख के प्रतिबिम्ब की ही शोभा होती है। इसलिए मैं नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी सब तरह की हिचक और संकोच छोड़कर अपनी बुद्धि के अनुसार सभी प्रकार से भगवान ईश्वर की महिमा का वर्णन करूँगा, क्योंकि हरि की महिमा का वर्णन करने से अज्ञान के कारण संसार में भटक रहा जीव भी पवित्र और मुक्त हो जाता है। स्वामी, ये सब ब्रह्मा आदि देवता आपके रोष को देखकर डर रहे हैं। ये सब आपकी आज्ञा का पालन करनेवाले हैं, आपके श्रद्धालु भक्त हैं। हमारी असुर-जाति की तरह ये वैर भाव से आपको नहीं भजते। भगवन्, आप इस तरह के विचित्र मनोहर अवतारों के द्वारा इस तरह की विविध लीलाओं को केवल इस जगत् के कल्याण और आत्मसुख के लिए ही किया करते हैं। इसलिए इस समय आप अपने क्रोध को कृपाकर शान्त कीजिए; क्योंकि आप असुर का संहार कर चुके। बिच्छू, साँप आदि हिंसक और लोगों को कष्ट पहुँचानेवाले जीवों की हत्या से तो साधुजन भी प्रसन्न होते हैं। असुर के वध से प्रसन्न सब त्रिभुवनवासी लोग आपका कोप शान्त होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे नृसिंहजी, साधारणतः भय के समय लोग निर्भय होने के लिए आपका नाम लेते और आपके रूप का



स्मरण करते हैं; इसलिए लोगों के भय को दूर कीजिए। हे अजित, आपके इस भयानक जिह्वा से युक्त मुख, सूर्य के समान तीव्र ज्योतिवाले नेत्र, टेढ़ी भौंहें, उग्र दाढ़ें, गले में आँतों की माला, रुधिर से भीगे और ऊपर उठे हुए कान और गर्दन की जटाओं से मैं नहीं डरता। जिसे सुनकर बड़े-बड़े दिग्गज काँप उठे, उस आपके हृदय को दहला देनेवाले गर्जन अथवा इन शत्रु के हृदय को फाड़नेवाले पैने नुकीले नखों से भी मुझे डर नहीं लगता। किन्तु हे दीनबन्धु, उग्र संसार-चक्र में पड़कर पिसने से मैं बहुत डरता हूँ। कारण, मैं इस संसार-चक्र के बीच काम-क्रोध आदि हिंसक जीवों के बीच अपने कर्मों से जकड़ा पड़ा हूँ। हे श्रेष्ठतम, आप प्रसन्न होकर कब मुझको अपने मोक्षदायक चरणों की शरण में बुला लेंगे? हे देव, मैं सभी योनियों में प्रिय ( परमात्मा ) के वियोग और अप्रिय ( अज्ञान ) के संयोग से उत्पन्न शोक की आग में जलता रहा हूँ। दुःख की जो दवा ( कर्म ) है, वह भी दुःख ही है। मैं देह आदि में ममता और अभिमान करके इस संसार-चक्र में लगातार घूम रहा हूँ। भगवन, मुझको अपना दास होने का योग ( उपाय ) बताइए। आप प्रिय सुहृद् और परम देवता हैं। ब्रह्मा आदि आपका कीर्तन और भजन करते हैं। आपकी लीलाओं से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं को कहता हुआ, आपके चरणकमलों के आश्रित परमहंसों के संगलाभ से माया से छुटकारा पाकर मैं सहज में ही सब तरह से कष्ट देनेवाले जन्म-मरण आदि के संकटों से मुक्त हो जाऊँगा। हे नृसिंह, दुःख से तपे हुए व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिए जितने उपाय लोक में प्रसिद्ध हैं, वे उन प्राणियों का कोई उपकार नहीं कर सकते, जिनके ऊपर आपकी कृपादृष्टि नहीं है। उनसे उन मनुष्यों का कुछ ही समय के लिए कल्याण अर्थात स्वर्गादि सुख का लाभ होता है; आत्यन्तिक कल्याण अर्थात मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। पिता-माता बालक की, दवा रोगी की और नौका सागर में डूब रहे की पूर्ण रूप से रक्षा नहीं कर सकती; क्योंकि देखा जाता है कि पिता-माता के रहने पर भी बालक को दुःख-कष्ट मिलता है; दवा के रहने पर भी रोगी मर जाता है और नाव को पाकर भी लोग नाव के साथ ही डूब जाते हैं। इसलिए केवल आप ही सबके रक्षक और दुःख दूर करनेवाले हैं। विविध स्वभावों से युक्त अपर कर्त्ता ( पिता आदि ) हो, चाहे पर कर्त्ता ( विधाता आदि ) हो, जिसमें, जिसलिए, जब, जिसके द्वारा, जिसको, जिसके द्वारा प्रेरित होकर, जिससे लिए, जो कार्य जिस प्रकार प्रस्तुत या रूपान्तर को प्राप्त होता है, सो सब आपका ही स्वरूप है। काल पाकर माया के गुणों में क्षोभ होने से उस माया ने आपका अंश जो पुरुष है उसके अनुमोदित अनुग्रह से लिंगशरीर की सृष्टि की। लिंगशरीर का प्रधान अंग मन है। वह मन दुर्जय, कर्ममय और छंदोमय अर्थात वेदोक्त कर्मकाण्डप्रधान है। जीव की अविद्या ने संसारभोग के लिए उसमें सोलह विकार ( ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके विषय पाँच तन्मात्राएँ ) युक्त कर दिये हैं। हे अज, ऐसे संसारमय मन ( लिंगशरीर ) से आपके बिना कौन छुटकारा पा सकता है? हे ईश्वर, जिन्होंने अपनी चितशक्ति के द्वारा बुद्धि के सब गुणों को जीत लिया है, आप वही महापुरुष महाकाल हैं। इसीलिए सब कार्य-कारण-शक्तियाँ आपके अधीन हैं। मैं पूर्वोक्त सोलह विकाररूप आरों से युक्त घोर संसार-चक्र में मायावश पड़ा हुआ ईख की तरह पिस रहा हूँ। हे प्रभो, आप मुझ शरणागत को अपने चरणों के निकट निर्भय स्थान में आश्रय दीजिए। भगवन, सब लोग जिसकी चाह करते हैं, उस लोकपालों के ऐश्वर्य, वैभव और संपदा को मैं देख चुका! मेरे पिता की क्रोधपूर्ण दृष्टि और टेढ़ी भौंहें के एक इशारे से वह वैभव लोकपालों ने गँवा दिया था। उसी मेरे उद्दण्ड पिता को आपने अनायास पल भर में मार डाला। बस, देहधारियों के विषय-भोग का परिणाम मुझे भली भाँति मालूम हो गया। नाथ, ब्रह्मा के लोक से लेकर साधारण भोग तक की, अथवा आयु, लक्ष्मी और वैभव इत्यादि किसी भी वस्तु की मुझे अभिलाषा नहीं है। कारण, महाविक्रमशाली कालस्वरूप आप इस सबको पल भर में नष्ट कर देते हैं। मुझे

आप अपने सेवकों के समीप स्थान दीजिए। कहाँ सुनने में कानों को सुखदायक, किन्तु मृगतृष्णा के समान मिथ्या सब मंगलकामनाएँ, और कहाँ सब रोगों की खान यह देह! यह जानकर भी लोग शहद के समान दुर्लभ सुख-भोग के द्वारा कामाग्नि को शान्त करने में लगे रहने के कारण "वास्तव में दुःख क्या है" यह जानने का अवसर ही नहीं पाते; इसीलिए उन्हें संसार से वैराग्य नहीं होता। हे ईश्वर, कहाँ रजोगुण से उत्पन्न तमोगुणी स्वभाववाला असुर मैं, और कहाँ आपका अनुग्रह! शंकर और लक्ष्मी-देवी के सिर पर भी अपनी प्रसन्नता का निदर्शनरूप जो करकमल आपने कभी नहीं रक्खा, वही करकमल कृपालु होकर आपने आज मेरे सिर पर रख दिया, यह मेरे लिए क्या कम गौरव और सौभाग्य की बात है? आप जगत् के आत्मा और सुहृद् हैं, इसीलिए साधारण लोगों की तरह "यह ऊँच है, यह नीच" इस प्रकार भेदबुद्धि आप नहीं रखते। जिस तरह सेवा करने से कल्पवृक्ष समान रूप से सबकी सब कामनाएँ पूरी कर देता है, वैसे ही आप भी ऊँच या नीच, कैसा भी भक्त हो, उसे अपनाकर उसकी सब कामनाएँ पूरी करते हैं। भगवन्, विषय-भोग की अभिलाषा रखनेवाले सब मूढ़जन कालसर्प के निवास-स्थान संसार-कूप में पड़े हुए हैं। मैं भी उन्हीं के संग से उसी अंधकूप में गिर रहा था। पर भगवान् नारद ने अनुग्रह करके मुझे उस अंधकूप से उबार लिया। फिर मैं आपके भक्त साधुओं की सेवा को कैसे छोड़ सकता हूँ? हे अनन्त, मेरे पिता ने अन्याय करने के लिए तैयार होकर तलवार हाथ में लेकर जब कहा कि मैं तेरा सिर काटता हूँ; मेरे सिवा और कोई ईश्वर हो तो आकर तेरी रक्षा करे, तभी आपने खंभे से प्रकट होकर उसे मारा और मेरी रक्षा की। ये दोनों काम आपने अपने सेवक की बात सच्ची करने के लिए ही किये। नाथ, यह सारा जगत् आपका ही स्वरूप है। इसके आदि, मध्य और अन्त में आप ही विराजमान हैं। आप अपनी माया से उत्पन्न गुणपरिणामरूप इस जगत् में अनुप्रविष्ट होकर उन सब गुणों को ग्रहण करने के कारण अनेकरूप प्रतीत होते हैं। हे ईश, आप ही यह कार्य-कारणरूप जगत् हैं। यह जगत् आपसे अलग नहीं है, लेकिन आप इससे अलग हैं। इसलिए अपने-पराये का भेद मिथ्या मायामय भ्रममात्र है। जिससे जिसकी सृष्टि, स्थिति, प्रकाश और संहार होता है, वह कारण और कार्य अभिन्न होते हैं। वृक्ष जैसे पृथ्वी से उत्पन्न बीज का ही रूप है, पृथ्वी जैसे भूतसूक्ष्म का ही रूप है, वैसे ही यह संपूर्ण जगत् आपका ही रूप है। आप स्वयं, इस जगत् को अपने में लीन करके, अपने परमानंद का अनुभव करते हुए निश्चेष्ट भाव से प्रलयसागर में शयन करते है। आप योगमाया के द्वारा नेत्र मूँदे हुए अपने प्रकाश (ज्ञान) में लीन निद्रायुक्त, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से अतीत तुरीय अवस्थारूप अपने रूप मे अवस्थित रहते हैं; तमोयुक्त अथवा विषय के भोक्ता नहीं होते। उन्हीं आपका स्वरूप यह जगत् है। अपनी कालशक्ति के द्वारा माया के धर्म जो सत्व आदि तीनों गुण हैं, उनको आप प्रेरणा करते हैं। अनन्त-शयन से समाधि का विराम होने के समय एकार्णव जल के भीतर आपकी नाभि से एक महापद्म प्रकट हुआ। वह लोकमय कमल प्रलय के समय आपमें ही छिपा हुआ या लीन रहता है। सूक्ष्म बरगद के बीज से जैसे बड़ा भारी पेड़ पैदा होता है, वैसे ही उस महापद्म से ये सब लोक उत्पन्न हुए। उसी पद्म से उत्पन्न ब्रह्मा ने उस प्रलयसागर के बीच उस पद्म के सिवा और कोई वस्तु नहीं देख पाई। तब ब्रह्मा पद्म की उत्पत्ति के आधार या कारण को सौ वर्ष तक जल के भीतर रहकर खोजते रहे। उस पद्म के उपादानकारण-स्वरूप आप यद्यपि ब्रह्माजी के शरीर में ही व्याप्त थे, तथापि वह आपको नहीं जान सके। अंकुर उत्पन्न हो जाने पर बीज क्या उससे अलग देख पड़ता है? अन्त को ब्रह्मा ने विस्मित भाव से उसी कमल के ऊपर बैठकर बहुत समय तक घोर तपस्या की। तब चित्त के शुद्ध होने पर, भूमि में व्याप्त सूक्ष्म गंध की तरह, उन्होंने पंचभूत-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिमय अपने शरीर में सत्मात्ररूप से

अवस्थित आपको देख पाया। हज़ारों मुख, हज़ारों पैर, हज़ारों सिर, हज़ारों हाथ, हज़ारों ऊरु, हज़ारों नाक, हज़ारों कान, हज़ारों आँखों, हज़ारों आभूषणों और हज़ारों अस्त्र-शस्त्रों से युक्त तथा मायामय पाताल आदि अंगों से शोभित विराट् पुरुषरूप आपके दर्शन पाकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए। तब आपने हयग्रीव अवतार लेकर देवगण से द्रोह करनेवाले महाबली मधु और कैटभ नाम के रजोगुण और तमोगुण के दोनों असुरों का वध किया। वे असुर वेदों को हर ले गये थे। आपने उन्हें मारकर वे वेद ब्रह्माजी को लौटा दिये। भगवन, वेद में कहा है कि सत्वगुण आपकी प्रिय मूर्त्ति है। आप इसी तरह मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता, मत्स्य आदि अवतारों के द्वारा सब लोकों का पालन, जगत् के प्रतिकूल व्यक्तियों का विनाश और युग-परंपरा से चले आये हुए सनातनधर्म की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आपके दर्शन नहीं होते। इसीसे आप त्रियुग नाम से प्रसिद्ध हैं। हे वैकुंठ के स्वामी, मेरा मन कलुषित, दूषित, बहिर्मुख, दुर्धर्ष और कामनाओं से विकल है। इसीलिए हर्ष, शोक, भय और त्रिविध तापों के द्वारा पीड़ित होने के कारण आपकी कथा में मन नहीं लगता। मैं दीन और मंदमति ऐसे मन से कैसे आपका तत्त्व विचारने में समर्थ हो सकता हूँ? हे अच्युत, जैसे बहुत सौतें मिलकर एक पति को अपनी-अपनी ओर खींचती हुई हैरान कर डालती हैं, वैसे ही मेरे मन को जीभ अपनी ओर, शिश्न अपनी ओर, त्वचा, उदर और कान अपनी ओर, नाक और चंचल नेत्र अपनी ओर तथा अन्य कर्मेंद्रियाँ अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। हे पार-स्थित भगवन्, हे जगद्गुरो, इस प्रकार संसार-रूप वैतरणी नदी में अपने-अपने कर्म के कारण पड़े हुए और परस्पर-संभूत जन्म-मरण और खान-पान के द्वारा बहुत डरे हुए, भेदबुद्धि रखनेवाले मुझ मूढ़ की रक्षा करिए—मैं कृपादृष्टि चाहता हूँ; मुझ पर अनुग्रह करिए। आप इस जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार करनेवाले हैं। इस कारण भक्त लोगों को संसार-सागर के पार कर देना आपके लिए कोई कठिन काम नहीं है। हे दीनबन्धो, आप महात्मा है। आप मूढ़ जनों पर भी अनुग्रह करते हैं। मैं आपके भक्तों का सेवक हूँ, इसलिए मुझे संसार के पार जाने की कुछ चिन्ता नहीं है—मुक्ति की कामना नहीं है। हे सर्वश्रेष्ठ, आपके चरित्रगान की सुधा में मेरा मन मग्न है, इसलिए मैं दुस्तर संसार-रूप वैतरणी को भी नहीं डरता। लेकिन उन मूढ़ जनों को देखकर मुझे बड़ा शोक होता है, जो आपके लीलामृत से विमुख होकर इन्द्रियों से भोगे जानेवाले मायामय सुख के लिए जीवन का भार वहन करते हैं। हे देव, मुनिजन प्रायः अपने मोक्ष की अभिलाषा से एकान्त निर्जन स्थान में बैठकर मौन साधकर तप करते हैं, पराये उद्धार की चेष्टा नहीं करते। किन्तु मैं इन दीन मूढ़ लोगों को छोड़कर अकेले मुक्ति भी नहीं चाहता। कर्मवश अनेकानेक योनियों में भटक रहे इन लोगों का आपके सिवा और कोई रक्षक मुझे नहीं देख पड़ता। स्त्रीसंग आदि गृहस्थाश्रम के सुख 'खाज' के समान है। जैसे खाज में खुजलाते समय बड़ा सुख मिलता है, लेकिन उससे खाज बढ़ती ही है, घटती नहीं, और अन्त को कष्ट प्राप्त होता है, वैसे ही स्त्रीसंग आदि का सुख भी तुच्छ है। दीन अज्ञजन उसमें हमेशा दुःख पाकर भी तृप्त नहीं होते। आपकी कृपा से ऐसा ही कोई धीर पुरुष खाज के समान काम के वेग को रोक सकता है। मौन, व्रत, श्रुत, तप, स्वाध्याय, स्वधर्म, वेद की व्याख्या, निर्जन में रहना, जप और समाधि—ये दस मोक्ष के साधन प्रसिद्ध हैं। किन्तु हे जगदीश्वर, ये साधन प्रायः अजितेन्द्रिय पुरुषों के जीवन का उपाय होते हैं और पाखंडी पुरुषों की भी कभी-कभी इनसे जीविका चलती है। मतलब यह कि वास्तव में मोक्ष का साधन आपकी अनन्य भक्ति ही है। वेद में बीज और अंकुर के समान कार्य और कारण, दोनों आपके रूप कहे गये हैं, लेकिन आप रूप, नाम आदि से रहित हैं। जैसे रगड़ने से काठ में आग का अनुभव होता है, वैसे ही जितेंद्रिय योगीजन भक्तियोग के द्वारा कार्य और कारण, दोनों को आपके अनुगत देखते है। और किसी

प्रकार से उनका ज्ञान नहीं होता। वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, रूप आदि पंचतन्मात्रा, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, चित्त, अहंकार और इन सबके अधिष्ठाता देवता, सब कुछ आप ही हैं। स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् सगुण और निर्गुण आप ही है। मन और वाणी के गोचर जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब आपसे भिन्न नहीं हैं। गुणों के अधिष्ठाता देवता, गुणों के आधार महत्तत्त्व आदि, मन, देवता और मनुष्य सभी जड़ उपाधि हैं, सबका आदि और अन्त है। हे नाथ, इसीलिए बुद्धिमान् ज्ञानी लोग विचारपूर्वक वेदाध्ययन आदि से निवृत्त होकर समाधियोग के द्वारा आपकी आराधना करते हैं। हे पूज्यतम, केवल परमहंस लोग ही आपको पा सकते हैं। नमस्कार, स्तुति, सब कर्मों का समर्पण, पूजा, चरणों को स्मरण करना और कथा को सुनना, इस छः प्रकार की सेवा के सिवा किसी को आपकी भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

नारदजी कहते हैं—भक्त प्रह्लाद ने जब भक्ति के साथ भगवान् के गुणों का वर्णन किया, तब निर्गुण नृसिंहजी क्रोध को शान्त करके प्रसन्न होकर प्रणत प्रह्लाद से बोले। नृसिंहजी ने कहा—वत्स प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वरदान मुझसे माँग लो। मैं ही मनुष्यों की सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला हूँ। हे चिरंजीव, जो कोई मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता, उसे मेरा दर्शन दुर्लभ है। मेरे दर्शन होने पर किसी की कामना अपूर्ण नहीं रहती, जिसके लिए उसे पछताना पड़े। हे महाभाग, मैं सब कल्याणों का स्वामी हूँ। धीर साधुजन कल्याण की कामना करके अनन्यभाव से मुझे ही सन्तुष्ट करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।

नारदजी कहते हैं कि असुरों में श्रेष्ठ प्रह्लादजी तो भगवान् के निष्काम भक्त थे, इस कारण अन्य लोगों के मन को लुभानेवाले वरदान का लोभ दिखाने पर भी उन्होंने भगवान् से किसी भी वरदान की इच्छा नहीं प्रकट की।

# दसवाँ अध्याय

## त्रिपुर-संहार का वर्णन

नारदजी ने कहा—हे युधिष्ठिर, सब प्रकार के वरदानों को भक्तियोग में विघ्न डालनेवाला जानकर बालक प्रह्लाद कुछ हँसकर नृसिंह भगवान् से बोले। प्रह्लाद ने कहा—नाथ, मेरी असुरजाति स्वभाव से ही तमोगुणी-रजोगुणी होने के कारण कामासक्त है। ये सब वर दिखाकर मुझे प्रलोभित न कीजिए। प्रभो, मुझको जान पड़ता है, आपने मेरी परीक्षा करने के लिए ( अर्थात् यह जानने के लिए कि यह मेरा सच्चा भक्त है या नहीं ) संसार के बीज और हृदय की गाँठ जो कामनाएँ हैं, उनकी ओर अपने भक्त को आकृष्ट करना चाहा है। नहीं तो हे जगद्गुरो, आप तो करुणानिधि हैं; आपका इस प्रकार अपने भक्तों को अनर्थ-रूप विषयों की ओर प्रवृत्त करना असंभव ही है। नाथ, जो पुरुष आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आपसे संसार के सुख माँगे, वह सेवक नहीं, व्यापारी है। स्वामी से जो कोई सेवा के बदले में किसी कल्याण की आशा करता है, वह सेवक नहीं है और जो स्वामी अपने प्रभुत्व की इच्छा से सेवक का कोई उपकार करता है, वह भी प्रभु नहीं है। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, और आप भी मेरे इच्छाशून्य पूर्णकाम स्वामी हैं। अतएव अन्य साधारण स्वामी और सेवक की तरह मेरी और आपकी कोई कामना या स्वार्थ नहीं है। हे ईश्वर, हे वरदानियों में श्रेष्ठ, अगर आप मुझे अभीष्ट वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दें कि मेरे हृदय में अभिलाषाओं का अंकुर न जमे। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ। भगवन्, वासना या कामना से बड़ा अनिष्ट

होता है। कामना के उत्पन्न होने से इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लोकलाज, संपत्ति, तेज, स्मृति और सत्य का विनाश होता है। हे कमलनयन, जब मनुष्य हृदय में स्थित सभी कामनाओं का त्याग कर देता है, तभी आपके समान ऐश्वर्य पाने के योग्य होता है। आप भगवान् परमपुरुष, महात्मा हरि, विचित्र नृसिंह, परब्रह्म परमात्मा हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ।

नृसिंहजी ने प्रसन्न होकर कहा—वत्स, यह सच है कि तुम जैसे भक्त लोग इस लोक या परलोक का कोई कल्याण मुझसे नहीं माँगते; वे केवल मेरी सेवा और भक्ति से ही सन्तुष्ट रहते हैं। तो भी मैं तुमको यह वर देता हूँ कि तुम इस मन्वन्तर भर इसी स्थान में रहकर दैत्यपतियों के भोग करने योग्य सभी दुर्लभ भोगों को भोगो। मेरी सब प्रिय कथाएँ और चरित्र सदा सुनो और पढ़ो। सब प्राणियों में स्थित एकमात्र यज्ञ का अधिष्ठाता जो मैं हूँ, उसका अपने हृदय में ध्यान धरो। सब कर्म मुझे अर्पण करते हुए कर्मफल की कामना छोड़कर यज्ञ आदि से मेरी आराधना करो। हे वत्स, भोग के द्वारा पुण्य को और पुण्य के द्वारा पाप को नष्ट कर, यथा-समय यह शरीर छोड़कर जब तुम भवबन्धन से छुटकारा पा जाओगे, तब तुम मुझे प्राप्त होगे। तुम्हारी कीर्त्ति को देवता भी आदर के साथ गावेंगे। जो मनुष्य समय-समय पर तुम्हारी की हुई इस मेरी स्तुति को पढ़ेंगे, तुम्हें और मुझे स्मरण करेंगे, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जायँगे।

प्रह्लादजी ने कहा—आप वरदानी और परमेश्वर हैं। मैं आपसे केवल एक यह वर माँगता हूँ कि मेरे पिता ने आपके ऐश्वर्य और तेज को न जानने के कारण आपकी जो निन्दा की है, क्रोध के वशीभूत होकर जगद्गुरु आपको "भाई की हत्या करनेवाला" समझकर जो कटुवचन कहे हैं, और मुझ आपके भक्त पर अनेक अत्याचार किये हैं, उन्हें आप क्षमा कर दीजिए। हे दीनबन्धु, मेरा पिता यद्यपि आपके स्पर्श से पवित्र हो गया है, तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि वह संपूर्ण दुस्तर दुरन्त पाप से छुटकारा पा जाय।

भगवान् नृसिंह ने कहा—हे निष्पाप प्रह्लाद, तुम्हारे समान कुलपावन पुत्र के जन्म लेने से ही तुम्हारा पिता अपनी इक्कीस पीढ़ियों समेत पवित्र हो गया। जहाँ समदर्शी, प्रशान्त, साधु, सदाचारी मेरे भक्त रहते हैं, वहाँ के निवासी नीचजन भी पवित्र हो जाते हैं। हे दैत्येन्द्र, जो महापुरुष हैं, जो किसी भी प्राणी की भरसक हिंसा नहीं करते, किसी का जी नहीं दुखाते, जिन्होंने मेरी भावना और भाव से पूर्ण होकर सभी कामनाएँ छोड़ दी है, जो तुम्हारे समान मेरे अनुगत हैं, वे ही मेरे भक्त हैं। तुम मेरे भक्तों में श्रेष्ठ और मेरे भक्तों का आदर्श हो। तुम्हारा पिता सब तरह से पवित्र हो गया। तथापि इस समय तुम पुत्र का कर्त्तव्य अर्थात् पिता का क्रिया-कर्म करो! प्रह्लाद, तुम्हारा पिता तुम जैसे सुपुत्र को पाकर और फिर मेरे स्पर्श के सौभाग्य से अवश्य ही सद्गति को प्राप्त होगा। हे तात, अब तुम अपने पिता की जगह दैत्यों के राजा होकर, वेदवादी मुनियों की आज्ञा का पालन करते हुए, मुझमें मन लगाकर निर्लिप्त निष्काम भाव से सत्कर्म करो।

नारदजी कहते हैं—राजन्, प्रह्लाद ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार पिता का क्रिया-कर्म समाप्त किया। इसके बाद पूजनीय ब्राह्मणों ने उनका राज्याभिषेक किया।

फिर देवगणसहित ब्रह्माजी नृसिंहरूप भगवान् को प्रसन्न और सुमुख देखकर पवित्र वाक्यों से इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे। ब्रह्माजी ने कहा—हे देवदेव, हे जगन्नाथ, हे भूतभावन, हे पूर्वज, इस पापी असुर ने तपस्या के द्वारा मुझे प्रसन्न करके मुझसे यह वर माँग लिया था कि मेरी सृष्टि में जितने प्राणी हैं, उनके हाथ से उसकी मृत्यु न हो। इसके बाद तपोबल से उत्पथगामी होकर वह दुष्ट सब धर्मों की जड़ खोदने लगा। किन्तु हमारे भाग्य से उस लोकपीड़क असुर को आपने मार डाला। उस दैत्य के पुत्र महाभागवत् बालक प्रह्लाद की आपने रक्षा की, यह भी बड़े सौभाग्य की बात है। यह प्रह्लाद इस

समय भली भाँति आपको प्राप्त हुए, यह भी साधारण सौभाग्य की बात नहीं है। भगवन्, आप परमात्मा हैं। जो कोई आपका ध्यान करेगा, उसको आपकी यह नृसिंहमूर्त्ति सब प्रकार के भय और मृत्यु से बचावेगी।

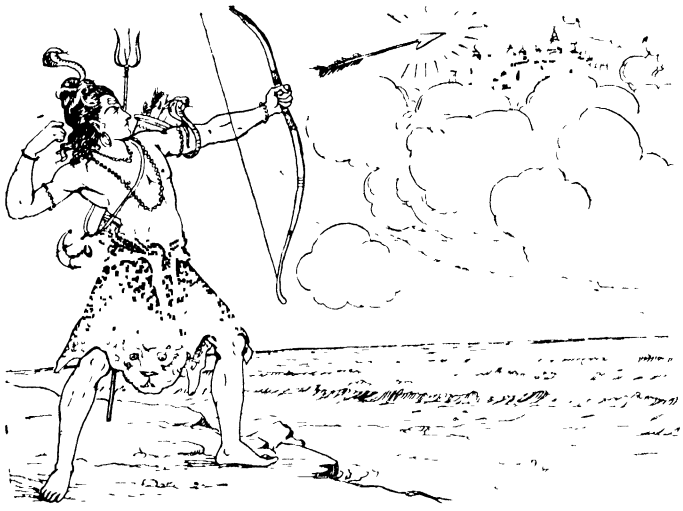
नृसिंहजी ने ब्रह्माजी से कहा—हे विभो, हे कमलयोनि ब्रह्माजी, असुर जाति स्वभाव से ही तमोगुणी होने के कारण दुष्ट होती है। असुरों को ऐसा वरदान देना साँप को दूध पिलाने के समान अविवेचना का काम है। इसलिए असुरों को अब आप ऐसे अलभ्य वर कभी न दीजिएगा।

नारदजी कहते हैं—इतना कहकर और ब्रह्माजी की पूजा ग्रहण करके भगवान नृसिंहजी सबके देखते-देखते अन्तर्द्धान हो गये। तब प्रह्लादजी ने भगवान् के अंश जो ब्रह्मा, महादेव, प्रजापति, इन्द्र आदि देवता हैं, उनकी पूजा की; पृथ्वी पर सिर झुकाकर सबको दण्डवत् की। तब शुक्राचार्य आदि मुनियों सहित ब्रह्माजी ने प्रह्लादजी को सभी दैत्यों और दानवों का स्वामी बना दिया। सब देवता प्रह्लादजी पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए आशीर्वाद देकर और पूजा लेकर अपने-अपने लोक को चले गये। राजन्, विष्णु के वे दोनों पार्षद इस तरह सनकादिक के शाप से दिति के पुत्र होकर उत्पन्न हुए और शत्रुभाव से हरि का ध्यान करते हुए उनके हाथ से मारे गये। इसके बाद त्रेतायुग में वे ही रावण और कुंभकर्ण नाम के राक्षस हुए। इस दूसरे जन्म में भगवान् ने रामावतार लेकर उनका वध किया। उनका हृदय रामचन्द्र के बाणों से विदीर्ण हो गया। उन्होंने रणभूमि में शयन करके पूर्वजन्म के समान हरि का ध्यान करते हुए प्राण छोड़े। हे युधिष्ठिर, वे ही जय-विजय नाम के पार्षद तीसरे जन्म में शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए, जिन्हें तुम्हारे सामने ही, वैरभाव से सदा हरि का ध्यान करते रहने के कारण, सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई। इसी प्रकार कृष्णचन्द्र से शत्रुता रखनेवाले सब राजा, अन्त को, भगवान् का ही हर घड़ी ध्यान करने के कारण पूर्वसंचित पापराशि के नष्ट हो जाने से, उसी तरह हरि में लीन हो गये हैं, जिस तरह पेशस्कृत् नाम के कीड़े को सामने देखकर भय से उसका ध्यान करते-करते झींगुर भी वही हो जाता है। राजन्, तुमने प्रश्न किया था कि शिशुपाल आदि ने शत्रु होकर भी कैसे सायुज्य मुक्ति पाई? उसी के समाधान में मैंने यह उपाख्यान तुमको सुनाया है। इससे तुमको मालूम हो गया होगा कि भगवान् की भेददृष्टि-शून्य परमाभक्ति के द्वारा शिशुपाल आदि नरपतियों ने सायुज्य मुक्ति पाई है। ब्रह्मण्यदेव महापुरुष महात्मा श्रीकृष्णचंद्र के अवतार की यह पवित्र कथा मैंने तुमको सुनाई और इसके अन्तर्गत दोनों आदिदैत्यों के वध का वृत्तान्त भी वर्णन किया। महाभागवत प्रह्लाद का चरित्र; उनकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य; सृष्टि-स्थिति-प्रलय के ईश्वर भगवान नारायण का तत्त्व; प्रह्लादकृत हरि की स्तुति; हरि के गुणों का वर्णन; उत्तम-अधम सब स्थानों का काल के द्वारा होनेवाला विनाश और जिसके द्वारा भगवान का ज्ञान होता है, वह भागवतधर्म; ये सब विषय तथा आत्मानात्मविवेक आदि सब आध्यात्मिक रहस्य इस उपाख्यान में कहे गये हैं। इस परम पवित्र उपाख्यान में विशुद्ध विष्णु की कथा है। जो व्यक्ति इसे सुनकर श्रद्धा के साथ इसका कीर्त्तन करता है, वह कर्मबन्धन से छुटकारा पा जाता है। राजन्, जो व्यक्ति पवित्र होकर आदिपुरुष की यह नृसिंह-लीला और दैत्यपति एवं उसके अनुचरों के वध का वृत्तान्त पढ़ता है, साधुओं में श्रेष्ठ दैत्यतनय प्रह्लाद के पवित्र चरित्र को सुनता है, वह निर्भय होकर अन्त समय परमपावन वैकुण्ठधाम को जाता है। हे युधिष्ठिर, प्रह्लाद को भाग्यशाली और अपने को अभागा समझकर विषाद न करना। मनुष्यलोक में तुम भी बड़े भाग्यवान् हो। कारण, त्रिभुवन को पवित्र करनेवाले मुनिगण तुम्हारे भवन में पधारते रहते हैं; तुम्हारे भवन में मनुष्यरूप में छिपे हुए साक्षात् परब्रह्म कृष्णचन्द्र निवास करते हैं! यह कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं है। यह श्रीकृष्णचन्द्र वही परब्रह्म हैं। महात्मा परमहंस इन्हीं की खोज में रहते हैं। कैवल्य-

निर्वाण के सुख का अनुभव ही इनका स्वरूप है। जिनको तुम अपना प्रिय सुहृद्, मामा का पुत्र, आत्मा, पूजनीय, आज्ञाकारी और गुरु मानते हो, वह श्रीकृष्णचंद्र साक्षात् परब्रह्म हैं। शिव, ब्रह्मा आदि देवता अपनी बुद्धि के बल से जिनके रूप का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकते, वही भक्तवत्सल भगवान् मौन-व्रत, उपशम और भक्तियोग के द्वारा पूजित होकर हम पर प्रसन्न हों। राजन्, पहले महामायावी मय दानव ने रुद्रदेव के विशाल यश को नष्ट करने की चेष्टा की थी; किन्तु इन्हीं भगवान् कृष्णचंद्र ने रुद्र के यश की रक्षा की।

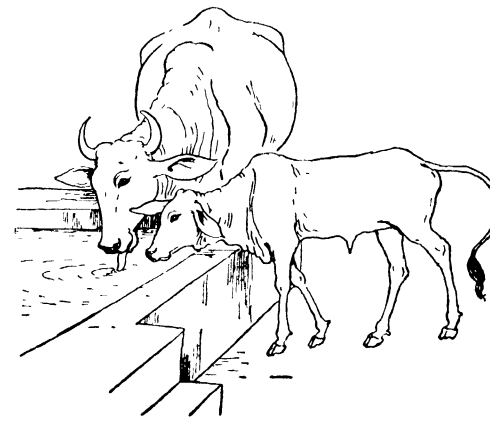
राजा युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्, मय दानव ने किस तरह रुद्र के यश को मिटाना चाहा था और नारायण ने किस तरह शंकर के यश को नष्ट होने से बचाया? कृपाकर यह सब वृत्तान्त मुझे सुनाइए।

नारदजी ने कहा—विष्णु के तेज और प्रभाव से देवतों का अभ्युदय हुआ और उन्होंने युद्ध में असुरों को मार भगाया। तब वे असुर मायावियों के प्रधान गुरु मय दानव की शरण में गये। तब उस समर्थ दानव ने दैत्यों को सोने, चाँदी और लोहे के तीन पुर अर्थात् विमान बना दिये। वे पुर आकाश में आते-जाते देख नहीं पड़ते थे। उनके भीतर इतना सामान था, जिसका अनुमान करना भी कठिन था। राजन्, असुरों के सेनापति उन विमानों पर बैठकर अलक्ष्य रहकर लोकपाल सहित लोकों का विनाश करते हुए घूमने लगे और इस तरह पहले का बदला लेने लगे। तब सब लोकों सहित लोकपाल भगवान् शंकर की शरण में गये। शिवजी को दण्डवत् प्रणाम करके वे कहने लगे—हे नाथ, हे देवदेव, हम सब आपके सेवक हैं। त्रिपुर-निवासी असुर हमारा नाश कर रहे हैं। आप उनसे हमारी रक्षा कीजिए।



भगवान शंकर ने देवतों पर अनुग्रह करके उन्हें अभयदान दिया। फिर ईश्वर रुद्र ने त्रिपुर को निशाना बनाकर अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। महाराज, जैसे सूर्य के मंडल से असख्य किरणें निकलती हैं, वैसे ही उस बाण से अनेक अग्निमय बाण उत्पन्न हुए, जिन्होंने दैत्यों के तीनों पुरों को ढक लिया। उन बाणों के लगते ही त्रिपुर के रहनेवाले दानव मर-मर कर नीचे पृथ्वी पर गिरने लगे। यह देखकर मायावी मय दानव ने उन सब मरे हुए दैत्यों के शरीर ले जाकर अपने बनाये हुए अमृत-कूप में डाल दिये। उस सिद्ध अमृत-रस के प्रभाव से वे सब दैत्य फिर जी उठे। उनमें फिर से महाबल आ गया। उनके सब अंग वज्र के समान सुदृढ़ हो गये। इस प्रकार जी उठने पर वे दैत्य बादलों को फाड़कर जैसे बिजली प्रकट होती है, वैसे ही फिर आकाशमण्डल में अपने विमानों सहित प्रकट हुए। उस समय शिव का उद्योग व्यर्थ होते देखकर भगवान विष्णु ने एक उपाय निकाला। विष्णु ने ब्रह्मा को बछड़ा बनाया, आप गऊ बने।

फिर दोपहर के समय त्रिपुर के भीतर प्रवेश किया। अमृत-कूप के पास जाकर ब्रह्मा के साथ वह सब अमृत-रस पी गये। वहाँ के रखवाले असुरगण देखते ही रह गये। भगवान् की माया में मोहित होने के कारण वे उनको रोक नहीं सके। महायोगी नारायण दैवगति का स्मरण कर हँसते हुए उन शोकाकुल रखवालों से यों कहने लगे—अपने लिए या दूसरे के लिए अथवा अपने और दूसरे के लिए जो कुछ दैव ने ठीक कर रक्खा है, उसे मनुष्य या और कोई अन्यथा नहीं कर सकता।



फिर भगवान् विष्णु ने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, अणिमा आदि ऐश्वर्य, सम्पत्ति, तप, विद्या और क्रिया आदि के द्वारा अपनी ही शक्ति जो शंकर हैं, उनके संग्राम की सामग्री रथ, सारथी, घोड़े, ध्वजा, धनुष, बाण, कवच आदि की रचना की। महेश्वर रुद्र ने कवच पहनकर धनुष और बाण हाथ में लिया। महाराज, शिवजी ने धनुष पर बाण चढ़ाकर दोपहर के समय अभिजित नक्षत्र में उस दुर्भेद्य और अदृश्य त्रिपुर (तीनों विमानों) को सहज में ही नष्ट कर डाला। तब आकाश में देवता नगाड़े बजाने लगे। विमानों पर चढ़े हुए देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध आदि "जय हो, जय हो" कहकर भगवान् शंकर के ऊपर फूल बरसाने लगे; गंधर्व प्रसन्न होकर गाने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं। भगवान् शंकर इस प्रकार त्रिपुर को भस्म करके ब्रह्मा आदि देवतों की स्तुति और पूजा स्वीकार करके अपने धाम को पधारे। राजन्, भगवान् हरि के ऐसे ही अनेकों चरित्र है। वह अपनी माया के द्वारा धारण किये हुए मनुष्यरूप के अनुरूप चेष्टाएँ करते हैं। उन जगद्गुरु के त्रिलोकपावन चरित्र, जिनको ऋषि-मुनि भक्ति के साथ गाते हैं, हमने आपको सुना दिये। कहिए, अब और क्या आप सुनना चाहते हैं?

# ग्यारहवाँ अध्याय

## मनुष्यधर्म, स्त्रीधर्म और वर्णाश्रमधर्म

श्रीशुकदेवजी ने कहा—विष्णु के भक्त प्रह्लादजी का साधुमंडली के द्वारा सम्मानित चरित्र सुनकर महापुरुषों में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने फिर ब्रह्माजी के पुत्र नारदजी से इस प्रकार प्रश्न किया। युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्, मैं मनुष्यों का सनातनधर्म, स्त्रियों के धर्म और वर्णाश्रमधर्म सुनना चाहता हूँ; क्योंकि उनके आचरण से पुरुष को ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होती है। भगवन्, आप परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माजी के पुत्र हैं। तप, योग और समाधि की विशेषताओं के कारण आप ही ब्रह्माजी को उनके सब पुत्रों से अधिक प्रिय हैं। नारायण के भक्त ब्राह्मण इस गुह्य परमधर्म को जानते हैं, और लोग नहीं जान सकते। आपके समान दयानिधान, परोपकारी, शान्त, साधुजन ही उस धर्म के तत्त्व को जानते हैं।

नारदजी ने कहा—सब लोगों के कल्याण के लिए धर्म के वीर्य से दक्ष प्रजापति की कन्या के गर्भ में

उत्पन्न होकर बदरिकाश्रम में तप करनेवाले ईश्वर के अंशावतार नारायण को प्रणाम करके उनके मुख से सुने हुए धर्म का वर्णन मैं करता हूँ। राजन्, भगवान् का रूप वेद; वेद के जाननेवाले ऋषियों की बनाई हुई स्मृतियाँ; सदाचार और शास्त्रोक्त धर्म में जहाँ परस्पर विरोध या अंतर मिले, वहाँ जिस धर्म से मन की प्रसन्नता हो, वह धर्म; ये सब सनातनधर्म का मूल हैं *। सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, सत्-असत् का विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदृष्टि, साधुओं की सेवा, प्रवृत्तिधर्म से निवृत्ति, मनुष्यकृत सब कर्मों को निष्फल समझना, वृथा वार्तालाप का त्याग, आत्मचिन्तन, यथोचित रूप से प्राणियों को अन्न आदि बाँटकर खाना, सब प्राणियों में इष्टदेव परमात्मा को देखना, श्रीकृष्ण भगवान के नाम और गुण सुनना तथा उनका कीर्त्तन करना, हरि की सेवा-पूजा और प्रणाम करना, अपने को हरि का दास जानना, हरि को अपना सखा मानना और हरि को आत्मसमर्पण कर देना, इन लक्षणों से युक्त सनातनधर्म मनुष्यमात्र का साधारण धर्म है। इसका पालन करने से सबके आत्मा भगवान् प्रसन्न और सन्तुष्ट होते हैं। वेदमंत्रों के साथ जिनके सब संस्कार होते हैं, जिनको भगवान् ब्रह्माजी ने वेदमंत्रयुक्त यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का अधिकारी कहा है, वे ही द्विज हैं। जिनका कुल और आचार शुद्ध है, उन द्विजों के लिए यज्ञ कराना, पढ़ना, दान करना और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लिए विहित सभी कर्म करना वेदविहित है। पढ़ना और पढ़ाना, दान देना और दान लेना, यज्ञ करना और कराना, ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। दान लेने के सिवा पाँच कर्म क्षत्रिय के हैं ( आपत्काल में क्षत्रिय भी यज्ञ करा सकते हैं और पढ़ा सकते हैं; किन्तु आपत्काल न होने पर पढ़ना, दान देना और यज्ञ करना, ये ही तीन कर्म क्षत्रिय के हैं )। यज्ञ कराना, पढ़ाना और विशुद्ध दान लेना ब्राह्मण की जीविका है। ब्राह्मण को छोड़कर और सब प्रजा से यथोचित कर, चुंगी और जुर्माना लेना प्रजारक्षक राजा की जीविका है। खेती, बनिज आदि वैश्यों की जीविका है और सदा ब्राह्मणों के अनुगत रहना उनका धर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही शूद्र की जीविका और धर्म है। अपने हाथ से न किये गये खेती आदि अनिषिद्ध कार्य, बिना माँगे मिले हुए द्रव्य को लेना, खेत में कटने पर या बाज़ार के उठने पर जो अन्न बिखरा पड़ा रहा जाता है उसे बटोर लाना, ये चार वृत्तियाँ ब्राह्मणों की हैं। इनमें क्रमशः एक से दूसरी श्रेष्ठ है। आपत्काल के सिवा और कभी नीच जाति को अपने से ऊँची जाति की जीविका न ग्रहण करनी चाहिए। आपत्काल में सब वृत्तियाँ ग्रहण की जा सकती हैं। किन्तु क्षत्रिय आपत्काल में भी दान नहीं ले सकता। ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृत द्वारा ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी जीविका चला सकते हैं; परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् अपने से नीच की सेवा या नौकरी सर्वथा निषिद्ध है। ऋत, अर्थात् खेत में खेत के स्वामी के छोड़े हुए अन्न को और बाज़ार में गिरे हुए अन्न को बटोर लाना; अमृत, अर्थात् बिना माँगे मिले हुए द्रव्य का ग्रहण; मृत, अर्थात् नित्य भिक्षा माँगना; प्रमृत, अर्थात् खेती; सत्यानृत, अर्थात् बनिज; श्ववृत्ति, अर्थात् नीच की सेवा, चाकरी। श्ववृत्ति अत्यंत निन्दित है। इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय को उसे कभी नहीं स्वीकार करना चाहिए। कारण, ब्राह्मण में वेदों का निवास है और क्षत्रिय में देवतों का। शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, विष्णु भगवान् की भक्ति और सत्य, ये ब्राह्मण के लक्षण और धर्म हैं। शूरवीर होना, वीर्य, धैर्य्य, तेज, दान, आत्मा को जीतना अर्थात् मन का दमन, क्षमा, ब्राह्मण की भक्ति, प्रसन्नता, रक्षा करना और सत्य, ये क्षत्रिय के लक्षण या धर्म हैं। देवता, गुरु और विष्णु

* यही बात याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कही है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम॥

में भक्ति, धर्म, अर्थ और काम का पालन, आस्तिक होना, नित्य उद्योग और चतुराई, ये वैश्य के लक्षण या धर्म हैं। नम्रता, शौच, निष्कपट भाव से स्वामी की सेवा, बिना वेदमंत्र के यजन-पूजन करना, चोरी न करना, सच बोलना और गो-ब्राह्मण की रक्षा करना, ये शूद्र के लक्षण या धर्म हैं। पति की सेवा करना, पति के अनुकूल रहना, पति के बंधुओं की अनुवृत्ति और सदा पति के नियमों का पालन, ये पतिव्रता स्त्रियों के लक्षण या धर्म हैं। सती साध्वी स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि वे घर को बहारें, साफ़ करें, लीपें, सवाँरें-सिंगारें और नित्य घर की सामग्री को साफ़ करके क़ायदे से ठीक जगह पर रक्खें। आप अच्छे कपड़ों और गहनों को पहनकर, पति को अनेक भोग की वस्तुएँ देकर, विनय से, इन्द्रियदमन से, मीठी वाणी से प्रेम से पति को प्रसन्न और सन्तुष्ट रक्खें, उसकी सेवा करें। स्त्री को चाहिए कि जो कुछ मिले, उसी में सन्तुष्ट रहे। भोग की वस्तुओं के लिए लालायित न हो। काम करने में आलस्य न करे। धर्म को जाने। मीठे वचन बोले। सावधान और शुद्ध रहे। स्नेह के साथ तब तक पति की सेवा करती रहे, जब तक वह पतित न हो। राजन्, जो स्त्री लक्ष्मी देवी के समान पतिपरायणा होकर अनन्यभाव से पति को नारायण का रूप समझकर उसकी सेवा करती है, वह वैकुण्ठधाम में नारायणरूप पति के साथ लक्ष्मी की तरह सुख भोगती है। अन्त्यज और बस्ती के किनारे रहनेवाले वर्णसंकर, चांडाल आदि का धर्म यह है कि चोरी या और कोई पापकर्म न करके अपनी कुलपरंपरा से चली आई हुई वृत्ति से जीविका-निर्वाह करें। धोबी, चमार, कैवर्त्त आदि को अंत्यज और चांडाल, पुष्कस आदि को अन्तेवसायी कहते हैं। वेद जाननेवाले पंडितों का कहना है कि मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार युग-युग में जिस धर्म की व्यवस्था की गई है, वही धर्म उनके लिए इस लोक और परलोक में सुखदायक है। यह जीव स्वभाव-विहित वृत्ति से जीवन धारण-कर, कर्त्तव्य-कर्म करता हुआ, क्रमशः स्वभावकृत कर्मों को छोड़कर निर्गुण भाव को प्राप्त होता है। जिस खेत में बार-बार बीज बोया जाता है, उसकी उपजाऊ शक्ति आप ही घट जाती है; फिर उसमें बोया हुआ बीज नहीं उगता। वैसे ही, कामवासनामय मन अत्यन्त विषय-भोग करने पर संसार से विरक्त हो जाता है। महाराज, जैसे घी की बूँदें डालने से आग बुझने के बदले और भी प्रज्वलित हो उठती है, वैसे ही स्वल्प काम का सेवन करने से चित्त शान्त नहीं होता, बल्कि विषय-भोग की वासना और बढ़ जाती है। महाराज, जिस वर्ण का जो लक्षण कहा गया है, वह लक्षण अगर दूसरे वर्ण के मनुष्य में पाया जाय तो उसे भी वही वर्ण मानना चाहिए।

# बारहवाँ अध्याय

## आश्रमधर्म

नारदजी कहते हैं—राजन्, ब्रह्मचारी को चाहिए कि इन्द्रियों को वश में रखकर गुरुकुल में निवास करे। गुरु पर सुदृढ़ स्नेह रखता हुआ, दास की तरह नम्रभाव से वही काम करे, जिसमें गुरु का हित हो। सायंकाल और प्रातःकाल गुरु, अग्नि, सूर्य और अन्य देवतों की उपासना करे। गायत्री का जप और त्रिकाल संध्या करे। संध्या करते समय मौन रहे, अर्थात् मंत्रोच्चारण के सिवा किसी से कोई बात न करे। गुरु जब बुलावे, तब मन और शरीर को अच्छी तरह स्थिर करके वेद का अध्ययन करे। पढ़ने के पहले तथा अन्त में गुरु के चरणों में सिर रखकर प्रणाम करे। शास्त्र की आज्ञा के अनुसार मेखला, कृष्णाजिन, वल्कल,

जटा, दण्ड, कमंडलु और यज्ञोपवीत धारण करे। हाथ में कुश की पवित्री पहने रहे। साँझ-सबेरे बस्ती से भिक्षा माँग लावे। भिक्षा में मिली हुई वस्तु गुरु को अर्पण कर दे। फिर गुरु की आज्ञा पावे तो आप भी उसमें से भोजन करे, नहीं तो उपवास कर जाय। ब्रह्मचारी को सुशील, मित भोजन करनेवाला, काम करने में चतुर, श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय होना चाहिए। स्त्री और स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों से प्रयोजन भर की बात करनी चाहिए। गृहस्थ के सिवा ब्रह्मचारीमात्र को स्त्री-संबंधी वार्तालाप न करना चाहिए। कारण, ये प्रबल इन्द्रियाँ बड़े-बड़े यतियों के भी मन को चलायमान कर देती हैं। युवक शिष्य को जवान गुरुपत्नी से केश सुलझवाना, अंग मलवाना, स्नान और उबटन लगवाना मना है। कारण, स्त्री आग के समान और पुरुष घी के घड़े के समान है। निर्जन एकान्त में अपनी कन्या के पास रहना भी पुरुष के लिए अनिष्ट का कारण हो सकता है। अन्य समय में ब्रह्मचारी प्रयोजन के अनुसार गुरुपत्नी की आज्ञा से गुरु के घर का काम कर दे। जीव जब तक आत्मज्ञान के द्वारा देह आदि को आभासमात्र और मिथ्या जानकर समदर्शी और स्वतंत्र नहीं होता, तब तक उसे नर-नारी का भेदभाव रहता है, और इसी से बुद्धि का विपर्यय हो जाता है। भोग करनेवाले और भोग की वस्तु का भेद जब तक नष्ट न हो, तब तक स्त्री-संग से बचना चाहिए। गृहस्थ और यतियों के लिए भी ये सब धर्म हैं। गृहस्थ को ऋतुकाल में ही स्त्री-संग करना चाहिए, इस कारण उसके लिए गुरुवृत्ति विकल्प से कही गई है। अंजन और उबटन लगवाना, हाथ पैर और देह दबवाना, स्त्री-संग व चित्रकारी करना, मांस-मदिरा का सेवन, माला पहनना, चंदन लगाना, सुगंधित इतर आदि लगाना और गहने पहनना ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है। द्विजों को चाहिए कि इस तरह गुरुकुल में रहकर वेद, वेदांग, उपनिषद् पढ़कर अपने अधिकार और शक्ति के अनुसार वेद के अर्थ को विचारें। अगर शक्ति हो तो गुरु को उसकी इच्छा के अनुसार दक्षिणा देकर और उससे आज्ञा लेकर गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यस्त हों, अथवा आजन्मब्रह्मचारी होकर वहीं वास करें। यद्यपि ईश्वर सब असत् पदार्थों से भिन्न है तथापि सब आश्रमवालों को चाहिए कि वे भगवान् वासुदेव को निज आश्रय जीव के साथ अग्नि में, गुरु में, अपने में और सब प्राणियों में, नियामक के रूप से अवस्थित देखें। हे महाराज, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का अनुष्ठान करने से विज्ञेय वस्तु आत्मा के ज्ञान को पाकर परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

अब मैं मुनियों द्वारा अनुमोदित वानप्रस्थ-आश्रम के नियम कहता हूँ, जिनका पालन करने से मुनि लोग अनायास ही ऋषियों के स्थान महर्लोक को प्राप्त होते हैं। वानप्रस्थ को खेती से उत्पन्न फल आदि न खाने चाहिए। जो फल सूर्य या अग्नि की आँच से पके हों, या कच्चे हों और खेती से उत्पन्न न हों, उन्हीं को खाना चाहिए। वन के नीवार ( तिन्नी के चावल ) इत्यादि अन्न से चरु-पुरोडाश आदि नित्य कर्मों का निर्वाह करे। नया अन्न मिलने पर पहले के जमा किये हुए पुराने अन्न को निकाल डाले। अग्निहोत्र-स्थापन के लिए ही पर्णकुटी अथवा पर्वत की कंदरा का आश्रय ले। लेकिन आप सदा खुले में रहकर पाला, धूप, आँधी-पानी आदि को सहे। जटा धारण करे; केश, रोम, नख और दाढ़ी-मूँछ को न कटवावे; शरीर के मैल को भी न साफ़ करे; कमंडलु, मृगचर्म, दंड, वल्कल और आग बनाने का सामान रक्खे। तप के क्लेश से जिसमें बुद्धि भ्रष्ट न हो, इसलिए यथाशक्ति कही गई रीति से बारह, आठ, चार, दो या एक वर्ष वन में निवास करे। किसी व्याधि अथवा बुढ़ापे के कारण जब अपने धर्म को पालने की शक्ति न रह जाय अथवा ज्ञान के अभ्यास में असमर्थ हो जाय तब अनशन या उपवास आदि न करे। अनशन आदि करने के पहले आत्मा में अग्नि को आरोपित करके "मैं हूँ, मेरा है" इस प्रकार के अभिमान को छोड़ दे और जिस प्रकार पंचतत्त्वों से शरीर की उत्पत्ति हुई है, उसी क्रम से शरीर के पाँचों तत्त्वों

को स्थूल पचतत्त्वों में लीन कर दे। अर्थात् शरीर के छिद्रों को आकाश में, साँस को वायु में, गर्मी को तेज में, शुक्र, रक्त और कफ को जल में और बचे हुए हड्डी आदि कठिन अंश को पृथ्वी में—इस तरह समष्टिस्वरूप शरीर को उसके कारणों में लीन कर दे। फिर वाक्य सहित वाक् इन्द्रिय को अग्नि में, शिल्प सहित हस्तेन्द्रिय को इन्द्र में, गति सहित चरणेन्द्रिय को विष्णु में, रति सहित लिंगेंद्रिय को प्रजापति मे और मल-मूत्र-त्याग सहित पायु इन्द्रिय को मृत्यु में, अर्थात् इन पाँचों कर्मेन्द्रियों को उनके अधिष्ठाता देवतों मे लीन कर दे। महाराज, शब्द सहित श्रोत्र इंद्रिय को दिशाओं के मंडल में, स्पर्श सहित त्वक् इन्द्रिय को वायु में, रूप सहित चक्षु इंद्रिय को तेज में, वरुण सहित रसनेंद्रिय को जल में और अश्विनीकुमार सहित नासिका की घ्राण इन्द्रिय को गंधगुणयुक्त पृथ्वी मे लीन कर दे। मनोरथ सहित मन को चंद्रमा में, बोध्य पदार्थ सहित बुद्धि को ब्रह्मा मे और अहंकार सहित सब कर्मों को रुद्र में लीन कर दे। तदनन्तर चेतना सहित चित्त को क्षेत्रज्ञ आत्मा में और गुणसंग से रूपान्तर को प्राप्त क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को निर्विकार ब्रह्म में लीन कर दे। अन्त में पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकारतत्त्व में, अहंकार को महत्तत्त्व मे, महत्तत्त्व को प्रकृति में और प्रकृति को परमात्मा में लीन कर दे। इस प्रकार उपाधियों के लीन होने पर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा बच रहता है, उसे अविनाशी जानकर भेदभावरहित मुनि वैसे ही निर्वाण को प्राप्त हो, जैसे लकड़ी के जल जाने पर आग बुझ जाती है।

# तेरहवाँ अध्याय

## सिद्ध अवस्था

नारदजी ने कहा—युधिष्ठिर, ज्ञान के अभ्यास में समर्थ और देहमात्र अपने पास रखनेवाला वानप्रस्थ इस प्रकार अपने को ब्रह्ममय समझकर संन्यास ग्रहण कर ले। फिर एक बस्ती में केवल एक रात रहने का नियम लेकर निरपेक्ष भाव से पृथ्वीपर्यटन करता रहे। संन्यासी अगर वस्त्र-धारण करना चाहे तो केवल कोपीन पहने। दण्ड आदि के सिवा और किसी प्रकार का चिह्न आपत्काल के बिना न धारण करे; क्योंकि सभी तरह के चिह्न छोड़कर ही वह संन्यासी हुआ है। भिक्षा से पेट पालकर अकेले ही घूमता रहे, किसी एक स्थान में आश्रम बनाकर निवास न करे। आत्मा के अनुभवानन्द में तृप्त रहे। सभी प्राणियों से मित्रता का व्यवहार करे, शान्त और नारायण-परायण हो। इस विश्व को कार्य और कारण से परे अव्यक्त आत्मा में अवस्थित और परब्रह्म आत्मा को भी कार्यकारणमय और सर्वत्र वर्तमान देखे। सुषुप्ति और जाग्रत्, इन दोनों दशाओं के सन्धिस्थल में आत्मलक्ष्य से अवस्थित होकर आत्मा का चिन्तन करे, अतएव बन्धन और मोक्ष, दोनों को ही मायामात्र जाने। निश्चित या अनिश्चित देह की निश्चित मृत्यु की शंका या अनिश्चित जीवन का अभिनन्दन न करे। केवल प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश का कारण जो काल है, उसी की प्रतीक्षा करे। असत् शास्त्रों में आसक्त न हो, किसी जीविका का सहारा न ले, वितंडावादयुक्त तर्क का त्याग करे और किसी पक्ष को ग्रहण न करे। प्रलोभन आदि उपायों से शिष्यों का संग्रह, बहुत ग्रन्थों का अभ्यास, शास्त्र की व्याख्या और कहीं मठ आदि की स्थापना न करे। जो व्यक्ति शान्त और समदर्शी है, उस महामा संन्यासी के लिए आश्रमचिह्न दण्ड आदि धारण करने का नियम नहीं है। इसलिए वह इच्छा के अनुसार चाहे आश्रम के चिह्न धारण करे और चाहे उनका त्याग कर दे।

उसका कोई चिह्न स्पष्ट न रहना चाहिए, केवल आत्मा की खोज ही स्पष्ट रहे। वह मनीषी होकर भी अपने को पागलों और बालकों की तरह, कवि ( चतुर ) होकर भी गूँगे-बावलों की तरह दिखावे।

यहाँ पर पंडितों के कहे हुए एक पुरातन इतिहास को मैं आपके आगे कहता हूँ। इसमें प्रह्लाद के साथ एक अजगर की वृत्ति धारण करनेवाले मुनि का संवाद है। अजगर की तरह भोजन पाने की चेष्टा न करके पड़े रहनेवाले एक परमहंस मुनि कावेरी नदी के किनारे सह्य पर्वत के शिखर में पृथ्वी पर लेटे हुए थे। उनके सब अंग धूल में सने थे, जिससे उनका निर्मल तेज छिपा हुआ था। उसी समय भगवान् के प्रिय भक्त प्रह्लादजी कुछ अनुचर मंत्रियों के साथ लोकतत्त्व जानने की इच्छा से तीनों लोकों में पर्यटन करते हुए वहाँ पहुँचे और उन मुनि को देखा। कर्म, आकृति, वाक्य और वर्ण-आश्रम आदि चिह्नों से यह जानना कठिन था कि यह आत्मज्ञानी मुनि है या पागल। महाभागवत प्रह्लाद ने उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया और यथा-विधि पूजा की। फिर जानने की इच्छा से वह यों प्रश्न करने लगे। प्रह्लाद ने कहा—प्रभो, मैं देखता हूँ कि आपका शरीर उद्यम और भोग करने-वाले लोगों की तरह मोटा-ताज़ा है। उद्योगी लोगों के पास धन होता है, धनी लोगों को ही भोग प्राप्त होते हैं और भोग करनेवालों का ही शरीर ऐसा मोटा-ताज़ा होता है। ब्रह्मन, आप सदा योंही पड़े रहते हैं, अतएव कोई उद्यम नहीं करते। आपका धनोपार्जन करना असंभव है। धन से ही भोग होते हैं। हे विप्र, भोग न करने पर भी जिस कारण से आपका शरीर मोटा-ताज़ा बना हुआ है, वह कारण अगर हो सके तो हमारे आगे प्रकट कीजिए। आप विद्वान्, चतुर और काम करने में समर्थ हैं। आप अनेक प्रकार के मधुर वचनों से लोगों का मन हरने की शक्ति रखते हैं। आपकी प्रकृति भी मधुर है। "किन्तु सभी लोग कर्म करने में लगे हुए हैं" यह देखकर भी आप लेटे हुए हैं, किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करते !



नारदजी कहते है—वह महामुनि दैत्यपति के इस प्रश्न को सुनकर और उनके मधुर वचनों से प्रसन्न होकर मंद मुसकान के साथ यों बोले—हे असुरश्रेष्ठ, तुम ज्ञानी और श्रेष्ठ लोगों के द्वारा सम्मान को प्राप्त हो। इसीलिए अन्तर्दृष्टि के द्वारा मनुष्यों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के सभी फल तुम जानते हो। भगवान् नारायण देव ने केवल भक्ति के द्वारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके वैसे ही अज्ञान को दूर कर दिया है, जैसे सूर्यनारायण अंधकार को हर लेते हैं। तथापि मैंने जैसा सुना है, उसी के अनुसार तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ; क्योंकि जिसको अपना अन्तःकरण शुद्ध करने की कामना हो, उसे अवश्य तुम्हारे साथ संभाषण करना चाहिए। राजन्, संसारचक्र को चलानेवाली तृष्णा को यथोचित विषय-भोग के द्वारा भी शान्त करना कठिन है। उसी तृष्णा के द्वारा कर्मों में प्रवृत्त होकर मैंने पहले अनेक योनियों में प्रवेश किया। मैंने

कर्मवश अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते उसी तृष्णा के द्वारा यह मनुष्य-शरीर पाया है। राजन्, यह नरदेह स्वर्ग और मोक्ष के, तिर्यक् योनियों ( कुत्ता-शूकर आदि ) के और फिर मनुष्य-योनि के पाने का द्वार है। इसमें जैसे कर्म करेगा, वैसी ही गति पावेगा। किन्तु इस मनुष्य-योनि में भी सब नर-नारी सुखलाभ और दुःख की निवृत्ति के लिए कर्म करने पर भी फल उलटा ही पाते हैं, यह देखकर मैंने निवृत्ति-मार्ग को ग्रहण किया है। सुख ही इस आत्मा का स्वरूप है। जब सब कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, तब यह आत्मा का रूप स्वयं प्रकट होता है। मैं सब भोगों को अनित्य समझकर, चेष्टारहित होकर योंही पड़ा रहता हूँ—केवल प्रारब्धकर्म को भोग रहा हूँ। इस तरह सुखस्वरूप आत्मा अपने में ही वर्तमान है ; किन्तु पुरुषार्थ को भूल जाने के कारण यह जीव, वास्तव में परमात्मा से भिन्न द्वितीय वस्तु न होने पर भी, घोरतर विचित्र योनियों में जन्म-मरण को प्राप्त होता है। जैसे अज्ञ लोग तृण-सेवार आदि से ढके हुए पानी को छोड़कर मृगतृष्णा की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही आत्मा के स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थों में स्वार्थ देखनेवाले पुरुष निरन्तर संसार को प्राप्त होते हैं। राजन्, जो मनुष्य दैवाधीन देह आदि के द्वारा सुखलाभ और दुःख की निवृत्ति चाहता है, उस बुद्धिहीन व्यक्ति के बार-बार किये हुए सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। एक तरह से उन कर्मों का फल मिलने पर भी उससे कोई उपकार नहीं होता। कारण, वह व्यक्ति आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के दुःखों से किसी तरह छुटकारा नहीं पाता ! जिस मनुष्य के सिर पर काल खड़ा हुआ है, उसे दुःख-कष्ट से कमाये हुए धन के लाभ अथवा भोग से क्या सुख हो सकता है ? महाराज, बिना क्लेश के जो धन मिल जाता है, उसमें भी दुःख है ; क्योंकि जिनका मन वश में नहीं है, उन लोभी धनी लोगों को स्पष्ट रूप से इस विषय में कष्ट पाते देखा जाता है। वे भयवश भलीभाँति सुख से सो नहीं सकते और सदा सभी से सशंक रहते हैं। साधारणतः सभी को और विशेषतः धनियों को सदा राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु-पक्षी, याचक, काल और अपने से भय रहता है। इसलिए विद्वान् पुरुष को शोक, मोह, भय, क्रोध, अनुराग, कातरता, और श्रम आदि के मूलरूप धन और प्राण की स्पृहा को छोड़ देना ही उचित है। राजन्, इस लोक में ममाखी और अजगर मेरे श्रेष्ठ गुरु हैं। मैं उनकी वृत्ति और रहन-सहन को देखकर ही इस वैराग्य और सन्तोष को प्राप्त हुआ हूँ। कष्ट उठाकर शहद की तरह थोड़ा-थोड़ा जमा किये हुए धन को धनी के प्राण नष्ट करके और लोग हर ले जायँगे—यह जानकर मैंने ममाखी से वैराग्य की सीख ली है। अजगर से शिक्षा पाकर मैंने चेष्टा करना छोड़ दिया है; जो कुछ मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता हूँ। अगर शायद कुछ भी न मिले तो अजगर की तरह धैर्य धारण कर स्थिर भाव से समय बिताता हूँ। कभी थोड़ा भोजन करता हूँ, कभी बहुत भोजन करता हूँ। कभी स्वादिष्ट अन्न खाता हूँ, कभी रूखा-सूखा स्वादरहित अन्न खा लेता हूँ। कभी बहुत गुणों से युक्त और कभी गुणरहित अन्न खा लेता हूँ। कभी किसी का श्रद्धा से लाकर दिया हुआ अन्न और कभी किसी का अपमान के साथ दिया हुआ अन्न खाता हूँ। किसी दिन भोजन करने के बाद फिर दुबारा भोजन करता हूँ और कभी दिन को या रात को आप से मिला हुआ अन्न खा लेता हूँ। रेशमी वस्त्र, दुकूल, मृगचर्म, कोपीन, वल्कल, या और कुछ, जो मिल जाता है, वही पहन लेता हूँ। जो प्रारब्ध से मिल जाता है, उसी के भोग से सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। कभी धरती पर, घास, पत्थर या राख के ढेर पर और कभी दूसरे की इच्छा से सुंदर महल में अच्छे पलँग पर शयन करता हूँ। कभी स्नान करके, चंदन आदि सुगंध लगाकर, सुंदर वस्त्र और मनोहर माला धारण कर, रथ, हाथी या घोड़े पर चढ़कर विचरण करता हूँ और कभी पागलों की तरह नंगा घूमता हूँ। राजन्, भेदभाव रखनेवाले व्यक्ति की निन्दा या प्रशंसा मैं नहीं करता। सभी का कल्याण चाहता हूँ। महात्मा विष्णु में सायुज्य मुक्ति अथवा लीन हो जाने की कामना करता हूँ। भेदज्ञान पैदा करने-

वाली मन की वृत्ति में विकल्प को, अर्थभ्रम का हेतु जो मन है उसमें मन की वृत्ति को, अहंकार में मन को, प्रकृति में अहंकार को लीन कर देना चाहिए। फिर सत्यदर्शी मुनि प्रकृति को आत्मा के अनुभव में लीन करके निश्चेष्ट एवं निवृत्त हो—स्वानुभवरूप आत्मा में अवस्थित रहे। महाराज, तुम भगवान् को प्रिय हो। इसीलिए मैंने यह अति गोपनीय अपना रहस्य तुमसे वर्णन किया है। यह ज्ञान मन्द दृष्टि से लोक और शास्त्र के विपरीत है; किन्तु तत्त्वदृष्टि से नहीं।

नारदजी कहते हैं—असुरपति प्रह्लाद ने अजगरमुनि से यह परमहंसों का धर्म सुनकर उनकी पूजा की। उसके बाद प्रसन्नतापूर्वक मुनि से आज्ञा लेकर अपने भवन को गये।

# चौदहवाँ अध्याय

## गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म और देश-काल आदि के भेद से अन्य-अन्य विशेष धर्मों का वर्णन

युधिष्ठिर ने कहा—नारदजी, इस पदवी या गति को मुझ जैसा गृहस्थ, जिसकी बुद्धि घरबार और गिरस्ती में आसक्त होने के कारण मूढ़ हो रही है, जिस तरह सहज में पा सके, वह उपाय मुझसे कहिए।

नारदजी ने कहा—राजन्, गृहस्थ को चाहिए कि अपने कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करके उन्हें कृष्णार्पण कर दिया करे, समयानुसार महर्षियों की उपासना करे, सदा अमृतस्वरूप भगवान हरि की कथाओं को एकाग्र मन से श्रद्धा के साथ श्रवण करे, शान्त और जितेन्द्रिय साधुओं का संग करे। जैसे सपने में देखे हुए स्त्री-पुत्र आदि, जागने पर, आप ही आप छूट जाते हैं, वैसे ही शान्त साधुओं के सत्संग से देह और स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह और ममता को छोड़ दे; क्योंकि जिस तरह सपने के स्त्री-पुत्र आदि उसे छोड़ देते हैं; उसी तरह ये स्त्री-पुत्र आदि भी उसे एक दिन छोड़ देंगे या छूट जायँगे। गृहस्थ को चाहिए कि प्रयोजन भर संसार के विषयों का भोग करे, उनमें आसक्त न हो; सत्-असत् का विवेक रक्खे। अपने सजातीय पिता, माता, भाई, पुत्र, सुहृद् और परिवार के और लोग जो इच्छा करें, उसका अनुमोदन करे; लेकिन किसी पर ममता न रक्खे। चतुर गृहस्थ को चाहिए कि वर्षा आदि से उत्पन्न अन्नरूप धन, मिट्टी खोदने से पृथ्वी में मिले हुए धन तथा दैवयोग से अकस्मात् मिले हुए धन की देख-रेख और रक्षा आप करे और उसी से धर्म, अर्थ, काम का संपादन तथा विषय-भोग करे। दैवसंयोग से अगर अधिक धन मिल जाय तो अभिमान न करना चाहिए; क्योंकि जितने धन आदि से जीविका का निर्वाह हो, उतने ही पर प्राणियों का स्वत्व है; बाक़ी तो सब यहीं पड़ा रह जाता है। जो आदमी इससे अधिक धन को अपना समझता है, वह चोर और दण्डनीय है। मतलब यह कि जो धन पेट पालने से बढ़े, उसे सत्कार और परोपकार में खर्च कर देना चाहिए। इसीलिए कोई मृग, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी, मक्खी, कीड़े-मकोड़े आदि प्राणी अगर घर में या खेत में अन्न आदि खा ले तो उसे रोकना नहीं चाहिए; बल्कि उसे अपने पुत्र की तरह स्नेह-दृष्टि से देखना चाहिए। कारण, यथार्थ में देखा जाय तो पुत्र आदि में और उन प्राणियों में कुछ भी अंतर नहीं है। गृहस्थ भी धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) के उपार्जन में अधिक कष्ट न उठावें; देश-काल के अनुसार दैवयोग से जो प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट रहे, उसी को भोग करे। कुत्ता, पतित और चांडाल तक को अपने भोग की वस्तु बाँट देनी चाहिए। अपनी एकमात्र स्त्री को अगर अतिथि की सेवा में लगाने से अपनी सेवा में विघ्न पड़े तो भी उसे अतिथि की सेवा में लगाये रक्खे। जिस

स्त्री के लिए लोग अपने प्राण तक छोड़ देते हैं, पिता, गुरु आदि को मारने के लिए तैयार हो जाते हैं, उस भार्या में भी जो लोग स्वत्व का अभिमान नहीं रखते, वे अजेय ईश्वर को भी वश में कर लेते हैं। यह शरीर अन्त में गाड़ने से कीड़ा, पशु-पक्षी के खा लेने से विष्ठा या जला देने से राख हो जाता है। इसलिए कहाँ यह तुच्छ देह और कहाँ इस देह में जिसके संग से रति होती है, वह स्त्री, और कहाँ आकाशवासी अथवा आकाशव्यापी यह जीवात्मा! इस प्रकार तत्त्व का विचार करने से देह और स्त्री, दोनों हेय पदार्थ जान पड़ते हैं; फिर इनमें आसक्ति नहीं होती। महाराज, गृहस्थ मनुष्य दैव के द्वारा प्राप्त धन से पंचयज्ञ-बलिवैश्वदेव आदि का निर्वाह करे। पंचयज्ञ से बचे हुए अन्न से ही अपना पेट भरे। जो मनुष्य इस पंचयज्ञ से बचे हुए अन्न में भी स्वत्व का अभिमान छोड़ देते हैं, वे ही प्राज्ञ पंडित हैं, वे ही निवृत्तिमार्ग के सच्चे अनुगामी हैं, वे ही महापुरुषों की पदवी को प्राप्त होते हैं। अपनी वृत्ति के द्वारा कमाये हुए धन से देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत, पितर आदि की पूजा और अपना नित्य निर्वाह करना ही भिन्न-भिन्न रूप से अन्तर्यामी परमात्मा का पूजन है। जब निज अधिकार आदि सब यज्ञ की सामग्री का संग्रह हो, तब गृहस्थ मनुष्य को वैतानिक विधि के अनुसार अग्निहोत्र आदि यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए। सब यज्ञों के भाग का भोग करनेवाले हरि ब्राह्मण के मुख में अर्पण किये हुए अन्न आदि से जितना तृप्त होते हैं, उतना अग्निमुख में हवन किये हुए हव्य आदि से नहीं तृप्त होते। इसलिए ब्राह्मण, देवता, मनुष्य आदि में और पशु आदि में भी कामनापूर्वक यथायोग्य क्षेत्रज्ञ आत्मा का यजन-पूजन करना चाहिए। धनी ब्राह्मण अपने वैभव के अनुसार भादों में अपने पिता-माता और उनके बन्धुओं का अपरपक्षीय श्राद्ध करे। इसी प्रकार दोनों अयन, दोनों विषुव, व्यतीपात, व्यतीपर्श, चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र, अक्षयतृतीया, कार्तिक सुदी नवमी, हेमंत और शिशिर ऋतु के अन्तर्गत चार महीनों की चार अष्टका*, माघ सुदी सप्तमी आदि के अवसर पर श्राद्ध करना चाहिए। मघा, चैत आदि नक्षत्र-मास और मघा नक्षत्र से युक्त माघी पूर्णिमा में, जिन-जिन नक्षत्रों से चैत्र आदि महीनों का नामकरण होता है, उन सब नक्षत्रों में भी श्राद्ध करना चाहिए। जब संपूर्णचंद्रयुक्त पूर्णिमा अथवा कुछ न्यून चंद्रमा से युक्त अनुमति नाम की तिथि हो, तब भी श्राद्ध करना चाहिए। जब द्वादशी तिथि को अनुराधा, श्रवण, उत्तराफाल्गुणी, उत्तराषाढ़ या उत्तराभाद्रपद नक्षत्र का योग हो, या तीनों उत्तरा नक्षत्रों में से कोई नक्षत्र एकादशी तिथि के दिन हो, तब पितरों का श्राद्ध करना चाहिए। अपने जन्मनक्षत्र अथवा श्रवण नक्षत्र के योग में भी श्राद्ध करना चाहिए। ये दिन केवल श्राद्ध के लिए ही प्रशस्त नहीं हैं; इन दिनों और योगों में किये गये सभी पुण्यकार्यों का अक्षय फल होता है। इन योगों और अवसरों में यथाशक्ति सभी श्रेयस्कर पुण्यकार्य करने चाहिए। इन सब अवसरों में धर्म-कर्म करने से परमायु की सफलता होती है। इन अवसरों पर कल्याण के लिए स्नान, दान, जप, हवन, व्रत, देवता-ब्राह्मण की पूजा आदि जो मंगल-कार्य किये जाते हैं और पितर, देवता, मनुष्य एवं अन्य प्राणियों को जो कुछ दिया जाता है, सो सब अक्षय फलदायक होता है। हे महाराज, स्त्री, पुत्र, कन्या के और अपने संस्कार के समय, प्रेतदाह आदि कृत्यों के समय, क्षयाह में तथा अन्य आभ्युदयिक कर्मों के अवसर पर पुण्यकार्य करने चाहिए। यह तो हुआ पुण्यकाल का वर्णन। अब जिन-जिन देशों में धर्म-कर्म करना कल्याणदायक है, उनको सुनो। चराचर में व्याप्त भगवान् के स्वरूप सत्पात्र साधु जहाँ रहते हैं, वही देश परम पवित्र है। जहाँ तप, विद्या, दया आदि उत्तम गुणों से विभूषित ब्राह्मण निवास करते हैं, जहाँ भगवान् हरि की प्रतिमाएँ स्थापित हैं, वे सब देश मंगलदायक हैं। जहाँ-जहाँ पुराणप्रसिद्ध गंगा आदि

*फाल्गुण मुख्य चान्द्र की कृष्णपक्ष की अष्टमी की अष्टका श्राद्ध किसी कामना से किया जाता है। बाकी तीन अष्टका नित्य कर्म में शामिल हैं। इसीसे गोभिल गृह्यसूत्र में तीन ही अष्टका श्राद्धों का उल्लेख है।

नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर और सिद्धजनों की निवासभूमि आदि क्षेत्र हैं, वे सब स्थान परम पवित्र हैं। कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलह ऋषि का आश्रम, नैमिषारण्य, फल्गु नदी, सेतुबन्ध, प्रभासतीर्थ, कुशस्थली, वाराणसी, मथुरा, पंपासरोवर, विन्दुसरोवर, बदरीनारायण, अलकनन्दा नदी तथा सीताराम के आश्रम और महेन्द्र, मलय, कुलाचल आदि पर्वत तथा जहाँ भगवान् हरि की मूर्तियाँ हैं, वे सब स्थान परम पवित्र हैं। जो पुरुष सब तरह का कल्याण चाहता हो, वह निरन्तर इन सब स्थानों का सेवन करे। इन सब तीर्थों में पुण्यकर्म करने से हज़ार गुना अधिक फल होता है। महाराज, पात्र के जाननेवाले विद्वान् हरि को ही सर्वश्रेष्ठ पात्र कहते हैं। इसी कारण तुम्हारे राजसूय यज्ञ में देवता, ऋषि, तपस्वी, योगी और ब्रह्मा के पूज्य पुत्रों के उपस्थित रहने पर भी श्रीकृष्णचन्द्र को ही सर्वसम्मति से अग्रपूजा का पात्र माना गया। इसलिए हरि की पूजा से सब जीवों को और अपनी आत्मा को परम तृप्ति होती है। हे राजन, मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि और देवतारूप सब शरीर इन्हीं भगवान् की रचना हैं। यह स्वयं उन पुरों अर्थात् शरीरों में जीवरूप से शयन करते हैं, इसीलिए इन-को पुरुष कहा गया है। इन सब शरीरों में हरि भगवान् उत्तरोत्तर श्रेष्ठ रूप से अवस्थित हैं, इसलिए पूजा आदि के सर्वश्रेष्ठ पात्र श्रीनारायण ही हैं। उनको जो जितना अधिक जानता है, वह भी उतना ही श्रेष्ठ पात्र या पूजनीय है। पुरुषों को आपस में एक दूसरे की अवहेलना करते देखकर पंडितों ने त्रेतायुग में पूजा करने के लिए प्रतिमा की सृष्टि की। तभी से बहुत से लोग श्रद्धापूर्वक प्रतिमाओं में हरि का पूजन करते हैं। किन्तु जिन लोगों ने परस्पर का द्वेष नहीं छोड़ा, उनका प्रतिमापूजन करना भी व्यर्थ ही है। महाराज, पुरुषों में भी जो ब्राह्मण तप, विद्या और सन्तोष से युक्त होकर हृदय में हरि की मूर्त्ति को धारण करते हैं, पंडितों की सम्मति में वे ही सर्वोत्तम पात्र हैं। कहाँ तक कहें, अपने चरणों की धूल से त्रिभुवन को पवित्र करनेवाले ब्राह्मण जगत् के आत्मा और अन्तर्यामी कृष्णचन्द्र के भी इष्टदेव हैं।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## मोक्ष का लक्षण

नारद ने कहा—महाराज, ब्राह्मणों में भी कोई कर्मकाण्डी हैं, कोई तपस्वी हैं, कोई प्रवचनचतुर हैं और कोई ज्ञान और योग में निष्ठा रखते हैं। जिनको दान के अनन्त फल की इच्छा हो, उनको चाहिए कि ज्ञान में निष्ठा रखनेवाले ब्राह्मण को हव्य ( देवतों का भाग ) और कव्य ( पितरों का भाग ) दें। अगर संयोगवश वैसा ब्राह्मण न मिले तो ज्ञान के अनुसार कमीबेशी की विवेचना करके और ब्राह्मणों को भी हव्य और कव्य दिया जा सकता है। श्राद्ध में देवतों के उद्देश से दो और पितरों के उद्देश से तीन ब्राह्मण, या दोनों के नाम से एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराये। अत्यन्त धनी होने पर भी श्राद्ध के अवसर पर बहुत-से ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराना चाहिए *। महाराज, स्वजनों के अनुरोध से बहुत-से ब्राह्मणों को न्योता देकर श्राद्ध में भोजन कराने से देश-काल के अनुरूप श्रद्धा, द्रव्य, पात्र और पूजन, ये सब बातें सुन्दर रूप से सम्पन्न नहीं हो सकतीं। मतलब यह कि अगर उचित देश-काल में वन के नीवार आदि धान्य अथवा

*आजकल कुशवटु रखने की रीति है। किन्तु पहले श्राद्ध में कुशवटु की जगह शास्त्रोक्त गुणों से युक्त साक्षात ब्राह्मण बैठते थे। यह निषेध-विधि उसी देव-पितृ-ब्राह्मण के लिए है।

न्याय से उपार्जित साधारण भोजन भी हरि को अर्पण कर श्रद्धा के साथ विधिपूर्वक सत्पात्र को खिलाया जाय तो वह भी अक्षय और यथेष्ट फलदायक होता है। हे राजन, देवता, ऋषि, पितर, सब प्राणी, स्वयं आप और अपने आत्मीय स्वजनों को उचित रूप से अन्न बाँटकर इन सबको ईश्वर का रूप समझना चाहिए। महाराज, श्राद्ध में मछली या मांस न खिलाना चाहिए। दयालु, धर्मतत्त्व के जाननेवाले सज्जन को तो कभी मांस-भोजन नहीं करना चाहिए। कारण, आत्मारूप हरि को तिन्नी के चावल आदि जंगली अन्न से जितनी तृप्ति होती है, उतनी पशुहिंसा से नहीं। श्रेष्ठ धर्मलाभ की इच्छा रखनेवाले लोगों को मन, वाणी और काया से तीनों प्रकार की जीवहिंसा छोड़ देनी चाहिए। इससे बढ़कर श्रेष्ठ धर्म और नहीं है। इसलिए प्रधान-प्रधान ज्ञानी लोग यज्ञ के लिए ज्ञान के द्वारा प्रदीप्त आत्मसंयमरूप अग्नि में कर्ममय यज्ञाहुति देते हैं। जो आदमी पशु आदि की सामग्री से यज्ञ करता है, उससे सब प्राणी डरते हैं। वे प्राणी सोचते हैं कि "यह मनुष्य आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता; केवल मन या शरीर की तृप्ति में तत्पर है, अतएव इसमें दया नहीं है। निस्सन्देह यह हमारी हत्या करेगा।" इस कारण सन्तुष्ट रहकर अनायास मिले हुए नीवार आदि अन्न से ही प्रतिदिन नित्य-नैमित्तिक कर्म करना ही धर्मज्ञ मनुष्य के लिए उचित और श्रेयस्कर है। धर्मज्ञ व्यक्ति अधर्म के समान ही विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छलधर्म, इन पाँच अधर्म की शाखाओं को छोड़ दे। महाराज, धर्म जानकर करने पर भी जिससे अपने धर्म में बाधा हो, वह विधर्म है। अन्य के उपदेश किये हुए अन्य के धर्म को परधर्म कहते हैं। पाखंडाचार अथवा दंभ को उपधर्म कहते हैं। पुरुषगण अपने मन से धर्म कहकर जिसका अनुष्ठान करते हैं, वह धर्माभास है। वह आश्रमों के धर्म से अलग है। अन्य प्रकार का अर्थ करके जिस धर्म की व्याख्या की जाय, वह छलधर्म है। राजन, स्वभावविहित धर्म सभी लोगों को शान्तिदायक होता है। अतएव अपने धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। अधिक धर्म करने की इच्छा से भी पराये धर्म का आचरण न करना चाहिए। निर्धन व्यक्ति धर्म के लिए अथवा शरीर-निर्वाह के लिए धनोपार्जन में ही लिप्त न रहे। जो आदमी धन पाने की चेष्टा में लिप्त नहीं रहता, उसका अजगर के समान आप ही निर्वाह होता है। यथोचित धनोपार्जन की चेष्टा निषिद्ध नहीं है। प्रयोजन से अधिक धनोपार्जन की चिन्ता या चेष्टा ही वर्जित है। जो आदमी संतुष्ट और आत्मा में ही रमा हुआ है, उसके अन्तःकरण में निश्चेष्ट होने से जैसा सुख होता है, वैसा कामनाओं के फेर में पड़कर धनोपार्जन की चेष्टा में इधर-उधर दौड़ने से नहीं होता। जैसे जो आदमी जूता पहने हुए है, उसका कंकड़ और काँटे आदि से कुछ अनिष्ट नहीं होता, कष्ट नहीं पहुँचता, वैसे ही आत्मसंतुष्ट व्यक्ति के लिए सभी ओर मंगल है। महाराज, संतोषी मनुष्य केवल पानी पीकर भी जीवन धारण कर सकता है; लेकिन जो आदमी इन्द्रियों के वशीभूत है, वह कुत्ते की तरह चारों ओर लायँलायँ करता हुआ घूमता है। जो ब्राह्मण इन्द्रियों के अधीन और असंतोषी है, उसके तप, तेज, विद्या, यश और ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। भूख और प्यास की तृप्ति से लोग कामभोग का अंत पा सकते है और हिंसा करके क्रोध का भी अंत पा सकते हैं; लेकिन दसों दिशाएँ जीतकर और सारे पृथ्वीमंडल का साम्राज्य भोग करके भी लोभ का अंत नहीं पा सकते। महाराज, बहुत जाननेवाले और औरों का संशय निवृत्त करनेवाले अनेक पंडित सभापति या नेता होकर भी इस असंतोष या लोभ के कारण अधःपात को प्राप्त होते हैं। अतएव संकल्प का त्यागकर कामना को जीते, कामना को छोड़कर क्रोध को दूर करे। अर्थ अर्थात् धन को अनर्थ की जड़ जानकर लोभ को जीते। तत्त्व की खोज अर्थात् आत्मा के ज्ञान से मृत्यु के भय का त्याग करे। आत्मा-अनात्मा के विवेक से शोक और मोह को मिटावे। महात्मा लोगों की सेवा और सत्संग से दंभ को दूर करे। मौनावलंबन से योग के विघ्न जो दुनियादारी की बातें वगैरह हैं, उनका त्याग करे। काम

आदि विषयों की चेष्टा को छोड़कर हिंसा की प्रवृत्ति का दमन करे। जिन प्राणियों से भय की संभावना हो, उनका हित करके उनसे होनेवाले दुःख को दूर करे। दैव के द्वारा मिलनेवाले मानसिक पीड़ा आदि दुःखों को समाधि से दूर करे। आध्यात्मिक क्लेशों को योगबल से दूर करे। निद्रा को सात्विक आहार-व्यवहार से जीते। सतोगुण से रजोगुण और तमोगुण को नष्ट करे। सतोगुण को उपशम के द्वारा वश में करे। महाराज, गुरु मे सुदृढ़ भक्ति करने से मनुष्य इन सब बाधाओं को अनायास ही दूर कर सकता है। ज्ञानदीपक दिखानेवाला गुरु साक्षात् भगवान् का रूप है। जो मनुष्य ऐसे गुरु को साधारण मनुष्य समझता है, उसका सब शास्त्र पढ़ना और सुनना हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। हे युधिष्ठिर, ज्ञानदाता गुरु साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान का स्वरूप है। वह प्रकृति और पुरुष का ज्ञान देनेवाला ईश्वर है। योगेश्वर लोग भी ऐसे ही गुरु के चरणों की खोज करते है। सद्गुरु को मनुष्यभाव से देखना भ्रम है। राजन्, वेद में इष्टापूर्त आदि जितनी विधियाँ हैं, उन सबका उद्देश्य छः इन्द्रियों (मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों) का दमन ही है। किन्तु उक्त विधियाँ ऐसी होकर भी अगर योग-साधन मे असमर्थ हों तो उनका करना व्यर्थ श्रममात्र है। जैसे खेती आदि विषय योग के फल मोक्ष के साधन या उपाय नही हो सकते, ससारबंधन के ही कारण हैं, वैसे ही बाहरी विषयों में लगे हुए असत् पुरुष के लिए वेदविहित इष्टापूर्त आदि कर्म भी मोक्षसाधक न होकर संसार के प्रवर्त्तक ही होते हैं। जो मनुष्य मन को जीतने में लगे हुए हैं, वे संग और घर-बार को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लें, अकेले निर्जन में निवास करें और भिक्षा में मिला हुआ परिमित ( नपा-तुला ) आहार करें। समतल और पवित्र स्थान में आसन लगाकर, सीधे बैठकर, जिसमें कष्ट न हो इस तरह स्थिर भाव से बैठकर, प्रणव अर्थात् ओंकार का उच्चारण करें। पूरक, कुंभक और रेचक नाम के तीन तरह के प्राणायामों से प्राण और अपान वायु को ब्रह्माण्ड में रोककर स्थिर करें। अपनी नाक की नोक में दृष्टि को स्थिर करके मन से सब कामनाओं को दूर कर दें। उसके बाद कामनाओं के वशीभूत होने के कारण भटक रहा मन जहाँ-जहाँ से चलायमान हो, वहाँ-वहाँ से उसको रोककर धीरे-धीरे हृदय मे स्थिर करके अपने वश में करें। महाराज, जो लोग लगातार इस तरह अभ्यास करते रहते हैं, उनका मन थोड़े ही समय मे बिना ईंधन की आग के समान निर्वाण अर्थात् शान्ति को प्राप्त होता है। जो मन कामना आदि से क्षोभ को नहीं प्राप्त होता, वह फिर चलायमान नहीं होता; क्योंकि ब्रह्मानंद प्राप्त होने से उसकी प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। परन्तु जो गृहाश्रम धर्म, अर्थ और काम का आश्रयस्थल है, उससे निकलकर अर्थात् संन्यास लेकर जो व्यक्ति फिर उसमें प्रवेश करता है, वह उगले हुए को फिर निगलनेवाला निर्लज्ज है। यह न समझना चाहिए कि संन्यास लेने के बाद फिर गृहस्थ नहीं हुआ जा सकता; क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल है; इसका कुछ भरोसा नहीं। जो असाधु कच्चे योगी नाश होनेवाले—अन्त को कीड़े, विष्ठा या भस्म हो जानेवाले—शरीर को आत्मा समझते हैं, वे ही उसकी प्रशंसा करते हैं। राजन, गृहस्थ आदमी का अपने विहित कर्मों को छोड़ देना, ब्रह्मचारी का अपने व्रत को छोड़ देना, तपस्वी अर्थात् वानप्रस्थ का बस्ती में निवास और भिक्षु अर्थात् संन्यासी की इन्द्रिय-लोलुपता, ये चारों आश्रमों की विडम्बनामात्र हैं। इस प्रकार के आश्रमधारी महा-अधम हैं। वे ईश्वर की माया से मूढ़ हो रहे हैं। इसलिए उपेक्षा और दया के पात्र हैं। जो लोग परब्रह्म का ज्ञान रखते हैं, उनकी सभी वासनाएँ उस ब्रह्मज्ञान से दूर हो जाती हैं। फिर वे किस अभिलाषा से और किस कारण से इन्द्रियलोलुप होकर शरीर का पोषण करेंगे ? पंडित लोगों का कहना है कि यह शरीर एक रथ है। इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इन्द्रियों का स्वामी मन उनकी लगाम है। शब्द आदि विषय उन घोड़ों के जाने की जगह है। बुद्धि सारथी है। यह चित्त ईश्वर का बनाया हुआ उसका बड़ा भारी बंधन है। इसी तरह प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नाम के दस

प्रकार के प्राणवायु उस रथ के रक्षक हैं। धर्म और अधर्म दोनों पहिए हैं। अहंकारयुक्त जीव उस पर बैठा हुआ रथी है। ओंकार इस रथी का धनुष है; शुद्ध जीव बाण है और परब्रह्म उसका लक्ष्य है। महाराज, राग-द्वेष, लोभ, मोह, शोक, भय, मद, मान, अपमान, असूया, माया, हिंसा, मत्सर, आसक्ति, असावधानता, भूख और नींद, ये और अन्य सब विषय जीव के शत्रु हैं। ये कहीं राजस और तामस भाव के होते हैं और कहीं-कहीं सात्विक भाव के। परन्तु सात्विक भाव के होने पर भी समाधियुक्त यति के लिए परोपकार आदि प्रवृत्तियाँ भी शत्रुस्वरूप है। इसलिए इन सबको जीतना—मन में न आने देना—परम आवश्यक कर्त्तव्य है। जीवरूप रथी, इस मनुष्यशरीररूप रथ के घोड़ों ( इन्द्रियों ) को अपने वश में रख सकने पर, परमश्रेष्ठ महात्माजनों के चरणों की सेवा की सान पर रक्खे हुए तीक्ष्ण ज्ञानरूप खड्ग को लेकर, हरि भगवान् की सहायता से पूर्वोक्त शत्रुओं को नष्ट कर दे; उद्वेगरहित भाव से आत्मानंद में ही सन्तुष्ट रहे। इसके बाद सिद्ध होने पर इन रथ अर्थात् शरीर आदि की भी परवा न रक्खे। नहीं तो, असावधान होने पर इन्द्रियरूप घोड़े और बुद्धिरूप सारथी उसे कुमार्ग मे ले जाकर विषय नाम के विषम दस्युओं अर्थात् लुटेरों के दल में डाल देते हैं। वे लुटेरे घोड़े और सारथी सहित रथी ( जीव ) को गुरुतर मृत्युभय से युक्त अंधकारमय संसार के गढ़े गहरे मे गिरा देते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति से संबंध रखनेवाले दोनों प्रकार के कर्म वेदोक्त हैं। प्रवृत्तिसंबंधी कर्मकाण्ड से बारम्बार जन्म और मरण होता है और निवृत्तिसंबंधी निष्काम परमहंस-धर्म का आश्रय लेने से मुक्ति मिलती है। महाराज, श्येनयाग आदि, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, वैश्वदेव और बलि, ये सामग्री से संपन्न होनेवाले काम्यकर्म हैं। ये अतीव आसक्ति बढ़ानेवाले और अशान्तिदायक हैं। इन सब प्रवृत्तिमार्गसंबंधी कर्मों को 'इष्ट' कहते हैं। देवालय, बाग़, कुआँ-पौसाला आदि बनवाने को 'आपूर्त' कहते है। महाराज, चरु-पुरोडाश आदि का परिणाम, धूमदेवता, रात्रि-देवता, कृष्णपक्षदेवता, दक्षिणायनदेवता, चंद्रलोक, अदर्शन, ओषधि, लता, अन्न और शुक्र, ये पुनर्जन्म के कारण हैं। इनकी पितृयान संज्ञा है। अर्थात् यज्ञ आदि के फल से एक प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। उसके बाद उस देह के द्वारा धूमदेवता के पास से चंद्रलोक तक भोग करके फिर नीचे उतरना होता है। फलतः चंद्रलोक में भोग का अन्त होने पर पहले का देह विनाश को प्राप्त होकर अदृश्य हो जाता है। उसके बाद क्रमशः वृष्टि आदि के द्वारा ओषधि, लता, अन्न और शुक्र में मिलकर जीव फिर पृथ्वी पर जन्म लेता है। उसके बाद गर्भाधान से लेकर श्मशान तक के संस्कारों से संस्कृत होकर वह द्विज नाम को प्राप्त होता है। यह प्रवृत्तिमार्ग की गति है। पर निवृत्तिमार्ग के अनुगामी की और ही गति होती है। उसे सुनिए। निवृत्तिमार्ग में तत्पर पुरुष यज्ञ और कर्मों को इन्द्रियों में, इन्द्रियों को संकल्पमय मन में, वैकारिक मन को वाक्य में, वाक्य को वर्णसमूह में, वर्णसमूह को स्वरत्रयमय ओंकार में, ओंकार को बिंदु में, बिंदु को नाद में, नाद को प्राणवायु में और प्राणवायु को ब्रह्म में लीन कर दे। इस तरह निवृत्तिमार्ग के अनुगामी पुरुष क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, पूर्वाह्न, शुक्लपक्ष, पूर्णिमा और उत्तरायण के अभिमानी देवगण के समीप जाकर ब्रह्माजी के निकट पहुँचते है। इस प्रकार भोग के अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त पुरुष की पहले स्थूल उपाधि होती है। उसके बाद उस स्थूल को सूक्ष्म में लीन करने पर सूक्ष्म तैजस उपाधि होती है। फिर उस सूक्ष्म उपाधि को कारण में लीन करने से कारणोपाधि प्राप्त होती है। उसके बाद सर्वत्र साक्षीरूप से अन्वय संबंध रखने के कारण उस कारण को साक्षीस्वरूप में लीन करने से तुरीय अवस्था प्राप्त होती है। अन्त को उस साक्षी-स्वरूप का लय होने से विशुद्ध आत्मा का स्वरूप अर्थात् ब्रह्मभाव प्राप्त होता है। राजन्, इस गति को विद्वान लोग देवयान कहते हैं। प्रवृत्तिविषय के कर्म करनेवाले लोग धीरे-धीरे पूर्वोक्त लोकों में जाकर फिर लौटते हैं, किन्तु आत्मा की आराधना करनेवाले निवृत्तिमार्गावलंबी लोग, जो शान्त और आत्मा अर्थात् ब्रह्म में

लीन हो जाते हैं, फिर इस संसार में नहीं लौटकर आते। पितृयान और देवयान नाम के ये दोनों मार्ग वेद में कहे गए हैं। जो मनुष्य शास्त्ररूप नेत्र के द्वारा देखकर इन मार्गों को जानते हैं, वे देहधारी होने पर भी माया में मोहित नहीं होते। कारण, देह आदि के आदि में कारणरूप से और अंत में अवधिरूप से जो सत् वस्तु वर्त्तमान रहती है, जो भोक्ता, उच्च-नीच और प्रकाश-अप्रकाशरूप है, सो सब यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही है। इससे अलग कुछ भी नहीं है, जो इसे मोह में डाले। जैसे प्रतिबिंब आदि आभास युक्ति-विरुद्ध और सब तरह से खंडित होने पर भी वस्तुरूप से प्रतीत होते हैं, वैसे ही इन्द्रियसमूहमय यह देह भी सत् प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में यह प्रतिबिंब के समान असत् है, इसलिए 'अर्थ' नहीं है, मिथ्या है। पृथ्वी आदि पंचतत्त्वों की छाया अर्थात् ऐक्यबुद्धि का आलंबनस्वरूप जो यह देह आदि का आरंभ, संघात या रूपान्तर है, इसमें कुछ सार नहीं है; क्योंकि अवयव से यह अत्यन्त पृथक् नहीं है और किसी के साथ अन्वित भी नहीं रहता। इसलिए इसको मिथ्या पदार्थ ही जानना चाहिए। महाराज, जैसे देह आदि मिथ्या हैं, वैसे ही उनके कारणस्वरूप पृथ्वी आदि पंचतत्त्व भी मिथ्या हैं। कारण, पंचतत्त्व अवयवी हैं, अतएव सूक्ष्म अवयव उनका अस्तित्व असिद्ध है, अतएव इस प्रकार अवयवी के असत् होने पर अवयव भी असत् अर्थात् मिथ्या सिद्ध हैं। अविद्या का विकल्प रहने के कारण पूर्वापूर्व आरोप के सादृश्य से "यह वही है," इस तरह का भ्रम हो सकता है; लेकिन जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं होती, तभी तक उक्त प्रकार का भ्रम हो सकता है। जैसे कभी-कभी स्वप्न में जागरण और निद्रा की दशा का स्वप्न होता है, वैसे ही शास्त्रकृत विधि-निषेध भी है। इसलिए मननशील योगी लोग भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत की आलोचना करके आत्मतत्त्व के अनुभव द्वारा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं को निवृत्त करते हैं। यथार्थ में भेद नहीं है, इसीलिए वस्त्र और डोरे की तरह इस सब कार्यों और कारणों में ओतप्रोत अथवा एक वस्तु समझने का नाम भावाद्वैत है। मन, वाणी और कार्य के द्वारा साक्षात् परब्रह्म में सब कर्मों के समर्पण का नाम क्रियाद्वैत है। आत्मा, पुत्र, स्त्री, और अन्यान्य देहधारियों के अभेद की आलोचना से अर्थ और कामनाओं के ऐक्यदर्शन का नाम द्रव्याद्वैत है। महाराज, जिस मनुष्य को जो द्रव्य, जिस उपाय के द्वारा, जहाँ से, जिससे लेना निषिद्ध नहीं है, वह ( आपत्काल को छोड़कर ) सर्वदा उसी द्रव्य से सब कर्म करे। और प्रकार के अन्याय से प्राप्त द्रव्य से कर्म करने की चेष्टा न करे। इन सब कर्मों तथा अन्य वेदविहित कर्मों में तत्पर पुरुष गृहस्थाश्रम में रहकर भी भगवान का भक्त हो सकता है और मुक्ति को पा सकता है। हे युधिष्ठिर, तुम सरीखे बहुत-से भक्तजन भगवान श्रीकृष्ण की सहायता से अनेक दुस्तर आपत्तियों से उबर गये हैं। जैसे तुमने श्रीकृष्ण के चरणकमलों की सेवा के प्रताप से सब दिशाएँ जीतकर बहुत-से बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं, वैसे ही उन्हीं आत्मस्वरूप, जगतारण हरि का आश्रय लेकर इस संसार के भी पार हो जाओ।

राजन, महात्माजनों का अनादर करने से श्रीकृष्ण की सेवा का व्रत भ्रष्ट हो जाता है और उनकी कृपा से ही सिद्ध होता है। मेरे पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनिए। इसीसे आपको मेरे कथन की सत्यता विदित हो जायगी। पहले गत कल्प में मैं उपबर्हण नाम का गंधर्व था। सब गंधर्व मुझे मानते थे। सुंदरता, माधुर्य, सुकुमारता, सौगंध्य आदि से संयुक्त होने के कारण मुझे सभी देखकर प्रसन्न होते थे। सभी स्त्रियाँ मुझसे प्रेम रखती थीं। एक समय विश्वसृष्टा अर्थात प्रजापतियों ने देवगण के यज्ञ में हरिचरित्रों का गान करने के लिए गंधर्वों और अप्सराओं को बुलाया। इस निमंत्रण में स्त्रियों के साथ मै भी वहाँ गया और मैंने उन्मत्त भाव से कुछ अनुचित चेष्टाएँ कीं। प्रजापतियों ने मेरी यह ढिठाई देखकर अपने तेज के प्रभाव से मुझको यह शाप दिया कि तूने इस समय हम लोगों का अनादर किया है, इस कारण शीघ्र ही श्रीहत होकर शूद्रयोनि को प्राप्त हो। राजन, इसी शाप के कारण मुझे दासी के गर्भ से जन्म लेना पड़ा। परन्तु ब्रह्म-

ज्ञानी मुनियों की सेवा और संग करने के कारण दासी के गर्भ से जन्म लेने पर भी उसके बाद दूसरे जन्म में मैं ब्रह्माजी का पुत्र हुआ।

महाराज, मैंने यह गृहस्थ का पापनाशक धर्म आपसे वर्णन किया। इस धर्म का आचरण करने से गृहस्थ भी निश्चय ही संन्यासियों की गति को प्राप्त हो सकता है। हे राजन, मनुष्यों में तुम लोग बड़े ही भाग्यशाली हो; क्योंकि लोकपावन मुनिगण तुम्हारे भवन में आते हैं, तुम्हारे भवन में मनुष्यरूप से छिपे हुए साक्षात् परब्रह्म कृष्णचन्द्र विराजमान हैं। अहा, महात्मा लोगों के भी खोजने की वस्तु जो कैवल्यनिर्वाण-सुख का अनुभव है, सो इन्हीं परब्रह्म का रूप है। यह साक्षात् परब्रह्म श्री कृष्णचन्द्र तुम्हारे प्रिय सुहृद्, मामा के लड़के, पूजनीय, विधि बतानेवाले और गुरु हैं। तुम्हारे समान भाग्यशाली और कौन होगा? राजन, मैं क्या हूँ, साक्षात् शंकर और ब्रह्मा आदि देवगण भी अपनी-अपनी बुद्धि के द्वारा निश्चित रूप से इनके रूप का वर्णन नहीं कर सकते। यह भक्तों के अधीन भक्तवत्सल भगवान्—मौन, भक्ति और शान्ति के द्वारा पूजित होकर—हम पर प्रसन्न हों।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर नारद के कहे हुए इन वाक्यों को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रेम से विह्वल होकर श्रीकृष्ण का पूजन किया। इसके बाद श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर से विदा होकर उनकी अनुमति लेकर श्रीनारदजी वहाँ से चल दिये। श्रीकृष्ण भगवान् परब्रह्म हैं, यह नारदजी के मुख से सुनकर युधिष्ठिर को बहुत ही विस्मय हुआ। हे परीक्षित्, दक्ष की कन्याओं के अलग-अलग वंश हमने तुम-को सुना दिये। देवता, असुर, मनुष्य आदि चराचर प्राणी सब इन्हीं वंशों के अंतर्गत हैं।

इति

**सप्तम स्कंधः**

समाप्तः



# आठवाँ स्कंध

## पहला अध्याय

### मन्वन्तरों का वर्णन

राजा परीक्षित् ने कहा—भगवन, जिसमें विश्व की सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियों के पुत्र-पौत्र आदि उत्पन्न हुए, वह स्वायंभुव मनु का वंश मैंने आपके श्रीमुख से विस्तार के साथ सुना। अब कृपा करके और मनुओं का वर्णन कीजिए। विद्वान् लोग मन्वन्तरों में भगवान् हरि के जिन सब अवतारों और उनके चरित्रों का वर्णन करते हैं, उन्हें हम सुनना चाहते हैं। कृपा करके वर्णन कीजिए। हे शुकदेवजी, विश्व के रचनेवाले हरि ने बीते हुए, आनेवाले और वर्तमान मन्वन्तरों में जो कर्म किये हैं, करेंगे और करते हैं, उन्हें भी अनुग्रहपूर्वक कहिए।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज, इस कल्प में स्वायंभुव आदि छः मनु बीत चुके हैं। उन गत मनुओं में से सबसे पहले स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन मैं कर चुका। इसी वंश में देवता आदि की उत्पत्ति हुई है। भगवान् ने इन आदिम स्वायंभुव मनु की आकूति और देवहूति नाम की दोनों कन्याओं के गर्भ से भिन्न-भिन्न समयों में, धर्म और ज्ञान का उपदेश करने के लिए, यज्ञ और कपिलदेव नाम से अवतार लिये है। भगवान् कपिलदेव की कथा हम तृतीय स्कंध में कह चुके हैं। अब भगवान् यज्ञदेव की कथा कहते हैं। शतरूपा के पति समर्थ स्वायंभुव मनु संसार के कामभोग से विरक्त होकर तप करने के लिए अपनी रानी

के साथ वन को गये। अर्थात् उन्होंने वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश किया। वह सुनन्दा नदी के किनारे पृथ्वी पर एक पैर से खड़े होकर सौ वर्ष तक महाकठिन घोर तप करते रहे। तप करने के समय वह इस तरह ईश्वर की स्तुति करते थे—

"जिससे यह विश्व चैतन्यलाभ करता है; किन्तु यह विश्व जिसे चैतन्यदान नहीं कर सकता, उस ईश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। यह विश्व जब सुषुप्ति अवस्था में होता है, तब जो जागता रहता है; ये सब जिसे जान नहीं पाते, किन्तु जो सब जीवों को अच्छी तरह जानता है, उस ईश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। यह विश्व और इसमें अधिष्ठित सब प्राणी उसी ईश्वर के चैतन्य से चेतन है। विश्व और विश्ववासियों में उसी की सत्ता व्याप्त है। इसलिए हे मनुष्यो, उस ईश्वर ने जो कुछ दिया है, उसी से सब विषयों का भोग करो। और किसी के धन पर मन को चलायमान न करो। वह ईश्वर सबको देखता है, पर ये सब लोग उसे नहीं देख पाते। जिस ईश्वर का चाक्षुषज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, उस सब प्राणियों के आश्रय-स्वरूप, संगरहित, सुरवर का पूजन करो। जिसका आदि, अन्त या मध्य नहीं है, जिसका कोई अपना या पराया नहीं है, जिसका भीतर और बाहर नहीं है, किन्तु विश्व का आदि, मध्य और अन्त जिसमे वर्तमान है, वही सत्स्वरूप पूर्ण ब्रह्म है। उस विश्वमूर्त्ति ईश्वर के अनन्त नाम हैं। वह जन्म से रहित, स्वयं-प्रकाशमान, निर्विकार, सत्स्वरूप होकर भी माया नाम की अपनी शक्ति के द्वारा इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन और संहार करता है, किन्तु इधर नित्यसिद्ध विद्या या ज्ञान के द्वारा उसी माया को निरस्त कर निष्क्रिय अवस्था में विराजमान है। इसी दृष्टान्त को देखकर ऋषिगण भी मुक्ति की इच्छा से पहले कर्म करते हैं, क्योंकि प्रायः चेष्टा करने से ही अन्त को निश्चेष्ट भाव प्राप्त होता है। आत्मलाभ से ही सर्वथा सन्तुष्ट भगवान् कार्य करने में प्रवृत्त होकर भी कभी उसमे लिप्त नहीं होते। अतएव जो भगवद्भक्त भगवान् का अनुकरण करते हैं, वे कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नही होते। सब धर्मों के विधाता भगवान् मनुष्यावतार रूप अपने मार्ग में अवस्थित होकर मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए ही कार्य करते हैं। वह परमज्ञानी, परिपूर्ण और एकमात्र प्रभु हैं, अतएव उनको अहंकार अथवा भले की आकांक्षा नहीं है। वह अन्य किसी के द्वारा कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं होते। मै उन्हीं के शरणागत हूँ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, भगवान् मनु समाधि लगाकर इस मंत्रोपनिषद् का उच्चारण करते थे। यह देखकर भूख से व्याकुल असुर और राक्षस, उनको अचेत समझकर, उन्हे भक्षण करने के लिए उनकी ओर दौड़े। उन दुष्टों के इस अनिष्ट विचार को देखकर यज्ञ नामक सर्वव्यापी हरि ने अपने पुत्र 'याम' नाम के देवतों के साथ आकर उन दैत्यों को मार डाला। फिर स्वयं इन्द्रासन पर बैठकर त्रिभुवन का पालन करने लगे।

दूसरे मनु का नाम स्वारोचिष था। वह अग्निदेव के पुत्र थे। इन मनु के सुषेण और रोचिष्मान् आदि पुत्र हुए। स्वारोचिष मन्वन्तर में रोचन नामक इंद्र, तुषित आदि देवता और ऊर्जस्तंभ आदि ब्रह्मवादी सप्तऋषि थे। इस मन्वन्तर में वेदशिरा नाम के एक ऋषि थे। उनकी स्त्री का नाम तुषिता था। तुषिता के गर्भ में वेदशिरा के वीर्य से भगवान् ने जन्म लिया और विभु नाम से प्रसिद्ध हुए। विभुदेव ने बालब्रह्मचर्य ग्रहण किया। उस समय ८८००० ऋषियों ने उनसे ब्रह्मचर्य व्रत की शिक्षा-दीक्षा ली।

तीसरे मनु का नाम उत्तम था। यह प्रियव्रत राजा के पुत्र थे। उनके पवन, सृंजय, यज्ञहोत्र आदि पुत्र हुए। उत्तम मन्वन्तर में वशिष्ठ के पुत्र प्रमद आदि सप्तऋषि और सत्य, वेद, श्रुत और भद्र नाम के देवता तथा सत्यजित् नाम के इन्द्र हुए। भगवान् पुरुषोत्तम ने उत्तम मनु की धर्मपत्नी सूनृता के गर्भ में सत्यव्रतगण के साथ जन्म लिया। इस अवतार में भगवान् का नाम सत्यसेन हुआ। सत्यसेन सत्यजित्

के सखा थे। सत्यसेन भगवान ने मिथ्याव्रतधारी, दुःशील, दुष्ट यक्ष-राक्षसों और सब प्राणियों को सतानेवाले अन्य दुष्टों का संहार किया।

चौथे मनु का नाम तामस था। यह उत्तम के भाई थे। इनके पृथु, ख्याति, नर और केतु आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए। तामस मन्वन्तर में सत्यक, हरि और वीर नाम के देवता, त्रिशिख नाम के इन्द्र और ज्योतिर्धामा आदि सप्तर्षि थे। जब कालवश युगधर्म से सब वेद लुप्तप्राय हो गये, तब विधृति के जिन पुत्रों ने अपने तेज से वेदों को धारण किया – याद रक्खा, वे तामस मन्वन्तर में वैधृति नाम के देवता हुए। तामस मन्वन्तर में भगवान् ने हरिमेधा की पत्नी हरिणी के गर्भ में जन्म लिया और हरि नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं हरि भगवान् ने ग्राह के मुख से गजराज को उबारा है।

राजा परीक्षित् ने कहा—हे वेदव्यासजी के पुत्र, श्रीहरि ने ग्राह के मुख से जिस तरह गजराज का उद्धार किया, वह कथा मैं आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। जिन कथाओं में उत्तमश्लोक हरि के गुणों का गान होता है, वे परमपवित्र, धन्य और मंगलमय स्वस्त्ययनस्वरूप हैं।

श्रीसूतजी शौनक आदि ऋषियों से कहते हैं—हे ब्राह्मणो, अनशन व्रत धारण करके बैठे हुए राजा परीक्षित् ने जब इस प्रकार हरि की कथा कहने के लिए प्रेरणा की, तब महर्षि वेदव्यास के पुत्र महात्मा शुकदेवजी, राजा की प्रशंसा करके, सुनने के लिए उत्सुक मुनिमंडली के आगे इस प्रकार कथा का वर्णन करने लगे।

# दूसरा अध्याय

## गजराज की कथा

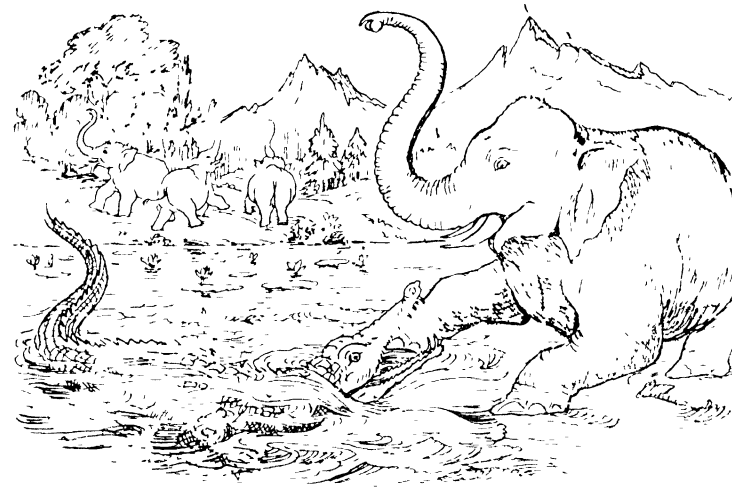
श्रीशुकदेव ने कहा—राजन्, त्रिकूट नाम का एक बहुत प्रसिद्ध और सुंदर पहाड़ है। उसे क्षीरसागर चारों ओर से घेरे हुए है। त्रिकूट पर्वत अयुत योजन ऊँचा और उतना ही चारों ओर फैला हुआ है। उसके सोने, चाँदी और लोहे के तीन शिखरों से सब दिशाएँ और समुद्र प्रकाशमान है। उसके और सब शिखर भी विविध रत्नों और धातुओं के रंग से अनुरंजित है। असंख्य वृक्ष, लता और झाड़ियों से वे ढके हुए हैं। पर्वतों से निकले हुए झरनों की मधुर ध्वनि से दिग्दिगन्त प्रतिध्वनित हो रहे हैं। क्षीरसागर की लहरें चारों ओर से आकर उसके चरणों को धोती हैं। उस पर्वत ने अपने हरिद्वर्ण मरकत पाषाण की प्रभा से वहाँ की भूमि को श्यामवर्ण बना रक्खा है। उसकी कंदराओं में सिद्ध, चारण, गंधर्व, विद्याधर, महानाग, किन्नर और अप्सराओं के झुंड सदैव विहार करते रहते है। उन लोगों के मधुर संगीत की ध्वनि कंदराओं में सदा गूँजती रहती है। सिंहगण उसे दूसरे सिंह की आवाज़ समझकर सह नहीं सकते और दर्प के साथ उसी प्रतिध्वनि को लक्ष्यकर बड़े ज़ोर से गरजते हैं। झुंड के झुंड और जंगली जानवर शिखरों पर विचरते हुए पर्वत की शोभा को बढ़ाते हैं। पर्वत के शिखरों पर जो देवतों के बाग़ हैं, उनमें मीठी बोली बोलनेवाले तरह-तरह के पक्षी कलोलें करते हुए अपनी विचित्र बोलियाँ बोलते हैं। स्वच्छ जलवाली नदियों और सरोवरों के किनारे पर लगे हुए बालू के ढेर जगह-जगह पर मणियों के ढेर की तरह चमकते हैं। देवतों की स्त्रियों के नहाने से वहाँ का जल और वायु सुगंधित हो रहे हैं। उस पर्वत पर महात्मा वरुणदेव का ऋतुमान् नाम का उपवन है। उस बाग़ में नित्य फूलने-फलनेवाले दिव्य वृक्ष

चारों ओर सुशोभित हैं। वहाँ सब देवतों की स्त्रियाँ क्रीड़ा किया करती हैं। मंदार, पारिजात, पाटल, अशोक, चंपा, आम, प्रियाल, कटहल, आम्र, आम्रातक, क्रमुक, नारियल, खजूर, अनार, महुआ, शाल, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, गूलर, पकरिया, बरगद, किंशुक, चंदन, पिचुमंद, कोविदार, साल, देवदारु, अंगूर, ईख, केला, जामुन, बेर, अक्ष, हरीतकी, आँवला, बेल, कैथा और जंबीर आदि के वृक्ष और लताएँ उस त्रिकूट के विशाल स्थान को चारों ओर से घेरे हुए हैं। वहाँ एक बड़ा भारी सरोवर है। उसमें सोने के कमल खिले हुए हैं। कुमुद, उत्पल, शतपत्र आदि तरह-तरह के कमल उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। मदमत्त भौंरे और कलकंठ पक्षियों के मधुर स्वर से वह स्थान परिपूर्ण हो रहा है। हंस, कारंडव, चक्रवाक, सारस आदि के झुंड उसमें कलोलें करते हैं। जलकुक्कुट, कोयष्टि और दात्यूह आदि पक्षी वहाँ बैठे हुए बोल रहे हैं। मछली, कछुए आदि के इधर-उधर चलने से कमल के वृक्ष हिलते हैं और उनसे गिरा हुआ पद्मपुष्पों का पराग जल में मिलकर उसे सुगंधित बनाता है। किनारे पर लगे हुए कदंब, वेतस, नरकुल, नीप, वंजुल, कुंद, कुरवक, अशोक, मौलसिरी, कुटज, इंगुदी, स्वर्णयूथी, नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र, माधवी और जालक आदि वृक्ष उसे चारों ओर से घेरे हुए उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इनके सिवा सब ऋतुओं में फूलनेवाले अन्यान्य वृक्ष उसको और भी मनोहर बना रहे हैं।

एक दिन उस पर्वत पर, उसी पर्वत के वन में रहनेवाला एक गजराज हथनियों के साथ घूमता हुआ, कँटीले पेड़ों, कीचक बाँसों, बेंत की बड़ी-बड़ी झाड़ियों और वनस्पतियों को तोड़ने और रौंदने लगा। उसकी गंध पाते ही सिंह, साधारण हाथी, बाघ, गैंड़े आदि सब भयानक हिंस्र जीव, बड़े-बड़े साँप, गोरे और काले शरभ तथा चमरी गायें डरकर इधर-उधर भागने लगते थे। लेकिन वृक, वराह, भैंसे, भालू, शल्य, गोपुच्छ (लंगूर), कुत्ते, वानर और खरगोश आदि छोटे-छोटे जीव उसकी दया पर अपने जीवन को छोड़कर इधर-उधर निर्भय भाव से विचरते रहते थे। जिनके मद बह रहा है, ऐसे बड़े-बड़े हाथी और हथनियों को साथ लिये हुए वह गजेन्द्र धूप की तपन से उस समय बहुत ही व्याकुल हो रहा था। इतने में दूर से ही पूर्वोक्त सरोवर के जल को छूकर पद्मपराग से पूर्ण ठंडी हवा उसके अंगों में आकर लगी। तब अपने पहाड़ के समान विशाल शरीर को हिलाता हुआ वह प्यासा गजराज दलबल के साथ उसी सरोवर के किनारे आ पहुँचा। मदपान करने के लिए भौंरों के झुंड उसे चारों ओर से घेरे हुए थे। महाराज, गजराज सरोवर के पास आकर उसके भीतर घुस पड़ा। सूँड़ से पद्मपरागमिश्रित निर्मल अमृततुल्य पानी पीकर और शरीर पर डालकर वह सुस्थ हुआ। उसके बाद गृहस्थ मनुष्यों की तरह वह सूँड़ से हथनियों और छोटे बच्चों को पानी पिलाने और नहलाने लगा। वह गजराज मद के उन्माद में विह्वल और दैव की माया में मोहित था, इसीलिए उसे इसका विचार नहीं रहा कि उसके इस घमासान से किसी जलजन्तु को कष्ट हो रहा है या नहीं।

उस सरोवर के भीतर एक बड़ा बली ग्राह रहता था। उस ग्राह ने होनहार की प्रेरणा से क्रोध करके गजराज का पैर पकड़ लिया। महाबली गजराज भी सहसा ऐसी विपत्ति के आ पड़ने पर यथाशक्ति अपना पैर छुड़ाने की चेष्टा करने लगा। उधर बलवान् ग्राह भी गजराज को पानी के भीतर खींचने लगा। ग्राह के इस प्रचंड आक्रमण से अपने झुंड के मुखिया गजराज को पीड़ित होते देखकर दुखित हो हथनियाँ दीन भाव से—आर्त्त स्वर से—चिल्लाने लगीं। और सब हाथी सूँड़ में सूँड़ मिलाकर गजराज को उबारने की चेष्टा करने लगे। मगर किसी तरह वे गज को ग्राह के ग्रास से नहीं छुड़ा सके। बली गज और ग्राह एक दूसरे को पानी के बाहर और भीतर खींच लाने के लिए लगातार एक हज़ार वर्ष तक युद्ध करते रहे। इतने समय में न कोई मरा और न कोई हारा। यह देखकर देवतों को भी विस्मय हुआ। क्रमशः इतने लंबे

समय तक ग्राह से युद्ध करने में यूथपति गजराज का उत्साह, शक्ति, इन्द्रियों का बल और शरीर क्षीण हो चला। उधर जल में रहनेवाले ग्राह का उत्साह और इन्द्रियों का बल बढ़ता गया। उसका शरीर भी ताज़ा बना रहा। देहधारी गजराज प्राणसंकट में पड़कर अपने को उससे छुड़ाने में असमर्थ होकर बहुत ही चिन्तित हुआ। चिन्ता करते-करते उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं शिथिल हो गया हूँ, मेरे सजातीय हाथी मुझे उबार नहीं सके; मैं भी अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो रहा हूँ। फिर ये हथनियाँ कैसे मेरी रक्षा कर सकती हैं? इस ग्राह ने जो मुझे पकड़ा है, सो अवश्य ही विधाता का पाश है। अस्तु, मैं अब परमपुरुष, ब्रह्मा आदि देवतों के भी आश्रयस्वरूप भगवान् हरि की शरण ग्रहण करता हूँ। ईश्वर ही सब से बढ़कर बलवान् हैं। प्रचण्ड वेग से दौड़ रहे कालरूप कराल सर्प के भय से डरे हुए और विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति की जो रक्षा करते हैं, और मृत्यु भी जिनके भय से सदैव अपने काम में लगा रहता है, उन्हीं ईश्वर के मैं शरणागत हूँ।



---

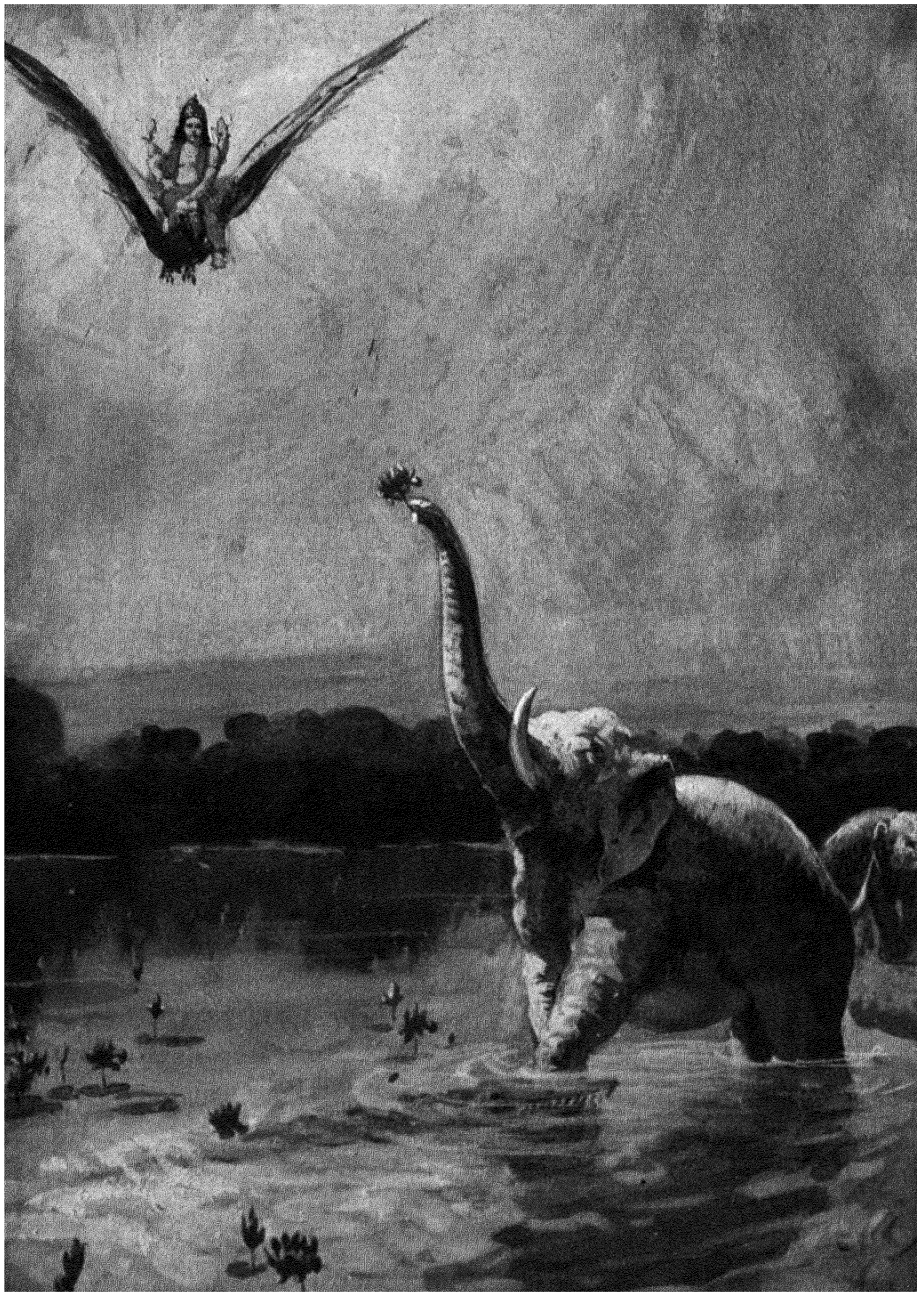
# तीसरा अध्याय

## गजेन्द्र-मोक्ष

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, गजराज ने ऐसा स्थिर निश्चय करके मन को एकाग्र किया और पूर्वजन्म में सीखे हुए ज्ञान के अनुसार इस प्रकार भगवान् की स्तुति करने लगा।

गजराज ने कहा—प्रकृति और पुरुष-स्वरूप जो भगवान् सब शरीरों में कारणरूप से प्रवेश किये हुए हैं, और इसीलिए मेरे इस शरीर ने जिनसे चैतन्यलाभ किया है, मैं केवल उन्हीं परमेश्वर का ध्यान करता हूँ। जिनमें यह विश्व-संसार अधिष्ठित है, जिनसे उत्पन्न है, जिनके द्वारा इसकी सृष्टि हुई है, जो स्वयं विश्वरूप है, जो कार्य और कारण दोनों से भिन्न हैं, मैं उन्हीं स्वयंभू के चरणों की शरण में आया हूँ। जिनकी माया के द्वारा यह विश्व जिनमें कभी प्रकाशित होता है और कभी (प्रलयकाल में) लीन हो जाता है, जो साक्षीरूप से कार्य और कारण दोनों को देखते हैं, जो प्रकाशक चक्षु आदि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतों के भी प्रकाशक होने के कारण स्वयंप्रकाशमान हैं, वही इस प्राणसंकट से मेरी रक्षा करें। एक समय आता है, जब सब लोक और लोकों के कारणरूप लोकपाल संपूर्ण रूप से

विनष्ट हो जाते हैं। उस समय घोर अंधकार ही बच रहता है। उस अंधकार के पार में जो अपार ईश्वर विराजमान रहते हैं, उन्हीं की मैं शरण हूँ। देवता और ऋषि भी उनके स्वरूप को जब नहीं जान पाते, तब अन्य प्राणी कैसे जान सकते हैं ? अथवा विविध आकृतियों को ग्रहण करनेवाले उनके स्वरूप का वर्णन कैसे कर सकते है ? नटों के समान जिनका चरित्र अज्ञेय है, वही ईश्वर इस प्राणसंकट से मेरी रक्षा करें। साधु, सब प्राणियों के मित्र, आत्मदर्शी, संगहीन मुनिगण जिनके मंगलदायक चरण देखने की लालसा से वन में रहकर ब्रह्मचर्य आदि अलौकिक व्रत धारण करते हैं, वही ईश्वर मुझ अगति की गति हैं। जो जन्म, कर्म, नाम और रूप से रहित हैं, निर्गुण और निर्दोष होने पर भी विश्व की उत्पत्ति और विनाश के लिए अपनी माया के द्वारा समय-समय पर जन्म आदि स्वीकार करते हैं, जो परमेश्वर, ब्रह्म, अनन्त शक्तिवाले, अद्भुत कर्म करनेवाले और कार्य के अनुसार अनेक रूप रखते हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। जो सब के प्रकाशक और स्वयंप्रकाशमान हैं, जो परमात्मा अर्थात् जीव के नियन्ता होने के कारण वाणी, मन और चित्त से परे हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। जो निर्गुण हैं और विशुद्ध संन्यास के द्वारा प्रत्यक्ष प्राप्त हो सकते हैं, जो मोक्षसंबंधी आनंद के अनुभवस्वरूप हैं, उनको प्रणाम है। जो शान्त, घोर, मूढ़सत्व आदि धर्म का अनुसरण करनेवाले हैं, जो निर्विशेष हैं, जो समतारूप सौम्य और ज्ञानघन हैं, उनको प्रणाम है। भगवन्, आप क्षत्रज्ञ, सबके अध्यक्ष और स्वामी हैं। आप सबके आदि में स्थित रहते हैं, अतएव आप ही आत्मा का मूल और प्रकृति की प्रकृति अर्थात् उत्पत्ति का कारण हैं। आपको प्रणाम है। आप सब इन्द्रियों के देखनेवाले साक्षी हैं। सभी विषयों में आपके सत्स्वरूप का आभास विद्यमान है। इसलिए प्रतिबिंब से जैसे बिंब की सूचना होती है, वैसे ही असत् अहंकार के प्रपंच आपकी सूचना देते हैं और सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी आपका ज्ञान कराती हैं। आपको प्रणाम है। आप सभी का कारण हैं, आपका कोई कारण नहीं है। आप अद्भुत कारण है। जैसे सभी नदियाँ सागर में आकर गिरती है, वैसे ही सब शास्त्रों और वेदों का आधार आप ही है। आप मोक्षस्वरूप और साधुजनों का आश्रय है। आपको प्रणाम है। आप ज्ञानाग्निरूप हैं। आप माया के गुणरूप ईंधन में छिपे हुए हैं। आपका मन गुणों के कार्यों से विमुख है। जिन्होंने आत्मतत्त्व के चिन्तन द्वारा विधिनिषेधमूलक शास्त्र को छोड़ दिया है, उनके हृदय में आप आप ही प्रकट होते हैं। आपको प्रणाम है। प्रभो, आप मुक्त है। इसलिए आप ही मुझ सरीखे शरणागत पशुओं को बन्धनपाश से छुड़ा सकते हैं। आपकी करुणा अपार है। अधिक क्या कहूँ, आप कृपा करने में सदा तत्पर रहते है। आप सब प्राणियों के मन में अन्तर्यामीरूप से निवास कर ज्ञान-स्वरूप से प्रकट होते हैं; किन्तु देहधारी लोग आपकी शेष सीमा का निर्देश नहीं कर पाते। आप ही सब प्राणियों के शासक हैं। आपको प्रणाम है। आप सबके अन्तर्यामी है, तथापि जो लोग देह, पुत्र, भवन, धन और भृत्य आदि में आसक्त हैं, वे आपको नहीं पा सकते; क्योंकि आप माया के गुणों से परे है। जो लोग देह आदि की आसक्ति को छोड़ चुके हैं, वे ही आपके ध्यान में मग्न रहते हैं। ज्ञान ही आपका रूप है। आप भगवान् हैं। आपको प्रणाम है। लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पाने की अभिलाषा से आपकी उपासना करके अपने-अपने अभीष्ट, अन्यान्य मंगल और अक्षयगति को भी पाते है। आपकी दया का पार नहीं। आप मुझे इस संकट से छुड़ाइए। आपके अनन्य भक्त लोग जीवन्मुक्त सर्वज्ञ महात्माजनों की सेवा और संग में परमानन्दसुख का अनुभव करते हुए केवल आपके ही मंगलमय चरित्र गाते रहते हैं और कोई कामना नहीं करते। आप अक्षर, परमेश्वर, अव्यक्त, आध्यात्मिक योग से ही मिलनेवाले, सूक्ष्म पदार्थों की तरह इन्द्रियों से परे, अनन्त, आदिपुरुष और परिपूर्ण परब्रह्म हैं। आपको प्रणाम है। आपके बहुत ही सूक्ष्म अंश के द्वारा, नाम और रूप के भेद से ब्रह्मा आदि देवगण, चारों वेद तथा इस चराचर



गजेन्द्र-मोक्ष

विश्व की सृष्टि हुई है। जैसे अग्नि से तेज और सूर्य के मंडल से किरणें निकलती हैं और फिर वह तेज और वे किरणें अग्नि और सूर्य में ही लीन हो जाती हैं, वैसे ही बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरों का सिलसिला जिनसे प्रकट और जिनमें लीन हो जाता है, उन्हें प्रणाम है। वह देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, लिंगहीन कोई प्राणी, गुण या कार्य नहीं हैं। वह न सत् हैं, न असत्। "यह नहीं है, यह नहीं है" इस भाँति सब वस्तुओं का निषेध करने से अन्त में अवधिस्वरूप जो कुछ बच रहता है, वही वह हैं। उन्हीं शेषविहीन ब्रह्म की जय हो। इस लोक से वह मुझे शीघ्र ही छुटकारा दें। मैं प्राण बचने की चाह नहीं रखता; क्योंकि यह हाथी का शरीर भीतर और बाहर अज्ञानरूप अंधकार से मलिन है। इसके रखने से कोई लाभ नहीं। आत्मतत्त्व के प्रकाश को ढकनेवाला आवरण अज्ञान मोक्ष के समय भी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता। मैं उसी अज्ञान से मुक्ति पाना चाहता हूँ। जिन्होंने इच्छा करके विश्व की सृष्टि की है, यह विश्व जिनका स्वरूप है, तो भी जो विश्व से भिन्न हैं, विश्व ही जिनकी सम्पत्ति है, उन्हीं विश्व के आत्मा परमपद ब्रह्म को प्रणाम है। भागवतधर्म के संसर्ग से जिनके सब कर्मबीज जल गये हैं, वे योगी लोग अपने विशुद्ध हृदय में जिन योगेश्वर को देख पाते हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। भगवन्, आपकी तीनों शक्तियों का रागादिरूप वेग असह्य है। आप बाहरी दृष्टि से इन्द्रियगुणरूप जान पड़ते हैं। आप शरणागतपालक हैं। आपकी शक्ति अनन्त है। अजितेंद्रिय लोग आपके मार्ग को नहीं पाते। नाथ, आपको प्रणाम है। जो अहंबुद्धिरूपिणी अपनी माया में ढके रहने के कारण लोगों के ज्ञान से परे हो रहे हैं, उन असीम महिमावाले ईश्वर के चरणों की शरण मैंने ग्रहण की है।

श्रीशुकदेवजी कहते है—महाराज, गजराज ने इस तरह ईश्वर की किसी विशेष मूर्त्ति की स्तुति न करके परमतत्त्व की स्तुति की। ब्रह्मा आदि देवगण को, उसी ईश्वर का अंश होने पर भी, अपने-अपने रूप का अभिमान है। इसी से वे गजराज को उबारने नहीं आये। तब सब प्राणियों के आत्मा सर्वदेवमय हरि वहीं पर प्रकट हुए। हाथ में चक्र लिये विश्वपति नारायण अपने भक्त गज को विपत्ति में पड़ा हुआ जानकर, उसके आर्त्त स्वर और स्तुति को सुनकर, उसी दम वेदरूप गरुड़ की पीठ पर बैठकर दौड़े आये। सब देवता भी पीछे-पीछे भगवान् की स्तुति करते हुए उपस्थित हुए।

पानी के भीतर महाबली ग्राह खींच रहा था, जिससे शिथिल हो रहे गजराज को बड़ा क्लेश हो रहा था। इतने ही में उसे आकाश में गरुड़ पर विराजमान नारायण देख पड़े। गजराज ने सूँड़ से उपहार-स्वरूप एक कमल का फूल ऊपर उठाकर बड़े कष्ट से आर्त्त स्वर में कहा—हे नारायण, हे जगद्गुरु, आपको प्रणाम है। अपने भक्त गजराज को पीड़ित देख भगवान् तुरन्त गरुड़ की पीठ से फाँद पड़े और करुणा-सिंधु दीनबन्धु ने ग्राह सहित गज को सरोवर के बाहर निकाल लिया। तुरन्त चक्र से ग्राह का सिर काट डाला। भगवान् ने इस तरह सब देवतों के सामने ही गजराज का उद्धार किया।

# चौथा अध्याय

## गजेन्द्र का स्वर्ग जाना

हे राजन्, ब्रह्मा, शंकर आदि देवता, ऋषि और गंधर्व हरि के इस अद्भुत् कर्म की बड़ाई करते हुए आकाश से,उन पर फूल बरसाने लगे। स्वर्ग में नगाड़े बजने लगे। गंधर्व गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। ऋषि, चारण और सिद्ध लोग भगवान् नारायण की स्तुति करने लगे। राजन्, गजराज को पकड़ने-

वाला ग्राह पहले जन्म में हूहू नाम का श्रेष्ठ गंधर्व था। देवल ऋषि के शाप से वह ग्राह हो गया था। इस समय हरि की कृपा से शाप से छुटकारा पाते ही ग्राह का शरीर छोड़कर, अद्भुत् सुंदर शरीर धारण कर, कीर्त्तनीय उदार गुणवाले पुण्यश्लोक अविनाशी नारायण को प्रणाम कर, निष्पाप होकर, भगवान् की स्तुति करते हुए उसने हरि की प्रदक्षिणा की और फिर सबके सामने ही अपने लोक को चला गया।

इधर गजराज भी भगवान् का स्पर्श पाने के कारण अज्ञान से मुक्त होकर, हरि के ही समान पीताम्बरधारी दिव्य चतुर्भुजरूप हो गया। वह पहले जन्म में पांड्य देश का राजा इन्द्रद्युम्न था। वह द्राविड़ों में श्रेष्ठ माना जाता था। सदा विष्णु भगवान् की उपासना किया करता था। आत्मज्ञानी इन्द्रद्युम्न राजभोग छोड़कर कुलाचल पर एक आश्रम में जटा धारण किये तपस्वी के वेष से भगवान् के भजन में लगा रहता था। एक दिन उपासना के समय स्नान करके मौनव्रत धारण किये हुए राजा इन्द्रद्युम्न नारायण का ध्यान कर रहा था। इतने में महायशस्वी अगस्त्य मुनि अपनी शिष्यमंडली के साथ इच्छानुसार घूमते हुए उसके आश्रम में आ गये। राजा ईश्वर के ध्यान में लीन था, इस कारण वह मौनव्रत धारण किये अपने आसन पर बैठा रहा। उसने अगस्त्यजी की न तो पूजा ही की और न स्वागत-सत्कार ही किया। यह देखकर मुनिवर क्रोधित हो उठे। मुनि ने क्रोध करके शाप दिया—यह दुष्ट असाधु और अशिक्षित है। इसी से इसने आज इस तरह ब्राह्मण-जाति का अपमान किया है। यह जड़ हाथी के समान मदमत्त होकर बैठा है, इसलिए गज की योनि पाकर अज्ञान में निमग्न हो।



शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, ऋषिवर अगस्त्य यों शाप देकर अपने शिष्यों के साथ वहाँ से चल दिये। राजर्षि इन्द्रद्युम्न भी इस घटना का कारण दैव को समझकर गज की योनि को प्राप्त हुए। गजयोनि में आत्मस्मृति नष्ट हो जाती है। लेकिन राजा इन्द्रद्युम्न हरि की आराधना के प्रभाव से, हाथी होकर भी, अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को नहीं भूले। पद्मनाभ, गरुड़वाहन भगवान् ने गजेन्द्र को इस तरह संकट से छुड़ाकर अपना पार्षद बना लिया। उसे लेकर वह अपने वैकुण्ठधाम को गये।

महाराज, मैंने तुमसे गजेन्द्रमोक्षरूप यह भगवान् हरि का माहात्म्य वर्णन किया है। जो लोग इस कथा को सुनते हैं, उन्हें इस लोक में यश और अन्त में स्वर्ग की गति मिलती है। कलियुग के कलुष और बुरे सपने उनके पास भी नहीं आते। इसलिए मंगल की कामना करनेवाले द्विजों को सबेरे उठकर पवित्र होकर दुःस्वप्न की शान्ति के लिए इसे पढ़ना चाहिए। हे कुरुश्रेष्ठ, सर्वव्यापक भगवान नारायण ने प्रसन्न होकर सब प्राणियों के आगे गजराज से यह कहा था कि "जो लोग पिछली रात को जागकर सावधानता के साथ पवित्र होकर मुझे, तुम्हें, इस सरोवर को, वन को, कंदरा को, इन बेंत, कीचक और वेणु की झाड़ियों को, इन देववृक्षों को, इस शिव, ब्रह्मा और मेरे निवासस्थान शिखर को, मेरी परमप्रिय आवासभूमि क्षीरसागर को तथा तेजोमय श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, कौमोदकी गदा, सुदर्शनचक्र, पांचजन्य शंख, पक्षिराज गरुड़, मेरी सूक्ष्म कला शेषनाग, मेरे हृदय में निवास करनेवाली लक्ष्मी देवी, ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, शिवजी, प्रह्लाद, मेरे मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों के किए हुए पवित्र चरित्र, सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, प्रणव, सत्य, गऊ, ब्राह्मण, भक्तिलक्षणयुक्त धर्म तथा धर्म, चंद्रमा, कश्यप आदि की पत्नी दक्षप्रजापति की कन्याएँ, गंगा, सरस्वती, नंदा, कालिंदी, ऐरावत हाथी, ध्रुव, सप्तऋषि, तथा अन्यान्य पवित्र यशवाले महात्मा मनुष्य आदि मेरे विविध रूपों का स्मरण करते हैं, वे सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं। हे गजराज, जो लोग पिछले पहर ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर इन मेरी मूर्त्तियों की पूजा और स्तुति करते हैं, तुम्हारे इस स्तोत्र का पाठ करते हैं, उनको मैं अन्त समय में सुमति और सद्गति देता हूँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते है—महाराज, हृषीकेश भगवान् यों कहकर पांचजन्य शंख के नाद से देवगण को प्रसन्न करते हुए वैकुंठ जाने के लिए गरुड़ की पीठ पर सवार हो गये।

# पाँचवाँ अध्याय

## ब्रह्माकृत भगवान् की स्तुति

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, यह पापनाशक हरि का चरित्र गजेंद्रमोक्ष मैंने तुमको सुना दिया। अब रैवत मन्वन्तर की कथा सुनो। पाँचवें मनु का नाम रैवत था। यह तामस मनु के सगे भाई थे। अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि उनके कई पुत्र हुए। रैवत मन्वन्तर में विभु नाम के इन्द्र, भूतरम आदि देवता और हिरण्यरोमा, ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तऋषि थे। स्वयं भगवान् नारायण ने इस मन्वन्तर में शुभ्र के वीर्य से उनकी स्त्री विकुंठा के गर्भ में वैकुंठवासी देवगण के साथ अपने अंश के द्वारा वैकुंठ अवतार लिया। लक्ष्मीदेवी का प्रिय करने के लिए, उन्हीं की प्रार्थना से, वैकुंठ भगवान् ने वैकुंठलोक की रचना की। उस वैकुंठलोक को सब सादर वंदना करते हैं। इन वैकुंठ भगवान् की महिमा और परम अभ्युदय से युक्त गुण मैंने साधारण रूप से ही वर्णन किये हैं, जो कोई धरती के कणों की गिनती कर सकता हो, वही शायद हरि के अनन्त गुणों का संपूर्ण वर्णन कर सके।

छठे मनु का नाम चाक्षुष है। यह चक्षु के पुत्र हैं। इनके पुरु, पुरुष, सुद्युम्न आदि पुत्र हुए। चाक्षुष मन्वन्तर में मंत्रद्रुम नामक इन्द्र, आप्यादि देवता और हविष्मान, वीरक आदि सप्तऋषि थे। इस मन्वन्तर में जगत्पति नारायण ने वैराज की पत्नी देवसंभूति के गर्भ से अजित नाम का अवतार लिया। अजित भगवान् अंशावतार थे। उन्होंने जल के भीतर अपने ही दूसरे कच्छपरूप की पीठ पर घूम रहे मंदराचल को सँभालकर देवतों के साथ क्षीरसागर को मथा और देवतों को अमृत पिलाया।

राजा परीक्षित् ने कहा—मुनिवर, भगवान् ने जिसके लिए, जिस कारण, जिस प्रकार क्षीरसागर को मथा और कच्छप-अवतार लेकर पीठ पर मंदराचल को धारण किया, जिस प्रकार देवतों ने अमृत पीने को पाया, इस सागर-मंथन में जो-जो घटनाएँ हुईं, सो सब आप कृपा करके वर्णन कीजिए। मेरा हृदय बहुत दिनों से तीन तरह के तापों से तप रहा था, इसीलिए भक्तवत्सल भगवान् की परम अद्भुत महिमा को आपके श्रीमुख से बारंबार सुनकर भी मेरा जी नहीं भरता—सुनने की और भी प्रबल इच्छा होती है।

सूतजी अट्ठासी हज़ार शौनक आदि ऋषियों से कहते हैं—हे ब्राह्मणो, राजा परीक्षित् के यों प्रश्न करने पर महर्षि शुकदेवजी हरि के चरित्रों की प्रशंसा करते हुए यों कहने लगे।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्, युद्ध में जब दानव लोग पैने अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार से देवतों का संहार करने लगे, अनेकों देवता रणभूमि में मर-मरकर गिरने लगे, महर्षि दुर्वासा के शाप से* तीनों लोक और उनके स्वामी इंद्रदेव श्रीहत हो गये, सब यज्ञ आदि कर्म एकदम बंद हो गये, तब इंद्र, वरुण आदि सब लोकपाल यह संकट मिटाने के उपाय सोचने लगे। लेकिन उन्हें कोई भी उपाय नहीं सूझ पड़ा। अन्त को सब देवता सुमेरु पर्वत के शिखर पर ब्रह्माजी की सभा में गये। ब्रह्माजी को प्रणाम कर उन्होंने सब वृत्तान्त कह सुनाया। इन्द्र आदि को पराक्रम और प्रभाव से हीन तथा तीनों लोकों को अत्यन्त दुर्दशा में पड़ा हुआ देखकर और असुरों को इसके विपरीत सबल, हृष्टपुष्ट और सन्तुष्ट देखकर ब्रह्माजी एकाग्र चित्त से परमपुरुष परमेश्वर का ध्यान करते-करते प्रसन्नमुख होकर देवगण से यों कहने लगे—मैं, शंकर, तुम लोग, असुरगण और मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, स्वेदज जन्तु आदि सब जीव जिनके अवतार की अंशकला से उत्पन्न हैं, आओ, हम सब उन्हीं की शरण में जायँ। जिनकी दृष्टि में न कोई मारने योग्य शत्रु है, न कोई रक्षा करने के योग्य मित्र है, न कोई उपेक्षा के योग्य है और न कोई आदर का पात्र है, सभी समान हैं, तो भी जो समय के अनुसार सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण को स्वीकार करते हैं; वह इस शरीरधारियों के कल्याण के लिए सत्त्वगुण ग्रहण किये हुए हैं। यह समय उनका विश्व-पालन का समय है। इसलिए आओ, उनकी शरण में चलें। जगद्गुरु भगवान् हम अपने जनों का कल्याण करेंगे। हम लोग उनके प्रिय भक्त हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित्, देवतों से यों कहकर उनको अपने साथ लिये हुए ब्रह्माजी अन्धकार के अपर पार में स्थित क्षीरसागर के पास गये। वहाँ पहुँचकर एकाग्र मन से वैदिक वचनों के द्वारा, जिन्हें कभी देखा नहीं, लेकिन जिनके विषय में पहले सुन रक्खा था, उन परमपुरुष की इस प्रकार स्तुति करने लगे। ब्रह्माजी ने कहा—हे देवदेव, आप सर्वश्रेष्ठ हैं। आपको हम प्रणाम करते हैं। आप आदिपुरुष, अनन्त, निर्विकार, सत्स्वरूप, सबके अन्तर्यामी, उपाधिहीन, अचिन्त्य और वाणी के द्वारा अगम्य हैं। आपका वेग मन से भी अधिक है। वाणी आपका निर्देश नहीं कर सकती। आपको प्रणाम है। जो मन, प्राण, बुद्धि और अहंकार से अभिज्ञ हैं, जो इंद्रिय और उनके विषय रूप से प्रकाशित हैं, तथापि स्वप्न देखनेवाले के समान अज्ञानरहित हैं, जिनका कोई शरीर नहीं है, जो अक्षर और आकाश की तरह सर्वव्यापक हैं (कारण, जीव का पक्ष लेनेवाली अविद्या और उसे निवृत्त करनेवाली विद्या का उनसे संसर्ग नहीं है), जो तीनों युगों में प्रकट होते हैं, उन परब्रह्म के हम शरणागत हैं। यह जीव का शरीर

*एक समय महर्षि दुर्वासा वैकुण्ठ से लौटे आ रहे थे। सामने से ऐरावत हाथी पर चढ़े इन्द्र भी आ रहे थे। मुनि ने त्रिलोकीनाथ जानकर नारायण की प्रसादी माला इन्द्र को भेंट की। पुरंदर ने श्रीमद के कारण वह माला लेकर ऐरावत के मस्तक पर डाल दी। ऐरावत ने हाथी के स्वभाव के अनुसार वह माला सूँड़ से खींचकर पैरों से रौंद डाली। यह देख कुपित हो दुर्वासा ने शाप दिया कि इन्द्र, तुम शीघ्र ही राज्य-ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाओगे।

पहिए की तरह माया के द्वारा घूमा करता है। यह मनोमय है। दस इंद्रियाँ और पाँच प्राण इसके आरे हैं। इसका वेग बहुत तेज है। तीनों गुण इसकी नाभि हैं। इसकी गति बिजली की तरह चंचल है। आठ प्रकृतियाँ नेमि ( लीक ) के समान इसके आवरण हैं। जो परमात्मा इस पहिए का अक्ष अथवा केन्द्र हैं, हम उन्हीं सत्स्वरूप के शरणागत हैं। जो जीव के निकट ही रहते हैं, ज्ञान ही जिनका एकमात्र स्वरूप है, जो प्रकृति से परे और अदृश्य हैं, जो अव्यक्त और अनन्त अपार हैं, धीर योगी लोग योगसाधना से जिनकी उपासना करते हैं, जिनकी माया में मोहित मनुष्य आत्मा का स्वरूप नहीं जान पाते, जिस माया के पार कोई नहीं जा सकता, वह माया और उसके गुण जिनके वश में हैं, उन्हीं सर्वत्र समभाव से विचरण करनेवाले परमेश्वर को हम प्रणाम करते हैं। ये सब देवता, ऋषि और हम सब लोकपाल उन्हीं के परमप्रिय रूप सतोगुण से उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए उनकी सूक्ष्म गति या शक्ति हमारे भीतर और बाहर निरन्तर प्रकाशमान है। तथापि जब हमीं लोग उनकी उस सूक्ष्म गति को नहीं जान पाते, तब असुर आदि अन्य जीव कैसे जान पावेंगे ? कारण, उनकी सृष्टि तो रजोगुण और तमोगुण से हुई है। जिस पर चार प्रकार के प्राणी रहते हैं, उस पृथ्वीमंडल की जिन्होंने सृष्टि की है, यह पृथ्वी जिनके चरण है, वह विराट्रूप महापुरुष महाविभूतिसंपन्न परब्रह्म हम लोगों पर प्रसन्न हों। लोक और लोकपाल जिस जल से पैदा होते, बढ़ते और जीवित रहते हैं, वही उदार शक्तिशाली जल जिनका रेतस् ( वीर्य ) है, वह महाऐश्वर्य से युक्त परमात्मा हम सब पर प्रसन्न हों। सब देवतों का अन्न, बल, परमायु और सब वृक्षों-वनस्पतियों का राजा तथा प्रजागण का जन्मदाता चंद्रमा जिनका मन है, वह महाविभवसंपन्न ईश्वर हम लोगों पर प्रसन्न हों। क्रियाकाण्ड के लिए जिस अग्नि की सृष्टि हुई है, जिस अग्नि से वेदरूप धन उत्पन्न हुआ है, जो अग्नि जीव के उदर में रहकर अन्न को पचाता है, वह अग्नि जिनका मुख है, वह महावैभवशाली महेश हम लोगों पर प्रसन्न हों। देवयान अर्थात् अर्चि आदि देवमार्ग के अधिष्ठाता देवता, वेदमय ब्रह्म की उपासना का स्थान, मुक्ति के द्वार, अमृत और मृत्युरूप सूर्य जिनके नेत्र है, वह महाविभूतियुक्त परमेश्वर हम लोगों पर प्रसन्न हों। जो वायु चराचरजगत् का प्राण, बल, उत्साह और विक्रम है, हम लोग भृत्य की तरह जिस सम्राट्रूप वायु के अनुगत रहते हैं, वह वायु जिनके प्राण से उत्पन्न हुआ है, वह महाऐश्वर्यवाले प्रभु हम पर प्रसन्न हों। जिनके श्रोत्र से दसों दिशाएँ, हृदय से देहगत सब छिद्र, नाभि से दसों प्राण, इन्द्रियाँ, मन और देह का आधार आकाश उत्पन्न हुआ है, वह महाविभूतिशाली सर्वव्यापक परमात्मा हम पर प्रसन्न हों। जिनके बल से महेन्द्र, प्रसन्नता से देवता, क्रोध से रुद्र, बुद्धि से ब्रह्मा, देह के छिद्रों से वेद और ऋषि, शिश्न इन्द्रिय से प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, वह महाविभूतिशाली हरि हम पर प्रसन्न हों। जिनके वक्षःस्थल से लक्ष्मीदेवी, छाया से पितृगण, स्तन से धर्म, पीठ से अधर्म, सिर से स्वर्ग और विहार से अप्सराएँ उत्पन्न हुई है, वह महाविभूतिशाली महेश्वर हम पर प्रसन्न हों। जिनके मुख से ब्राह्मण और परमगुह्य वेद, दोनों हाथों से क्षत्रिय और बल, दोनों ऊरुओं से वैश्य और निपुणता तथा पैरों से शूद्र और सेवावृत्ति उत्पन्न हुई है, वह महाविभूतिशाली परमेश्वर हम पर प्रसन्न हों। जिनके नीचे के ओठ से लोभ, ऊपर के ओठ से प्रीति, नासिका से कान्ति, स्पर्श से पाशविक काम, दोनों भौंहों से यमराज, पलकों के खुलने-मुँदने से काल उत्पन्न हुआ है, वह महाविभूतिसम्पन्न ईश्वर हम पर प्रसन्न हों। पंडित लोग ही पंचतत्त्व, काल, कर्म, गुण और अनित्य संसार आदि सबका निराकरण कर सकते हैं, अतएव ये सब विषय साधारण जनों की समझ में नहीं आ सकते। ज्ञानी लोग इन दुर्विभाव्य विषयों को जिनकी अनिष्टकारिणी माया बतलाते हैं, वह महाविभूतियुक्त हरि हम पर प्रसन्न हों। भगवन्, आप प्रशान्त शक्तिमय हैं। स्वाराज्य के लाभ से आपका आत्मा परिपूर्ण है। आप दर्शन आदि इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा

माया के गुणों में आसक्त नहीं होते। आपकी सब लीलाएँ वायु के समान हैं। हम आप परब्रह्म को प्रणाम करते हैं। भगवन्, जिसे हम अपनी इन्द्रियों से प्राप्त कर सकें, ऐसी अपनी मूर्त्ति और मंद मुसकान से मनोहर मुखारविन्द हम दर्शन की अभिलाषा रखनेवाले अनुगत भक्तों को शीघ्र ही दिखाइए। स्वामी, हम लोग जो काम नहीं कर सकते, उनको आप स्वयं समय-समय पर अपनी इच्छा के अनुसार पूरा करते हैं। विषयासक्त प्राणी जिन कर्मों को करते हैं, उनमें कष्ट अधिक है, लेकिन उनका फल साधारण ही है। कभी-कभी तो वे निष्फल ही होते हैं। लेकिन जो कर्म आपको अर्पण कर दिये जाते हैं, वे उन कर्मों की तरह कभी निष्फल नहीं होते। कर्म चाहे थोड़ा या साधारण ही हो, पर ईश्वर को अर्पण करने से उसीसे श्रम सफल हो जाता है; क्योंकि ईश्वर ही पुरुष का प्रिय आत्मा और हितकारी है। जैसे पेड़ की जड़ में जल डालने से उसका तना और शाखाएँ भी सिंच जाती हैं, वैसे ही विष्णु की आराधना करने से सब प्राणियों की और आत्मा की भी आराधना हो जाती है। नाथ, आप अनन्त हैं। आपके स्वभाव और कर्मों का निर्णय तर्क के द्वारा नहीं हो सकता। आप निर्गुण और सगुण ईश्वर हैं। आजकल आप सतोगुण के अनुकूल हैं। हम सब आपको नमस्कार करते हैं।

# छठा अध्याय

## अमृत के लिए देवतों और दैत्यों का समुद्र को मथना

शुकदेवजी कहते हैं—देवतों के इस तरह स्तुति करने पर भगवान् नारायण उनके आगे प्रकट हुए। हज़ारों सूर्य एक साथ उदय होने पर जैसा प्रकाश हो, वैसा ही हरि का तेज था। उस तेज से अकस्मात् देवतों की आँखें चौंधिया गईं। देवता लोग उस समय आकाश, दिशा, पृथ्वी, यहाँ तक कि अपने को भी कुछ देर तक नहीं देख सके। फिर ब्रह्मा और शंकर ने कुछ समय के बाद भगवान् का पन्ने की-सी कान्ति से युक्त श्याम शरीर देख पाया। उस श्याम शरीर में दोनों नेत्रकमल पद्मगर्भ की-सी अरुण प्रभा फैला रहे थे। तपाये हुए सोने के समान पीले रेशमी वस्त्र से उनके सब सुप्रसन्न सुन्दर अंग ढके हुए थे। उनका मुख और दोनों भौंहें अत्यन्त रमणीय और मनोहर थीं। सिर पर उत्तम मणिजटित किरीट, दोनों कानों में मकराकृति कुंडल, दोनों भुजाओं में कनक-केयूर शोभायमान थे। दोनों मनोहर कपोलों पर कुंडलों की झलक अपूर्व बहार देती थी, जिससे मनोहर मुखारविन्द की अपूर्व शोभा थी। कांची, वलय, हार, नूपुर आदि आभूषण शरीर में शोभित थे। कौस्तुभमणि से कंठ की कान्ति विशेष रूप से बढ़ रही थी। वनमाला के साथ ही लक्ष्मीदेवी हृदय में विराजमान थीं। सुदर्शन आदि सब अस्त्र-शस्त्र मूर्त्तिमान् होकर भगवान की सेवा में उपस्थित थे। ऐसी मनोहर मूर्त्ति को देखकर ब्रह्मा और शंकर, देवतों के साथ साष्टांग प्रणाम करके, इस प्रकार उन परमपुरुष की फिर स्तुति करने लगे—

"हे भगवन्, यह तो श्रीमूर्त्ति का आविर्भावमात्र है। वास्तव में आप निर्गुण होने के कारण जन्म, स्थिति और विनाश से रहित हैं। इसीलिए पंडितगण आपको मुक्तिसुख का सागर बतलाते हैं। तथापि आप सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। आपकी असंख्य मूर्त्तियाँ हैं। आपके प्रभाव का अनुमान भी कोई नहीं कर सकता। आपको प्रणाम है। हे परमपुरुष, हे विधाता, मंगल की अभिलाषा रखनेवालों को चाहिए कि तांत्रिक और वैदिक योग के द्वारा आपके इस रूप की पूजा करें। सारा

विश्व इसी मूर्त्ति में विद्यमान है। इसलिए हम लोग इस रूप में अपने को और तीनों लोकों को देखते हैं। आप स्वाधीन हैं। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य, सभी आपमें अधिष्ठित है। मिट्टी जैसे घट आदि कार्यों का आदि, मध्य और अन्त है, वैसे ही आप भी इस जगत् का आदि, मध्य और अन्त हैं, क्योंकि आप आत्मा या माया से भी परे हैं। आप अपने वश में रहनेवाली माया के द्वारा रचे गये विश्व के भीतर प्रविष्ट हैं। तत्त्वज्ञानी, शास्त्र के ज्ञाता यति लोग गुणों के परिणाम में भी मन के द्वारा आपके निर्गुण रूप का दर्शन करते हैं। जैसे लकड़ी में आग, गाय में घी, पृथ्वी में पानी और अन्न और पुरुषार्थ में जीविका छिपी हुई रहती है, और जिस तरह मनुष्य गण विशेष-विशेष उपायों के द्वारा लकड़ी आदि से आग आदि को प्राप्त करते हैं, वैसे ही पंडितों का कहना है कि आप भी माया के सब गुणों में विद्यमान हैं और बुद्धिविचाररूप उपाय के द्वारा चतुर पंडित उन गुणों में ही आपको प्राप्त करते हैं। हे नाथ हे पद्मनाभ, आप हम लोगों की चिर वांछित वस्तु हैं। योग से ही आप तक पहुँच होती है। आपको अपने नयन गोचर होते देखकर हम लोग उसी प्रकार शान्ति और आनन्द को प्राप्त हुए है, जैसे दावानल की ज्वालाओं से तपे हुए हाथी गंगाजी के शीतल जल को पाकर सुस्थ होते हैं। सब लोकपाल सहित हम लोग जिस कामना से आपके चरणों की शरण में आये हैं उसे आप पूर्ण कीजिए। आप भीतर और बाहर सबके साक्षी हैं। आप अन्तर्यामी को हम अपनी कामना क्या बतलावें? ब्रह्माजी कहते हैं कि मैं, शंकर, सब देवता और दक्ष आदि प्रजापति उसी प्रकार आपसे अलग-अलग प्रकट होते हैं, जैसे आग से चिनगारियाँ निकलती है। हम लोगों को अपने कल्याण का कुछ भी ज्ञान नहीं है। आप ही वह उपाय कीजिए, जिससे देवता और ब्राह्मण आदि का कल्याण हो।



श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, ब्रह्मा आदि देवता इस प्रकार स्तुति करके अपने को संयत करके हाथ जोड़े खड़े रहे। अन्तर्यामी परमेश्वर विष्णु भगवान ने उनके हृदय के भाव को अच्छी तरह जान लिया। तब वह मेघ के समान गंभीर स्वर से बोले। यद्यपि नारायण अकेले ही देवतों का काम करने में समर्थ थे, तथापि समुद्रमंथन आदि लीलाएँ करने के अभिप्राय से उन्होंने कहा—ब्रह्माजी, शंकरजी, देवता और गंधर्व आदि, तुम्हारे हित का उपाय मैं बताता हूँ; सावधान

होकर सुनो। दैत्यों के गुरु महर्षि शुक्राचार्य इस समय अपने शिष्यों के ऊपर प्रसन्न और अनुकूल हैं; इसीलिए दानव जीत गये हैं। इसलिए जब तक तुम्हारे अभ्युदय का—बढ़ती का—समय नहीं आता, तब तक जाकर तुम अपने शत्रु दानवों से मेल कर लो। आजकल समय उनके अनुकूल है, इसलिए लड़कर तुम उन्हे जीत नहीं सकोगे। कार्य का सिद्ध होना जब कठिन देख पड़े, तब अपना प्रयोजन निकालने के लिए उसी तरह शत्रु से मेल कर लेना चाहिए, जिस तरह एक चूहे से साँप ने मेल कर लिया था *। अब तुम दैत्यों से मेल करके शीघ्र ही समुद्र से अमृत निकालने का यत्न करो। अमृत पीने से मृत्यु के मुख मे गया हुआ प्राणी भी अमर हो जाता है। अमृत प्राप्त करने का उपाय यह है कि क्षीरसागर में तृण, लता, ओषधियाँ और वनस्पति लाकर डालो। फिर मंदराचल को मथानी और वासुकि नाग को रस्सी बनाओ। इस तरह मेरी सहायता से, दैत्यों के साथ मिलकर, मन लगाकर समुद्र को मथो। तब उससे तुमको अमृत मिलेगा। दैत्य केवल परिश्रम के भागी होंगे; मैं ऐसा करूँगा कि उन्हे अमृत नहीं मिल सकेगा। हे देवगण, इस समय असुर जैसा कहें, वही तुम मान लेना। देखो, संधि से जितने सहज में कार्य सिद्ध हो जाता है, उतने सहज में युद्ध से नहीं होता। पहले समुद्र के मथने पर कालकूट विष निकलेगा। उससे डरना नहीं। इसके बाद कुछ रत्न निकलेंगे। उनके प्रति लोभ, अभिलाषा अथवा उनके न मिलने पर क्रोध नहीं करना।

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, स्वतंत्र विचरण करनेवाले परमपुरुष भगवान् नारायण यों कहकर देवतों के सामने ही अन्तर्द्धान हो गये। इसके बाद भगवान् ब्रह्मा और शंकर हरि को प्रणाम करके अपने लोकों को गये। इन्द्र आदि देवता भी हरि को प्रणाम करके दैत्यों के राजा बलि के पास संधि करने की इच्छा से पहुँचे। देवता लोग युद्ध की तैयारी करके नहीं आये थे; सब निहत्थे थे। फिर भी उनको देखते ही असुर-सेना के योद्धा शस्त्र ले-लेकर उठ खड़े हुए। यह देखकर यशस्वी और धर्मज्ञ राजा बलि ने उनको रोक दिया; क्योंकि वह संधि और विग्रह ( युद्ध ) के अवसर को अच्छी तरह जानते थे।

राजा विरोचन के पुत्र त्रिभुवनविजयी महाराज बलि दानवों की सभा में बैठे थे। उनके चारों ओर बडे-बड़े असुरनायक उनकी रक्षा के लिए सेवा में उपस्थित थे। उस समय बलि की बड़ी शोभा हो रही थी। धीरे-धीरे इन्द्र आदि देवता उनके पास पहुँच गये। भगवान विष्णु ने जैसा उपदेश किया था, उसी के अनुसार बुद्धिमान इन्द्र ने मधुर वाणी से मित्रता प्रकट करते हुए समुद्र को मथकर अमृत निकालने का प्रस्ताव किया। इन्द्र की वह अमृत निकालने की सलाह राजा बलि और सभा में बैठे हुए उनके साथी शम्बर, अरिष्टनेमि आदि प्रधान दानवों तथा त्रिपुरनिवासी असुरों को प्रसंद आ गई। महाराज, तब देवतों और दैत्यों में परस्पर मेल हो गया। वे मित्रभाव से अमृत निकालने के लिए तैयार हो गये।

बल के घमंड से भरे हुए और शक्तिशाली देवता तथा दानव लोहे के बेलन के समान विशाल और बलिष्ठ भुजाओं से मंदराचल को धरती से उठाकर सिंहनाद करते हुए क्षीरसागर की ओर चले। लेकिन बहुत दूर तक बोझ ले चलने से इंद्र और बलि आदि सब देवता और दानव थक गये। पहाड़ राह में ही उनके हाथों से छूट पड़ा। सुवर्णमय मंदराचल के राह में गिर पड़ने से बहुत-से देवता और दानव उसके

*एक चूहा संयोग से एक पिटारी में बंद हो गया। वह पिटारी एक मदारी की थी, जिसमें एक साप था। साप ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए चूहे से कहा—भाई, इस पिटारी को काट डालो, तो हम तुम दोनों कैद से निकल चले। चूहा उसकी बातों मे आ गया। चूहे ने जब पिटारी काटकर छेद कर दिया, तब साँप चूहे को खाकर निकल भागा। राजनीति में इसे अहिमूषकन्याय कहते हैं।

नीचे कुचलकर मर गये। हाथ-पैर सिर आदि अंग चूर-चूर हो जाने से देवता और दैत्यों को हतोत्साह



देखकर भगवान् विष्णु गरुड़ पर सवार होकर वहाँ उपस्थित हुए। पर्वत के नीचे कुचल जाने से जिन देवतों और दानवों के अंग नष्ट हो गये थे, अथवा जिनकी मृत्यु हो गई थी, उनको भगवान् ने अपने कृपा-कटाक्ष से फिर जिला दिया। उनके अंग फिर पहले के समान ठीक हो गये। फिर नारायण ने उस पर्वत को खिलवाड़ की तरह बाएँ हाथ से उठाकर गरुड़ की पीठ पर रख दिया और उसे लेकर क्षीरसागर की ओर चले। उनके पीछे-पीछे सब देवता और दानव हो लिये। गरुड़जी ने वहाँ पहुँचकर मंदराचल को सागर के किनारे रख दिया। हरि की आज्ञा के अनुसार गरुड़जी वहाँ से चले गये।

# सातवाँ अध्याय

## समुद्र के मथने से कालकूट की उत्पत्ति

शुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित, समुद्र-मंथन से उत्पन्न होनेवाले अमृत का हिस्सा वासुकि नाग को भी देने का वादा करके देवतों और दानवों ने उसे मंदराचलरूप मथानी की रस्सी बनाने के लिए राज़ी कर लिया। इसके बाद वासुकि को रस्सी की तरह मंदराचल से लपेटकर प्रसन्नता और एकाग्रता के साथ देवता और दानव समुद्र को मथने लगे। पहले विष्णु भगवान् ने और उनके इशारे से सब देवतों ने वासुकि का मुख की ओर का हिस्सा पकड़ा। लेकिन दैत्य लोग पूँछ की तरफ़ पकड़ने को राज़ी नहीं हुए। दैत्यों ने कहा—हम वेदपाठी हैं; हमने सब शास्त्र पढ़े हैं; जन्म और कर्म से हम जगत्प्रसिद्ध अर्थात् श्रेष्ठ हैं। इसलिए हम साँप की पूँछ नहीं पकड़ेंगे; क्योंकि वह अशुद्ध होती है।

यह कहकर दैत्य अलग हट गये। तब मुसकाते हुए भगवान् सब देवतों के साथ वासुकि के मुख को छोड़कर पूँछ की ओर चले गये। इस तरह स्थान का बँटवारा हो जाने पर कश्यप के पुत्र देवता और दानव बड़े यत्न के साथ सारा ज़ोर लगाकर अमृत के लिए सागर को मथने लगे।

हे पाण्डव, किन्तु मंदराचल बड़ा भारी था। उसे रोकनेवाला नीचे कोई आधार नहीं था, इस कारण वह पर्वत समुद्र के भीतर धसने लगा। बड़े बली देवता और दानव भी उसे रोक नहीं सके। प्रबल दैव के द्वारा इस प्रकार अपनी चेष्टा को व्यर्थ होते देखकर देवतों और दैत्यों का सारा उत्साह जाता

रहा—उनके मुह फीके पड़ गये। किन्तु ईश्वर हरि का वीर्य अपार-अनन्त है; उनके इरादे कभी व्यर्थ नहीं होते। विघ्ननाशक गणेश की पूजा पहले न करने के कारण उन्हीं के उपस्थित किये हुए इस विघ्न को देखकर भगवान् ने उसी समय अद्भुत कच्छप का विराट् शरीर रखकर जल के भीतर अपनी पीठ पर मंदराचल को रोक लिया। मंदराचल ऊपर उठ आया। यह देखकर देवता और दानव फिर प्रसन्न चित्त से समुद्र को मथने लगे। कच्छपरूप भगवान् ने एक टापू के समान एक लाख योजन चौड़ी अपनी पीठ पर उस पर्वत को रख लिया। राजन्, देवता और दैत्य अपनी बली बाहुओं से पर्वत को घुमा रहे थे। उस पर्वत के घूमने के सिलसिले से आदिकच्छप हरि को वैसे ही सुख का अनुभव होता था, जैसे कोई पीठ खुजलाता हो। इसके बाद भगवान् ने असुरों और देवतों के शरीर में प्रवेश करके उन लोगों के बल और वीर्य को बढ़ाया। अलक्ष्य भाव से वासुकि नाग के भी शरीर में प्रवेश करके उसकी शक्ति को भी उन्होंने बढ़ाया। एक और सहस्रबाहु-रूप से मंदराचल को डिगने न देने के लिए पर्वत के ऊपर भी भगवान् विराजमान हुए। उस समय आकाशमंडल में जान पड़ा कि पर्वत के ऊपर एक दूसरा विशाल पर्वत शोभा पा रहा है। ब्रह्मा, इन्द्र और शंकर आदि सब देवता स्तुति करते हुए उनके ऊपर फूल बरसाने लगे। ऊपर, नीचे, पहाड़ में, वासुकि नाग में और देवता तथा दानवों के शरीर में इस प्रकार हरि ने प्रवेश किया। तब देवता और असुर अधिक बलशाली होकर इस तेज़ी से समुद्र को मथने लगे कि समुद्र के जल में रहनेवाले मगर, ग्राह आदि जीव व्याकुल हो उठे। मथते-मथते नागराज वासुकि के नेत्रों से और फनों की हज़ारों उग्र साँसों से ज़हरीले धुएँ से भरी हुई आग की लपटें निकलने लगीं। उनकी झार से पौलोम, कालेय और इल्वल आदि असुरगण दावानल से जले हुए साँखू के वृक्षों की भाँति प्रभाहीन हो गये। नाग के साँस की आग से देवगण की प्रभा भी मलिन हो गई और वस्त्र, माला तथा मुखमंडल धूम्रवर्ण हो गये। लेकिन उसी समय ईश्वर की इच्छा के वशवर्त्ती बादल भगवान् के भक्त देवतों की ओर शीतल जल की फुहारें छोड़ने लगे और सागरतरंग के संगम से ठंडी हवा चलने लगी। उक्त प्रकार की हरिकृपा से देवगण को विषैले धुएँ से वैसा कष्ट नहीं हुआ, जैसा असुरों को हुआ। राजन्, इस प्रकार बड़े-बड़े प्रधान देवतों और दैत्यों के मथने पर भी समुद्र से जब अमृत नहीं निकला, तब अजित भगवान सब देवतों और दैत्यों को हटाकर आप ही दोनों हाथों से समुद्र को मथने लगे। उस समय जयशील और संसार को अभय देनेवाली भुजाओं से सर्प के दोनों छोर पकड़कर मंदराचल की मथानी के द्वारा समुद्र को मथ रहे भगवान् की अद्भुत शोभा हुई। वह दूसरे पर्वत के समान विराजमान हुए। भगवान् के घनश्याम शरीर पर पीतांबर की ऐसी शोभा हुई, जैसे बादल के चारों



ओर सोने की रेखा हो। कानों में हिल रहे कुण्डल बिजली की तरह चमकने लगे। सिर पर घूँघरवाली अलकों का और हृदय पर मणिमाला का हिलना बहुत ही मनोहर था। अरुणवर्ण नेत्र और भी मनोहर हो गये।

इस तरह जब स्वयं अजित भगवान् समुद्र को मथने लगे, तब उसके भीतर रहनेवाले बड़े-बड़े मच्छ, मगर, साँप, कछुए आदि जीव व्याकुल और चंचल हो उठे। समुद्र से सबसे पहले हलाहल नाम का बहुत ही तीव्र विष निकला। वह भयानक विष बड़े वेग से ऊपर, नीचे और चारों ओर फैलने लगा और सब लोकों के लिए असह्य हो उठा। सब प्रजा और प्रजापति लोग उससे अपना बचाव न देखकर बहुत ही डरे और भगवान् की सलाह से मृत्युंजय शंकर की शरण गये; क्योंकि शंकर के सिवा उन्हें कोई अपनी रक्षा करनेवाला नहीं देख पड़ा। उन लोगों ने कैलास पर्वत पर जाकर देखा, त्रिलोकी की उत्पत्ति के कारण, देवदेव शंकर भवानी के साथ पर्वत के शिखर पर बैठे मुनियों के कल्याण के लिए उनके मनोमत तपस्या कर रहे हैं। तब सबने प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति की।

प्रजापतियों ने कहा—हे देवदेव, हे महादेव, हे प्राणियों के आत्मा, हे भूतभावन, हम आपकी शरण में आये हैं। इस त्रिलोकी को भस्म करनेवाले विष से हमारी रक्षा करो। आप सब प्राणियों को बन्धन और मुक्ति देनेवाले हैं। आप गुरु हैं। आप पीड़ित प्राणियों का दुःख हरनेवाले हैं। इसी से ज्ञानी लोग आपका भजन और पूजन करते हैं। हे विभो, हे परम तेजस्वी, आपका ज्ञान स्वतःसिद्ध है। आप इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करने की इच्छारूप अपनी गुणमयी शक्ति से ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नाम धारण करते हैं। आप ही परम गोपनीय ब्रह्म हैं। आप ही से देवता, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी प्रकाश पाते हैं। आप जगदीश्वर और आदितत्त्व ( महत्तत्त्व ) हैं। आपके गुण ही प्राण, इन्द्रिय और द्रव्यों के कारण हैं। अर्थात् आप अहंकार के अधिष्ठाता हैं। इसलिए अहंकाररूप से सात्विक, राजस और तामस—त्रिविध—हैं। प्रकृति या स्वभाव भी आप ही हैं। संकल्प-काल-सत्य-ऋत-स्वरूप धर्म आप ही हैं। त्रिगुणात्मक प्रधान तत्त्व अथवा त्रिवृत् प्रणव का आधार आप ही हैं। हे लोकों की सृष्टि करनेवाले स्वामी, सर्वदेवमय अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी आपके चरण और काल आपकी गति है। दिशाएँ आपके कान हैं। वरुणदेव आपकी रसना हैं। आकाश आपकी नाभि है। वायु आपकी साँस है। सूर्य आपके नेत्र हैं। जल आपका वीर्य है। आप आत्मा उत्कृष्ट और निकृष्ट जीवात्माओं की समष्टि का आश्रय है। चंद्रमा आपका मन है। स्वर्ग आपका मस्तक है। हे वेदत्रयीस्वरूप, समुद्र आपकी कोख है। पर्वत आपकी हड्डियाँ हैं। ओषधियाँ और लताएँ आपके रोएँ हैं। साक्षात् सब वेद अर्थात् सातों गायत्री आदि वैदिक छंद आपके शरीर की सातों धातुएँ हैं। धर्म आपका हृदय है। ईश, पाँचों उपनिषद् ( अर्थात् तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान, ये पाँच मंत्रसमूह ) आपके मुख हैं। इन मुखों से अड़तीस मंत्रों की उत्पत्ति हुई है। साक्षात् ज्योतिःस्वरूप प्रसिद्ध शिव नाम का परम आत्मतत्त्व ही आपकी अवस्थिति है। दंभ, लोभ आदि जिन अधर्म के रूपों से जगत् का ध्वंस होता है, वे आपकी छाया हैं। सत्व, रज, तम आपके तीन नेत्र हैं। आप शास्त्र के बनानेवाले हैं। सांख्यशास्त्र आपकी आत्मा है। वेद आप की पवित्र दृष्टि हैं। हे गिरीश, आपकी परम ज्योति को सब लोकपाल, ब्रह्मा, इंद्र आदि कोई नहीं जान पाता; क्योंकि उसमें सत्व, रज और तम नहीं हैं; वह निर्गुण ब्रह्म है। आप कामदेव, दक्ष के यज्ञ, त्रिपुर और कालकूट विष आदि अनेक विनाश के साधनों का संहार करनेवाले हैं। [यहाँ पर कालकूट विष को शिव के अवश्य पी लेने का निश्चय करके देवतों ने उसका उल्लेख किया है।] यह भयानक विष पान कर लेना कुछ आपकी प्रशंसा का सूचक बड़ा कार्य नहीं है। कारण, आप ही की रचना यह विश्व प्रलयकाल में आप ही के नयन से निकले हुए अग्नि की ज्वालाओं में जल जाता है; आपको इसकी खबर ही नहीं होती। विश्व को कल्याण का उपदेश देनेवाले साधुजन आप

के श्रीचरणों का ध्यान करते हैं, तो भी आप लोकशिक्षण के लिए स्वयं तपस्या करते हैं। अतएव जो लोग आपको भगवती पार्वती को आधे अंग में स्थान देते और मसान की भूमि में विचरते देखकर कामी, क्रूर और हिंसाशील समझते हैं, वे स्वयं निर्लज्ज हैं; आपकी लीलाओं के रहस्य को नहीं जान सकते। आप ही सत् आत्मा और असत् माया का प्रपंच हैं। आप महामहिमायुक्त महादेव हैं। ब्रह्मा आदि देवता भी आपके स्वरूप को नहीं जान पाते; फिर आपकी स्तुति भला कैसे कर सकते हैं? हम लोग आपकी आधुनिक सृष्टि अर्थात् ब्रह्मा आदि के पुत्र-पौत्रों से उत्पन्न हैं; अतएव हम भला कैसे आपकी स्तुति कर सकते हैं? तो भी शक्ति के अनुसार हमने आपके गुणों का वर्णन किया है। हे महेश्वर, हमने इससे श्रेष्ठ आपका और कोई रूप नहीं देखा। हम आपके इसी रूप के दर्शन से कृतार्थ हो गये। आपकी लीला जानी नहीं जाती। केवल लोकरक्षा के लिए ही आपका यह रूप प्रकाशमान होता रहता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सब प्राणियों के हितचिन्तक भगवान् शंकर प्रजापतियों और प्रजाओं की यह विपत्ति देखकर करुणा के कारण अस्थिर हो उठे। आपने अपनी प्रियतमा भवानी से कहा—देवी, इधर देखो। क्षीरसागर के मथे जाने से उत्पन्न कालकूट विष के कारण प्रजा पर कैसा संकट आ पड़ा है! ये लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए बहुत ही व्याकुल हो रहे हैं। इनके भय को दूर करना हमारा कर्त्तव्य है। पीड़ित की पीड़ा हरने में ही समर्थ का सामर्थ्य सफल होता है। इसीलिए परोपकारी सज्जन जीवन को क्षणभंगुर जानकर अपने प्राण देकर भी प्राणियों की रक्षा करते हैं। सब प्राणी दैव की माया में मोहित होकर एक दूसरे की हिंसा करने में तत्पर रहते हैं। जो लोग उन पर कृपा प्रकट करते हैं, उन पर सर्वमय नारायण प्रसन्न होते हैं। भगवान् हरि के सन्तुष्ट होने पर संपूर्ण चराचरजगत् सहित मै भी सन्तुष्ट होता हूँ। इस कारण अब मैं इस हलाहल विष को पिये लेता हूँ। मेरी प्रजा का कल्याण हो।

इस तरह भगवती से कहकर विश्व के रक्षक भगवान् शंकर वह विष पीने को तैयार हो गये। देवी पार्वती शंकर के प्रभाव को जानती थीं, इस कारण उन्होंने भी स्वामी की इच्छा का विरोध न करके अनुमोदन ही किया। भूतपति शंकर ने करुणा करके उस सब ओर फैल रहे हलाहल विष को अपनी हथेली में लेकर पी लिया। जल के दोषरूप उस विष ने महादेवजी पर भी अपना प्रभाव दिखाया। उसने शंकर के गले में नीलापन पैदा कर दिया। किन्तु वह नील वर्ण परोपकारी शंकर का एक तरह से आभूषण ही हो गया। जो परोपकारी सज्जन हैं, वे दूसरों का दुःख नहीं देख सकते। दूसरों के दुःख में सच्ची सहानुभूति दिखाना ही सर्वव्यापी परमेश्वर की प्रधान आराधना है। करुणानिधान महादेव के इस उदार कर्म को देखकर देवी पार्वती, सब प्रजा, प्रजापति, ब्रह्मा और भगवान् विष्णु उनकी प्रशंसा करने लगे। शंकर के विषपान करते समय जो विष उनकी उँगलियों की संधियों से पृथ्वी पर गिर पड़ा, उसे साँप, बिच्छू आदि काटनेवाले जहरीले कीड़ों और विषौषधियों ने ग्रहण कर लिया।

# आठवाँ अध्याय

## मोहिनी अवतार

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, बैल जिनका वाहन है, उन शंकर ने जब विष पी लिया, तब फिर देवता और दानव प्रसन्न होकर बलपूर्वक सागर को मथने लगे। तब सागर से कामधेनु प्रकट हुई। ब्रह्मवादी ऋषियों ने ब्रह्मलोक के मार्ग तक पहुँचनेवाले यज्ञ में काम आनेवाले पवित्र घृत के लिए उस अग्नि-

होत्री धेनु को ले लिया। उसके बाद चन्द्रमा के समान उज्ज्वल उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा सागर से निकला। राजा बलि ने वह घोड़ा पाने के लिए अभिलाषा प्रकट की; लेकिन इन्द्र ने नारायण की सीख के अनुसार अपने चित्त को नहीं डिगाया। फिर समुद्र से ऐरावत हाथी निकला। चन्द्रमा के समान उसका उजला रंग था। ऐरावत के सफ़ेद रंग के बड़े-बड़े चार दाँत थे। शंकर के कैलास पर्वत को भी लजानेवाली उसकी शोभा थी। महाराज, इसके बाद ऐरावत आदि आठ दिग्गज और उनकी अभ्रमु आदि आठ हथनियाँ सागर से प्रकट हुईं। अन्त में महासागर से पद्मराग मणि, जिसे कौस्तुभ कहते हैं, प्रकट हुआ। भगवान् विष्णु ने अलंकार की तरह उस मणि को अपने वक्षःस्थल में धारण कर लिया। इसके बाद स्वर्गलोक को अलंकृत करनेवाला कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ। राजन्, पृथ्वीतल पर जैसे आप याचकों की सब कामनाएँ पूरी करते हैं, वैसे ही स्वर्गलोक में वह कल्पवृक्ष बराबर प्रार्थियों की सभी कामनाएँ पूरी करता है। फिर कंठ में पदक ( एक गहना—हमेल ) धारण किये, सुन्दर वस्त्रों से विभूषित अप्सराएँ प्रकट हुईं। मनोहर चाल और कटाक्षपूर्ण चितवन से उन्होंने स्वर्गवासी देवगण के चित्त को वश में कर लिया। अन्त में अपने अंगों की कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई हरिपरायणा साक्षात् लक्ष्मीदेवी जल-तल से वैसे ही प्रकट हुईं, जैसे सुदामा पर्वत के शिखर से बिजली प्रकट होती है। उनके रूप, उदारता, यौवन, रंग और महिमा को देखकर सभी के मन मोहित हो गये। सभी देवता, दैत्य और मनुष्य यह चाहने लगे कि लक्ष्मीदेवी उनको मिल जायँ। देवतों के राजा इन्द्र ने उन्हें एक विचित्र आसन भेंट किया। श्रेष्ठ नदियाँ स्त्रीरूप रखकर सोने के कलशों में अपना पवित्र जल भेंट करने को लाईं। अभिषेक में काम आनेवाली सब पवित्र ओषधियाँ पृथ्वी ने उनको भेंट कीं। गउओं ने पंचगव्य और वसंत ने अपने समय के फल-फूल भेंट किये।

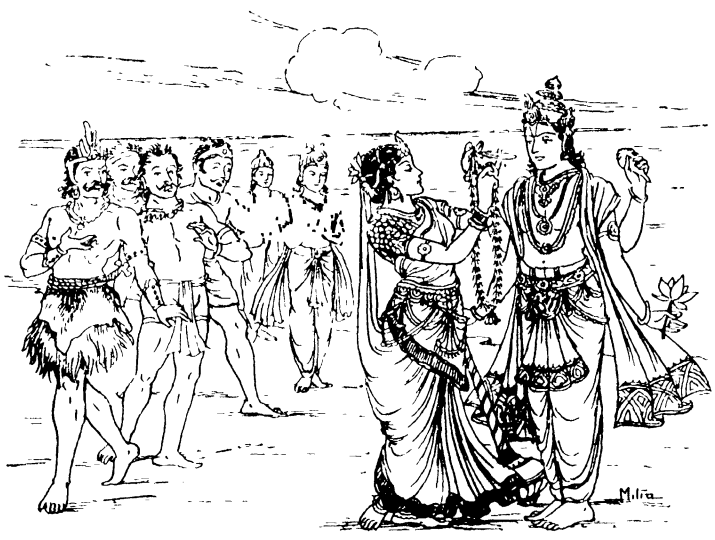
इसके बाद ऋषियों ने विधिपूर्वक लक्ष्मीजी का अभिषेक किया। गंधर्व लोग उस समय मंगलगीत गाने लगे—अप्सराएँ नाचने लगीं। सब मेघ मृदंग, पणव, मुरज, गोमुख, आनक, शंख, बाँसुरी, वीणा आदि तरह-तरह के बाजे बजाने लगे। चारों ऐरावत आदि दिग्गज सोने के कलशों में भरे हुए नदियों के पवित्र जल से कमलपुष्पधारिणी लक्ष्मीजी का अभिषेक करने लगे। उस समय ब्राह्मण लोग वेद के मंत्र पढ़ने लगे। सागर ने लक्ष्मीजी के पहनने के लिए एक जोड़ा रेशमी पीतांबर भेंट किया। वरुणदेव ने मधुमदमत्त मधुकरों की मंडली से मंडित एक वैजयन्ती माला दी। प्रजापति विश्वकर्मा ने अनेक आभूषण दिये। सरस्वती देवी ने एक हार दिया। ब्रह्माजी ने कमल का फूल दिया और नागराजों ने दो रत्नजटित कुण्डल दिये।

इसके बाद मांगलिक वेषभूषा का शृंगार समाप्त करके लक्ष्मीजी ने कमलकोमल हाथों में एक फूलों की माला ली। उस माला पर भौंरे गुंजार कर रहे थे। उस माला को लेकर स्वयंवर के लिए वह उस समाज में इधर-उधर घूमने लगीं। देवी के कानों के कुण्डल कपोलों पर डोलने से बड़े ही मनोहर देख पड़ते थे। लजीली हँसी से उनका मुखमंडल सौंदर्य की खान जान पड़ता था। उनके कुंकुमरंजित दोनों स्तन परस्पर समान और सटे हुए थे। चरणों में नूपुर का मनोहर शब्द हो रहा था। कमलासना लक्ष्मीजी संचारिणी स्वर्णलता की तरह शोभित होकर इधर-उधर घूमती हुई नित्य सद्गुणों से युक्त अपने नित्य आश्रय अर्थात् स्वामी को खोजने लगीं। लेकिन गंधर्व, सिद्ध, असुर, यक्ष, चारण तथा त्रिलोकवासी अन्य शरीरधारियों में कहीं भी कोई लक्ष्मीदेवी को अपने अनुरूप अर्थात् योग्य आश्रय नहीं देख पड़ा।

लक्ष्मीजी ने देखा, दुर्वासा आदि ऋषियों में तप है, तो वे क्रोध के वशीभूत हैं। बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि में ज्ञान है तो वे संगरहित निर्लिप्त नहीं हैं। ब्रह्मा, सोम आदि महान् हैं तो वे काम को नहीं जीत सके हैं। इन्द्र आदि बलशाली होने पर भी दूसरे ( ब्रह्मा, विष्णु, शिव ) का मुँह देखनेवाले होने के कारण स्वयं ईश्वर नहीं हैं। परशुराम आदि धर्मात्मा होने पर भी सभी प्राणियों से मैत्री का व्यवहार नहीं करते।

शिवि आदि नरपतियों में आत्मत्याग है; पर वह मुक्तिदायक नहीं हो सकता । सहस्रबाहु अर्जुन आदि में पराक्रम है; पर वह सदा रहनेवाला नहीं । सनक आदि ऋषिगण निःसंग हैं; पर उनसे कोई कामना नहीं पूरी हो सकती; क्योंकि वे सदा समाधिनिष्ठ अर्थात् आत्म-चिन्तन में लगे रहते हैं । मार्कण्डेय आदि ऋषि चिरजीवी है, पर उनमें शील और मंगल का अभाव है । हिरण्यकशिपु आदि में वह भी है तो उनके जीवन का कोई ठिकाना नहीं । श्रीशंकर में सब बातें हैं, पर देखने में उनका वेष अमंगल है । श्रीहरि भगवान् सब तरह निर्दोष और मंगलरूप हैं; परन्तु वह किसी की चाह नहीं रखते ।

भगवती लक्ष्मी ने इस तरह विचार कर श्रीनारायण को ही अपना वर चुना । लक्ष्मी ने देखा, भगवान् हरि में सभी सद्गुण नित्य हैं । वह दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते । प्रकृति के गुण काम, क्रोध आदि उनके पास भी नहीं फटकते, इसलिए वही सर्वोत्तम हैं । उनके निरपेक्ष होने पर भी अणिमा आदि सिद्धियाँ उनको अपना आश्रय बनाये हुए हैं । बस, लक्ष्मीजी ने नारायण ही के कंठ में वह कोमल कमलों की बनी जयमाला डाल दी । सुगंध से मस्त भौंरे उस माला के ऊपर मँडला रहे थे । जयमाला पहनाकर लक्ष्मीजी चुपचाप लजीली मंद मुसकान से विभासित और विकसित नयनों से हरि की ओर देखती हुई हरि के वक्षःस्थल में विराजमान हुईं । त्रिलोकी के परमपिता नारायण ने अपने वक्षःस्थल को विशेष वैभव से युक्त जगज्जननी लक्ष्मी देवी के रहने का स्थान बना दिया । नारायण के हृदय में स्थिरभाव से अवस्थित लक्ष्मीदेवी ने करुणापूर्ण कटाक्ष से सब प्रजा, प्रजापति और त्रिभुवन का अभ्युदय किया । उस समय अपनी स्त्रियों के साथ देवतों के अनुचर नाचने और गाने लगे । शंख,तूर्य, मृदंग आदि बाजे बजने लगे । ब्रह्मा,रुद्र, अंगिरा आदि सब प्रजापति फूल बरसाते हुए वेद-मंत्रों से भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे । देवता और प्रजापति भगवती लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष द्वारा शील आदि सद्गुणों से अलंकृत होकर परम शान्ति और सुख को प्राप्त हुए । लक्ष्मी की उपेक्षा के कारण दैत्य-दानवगण बल और उद्योग से हीन, निर्लज्ज और लोभी हो गये ।



राजन्, इसके बाद समुद्र से एक कमलनयनी वारुणी नाम की कन्या निकली । हरि की अनुमति से दैत्यों ने उसे ले लिया । उसके बाद कश्यप के पुत्र देवता और दानव फिर अमृत पाने की अभिलाषा से समुद्र को मथने लगे । अबकी एक अद्भुत पुरुष अमृत से भरा हुआ कलश हाथ में लिये समुद्र के भीतर से निकला । वह पुरुष हरि की कला धन्वन्तरि थे । उनकी भुजाएँ लंबी-चौड़ी और मोटी थीं । गरदन शंख के समान घुमावदार थी । वर्ण श्याम था । वह जवान थे । उनकी छाती चौड़ी थी । नेत्र अरुण थे । गले में माला और सब अंगों में आभूषण शोभायमान थे । वह पीताम्बर और उज्ज्वल मणियों के कुण्डल पहने

थे। उनके केश चिकने, काले और घुँघराले थे। उनका रूप स्त्रियों के मन को लुभानेवाला और पराक्रम सिंह के समान था। कलाइयों में मणियों के वलय पहने वह साक्षात् विष्णु के अंशावतार वैद्यशिरोमणि धन्वन्तरिजी आयुर्वेद के प्रथम आचार्य थे। उनको यज्ञ में भी भाग दिया जाता है। धन्वन्तरि के हाथ में अमृत का कलश देखकर, सब वस्तुओं को सबसे पहले लेने की इच्छा प्रकट करनेवाले असुर झपटकर बलपूर्वक वह कलश छीन ले गये। यह देख देवता बहुत ही खिन्न होकर हरि के शरणागत हुए। भक्तों की कामना पूरी करनेवाले विष्णु ने इस प्रकार देवगण की दीन दशा देखकर कहा—तुम लोग खेद न करो। मैं अपनी माया से तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध करूँगा।

महाराज, उधर लोभी दैत्य पहले अमृत पीने के लिए "मैं पहले, तुम नहीं—मैं पहले" कहकर परस्पर क्रुद्ध होकर लड़ने लगे। उनमें जो कमज़ोर थे, वे कहने लगे—देवतों ने भी हमारे बराबर ही परिश्रम किया है। इसलिए यज्ञ की तरह इसमें उनका भी हिस्सा है। वह उनको मिलना चाहिए। यही सनातनधर्म है। राजन्, दुर्बल दानव, मात्सर्य के कारण, जिन सब बलवान् दैत्यों ने अमृत का कलश छीन लिया था, उनको वारंवार इस तरह कहकर रोकने लगे। इसी अवसर में सब उपायों के जाननेवाले भगवान् विष्णु ने अनिर्वचनीय और परम अद्भुत स्त्री का रूप धारण कर लिया। उनका रंग नील कमल के समान श्याम और दर्शनीय था। सभी अंग सुदर और सुडौल थे। दोनों कान समान और आभूषणों से भूषित थे। दोनों कपोल मनोहर और नाक ऊँची थी। नवयौवन से दोनों स्तनों का घेरा विशाल था। पीन-उन्नत स्तनों के भार से उदर कृश हो रहा था। मुख की सुगंध में मस्त भौंरे आसपास गूँज रहे थे, जिससे उस मोहिनी मूर्त्ति के नयन चंचल होकर उद्वेग का भाव प्रकट कर रहे थे। मनोहर वेणी में फूली हुई मल्लिका की माला लिपटी हुई थी। कमनीय कंठ में अनेक आभूषण शोभायमान थे और मोहिनी के चलने से हिल रहे थे। उनके विचित्र बाहुओं में कड़े, कंगन आदि आभूषण थे। निर्मल सफ़ेद कपड़े से घिरे हुए नवल नितंबों पर करधनी की बहार थी। चलने से दोनों चरणों के नूपुर बजते थे। वह मोहिनी मूर्त्ति लजीली मंद मधुर मुसकान के साथ धनुष-सी भौंहें मटकाकर मोहनेवाली दृष्टि से वारंवार दैत्यपतियों के हृदय को काम के बाणों से घायल करती हुई कामोद्दीपन करने लगी।

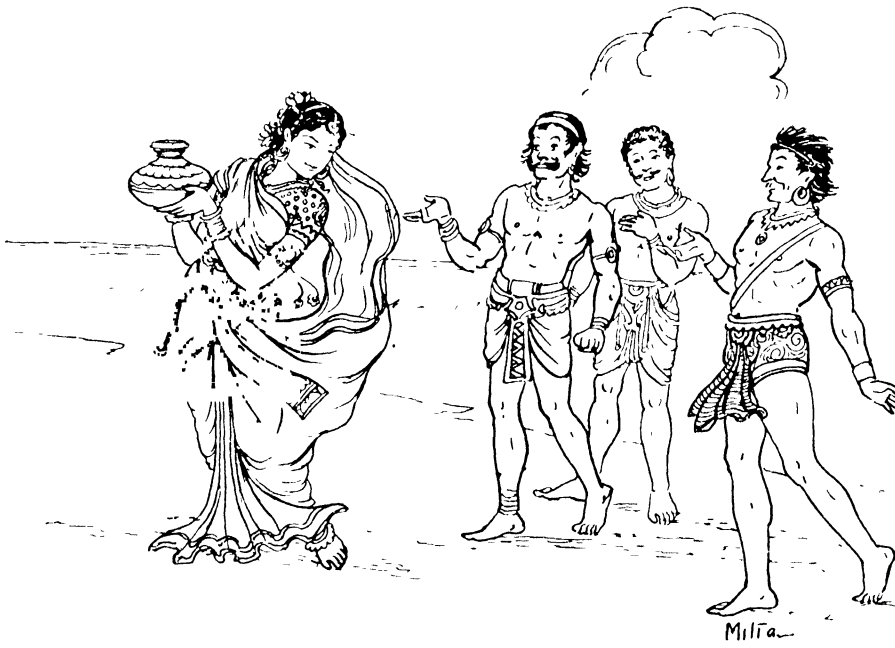
# नवाँ अध्याय

## अमृत का बाँटा जाना

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, दानव लोग आपस की मैत्री और मेल को भुलाकर डाकुओं की तरह आपस मे अमृत के कलश को छीन-झपट रहे थे। इतने ही में उन्हें वह भुवनमोहिनी मूर्त्ति अपनी ओर आती देख पड़ी। उसे देखकर वे मंत्रमुग्ध-से होकर अपने मन में कहने लगे—"अहो, इस सुन्दरी का रूप कैसा अद्भुत है! इसकी कैसी अच्छी कान्ति है! यह कैसी नौजवान है!" इस तरह सोचते हुए कामदेव से पीड़ित वे दैत्य उस मोहिनी के पास जाकर उससे यों पूछने लगे। दैत्यों ने कहा—हे कमलनयनी, तुम कौन हो? कहाँ से आ रही हो? तुम किस मतलब से यहाँ आई हो? हे सुन्दर जंघावाली, तुम किसकी पत्नी हो? हमसे सब सच-सच कहो। तुम तो हमारे मन को जैसे मथे डालती हो? हमें जान पड़ता है, मनुष्य की तो कोई बात ही नहीं, देवता, दानव, सिद्ध, गंधर्व, चारण और लोकपाल भी निश्चय ही तुम्हारे शरीर को अभी तक स्पर्श नहीं कर सके हैं। हे सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी, करुणासिन्धु विधाता ने क्या प्राणियों के मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिए तुमको यहाँ भेज दिया है? या तुम अपनी इच्छा से

आप ही यहाँ पधारी हो ? निश्चय ही विधाता ने तुम्हें यहाँ भेजा है। हे भामिनि, हम सब आत्मीय और सगे हैं; पर इस समय अमृत के लिए स्पर्धा करने के कारण परस्पर एक दूसरे के शत्रु हो रहे हैं। हम सब महर्षि कश्यप की सन्तान होने के कारण भाई-भाई हैं। इस अमृत के लिए हम सबने बराबर ही परिश्रम किया है। हम चाहते है कि अब तुम न्याय के अनुसार इस तरह हम सबको अमृत बाँट दो, जिसमें यह हमारा आपस का झगड़ा निबट जाय और हमारा कल्याण हो।

दैत्यों के इस तरह प्रार्थना करने पर माया से मोहिनीरूप धारण किये हुए विष्णु भगवान् ने हँसकर मनोहर कुटिल-कटाक्ष-पूर्ण दृष्टि से देखकर दैत्यों से कहा—हे कश्यप ऋषि के पुत्रो, मैं एक पुंश्चली स्त्री हूँ। तुम इस तरह मेरा अनुसरण और विश्वास कर रहे हो, यह ठीक नहीं। पंडितजन कभी स्त्रीजाति का विश्वास नहीं करते। हे दानवो, कुत्तों और कुलटा स्त्रियों का विश्वास एक-सा ही होता है। दोनों नित्य नये स्वामी को खोजते हैं। इनकी मित्रता का कोई ठिकाना नहीं।




श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महाराज, मोहिनी के इस गूढ़ चातुरीपूर्ण कथन से दैत्यों को उन पर और भी विश्वास हो गया। तब उन्होंने अपने हृदय के भाव को गंभीर मुसकान के द्वारा प्रकट करते हुए मोहिनी के हाथों में वह अमृत का कलश दे दिया। नारायण ने अमृत का कलश हाथ में लेकर कुछ मुसकाते हुए कहा—देखो, मैं जो कुछ करूँ, वह चाहे भला हो चाहे बुरा, तुम्हें स्वीकार करना होगा। अगर तुम यह मेरी शर्त मानो तो कहो, मैं अमृत बाँटना शुरू कर दूँ।

प्रधान-प्रधान दानवों ने मोहिनी की बात मानते हुए कहा—"हाँ, हमको यह शर्त मंजूर है।" राजन्, इसका कारण यही था कि दानवगण मोहिनी को एक साधारण स्त्री समझे हुए थे; उनको यह ध्यान भी न था कि वह साक्षात् विष्णु भगवान हैं।

तब असुरों ने निराहार रहकर स्नान और होम किया। इसके बाद ब्राह्मणों ने स्वस्त्ययन-शान्ति पाठ किया। सब दानव गउओं और ब्राह्मणों को प्रणाम करके अपनी इच्छा के अनुसार नये कपड़े पहनकर पूर्वमुख होकर कुशासनों पर पाँत बनाकर बैठ गये। धूप की सुगंध से सुगंधित और पुष्पमाला-दीपक

आदि से अलंकृत विशाल शाला में देवता और दानव अलग-अलग पंक्तियों में जब पूर्वमुख होकर बैठ गये, तब कलश के समान स्तनोंवाली, मदविह्वल नेत्रोंवाली, हाथी की सूँड़ के समान जाँघोंवाली वह मोहिनी मूर्त्ति अमृत का कलश हाथ मे लेकर, मनोहर दुकूल से घिरे हुए श्रोणीतट ( कूले ) के भार से धीमी-धीमी चाल से चलती हुई, सुवर्ण-नूपुरों की मधुर ध्वनि से गान करती हुई उस भवन में पधारीं। लक्ष्मी की सहचरी, परम देवता मोहिनी के कानों में सुवर्ण के कुण्डलों की अपूर्व शोभा थी। उनके कान,नाक,कपोल और मुख आदि अंगों की सुन्दरता अपूर्व थी। उनकी मुसकान से मनोहर दृष्टि भुवनमोहिनी थी। उनकी स्तन-पट्टिका (कंचुकी) के छोर बार-बार खुल जाते थे। इस दृश्य को देखकर देवता और दानव मोहित हो गये।

मोहिनीरूप नारायण ने सोचा, साँप को दूध पिलाने के समान असुरों को अमृत पिलाना उचित नहीं है; क्योंकि सर्प और दुष्ट लोग स्वभाव से ही क्रूर होते हैं। ऐसा विचार कर अच्युत भगवान् ने असुरों को अमृत न देने का निश्चय कर लिया। जगत् के स्वामी हरि ने देवतों और दैत्यों को अलग-अलग दो पंक्तियों में बिठलाया। इसके बाद मोहिनीजी अमृत का कलश हाथ में लेकर दैत्यों की ओर मुख करके मीठे-मीठे वचनों से उन्हें बहलाती हुई, पिछले पैरों से देवतों की पंक्ति में आ पहुँचीं, और उनको अजर-अमर कर देनेवाला अमृत पिलाने लगीं।

महाराज, असुर तो हस्तक्षेप न करने का वादा कर चुके थे, इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए चुपचाप बैठे रहे। दूसरे, स्त्री के साथ झगड़ा करने को वे निंदनीय समझते थे। तीसरे, वे मोहिनी पर मोहित और आसक्त थे, इसलिए उनको चिढ़ाना भी नहीं चाहते थे। इसी से असुरों ने अपना अप्रिय करते देखकर भी मोहिनी को न तो रोका और न कुछ कहा।

महाराज, राक्षस राहु देवतों का वेष और चिह्न धारण करके देवनों की पंक्ति में छिपा बैठा था। मोहिनी ने जैसे राहु को अमृत दिया, वैसे ही उसके आसपास बैठे हुए सूर्य और चन्द्रमा ने इशारे से भगवान् को सूचित कर दिया कि यह देवता नहीं, असुर है। मोहिनीरूप हरि ने उसी दम तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शनचक्र से अमृत पीते में ही चटपट राहु का सिर धड़ से अलग कर दिया। अमृत कंठ से नीचे नहीं



उतरा था, इसलिए सिर कट जाने पर भी राहु मरा नहीं। सिर और धड़ दोनों ही जीवित रहे। ब्रह्माजी ने

सूर्य आदि के समान राहु-केतु को भी 'ग्रह' बना दिया। उसी वैर को याद करके राहु अब भी प्रत्येक पर्व ( कभी-कभी अमावस और पूनो ) के दिन सूर्य और चन्द्रमा को लील लेने के लिए उनकी ओर दौड़ा जाता है।

राजन्, जब सब देवतों ने अमृत पी लिया, तब लोकरक्षक भगवान् विष्णु दैत्यों के आगे ही मोहिनी-रूप छोड़कर अपने रूप में प्रकट हो गये। यद्यपि देवता और दानव दोनों ने एक ही देश, काल, हेतु, प्रयोजन, कर्म और मति से अमृतलाभ का उद्योग किया था, तथापि दोनों को भिन्न-भिन्न फल मिला। अर्थात् हरि के चरणों का आश्रय लेने से देवतों ने सहज में ही परिश्रम का फल अमृत पीने को पाया और विष्णु से विमुख होने के कारण दैत्यों के हाथ कुछ नहीं लगा। ठीक है, लोग ईश्वर से भिन्न मानकर तन, मन, धन, कर्म और वाणी से स्त्री, पुत्र, शरीर आदि के लिए जो कुछ करते हैं, वह सब भेदभावयुक्त होने के कारण व्यर्थ है। और उन्हीं तन, मन आदि के द्वारा ईश्वर के उद्देश्य से स्त्री, पुत्र आदि के लिए जो किया जाता है, वह अभेदभाव के कारण महाफलदायक होता है। कारण, ईश्वर ही सबकी जड़ हैं। जैसे जड़ में पानी डालने से वृक्ष की सब शाखा-प्रशाखा हरी हो जाती है, लेकिन शाखाओं में पानी डालने से कुछ फल नहीं होता, और वृक्ष के सूख जाने से सींचना व्यर्थ हो जाता है।

# दसवाँ अध्याय

## देवासुर-संग्राम

शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, इसीलिए हरि से विमुख होने के कारण दैत्य-दानवगण ने परिश्रम करने पर भी उसका फल अमृत नहीं पाया। हरि ने युक्ति के साथ दानवों से अमृत का कलश ले लिया, देवतों को अमृत पिला दिया और सबके सामने ही गरुड़ की पीठ पर चढ़कर अपने वैकुण्ठधाम को चले गये। अमृत पीने से हरि के चरणसेवक देवतों का बल बढ़ गया। इसलिए मौक़ा पाकर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर वे दैत्यों से लड़ने के लिए तैयार हो गये। महासागर के किनारे देवतों और दैत्यों का देवासुर-संग्राम नाम का घोर युद्ध छिड़ गया, जिसके सुनने से भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। इस महासमर में बड़े क्रोध से दोनों पक्ष भिड़ गये। वे आपस में तीर-तलवार आदि शस्त्रों के प्रहार करने लगे। उस समय शंख, तूर्य, मृदंग, भेरी, डमरू आदि बाजों का घोर शब्द और हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों का महाभयानक तुमुल कोलाहल आकाश में गूँज उठा। समरभूमि में रथी से रथी, पैदल से पैदल, घोड़ों से घोड़े और हाथियों से हाथी भिड़ गये। दोनों दलों के योद्धा ऊँट, हाथी, गधे, गौर मृग, भालू, बाघ, सिंह, गिद्ध, कंक, बक, बाज, भास, तिमिंगिल, शरभ, महिष, गैंडे, गाय, बैल, गवय, अरुण, सियार, चूहे, गिरगिट, खरगोश, मनुष्य, बकरे, कृष्णसार मृग, हंस, शूकर तथा अन्यान्य विकट आकार-प्रकार के जलचर, थलचर और पशु-पक्षियों पर चढ़कर युद्धभूमि में एक दूसरे के सामने उपस्थित हुए। शूर-वीर देवतों और दानवों की सेनाओं के दोनों दल दो विशाल सागरों के समान देख पड़ने लगे। अनेक प्रकार की पताका, चित्रविचित्र ध्वजा, धवल-विमल छत्र, उनके महामूल्य हीरा-जड़े दंड, मोरपंख के बने पंखे और चँवर, हवा से हिल रहे पगड़ियों के पेंच और उन पर लगी हुई कलगियाँ, दुपट्टे और सूर्य की किरणों का प्रकाश पड़ने से चमक रहे चमकीले शक्ति आदि शस्त्र, कवच और गहने तथा योद्धाओं



देवासुर-संग्राम

की पंक्तियाँ उमड़ रहे महासागर के समान दोनों सेनाओं के भीतर मगर, ग्राह आदि हिंसक जलजन्तु-सी देख पड़ती थीं।

मायावी मय दानव ने सभी अचरजभरी सामग्रियों से युक्त वैहायस नाम का एक रथ राजा बलि को बना दिया था। वह रथ जहाँ जाने की इच्छा करो, वहीं तुरंत पहुँच जाता था। वैसे रथ की कोई कल्पना नहीं कर सकता था, बनाने की बात तो दूर है। वह कभी दिखाई पड़ता था और कभी ग़ायब हो जाता था। युद्ध की सब सामग्री और अस्त्र-शस्त्र उस पर रक्खे थे। विरोचन के पुत्र राजा बलि आप दानव-सेना के सेनापति बनकर रणभूमि में उसी रथ पर विराजमान हुए। उनके सिर पर छत्र लगा था और चँवर हो रहे थे। उस समय राजा बलि उदयाचल को जा रहे चंद्रमा के समान जान पड़ते थे। देवतों को अनेक बार हरानेवाले नमुचि, शंबर, बाणासुर, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्द्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्तापन, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शंकुशिरा, कपिल, मेघदुंदुभि, तारक, शत्रुजित्, शुंभ, निशुंभ, जंभ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुर के स्वामी मयासुर और पौलोम, कालकेय, निवात-कवच आदि अन्यान्य असुर-सेनापति रथों और वाहनों पर सवार हो बलि के साथ युद्ध-भूमि में उपस्थित हुए। ये सब दानव अमृत का हिस्सा न पाने के कारण केवल क्लेश के ही भागी हुए थे। इसीलिए ये दारुण क्रोध करके सिंहनाद करते हुए अपने-अपने गंभीर ध्वनिवाले शंख बजाकर युद्ध के लिए उत्साह प्रकट करने लगे। शत्रुओं का ऐसा उत्साह और दर्प देखकर उधर इन्द्र भी बहुत क्रोधित हुए। झरनों से सुशोभित उदयाचल पर जैसे सूर्यनारायण हों, वैसे ही मद जिसके बह रहा है उस ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्र भी युद्ध के लिए उपस्थित हुए। पवन, अग्नि, वरुण आदि सब लोकपाल देवता अनेक प्रकार की सवारियों पर चढ़कर, चित्र-विचित्र ध्वजा-पताका और अस्त्र-शस्त्रों से सजधजकर, अपने-अपने अनुचरों के साथ देवतों के राजा इन्द्र के पास खड़े हुए।

ये सब दानव और देवता आमने-सामने पहुँचकर, एक दूसरे का नाम लेकर युद्ध के लिए ललकारते हुए, वचनों से परस्पर तिरस्कार करके लड़ने लगे। देवराज इन्द्र से राजा बलि, कार्त्तिकेय से तारकासुर, वरुण से हेति, मित्र से प्रहेति, यमराज से कालनाभ, विश्वकर्मा से मयासुर, त्वष्टा से शंबर, सविता से विरोचन, अपराजित से नमुचि, अश्विनीकुमार से वृषपर्वा, सूर्यदेव से बाणासुर आदि बलि के सौ पुत्र, चंद्रमा से राहु, वायु से पुलोमा, वेगवती देवी भद्रकाली से शुंभनिशुंभ, वृषाकपि से जंभासुर, विभावसु से महिषासुर, ब्रह्मा के पुत्रों से इल्वल और वातापि, कामदेव से दुर्मर्ष, मातृगण से उत्कल, बृहस्पति से शुक्राचार्य, शनि से नरकासुर, मरुद्गण से निवात-कवच नामक दानवगण, वसुगण से कालकेय नाम के असुरगण, विश्वेदेवा देवतों से पौलोम नाम के दैत्य और ग्यारह रुद्रों से क्रोधवश नाम के दानव द्वन्द्वयुद्ध करने लगे।

असुर और देवता इस तरह द्वन्द्वयुद्ध ठानकर विजय की इच्छा से एक दूसरे पर तीक्ष्ण बाण, खड्ग, तोमर, भुशुंडी, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध, निस्त्रिंश, भल्ल, परिघ, मुद्गर, आदि अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करने लगे। हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहनों के, उन पर सवार होकर लड़नेवाले योद्धाओं के और पैदलों के हाथ, जाँघ, पैर, गर्दन आदि अंग-प्रत्यंग कट-कटकर गिरने लगे। ध्वजाएँ, धनुष, कवल और आभूषण टूट-फूटकर कट-फटकर गिर पड़े। महाराज, देवतों और दानवों के पैरों से और पहियों के चलने से रणभूमि से प्रचंड धूल उड़ी। उसने सब दिशाओं को और सूर्यमंडल को छा लिया। लेकिन थोड़ी ही देर में युद्धभूमि में रक्त की नदी बह चली और सब धूल जहाँ की तहाँ बैठ गई। असंख्य योद्धाओं के कटे हुए सिरों से रणभूमि पट गई। उन सिरों से कुंडल गिर पड़े थे। मृतक अवस्था में भी उनके नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे और दाँतों के नीचे नीचे का होठ दबा हुआ था। योद्धाओं की विशाल भुजाएँ

कटी हुई पड़ी थीं। उनमें अस्त्र-शस्त्र वैसे ही दबे हुए थे। हाथी की सूँड़ के समान मोटी और गोल जाँघें कटी पड़ी थीं। इन योद्धाओं के कटे हुए अंगों से युद्धभूमि का बड़ा विकट रूप हो रहा था। युद्धभूमि में असंख्य कबंध ( बिना सिर के धड़ ) उठ खड़े हुए। वे धरती पर कटकर गिरे हुए अपने सिरों की आँखों से देखते हुए, हाथों में अस्त्रशस्त्र लिये अपने शत्रु योद्धाओं पर प्रहार करने के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे।

इधर राजा बलि ने इन्द्र के दस बाण मारे। ऐरावत के तीन बाण मारे। साधारण अंगरक्षक, जो ऐरावत के चारों पैरों की रक्षा कर रहे थे, उनके और महावत के एक-एक बाण मारा। लेकिन वे बाण पास भी नहीं आने पाये, बीच ही में महापराक्रमी महेन्द्र ने फुर्ती के साथ उतने ही भल्ल नाम के पैने बाणों से लीलापूर्वक हँसते हुए उन बाणों को काट डाला। इन्द्र के इस प्रशंसा के योग्य काम को देखकर राजा बलि सहन नहीं कर सके। उन्होंने इन्द्र को मारने के लिए एक प्रचंड शक्ति हाथ में ली। लेकिन वह उसे चलाने भी न पाये कि इन्द्र ने भारी उल्का के समान प्रज्वलित उस शक्ति को उनके हाथ में ही बाणों से काट डाला। तब राजा बलि ने कुपित होकर एक-एक करके त्रिशूल, प्रास, तोमर और ऋष्टि आदि कई शस्त्र इन्द्र को मारने के लिए हाथ में लिये। लेकिन वह जो शस्त्र इन्द्र पर चलाने के लिए हाथ में लेते थे, उसी को महाप्रतापी इन्द्र फुर्ती के साथ काट डालते थे। तब असुरों के राजा बलि ने आकाश में छिपकर अनेक असुरों की मायाएँ प्रकट कीं। राजन्, पहले देवतों की सेना के ऊपर एक बड़ा भारी पर्वत प्रकट हुआ। उससे असंख्य पेड़ दावानल से जलते हुए देवतों के ऊपर गिरने लगे। नुकीली शिलाएँ गिर-गिरकर देवसेना को नष्ट करने लगीं। इसके बाद बड़े-बड़े विषधर साँप, बिच्छू और अन्य काटनेवाले ज़हरीले जीव तथा सिंह, बाघ, वराह आदि प्रकट हुए। बड़े-बड़े हाथी और सर्प आदि जीव शत्रु-सेना को नष्ट और पीड़ित करने लगे। राजन्, तदनन्तर "मारो-मारो! काटो-काटो!" कहते हुए, त्रिशूल हाथ में लिये, वस्त्रविहीन विकट राक्षस और राक्षसियाँ दौड़ती हुई देवतों के दल में देख पड़ीं। आकाशमंडल में भयानक शब्द से गरजते हुए बादल देवतों पर अंगारे बरसाने लगे। हवा की टक्कर से उन बादलों में कभी-कभी बड़ा भयानक शब्द होता था। इसके बाद बलि ने प्रचंड अग्नि को माया से प्रकट किया। प्रलयानल के समान वह आग देखते ही देखते प्रज्वलित हो उठी और हवा के झोंकों से चारों ओर फैलकर देवतों की सेना को भस्म करने लगी। प्रचंड आँधी के झोंकों से उठ रही चंचल लहरों के आवर्तों से युक्त भयानक समुद्र उमड़ता हुआ देख पड़ा; जान पड़ा, जैसे उमड़कर वह पृथ्वीमंडल को डुबा देगा। जिनकी गति और स्थिति नहीं देख पड़ती थी, उन महामायावी असुरों ने इस तरह रणभूमि में बहुत-सी विकट और भयावनी मायाएँ प्रकट कीं। उन्हें देखकर देवता लोग बहुत ही खिन्न और उत्साहहीन हो गये। देवता किसी तरह उन मायाओं का कुछ प्रतिकार नहीं कर सके। तब उन्होंने विश्व का पालन करनेवाले भगवान् हरि का ध्यान किया। ध्यान करते ही उस स्थान पर भगवान् प्रकट हुए।

सबने देखा, पीतांबर पहने चतुर्भुज, कमलनयन नारायण गरुड़ की पीठ पर अपने कोमल चरण-कमल रक्खे हुए हैं। भुजाओं में शंख, चक्र आदि आठ अस्त्र शोभित हैं। हृदय आदि अंगों में लक्ष्मीदेवी, कौस्तुभ मणि, सुवर्ण के किरीट और कुंडलों की अपूर्व दीप्ति देख पड़ती है। महाराज, जैसे जागने पर स्वप्न मिट जाता है, वैसे ही पूजनीय विष्णु भगवान् के वहाँ प्रकट होने पर उनके प्रभाव से असुरों की कूटमंत्र-मय सब मायाएँ सहसा दूर हो गईं। यह ठीक ही है। हरि का स्मरण करने से सभी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। रणभूमि में गरुड़वाहन हरि को देखकर सिंह पर सवार दानव कालनेमि ने कराल त्रिशूल घुमाकर गरुड़ के ऊपर चलाया। वह त्रिशूल गरुड़ के ऊपर गिरने नहीं पाया। हरि ने लीलापूर्वक उसे हाथ से रोक

लिया और उसी के प्रहार से कालनेमि और उसके वाहन सिंह को मार डाला। इसके बाद भगवान् विष्णु




ने अपने सुदर्शनचक्र से माली और सुमाली नाम के दोनों भाइयों के सिर काट डाले। वे मरकर गिर पड़े। इसके बाद माल्यवान नाम के असुर ने पास आकर गरुड़ के ऊपर कठिन गदा का प्रहार किया। तब हरि ने उस गरज रहे असुर का भी सिर चक्र से काट डाला।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## देवासुर-संग्राम की समाप्ति

श्रीशुकदेवजी कहते है—महाराज, इंद्र-पवन आदि देवता परमपुरुष नारायण की कृपा से होश में आकर जिन असुरों ने उन पर पहले प्रहार किये थे, उनको दूने उत्साह के साथ मारने लगे। इन्द्र ने क्रोध करके विरोचन के बेटे राजा बलि को मारने के लिए अपना वज्र उठाया। उस समय त्रिभुवन की प्रजा हाहाकार करने लगी। वज्रपाणि पुरंदर ने युद्धभूमि में अपने सामने खड़े हुए सुशिक्षित, साहसी राजा बलि का तिरस्कार करते हुए ये वचन कहे। इंद्र ने कहा—अरे मूढ़ दैत्य, हम देवगण सभी माया के अधीश्वर हैं। तू नटों की तरह इन क्षुद्र मायाओं से हमें जीतना चाहता है, जैसे नट लोग नज़र बाँधकर तमाशे दिखाते हैं और बालकों को आश्चर्य में डालकर उनका धन ठग लेते हैं। जो निर्बोध पुरुष दस्युवृत्ति करके माया के द्वारा स्वर्गलोक लेने की या स्वर्ग को लाँघकर मुक्ति प्राप्त करने की कामना करते हैं, मैं उनको पूर्वपद से

भी नीचे गिरा देता हूँ। तू मूढ़ मायावी और दुष्ट है। मैं अभी इस सौ खंडवाले वज्र से तेरा सिर काटता हूँ। अब तू अपने सजातीय असुरों की और अपनी रक्षा कर।

इन्द्र के ये वचन सुनकर राजा बलि ने कहा—हे इन्द्र, इतना गर्व क्यों करते हो? समय की प्रेरणा से ही लोग युद्ध करते हैं। उनमें किसी को विजय और कीर्त्ति मिलती है और किसी को हार और मृत्यु मिलती है। इसीलिए समझदार वीर लोग जगत् को काल के अधीन मानते हैं और उनको हार-जीत में शोक-हर्ष नहीं होता। तुम्हारे ये कटुवचन मर्मभेदी हैं; फिर भी मैं इनको बुरा नहीं मानता। कारण, तुम लोग अपने ही पराक्रम को जय-पराजय का कारण मानते हो, पर मैं नहीं मानता। मैं जय-पराजय को काल के अधीन समझता हूँ। तुम अनभिज्ञ और समझदारों की दृष्टि में दया के पात्र शोचनीय हो।

शुकदेवजी कहते हैं—वीरों के दर्प को दूर करनेवाले महात्मा बलि ने पहले इस तरह आक्षेप-भरे वचनों से इन्द्र के ऊपर प्रहार किया, उसके बाद कान तक तानकर लोहे के ठोस कई नाराच बाण भी उनके मारे। स्पष्टवादी शत्रु के प्रहार इंद्र से नहीं सहे गये। उन्होंने अंकुश की चोट खाये हुए गजराज की तरह झुंझलाकर राजा बलि के ऊपर वह वज्र चलाया, जो कभी खाली नहीं जाता—शत्रु को मार ही डालता है। वज्र लगते ही राजा बलि वैसे ही विमान के साथ आकाश से धरती पर गिर पड़े, जैसे पंखों के कट जाने पर पहले पहाड़ आकाश से गिर पड़ते थे।

राजन्, जंभ नाम का एक दानव राजा बलि का मित्र और हितकारी था। उसने अपने मित्र को जब इस तरह मरकर गिरते देखा, तब वह सिंहवाहन महाबली असुर अपने मित्र का बदला लेने के लिए आगे बढ़ा। उसने गदा लेकर ऐरावत के कंधे पर मारी। फिर इन्द्र के ऊपर भी उसने प्रहार किया। गदा की चोट से ऐरावत विह्वल हो गया। वह दोनों अगले घुटनों के बल पृथ्वी पर बैठ गया। इसी अवसर में इन्द्र का सारथी मातलि रथ ले आया। उस रथ में हज़ार घोड़े जुते हुए थे। इन्द्र हाथी से उतरकर रथ पर सवार हो गये। जंभासुर ने मातलि सारथी की इस फर्ती की सराहना करके मुसकाकर जलती हुई आग



के समान भयंकर अपना त्रिशूल तानकर मातलि के मारा। मातलि ने उस त्रिशूल के लगने की असहनीय वेदना को बड़े धैर्य और दृढ़ता के साथ सह लिया। तब इन्द्र ने क्रोध करके वज्र से जंभ का सिर काट डाला।

नारदजी के मुख से जंभ के मरने की ख़बर पाकर नमुचि, बल और पाक नाम के उसके सजातीय असुर शीघ्रता के साथ युद्धभूमि में उपस्थित हुए। वे इन्द्र को गालियाँ देते हुए उन पर उसी तरह बाण बरसाने लगे, जिस तरह बादल पहाड़ के ऊपर पानी बरसाते हैं। बल दानव ने फुर्ती के साथ इन्द्र के हज़ारों घोड़ों के एक साथ एक-एक बाण मारा। पाक दानव ने केवल एक बार ही धनुष पर चढ़ाकर और छोड़कर सौ बाणों से इन्द्र के सांगोपांग रथ और मातलि सारथी पर प्रहार किया। उसका यह काम सभी देखनेवालों को अद्भुत जान पड़ा। नमुचि नाम के दानव ने भी रणभूमि में सुवर्णपुंखयुक्त पंद्रह सौ अत्यन्त पैने बाण इन्द्र के ऊपर छोड़कर पानी-भरे बादल की तरह घोर सिंहनाद किया। बरसात की घोर घन-घटाएँ जिस तरह सूर्यमंडल को छिपा लेती हैं, उसी तरह इन असुरों ने चारों ओर से बाण बरसाकर रथ और सारथी सहित इन्द्र को छिपा दिया। शत्रुसेना के बीच इन्द्र जब छिप गये तो उन्हें न देख पाकर सब देवता और उनके अनुचर गंधर्व आदि घबरा उठे। जैसे समुद्र मे जहाज़ के डूब जाने पर व्यापारी लोग हाहाकार करें, वैसे ही नायकविहीन होकर वे हाहाकार करने लगे। शत्रुओं से जीते गये देवता इधर यों व्याकुल हो रहे थे, उधर देखते ही देखते उसी तरह ध्वजा, रथ, घोड़े और सारथी सहित इन्द्रदेव उस बाणों के पिंजड़े से बाहर निकल आये, जिस तरह रात बीत जाने पर सूर्यनारायण उदय होकर अपने तेज से दसों दिशा, आकाश और पृथ्वी को प्रकाशित और प्रफुल्लित कर देते हैं। उन्होंने भी तीनों लोकों को प्रसन्न और प्रशान्त बनाया। अपनी सेना को शत्रुओं के हाथों से पीड़ित होते देखकर इन्द्र को क्रोध हो आया। उन्होंने शत्रु को मारने के लिए वज्र हाथ में लिया। इन्द्र ने उसी आठ धारवाले सुदृढ़ और पैने वज्र से और असुरों की तरह ही बल और पाक नाम के असुरों के सिर काट डाले। यह देखकर और असुर भी डर गये। बल और पाक की मृत्यु देखकर नमुचि दैत्य शोक और क्रोध के आवेश से पागल-सा हो उठा। वह इन्द्र को मारने के लिए प्राणपण से चेष्टा करने लगा। नमुचि राक्षस दारुण क्रोध के कारण पत्थर के समान सुकठिन स्वर्णाभरणभूषित घंटायुक्त शूल हाथ में लेकर "अब तू मरा!" यह कहता हुआ झपटा। उसने निकट जाकर घोर सिंहनाद करके वह त्रिशूल इन्द्र के ऊपर चलाया। बड़े वेग से वह त्रिशूल आकाशमार्ग से आ रहा था। प्रतापी इन्द्र ने राह में ही तीक्ष्ण बाणों से उसके हज़ारों टुकड़े कर डाले। फिर कुपित इन्द्र ने नमुचि की गरदन पर, उसका सिर काटने के विचार से, अपना पैना वज्र मारा। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि उस बलपूर्वक इन्द्र के चलाये वज्र से उसका सिर कटना तो दूर, तनिक-सी खाल भी नहीं कटी। जिस वज्र ने वृत्रासुर का सिर काट डाला, उस वज्र से आज नमुचि की खाल भी नहीं कटी, इससे बढ़कर वज्र का अपमान और आश्चर्य क्या हो सकता है? तब शत्रु नमुचि से इन्द्र बहुत डरे। नमुचि के अंग में वज्र को निष्फल होते देखकर इन्द्र अपने मन में विचारने लगे कि दैवयोग से लोगों की बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली यह अद्भुत घटना कैसे हुई! जब पूर्वसमय में दुर्दान्त पर्वतों के पंख होते थे और वे ऊपर उड़कर देशों पर गिरते व उनका संहार करते थे, तब मैंने प्रजा को नष्ट होते देखकर इसी वज्र से उन पर्वतों के पक्ष काटे हैं; इसी वज्र से वृत्रासुर का सिर काटा है। विश्वकर्मा ने तपस्या के सारांश अर्थात् दधीचि ऋषि की हड्डियों से इस वज्र की रचना की है। इसी वज्र ने उन अनेक अन्य महावीरों का वध किया है, जिनकी खाल भी और पैने शस्त्रों से नहीं कटी। लेकिन वही कहीं कुंठित न होनेवाला अमोघ वज्र आज इस क्षुद्र असुर को नहीं मार सका—व्यर्थ हो गया! अब मैं इसको धारण नहीं करूँगा। यह एक

साधारण लाठी के समान ही है। ब्रह्मतेज होने पर भी यह मेरे प्रयोजन को पूरा नहीं कर सका, इसलिए इसे धारण करना व्यर्थ ही है।

इन्द्र अपने मन में इस तरह विषाद कर ही रहे थे, इसी समय आकाशवाणी हुई कि "यह असुर सूखी या गीली किसी वस्तु से नहीं मर सकता। हे पुरंदर, मैंने इसे यह वर दिया है कि तू सूखे या गीले किसी पदार्थ से नहीं मरेगा। इसलिए तुम इसे मारने का कोई और उपाय निकालो।"

यह आकाशवाणी सुनकर इन्द्र ने विचारा, जल का फेन न सूखा होता है, न गीला। बस, इन्द्र ने उसी समय समुद्र से जल का फेन लेकर नमुचि असुर का सिर काट डाला। तब मुनिगण उन पर फूल बरसाने और स्तुति करने लगे। विश्वावसु और परावसु नाम के दोनों श्रेष्ठ गंधर्व उनके गुण गाने लगे। स्वर्ग में देवगण ने नगाड़े बजाये। अप्सराएँ आनन्द से नाचने लगीं। सिंह जैसे मृगों के झुंड को मार भगाते हैं, वैसे ही अग्नि, वायु, वरुण आदि अन्य सब देवता भी सुतीक्ष्ण अस्त्रों के प्रहार से अपने प्रतिद्वंदी असुरों का संहार करने लगे। इस तरह देवतों और दानवों का क्षय होते देखकर ब्रह्माजी ने देवर्षि नारद को उन्हें युद्ध से निवृत्त करने के लिए भेजा। नारदजी ने आकर देवतों से कहा—हे देवगण, नारायण के बाहुबल का सहारा लेकर तुम लोगों ने अमृत पाया और कमला के कृपाकटाक्षपात से तुम्हारे बल, वीर्य और वैभव बढ़ गये हैं। इसलिए अब यह युद्ध बंद कर दो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, मुनिवर की आज्ञा को सब देवतों ने सादर स्वीकार कर लिया। वे क्रोध के वेग को शान्त करके अपने अनुचरों के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए स्वर्गधाम को गये। इधर जो दानव युद्धभूमि में बच रहे थे, वे नारदमुनि की आज्ञा के अनुसार जीवहीन बलि राजा के शरीर को लेकर अस्ताचल पर शुक्राचार्य के आश्रम को गये। वहाँ शुक्राचार्य ने जिन दानवों के अंग और रुण्ड-मुण्ड नष्ट नहीं हुए थे, उनको अपनी संजीविनी विद्या से फिर जिला दिया। शुक्राचार्य के हाथ का स्पर्श पाते ही राजा बलि जी उठे। राजा बलि हार गये थे, फिर भी संसार की गति को अच्छी तरह जानने के कारण वह कुछ भी खिन्न या उदास नहीं हुए।

# बारहवाँ अध्याय

## मोहिनीरूप के दर्शन से महादेव का मोहित होना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, महादेव ने जब यह सुना कि भगवान् विष्णु ने मोहिनीरूप रखकर दानवों को मोहित करके देवतों को अमृत पिलाया, तो नन्दीश्वर की पीठ पर प्यारी पार्वती के साथ सवार हुए और भूतगण को साथ लेकर मधुसूदन हरि के निवासस्थान वैकुंठलोक में हरि के दर्शनों की इच्छा से गये। भगवान ने आदर के साथ शिव और पार्वती का स्वागत किया। शंकर भी विष्णु भगवान् के प्रति सम्मान दिखाकर सुन्दर आसन पर सुखपूर्वक विराजमान हुए। थोड़ी देर तक विश्राम करने के बाद वह मंद मुसकान के साथ नारायण से यों कहने लगे। शंकर ने कहा—हे देवदेव, आप सारे जगत में व्याप्त हैं। हे जगन्मय ! हे जगदीश ! आप सब पदार्थों के आत्मा और कारण हैं। हे ईश, जिन सत्स्वरूप चिन्मय ब्रह्म से इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार प्रतीत होता है, लेकिन जो स्वयं आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं, जो दृश्य और देखनेवाला दोनों हैं, जो भोग्य और भोग करनेवाला दोनों हैं, वही सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म आप हैं। विषय-सुख से विरक्त होकर निर्वाणस्वरूप ब्रह्म की कामना करनेवाले मुनिगण इस

लोक और परलोक की आसक्ति को छोड़कर आपके ही चरणकमलों की पूजा करते हैं। आप पूर्ण सुखस्वरूप, नित्य आनन्दमय, निर्गुण, निर्विकार और शोकशून्य ब्रह्म हैं। आपसे अलग कुछ नहीं है, तथापि आप सबसे अलग अर्थात् निर्लिप्त हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण तथा आत्मा के नियन्ता आप हैं। सारा संसार आपका मुखापेक्षी है, लेकिन आप निरपेक्ष हैं। जैसे एक सोना कुण्डल आदि आभूषणों के रूप में बदलकर अनेकरूप हो जाता है, वैसे ही परमकारणरूप आप भी कार्य-कारण के रूप में परिणत होकर विभिन्न रूपवाले जान पड़ते हैं। लेकिन सोने की तरह आपमें भी वास्तव में कोई विभिन्नता नहीं है। आप उपाधि से रहित हैं, लेकिन आपका संबंध गुणों से है, इसीलिए अज्ञानी लोग आपमें भेद की भावना या कल्पना करते हैं। वेदान्ती लोग ब्रह्म कहकर, सांख्य-मतावलंबी लोग प्रकृति और पुरुष से भिन्न परमपुरुष कहकर, मीमांसावाले धर्म कहकर, पंचरात्र-मतावलंबी लोग नवशक्तियों से युक्त परमपुरुष कहकर, पतंजलि-मतावलंबी लोग स्वाधीन अविनाशी महापुरुष कहकर आपका ही निर्देश या वर्णन करते हैं। ब्रह्मा, मरीचि आदि ऋषि और मैं, ये सब सतोगुण से उत्पन्न हुए हैं, फिर भी आपकी दुरन्त माया में मन मोहित रहने के कारण आपके रचे हुए विश्व का भी तत्त्व या रहस्य नहीं जान पाते, फिर आपके तत्त्व को कैसे जान सकते हैं! जब उत्तम सृष्टि में उत्पन्न हम लोग आपको नहीं जान पाते, तब मनुष्य, दैत्य आदि प्राणी—जो रजोगुण और तमोगुण की सृष्टि हैं—आपको कैसे जान सकते हैं? उनकी प्रवृत्ति तो सदा रजोगुणी या तमोगुणी ही रहती है। प्राणियों की चेष्टा, इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश तथा संसारबंधन और मोक्ष का रहस्य सब कुछ आप जानते हैं। वायु जैसे चराचर शरीरों में और आकाश (शून्य) में व्याप्त है, वैसे ही आप भी आत्मा के रूप से संपूर्ण चराचरजगत् में व्याप्त हो रहे हैं। आप ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिए सबके आत्मा हैं। गुणों में रमण करते हुए आपने जिन-जिन रूपों से समय-समय पर इस जगत् में अवतार लिये हैं, उन सब अवतारों को मैंने देखा है, इसलिए आपने जो अभी स्त्री-रूप धारण किया है, वह भी मैं देखना चाहता हूँ। आपने जिस रूप से दैत्यों को मोहित कर देवतों को अमृत पिलाया है, वह मोहिनीरूप देखने के लिए मैं आया हूँ। वह रूप देखने के लिए मुझे बड़ा कौतूहल है।

शुकदेवजी कहते हैं—भगवान् शंकर की यह प्रार्थना सुनकर मंद मुसकान से हृदय का गंभीर भाव प्रकट करते हुए भगवान् विष्णु ने कहा—भगवन्, दानवगण जब अमृत का कलश छीन ले गये, तब मैंने सोचा कि स्त्री-रूप रखने से ही देवतों को अमृत प्राप्त हो सकेगा। तब दानवों के मन में मोह उत्पन्न करने के लिए मैंने मोहिनीरूप धारण किया था। हे महादेव, आप उस रूप को देखना चाहते हैं, इसलिए मैं वह रूप आपको अवश्य दिखाऊँगा। वह रूप काम को जगानेवाला है, इसलिए कामी जनों के बड़े आदर-प्यार की चीज़ है।

महाराज, इतना कहकर शंकर के सामने ही भगवान् विष्णु अन्तर्द्धान हो गये। पार्वती सहित भगवान् शंकर चकित होकर इधर-उधर देखने लगे। क्षण भर बाद उन्होंने देखा, विचित्र फूल, फल और लाल-लाल नवपल्लवों से सुशोभित वैकुंठ के बाग़ में एक परम सुंदरी रमणी गेंद उछाल-उछालकर क्रीड़ा कर रही है। उसके दुकूल द्वारा ढके गये नितंबों में सोने की करधनी पड़ी हुई है। गेंद के उछालने और रोकने में उस ललना का लवंगलतातुल्य ललित सुकुमार शरीर हिलता है, और उससे उसके पीन पयोधर कंपायमान होकर देखनेवाले के चित्त को चंचल करते हैं। दोनों स्तन, उत्तम माला और ऊरुओं के भार से पग-पग पर जान पड़ता है, जैसे उसकी पतली कमर टूटना ही चाहती है। वह सुंदरी इसी तरह चलते-चलते एक जगह से दूसरी जगह तक मूंगे के समान लाल तलवोंवाले चरणों को ले जाती है। गेंद अनेक ओर

जाता है, इसलिए उस सुंदरी की कमनीय आँखों की पुतलियाँ उसके पीछे चंचल भाव से भ्रमण करती हैं। दोनों सुंदर कानों में सोने के कुंडल शोभायमान हैं। उनकी झलक पड़ने से सुडौल कपोलों की कान्ति और भी अधिक मनोहर देख पड़ती है। दोनों कमनीय कपोलों और बिखरी हुई अलकों से अलंकृत मुखमंडल मन को मोह लेता है। उस रमणी का दुपट्टा सिर पर से खिसक गया है, चोटी ढीली पड़ गई है। इन दोनों वस्तुओं को बाएँ हाथ से सँभालती हुई वह स्त्री दूसरे हाथ से गेंद को उछालती और रोकती हुई अपनी माया से जगत् को मोहित कर रही है। विनोद में तत्पर वह रमणी लजीली मृदुल मंद मुसकान के साथ कुटिल कटाक्ष-बाण छोड़ रही है। देवदेव शंकर उन कटाक्षों की चोट खाकर हतबुद्धि हो गये। शिवजी एकटक उसी कामिनी की ओर देखने लगे और वह भी इनके ऊपर कटाक्ष चलाने लगी। इससे भगवान् शंकर ऐसे विह्वल हो गये कि उन्हें अपने पास उपस्थित गौरी और अपने गणों का भी ध्यान नहीं रहा। एक बार उस सुंदरी की थपकी से वह गेंद कुछ दूर चला गया। वह उसे रोकने के लिए दौड़ी। इसी अवसर में हवा ने उसके सूक्ष्म वस्त्र को उड़ा दिया। महादेव एकटक उसी ओर ताक रहे थे, इसलिए यह घटना भी उन्होंने देखी। रुचिर नेत्रोंवाली उस मनोरम दर्शनीय सुंदरी युवती ने अपनी तिरछी चितवन से महेश का ज्ञान हर लिया। भगवान् शंकर उस पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गये। दारुण कामदेव के बाणों से पीड़ित शंकर भवानी के आगे ही लज्जा त्यागकर उस मोहिनी की ओर दौड़ पड़े।

उस समय वस्त्र उड़ जाने से कामिनी का अंग नंगा हो गया था, इसलिए शंकर को आते देखकर अत्यन्त लज्जा का भाव दिखाती हुई वह हँसते-हँसते वृक्षों की आड़ में होकर भाग गई। भगवान् शंकर की इन्द्रियाँ उन्मत्त हो उठीं। वह कामदेव के वशीभूत होकर उस सर्वांगसुंदरी भुवनमोहिनी के पीछे उसी तरह दौड़े, जैसे कोई मस्त हाथी हथिनी का पीछा करे। बहुत वेग से पीछा करके अन्त को वह उसके पास पहुँच गये। शिवजी ने उस स्त्री की इच्छा न रहने पर भी पीछे से उसकी चोटी पकड़ ली और दोनों बाहुओं से बलपूर्वक उसे हृदय से लगा लिया। मोहिनी अपने को छुड़ाने के लिए ज़ोर करने लगी। इसी कशमकश में उसकी चोटी खुल गई।



महाराज, तब देवदेव शंकर के दोनों हाथों के बीच से अपने को छुड़ाकर वह भगवान् की माया मोहिनी फिर भागी। कामदेव ने पहले का वैर स्मरण करके ही मानो शंकर को इस समय परास्त कर दिया। महादेवजी भी काम के वशीभूत होकर विचित्र कीर्त्तिवाले नारायण के मायामय मोहिनीरूप के पीछे

दौड़ने लगे। ऋतुमती हथिनी के अनुगामी हाथी की तरह पीछा करते-करते अमोघवीर्य शंकर का वीर्य स्खलित हो गया। राजन, महात्मा शंकर का वह वीर्य पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ गिरा, वे ही स्थान सोने, चाँदी और पारे की खान हो गये। नदी, सरोवर, पर्वत, वन, उपवन आदि जिन-जिन स्थानों में ऋषिगण रहते थे, उन सभी स्थानों में मोहिनी का पीछा करते हुए शंकर घूमते फिरे। वीर्य स्खलित होने पर शिवजी को होश आया कि ईश्वर की माया ने उनको जड़ बना दिया है। उसी समय उनका मोह दूर हो गया।

भगवान् शंकर जगत् के आत्मा और अज्ञेयपराक्रम भगवान् विष्णु की महिमा को जानते थे, इसलिए नारायण की माया के आगे अपना परास्त होना उनको कुछ विचित्र नहीं जान पड़ा। राजन, महादेवजी लज्जित नहीं हुए, यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नारायण ने अपना पुरुषरूप प्रकट करके उनसे कहा—हे देवश्रेष्ठ, आप मेरी स्त्रीरूप माया में अपनी इच्छा से ही मोहित हुए हैं। यह बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि इस समय आप फिर प्रकृतिस्थ और स्थिर हो गये हैं। आपके सिवा और कौन एक बार वशीभूत होकर फिर अनेक हाव-भाव दिखानेवाली और अजितेन्द्रिय पुरुषों को फँसानेवाली मेरी स्त्रीरूपिणी प्रबल माया को एकदम छोड़कर प्रकृतिस्थ और सुस्थिर हो सकता है? अब से यह मेरी माया, सृष्टि आदि का कारण कालस्वरूप जो मैं हूँ उसके साथ रजोगुण आदि अंशों से संमिलित होकर, और कभी आप पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, श्रीवत्स से अलंकृत भगवान् विष्णु के यों प्रशंसा और आदर-सत्कार करने पर शिवजी ने उनकी प्रदक्षिणा की। फिर पार्वती और अपने गणों के साथ कैलास धाम को चल दिये। इसके बाद शंकरजी एक समय अपने अंश से उत्पन्न उस माया के विषय में मुख्य-मुख्य ऋषियों के आगे प्रीतिपूर्वक भगवती पार्वती से इस प्रकार कहने लगे। शंकर ने कहा—हे प्रिये, जन्म-रहित परमपुरुष नारायण की माया तुमने देख ली! मैं सब मायाओं का अधीश्वर होकर भी इस प्रबल माया में मोहित हो गया। इसलिए जिनका मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वे मनुष्य आदि अगर उसके वशीभूत हों तो कौन-सी आश्चर्य की बात है! जब मैं हज़ार वर्ष तक योग करके समाधि से निवृत्त हुआ था, तब तुमने जिन मेरे आराध्यदेव परमपुरुष के विषय में प्रश्न किया था, वह यही नारायण साक्षात परमपुरुष है। काल अथवा वेद इन भगवान् की महिमा का निर्णय और बखान नहीं कर सकते।

राजन्, जिन शार्ङ्गधनुषधारी हरि ने समुद्र मथने के समय महामंदर पर्वत को पीठ पर धारण किया, उनका बलविक्रम मैंने तुमको सुना दिया। जो लोग बारंबार इसे पढ़ते-सुनते हैं, उनका उद्यम कभी विफल नहीं होता; क्योंकि उत्तमश्लोक भगवान् के गुणों का कीर्त्तन संपूर्ण सांसारिक क्लेशों को मिटा देता है। असाधुजन जिसे पा नहीं सकते, जो केवल भक्ति से ही मिलती है, उसी हरिचरणों की नाव का सहारा देवतों ने लिया था। इसी कारण भगवान् ने मोहिनीरूप रखकर दानवों को मोहित किया और देवतों को समुद्रमंथन से अमृत पिलाया। मैं उन्हीं भक्तवत्सल भगवान् की भक्ति के साथ वंदना करता हूँ। वह जगदीश अपने आश्रितों की अभिलाषा पूरी करते हैं।

# तेरहवाँ अध्याय

## वैवस्वत आदि मन्वन्तरों का वर्णन

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्, सूर्यदेव के पुत्र श्राद्धदेव नाम के मनु का यह मन्वन्तर है। अब उनकी सन्तान का वर्णन करता हूँ। श्राद्धदेव मनु सूर्य के पुत्र हैं, इसलिए उन्हें वैवस्वत मनु भी कहते हैं। वैवस्वत मनु के दस पुत्र हुए—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, कारूष, मृषध्र और वसुमान। वैवस्वत-मन्वन्तर में आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभु नाम के देवता है। इन देवतों के स्वामी पुरंदर नाम के इन्द्र हैं। इस मन्वन्तर में कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज नाम के सात ऋषि है। इस मन्वन्तर में कश्यप ऋषि के वीर्य से अदिति के गर्भ में भगवान् का वामन अवतार हुआ है। वामनजी अदिति के सबसे छोटे पुत्र है।

राजन्, मैंने संक्षेप मे ये सातो मन्वन्तर तुमको सुना दिये। अब आगे आनेवाले सात मन्वन्तरों का ब्योरा सुनो। इन सब मन्वन्तरों में विष्णु की शक्ति व्याप्त है। सूर्य के दो स्त्रियाँ थीं—संज्ञा और छाया। ये दोनों विश्वकर्मा की बेटी थीं। इनका हाल मैं आपको सुना चुका हूँ। किसी-किसी के मत से सूर्य की बड़वा नाम की एक और स्त्री है। लेकिन यह भ्रम है। सूर्य की पहली स्त्री संज्ञा ने ही बड़वा ( घोड़ी ) का रूप धारण किया था, इसलिए बड़वा उसी का दूसरा नाम है। संज्ञा के गर्भ से यमराज, श्राद्धदेव मनु और यमुना नाम की कन्या उत्पन्न हुई। दूसरी स्त्री छाया के सावर्णि नाम के मनु, शनैश्चर और तपती नाम की कन्या हुई। तपती का व्याह राजा संवरण के साथ हुआ। बड़वा के अश्विनीकुमार नाम के दो पुत्र हुए।

महाराज, अब आठवें सावर्णि नाम के मनु होंगे। उनके निर्मोक और विरजस्क आदि पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में सुतपा, विरज, अमृतप्रभ नाम के देवता और उनके स्वामी राजा विरोचन के पुत्र राजा बलि इन्द्र होंगे। राजा बलि तीन पग पृथ्वी माँगने के लिए आये हुए वामनरूप विष्णु भगवान को तीनों लोक दान करके प्रसन्न करेंगे और मिले हुए इन्द्रासन को छोड़कर भगवान की कृपा से अन्त को कृतार्थ हो जायँगे। पहले परीक्षा लेने के लिए भगवान् वामन ने राजा बलि को पाश से बँधवा दिया; लेकिन अन्त को उनकी धर्म में निष्ठा देखकर प्रसन्न होकर भगवान् ने उनको सुतल लोक मे भेज दिया। अब राजा बलि वहाँ इन्द्र के समान वैभव के साथ सुखपूर्वक निवास करते हैं। इस लोक में स्वर्ग से भी अधिक शोभा और ऐश्वर्य है।

इस आठवें मन्वन्तर में गालव, दीप्तिमान, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग, मेरे पिता भगवान् वादरायण व्यास, ये सप्तऋषि होंगे। ये सब इस समय अपने आश्रमों में तपस्या कर रहे हैं, राजन, इसी सावर्णि-मन्वन्तर में देवगुह्य के वीर्य द्वारा सरस्वती के गर्भ में सार्वभौम नाम का अवतार होगा। ईश्वर का अंश परम प्रतापी सार्वभौमजी बलपूर्वक पुरन्दर से स्वर्ग का राज्य लेकर राजा बलि को देंगे।

नवें मनु वरुण के पुत्र दक्षसावर्णि होंगे। उनके श्रुतकेतु और दीप्तिकेतु आदि पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में पार, मरीचिगर्भ आदि देवता, अद्भुत नाम के इन्द्र और द्युतिमान आदि सप्तऋषि होंगे। आयुष्मान के वीर्य से अंबुधारा के गर्भ में ऋषभ नाम से प्रसिद्ध भगवान का अवतार होगा। भगवान्

ऋषभ अपने बाहुबल से अद्भुत नाम के इन्द्र को सब समृद्धियों से संपन्न त्रिभुवन के राज्य का भोग करावेंगे।

दसवें मनु उपश्लोक के पुत्र ब्रह्मसावर्णि होंगे। उनके पुत्र भूरिषेण आदि होंगे। इस मन्वन्तर में हविष्मान्, सुकृत, सत्य, जय, मूर्त्ति आदि सप्तऋषि और सुवासन, अविरुद्ध आदि देवता होंगे। देवराज इन्द्र का नाम शंभु होगा। इस मन्वन्तर में भी विश्वसृष्टाओं के घर में विषूची के गर्भ से विष्वक्सेन-नामक भगवान् का अंशावतार होगा। विष्वक्सेन और शंभु में परस्पर मित्रता होगी।

ग्यारहवें मनु आत्मज्ञानी धर्मसावर्णि होंगे। उनके सत्यधर्म आदि दस पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में विहंगम, कालगम, निर्वाणरुचि आदि देवता और उनके स्वामी वैधृति नाम के इन्द्र होंगे। अरुण आदि सप्तऋषि होंगे। आर्यक के वीर्य से वैधृता के गर्भ में धर्मसेतु-नामक हरि का अंशावतार होगा। यह धर्म की मर्यादा की रक्षा और त्रिलोकी का पालन करेंगे।

बारहवें मनु रुद्रसावर्णि होंगे। देववान्, उपदेव, देवश्रेष्ठ आदि उनके पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में ऋतधामा नाम के इन्द्र, हरित् आदि देवता और आग्नीध्रक आदि सप्तऋषि होंगे। सत्यसह ब्राह्मण की सूनृता नाम की स्त्री के गर्भ से स्वधामा नाम का नारायण का अंशावतार होगा। स्वधामा के जन्म से यह मन्वन्तर बहुत प्रसिद्ध होगा।

तेरहवें मनु देवसावर्णि होंगे। उनके चित्रसेन, विचित्र आदि पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में सुकर्मा, सुत्रामा आदि देवता, दिवस्पति नाम के इन्द्र और निर्मोक, तत्त्वदर्शी आदि सप्तऋषि होंगे। इस मन्वन्तर में योगेश्वर देवहोत्र के घर में उनकी स्त्री बृहती के गर्भ से अमूर्त्ति-नामक हरि का अंशावतार होगा। यह अवतार दिवस्पति इन्द्र की सब कामनाएँ पूरी करेगा।

चौदहवें मनु का नाम इन्द्रसावर्णि होगा। इनके उरु, गंभीर और बुध्न आदि पुत्र होंगे। इस मन्वन्तर में पवित्र, चाक्षुष आदि देवता, शुचि नाम के इन्द्र और अग्निबाहु, शुचि, शुद्ध, मागध आदि सप्तऋषि होंगे। इस मन्वन्तर में सत्रायण के घर में विनता के गर्भ से बृहद्भानु-नामक हरि का अवतार होगा। बृहद्भानु महाराज नीति का निर्माण करेंगे। महाराज, ये भूत, भविष्य और वर्त्तमान चौदहों मनु मैंने तुम्हारे आगे वर्णन किये। ये चौदह मनु हज़ार युग में होंगे। हज़ार युग बीत जाने पर एक कल्प पूरा होगा। इस चौदह मनुओं की कथा को जो कोई पढ़ता या सुनता है, उस पर हरि भगवान् प्रसन्न होते हैं।

# चौदहवाँ अध्याय

## मनु आदि के कर्म

परीक्षित् ने पूछा—भगवन, ये मनु, देवता, इन्द्र, सप्तऋषि और हरि के अवतार अलग-अलग मन्वन्तरों में जिस प्रकार, जिसके द्वारा, जो काम करने में नियुक्त होते हैं, सो सब आप मुझसे कहिए।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन, मनु, मनुओं के पुत्र, सप्तऋषि, इन्द्र और देवता, सब उन्हीं परम-पुरुष नारायण भगवान् के आज्ञाकारी और अनुगत हैं। यज्ञ आदि जिन ईश्वर के अवतारों का पहले वर्णन किया जा चुका है, वे समय-समय पर प्रकट होकर मनुओं को जगत् का काम चलाने में सहायता

और प्रोत्साहन देते हैं। उनकी प्रेरणा और आज्ञा के अनुसार मनु लोग जगत् की देखरेख और रक्षा करते हैं। चार युग के अन्त में कालवश जब श्रुतियाँ लुप्त हो जाती हैं, वेदों को लोग भूल जाते हैं, तब ये सप्तऋषि अपने तपोबल से फिर उन्हें प्राप्त करके प्रकट करते हैं। उन वेदों से ही सनातनधर्म आज तक चला आता है, उसका लोप नहीं हुआ। मनु लोग नारायण की आज्ञा के अनुसार अपने-अपने समय में इस पृथ्वी पर यथाशक्ति पूर्ण अखंड धर्म का प्रचार करते हैं। मनुओं के पुत्र और स्वर्ग, पृथ्वी आदि के कर्मों में लिप्त निवासियों के साथ यज्ञ का भाग लेनेवाले देवता पुत्र-पौत्रपरंपरा से प्रजा का पालन करते हैं। इन्द्र भगवान् से प्राप्त त्रिभुवन का ऐश्वर्य भोगते और त्रिलोकी का पालन करते हैं—यथासमय जल की वर्षा भी करते हैं। भगवान नारायण हर एक युग में सनक आदि सिद्धों के रूप से ज्ञान का, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के रूप से निष्काम कर्म का और दत्तात्रेय आदि परमहंस योगेश्वरों के रूप से योग का उपदेश और प्रचार करते हैं। भगवान ही मरीचि आदि प्रजापतियों के रूप से सृष्टि करते है, राजा के रूप से दस्युओं का विनाश करते हैं। अन्त को काल के रूप से शीत, गर्मी आदि विविध गुण धारण करके सारे संसार का संहार भी वही करते हैं। नामरूपमयी माया के द्वारा मोहित ये मनुष्य अनेक शास्त्रों से उनकी स्तुति या निरूपण करते हैं; लेकिन उन्हें देख नहीं पाते—जान नहीं पाते। महाराज, कल्प और विकल्प का यह परिमाण मैंने तुमसे कहा। इतिहास जाननेवाले लोग इतने ही समय मे चौदह मन्वन्तरों का निर्देश करते हैं—अर्थात् एक कल्प में चौदह विकल्प या मन्वन्तर होते हैं।

# पंद्रहवाँ अध्याय

## राजा बलि की स्वर्ग पर चढ़ाई

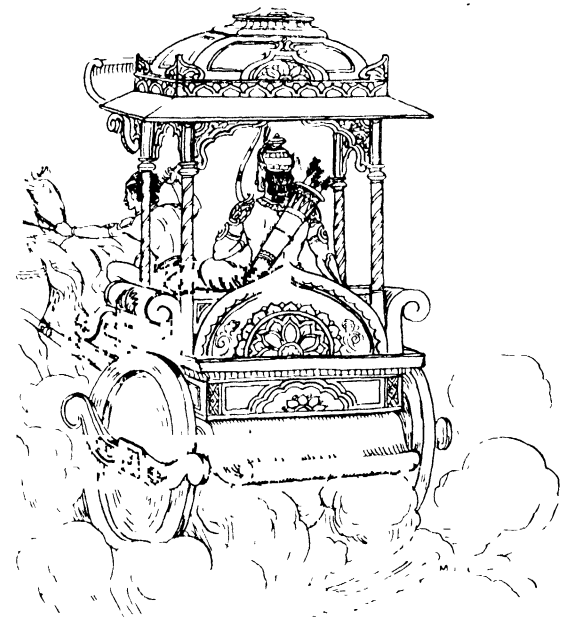
राजा ने पूछा—शुकदेवजी, नारायण ने परमेश्वर होकर भी किसी दीन की तरह राजा बलि से तीन पग पृथ्वी क्यों माँगी ? और माँगी हुई पृथ्वी पाकर भी उन्होंने राजा बलि को बाँधा क्यों ? इसका रहस्य मैं जानना चाहता हूँ। पूर्ण ब्रह्म ईश्वर की भिक्षा और निर्दोष बलि का बन्धन, इन दोनों अद्भुत विषयों को जानने के लिए मुझे बड़ा कौतूहल है।

शुकदेवजी ने कहा—राजन्, इन्द्र ने राजा बलि को मारकर उनका राज्य ले लिया, लेकिन शुक्राचार्य की कृपा से राजा बलि फिर जी उठे, यहाँ तक का हाल मैं तुमको सुना चुका हूँ। इसके बाद परम उदार राजा बलि भृगुकुल के शिष्य होकर, बहुत-सा धन गुरु की सेवा में अर्पण कर, मन, वाणी, काया से भृगुवंश की सेवा करने लगे। तब महाप्रभावशाली भृगुवंश के ब्राह्मणों ने स्वर्ग जीतने की अभिलाषा रखनेवाले राजा बलि का विधिपूर्वक महाभिषेक किया। उन्होंने राजा बलि से विश्वजित् नाम के भारी यज्ञ का अनुष्ठान कराया।

उस यज्ञ में हवि की आहुति डालने पर अग्निकुंड से एक सोने का मढ़ा हुआ रथ, इन्द्र के घोड़ों के समान सफ़ेद रंग के घोड़े, सिंह के चिह्न से युक्त ध्वजा, सुवर्णमंडित धनुष, अक्षय तीरों से भरे हुए दो तरकस और एक दिव्य कवच प्रकट हुआ। राजा बलि को इस तरह यह सब युद्ध की सामग्री प्राप्त हुई। तब उनके बाबा प्रह्लाद ने उनको एक ऐसी माला पहनाई, जिसके फूल कभी नहीं मुरझाते। शुक्राचार्य ने एक शंख दिया। इस प्रकार तपोबल से पाई गई युद्ध की सामग्री से राजा बलि को सजाकर ब्राह्मणों ने

वेदपाठ और स्वस्त्ययन किया। तब राजा बलि ने उनको प्रणाम किया, और उनकी प्रदक्षिणा की। फिर अपने पितामह प्रह्लाद को सादर संभाषण के साथ प्रणाम किया।

महारथी बलि ने गले में माला पहनकर, शुक्राचार्य के दिये हुए दिव्य रथ पर सवार हो, कवच पहना; धनुष, खड्ग और तरकस लिये। उनकी भुजाओं में सोने के अंगद शोभायमान थे। मकराकृत कुण्डलों की कान्ति कपोलों पर पड़कर सोहावनी हो गई। इस प्रकार रथ पर सवार दैत्यराज कुण्ड में जल रहे अग्नि के समान शोभित हुए। आयु, बल और ऐश्वर्य में उन्हीं के समान बड़े-बड़े वीर दैत्य बलि के चारों ओर उपस्थित हुए। वे जैसे आकाश को दृष्टि से पी लेंगे, दिशाओं को भस्म कर देंगे, ऐसा जान पड़ने लगा। इस तरह दैत्य-सेना से घिरे हुए राजा बलि ने वीर दैत्यों के साथ स्वर्ग और पृथ्वी को कँपाते हुए समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपुरी की ओर यात्रा की।



नन्दन आदि सुंदर उपवनों से इन्द्रपुरी अमरावती की शोभा बहुत ही रमणीय जान पड़ती है। उपवनों में लगे हुए दिव्य वृक्षों की शाखाएँ नवपल्लव, फल और फूल आदि के बोझ से झुकी रहती हैं। उन डालों पर बैठे पक्षियों के जोड़े मधुर कलरव करते हैं, भ्रमर गुंजार करते हुए इधर-उधर घूमते हैं। वहाँ हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव आदि पक्षियों के झुंडों से सुशोभित अनेकों तालाब और झीलें हैं। देववधू अप्सराएँ उनके स्वच्छ जल में केलि किया करती हैं। आकाशगंगा इन्द्र की पुरी को खाई की तरह चारों ओर से घेरे हुए हैं। पुरी के चारों ओर बहुत ऊँची सोने की चहारदीवारी है। उस दीवार पर बहुत ऊँचे युद्ध करने के स्थान बने हुए हैं। पुर के फाटकों के किंवाड़े सोने के हैं। गोपुर स्फटिकमणि के बने हैं। सड़कें सीधी, लंबी और चौड़ी हैं। यह इन्द्रपुरी विश्वकर्मा की बनाई हुई है। उसमें अनेक बैठने के स्थान, प्रांगण, छोटी गलियाँ, करोड़ों ऊँचे महल, चौराहे और हीरा, विद्रुम आदि की बनी वेदियाँ शोभा पा रही हैं। वहाँ की नारियों की जवानी और सुकुमारता सदा एक-सी बनी रहती है। वे स्त्रियाँ सफेद साफ़ कपड़े पहने अग्नि के समान तेजस्विनी हैं। उन रूपवती स्त्रियों की अवस्था सदा सोलह-सत्रह बरस की ही रहती है। वहाँ के मार्गों में सुरललनाओं के केशपाश से गिरे हुए सुगंधित मालाओं के फूलों की सुगंध लिये हुए हवा मृदु मंद गति से चला करती है। सोने के झरोखों से पांडुवर्ण, अगुरुगंध से युक्त धुआँ निकलकर मार्गों में छा जाता है। अप्सराएँ उन्हीं मार्गों से अभिसार-यात्रा किया करती हैं। वह पुरी मोती की झालरोंवाले चँदोवे, मणिमय और स्वर्णमय ध्वजदण्ड और विविध पताकाओं से सुशोभित तरह-तरह के महलों और विमानों से अलंकृत है। मोर, कबूतर और भौंरे वहाँ मनोहर शब्द करते हैं। विमानों में रहनेवाले देवतों की सुदर स्त्रियाँ मधुर शब्द से गाकर पुरी को मंगलमयी बनाती हैं। मृदंग, शंख, पटह,

दुंदुभी और तालल्ययुक्त वीणा, पखावज और बाँसुरी की ध्वनि से, गंधर्वों के गाने-बजाने और अप्सराओं के नाचने से वह पुरी मन को मोह लेती है। उसकी अपूर्व प्रभा के आगे साक्षात् प्रभा को भी लज्जित होना पड़ता है। उस पुरी में अधर्मी, दुष्ट, प्राणियों की हिंसा और उनसे द्रोह करनेवाले, शठ, अभिमानी लोभी लोग नहीं पहुँच सकते। इन दोषों से रहित लोग ही वहाँ जाते हैं।

दैत्यसेना के स्वामी राजा बलि ने देवतों की राजधानी अमरावती को चारों ओर से घेर लिया। अमरावती के फाटक पर खड़े होकर उन्होंने शुक्राचार्य का दिया हुआ वह गंभीर शब्द करनेवाला शंख बजाया। उस शब्द को सुनकर देवतों की स्त्रियाँ एकाएक डर गईं। महाराज, राजा बलि की इस भारी तैयारी को देखकर देवतों सहित इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति के पास जाकर कहा—भगवन्, हमारा पहले का वैरी बलि अबकी बड़ी भारी तैयारी करके आया है। जान पड़ता है, इस बार हम इसके प्रचंड तेज को नहीं सह सकेंगे—इसका सामना नहीं कर सकेंगे। गुरुवर, इसका तेज इस तरह इतना कैसे बढ़ गया है? मैं समझता हूँ, इस समय कोई भी इस दैत्य का सामना नहीं कर सकता। यह दैत्य प्रलयकाल के अग्नि के समान प्रचंड और असह्य हो रहा है। मानों मुख से इस विश्व को पी जायगा, जीभ से दसों दिशाओं को चाट जायगा, नेत्रों से त्रिलोकी को भस्म कर देगा। कृपा कर बतलाइए, किस कारण से मेरा शत्रु ऐसा दुर्द्धर्ष हो उठा है, किस प्रकार इसके इंद्रियबल, देहबल, पराक्रम, उत्साह और उद्यम की ऐसी बढ़ती हुई है?

बृहस्पति ने कहा—हे इन्द्र, तुम्हारे शत्रु का प्रताप जिस कारण से बढ़ा है, उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगुवंश के शुक्र आदि मुनियों की कृपा और स्नेह से इसका तेज इतना बढ़ गया है। भगवान विष्णु के सिवा तुम अथवा तुम्हारे समान प्रभावशाली और कोई इस समय महाबली बलि को परास्त नहीं कर सकता। ब्रह्मतेज से इसके बल की वृद्धि हुई है, अतएव इसे कोई भी नहीं जीत सकता। लोग जैसे कराल काल के सामने नहीं ठहर सकते, वैसे ही बलि के आगे ठहरना भी संभव नहीं। इस समय युक्ति यही है कि तुम सब अपने निवासस्थान स्वर्ग को छोड़कर अलक्ष्यभाव से छिपकर रहो और शत्रुपक्ष की अवनति का समय आने की प्रतीक्षा करो। इस समय इसका पराक्रम वृद्धि पर है और ब्राह्मणों की कृपा से और भी बढ़ेगा। लेकिन जिनकी कृपा से और अनुकूल होने से इसकी उन्नति हुई है, अन्त में उन्हीं ब्राह्मणों का कहा न मानने से इसका वंश सहित विनाश अर्थात् राज्य का नाश होगा।

बहुदर्शी गुरु ने काम बनाने की अच्छी सलाह से इस प्रकार इन्द्र का कर्त्तव्य निश्चित् कर दिया। तब कामरूपी देवता उनका कहना मानकर स्वर्ग को छोड़कर अदृश्य हो गये। जब देवता सहित इन्द्रदेव पुरी छोड़कर चले गये, तब राजा बलि ने देवतों से शून्य अमरावती पुरी पर अधिकार कर लिया और त्रिभुवन को अपने वश में करके उसका शासन करने लगे। शिष्यवत्सल भृगुओं ने विश्वविजयी वशंवद राजा बलि से एक सौ अश्वमेध यज्ञ कराये। महाउदार बलि सौ यज्ञों के प्रभाव से दसों दिशाओं में कीर्त्ति फैलाकर नक्षत्रपति चंद्रमा के समान शोभा को प्राप्त हुए। वह अपने को कृतकृत्य मानकर बाहुबल से संचित और ब्राह्मणों की कृपा से प्राप्त राज्य-ऐश्वर्य को भोगने लगे।

# सोलहवाँ अध्याय

## पयोव्रत का उपदेश

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, जब देवता इस तरह छिपकर इधर-उधर रहने लगे और स्वर्ग का राज्य दैत्यों ने छीन लिया, तब देवी अदिति अनाथा की तरह विलाप करने लगीं और दुःखित हुईं। इसी अवसर में उनके पति प्रजापति कश्यप बहुत दिन के बाद समाधि छोड़कर उत्सव और आनन्द से शून्य अपने आश्रम (भवन) में अदिति के पास आये। उनकी पत्नी अदिति ने अच्छी तरह उनका सम्मान और विधिपूर्वक पूजन किया। कश्यप ऋषि ने आसन पर बैठकर अदिति को उदासीन और उनका मुख मलिन देखकर कहा—भद्रे, इस लोक में धर्म, ब्राह्मण अथवा मृत्यु के अधीन मनुष्यों के सम्बन्ध में कोई अशुभ घटना तो नहीं हुई? हे सती गृहिणी, गृहस्थ लोग योगी न होकर भी जिस गृहस्थाश्रम में रहकर अपने धर्म के आचरण द्वारा योग के फल मुक्ति को पाते हैं, उस गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ और काम का कुछ अमंगल तो नहीं हुआ? या तुम कुटुंब के कामों में लगी रहीं, और किसी दिन कोई अतिथि-अभ्यागत आकर बिना पूजा पाये विमुख तो नहीं लौट गया? जिन घरों में जल से भी अतिथि-सत्कार नहीं किया जाता, वे वैसे ही लौट जाते हैं, उन घरों को निश्चय ही सियार के बिल की तरह अमंगल की खान और निष्फल कहना चाहिए। हे भद्रे, मैं प्रवास में था, इसीलिए तुम घबराती रही होंगी; इसी कारण तुम किसी दिन अग्निहोत्र करना तो नहीं भूल गईं? गृहस्थ लोग अग्निहोत्र करके सब कामना पूरी करनेवाले लोकों को जाते हैं। ब्राह्मण और अग्नि, ये दोनों सर्वव्यापक विष्णु भगवान् के मुख हैं। हे उदार मनवाली प्रिये, तुम्हारे पुत्र देवता तो कुशल से हैं? लक्षणों से तो तुम दुःखी जान पड़ती हो।

अदिति ने कहा—ब्रह्मन्, गो, ब्राह्मण, धर्म और सब लोकों का कल्याण है। मेरा यह घर भी धर्म, अर्थ और काम को भली भाँति पूरा करता है। मैं आपका ध्यान किया करती हूँ। उसी से अग्नि, अतिथि, भृत्य, भिक्षुक और अन्न की चाह रखनेवाले सब तृप्त और सन्तुष्ट हो जाते हैं। आप प्रजापति स्वयं मुझको उपदेश देकर धर्म की प्रेरणा जब करते हैं, तब भला मेरी कौन अभिलाषा अपूर्ण रहेगी? हे मरीचिनन्दन, सात्विक, राजस और तामस प्रकृति की सब प्रजा आपके ही मन और शरीर से उत्पन्न हुई है। अतएव आपकी दृष्टि में देवता आदि सभी सन्तान समान हैं। तथापि आपके समान समर्थ लोग भक्तों पर अधिक स्नेह रखते हैं। हे नाथ, इसलिए मैं आपको परम भक्ति से भजती हूँ। कृपा करके जिस प्रकार मेरा कल्याण हो, वही उपाय कीजिए। हे सुव्रत, मेरी सौत के पुत्र दैत्यों ने मेरे पुत्रों का राज्य और रहने का स्थान छीन लिया है। आप मेरी और मेरे पुत्रों की रक्षा कीजिए। शत्रुओं ने मुझे पुत्रों सहित निकाल दिया है। मैं दुःख के सागर में डूब रही हूँ। प्रबल दैत्यों ने मेरा ऐश्वर्य, श्री, यश और अधिकार हर लिया है। जिससे मेरे पुत्र फिर ऐश्वर्य आदि पा सकें, वही कल्याणकारी उपाय आप अपनी बुद्धि से सोचिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, अदिति के यों प्रार्थना करने पर प्रजापति कश्यप ने कुछ विस्मित होकर कहा—विष्णु भगवान् की माया की शक्ति कैसी असीम है! यह जगत् स्नेह के बंधन में जकड़ा हुआ है! आत्मा से भिन्न यह भौतिक स्थूल शरीर कहाँ, और प्रकृति से भिन्न यह आत्मा कहाँ! हे भद्रे, कौन किसका पति और कौन किसका पुत्र है? ये सब संबंध केवल मोह के ही कारण हैं। तुम आदिपुरुष भगवान् की उपासना करो। वह अन्तर्यामी और जगत् के स्वामी हैं। वही श्रीहरि तुम्हारा कल्याण करेंगे।

वह दीन जनों पर कृपा करते हैं। भगवान् की सेवा कभी निष्फल नहीं होती। उसके सिवा किसी कर्म में कोई फल नहीं है।

अदिति ने पूछा—ब्रह्मन्, मैं किस तरह उन जगद्गुरु की उपासना करूँ? जिससे वह मेरी कामना पूरी करें, वह उपाय बताइए। मैं अपने पुत्रों सहित घोर कष्ट में पड़ी हुई हूँ। जिस विधि से उपासना करने से वह सत्य प्रतिज्ञावाले भगवान् मुझ पर शीघ्र प्रसन्न हों, सो बताइए।

कश्यप ने कहा—हे देवी, जब मैंने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की थी, तब मैंने यही प्रश्न ब्रह्माजी से किया था। हरि को प्रसन्न करनेवाला जो व्रत ब्रह्माजी ने मुझे बतलाया था, वही मैं इस समय तुमसे कहता हूँ। फागुन सुदी के पहले बारह दिनों में पयोव्रत अर्थात् केवल दूध पीने का नियम धारण करके भक्तिपूर्वक कमलनयन भगवान् की पूजा करे। अगर मिल सके तो चतुर्दशीयुक्त अमावस के दिन वराह की खोदी हुई मिट्टी शरीर में लगाकर नदी के जल में स्नान करे और बीच धारा में खड़े होकर इस मंत्र का उच्चारण करे—"हे देवी, रहने के स्थान की इच्छा से आदिवराहजी तुमको रसातल से जल के ऊपर लाये हैं। तुमको प्रणाम है। मेरे सब पातकों को दूर करो।"

व्रत करनेवाले को चाहिए कि वह नित्य-नैमित्तिक सब कर्म करके एकाग्र चित्त से प्रतिमा में, हवन की वेदी में, सूर्य में, जल में, अग्नि में या गुरु में देवदेव हरि की पूजा करे। पूजा के समय निम्नलिखित नव मंत्रों से भगवान् का आवाहन आदि करे। वे नव मंत्र ये हैं—(१) भगवन्, आप आराध्यदेव, महापुरुष और साक्षी हैं; आप सब प्राणियों के निवासस्थान हैं। आप सबके अन्तःकरण में प्रकाशमान हैं। आपको प्रणाम है। (२) आप अव्यक्त सूक्ष्म, चौबीसों तत्त्वों के प्रधान पुरुष और सांख्य-योग के प्रचारक हैं। आपको प्रणाम है। (३) आप यज्ञ के फलदाता हैं। आप यज्ञरूप हैं। आपके दो मस्तक, तीन चरण, चार सींग और सात हाथ हैं। त्रयी विद्या आपका आत्मा है। आपको प्रणाम है। (४) आप रुद्र और शिव अर्थात् मंगलस्वरूप हैं। आप शक्तिशाली और सब विद्याओं तथा भूतगण के अधिपति हैं। आपको प्रणाम है। (५) आप सूत्ररूप प्राण, जगत् के आत्मा और योग के कारण हैं। योग का ऐश्वर्य आपका शरीर है। आपको प्रणाम है। (६) आप आदिदेव, सबके साक्षीस्वरूप, ऋषिवेषधारी नर और नारायण हैं। आपको नमस्कार है। (७) आप केशव हैं। आपके शरीर का रंग पन्ने के समान श्याम है। आप लक्ष्मी का आश्रय हैं। आपका वस्त्र मनोहर पीले रंग का है। आपको प्रणाम है। (८) हे वरेण्य, वरदानियों में श्रेष्ठ, आप पूजनीय हैं। पंडित लोग मंगल-लाभ के लिए आपके चरणों की उपासना करते हैं। (९) अहो, सब देवता और लक्ष्मीदेवी उन्हीं चरणकमलों की सुगन्ध के लोभ से आपको सन्तुष्ट करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। हे वासुदेव, आप हम पर प्रसन्न हों। हे अदिति, इन नव मंत्रों से आवाहनपूर्वक श्रद्धा के साथ पाद्य-अर्घ्य आदि से भगवान की पूजा करनी चाहिए। चंदन-माला आदि से पूजा करके भगवान् को दूध से नहलावे। फिर द्वादशाक्षर मंत्र पढ़कर वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण आदि से पूजा करे। अगर सामर्थ्य हो तो दूध और चावल की खीर का नैवेद्य अर्पण करे। उसमें घी और मिठाई मिलाकर हरि को भोग लगाने के उपरान्त द्वादशाक्षर मंत्र से अग्नि में उसी खीर की आहुतियाँ डाले। पूजा के बाद आचमन कराकर पान का बीड़ा अर्पण करे। एक सौ आठ बार द्वादशाक्षर मंत्र का जप करके भगवान् की स्तुति, प्रदक्षिणा और प्रणाम करे। अन्त में निर्माल्य को सिर से लगाकर विसर्जन करे और दो से अधिक ब्राह्मणों को खीर खिलावे। फिर उनकी आज्ञा लेकर बन्धु-बान्धवों के साथ बाक़ी बचा हुआ अन्न आप भोजन करे। फिर ब्रह्मचर्य के साथ रात बितावे। सबेरा होने पर यथोक्त विधि के अनुसार स्नान करके पवित्र और एकाग्र चित्त से स्नान कराकर भगवान् की पूजा करे। जब तक व्रत पूर्ण न हो, तब तक

दूध से हरि को स्नान कराकर आप भी दूध का ही आहार करके विष्णु की पूजा में श्रद्धा के साथ तत्पर रहकर इस महाव्रत का अनुष्ठान करे। हे देवी, पहले जैसा कह आये हैं उसी रीति से नियमानुसार अग्नि में होम करे, ब्राह्मणों को भोजन करावे। इस तरह भगवान् की आराधना, होम और पूजन करके, ब्राह्मणों को भोजन कराकर बारह दिन अर्थात् परेवा से द्वादशी तक यह पयोव्रत करना चाहिए। इन दिनों में ब्रह्मचर्य से रहे; पलँग छोड़कर पृथ्वी पर शयन करे और त्रिकाल स्नान करे। असत् वार्त्तालाप और अच्छे या बुरे सब तरह के भोग इस व्रत में वर्जित हैं। हिंसा छोड़कर, वासुदेवपरायण होकर तेरस के दिन पंचामृत से विधि के ज्ञाता ब्राह्मणों के द्वारा शास्त्रोक्त विधि से विष्णु भगवान् को स्नान कराना चाहिए। वित्त के अनुसार पूजा करनी चाहिए। वित्तशाठ्य करना सर्वथा वर्जित है। दूध में खीर पकाकर विष्णु भगवान् को भोग लगावे और एकाग्र मन से पहले कहे गये नव मंत्रों से परमपुरुष की पूजा करे। भगवान् को प्रसन्न करनेवाले उत्तम पदार्थ भगवान् को भोग लगावे।

ज्ञानवान् आचार्य को और ऋत्विक् लोगों को वस्त्र, गऊ, बहुमूल्य अलंकार आदि देकर सन्तुष्ट करे। प्रिये, इनकी आराधना ही हरि की आराधना है। और भी जो ब्राह्मण आ जायँ, उनको भी यथाशक्ति उत्तम भोजन कराना चाहिए। गुरु और ऋत्विजों को यथायोग्य दक्षिणा दे। बाक़ी आये हुए चांडाल तक सब लोगों को अन्न आदि देकर सन्तुष्ट करे। दीन, अन्धे, ग़रीब आदि सबको विष्णु की प्रीति के लिए भोजन कराकर आप भी बन्धुओं के साथ भोजन करे। व्रतकाल में बारह दिन तक नित्य नृत्य, गीत, बाजे बजाना, स्तुति, स्वस्तिवाचन और हरिकथा-श्रवण आदि से भगवान् की आराधना करे। इसी का नाम पयोव्रत है। इससे परमपुरुष भगवान् की आराधना होती है। मैंने पितामह ब्रह्माजी के मुख से इसे सुना था। वही इस समय तुमको बता दिया। तुम इस व्रत को अच्छी तरह विधिपूर्वक करके भजने योग्य अविनाशी विष्णु भगवान् को एकाग्र चित्त और शुद्ध भाव से भजो। यह व्रत सब यज्ञों और व्रतों से श्रेष्ठ है। यह सब प्रकार की तपस्याओं का सारांश है। यह महादान है। इसके करने से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। हे भद्रे, जिससे हरि भगवान् प्रसन्न हों, वही सफल और सच्चा यम, नियम, दान, व्रत, यज्ञ और तपस्या है। इसलिए हे सती, तुम मन को वश करके श्रद्धा के साथ इस व्रत को करो। निश्चय ही इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् हरि शीघ्र ही तुमको अभीष्ट वर देंगे।

# सत्रहवाँ अध्याय

## वामन-अवतार की कथा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, अदिति देवी ने अपने पति कश्यप के यों कहने पर आलस्य छोड़कर बारह दिन पयोव्रत किया। वह अपनी बुद्धि को सारथी बनाकर, उसके द्वारा इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ों को वश में करके, एकाग्र मन से भगवान् का ध्यान करने लगीं। वह सर्वव्यापक भगवान् वासुदेव में एकाग्र बुद्धि के साथ मन लगाकर विधिपूर्वक नित्यप्रति पयोव्रत करने लगीं। राजन्, अदिति के इस तरह व्रत करने से प्रसन्न होकर पीतांबरधारी चतुर्भुज हरि भगवान् ने शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए मनोहर रूप से उनको दर्शन दिये। अपने सामने भगवान् को प्रकट देखकर अदिति देवी संभ्रम के साथ उठ खड़ी हुईं। प्रेमविह्वल होकर पृथ्वी में गिरकर उन्होंने भगवान् को साष्टांग प्रणाम किया। फिर उठकर हाथ जोड़ स्तुति

करने को खड़ी हुईं, लेकिन स्तुति करने की शक्ति उनमें नहीं रही। उनकी दोनों आँखों में आनन्द के आँसू भर आये, शरीर में रोमांच हो आया और भगवान् के दर्शन से उत्पन्न महाआनन्द के कारण शरीर काँपने लगा। हे कुरुश्रेष्ठ, अदिति इस तरह कुछ देर तक भगवान् को एकटक देखती रहीं, मानो नेत्रों से उनकी रूप-सुधा को पी लेंगी। फिर वह प्रेमपूर्ण गद्गद वाणी से धीरे-धीरे लक्ष्मीपति, विश्वपति, यज्ञपति भगवान् की यों स्तुति करने लगीं।



अदिति ने कहा—हे यज्ञेश्वर, यज्ञपुरुष आपके चरणों से संसारपावनी गंगा उत्पन्न हुई हैं और आपकी कीर्त्ति भी पतित-पातकी पुरुषों को पवित्र करती है। हे आदिपुरुष, आपका नाम सुनने से ही मनुष्यों का मंगल होता है। मेरा कल्याण कीजिए। भगवन्, आपको दीनबंधु कहते हैं। शरणागतों के पापों की राशि को नष्ट करने क लिए ही आपका आविर्भाव हुआ करता है। आप महान् हैं। यह विश्व आपका स्वरूप है। विश्व की सृष्टि, पालन और संहार आप ही करते हैं। आप अपनी इच्छा के अनुसार माया के गुणों को ग्रहण करते हैं, पर अपने रूप ( ज्ञान ) को नहीं छोड़ते। नित्य बढ़ रहे पूर्ण ज्ञान के द्वारा आप माया के अधकार को अपने से दूर हटाये रखते हैं। आपको प्रणाम है। हे अनन्त, आपके सन्तुष्ट होने पर ब्रह्मा की-सी लंबी आयु, कमनीय सुन्दर शरीर, अतुल ऐश्वर्य, स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल के ऐश्वर्य, योग की अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ और केवल ब्रह्मज्ञान आदि सब कामनाएँ पूरी हो सकती हैं। तब शत्रु-विजय आदि साधारण कामनाओं का पूरा होना कौन बडी बात है ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, अदिति के यों स्तुति करने पर कमलनयन अन्तर्यामी हरि ने कहा—हे देवनों की माता, मैं तुम्हारी चिरकाल की कामना को अच्छी तरह जानता हूँ। देवतों के शत्रु असुरों ने बलपूर्वक उनकी सौभाग्यलक्ष्मी को हरकर तुम्हारी सन्तानों को स्वर्गलोक से निकाल दिया है। तुम यही चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र युद्ध में उन दुर्द्धर्ष दैत्यों को हराकर विजय-लक्ष्मी प्राप्त करें और तुम उनके साथ निवास करो। तुम यही देखना चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र दैत्यों को मारें और उन दैत्यों की विधवाएँ दुःखी होकर विलाप करें। तुम्हारी इच्छा यही है कि तुम्हारे पुत्रों का अभ्युदय हो, वे दैत्यों से राज्यलक्ष्मी छीनकर स्वर्ग में विहार करें। लेकिन देवी, मेरी समझ में इस समय वे दैत्य किसी तरह किसी से परास्त नहीं हो सकते। कारण, समर्थ ब्राह्मण उनकी रक्षा और सहायता कर रहे हैं। इसलिए पराक्रम से जय और मंगल पाने की आशा व्यर्थ है। तो भी हे देवी, तुम्हारे इस व्रत से मैं संतुष्ट हुआ हूँ, इसलिए तुम्हारे कल्याण का कोई उपाय अवश्य निकालूँगा। मेरी पूजा कभी व्यर्थ नहीं होती। श्रद्धा के अनुसार उसका फल अवश्य होता है। तुमने पुत्रों की रक्षा के लिये पयोव्रत के द्वारा विधिपूर्वक मेरी पूजा की है—गुणगान के साथ स्तुति की है। इसलिए मैं कश्यपजी के तपोवीर्य से अपने अंश द्वारा तुम्हारा पुत्र होकर तुम्हारे पुत्रों की रक्षा और कल्याण करूँगा। हे भद्रे, तुम इस समय अपने पुण्यात्मा पति के पास जाकर उनको भजो। भजनकाल में यह भावना करना कि मैं इसी रूप से कश्यपजी में स्थित हूँ। इस वृत्तान्त को पूछने पर भी

किसी से न कहना। देवतों का रहस्य और सब बड़े काम जितना ही गुप्त रहते हैं, उतना ही उत्तम रूप से वे सिद्ध होते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, भगवान् यों कहकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये। देवी अदिति अपने गर्भ में प्रभु हरि के परम दुर्लभ जन्म के लाभ से परम कृतार्थ होकर दृढ़ भक्ति से पति की सेवा करने लगीं। जिनकी दृष्टि कभी व्यर्थ नहीं होती, ऐसे अदिति के पति कश्यप ऋषि ने समाधियोग से जान लिया कि उनमें हरि भगवान् के अंश ने प्रवेश किया है। जैसे सर्वत्र समान रूप से अवस्थित वायु लकड़ी की रगड़ से वन को जलानेवाले दावानल को उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रजापति कश्यप ने मन को स्थिर करके बहुत समय तक कठोर तप से जिस वीर्य को जमा किया था, उसे अदिति के गर्भ में स्थापित किया। सनातन भगवान् अदिति के गर्भ में आकर विराजमान हैं, यह जानकर हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी इस प्रकार गुप्त नामों से उनकी स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी ने कहा—हे उरुगाय, हे भगवन्, आपकी जय हो। आपको प्रणाम है। आप ब्रह्मण्यदेव हैं। आपको प्रणाम है। हे त्रियुग, आपको बारंबार नमस्कार है। पूर्वजन्म में इन अदिति का नाम पृश्नि था। आप उस जन्म में भी इनके गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सब वेद आपके गर्भ में रहते हैं, इसी से आपका नाम वेदगर्भ है। हे विधाता, तीनों लोक आपकी नाभि हैं; आप त्रिलोकी के ऊपर हैं। आपका नाम शिपिविष्ट है, जिसका अर्थ यह है कि आप सब यज्ञपशुओं में अन्तर्यामी के रूप से प्रविष्ट हैं। आप यज्ञ-पुरुष विष्णु हैं। आपको प्रणाम है। आप इस त्रिभुवन के आदि, अन्त और मध्य हैं। पंडितजन आपको अनन्त शक्तिशाली पुरुष कहते हैं। जैसे घोर गंभीर लहर पानी में पड़े हुए तृण आदि को खींचती है, वैसे ही कालस्वरूप आप इस विश्व को प्रलयकाल में अपनी ओर, लीन करने के लिए, खींचते हैं। आपसे ही सब चराचर प्रजा और प्रजापति उत्पन्न होते हैं। हे देव, पानी में डूब रहे मनुष्य के लिए नाव के समान आप ही स्वर्ग से भ्रष्ट देवतों के लिए एकमात्र सहारा हैं।

# अठारहवाँ अध्याय

## बलि के यज्ञ में वामनजी का जाना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, ब्रह्माजी ने इस तरह भगवान् के प्रभाव और कर्मों का वर्णन और स्तुति की। तब जन्म और मृत्यु से रहित, चतुर्भुज शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, पीतांबर पहने, कमललोचन परमपुरुष नारायण ने अदिति के गर्भ से जन्म लिया। भगवान् का रंग श्याम और स्वच्छ था। मुखमंडल मकराकृति कुंडलों की कान्ति से शोभायमान था। वलय, अंगद, किरीट, करधनी, सुन्दर नूपुर आदि अलंकार श्रीअंगों में शोभायमान थे। हृदय में श्रीवत्स और कौस्तुभमणि की अपूर्व शोभा थी। कंठ में वनमाला पड़ी थी। उस पर मस्त भौंरों के झुंड गुंजार कर रहे थे। भगवान् के तेज से कश्यप के भवन का अंधकार दूर हो गया। भगवान् के प्रकट होने के समय सब दिशाएँ और सरोवर प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो गये। सारे जगत् को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। सब ऋतुओं ने अपने-अपने गुण प्रकट किये। स्वर्ग, अंतरिक्ष, पृथ्वी, देवता, गउएँ, ब्राह्मण और पर्वत आदि सभी में प्रसन्नता छा गई। भगवान् ने भादों के शुक्लपक्ष की द्वादशी को, श्रवण नक्षत्र के पहले चरण और अभिजित मुहूर्त्त में, जन्म ग्रहण किया। इस दिन चंद्रमा भी

श्रवण नक्षत्र में अवस्थित थे। अश्विनी आदि नक्षत्र और बृहस्पति तथा शुक्र आदि ग्रह भी अनुकूल और शुभ फलसूचक थे। पंडितजन कहते हैं कि द्वादशी के दिन ठीक दोपहर के समय हरि का जन्म हुआ। वह द्वादशी विजय-द्वादशी के नाम से प्रसिद्ध हुई। वामनदेव का जन्म होते ही शंख, दुंदुभी, भेरी, मृदंग, पणव, आनक और अन्यान्य तुरी आदि बाजों का तुमुल कोलाहल होने लगा। प्रसन्न होकर अप्सराएँ नाचने लगीं, गंधर्व गाने लगे और मुनिगण स्तुति करने लगे। मनुष्य, पितृगण, देवता, अग्नि, सिद्ध, किंपुरुष, विद्याधर, चारण, किन्नर, पिशाच, यक्ष, राक्षस, सुपर्ण, नाग और देवतों के अनुचर गाते और नाचते हुए आकाश से दिव्य फूलों की वर्षा करने लगे। अदितिदेवी हरि को योगमाया द्वारा शरीर धारण कर अपने गर्भ से जन्म लेते देखकर विस्मित और सन्तुष्ट हुई। कश्यप प्रजापति ने भी विस्मित होकर भगवान् का जयजयकार किया।

अव्यक्त ज्ञानरूप भगवान् की चेष्टाएँ अत्यन्त अद्भुत हैं। उन्होंने जिस प्रभा, आयुध और आभूषणों के द्वारा स्पष्ट प्रकाशमान शरीर को धारण कर जन्म लिया था, उसी देह से देखते ही देखते, नटों की तरह, वह वामनरूप ब्राह्मणकुमार बन गये। महर्षि लोग वह ब्राह्मणकुमार की वामनमूर्त्ति देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। वे कश्यप के साथ वेदमंत्र पढ़कर वामनजी के जातकर्म आदि संस्कार करने लगे। वामनजी का जब यज्ञोपवीत होने लगा, तब सूर्य भगवान् ने उन्हें गायत्री का उपदेश किया। बृहस्पतिजी ने उनको जनेऊ और कश्यप ने मेखला पहनाई। वामनरूप भगवान् को पृथ्वी ने कृष्णाजिन, वनस्पति सोमदेव ने दण्ड, माता अदिति ने कौपीन, स्वर्ग ने छत्र, ब्रह्मा ने कमंडलु, सप्तर्षियों ने कुश की पवित्री और सरस्वती ने रुद्राक्ष की माला दी। इस तरह जनेऊ पड़ जाने पर कुबेरजी ने उनको भिक्षा माँगने के लिए पात्र दिया। साक्षात् भगवती अंबिका ने उनको भिक्षा दी। वह सर्वश्रेष्ठ वटु वामनजी इस तरह ब्रह्मचर्य की सब सामग्री पाकर अपने ब्रह्मतेज से उस ब्रह्मर्षियों की सभा में सबसे अधिक शोभायमान हुए। उनके तेज के आगे सबके तेज फीके पड़ गये। इसके बाद वामनजी ने पहले से वेदी में स्थापित यज्ञोपवीतकर्म-संबंधी प्रज्ज्वलित अग्नि के चारों ओर संमार्जन, कुशकंडिका और देवपूजन करके समिधाओं से हवन किया।

इसी समय वामनजी ने सुना कि भृगुवंश के ब्राह्मणगण महाबली राजा बलि से अश्वमेध यज्ञ करा रहे हैं। यह सुनते ही वामनजी उस ओर चल दिये। सारे जगत् का बल और शक्ति उन्हीं में स्थित होने के कारण उनके चलते समय हर एक पग पर पृथ्वीतल काँप उठता था। राजन्, नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकच्छ नाम के क्षेत्र में राजा बलि को उनके पुरोहित अश्वमेध नाम का सर्वश्रेष्ठ महायज्ञ करा रहे थे। भगवान् वामन उसी जगह पहुँचे। वामनजी को देखकर ब्राह्मणों को जान पड़ा, जैसे पास ही सूर्यदेव का उदय हुआ है। सब पुरोहित, यजमान राजा बलि और सदस्य आदि का तेज वामनजी के तेज से फीका पड़ गया। वे सब सोचने लगे, क्या सूर्यनारायण यज्ञ देखने के लिए आ रहे हैं? या अग्निदेव आ रहे हैं? अथवा साक्षात् ब्रह्मा के पुत्र महर्षि सनत्कुमार आ रहे हैं? शिष्यों सहित भृगुवंशी ऋषिगण वामनजी के संबंध में इस तरह तर्क-वितर्क कर ही रहे थे, इतने में दंड, छत्र और पानी से भरा कमंडलु हाथ में लिये भगवान् वामन ने यज्ञशाला में प्रवेश किया।

मायावामनरूप हरि की कमर में मौंजी मेखला पड़ी थी। कृष्णाजिन का उत्तरीय जनेऊ की तरह बाएँ कंधे पर पड़ा था। सिर पर जटाजूट की अपूर्व शोभा थी। शरीर बहुत ही छोटा था। उनको देखते ही उनके तेज से परास्त भृगुओं ने और उनके साथ अग्नि, भृगुओं के शिष्य तथा राजा बलि ने संभ्रम के साथ उठकर उनकी अभ्यर्थना की। यजमान राजा बलि ने दर्शनीय मनोहर रूप के अनुरूप अनुपम अंगों से सुशोभित वामनजी के दर्शन से अत्यन्त आनंदित होकर उन्हें बैठने के लिए आसन दिया, फिर स्वागत-प्रश्न

और प्रणाम करके उनके पैर धोये। इस प्रकार उन्होंने भक्ति के साथ वामनजी की पूजा की। धर्म के जाननेवाले बलि ने अपने कुल भर के पापों को नष्ट करनेवाला भगवान् का पादोदक अपने सिर पर धारण किया। राजन, इस हरि के चरणोदक की महिमा साधारण नहीं है। देवदेव महादेव बड़ी भक्ति और श्रद्धा से गंगारूप विष्णु के पादोदक को सिर पर धारण किये हुए हैं। यह चरणोदक सभी मंगलों की खान है।

राजा बलि ने कहा—ब्रह्मन्, आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपको यहाँ तक आने में कोई कष्ट तो नहीं हुआ? आज्ञा कीजिए, हम आपकी कौन-सी कामना पूर्ण करें? हे प्रभो, आप मुझे सब ब्रह्मर्षियों के तप की राशि जान पड़ते है, जो यहाँ मूर्त्तिमान् होकर पधारे हैं। आपके यहाँ पधारने से आज मेरा कुल पवित्र हो गया; आज यह यज्ञ भली भाँति सुसम्पन्न हो गया। हे ब्राह्मणकुमार, आज यह मेरा अग्नि में विधिपूर्वक हवन करना सफल हो गया। आपके पादोदक से मेरे सब पाप नष्ट हो गये। आपके इन छोटे-छोटे चरणों से यह भूमि भी पवित्र हो गई। हे वटु ब्राह्मण, आप अभिलाषा के अनुसार मुझसे वर माँगिए। मैं अनुमान से कहता हूँ, आप कुछ माँगने ही के लिए आये हैं। भूमि, सुवर्ण, रहने के लिए उत्तम स्थान, मिष्टान्न, गुण और रूप से युक्त कन्या, वैभव से संपन्न गाँव, घोड़े, हाथी या रथ, जो कुछ आप लेना चाहते हों, कहिए। मैं आपको वही दूँगा। आप मुझसे मनचाही चीज माँग लीजिए।

# उन्नीसवाँ अध्याय

## वामनजी का बलि से तीन पग पृथ्वी माँगना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, राजा बलि के ये धर्मसंगत सत्य वाक्य सुनकर भगवान् प्रसन्न हुए और उनकी सराहना करते हुए यों कहने लगे। वामनजी ने कहा—राजन, तुम्हारे कुल के वृद्ध शान्तप्रकृति पितामह प्रह्लादजी और ये भार्गव ब्राह्मण पारलौकिक धर्म के निदर्शन या आदर्श हैं। इसलिए तुमने जो ये यथार्थ वचन कहे, सो धर्म के अनुकूल, यश के बढ़ानेवाले और तुम्हारे कुल के योग्य ही हैं। इस तुम्हारे कुल में कोई ऐसा सत्वहीन या कृपण नहीं पैदा हुआ, जिसने ब्राह्मण को दान देना स्वीकार न किया हो, या जो पहले देने को कहकर पीछे मुकर गया हो। इस कुल में जो पैदा हुए, वे दान के समय या युद्ध के समय अथवा धन आदि की प्रार्थना करने पर कभी उसे देने से विमुख नहीं हुए। मतलब यह कि तुम्हारे वंश में सभी उदार हुए है। देखो, तुम्हारे दादा प्रह्लाद संसार मे अपनी उज्ज्वल कीर्त्ति फैलाकर, आकाश में चंद्रमा के समान, सुशोभित हैं। तुम्हारे वंश में हिरण्याक्ष ने जन्म लिया था। वह अकेले ही गदा हाथ में लिये सारे ब्रह्माण्ड में दिग्विजय के लिए घूम आये; पर उन्हें कोई भी ऐसा वीर नहीं मिला, जो उनसे भिड़ सकता। विष्णु जब पृथ्वी को पानी की तह से ऊपर लिये आ रहे थे, उसी समय हिरण्याक्ष उनके पास गये। विष्णु ने बड़ी मुश्किल से उनको जीत पाया, पर उनके महापराक्रम से विष्णु के छक्के छूट गये थे। नारायण अपने को विजयी मानकर प्रसन्न नहीं हो सके। हिरण्याक्ष के भाई महाबली हिरण्यकशिपु को जब अपने सगे भाई के मारे जाने का हाल मालूम हुआ तो वह बहुत ही क्रुद्ध होकर अपने भाई का वध करनेवाले विष्णु को मारने के इरादे से वैकुण्ठलोक को गये। हाथ में त्रिशूल लिये आ रहे कराल काल के समान दैत्यराज को देखकर महामायावी और समय के अनुसार काम करनेवाले विष्णु ने सोचा, "मैं जहाँ जाऊँगा, वहीं प्राणियों की मौत की तरह यह भयानक असुर मेरा पीछा करेगा;

इसलिए मैं इसके हृदय में अगर घुस जाऊँ तो यह मुझे बाहर न देख पाकर अवश्य मुझे मारने का विचार छोड़ देगा।" यह निश्चय करके विष्णु ने सूक्ष्म रूप रखकर दौड़ते आ रहे अपने शत्रु हिरण्यकशिपु के हृदय में नाक के छेद से प्रवेश किया। भय के मारे विष्णु बहुत ही घबरा रहे थे, इसलिए इस तरह छिपकर उन्होंने अपने प्राण बचाये। उधर हिरण्यकशिपु ने जब विष्णु को न देख पाया तो उनके निवासभवन के चारों ओर चक्कर लगाकर उन्होंने घोर सिंहनाद किया। क्रोध से भरे हुए हिरण्यकशिपु ने पृथ्वी, स्वर्ग, दसों दिशा, आकाश और सातों समुद्रों में जाकर विष्णु की खोज की; मगर कहीं भी नारायण उन्हें नहीं मिले। चतुर विष्णु तो उनके हृदय में ही घुसे हुए थे। तब दैत्यराज ने कहा—मैंने सारे संसार में खोज डाली, कहीं शत्रु का पता नहीं है। जान पड़ता है, मेरे भाई की हत्या करनेवाला नारायण निश्चय ही उस लोक को चला गया, जहाँ से कोई नहीं लौटता। हे बलि, इस लोक में देहधारियों की शत्रुता ऐसी ही प्रबल रहती है; क्योंकि क्रोध की उत्पत्ति अज्ञान से होती है और वह अहंकार के कारण बढ़ता है। तुम्हारे पिता विरोचन से, जो प्रह्लादजी के पुत्र थे, बढ़कर ब्राह्मणों का भक्त और कोई न होगा। उन्होंने यह जानकर भी कि उनके वैरी देवता ही ब्राह्मण का वेष रखकर आये हैं, उन्हीं वैरियों को, उनके माँगने पर, अपनी परमायु दे डाली। इससे अधिक ब्रह्मभक्ति और उदारता क्या होगी? गृहस्थ ब्राह्मण, प्राचीन वीर क्षत्रिय और अन्य यशस्वी लोग जिन धर्मों का आचरण कर गये हैं, उन्हीं धर्मों का आचरण तुम भी कर रहे हो। इसलिए हे दैत्यराज, मैं तुमसे अपने तलवों की नाप से तीन पग पृथ्वी माँगता हूँ। यद्यपि तुम वर देनेवालों में श्रेष्ठ हो और सब कुछ दान कर सकते हो, तथापि मैं तुमसे यह थोड़ी-सी पृथ्वी ही चाहता हूँ। तुम उदार, दानी और जगत के स्वामी हो, यह जानकर भी मैं तुमसे और कुछ माँगना नहीं चाहता। कारण इसका यही है कि ज्ञानी पुरुष को जरूरत भर की ही याचना करनी चाहिए और दान लेना चाहिए। ऐसा करने से वह माँगने के दोष का भागी नहीं होता।

वामनजी की बातें सुनकर राजा बलि ने कहा—हे ब्रह्मचारी, आपकी बातें तो बूढ़ों की-सी हैं, लेकिन बच्चे होने के कारण आपकी बुद्धि अभी कच्ची ही है। आपको स्वार्थ का बोध अच्छी तरह नहीं है। मैं तीनों लोकों का स्वामी हूँ। मैं चाहूँ तो पृथ्वी का एक द्वीप दान कर सकता हूँ। लेकिन आप ऐसे अबोध हैं कि अपनी बातों से मुझे प्रसन्न करके तीन पग (वह भी अपने छोटे-छोटे पैरों की नाप से) साधारण पृथ्वी मुझसे माँगते हैं! कोई भी मनुष्य मेरे पास पहुँचकर, मुझको प्रसन्नकर फिर दूसरे के आगे हाथ नहीं फैलाता; मैं उसकी सभी कामनाएँ पूरी कर देता हूँ। इसलिए हे वटु वामन, तुम मुझसे इतनी पृथ्वी माँग लो, जिससे तुम्हारी जीविका सुखपूर्वक चल सके।

श्रीवामनदेव ने कहा—राजन्, त्रिभुवन में जितनी चाह की चीजें हैं, वे सब भी उस मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाया है। जो आदमी तीन पग पृथ्वी से सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसकी कामना या लालसा नव खंडों से युक्त एक द्वीप के मिलने से भी पूरी नहीं हो सकती। कारण, वह फिर पृथ्वी के सातों द्वीप पाने की कामना करेगा। मैंने ऐसा भी सुना है कि सातों द्वीप पृथ्वी के स्वामी पृथु, गद आदि राजा संपूर्ण धर्म, अर्थ, काम भोगकर भी विषय-भोग की तृष्णा का अंत नहीं पा सके। सन्तोषी आदमी आपसे मिली हुई वस्तु को भोगकर ही सुख से रहता है; लेकिन जो जितेन्द्रिय नहीं है, लायँ-लाय किया करता है, वह तीनों लोक के ऐश्वर्य-भोग को पाकर भी सुखी नहीं होता। पंडितों का कहना है कि अर्थ की कामना में संतोष न होना ही प्राणियों के संसार-बन्धन का कारण है। जो आपसे मिली हुई वस्तु में ही सन्तुष्ट रहता है, वह मुक्त हो जाता है। जो बिना यत्न किये प्राप्त हो, उसी [illegible] बढ़ता है। असन्तोषी ब्राह्मण का तेज पानी में पड़ी हुई आग की

तरह जल्दी ही बुझ जाता है। हे दानी पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज, इस कारण मैं तुमसे केवल तीन पग पृथ्वी ही माँगता हूँ। इतनी पृथ्वी पाने से ही मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा। प्रयोजन भर का धन ही सुखदायक होता है। अधिक धन होने से अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन, वामनरूप नारायण के ये वचन सुनकर राजा बलि हँस दिये। फिर उन्होंने कहा—अच्छी बात है; आपकी जो इच्छा हो, वही लीजिए। महात्मा बलि ने यों कहकर वामनजी को पृथ्वीदान करने के लिए हाथ में जल का पात्र लिया। तब सब रहस्य जाननेवाले दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य विष्णु भगवान का मतलब ताड़ गये। उन्होंने विष्णु को पृथ्वी देने के लिए तैयार अपने शिष्य बलि से यों कहा—राजन, इनको कोई साधारण ब्राह्मण का पुत्र न समझो। यह साक्षात् अविनाशी नारायण हैं। देवतों का काम बनाने के लिए कश्यप और अदिति के घर में इन्होंने जन्म लिया है। तुम अपने ऊपर आनेवाली भारी विपत्ति को नहीं जानते, इसी से तुमने इनको पृथ्वीदान करना स्वीकार कर लिया है। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि दैत्यों के लिए बड़ी दारुण विपत्ति उपस्थित हुई है। मैं तुम्हारे इस दान को अच्छा नहीं समझता। तुमने यह क्या कर डाला! यह माया से वामन बने हुए विष्णु भगवान् तुम्हारा स्थान, ऐश्वर्य, श्री, यश, तेज, विद्या और सर्वस्व छीनकर इन्द्र को दे देंगे। सारा विश्व इनका विराट् शरीर है। यह तीन पग में तीनों लोकों को नाप लेगे। मूर्ख, अपना सर्वस्व तो विष्णु को दे दोगे, फिर तुम्हारे पास निर्वाह के लिए क्या रह जायगा? यह तुम्हारी मूर्खता नहीं तो और क्या है? इन वामनरूपी विष्णु के एक चरण में पृथ्वी, दूसरे मे स्वर्ग और विराट् शरीर मे आकाश आ जायगा। अब तुम्हीं सोचो, तीसरा चरण कहाँ जायगा? तुमने देने को कहकर 'दान' करना तो अंगीकार कर लिया है; लेकिन उस समय तो देने के लिए तुम्हारे पास और कुछ भी नहीं रह जायगा। तब स्वीकृत वस्तु को देने में असमर्थ होने के कारण तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सकोगे। प्रतिज्ञाभंग होने पर निश्चय ही तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा। जिस पुरुष के पास निर्वाह के लिए कोई वृत्ति है, वही दान, यज्ञ, तपस्या आदि सब सत्कर्म कर सकता है। जिस दान से धन कमाने का साधन न रहे, जीविका का नाश हो जाय, उस दान की पंडित लोग सराहना नहीं करते। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी संपत्ति के पाँच हिस्से करके उनको धर्म, यश, धनोपार्जन, कामभोग और स्वजनों के लिए खर्च करे। ऐसा करने से ही इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। हे असुरेश्वर, इस बारे में बह्वृच श्रुति में जो व्यवस्था दी गई है, वह मैं तुमको सुनाता हूँ। 'हाँ देंगे' इस स्वीकार-वाक्य को श्रुति में सत्य कहा है। उसके उपरान्त 'नहीं, नहीं देंगे' इस अस्वीकार-वाक्य को मिथ्या कहा है। सत्य ही देवरूप वृक्ष के फल और फूल हैं; क्योंकि यह श्रुति का वाक्य है। तब देखो, वृक्ष के न रहने से फल-फूल अवश्य ही नहीं रहेंगे। इसलिए काया को रखकर धर्म करना चाहिए। देखो, झूठ के बिना देह की रक्षा नहीं हो सकती; क्योंकि मिथ्या ही देहरूप वृक्ष की जड़ है। जैसे जड़ के उखड़ जाने से पेड़ गिर पड़ता और सूख जाता है, वैसे ही जो आदमी मिथ्या को एकदम छोड़ देता है, उसका शरीर शीघ्र ही जीर्णशीर्ण होकर निश्चय ही नष्ट हो जाता है। [ सब समय सच बोलने से निर्वाह नहीं हो सकता, यह बात स्पष्ट करने के लिए आगे सत्य के दोष और झूठ के गुण कहते हैं। ] जिस वस्तु के लिए ॐ अर्थात 'हाँ देंगे' यह कहा जाय, उस पर फिर अपना अधिकार नहीं रह जाता*। इसलिए 'हाँ देंगे' यह शब्द अपूर्ण अर्थात पूर्ण स्वीकार का सूचक नहीं माना गया है। यह दूरार्थवाची है; क्योंकि सारी संपत्ति दान करने पर भी याचक की अभिलाषा पूरी नहीं की जा सकती। माँगनेवाला जो कुछ माँगे, वह सब देना जो कोई स्वीकार करता है,

* श्रुति कहती है—"परास्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोमिति।"

वह स्वयं नहीं भोग करने पाता; इसलिए 'नहीं देंगे', यही वाक्य पूर्ण है * ; क्योंकि वह अन्य के विषय को अपनी ओर खींचता है। लेकिन "नहीं है; नहीं देंगे" ऐसा मिथ्या वाक्य सदा न कहना चाहिए। कारण, जो सदा यही कहते हैं, उनकी निन्दा होती है और वे जीवन रहते भी मुर्दे के समान होते हैं। स्त्री को प्रोत्साहन के द्वारा वश करते समय, हँसी-दिल्लगी में, ब्याह के समय, अपनी जीविका बचाने के लिए, प्राण-संकट के समय, गो-ब्राह्मण की रक्षा या भलाई के लिए, सत्य कहने से किसी के प्राण जाते हों तो उसकी रक्षा के लिए झूठ बोलने में कोई दोष नहीं है †। इन मौक़ों के सिवा झूठ बोलने में दोष है। इसलिए हे असुराधिपति, अपनी वृत्ति बचाने के लिए तुम स्वीकृत दान के लिए 'नहीं' कर सकते हो।

# बीसवाँ अध्याय

## वामन का विराट्रूप में प्रकट होना

शुकदेवजी कहते हैं— महाराज, गृहपति राजा बलि ने कुलगुरु शुक्राचार्य के वचन सुनकर क्षण भर चुप रहकर उन पर विचार किया। फिर वह अपने गुरु से बोले—गुरुवर, आपका यह कहना सच है कि जिससे कभी अर्थ, काम, यश और वृत्ति में बाधा न पड़े, वही गृहस्थों का यथार्थ धर्म है। लेकिन मैं महात्मा प्रह्लाद का पोता हूँ। 'दूँगा' कहकर दान देना अंगीकार कर चुका हूँ। अब धन के लोभ से साधारण वंचक मनुष्य की तरह किस मुँह से ब्राह्मण से कह दूँ कि मैं नहीं दूँगा? झूठ बोलने से बढ़कर पाप या अधर्म नहीं है। यह पृथ्वी कहती है कि मैं सबको अपने ऊपर धारण कर सकती हूँ; लेकिन मिथ्यावादी का भार मुझसे नहीं उठाया जाता। गुरुवर, ब्राह्मण को धोखा देने से जितना मैं डरता हूँ, उतना नरक, दरिद्रता, स्थान से च्युत होने अथवा मृत्यु से मैं नहीं डरता। यह जीव जब परलोक को जाता है, तब इस लोक की पृथ्वी आदि सभी वस्तुएँ यहीं पड़ी रह जाती हैं। उन्हीं एक दिन अवश्य छूट जानेवाली वस्तुओं से अगर ब्राह्मण को प्रसन्न किया जा सके तो इससे बढ़कर उन वस्तुओं की सफलता या सदुपयोग क्या हो सकता है? इसके सिवा वह दान ही किस काम का, जिससे ब्राह्मण सन्तुष्ट न हो? इसलिए ब्राह्मण जितनी जो वस्तु माँगे, वह उतनी ही उसे देनी चाहिए। [ मतलब यह कि ब्राह्मण जितना माँगे, उससे कम देने में ब्राह्मण को संतोष न हुआ तो वह दान ही व्यर्थ है ]। दधीचि, शिवि आदि दानी साधुजन अपने परम-प्रिय दुस्त्यज प्राण देकर भी प्राणियों की भलाई कर गये हैं। फिर इस साधारण पृथ्वी के लिए क्या दुविधा है? युद्ध से कभी मुँह न मोड़नेवाले जो दैत्यराज इस पृथ्वी का भोग कर गये हैं, उनके भोग को कराल काल ने नष्ट कर दिया; लेकिन वे इस लोक में जो यश छोड़ गए हैं, वह अब भी वैसा ही बना हुआ है, नष्ट नहीं हुआ। हे ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ गुरुवर, अपने पटैत की प्रार्थना ( ललकार ) पर द्वंद्वयुद्ध करके युद्ध में देह त्याग करनेवाले वीर पुरुष सहज में मिल सकते हैं, लेकिन सुपात्र के उपस्थित होने पर उसे श्रद्धा के साथ मुँहमाँगा धन देनेवाले दानवीर सचमुच दुर्लभ हैं। साधारण याचक की अभिलाषा पूरी करके ग़रीब हो जाना जब दयालु दानी के लिए गौरव बढ़ानेवाली बात है, तब इन ब्रह्मदेव के समान वेदपाठी ब्रह्मचारी को दान करके

---

* श्रुति में कहा है—"अथैतत्पूर्णमध्यात्मं यन्नेति स यत् पूर्वब्रूयादापि चास्य कीर्तिर्नायेत सा एवं तत्रैव हन्यादिति।"

† महर्षि याज्ञवल्क्य की स्मृति में यही बात कही है—

"वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।"

श्रुति भी कहती है—"तस्मात्काले एव दद्यात्काले न दद्यात् तत्सत्यानृते मिथुनीकरोति।"

दरिद्र हो जाना तो बड़े ही सौभाग्य की बात है ! इसलिए यह जो माँगते हैं, वही मैं इनको दूँगा। और अगर यह वही वरदानी भगवान् विष्णु हैं, जिनकी पूजा आप लोग वेदविहित विधि के अनुसार यज्ञ आदि से करते है, यदि यह देवतों का पक्ष लेकर आये हुए शत्रु ही है, तो भी मैं इनको इनकी माँगी हुई पृथ्वी अवश्य दूँगा। मैं निर्दोष हूँ; यह चाहे अधर्म के साथ मुझे बाँध लें, तो भी मैं भीरु ब्राह्मणरूप रखकर आनेवाले शत्रु विष्णु की हिंसा नहीं करूँगा। यह उत्तमश्लोक विष्णु अगर अपनी कीर्ति का कलंकित करना नहीं चाहेंगे तो युद्ध में मुझे मारकर पृथ्वी लेंगे अथवा मेरे हाथ से मारे जाकर युद्धभूमि में शयन करेंगे।

शुकदेवजी कहते है—राजन, शिष्य ने इस प्रकार श्रद्धा करके जब कहना नहीं माना, तब दैव की प्रेरणा से शुक्राचार्य ने असुरश्रेष्ठ बलि को इस प्रकार शाप दिया—"तू अज्ञ है; लेकिन अपने को निश्चय के साथ पंडित समझकर अभिमान करता है। तूने उपेक्षा करके मेरी आज्ञा का उल्लंघन और मेरा निरादर किया है; इसलिए तू शीघ्र ही राजलक्ष्मी से भ्रष्ट हो जायगा।" अपने गुरु के यों शाप देने पर भी महा-उदार राजा बलि सत्य से नहीं डिगे। उन्होंने वामनजी की पूजा की और हाथ मे जल लेकर पृथ्वी का दान कर दिया। उस समय मोतियों के आभूषण और फूलों की मालाओं से विभूषित राजा बलि की पत्नी विन्ध्यावलि ने वामनजी के चरण धोने के लिए पानी से भरा सोने का कलश लाकर राजा बलि के हाथ में दिया। यजमान बलि ने हर्ष के साथ अपने हाथ से वामनजी के सुंदर चरणारविन्द धोये और फिर विश्वपावन चरणोदक को अपने सिर पर धारण किया। उस समय स्वर्ग में देवता, गंधर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण, सब आनंदित होकर राजा बलि के इस महाउदार दान की प्रशंसा करते हुए फूल बरसाने लगे। स्वर्ग में बारंबार हजारों नगाड़े बजने लगे। "इस परमउदार राजा बलि ने बहुत ही दुष्कर कार्य किया, जो जान-बूझकर अपने शत्रु विष्णु को त्रिभूवन का दान कर दिया"—यह कहते हुए गंधर्व, किन्नर और किंपुरुष मधुर स्वर से राजा बलि की कीर्त्ति का बखान करने लगे।

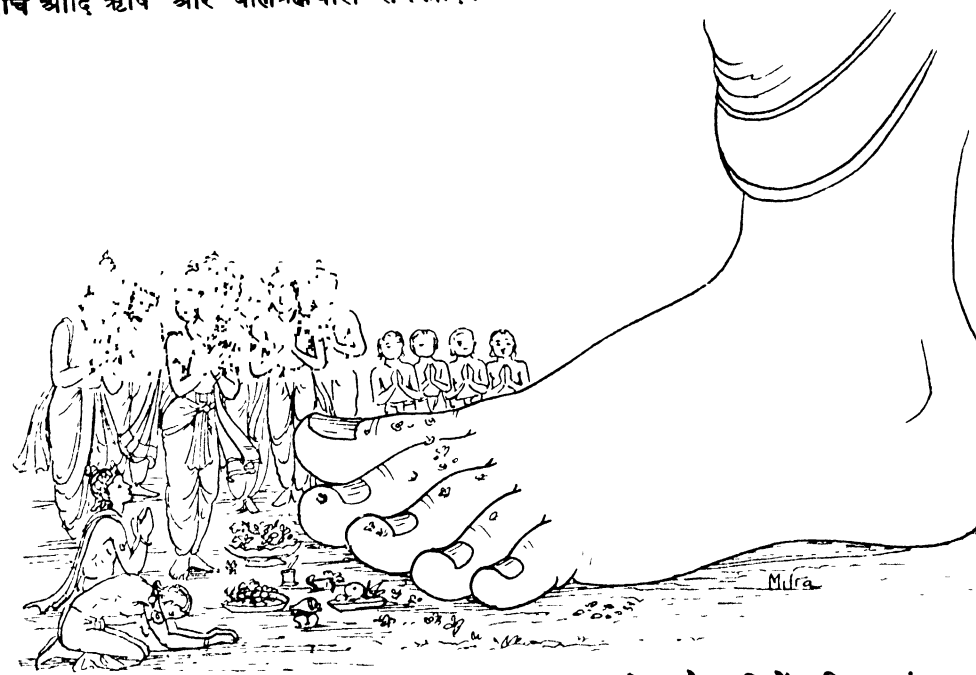
देखते ही देखते हरि का वह वामनरूप आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ने लगा। भगवान् का वह विराट् शरीर त्रिगुणात्मक है, इसलिए पृथ्वी, आकाश, चारों दिशाएँ, सातों स्वर्ग, अतल आदि सातों नीचे के लोक, सब सागर, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषिगण सभी उस विराट् शरीर के भीतर देख पड़ने लगे। राजा बलि ने तथा उनके ऋत्विक्, आचार्य और सदस्यगण ने नारायण के उस महाविभूतिसंपन्न त्रिगुणात्मक शरीर में पञ्चतत्त्व, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय, चित्त और सब जीवों से युक्त इस त्रिगुण-मय जगत् को देख पाया। इन्द्रसेन अर्थात् राजा बलि ने उन परमपुरुष विश्वरूप हरि के चरणतल में रसातल को, दोनों चरणों में पृथ्वी को, दोनों जाँघों में सब पर्वतों को, दोनों जानुओं में सब पक्षियों को, दोनों ऊरुओं में मरुद्गण को, वस्त्र में संध्या को, गुह्य में सब प्रजापतियों को, जघनस्थल में सब असुरों-सहित अपने को, नाभि में आकाशमंडल को, कोख में सातों सागरों को, वक्षःस्थल में नक्षत्रों को, हृदय में धर्म को, दोनों स्तनों में ऋत और सत्य को, मन में चंद्रमा को, हृदय में कमल हाथ में लिये लक्ष्मीदेवी को, कंठ में सामवेद और शब्द को, चारों भुजाओं में इन्द्र आदि सब देवगण को, दोनों कानों में दसों दिशाओं को, मस्तक में स्वर्ग को, केशों में मेघमंडली को, नाक में वायु को, नेत्रों मे सूर्य को, मुख में अग्नि को, वाक्य में सब वेदों को, जीभ में वरुण को, दोनों भौंहों के बीच में विधि और निषेध को, पलकों में दिन और रात को, ललाट में क्रोध को, अधर में लोभ को, स्पर्श में काम को, शुक्र में जल को, पीठ में अधर्म को, पैर रखने में यज्ञ को, परछाहीं में मृत्यु को, हँसी में माया को, सब रोमों में ओषधियों को, नाड़ियों में सब नदियों को, नखों में सब शिलाओं को, बुद्धि में ब्रह्मा को, इन्द्रियों में देवतों और ऋषियों को और सब अंगों में चराचर प्राणियों को देखा। राजन, सर्वव्यापक विश्वरूप वामनजी के शरीर में

इस तरह तीनों लोक चौदह भुवन देखकर असुरों को बड़ा विस्मय हुआ। उस समय असह्य तेजवाला सुदर्शनचक्र, बादल के गरजने के समान गंभीर शब्द करनेवाला सींग का बना शार्ङ्ग धनुष, वेगयुक्त कौमोदकी गदा, विद्याधर-नामक शतचंद्रशोभित तलवार, अक्षय बाणों से पूर्ण दोनों तरकस और सुनन्द आदि श्रेष्ठ पार्षद मूर्त्तिमान होकर वामनजी की सेवा में उपस्थित हुए और उनकी स्तुति करने लगे। उस समय दीप्तिमान् किरीट मुकुट, अंगद, मकराकृति कुंडल, रत्नश्रेष्ठ श्रीवत्स, मेखला, पीतांबर और भ्रमर-सेवित वनमाला धारण किये हुए अतुलविक्रम हरि की अपूर्व शोभा हुई। भगवान् ने एक चरण से राजा बलि की पृथ्वी नाप ली। शरीरमंडल आकाश में और दिशाएँ बाहुओं में आ गईं। इसके बाद दूसरा चरण फैलाने पर उसमें स्वर्ग आदि ऊपर के लोक आ गये। वे भी पूरे नहीं हुए; कारण, भगवान् का दूसरा चरण सातों ऊपर के लोक नाँघता हुआ सत्यलोक तक पहुँच गया; पर बलि का राज्य स्वर्ग तक ही था। अब तीसरे पग के लिए कुछ भी नहीं बचा। दूसरा ही पग क्रमशः महर्लोक, जनलोक और तपलोक आदि के ऊपर सत्यलोक तक पहुँच गया था।

# इक्कीसवाँ अध्याय

## बलि का बाँधा जाना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, भगवान् वामन के चरण को सत्यलोक में उपस्थित देखकर मरीचि आदि ऋषि और बालब्रह्मचारी सनकादिक तथा योगीजनों के साथ भगवान ब्रह्मा उस चरण के




निकट आये। हरि के चरण के नखरूप चंद्रमा की कान्ति से ब्रह्मलोक और मुनियों सहित स्वयं ब्रह्माजी क

तेज फीका पड़ गया। वेद, उपवेद, यम, नियम, इतिहास, तर्क, वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ब्राह्मण आदि), पुराण और संहिता आदि ने सशरीर उपस्थित होकर वामनजी के पावन चरण को प्रणाम किया। योगरूप वायु के संयोग से उज्ज्वल ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा जिनके कर्मफल भस्म हो गये हैं और विष्णु भगवान् के ध्यान के प्रभाव से जो उस कर्मसंसर्गहीन ब्रह्मलोक को पहुँच गये हैं, उन महापुरुषों ने भी पास आकर वामनजी के चरण को प्रणाम किया।

इसके बाद ब्रह्माजी ने, जिनके नाभिकमल से वह आप उत्पन्न हुए हैं, उन भगवान् के ऊपर उठे हुए चरण को जल से धोकर उसकी पूजा की। फिर वह भक्ति के साथ भगवान् की स्तुति करने लगे। वह ब्रह्माजी के कमंडलु का जल, जिससे ब्रह्माजी ने वामनजी के चरण को स्नान कराया, हरिचरण के स्पर्श से परमपवित्र होकर स्वर्ग की नदी आकाशगंगा हो गया। वह गंगाजल अब तक हरि की पवित्र कीर्त्ति के समान आकाश से पृथ्वी पर गिरकर त्रिभुवन को पवित्र कर रहा है।

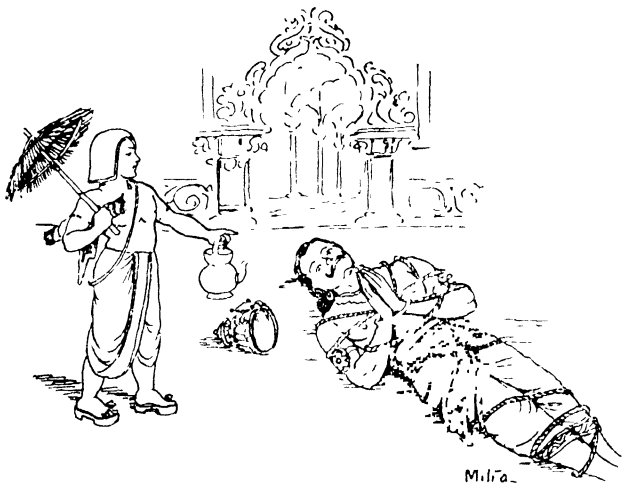
तब विष्णु भगवान् ने क्रमशः छोटे होकर वही पहले की भाँति वामनरूप धारण कर लिया। तब ब्रह्मा आदि लोकपालों ने अपने अनुचरों के साथ आकर अपने स्वामी वामनजी की शीतल जल, सुन्दर माला, सुगंधित चंदन, कपूर, धूप, दीप, खील, अक्षत, फल, अंकुर आदि से पूजा और स्तुति की। फिर वामनजी के पराक्रम और महिमा का बखान करके जयजयकार करने लगे। देवता लोग अनेक प्रकार के बाजे बजाकर नाचने और गाने लगे। रीछों के राजा जांबवान ढोल बजाकर मन के समान वेग से पृथ्वी-मंडल भर में वामनजी के विजयमहोत्सव की घोषणा कर आये।

यज्ञ की दीक्षा लिये हुए अपने स्वामी बलि की सारी पृथ्वी अर्थात् सर्वस्व वामनजी के द्वारा तीन पग भूमि माँगने के छल से हरी गई देखकर असुरगण महाक्रोध से कहने लगे—यह ब्राह्मण का बालक नहीं है; यह महामायावी विष्णु है। यह देवतों का काम बनाने के लिए ब्राह्मण के वेष में छिपकर आया है। इस वैरी विष्णु ने वटु ब्राह्मण के रूप से भिक्षुक बनकर हमारे स्वामी का सर्वस्व हर लिया। हमारे स्वामी सदा सच ही बोलते हैं, कभी झूठ बोलने का विचार भी नहीं करते। विशेष करके इस समय यज्ञ की दीक्षा लेने के कारण इन्होंने दण्ड (लड़ना-भिड़ना) त्याग कर दिया है। इसके सिवा यह ब्राह्मणों के भक्त और दयालु है। इसलिए इनकी आज्ञा न पाकर भी अपने स्वामी के शत्रु इस बौने को मारना हमारा धर्म है। इससे स्वामी की यथेष्ट सेवा होगी।

यह कहकर, बलि की इच्छा न रहने पर भी, वे महाबलवान् दैत्य क्रोध करके त्रिशूल, पट्टिश आदि शस्त्र लेकर मारने के लिए वामनजी की ओर झपटे। तब उन आ रहे दैत्य-सेनापतियों को दस-दस हजार हाथियों का बल रखनेवाले नंद, सुनंद, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, पक्षियों के राजा गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत आदि हरि के प्रधान पार्षदों ने रोका और वे हँसकर शस्त्र ले-लेकर दैत्यसेना का संहार करने लगे। भगवान् के पार्षदों द्वारा अपने अनुचरों का विनाश होते देखकर महात्मा राजा बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य के शाप को यादकर उन्हें युद्ध से निवृत्त करते हुए यों कहा। बलि बोले—हे विप्रचित्ति, राहु और नेमि आदि वीर असुरो, मेरी बात सुनो। इस समय युद्ध न करो। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। यह साक्षात् ईश्वर का स्वरूप काल ही सब प्राणियों को सुख और दुःख देता है। इसे पौरुष के द्वारा कोई अन्यथा नहीं कर सकता। इसी काल के अनुकूल होने से पहले हमारा अभ्युदय हुआ था और देवतों की हार हुई थी। सेना, उत्तम मंत्री, बुद्धि, क़िला, उत्तम सलाह, औषध अथवा साम आदि राजनीतिक उपायों से, किसी तरह, कोई भी काल को नहीं जीत सकता। पहले तुमने कई बार इन हरि के अनुचरों को मार भगाया है; पर इस समय दैव के अनुकूल होने से ही ये

हम लोगों को युद्ध में हराकर जयनाद कर रहे हैं। अगर हम पर दैव प्रसन्न होगा तो फिर हम लोग इनको जीत लेंगे। इसलिए तुम लोग तब तक अपने अनुकूल समय आने की राह देखो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, अपने प्रभु राजा बलि के कहने से विष्णु के पार्षदों से हारे हुए दैत्यपतिगण रसातल को चले गये। इसके बाद पक्षिराज गरुड़ ने भगवान के अभिप्राय को जानकर यज्ञ-संबंधी सोमलता को पीने के दिन वरुण के पाशों से महात्मा बलि की मुश्कें बाँध लीं। वामनजी की इच्छा के अनुसार गरुड़ के द्वारा बलि के बाँधे जाने पर आकाश, पृथ्वी और दसों दिशाओं में लोग हाहाकार करने लगे। श्री से भ्रष्ट होने पर भी अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ और वरुण के पाशों में बँधे हुए महायशस्वी महात्मा बलि से वामनजी ने कहा—हे असुरश्रेष्ठ, तुमने तीन पग पृथ्वी का दान दिया था। मैंने दो पग में ही तुम्हारी सब पृथ्वी नाप ली, अब तीसरे पग के लिए स्थान बताओ। यह सूर्य जहाँ तक तपते हैं, जहाँ तक नक्षत्रगण सहित चंद्रमा अपनी प्रभा फैलाये हैं, जितनी दूर तक बादल पानी बरसाते हैं, वहाँ तक तुम्हारी यह पृथ्वी है। तुम्हारे आगे ही मैंने एक पग से सब भूलोक, शरीर से आकाश और सब दिशाएँ और दूसरे पग से तुम्हारा स्वर्गलोक नाप लिया है। इस तरह मैंने तुम्हारा सर्वस्व हर लिया, तो भी तुम अपनी दी हुई तीन पग पृथ्वी पूरी नहीं कर सके। इसलिए तुम्हें नरक जाना चाहिए। तुम्हारे गुरु शुक्राचार्य भी तुम्हारे नरक-निवास का अनुमोदन कर चुके हैं। जो ब्राह्मण से कुछ देने की प्रतिज्ञा करके फिर उसे पूरा नहीं कर सकता, उसकी स्वर्ग आदि पाने की इच्छा विफल हो जाती है। स्वर्ग तो उससे दूर ही रहता है और उसका अधःपतन अवश्य होता है। तुमने अपने को वैभवशाली मानकर "देता हूँ" कहकर मुझसे छल किया। इस प्रतारणा और झूठ का फल यही है कि कुछ दिन जाकर नरक में निवास करो।



# बाईसवाँ अध्याय

## हरि का बलि पर प्रसन्न होना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, भगवान ने इस तरह बाँधकर, भर्त्सना करके, बलि को सत्य से डिगाना चाहा, अर्थात उनकी कठिन परीक्षा ली, लेकिन वह किसी तरह विचलित नहीं हुए। बलि ने निर्भय भाव से कहा—हे हरि, हे पुण्यश्लोक, हे देवश्रेष्ठ, मैंने जो कहा, उसे आप झूठ समझते हैं। लेकिन मैं अपने वचन को झूठा न होने दूँगा, उसे सत्य कर दिखाऊँगा। मैंने आपसे छल नहीं किया। आप अपना तीसरा

पग मेरे सिर पर नाप लीजिए। मैं अपनी अकीर्त्ति से बहुत डरता हूँ। मुझे नरक से, पाश के बंधन से, दुःख से, धन के कष्ट से अथवा आपके किये हुए इस निग्रह से उतना भय नहीं है। योग्यतम लोग जो दंड देते हैं, वह मेरी समझ में मंगलकारी होने के कारण परम वरेण्य और अभीष्ट है। कारण, अंध-स्नेह के कारण मा-बाप, भाई आदि सुहृद्गण वैसा हितकारी दंड नहीं दे सकते। आप देखने में असुरों के शत्रु हैं, लेकिन असल में हमारे परम हितकारी गुरु हैं। हम लोग राजलक्ष्मी और प्रभुता के मद से अंधे हो रहे थे। आपने राजलक्ष्मी और प्रभुता छीनकर हमारे मद को दूर कर दिया, जिससे हमारे ज्ञानरूप नेत्र खुल गये। योगी लोग जिस सिद्धि को पाते हैं, उसी को अनेक असुरों ने आपसे घोर शत्रुता करके पाया है। इस समय उन्हीं बड़े-बड़े कामों को सिद्ध करनेवाले परमगुरू आपने वरुण के पाश में बाँधकर मेरा निग्रह किया है। लेकिन हे प्रभो, यह आपका किया हुआ निग्रह नहीं, परम अनुग्रह है। मेरे उन पितामह की प्रशंसा सर्वत्र होती है। उनका पिता हिरण्यकशिपु आपका घोर शत्रु था। पिता के बारम्बार आपसे शत्रुता रखने के लिए विवश करने पर भी महात्मा प्रह्लादजी ने आपका ही सहारा लिया। उनका यह पक्का विचार था कि देह से क्या प्रयोजन है; क्योंकि आयु समाप्त होने पर यह शरीर ज़रूर ही साथ छोड़ देगा। स्वजनों से भी कोई लाभ नहीं; क्योंकि वे नाममात्र के स्वजन हैं, असल में ठग हैं—अनेक बहानों से वे धन का अपहरण करते हैं। स्त्री से भी कोई प्रयोजन नहीं निकल सकता। कारण, वही तो इस अनर्थ की जड़ संसार का मूल कारण है। घर से भी कोई लाभ नहीं। इस गृहस्थाश्रम में फँसकर मनुष्य वृथा अपनी आयु को गँवाता है। भगवन, मेरे पितामह प्रह्लादजी ने ऐसा दृढ़ निश्चय करके आपके चरणों की शरण ली थी। हे सत्तम, आप उनके वैरी और उनकी जाति का संहार करनेवाले थे, तो भी उन परम ज्ञानी दानवकुलतिलक ने बंधनरूप स्वजनों से डरकर आपके ही चरणों का आश्रय लिया; क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि जो लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें फिर किसी का, मृत्यु का भय भी नहीं रहता। नाथ, आपके इन चरणों का आश्रय लेने पर फिर कोई कल्याण से भ्रष्ट नहीं होता—किसी का पतन नहीं होता। यद्यपि आप प्रकट में मेरे भी शत्रु हैं; किन्तु दैव ने एकाएक सारी संपत्ति को हरकर मुझे आपके निकट उपस्थित कर दिया है। इससे मेरा कल्याण ही हुआ। कारण, संपत्ति होने पर मनुष्य की बुद्धि जड़ हो जाती है; वह यह नहीं समझ सकता कि इस जीवन का कोई भरोसा नहीं; हर घड़ी मौत सिर पर सवार है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ, राजा बलि इस तरह कह ही रहे थे कि इसी समय भगवान के परमभक्त महात्मा प्रह्लादजी वहाँ आ गये। उनके आने से जान पड़ा, जैसे पृथ्वीतल पर पूर्ण चंद्रमा उतर आया। प्रह्लाद का शरीर श्यामवर्ण, नेत्र कमलदल के समान विशाल, शरीर ऊँचा और भुजाएँ घुटनों तक लंबी थीं। वह पीतांबर ओढ़े थे। इन्द्र का भी मानमर्दन करनेवाले राजा बलि ने सौभाग्यशाली लोगों में श्रेष्ठ अपने पितामह प्रह्लाद को देखकर केवल सिर नवाकर प्रणाम करके ही उनका सत्कार किया। हाथ-पैर बँधे रहने के कारण वह पहले की भाँति तरह तरह की सामग्रियों से उनकी पूजा नहीं कर सकते थे। बलि के दोनों नेत्रों में आँसू भर आये। उन्होंने लजाकर सिर झुका लिया।

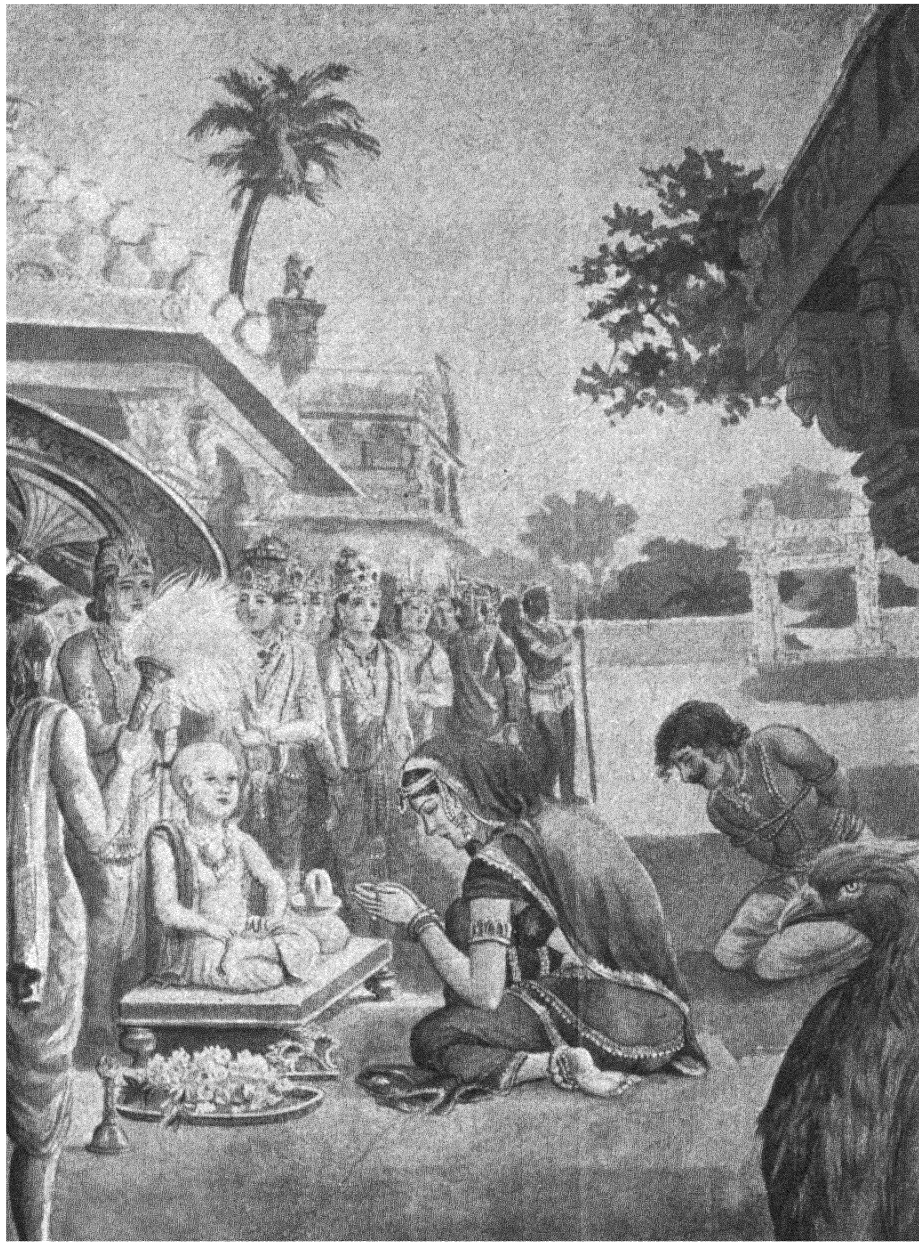
सज्जन साधुओं के स्वामी नारायण राजा बलि के पास ही विराजमान थे। सुनंद, नंद आदि पार्षद उनकी सेवा में उपस्थित थे। यह देखकर प्रह्लाद ने समझ लिया कि उनके पोते पर परमेश्वर की कृपादृष्टि हुई है। यह जानकर प्रह्लाद के रोएँ खड़े हो गये; आँखों में आनन्द के आँसू भर आये। उन्होंने वामनजी के पास जाकर पृथ्वी में गिरकर साष्टांग प्रणाम किया। फिर कहा—स्वामी, आपने ही इस दास को समृद्धियों से संपन्न इन्द्र का पद दिया था और आप ही ने इस समय उसे हर लिया है। मेरी समझ में राज्य-लक्ष्मी से भ्रष्ट करके आपने इस पर परम कृपा की है। लक्ष्मी पाकर मनुष्य अपने को भूल जाता है।

विद्वान् और संयमी लोग भी लक्ष्मी को पाकर आपे में नहीं रहते। उस लक्ष्मी के रहते कौन आदमी यथार्थ रूप से आत्मा के तत्त्व या रूप को जान सकता है? आपने इसके ऊपर बड़ी दया की। आप जगत् के स्वामी नारायण और सब लोकों के अन्तर्यामी साक्षी हैं। आपको प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, हाथ जोड़ कर खड़े हुए प्रह्लाद के सामने ही ब्रह्माजी नारायण से कुछ निवेदन किया चाहते थे। इतने ही में बलि की रानी विंध्यावलि भगवान् से कुछ प्रार्थना करने के लिए उपस्थित हुई। इसलिए उनके सम्मान के वास्ते ब्रह्माजी चुप हो गये। पतिव्रता विन्ध्यावलि पति को वरुण के पाश में बँधा हुआ देखकर सहम गई। उन्होंने डरते-डरते वामनजी को प्रणाम किया। फिर हाथ जोड़कर सिर नीचा करके कहने लगीं—हे ईश, आपने क्रीड़ा करने के लिए इस त्रिभुवन की रचना की है। जो आपको भूलकर अपने को इस जगत् का कर्त्ता मानते और अभिमान करते हैं, वे दुर्बुद्धि से मोहित हैं। वास्तव में आप ही इस विश्व के कर्त्ता, पालक और संहार करनेवाले हैं। आप ही के द्वारा जिन पर केवल कर्त्ता होने का आरोप किया जाता है, वे आपको क्या दे सकते हैं? जो अपने स्वामी होने का दावा करके आपको—जो सारे ब्रह्मांड के प्रभु हैं—कोई वस्तु देते हैं, वे कुबुद्धि और निर्लज्ज हैं।

इसके बाद श्रीब्रह्माजी ने वामनजी से कहा—हे प्राणियों के स्वामी, हे जगन्मय, हे देवदेव, आपने बलि का सब कुछ हर लिया है। अब इसको बंधन से मुक्त कर दीजिए। यह महात्मा बलि इस निग्रह के योग्य नहीं है। इसने उदारता के साथ आपको अपनी सारी पृथ्वी दे दी। अपने सत्कर्मों के द्वारा जिन सब लोकों को प्राप्त किया था, वे भी सब इसने अर्पण कर दिये। इसके सिवा अपना शरीर भी इसने आपको भेंट कर दिया; इसका मन तनिक भी मैला नहीं हुआ। आपके जिन श्रीचरणों में सरल भाव से केवल पानी चढ़ाने या दूब-अंकुर आदि से केवल पूजा करने से ही लोगों को सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त होती है, उन्हीं चरणों में इसने बिना किसी कुंठा के त्रिभुवन का राज्य चढ़ा दिया है। फिर भला इसे इस निग्रह का कष्ट कैसे भोगना चाहिए?

वामनजी ने कहा—ब्रह्माजी, जिस पर मेरी कृपा होती है, उसका धन और वैभव पहले ही मैं हर लेता हूँ। इसका कारण यही है कि धन-संपत्ति और ऐश्वर्य के मद से मतवाला होकर मनुष्य सब प्राणियों का और उनके साथ ही मेरा भी तिरस्कार करता है। यह जीव अपने कर्मों से परवश होकर कृमि-कीट-पतंग आदि अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जब कभी मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है, तब अगर जन्म, कर्म, जवानी, रूप, विद्या, ऐश्वर्य या धन आदि के कारण उसे गर्व न हो तो यह जानना चाहिए कि उस पर मैं प्रसन्न हूँ। ऊपर कही गई अभिमान उत्पन्न करनेवाली विशेषताएँ मनुष्य को उद्दंड बना देती हैं; इन्हीं से उसके सब प्रकार के मंगल में बाधा पड़ती है। लेकिन जो मेरे भक्त हैं, उन्हें इन विशेषताओं से मोह नहीं होता। यह राजा बलि सभी दैत्यों और दानवों में श्रेष्ठ और अपने कुल की कीर्त्ति को बढ़ानेवाले हैं। इन्होंने मेरी दुर्जय माया को जीत लिया है—यह इतना कष्ट और अपमान सहकर भी मोहित नहीं हुए और अपने वचनों पर स्थिर रहे। इनकी धन-संपत्ति नहीं रही और स्थान छीन लिया गया; मैंने आक्षेप (ताने) के वचन कहे, भर्त्सना की, बंधन का कष्ट दिया; जाति-भाई इनको छोड़कर रसातल को चले गये; इन्होंने गुरु के तिरस्कार और शाप को भी शिरोधार्य किया। फिर भी यह सत्यनिष्ठ बलि अपने धर्म से नहीं डिगे। मैंने बढ़ावा देते हुए छलपूर्वक इनके आगे जिस धर्मनीति का वर्णन किया, उसे भी इन्होंने नहीं ग्रहण किया। इसलिए यह मेरे दृढ़ भक्त और सत्यवादी हैं। मैं इन पर परम प्रसन्न हूँ। इसीलिए देवतों के लिए भी दुर्लभ स्थान, मान और पद-ऐश्वर्य इनको देता हूँ। सावर्णि-मन्वन्तर में यह इन्द्र होंगे। मैं सब तरह से इनकी सहायता करूँगा। जब तक सावर्णि-मन्वन्तर का आरंभ नहीं होता, तब तक यह



बलि का विमोचन

विश्वकर्मा के बनाये हुए सुतललोक में जाकर निवास करेंगे। उस लोक में रहनेवालों को मेरी कृपा से मानसिक चिन्ता, शारीरिक व्याधि, भ्रान्ति, तन्द्रा, पराभव या कोई भौतिक उत्पात नहीं होते।

ब्रह्माजी से यों कहकर वामन भगवान् ने फिर राजा बलि से कहा—भाग्यशाली इन्द्रसेन, अब तुम अपने सजातीय असुरों के साथ सुतललोक को चले जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुमको सब लोकपाल भी मिलकर परास्त नहीं कर सकेंगे। सुतललोक ऐसा रमणीय और वैभव से पूर्ण है कि देवता भी वहाँ रहने की अभिलाषा करते हैं। जो दैत्य-दानव-असुर तुम्हारी आज्ञा नहीं मानेंगे, उनको मेरा सुदर्शन-चक्र दण्ड देगा—नष्ट करेगा। मैं स्वयं तुम्हारी और तुम्हारे अनुचरों की संकट के समय रक्षा करूँगा। तुम मुझे उस लोक में अपने द्वार पर सदैव इसी रूप से देख पाओगे। दानवों और दैत्यों के संग से उत्पन्न तुम्हारा आसुरी भाव उस जगह मेरा दर्शन करने से उसी समय कुंठित और नष्ट हो जायगा, अर्थात् तुम्हारी सदा सात्विकी प्रकृति बनी रहेगी।

# तेईसवाँ अध्याय

## बलि का सुतललोक को गमन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, पुराणपुरुष भगवान् के ये वचन सुनकर साधुओं के द्वारा प्रशंसित परम सज्जन महानुभाव राजा बलि के नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आये। उन्होंने भक्ति के साथ हाथ जोड़कर गद्गद वाणी से कहा—अहो! आपकी वन्दना करने की कैसी महिमा है, जिसके लिए केवल चेष्टा करने से ही आपके शरणागत भक्तों की सब अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं। आपके जिस अनुग्रह को पहले बड़े-बड़े लोकपाल और देवता नहीं प्राप्त कर सके, वही अनुग्रह आज केवल प्रणाम के लिए उद्योग करने से ही मेरे समान निकृष्ट असुर ने पा लिया। धन्य है आपकी दीनवत्सलता!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों कहकर ब्रह्मा और शंकर के साथ भगवान् वामनजी को प्रणाम करके बन्धन से मुक्त राजा बलि आनन्द के साथ असुरों सहित सुतललोक को चले गये। वामनजी ने इस तरह इन्द्र को स्वर्ग का राज्य फिर लौटा दिया। वह अदिति की अभिलाषा पूरी करके उपेन्द्र के रूप से त्रिभुवन का पालन और शासन करने लगे।

भगवान् की कृपा पाकर अपने वंशधर पोते राजा बलि को बंधन से मुक्त देखकर भक्तशिरोमणि प्रह्लादजी ने भक्तिभाव से विह्वल होकर वामनजी से कहा—हे मधुसूदन, सारा जगत् जिन्हें प्रणाम करता है, वे ब्रह्मा आदि भी आपकी वंदना करते हैं। आप विश्ववंद्य होकर भी हम असुरों की पुरी के रखवाले बने, इस आपके अनुग्रह को औरों की कौन कहे, भगवान् ब्रह्माजी, महादेव या साक्षात् लक्ष्मी देवी ने भी कभी नहीं प्राप्त किया। हे भक्तवत्सल, ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता जिनके पदपद्मपराग को पीकर महाविभूतियों और ऐश्वर्यों को भोगते हैं, उन्हीं आपकी कृपा के पात्र हम असुर हुए, जिनको लोग क्रूर और दुराचारी कहते हैं! हमारे लिए यह कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं है। हे सर्वज्ञ, आपने ही अपनी अज्ञेय योगमाया की लीला के द्वारा इस जगत् की सृष्टि की है। आप सबके आत्मा और समदर्शी हैं। आप कल्पवृक्ष की तरह भेदभावना न रखकर सब लोगों की सभी अभिलाषाएँ पूरी करते हैं। तथापि आप सदा भक्तों का पक्ष लेते हैं। समदर्शी होने पर भी भक्तों के संबंध में आपका यह पक्षपात वास्तव में एक रहस्य है।

वामनजी ने कहा—वत्स प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतललोक में जाकर रहो। वहाँ अपने पोते के साथ आनन्द से रहो और असुरजाति को सुखी करो। तुम मुझको वहाँ सदा गदा हाथ में लिए हर घड़ी अपने द्वार पर पाओगे। मेरे दर्शन से उत्पन्न आनन्द से तुम्हारा अज्ञानमय कर्मबन्धन छूट जायगा।

शुकदेवजी कहते हैं—राजन्, संपूर्ण असुरजाति के स्वामी विमलमति प्रह्लाद ने अपने पोते के साथ हाथ जोड़कर "जो आज्ञा" कहकर भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर प्रदक्षिणा और प्रणाम करके अनुमति लेकर सुतललोक को चले गये।

महाराज, दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ब्रह्मज्ञानी ऋषियों की सभा में ऋत्विक् लोगों के बीच वामनजी के पास ही उपस्थित थे। जब राजा बलि और प्रह्लाद चले गये, तब वामनजी ने उनसे कहा—हे मुनिवर, आपके शिष्य के यज्ञ में जो कुछ कर्म करने को रह गये हों, उन्हें अब आप पूर्ण कर डालिए। कारण, जो यज्ञकर्म अपूर्ण या असमाप्त रह जाता है, उसकी पूर्त्ति ब्राह्मणों के देखने भर से ही हो जाती है।

शुक्राचार्य बोले—नाथ, आप यज्ञ के स्वामी यज्ञपुरुष और साक्षात् ईश्वर हैं। जिसने अपना सर्वस्व अर्पण करके आपका यजन-पूजन किया है, उसका यज्ञ कैसे खंडित या अपूर्ण रह सकता है? स्वर आदि का उच्चारण में रह जाना, क्रम का उलटा-पलट होना, देश-काल-पात्र-दक्षिणा आदि सामग्री की कमी केवल आपका नाम लेने या गुण गाने से ही पूरी हो जाती है, सब दोष मिट जाते हैं। फिर भी हे ईश्वर, आपकी आज्ञा का पालन मैं अवश्य करूँगा। कारण, आपकी आज्ञा का पालन करना ही पुरुषों के लिए परम मंगलदायक कर्त्तव्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्मर्षियों सहित शुक्राचार्य ने इस तरह हरि की आज्ञा स्वीकार करके बलि के यज्ञ में जो कर्म रह गये थे, उनकी पूर्त्ति कर दी। महाराज, वामनरूप हरि ने इस तरह राजा बलि से पृथ्वी माँगकर अपने भाई इन्द्र को शत्रुओं का छीना हुआ स्वर्ग का राज्य फिर लौटा दिया। प्रजापतियों के पति ब्रह्मा, शंकर भगवान्, देवता, ऋषि, पितर, मनु और दक्ष, भृगु, अंगिरा आदि प्रजापति तथा सनत्कुमारजी, सबने मिलकर कश्यप और अदिति की प्रसन्नता और सब प्राणियों के कल्याण के लिए वामनजी का अभिषेक करके उनको सब लोकों और लोकपालों का स्वामी बना दिया। ब्रह्मा आदि देवगण ने, सब प्राणियों की समृद्धि बढ़ाने के लिए, पालन-कार्य में परमनिपुण उपेंद्रजी को वेद, देवगण, धर्म, कीर्त्ति, लक्ष्मी, मंगल, व्रत, स्वर्ग और मोक्ष के पालन का काम सौंप दिया। उस समय प्राणियों को परम आनंद हुआ। इसके बाद लोकपाल सहित इन्द्रदेव ब्रह्माजी की अनुमति से वामनजी को विमान पर बिठाकर स्वर्गधाम को लौट गये। महेंद्र को त्रिभुवन का राज्य मिल गया। वह उपेंद्रजी के बाहुबल की सहायता से अच्छी तरह तीनों लोकों का राज्यशासन करने लगे। इन्द्र की सब चिंता और भय जाता रहा। वह उत्तम ऐश्वर्य और संपत्ति के स्वामी होकर आनंद से समय बिताने लगे। राजन्, ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनिगण, पितर, सिद्धगण और विमानवासी विद्याधर आदि सब प्राणी राह में हरि की अद्भुत कीर्त्ति का बखान और देवी अदिति के भाग्य की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने लोक को गये। महाराज, यह वामन-अवतार की संपूर्ण कथा आपके आगे वर्णन की। इसे सुनने से सब पाप दूर हो जाते हैं। जो मनुष्य त्रिविक्रम भगवान् की संपूर्ण अपार महिमा का उल्लेख करने की अभिलाषा रखता है, वह शायद सारी पृथ्वी के रजकणों को भी गिन सकता हो! कारण, मंत्रदर्शी ऋषियों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो वर्तमान हैं और आगे कभी होंगे, उनमें कोई भी मनुष्य उन पूर्णपुरुष की महिमा का पार नहीं पा सकता *।

*यह मंत्र है—
"न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमन्तमाप।"

जो कोई अद्भुत कर्म करनेवाले हरि के इस वामन-अवतार का विचित्र चरित्र सुनता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। देवता, पितर या मनुष्यों से संबंध रखनेवाले कर्म करते समय अगर इस चरित्र का पठन-पाठन किया जाय तो वे कर्म अच्छी तरह सुसंपन्न होते हैं!

# चौबीसवाँ अध्याय

## मत्स्य-अवतार

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्, मैं अद्भुत कर्म करनेवाले हरि के मायामय मत्स्य-अवतार की कथा आपसे सुनना चाहता हूँ। मत्स्य-योनि तमोगुणी होने के कारण दुस्सह है और लोग उससे घृणा करते हैं। फिर साक्षात् नारायण ने कर्मवश साधारण जीव की तरह ऐसी घृणित मत्स्य-योनि में कैसे अवतार लिया? कृपापूर्वक इसका कारण आप मुझसे कहिए। पवित्र कीर्त्तिवाले भगवान् का चरित्र सभी लोगों के मन को आनंदित करता है।

श्रीसूतजी शौनक आदि ऋषियों से कहते हैं—विष्णु के भक्त राजा परीक्षित् के यह प्रश्न करने पर श्रीशुकदेवजी ने मत्स्य-अवतार का चरित्र इस प्रकार कहना शुरू किया। शुकदेवजी ने कहा—महाराज, गऊ, ब्राह्मण, देवता, साधु, धर्म, वेद और देवता-मनुष्य आदि के काम बनानेवाले—भलाई करनेवाले—ईश्वर इनकी रक्षा के लिए समय-समय पर अवतार लेते रहते हैं। वह ईश्वर बुद्धि के गुणों के संयोग से वायु की तरह सभी उत्कृष्ट और निकृष्ट योनियों के नियामक या संचालक के रूप से भ्रमण करते रहते हैं, तथापि वह स्वयं उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वह स्वयं निर्विकार और निर्गुण हैं। राजन्, बीते हुए कल्प के अन्त में नैमित्तिक प्रलय जब हुआ, तब पृथ्वी आदि तीनों लोक समुद्र में डूब गये। ब्रह्माजी ने कालवश निद्रित होकर शयन किया। उस समय अचेत ब्रह्माजी के मुख से निकले हुए वेदों को महाबली हयग्रीव नाम का दैत्य हर ले गया। भगवान् नारायण ने उस दैत्य के इस कर्म को जानकर उसे मारकर वेदों का उद्धार करने के लिए उसी समय मत्स्य-अवतार लिया।

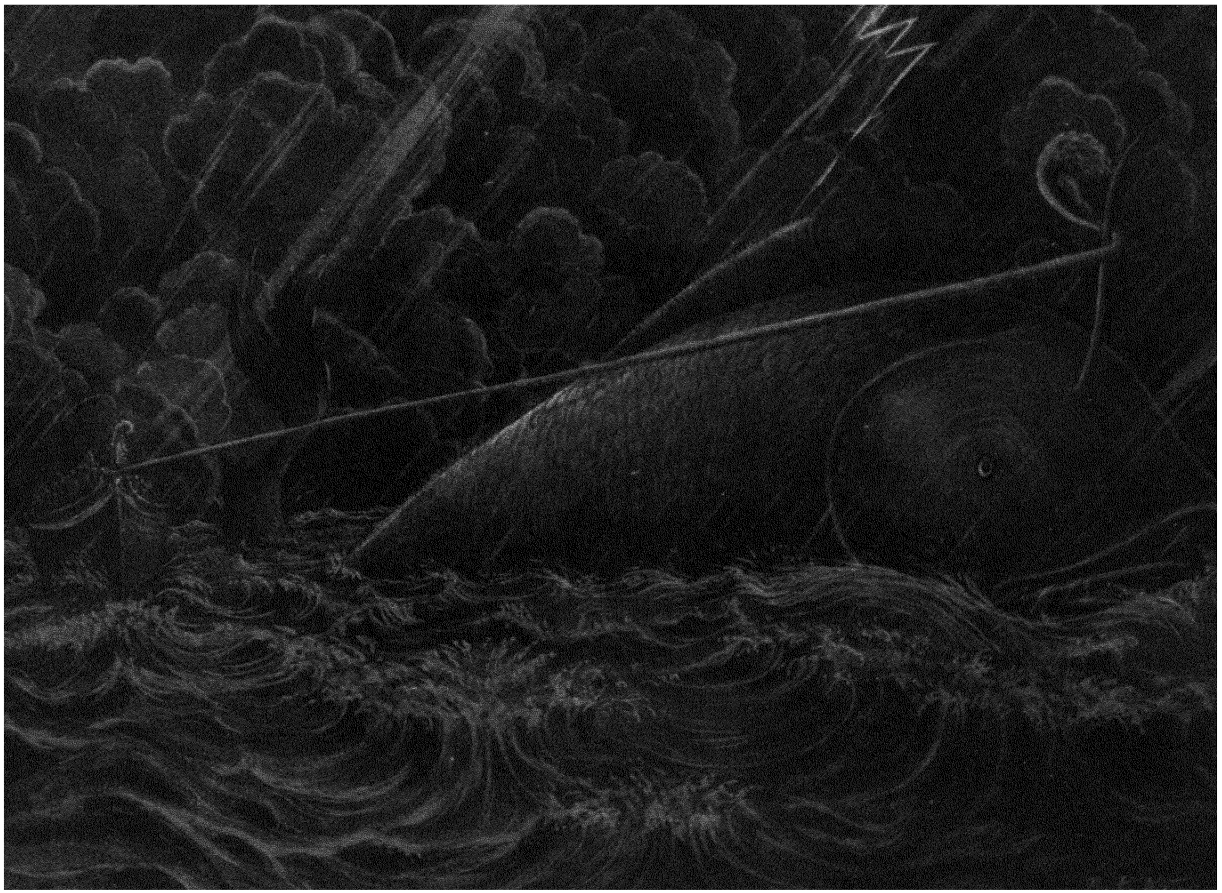
उस समय सत्यव्रत नाम के एक महात्मा भगवद्भक्त राजर्षि नदी-तट पर तप कर रहे थे। वही राजा सत्यव्रत इस वर्त्तमान कल्प में सूर्य के पुत्र श्राद्धदेव (वैवस्वत मनु भी इनका नाम है) के नाम से प्रसिद्ध हुए। यही इस कल्प के सातवें मनु हैं। राजर्षि सत्यव्रत एक दिन कृतमाला नदी के जल में तर्पण कर रहे थे। इसी बीच उनकी अंजलि के जल में एक छोटी-सी मछली आ गई। राजन्, द्रविड़ देश के राजा सत्यव्रत ने उस मछली को अंजलि के जल के साथ ही नदी के जल में डाल दिया। तब उस मछली ने परम दयालु राजा से कातर होकर दीन स्वर से मनुष्य की भाषा में कहा—"हे दीनवत्सल, मैं निर्बल हूँ। अपनी जाति को ही खा जानेवाले मगर, ग्राह आदि अन्य सबल जल के जीवों से मैं डरती हूँ। मुझ भय-विह्वल शरणागत जीव को आप इस तरह कठोर हृदयवाले मनुष्यों की तरह अथाह जल में कैसे फेंके देते हैं!" महाराज, सत्यव्रत राजा



पर ही कृपा करने के लिए भगवान् ने यह मत्स्य-रूप धारण किया था। लेकिन सत्यव्रत को इसका कुछ ज्ञान न था, इसलिए उन्होंने मछली के दीन वचन सुनकर उस पर दया करके उसकी रक्षा करने का विचार किया। वह दयालु राजा उस छोटी-सी मछली को पानी से भरे लोटे में डालकर अपने आश्रम को ले गये। वह क्षुद्र मछली एक ही रात में इतनी बढ़ गई कि उसका उस छोटे से लोटे में रहना असंभव हो गया। तब उसने राजा से कहा—"राजन्, मैं इस लोटे में आराम से नहीं रह सकती। जहाँ मैं सुख से रह सकूँ, ऐसे किसी बड़े स्थान में मुझको रखिए।" राजा ने मछली को लोटे से निकालकर घड़े में डाल दिया। घड़ी भर में वह मछली तीन हाथ बढ़ गई। उसने फिर कहा—"हे नरेश, इस जगह भी मैं सुख से नहीं रह सकती। इससे भी बड़ी जगह मुझे दीजिए; मैं आपकी शरण में आई हूँ।" सत्यव्रत ने घड़े से निकालकर उसे तालाब में डाल दिया। कुछ ही देर में वह मछली एक बहुत बड़ा मच्छ बन गई। उसने फिर कहा—"महाराज, मैं पानी में रहनेवाला जीव हूँ। मुझे इस तालाब में कष्ट होता है; क्योंकि यह मेरे लिए छोटा है। मुझे आप किसी ऐसे जलाशय में छोड़िए, जिसका जल चुके नहीं, यानी जो बहता हो; क्योंकि आपने मुझे शरण दी है।" उस मछली के ये वचन सुनकर सत्यव्रत ने उसे एक-एक करके बड़े से बड़े जलाशय में क्रमशः छोड़ा, लेकिन उस अद्भुत मछली का शरीर बराबर बढ़ता ही गया और वे सब उसके लिए छोटे ही होते गये। जब किसी भी नदी आदि जलाशय में उस महामत्स्य का गुज़र नहीं देख पड़ा तो अन्त को राजा ने उसे सागर में डालना चाहा। लेकिन उस समय महामत्स्य ने कहा—"हे वीर, मुझसे अधिक बली जल के जीव मुझे खा जायँगे, इसलिए आप सागर में मुझको न छोड़िए। यह काम आपके योग्य नहीं है।" इस तरह मधुर वचन कहकर उस मच्छ ने राजा को चक्कर में डाल दिया।

तब राजा सत्यव्रत ने कहा—आप कौन हैं, जो मछली का रूप रखकर मुझे मोह में डाल रहे हैं? मैंने आपके समान वीर्यवान् जलचर जीव और कभी नहीं देखा और न सुना। आपने एक ही दिन में सौ योजन की झील को अपने वेग से बढ़ रहे विशाल शरीर से भर दिया! आप निश्चय ही साक्षात् नारायण हैं। प्राणियों का कल्याण करने के लिए आपने यह रूप धारण किया है। हे पुरुषोत्तम, आपको प्रणाम है। प्रभो, आप सृष्टि का पालन और संहार करनेवाले परमेश्वर हैं। मेरे समान विपत्ति में पड़े हुए शरणागत भक्तों के प्रधान आश्रय और आत्मा हैं। लीला करने के लिए आप जो अवतार लेते हैं, उनसे सब प्राणियों का मंगल होता है। भगवन्, आपने जिस प्रयोजन से यह मत्स्य-अवतार लिया है, उसे मैं जानना चाहता हूँ। हे कमललोचन, आप सबके बन्धु और प्रिय आत्मा हैं। देह आदि असत् वस्तुओं में वृथा अभिमान रखनेवाले साधारण जनों के चरणों की सेवा के समान आपके चरणों की सेवा कभी विफल नहीं होती। आपने अपना यह अद्भुत शरीर प्रकट कर मुझे विस्मय में डाल दिया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, राजा सत्यव्रत ने जब यों कहा, तब युगान्त में प्रलयसमुद्र के बीच क्रीड़ा करने के लिए मत्स्य-रूप धारण करनेवाले भक्तों के प्रिय जगदीश ने उनसे अपना उद्देश्य इस तरह प्रकट किया। भगवान् ने कहा—"हे शत्रुदमन, आज के सातवें दिन पृथ्वी आदि तीनों लोक प्रलयसागर के जल में डूब जायँगे। उस समय मेरी प्रेरणा से एक बड़ी भारी नाव तुम्हारे पास आवेगी (यह नाव पृथ्वी ही होगी, जो जनमानवहीन होकर उमड़े हुए प्रलयसमुद्र के पानी पर तैरती रहेगी)। तुम सब अन्न और ओषधियों के बीज और सब प्रकार के प्राणियों को लेकर सप्तऋषियों के साथ (वे पहले ही से उस पर बैठे होंगे) उस बड़ी नाव पर चढ़कर सुस्थिर चित्त से उस अंधकारमय प्रलयसागर में विचरते रहना। ऋषियों के ब्रह्मतेज के प्रकाश से तुम्हें उस घोर अंधकार में भी कुछ कष्ट न होगा। जब प्रचंड आँधी के



प्रलयसागर मे राजर्षि सत्यव्रत आदि की नौका को धारण
किये हुए मत्स्यरूपधारी भगवान

झोंकों से वह निराधार नाव हिलने-डुलने लगेगी, तब मैं इसी रूप से तुम्हारे पास आकर उपस्थित होऊँगा। तब तुम महानाग वासुकि के बंधन से मेरे सींग में उस नाव को बाँध देना। मैं सप्तऋषि और तुम सहित उस नाव को ब्रह्मा की रात का अन्त होने तक खींचता हुआ प्रलयसागर में घूमता रहूँगा। परब्रह्म नाम की जो मेरी महिमा है, उसका ज्ञान, तुम्हारे पूछने पर, मैं तुम्हारे हृदय में प्रकट करूँगा। मेरी कृपा से तुमको ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होगा।"

राजा से यों कहकर भगवान् मत्स्यरूप हरि उस सागर के जल में अदृश्य हो गये। राजा सत्यव्रत पूर्वमुख कुशासन पर बैठकर पूर्वोत्तर कोण की ओर मुख करके मत्स्यरूप हरि के चरणों का ध्यान करते हुए सात दिन तक प्रलय की प्रतीक्षा करते रहे। सातवें दिन राजा ने देखा, घोर घनघटाएँ घिर आईं और मूसलधार पानी बरसने लगा। सागर अपनी सीमा को नाँघता हुआ उमड़कर चारों ओर से भूमंडल को डुबाने लगा।

उस समय भगवान् मत्स्यरूप हरि की बात राजा सत्यव्रत को याद आ गई। इसी समय उनके पास वही नाव आकर उपस्थित हुई। सत्यव्रत नरेश भगवान् की आज्ञा के अनुसार सब अन्नों के बीज, ओषधियाँ और प्राणियों के जोड़े लेकर सप्तऋषियों सहित उस नाव पर सवार हो गये। सप्तऋषियों ने प्रसन्नतापूर्वक राजा सत्यव्रत से कहा—महाराज, इस समय भगवान् केशव का ध्यान करो; वही संकट से उबारकर हमारा कल्याण करेंगे। तब महाराज सत्यव्रत ने भगवान का ध्यान किया। उसी समय उस महासागर के जल में सुनहली मछली का रूप धारण किये हुए भगवान् देख पड़े। उनके सिर पर एक बड़ा भारी सींग था। उनका शरीर दस हज़ार योजन लंबा-चौड़ा था। राजा ने प्रसन्नता के साथ मत्स्य भगवान् की आज्ञा के अनुसार वासुकि नाग के शरीर से उनके सींग में वह नाव बाँध दी। फिर मत्स्य भगवान् की इस तरह स्तुति करने लगे।

राजा सत्यव्रत ने कहा—अनादि अविद्यारूप माया ने जिनके आत्मज्ञान को ढक रक्खा है, इसीलिए अज्ञानमूलक संसार से संबंध रखनेवाले विषयों को पाने की चेष्टा में जो भटक रहे हैं, ऐसे लोग जिनकी कृपा से ही इस संसार में जिनको प्राप्त होते हैं, वही साक्षात् मुक्ति देनेवाले आप परमगुरु होकर हमारे हृदय के अज्ञान को दूर कीजिए—संशय की गाँठ को काटिए। ये सब अज्ञानी जीव अपने पूर्वजन्मों के कर्मों में बँधकर सुख पाने की इच्छा से फिर कर्म करते हैं; लेकिन असल में सभी कर्म दुःख ही देनेवाले होते हैं; क्योंकि उनसे दुःख की निवृत्ति नहीं होती, उनसे मिलनेवाले सुख अन्त को मिट जाने के कारण दुःखदायक ही होते हैं—उनसे जन्म-मरण का दुःख दूर नहीं होता। जिन भगवान् की सेवा करने के फल से ये अज्ञानी जीव मिथ्या सुख की अभिलाषा छोड़ देते हैं, वही परमगुरु परमेश्वर हमारे हृदय में पड़ी हुई मोह की गाँठ को ज्ञान की तलवार से काटें। आग के स्पर्श से जैसे चाँदी-सोने का मल जल जाता है और वह अपना स्वच्छ रंग धारण करता है, वैसे ही जिनकी सेवा करने से जीवात्मा का मल अज्ञान मिट जाता है और वह अपने असली ब्रह्मरूप को पा जाता है, वही परमेश्वर आप हमारे गुरु हों, हमें उपदेश करें। कारण, आप गुरुओं के भी गुरु हैं। और सब देवता और गुरु मिलकर भी जिनकी कृपा के दस हज़ारवें अंश के बराबर भी कृपा नहीं कर सकते, आप वही जगदीश्वर हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ। अंधे को राह दिखानेवाला भी अगर अंधा हो, तो जैसे दोनों गढ़े में गिरकर कष्ट पाते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य का गुरु भी अज्ञानी, अर्थात् संसार में आसक्त, अगर हुआ तो दोनों भवकूप में गिरते हैं। लेकिन भगवन्, आपका ज्ञान सूर्य के समान स्वयंप्रकाशमान है। इसलिए आप ही सब इन्द्रियों के प्रकाशक अर्थात् उन्हें चैतन्यदायक हैं। मैं आत्मा की गति अर्थात् तत्त्व को जानने के लिए उत्सुक हूँ। इस कारण आपको ही

अपना सच्चा गुरु मानकर प्रणाम करता हूँ। मानव गुरु मानव को जिस असत् बुद्धि (कर्मकाण्ड) का उपदेश करते हैं, उससे उपकार के बदले अपकार ही होता है। कारण, उस बुद्धि या उपदेश से शिष्य घोर अंधकार या मोह में जा पड़ता है। लेकिन आप अमोघ और अक्षय ज्ञान का उपदेश करनेवाले गुरु हैं। जीव उस ज्ञान को पाकर निश्चय ही अपने सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्मपद को पा सकते हैं। आप सभी लोगों के प्रिय, मित्र, ईश्वर, आत्मा, गुरु, ज्ञान और मनचाही सिद्धि हैं। आप सभी के हृदय में रहते हैं, फिर भी वे आपको नहीं जान पाते। इसका कारण यही है कि उनकी बुद्धि और विषयों में लगी रहने के कारण अंधी हो रही है और विषय-वासना ने उनके हृदयों में जड़ जमा रक्खी है। देवदेव, मैं ज्ञान प्राप्त करने के लिए आपके चरणों की शरण में आया हूँ। आप सभी देवतों में श्रेष्ठ और वरणीय ईश्वर हैं। भगवन्, परमार्थ को प्रकट करनेवाले अपने उपदेश से मेरे हृदय की अहंभाव की गाँठ को काट दीजिए। मेरा यथार्थ स्वरूप जो ब्रह्म है, वह मुझे बताइए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज, राजर्षि सत्यव्रत के यों स्तुति और प्रार्थना करने पर भगवान् आदिपुरुष ने प्रलयसागर में महामत्स्यरूप से विचरण करते हुए उनको परमतत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। भगवान् ने सांख्ययोग और क्रिया से युक्त दिव्य पुराणसंहिता अर्थात् मत्स्यपुराण की व्याख्या और आत्मज्ञान का उपदेश उनको किया। सप्तऋषियों के साथ सत्यव्रत ने उस नाव पर बैठे-बैठे मत्स्य-भगवान् के मुख से निःसंशय आत्मतत्त्व का उपदेश और सनातन वेदों का सब सारांश श्रवण किया। इसके बाद जब प्रलयकाल का अन्त हुआ और भगवान् ब्रह्मा सोकर जागे, तब मत्स्यरूपधारी दानवों के शत्रु नारायण ने हयग्रीव दानव को मारकर उसके हरे हुए वेद लेकर ब्रह्माजी को दिये। इस प्रकार भगवान् की कृपा से राजा सत्यव्रत ज्ञान-विज्ञान से संपन्न होकर इस वर्त्तमान कल्प में वैवस्वत नाम के सातवें मनु हुए हैं। जो मनुष्य राजर्षि सत्यव्रत और मायामत्स्यरूप विष्णु भगवान् के इस अद्भुत संवाद और कथा को सुनता है, उसके सब पाप मिट जाते हैं। जो कोई नित्य हरि के इस मत्स्य-अवतार के विचित्र और पवित्र चरित्र को पढ़ता है, उसकी सभी कामनाएँ पूरी होती हैं। अन्त में वह परमगति को पाता है। ब्रह्माजी जब प्रलयसागर में अचेत होकर सो रहे थे, उस समय हयग्रीव दानव उनके मुखों से निकले हुए वेदों को चुराकर चल दिया था। जिन भगवान् ने उस असुर को मारकर वेदों का उद्धार किया और ब्रह्माजी को लौटा दिये, जिन्होंने अपने परमभक्त राजा सत्यव्रत को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया, उन संपूर्ण जगत् के कारणरूप मायामत्स्यरूप भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ।

इति
अष्टम स्कंधः
समाप्तः

# शब्दार्थ-कोष

अर्थात्

श्रीमद्भागवत के अनुवाद में आनेवाले

कठिन या अप्रचलित शब्दों का

सरल अर्थ और व्याख्या ।

# शब्दार्थ-कोष



## अ

**अंकित**—( वि० ) चिह्नित, निशान किया हुआ। लिखित, खुदा हुआ। वर्णित।

**अंग**—( संज्ञा पुं० ) देह, शरीर, अवयव, खंड, टुकड़ा, भेद, प्रकार, भाँति, तरफ़, सहायक, तरफदार, बिहार मे भागलपुर के आसपास का प्रदेश। ध्रुव के वंश का एक राजा। एक भक्त का नाम।

**अंगन्यास**—( संज्ञा पुं० ) वैदिक या तांत्रिक उपासना मे मंत्र पढ़ते हुए अंगों को छूकर शुद्ध करने की क्रिया।

**अंगी**—( संज्ञा पुं० ) देहधारी ( वि० ) प्रधान, पुरुष।

**अंतरात्मा**—( सं० स्त्री० ) अंतःकरण, जीवात्मा।

**अंतरिक्ष**—( सं० पुं० ) पृथ्वी और सूर्यादि लोकों के नीचे का स्थान, आकाश, अधर, शून्य। स्वर्गलोक, तीन प्रकार के केतुओं मे से एक। एक ऋषि का नाम।

**अंतर्गत**—( वि० ) शामिल, अन्तर्भूत, सम्मिलित, गुप्त। ( सं० पुं० ) मन, जी, हृदय, चित्त।

**अंतर्द्धान**—( सं० पुं० ) लोप, छिपाव, अदर्शन। ( वि० ) गुप्त, अदृश्य, अप्रकट।

**अंतर्मुख**—( वि० ) जिसका मुँह भीतर की ओर हो।

**अंतर्यामी**—( सं० पु० ) परमात्मा, भीतर की बात जाननेवाला।

**अंतःकरण**—( सं० पु० ) भीतरी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

**अंत्यज**—( सं० पु० ) चाण्डाल।

**अंबरीष**—( सं० पु० ) सूर्यवंश के एक राजा का नाम, जो विष्णु का परम भक्त था।

**अकालमृत्यु**—( सं० स्त्री० ) असमय की मृत्यु, असामयिक मृत्यु, थोड़ी उम्र मे मर जाना।

**अकिंचन**—( वि० ) जिसके पास कुछ न हो, परमहंस।

**अकीर्ति**—( सं० स्त्री० ) अपकीर्ति, अयश, अप्रतिष्ठा, कलंक।

**अकुंठ**—( वि० ) तेज, तीक्ष्ण, चोखा।

**अकृच्छ्र**—( सं० पुं० ) आसानी, सुगमता।

**अकृत**—( वि० ) जो नहीं किया गया हो।

**अकृतज्ञ**—( वि० ) जो एहसान को न माने, कृतघ्न।

**अक्षत**—( वि० ) अखण्ड। ( सं० पुं० ) वे चावल, जो देवताओं की पूजा के काम मे आते हैं।

**अक्षम**—( वि० ) असमर्थ, अशक्त, लाचार।

**अक्षय**—( वि० ) अविनाशी, अपर, चिरजीवी, स्थिर, जो नाश न हो।

**अखाद्य**—( वि० ) न खाने योग्य, अभक्ष्य।

**अगम्य**—( वि० ) न जाने योग्य, जहाँ कोई न जा सके, औघट, गहन, विकट, कठिन, अपार, बहुत, अत्यन्त। जिसमे बुद्धि न पहुँचे, बुद्धि के बाहर, अज्ञेय, अथाह, बहुत गहरा।

**अगाध**—( वि० ) अथाह, बहुत गहरा।

**अगोचर**—( वि० ) जिस तक इन्द्रियों की पहुँच न हो।

**अग्र**—( सं० पुं० ) आगे का भाग, अगला हिस्सा, किसी वस्तु का मुखिया, अगुआ। आदि स्मृति के अनुसार अन्न की भिक्षा का परिमाण विशेष जो मयूर के ४८ अंडों के बराबर होता है। एक राजा का नाम ( वि० ) प्रथम, मुख्य, ऊपर का भाग, श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान।

**अग्रज**—( सं० पु० ) जो भाई पहले जन्मा हो। ज्येष्ठ भ्राता।

**अग्राह्य**—( वि० ) ग्रहण करने के अयोग्य, तुच्छ, निस्सार, त्याज्य।

**अचिन्त**—( वि० ) चिन्तारहित, निश्चिन्त, बेफ़िक्र।

**अचैतन्य**—( वि० ) चेतनारहित, आत्मविहीन, जड़। ( सं० पु० ) बेचैनी, व्याकुलता, विकलता, अज्ञान।

**अच्युत**—(वि०) जो गिरा न हो। (सं० पुं०) श्रीविष्णु का एक नाम।

**अजर**—( वि० ) जो बूढ़ा न हो। (सं० पुं०) ईश्वर का एक विशेषण।

**अजित**—( वि० ) जो जीता न जा सके ( सं० पुं० ) विष्णु, शिव, बुद्ध।

**अज्ञ**—( वि० ) न जाननेवाला, मूर्ख, ना समझ।

**अज्ञातवास**—( सं० पुं० ) छिपकर रहना।

**अट्टहास**—( सं० पुं० ) बहुत हँसना या जोर से हँसना। कहकहा।

**अट्टालिका**—( सं० स्त्री० ) अटारी, राजमहल।

**अणिमा**—( सं० स्त्री० ) आठ सिद्धियों मे से एक सिद्धि अत्यन्त छोटा बन जाने की शक्ति।

**अतिथि**—( सं० पुं० ) साधु, यात्री, पाहुन। वह यात्री, जो किसी स्थान पर एक रात से अधिक न ठहरे।

**अतीत**—( वि० ) बीता हुआ।

**अतुल**—( वि० ) बहुत। तुलना रहित।

**अतृप्त**—( वि० ) जिसका मन न भरा हो।

**अदूरदर्शी**—( वि० ) जो दूर तक न सोचे। स्थूल बुद्धि, नासमझ।

**अदृश्य**—( वि० ) जो न दिखाई पड़े।

**अदृष्ट**—( वि० ) अनदेखा, भाग्य।

**अद्वितीय**—( वि० ) बेजोड़।

**अधःपतन**—( सं० पुं० ) अवनति, नीचे गिरना।

**अधिकृत**—( वि० ) हाथ मे आया हुआ, जिस पर अधिकार किया गया हो। ( सं० पुं० ) अध्यक्ष।

**अधिपति**—( सं० पु० ) राजा, प्रभु, स्वामी, मुखिया।
**अधिष्ठाता**—( सं० पुं० ) अध्यक्ष, मुखिया। प्रकृति को जड़ से चेतन अवस्था मे लानेवाला पुरुष।
**अधिष्ठान**—( सं० पुं० ) वास-स्थान, नगर, शहर, जनपद, बस्ती, स्थिति, पड़ाव, मुक़ाम, ठिकाना, आधार, सहारा, अधिकार, शासन, राजसत्ता।
**अधिष्ठित**—( वि० ) स्थापित, नियुक्त।
**अधीश्वर**—( सं० पुं० ) मालिक, स्वामी, अध्यक्ष, राजा।
**अधोगति**—(सं० स्त्री०) पतन, गिराव, उतार, दुर्गति,दुर्दशा,अवनति।
**अध्यवसाय**—( सं० पुं० ) सतत उद्यम, लगातार उपाय, यत्न, उत्साह, उत्तम काम करने की उत्कण्ठा।
**अध्यात्म**—( सं० पुं० ) ब्रह्मविचार, ज्ञान तत्व, आत्मज्ञान।
**अध्यात्म विद्या**—( सं० स्त्री० ) ब्रह्मविद्या।
**अनंत**—( वि० ) जिसका अंत न हो। अविनाशी, अनित्य, असख्य, अनेक। ( स० पुं० ) विष्णु, शेषनाग, लक्ष्मण, बलराम, आकाश, जैनियो के एक तीर्थंकर का नाम। बाहु पर पहनने का एक गहना।
**अन्यन्य**—( वि० ) जो अन्य से सबध न रक्खे, एक ही मे लीन रहनेवाला।
**अनभिज्ञ**—( वि० ) अज्ञानी, मूर्ख, निर्बोध।
**अनादि**—( वि० ) आदिरहित, जिसका आदि न हो।
**अनायास**—( क्रि० वि० ) बेपरिश्रम, सहज।
**अनावृत**—( वि० ) जो ढका हुआ न हो।
**अनित्य**—( वि० ) जो सदा न रहे। अस्थायी।
**अनिरुद्ध**—( सं० पु० ) श्रीकृष्ण के पौत्र। ( वि० ) बाधाशून्य, बे रोक-टोक।
**अनिर्वचनीय**—( वि० ) अकथनीय, जो कहा न जा सके, उत्तम।
**अनिवार्य**—(वि०) वारण करने के अयोग्य, अवश्यभावी, परमावश्यक।
**अनिष्ट**—( वि० ) अवाछित। ( स० पुं० ) हानि, अपकार, बुराई।
**अनिष्टकर**—( वि० ) अनिष्ट करनेवाला, हानिकारक, अशुभकारक।
**अनीति**—( स० स्त्री० ) अत्याचार, अंधेर, अन्याय।
**अनु**—( उप० ) पीछे।
**अनुकंपा**—( सं० स्त्री० ) दया, कृपा अनुग्रह, सहानुभूति, हमदर्दी।
**अनुकथन**—( सं० पुं० ) कथन के अनुरूप वचन, वार्तालाप, कथोपकथन, बातचीत।
**अनुकरण**—( सं० पुं० ) नक़ल, देखादेखी कार्य।
**अनुकूल**—( वि० ) पक्ष मे रहनेवाला, सहाय, सहकारी, हितकर, प्रसन्न। ( सं० पुं० ) एक ही स्त्री मे अनुरक्त व्यक्ति।
**अनुगत**—( वि० ) आश्रित, अनुयायी, अनुकूल, अनुचर, सेवक।
**अनुगृहीत**—( वि० ) कृतज्ञ, उपकृत, प्रतिपालित, आश्वासित।
**अनुग्रह**—( स० पुं० ) कृपा, दया।
**अनुचर**—( सं० पुं० ) दास, नौकर।
**अनुजीवी**—( वि० ) पराधीन, आश्रित, परतन्त्र। ( सं० पुं० ) दास, सेवक, चाकर।
**अनुताप**—( सं० पुं० ) खेद, पश्चाताप, पछताना, अफ़सोस।
**अनुबन्ध**—( स० पुं० ) बंधन, लगाव, अनुसरण।
**अनुभूति**—( स० स्त्री० ) अनुभव, परिज्ञान, न्याय नाम में इसके चार भेद माने गये है। यथा प्रत्यक्ष, अनुमति, उपमिति और शब्दबोध।
**अनुमति**—( स० स्त्री० ) आज्ञा, हुक्म, सम्मति।
**अनुमोदन**—( सं० पुं० ) समर्थन, ताईद।
**अनुरंजन**—( स० पु० ) अनुराग, आसक्ति, प्रीति, दिलबहलाव, मनोरंजन।
**अनुरक्त**—( वि० ) लीन, आसक्त, प्रेमयुक्त।
**अनुरोध**—( स० पु० ) विनती, विनय, प्रार्थना। आग्रह, रुकावट।
**अनुलोम**—( सं० पु० ) सगीत मे स्वरो का उतार। अवरोही।
**अनुवर्ती**—( वि० ) अनुसरण करनेवाला, अनुगामी।
**अनुशासन**—( सं० पुं० ) आदेश, आज्ञा, हुक्म, उपदेश, शिक्षा, व्याख्यान।
**अनुशीलन**—( स० पु० ) चिन्तन, विचार, मनन।
**अनुष्ठान**—( स० पुं० ) कार्यारम्भ, उपक्रम। प्रयोग, पुरश्चरण, शास्त्र-विहित कर्म करने की क्रिया। ( स० पुं० ) लिंग, देह, शरीर, पुरुषचिह्न।
**अनुसंधान**—( स० पु० ) अन्वेषण, खोज, तलाश।
**अनुसरण**—( स० पु० ) अनुकरण, नकल।
**अन्यथा**—( वि० ) विपरीत, उल्टा, विरुद्ध, झूठ, असत्य।
**अन्यमन**—( वि० ) अनमना, उदास, चिन्तित।
**अन्यमनस्क**—( वि० ) देखो अन्यमन।
**अन्यान्य**—( वि० ) भिन्न-भिन्न, अन्य।
**अपकृष्ट**—( वि० ) न्यून, नीच, बुरा, घृणित।
**अपत्य**—( स० पु० ) सन्तान।
**अपमृत्यु**—( स० पु० ) अकालमृत्यु, अस्वाभाविक कारणों से मृत्यु, यथा विष खाकर मरना, साप काटने पर मृत्यु।
**अपरिच्छिन्न**—( वि० ) खुला हुआ।
**अपरिमित**—( वि० ) बहुत अधिक, जिसका कोई परिमाण न हो।
**अपारमेय**—( वि० ) अकूत, बेअदाज़, असख्य।
**अपरिहार्य**—( वि० ) अनिवार्य, अत्याज्य।
**अपवर्ग**—( स० पु० ) मोक्ष, परमगति, मुक्ति।
**अपवाद**—( स० पु० ) कलंक, बदनामी।
**अपहरण**—( स० पुं० ) हरण, चोरी, छीन ले जाना।
**अपांग**—( स० पु० ) आँख का कोना, नेत्रकोण।
**अभद्र**—( वि० ) अशुभ, बेहूदा, अशिष्ट।
**अभिजित्**—( वि० ) विजयी। ( पुं० सं० ) दिन का आठवाँ मुहूर्त।
**अभिधान**—( सज्ञा पु० ) नाम, उपनाम, शब्दकोष।
**अभिधेय**—( वि० ) प्रतिपाद्य। ( सं० पुं० ) अर्थ, नाम।
**अभिनन्दन**—( स० पु० ) प्रशंसा, प्रार्थना, प्रोत्साहन।
**अभिनय**—( स० पु० ) नक़ल। इशारों द्वारा बात-चीत।
**अभिभूत**—( वि० ) पराजित, पीड़ित, विचलित।

**अभिलषित**—( वि० ) वांछित । चाहा हुआ ।
**अभिवादन**—( सं० पु० ) प्रणाम, वन्दना ।
**अभिव्यक्त**—( वि० ) प्रकाशित, जाहिर, स्पष्ट किया हुआ ।
**अभिव्यक्ति**—( सं० स्त्री० ) प्रकट होना, स्पष्टीकरण ।
**अभिषेक**—( स० पु० ) मंत्र पढ़कर पानी छिड़कना और नहाना ।
**अभीष्ट**—( वि० ) वांछित, चाहा हुआ ।
**अभ्यागत**—( वि० ) मेहमान ।
**अभ्युदय**—( सं० पुं० ) वृद्धि, बढ़ती, उन्नति ।
**अमित**—( वि० ) बहुत, प्रचुर ।
**अमोघ**—( वि० ) सफल, अचूक ।
**अरिष्ट**—( सं० पुं० ) सूतिकागृह, दुःख । उत्पात, उपद्रव । वृषभासुर । अशुभ ।
**अरुण**—( वि० ) लाल । ( सं० पुं० ) सूर्य, सन्ध्या के समय की ललाई । एक दानव का नाम । सूर्य के सारथी का नाम ।
**अरुणोदय**—( सं० पु० ) सूर्योदय से कुछ पहले का समय ।
**अलभ्य**—( वि० ) दुर्लभ ।
**अवगत**—( वि० ) विदित, जाना हुआ ।
**अवगति**—( स० स्त्री० ) बोध ।
**अवधूत**—( स० पु० ) योगी ।
**अवशेष**—( वि० ) बचा हुआ ।
**अवसान**—( स० पु० ) अंत, समाप्ति, मृत्यु ।
**अवहेलना**—( स० स्त्री० ) अनादर, अश्रद्धा, अवज्ञा ।
**अवांतर**—( वि० ) अन्तर्गत, मध्यवर्ती ।
**अविकार**—( वि० ) विकाररहित, अज, अविनाशी, निर्दोष ।
**अविद्या**—( सं० स्त्री० ) अज्ञान, मोह, मूर्खता ।
**अविधि**—( वि० ) नियम के विरुद्ध ।
**अविवेक**—( स० पु० ) अज्ञान, मूर्खता ।
**अव्यक्त**—( वि० ) अस्फुट, अगोचर । ( स० पु० ) विष्णु ।
**अव्यय**—( वि० ) जिसका नाश न हो, जो एकसा रहे । ( स० पु० ) व्याकरण में वह शब्द, जिसका समस्त लिंगों, समस्त व्यक्तियों और समस्त वचनों में एक रूप हो । परब्रह्म ।
**अव्यवस्थित**—( वि० ) अस्थाई, अस्थिर, चंचल ।
**अव्याहत**—( वि० ) बेरोक ।
**अष्ट**—( वि० ) आठ ।
**अष्टांग**—( सं० पु० ) आठ अंग ।
**असंगत**—( वि० ) अनुचित, बेजा ।
**असंबद्ध**—( वि० ) बेमेल । बेजोड़ ।
**असत्**—( वि० ) असाधु, अन्यायी, अधर्मी, बुरा, खोटा ।
**असम**—( वि० ) अतुल्य, विषम । जो बराबर न हो ।
**असह्य**—( वि० ) जो न सहा जा सके ।
**असित**—( वि० ) जो सफ़ेद न हो, काला । ( स० पु० ) एक ऋषि । भरत राजा का पुत्र । शनि । पिंगला नाड़ी ।
**अस्तव्यस्त**—( वि० ) तितर-बितर, छिन्न भिन्न ।
**अस्तित्व**—( स० पु० ) सत्ता ।
**अस्त्र**—( स० पुं० ) वह हथियार, जो फेंककर चलाया जाय ।
**अहिंसा**—( सं० स्त्री० ) मन, वाणी और काया से किसी को हानि या कष्ट न पहुंचाना ।

## आ

**आंदोलन**—( स० पुं० ) हलचल, हिलाना ।
**आकांक्षा**—( सं० स्त्री० ) इच्छा ।
**आकुल**—( वि० ) व्यग्र, विह्वल, अस्वस्थ ।
**आघात**—( स० पुं० ) प्रहार, धक्का ।
**आचार**—( स० पु० ) व्यवहार, चलन, शील, रीति, चरित्र, चाल-ढाल । शुद्धि ।
**आच्छन्न**—( वि० ) ढका हुआ ।
**आडंबर**—( स० पु० ) तड़क-भड़क ।
**आतिथ्य**—( स० पु० ) अतिथिसेवा, मेहमानदारी ।
**आत्मघात**—( स० पु० ) आत्महत्या ।
**आत्मश्लाघा**—( स० स्त्री० ) अपने मुंह अपनी बड़ाई ।
**आत्मानुभव**—( स० पुं० ) आत्मा का अनुभव ।
**आत्मीय**—( वि० ) अपना । ( स० पु० ) स्वजन ।
**आधान**—( स० पु० ) धारण, गर्भ ।
**आधि**—( स० स्त्री० ) चिन्ता, मानसिक व्यथा ।
**आधिपत्य**—( स० पुं० ) स्वामित्व, प्रभुत्व, अधिकार ।
**आधिभौतिक**—( वि० ) पञ्चभूतों से सबंध रखनेवाला ।
**आध्यात्मिक**—( वि० ) आत्मा से सबंध रखनेवाला ।
**आपत्काल**—( स० पु० ) दुर्दिन, कुसमय ।
**आभास**—( स० पु० ) सदृश । प्रतिबिंब, छाया । पता । मिथ्या ज्ञान ।
**आमोद-प्रमोद**—( स० पु० ) मनबहलाव । मनोरंजन ।
**आयोजन**—( स० पु० ) तैयारी ।
**आराधन**—( स० पुं० ) उपासना ।
**आरोप**—( स० पुं० ) तोहमत । मिथ्या रचना ।
**आलिंगन**—( स० पुं० ) गले या छाती से लगाना ।
**आलोचना**—( सं० स्त्री० ) विवेचना । गुण-दोष-निरूपण ।
**आवरण**—( स० पुं० ) आच्छादन । ढाल । दीवार का घेरा । अज्ञान ।
**आवागमन**—( स० पुं० ) आना-जाना । जन्म मरण ।
**आवाहन**—( सं० पुं० ) बुलाना ।
**आविर्भाव**—( स० पु० ) प्रकट होना ।
**आविष्कार**—( सं० पु० ) ईजाद ।
**आवृत**—( वि० ) ढका हुआ ।
**आवेश**—( स० पु० ) सञ्चार । वेग । उमंग । आतुरता । मृगी रोग ।
**आशंका**—( सं० स्त्री० ) भय । सन्देह । संशय । अनिष्ट की भावना ।
**आशुतोष**—( वि० ) जो बहुत शीघ्र सन्तुष्ट हो । ( सं० पु० ) महादेव ।
**आश्वासन**—( स० पु० ) दिलासा, ढाढस, सान्त्वना ।
**आसक्त**—( वि० ) अनुरक्त ।

**आसक्ति**—( सं० स्त्री० ) अनुरक्ति, प्रेम, लीनता।
**आसुर**—( वि० ) असुरसंबंधी।
**आस्तिक**—( वि० ) ईश्वर और वेद को माननेवाला।
**आस्वादन**—( सं० पुं० ) चखना या स्वाद लेना।

## इ

**इन्द्रिय**—( सं० स्त्री० ) वह शक्ति, जिससे बाहरी विषयों का ज्ञान होता है। १० इन्द्रियाँ होती हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ। जननेन्द्रिय।
**इन्द्रियगोचर**—( वि० ) इन्द्रिय-ज्ञानगम्य।
**इष्ट**—( वि० ) अभिलषित।

## उ

**उक्त**—( वि० ) कथित।
**उग्रता**—( सं० स्त्री० ) तेजी। शीघ्रता।
**उच्छिष्ट**—( वि० ) जूठा।
**उच्छृङ्खल**—( वि० ) निरंकुश, उद्दंड।
**उच्छेद**—( सं० पुं० ) विनाश।
**उच्छ्वास**—( सं० स्त्री० ) उसाँस।
**उत्कंठा**—( सं० स्त्री० ) प्रबल इच्छा।
**उत्कंठिता**—( सं० स्त्री० ) वह नायिका, जो अपने प्रिय के संकेत स्थान पर न आने के कारण चिन्ता करे।
**उत्कर्ष**—( सं० पुं० ) श्रेष्ठता, बड़प्पन, बढ़ती। परिपूर्णता।
**उत्तराधिकारी**—( सं० पुं० ) वारिस, मरने के पीछे का अधिकारी।
**उत्तरोत्तर**—( क्रिया वि० ) क्रम से, आगे।
**उत्तान**—( वि० ) सीधा, चित्त।
**उत्तेजना**—( सं० पुं० ) प्रेरणा।
**उत्पथ**—( सं० पुं० ) बुरा रास्ता, बुरा आचरण।
**उत्पल**—( सं० पुं० ) कमल।
**उत्प्रेक्षा**—( सं० स्त्री० ) एक काव्यालंकार। जैसे—मानो चंद्रमा में कमल खिले हैं।
**उत्सुक**—( वि० ) उत्कण्ठित।
**उदयाचल**—( सं० पुं० ) पूर्व दिशा का पर्वत, जिस पर सूर्य का उदय होता है।
**उदर**—( सं० पुं० ) पेट।
**उद्दीपन**—( सं० पुं० ) उभाड़ना। जगाना।
**उद्देश्य**—( वि० ) लक्ष्य, दृष्ट।
**उद्धत**—( वि० ) प्रचण्ड। अक्खड़।
**उन्माद**—( सं० पुं० ) पागलपन, चित्तविभ्रम।
**उपनिषद्**—( सं० पुं० ) वेद की शाखाओं के ब्राह्मण के अन्तिम भाग। ब्रह्मविद्या।
**उपभोक्ता**—( वि० ) काम में लानेवाला।
**उपलक्षण**—( सं० पुं० ) संकेत। उद्देश्य। दृष्टि।
**उपलब्ध**—( वि० ) प्राप्त।
**उपाख्यान**—( सं० पुं० ) पुरानी कथा। वृत्तान्त।
**उपादान**—( सं० पुं० ) एक कारण।
**उपेक्षा**—( सं० स्त्री० ) घृणा, तिरस्कार। उदासीनता। अनादर।
**उल्का**—( सं० स्त्री० ) प्रकाश। मशाल। एक तरह के चमकीले पिण्ड, जो रात के समय आकाश में एक ओर से दूसरी ओर जाते देख पड़ते हैं।
**उल्लंघन**—( सं० पुं० ) अतिक्रमण। नाँघना। अवज्ञा।
**उल्लास**—( सं० पुं० ) हर्ष। प्रकाश। अध्याय।
**उल्लेख**—( सं० पुं० ) चर्चा। लेख। एक काव्यालंकार, जिसमें एक ही चीज कई रूप से वर्णन की जाय।

## ऐ

**ऐहिक**—( वि० ) इस लोक का, दुनियावी, सांसारिक।

## क

**कंदुक**—( सं० पुं० ) गेंद।
**कमनीय**—( वि० ) सुन्दर।
**कमलनाल**—( सं० पुं० ) मृणाल, कमल की डंडी।
**कमलयोनि**—( सं० पुं० ) ब्रह्मा।
**करुणा**—( सं० स्त्री० ) दया।
**कर्कशा**—( वि० स्त्री० ) लड़ने-झगड़नेवाली स्त्री।
**कर्णिका**—( सं० स्त्री० ) कमल का छत्ता। सफेद गुलाब।
**कर्मकांड**—( सं० पुं० ) जप, यज्ञ, होमादि कर्म। वह शास्त्र, जिसमें इन कर्मों का विधान हो।
**कलुष**—( सं० पुं० ) पाप, दोष।
**कल्पांत**—( सं० पुं० ) प्रलय।
**कष्टसाध्य**—( वि० ) कठिन।
**कांड**—( सं० पुं० ) शाखा। गुच्छा। विभाग। पेड़ का तना।
**कामातुर**—( वि० ) काम से पीड़ित।
**कायकल्प**—( सं० पुं० ) बूढ़े को जवान बनाने की क्रिया।
**कारुणिक**—( वि० ) दयावान्।
**कालिया**—( सं० स्त्री० ) काला नाग। एक नाग का नाम।
**किंकर**—( सं० पुं० ) नौकर।
**किंकर्त्तव्यविमूढ़**—( वि० ) हक्काबक्का, कर्त्तव्यज्ञानशून्य।
**किरीट**—( सं० पुं० ) एक प्रकार का सिर का भूषण।
**किशोर**—( सं० पुं० ) ११ से १५ वर्ष की उम्र का व्यक्ति।
**कुंकुम**—( सं० पुं० ) स्त्रियों के माथे पर लगाने की लाल बुकनी। केसर।
**कुचक्र**—( सं० पुं० ) षड्यन्त्र, साजिश।
**कुपात्र**—( वि० ) अयोग्य।
**कुसुम**—( सं० पुं० ) फूल। एक पौधा।
**कृतकृत्य**—( वि० ) सफलमनोरथ, निहाल।
**कृत्या**—( सं० स्त्री० ) कर्कशा। चुड़ैल।
**कृमि**—( सं० पुं० ) छोटा कीड़ा।

**कैवल्य**—( सं० पु० ) एकता।
**कोशागार**—( सं० पु० ) खजाना।
**क्लांत**—( वि० ) थका हुआ।
**क्षणभंगुर** ( वि० ) अनित्य, नाशवान्।

## ग

**गुणग्राहक**—( सं० पुं० ) कदरदान।
**गुणानुवाद**—( सं० पु० ) बड़ाई। तारीफ़।
**गूह्य**—( वि० ) छिपाने योग्य, गूढ़।
**ग्रहण**—( सं० पु० ) सूर्य अथवा चन्द्र का राहु द्वारा ग्रसा जाना, स्वीकार करना।

## घ

**घनिष्ठ**—( वि० ) घना, गाढ़ा।

## च

**चक्ष**—( सं० पुं० ) आँख।
**चतुरंगिणी**—( वि० ) वह सेना, जिसमें घोड़ा, हाथी, रथ, पैदल, ये चारों अंग हों।
**चतुष्पद**—( सं० स्त्री० ) चौपाया।
**चरणपादुका**—( स० स्त्री० ) खड़ाऊँ।
**चरणोदक**—( सं० पुं० ) चरणामृत।
**चरितार्थ**—( वि० ) कृतार्थ।
**चर्चित**—( वि० ) पोता हुआ।
**चर्वण**—( क्रि० ) चबाना। ( सं० पुं० ) चबेना।
**चर्वित**—( वि० ) चबाया हुआ।
**चिंतन**—( सं० पु० ) विचार।
**चिंतामणि**—( स० पुं० ) एक मणि।
**चित्**—( स० स्त्री० ) चेतना, चित्तवृत्ति।
**चित्रलिखन**—( स० पु० ) चित्रकारी।
**चिरकाल**—( सज्ञा पुं० ) बहुत समय।
**चेतना**—( स० स्त्री० ) बुद्धि, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति। चैतन्य, होश। ( क्रि० अ० ) होश में आना, चौकस होना। ( क्रि० सं० ) विचारना।
**चैतन्य**—( स० पुं० ) ज्ञान। चेतन, आत्मा, परमेश्वर। प्रकृति। ( वि० ) सचेत, सावधान।

## छ

**छिन्न**—( वि० ) खंडित, कटा हुआ।

## ज

**जगदीश्वर**—( सं० पुं० ) परमेश्वर। शिव। नारद। अत्यंत पूज्य या प्रतिष्ठित पुरुष।
**जनार्दन**—( सं० पुं० ) विष्णु का नाम।
**जरा**—( सं० पुं० ) वृद्धावस्था। नाश होने की क्रिया।
**जर्जरित**—( वि० ) जर्जर।
**जलाशय**—( सं० पुं० ) पानी का स्थान।
**जाग्रत्**—( वि० ) जो जागता हो। ( सं० पुं० ) चेतन अवस्था।
**जिज्ञासा**—( सं० स्त्री० ) जानने की इच्छा।
**जीर्ण**—( वि० ) बहुत बुड्ढा। फटापुराना। परिपक्व।
**ज्योतिर्मय**—( वि० ) प्रकाशमय, चमकता हुआ।

## त

**तटस्थ**—( वि० ) तीर पर रहनेवाला। समीप रहनेवाला। अलग रहनेवाला। उदासीन।
**तत्क्षण**—( क्रि० वि० ) तुरंत। उसी समय।
**तत्त्वदर्शी**—( सं० पुं० ) ज्ञानी, जो तत्त्व जानता हो।
**तदनंतर**—( क्रिया वि० ) उसके पीछे, उसके बाद।
**तदुपरांत**—( क्रिया वि० ) उसके पीछे।
**तन्मय**—( वि० ) लवलीन।
**तमोगुण**—( सं० पु० ) प्रकृति का एक गुण।
**तमोगुणी**—( वि० ) अधम वृत्तिवाला।
**तमोमय**—( वि० ) तमोगुणयुक्त। अज्ञानी। क्रोधी।
**तांडव**—( सं० पुं० ) पुरुषों का नृत्य। प्रलयकाल में शंकर का उद्धत नृत्य।
**तामस**—( वि० ) तमोगुण युक्त।
**ताम्रवर्ण**—( वि० ) लाल।
**तुच्छातितुच्छ**—( वि० ) अत्यन्त छोटा। बहुत तुच्छ।
**तुमुल**—( सं० पुं० ) शोरगुल। कोलाहल।
**तुरीय**—( सं० स्त्री० ) चौथा। साधक की एक अवस्था।
**तेजोमय**—( वि० ) तेज से पूर्ण, कान्तिमान्।
**त्रिकाल**—( सं० पुं० ) भूत, वर्तमान और भविष्य। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल।
**त्रिगुण**—( सं० पुं० ) सत्व, रज और तम ये तीन गुण।
**त्रुटि**—( सं० स्त्री० ) अभाव, कमी, भूलचूक। समय का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग।
**त्रैलोक्य**—( सं० पुं० ) तीनों लोक। स्वर्ग, मर्त्य, पाताल।
**त्वचा**—( सं० स्त्री० ) चमड़ा, छाल।
**त्वष्टा**—( सं० पुं० ) वृत्रासुर के पिता।

## द

**दिक्पाल**—( सं० पु० ) इंद्र आदि दसों दिशाओं के रक्षक।
**दिगंत**—( सं० पु० ) दिशाओं का छोर, क्षितिज।
**दिगंबर**—( स० पुं० ) शिव। नंगा रहनेवाला।
**दिग्विजय**—( सं० स्त्री० ) सब दिशाओं को जीतना।
**दिति**—( स० स्त्री० ) कश्यप की एक स्त्री। दैत्यों की माता।
**दिव्य**—( सं० पु० ) स्वर्गीय। अलौकिक।
**दीक्षा**—( स० स्त्री० ) यज्ञकर्म आदि कर्मों को करने का संकल्प। आचार्य का मंत्र-उपदेश।
**दुराग्रह**—( सं० पुं० ) हठ, जिद। बुरे ढंग से अड़ना।

**दुरात्मा**—( वि० ) नीचाशय। दुष्ट।
**दुराराध्य**—( स० पु० ) जो कठिनता से प्रसन्न किया जा सके।
**दुष्टात्मा**—( वि० ) खोटा प्रकृति का।
**दुस्तर**—( वि० ) कठिन दुर्घट।
**दूरदर्शिता**—( स० स्त्री० ) दूर की बात सोचना।
**दृढ़व्रत**—( वि० ) जो अपने सकल्प पर स्थिर हो।
**दृष्टांत**—( सं० पु० ) उदाहरण।
**दृष्टिगोचर**—( वि० ) जो दिखाई पड़े। जो देखने मे आ सके।
**दृष्टिपात**—( सं० पुं० ) नजर डालना। देखना।
**देवांगना**—( स० स्त्री० ) देवपत्नी, अप्सरा।
**दैवयोग**—( सं० पु० ) सयोग।
**द्यूत**—( सं० पु० ) जुआ।
**द्वन्द्व**—( स० पु० ) जोड़ा। प्रतिद्वन्दी। द्वन्द्व-युद्ध। झगड़ा। दो परस्पर विरोधी।
**द्वैत**—( सं० पु० ) दो का भाव। भ्रम। भेदभाव। अन्तर। अज्ञान।

## ध

**धनुर्विद्या**—धनुष चलाने की विद्या।
**धर्मचर्य्या**—( स० स्त्री० ) धर्म का आचरण।
**धर्मनिष्ठा**—( स० स्त्री० ) धर्म मे आस्था।
**धवल**—( वि० ) सुन्दर, मनोहर, सफेद।
**धान्य**—( स० पु० ) धान। अन्नपात्र।
**धूम्रवर्ण**—( वि० ) धुएँ के रंग का।
**धूसरित**—( वि० ) धूल से भरा हुआ।

## न

**नष्टभ्रष्ट**—( वि० ) जिसका बिल्कुल नाश हो गया हो। तहस नहस।
**नास्तिक**—( स० पु० ) वेद, ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास न करनेवाला।
**निग्रह**—( सं० पुं० ) अवरोध। दमन। दड। पीड़न। बधन। फटकार। हद।
**नितंब**—( सज्ञा पुं० ) कमर का पिछला भाग।
**नित्यक्रिया**—( सं० स्त्री० ) नित्यकर्म, स्नान आदि।
**निपुण**—( वि० ) दक्ष, चतुर।
**नियंता**—( स० पु० ) विधायक, व्यवस्था करनेवाला।
**नियमित**—( वि० ) नियमपूर्वक।
**नियुक्त**—( वि० ) लगाया हुआ, नियोजित, तैनात।
**निरंकुश**—( वि० ) स्वेच्छाचारी।
**निरपराध**—( वि० ) बेकसूर।
**निरपेक्ष**—( वि० ) बेपरवाह, तटस्थ।
**निरस्त्र**—( वि० ) अस्त्रहीन।
**निराकार**—( वि० ) जिसका कोई आकार न हो। ( सं० पुं० ) ईश्वर, आकाश।
**निरुद्ध**—( वि० ) रुका हुआ।
**निरूपण**—( सं० पुं० ) किसी विषय को बतलाना।
**निर्गुण**—( सं० पुं० ) परमेश्वर। ( वि० ) सत्व, रज, तम, गुणों से परे। बुरा, खराब।
**निर्जीव**—( वि० ) मृतक। अशक्त। उत्साहहीन।
**निर्दय**—( वि० ) निष्ठुर, बेरहम, दयाहीन।
**निर्देश**—( स० पु० ) आज्ञा, उल्लेख, जिक्र, वर्णन।
**निर्भर**—( वि० ) भरोसा। आश्रित।
**निर्माण**—( सज्ञा पु० ) बनावट। बनाना।
**निर्मित**—( स० स्त्री० ) बनाया हुआ।
**निर्लिप्त**—( वि० ) राग-द्वेष से मुक्त।
**निर्वासित**—( स० पु० ) देश से निकाला गया।
**निर्विकार**—( वि० ) जिसमे विकार न हो, विकारहीन।
**निर्विघ्न**—( वि० ) विघ्नरहित। ( क्रि० वि० ) बिना विघ्न-बाधा के।
**निर्विशेष**—( स० पु० ) परमात्मा, परब्रह्म।
**निवृत्त**—( वि० ) छूटा हुआ। विरक्त। मुक्त।
**निश्चयात्मक**—( वि० ) ठीक-ठीक।
**निश्चेष्ट**—( वि० ) कोई चेष्टा न करनेवाला।
**निष्कपट**—( वि० ) छलरहित, साधारादा।
**निष्कलंक**—( वि० ) निर्दोष, बेऐब।
**निष्काम**—( वि० ) निस्पृह, कामना-रहित।
**निष्क्रिय**—( वि० ) निश्चेष्ट, निकम्मा।
**निष्ठा**—( स० स्त्री० ) मन की स्थिति। निश्चय। गुरुजनों के प्रति पूज्य बुद्धि। समाप्ति, नाश। सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति।
**निष्ठुर**—( वि० ) निदुर।
**निष्पत्ति**—( स० स्त्री० ) अत। समाप्ति। निर्वाह। निश्चय।
**निस्तेज**—( वि० ) तेजरहित। फीका।
**निस्पृह**—( वि० ) जिसे किसी प्रकार का लालच या इच्छा न हो।
**निस्संतान**—( वि० ) सन्तानरहित। जिसके पुत्र या पुत्री न हो।
**निस्संदेह**—( क्रिया वि० ) जरूर, बेशक, अवश्य।
**निस्सार**—( वि० ) सारहीन।
**निहत्था**—( वि० ) शस्त्रहीन।
**नूपुर**—( स० पु० ) स्त्रियों के पैर मे पहनने का गहना, बिछुआ।
**नैष्ठिक**—( वि० ) निष्ठावान्। मरणकाल मे कर्त्तव्य। ( स० पुं० आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला ब्रह्मचारी।
**न्यून**—( वि० ) कम, थोड़ा, अल्प, तनिक। नीच। क्षुद्र, घटकर।

## प

**पंचतत्त्व**—( स० पु० ) पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच तत्त्व जिनसे सृष्टि की रचना हुई है।
**पद्धति**—( स० स्त्री० ) राह, पथ। पक्ति, कतार। रीति, परिपाटी चाल, ढंग, तरीका, विधान।
**परमतत्त्व**—( सं० पुं० ) मूलसत्ता, ब्रह्म।
**परमपद**—( स० पुं० ) सर्वश्रेष्ठ स्थान। मोक्ष।
**परमार्थ**—( सं० पुं० ) सार वस्तु, सबसे बढ़कर वस्तु। मोक्ष।

**पराकाष्ठा**—( सं० स्त्री० ) चरमसीमा, हद ।
**पराग**—( स० स्त्री० ) पुष्परेणु, धूल ।
**परायण**—( वि० ) एकमात्र स्थान या गति ।
**परिचय**—( सं० पुं० ) जान-पहचान ।
**परिचर्या**—( सं० स्त्री० ) सेवा, टहल ।
**परिच्छेद**—( सं० पुं० ) ग्रन्थ-विच्छेद । अध्याय । सीमा, अवधि । विभाजन, विभाग । निर्णय ।
**परिपूर्ण**—( वि० ) सपूर्ण । भरा हुआ ।
**परिभ्रमण**—( स० पु० ) घूमना ।
**परिमित**—( वि० ) नपा तुला । नियमित । कम, थोड़ा ।
**पर्यटन**—( स० पु० ) घूमना-फिरना ।
**पश्चात्ताप**—( स० पुं० ) अफ़सोस, पछतावा ।
**पारदर्शी**—( वि० ) दूरदर्शी, बुद्धिमान् ।
**पारलौकिक**—( वि० ) परलोकसबधी ।
**पार्षद्**—( स० पु० ) पारिषद, मुसाहब ।
**पाश**—( स० पु० ) रस्सी का फास, बधन, फदा ।
**पितृपक्ष**—( स० पु० ) आश्विन मास का कृष्णपक्ष, जिसमे हिन्दू अपने पितरो का श्राद्ध तर्पण आदि करते हैं । ( वि० ) पितृकुल ।
**पुनर्जन्म**—( स० पु० ) मरकर दूसरा बार शरीर धारण करना ।
**पुरंजन**—( स० पु० ) जीवात्मा ।
**पूर्णावतार**—( स० पु० ) सोलहो कलाओ से युक्त पूर्ण अवतार ।
**पूर्वोक्त**—( वि० ) पहले कहा हुआ ।
**पूर्वोत्तर**—( स० स्त्री० ) ईशानकोण ।
**पोषण**—( स० पु० ) प्रतिपालन, रक्षण, वर्द्धन । पुष्टि । सहायता ।
**प्रकल्पित**—( वि० ) निश्चित । बनाया हुआ ।
**प्रकृति**—( सं० स्त्री० ) स्वभाव, धर्म, गुण । माया, ईश्वर की शक्ति । उत्पत्तिस्थान । स्वामी, अमात्य सुहृद्, कोष, शक्ति । सत्व, रज और तम, इन तीनो गुणो की साम्यावस्था ।
**प्रक्षालन**—( स० पु० ) जल से धोना, साफ करना, शुद्ध करना ।
**प्रज्ज्वलित**—( वि० ) धधकता हुआ, दहकता हुआ ।
**प्रणतपाल**—( स० पुं० ) दीन रक्षक, शरणागत रक्षक ।
**प्रतिकार**—( स० पु० ) बदला । उपाय ।
**प्रतिघात**—( स० पु० ) टक्कर, बाधा ।
**प्रतिघाती**—( स० पु० ) शत्रु, प्रतिद्वन्द्वी ।
**प्रतिपादन**—( स० पु० ) सपादन । साबित करना । पूर्ण करना ।
**प्रतिलोम**—( वि० ) बायाँ, उल्टा, विपरीत । नीच ।
**प्रद्युम्न**—( स० पु० ) कामदेव । श्रीकृष्ण के बड़े पुत्र का नाम ।
**प्रतिषेध**—( स० पु० ) निषेध, रोक ।
**प्रत्याख्यान**—( स० पु० ) निराकरण, खण्डन ।
**प्रबुद्ध**—( वि० ) प्रबोधयुक्त, जाग्रत्, सचेत, सावधान । विकसित । ( स० पु० ) पडित ।
**प्रवचन**—( सं० पु० ) व्याख्या, अच्छी तरह समझाकर कहना ।
**प्रवर्त्तक**—( सं० पु० ) प्रेरक, प्रयोजक, चलानेवाला, गति देनेवाला ।
**प्रवृत्ति**—( सं० स्त्री० ) प्रवाह, बहाव । झुकाव । अभिरुचि ।
**प्रस्तुत**—( वि० ) उपस्थित, उक्त, सपादित ।
**प्राक्तन**—( स० पुं० ) पूर्वकर्म, प्रारब्ध ।
**प्रामाणिक**—( वि० ) अतिमान्य, यथार्थ, सत्य, प्रमाण-युक्त, ठीक, शास्त्रसिद्ध ।
**प्रायश्चित्त**—( स० पु० ) पापनाशन कर्म, पाप क्षय करनेवाला कर्म ।
**प्रारब्ध**—( स० पु० ) अदृष्ट, भाग्य, नसीब ।
**प्रेत**—( स० पु० ) मृतक, मरा हुआ प्राणी । नरक मे वास करनेवाला जीव ।
**प्रपंच**—( सं० पु० ) भ्रम, धोखा । ससार । आडम्बर । जंजाल ।

## फ

**फलश्रुति**—( स० स्त्री० ) किसी काम का फल बतलाना ।

## ब

**बाधक**—( स० पु० ) प्रतिबधक । दुखदायी । हानिकारक ।
**बाध्य**—( वि० ) विवश ।
**बालकेलि**—( स० स्त्री ) लड़को का खेल ।
**बालक्रीड़ा**—( स० स्त्री० ) लड़को के खेल और काम ।
**बृहत्**—( वि० ) विशाल, बहुत-बड़ा । दृढ । उच्च, ऊँचा ।
**ब्रह्मांड**—( स० पु० ) चौदहो भुवन, विश्वगोलक ।

## भ

**भक्षक**—( स० पु० ) खानेवाला ।
**भजनीय**—( वि० ) सेवा करने योग्य, भजने योग्य ।
**भवबंधन**—( स० पु० ) ससार के दुःख और कष्ट ।
**भवभय**—( स० पु० ) ससार मे बार-बार जन्म लेने और मरने का भय ।
**भवितव्यता**—( सं० स्त्री० ) होनहार ।
**भागी**—( स० पु० ) साझी, हिस्सेदार ।
**भार्या**—( स० स्त्री० ) स्त्री, पत्नी ।
**भावविकार**—( स० पु० ) जन्म, अस्तित्व, परिणाम, वर्धन, क्षय ।
**भावार्थ**—( स० पु० ) अभिप्राय, गूढ़ अर्थ ।
**भास्कर**—( स० पुं० ) सूर्य । अग्नि । सुवर्ण । वीर । महादेव ।
**भुवन**—( सं० पु० ) जगत्, लोक । ससार ।
**भुवन-कोश**—( स० पु० ) भूमण्डल । ब्रह्माड ।
**भूतभावन**—( स० पु० ) महादेव । विष्णु ।
**भूलोक**—( स० पु० ) मृत्युलोक, पृथ्वीतल ।
**भूषित**—( वि० ) अलकृत, सज्जित ।
**भेद**—( सं० पु० ) रहस्य, मर्म, तात्पर्य । अतर, फर्क । किस्म ।
**भौतिक**—( वि० ) भूतसबधी, शारीरिक । अद्भुत ।
**भ्रमर**—( सं० पुं ) भौंरा ।
**भ्रष्ट**—( वि० ) पतित, दूषित, दुराचारी ।
**भ्रान्त**—( वि० ) भूला हुआ । व्याकुल ।

**भ्रकुटि**—( सं० स्त्री० ) भौंह ।
**भ्रू**—( सं० स्त्री० ) भौं, भौंह ।
**भ्रूभंग**—( स० पुं० ) त्योरी चढ़ाना, भौंह चढ़ाना ।

## म

**मंजरी**—( सं० स्त्री० ) नया कल्ला, कोपल ।
**मकरंद**—( स० पुं० ) पुष्परस । फूल का केसर ।
**मकराकृत**—( वि० ) मगर के आकार का ।
**मणि**—( सं० स्त्री० ) रत्न, नग ।
**मत्सर**—( सं० पु० ) डाह, जलन । गुस्सा ।
**मदजल**—( सं० पुं० ) हाथी का मद ।
**मदोन्मत्त**—( वि० ) मदमाता ।
**मधु**—( स० पुं० ) जल । मदिरा । शहद । मकरंद । वसंत ऋतु । चैत का महीना । दूध मिसरी, नवनीत । अमृत ।
**मध्यमा**—( स० स्त्री ) बीच की उँगली ।
**मनन**—( स० पुं० ) चिंतन, भली भाँति अध्ययन ।
**मननशील**—( वि० ) विचारशील ।
**मनस्वी**—( वि० ) बुद्धिमान् । साहसी ।
**मनोवांछित**—( वि० ) मनोरथ ।
**मन्वंतर**—( स० पु० ) ब्रह्मा के एक दिन का चौदहवाँ भाग ।
**मर्मज्ञ**—( वि० ) रहस्य जाननेवाला । तत्त्वज्ञ ।
**मर्मभेदी**—( वि० ) हृदय पर आघात पहुँचानेवाला, आत्मिक कष्ट देनेवाला । मर्मस्थल को फाड़नेवाला ।
**मलयागिरि**—( स० पु० ) मलय-पर्वत ।
**मलिन**—( वि० ) मलयुक्त । मैला । दूषित । खराब । मटमैला । पापी । फीका । म्लान । उदासीन ।
**मलीनता**—( स० स्त्री० ) मैलापन । उदासी ।
**मल्लिका**—( सं० स्त्री० ) एक तरह का बेला, मोतिया, चमेली ।
**महत्तम**—( वि० ) सबसे श्रेष्ठ ।
**महापातक**—( स० पुं० ) ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरुपत्नी से व्यभिचार, ये पाँच महापाप ।
**मांगलिक**—( वि० ) मंगल करनेवाला ।
**मात्सर्य**—( स० पु० ) ईर्ष्या ।
**माधुर्य**—( स० पु० ) मीठापन ।
**मानस**—( स० पुं० ) मन । हृदय । कामदेव । मानसरोवर । संकल्प-विकल्प । भूत । मनुष्य । ( वि० ) मन से उत्पन्न । मनोभव । मन के द्वारा विचारा हुआ ।
**मानसिक**—( वि० ) मनसंबंधी, मन का कल्पना से उत्पन्न ।
**माया**—( स० स्त्री० ) ईश्वर की वह कल्पित शक्ति, जिसके द्वारा सब कार्य होते हैं ।
**मायाविनी**—( स० स्त्री० ) छल कपट करनेवाली स्त्री ।
**मार्तंड**—( सं० पु० ) सूर्य ।
**मिश्रित**—( वि० ) मिला हुआ ।
**मीमांसक**—( सं० पुं० ) मीमांसा शास्त्र का ज्ञाता । फैसला करनेवाला । जज ।
**मृगतृष्णा**—( सं० स्त्री० ) ऊसर में जल का मिथ्या भ्रम ।
**मृदु, मृदुल**—( वि० ) मुलायम, नरम, नाजुक, सुकुमार ।

## य

**यज्ञोपवीत**—( सं० पुं० ) जनेऊ ।
**यथाक्रम**—( क्रि० वि० ) क्रमानुसार ।
**यथास्थान**—( अव्यय ) उचित स्थान पर । ठीक ।
**यवन**—( स० पुं० ) यूनान देश का वासी, यूनानी । म्लेच्छ, अनार्य । मुसलमान ।
**यातना**—( स० स्त्री० ) पीड़ा, दुःख, तीव्र वेदना ।
**युगांत**—( स० पुं० ) युग का अन्तिम समय । प्रलय ।
**योग**—( स० पु० ) संयोग । छः दर्शनों में से, एक जिसमें चित्त को एकाग्र करने का विधान है । जोड़, मेल-मिलाप । संबंध । सूत्र । परिणाम । कौशल । संगति । शुभअवसर, मौका, सुबीता । फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट अवसर ।

## र

**रंगभूमि**—( स० स्त्री० ) खेलकूद या क्रीड़ा का स्थान, जलसा या उत्सव मनाने का स्थान, अखाड़ा, नाटक खेलने की जगह ।
**रम्य**—( वि० ) सुंदर ।
**रसातल**—( स० पु ) पृथ्वी के सात लोकों में से एक ।
**रहस्य**—( स० पु० ) गुप्तभेद, भीतर की छिपी हुई बात, मर्म, हँसी-ठट्ठा । ( वि० ) गोपनीय, जो एकान्त में हुआ हो । गुप्त बात, जिसका तत्त्व सहज में समझ में न आवे ।
**राग**—( स० पुं० ) सांसारिक सुखों की चाह । प्रवृत्ति । कस्तूरी आदि के योग से बना हुआ एक लेप । संगीत में षड्ज स्वरों और उनके वर्गों और अंगों से युक्त एक ध्वनि ।
**राजस**—( वि० ) रजोगुण से उत्पन्न । ( स० पु० ) आवेश । क्रोध ।
**रास**—( स० पु० ) कोलाहल । ( स० स्त्री० ) गोपों का प्राचीन काल का एक नृत्य । एक तरह का नाटक । एक तरह का चलता गाना ।
**रोमांच**—( स० पु० ) आनन्द या भय से रोमों का खड़ा होना ।

## ल

**लक्षित**—( वि० ) बतलाया हुआ, निर्दिष्ट । देखा हुआ । अनुमान से समझा हुआ । जिस पर कोई लक्षण या चिह्न बना हुआ हो ( स० पुं० ) लक्षणा-शक्ति द्वारा ज्ञात होनेवाला अर्थ ।
**लक्ष्य**—( सं० पु० ) निशाना । वह जिसपर आक्षेप किया जाय उद्देश्य शब्द का लक्षणा शक्ति द्वारा निकलनेवाला अर्थ ।
**लक्ष्यबेध**—( सं० पु० ) निशाना लगाना ।
**लालन**—( स० पु० ) लाड़प्यार ।
**लालायित**—( वि० ) ललचाया हुआ ।
**लोकपाल**—( सं० पुं० ) दिक्पाल ।

**लोलुप**—( वि० ) लालची, लोभी। चटोर, चट्ट। किसी के लिए उत्सुक।

**लौकिक**—( वि० ) लोकसंबंधी, सांसारिक, व्यावहारिक।

## व

**वंचित**—( वि० ) ठगा हुआ, अलग किया हुआ, रहित, हीन।

**वंदनीय**—( वि० ) वन्दना या आदर करने योग्य।

**वंदीजन**—(सं० पु० ) राजाओं आदि का यश गानेवाली एक जाति। मागध।

**वक्तव्य**—( वि० ) कहने योग्य। ( सं० पु० ) कथन। वचन। बयान। किसी के विषय मे कही जाने वाली बात।

**वक्ता**—( वि० ) बोलनेवाला। भाषणपटु। ( स० पु० ) कथा कहनेवाला। व्याख्याता।

**वक्षःस्थल**—( स० पु० ) छाती।

**वत्स**—( स० पु० ) गाय का बच्चा, बछड़ा। बच्चा, शिशु।

**वाच्यार्थ**—( स० पु० ) वह भाव, जो शब्दों के नियमित अर्थ से प्रकट हो। शब्दार्थ।

**विकल्प**—( स० पु० ) विपरीत कल्पना। संकल्प का उलटा। विशेष रूप से निर्धारित कई तरह की विधियों का मिलना। पंच चित्तवृत्तियों मे से एक ( योगशास्त्र )। अवांतर कल्प। विलक्षणता, समाधि का एक भेद। ( व्याकरण मे )। एक ही विषय के कई नियमों मे से एक का ग्रहण।

**विकार**—( स० पु० ) रूपरंग का बदल जाना। निरुक्त के प्रधान चार नियमों मे से एक। बिगड़ना, ख़राबी, दोष। मन की वृत्ति या अवस्था, वासना। उपद्रव।

**विकृत**—( वि० ) बिगड़ा हुआ, भद्दा, असाधारण, अपूर्ण या अधूरा, विद्रोही। रोगी।

**विकृति**—( स० स्त्री० ) खराबी, बिगाड़। बिगड़ा हुआ रूप। रोग। विकार, परिवर्तन। मनमे होनेवाला क्षोभ। शत्रुता। मूल धातु मे बिगड़कर बना हुआ शब्द का रूप।

**विक्षेप**—( सं० पु० ) फेंकना। डालना। झटका देना, बाधा।

**विज्ञान**—( स० पु० ) ज्ञान, किसी विषय के सिद्धांतों का विशेषरूप से ज्ञान। किसी विषयसबंधी अनुभवजन्य बातों का संग्रह। माया वृत्ति। आत्मा का अनुभव, ( बौद्ध ) आत्मा ब्रह्म, निश्चयात्मिका बुद्धि। मोक्ष।

**विडंबना**—(स० स्त्री०) किसी का अनुकरण करना अनुगमन करना। उपहास करना।

**विधि**—( स० पु० ) ब्रह्मा, ( सं० स्त्री० ) कार्यक्रम की प्रणाली, ढंग। व्यवस्था। शास्त्रोक्त विधान। धर्मग्रन्थ का कर्त्तव्यनिर्देश। किस्म, तरह, प्रकार।

**विभक्त**—( वि० ) बँटा हुआ, विभाजित।

**विभासना**—( क्रिया अ० ) चमकना।

**विभूति**—( सं० स्त्री० ) ऐश्वर्य, संपत्ति। श्रीशिव के अंग में चढ़ाने की राख। बहुतायत।

**वियुक्त**—( वि० ) छूटा हुआ। स्वतंत्र। अलग किया हुआ।

**विमूढ़**—( वि० ) भ्रम में पड़ा हुआ। बेसुध, ज्ञान-रहित मूर्ख, नादान।

**विलक्षण**—( वि० ) अनूठा।

**विलास**—( सं० पुं० ) सुखभोग, मनोरंजन, स्त्रियों के किसी अंग की मनोहर चेष्टा।

**विलोम**—( वि० ) उलटा, विपरीत। ( स० पु० ) संगीत मे स्वर का उतार चढ़ाव। ( आरोह, अवरोह )।

**विवरण**—( स० पु० ) व्याख्या, वर्णन, ब्योरा।

**विवर्त**—( स० पुं० ) समुदाय। नृत्य। रूपान्तर। भ्रम।

**विवेचन**—( स० पु० ) जाँचना, परीक्षा करना। निर्णय। व्याख्या। अनुसंधान। सत्-असत् का विचार।

**विशाल**—( वि० ) बहुत बड़ा और विस्तृत। लम्बा चौड़ा। भव्य।

**विशेषता**—( स० स्त्री० ) विशेष का भाव, खूबी, महत्त्व।

**विश्वस्त**—( वि० ) विश्वास करने के योग्य।

**विषम**—( वि० ) असमान। वह संख्या जिसमे दो का भाग देने पर एक बचे। बहुत कठिन। बहुत तेज। भीषण। ( स० पुं० ) संकट, आफ़त। वह छन्द जिसके चारो चरणों मे बराबर अक्षर न हों। एक अर्थालंकार। ताल का एक प्रकार।

**वृत्ति**—( स० स्त्री० ) जीविका। विवरण। चित्त की पाँच अवस्थाएँ। प्रकृति। स्वभाव। कर्तव्य।

**व्यंग**—( स० पु० ) व्यंजनावृत्ति के द्वारा प्रकट होनेवाला शब्द का गूढ़ अर्थ। ताना।

**व्यक्ति**—( सं० पु० ) मनुष्य, आदमी। किसी शरीरधारी का सारा शरीर। व्यक्त होने का भाव। व्यक्त होने की क्रिया।

**व्यतिक्रम**—( स० पु० ) सिलसिले मे उलटफेर। बाधा।

**व्यवस्था**—( स० पु० ) किसी कार्य का वह विधान, जो शास्त्रों द्वारा विधान किया गया हो। चीजों को ठिकाने से रखना। प्रबंध।

## श

**शिखर**—( स० पु० ) पहाड़ की चोटी। सिरा, अग्रभाग। मंदिर का कंगूरा। मंडप।

**शिरोधार्य**—( वि० ) सिर पर धारण करने योग्य।

**शिरोमणि**—( स० पुं० ) सिर पर पहनने का रत्न, चूड़ामणि। श्रेष्ठ व्यक्ति, सिरताज।

**शिशुमार**—( स० पु० ) सूस, जलजन्तु। एक ग्रह।

**शील**—(स०पु०) चाल, व्यवहार, आचरण, चरित्र, स्वभाव, सद्वृत्ति।

**शुल्क**—( स० पु० ) वह महसूल जो घाटो और रास्तों आदि पर राज्य की ओर से वसूल किया जाता है। वह धन जो वर का पिता कन्या के पिता से कन्या के विवाह करने के बदले मे ले लेता है। दहेज। किराया, फीस, मेहनताना।

**शृङ्खला**—( सं० स्त्री० ) क्रम, सिलसिला। जंजीर, साकल। श्रेणी।

**श्रमसाध्य**—( वि० ) बिना मिहनत न होनेवाला।

**श्रवण**—( सं० पुं० ) कान। शास्त्र सुनने की क्रिया। सुनना। एक प्रकार की भक्ति। सत्ताईस नक्षत्रों मे से बाईसवाँ।

**श्री**—( सं० स्त्री० ) लक्ष्मी, कमला, सरस्वती। कमल। सम्पत्ति, ऐश्वर्य। अधिकार। कीर्त्ति। प्रभा। एक आदरसूचक शब्द।

**श्रीनिकेतन**—( सं० पुं० ) विष्णु। कमल।

**श्रीवत्स**—( सं० पुं० ) श्रीविष्णु के वक्षःस्थल पर का चिह्न, जो भृगु के चरणप्रहार का चिह्न माना जाता है।

**श्रुति**—( सं० स्त्री० ) सुनने की क्रिया। कान। सुनी हुई बात। शब्द। किम्वदन्ती। कथन। वेद। चार की संख्या।

## ष

**षोड़शोपचार**—( स० पुं० ) आवाहन, आसन, अर्घ्यपाद्य आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्राभरण, यज्ञोपवीत, गंध, पुष्प, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, परिक्रमा और वंदनाये पूजा के १६ अंग।

## स

**संपादन**—( सं० पुं० ) प्रस्तुत करना, दुरुस्त करना, किसी पुस्तक या समाचार पत्र को क्रम लगाकर प्रकाशित करना।

**संभाषण**—( सं० पुं० ) कथनोपकथन, बातचीत।

**सत्**—( सं० पु० ) ब्रह्म। सत्य। साधु। धीर। नित्य। विद्वान्। मान्य। श्रेष्ठ।

**समागम**—( स० पुं० ) आगमन, मिलना, भेंट। मैथुन।

**समाधान**—( स० पुं० ) चित्त को सब ओर से हटाकर ब्रह्म की ओर लगाना, समाधि। किसी प्रश्न का उत्तर जिससे प्रश्नकर्ता को संतोष हो जाय। तिरोकरण। अनुसंधान। ध्यान। मन का पुष्टि।

**समारोह**—( सं० पु० ) तड़क-भड़क, धूमधाम, ऐसा उत्सव जिसमे धूमधाम हो, सज-धज।

**समृद्धि**—( सं० पुं० ) ऐश्वर्य, अमीरी। सफलता। प्रभाव।

**सर्वेश**—( सं० पुं० ) ईश्वर। सबका मालिक, चक्रवर्ती राजा।

**सांगोपांग**—( वि० और अव्यय ) समस्त, सम्पूर्ण, अंगों और उपांगों सहित।

**सांत्वना** ( सं० स्त्री० ) ढाढस, आश्वासन।

**साक्षात्**—( अव्यय ) सम्मुख, ( वि० ) मूर्तिमान्, साकार, ( सं० पुं० ) भेंट।

**साक्षी**—( स० पुं० ) देखनेवाला, गवाह।

**सात्विक**—( वि० ) सतोगुणी, सत्वगुण से उत्पन्न।

**साम्यावस्था**—( सं० स्त्री० ) वह अवस्था जिसमें सत्व रज और तम तीनो गुण बराबर हों। प्रकृति।

## ह

**हत**—( वि० ) मारा हुआ। विद्वान। नष्ट किया हुआ।

**हतोत्साह**—( वि० ) जिसे कुछ करने का उत्साह न रहा हो।

**हरि**—( स० पु० ) हरा। पीला। विष्णु। श्रीराम। श्रीकृष्ण। सूर्य। इन्द्र। मोर। घोड़ा। अग्नि। वायु। सिंह। चन्द्रमा। साँप।

**हव्य**—( सं० पुं० ) हवन की सामग्री।

**हस्तक्षेप**—( स० पु० ) दस्तन्दाजी, दखल देना।

**हस्ती**—( स० पु० ) हाथी।

**हावभाव**—( स० पु० ) स्त्रियों की मनोहर चेष्टाएँ, नाजनखरा।

**हिंसक**—( सं० पुं० ) जीवों को मारनेवाला।

**हिंसा**—( सं० स्त्री० ) जीवों को मारना या कष्ट देना।

**हृष्टपुष्ट**—( वि० ) तगड़ा, मोटा ताजा। तन्दुरुस्त।

**हेय**—( वि० ) बुरा, त्यागने योग्य।